स्व. पुण्यश्लोका माता मूर्तिदेवीकी पवित्र स्मृतिमें
श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन द्वारा संस्थापित
एवं
उनकी धर्मपत्नी स्वर्गीया श्रीमती रमा जैन द्वारा संपोषित

भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, कन्नड़, तमिल आदि प्राचीन भाषाओंमें
उपलब्ध आगमिक, दार्शनिक, पौराणिक, साहित्यिक, ऐतिहासिक आदि विविध-विषयक
जैन-साहित्यका अनुसन्धानपूर्ण सम्पादन तथा उसका मूल और यथासम्भव
अनुवाद आदिके साथ प्रकाशन हो रहा है। जैन-भण्डारोंकी
सूचियाँ, शिलालेख-संग्रह, कला एवं स्थापत्य विशिष्ट
विद्वानोंके अध्ययन-ग्रन्थ और लोकहितकारी जैन
साहित्य ग्रन्थ भी इसी ग्रन्थमालामें
प्रकाशित हो रहे हैं।

•

ग्रन्थमाला सम्पादक
सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री
डॉ ज्योतिप्रसाद जैन

•

प्रकाशक
भारतीय ज्ञानपीठ
प्रधान कार्यालय : बी/४५–४७, कॅनॉट प्लेस, नयी दिल्ली–११०००१
मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय, दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–२२१००१

•

स्थापना : फाल्गुन कृष्ण ९, वीर नि० २४७०, विक्रम सं० २०००, १८ फरवरी १९४४

भारतीय ज्ञानपीठ · संस्थापना 1944



मूल प्रेरणा
दिवगता श्रीमती मूर्तिदेवी जी
मातुश्री श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

अधिष्ठात्री
दिवगता श्रीमती रमा जैन
धर्मपत्नी श्री साहू शान्तिप्रसाद जैन

JÑĀNAPĪṬHA MŪRTIDEVĪ GRANTHAMĀLĀ Sanskrit Grantha No 46

DHARMĀMṚTA (ANAGĀRA)

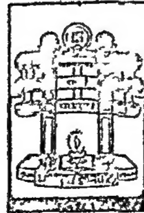
of

PT. ĀŚĀDHARA

Edited with a Jñānadīpikā Sanskrit Commentary & Hindī Translation

by

Pt KAILASH CHANDRA SHASTRI, Siddhantacharya



BHARATIYA JNANPITH PUBLICATION

VĪRA NIRVĀN SAMVATA 2503 V SAMVATA 2034 A D 1977

First Edition Price Rs 30/-

BHĀRATĪYA JÑĀNAPĪṬHA

MŪRTIDEVĪ JAINA GRANTHAMĀLĀ

FOUNDED BY

SAHU SHANTI PRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE MOTHER SHRIMATI MURTIDEVI

AND

PROMOTED BY HIS BENEVOLENT WIFE

LATE SHRIMATI RAMA JAIN

IN THIS GRANTHAMĀLĀ CRITICALLY EDITED JAIN ĀGAMIC, PHILOSOPHICAL PURĀṆIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS AVAILABLE IN PRAKRITS, SANSKRIT, APABHRAMŚA, HINDI, KANNAḌA, TAMIL, ETC, ARE BEING PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THEIR TRANSLATIONS IN MODERN LANGUAGES

AND

CATALOGUES OF JAINA-BHANDĀRAS, INSCRIPTIONS, ART AND ARCHITECTURE STUDIES BY COMPETENT SCHOLARS AND POPULAR JAINA LITERATURE ARE ALSO BEING PUBLISHED



General Editors

Siddhantacharya Pt. Kailash Chandra Shastri
Dr. Jyoti Prasad Jain



Published by

Bharatiya Jnanpith

Head Office B/45-47, Connaught Place, New Delhi-110001



Founded on Phalguna Krishna 9, Vira Sam 2470, Vikrama Sam 2000, 18th Feb, 1944

प्रधान सम्पादकीय

दिगम्बर जैन परम्पराके साधुवर्ग और श्रावक वर्गमें जिस आचार धर्मका पालन किया जाता है उसके लिए आचार्यकल्प प आशाधरका धर्मामृत एक विद्वत्तापूर्ण कृति है। विद्वान् ग्रन्थकारने प्रकृत विषयसे सम्बद्ध पूर्ववर्ती साहित्यका गम्भीरतासे अध्ययन किया था। उन्होने अपने इस ग्रन्थमें उसको बहुत ही प्रामाणिक और सुव्यवस्थित रीतिसे उपस्थित किया है। यह ग्रन्थ दो भागोमे विभाजित है—प्रथम भागका नाम 'अनगार धर्मामृत' है और दूसरे भागका नाम 'सागार धर्मामृत'। ग्रन्थकारने स्वय ही अपने इस ग्रन्थ-पर सस्कृतमें ही एक टीका और एक पजिका रची थी। टीकाका नाम 'भव्यकुमुदचन्द्रिका' और पजिकाका नाम 'ज्ञानदीपिका' है। टीका और पजिका दोनोकी एक विशेषता यह है कि ये केवल श्लोकोकी व्याख्यामात्र नही करती, अपितु उनमें आगत विषयोको विशेष रूपमे स्पष्ट करनेके लिए और उससे सम्बद्ध अन्य आवश्यक जानकारी देनेके लिए ग्रन्थान्तरोमे भी उद्धरण देते हुए उसपर समुचित प्रकाश भी डालती है। इस तरह मूलग्रन्थसे भी अधिक उसकी इन टीकाओका महत्त्व है।

भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाके साथ अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बईसे हुआ है। किन्तु ज्ञानदीपिका एक तरहसे अनुपलब्ध थी। भारतीय ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके विद्वान् सम्पादक डॉ ए एन. उपाध्ये उसकी खोजमे थे और वह प्राप्त हो गयी। उन्होने ही सन् १९६३ में यह योजना रखी कि भारतीय ज्ञानपीठसे धर्मामृतका एक सुन्दर सस्करण प्रकाशित हो जिसमें—

(१) धर्मामृतके दोनो भाग एक ही जिल्दमे हो, क्योकि तबतक दोनो भाग पृथक्-पृथक् ही प्रकाशित हुए थे।

(२) सस्कृत मूल ग्रन्थ शुद्ध और प्रामाणिक पाठके रूपमें दिया जाये। यदि कुछ प्राचीन प्रतियाँ उपलब्ध हो सकें तो उनका उपयोग किया जाये।

(३) प्रथम, श्लोकका शब्दश अनुवाद रहे। उसके पश्चात् विशेषार्थ रहे जिसमे सस्कृत टीकामें चर्चित विषयो-को व्यवस्थित रीतिसे सक्षेपमें दिया जाये। साथ ही, जहाँ आशाधरका अपने पूर्व ग्रन्थकारोके साथ मतभेद हो वहाँ उसे स्पष्ट किया जाये। विशेष अध्येताओके लिए उसमें आवश्यक सूचनाएँ भी रहे।

(४) यदि ज्ञानदीपिकाकी पूर्ण प्रति प्राप्त हो तो उसे परिशिष्टके रूपमे दिया जाये।

साराश यह कि सस्करण सम्पूर्ण जैनाचारको जाननेके लिए अधिकाधिक उपयोगी हो, आदि।

डॉ उपाध्येकी इसी योजनाके अनुसार धर्मामृतका यह सस्करण प्रकाशित हो रहा है। किन्तु हमे खेद है कि हम धर्मामृतके दोनो भागोको एक जिल्दके रूपमें प्रकाशित नही कर सके, क्योकि ग्रन्थका कलेवर अधिक बृहत्काय हो जाता। अत. हमें भी उसे दो भागोमें ही प्रकाशित करना पडा है। प्रथम भाग अनगार धर्मामृत है।

प. आशाधरने गृहत्यागी साधुके लिए अनगार और गृहस्थ श्रावकके लिए सागार शब्दका प्रयोग किया है। ये दोनो शब्द पूर्वाचार्य सम्मत है। आगम ग्रन्थोमे जैन साधुके लिए अणगार शब्द प्रयुक्त हुआ है। तत्त्वार्थसूत्रमें व्रतीके दो भेद किये है—अगारी और अनगार (अगार्यनगारश्च ७।१९)। जो गृहवास

करता है वह अगारी है और जिसके घरबार नही है वह अनगार है। तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिमें इसपर शका की गयी है कि इस व्याख्याके अनुसार तो विपरीतता भी प्राप्त हो सकती है। कोई साधु किसी शून्य घर या देवालयमें ठहरा हो तो वह अगारी कहलायेगा और किसी घरेलू परिस्थितिके कारण कोई गृहस्थ घर त्यागकर वनमें जा वसे तो वह अनगार कहलायेगा। इसके उत्तरमें कहा गया है कि यहाँ अगारसे भावागार लिया गया है। मोहवश घरसे जिसका परिणाम नही हटा है वह वनमें रहते हुए भी अगारी है और जिसका परिणाम हट गया है वह शून्यगृह आदिमे ठहरनेपर भी अनगार है। उसी अनगारके धर्मका वर्णन अनगार धर्मामृतमें है।

अनगार पाँच महाव्रतोंका पालक होता है। वह अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहका पूर्ण रूपसे पालन करता है। दिगम्बर परम्पराके अनगार अपने पास केवल दो उपकरण रखते है—एक जीव रक्षाके लिए मयूरके परोसे निर्मित पिच्छिका और दूसरा शौचादिके लिए कमण्डलु। शरीरसे बिलकुल नग्न रहते है और श्रावकके घरपर ही दिनमें एक बार खडे होकर हाथोकी अजुलिको पात्रका रूप देकर भोजन करते है। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके अनगार पाँच महाव्रतोका पालन करते हुए भी वस्त्र, पात्र रखते है। अनगारोकी इस प्रवृत्ति भेदके कारण ही जैन सम्प्रदाय दो भागोमें विभाजित हो गया और वे विभाग दिगम्बर और श्वेताम्बर कहलाये।

वैसे दोनो ही परम्पराओके अनगारोके अन्य नियमादि प्राय समान ही है। किन्तु दिगम्बर अनगारो की चर्या बहुत कठोर है और शरीरसे भी निस्पृह व्यक्ति ही उसका पालन कर सकता है। जैन अनगारका वर्णन करते हुए कहा है—

> येषा भूषणमङ्गसगतरज स्थान शिलायास्तल
> शय्या शर्करिला मही सुविहिता गेह गुहा द्वीपिनाम्।
> आत्मात्मीयविकल्पवीतमतयस्त्रुट्यत्तमोग्रन्थय
> ते नो ज्ञानधना मनासि पुनता मुक्तिस्पृहा निस्पृहा ॥ आत्मानु २५९।

अर्थात् शरीरमे लगी धूलि ही जिनका भूषण है, स्थान शिलातल है, शय्या ककरीली भूमि है, प्राकृत रूपसे निर्मित सिंहोकी गुफा जिनका घर है, जो मैं और मेरे की विकल्प बुद्धिसे अर्थात् ममत्वभावसे रहित है, जिनकी अज्ञानरूपी गाँठ खुल गयी है, जो केवल मुक्तिकी ही स्पृहा रखते है अन्यत्र सर्वत्र निस्पृह है, वे ज्ञानरूप धनसे सम्पन्न मुनीश्वर हमारे मनको पवित्र करें।

भर्तृहरिने भी अपने वैराग्य शतकमें उनका गुणगान करते हुए कहा है—

> पाणि पात्र पवित्र भ्रमणपरिगत भैक्षमक्षय्यमन्न
> विस्तीर्णं वस्त्रमाशादशकमचपल तल्पमस्वल्पमुर्वी ॥
> येषा नि सगताङ्गीकरणपरिणतस्वान्तसतोषिणस्ते
> धन्या सन्यस्तदैन्यव्यतिकरनिकरा कर्म निर्मूलयन्ति ॥ —वैराग्यशतक, ९९।

अर्थात् हाथ ही जिनका पवित्र पात्र है, भ्रमणसे प्राप्त भिक्षा अविनाशी भोजन है, दस दिशाएँ ही विस्तीर्ण वस्त्र है, महान् निश्चल भूमि ही शय्या है, नि सगताको स्वीकार करनेसे परिपक्व हुए मनसे सन्तुष्ट तथा समस्त दीनताको दूर भगानेवाले वे सौभाग्यशाली कर्मोका विनाश करते है।

कर्मबन्धनके विनाशके विना मुक्ति प्राप्त नही होती और कर्मबन्धनका विनाश कर्मबन्धनके कारणोसे बचाव हुए विना नही होता। इसीसे मुक्तिके लिए कठोर मार्ग अपनाना होता है। व्रत, तप, सयम ये सब मनुष्यकी वैषयिक प्रवृत्तिको नियन्त्रित करनेके लिए है। इनके बिना आत्मभावना सम्भव नही है जबकि आत्मभावना करनेका नाम ही साधुता है। इसका मतलब यह नही है कि शरीरको कष्ट देनेसे ही मुक्ति

मिलती है। सच तो यह है कि आत्मज्ञानके विना वाह्य साधनोकी कोई उपयोगिता नही है। आत्मरति होने-पर शारीरिक कष्टका अनुभव ही नही होता।

वस्तुत इस देशमे प्रवृत्ति और निवृत्तिकी दो परम्पराएँ अतिप्राचीन कालसे ही प्रचलित रही है। ऋग्वेदके दशम मण्डलके १३५वें सूक्तके कर्ता सात वातरशना मुनि थे। वातरशनाका वही अर्थ है जो दिगम्वरका है। वायु जिनकी मेखला है अथवा दिशाएँ जिनका वस्त्र है, दोनो शब्द एक ही भावके सूचक है।

भगवान् ऋषभदेव प्रथम जैन तीर्थंकर थे। जैन कलामे उनका अकन घोर तपश्चर्याके रूपमें मिलता है। इनका चरित श्रीमद्भागवतमें भी विस्तारसे आता है। सिन्धुघाटीसे भी दो नग्न मूर्तियाँ मिली है। इनमें से एक कायोत्सर्ग मुद्रामें स्थित पुरुषमूर्ति है। इसकी नग्नता और कायोत्सर्ग मुद्राके आधारपर कतिपय विद्वान् इसे ऐसी मूर्ति मानते है जिसका सम्वन्ध किसी जैन तीर्थंकरसे होना चाहिए।

जैन अनगारका भी यही रूप होता है। उसीके आचारका वर्णन इस अनगार धर्मामृतमे है। इससे पूर्व अनगार धर्मका वर्णन प्राकृतके मूलाचार ग्रन्थमें भी है। किन्तु सस्कृतमें यह इस विषयकी प्रथम प्रामाणिक कृति है। प आशाधर साधु नही थे, गृहस्थ थे। पर ये वहुश्रुत विद्वान्। उनकी टीकाओमें सैकडो ग्रन्थोसे प्रमाण रूपसे उद्धृत पद्य हजारसे भी अधिक है।

इस सस्करणमें केवल 'अनगार धर्मामृत' ज्ञानदीपिका पजिका सहित सानुवाद दिया गया है। विशेषार्थमें भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीकाका हिन्दी सार भी समाहित कर लिया गया है, मूल टीका नही दी गयी है क्योकि वह अन्यत्र कई स्थानोसे प्रकाशित हो चुकी है। फिर इस ज्ञानदीपिका पजिकाको प्रकाशमे लाना ही इस संस्करणका मुख्य उद्देश्य है। 'सागार धर्मामृत' दूसरे भागमें प्रकाशित होगा। उसका मुद्रणकार्य चालू है।

साहू शान्तिप्रसादजीने भारतीय ज्ञानपीठकी स्थापना करके मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके अन्तर्गत प्राचीन प्राकृत, सस्कृत, अपभ्रश एवं कन्नड जैन साहित्यके प्रकाशन द्वारा जैन वाङ्मयके उद्धारका जो सत्कार्य किया है उसके लिए प्राचीन वाङ्मयके प्रेमी सदा उनके कृतज्ञ रहेंगे। ज्ञानपीठकी अध्यक्षा श्रीमती रमारानी-के स्वर्गवास हो जानेसे एक वहुत वडी क्षति पहुँची है। किन्तु साहूजीने उनके इस भारको भी वहन करके ज्ञानपीठकी उस क्षतिकी पूर्ति की है यह प्रसन्नताकी वात है।

ज्ञानपीठके मन्त्री वा लक्ष्मीचन्द्रजी इस अवस्थामें भी उसी लगनसे ज्ञानपीठके प्रकाशन कार्यको वरावर प्रगति दे रहे है। डॉ. गुलावचन्द्रजी भी इस दिशामें जागरूक है। उक्त सभीके प्रति हम अपना आभार प्रदर्शन करते हुए अपने सहयोगी स्व डॉ ए एन उपाध्येको अपनी विनम्र श्रद्धाजलि अर्पित करते है।

—कैलाशचन्द्र शास्त्री
—ज्योतिप्रसाद जैन

प्रस्तावना

१ सम्पादनमे उपयुक्त प्रतियोका परिचय

पं आशाधर रचित धर्मामृतके दो भाग हैं—अनगार धर्मामृत और सागार धर्मामृत। दोनो भागोकी हस्तलिखित प्रतियाँ भी पृथक्-पृथक् ही पायी जाती हैं। तदनुसार इनका प्रकाशन भी पृथक्-पृथक् ही हुआ है। सबसे प्रथम भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक स्वोपज्ञ टीकाके साथ सागार धर्मामृतका प्रकाशन श्री माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके दूसरे पुष्पके रूपमें स. १९७२में हुआ। पश्चात् उसी ग्रन्थमालासे स्वोपज्ञ टीकाके साथ अनगार धर्मामृतका प्रकाशन उसके चौदहवें पुष्पके रूपमें सं. १९७६में हुआ। आगे इन दोनोके जो प्रकाशन हिन्दी अनुवाद या मराठी अनुवादके साथ हुए उनका आधार उक्त सस्करण ही रहे। दोनो ही मूल सस्करण प्राय. शुद्ध हैं। क्वचित् ही उनमें अशुद्धियाँ पायी गयी। साथमें खण्डान्वयके रूपमें टीका होने से भी मूल श्लोकोका सशोधन करनेमें सरलता होती है। फिर भी हमने महावीर भवन जयपुरके शास्त्र भण्डारसे अनगार धर्मामृतकी एक हस्तलिखित प्राचीन प्रति प्राप्त की। उसमें मूल श्लोकोके साथ उसकी भव्यकुमुद चन्द्रिका टीका भी है। उसके आधारसे भी श्लोकोके मूल पाठका सशोधन किया गया।

वह प्रति आमेर शास्त्र भण्डार जयपुरकी है। इसकी वेष्टन सख्या १३६ है। पृष्ठ सख्या ३४४ है। किन्तु अन्तिम पत्रपर ३४५ अक लिखा है। प्रत्येक पृष्ठमें ११ पक्तियाँ और प्रत्येक पक्तिमें ५०से ६० तक अक्षर पाये जाते हैं। लेखन आधुनिक है। मुद्रित प्रतिके बिलकुल एकरूप है। मिलान करनेपर क्वचित् ही अशुद्धि मुद्रित प्रतिमें मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे इसी या इसीके समान किसी अन्य शुद्ध प्रतिके आधारपर अनगार धर्मामृतके प्रथम सस्करणका शोधन हुआ है। अपने निवेदनमें सशोधक प मनोहर लालजी-ने इतना ही लिखा है कि इसका सशोधन प्राचीन दो प्रतियोसे किया गया है जो प्राय. शुद्ध थी।

प्रतिकी अन्तिम प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि ग्वालियरमें स १५४६में कर्णाटक लिपिसे यह प्रति परिवर्तित की गयी है। तथा जिस कर्णाटक प्रतिसे यह परिवर्तित की गयी उसका लेखनकाल शक सवत् १२८३ अर्थात् वि स १४१८ है। प्रशस्ति इस प्रकार है—

स्वस्ति श्रीमतु शक वर्षे १२८३ प्लव सवत्सरद मार्गसि शुद्ध १४ भानुवार दलु श्रीमतु राय राजगुरु-मण्डलाचार्यर्वं कुडीकडियाणरूप णरघर विक्रमादित्यसम ध्यानकल्पवृक्षरु सेनगणाग्रगण्यरु श्री लक्ष्मीसेन भट्टारक प्रियगुड्डुकव्वेपनोति मेट्टीयमगपायणनु श्रीकाणूर्गणाग्रगण्य क कचन्द पण्डित देवरप्रियाग्रशिष्यरु सकलगुणसपन-रप्य श्री भानुमुनिगलियो केवलज्ञान स्वरूप धर्मनिमित्तघाति आशाधरकृत धर्मामृत महाशास्त्रमबरसिकोट्टनु मगलमाह।

श्री गोपाचलमहादुर्गे राजाधिराजमानसिंघराज्यप्रवर्तमाने सवत् १५४६ वर्षे आषाढ सुदी १० सोमदिने इदं पुस्तकं कर्णाटलिपेन उद्धरित कायस्थठार्णं सर्म्मसुत डाउधू। शुभमस्तु।

अनगार धर्मामृत पजिकाकी केवल एक ही प्रति प. रामचन्द्रजी जैन श्री भट्टारक यश कीर्ति दि. जैन धर्मार्थ ट्रस्ट ऋषभदेव (उदयपुर) से प्राप्त हुई थी। इसकी पत्र सख्या १२७ है। किन्तु १२वाँ पत्र नही है। प्रत्येक पत्रमें १४ पक्ति और प्रत्येक पक्तिमें ४२से ४९ तक अक्षर है। लेख स्पष्ट है किन्तु अशुद्ध है। मात्राएँ बराबरमें भी हैं और ऊपर-नीचे भी। सयुक्त अक्षरोको लिखनेका एक क्रम नही है। प्राय सयुक्त अक्षर

विचित्र ढगसे लिखे गये है। त को न और न को त तो प्रायः लिखा है। इसी तरह म को भी [illegible] लिखा है। च और व की भी ऐसी ही स्थिति है। अन्तिम लिपि प्रशस्ति इस प्रकार है—

नागद्राधीरालिखितम् ॥ सवत् १५४१ वर्षे माहा वदि ३ सोमे अद्येह श्रीगिरिपुरे राउल श्रीसोमदास राज्ये श्रीमूलसघे सरस्वतीगणे बलात्कारगणे श्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वये भ. श्रीसकलकीर्तिस्तत्पट्टे भ. श्रीभुवनकीर्ति देवा त भ श्रीज्ञानभूषण स्वगुरु भगिनी क्षातिका गौतमश्री पठनार्थं ॥ शुभं भवतु ॥ कल्याणमस्तु ॥

१. धर्म

२ धर्मका अर्थ

वैदिक साहित्यमें धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। अथर्ववेदमें (९-९-१७) धार्मिक क्रिया सस्कारसे अर्जित गुणके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग हुआ है। ऐतरेय ब्राह्मणमें सकल धार्मिक कर्तव्योंके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। छान्दोग्योपनिषद् (२।२३) में धर्मकी तीन शाखाएँ मानी हैं—यज्ञ अध्ययन दान, तपस्या और ब्रह्मचारित्व। यहाँ धर्म शब्द आश्रमोंके विलक्षण कर्तव्योंकी ओर संकेत करता है। तन्त्रवार्तिकके अनुसार धर्मशास्त्रोंका कार्य है वर्णों और आश्रमोंके धर्मकी शिक्षा देना। मनुस्मृतिके व्याख्याता मेधातिथिके अनुसार स्मृतिकारोंने धर्मके पांच स्वरूप माने हैं—१ वर्णधर्म, २. आश्रमधर्म, ३. वर्णाश्रमधर्म, ४. नैमित्तिकधर्म यथा प्रायश्चित्त, तथा ५ गुणधर्म अर्थात् अभिषिक्त राजाके कर्तव्य। डॉ. काणेने अपने धर्मशास्त्रके इतिहासमें धर्म शब्दका यही अर्थ लिया है।

पूर्वमीमासा सूत्रमें जैमिनिने धर्मको वेदविहित प्रेरक लक्षणोंके अर्थमें स्वीकार किया है। अर्थात् वेदोंमें निर्दिष्ट अनुशासनोंके अनुसार चलना ही धर्म है। वैशेषिक सूत्रकारने उसे ही धर्म कहा है जिससे अभ्युदय और निश्रेयसकी प्राप्ति हो। महाभारतके अनुशासन पर्वमें (११५-१) अहिंसाको परम धर्म कहा है। और वनपर्व (३७३–७६) में आनृशस्यको परम धर्म कहा है। मनुस्मृतिमें (१-१०८) आचारको परम धर्म कहा है। इसी तरह बौद्ध धर्म साहित्यमें भी धर्म शब्द कई अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कहीं-कहीं इसे भगवान् बुद्धकी सम्पूर्ण शिक्षाका द्योतक माना है। जैन परम्परामें भी धर्म शब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है। किन्तु उसकी अनेकार्थता वैदिक साहित्य-जैसी नही है।

धर्मका प्राचीनतम लक्षण आचार्य कुन्दकुन्दके प्रवचनसारमें मिलता है 'चारित्तं खलु धम्मो' चारित्र ही धर्म है। यह मनुस्मृतिके 'आचार परमो धर्म' से मिलता हुआ है। किन्तु मनुस्मृतिके आचाररूप परम धर्ममें और कुन्दकुन्दके चारित्रमें बहुत अन्तर है। आचार केवल क्रियाकाण्डरूप है किन्तु चारित्र उसकी निवृत्तिसे प्रतिफलित आन्तरिक प्रवृत्तिरूप है। उसका कथन आगे किया जायेगा।

धर्म शब्द सस्कृतकी 'धृ' धातुसे निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ होता है 'धरना'। इसीसे कहा है 'धारणाद् धर्ममित्याहु'। धारण करनेसे धर्म कहते है। अर्थात् जो धारण किया जाता है वह धर्म है। किन्तु आचार्य समन्तभद्रने 'जो धरता है वह धर्म है' ऐसा कहा है। जैसे किसी वस्तुको एक स्थानसे उठाकर दूसरे स्थानपर धरना। उसी तरह जो जीवोंको ससारके दु खोसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरता है वह धर्म है। इसमें धारणवाली बात भी आ जाती है। जब कोई धर्मको धारण करेगा तभी तो वह उसे संसारके दु खोसे छुटाकर उत्तम सुखमें धरेगा। यदि कोई धर्मको धारण ही नही करेगा तो वह उसे ससारके दु खोसे छुडाकर उत्तम सुखमें धरेगा कैसे ? क्योकि उत्तम सुखको प्राप्त करनेके लिए ससारके दु खोसे छुटकारा आवश्यक है। और संसारके दु खोसे छूटनेके लिए उन दु खोके कारणोसे छूटना आवश्यक है। अत जो संसारके दु खोके कारणों-को मिटानेमें समर्थ है वही धर्म है।

संसारके दु खोंका कारण है कर्मोंका बन्धन। जो जीवकी अपनी ही गलतीका परिणाम है। वह कर्म-बन्धन जिससे कटे वही धर्म है। वह कर्मबन्धन कटता है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे।

अत वही धर्म है। यही बात आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमे कही[1] है कि मैं कर्मबन्धनको मेटनेवाले उस समीचीन धर्मका उपदेश करता हूँ जो ससारके दु खोसे छुडाकर जीवोको उत्तम सुखमें धरता है। वह धर्म है सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र संसारके मार्ग हैं। अर्थात् मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ही जीवोके सासारिक दु खोंके कारण है। यदि इनमे मिथ्यापना दूर होकर सम्यक्पना आ जाये तो ससारके दु खोसे छुटकारा हो जाये। आचार्य कुन्दकुन्दने केवल चारित्रको धर्म कहा है। और आचार्य समन्तभद्रने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको धर्म कहा है। किन्तु इन दोनो कथनोमें कोई विरोध नही है क्योकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना सम्यक्चारित्र नही होता। अत सम्यक्चारित्रमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान गर्भित ही है। किन्तु इसका यह मतलब नही है कि कोई चारित्र धारण करे तो उसके चारित्र धारण कर लेनेसे ही उसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी प्राप्ति हो जायेगी। ऐसा तीन कालमें सम्भव नही है। धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है क्योकि जिन आचार्य कुन्दकुन्दने चारित्रको धर्म कहा है उन्होने ही सम्यग्दर्शनको धर्मका मूल कहा है। और यही बात आचार्य [2]समन्तभद्रने कही है कि जैसे बीजके अभावमें वृक्ष नही होता—उसकी उत्पत्ति, वृद्धि और फलोदय नही होता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके अभावमें सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलोदय नहीं होते। इसीसे उन्होने सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके पश्चात् चारित्र धारण करनेकी बात [3]कही है। यही बात आचार्य [4]अमृतचन्द्रने कही है। समस्त जिनशासन इस विषयमें एकमत है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके विना सम्यक्चारित्र नही होता। इन तीनोकी सम्पूर्णतासे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी पूर्णता होनेपर भी सम्यक्चारित्रकी पूर्णता न होनेसे मोक्ष नही होता, उसकी पूर्णता होनेपर ही मोक्ष होता है। अत यद्यपि चारित्र ही धर्म है। किन्तु चारित्र सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञानके साथ जो चारित्र होता है वह सम्यक् है और वही धर्म है।

धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमें भी होता है। जैसे अग्निका धर्म उष्णता है। या जीवका धर्म ज्ञानदर्शन है। कोशोमें धर्मका अर्थ स्वभाव कहा है। अत वस्तुके स्वभावको भी धर्म कहा है। वैदिक धर्मके साहित्यमें हमने धर्म शब्दका व्यवहार स्वभावके अर्थमें नही देखा। किन्तु जैनधार्मिक साहित्यमें वस्तु स्वभावको धर्म कहा है। अर्थात् जैसे चारित्रको धर्म कहा है वैसे ही वस्तु-स्वभावको भी धर्म कहा है। जैसे जीवका चारित्र धर्म है वैसे ही उसका वास्तविक स्वभाव भी धर्म है। उदाहरणके लिए जिस स्वर्णमें मैल होता है वह मलिन होता है। मलिनता स्वर्णका स्वभाव नही है वह तो आगन्तुक है, सोनेमें ताम्बा, रांगा आदिके मेलसे आयी है। स्वर्णका स्वभाव तो पीतता आदि है। उसे उसके स्वभावमें लानेके लिए स्वर्णकार सोनेको तपाकर शुद्ध करता है तो सोना शुद्ध होनेपर चमक उठता है और इस तरह अपने स्वभावको प्राप्त करता है। इसी तरह जीव ससारमें अपनी प्रवृत्तियोके कारण कर्मबन्धनसे मलिन है। उसके सब स्वाभाविक गुण

---

१ देशयामि समीचीन धर्मं कर्मनिवर्हणम्।
ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥२॥
सद्दृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु ।
यदीयप्रत्यनीकानि भवन्ति भवपद्धति ॥३॥

२ विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धिफलोदया ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे बीजाभावे तरोरिव ॥—र. श्रा ३२।

३. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसज्ञान ।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधु ॥ —र श्रा. ४७।

४ विगलितदर्शनमोहै समञ्जसज्ञानविदिततत्त्वार्थैं ।
नित्यमपि निष्प्रकम्पै सम्यक्चारित्रमालम्ब्यम् ॥ —पुरुपार्थ. ३७४।

मलिन हो रहे हैं। वह चारित्ररूप धर्मको धारण करके जब निर्मल होता है तो उसके सभी स्वाभाविक गुण शुद्ध स्वर्णके समान चमक उठते हैं। उसका यह अपने स्वभावको प्राप्त कर लेना ही वास्तवमें धर्म है जो उसमें सदाकाल रहनेवाला है। अत धर्मका वास्तविक अर्थ वस्तुस्वभाव है। इसीकी प्राप्तिके लिए चारित्र-रूप धर्मको धारण किया जाता है। इसीसे स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें धर्मके लक्षणोका सग्रह करते हुए इसे प्रथम स्थान दिया है। यथा—

धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खणं धम्मो ॥४७८॥

वस्तुका स्वभाव धर्म है। उत्तम क्षमादिरूप भाव दस भेदरूप धर्म है। रत्नत्रय धर्म है और जीवोकी रक्षा करना धर्म है। इन चारोमें धर्मके सब जिनागमसम्मत अर्थोका समावेश हो जाता है। जिनागममें धर्मका अर्थ, वस्तुस्वभाव, उत्तम क्षमा आदि दस धर्म, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय और अहिंसा अभीष्ट है।

३. धर्म अमृत है

अमृतके विषयमें ऐसी किंवदन्ती है कि वह अमरता प्रदान करता है। अमृतका अर्थ भी अमरतासे सम्बद्ध है। अमृत नामकी कोई ऐसी वस्तु कभी थी जिसके सेवनसे अमरता प्राप्त होती थी, यह तो सन्दिग्ध है। क्योकि ससारकी चार गतियोमें अमरताका अभाव है। देवोका एक नाम अमर भी है। किन्तु देव भी सदा अमर नही है। यत मनुष्य मरणधर्मा है अत प्राचीन कालसे ही उसे अमरत्व प्राप्तिकी जिज्ञासा रही है।

कठोपनिषद्में एक उपाख्यान है। नचिकेता नामका एक बालक मृत्युके देवता यमराजसे जिज्ञासा करता है कि मरे हुए मनुष्यके विषयमें कोई तो कहते हैं कि वह रहता है और कोई कहते हैं 'नही रहता' अर्थात् शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे अतिरिक्त आत्मा है या नही ? यह बतलावें। यमराज नचिकेताको ससारके भोगोका प्रलोभन देकर उसे अपनी जिज्ञासासे विरत करते हैं। किन्तु नचिकेता उत्तर देता है—हे यमराज! ये भोग तो 'कल रहेंगे या नही' इस प्रकारके हैं। ये इन्द्रियोके तेजको क्षीण करनेवाले हैं। यह जीवन तो बहुत थोडा है। आपके भोग आपके ही पास रहे उनकी मुझे आवश्यकता नही है। हे यमराज, जिसके सम्बन्धमें लोग 'है या नही' यह सन्देह करते है उसे ही कहिए।

इस तरह विवेकशील मनुष्य इस मरणधर्मा जीवनके रहस्यको जाननेके लिए उत्कण्ठित रहे है और उन्होने अपने अनुभवोके आधारपर लोक और परलोकके विषयमें अनुसन्धान किये हैं और उनके उन अनुसन्धानोका फल ही धर्म है। किन्तु धर्मके रूपमें विविधताने मनुष्यको सन्देहमें डाल दिया है। यद्यपि इस विषयमें अनुसन्धान करनेवाले परलोकके अस्तित्व और आत्माके अमरत्वके विषयमें प्राय एकमत है, केवल एक चार्वाक दर्शन ही परलोक और परलोकीको नही मानता। शेष सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूपमें उन्हें स्वीकार करते हैं और यह मानते है कि अमुक मार्गका अवलम्बन करनेसे आत्मा जन्ममरणके चक्रसे छुटकारा पाकर शाश्वत दशाको प्राप्त करता है। वह मार्ग ही धर्म कहा जाता है। और चूँकि उस धर्मके आचरणसे अमरत्व प्राप्त होता है अत धर्म अमृत कहा जाता है उसे पीकर प्राणी सचमुचमें अमर हो जाता है। यह प्रत्येक अनुसन्धाता या धर्मके आविष्कर्ताका विश्वास है। किन्तु धर्मके स्वरूपमें तो विवाद है ही। तत्त्वार्थसूत्रके प्रथम सूत्र 'सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी एकता मोक्षका मार्ग है' की उत्थानिकामें भट्टाकलकदेवने जो कथन किया है उसे यहाँ देना उचित होगा। वह कहते हैं कि यह तो प्रसिद्ध है कि एक जानने-देखनेवाला आत्मा है और वह अपने कल्याणमें लगना चाहता है अत उसे कल्याण या मोक्षके मार्गको जाननेकी इच्छा उत्पन्न होती है। दूसरी बात यह है कि ससारी पुरुषके सब पुरुषार्थोमें मोक्ष प्रधान है। और

प्रधान के लिए किया गया यत्न फलवाला होता है अतः मोक्षमार्गका उपदेश करना चाहिए क्योकि उसीसे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

शंका—सर्वप्रथम मोक्षका उपदेश ही करना चाहिए, मार्गका नही। क्योकि सब पुरुषार्थोमें मोक्ष प्रधान है वही परम कल्याणरूप है ?

समाधान—नही, क्योकि मोक्षके इच्छुक जिज्ञासुने मार्ग ही पूछा है मोक्ष नही। अत. उसके प्रश्नके अनुरूप ही शास्त्रकारको उत्तर देना आवश्यक है।

शका—पूछनेवालेने मोक्षके सम्बन्धमें जिज्ञासा क्यो नही की, मार्गके सम्बन्धमें ही क्यो जिज्ञासा की ?

समाधान—क्योंकि सभी आस्तिक मोक्षके अस्तित्वमें आस्था रखते है। किन्तु उसके कारणोमें विवाद है। जैसे पाटलीपुत्र जानेके इच्छुक मनुष्योमें पाटलीपुत्रको जानेवाले मार्गमें विवाद हो सकता है, पाटलीपुत्रके विषयमें नही। उसी तरह सब आस्तिक मोक्षको स्वीकार करके भी उसके कारणोमे विवाद करते है।

शका—मोक्षके स्वरूपमें भी तो ऐकमत्य नही है, विवाद ही है। सब वादी मोक्षका स्वरूप भिन्न-भिन्न मानते है ?

समाधान—सभी वादी जिस किसी अवस्थाको प्राप्त करके समस्त प्रकारके कर्मबन्धनसे छुटकारा पानेको ही मोक्ष मानते हैं और यह हमें भी इष्ट है अत मोक्षकार्यमें विवाद नही है।

इसी तरह धर्मसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है अत धर्म अमृत है इसमें कोई विवाद नही है। सभी धार्मिको की ऐसी आस्था है। तथा ऊपर जो धर्मके चार अर्थ कहे है वे चारो ही ऐसे है जिनको लेकर विचारशील पुरुष धर्मको बुरा नही कह सकते है। यदि वस्तु अपने स्वभावको छोड दे तो क्या वह वस्तु सत् रह सकती है। यदि आग अपना स्वभाव छोडकर शीतल हो जाये तो क्या आग रह सकती है। इसी तरह जितने भी पदार्थ है वे यदि अपने अपने असाधारण स्वभावको छोड दें तो क्या वे पदार्थ अस्तित्वमें रह सकते है। प्रत्येक पदार्थका अस्तित्व अपने अपने स्वभावके ही कारण बना है।

इसी तरह लोक मर्यादामें माता, पिता, पुत्र, पति, पत्नी आदि तथा राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक आदि अपने अपने कर्तव्यसे च्युत हो जायें तो क्या लोक मर्यादा कायम रह सकती है। यह प्रत्येकका धर्म या कर्तव्य ही है जो ससारकी व्यवस्थाको बनाये हुए है। उसके अभाव में तो सर्वत्र अव्यवस्था ही फैलेगी।

हम जो मानव प्राणी है जिन्होने मनुष्य जातिमें जन्म लिया है और अपनी आयु पूरी करके अवश्य ही विदा हो जायेंगे। हम क्या जडसे भी गये गुजरे है। हमारा जड शरीर तो आगमें राख होकर यही वर्तमान रहेगा। और उस जड शरीरमें रहने वाला चैतन्य क्या शून्यमें विलीन हो जायेगा ? अनेक प्रकारके आविष्कारोका आविष्कर्ता, समस्त जड तत्त्वोको गति प्रदान करनेवाला, सूक्ष्मसे सूक्ष्म विचारका प्रवर्तक क्या इतना तुच्छ है। यह गर्भद्वारा आने वाला और आकरके अपने बुद्धि वैभव और चातुर्य द्वारा विश्वमें सनसनी पैदा करनेवाला मरनेके बाद क्या पुनर्जन्म लेकर हमारे मध्यमें नही ही आता। ऐसा क्या कुछ विचार किया है। धर्म भी उसीकी उपज है और असलमें उसीका धर्म धर्म है। उसीका श्रद्धान सम्यग्दर्शन, उसीका ज्ञान सम्यग्ज्ञान और उसीका आचरण सम्यक्चारित्र है। वही सच्चा धर्म है। उसीके आचरण रूपमें दस धर्म आते है। वे दस धर्म हैं—उत्तम क्षमा, उत्तम मार्दव, उत्तम आर्जव, उत्तम शौच, उत्तम सत्य, उत्तम सयम, उत्तम तप, उत्तम त्याग, उत्तम आकिंचन्य, उत्तम ब्रह्मचर्य। क्रोध मत करो, घमण्ड मत करो, मायाचार मत करो, लोभ लालच मत करो, सदा हित मित सत्य वचन बोलो, अपनी इन्द्रियोको वशमें रखो, अपनी प्रवृत्ति पर अंकुश लगाओ, अपनी और दूसरोकी भलाईके लिये अपने द्रव्यका त्याग करो, संचय वृत्ति पर अकुश लगाओ। यह सदा ध्यानमें रखो कि जिस परिवारके मध्यमें रहते हो और चोरी बेईमानी करके जो धन उपार्जन करते हो वह सब तुम्हारा नही है, एक दिन तुम्हें यह सब छोडकर मृत्युके मुखमें जाना होगा। अपनी

भोगवृत्ति पर अंकुश लगाओ, परस्त्री गमन छोडो। ये सब कर्म क्या मानवधर्म नही है ? क्या इनका भी सम्बन्ध किसी सम्प्रदाय विशेषसे है ? कौन बुद्धिमान् ऐसा कहनेका साहस कर सकता है।

यदि मनुष्य इन दस मानवधर्मोको जीवनमें उतार ले तो धर्म मनुष्य समाजके लिए वरदान बनकर अमृतत्वकी ओर ले जानेमे समर्थ होता है। आज जितना कष्ट है वह इन्हीके अभावसे है। आजका मनुष्य अपने भारतीय चारित्रको भुलाकर विलासिता, धनलिप्सा, भोगतृष्णाके चक्रमें पडकर क्या नही करता। और धर्मसे विमुख होकर धर्मकी हँसी उडाता है, धर्मको ढकोसला बतलाता है। क्यो न बतलावे, जब वह धर्मका बाना धारण करने वालोको भी अपने ही समकक्ष पाता है तो उसकी आस्था धर्मसे डिगना स्वाभाविक है। इसमें उसका दोष नही है। दोष है धर्मका यथार्थ रूप दृष्टिसे ओझल हो जानेका। जब धर्म भी वही रूप धारण कर लेता है जो धनका है तब धन और धर्ममे गठबन्धन हो जानेसे धन धर्मको भी खा बैठता है। आज धर्म भी धनका दास बन गया है। धर्मका कार्य आज धनके बिना नही चलता। फलत धर्म पर आस्था हो तो कैसे हो। धन भोग का प्रतिरूप है और धर्म त्यागका। अत. दोनोमें तीन और छह जैसा वैमुख्य है। इस तथ्यको हृदयगम करना आवश्यक है।

४ धर्मके भेद

जैनधर्मके उपदेष्टा या प्रवर्तक सभी तीर्थंकर संसार त्यागी तपस्वी महात्मा थे। इस युगमें जैनधर्मके आद्य प्रवर्तक भगवान् ऋषभदेव तो महान् योगी थे। उनकी जो प्राचीन मूर्तियाँ मिलती है वे प्राय. कायोत्सर्ग मुद्रामें और सिर पर जटाजूटके साथ मिलती हैं जो उनकी तपस्विताकी सूचक है। गृहस्थाश्रमके साथ सर्वस्व त्यागकर वर्षो पर्यन्त वनमें आत्मध्यान करनेके पश्चात् ही पूर्णज्ञानकी प्राप्ति होती है और पूर्णज्ञान होने पर ही धर्मका उपदेश होता है। धर्मोपदेश कालमें तीर्थंकर पूर्ण निरीह होते है उन्हें अपने धर्मप्रवर्तनकी भी इच्छा नही होती। इच्छा तो मोहकी पर्याय है और मोह रागद्वेषके नष्ट हुए बिना पूर्णज्ञान नही होता।

इस तरह जब आत्मा परमात्मा बन जाता है तभी वह उपदेशका पात्र होता है। आचार्य समन्तभद्र स्वामीने कहा है—

> अनात्मार्थं विना रागै शास्ता शास्ति सतो हितम्।
> ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरज किमपेक्षते॥ —र श्रा

अर्थात् धर्मोपदेष्टा तीर्थंकर कुछ भी निजी प्रयोजन और रागके बिना सज्जनोको हितका उपदेश देते है। मृदगवादकके हाथके स्पर्शसे शब्द करनेवाला मृदग क्या अपेक्षा करता है। अर्थात् जैसे वादकके हाथका स्पर्श होते ही मृदग शब्द करता है उसी तरह श्रोताओकी भावनाओका स्पर्श होते ही समवसरणमें विराजमान तीर्थंकरके मुखसे दिव्यध्वनि खिरने लगती है।

उसके द्वारा धर्मके दो मुख्य भेद प्रकाशमें आते है अनगार या मुनि धर्म और सागार या श्रावक धर्म। मुनिधर्म ही उत्सर्ग धर्म माना गया है क्योकि वही मोक्षकी प्राप्तिका साक्षात् मार्ग है। मुनिधर्म धारण किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती। जो मुनि धर्म धारण करनेमें असमर्थ होते है किन्तु उसमें आस्था रखते है वे भविष्यमें मुनि बननेकी भावनासे श्रावकधर्म अगीकार करते है। अत. श्रावकधर्म अपवादधर्म है।

पुरुपार्थसिद्धचुपायसे ज्ञात होता है कि पहले जिनशासनका ऐसा आदेश था कि साधुके पास जो भी उपदेश सुननेके लिए आवे उसे वे मुनि धर्मका ही उपदेश देवें। यदि वह मुनिधर्मको ग्रहण करनेमे असमर्थ हो तो उसे पीछेसे श्रावकधर्मका उपदेश देवें। क्योकि—

> यो यतिधर्ममकथयन्नुपदिशति गृहस्थधर्ममल्पमति।
> तस्य भगवत्प्रवचने प्रदर्शित निग्रहस्थानम्॥१८॥

अक्रमकथनेन यतः प्रोत्सहमानोऽतिदूरमपि शिष्य ।
अपदेऽपि सप्रतृप्तः प्रतारितो भवति तेन दुर्मतिना ।।१९।।

जो अल्पमति उपदेशक मुनिधर्मको न कहकर श्रावकधर्मका उपदेश देता है उसको जिनागममें दण्डका पात्र कहा है। क्योकि उस दुर्बुद्धिके क्रमका भग करके उपदेश देनेसे अत्यन्त दूर तक उत्साहित हुआ भी शिष्य श्रोता तुच्छ स्थानमें ही सन्तुष्ट होकर ठगाया जाता है। अत वक्ताको प्रथम मुनिधर्मका उपदेश करना चाहिये, ऐसा पुराना विधान था।

इससे अन्वेषक विद्वानोके इस कथनमें कि जैन धर्म और बौद्धधर्म मूलत साधुमार्गी धर्म थे यथार्थता प्रतीत होती है।

लोकमान्य तिलकने अपने गीता रहस्यमें लिखा है कि वेदसहिता और ब्राह्मणोमे सन्यास आश्रम आवश्यक नही कहा गया। उलटा जैमिनिने वेदोका यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रममें रहनेसे ही मोक्ष मिलता है। उन्होने यह भी लिखा है कि जैन और बौद्धधर्मके प्रवर्तकोने इस मतका विशेष प्रचार किया कि ससारका त्याग किये विना मोक्ष नही मिलता। यद्यपि शकराचार्यने जैन और बौद्धोका खण्डन किया तथापि जैन और बौद्धोने जिस सन्यासधर्मका विशेष प्रचार किया था, उसे ही श्रौतस्मार्त सन्यास कहकर कायम रखा।

कुछ विदेशी विद्वानोका जिनमे डा० जेकोबी[1] का नाम उल्लेखनीय है यह मत है कि जैन और बौद्ध श्रमणोंके नियम ब्राह्मणधर्मके चतुर्थ आश्रमके नियमोकी ही अनुकृति है।

किन्तु एतद्देशीय विद्वानोका ऐसा मत नही है क्योकि प्राचीन उपनिषदोमें दो या तीन ही आश्रमोका निर्देश मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद्के अनुसार गृहस्थाश्रमसे ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। शतपथ ब्राह्मणमें गृहस्थाश्रमकी प्रशसा है और तैत्तिरीयोपनिषद्में भी सन्तान उत्पन्न करनेपर ही जोर दिया है। गौतम धर्म-सूत्र (८।८) में एक प्राचीन आचार्यका मत दिया है कि वेदोको तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। वेदमें उसीका विधान है अन्य आश्रमोका नही। वाल्मीकि रामायणमें सन्यासीके दर्शन नही होते। वानप्रस्थ ही दृष्टिगोचर होते है। महाभारतमें जब युधिष्ठिर महायुद्धके पश्चात् सन्यास लेना चाहते है तब भीम कहता है—शास्त्रमें लिखा है कि जब मनुष्य सकटमें हो, या वृद्ध हो गया हो, या शत्रुओसे त्रस्त हो तब उसे सन्यास लेना चाहिए। भाग्यहीन नास्तिकोने ही सन्यास चलाया है।

अत विद्वानोका मत है कि वानप्रस्थ और सन्यासको वैदिक आर्योने अवैदिक सस्कृतिसे लिया है (हिन्दूधर्म समीक्षा पृ १२७) अस्तु।

जहाँ तक जैन साहित्यके पर्यालोचनका प्रश्न है उससे तो यही प्रतीत होता है कि प्राचीन समयमें एक मात्र अनगार या मुनिधर्मका ही प्राधान्य था, श्रावक धर्म आनुषगिक था। जब मुनिधर्मको धारण करनेकी ओर अभिरुचि कम हुई तब श्रावक धर्मका विस्तार अवश्य हुआ किन्तु मुनि धर्मका महत्त्व कभी भी कम नही हुआ, क्योकि परमपुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति मुनिधर्मके विना नही हो सकती। यह सिद्धान्त जैन धर्ममें आज तक भी अक्षुण्ण है।

५ धार्मिक साहित्यका अनुशीलन

हमने ऊपर जो तथ्य प्रकाशित किया है उपलब्ध जैन साहित्यके अनुशीलनसे भी उसीका समर्थन होता है।

सबसे प्रथम हम आचार्य कुन्दकुन्दको लेते हैं। उनके प्रवचनसार और नियमसारमें जो आचार विषयक चर्चा है वह सब केवल अनगार धर्मसे ही सम्बद्ध है। प्रवचनसारका तीसरा अन्तिम अधिकार

---

[1] से बु ई जिल्द २२ की प्रस्तावना पृ ३०।

चारित्राधिकार है। इसके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने धर्मतीर्थके कर्ता वर्धमान, शेष तीर्थंकर, श्रमण आदिको नमस्कार करके लिखा है—

किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाण-पहाणासमं समासेज्ज।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥

अर्थात् समस्त अरहन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओंको नमस्कार करके उनके विशुद्ध दर्शन और ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त करके साम्यभावको स्वीकार करता हूँ जिससे मोक्षकी प्राप्ति होती है।

इसके पश्चात् इस ग्रन्थका प्रारम्भ 'चारित्तं खलु धम्मो' से होता है। इस चारित्रके भी दो रूप हैं—सराग और वीतराग। सरागी श्रमणोंको शुभोपयोगी और वीतरागी श्रमणोंको शुद्धोपयोगी कहते हैं। वीतरागी श्रमण ही मुक्ति प्राप्त करते हैं जैसा कि ऊपर कहा है।

कुन्दकुन्दके आठ प्राभृत उपलब्ध हैं। उनमें-से एक चारित्तपाहुड है। उसमें कतिपय गाथाओंसे श्रावकधर्मका बारह व्रतरूप सामान्य कथन है। शेष जिन प्राभृतोंमें भी आचार विषयक चर्चा है वह केवल मुनि आचारसे सम्बद्ध है। उसमें शिथिलाचारीकी कड़ी आलोचना आदि है। इससे लगता है कि उस समय तक मुनिधर्मका पालन बहुतायत से होता था। किन्तु उसके पश्चात् मुनिधर्ममें कमी आती गयी और शिथिलाचार भी बढ़ता गया है। मुनिधर्मका एकमात्र प्राचीन ग्रन्थ मूलाचार भी कुन्दकुन्दकृत कहा जाता है। वे ही मूलसंघके मान्य आचार्य थे। मूलाचारके पश्चात् मुनिधर्मका प्रतिपादक कोई प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। और श्रावकके आचार सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ प्राप्त होते हैं जो प्रायः दसवीं शताब्दी और उसके बादके रचे गये हैं। पं. आशाधरका अनगार धर्मामृत ही एक मुनिआचार-विषयक ग्रन्थ उत्तरकालमें मिलता है।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मुनिआचार-विषयक विपुल साहित्य है। और उसमें श्रमणों और श्रमणियोंके आचार, संघ व्यवस्था, प्रायश्चित्त आदिका बहुत विस्तारसे कथन मिलता है जो परिग्रहसे सम्बद्ध होनेके कारण दिगम्बर परम्पराके अनुकूल नहीं पड़ता। किन्तु उससे तत्कालीन आचार- विषयक अनेक बातोंपर प्रकाश पड़ता है।

श्वेताम्बर परम्परा भी गृहस्थाश्रमसे मुक्ति स्वीकार नहीं करती। किन्तु उसमें वस्त्रत्याग अनिवार्य न होनेसे, बल्कि उसके विपरीत उत्तरकालमें मुक्तिके लिए वस्त्रधारण आवश्यक कर दिये जानेसे ऐसे प्रसंग मिलते हैं कि गृहस्थ अवस्थामें ही केवलज्ञानकी प्राप्ति हो गयी। फिर भी प्राचीन आगमिक साहित्य अनगार-धर्मसे ही सम्बद्ध मिलता है।

इस तरह आचार विषयक साहित्यसे भी यही प्रमाणित होता है कि जैनधर्ममें मुनि आचारका ही महत्त्व रहा है। इतने प्राथमिक कथनके पश्चात् हम अपने प्रकृत विषय पर आते हैं।

६. अनगार धर्म

पं. आशाधरजीने अपने धर्मामृतको दो भागोंमें रचा है। प्रथम भाग अनगार धर्मामृत है और दूसरा भाग सागार धर्मामृत है। जहाँ तक हम जानते हैं आचार विषयक-उत्तरकालीन ग्रन्थ निर्माताओंमें वे ही ऐसे ग्रन्थकार हैं जिन्होंने सागार धर्मसे पूर्व अनगार धर्मपर भी ग्रन्थ रचना की है और एक तरहसे मूलाचारके पश्चात् अनगारधर्म पर वही एक अधिकृत ग्रन्थ दि. परम्परामें है। उसमें नौ अध्याय हैं। पहले अध्यायमें धर्मके स्वरूपका निरूपण है। दूसरेमें सम्यक्त्वकी उत्पत्ति आदिका कथन है। तीसरेमें ज्ञानकी आराधनाका, चतुर्थ अध्यायमें सम्यक् चारित्रका, पाँचवेंमें भोजन सम्बन्धी दोषों आदिका, छठे अध्यायमें दस धर्म,

इन्द्रियजय, सयम, वारह भावना आदिका कथन है। सातवें अध्यायमे अन्तरंग-वहिरग तपोका वर्णन है। आठवें अध्यायमे छह आवश्यकोका वर्णन है और नौवें अध्यायमें नित्यनैमित्तिक क्रियाओका वर्णन है।

यहाँ हम अनगार धर्मपर विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे क्योकि इसपर बहुत कम लिखा गया है और श्रावकोकी तो वात ही क्या, अनगार धर्मका पालन करनेवाले भी अनगार धर्मका साधारण ज्ञान ही रखते हैं। अपने इस लेखनमें हम श्वेताम्बर साहित्यका भी उपयोग करेंगे। जहाँ दिगम्बर मान्यतासे भेद होगा वहाँ उसका निर्देश कर देंगे अन्यथा उसका पृथक् निर्देश नही करेंगे।

मुनिदीक्षा

प्रवचनसारके तीसरे अधिकारके प्रारम्भमें मुनिपदकी दीक्षाके सम्बन्धमें कहा है—जो श्रमण होना चाहता है वह अपने परिजनोसे आज्ञा लेकर किसी कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गणीके पास जाकर उनसे प्रार्थना करता है। मुनिसघकी अनुमति मिलनेपर वह अपने हाथसे अपने सिर और दाढीके वालोका लोच करता है और 'यथा जात रूप धर' अर्थात् नग्न हो जाता है। यह रूप स्वीकार करके वह गुरुजनसे अपने कर्तव्यकर्मको सुनता है और उसे स्वीकार करके श्रमण हो जाता है।

दीक्षाके अयोग्य व्यक्ति

जैन श्रमणका पद एक वहुत ही आदरणीय और उच्च नैतिक मापदण्डका स्थान है। अत. उसे धारण करनेवालेमें कुछ विशेषताएँ होना आवश्यक है। श्वे. साहित्यके अनुसार नीचे लिखे व्यक्ति श्रमण सघमे प्रवेश करनेके अयोग्य माने गये हैं—

१ जिसकी आयु आठ वर्षसे कम है, २ वृद्ध, ३ नपुसक, ४. रोगी, ५. अगहीन, ६. कायर या भीरु, ७ जड़बुद्धि, ८ चोर, ९ राजविरोधी, १० पागल, ११. अन्ध, १२ दास, १३. धूर्त, १४. मूढ, १५. कर्जदार, १६. भागा हुआ या भगाया हुआ, १७ गर्भिणी स्त्री तथा वालकवाली स्त्री। जहाँ तक हम जानते हैं दिगम्बर परम्परामें भी उक्त व्यक्ति मुनिदीक्षाके अयोग्य माने गये है।

श्वे. परम्परामें चारो वर्णोके व्यक्ति श्रमण हो सकते हैं किन्तु दि परम्परामें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको ही उसके योग्य माना गया है।

सघके व्यवस्थापक

मूलाचार (४।१५५) में कहा है कि जिस गुरुकुलमे आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर और गणधर न हो उसमें नही रहना चाहिए। आचार्यके सम्बन्धमें कहा है कि वह शिष्योके अनुशासनमें कुशल होता है, उपाध्याय धर्मका उपदेशक होता है। प्रवर्तक सघका प्रवर्तक, उसकी चर्या आदिका व्यवस्थापक होता है। स्थविर मर्यादाका रक्षक होता है और गणधर गणका धारक होता है। श्वे. साहित्यमें इनके सम्बन्धमें विस्तारसे कथन मिलता है।

गण, गच्छ और कुल

उक्त सघ-व्यवस्थापकोके अन्तर्गत श्रमण विभिन्न समूहोमें रहते है। तीन श्रमणोका समूह गण कहलाता था और उसका प्रधान गणधर होता था। सात श्रमणोका समूह गच्छ होता था। मूलाचारकी टीकासे लगता है कि टीकाकारके समयमें इनका यथार्थ स्वरूप लुप्त हो गया था क्योकि ४।१७४ की टीकामें वह गच्छका अर्थ ऋषिसमुदाय, अथवा चातुर्वर्ण्यश्रमणसघ अथवा सात पुरुष या तीन पुरुषोका समूह करते है। तथा 'कुल' का अर्थ गुरुसन्तान (४।१६६) किया है इसके सम्बन्धमें भी विशेष नही लिखा। आगे (५।१९३)

कुलका अर्थ शुक्रकुल अर्थात् स्त्री-पुरुषसन्तान किया है, जो लोकप्रसिद्ध है। इसी गाथामें कहा है कि बाल और वृद्धोंसे आकुल गच्छमें रहकर वैयावृत्य करना चाहिए। आगे कहा है—

वर गणपवेसादो विवाहस्स प्रवेसणं।
विवाहे राग उप्पत्ति गणो दोसाणमागरो ॥ —मूलाचार १०।९२।

अर्थात् गणमे प्रवेश करनेसे विवाह कर लेना उत्तम है। क्योकि विवाहमें स्त्री स्वीकार करनेपर रागकी उत्पत्ति होती है उधर गण भी सब दोषोका आकर है।

इससे यह अभिप्राय प्रतीत होता है कि गणमें रहनेपर रागद्वेषकी सम्भावना तो रहती है। फिर गुरुको अपनी मृत्यु उपस्थित होनेपर उसका वियोग दु खदायक हो सकता है। अत गणमें भी सावधानीसे रहना चाहिए।

मूलगुण

श्वेताम्बर परम्परामें पांच महाव्रत और छठे रात्रिभोजनविरतिको ही मूलगुण कहा है। किन्तु दिगम्बर परम्परामे सर्वत्र साधुके २८ मूलगुण माने है—पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँचो इन्द्रियोका निरोध, छह आवश्यक, केशलोच, नग्नता, अस्नान, भूमिशयन, दन्तघर्षण न करना, खडे होकर भोजन करना और एक बार भोजन।

भ्रमण या विहार

दोनो ही परम्पराओमें वर्षाऋतुके चार मासके सिवाय शेष आठ महीनोमें साधुको भ्रमण करते रहना चाहिए। श्वेताम्बर साहित्यमे 'गामानुगामं' पदसे एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेका कथन है। ऐसा ही दि. परम्परामें भी है।

ईर्यासमिति साधुका मूलगुण है। उसका कथन करते हुए मूलाचार (५।१०७-१०९) मे कहा है कि जब सूर्यके प्रकाशसे समस्त दिशाएँ प्रकाशमान हो जायें और मार्ग स्पष्ट दिखाई देता हो तब स्वाध्याय, प्रतिक्रमण, देववन्दना आदि नित्यकृत्य करनेके पश्चात् सम्मुख चार हाथ प्रमाण भूमिको अच्छी तरहसे देखते हुए सावधानतापूर्वक मन-वचन-कायके द्वारा शास्त्रमें उपयोग रखते हुए चलना चाहिए।

मार्गशुद्धि

जिस मार्गपर बैलगाडी, हाथी, घोडे, पालकी, रथ आदि चलते हो, गाय, बैल आदि सदा आते जाते रहते हो, स्त्री-पुरुष चलते रहते हो, जो धूपसे तप्त होता रहता हो, जहाँ हल आदि चलता हो, ऐसे प्रासुक मार्गसे ही साधुको जाना-आना चाहिए। चलते हुए वे पत्र-पुष्प-लता-वृक्ष आदिका छेदन-भेदन, पृथ्वीका घर्षण आदि नही करते है। वे वायुकी तरह एकदम नि सग होते है।

श्वे साहित्यमें कहा है कि चलते समय साधुको सावधान रहना चाहिए, अधिक वार्तालाप नही करना चाहिए। साथमें गृहस्थ या पाखण्डी साधु नही होना चाहिए। अपनी सब आवश्यक वस्तुएँ अपने पास ही रखनी चाहिए-उसे पनीले प्रदेश, हिलते हुए पुल और कीचडमें से नही जाना चाहिए। जिस मार्गमें चोर, डाकू, उचक्के बसते हो उधरसे नही जाना चाहिए। जिस प्रदेशमें कोई राजा न हो, अराजकता फैली हो वहाँ नही जाना चाहिए। या जहाँ सेनाका पडाव हो वहाँ भी नही जाना चाहिए। उसे खुफिया गुप्तचर समझा जा सकता है। ऐसे वनोमे भी न जाना चाहिए जिन्हें अधिकसे अधिक पाँच दिनमें भी पार न किया जा सकता हो।

जलपर यात्रा

साधु और साध्वी खरीदी गयी या उनके सत्कारकर्ताके द्वारा तैयार की गयी नावसे नही जाते। नावके मालिककी आज्ञासे नावपर बैठ सकते हैं। साधुको नावके चलानेमें या उसे धक्का वगैरह देनेमें भाग नही लेना चाहिए। उसे नावके छिद्र भी बन्द नही करना चाहिए। यदि नाववाला साधुको पानीमें फेंक दे तो उसे तैरकर किनारेपर पहुँचने की अनुज्ञा है। पानीसे निकलकर वह तबतक खडा रहे जबतक उसका शरीर सूख जाये। उसे शरीरको जल्दी सुखानेका कोई प्रयत्न नही करना चाहिए। यदि साधुको छिछला जल पार करना पडे तो उसे सावधानीसे किसीको भी छुए बिना पार करना चाहिए। यदि उसके पैरोमें कीचड लग जाये तो उसे पैर साफ़ करनेके लिए घास पर नही चलना चाहिए।

साधुको गगा, यमुना, सरयू, इरावती और मही इन पांच महानदियोको एक मासमें दो या तीन बार पार नही करना चाहिए। किन्तु यदि राजभय हो, या दुर्भिक्ष पडा हो, या किसीने उसे नदीमें गिरा दिया हो, या बाढ आयी हो, या अनार्योका भय हो तो वह इन नदियोको पार कर सकता है। यह सब आचारागके दूसरे भागमें है। दि. परम्परामें इतना विस्तारसे कथन नही है।

एक स्थानपर ठहरनेका समय

वर्षाऋतुके अतिरिक्त साधुको गांवमें एक दिन और नगरमे पांच दिन ठहरना चाहिए। दोनो परम्पराओको यह नियम मान्य है। श्वे साहित्यके अनुसार पांच कारणोसे वर्षाऋतुमें भी स्थान-परिवर्तन किया जा सकता है—

१. किसी ऐसे आचार्यसे जिन्होने आमरण आहारका त्याग किया हो, कोई आवश्यक अध्ययन करनेके लिए।
२. किसी खतरनाक स्थानमें किसीको पथभ्रष्ट होनेसे रोकनेके लिए।
३. धर्मप्रचारके लिए।
४. यदि आचार्य या उपाध्यायका मरण हो जाये।
५. यदि आचार्य या उपाध्याय ऐसे प्रदेशमें ठहरे हो जहाँ वर्षा नही होती तो उनके पास जानेके लिए।

कोई साधु एक ही स्थानपर दो वर्षावास नही कर सकता। वर्षाकाल बीत जानेपर भी यदि मार्ग कीचड़से या जन्तुओसे भरा हो तो साधु पांचसे दस दिन तक उसी स्थानपर अधिक भी ठहर सकते है।

साधु-आवास

जिस घरमें गृहस्थोका आवास हो या उनके और साधुके जाने-आनेका मार्ग एक हो, साधुको नही रहना चाहिए। जहाँ स्त्रियोका, पशुओ आदिका आना-जाना हो ऐसे स्थान भी साधु-निवासके लिए वर्जित है। प्राचीन कालमें तो साधु नगरके बाहर वन, गुफा आदि में रहा करते थे।

उत्तराध्ययनमें भी साधुको शून्य घर, श्मशान तथा वृक्षमूलमें निवास करनेके लिए कहा है। और कहा है कि एकान्तवास करनेसे समाधि ठीक होती है, कलह, कषाय, आदि नही होते तथा आत्मनियन्त्रण होता है। उपाश्रय और विहारका निर्देश होनेपर भी श्वेताम्बर साहित्यमें भी साधुको समाजसे दूर एकाकी जीवन बितानेकी ही ध्वनि गूँजती है (हि जै मो १६०)

सामाजिक सम्पर्क

प्रवचनसार (३।४५) में कहा है कि आगममें दो प्रकारके मुनि कहे है—एक शुभोपयोगी और एक शुद्धोपयोगी। इसकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने यह प्रश्न किया है कि मुनिपद धारण करके भी जो कषाय-

का लेश होनेसे शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरोहण करनेमें असमर्थ है उन्हें श्रमण माना जाये या नहीं ? इसका उत्तर देते हुए उन्होने कहा है कि आचार्य कुन्दकुन्दने 'धम्मेण परिणदप्पा' इत्यादि गाथासे स्वय ही कहा है कि शुभोपयोगका धर्मके साथ एकार्थसमवाय है। अत शुभोपयोगीके भी धर्मका सद्भाव होनेसे शुभोपयोगी भी श्रमण होते हैं किन्तु वे शुद्धोपयोगियोके समकक्ष नही होते। आचार्य कुन्दकुन्दने शुभोपयोगी श्रमणोकी प्रवृत्ति इस प्रकार कही है—शुभोपयोगी श्रमण शुद्धात्माके अनुरागी होते हैं। अत वे शुद्धात्मयोगी श्रमणोका वन्दन, नमस्कार, उनके लिए उठना, उनके पीछे पीछे जाना उनकी वैयावृत्य आदि करते हैं। इसमें कोई दोप नही है। दूसरोके अनुग्रहकी भावनासे दर्शन ज्ञानके उपदेशमें प्रवृत्ति, शिष्योका ग्रहण, उनका सरक्षण, तथा जिनपूजाके उपदेशमें प्रवृत्ति शुभोपयोगी मुनि करते हैं। किन्तु जो शुभोपयोगी मुनि ऐसा करते हुए अपने सयमकी विराधना करता हैं वह गृहस्थधर्ममे प्रवेश करनेके कारण मुनिपदसे च्युत हो जाता है। इसलिए प्रत्येक प्रवृत्ति सयमके अनुकूल ही होना चाहिए क्योकि प्रवृत्ति सयमकी सिद्धिके लिए ही की जाती है। यद्यपि शुद्धात्मवृत्तिको प्राप्त रोगी, बाल या वृद्ध श्रमणोकी वैयावृत्यके निमित्त ही शुद्धात्मवृत्तिसे शून्य जनोके साथ सम्भापण निपिद्ध नही है, किन्तु जो निश्चय व्यवहाररूप मोक्षमार्गको नहीं जानते और पुण्यको ही मोक्षका कारण मानते है उनके साथ ससर्ग करनेसे हानि ही होती है अत शुभोपयोगी भी साधु लौकिक जनोके साथ सम्पर्कसे बचते है।

परिग्रह

दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनो ही साधु परिग्रह त्याग महाव्रतके धारी होते हैं। किन्तु इसीके कारण दोनोमें मुख्य भेद पैदा हुआ है। दिगम्बर साधु तो नग्न रहते है। नग्नता उनके मूलगुणोमें-से है। किन्तु श्वेताम्बर साधु वस्त्र धारण करते है और वस्त्रको सयमका साधन मानते है।

यद्यपि आचारागमे कहा है कि भगवान् महावीर प्रव्रजित होनेसे तेरह महीने पश्चात् नग्न हो गये। स्थानागमें महावीरके मुखसे कहलाया है—'मए समणाण अचेलते धम्मे पण्णत्ते।' अर्थात् मैंने श्रमणोके लिए अचेलता धर्म कहा है। दशवैकालिकमें भी नग्नताका उल्लेख है। उत्तराध्ययनमे नग्नताको छठी परीपह कहा है। किन्तु उत्तरकालीन टीकाकारोने अचेलताका अर्थ अल्पचेल या अल्पमूल्य चेल आदि किया, सम्पूर्ण नग्नता अर्थ नही किया।

स्थानागसूत्रमें नग्नताके अनेक लाभ बतलाये है। यथा—अल्प प्रतिलेखना, लाघव, विश्वासकर रूप, जिनरूपताका पालन आदि। किन्तु टीकाकारने इसे जिनकल्पियोके साथ जोड दिया।

वस्त्रधारणके तीन कारण कहे है—लज्जानिवारण, कामविकारका आच्छादन और शीत आदि परीपहका निवारण। साधु तीन वस्त्र धारण करता है। बौद्धोमें भी तीन चीवरका विधान है—संघाटी, उत्तरासंग और अन्तरावासक। आचारागके अनुसार ग्रीष्मऋतुमें साधु या तो एक वस्त्र रखते है या वस्त्र नही रखते।

वस्त्रका विधान होनेसे वस्त्र कैसे प्राप्त करना, कहांसे प्राप्त करना, किस प्रकार पहिरना, कब धोना आदिका विधान श्वे साहित्यमें वर्णित है।

जिनकल्पिक साधु हाथमे भोजन करते है, पीछी रखते है, वस्त्र धारण नही करते। अंगसाहित्यमें सर्वत्र जिनकल्प और स्थविर कल्पकी चर्चा नही होने पर भी टीकाकारोने उक्त प्रकारके कठोर आचारको जिनकल्पका बतलाया है। किन्तु उत्तरकालमें तो जिनकल्पियोको भी वस्त्रधारी कहा है।

श्वे. साधु ऊनसे बनी पीछी रखते है और दि साधु मयूरपखकी पीछी रखते है। दि साधु हाथमें भोजन करते है अत भिक्षापात्र नही रखते। कल्पसूत्रमें भगवान् महावीरको भी पाणिपात्रभोजी बतलाया

हैं। श्वे. साधु वस्त्रके सिवाय भी कम्बल, पात्र, पायपुछन आदि अनेक उपकरण रखते हैं। दि साहित्यमें इन सबकी कोई चर्चा नहीं है क्योंकि दि. साधुके लिए ये सब अनावश्यक हैं।

श्वे साधु श्रावकोंसे पीठफलक, तख्ता, चटाई आदि उपयोगके लिए लेते हैं। उपयोग होने पर लौटा देते हैं। उनमें भी शयनके लिए घास, पत्थर या लकडीका तख्ता श्रेष्ठ कहा है। साधुको घास पर अच्छी तरह जीव जन्तु देखकर ही सावधानीसे इस तरह लेटना चाहिए कि किसी दूसरेसे अग स्पर्श न हो। आवश्यकता होने पर साधु सुई, उस्तरा, नखच्छेदनी तथा कान सलाईका भी उपयोग करता है किन्तु छाता जूता वर्जित हैं।

भिक्षा और भोजन

साधुको सूर्योदयसे तीन घडीके पश्चात् और सूर्यास्तसे तीन घडी पहले भोजन कर लेना चाहिए। छियालीस दोष रहित और नवकोटिसे विशुद्ध आहार ही ग्राह्य होता है। कहा है—

णवकोडिपरिसुद्ध असण बादालदोसपरिहीण।
संजोयणाय हीण पमाणसहिय विहिसुदिण्ण ॥ —मूलाचार ६।६३ ॥

श्वे साधु भी भिक्षाके उचित समय पर भिक्षाके लिए जाता है। वह साथमें किसी श्रावक वगैरहको नहीं रखता और चार हाथ आगे देखकर सावधानता पूर्वक जाता है। यदि मूसलाधार वृष्टि होती हो, गहरा कोहरा छाया हो, जोरकी आंधी हो, हवामें जन्तुओंका बाहुल्य हो तो साधुको भिक्षाके लिए जानेका निषेध है। उसे ऐसे समयमें भी नहीं जाना चाहिए जब भोजन तैयार न हो या भोजनका समय बीत चुका हो। उसे ऐसे मार्गसे जाना चाहिए जिसपर कीचड, जीवजन्तु, जगली जानवर, गढे, नाला, पुल, गोबर वगैरह न हो। वेश्यावाट, अधिकारियोंके निवास, तथा राजप्रासाद वर्जित हैं। उसे अपना भिक्षा भ्रमण प्रारम्भ करनेसे पहले अपने सम्बन्धियोंके घर नहीं जाना चाहिए। इससे स्पेशल भोजनकी व्यवस्था हो सकती है। यदि घरका द्वार बन्द हो तो उसे न तो खोलना चाहिए और न उसमें से झाकना चाहिए।

सूत्रकृतागसूत्रमें यद्यपि भोजनके छियालीस दोषोंका निर्देश है किन्तु किसी भी अग या मूल सूत्रमें उनका ब्योरेवार एकत्र वर्णन नहीं मिलता जैसा मूलाचारमें मिलता है।

भिक्षा लेकर लौटने पर उसे गुरुको दिखाना चाहिए और पूछना चाहिए कि किसीको भोजनकी आवश्यकता है क्या। हो तो उसे देकर शेष स्वय खा लेना चाहिए। यदि साधुको भूख लगी हो तो एकान्त स्थानमें किसी दीवारकी ओटमें स्थानके स्वामीसे आज्ञा लेकर भोजन कर सकता है। यदि एक बार घूमने पर पर्याप्त भोजन न मिले तो दूसरा चक्कर लगा सकता है।

साधुके लिए भोजनका परिमाण बत्तीस ग्रास कहा है। और ग्रासका परिमाण मुर्गीके अण्डेके बराबर कहा है। साधुको अपने उदरका आधा भाग अन्नसे, चतुर्थ भाग जलसे और चतुर्थ भाग वायुसे भरना चाहिए। अर्थात् भूखसे आधा खाना चाहिए।

श्वे साधु गृहस्थके पात्रका उपयोग नहीं कर सकता। उसे अपने भिक्षा पात्रमें ही भोजन लेना चाहिए। जब भोजन करे तो भोजनको स्वादिष्ट बनानेके लिए विविध व्यजनोंको मिलानेका प्रयत्न न करे। और न केवल स्वादिष्ट भोजन ही ग्रहण करे। उसे किसी विशेष भोजनका इच्छुक भी नहीं होना चाहिए।

इस तरह पाणि भोजन और पात्र भोजनके सिवाय दोनों परम्पराओंमें भोजनके अन्य नियमोंमें विशेष अन्तर नहीं है। नवकोटि परिशुद्ध, दस दोष रहित और उद्गम उत्पादन एषणा परिशुद्ध भोजन ही जैन साधुके लिए ग्राह्य कहा है।

प्रायश्चित्त

साधुको प्रमाद, दर्प आदिसे लगे हुए अपने दोषोका शोधन करना चाहिए। अकलक देवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें कहा है कि जैसे अपने आय व्ययका विचार न करनेवाला व्यापारी अन्तमें पछताता है उसी तरह जो साधु अपने दोषोंका परिमार्जन नही करता वह भी उस व्यापारीकी तरह कष्ट उठाता है। अतः सदाचारी कुलीन साधुको अपने गुरुके सम्मुख अपने दोषोकी आलोचना करनी चाहिए। जिसके सम्मुख आलोचना की जाय वह व्यक्ति स्वय सच्चरित्र होना चाहिए। और उसमें इतनी क्षमता होनी चाहिए कि वह आलोचकसे अपने दोषोको स्वीकार करा सके तथा उसके सामने आलोचकने जो दोष स्वीकार किये है उन्हें किसी अन्य पर प्रकट न करे। यह आलोचना दस दोषोको टालकर करनी चाहिए। आलोचना करनेसे पहले गुरुको अपने विषयमें दयाद्रवित या प्रसन्न नही करना चाहिए जिससे वह अल्प प्रायश्चित्त देवें। उपायसे गुरुका अभिप्राय जानकर आलोचना करना अनुमानित नामक दूसरा दोष है। श्वे. के अनुसार आलोचकको ऐसे गुरुके पास नही जाना चाहिए जो अल्प प्रायश्चित्त देनेमें प्रसिद्ध है। जो दोष करते गुरुने देखा वही दोष प्रकट करना तीसरा दोष है। मोटे दोषको निवेदन करना चतुर्थ दोष है। सूक्ष्म दोषको निवेदन करना पाँचवाँ दोष है। इस तरह दोष कहना कि आचार्य सुन न सकें छन्न है। या अदृष्टकी आलोचना छन्न दोष है। या व्याजसे दोष कहकर जो स्वत प्रायश्चित्त लेता है वह छन्न दोष है इस तरह श्वे. साहित्य, अपराजिता और मूलाचारकी टीकामें छन्नका स्वरूप क्रमसे कहा है। बहुत जोरसे दोषका निवेदन करना या जब बहुत हल्ला होता हो तब दोषका निवेदन करना शब्दाकुल दोष है। बहुतसे गुरुओसे दोषकी आलोचना बहुजन दोष है। जो प्रायश्चित्तमें अकुशल है उससे दोषका निवेदन करना अव्यक्त दोष है। जो गुरु स्वय उस दोषका सेवी हो उससे दोषका निवेदन करना तत्सेवी दोष है। ये सब आलोचना दोष है।

आलोचनाके सिवाय नौ प्रायश्चित्त है—प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल ये दोनोंमें समान है। श्वे में अनवस्थाप्य पारचिय है तथा दि. में परिहार और श्रद्धान है। अकलक देवने तत्त्वार्थ वार्तिक (९।२२) में अनुपस्थापन और पारचिक प्रायश्चित्तका कथन किया है। मूलाचारमें इनका कथन नही है। दोनो ही सम्प्रदायोके मूल साहित्य में इन प्रायश्चित्तोको उदाहरण देकर स्पष्ट नही किया है कि अमुक दोष होनेपर अमुक प्रायश्चित्त होता है। श्वे साहित्यमें अनवस्थापन और पारंचितका कुछ विशेष कथन मिलता है।

दिनचर्या

साधुको अपना समय बहुत करके स्वाध्याय और ध्यानमें बितानेका ही निर्देश मिलता है। मूलाचार (५।१२१) टीकामें कहा है—

सूर्योदय हुए जब दो घडी बीत जाये तब देववन्दना करनेके पश्चात् श्रुतभक्ति और गुरुभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको ग्रहण करके सिद्धान्त आदिको वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, परिवर्तन आदि करे। जब मध्याह्नकाल होनेमें दो घडी समय शेष रहे तब आदरके साथ श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करे। अपने निवास-स्थानसे दूर जाकर मलत्याग करे। शरीरका आगा-पीछा देखकर हाथ-पैर आदि धोकर कमण्डलु और पीछी ग्रहण करके मध्याह्नकालकी देववन्दना करे। बालकोके भरे पेटसे तथा अन्य लिंगियोसे भिक्षाका समय जानकर जब धूम और मूसल आदिका शब्द शान्त हो, गोचरीके लिए प्रवेश करे। गोचरीको जाते हुए न तो अतिशीघ्र चले, न अति धीरे चले और न रुक-रुककर चले। गरीब-अमीर घरका विचार न करे। मार्गमें न ठहरे, न वार्तालाप करे। हँसी आदि न करे। नीचकुलोमें प्रवेश न करे। शुद्धकुलोमे भी यदि सूतक आदि-का दोष हो तो न जावे। द्वारपाल आदि रोके तो न जावे। जहाँतक अन्य भिक्षाटन करनेवाले जाते है वही

तक ही जावे। जहाँ विरोधके निमित्त हो वहाँ न जावे। दुष्ट गधा, ऊँट, भैंस, बैल, हाथी, सर्प आदिको दूरसे ही बचा जाये। मदोन्मत्त जनोंसे दूर रहे। स्नान, विलेपन, मण्डन तथा रतिक्रीडामें आसक्त स्त्रियोंकी ओर न देखे। सम्यक् विधिसे दिये हुए आहारको सिद्धभक्ति करके ग्रहण करे। छिद्र रहित पाणिपात्रको नाभि-प्रदेशके समीप करके शुरशुर आदि शब्द रहित भोजन करे। भोजन करके मुख, हाथ, पैर धोकर शुद्ध जलसे पूर्ण कमण्डलु लेकर घरसे निकले। धर्मकार्यके विना अन्य घरमें न जावे। इस प्रकार जिनालय आदिमें जाकर प्रत्याख्यान ग्रहण करके प्रतिक्रमण करे।

उत्तराध्ययनके २६वें अध्ययनमें साधुकी दिनचर्या दी हुई है। दिन और रातको चार पहरोंमें विभाजित किया है। रात्रिके प्रथम पहरमें स्वाध्याय, दूसरेमें ध्यान, तीसरेमें शयन और चतुर्थमें स्वाध्यायका विधान किया है। उसकी दैनिक चर्याके मुख्य कार्य हैं प्रतिलेखना, स्वाध्याय, आलोचना, गोचरी, कायोत्सर्ग और प्रतिक्रमण।

छह आवश्यक

छह आवश्यक दोनों परम्पराओंमें समान हैं। वे हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग।

साधु प्रतिलेखना करके शुद्ध होकर प्रतिलेखनाके साथ हाथोंकी अंजलि बनाकर कायोत्सर्गपूर्वक एकाग्रमनसे सामायिक करता है। उस समय साधु समस्त सावद्यसे विरत, तीन गुप्तियोंसे युक्त, इन्द्रियोंको वशमें करके सामायिक करता है अतः वह स्वयं सामायिकस्वरूप होता है। उस समय उसका सबमें समता भाव होता है।

दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखकर कायोत्सर्गपूर्वक चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन चतुर्विंशतिस्तव है।

कृतिकर्म, चितिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये सब वन्दनाके ही नाम हैं। बत्तीस दोष टालकर वन्दना करनी चाहिए। वन्दनाका मतलब है तीर्थंकर, आचार्य आदिके प्रति विनय करना। इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है। इसका विस्तृत वर्णन मूलाचारके षडावश्यक अधिकारमें है।

लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते हैं। दोनों परम्पराओंमें प्रतिक्रमणके छह भेद समान हैं—दैवसिक, रात्रिक, ऐर्यापथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक। यह आलोचनापूर्वक होता है।

वन्दनाके पश्चात् बैठनेके स्थानको पिच्छिकासे परिशुद्ध करके साधुको गुरुके सम्मुख दोनों हाथोंकी अंजलि करके सरलतापूर्वक अपने दोषोंको स्वीकार करना चाहिए।

दोनों ही परम्पराएँ इस विषयमें एकमत हैं कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके समयमें प्रतिक्रमण करना आवश्यक है, चाहे दोष हुआ हो या न हुआ हो। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके साधु दोष लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे।[1]

प्रत्याख्यानके दस[2] भेद हैं—अनागत, अतिक्रान्त, कोटिसहित, निखण्डित, साकार, अनाकार, परिमाण-गत, अपरिशेष, अध्वानगत और सहेतुक। जैसे चतुर्दशीका उपवास तेरसको करना अनागत प्रत्याख्यान है। चतुर्दशीका उपवास प्रतिपदा आदिमें करना अतिक्रान्त प्रत्याख्यान है। यदि शक्ति होगी तो उपवास करूँगा, इस प्रकार संकल्प सहित प्रत्याख्यान कोटिसहित है। यथासमय उपवास आदि अवश्य करना निखण्डित है।

---

१ मूलाचार ७।१२९।

२. मूला ७।१४०-१४१।

कनकावली सर्वतोभद्र आदि उपवास करना साकार प्रत्याख्यान है। इच्छानुसार कभी भी उपवास आदि करना अनाकार प्रत्याख्यान है। कालका परिमाण करके षष्ठम उपवास आदि करना परिमाणगत प्रत्याख्यान है। जीवनपर्यन्तके लिए चारो प्रकारके आहारको त्यागना अपरिशेष प्रत्याख्यान है। अटवी, नदी आदिके मार्गको लाँघनेपर जो उपवास किया जाता है वह अध्वगत प्रत्याख्यान है। उपसर्ग आदिको लेकर जो उपवासादि किया जाता है वह सहेतुक प्रत्याख्यान है।

यह प्रत्याख्यान पाँच प्रकारकी विनयसे शुद्ध होना चाहिए, अनुभाषणा शुद्ध होना चाहिए अर्थात् गुरु जिस प्रकार प्रत्याख्यानके शब्दोका उच्चारण करें उसी प्रकार उच्चारण करना चाहिए। उपसर्ग, रोग, भयानक प्रदेश आदिमें भी जिसका पालन किया गया हो इस प्रकार अनुपालन शुद्ध होना चाहिए तथा भाव-विशुद्ध होना चाहिए।

दोनो हाथोको नीचे लटकाकर तथा दोनो पैरोके मध्यमें चार अगुलका अन्तर रखते हुए निश्चल खडे होना कायोत्सर्ग है। इस कायोत्सर्गका उत्कृष्टकाल एक वर्ष और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त है। अन्य कायोत्सर्गोके कालका प्रमाण इस प्रकार कहा है—

क्रम	कार्य	प्रमाण	
१	दैनिक प्रतिक्रमण	१०८	उच्छ्वास
२	रात्रि प्रतिक्रमण	५४	,,
३	पाक्षिक प्रतिक्रमण	३००	,,
४	चातुर्मासिक प्रतिक्रमण	४००	,,
५.	वार्षिक ,,	५००	,,
६.	पाँच महाव्रतोमें-से किसीमें भी दोष लगनेपर	१०८	,,
७.	भोजन लेनेपर	२५	,,
८	पानी लेने पर	२५	,,
९	भोजन करके लौटनेपर	२५	,,
१०	अन्य ग्रामको जानेपर	२५	उच्छ्वास
११.	पवित्र स्थानोको जानेपर	२५	,,
१२.	लौटनेपर	२५	,,
१३.	मलत्याग करनेपर	२५	,,
१४	मूत्र त्यागनेपर	२५	,,
१५	ग्रन्थ प्रारम्भ करनेपर	२७	,,
१६.	ग्रन्थ समाप्त होनेपर	२७	,,
१७	स्वाध्याय करनेपर	२७	,,
१८.	वन्दनामें	२७	,,
१९	उस समय मनमें विकार उत्पन्न होनेपर	२७	,,

इन इन कार्योमें जो कायोत्सर्ग किये जाते है उसके उच्छ्वासोका प्रमाण मूलाचार (७।१५९-१६४) में उक्त रूपमें कहा है। ईर्यापथ सम्बन्धी अतिचारोकी विशुद्धिके लिए कायोत्सर्ग किया जाता है। कायोत्सर्गमें स्थित होकर ईर्यापथके अतीचारोके विनाशका चिन्तन करके उसे समाप्त करके धर्मध्यान और शुक्लध्यानका चिन्तन करना चाहिए। कायोत्सर्गके अनेक दोष कहे है तथा चार भेद कहे है।

स्वाध्यायका महत्त्व

साधु जीवनमें अन्य अन्य कर्तव्योके साथ स्वाध्यायका विशेष महत्त्व है। साधुके पाँच आचारोमेंसे एक ज्ञानाचार भी है। स्वाध्याय उसीका अग है। स्वाध्यायके प्रतिष्ठापन और निष्ठापनकी विधिमें कहा है कि प्रभातकालमें दो घडी बीतने पर जब तीसरी घडी लगे तो स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और मध्याह्न कालसे दो घडी पूर्व समाप्त करना चाहिए। इसी तरह मध्याह्नकालसे दो घडी बीतने पर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और दिनका अन्त होनेमें दो घडी शेष रहने पर समाप्त करे। प्रदोषसे दो घडी बीतनेपर प्रारम्भ करे और अर्धरात्रिमें दो घडी शेष रहनेपर समाप्त करे। तथा आधी रातसे दो घडी बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करे और रात्रि बीतनेमें दो घडी शेष रहने पर समाप्त कर दे। इस तरह स्वाध्यायके चार काल कहे है। यह बतलाता है कि साधुको कभी भी खाली नही बैठना चाहिए। सर्वदा अपना उपयोग धर्मध्यानमें लगाये रखना चाहिए।

सामाचारी

साधुओकी सामाचारी भी अपना एक विशेष स्थान रखती है। मूलाचारकी टीकामें इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—समता अर्थात् रागद्वेषके अभावको समाचार कहते है। अथवा त्रिकालदेव वन्दना या पचनमस्कार रूप परिणाम या सामायिकव्रतको समता कहते है। निरतिचार मूलगुणोका पालन या निर्दोष भिक्षाग्रहण समाचार है। इत्यादि ये सब साधुओका समान आचार है। इसे ही सामाचारी कहते है। पारस्परिक अभिवादन, गुरु आदिके प्रति विनय ये सब इसीमे गर्भित है।

सूर्योदयमे लेकर समस्त रातदिनमें श्रमण जो आचरण करते है वह सब पदविभागी सामाचार कहलाता है। जो कुछ भी करणीय होता है वह आचार्य आदिसे पूछकर ही करना होता है। यदि गुरु या साधर्मीकी पुस्तक आदि लेना हो तो विनयपूर्वक याचना करना चाहिए।

पदविभागी सामाचारका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—कोई श्रमण अपने गुरुसे समस्त श्रुत जाननेके बाद विनय सहित पूछता है—मैं आपके चरणोके प्रसादसे सर्वशास्त्र पारगत अन्य आचार्यके पास जाना चाहता हूँ। पाँच छै बार पूछता है। गुरुकी आज्ञा मिलनेपर वह तीन, दो या एक अन्य साधुके साथ जाता है। एकाकी विहार वही श्रमण कर सकता है जो आगमका पूर्ण ज्ञाता होनेके साथ शरीर और भावसे सुदृढ होता है, तपसे वृद्ध तथा आचार और सिद्धान्तमें पूर्ण होता है। जब वह दूसरे आचार्यके सघमें पहुँचता है तो सब श्रमण वात्सल्य भावसे उसे प्रणाम करनेके लिए खडे हो जाते है। सात पग आगे बढकर परस्परमें प्रणामादि करते है। तीन दिन साथ रखकर उसकी परीक्षा करते है कि इसका आचार-विचार कैसा है। उसके पश्चात् वह आचार्यसे अपने आनेका प्रयोजन कहता है। गुरु उसका नाम, कुल, गुरु, दीक्षाकाल, वर्षावास, शिक्षा, प्रतिक्रमण आदि पूछते है। यदि वह अयोग्य प्रमाणित होता है तो उसे छेद या उपस्थापना आदि प्रायश्चित्त देकर शुद्ध करते है।

यदि वह स्वीकार नही करता तो उसे स्वीकार नही किया जाता। यदि आचार्य छेदयोग्यको भी स्वीकार करते है वे स्वय छेदके योग्य होते है।

मृत्यु

सल्लेखनापूर्वक मरण ही यथार्थ मरण है। भगवती आराधनामें भक्त प्रत्याख्यान, इगिनी और प्रायोपगमन सन्यासपूर्वक मरणकी विधि तथा मृतकके सस्कारकी विधिका विस्तारसे वर्णन किया है। प्राचीन साधु संघमें मृतकका दाहसस्कार नही होता था। वनवासियोके पास उसके प्रबन्धके कोई साधन भी नही होते थे। अत शवको किसी झाडी वगैरहमें रख देते थे और उसकी दशाके ऊपरसे देश और राजा तथा संघका शुभाशुभ विचारा जाता था।

प्राचीन परिपाटी और आजकी परिपाटीमें बहुत अन्तर आ गया है। यद्यपि प्रक्रिया सब पुरातन ही है किन्तु देशकालकी परिस्थितिने उसे प्रभावित किया है और उससे मुनिमार्गमें शिथिलाचार बढा है। फिर भी दिगम्बर मुनिमार्ग-जैसा कठोर सयम मार्ग दूसरा नही है। और इतने कठोर अनुशासित संयममार्गके बिना इस संसारके बन्धनसे छुटकारा होना भी सम्भव नही है।

कषाय और इन्द्रियासक्ति इस ससारकी जड है और इस जडकी जड है मिथ्याभाव, आत्मस्वरूपके प्रति अरुचि। अपने यथार्थ स्वरूपको न जाननेके कारण ही जीवकी आसक्ति ससारमें होती है। कदाचित् उसमें जिज्ञासा जाग्रत् हो जाये तो इसे शुभ लक्षण ही मानना चाहिए।

२. अनगार धर्मामृत

विषय परिचय

भगवान् महावीरका धर्म दो भागोंमें विभाजित है—अनगार या साधुका धर्म और सागार या गृहस्थका धर्म। तदनुसार आशाधरजीके धर्मामृतके भी दो भाग हैं—प्रथम भागका नाम अनगारधर्मामृत है। इससे पूर्वमें साधुधर्मका वर्णन करनेवाले दो ग्रन्थ दिगम्बर परम्परामें अतिमान्य रहे हैं—मूलाचार और भगवती आराधना। दोनो ही प्राकृत गाथाबद्ध हैं। उनमें भी मात्र एक मूलाचार ही साधु आचारका मौलिक ग्रन्थ है उसमें जैन साधुका पूरा आचार वर्णित है। भगवती आराधनाका तो मुख्य प्रतिपाद्य विषय सल्लेखना या समाधिमरण है। उसमें तथा उसके टीका-ग्रन्थोंमें प्रसंगवश साधुका आचार भी वर्णित है। आचार्य कुन्द-कुन्दके प्रवचनसारके अन्तमें तथा उनके पाहुडोंमे भी साधुका आचार वर्णित है। उसके पश्चात् तत्त्वार्थ सूत्रके नवम अध्याय तथा उसके टीका ग्रन्थोंमें भी साधुका आचार—गुप्ति, समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्षा, परीषहजय चारित्र—तप, ध्यान आदिका वर्णन है। चामुण्डरायके छोटे-से ग्रन्थ चारित्रसारमें भी संक्षेपमें साधुका आचार है। इन्ही सबको आधार बनाकर आशाधरजीने अपना अनगार धर्मामृत रचा था। उसमें नौ अध्याय हैं—

१. प्रथम अध्यायका नाम धर्मस्वरूप निरूपण है। इसमें ११४ श्लोक हैं। भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाको सम्मिलित करनेसे परिमाण १६०० श्लोक प्रमाण होता है। इसके प्रारम्भमें आवश्यक नमस्कारादि करनेके पश्चात् धर्मके उपदेष्टा आचार्यका स्वरूप बतलाते हुए उसे 'तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुण' होना आवश्यक कहा है। तीर्थका अर्थ किया है अनेकान्त और तत्त्वका अर्थ किया है अध्यात्मरहस्य। उन दोनोके कथनमें चतुर होना चाहिए। यदि वह एकमें ही निपुण हुआ तो दूसरेका लोप हो जायेगा। अर्थात् आगम और अध्यात्म दोनोंको ही साधकर बोलनेवाला होना चाहिए। जो व्यवहारनिश्चयरूप रत्नत्रयात्मक धर्मका स्वरूप जानकर और शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए परोपकारकी भावनासे धर्मोपदेश करता है वह वक्ता उत्तम होता है। तथा जो सदा प्रवचन सुननेका इच्छुक रहता है, प्रवचनको आदरपूर्वक सुनता है, उसे धारण करता है, सन्देह दूर करनेके लिए विज्ञोसे पूछता है, दूसरोको प्रोत्साहित करता है वह श्रोता धर्म सुननेका पात्र होता है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयसकी सिद्धि होती है उसे धर्म कहते हैं। अतः प्रथम धर्मके अभ्युदयरूप फलका कथन किया है और इस तरह यह पुण्यरूप धर्मका फल है। अतः पुण्यकी प्रशसा की है। उसके पश्चात् संसारकी असारता बतलाकर यथार्थ धर्म निश्चयरत्नत्रयका कथन किया है। टीकामें लिखा है—अशुभ कर्म अर्थात् पुण्य और पाप दोनो। क्योकि सभी कर्म जीवके अपकारी होनेसे अशुभ होते हैं। इसीसे आगे कहा है—निश्चय निरपेक्ष व्यवहार व्यर्थ है तथा व्यवहारके बिना निश्चयकी सिद्धि नही होती। यहाँ निश्चय और व्यवहारके भेदोका स्वरूप वर्णित है।

२ दूसरे अध्यायका नाम है सम्यक्त्वोत्पादनादिक्रम। इसमें एक सौ चौदह श्लोक हैं। टीकाके साथ मिलानेसे लगभग १५०० श्लोक प्रमाण होता है। इसमें मिथ्यात्वके वर्णनके साथ सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया तथा उसके भेदादिका वर्णन है। प्रारम्भमें नौ पदार्थोंका स्वरूप कहा है। फिर सम्यक्त्वके दोषोका तथा उसके अंगोंका वर्णन है। इसीमें मिथ्यादृष्टियोंके साथ संसर्गका निषेध करते हुए जिनरूपधारी आचार-भ्रष्ट मुनियो और भट्टारकोसे दूर रहनेके लिए कहा है।

३ तीसरे अधिकारका नाम है ज्ञानाराधना। इसमें ज्ञानके भेदोका वर्णन करते हुए श्रुतज्ञानकी आराधनाको परम्परासे मुक्तिका कारण कहा है। इसकी श्लोक संख्या चौबीस है।

४ चतुर्थ अध्यायका नाम है चारित्राराधन। इसमें एक सौ तेरासी श्लोक है। टीकाका परिमाण

मिलकर ढाई हजारसे भी ऊपर जाता है। विस्तृत है, इसमें पाँच महाव्रत, तीन गुप्ति और पाँच समितिका वर्णन है।

५ पाँचवें अध्यायका नाम पिण्डशुद्धि है। इसमें ६९ श्लोक हैं। पिण्ड भोजनको कहते हैं। भोजनके छियालीस दोष हैं। सोलह उद्गम दोष है, सोलह उत्पादन दोष है, चौदह अन्य दोष हैं। इन सब दोषोसे रहित भोजन ही साधुके द्वारा ग्रहण करने योग्य होता है। उन्हीका विस्तृत वर्णन इस अध्यायमें है।

६. छठे अध्यायका नाम मार्गमहोद्योग है। इसमें एक सौ बारह श्लोक हैं। इसमें दस धर्म, बारह भावना, बाईस परीषहोका वर्णन है।

७. सातवें अध्यायका नाम तप आराधना है। इसमें १०४ श्लोक द्वारा बारह तपोका वर्णन है।

८. आठवें अध्यायका नाम है आवश्यक निर्युक्ति। इसमें १३४ श्लोक हैं। टीकाके मिलानेसे परिमाण १५४५ श्लोक प्रमाण होता है। साधुके षट्कर्मोंको षडावश्यक कहते हैं। इनका करना आवश्यक होता है। व्याधि और इन्द्रियोके वशीभूत जो नही है उसे अवश्य कहते है और उसके कर्मको आवश्यक कहते है। साधुकी दिन-रातकी चर्याका इसमें वर्णन है। छह आवश्यक हैं—सामायिक, स्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग। इन्हीका वर्णन इस अध्यायमें हैं। अन्तमें कृतिकर्मका वर्णन है। इसके वर्णनमें कृतिकर्मके योग्य काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनतिका कथन किया है। साधुको तीन बार नित्य देव-वन्दना करना चाहिए। प्रत्येकका उत्कृष्ट काल छह घटिका है। रात्रिकी अन्तिम तीन घटिका और दिनकी प्रथम तीन घटिका पूर्वाह्ण वन्दनाका काल है। अपराह्णमें छह घटिका है। इसी तरह सन्ध्याको दिनकी अन्तिम तीन घटिका और रात्रिकी आदि तीन घटिका काल उत्कृष्ट है। आसनके पद्मासन आदि भेद है। वन्दनाके दो स्थान खडे होना और बैठना। कृतिकर्मके योग्य चार मुद्रा है। उनका स्वरूप (श्लो. ८५–८६) कहा है। वन्दनामें वन्दनामुद्रा, सामायिक और स्तवमें मुक्ताशुक्ति मुद्रा, बैठकर कायोत्सर्ग करनेपर योगमुद्रा और खडे होकर करने पर जिनमुद्रा धारण की जाती है। बारह आवर्त होते है, चार शिरोनति होती है।

आगे चौदह श्लोकोसे (९८-१११) वन्दनाके बत्तीस दोषोका तथा ग्यारह श्लोकोसे (११२-१२१) कायोत्सर्गके बत्तीस दोषोका कथन किया है। साधुके लिए यह अधिकार बहुत महत्त्वपूर्ण है।

९ नवम अध्यायका नाम नित्यनैमित्तिक क्रिया है। इसमें सौ श्लोक है। प्रथम चवालीस श्लोकोमें नित्यक्रियाके प्रयोगकी विधि बतलायी है। स्वाध्याय कब किस प्रकार प्रारम्भ करना चाहिए और कब किस प्रकार समाप्त करना चाहिए। प्रातःकालीन देववन्दना करनी चाहिए। कृतिकर्मके छह प्रकार कहे है—१. वन्दना करनेवालेकी स्वाधीनता, २ तीन प्रदक्षिणा, ३. तीन निषद्या (बैठना), ४ तीन कायोत्सर्ग, ५ बारह आवर्त, ६ चार शिरोनति। आगे णमोकार मन्त्रके जपकी विधि और भेद कहे है।

इस अध्यायका छब्बीसवाँ श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है। जिनदेव तो वीतरागी है न निन्दासे नाराज होते है और न स्तुतिसे प्रसन्न। तब उनकी स्तुतिसे फल-प्राप्ति कैसे होती है, इसीका समाधान करते हुए कहा है—भगवान्‌के गुणोंमें अनुराग करनेसे जो शुभ भाव होते हैं उनसे कार्योमें विघ्न डालनेवाले अन्तराय कर्मके फल देनेकी शक्ति क्षीण होती है अत अन्तराय कर्म इष्टका घात करनेमें असमर्थ होता है। इससे वीतरागकी स्तुति इष्टसिद्धिकारक होती है।

प्रातःकालीन देववन्दनाके पश्चात् आचार्य आदिकी वन्दना करनेकी विधि कही है। देववन्दना करनेके पश्चात् दो घटिका कम मध्याह्न तक स्वाध्याय करना चाहिए। तदनन्तर भिक्षाके लिए जाना चाहिए। फिर प्रतिक्रमण करके मध्याह्न कालके दो घटिका पश्चात् पूर्ववत् स्वाध्याय करना चाहिए। जब दो घडी दिन शेष रहे तो स्वाध्यायका समापन करके दैवसिक प्रतिक्रमण करना चाहिए। फिर रात्रियोग ग्रहण करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। आचार्यवन्दनाके पश्चात् देववन्दना करनी चाहिए। दो घटिका रात

बीतनेपर स्वाध्याय आरम्भ करके अर्धरात्रिसे दो घडी पूर्व ही समाप्त कर देना चाहिए। स्वाध्याय न कर सके तो देववन्दना करे।

इस प्रकार नित्यविधि बतलाकर नैमित्तिक विधि बतलायी है। नैमित्तिक क्रियाविधिमें चतुर्दशी क्रियाविधि, अष्टमी क्रियाविधि, पक्षान्त क्रियाविधि है, सन्यास क्रियाविधि, श्रुतपचमी क्रियाविधि, अष्टाह्निक क्रियाविधि, वर्षायोग ग्रहण, वर्षायोग मोक्ष, वीरनिर्वाण क्रिया आदि आती है। इन सब क्रियाओमें यथायोग्य भक्तियोका प्रयोग आवश्यक होता है। भक्तिपाठके विना कोई क्रिया नही होती।

आगे आचार्य पद प्रतिष्ठापनकी क्रियाविधि बतलायी है। आचारवत्त्व आदि आठ, बारह तप, छह आवश्यक और दस कल्प ये आचार्यके छत्तीस गुण कहे है। इनका भी वर्णन है। अन्तमें दीक्षा ग्रहण, केशलोच आदिकी विधि है।

इस ग्रन्थमें साधुके अठाईस मूलगुणोका वर्णन तो है किन्तु उन्हे एकत्र नही गिनाया है। ग्रन्थके अन्त में स्थितिभोजन, एकभक्त, भूमिशयन आदिका कथन अवश्य किया है।

३. अनगार धर्मामृतमे चर्चित कुछ विषय

धर्म और पुण्य

अनगार धर्मामृतके प्रथम अध्यायमें धर्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने सुख और दु खसे निवृत्ति ये दो पुरुपार्थ बतलाये है और उनका कारण धर्मको कहा है। अर्थात् धर्मसे सुखकी प्राप्ति और दु ख-से निवृत्ति होती है। आगे कहा है—जो पुरुप मुक्तिके लिए धर्माचरण करता है उसको सासारिक सुख तो स्वय प्राप्त होता है अर्थात् सासारिक सुखकी प्राप्तिकी भावनासे धर्माचरण करनेसे सासारिक सुखकी प्राप्ति निश्चित नही है। किन्तु मुक्तिकी भावनामे जो धर्माचरण करते है उन्हें सासारिक सुख अवश्य प्राप्त होता है। किन्तु वह धर्म है क्या? कौन-सा वह धर्म है जो मुक्तिके साथ सासारिक सुखका भी दाता है। वह धर्म है—

'सम्यग्दर्शनादियौगपद्यप्रवृत्तैकाग्रतालक्षणरूपशुद्धात्मपरिणाम ।' आत्माके स्वरूपका विशेप रूपसे निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका परिज्ञान सम्यग्ज्ञान है और आत्मामे लीनता सम्यक्चारित्र है। ये तीनो एक साथ एकाग्रतारूप जब होते है उसे ही शुद्धात्मपरिणाम कहते है और यथार्थमें यही धर्म है। इसीसे मुक्तिके साथ सासारिक सुख भी मिलता है। ऐसे धर्ममें जो अनुराग होता है उस अनुरागसे जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहते है क्योकि उस पुण्यबन्धके साथ ही नवीन पापकर्मका आस्रव रुकता है और पूर्वबद्ध पापकर्मकी निर्जरा होती है। पापका निरोध हुए विना पुण्यकर्मका बन्ध नही हो सकता। अत पुण्य-बन्धके भयसे धर्मानुरागको नही छोडना चाहिए। हाँ, जो पुण्यबन्धकी भावना रखकर ससारसुखकी अभि-लापासे धर्मकर्म करते है वे पुण्यबन्धके यथार्थ भागी नही होते। पुण्य बाँधा नही जाता, बँध जाता है और वह उन्हीके बँधता है जो उसे बाँधनेकी भावना नही रखते। इसका कारण यह है कि शुभभावसे पुण्यबन्ध होता है और शुभभाव कपायकी मन्दतामें होते है। जो ससारके विपयसुखमें मग्न है और उसीकी प्राप्तिके लिए धर्म करते है उनके कपायकी मन्दता कहाँ। और कपायकी मन्दताके अभावमें शुभभाव कहाँ? और शुभभावके अभावमें पुण्यबन्ध कैसा?

आशाधरजीने पुण्यको अनुपग शब्दसे ही कहा है क्योकि वह धर्मसे प्राप्त होता है। धर्मके विना पुण्यबन्ध भी नही होता है। अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्ररूप धर्मका सेवन करते हुए जो शुभराग रहता है उससे पुण्यबन्ध होता है। सम्यग्दर्शन आदिसे पुण्यबन्ध नही होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही कारण है, बन्धका कारण नही है क्योकि जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नही होता। पुरुपार्थ-

सिद्धयुपायमें आचार्य अमृतचन्द्रजीने इसे अत्यन्त स्पष्ट किया है। आशाधरजीने भी इसी अध्यायके ९१वें श्लोकमें रत्नत्रयकी पूर्णताको मोक्षका ही कारण कहा है और इसी प्रसगसे पुरुषार्थसिद्धयुपायके बहुचर्चित श्लोकोंको प्रमाण रूपसे उद्धृत किया है। वे श्लोक इस प्रकार है—'

रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगस्य सोऽयमपराध. ॥२२०॥
असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो य।
स विपक्षकृतोऽवश्य मोक्षोपायो न बन्धनोपाय. ॥२११॥

पुरुषार्थसिद्धयुपायमें नीचेवाला श्लोक पहले है। उसकी क्रम संख्या २११ है और ऊपरवाला श्लोक बादमें है। उसकी क्रमसंख्या २२० है। इस दूसरे श्लोकका अर्थ प्राय. विद्वान् तक यह करते हैं कि 'असमग्र—एकदेश रत्नत्रयका पालन करनेवालेके जो कर्मबन्ध होता है वह विपक्षकृत—रागकृत होनेपर भी अवश्य मोक्षका उपाय है बन्धनका उपाय नहीं है।' किन्तु यह अर्थ गलत है। प आशाधरजीके द्वारा इस श्लोकको पूर्वमें न रखकर पीछे देनेसे इसके अर्थमें जो भ्रम है वह दूर हो जाना चाहिए। अर्थ इस प्रकार है—'यहाँ रत्नत्रय निर्वाणका ही कारण है, बन्धका कारण नहीं है। किन्तु (एकदेश) रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है। अर्थात् उस समय जो शुभोपयोग होता है उसके कारण पुण्य कर्मका आस्रव होता है'।

'एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो कर्मबन्ध होता है वह कर्मबन्ध अवश्य ही विपक्ष-रागकृत है। क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता'।

अर्थात् रत्नत्रयके साथ होनेवाले शुभोपयोगसे बन्ध होता है। रत्नत्रयसे बन्ध नहीं होता। रत्नत्रय तो मोक्षका ही उपाय है। और मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं होता। यही यथार्थ है। प्रबुद्ध पाठक २११ से २२० तकके श्लोकोंको पढ़ें तो उनका भ्रम अवश्य दूर होगा। यदि आचार्य अमृतचन्द्रको पुण्यबन्धको मोक्षका कारण बतलाना इष्ट होता तो प्रथम तो वे 'कर्मबन्धो'के स्थानमें ही पुण्यबन्ध शब्द रखते। दूसरे जो आगे कहा है कि जितने अंशमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उतने अंशमे बन्ध नहीं होता। जितने अंशमें राग है उतने अंशमें बन्ध होता है, यह कहना व्यर्थ हो जाता है। उसका कोई प्रयोजन नहीं रहता।

किसी भी श्लोकका अर्थ पूर्वापर सापेक्ष ही यथार्थ होता है। पुरुषार्थसिद्धयुपायमें गृहस्थके एकदेश रत्नत्रयके कथनका उपसहार करते हुए २०९ नम्बरके श्लोकमें कहा है कि मुक्तिके अभिलाषी गृहस्थको प्रति समय एकदेश रत्नत्रयका पालन करना चाहिए। इस परसे यह आशका होना स्वाभाविक है कि एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए भी कर्मबन्ध तो होता है। तो २१० नम्बरके पद्यमें उसे स्वीकार करते हुए कहा गया कि वह कर्मबन्ध रत्नत्रयसे नहीं होता किन्तु रत्नत्रयके विपक्षी रागके कारण होता है अर्थात् एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो राग रहता है वही बन्धका कारण है, रत्नत्रय बन्धका कारण नहीं है। वह तो मोक्षका कारण है और जो मोक्षका कारण होता है वह बन्धका कारण नहीं होता। आगेके सब पद्य इसीकी पुष्टिमें कहे गये हैं—जिस अंशसे सम्यग्दृष्टि है, सम्यग्ज्ञानी है, सम्यक्चारित्री है उस अंशसे बन्ध नहीं होता। जिस अंशसे राग है उस अंशसे बन्ध होता है। योगसे प्रदेशबन्ध होता है। कषायसे स्थितिबन्ध होता है। दर्शन ज्ञान चारित्र न तो योगरूप हैं न कषायरूप हैं। तब इनसे बन्ध कैसे होता है। अत रत्नत्रय तो निर्वाणका ही हेतु है बन्धका हेतु नहीं है। उसके होते हुए जो पुण्यका आस्रव होता है वह तो शुभोपयोगका अपराध है।'

यदि श्लोक २११ का अर्थ यह करते हैं कि वह कर्मबन्ध मोक्षका ही उपाय है तो आगेके कथनके साथ उसकी सगति नहीं बैठती और दोनोंमें पूर्वापर विरोध तो आता ही है।

पुरुषार्थसिद्धयुपायका जो प्राचीन सस्करण प्रचलित रहा है। वह रायचन्द्र शास्त्रमालासे १९०४ में प्रकाशित हुआ था। उसका हिन्दी अनुवाद नाथूरामजी प्रेमीने किया था। पं. टोडरमलजी तो पुरुपार्थसिद्धयुपाय की पूरी टीका नही लिख सके थे। उसकी पूर्ति पं दौलतरामजीने की थी। एक टीका प. भूधर मिश्रने लिखी थी। वह पहले ब्राह्मण थे और पुरुषार्थसिद्धयुपायके अहिंसा प्रकरणसे प्रभावित होकर पीछे प्रसिद्ध प भूधरदास हुए। प्रेमीजीने अपने अनुवादके उत्तर भागमें प भूधर मिश्रकी टीकासे सहायता ली थी। इसीसे प्रेमीजी भी २११ के अर्थमे गलती कर गये और इस तरह उस गलत अर्थकी ऐसी परम्परा चली कि आजके विद्वान् भी उसी अर्थको ठीक मानने लगे। इसी तरहसे गलत परम्परा चलती है और उससे जिनागमके कथनमें भी पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है। अत पु सि. के श्लोक २११ का तो यह अर्थ है ही नही कि पुण्य वन्ध मोक्षका कारण है। यह एक भिन्न प्रश्न है। पुण्यवन्धको साक्षात् मोक्षका कारण तो कोई भी नही मानता। जो मानते है वे भी उसे परम्परा कारण मानते है और वह भी सम्यग्दृष्टिका पुण्यवन्ध ही परम्परा मोक्षका कारण होता है मिथ्यादृष्टिका नही। क्योकि सम्यग्दृष्टि पुण्यवन्धकी भावना रख-कर धर्मकार्य नही करता। पुण्यको तो वह हेय ही मानता है किन्तु रागके सद्भावसे पुण्यवन्ध तो होता है। निरीह भावसे सचित हुए ऐसे पुण्यवन्धको ही किन्हीने परम्परासे मोक्षका कारण कहा है।

स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामें तथा उसकी सस्कृत टीकामें पुण्यके सम्बन्धमें बहुत ही उपयोगी और श्रद्धान करने योग्य कथन है। गाथाओका क्रमाक ४०९ से ४१३ तक है। नीचे हम उनका अर्थ देते है—

ये दस धर्म पापकर्मके नाशक और पुण्यके जनक कहे है। किन्तु पुण्यके लिए उन्हे नही करना चाहिए ॥४०९॥

इसकी टीकामे आचार्य शुभचन्द्रने कहा है कि पुण्य ससारका कारण है इसलिए पुण्यके लिए दस धर्म नही करना चाहिए।

जो पुण्यकी इच्छा करता है वह ससारकी इच्छा करता है। क्योकि पुण्य सुगतिका कारण है और पुण्यके क्षय होनेसे निर्वाण होता है ॥४१०॥

जो विषयसुखकी तृष्णासे पुण्यकी इच्छा करता है उस मनुष्यके तीव्र कषाय है। क्योकि तीव्र कषायके विना विषय सुखकी इच्छा नही होती। अत विशुद्धि उससे कोसो दूर है और विशुद्धिके विना पुण्य कर्मका वन्ध नही होता ॥४११॥

तथा पुण्यकी इच्छा करनेसे पुण्यवन्ध नही होता। जो निरीह होता है अर्थात् परलोकमें सुखकी वाछा नही रखता, देखे हुए सुने हुए भोगे हुए भोगोकी आकाक्षा रूप निदानसे रहित है, उसीको पुण्यरूप सम्पत्ति प्राप्त होती है। ऐसा जानकर हे मुनिजनो ! पुण्यमें भी आदर भाव मत करो ॥४१२॥

मन्द कषायी जीव पुण्यवन्ध करता है अत पुण्यवन्धका कारण मन्दकषाय है, पुण्यकी इच्छा पुण्यवन्ध-का कारण नही है ॥४१३॥

साराश यह है कि जिनागममें जो पुण्यकी प्रशंसा की गयी है वह विषय कषायमें आसक्त ससारी जीवोको पाप कर्मसे छुडानेके लिए की गयी है। उनके लिए पापकी अपेक्षा पुण्यबन्ध उपादेय हो सकता है किन्तु मोक्षाभिलाषीके लिए तो जैसे पाप त्याज्य है वैसे ही पुण्यवन्ध भी त्याज्य है। देवपूजा मुनिदान व्रतादि पुण्यकर्म भी वह मोक्ष सुखकी भावनासे ही करता है, पुण्यबन्धकी भावनासे नही करता। यदि करता है तो उसका पुण्यबन्ध ससारका ही कारण है।

निश्चय और व्यवहार

आचार विषयक ग्रन्थोमें एक पुरुषार्थ सिद्धयुपायके प्रारम्भमें ही निश्चय और व्यवहारकी चर्चा मिलती है। उसमें कहा है कि भूतार्थको निश्चय और अभूतार्थको व्यवहार कहते है। प्राय सारा संसार भूतार्थको

नही जानता और न जानना ही चाहता है। मुनीश्वर अज्ञानीको समझानेके लिए अभूतार्थका उपदेश देते है। जो केवल व्यवहारको ही जानता है वह उपदेशका पात्र नही है। जैसे जो शेरको नही जानता उसे समझानेके लिए विलावके समान सिंह होता है ऐसा कहनेपर वह विलावको ही सिंह मानता है। उसी प्रकार निश्चयको न जाननेवाला व्यवहारको ही निश्चय मानता है। यह कथन यथार्थ है। अज्ञानी ही नही ज्ञानी पुरुष भी व्यवहारको ही निश्चय मानकर बैठ जाते है।

पं आशाधरजी इस रहस्यसे अभिज्ञ थे। अत उन्होने अनगार धर्मामृतके प्रारम्भमें निश्चय और व्यवहारका स्वरूप तथा उसके भेदोका स्वरूप कहा है। तथा अन्यत्र भी यथास्थान निश्चयधर्म और व्यवहार धर्मको स्पष्ट किया है।

निश्चय रत्नत्रयका स्वरूप बतलाते हुए उन्होने लिखा है (१।९१) जिसका निश्चय किया जाता है उसे अर्थ कहते है। अर्थसे अभिप्राय है वस्तु। विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थ मिथ्या होता है। उस सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या अर्थके आग्रहको मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहते हैं। उससे शून्य अर्थात् रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है वह भी मिथ्यार्थ अभिनिवेश कहाता है। वह है दर्शनमोहनीय कर्म, उससे रहित जो आत्मरूप है वह निश्चय सम्यग्दर्शन है। अर्थात दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम, क्षय या क्षयोपशमसे विशिष्ट आत्मरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। इस सम्यग्दर्शनके होनेपर ही अनादि ससार सान्त हो जाता है।

तत्त्वरुचिको जो सम्यक्त्व कहा है वह उपचारसे कहा है। क्योकि यदि तत्त्वरुचिको सम्यक्त्व कहा जायेगा तो क्षीणमोह आदि गुणस्थानोमें सम्यक्त्वका अभाव प्राप्त होगा क्योकि वहाँ रुचि नही है। रुचि तो मोहकी दशामें होती है।

यह सम्यक्त्व तत्त्वश्रद्धाके बिना नही होता। और तत्त्वश्रद्धा तत्त्वोपदेशके बिना नही होती। अत जीव अजीव आदि तत्त्वोका परिज्ञानपूर्वक श्रद्धान सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके लिए अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना चारित्र धारण करनेपर भी सम्यक्त्व प्रकट नही हो सकता। और चारित्रके बिना तत्त्व श्रद्धा मात्रसे सम्यक्त्व प्रकट हो सकता है। सम्यक्त्वपूर्वक चारित्र ही सम्यक्चारित्र होता है। सम्यक्त्वके बिना मुनिव्रत भी मिथ्याचारित्र कहलाता है। तभी तो कहा है—

मुनिव्रतधार अनन्तवार ग्रैवेयक उपजायो।
पै निज आतम ज्ञान विना सुखलेश न पायो॥—छहढाला।

अत. ससारका अन्त करनेके लिए आत्मपरिज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आत्मज्ञानकी ओरसे उदासीन रहकर चारित्र धारण करनेसे कोई लाभ नही है। अत. सबसे प्रथम सम्यक्त्वकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। कहा है—

तत्रादौ सम्यक्त्व समुपाश्रयणीयमखिलयत्नेन।
तस्मिन् सत्येव यतो भवति ज्ञान चारित्रं च॥२१॥—पुरुषार्थसि.

'उस रत्नत्रयमें-से सर्वप्रथम समस्त प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्वको सम्यक्रूपसे प्राप्त करना चाहिए। क्योकि उसके होनेपर ही सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होता है।'

तथा सशय, विपर्यय और अज्ञानसे रहित यथार्थ परिज्ञानरूप निश्चय सम्यग्ज्ञान है। वह भी आत्मस्वरूप है। और आत्माका अत्यन्त उदासीनरूप निश्चय सम्यक्चारित्र है जो समस्त कषायोके और ज्ञानावरण आदि कर्मोंके अभावमें प्रकट होता है। ये तीनो जब पूर्ण अवस्थाको प्राप्त होते है तो मोक्षके ही मार्ग होते हैं। तथा व्यवहाररूप अपूर्ण रत्नत्रय अशुभकर्म पुण्य पाप दोनोका सवर और निर्जरा करता है। जीवादितत्त्व विषयक श्रद्धानको व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते है। उनके ज्ञानको व्यवहार सम्यग्ज्ञान कहते हैं और मन, वचन, कायकी कृत कारित अनुमोदनासे हिंसादिका त्याग व्यवहार सम्यक्चारित्र है।

व्यवहारनयका अर्थ प आशाधरजी-ने अशुद्ध द्रव्यार्थिक लिया है। जो विधिपूर्वक विभाग करता है वह व्यवहारनय है। अर्थात् गुण और गुणीमें भेद करना व्यवहारनय है। जैसे आत्मा और रत्नत्रयमें भेद बुद्धि व्यवहारनय है। शुद्ध द्रव्यार्थिककी दृष्टिमें ये तीनों आत्मस्वरूप ही होते हैं। अत. निश्चयनयमे उन तीनोंसे समाहित अर्थात् रत्नत्रयात्मक आत्मा ही मोक्षका मार्ग है। पचास्तिकायमें कहा है—

धम्मादीसद्दहण सम्मत्त णाणमगपुव्वगद।
चेट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६०॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षका मार्ग है। उनमें-से द्रव्यके भेद धर्मादि और पदार्थके भेद तत्त्वार्थोके श्रद्धानरूप भावको सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा तत्त्वार्थश्रद्धानके सद्भावमें अग और पूर्वगत पदार्थोका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। और आचाराग आदि सूत्रोंमें जो मुनिके आचारोंका समुदायरूप तप कहा है उसमें प्रवृत्ति सम्यक् चारित्र है। यह व्यवहारनयकी अपेक्षा मोक्षमार्ग है। (जिसमें साध्य और साधनमें भेद दृष्टि होती है और जो स्वपर हेतुक पर्यायके आश्रित है वह व्यवहारनय है) उस व्यवहारनय या अशुद्ध द्रव्यार्थिकनयसे यह मोक्षमार्ग है। इसका अवलम्बन लेकर जीव ऊपरकी भूमिकामें आरोहण करता हुआ स्वय रत्नत्रयरूप परिणमन करते हुए भिन्न साध्य-साधन भावका अभाव होनेसे स्वय शुद्ध स्वभावरूप परिणमन करता है और इस तरह वह निश्चय मोक्षमार्गके साधनपनेको प्राप्त होता है। यथा—

णिच्छयणयेण भणिदो तिहि तेंहि समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंच वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रसे समाहित आत्मा ही निश्चयसे मोक्षमार्ग है।

इस व्यवहार और निश्चय मोक्षमार्गमें साध्य-साधनभावको स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है कि कोई जीव अनादि अज्ञानके हटनेसे व्यवहार मोक्षमार्गको धारण करता है तो वह तत्त्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थका अज्ञान और तपमें अचेष्टाको त्यागकर तत्त्वार्थ श्रद्धान, अंगपूर्वगत अर्थके ज्ञान और तपमें चेष्टा रूप व्यवहार रत्नत्रयको अपनाता है। कदाचित् त्यागने योग्यका ग्रहण और ग्रहण करने योग्यका त्याग हो जाता है तो उसका प्रतीकार करके सुधार करता है। इस तरह व्यवहार अर्थात् भेद रत्नत्रयकी आराधना करते-करते एक दिन वह स्वय त्याग और ग्रहणके विकल्पसे शून्य होकर स्वय रत्नत्रय रूप परिणत होकर निश्चय मोक्षमार्ग रूप हो जाता है।

जबतक साध्य और साधनमें भेददृष्टि है तबतक व्यवहारनय है और जब आत्मा आत्माको आत्मासे जानता है, देखता है, आचरता है तब आत्मा ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र होनेसे अभेद दृष्टि-रूप निश्चयनय है। आशाधरजीने व्यवहार और निश्चयका यही लक्षण किया है—

कर्ताद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१-१०२।

जिसके द्वारा निश्चयकी सिद्धिके लिए कर्ता-कर्म-करण आदि कारक वस्तु—जीवादिसे भिन्न जाने जाते हैं वह व्यवहारनय है। और कर्ता आदिको जीवसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है।

इससे स्पष्ट है कि निश्चयकी सिद्धि ही व्यवहारका प्रयोजन है। उसके बिना व्यवहार भी व्यवहार कहे जानेका अपात्र है। ऐसा व्यवहार ही निश्चयका साधक होता है। निश्चयको जाने विना किया गया व्यवहार निश्चयका साधक न होनेसे व्यवहार भी नही है। आशाधरजीने एक दृष्टान्त दिया है। जैसे नट रस्सीपर चलनेके लिए बाँसका सहारा लेता है और जब उसमें अभ्यस्त हो जाता है तो बाँसका सहारा छोड देता है उसी प्रकार निश्चयकी सिद्धिके लिए व्यवहारका अवलम्बन लेना होता है किन्तु उसकी सिद्धि होनेपर व्यवहार स्वत छूट जाता है। व्यवहारके विना निश्चयकी सिद्धि सम्भव नही है किन्तु व्यवहारका लक्ष्य

निश्चय होना चाहिए और वह सतत दृष्टिमें रहना चाहिए। निश्चयरूप धर्म धर्मकी आत्मा है और व्यवहाररूप धर्म उसका शरीर है। जैसे आत्मासे रहित शरीर मुर्दा—शवमात्र होता है वैसे ही निश्चयशून्य व्यवहार भी जीवनहीन होता है, उससे धर्मसेवनका उद्देश सफल नही होता। धर्म यथार्थमें वही कहलाता है जिससे सवरपूर्वक निर्जरा होकर अन्तमें समस्त कर्मबन्धनसे छुटकारा होता है।

आठवें अध्यायमें छह आवश्यकोंके कथनका सूत्रपात करते हुए आशाधरजीने कहा है—स्वात्मामें नि शक स्थिर होनेके लिए छह आवश्यक करना चाहिए। यहाँ स्वात्मा या स्व-स्वरूपका चित्रण करते हुए वह कहते है—

शुद्धज्ञानघनस्वरूप जैसा आत्मा है, उसी रूपमें स्वसवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव करता हुआ 'यह मैं अनुभूति हूँ' इस प्रकारकी स्वसवित्तिके साथ अभेद रूपसे सगत जो श्रद्धा है उस रूप आत्मामें अर्थात् आत्माके द्वारा आत्मामें निश्रित मैं उसीमें स्थिर होनेके लिए छह आवश्यक करता हूँ। षडावश्यक करते हुए यह भावना होनी चाहिए। अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन और निश्चयसम्यग्ज्ञानसे सम्पन्न साधु निश्चयचारित्रकी प्राप्तिके लिए षडावश्यक करता है।

इस प्रकरणके प्रारम्भमें आशाधरजीने समयसारमें प्रतिपादित वस्तुस्वरूपको अपनाया है। उसके बिना मोक्षमार्गकी गाडी चल ही नही सकती। जो आत्मज्ञानके बिना जिनलिंग धारण करके पूजापाठमें अपना कालयापन करते है वे बाह्यवेश मात्रसे दिगम्बर होनेपर भी यथार्थमें निर्ग्रन्थ लिंगके अधिकारी ही नही है।

समयसारकलशमें कहा है—

'यत यह संवर साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वकी उपलब्धि होनेसे होता है और शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि भेदविज्ञानसे होती है अत भेदविज्ञानकी भावना विशेष रूपसे करना चाहिए। यह भेदविज्ञान निरन्तर धाराप्रवाह रूपसे तबतक करना चाहिए जबतक ज्ञान परपदार्थोंसे हटकर अपने स्वरूपमें स्थिर न हो जाये। क्योकि जितने भी सिद्ध हुए है वे सब भेदविज्ञानसे सिद्ध हुए है। और जितने भी बद्ध है वे सब भेदविज्ञानके अभावसे ही बद्ध है'[1]॥

यहाँ यह बात ध्यानमें रखनेकी है कि ज्ञानका ज्ञानमें स्थिर रहना दो प्रकारसे होता है—एक तो मिथ्यात्वका अभाव होकर सम्यग्ज्ञानका होना और दूसरे शुद्धोपयोगरूप होकर ज्ञान विकाररूप न परिणमें। अत मिथ्यात्वकी दशामें भेदविज्ञानकी भावनासे मिथ्यात्व हटता है। और मिथ्यात्व हटनेपर भेदविज्ञानकी भावना भानेसे शुद्धोपयोगरूप दशा प्राप्त होती है। अत भेदविज्ञानका अनवच्छिन्न चिन्तन आवश्यक है।

आवश्यक करते हुए भी यह भेदविज्ञानकी धारा सतत प्रवाहित रहती है। अत आवश्यक करते हुए साधु विचारता है कि भेदविज्ञानके बलसे साक्षात् कर्मोका विनाश करनेवाली शुद्ध आत्माकी सवित्तिको जबतक मैं प्राप्त नही कर लेता तबतक ही मैं इस आवश्यक क्रियाको करता हूँ।

वैसे मोक्षाभिलाषीको तो सभी कर्म त्याज्य है। उसमें पुण्य और पापका भेद नही है अर्थात् साधुको पुण्य कर्म करना चाहिए, पापकर्म नही करना चाहिए, ऐसा भेद नही है। क्योकि कर्ममात्र बन्धका कारण है और ज्ञानमात्र मोक्षका कारण है। किन्तु जबतक कर्मका उदय है तबतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय करनेमें कोई हानि नही है अर्थात् ज्ञानधाराके साथ कर्मकी भी धारा चलती ही है। किन्तु कर्मधारासे बन्ध ही

---

१. सपद्यते सवर एष साक्षात् शुद्धात्मतत्त्वस्य किलोपलम्भात्।
स भेदविज्ञानत एव तस्माद् तद्भेदविज्ञानमतीव भाव्यम् ॥१२९॥
भावयेद् भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञान ज्ञाने प्रतिष्ठितम् ॥१३०॥

होता है, ज्ञानधारासे ही मोक्ष होता है। समयसार कलश १११ के भावार्थमें प. जयचन्दजी साहबने लिखा है—

'जो परमार्थभूत ज्ञानस्वभाव आत्माको तो जानते नही, और व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसीमें तत्पर रहते है उसीका पक्षपात करते है वे कर्मनयावलम्वी ससार समुद्रमें डूबते है। और जो परमार्थभूत आत्मस्वरूपको यथार्थ तो जानते नही और मिथ्यादृष्टि सर्वथा एकान्तवादियोके उपदेशसे अथवा स्वयं ही अपने अन्तरगमें ज्ञानका मिथ्यास्वरूप कल्पना करके उसीका पक्षपात करते है तथा व्यवहार, दर्शन, ज्ञान, चारित्रके क्रियाकाण्डको निरर्थक जानकर छोडते है वे ज्ञाननयके पक्षपाती भी ससार समुद्रमें डूबते है। किन्तु जो पक्षपातका अभिप्राय छोड निरन्तर ज्ञानरूप होते हुए कर्मकाण्डको छोडते है और जब ज्ञानरूपमें स्थिर रहनेमें असमर्थ होते है तब अशुभ कर्मको छोड आत्मस्वरूपके साधनरूप शुभ क्रियाकाण्डमे लगते है वे ससारसे निवृत्त हो लोकके ऊपर विराजमान होते है।'

अत आचार्य जयसेनने समयसार गाथा २०४ की टीकामें लिखा है—जो शुद्धात्मानुभूतिसे शून्य व्रत-तपश्चरण आदि कायक्लेश करते है वे परमात्मपदको प्राप्त नही कर सकते। सिद्धान्तशास्त्रमें जिसे धर्मध्यान और शुक्लध्यान कहा है अध्यात्ममें उसे ही शुद्धात्मसवित्ति कहा है।

किन्तु क्या शुद्धात्माकी सवित्ति सम्भव है ? और वह प्रत्यक्षरूप होती है क्या ? इसके उत्तरमें आचार्य जयसेनने सवराधिकारके अन्तमें कहा है—

'यद्यपि रागादि विकल्परहित स्वसवेदनरूप भावश्रुतज्ञान शुद्धनिश्चयनयसे केवलज्ञानकी तुलनामें परोक्ष है। तथापि इन्द्रिय और मनोजन्य सविकल्प ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। इससे आत्मा स्वसंवेदन ज्ञानकी अपेक्षा प्रत्यक्ष है। परन्तु केवलज्ञानकी अपेक्षा परोक्ष भी है। सर्वथा परोक्ष ही है ऐसा नही कह सकते। क्या चतुर्थकालमें भी केवली आत्माको हाथपर रखकर दिखाते थे ? वे भी दिव्यध्वनिके द्वारा कहते थे और श्रोता उसे सुनकर परोक्ष रूपसे उसका ग्रहण करते थे। पीछे वे परमसमाधिके समय प्रत्यक्ष करते थे। उसी प्रकार इस कालमें भी सम्भव है। अत. जो कहते हैं कि परोक्ष आत्माका ध्यान कैसे होता है उनके लिए उक्त कथन किया है।'

समयसार गाथा ९६ के व्याख्यान में कहा है कि विकल्प करनेपर द्रव्यकर्मका बन्ध होता है। इसपर शंकाकार पूछता है—

भगवन्! ज्ञेयतत्त्वका विचाररूप विकल्प करनेपर यदि कर्मबन्ध होता है तो ज्ञेयतत्त्वका विचार व्यर्थ है, उसे नही करना चाहिए ? इसके समाधानमें आचार्य कहते है—'ऐसा नही कहना चाहिए। जब साधु तीन गुप्तिरूप परिणत होता हुआ निर्विकल्प समाधिमें लीन है उस समय तत्त्वविचार नही करना चाहिए। तथापि उस ध्यानके अभावमे शुद्धात्माको उपादेय मानकर या आगमकी भाषामें मोक्षको उपादेय मानकर सराग सम्यक्त्वकी दशामें विषयकषायसे बचनेके लिए तत्त्वविचार करना चाहिए। उस तत्त्वविचार-से मुख्य रूपसे तो पुण्यबन्ध होता है और परम्परासे निर्वाण होता है अत कोई दोष नही है। किन्तु उस तत्त्वविचारके समय वीतराग स्वसवेदन ज्ञानरूप परिणत शुद्धात्मा ही साक्षात् उपादेय है ऐसा ध्यान रखना चाहिए'। इसपर-से शकाकार पुन शका करता है—

---

१. 'मग्ना कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञान न जानन्ति ये,
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञान भवन्त स्वय
ये कर्मापि न कुर्वते न च वश यान्ति प्रमादस्य च' ॥१११॥

भगवन् ! वीतराग स्वसवेदनज्ञानका विचार करते समय आप वीतराग विशेषणका प्रयोग क्यो करते है ? क्या स्वसंवेदनज्ञान सराग भी होता है ?

उत्तर—विषयसुखके अनुभवका आनन्दरूप स्वसवेदन ज्ञान सब जनोमें प्रसिद्ध है किन्तु वह सरागस्वसवेदन ज्ञान है। परन्तु शुद्धात्म सुखकी अनुभूतिरूप स्वसवेदन ज्ञान वीतराग है। स्वसवेदन ज्ञानके व्याख्यानमें सर्वत्र ऐसा जानना चाहिए।

इससे भोगीजन भी यह अनुभवन कर सकते है कि स्वसवेदनज्ञान कैसा होता है। भोगके समय जब मनुष्यका वीर्यस्खलन होता है तब उसके विकल्पमें एकमात्र 'स्व' की ही अनुभूति रहती है। किन्तु वह अनुभूति रागाविष्ट है। ऐसी ही अनुभूति योगीको जब होती है जिसमें द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्मसे रहित केवल शुद्धात्माका अनुभवन रहता है वह वीतराग स्वसवेदन होता है। वस्तुत वह भावश्रुतज्ञानरूप होनेसे परोक्ष है तथापि उस कालमें उसे प्रत्यक्ष तुल्य माना गया है। उसीका विकास निरावरण अवस्थामें केवलज्ञानरूपसे होता है।

उसीको दृष्टिमें रखकर सागार धर्मामृत (८।९२) में समाधिमें स्थित श्रावकको लक्ष्य करके आशाधरजीने कहा है—

'शुद्ध श्रुतेन स्वात्मान गृहीत्वार्य स्वसविदा।
भावयस्तल्लयापास्तचिन्तो मृत्वैहि निर्वृत्तिम् ॥'

हे आर्य ! श्रुतज्ञानके द्वारा राग-द्वेष-मोहसे रहित शुद्ध आत्माको स्वसवेदन ज्ञानके द्वारा ग्रहण करके और उसीमें लीन हो, सब चिन्ताओसे निर्मुक्त होकर मरण करो और मुक्ति प्राप्त करो।

इसीसे मुमुक्षुके लिए मुख्यरूपसे अध्यात्मका श्रवण, मनन, चिन्तन बहुत उपयोगी है। उसके बिना इस अशुद्ध दशामें भी शुद्धात्माकी अनुभूति सम्भव नही है। और शुद्धात्माकी अनुभूतिके बिना समस्त व्रत, तप आदि निरर्थक है। अर्थात् उससे शुद्धात्माकी उपलब्धिरूप मोक्षकी प्राप्ति नही हो सकती।

ज्ञानी और अज्ञानीमे अन्तर

समयसारके निर्जराधिकारमें कहा है कि सम्यग्दृष्टि यह जानता है कि निश्चयसे राग पौद्गलिक है। पुद्गल कर्मके उदयके विपाकसे उत्पन्न होता है। यह मेरा स्वभाव नही है। मैं तो टकोत्कीर्ण ज्ञायकभावस्वरूप हूँ। इस प्रकार तत्त्वको अच्छी तरह जानता हुआ स्वभावको ग्रहण करता है और परभावको त्यागता है। अत जैसे कोई वैद्य विषकी मारणशक्तिको मन्त्र-तन्त्र, औषध आदिसे रोककर विष भक्षण करे तो मरणको प्राप्त नही होता उसी तरह ज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुद्गल कर्मके उदयको भोगता हुआ भी नवीन कर्मोसे नही बँधता। अथवा जैसे कोई व्यापार कराता है यद्यपि वह स्वय व्यापार नही करता किन्तु व्यापारी मुनीमके द्वारा व्यापारका स्वामी होनेके कारण हानि-लाभका जिम्मेदार होता है। और मुनीम व्यापार करते हुए भी उसका स्वामी न होनेसे हानि-लाभका जिम्मेदार नही होता। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व सचित कर्मके उदयसे प्राप्त इन्द्रियविषयोको भोगता है तो भी रागादि भावोके अभावके कारण विषयसेवनके फलमें स्वामित्वका भाव न होनेसे उसका सेवन करनेवाला नही कहा जाता। और मिथ्यादृष्टि विषयोका सेवन नही करते हुए भी रागादि भावोका सद्भाव होनेसे विषयसेवन करनेवाला और उसका स्वामी होता है। यहाँ सम्यग्दृष्टि तो मुनीमके समान है और मिथ्यादृष्टि व्यापारीके समान है। एक भोग भोगते हुए भी बँधता नही है और दूसरा भोग नही भोगते हुए भी बँधता है। यहाँ यह शका होती है कि परद्रव्यसे जबतक राग रहता है तबतक यदि मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है तो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोमें चारित्रमोहके उदयसे रागादिभाव होते है तब वहाँ सम्यक्त्व कैसे कहा है ? इसका समाधान यह है कि अध्यात्ममें मिथ्यात्वसहित अनन्तानुबन्धीजन्य रागको ही प्रधान रूपसे राग कहा है क्योकि वही अनन्त ससारका कारण है। उसके जानेपर रहनेवाला

चारित्रमोहनीयजन्य राग अनन्त ससारका कारण नही है अत तज्जन्य वन्धको भी वन्ध नही कहा है। अत सम्यग्दृष्टि चारित्रमोहजन्य प्रवृत्तियोको ऐसा मानता है कि यह कर्मका उदय है इससे निवृत्त होनेमें ही मेरा हित है। उसको वह रोगके समान आगन्तुक मानता है। और उसको मेटनेका उपाय करता है।

सिद्धान्तमें मिथ्यात्वको ही पाप कहा है। रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें कहा है—

न मिथ्यात्वसम किंचित् त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि।
श्रेयोऽश्रेयश्च सम्यक्त्वसमं नान्यत्तनुभृताम्॥

अर्थात् तीनो कालो और तीनो लोकोमे प्राणियोका मिथ्यात्वके समान कोई अकल्याणकारी नही है और सम्यक्त्वके समान कोई कल्याणकारी नही है।

अत अध्यात्ममें जबतक मिथ्यात्व है तबतक शुभ क्रियाओको भी पाप ही कहा है। किन्तु व्यवहार-नयकी प्रधानतामें व्यवहारी जीवोको अशुभसे छुडाकर शुभमें लगानेकी दृष्टिसे पुण्य भी कहा है।

प आशाधरजीने आठवें अध्यायके प्रारम्भमें षडावश्यक क्रियाओका कथन करनेसे पूर्व यह सब कथन किया है। और अन्तमे मुमुक्षुसे कहलाया है कि जबतक इस प्रकारके भेदज्ञानके बलसे मैं कर्मोका साक्षात् विनाश करनेवाली शुद्धात्म सवित्तिको प्राप्त नही होता तबतक मैं षडावश्यकरूप क्रियाको करता हूँ। इस तरह नीचेकी भूमिकामें ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनो पृथक्-पृथक् रूपसे चला करती है। यदि ज्ञानधारा न हो और केवल कर्मधारा हो तो वह निष्फल है उससे सन्यास ग्रहणका उद्देश कभी पूरा नही हो सकता। हाँ, ज्ञानधाराके साथ भी कर्मधाराके होनेपर बन्ध तो होता ही है। किन्तु पुण्यबन्धके साथ ही पापबन्धमें स्थिति अनुभागका ह्रास तो होता ही है पूर्वबद्ध कर्मोकी निर्जरा भी होती है। यह सम्यक् आवश्यक विधिका फल है।

शासनदेवता अवन्दनीय है

आठवें अध्यायमें वन्दना नामक आवश्यकका वर्णन करते हुए आशाधरजीने कहा है—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाप्यसयता।
कुलिङ्गिन कुदेवाश्च न वन्द्या सोऽपिसयतै ॥५२॥

श्रावकको भी वन्दना करते समय असयमी माता-पिता, गुरु, राजा, कुलिगी और कुदेवकी वन्दना नही करना चाहिए। इसकी टीकामें आशाधरजीने 'कुदेवा' का अर्थ रुद्र आदि और शासनदेवता आदि किया है। और लिखा है कि साधुकी तो बात ही दूर, श्रावकको भी इनकी वन्दना नही करना चाहिए।

आशाधरजीके पूर्वज टीकाकार ब्रह्मदेवजीने भी वृहद्द्रव्यसग्रहकी टीकामें क्षेत्रपालको मिथ्यादेव लिखा है, यथा—'रागद्वेषोपहतार्तरौद्रपरिणतक्षेत्रपालचण्डिकादिमिथ्यादेवाना'—(टीका गा ४१)

अत शासनदेवों, क्षेत्रपाल, पद्मावती आदिको पूजना घोर मिथ्यात्व है। आजकलके कुछ दिगम्बरवेशी साधु और आचार्य अपने साथ पद्मावतीकी मूर्ति रखकर उसे पुजाते है और इस तरह मिथ्यात्वका प्रचार करते है और कुछ पण्डितगण भी उसमें सहयोग देते है, उनका समर्थन करते है। ऐसे ही साधुओ और पण्डितोके लिए कहा है—

'पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनै।
शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम्॥

चारित्रभ्रष्ट पण्डितो और ठग तपस्वियोने जिनभगवान्के निर्मल शासनको मलिन कर दिया।

मठाधीशोकी निन्दा

दूसरे अध्यायके श्लोक ९६ तथा उसकी टीकामें आशाधरजीने मिथ्यादृष्टियोके साथ ससर्गका निषेध करते हुए जटाधारी तथा शरीरमें भस्म रमानेवाले तापसियोके साथ द्रव्यजिनलिंगके धारी अजितेन्द्रिय

दिगम्बर मुनियो और द्रव्यजिनलिंगके धारी मठपति भट्टारकोको भी ससर्गके अयोग्य कहा है, क्योकि उनका आचरण म्लेच्छोके समान होता है। वे शरीरसे दिगम्बर वेश धारण करके भी लोकविरुद्ध और शास्त्रविरुद्ध आचरण करते है।

प. आशाधरजीके समयमें भट्टारक पन्थ प्रवर्तित हो चुका था। किन्तु भट्टारक भी मुनियोकी तरह दिगम्बर वेशमें ही रहते थे। असलमें जब मुनिगण वनवास त्यागकर मन्दिर आदिमें रहने लगे और मन्दिरोके लिए दानादि ग्रहण करने लगे तो वे भट्टारक कहे जाने लगे। क्रमश भट्टारकोकी गद्दियाँ स्थापित हो गयी और आचार्य शकरके मठोकी तरह जैन भट्टारकोके भी मठ बन गये और इस तरह भट्टारक पन्थकी परम्परा प्रवर्तित हुई। भट्टारकोने मुस्लिम युगमें जिनायतनोकी तथा शास्त्र भण्डारोकी सुरक्षा भी की और मन्त्र-तन्त्रसे अपना प्रभाव भी डाला। उनमें अनेक अच्छे विद्वान् और ग्रन्थकार भी हुए। किन्तु परिग्रह और अधिकार ऐसी वस्तुएँ है जिन्हें पाकर मद न होना ही आश्चर्य है। ये साधुको भी गिराये बिना नहीं रहते। प आशाधरजीके लेखसे प्रकट है कि विक्रमकी तेरहवी शताब्दीमें भट्टारकोका आचरण इतना गिर गया था कि उसे म्लेच्छोका आचरण कहा गया। उस समय तो वे सब दिगम्बर वेशमें ही रहते थे। उत्तर कालमें तो उन्होने वस्त्र ही धारण कर लिया। आजके अनेक मुनि और आचार्य भी वस्तुत भट्टारक-जैसे ही है। उनके साथमें परिग्रहका भार रहता है। उसे ढोनेके लिए वे मोटरें रखते है, मन्त्र-तन्त्र करते है, हाथ देखते है, भविष्य बताते है, पूजा-पाठ-अनुष्ठानमें कराते हैं। ये सब क्रियाएँ दिगम्बर मुनियोके भ्रष्टरूप भट्टारकोकी है।

सत् शूद्र दानका अधिकारी—

आचार्य सोमदेवने अपने उपासकाध्ययनमें कहा है—

दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता।
मनोवाक्कायधर्माय मता सर्वेऽपि जन्तव ॥७९१॥

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन ही वर्ण जिनदीक्षाके योग्य है किन्तु आहारदानके योग्य चारो है। क्योकि सभी प्राणियोको मानसिक, वाचनिक और कायिक धर्मका पालन करनेकी अनुमति है।

इसमें शूद्रको भी आहारदानके योग्य कहा है। अर्थात् वह जिनदीक्षा तो धारण नही कर सकता किन्तु मुनियोको दान दे सकता है। अनगारधर्मामृतके चतुर्थ अध्यायके १६७वें श्लोकमें एषणा समितिके स्वरूपमें कहा है कि विधिपूर्वक अन्यके द्वारा दिये गये भोजनको साधु ग्रहण करता है। टीकामें आशाधरजीने 'अन्यै' का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सत्शूद्र किया है। अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यकी तरह सत् शूद्र भी मुनिको आहारदान दे सकता है।

उक्त सोमदेव आचार्यने अपने नीतिवाक्यामृतमें कहा है—

सकृत्परिणयनव्यवहारा' सच्छूद्रा ॥११॥

आचारानवद्यत्व शुचिरुपस्कर शारीरी च विशुद्धि करोति शूद्रमपि देवद्विजतपस्वीपरिकर्मसु योग्यम् ॥१२॥

अर्थात् एक बार विवाह करनेवालेको सत् शूद्र कहते है। आचारकी निर्दोषता, घर और उपकरणोकी पवित्रता और शारीरिक विशुद्धि शूद्रको भी देव, द्विज और तपस्वी जनोके परिकर्मके योग्य बनाती है।

आशाधरजीने सोमदेवके उक्त कथन के ही आधारपर शूद्रको भी धर्मसेवनका अधिकारी कहा है—

शूद्रोऽप्युपस्कराचारवपु शुद्ध्याऽस्तु तादृश।
जात्या हीनोऽपि कालादिलब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥—सागारधर्मा

अर्थात् शूद्र भी उपस्कर अर्थात् आसनादि उपकरण, आचार अर्थात् मद्यमास आदिका त्याग और शारीरिक विशुद्धि होनेसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके समान धर्मपालनका अधिकारी है। जन्मसे हीन होनेपर भी आत्मा काल आदिकी लब्धि आनेपर धर्मका सेवन कर सकता है।

इसका अभिप्राय यह है कि जिन शूद्रोंमें पुनर्विवाह नही होता तथा खान-पान और रहन-सहन भी पवित्र है वे जैनधर्मका पालन करते हुए मुनिको आहारदान दे सकते है।

अत आजकल जो मुनिगण आहार लेते समय श्रावकसे शूद्रके हाथका पानी न लेनेकी प्रतिज्ञा कराते है वह शास्त्रसम्मत नही है। सत् शूद्रके हाथका आहार तक साधुगण भी ले सकते है। गृहस्थकी तो बात ही क्या ?

४. ग्रन्थकार आशाधर

१ वैदुष्य

अनगार धर्मामृतके रचयिता आशाधर अपने समयके एक बहुश्रुत विद्वान् थे। न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य, कोश, वैद्यक, धर्मशास्त्र, अध्यात्म, पुराण आदि विविध विषयोपर उन्होने ग्रन्थरचना की है। सभी विषयोंमें उनकी अस्खलित गति थी और तत्सम्बन्धी तत्कालीन साहित्यसे वे सुपरिचित थे। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका समस्त जीवन विद्याव्यासगमें ही बीता था और वे बडे ही विद्यारसिक और ज्ञानधन थे। आचार्य जिनसेनने अपनी जयधवला टीकाकी प्रशस्तिमें अपने गुरु वीरसेनके सम्बन्धमें लिखा है कि उन्होने चिरन्तन पुस्तकोका गुरुत्व करते हुए सब पूर्वके पुस्तकशिष्यकोको पीछे छोड़ दिया था अर्थात् चिरन्तन शास्त्रोके वे पारगामी थे। प. आशाधर भी पुस्तकशिष्य कहलानेके सुयोग्य पात्र है। उन्होने भी अपने समयमें उपलब्ध समस्त जैन पुस्तकोको आत्मसात् कर लिया था। जिनका उद्धरण उनकी टीकाओमे नही है उनके कालके सम्बन्धमें सन्देह रहता है कि ये आशाधरके पश्चात् तो नही हुए ?

आज सिद्धान्त और अध्यात्मकी चर्चाके प्रसगसे दोनोमें भेद-जैसा प्रतीत होता है क्योकि सिद्धान्तके अभ्यासी अध्यात्ममें पिछडे है और अध्यात्मके अभ्यासी सिद्धान्तमें। किन्तु भट्टारक युगमें पैदा हुए प आशाधर सिद्धान्त और अध्यात्म दोनोमें ही निष्णात थे। उन्होने मुनिधर्मके व्यवहारचारित्र षडावश्यक आदिका कथन करनेसे पूर्व उसका लक्ष्य स्पष्ट करते हुए कहा है कि स्वात्मामें नि शंक अवस्थान करनेके लिए षडावश्यक करना चाहिए। और इस अध्यात्म चर्चाका उपसहार करते हुए कहा है कि इस प्रकारके भेद-विज्ञानके बलसे जबतक मैं शुद्धात्माके ज्ञानको, जो कर्मोका साक्षात् विनाशक है प्राप्त नही करता, तबतक ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाको करता हूँ। यह सब कथन करनेके पश्चात् ही उन्होने षडावश्यकोका वर्णन किया है।

मुनि और श्रावकका आचार सम्बन्धी उनकी धर्मामृत नामक कृति तथा उसकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका और ज्ञानदीपिका पजिका यह एक ही ग्रन्थ उनके जिनागम सम्बन्धी वैदुष्यके लिए पर्याप्त है। वे मुनि या आचार्य नही थे, गृहस्थ पण्डित थे। किन्तु उन्होने प्रत्येक प्रकारके व्यक्तिगत अभिनिवेशसे अपनेको दूर रखते हुए सिद्धान्तके वर्णनमें आचार्यपरम्परासम्मत वीतराग मार्गको ही दर्शाया है। उनकी सम्पूर्ण कृति किसी भी प्रकारके दुरभिनिवेशसे सर्वथा मुक्त है। यह उनके वैदुष्यकी एक बडी विशेषता है। तभी तो उनके पास मुनि तक पढनेके लिए आते थे।

भट्टारक युगमें रहकर भी वह उस युगसे प्रभावित नही थे। उन्होने भट्टारको और मुनिवेषियोको समान रूपमे भर्त्सना की है। और शासनदेवताओंको स्पष्ट रूपसे कुदेव कहा है।

विषयकी तरह सस्कृत भाषा और काव्यरचनापर भी उनका असाधारण अधिकार था। धर्मामृत धर्मशास्त्रका आकर ग्रन्थ है किन्तु उसकी रचना श्रेष्ठतम काव्यमे टक्कर लेती है उसमें केवल अनुष्टुप् श्लोक ही नही है, विविध छन्द है और उनमें उपमा और उत्प्रेक्षा अलकारकी बहुतायत है। सस्कृत भाषाका शब्द भण्डार भी उनके पास अपरिमित है और वे उसका प्रयोग करनेमे भी कुशल है। इसीसे उनकी रचना

क्लिष्ट हो गयी है। यदि उन्होने उसपर टीका न रची होती तो उसको समझना सस्कृतके पण्डितके लिए भी कठिन हो जाता तथा उस टीकामें उन्होने जो विविध ग्रन्थोसे उद्धरण दिये है और विविध आगमिक चर्चाएँ की है उन सबके बिना तो धर्मामृत भी फीका ही रहता।

२ जीवन परिचय

आशाधरने अपनी तीन रचनाओके अन्तमें अपनी प्रशस्ति विस्तारसे दी है। सबसे अन्तमें उन्होने अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका रची थी। अत' उसमें पूर्ण प्रशस्ति है। उसके अनुसार उनके पिताका नाम सल्लक्षण, माताका श्रीरत्नी, पत्नीका सरस्वती और पुत्रका नाम छाहड था। वे बघेरवाल वैश्य थे। माडलगढ (मेवाड) के निवासी थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणसे त्रस्त होकर अपने परिवारके साथ मालवाकी राजधानी धारामें आकर बस गये थे। वहाँ उन्होने पण्डित महावीरसे जैनेन्द्र व्याकरण और जैनन्याय पढा।

३. रचनाओका परिचय

१. प्रमेयरत्नाकर—इसकी प्रशसा करते हुए इसे स्याद्वाद विद्याका विशद प्रसाद कहा है। यह तर्कप्रबन्ध है, जिससे निर्दोप पद्यामृतका प्रवाह प्रवाहित होता है अर्थात् पद्योमें स्याद्वाद विद्या गुम्फित तर्क-शास्त्रपर यह ग्रन्थ रचा गया था। किन्तु यह अप्राप्य है। अत इसके सम्बन्धमें विशेष कथन शक्य नही है।

२ भरतेश्वराभ्युदयकाव्य—इसके प्रत्येक सर्गके अन्तिम वृत्तमें सिद्धि शब्द आनेसे इसे सिद्धचक्र कहा है। इस काव्यपर स्वोपज्ञ टीका भी थी। यह काव्य कविने अपने कल्याणके लिए रचा था। इसके दो-एक पद्य अनगार धर्मामृतकी टीकामें उद्धृत है। उनसे प्रतीत होता है यह अध्यात्मरससे परिपूर्ण था। नवम अध्यायके सातवें श्लोककी टीकामें लिखा है—

एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्य सिद्धचक्रमहाकाव्ये यथा—

परमसमयसाराभ्यासानन्दसर्प-
त्सहजमहसि साय स्वे स्वय स्वं विदित्वा।
पुनरुदयदविद्यावैभवा प्राणचार-
स्फुरदरुणविजृम्भा योगिनो य स्तुवन्ति ॥

काव्यके नामसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें भरत चक्रवर्तीकी मोक्षप्राप्तिका वर्णन रहा हो।

३ पजिका सहित धर्मामृत—तीसरी रचना है धर्मामृत। उसके दो भाग है—अनगार और सागार। इनमें क्रमसे जैन मुनियो और श्रावकोके आचारका वर्णन है। इनका प्रकाशन हो चुका है तथा इस संस्करणमें अनगार प्रथमबार पजिका सहित प्रकाशित हो रहा है। इसके पश्चात् प्रथमबार पजिका सहित सागार प्रकाशित होगा। ऐसा प्रतीत होता है धर्मामृतके साथ ही उसकी पजिका रची गयी थी। क्योकि प्रशस्तिमें इसके सम्बन्धमें लिखा है—

योऽर्हद्वाक्यरस निबन्धरुचिर शास्त्र च धर्मामृत
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुपामानन्दसान्द्रे हृदि ॥

इसकी व्याख्या करते हुए आशाधरजीने 'अर्हद्वाक्यरस' का अर्थ जिनागमनिर्यासभूत और 'निबन्ध-रुचिर' का अर्थ 'स्वयकृतज्ञानदीपिकाख्यपञ्जिकया रमणीय' किया है अर्थात् धर्मामृत जिनागमका सारभूत है और स्वोपज्ञ ज्ञानदीपिका पजिकासे रमणीय है। पजिकाका लक्षण है 'पदभञ्जिका'। अर्थात् जिसमें केवल कुछ पदोका विश्लेपण होता है, पूर्ण श्लोककी व्याख्या नही होती, उसे पजिका कहते है। अनगार धर्मामृतकी पजिकाके प्रारम्भमें कहा है—

'स्वोपज्ञधर्मामृतधर्मशास्त्रपदानि किंचित् प्रकटीकरोति'

अर्थात् स्वरचित धर्मामृत नामक धर्मशास्त्रके पदोको किंचित् रूपसे प्रकट करता हूँ। अत. इसमें प्रत्येक पद्यके कुछ पदोकी व्याख्या मात्र है। अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकाका प्रारम्भ करते हुए तो ग्रन्थकारने ज्ञानदीपिकाका कोई उल्लेख नही किया है। किन्तु सागार धर्मामृतकी टीकाके प्रारम्भमें लिखा है—

समर्थनादि यन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात् क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत् पञ्जिकाया विलोक्यताम् ॥

अर्थात् विस्तारके भयसे किसी विषयका समर्थन आदि जो यहाँ नही कहा है उसे इसकी ज्ञानदीपिका नामक पजिकामें देखो। अत पजिकामे आगत विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थान्तरोसे उद्धृत पद्योका बाहुल्य है। उदाहरणके लिए दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें मिथ्यामतोका निर्देश करनेके लिए अमितगतिके पचसंग्रह तथा मिथ्यात्वके भेदोके समर्थनमें अमितगतिके श्रावकाचारसे बहुत-से श्लोकादि उद्धृत किये है। इस तरह ज्ञानदीपिकामें भी ग्रन्थान्तरोके प्रमाणोका सग्रह अधिक है। इसी दृष्टिसे उसका महत्त्व है।

४ अष्टागहृदयोद्योत—वाग्भट विरचित अष्टागहृदय नामक ग्रन्थ आयुर्वेदका बहुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह उसकी टीका थी जो वाग्भटसहिताको व्यक्त करनेके लिए रची गयी थी। यह अप्राप्य है। धर्मामृतकी टीकामें आयुर्वेदसे सम्बद्ध जो श्लोक उद्धृत है वे प्राय वाग्भट सहिताके हैं।

५ मूलाराधनाटीका—भगवती आराधना अतिप्राचीन प्रसिद्ध आगम ग्रन्थ है। इसमें साधुके समाधिमरणकी विधिका विस्तारसे कथन है। इसपर अपराजित सूरिकी विजयोदया टीका सस्कृतमे अतिविस्तृत है। उसीके आधारपर आशाधरजीने भी सस्कृतमे यह टीका रची थी जो विजयोदया टीकाके साथ ही शोलापुरसे प्रथमवार १९३५में प्रकाशित हुई थी। इसमें विजयोदया टीका तथा एक टिप्पण और आराधनाकी प्राकृत टीकाका निर्देश आशाधरजीने किया है। इसमें भी ग्रन्थान्तरोसे उद्धरणोकी बहुतायत है। प्राकृत पचसग्रहका निर्देश इसी टीकामें प्रथमवार मिलता है। इससे पूर्व किसीने इसका उल्लेख नही किया था।

६ इष्टोपदेश टीका—पूज्यपाद स्वामीके इष्टोपदेश पर यह टीका रची गयी है और माणिकचन्द्र ग्रन्थमालाके अन्तर्गत तत्त्वानुशासनादि सग्रहमें प्रथम बार मुद्रित हुई थी। उसके पश्चात् वीर सेवामन्दिर ग्रन्थमाला दिल्लीसे हिन्दी टीकाके साथ १९५४ में प्रकाशित हुई। यह टीका मूल ग्रन्थका हार्द समझनेके लिए अति उपयोगी है। इसमें अनेक उद्धृत पद्य पाये जाते है।

७ अमरकोश टीका—यह अप्राप्य है।

८. क्रिया कलाप—इसकी प्रति बम्बई ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें बतलायी गयी है।

९ आराधनासार टीका—यह अप्राप्य है।

१० भूपाल चतुर्विंशतिका टीका—भूपाल चतुर्विंशतिका स्तोत्रकी यह टीका अप्रकाशित है।

११ काव्यालकार—सस्कृत साहित्यमें रुद्रटका काव्यालकार एक मान्य ग्रन्थ है उसपर यह टीका रची थी जो अप्राप्य है। अनगार धर्मामृतकी टीकामें (पृ २५५) रुद्रटके काव्यालकारका नामनिर्देश पूर्वक उद्धरण दिया है।

१२ जिन सहस्रनामस्तवन सटीक—जिन सहस्र स्तवन टीका सहित भारतीय ज्ञानपीठसे प्रकाशित हुआ है। इसपर श्रुतसागर सूरिने भी टीका रची है वह भी उसीके साथ प्रकाशित हुई है।

१३. नित्यमहोद्योत—यह भगवान् अर्हन्तके महाभिषेकसे सम्बन्धित स्नान शास्त्र है इसका प्रकाशन श्रुतसागरी टीकाके साथ हो चुका है।

१४ रत्नत्रयविधान—इसमें रत्नत्रयके विधानकी पूजाका माहात्म्य वर्णित है। अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

१५ जिनयज्ञकल्प—प्राचीन जिनप्रतिष्ठाशास्त्रोको देखकर आशाधरजीने युगके अनुरूप यह प्रतिष्ठाशास्त्र रचा था। यह नलकच्छपुरके निवासी खण्डेलवाल वंशके भूषण अल्हणके पुत्र पापासाहुके आग्रहसे विक्रम सवत् १२८५ में आश्विन शुक्ला पूर्णिमाको प्रमारवंशभूषण श्री देवपाल राजाके राज्यमें नलकच्छपुरमें नेमिनाथ जिनाल्यमें रचा गया था। जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालयसे सवत् १९७४ में प्रतिष्ठासारोद्धारके नामसे हिन्दी टीकाके साथ इसका प्रकाशन हुआ था। अन्तिम सन्धिमें इसे जिनयज्ञकल्प नामक प्रतिष्ठा सारोद्धार सज्ञा दी है। उसके अन्तमें प्रशस्ति है जिसमें उक्त रचनाओका उल्लेख है।

अत ये पन्द्रह रचनाएँ वि स. १२८५ तक रची गयी थी। सागार धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें इस जिनयज्ञकल्पका जिनयज्ञकल्पदीपक नामक टीकाके साथ उल्लेख हैं। अतः यह टीका १२८५ के पश्चात् ही रची गयी है क्योकि जिनयज्ञकल्पकी प्रशस्तिमें इसका निर्देश नही है।

१६ त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र—इसका प्रकाशन मराठी भाषाकी टीकाके साथ १९३७ में माणिकचन्द जैन ग्रन्थमालामे उसके ३६वें पुष्पके रूपमें हुआ है। इसमें आचार्य जिनसेन और गुणभद्रके महापुराणका सार है। इसको पढनेसे महापुराणका कथाभाग स्मृतिगोचर हो जाता है। शायद इसीसे इसका नाम त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र रखा है। चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नौ नारायण, नौ प्रतिनारायण, नौ बलभद्र ये त्रेसठ शलाका पुरुष होते है। ये सब तीर्थंकरोके साथ या उनके पश्चात् उन्हीके तीर्थमें होते है। आशाधरजी ने बडी कुशलतासे प्रत्येक तीर्थंकरके साथ उसके कालमें हुए चक्रवर्ती आदिका भी कथन कर दिया है। जैसे प्रथम चालीस श्लोकोमें ऋषभ तीर्थंकर और भरत चक्रवर्ती आदिका कथन है। दूसरेमे सात श्लोकोमें अजितनाथ तीर्थंकर और सगर चक्रवर्तीका कथन है। ग्यारहवेंमें दस श्लोकोमें श्रेयासनाथ तीर्थंकरके साथ अश्वग्रीव प्रतिनारायण, विजय बलदेव और त्रिपृष्ठ नारायणका कथन है। इसी तरह बीसवेंमें इक्यासी श्लोकोमें मुनिसुव्रतनाथ तीर्थंकरके साथ राम, लक्ष्मण और रावणकी कथा है। बाईसवेंमें सौ श्लोकोमें नेमिनाथ तीर्थंकरके साथ कृष्ण, जरासन्ध और ब्रह्मदत्त चक्रीका कथन है। अन्तिममें पचास श्लोकोमें भगवान् महावीरके पूर्वभव वर्णित है।

इसकी अन्तिम प्रशस्तिमें इसकी पजिकाका भी निर्देश है। अर्थात् इसपर पजिका भी रची थी जो इसीके साथ मुद्रित है। यह पण्डित जाजाककी प्रेरणासे सवत् १२९२ में नलकच्छपुरमें राजा देवपालके पुत्र जैतुगिदेवके अवन्तीमें राज्य करते हुए रचा गया है। इसकी प्रशस्तिमें किसी अन्य नवीन रचनाका निर्देश नही है।

१७ सागारधर्मामृत टीका—इस टीकाके साथ सागार धर्मामृतका प्रथम सस्करण वि. स. १९७२ में माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईके दूसरे पुष्पके रूपमें प्रकाशित हुआ था। इसकी रचना वि. स १२९६ में नलकच्छपुरमें नेमिनाथ चैत्यालयमें जैतुगिदेवके राज्यमें हुई। इसका नाम भव्यकुमुदचन्द्रिका है। पोरवाड् वंशके समुद्धर श्रेष्ठीके पुत्र महीचन्द साहुकी प्रार्थनासे यह टीका रची गयी और उन्हीने इसकी प्रथम पुस्तक लिखी।

१८ राजीमती विप्रलम्भ—इसका निर्देश वि स १३०० मे रचकर समाप्त हुई अनगार धर्मामृतकी टीका प्रशस्तिमें है। इससे पूर्वकी प्रशस्तिमें नही है अत यह खण्डकाव्य जिसमें नेमिनाथ और राजुलके वैराग्यका वर्णन था स्वोपज्ञ टीकाके साथ १२९६ और १३०० के मध्यमें किसी समय रचा गया। यह अप्राप्य है।

१९ अध्यात्मरहस्य—अनगार धर्मामृत टीकाकी प्रशस्तिमें ही राजीमती विप्रलम्भके पश्चात् इसका उल्लेख है। यह पिताके आदेशसे रचा गया था। यह प्रसन्न किन्तु गम्भीर था। इसे पढते ही अर्थबोध हो जाता था। तथा उसका रहस्य समझनेके लिए अन्य शास्त्रोकी सहायता लेनी होती है, जो योगाभ्यासका प्रारम्भ करते उनके लिए यह बहुत प्रिय था। किन्तु यह भी अप्राप्य है।

२०. अनगारधर्मामृतटीका—अनगार धर्मामृतपर रचित भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका भी माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे उसके चौदहवें पुष्पके रूपमें १९१९ में प्रकाशित हुई थी। इसकी रचना भी नलकच्छपुरके नेमिजिनालयमें जैतुगिदेवके राज्यमें वि. स. १३०० में हुई थी। जिस पापा साहुके अनुरोधसे जिनयज्ञकल्प रचा गया था उसके दो पुत्र थे—बहुदेव और पद्मसिंह। बहुदेवके तीन पुत्र थे—हरदेव, उदयी और स्तम्भदेव। हरदेवने प्रार्थना की कि मुग्धबुद्धियोको समझानेके लिए महीचन्द्र साहुके अनुरोधसे आपने सागार धर्मकी तो टीका बना दी किन्तु अनगार धर्मामृत तो कुशाग्र बुद्धिवालोके लिए भी अत्यन्त दुर्बोध है इसकी भी टीका बनानेकी कृपा करें। तब आशाधरजीने इसकी टीका रची। इसका परिमाण १२२०० श्लोक जितना है। यही टीका आशाधरजीके पाण्डित्य और विस्तृत अध्ययनकी परिचायिका है। इसमें मूलग्रन्थसे सम्बद्ध आचारविषयक चर्चाओको स्पष्ट तथा ग्रन्थान्तरोसे प्रमाण देकर पुष्ट किया गया है।

रचनाकाल—रचनाओके उक्त परिचयमे दिये गये उनकी रचनाओके कालसे आशाधरजीका रचनाकाल एक तरहसे निर्णीत-सा हो जाता है। वि स १३०० के पश्चात् की उनकी किसी कृतिका निर्देश नही मिलता। तथा वि स १२८५ तक वे पन्द्रह रचनाएँ रच चुके थे। १२८५ के पश्चात् पन्द्रह वर्षोमें अपनी पाँच रचनाओका ही उल्लेख उन्होने किया है। अत उनका मुख्य रचनाकाल १२८५ से पूर्व ही रहा है। मोटे तौरपर विक्रमकी तेरहवी शतीका उत्तरार्ध ही उनका रचनाकाल था।

४ आशाधरके द्वारा स्मृत ग्रन्थ और ग्रन्थकार

आशाधरने अपनी टीकाओमे पूर्वके अनेक ग्रन्थो और ग्रन्थकारोका निर्देश किया है और अनेक ग्रन्थोमे विना नामोल्लेखके उद्धरण दिये है। अनगार धर्मामृतकी टीकामें ही उद्धृत पद्योकी सख्या एक हजारसे ऊपर है। यदि उन सबके स्थलोका पता लग सके तो एक विशाल साहित्य भण्डार हमारे सामने उपस्थित हो जाये। किन्तु प्रयत्न करनेपर भी अनेक प्राचीन ग्रन्थोके अप्राप्य या लुप्त हो जानेसे सफलता नही मिलती। नीचे हम सक्षेपमें उनका परिचय अकित करते है—

१. आचार्य समन्तभद्रका निर्देश प्राय. स्वामी शब्दसे ही किया गया है। अन टी मे पृ १६० पर स्वामिसूक्त करके उनके रत्नकरण्ड श्रावकाचारसे अनेक श्लोक उद्धृत किये है। सागार धर्मामृतके दूसरे अध्यायमें अष्ट मूलगुणोके कथनमें रत्नकरण्डका मत दिया है। वहाँ उसकी टीकामें 'स्वामीसमन्तभद्रमते' लिखकर उनका नामनिर्देश भी किया है। इसीमें भोगोपभोग परिमाण व्रतके अतिचारोके कथनमे 'अत्राह स्वामी यथा' लिखकर र श्रा का श्लोक देकर उसकी व्याख्या भी की है। अन्य भी अनेक स्थलोपर रत्नकरण्ड श्रावकाचारका उपयोग किया गया है। अन. ध टी. पृ ९५ मे यह प्रश्न किया गया है कि इस युगके लोग आप्तका निर्णय कैसे करें? उत्तरमे कहा गया है आगमसे और शिष्टोके उपदेशसे निर्णय करें। इसकी टीकामें आगमके स्थानमें र श्रा का 'आप्तेनोत्सन्नदोषेण' आदि श्लोक उद्धृत किया है और 'शिष्टाः' की व्याख्या 'आप्तोपदेशसम्पादितशिक्षाविशेषा स्वामिसमन्तभद्रादय' की है। इस तरह उनके प्रति बहुत ही आदरभाव प्रदर्शित किया है।

२ भट्टाकलकदेव—अन. टी पृ १६९ पर 'तथा चाहुर्भट्टाकलकदेवा' करके कुछ श्लोक उद्धृत है जो लघीयस्त्रयके अन्तिम श्लोक है।

३ भगवज्जिनसेनाचार्य—अन. टी पृ. १७७ पर भगवज्जिनसेनाचार्यको मेघकी उपमा दी है क्योकि वे विश्वके उपकारक है। उनके महापुराणका उल्लेख आर्ष रूपमें ही पृ ७,२०,४०,४८०, ५६६ आदि पर सर्वत्र किया गया है। सागार धर्मामृतकी पजिका तथा टीकामें भी आर्षके नामसे महापुराणके ३८-३९ पर्वके बहुत-से श्लोक उद्धृत है। सागारधर्मके निर्माणमें उससे बहुत सहायता ली गयी है।

४. कुन्दकुन्दाचार्य—अन टी पृ १३२ पर 'यत्तात्विका' लिखकर एक गाथा उद्धृत की है जो आचार्य कुन्दकुन्दकृत द्वादश अनुप्रेक्षा की है। इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दका उल्लेख तात्त्विक शब्दसे किया है।

५ अपराजिताचार्य—विजयाचार्य—भगवती आराधनापर अपराजित सूरिकी विजयोदया नामक एक विस्तृत सस्कृत टीका है जो शोलापुरसे १९३५ में प्रकाशित हुई थी। अन. टी. पृ १६६ पर भगवती आराधनाकी गाथा उद्धृत करके लिखा है कि इसका व्याख्यान विस्तारसे अपराजिताचार्य विरचित मूलाराधना टीकामे तथा हमारे (आशाधरके) रचे मूलाराधनादर्पण नामक निबन्धमें देखो। तथा पृ. ६७३ पर आचेलक्यका व्याख्यान करते हुए लिखा है कि इसका समर्थन श्रीविजयाचार्य विरचित सस्कृत मूलाराधना टीकामें विस्तारसे किया है। अपराजित सूरिका ही नाम विजयाचार्य था या विजयोदया टीकाके नामपर-से इन्हें विजयाचार्य कहा जाता था। अनगार धर्मके कथनमें आशाधरने इसका बहुत उपयोग किया है।

६ अमृतचन्द्राचार्य—आचार्य अमृतचन्द्रका निर्देश प्राय ठक्कुर (ठाकुर) शब्दके साथ किया है यथा पृ ५८८ पर लिखा है—'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचित समयसार टीकाया द्रष्टव्यम्'। अमृतचन्द्रके पुरुषार्थसिद्ध्युपायका भी उपयोग धर्मामृतकी रचनामें बहुतायतसे मिलता है। पृ. १६० पर रत्नकरण्डसे श्लोक उद्धृत करके लिखा है–'एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्' और पु. सि. से 'लोके शास्त्राभासे' आदि श्लोक उद्धृत किया है।

७. गुणभद्राचार्य—आत्मानुशासन और उत्तर पुराणके रचयिता गुणभद्रका निर्देश 'श्रीमद्गुणभद्रदेवपादा.' लिखकर आत्मानुशासनसे (पृ. ६३२) एक श्लोक उद्धृत किया है। ये गुणभद्र आचार्य जिनसेनके शिष्य थे।

८. रामसेन—पृ. ६३३ पर 'श्रीमद्रामसेनपूज्यैरप्यवाचि' लिखकर उनके तत्त्वानुशासनसे एक पद्य उद्धृत किया है।

९ आचार्य सोमदेव—यशस्तिलक चम्पू और नीतिवाक्यामृतके रचयिता आचार्य सोमदेवका उल्लेख प्राय 'सोमदेव पण्डित' के नामसे ही किया गया मिलता है। अन टी पृ. ६८४ पर 'उक्त च सोमदेवपण्डितै' लिखकर उनके उपासकाध्ययनसे तीन श्लोक उद्धृत किये हैं। सागार धर्मामृत टीकामें तो कई स्थलोपर इसी नामसे उनका निर्देश मिलता है। उनके उपासकाध्ययनका उपयोग धर्मामृतकी रचनामें बहुतायतसे किया गया है।

१०. आचार्य अमितगति—अमितगति नामसे इनका निर्देश मिलता है। इनके श्रावकाचार और पचसग्रहमे सर्वाधिक पद्य उद्धृत किये गये है।

११ आचार्य वसुनन्दि—वसुनन्दि श्रावकाचार तथा मूलाचार टीकाके कर्ता आचार्य वसुनन्दिका उल्लेख अन. टी. (पृ. ६०५) पर इस प्रकार मिलता है—'एतच्च भगवद् वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकाया व्याख्यात द्रष्टव्यम्।'

मूलाचारकी टीकाका अनगार धर्मामृतकी टीकामें (पृ. ३३९, ३४४, ३५८, ३५९, ५६८, ६८२, ६०५, ६८१) बहुधा उल्लेख पाया जाता है।

धर्मामृतकी रचनामें मूलाचार और उसकी टीकाका बहुत उपयोग हुआ है। तथा सागार धर्मामृतकी रचनामें उनके श्रावकाचारका उपयोग बहुतायतसे हुआ है।

१२. प्रभाचन्द्र—रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी टीकाके साथ उसके कर्ताका निर्देश अन. टी (पृ ६०८) पर इस प्रकार किया है—

'यथाहु भगवन्त श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकाया'। इस निर्देशसे ऐसा प्रतीत होता है कि आशाधरजी प्रसिद्ध तार्किक प्रभाचन्द्रको ही टीकाकार मानते थे।

१३ पद्मनन्दि आचार्य—अन टी (पृ. ६७३) में सचेलता दूषणमें श्रीपद्मनन्दिपादके नामसे पद्मनन्दि पचविंशतिकाका एक श्लोक उद्धृत है। पद्म प का भी उपयोग आशाधरजीने विशेष किया है। इनमें विक्रमकी बारहवी शताब्दी पर्यन्तके कुछ प्रमुख ग्रन्थकार आते हैं। अब हम कुछ ग्रन्थोंके नामोका उल्लेख करेंगे जिनका निर्देश उनकी टीकाओमें मिलता है—

तत्त्वार्थ वृत्ति (पृ १४), यशोधरचरित, पद्मचरित (पृ ५०), तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक (पृ. ७३), स्वरचित ज्ञानदीपिका (९२, ९८), द्रव्यसग्रह (११८), सन्यासविधि (१३३), आराधनाशास्त्र (१४८, १६१), नीति (नीतिवाक्यामृत, १७१), सिद्धान्त (भ. आरा १६७), आगम (त्रिलोकसार १९३), आगम (गोमट्टसार २३३, २८९, २६४, २३५), प्रतिक्रमणशास्त्र (२२८), नीत्यागम (नीतिवाक्यामृत २४५), मन्त्रमहोदधि (२५२), जातकर्म (२७६), महापुराण (२७४), भारत (२७४), रामायण (२७४), प्रवचनसारचूलिका (३२६), आचार टीका (मूलाचार टीका), (३३९, ३४४, ३५८, ३५९), टिप्पण (मूलाचार टी ३५९), वार्तिक (तत्त्वार्थवार्तिक ४३१), माघकाव्य (४६२), शतक (४६५), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (५२४), मूलाचार (५५४), चारित्रसार (५६४, ६६९), समयसार (५८६), समयसार टीका (५८८), क्रियाकाण्ड (६०५, ६५४), सिद्धचक महाकाव्य (६२३), सिद्धान्त सूत्र (षट्खण्डागम ६३८), सस्कृत क्रियाकाण्ड (६५३-६५४), प्राकृत क्रियाकाण्ड (६५४), ये तो मात्र अनगार धर्मामृतकी टीकामे निर्दिष्ट हैं। इनमें कुछ जैनेतर ग्रन्थ भी प्रतीत होते हैं जैसे सन्यास विधि, माघ काव्य, जातकर्म, भारत, रामायण।

मूलाराधनादर्पण नामक टीकामें दो उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हैं—एक ज्ञानार्णवका, दूसरे प्राकृत पच सग्रहका। प्राकृत पंच सग्रह प्राचीन है किन्तु इससे पहले उसके इस नामका निर्देश अन्य किसी भी ग्रन्थमें नही देखा। नामोल्लेख किये बिना जो उद्धरण दिये गये हैं उनसे सम्बद्ध ग्रन्थ भी अनेक हैं यथा—इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, तत्त्वानुशासन, पचास्तिकाय, आप्तस्वरूप, वरागचरित, चन्द्रप्रभचरित, समयसारकलश, नयचक्र, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, योगशास्त्र, सन्मतिसूत्र, भावसग्रह, प्रमाणपरीक्षा, अनर्घराघव नाटक, परमात्मप्रकाश, स्वयम्भूस्तोत्र, तत्त्वार्थसार, समवसरणस्तोत्र, ब्रह्मपुराण, वादन्याय आदि। अनेक श्लोको और गाथाओका तो पता ही नही चलता कि किस ग्रन्थसे ली गयी है। उनकी सख्या बहुत अधिक हैं। उक्त जैन ग्रन्थकारो और ग्रन्थोके सिवाय कुछ जैनेतर गन्थकारोका भी निर्देश मिलता है, यथा—

१. भद्र रुद्रट—अन. टी (पृ १४, २५५) में भद्र रुद्रट तथा उनके काव्यालकारका निर्देश है। साहित्य शास्त्रमें रुद्रट और उनके काव्यालकारका विशेष स्थान है। इसीपर आशाधरजीने अपनी टीका रची थी।

२ वाग्भट—वाग्भटका अष्टागहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ आयुर्वेदका प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। इसमें १२० अध्याय हैं। इसपर आशाधरजीने टीका रची थी। धर्मामृतकी टीकामे इसके अनेक उद्धरण पाये जाते हैं और यदाह वाग्भट (२३५) करके उनका नामोल्लेख भी है।

३ वात्स्यायन—वात्स्यायनका कामसूत्र अति प्रसिद्ध है। पृ २३८ में इनके नामके साथ एक श्लोक उद्धृत हैं जिसमें योनिमें सूक्ष्म जीव बतलाये हैं।

४ मनु—मनु महाराजकी मनुस्मृति अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। पृ २७४ आदिमे मनुस्मृतिके अनेक श्लोक उद्धृत हैं।

५ व्यास—महाभारतके रचयिता व्यास ऋषि प्रसिद्ध है। पृ ३८९ में इनके नामके साथ महाभारतसे एक श्लोक उद्धृत है। इस प्रकार आशाधरजीने अनेक ग्रन्थकारो और ग्रन्थोका निर्देश किया है।

ग्रन्थ और ग्रन्थकारके सम्बन्धमें आवश्यक प्रकाश डालनेके पश्चात् इसके अनुवादके सम्बन्धमें भी दो शब्द लिखना आवश्यक है। स्व. डॉ ए. एन उपाध्येने धर्मामृतके प्रकाशनकी एक योजना बनायी थी। उसीके अनुसार मैंने इसके सम्पादन भारको स्वीकार किया था। योजनामें प्रथम प्रत्येक श्लोकका

शाब्दिक अनुवाद तदनन्तर विशेषार्थ देनेका विधान है। विशेषार्थमे भव्यकुमुदचन्द्रिका टीकामें आगत चर्चाओको विना विस्तारके सक्षेप रूपमें देना आवश्यक है। यदि आशाधरका किसी विपयपर अन्य ग्रन्थकारोसे मतभेद हो तो उसे भी स्पष्ट करना चाहिए तथा आवश्यक प्रमाण उद्धृत करना चाहिए इत्यादि बातें हैं। इन सबका ध्यान रखते हुए ही मैंने यह अनुवाद किया है। प्रारम्भमें ज्ञानदीपिका पजिका प्राप्त नही हुई थी। प्राप्त होनेपर उसका भी उपयोग यथायोग किया गया है। प. आशाधरने अपनी टीकामें आगत विपयके समर्थनमें ग्रन्थान्तरोके इतने अधिक उद्धरण दिये है कि उन सबको समेटना ही कठिन होता है। मतभेद यदि कही हुआ तो उसे भी स्वय उन्होने ही स्पष्ट कर दिया है कि इस विषयमें अमुकका मत ऐसा है। आशाधर किसी भी विपयमें आग्रही नही है। वे तो पूर्व परम्पराके सम्यक् अध्येता और अनुगामी विद्वान् रहे हैं। अस्तु,

खेद है कि डॉ उपाध्ये इसका मुद्रण प्रारम्भ होते ही स्वर्गत हो गये। उनके जैसा साहित्यानुरागी और अध्यवसायी ग्रन्थ-सम्पादक होना कठिन है। उनके प्रति अपनी श्रद्धाजलि अर्पित करता हूँ। श्री दि. जैन अतिशय क्षेत्र श्रीमहावीरजी जयपुरके मन्त्रीजो तथा महावीर भवनके कार्यकर्ता डॉ. कस्तूरचन्दजी काशलीवालके द्वारा हस्तलिखित प्रतियां प्राप्त होती रहती है अत· उनके प्रति भी आभारी हूँ। भट्टारक श्री यश.कीर्ति दि. जैन शास्त्र भण्डार श्री ऋषभदेवके श्री प रामचन्दजी से ज्ञानदीपिकाकी एकमात्र प्रति प्राप्त हो सकी। जिससे उसका प्रकाशन हो सका। अत उनका विशेष रूपसे आभारी हूँ। भारतीय ज्ञानपीठके मन्त्री बा. लक्ष्मीचन्द्रजी, मूर्तिदेवी ग्रन्थमालाके व्यवस्थापक डॉ. गुलाबचन्द्रजीको भी उनके सहयोगके लिए धन्यवाद देता हूँ।

श्री स्याद्वाद महाविद्यालय
भदैनी, वाराणसी
महावीर जयन्ती २५०३

—*कैलाशचन्द्र शास्त्री*

विषय सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

पंचम अध्याय

सप्तम अध्याय

अष्टम अध्याय



प्रथम अध्याय

नम सिद्धेभ्य

प्रणम्य वीर परमावबोधमाशाधरो मुग्धविबोधनाय ।
स्वोपज्ञधर्मामृतधर्मशास्त्रपदानि किंचित् प्रकटीकरोति ॥१॥ ३

तत्र

नास्तिकत्वपरीहार. शिष्टाचारप्रपालनम् ।
पुण्यावाप्तिश्च निर्विघ्नं शास्त्रादावाप्तसस्तवात् ॥ ६

इति मनसिकृत्य ग्रन्थकार परमाराध्य-सिद्धार्हत्परमागमकर्तृव्याख्यादेशना स्वेष्टसिद्धयर्थं क्रमश सप्रश्रयमाश्रयते । तत्रादौ तावदात्मनि परमात्मन परिस्फूर्तिमाशसति—हेत्वित्यादि—

हेतुद्वैतबलादुदीर्णसुदृशः सर्वंसहा. सर्वश- ९
स्त्यक्त्वा संगमजस्रसुश्रुतपराः संयम्य साक्षं मनः ।
ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वयं स्वममलं निर्मूल्य कर्माखिलं,
ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि ॥१॥ १२

हेतुद्वैतबलात्—अन्तरङ्गबहिरङ्गकारणद्वयावष्टम्भात् । तदुक्तम्—
आसन्नभव्यता-कर्महानिसज्ञित्व-शुद्धपरिणामा[1] ।
सम्यक्त्वहेतुरन्तर्बाह्योऽप्युपदेशकादिश्च ॥ १५

'शास्त्रके प्रारम्भमें आप्तका स्तवन करनेसे नास्तिकताका परिहार, शिष्टाचारका पालन और निर्विघ्न पुण्यकी प्राप्ति होती है' ।

मनमें ऐसा विचार कर ग्रन्थकार अपनी इष्टसिद्धिके लिए क्रमसे परम आराध्य सिद्ध परमेष्ठी, अर्हन्त परमेष्ठी, परमागमके कर्ता गणधर, व्याख्याता आचार्य और धर्म-देशनाका विनयपूर्वक आश्रय लेते हैं । उनमे-से सर्व-प्रथम आत्मामें परमात्माके प्रतिभासकी कामना करते है—हेत्वित्यादि ।

अन्तरंग और वहिरंग कारणोंके वलसे सम्यक्त्वको प्राप्त करके, समस्त अन्तरंग व वहिरंग परिग्रहोंको त्यागकर, समस्त उपसर्ग और परीषहोंको सहन करके निरन्तर स्वात्मोन्मुख संवित्तिरूप श्रुतज्ञानमे तत्पर होते हुए मन और इन्द्रियोंका नियमन करके, तृष्णारहित होकर अपने में अपने द्वारा अपनी निर्मल आत्माका ध्यान करके जो समस्त द्रव्यभावकर्मोंको निर्मूलन करते हैं और सुख रूप प्रमुख गुणोंसे सर्वदा शोभित होते हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी मेरी आत्मामे भासमान हों—स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट हों ॥१॥

विशेषार्थ—यद्यपि 'अन्तरंग व वहिरंग कारणोके वलसे' यह पद सम्यग्दर्शनके साथ प्रयुक्त किया गया है किन्तु यह पद आदि दीपक है और इसलिए आगेके समस्त परिग्रहका

---

१ उद्धृतमिद सोमदेव उपासकाध्ययने पष्ठप्रस्तावे ।

एतच्च सङ्गत्यागादावपि यथास्व व्यारयातव्य सकलकार्याणामन्तरङ्गवहिरङ्ग-कारणद्वयाधीनजन्मत्वात् । उदीर्णसुदृश —अप्रतिपातवृत्त्या प्रवृत्तसम्यक्त्वा । सर्वश.—सर्व सविकया मग दशधा वाह्य चतुर्दशधा-
३ भ्यन्तर च । व्यास्यास्यते च द्वयोरपि सगस्तद्ग्रन्थानवहिरित्यत्र । [४।१०५]

सर्वश इत्यत्र शसा त्यागस्य प्राशस्त्य द्योत्यते । तदुक्तम्—

अर्थिभ्यस्तृणवद् विचिन्त्य विपयान् कश्चिच्छ्रियं दत्तवान्
६ पाप तामवितर्पिणी विगणयन्नादात्परस्त्यक्तवान् ।
प्रागेवाकुशला विमृश्य सुभगोऽप्यन्यो न पर्यग्रही-
दित्येते विदितोत्तरोत्तरवरा सर्वोत्तमास्त्यागिनः ॥ [आत्मानु १०२]

त्याग, निरन्तर सम्यक्श्रुतमें तत्परता, इन्द्रिय और मनका नियमन, शुद्धात्माका ध्यान और समस्त कर्मोका निर्मूलन, इनके साथ भी लगा लेना चाहिए, क्योकि समस्तकार्य अन्तरंग और वहिरंग कारणोंसे ही उत्पन्न होते है। उनमे से सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण निकटभव्यता आदि हैं और वाह्य कारण उपदेशक आदि हैं। कहा भी है—निकटभव्यता सम्यक्त्वके प्रतिवन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोका यथायोग्य उपशम, क्षय या क्षयोपशम, उपदेश आदि को ग्रहण कर सकने की योग्यता, संज्ञित्व और परिणामोंकी शुद्धता ये सम्यग्दर्शनके अन्तरंग कारण हैं और उपदेशक आदि वाह्य कारण हैं। इसी तरह परिग्रह त्याग आदिके भी अन्तरंग और वहिरंग कारण जानने चाहिए।

सम्यग्दर्शनमे आगत दर्शन शब्द दृश् धातुसे निष्पन्न हुआ है। यद्यपि दृश् धातुका प्रसिद्ध अर्थ देखना है किन्तु यहाँ श्रद्धान अर्थ लिया गया है क्योंकि धातुओंके अनेक अर्थ होते है। कहा भी है[1]—'विद्वानोने निपात, उपसर्ग और धातुको अनेक अर्थवाला माना है।'

कहा जा सकता है कि प्रसिद्ध अर्थका त्याग क्यों किया ? उसका उत्तर है कि सम्यग्दर्शन मोक्षका कारण है अतः तत्त्वार्थका श्रद्धान आत्माका परिणाम है। वह मोक्षका कारण हो सकता है क्योकि वह भव्य जीवोंके ही सम्भव है। किन्तु देखना तो आँखोका काम है, और आँखे तो चौइन्द्रियसे लेकर सभी संसारी जीवोंके होती है अतः उसे मोक्षका मार्ग नहीं कहा जा सकता। अस्तु,

सम्यग्दर्शनमें जो सम्यक् शब्द है उसका अर्थ प्रशसा आदि है। तत्त्वार्थसूत्रकारने भी सम्यग्दर्शनका लक्षण इसी प्रकार कहा है—तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। दर्शन मोहनीय कर्मका उपशमादि होने पर आत्मामे जो शक्ति विशेष प्रकट होती है जिसके होनेसे ज्ञान सम्यग्ज्ञान कहा जाता है, उस तत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणतिको दर्शन कहते है।

आगममे मुमुक्षुओके लिए सहन करने योग्य परीषहो और उपसर्गोका कथन किया है उन्हें जो धैर्य आदि भावना विशेषके साहाय्यसे सहन करते हैं। अर्थात् अपने-अपने निमित्तोके मिलने पर आये हुए परीषहों और उपसर्गोंसे महासात्त्विक और वज्रकाय होनेके कारण अभिभूत नही होते हैं, तथा समस्त वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहको छोड़ देते है। चेष्टा और उपयोगरूप वृत्तिके द्वारा ममकार और अहंकार (मै और मेरा) से जीव उसमे आसक्त होता है इसलिए परिग्रहको संग कहते है। सर्वशः शब्दमे प्रयुक्त प्रशंसार्थक शस् प्रत्ययसे त्यागकी उत्तमत्ता प्रकट होती है। क्योंकि सभी मुक्तिवादी मतोंने समस्त परिग्रहके त्यागको मुक्तिका अंग अवश्य माना है। उसके विना मुक्ति नही हो सकती। इस उक्त कथन

---

१ निपाताश्चोपसर्गाश्च धातवश्चेति ते त्रय । अनेकार्था स्मृता सद्भि पाठस्तेषां निदर्शनम्]।

एतेन सम्यक्त्वचारित्राराधनाद्वयमासूत्रितं प्रतिपत्तव्यम्। अजस्रसुश्रुतपराः—सततस्वात्मोन्मुखसंवित्तिलक्षणश्रुतज्ञाननिष्ठाः। यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु—

से संक्षेपरुचि शिष्योंकी अपेक्षा यहाँ ग्रन्थकारने सम्यक्त्व आराधना और चारित्र आराधनाको सूचित किया है। सम्यग्ज्ञानका सम्यग्दर्शनके साथ और तपका चारित्रके साथ अविनाभाव होनेसे उन दोनोमे दोनोका अन्तर्भाव हो जाता है।

सम्यग्दर्शनके साथ सम्यक्चारित्रको धारण करनेके पश्चात् साधुको निरन्तर सम्यक् श्रुतज्ञानमे तत्पर रहना चाहिए। अस्पष्ट ऊहापोहको श्रुतज्ञान कहते हैं। जब वह श्रुतज्ञान स्वात्मोन्मुख होता है, आत्मस्वरूपके चिन्तन और मननमें व्यापृत होता है तो वह सम्यक् श्रुत कहा जाता है। श्रुत शब्द 'श्रु' धातुसे बना है जिसका अर्थ है सुनना। किन्तु जैसे दर्शनमे दृश् धातुका देखना अर्थ छोडकर श्रद्धान अर्थ लिया गया है उसी प्रकार श्रुतसे ज्ञानविशेष लिया गया है। अर्थात् श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर जिस आत्मामे श्रुतज्ञानकी शक्ति प्रकट हुई है और साक्षात् या परम्परासे मतिज्ञानपूर्वक होनेसे उसमें अतिशय आ गया है उस आत्माकी अस्पष्ट रूपसे नाना अर्थोंके प्ररूपणमे समर्थ जो ज्ञानविशेषरूप परिणति है उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। कहा भी है—'मतिज्ञान पूर्वक शब्द योजना सहित जो ऊहापोह होता है वह श्रुतज्ञान है। इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो ज्ञान होता है वह मतिज्ञान है। मतिज्ञान पूर्वक जो विशेष ज्ञान होता है वह श्रुतज्ञान है। मतिज्ञान होते ही जो श्रुतज्ञान होता है वह साक्षात् मतिज्ञान पूर्वक है और उस श्रुतज्ञानके बाद जो श्रुतज्ञान होता है वह परम्परा मतिज्ञान पूर्वक है। मतिज्ञानके बिना श्रुतज्ञान नहीं होता और मतिज्ञान होनेपर भी यदि श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम न हो तो भी श्रुतज्ञान नहीं होता। यद्यपि श्रुतज्ञान पाँचो इन्द्रियोंसे उत्पन्न हुए मतिज्ञान पूर्वक होता है तथापि संज्ञी पचेन्द्रिय जीवको होनेवाले श्रुतज्ञानमे शब्दयोजनाकी विशेषता है। शास्त्रीय चिन्तन शब्दको सुनकर चलता है। जैसे—'मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है। ज्ञान और दर्शन उसका लक्षण है। शेष मेरे सब भाव बाह्य है जो कर्मसंयोगसे प्राप्त हुए हैं। जीवने जो दुःख-परम्परा प्राप्त की है उसका मूल यह संयोग ही है अतः समस्त सयोग सम्बन्धको मन वचन कायसे त्यागता हूँ'। इस आगम-वचनको सुननेसे मनमे जो आत्मोन्मुख विचारधारा चलती है वस्तुतः वही सम्यक् श्रुत है उसीमे साधु तत्पर रहते हैं। यहाँ पर शब्दका अर्थ प्रधान है। उससे यह अभिप्राय है कि श्रुत स्वार्थ भी होता है और परार्थ भी है। ज्ञानात्मक श्रुत स्वार्थ है और वचनात्मक श्रुत परार्थ है। सर्वदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामें दत्तचित्त साधु भी कभी कभी अनादिवासनाके वशीभूत होकर शब्दात्मक परार्थ श्रुतमे भी लग जाते है। इस परार्थ श्रुतज्ञानीकी अपेक्षा 'जो सुना' जाये उसे श्रुत कहते हैं। अतः श्रुतका अर्थ शब्द होता है। शोभनीय श्रुतको सुश्रुत कहते हैं अर्थात् शुद्धचिदानन्दस्वरूप आत्माका कथन और तद्विषयक पूछताछ आदि रूपसे मुमुक्षुओके लिए अभिमत जो श्रुत है वही सुश्रुत है यह अर्थ ग्रहण करना चाहिए।

आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसार (३।३२-३३) मे लिखा है कि साधु वही है जिसका मन एकाग्र है और एकाग्र मन वही हो सकता है जिसको आत्मतत्त्वका निश्चय है। यह निश्चय आगमसे होता है। अत आगमके अभ्यासमें लगना ही सर्वोत्कृष्ट है। साधुके लिए स्व-परका ज्ञान तथा परमात्माका ज्ञान आवश्यक है अत उसे ऐसे ही द्रव्यश्रुतका

स्वात्माभिमुखसंवित्तिलक्षणश्रुतचक्षुषाम् ।
पश्यन् पश्यामि देव त्वा केवलज्ञानचक्षुषा ॥

३ यच्छ्रुत यथा—

एगो मे सस्सदो आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे वाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥
६ सजोगमूल जीवेण पत्ता दुक्खपरपरा ।
तम्हा सजोगसवध सव्व तिविहेण वोसरे ॥ [मूलाचार ४८-४९]

इत्यादि । सेय ज्ञानाराधना ।

अभ्यास करना चाहिए जिसमें स्व और परके तथा परमात्माके स्वरूपका वर्णन हो। फिर ध्यानावस्थामे उसीका चिन्तन करना चाहिए। यह चिन्तन ही स्वार्थ श्रुतज्ञान भावना है। ग्रन्थकारने उसीको प्रथम स्थान दिया है तभी तो लिखा है कि सदा स्वार्थश्रुतज्ञान भावनामे संलग्न रहनेवाले साधु भी अनादि वासनाके वशीभूत होकर परार्थ शब्दात्मक श्रुतसे भी उद्यत होते है, दूसरे साधुओसे चर्चा वार्ता करते है—वार्तालाप करते है। यह व्यर्थका वार्तालाप रूप शब्दात्मक श्रुत वस्तुत सु-श्रुत नहीं है। वही शब्दात्मक श्रुत वस्तुत सुश्रुत है जिसके द्वारा शुद्ध आत्म-तत्त्वका प्रतिपादन या पृच्छा वगैरह की जाती है। ऐसा ही सुश्रुत मुमुक्षुओंके लिए इष्ट होता है। कहा भी है—

"वही वोलना चाहिए, वही दूसरोसे पूछना चाहिए, उसीकी इच्छा करनी चाहिए, उसीमें उद्यत होना चाहिए जिसके द्वारा अज्ञानमय रूपको छोड़कर ज्ञानमयरूप प्राप्त होता है।'[1]

पूज्यपाद स्वामीने इष्टोपदेशमें भी कहा है—

वह महत् ज्ञानमय उत्कृष्ट ज्योति अज्ञानकी उच्छेदक है। अत. मुमुक्षुओको गुरुजनोसे उसीके विपयमे पूछना चाहिए, उसीकी कामना करना चाहिए और उसीका अनुभव करना चाहिए। यह साधुओंकी ज्ञानाराधना है।"

ज्ञानाराधनाके पश्चात् ग्रन्थकारने चारित्राराधनाका कथन करते हुए अक्ष और मनके नियमनकी वात कही है। पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (१।१२) मे 'अक्ष्णोति व्याप्नोति जानातीति अक्ष आत्मा' इस व्युत्पत्तिके अनुसार अक्षका अर्थ आत्मा किया है। उसी व्युत्पत्तिको अपनाकर ग्रन्थकारने अक्षका अर्थ इन्द्रिय किया है। यथायोग्य अपने आचरण और वीर्यान्तराय कर्मका क्षयोपशम होनेपर जिनके द्वारा स्पर्शादि विषयोको आत्मा जानता है उन्हे अक्ष कहते हैं। वे अक्ष है लब्धि और उपयोग रूप स्पर्शन आदि भावेन्द्रियाँ। ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशम विशेपको लब्धि कहते है उसके होनेपर ही द्रव्येन्द्रियोकी रचना होती है। उसके निमित्तसे जो आत्माका परिणाम होता है वह उपयोग है। ये लब्धि और उपयोग दोनों भावेन्द्रिय हैं।

नोइन्द्रियावरण और वीर्यान्तरायका क्षयोपशम होनेपर द्रव्यमनसे उपकृत आत्मा जिसके द्वारा मूर्त और अमूर्त वस्तुको जानता है, गुण दोपका विचार, स्मरण आदिका

---

१ तद्ब्रूयात्तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् । येनाविद्यामय रूप त्यक्त्वा विद्यामय व्रजेत् ॥
२ अविद्याभिदुर ज्योति परं ज्ञानमय महत् । तत्प्रष्टव्य तदेष्टव्य तद् द्रष्टव्य मुमुक्षुभि ॥

संयम्य—तत्तद्विषयान्निवर्त्य । सैषा तप-आराधना । 'इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठान तपः' इत्यभिधानात् । शमिनः—ध्यार्य्पि (ध्येयेऽपि) वितृष्णा. सन्त । अमल—द्रव्य-भावकर्मनिर्मुक्तम् । सोऽय ध्यात्वेत्यादिना निश्चयमोक्षमार्ग । उक्त च— ३

'रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्मि ।
तम्हा तत्तियमइओ हदि (होदि) हु मोक्खस्स कारण आदा ॥'

[द्रव्यस ४० गा] ६

निर्मूल्य– मूलादपि निरस्य । कर्म—ज्ञानावरणादिक आत्मप्रदेशपरिस्पन्दरूप वा । शर्मप्रगुणै — शर्म सुख तदेव प्रकृष्ट सर्वेषामभीष्टतमत्वात्, गुणो धर्मो येषा ते तथोक्ता परमानन्दामृतखचिता इत्यर्थ । चकासति—नित्य दीप्यन्ते, नित्यप्रवृत्तस्य वर्तमानस्य विवक्षितत्वात् । एवमुत्तरत्रापि । गुणै. सम्यक्त्वादिभि । ९ तद्यथा—

प्रणिधान रूपसे विकल्प करता है वह भावमन है। कहा भी है[1]—आत्माके गुणदोषविचार, स्मरण आदि प्रणिधानको भावमन कहते है। और गुणदोपका विचार तथा स्मरणादि प्रणिधानके अभिमुख आत्माके अनुग्राहक पुद्गलोके समूहको द्रव्यमन कहते हैं।

यह तप आराधना है क्योंकि इन्द्रिय और मनके द्वारा नियमके अनुष्ठानका नाम तप है। ऐसा आगममे कहा है। यह व्यवहार मोक्षमार्ग है।

आगे 'ध्यात्वा' इत्यादि पदोंके द्वारा ग्रन्थकारने निश्चय मोक्षमार्गका कथन किया है। एक ही विपयमे मनके नियमनको ध्यान कहते है। जब चिन्ता के अनेक विपय होते है तो वह चंचल रहती है, उसको सब ओर से हटाकर एक ही विपयमें संलग्न करना ध्यान है। इस ध्यानका विपय द्रव्यकर्म और भावकर्मसे रहित तथा मिथ्याअभिनिवेश, सशय विपर्यय अनध्यवसायमे रहित ज्ञानस्वरूप या परम औदासीन्यरूप निर्मल आत्मा होती है। ऐसी आत्माका ध्यान करनेवाले आनन्दसे ओतप्रोत शुद्ध स्वात्मानुभूतिके कारण अत्यन्त तृप्त होते हैं। ध्येयमे भी उनकी वितृष्णा रहती है। [2]कहा भी है—अधिक कहनेसे क्या? तात्त्विक रूपसे श्रद्धान करके तथा जानकर ध्येयमे भी मध्यस्थभाव धारण करके इस समस्त तत्त्वका ध्यान करना चाहिए। यह निश्चय मोक्षमार्ग है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है—आत्माके सिवाय अन्य द्रव्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रय नहीं रहता। इसलिए रत्नत्रयमय आत्मा ही मोक्षका कारण है।

मोक्षकी प्राप्ति कर्मोंका निर्मूलन किये विना नही होती। मिथ्यादर्शन आदिसे परतन्त्र आत्माके द्वारा जो किया जाता है—बाँधा जाता है उसे कर्म कहते हैं। आत्माकी परतन्त्रतामे निमित्त ज्ञानावरण आदि अथवा आत्मप्रदेशोंके हलनचलनरूप कर्मको कर्म कहते है। समस्त द्रव्यकर्म, भावकर्म या घातिकर्म और अघातिकर्मका क्षय करके अनादि मिथ्यादृष्टि या सादिमिथ्यादृष्टि भव्यजीव अनन्तज्ञान आदि जिन आठ गुणोसे सदा शोभित होते है उनमे सबसे उत्कृष्ट गुण सुख है क्योंकि सभी उसे चाहते है। मोहनीय कर्मके क्षयसे परम सम्यक्त्व

---

१ गुणदोपविचारस्मरणादिप्रणिधानमात्मनो भावमन. ।
तदभिमुखस्यैवानुग्राही पुद्गलोच्चयो द्रव्यमन. ॥—इष्टोप ४९ ।

२. किमत्र बहुनोक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वत ।
ध्येय समस्तमप्येतन्माध्यस्थ तत्र बिभ्रता ॥—तत्त्वानु. १३८ श्लोक ।

'सम्मत्तणाण दसण वीरिय सुहुम तहेव ओगहण ।
अगुरुगलहुगमवाह अट्ठ गुणा होंति सिद्धाण ॥' [भावसग्रह ६९४ गा]

भान्तु—परिस्फुरन्तु स्वसवेदनसुव्यक्ता सन्त्वित्यर्थ । सिद्धा —सिद्धि स्वात्मोपलब्धिरेषामतिशयेनास्तीति । अर्श आदित्वाद । त एते नोआगमभावसिद्धा द्रव्यभावकर्मनिर्मुक्तत्वात् । तथा चोक्तम्—'ससाराभावे पुस स्वात्मलाभो मोक्ष' इति । मयि ग्रन्थकर्तर्यात्मनि ॥१॥

या परम सुख प्राप्त होता है, ज्ञानावरणके क्षयसे अनन्तज्ञान और दर्शनावरणके क्षयसे अनन्तदर्शन गुण प्रकट होते हैं। अन्तरायकर्मके क्षयसे अनन्तवीर्य प्रकट होता है, वेदनीयकर्मके क्षयसे अव्यावाधत्व गुण या इन्द्रियजन्य सुखका अभाव होता है, आयुकर्मके क्षयसे परमसौख्य की प्राप्ति या जन्समरणका विनाश होता है। नामकर्मके क्षयसे परम अवगाहना या अमूर्तत्व प्रकट होता है। गोत्रकर्मके क्षयसे अगुरुलघुत्व या दोनो कुलोका अभाव प्राप्त होता है। इस तरह जिन्होने स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त कर लिया है वे सिद्ध सर्वप्रथम ग्रन्थकारकी आत्मामे और पश्चात् उसके पाठकोकी आत्मामे स्वसंवेदनके द्वारा सुस्पष्ट होवे यह ग्रन्थकारकी भावना है।

साराश यह है कि अन्तरंग व वहिरंग कारणके बलसे सम्यग्दर्शनको प्राप्त करके फिर समस्त परिग्रहको त्याग कर सदा सम्यक् श्रुतज्ञानकी भावनामें तत्पर रहते हुए समस्त इन्द्रियो और मनको अपने-अपने विषयोसे हटाकर अपनी शुद्ध आत्माको शुद्ध आत्मामे स्थिर करके उसमे भी तृष्णारहित होकर, घातिकर्मोंको नष्ट करके स्वाभाविक निश्चल चैतन्य स्वरूप होकर, पुन. अघातिकर्मोंको भी नष्ट करके लोकके अग्रभागमें स्थिर होकर जो सदा केवलज्ञान, केवलदर्शन, सम्यक्त्व और सिद्धत्वभावसे शोभित होते है वे भगवान् सिद्ध परमेष्ठी नोआगमभाव रूपसे मेरेमे स्वात्माका दर्शन देवे। अर्थात् मैं उस सिद्ध स्वरूपको प्राप्त कर सकूँ।

अर्हन्त आदिके गुणोमे सभी प्रकारका अनुराग शुभ परिणाम रूप होनेसे अशुभ कर्मप्रकृतियोंमे रसकी अधिकताका उन्मूलन करके वाछित अर्थको प्राप्त करनेमे सहायक होता है इसलिए विचारशील पूर्वाचार्य अपने ज्ञानसम्बन्धी दानान्तराय कर्मको और श्रोताओके ज्ञानसम्बन्धी लाभान्तराय कर्मको दूर करनेके लिए अपने-अपने शास्त्रके प्रारम्भसे अर्हन्त आदि समस्त पञ्चपरमेष्ठियोका या उनमेसे किसी एकका अथवा उनके गुणोका इच्छानुसार संस्तवनरूप मंगल करते हुए पाये जाते हैं। इस शास्त्रके प्रारम्भमे भी ग्रन्थकारने अपने और दूसरोके विघ्नोकी शान्तिके लिए सर्वप्रथम सिद्धोंका, उनके पश्चात् अर्हन्त आदिका विनयकर्म नान्दीमंगलरूप से किया है।

तथा, जो जिस गुणका प्रार्थी होता है वह उस गुणवाले का आश्रय लेता है इस नियमके अनुसार चूँकि ग्रन्थकार सिद्ध परमेष्ठीके गुणोके प्रार्थी है अत. प्रथम सिद्धोंकी वन्दना करते है तथा उनकी प्राप्तिके उपायोंका उपदेश करनेवालोसे सबसे ज्येष्ठ अर्हन्तपरमेष्ठी होते हैं अत. सिद्धोके पश्चात् अर्हन्त आदिका भी स्मरण करते है। कहा[1] भी है—

---

१. अभिमतफलसिद्धेरभ्युपाय सुबोध प्रभवति स च शास्त्रात्तस्य चोत्पत्तिराप्तात्।
इति भवति स पूज्यस्तत्प्रसादप्रबुद्धैर्न हि कृतमुपकार साधवो विस्मरन्ति ॥'
—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे उद्धृत

अथैव तद्‌गुणग्रामस्य सहसा प्राप्त्यार्थितया प्रथम सिद्धानाराध्य इदानी तदुपायोपदेशकज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठतया त्रिजगज्ज्येष्ठमर्हद्भट्टारकमखिलजगदेकशरण प्रपत्तुमना 'श्रेयोमार्गानभिज्ञान्' इत्याद्याह—

श्रेयोमर्गानभिज्ञानिह भवगहने जाज्वलद्दु खदाव- ३
स्कन्धे चङ्क्रम्यमाणानतिचकितमिमानुद्धरेयं वराकान् ।
इत्यारोहत्परानुग्रहरसविलसद्भावनोपात्तपुण्य-
प्रक्रान्तैरेव वाक्यै शिवपथमुचितान् शास्ति योऽर्हन् स नोऽव्यात् ॥२॥ ६

'इष्ट फलकी सिद्धिका उपाय सम्यग्ज्ञानसे प्राप्त होता है, सम्यग्ज्ञान शास्त्रसे प्राप्त होता है, शास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है इसलिए आप्तके प्रसादसे प्रबुद्ध हुए लोगोके द्वारा आप्त पूज्य होता है क्योंकि साधुजन किये हुए उपकारको भूलते नहीं है ।'

इसके सिवाय, शीघ्र मोक्षके इच्छुकको परमार्थसे मुक्तात्माओकी ही भक्ति करनी चाहिए, यह उपदेश देनेके लिए ग्रन्थकारने प्रथम सिद्धोंकी आराधना की है । कहा[1] भी है—

संयम और तपसे संयुक्त होनेपर भी जिसकी बुद्धिका रुझान नवपदार्थ और तीर्थंकर की ओर हो तथा जो सूत्रोंमे रुचि रखता है उसका निर्वाण बहुत दूर है । इसलिए मोक्षार्थी जीव परिग्रह और ममत्वको छोड़कर सिद्धोंमे भक्ति करता है उससे वह निर्वाणको प्राप्त करता है । अर्थात् शुद्ध आत्मद्रव्यमें विश्रान्ति ही परमार्थसे सिद्धभक्ति है उसीसे निर्वाणपद प्राप्त होता है ।

इस प्रकार सिद्धोंके गुणोकी प्राप्तिका इच्छुक होनेसे प्रथम सिद्धोंकी आराधना करके ग्रन्थकार आगे उसके उपायोंका उपदेश करनेवालोंमें ज्येष्ठ होनेसे तीनों लोकोंमें ज्येष्ठ, समस्त जगत्‌के एक मात्र शरणभूत अर्हन्त भट्टारककी शरण प्राप्त करनेकी भावनासे उनका स्मरण करते हैं—

—इस भवरूपी भीषण वनोमें दु खरूपी दावानल बड़े जोरसे जल रही है और श्रेयोमार्गसे अनजान ये बेचारे प्राणी अत्यन्त भयभीत होकर इधर-उधर भटक रहे हैं । मै इनका उद्धार करूँ इस बढते हुए परोपकारके रससे विशेषरूपसे शोभित भावनासे संचित पुण्यसे उत्पन्न हुए वचनोके द्वारा जो उसके योग्य प्राणियोंको मोक्षमार्गका उपदेश देते है वे अर्हन्त-जिन हमारी रक्षा करे ॥२॥

विशेषार्थ—जिसमें जीव चार गतियोमें भ्रमण करते रहते है तथा प्रतिसमय उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यरूप वृत्तिका आलम्बन करते है उसे भव या संसार कहते है । यह भव जो हमारे सम्मुख विद्यमान है नाना दु खोका कारण होनेसे भीषण वनके तुल्य है । इसमे होने वाले शारीरिक मानसिक आगन्तुक तथा सहज दुःख दावानलके समान है । जैसे वनमे लगी आग वनके प्राणियोंको शारीरिक और मानसिक कष्टके साथ अन्तमे उनका विनाश ही कर देती है वैसे ही ये संसारके दु.ख भी अन्तमें विनाशक ही होते है । यह दु ख ज्वाला बडी तेजीसे रह-रहकर प्रज्वलित होती है इससे भयभीत होकर भी बेचारे प्राणी इधर-उधर भटकते हुए उसीकी ओर चले जाते है क्योकि उन्हें श्रेयोमार्गका ज्ञान नहीं है । श्रेय है मोक्ष,

---

१ सपयत्थ तित्थयर अधिगतबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स । दूरतर णिव्वाण सजमतवसपओत्तस्स ॥
तम्हा णिव्वुदिकामो णिस्सगो णिम्ममो य भविय पुणो । सिद्धेसु कुणदि भत्ती णिव्वाण तेण पप्पोदी ॥
—पञ्चास्तिकाय १७०–१६३

श्रेयोमार्गं—मुक्तिपथं प्रशस्तमार्गंच। जाज्वलन्—देदीप्यमानः। दावः—वनाग्निः। चंक्रम्यमाणान्—कुटिलं क्रामतः। दुःखदावाग्निमुखं गच्छत इति भावः। उद्धरेयम्—तद्दुःखगहननिस्सरणोपायोपदेशेन उपकुर्यामहम्। अर्हे सप्तमी। सैषा तीर्थंकरत्वभावना। तथा चोक्तमार्षे गर्भान्वयक्रियाप्रक्रमे—

'मौनाध्ययनवृत्तत्वं तीर्थंकृत्त्वस्य भावना।
गुरुस्थानाभ्युपगमो गणोपग्रहण तथा॥ इति। [महापु. ३८।५८]

आरोहदित्यादि। आरोहन् क्षणे क्षणे वर्धमानः, परेषामनुग्राह्य देहिनामनुग्रहः उपकारस्तस्य रसप्रकर्षस्तद्भवहर्षो वा, तेन विलसन्त्यो विशेषेणानन्यसामान्यतया द्योतमाना भावना परमतीर्थंकरत्वाख्यनामकारणभूता षोडशदर्शनविशुद्ध्यादिनमस्कारसंस्काराः ताभिरुपात्तमुपार्जितं पुण्यं तीर्थंकरत्वाख्यं सुकृतविशेषः तेन केवलज्ञानसन्निधानलब्धोदयेन प्रक्रान्तं प्रारब्धं, तत्प्रक्रान्तत्वेन न विवक्षादिजनितं, वीतरागे भगवति तद्विरोधात्। तथा चोक्तम्—

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितोष्ठद्वयं,
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥ [समवसरणस्तोत्र ३०] इति।

संसारके बन्धनसे छूटकर जीव जो स्वरूप लाभ करता है उसीको श्रेय या मोक्ष कहते हैं। उसका मार्ग या प्राप्तिका उपाय व्यवहारनयसे तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है किन्तु निश्चयनयसे रत्नत्रयमय स्वात्मा ही मोक्षका मार्ग है। इससे या तो वे बिलकुल ही अनजान हैं या निःसंशय रूपसे नहीं जानते अथवा व्यवहार और निश्चय रूपसे पूरी तरह नहीं जानते। उन्हें देखकर जिनके मनमें यह भावना उठती है कि नाना प्रकारके दुःखोंसे पीड़ित इन तीनों लोकोंके प्राणियोंका मैं उद्धार करूँ, उन्हें इन दुःखोंसे छूटनेका उपाय बतलाऊँ। यह भावना ही मुख्यरूपसे अपायविचय नामक धर्मध्यानरूप तीर्थंकर भावना है। महापुराणमें गर्भान्वय क्रियाके वर्णनमें तीर्थंकर भावनाका उल्लेख है।

"मैं एक साथ तीनों लोकोंका उपकार करनेमें समर्थ बनूँ" इस प्रकारकी परम करुणासे अनुरंजित अन्तश्चैतन्य परिणाम प्रतिसमय वर्धमान होनेसे परोपकारका जब आधिक्य होता है उससे दर्शनविशुद्धि आदि १६ भावनाएँ होती हैं जो परमपुण्य तीर्थंकर नामकर्मके बन्धमें कारण होती है। ये भावनाएँ सभीके नहीं होतीं, इनका होना दुर्लभ है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध करनेके पश्चात् केवलज्ञानकी प्राप्ति होनेपर बिना इच्छाके भगवान् अर्हन्तकी वाणी खिरती है। चूँकि वे वीतराग होते हैं अतः वहाँ विवक्षा—बोलनेकी इच्छा नहीं होती। कहा भी है—'जो समस्त प्राणियोंके लिए हितकर है, वर्णसहित नहीं है, जिसके बोलते समय दोनो ओष्ठ नहीं चलते, जो इच्छा पूर्वक नहीं हैं, न दोषोंसे मलिन हैं, जिनका क्रम श्वाससे रुद्ध नहीं होता, जिन वचनोंको पारस्परिक वैर भाव त्यागकर प्रशान्त पशु गणोंके साथ सभी श्रोता सुनते हैं, समस्त विपत्तियोंको नष्ट कर देनेवाले सर्वज्ञ देवके अपूर्व वचन हमारी रक्षा करे।'[1] आचार्य जिनसेन स्वामीने अपने महापुराण (२३।६९-७२) में लिखा है कि भगवान्के मुखरूपी कमलसे मेघोंकी गर्जनाका अनुकरण करनेवाली दिव्यध्वनि निकल रही थी। यद्यपि वह एक प्रकार की थी तथापि सर्वभाषारूप परिणमन करती थी।

---

१ समवसरण स्तोत्र ३०।

वाक्यै.—दिव्यध्वनिभि' । उक्तं च—

'पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे मज्झिमाए रत्तीए ।
छच्छघडियाणिग्गय दिव्वज्झुणी कहइ सुत्तत्थे ॥'

उचितान्—योग्यान् सभासमायातभव्यानित्यर्थ ।—अर्हन्—अरिहननात् रजोरहस्यहरणाच्च परिप्राप्तानन्तचतुष्टयस्वरूप सन् इन्द्रादिनिर्मितामतिशयवती पूजामर्हतीति निरुक्तिविषय. ॥२॥

अथेदानीमर्हद्भट्टारकोपदिष्टार्थसमयग्रन्थकत्वेन सकलजगदुपकारकान् गणधरदेवादीन् मनसि निधत्ते—

सूत्रग्रथो गणधरानभिन्नदशपूर्विणः ।
प्रत्येकबुद्धानध्येमि श्रुतकेवलिनस्तथा ॥३॥

सूत्रग्रथ —सूत्रमर्हद्भासितमर्थसमय ग्रथ्नन्ति अङ्गपूर्वप्रकीर्णकरूपेण रचयन्तीत्येतान् । गणधरान्—गणान् द्वादश यत्यादीन् जिनेन्द्रसभ्यान् धारयन्ति मिथ्यादर्शनादौ (मिथ्यादर्शनादेर्विनिवृत्य सम्यग्दर्शनादौ) स्थाप-

---

आगे आचार्यने लिखा है कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवोंके द्वारा की जाती है किन्तु ऐसा कहना मिथ्या है क्योकि ऐसा कहनेमें भगवान्के गुणका घात होता है। इसके सिवाय दिव्यध्वनि साक्षर होती है क्योंकि लोकमे अक्षरोंके समूहके विना अर्थका ज्ञान नहीं होता।

यह दिव्य ध्वनि प्रातः, मध्याह्न, सायं और रात्रिके मध्यमें छह छह घड़ी तक अर्थात् एक वारमे एक घण्टा ४४ मिनिट तक खिरती है, ऐसा आगममें कथन है।

अर्हन्त परमेष्ठी इस दिव्य ध्वनिके द्वारा मोक्षमार्गकी जिज्ञासासे समवसरणमें समागत भव्य जीवोंको उपदेश देते हैं। कहा भी[1] है—दर्शनविशुद्धि आदि भावनाओसे बाँधे गये तीर्थंकर पुण्य कर्मके उदयसे भगवान् तीर्थंकर अर्हन्त जिज्ञासु प्राणियोंको इष्ट वस्तुको देनेवाले और संसारकी पीड़ाको हरनेवाले तीर्थका उपदेश देते हैं। अरि—मोहनीय कर्मका हनन करनेसे अथवा ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय कर्मका घात करनेसे उन्हें अरिहन्त कहते हैं और उक्त कर्मोंको नष्ट करके अनन्तचतुष्टय स्वरूपको प्राप्त कर लेनेसे इन्द्रादिके द्वारा निर्मित अतिशय युक्त पूजाके पात्र होनेसे अर्हन्त कहते हैं। वे अर्हन्त हमारी रक्षा करें—अभ्युदय और मोक्षसे भ्रष्ट करनेवाली बुराइयोंसे हमें बचावे ॥२॥

आगे अर्हन्त भगवान्के द्वारा उपदिष्ट अर्थको शास्त्रमे निवद्ध करनेके द्वारा सकल जगत्के उपकारक गणधर देव आदिका स्मरण करते हैं—

सूत्रोकी रचना करनेवाले गणधरों, अभिन्न दसपूर्वियो, प्रत्येक बुद्धो और श्रुतकेवलियोंका मै ध्यान करता हूँ ॥३॥

विशेषार्थ—जिनेन्द्रदेवके समवसरणमे आये हुए मुनि आदि बारह गणोंको जो धारण करते हैं, उन्हें मिथ्यात्व आदिसे हटाकर सम्यग्दर्शन आदिमें स्थापित करते हैं उन्हें गणधर या धर्माचार्य कहते है। वे अर्हन्त भगवान्के द्वारा उपदिष्ट अर्थकी बारह अंगों और चौदह पूर्वोंमे रचना करते हैं। दशपूर्वी भिन्न और अभिन्नके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमेसे जो ग्यारह अंगोंको पढकर पुनः परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्व और चूलिका इन पाँच अधिकारोंमे निबद्ध बारहवें दृष्टिवाद अंगको पढते समय जब उत्पादपूर्वसे लेकर दसवे

---

१ दृग्विशुद्धयाद्युत्थतीर्थकृत्वपुण्योदयात् स हि ।
शास्त्यायुष्मान् सतोऽर्तिघ्न जिज्ञासूंस्तीर्थमिष्टदम् ॥

यन्तीत्येतान् धर्माचार्यान् । अभिन्नदशपूर्विणः—अभिन्ना विद्यानुवादपाठे समागताभिर्महाविद्याभिर-प्रच्यावितचारित्रास्ते न ते दशपूर्विणश्च [illegible] । प्रत्येक-
३ बुद्धान्—एकं केवलं परोपदेशनिरपेक्षं श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमविशेषं प्रतीत्य बुद्धान् संप्राप्तज्ञानातिशयान् । श्रुतकेवलिनः—समस्तश्रुतधारिणः ॥३॥

अधुना जिनागमव्याख्यातृनारातीयसूरीनभिष्टौति—

६ ग्रन्थार्थतो गुरुपरम्परया यथावच्छ्रुत्वावधार्य भवभीरुतया विनेयान् ।
ये ग्राहयन्त्युभयनीतिबलेन सूत्रं रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान् ॥४॥

ग्राहयन्ति—निश्चाययन्ति, उभयनीतिबलेन—उभयो नययोः नीतिः—[illegible],
९ तदवष्टम्भेन गणिनः—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यप्रभृतीन् [illegible] ॥४॥

पूर्व विद्यानुवादको पढते हैं तो विद्यानुवादके समाप्त होनेपर सात सौ लघुविद्याओंके साथ पाँच सौ महाविद्याएँ उपस्थित होकर पूछती हैं—भगवन् ! क्या आज्ञा है ? ऐसा पूछने पर जो उनके लोभमें आ जाता है वह भिन्न दसपूर्वी होता है। किन्तु जो उनके लोभमें नहीं आता और कर्मक्षयका ही अभिलाषी रहता है वह अभिन्न दसपूर्वी है। परोपदेशसे निरपेक्ष जो श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशम विशेषसे स्वयं ज्ञानातिशयको प्राप्त होते हैं उन्हें प्रत्येकबुद्ध कहते हैं। समस्त श्रुतके धारीको श्रुतकेवली कहते हैं। ये श्रुतज्ञानके द्वारा सर्वज्ञ केवलज्ञानीके सदृश होते हैं इसलिए उन्हें श्रुतकेवली कहते हैं। आचार्य समन्तभद्रने अपने आप्तमीमांसा-में श्रुतज्ञान और केवलज्ञानको सर्वतत्त्वप्रकाशक कहा है। अन्तर यह है कि श्रुतज्ञान परोक्ष होता है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष होता है। ये सब—गणधर, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और श्रुतकेवली ग्रन्थकार होते हैं, भगवान्‌की वाणीके आधारपर ग्रन्थोंकी रचना करते हैं, इसीसे ग्रन्थकार उनके ग्रन्थकारता और गणधरपना आदि गुणोंका प्रार्थी होकर उनका ध्यान करता है तथा उन्हें अपना ध्येय-ध्यानका विषय—निश्चय करके ध्यानमें प्रवृत्त होता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आगममें (मूलाराधना गा. ३४, मूलाचार ५।८०) गणधर, प्रत्येकबुद्ध, अभिन्नदसपूर्वी और श्रुतकेवलीके द्वारा रचितको ही सूत्र कहा है। इसीको दृष्टिमें रखकर आशाधरजीने सूत्र ग्रन्थके रूपमें उनका स्मरण किया है। यहाँ सूत्रकारपना और गणधरपना या प्रत्येकबुद्धपना या श्रुतकेवलीपना दोनों ही वरणीय हैं। अतः इन गुणों-की प्राप्ति की इच्छासे ध्यान करनेवालेके लिए वे ध्यान करनेके योग्य हैं ऐसा निश्चय होनेसे ही उनके ध्यानमें ध्याताकी प्रवृत्ति होती है ॥३॥

आगे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्योंका स्तवन करते हैं—

जो गुरुपरम्परासे ग्रन्थ, अर्थ और उभयरूपसे सूत्रको सम्यक् रीतिसे सुनकर और अवधारण करके संसारसे भयभीत शिष्योंको दोनों नयोंके बलसे ग्रहण कराते हैं, रत्नत्रयरूप परिणत उन आचार्योंका मैं स्तवन करता हूँ ॥४॥

विशेषार्थ—यहाँ, ग्रन्थकार श्रीकुन्दकुन्दाचार्य आदि धर्माचार्योंकी वन्दना करते हैं। 'उस उस जातिमें जो उत्कृष्ट होता है उसे उसका रत्न कहा जाता है, इस कथनके अनुसार जीवके परिणामोंके मध्यमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप परिणाम उत्कृष्ट हैं क्योंकि वे सांसारिक अभ्युदय और मोक्षके प्रदाता हैं इसलिए उन्हें रत्नत्रय कहते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द आदि धर्माचार्य रत्नत्रयके धारी थे—उनका रत्नत्रयके साथ तादात्म्य सम्बन्ध था अतः वे रत्नत्रय रूप परिणत थे। तथा उन्होंने तीर्थंकर, गणधर आदि की शिष्य-

अथ धर्मोपदेशमभिनन्दति—

धर्मं केऽपि विदन्ति तत्र धुनते सन्देहमन्येऽपरे,
तद्भ्रान्तेरपयन्ति सुष्ठु तमुशन्त्यन्येऽनुतिष्ठन्ति वा । ३
श्रोतारो यदनुग्रहादहरहर्वक्ता तु रुन्धन्नघं,
विष्वग्निर्जरयंश्च नन्दति शुभैः सा नन्दताद्देशना ॥५॥

विदन्ति—निश्चिन्वन्ति, उशन्ति—कामयन्ते, रुन्धन्नघं, विष्वक्—समन्तादागामिपातक निवार- ६

प्रशिष्य रूप चली आती परम्परा से सूत्रको सुना और अवधारण किया था। सत्य सयुक्तिक प्रवचनको सूत्र कहते हैं। इस समय यहाँ पर गणधर आदिके द्वारा रचित अंगप्रविष्टका कुछ अंश और आरातीय आचार्योंके द्वारा रचित अंगबाह्य, जो कि कालिक उत्कालिक भेदसे अनेक प्रकार है 'सूत्र' शब्दसे ग्रहण किया गया है। जिसका स्वाध्याय काल नियत होता है उसे कालिक श्रुत कहते हैं और जिसका स्वाध्यायकाल नियत नहीं होता उसे उत्कालिक कहते हैं। उस सूत्रको वे आचार्य ग्रन्थ रूपसे, अर्थरूपसे और उभयरूपसे सुनते है। विवक्षित अर्थका प्रतिपादन करनेमे समर्थ जो सूत्र, प्रकरण या आह्निक आदि रूपसे वचन रचना की जाती है उसे ग्रन्थ कहते है और उसका जो अभिप्राय होता है उसे अर्थ कहते है। वे धर्माचार्य कभी ग्रन्थ रूपसे, कभी अर्थ रूपसे और कभी ग्रन्थ और अर्थ दोनों रूपसे सूत्रको ठीक-ठीक सुनकर तथा उसकी जितनी विशेषताएँ है उन सबको ऐसा अवधारण करते हैं कि कालान्तरमे भी उन्हें भूले नहीं। तभी तो वे संसारसे भयभीत शिष्योंको उसका यथावत् ज्ञान कराते हैं। यथावत् ज्ञान करानेके लिए वे नयबलका आश्रय लेते है। आगमकी भाषामे उन्हें द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय कहते हैं और अध्यात्मकी भाषामे निश्चयनय और व्यवहार नय कहते हैं। श्रुतज्ञान से जाने गये पदार्थके एकदेशको जाननेवाले ज्ञान या उसके वचनको नय कहते हैं। नय श्रुतज्ञानके ही भेद है और नयोंके मूल भेद दो है। शेष सब नय उन्हींके भेद-प्रभेद हैं। दोनों ही नयोसे वस्तु तत्त्वका निर्णय करना उचित है यही उनका बल है। उसीके कारण सर्वथा एकान्तवादियोंके द्वारा उस निर्णीत तत्त्वमे बाधा नही दी जा सकती। ऐसे जिनागमके व्याख्याता आरातीय आचार्य वन्दनीय हैं। प्रत्येक आचार्य आरातीय नहीं होते। उक्त विशेषताओंसे युक्त आचार्य ही आरातीय कहलाते हैं ॥४॥

इस प्रकार सिद्ध भगवान्के स्वरूपका तथा उसकी प्राप्तिके उपायका कथन करनेमे समर्थ परमागमके उपदेष्टा, रचयिता और व्याख्याता होनेसे जिन्होंने अत्यन्त महान् गुरु संज्ञाको प्राप्त किया है, उन अर्हन्त भट्टारक, गणधर, श्रुतकेवली, अभिन्नदसपूर्वी, प्रत्येक बुद्ध और इस युगके धर्माचार्योंकी स्तुति करके, अब वक्ता और श्रोताओंका कल्याण करनेवाले उनके धर्मोपदेश का स्तवन करते हैं—

जिस देशना—धर्मोपदेशके अनुग्रहसे प्रतिदिन अनेक श्रोतागण धर्मको ठीक रीतिसे जानते हैं, अनेक श्रोतागण अपने सन्देहको दूर करते हैं, अनेक अन्य श्रोतागण धर्मविषयक भ्रान्तिसे बचते हैं, कुछ अन्य श्रोतागण धर्म पर अपनी श्रद्धाको दृढ करते हैं तथा कुछ अन्य श्रोतागण धर्मका पालन करते हैं, और जिस देशनाके अनुग्रहसे वक्ता प्रतिदिन अपने शुभ-परिणामोंसे आगामी पापबन्धको चहुँ ओरसे रोकता है और पूर्व उपार्जित कर्मकी निर्जरा करता हुआ, आनन्दित होता है वह देशना फूले-फले—उसकी खूब वृद्धि हो ॥५॥

विशेषार्थ—जिसके द्वारा जीव नरक आदि गतियोंसे निवृत्त होकर सुगतिमें रहते है

यन्तित्यर्थः । निर्जरयन्—पुराजितपातकमेकदेशेन क्षपयन् । शुभैः—अपूर्वपुण्यैः पूर्वार्जितपुण्यपवित्रम-कल्याणैश्च ॥५॥

३ अथैव भगवद्सिद्धादिगुणगणस्तवनलक्षण मुख्यमङ्गलमभिधाय इदानी प्रमाणगर्भमभिधेयव्यपदेश-मुखप्रकाशितव्यपदेशं शास्त्रविशेषं कर्तव्यतया प्रतिजानीते—

या जो आत्माको सुगतिमें धरता है—ले जाता है उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिपरक अर्थ है जो व्यावहारिक धर्मका सूचक है। यथार्थमें तो जो जीवोंको संसारके दुखोंसे छुडाकर उन्हें उत्तम सुख रूप मोक्ष गतिमें ले जाता है वही धर्म[1] है। वह धर्म रत्नत्रयस्वरूप है, अथवा मोह और क्षोभसे रहित आत्मपरिणाम[2] स्वरूप है, अथवा[3] वस्तुका यथार्थस्वभाव ही उसका धर्म है या उत्तम क्षमा आदि दसलक्षण रूप है। ऐसे धर्मके उपदेश-को देशना कहते है। देशनाको सुनकर अपने क्षयोपशमके अनुसार श्रोतामे जो अतिशयका आधान होता है यही उस देशनाका अनुग्रह या उपकार है। श्रोता अनेक प्रकारके होते हैं। जिन भव्य श्रोताओके तीव्र ज्ञानावरण कर्मका उदय होता है वे धर्मोपदेश सुनकर धर्मका यही स्वरूप है या धर्म ऐसा ही होता है ऐसा निश्चय करते हैं इस तरह उनका धर्मविषयक अज्ञान दूर होता है। जिन श्रोताओके ज्ञानावरण कर्मका मन्द उदय होता है वे देशनाको सुनकर धर्मविषयक सन्देहको—यही धर्म है या धर्मका अन्य स्वरूप है, धर्म इसी प्रकार होता है या अन्य प्रकार होता है—दूर करते हैं। जिनके ज्ञानावरण कर्मका मध्यम उदय होता है ऐसे श्रोता उपदेशको सुनकर धर्मविषयक अपनी भ्रान्तिसे—धर्मके यथोक्त स्वरूपको अन्य प्रकारसे समझ लेनेसे—विरत हो जाते हैं। अर्थात् धर्मको ठीक-ठीक समझने लगते हैं। ये तीनों ही प्रकारके श्रोता भद्रपरिणामी मिथ्यादृष्टि अथवा सम्यक्त्वके विषयमे अव्युत्पन्न होते हैं। क्रूर परिणामी मिथ्यादृष्टि तो उपदेशका पात्र ही नहीं है।

जो सम्यग्दृष्टि भव्य होते है, उपदेशको सुनकर उनकी आस्था और दृढ हो जाती है कि यह ऐसा ही है। जो उनसे भी उत्तम सम्यग्दृष्टि होते हैं वे उपदेशको सुनकर उसके आच-रणमे तत्पर होते है। प्रतिदिन उपदेश सुननेसे श्रोताओको प्रतिदिन यह लाभ होता है। वक्ता-को भी लाभ होता है। पूर्वार्जित पुण्य कर्मके विपाकसे होनेवाले शुभपरिणामोंसे ज्ञानावरण आदि कर्म रूप आगामी पापबन्धका निरोध होता है अर्थात् मन वचन कायके व्यापाररूप योगके द्वारा आगामी पाप कर्म रूप होनेके योग्य जो पुद्गल वर्गणाएँ उस रूपसे परिणमन करतीं वे तद्रूप परिणमन नहीं करती है। इस तरह वक्ताके केवल पाप कर्मके बन्धका निरोध ही होता हो ऐसा नहीं है, पूर्व संचित पापकर्मका भी एकदेशसे क्षय होता है। सारांश यह है कि देशना धर्मोपदेश रूप होनेसे स्वाध्याय नामक तपका भेद है अतः अशुभ कर्मोके संवर-के साथ निर्जराके होनेपर भी वक्ताका देशनामें प्रशस्त राग रहता है अत उस प्रशस्त रागके योगसे प्रचुर पुण्य कर्मका आस्रव होता है और पूर्व पुण्य कर्मके विपाककी अधिकतासे नवीन कल्याण परम्पराकी प्राप्ति होती है ॥५॥

इस प्रकार भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदिके गुणोका स्मरणरूप मुख्य मंगल करके अब

---

१. रत्न. श्रा, २ श्लो । २ प्रवचनसार, गा ७।

३ धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तय च धम्मो जीवाण रक्खण धम्मो ॥—स्वा. कार्ति, ४७८ गा.

अथ धर्मामृत पद्यद्विसहस्र्या दिशाम्यहम् ।
निर्दुःखं सुखमिच्छन्तो भव्याः शृणुत धीधनाः ॥६॥

अथ—मङ्गले अधिकारे आनन्तर्ये वा । धर्मामृत—धर्मो वक्ष्यमाणलक्षण योऽमृतमिवोपयोक्तॄणामजरामरत्वहेतुत्वात् । तदभिधेयमनेनेतीद शास्त्र धर्मामृतमिति व्यपदिश्यते । श्रूयन्ते चाभिधेयव्यपदेशेन शास्त्र व्यपदिशन्त तत्पूर्वकवय । यथा तत्त्वार्थवृत्तिर्यशोधरचरित च । भद्ररुद्रटोऽपि तथैवाह—'काव्यालङ्कारोऽय ग्रन्थ' क्रियते तयायुक्ति' इति । पद्य—परिमिताक्षरमात्रापिण्ड पाद , तन्निबद्ध वाङ्मय वृत्तश्लोकार्यारूपम् । निर्दुःख सुख—नैश्रेयस शर्म न सासारिकम्, ससारे हि दु खानुषक्तमेव सुखम् । तदुक्तम्—

'सपर बाधासहिदं विच्छिण्ण बधकारण विसम ।
ज इदिएहि लद्ध तं सोक्खं दुक्खमेव तहा ॥' [प्रव १।७६]

ग्रन्थकार ग्रन्थका प्रमाण और ग्रन्थमे कहे जानेवाले विषयके बहानेसे ग्रन्थका नाम बतलाते हुए प्रकृत ग्रन्थको रचनेकी प्रतिज्ञा करते हैं—

इसके अनन्तर मैं दो हजार पद्योंसे धर्मामृत ग्रन्थको कहता हूँ । दुःखसे रहित सुखके अभिलाषी बुद्धिशाली भव्य उसे सुने ॥६॥

विशेषार्थ—इस श्लोकके प्रारम्भमे आये 'अथ' शब्दका अर्थ मंगल है । कहा है—'सिद्धि, बुद्धि, जय, वृद्धि, राज्यपुष्टि, तथा ओंकार, अथ शब्द और नान्दी ये मंगलवाचक हैं ।'[1] 'अथ' शब्दका अर्थ 'अधिकार' है । यहाँसे शास्त्रका अधिकार प्रारम्भ होता है । 'अथ' शब्दका 'अनन्तर' अर्थ भी है । 'निबद्ध मुख्य मंगल करनेके अनन्तर' ऐसा उसका अर्थ होता है । धवलाकार वीरसेन स्वामीने धवलाके प्रारम्भमे मंगलके दो भेद किये हैं—निबद्ध और अनिबद्ध । ग्रन्थके आदिमे ग्रन्थकारके द्वारा जो इष्ट देवता नमस्कार निबद्ध कर दिया जाता है—श्लोकादिके रूपमें लिख दिया जाता है उसे निबद्ध मंगल कहते है । जैसे इस ग्रन्थके आदिमे ग्रन्थकारने सिद्ध परमेष्ठी आदिका स्तवन निबद्ध कर दिया है अत यह निबद्धमंगल है । धर्मका लक्षण पहले कहा है । वह धर्म अमृतके तुल्य होता है क्योकि जो उसका आचरण करते है वे अजर-अमर पदको प्राप्त करते है । इस शास्त्रमे उसीका कथन है इसलिए इस शास्त्रको धर्मामृत नाम दिया गया है । पूर्व आचार्यों और कवियोने भी शास्त्रमे प्रतिपादित वस्तुतत्त्वके कथन द्वारा शास्त्रका नाम कहा है ऐसा सुना जाता है । जैसे तत्त्वार्थवृत्ति या यशोधरचरित । रुद्रट भट्टने भी ऐसा ही कहा है—"यह काव्यालंकार ग्रन्थ युक्ति अनुसार करता हूँ ।" परिमित अक्षर और मात्राओंके समूहको पाद कहते है । पादोके द्वारा रचित छन्द, श्लोक या आर्यारूप वाङ्मयको पद्य कहते हैं । इस धर्मामृत ग्रन्थको दो हजार पद्योंमे रचनेका संकल्प ग्रन्थकारने किया है । वे भव्यजीवोंसे उसको श्रवण करनेका अनुरोध करते हैं । जिन जीवोंमे अनन्त ज्ञानादिको प्रकट करनेकी योग्यता होती है उन्हें भव्य कहते है । उन भव्योंको ग्रन्थकारने 'धीधना' कहा है—धी अर्थात् अष्टगुणसहित' बुद्धि ही जिनका धन है जो उसे ही अति पसन्द करते है । इस शास्त्रको श्रवण करनेका लाभ बतलाते हुए वह कहते हैं—यदि दु खोसे रहित अनाकुलतारूप मोक्ष सुखको चाहते हो तो इस शास्त्रको सुनो । सासारिक सुख तो दु खोसे रिला-मिला होता है । आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमे कहा

---

१ 'सिद्धिर्वृद्धिर्जयो वृद्धी राज्यपुष्टी तथैव च ।
ओकारश्चाथशब्दश्च नान्दीमङ्गलवाचिन ॥'

अथवा दु खस्याभावान्निदुःख (दु खानामभावो निर्दु ख) सुख चेति ग्राह्यम् । चशब्दश्चात्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्य. । भव्या —हे अनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्या जीवा । किंच—

३ मगल-निमित्त-हेतु-प्रमाण-नामानि शास्त्रकर्तृंश्च ।
व्याकृत्य षडपि पश्चाद् व्याचष्टां शास्त्रमाचार्य. ॥ [ ]

इति मङ्गलादिषट्कमिह प्रदर्श्यते—तत्र, मलं पापं गालयति मङ्गं वा पुण्य लाति ददातीति मङ्गलम् । ६ परमार्थत सिद्धादिगुणस्तवनमुक्तमेव । शाब्द तु मङ्गलमथेति प्रतिनिर्दिष्टम् । यमुद्दिश्य शास्त्रमभिधीयते तन्निमित्तम् । तच्चेह 'भव्या ' इति निर्दिष्टम् । हेतु प्रयोजनम् । तच्चेह सम्यग् धर्मस्वरूपादिजननलक्षण 'दिशामीति शृणुत' इति च पदद्वयेन सूचित लक्ष्यते । येन हि क्रियाया प्रयुज्यते तत्प्रयोजनम् । शास्त्रश्रवणादि- ९ क्रियाया च ज्ञानेन प्रयुज्यत इति सम्यग्धर्मस्वरूपज्ञानमेवास्य शास्त्रस्य मुख्यं प्रयोजनम् । आनुषङ्गिक धर्म-सामग्र्यादि ज्ञानमपि । भवति चात्र श्लोक —

'शास्त्रं लक्ष्मविकल्पास्तदुपाय साधकास्तथा ।
सहाया फलमित्याह दृगाद्याराधनाविधेः ॥' [ ]

है कि 'जो सुख इन्द्रियोसे प्राप्त होता है वह पराधीन है, बाधासहित है, असातावेदनीयका उदय आ जानेपर विच्छिन्न हो जाता है, उसके भोगनेसे राग-द्वेष होता है अतः नवीन कर्मबन्धका कारण है तथा घटता-बढता होनेसे अस्थिर है, अतः दुख रूप ही है।" अत. दुखोंसे रहित सुखके इच्छुक भव्य जीव ही इस शास्त्रको सुननेके अधिकारी हैं ऐसा ग्रन्थकार का अभिप्राय है ।

ऐसी प्रसिद्धि है कि 'मंगल, निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और शास्त्रकर्ता—इन छहका कथन करनेके पश्चात् आचार्यको शास्त्रका कथन करना चाहिए। अतः यहाँ इन छहोका कथन किया जाता है। 'म' अर्थात् मलका—पापका जो गालन करता है—नाश करता है या मंग अर्थात् पुण्यको लाता है उसे मंगल कहते है। वह मंगल प्रारम्भ किये गये इच्छित कार्यकी निर्विघ्न परिसमाप्तिके लिए किया जाता है। मंगलके दो प्रकार हैं—मुख्य और गौण ।तथा मुख्य मंगलके भी दो प्रकार हैं—एक अर्थरूप और दूसरा शब्दरूप। उनमें-से अर्थरूप मुख्य मंगल भगवान् सिद्धपरमेष्ठी आदिके गुणोके स्मरणादि रूपमे पहले ही किया गया है। उससे प्रारम्भ करनेके लिए इष्ट शास्त्रकी सिद्धिमे निमित्त अधर्मविशेषका विनाश और धर्मविशेषका स्वीकार सम्पन्न होता है। शब्दरूप मुख्य मंगल अनन्तर ही श्लोकके आदिमे 'अथ' शब्दका उच्चारण करके किया है क्योंकि 'अथ' शब्द भी मंगलकारक प्रसिद्ध है। कहा[1] भी है—'शास्त्रके आदिमे तीन लोकोंके स्वामीको नमस्कार करना अथवा विशिष्ट शब्दोंको स्मरण करना मंगल माना गया है।'

सम्पूर्ण कलश, दही, अक्षत, सफेद फूलका उपहार आदि तो मुख्य मंगलकी प्राप्तिका उपाय होनेसे अमुख्य मंगल कहे जाते हैं। प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने इस ग्रन्थके आरम्भ-मे उक्त अमुख्य मगलको भी किया है उनके बिना शास्त्रकी सिद्धि सम्भव नहीं है। जिसके उद्देश्यसे शास्त्रकी रचना की जाती है वह निमित्त होता है। 'भव्या ' रूपसे यहाँ उसका कथन किया ही है क्योंकि उन्हींके लिए यह शास्त्र रचा जाता है।

---

१. 'त्रैलोक्येशनमस्कार लक्षणं मङ्गल मतम् ।
विशिष्टभूतशब्दाना शास्त्रादावथवा स्मृति ॥'

तत्परिज्ञानात् पुन' सम्यग्धर्मानुष्ठाने प्रवर्तमानोऽनाकुलत्वाख्यमनन्त सुख परमाव्यावाधत्व च प्राप्नोतीति परम्परया तदुभयमप्यस्य शास्त्रस्य प्रयोजन वस्तुत सुखस्य दु खनिवृत्तेर्वा पुरुषेणार्थ्यमानत्वात्, तत्र (तच्च) निर्दु ख सुखमिति पदद्वयेनोक्तमेव । प्रमाण तु 'पद्यद्विसहस्र्या' इत्यनेनैवोक्त तावत् । ग्रन्थतस्तु द्विसहस्रप्रमाण- ३ मस्य । नाम पुनरस्य 'धर्मामृत'मिति प्राग् व्युत्पादितम् । कर्ता त्वस्यार्थतोऽनुवादकत्वेन ग्रन्थतश्च पद्यसन्दर्भ- निर्मापकत्वेन 'अह' इत्यनेनोक्त । संवन्धश्चास्य शास्त्रस्य सम्यग्धर्मस्वरूपादेश्चाभिधानाभिधेयलक्षणो नाम्नैवाभिहित इति सर्वं सुस्थम् ॥६॥ ६

अथ दुर्जनापवादशङ्कामपनुदति—

परानुग्रहबुद्धीनां महिमा कोऽप्यहो महान् ।
येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते ॥७॥ ९

स्पष्टम् ॥७॥

अथ सम्यग्धर्मोपदेशकाना समासोक्त्या कलिकाले दुर्लभत्व भावयति—

हेतु प्रयोजनको कहते है । 'सम्यक् धर्मके स्वरूप आदिका कथन करूँगा, उसे सुनो', इन दो पदोंसे प्रयोजनकी सूचना की गयी प्रतीत होती है । जिसके द्वारा कार्यमें प्रेरित किया जाता है उसे प्रयोजन कहते है । ज्ञानके द्वारा ही शास्त्र-श्रवण आदि क्रियामें प्रेरित होता है इसलिए वही शास्त्रका मुख्य प्रयोजन है । शास्त्र-श्रवण आदिसे मुझे ज्ञानकी प्राप्ति होगी इस हेतुसे ही शास्त्रमे प्रवृत्त होता है । इसलिए इस शास्त्रका मुख्य प्रयोजन सम्यग्धर्मके स्वरूप- का ज्ञान ही है । आनुषंगिक प्रयोजन धर्मकी सामग्री आदिका ज्ञान भी है । उसको जानकर सम्यग्धर्मका पालन करनेमें लगा व्यक्ति अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तवीर्य, वितृष्णामय अविनाशी, अतीन्द्रिय सुख और परम अव्यावाधत्व गुणोंको प्राप्त करता है । इस प्रकार परम्परासे ये सव भी इस शास्त्रके प्रयोजन हैं । वास्तवमें पुरुष सुख या दुःखनिवृत्तिको ही चाहता है । 'निर्दुख सुख' इन दो पदोंसे वह वात कही ही है । प्रमाण दो हजार पद्य द्वारा वतला दिया गया है अर्थात् इस ग्रन्थका प्रमाण दो हजार पद्य है । इसका नाम 'धर्मामृत है' यह भी पहले व्युत्पत्ति द्वारा वतला दिया है । 'अहं' (मै) पदसे कर्ता भी कह दिया है । अर्थ- रूपसे और ग्रन्थरूपसे मैंने (आशाधरने) इसकी रचना की है, अर्थरूपसे मै इसका अनुवादक मात्र हूँ । जो वात पूर्वाचार्योंने कही है उसे ही मैने कहा है और ग्रन्थरूपसे मैंने इसके पद्यो- की रचना की है । इस शास्त्रका और इसमें प्रतिपाद्य सम्यग्धर्म स्वरूप आदिका वाच्य- वाचक भाव रूप सम्वन्ध है यह इस ग्रन्थके नामसे ही कह दिया गया है । अतः यह ग्रन्थ सम्यग्धर्मके अनुष्ठान और अनन्त सुख आदिका साधनरूप ही है यह निश्चित रूपसे समझ लेना चाहिए ।

इससे इस शास्त्रके सम्वन्ध, अभिधेय और प्रयोजन रहित होनेकी शंकाका निराश हो जाता है ॥६॥

आगे दुर्जनोंके द्वारा अपवाद किये जानेकी शंकाको दूर करते हैं—

जिनकी मति दूसरोंके कल्याणमे तत्पर रहती है उनकी कोई अनिर्वचनीय महान् महिमा है जिससे दुर्जनोंका वचनरूपी वज्र गिरते ही नष्ट हो जाता है ॥७॥

आगे ग्रन्थकार समासोक्ति अलंकारके द्वारा कलिकालमें सम्यग्धर्मके उपदेशकोंकी दुर्लभता वतलाते हैं—

सुप्रापाः स्तनयित्नवः शरदि ते साटोपमुत्थाय ये,
प्रत्याशं प्रसृताश्चलप्रकृतयो गर्जन्त्यमन्दं मुधा ।
३ ये प्रागब्दचितान् फलर्द्धिमुदकैर्व्रीहीन्नयन्तो नवान्
सत्क्षेत्राणि पृणन्त्यालं जनयितुं ते दुर्लभास्तद्घनाः ॥८॥

स्तनयित्नव —मेघा , सूक्त्या देशकाश्च । शरदि—घनान्ते दुष्पमाया च, उत्थाय—उत्पद्य उद्धतीभूय
६ च, प्रत्याशं—प्रतिदिशं प्रतिस्पृहं च, प्रागब्दचितान्—प्रावृड्मेघपुष्टान् पूर्वाचार्यव्युत्पादितानि च, फलर्द्धि—
सस्यसम्पत्ति सदाचरणप्रकर्षं च, उदकै.—पक्षे सम्यगुपदेशैः व्रीहीन्—धान्यानि प्रागब्दचितानि (–तानिति)
विशेषणाच्छाल्यादिस्तम्बान् शास्त्रार्थरहस्यानि च । नवान्—गोधूमादिस्तम्बान् अपूर्वव्युत्पत्तिविशेषाश्च ।
९ सत्क्षेत्राणि—पक्षे विनीतविनेयान्, पृणन्ति—पूरयन्ति, तद्घना.—शरन्मेघा ऐदयुगीनगणिनश्च ॥८॥

अथ व्यवहारप्रधानदेशनायाः कर्तारमाशसन्ति—

शरद् ऋतुमे ऐसे मेघ सुलभ हैं जो बड़े आडम्बरके साथ उठकर और प्रत्येक दिशामे फैलकर वृथा ही बड़े जोरसे गरजते हैं और देखते देखते विलीन हो जाते हैं। किन्तु जो वर्षाकालके मेघोंसे पुष्ट हुए धान्यको फल सम्पन्न करते तथा नवीन धान्योंको उत्पन्न करनेके लिए खेतोको जलसे भर देते है ऐसे मेघ दुर्लभ है ॥८॥

विशेषार्थ—रुद्रट भट्टने समासोक्ति अलंकारका लक्षण इस प्रकार कहा है—'जहाँ समस्त समान विशेषणोंके साथ एक उपमानका ही इस प्रकार कथन किया जाये कि उससे उपमेयका बोध हो जाये उसे समासोक्ति अलकार कहते हैं'। प्रकृत कथन उसी समासोक्ति अलंकारका निदर्शन है। श्लोकके पूर्वार्धमें मेघ उपमान है और मिथ्या उपदेशक उपमेय है। मेघके साथ समस्त विशेषणोंकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे मिथ्या उपदेशकों की प्रतीति होती है। शरद् ऋतुमें वर्षाकालका अन्त आता है। उस समय बनावटी मेघ बड़े घटाटोपसे उठते हैं, खूब गरजते हैं किन्तु बरसे विना ही जल्द विलीन हो जाते हैं। इसी तरह इस पंचम कालमे मिथ्या उपदेशदाता भी अभ्युदय और निश्रेयस मार्गका उपदेश दिये विना ही विलीन हो जाते है यद्यपि उनका आडम्बर बडी धूमधामका रहता है। इसी तरह श्लोकके उत्तरार्धमे जो मेघ उपमान रूप हैं उनसे समस्त विशेषणोकी समानता होनेसे समासोक्ति अलंकारके बलसे सम्यक् उपदेशकोंकी उपमेय रूपसे प्रतीति होती है। जैसे शरद्कालमे ऐसे मेघ दुर्लभ है जो वर्षाकालके मेघोंसे पुष्ट हुए पहलेके धान्योंको फल सम्पन्न करनेके लिए तथा नवीन धान्योंको उत्पन्न करनेके लिए खेतोंको जलसे भर देते है। वैसे ही पचम कालमे ऐसे सच्चे उपदेष्टा दुर्लभ है जो पूर्वाचार्योके उपदेशसे व्युत्पन्न हुए पुरुषोको सम्यक् उपदेशके द्वारा सदाचारसे सम्पन्न करते है और नये विनीत धर्म प्रेमियोंको उत्पन्न करते है। यहाँ वर्षाकालके मेघ उपमान हैं, पूर्वाचार्य उपमेय है, फल सम्पत्ति उपमान है, सदाचारकी प्रकर्षता उपमेय है। जल उपमान है, सम्यक् उपदेश उपमेय है। नवीन गेहूँकी वाले उपमान है, नयी व्युत्पत्तियाँ या शास्त्रोंके अर्थका रहस्य उपमेय है। अच्छे खेत उपमान है, विनीत शिष्य उपमेय हैं। शरदकालके मेघ उपमान हैं, इस युगके गणी उपमेय है ॥८॥

पहले कहा है कि मगल आदिका कथन करके आचार्योंको शास्त्रका व्याख्यान करना चाहिए। अत आगे ग्रन्थकार आचार्यका लक्षण बतलानेके उद्देश्यसे व्यवहार प्रधान उपदेशके कर्ताका कथन करते हैं—

प्रोद्यन्निर्वेदपुष्यद्व्रतचरणरस. सम्यगाम्नायधर्ता,
धीरो लोकस्थितिज्ञ स्वपरमतविदां वाग्मिनां चोपजीव्यः।
सन्मूर्तिस्तीर्थतत्त्वप्रणयननिपुण. प्राणदाज्ञोऽभिगम्यो,
निर्ग्रन्थाचार्यवर्यः परहितनिरत सत्पथं शास्तु भव्यान् ॥९॥] ३

निर्वेद —भवाङ्गभोगवैराग्यम्, आम्नाय कुलमागमश्च। उक्त च—

'[1]रूपाम्नायगुणैराढ्यो यतीना मान्य एव च।
तपोज्येष्ठो गुरुश्रेष्ठो विज्ञेयो गणनायक ॥' ६

अतिशय रूपसे बढते हुए वैराग्यसे जिनका व्रताचरणमे रस पुष्ट होता जाता है, जो सम्यक् आम्नायके—गुरुपरम्परा और कुलपरम्पराके धारक है, धीर है—परीपह उपसर्ग आदिसे विचलित नहीं होते, लोककी स्थितिको जानते है, स्वमत और परमतके ज्ञाताओमे तथा वक्ताओमें अग्रणी है, प्रशस्त मूर्ति है, तीर्थ और तत्त्व दोनोके कथनमे निपुण है, जिनका शासन प्राणवान् है उसका कोई उलंघन नही करता, जिनके पास प्रत्येक व्यक्ति जा सकता है, तथा जो सदा परोपकारमें लीन रहते है ऐसे श्रेष्ठ निर्ग्रन्थाचार्य भव्य जीवोंको सन्मार्गका उपदेश देवे ॥९॥

विशेषार्थ—गुप्ति और समितिके साथ व्रतोके पालन करनेको व्रताचरण कहते है। और ससार, शरीर और भोगोंसे विरक्तिको वैराग्य या निर्वेद कहते है। शान्तरसकी प्राप्तिके अभिमुख होनेसे उत्पन्न हुए आत्मा और शरीरके भेदज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे जिनका व्रताचरणका रस प्रति समय वृद्धिकी ओर होता है, तथा जो सम्यक् आम्नायके धारी होते हैं—आम्नाय आगमको भी कहते है और आम्नाय वंशपरम्परा और गुरुपरम्पराको भी कहते है। अतः जो चारो अनुयोगोंसे विशिष्ट सम्पूर्ण आगमके ज्ञाता और प्रशस्त गुरुपरम्परा तथा कुलपरम्पराके धारक है, दूसरे शब्दोंमें—परम्परागत उपदेश और सन्तानक्रमसे आये हुए तत्त्वज्ञान और सदाचरणमे तत्पर है, परीपह और उपसर्गसे भी अधीर नहीं होते है, चराचर जगत्के व्यवहारके ज्ञाता होते है, अपने स्याद्वाद सिद्धान्तको तथा अन्य दर्शनोंके एकान्तवादको जाननेवालोके पिछलग्गू न होकर अग्रणी होते है, इसी तरह वक्तृत्व शक्तिसे विशिष्ट पुरुषोमें भी अग्रणी होते है, जिनकी मूर्ति सामुद्रिक शास्त्रमें कहे गये लक्षणोंसे शोभित तथा घने रोम, स्थूलता और दीर्घता इन तीन दोषोंसे रहित होनेके कारण प्रशस्त होती है। आगममे कहा है—'रूप, आम्नाय और गुणोसे सम्पन्न, यतियोंको मान्य, तपसे ज्येष्ठ और गुरुओंमे जो श्रेष्ठ होता है उसे गणनायक—संघका अधिपति गणधर कहते है।'

तथा जो तीर्थ और तत्त्वके प्रणयनमे निपुण होते है—जिसके द्वारा संसार-समुद्रको तिरा जाता है उसे तीर्थ कहते है। 'सव अनेकान्तात्मक है' इस प्रकारका मत ही तीर्थ है और समस्त मतवादोको तिरस्कृत करते हुए व्यवहार और निश्चयनयके प्रयोगसे प्रकाशित विचित्र आकारवाली चक्रात्मक वस्तुका कथन करना प्रणयन है। तथा अध्यात्म रहस्यको तत्त्व कहते है। भूतार्थनय और अभूतार्थनयके द्वारा व्यवस्थापित दया, इन्द्रिय दमन, त्याग, समाधिमे प्रवर्तनसे होनेवाले परमानन्द पदका उपदेश उसका प्रणयन है। अर्थात् तीर्थ और तत्त्व दोनोके प्रणयनमे—मुख्य और उपचारके कथनमे निपुण होना चाहिए। यदि वह किसी

---

१ म कु च टीकाया 'उक्त चार्षे' इति लिखित किन्तु महापुराणे नास्ति श्लोकोऽयम्।

धीरः—परीषहोसपर्गैरविकार्य । लोकस्थितिज्ञः—लोकस्य चराचरस्य जगत. स्थितिमित्थंभावनियम जानन् वर्णाश्रमव्यवहारचतुरो वा, तीर्थतत्त्वे—जिनागमतदभिधेयौ व्यवहारनिश्चयनयौ वा । प्राणदाज्ञः—
३ जीवन्ती जीवितप्रदा वा आज्ञा यस्य । अभिगम्यः—सेव्य । निर्ग्रन्थाः—ग्रथ्नन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्था मिथ्यात्वादयस्तेभ्यो निष्क्रान्ता यतयस्तेपामाचार्या । उक्त च—

पञ्चधा चरन्त्याचार शिष्यानाचारयन्ति च ।
६ सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्या. प्रकीर्तिता. ॥९॥ [ ]

अथाध्यात्मरहस्यगुरो सेवाया मुमुक्षून्नियुङ्क्ते—

एकमे ही निपुण हुए तो दूसरेका लोप हो जायेगा अर्थात् केवल निश्चयनयमें निपुण होनेसे व्यवहारका लोप होगा और केवल व्यवहारनयमे निपुण होनेसे निश्चयका लोप होगा। कहा भी है—'यदि जिनमतका प्रवर्तन चाहते हो तो व्यवहार और निश्चयको मत छोड़ो। व्यवहारके विना तीर्थका उच्छेद होता है और निश्चयके विना तत्त्वका उच्छेद होता है'। जिनकी प्रवृत्ति स्वसमयरूप परमार्थसे रहित है और जो कर्मकाण्डमें लगे रहते हैं वे निश्चय शुद्ध रूप चारित्रके रहस्यको नहीं जानते। तथा जो निश्चयका आलम्बन लेते है किन्तु निश्चयसे निश्चयको नहीं जानते, वे वाह्य क्रियाकाण्डमे आलसी चारित्राचारको नष्ट कर देते है। अतः आचार्यको निश्चय और व्यवहारके निरूपणमें दक्ष होना आवश्यक है। तथा प्रियवचन और हितकारी वचन बोलना चाहिए। यदि कोई श्रोता प्रश्न करे तो उत्तेजित होकर सौमनस्य नहीं छोडना चाहिए। ऐसा व्यक्ति निर्ग्रन्थाचार्योंमें भी श्रेष्ठ होना चाहिए। जो संसारको दीर्घ करते हैं ऐसे मिथ्यात्व आदिको ग्रन्थ कहते हैं। उनको जिन्होने छोड दिया है उन साधुओंको निर्ग्रन्थ कहते है। तथा जो ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार इन पाँच आचारोको स्वयं पालते है और दूसरोसे—शिष्योसे उनका पालन कराते है उन्हें आचार्य कहते हैं। कहा भी है—'जो पाँच प्रकारके आचारको स्वयं पालते है और शिष्योंसे पालन कराते है—समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता उन धीर महापुरुषोको आचार्य कहते हैं।' निर्ग्रन्थोंके आचार्य निर्ग्रन्थाचार्य होते है और उनमे भी जो श्रेष्ठ होते है उन्हें निर्ग्रन्थाचार्यवर्य कहते हैं। उक्त विशेषताओसे युक्त ऐसे आचार्य ही, जो कि सदा परोपकारमे लगे रहते हैं, सन्मार्गका—व्यवहार निश्चय मोक्षमार्गका उपदेश देनेमे समर्थ होते हैं। अत. ग्रन्थकार आशा करते हैं कि उपदेशकाचार्य उक्त गुणोंसे विशिष्ट होवे। उक्त गुणोंसे विशिष्ट आचार्यको ही आदरपूर्वक उपदेशमें लगना चाहिए।

आगे अध्यात्मरहस्यके ज्ञाता गुरुकी सेवामें मुमुक्षुओको लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

---

१ जइ जिणमयं पवज्जइ ता मा ववहारणिच्छए मुअह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण पुण तच्च ॥
'चरणकरणप्पहाणा ससमय परमत्थ मुक्कवावारा ।
चरणकरणं ससार णिच्छयसुद्धं ण जाणन्ति ॥'—सन्मति., ३।६७ ।
णिच्छयमालवता णिच्छयदो णिच्छय अजाणता ।
णासति चरणकरणं वाहिरकरणालसा केई ॥

विधिवद्धर्मसर्वस्वं यो बुद्ध्वा शक्तितश्चरन् ।
प्रवक्ति कृपयाऽन्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः ॥१०॥

विधिवत्—विधानार्हं, धर्मसर्वस्व—रत्नत्रयसमाहितमात्मान श्रेय.—सेव्य ॥१०॥ ३

अथ वाचनाचार्याध्यात्मरहस्यदेशकयोर्लोके प्रभावप्राकट्यमाशास्ते—

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत् ।
परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद् भान्त्वहर्दिवम् ॥११॥ ६

भान्तु—लोके आत्मान प्रकाशयन्तु । त्रिविधा हि मुमुक्षव केचित् परोपकारा अन्ये स्वोपकारा, अन्यतरे च स्वोपकारैकपरा इति । ब्रह्मवत्—सर्वज्ञतुल्यम्, अहर्दिव—दिने दिने नित्यमित्यर्थ । अत्रेय भावना प्रकटप्रभावे देशके लोक पर विश्वासमुपेत्य तद्वचसा निरारेकमामुत्रिकार्थाय यतते ॥११॥ ९

जो विधिपूर्वक व्यवहार और निश्चयरत्नत्रयात्मक सम्पूर्ण धर्मको परमागमसे और गुरुपरम्परासे जानकर या रत्नत्रयसे समाविष्ट आत्माको स्वसंवेदनसे जानकर शक्तिके अनुसार उसका पालन करते हुए लाभ पूजा ख्यातिकी अपेक्षा न करके कृपाभावसे दूसरोको उसका उपदेश करते हैं, अपने परम कल्याणके इच्छुक जनोको उन्हींकी सेवा करनी चाहिए, उन्हींसे धर्मश्रवण करना चाहिए ॥१०॥

उपदेशकाचार्य और अध्यात्मरहस्यके उपदेष्टाका लोकमें प्रभाव फैले ऐसी आशा करते हैं—

जिनकी मति परार्थमे न होकर केवल स्वार्थमे ही रहती है वे घटमे रखे दीपककी तरह लोकमे चमके या न चमके, उनमे हमे कोई रुचि नहीं है। किन्तु जो स्वार्थकी तरह परार्थमे भी तत्पर रहते है वे ब्रह्मकी तरह दिन-रात प्रकाशमान रहें ॥११॥

विशेषार्थ—तीन प्रकार के मुमुक्षु होते हैं। उनमे-से कुछ तो अपना उपकार करते हुए भी परोपकार को प्रधान रूपसे करते हैं जैसा कि आगममे कहा है—'मुमुक्षुजन अपने दु.खको दूर करनेके लिए प्रयत्न करना भी उचित नहीं मानते, तथा परदु खसे दुखी होकर विना किसी अपेक्षाके परोपकारके लिए सदा तत्पर रहते है'[1]।

कुछ मुमुक्षु स्वोपकारको प्रधानता देते हुए परोपकार करते है। कहा[2] भी है—'अपना हित करना चाहिए, यदि शक्य हो तो परहित करना। किन्तु आत्महित और परहितमे-से आत्महित ही सम्यक् रूपसे करना चाहिए।'

कुछ अन्य मुमुक्षु केवल स्वोपकारमे ही तत्पर रहते हैं। कहा[3] भी है—

'परोपकारको छोड़कर स्वोपकारमें तत्पर रहो। लोकके समान दृश्यमान परपदार्थोंका उपकार करनेवाला मूढ होता है।'

---

१ स्वदु खनिर्घृणारम्भा परदु खेपु दु खिता ।
निर्व्यपेक्ष परार्थेपु बद्धकक्षा मुमुक्षव. ॥—महापु ९।१६४ ।

२. आदहिद कादव्व जइ सक्कइ परहिद च कादव्व ।
आदहिदपरहिदादो आदहिद सुट्ठु कादव्व ॥

३. परोपकृतिमुत्सृज्य स्वोपकारपरो भव ।
उपकुर्वन् परस्याज्ञो दृश्यमानस्य लोकवत् ॥—इष्टोप ३२ श्लो. ।

अथेदानीमासन्नभव्यानामतिदुर्लभत्वेऽपि न देशना निष्फला इति ता प्रतिवक्तुमुत्सहते—

पश्यन् संसृतिनाटकं स्फुटरसप्राग्भारकिर्मीरितं,
स्वस्थश्चर्वति निर्वृत सुखसुधामात्यन्तिकीमित्यरम् ।
३ ये सन्त प्रतियन्ति तेऽद्य विरला देश्य तथापि क्वचित्
कालेकोऽपि हितं श्रयेदिति सदोत्पाद्यापि शुश्रूषुताम् ॥१२॥

६ पश्यन्—निर्विकल्पमनुभवन् । नाटक—अभिनेयकाव्यम् । स्फुटा.—विभावानुभावव्यभिचारिभिर-भिव्यज्यमाना , रसा —शृङ्गारादय । तत्सामान्यलक्षण यथा—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
९ रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिण ।
व्यक्त स तैर्विभावाद्यै. स्थायी भावो रस. स्मृत ॥

इन तीन प्रकारके मुमुक्षुओंमे-से अन्तिममे तटस्थ भावना दिखानेके लिए ग्रन्थकारने उक्त कथन किया है । उसका सार यह है कि घटमे रखा हुआ दीपक प्रकाशमान हो या न हो, उससे लोगोंमे न हर्ष होता है और न विषाद । वह हेय और उपादेय पदार्थोंका प्रकाशक न होने से उपेक्षाके योग्य माना जाता है । किन्तु जो स्वार्थकी तरह ही परार्थमे लीन रहते हैं वे सदा प्रकाशमान रहें । इसका आशय यह है कि प्रभावशाली वक्ताके वचनोपर विश्वास करके लोग उसकी वाणीसे प्रेरणा लेकर बिना किसी प्रकारकी शंकाके परलोकसम्बन्धी धार्मिक कृत्योंमे प्रवृत्ति करते हैं अत परोपकारी पुरुषसे बड़ा लोकोपकार होता है । इसलिए परोपकारी प्रवक्ता सदा अभिनन्दनीय है ।

यद्यपि इस कालमे निकट भव्य जीव अति दुर्लभ है तथापि उपदेश करना निष्फल नहीं होता, इसलिए उपदेशके प्रति वक्ताको उत्साहित करते है—

'कर्मसे रहित अपने शुद्ध स्वरूपमे विराजमान मुक्तात्मा व्यक्त स्थायी भावो और रसाके समूहसे नानारूप हुए ससार रूपी नाटकको देखते हुए—निर्विकल्प रूपसे अनुभव करते हुए अनन्तकाल तक सुखरूपी अमृतका आस्वादन करते है', ऐसा उपदेश सुनकर जो तत्काल उसपर श्रद्धा कर लेते है कि ऐसा ही है, ऐसे निकट भव्य जीव इस कालमे बहुत विरले है । तथापि किसी भी समय कोई भी भव्यजीव अपने हित मे लग सकता है इस भावनासे श्रवण करनेकी इच्छाको उत्पन्न करके भी सदा उपदेश करना चाहिए ॥१२॥

विशेषार्थ—यह संसार एक नाटककी तरह है । नाटक दर्शकोंके लिए बड़ा आनन्द-दायक होता है । उससे विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावोके संयोगसे रति आदि स्थायी भावोंकी पुष्टि होती है । पुष्ट हुए उन्ही स्थायी भावोंको रस कहते है । मनके द्वारा जिनका आस्वादन किया जाता है उन्हें रस कहते है । वे शृङ्गारादिके भेदसे अनेक प्रकारके होते है । उनका सामान्य लक्षण इस प्रकार है—"रति आदिके कारण रूप, कार्य रूप और सहकारीरूप जितने भाव हैं उन्हें लोकमे स्थायी भाव कहते हैं । यदि इनका नाटक और काव्यमे प्रयोग किया जाये तो उन्हे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं । उन विभाव आदिके द्वारा व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते है ।" तथा—विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावोके द्वारा साधे जानेवाले स्थायी भावको रस कहते

प्राग्भार —व्यूह । किर्मीरित—नानात्पता नीतम् । स्वस्थ —स्वस्मिन् कर्मविविक्ते आत्मनि तिष्ठन् निरातङ्कश्च, निर्वृत —मुक्तात्मा, आत्यन्तिकीम्—अनन्तकालवतीम् । अर—झटिति सदुपदेश-श्रवणानन्तरमेव । सन्त —आमन्नभव्या । प्रतियन्ति—तथेति प्रतिपत्तिगोचर कुर्वन्ति । तथा चोक्तम्— ३

जेण विजाणदि सव्व(व्व) पेच्छदि सो तेण सोक्खमणुहवदि ।

इदि त जाणदि भविओ अभवियसत्तो ण सद्दहदि ॥ [पञ्चास्ति० १६३ गा.]

देश्य—प्रतिपाद्यं तत्त्वम् ॥१२॥ ६

है । ऐसा भी अन्यत्र कहा है । यहाँ वतलाया है कि रति आदिकी उत्पत्तिके जो कारण है वे विभाव शब्दसे, कार्य अनुभाव शब्दसे और सहकारी व्यभिचारी भाव नामसे कहे जाते है । रति आदिके कारण दो प्रकारके होते हैं—एक आलम्बन रूप और दूसरे उद्दीपन रूप । स्त्री आदि आलम्बन रूप कारण है क्योंकि स्त्रीको देखकर पुरुषके मनमे प्रीति उत्पन्न होती है । इस प्रीतिको उद्बुद्ध करनेवाले चाँदनी, उद्यान आदि सामग्री उद्दीपन विभाव है क्योंकि वे प्रीतिको उद्दीप्त करते है । इस प्रकार आलम्बन और उद्दीपन दोनो मिलकर स्थायी भावको व्यक्त करते हैं । ये दोनो रसके बाह्य कारण हैं । रसानुभूतिका मुख्य कारण स्थायीभाव है । स्थायीभाव मनके भीतर रहनेवाला एक सस्कार है जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपनको पाकर उद्दीप्त होता है । इस स्थायी भावकी अभिव्यक्ति ही रस शब्दसे कही जाती है । इसीसे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावोके सयोगसे व्यक्त होनेवाले स्थायी भावको रस कहते हैं । व्यवहारदशामें मनुष्यको जिस जिस प्रकारकी अनुभूति होती है उसको ध्यानमे रखकर प्राय आठ प्रकारके स्थायी भाव साहित्य शास्त्रमे माने गये हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा या घृणा और विस्मय । इनके अतिरिक्त निर्वेदको भी नौवाँ स्थायी भाव माना गया है । इनके अनुसार ही नौ रस माने गये हैं—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त । शान्त रसकी स्थितिके विपयमे मतभेद है । भरत मुनिने अपने नाट्यशास्त्रमे (६-१६) आठ ही रस नाट्यमे वतलाये हैं । काव्य-प्रकाशकारने भी उन्हींका अनुसरण किया है । इसके विपरीत उद्भट, आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्तने स्पष्ट रूपसे शान्त रसका कथन किया है । अस्तु, व्यभिचारी भाव ३३ है—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जडता, गर्व, विपाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सोना, जागना, क्रोध, अवहित्था (लज्जा आदिके कारण आकार गोपन), उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास और वितर्क ।

यद्यपि यहाँ निर्वेदकी गणना व्यभिचारी भावोमे की गयी है परन्तु यह शान्त रसका स्थायी भाव भी है । जिसका निर्वेद भाव पुष्ट हो जाता है उसका वह रस हो जाता है । जिसका परिपुष्ट नहीं होता उसका भाव ही रहता है । इस प्रकारके भावों और रसोकी वहुतायतसे यह संसाररूपी नाटक भी विचित्र रूप है । इसका निर्विकल्प अनुभवन करने-वाले मुक्तात्मा आत्मिक सुखमे ही सदा निमग्न रहते है, ऐसे उपदेशको सुनकर उसपर तत्काल विश्वास कर लेनेवाले अत्यन्त अल्प है । कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—'जीव जिस केवलज्ञान, केवलदर्शनके द्वारा सबको जानता देखता है उसी के द्वारा वह आत्मिक सुख का अनुभव करता है । इस वातको भव्य जीव जानता है, उसकी श्रद्धा करता है किन्तु अभव्य जीव श्रद्धा

अथाभव्यस्याप्रतिपाद्यत्वे हेतुमुपन्यस्यति—

वहुशोऽप्युपदेशः स्यान्न मन्दस्यार्थसंविदे।
भवति ह्यन्धपाषाणः केनोपायेन काञ्चनम् ॥१३॥

३

मन्दस्य—अशक्यसम्यग्दर्शनादिपाटवस्य सदा मिथ्यात्वरोगितस्य इत्यर्थः। अर्थसंविदे—अर्थे हेय उपादेये च विषये सगता अन्तर्विधिनियता वित् ज्ञानं तस्मै न स्यात्। तथा चोक्तम्—

६

'जले तैलमिवैतिह्यं वृथा तत्र वहिर्द्युति।
रसवत्स्यान्न यत्रान्तर्बोधो वेधाय धातुषु ॥' [सोम. उपास १८१ श्लो.]

अन्धपाषाण —अविभाज्यकाञ्चनाश्म। तदुक्तम्—

९

अन्धपाषाणकल्पं स्यादभव्यत्वं शरीरिणाम्।
यस्माज्जन्मशतेनापि नात्मतत्त्वं पृथग् भवेत् ॥१३॥ [ ]

नहीं करता।' फिर भी ग्रन्थकार कहते हैं कि ऐसी परिस्थिति होते हुए भी उपदेशक को निराश न होकर सुननेकी इच्छा नहीं होनेपर भी उस इच्छाको उत्पन्न करके उपदेश करना चाहिए क्योंकि न जाने कब किसकी मति अपने हित मे लग जाये। अतः समय प्रतिकूल होते हुए भी सुवक्ता को धर्मका उपदेश करना ही चाहिए।

अभव्य को उपदेश न देनेमे युक्ति उपस्थित करते हैं—

जो मन्द है अर्थात् जिसमे सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट कर सकना अशक्य है क्योंकि वह मिथ्यात्वरूपी रोगसे स्थायीरूपसे ग्रस्त है दूसरे शब्दोंमे जो अभव्य है—उसे दो-तीन वारकी तो वात ही क्या, वहुत वार भी उपदेश देनेपर हेय-उपादेय रूप अर्थका वोध नहीं होता। ठीक ही है—क्या किसी भी उपायसे अन्धपाषाण सुवर्ण हो सकता है ?

विशेषार्थ—जैसे खानसे एक स्वर्णपाषाण निकलता है और एक अन्धपाषाण निकलता है। जिस पाषाणमे-से सोना अलग किया जा सकता है उसे स्वर्णपाषाण कहते है और जिसमें-से किसी भी रीतिसे सोनेको अलग करना शक्य नही है उसे अन्धपाषाण कहते है। इसी तरह संसारमे भी दो तरहके जीव पाये जाते है—एक भव्य कहे जाते हैं और दूसरे अभव्य कहे जाते है। जिनमे सम्यग्दर्शन आदिके प्रकट होनेकी योग्यता होती है उन जीवोंको भव्य कहते हैं और जिनमे उस योग्यताका अभाव होता है उन्हें अभव्य कहते हैं। जैसे एक ही खेतसे पैदा होनेवाले उडद-मूँगमे से किन्हीं मे तो पचनशक्ति होती है, आग आदिका निमित्त मिलनेपर वे पक जाते है। उनमे कुछ ऐसे भी उड़द मूँग होते है जिनमे वह शक्ति नही होती, वे कभी भी नहीं पकते। इस तरह जैसे उनमे पाक्यशक्ति और अपाक्यशक्ति होती है वैसे ही जीवों मे भी भव्यत्व और अभव्य शक्ति स्वाभाविक होती है। दोनों ही शक्तियाँ अनादि हैं। किन्तु भव्यत्वमें भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति सादि है। आशय यह है कि भव्य जीवोंमे भी अभव्य जीवोंकी तरह मिथ्यादर्शन आदि परिणामरूप अशुद्धि रहती है। किन्तु उनमे सम्यग्दर्शन आदि परिणाम रूप शुद्धि भी सम्भव है। अत सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्ति के पहले भव्यमे जो अशुद्धि है वह अनादि है। क्योंकि मिथ्यादर्शनकी परम्परा अनादि कालसे उसमे आ रही है। किन्तु सम्यग्दर्शन आदिकी उत्पत्तिरूप शक्तिकी व्यक्ति सादि है। अभव्यमे भी अशुद्धता अनादि है क्योंकि उसमे भी मिथ्यादर्शनकी सन्तान अनादि है किन्तु उसका कभी अन्त नहीं आता अत उसकी अशुद्धता अनादि अनन्त है। दोनोमे

भव्योऽपीदृश एव प्रतिपाद्य स्यादित्याह—

श्रोतुं वाञ्छति यः सदा प्रवचनं प्रोक्तं शृणोत्यादरात्
गृह्णाति प्रयतस्तदर्थमचलं तं धारयत्यात्मवत्। ३
तद्विद्यैः सह संविदत्यपि ततोऽन्यांश्चोहतेऽपोहते,
तत्तत्त्वाभिनिवेशमावहति च ज्ञाप्य स धर्मं सुधीः ॥१४॥

अत्र शुश्रूषा-श्रवण-ग्रहण-धारण-विज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिवेशा अष्टौ बुद्धिगुणाः क्रमेणोक्ताः प्रतिपत्तव्याः। ६ प्रवचन—प्रमाणाबाधितं वचनं जिनागममित्यर्थः। आत्मवत्—आत्मना तुल्यं शश्वदसत्त्ववियोगत्वात्। संवदति मोहसन्देहविपर्यासव्युदासेन व्यवस्यति। ततः—तं विज्ञातमर्थमाश्रित्य वाप्त्यातवाविनान्वितर्कत (व्याप्त्या तयाविधान् वितर्कयति) अपोहते—उक्तियुक्तिभ्यां प्रत्यवायसभावनया विरुद्धानर्थान् व्यावर्तयति सुधीः। ९ एतेन धीधनाः इति विशेषणं व्याख्यातम् ॥१४॥

इस प्रकारकी स्थिति स्वाभाविक मानी गयी है। साराश यह है—संसारी जीव—वह भव्य हो अथवा अभव्य हो—अनादिसे अशुद्ध है। यदि उसकी अशुद्धताको सादि माना जाये तो उससे पहले उसे शुद्ध मानना होगा। और ऐसी स्थितिमें शुद्ध जीवके पुनः बन्धन असम्भव हो जायेगा क्योंकि शुद्धता बन्धनका कारण नहीं है। अशुद्धदशामें ही बन्ध सम्भव है अतः अशुद्धि अनादि है और शुद्धि सादि है। जैसे स्वर्णपाषाणमें विद्यमान स्वर्णकी अशुद्धि अनादि है, शुद्धि सादि है। किन्तु अन्धपाषाणमें वर्तमान स्वर्ण अनादिसे अशुद्ध होनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होता। अतः उसकी अशुद्धि अनादिके साथ अनन्त भी है ॥१३॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकारका ही भव्य जीव उपदेशका पात्र है—

सम्यक्त्वसे युक्त समीचीन बुद्धिवाला जो भव्य जीव सदा प्रवचनको सुननेके लिए इच्छुक रहता है, और जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, सुनकर प्रयत्नपूर्वक उसके अर्थका निश्चय करता है, तथा प्रयत्नपूर्वक निश्चित किये उस अर्थको आत्माके समान यह मेरा है इस भावसे स्थिर रूपसे धारण करता है, जो उस विद्याके ज्ञाता होते हैं उनके साथ संवाद करके अपने संशय, विपर्यय और अनध्यवसायको दूर करता है, इतना ही नहीं, उस ज्ञात विषयसे सम्बद्ध अन्य अज्ञात विषयोंको भी तर्क-वितर्कसे जाननेका प्रयत्न करता है, तथा युक्ति और आगमसे जो विषय प्रमाणबाधित प्रतीत होते हैं उनको हेय जानकर छोड़ देता है तथा प्रवचनके अर्थमें हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे यथावत् अभिप्राय रखता है, ऐसा ही भव्य जीव उपदेशका पात्र होता है ॥१४॥

विशेषार्थ—यद्यपि भव्य जीव ही उपदेशका पात्र होता है तथापि उसमें भी शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, विज्ञान, ऊह, अपोह और तत्त्वाभिनिवेश ये आठ गुण होना आवश्यक है। इन गुणोंसे युक्त समीचीन बुद्धिशाली भव्य ही उपदेशका पात्र होता है। जैन उपदेशको प्रवचन कहा जाता है। 'प्र' का अर्थ है प्रकृष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष और अनुमानादि प्रमाणोंसे अविरुद्ध वचनको ही प्रवचन कहते हैं। जैसे 'सब अनेकान्तात्मक है' इत्यादि वाक्य जिनागमके अनुकूल होनेसे प्रवचन कहलाता है। ऐसे प्रवचनका प्रवक्ता भी कल्याण का इच्छुक होना चाहिए, अपने और श्रोताओंके कल्याणकी भावनासे ही जो धर्मोपदेश करता है उसीकी बात सुननेके योग्य होती है। ऐसे प्रवक्तासे प्रवचन सुनने के लिए जो सदा इच्छुक रहता है, और जब सुननेको मिलता है तो जो कुछ कहा जाता है उसे आदरपूर्वक सुनता है, शास्त्रसभामें बैठकर ऊँघता नहीं है और न गप्पबाजी करता है, सुन करके प्रवचनके

एवंविधप्रज्ञस्यापि सदुपदेशं विना धर्मे प्रज्ञा न क्रमते इत्याचष्टे—

महामोहतमश्छन्नं श्रेयोमार्गं न पश्यति ।
३ **विपुलाऽपि दृशालोकादिव श्रुत्या विना मतिः ॥१५॥**

दृक्—चक्षुः, आलोकात्—प्रदीपादिप्रकाशात्, श्रुत्याः—धर्मश्रवणात्, 'श्रुत्वा धर्मं विजानाति' इत्यभिधानात् ॥१५॥

६ अथ शास्त्रसंस्कारान्मतेः परिच्छेदातिशयं शंसति—

दृष्टमात्रपरिच्छेत्री मतिः शास्त्रेण संस्कृता ।
व्यनक्त्यदृष्टमप्यर्थं दर्पणेनेव दृङ् मुखम् ॥१६॥

९ मतिः—इन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमवग्रहादिज्ञानम् । शास्त्रेण—आप्तवचनादिजन्मना दृष्टादृष्टार्थज्ञानेन । तदुक्तम्—

मतिर्जागर्ति दृष्टेऽर्थे दृष्टेऽदृष्टे तथा गतिः ।
१२ अतो न दुर्लभं तत्त्वं यदि निर्मत्सरं मनः ॥ [सोम. उपा. २५८ श्लो.] ॥१६॥

अथ श्रोतॄणां चातुर्विध्याद् द्वयोरेव प्रतिपाद्यत्वं दृढयति—

अर्थको प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करता है और जो ग्रहण करता है उसे इस तरह धारण करता है मानो वह उसका जीवन प्राण है उसके विना वह जीवित नहीं रह सकता, उसके समझनेमें यदि कुछ सन्देह, विपरीतता या अनजानपना लगता है तो विशिष्ट ज्ञाताओंके साथ बैठकर चर्चा वार्ता करके अपने सन्देह आदिको दूर करता है। फिर उस ज्ञात तत्त्वके प्रकाशमें तर्क-वितर्क करके अन्य विषयोंको भी सुदृढ करता है और यदि उसे यह ज्ञात होता है कि अबतक जो अमुक विषयको हमने अमुक प्रकारसे समझा था वह प्रमाणबाधित है तो उसे छोडकर अपनी गलतीमें सुधार कर लेता है, तथा प्रवचन सुनने आदिका मुख्य प्रयोजन तो हेय और उपादेयका विचार करके अपने अभिप्रायको यथार्थ करना है, हेयका हेय रूपसे और उपादेय-का उपादेयरूपसे श्रद्धान करना ही अभिप्रायकी यथार्थता है। यदि उसमें कमी रही तो श्रवण आदि निष्फल ही है। अतः जो भव्य जीव इस प्रकारके बौद्धिक गुणोंसे युक्त होता है वस्तुतः वही उपयुक्त श्रोता है ॥१४॥

आगे कहते हैं कि इस प्रकारके बुद्धिशाली भव्य जीवकी मति भी सदुपदेशके विना धर्ममें नहीं लगती—

जैसे दीपक आदिके प्रकाशके विना खुली हुई बडी-बडी आँखें भी अन्धकारसे ढके हुए प्रशस्त मार्गको नहीं देख सकती, वैसे ही धर्मश्रवणके विना विशाल बुद्धि भी महा-मोहरूपी अन्धकारसे व्याप्त कल्याण-मार्गको नहीं देख सकती ॥१५॥

आगे शास्त्रके संस्कारसे जो बुद्धिमें ज्ञानातिशय होता है उसकी प्रशंसा करते हैं—

जैसे दर्पणके योगसे चक्षु स्वयं देखनेमें अशक्य भी मुखको देख लेती है वैसे ही इन्द्रिय और मनसे जानने योग्य वस्तुको ही जाननेवाली मति (मतिज्ञान) शास्त्रसे संस्कृत होकर अर्थात् शास्त्रश्रवणसे अतिशयको पाकर इन्द्रिय और मनके द्वारा जाननेसे अशक्य पदार्थको भी प्रकाशित करती है ॥१६॥

आगे चार प्रकारके श्रोताओंमें से दो प्रकारके श्रोता ही उपदेशके पात्र होते हैं इस बातका समर्थन करते हैं—

अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलं,
कारुण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम् ।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा- ३
न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनर्थित्वतः ॥१७॥

प्रलोभ्य—लाभपूजादिना प्ररोचनामुत्पाद्य, इच्छावशात्—व्युत्पत्तिवाञ्छानुरोधात् । विपर्ययाकुल-मतिः—विपर्यस्त ॥१७॥ ६

ननु दृष्टफलाभिलाषदूषितमति कथं प्रतिपाद्य इत्याशङ्का दृष्टान्तावष्टम्भेन निराचष्टे—

यः शृणोति यथा धर्ममनुवृत्यस्तथैव सः ।
भजन् पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोदते ॥१८॥ ९

यथा—लाभपूजादिप्रलोभनप्रकारेण, अनुवृत्य—अनुगम्यो न दूष्य । पथ्य—कटुतिक्तादिद्रव्यं व्याविहर, अपथ्येन—द्राक्षाशर्करादिना सह ॥१८॥

अथ विनयफल दर्शयति— १२

वृद्धेष्वनुद्धताचारो ना महिम्नानुबध्यते ।
कुलशैलाननुत्क्रामन् सरिद्भिः पूर्यतेऽर्णव ॥१९॥

चार प्रकारके श्रोता होते हैं—अव्युत्पन्न, सन्दिग्ध, व्युत्पन्न और विपर्यस्त । प्रवक्ता आचार्य धर्मके स्वरूपसे अनजान अव्युत्पन्न श्रोताको, उसके अभिप्रायके अनुसार धर्मसे मिलनेवाले लाभ, पूजा आदिका प्रलोभन देकर भी कृपाभावसे सदा सुखदायी धर्मका उपदेश देते हैं । तथा धर्मके विषयमें सन्दिग्ध श्रोता विनयपूर्वक समीपमें आकर पूछता है कि यह ऐसे ही है या अन्य प्रकारसे है तो उसको समझानेकी भावनासे धर्मका उपदेश देते हैं । किन्तु जो धर्मका ज्ञाता व्युत्पन्न श्रोता है अथवा विपरीत ज्ञानके कारण जिसकी मति विपरीत है, जो शास्त्रोक्त धर्मका अन्यथा समर्थन करनेके लिए कटिबद्ध है, ऐसे विपर्यस्त श्रोताको धर्मका उपदेश नहीं देते हैं क्योंकि व्युत्पन्न श्रोता तो धर्मको जानता है और विपर्यस्त श्रोता धर्मसे द्वेष रखता है ॥१७॥

यहाँ यह शंका होती है कि लौकिक फलकी इच्छासे जिसकी मति दूषित है वह कैसे उपदेशका पात्र है, इस आशंकाका निराकरण दृष्टान्त द्वारा करते हैं—

जो जिस प्रकार धर्मको सुनता है उसे उसी प्रकार धर्म सुनाना चाहिए । क्या अपथ्यके द्वारा पथ्यका सेवन करनेवाले बालककी सब अनुमोदना नहीं करते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—जैसे बालक रोग दूर करनेके लिए कटुक औषधिका सेवन यदि नहीं करता तो माता-पिता मिठाई वगैरहका लालच देकर उसे कटुक औषधि खिलाते हैं । यद्यपि मिठाई उसके लिए हितकारी नहीं है । तथा जब बालक मिठाईके लोभसे कटुक औषधि खाता है तो माता-पिता उसकी प्रशंसा करते हैं कि बड़ा अच्छा लडका है । उसी प्रकार जो सांसारिक प्रलोभनके बिना धर्मकी ओर आकृष्ट नहीं होते उन्हें सासारिक सुखका प्रलोभन देकर धर्म सुनाना बुरा नहीं है । यद्यपि सासारिक सुख अहितकर है, किन्तु धर्म सुननेसे वह उसे अहितकर जानकर छोड़ सकेगा, इसी भावनासे ऐसा किया जाता है ॥१८॥

आगे विनयका फल बतलाते हैं—

तप, श्रुत आदिमें ज्येष्ठ गुरुजनोंके प्रति विनम्र व्यवहार करनेवाला मनुष्य नित्य ही

वृद्धेपु—तप श्रुतादिज्येष्ठेसु, ना महिम्ना—ना पुमान्, महिम्ना—लोकोत्तरानुभावेन, अथवा न अमहिम्ना किं तर्हि ? माहात्म्येनैव, अनुबध्यते—नित्यमधिष्ठीयते। कुलशैलान्—एक-द्वि-चतुर्योजनशतोच्छ्रि-
३ तान् हिमवदादीन् अनुत्क्रामन्—अनुल्लङ्घ्य वर्तमान ॥१९॥

अथ व्युत्पन्नस्याप्रतिपाद्यत्व दृष्टान्तेन समर्थयते—

यो यद्विजानाति स तन्न शिष्यो
६ **यो वा न यद्वष्टि स तन्न लभ्यः ।**
को दीपयेद्धामनिधिं हि दीपैः
क पूरयेद्वाम्बुनिधिं पयोभि ॥२०॥

९ वष्टि—कामयति ॥२०॥

अथ विपर्यस्तस्य प्रतिपाद्यत्वे दोप दर्शयति—

यत्र मुष्णाति वा शुद्धिच्छाया पुष्णाति वा तम ।
१२ **गुरूक्तिज्योतिरुन्मीलत् कस्तत्रोन्मीलयेद्गिरम् ॥२१॥**

शुद्धच्छाया—अभ्रान्ति वा चित्तप्रसत्तिम् । तम —विपरीताभिनिवेशम् ॥२१॥

अथैव प्रतिपादकप्रतिपाद्यौ प्रतिपाद्य तत्प्रवृत्त्यङ्गतया सिद्ध धर्मफल निर्दिशति—

लोकोत्तर माहात्म्यसे परिपूरित होता है। ठीक ही है—हिमवान् आदि कुलपर्वतोका उल्लंघन न करनेवाला समुद्र गंगा आदि नदियोंके द्वारा भरा जाता है ॥१९॥

व्युत्पन्न पुरुप उपदेशका पात्र नहीं है, इसका समर्थन दृष्टान्त द्वारा करते हैं—

जो पुरुप जिस वस्तुको अच्छी रीतिसे जानता है उसे उस वस्तुका शिक्षण देनेकी आवश्यकता नहीं है और जो पुरुप जिस वस्तुको नही चाहता उसे उस वस्तुको देना अनावश्यक है। कौन मनुष्य सूर्यको दीपकोके द्वारा प्रकाशित करता है और कौन मनुष्य समुद्रको जलसे भरता है ? अर्थात् जैसे सूर्यको दीपक दिखाना और समुद्रको जलसे भरना व्यर्थ है क्योकि सूर्य स्वयं प्रकाशमान है और समुद्रमे अथाह जल है, वैसे ही ज्ञानी पुरुपको उपदेश देना व्यर्थ है क्योकि वह तो स्वयं ज्ञानी है ॥२०॥

आगे विपर्यस्त श्रोताको उपदेश देनेमें दोप बतलाते हैं—

गुरुकी उक्तिरूपी ज्योति प्रकाशित होते ही जिसमे वर्तमान शुद्धिकी छायाको हर लेती है और अन्धकारको बढाती है उसे कौन उपदेश कर सकेगा ॥२१॥

विशेपार्थ—गुरुके वचन दीपकके तुल्य हैं। दीपकके प्रकाशित होते ही यदि प्रकाशके स्थान पर अन्धकार ही बढता हो तो ऐसे स्थानपर कौन दीपक जलाना पसन्द करेगा। उसी तरह गुरुके वचनोको सुनकर जिसके चित्तमे वर्तमान थोडी-सी भी शान्ति नष्ट हो जाती हो और उलटा विपरीत अभिनिवेश ही पुष्ट होता हो तो ऐसे व्यक्तिको उपदेश देनेसे क्या लाभ है ? उसे कोई भी बुद्धिमान् प्रवक्ता उपदेश देना पसन्द नहीं कर सकता ॥२१॥

धर्मके फलको सुनकर धर्ममें प्रवृत्ति होती है इस तरह धर्मका फल भी धर्ममे प्रवृत्तिका एक अग है। इसलिए वक्ता और श्रोताका स्वरूप बतलाकर ग्रन्थकार धर्मके फलका कथन करते है—

सुखं दुःखनिवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानत. ॥२२॥

उभौ—द्वावेव सुखाद् दु खनिवृत्तेश्चातिरिक्तस्य सर्वे (सर्वेषाम्)—पुरुषाणामभिलाषाऽविषयत्वात् । सर्वेषा लौकिकपरीक्षकाणा अविगानत'—अविप्रतिपत्ते ॥२२॥

अथोक्तमेवार्थं प्रपञ्चयितु मुख्यफलसपादनपरस्य धर्मस्यानुषङ्गिकफलसर्वस्वमभिनन्दति—

येन मुक्तिश्रिये पुंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः ।
स्वयं रज्यन्त्ययं धर्मः केन वर्ण्योऽनुभावत. ॥२३॥

वास्यमाने—अनुरज्यमाने आश्रीयमाणे वा जगच्छ्रिय. । अत्रागमो यथा—

'सपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं ।
जीवस्स चरित्तादो दसणणाणपहाणादो ॥'—प्रवचनसार १।६

३

६

९

पूर्वाचार्योंने सुख और दु खसे निवृत्ति ये दो पुरुषार्थ माने हैं। उनका कारण सच्चा धर्म है इसमे किसीको भी विवाद नहीं है ॥२२॥

विशेषार्थ—यद्यपि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ सभीने स्वीकार किये हैं। जो पुरुषोंकी अभिलाषाका विषय होता है उसे पुरुषार्थ कहते है। सभी पुरुष ही नही, प्राणिमात्र चाहते है कि हमे सुखकी प्राप्ति हो और दु खसे हमारा छुटकारा हो। उक्त चार पुरुषार्थोंका भी मूल प्रयोजन सुखकी प्राप्ति और दु खसे निवृत्ति ही है। अतः इन दोनोंको पुरुषार्थ कहा है। यद्यपि दुःखसे निवृत्ति और सुखकी प्राप्ति एक-जैसी ही लगती है क्योकि दु.ख निवृत्ति होनेसे सुखकी प्राप्ति होती है और सुखकी प्राप्ति होनेसे दुःखकी निवृत्ति होती है, तथापि वैशेषिक आदि दर्शन मुक्तावस्थामे दुःखनिवृत्ति तो मानते हैं किन्तु सुखानुभूति नहीं मानते। इसलिए ग्रन्थकारने दोनोंको गिनाया है। वैशेषिक दर्शनमें कहा है—

बुद्धि, सुख, दु ख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार इन नौ आत्मगुणोका अत्यन्त विनाश हो जाना मोक्ष है। उक्त दोनो पुरुषार्थोंका कारण धर्म है यह सभीने स्वीकार किया है। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो उसे मोक्ष कहते है। मोक्षका यह लक्षण सभीने माना है।[1]

यत. धर्मका फल सुखप्राप्ति और दु'खनिवृत्ति है अत उसमे प्रवृत्ति करना योग्य है॥२२॥

उक्त अर्थको ही स्पष्ट करनेके लिए मुख्यफलको देनेमे समर्थ धर्मके समस्त आनुषंगिक फलका अभिनन्दन करते है—

मुक्तिरूपी लक्ष्मीकी प्राप्तिके लिए जिस धर्मको धारण करनेवाले मनुष्यपर संसारकी लक्ष्मियाँ स्वयं अनुरक्त होती हैं उस धर्मके माहात्म्यका वर्णन कौन कर सकनेमे समर्थ है ? ॥२३॥

विशेषार्थ—धर्मपालनका मुख्य फल है संसारके दु खोसे छूटकर उत्तम सुखस्वरूप मोक्षकी प्राप्ति। आचार्य समन्तभद्रने अपने रत्नकरण्ड श्रावकाचारके प्रारम्भमे धर्मका

---

१ वैशेषिक दर्शनमें कहा है—"यतोऽभ्युदयनि.श्रेयससिद्धि. स धर्म ।" महापुराणमें आचार्य जिनसेनने कहा है—"यतोऽभ्युदयनि.श्रेयसार्थसिद्धि सुनिश्चिता स धर्म. ॥५।२०॥"

केन न केनापि ब्रह्मादिना अनुभावत प्रभावं कार्यं वाऽऽश्रित्य ॥२३॥

ननु कथमेतन्मोक्षबन्धफलयोरेककारणत्व न विरुध्यते—

३ निरुन्धति नवं पापमुपात्तं क्षपयत्यपि ।
धर्मेऽनुरागाद्यत्कर्म स धर्मोऽभ्युदयप्रदः ॥२४॥

क्षपयति एकदेशेन नाशयति सति धर्मे सम्यग्दर्शनादियौगपद्यप्रवृत्तैकत्वलक्षणे शुद्धात्मपरिणामे । यत्
६ कर्म सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रलक्षण पुण्य स धर्म । यथोक्तधर्मानुरागहेतुकोऽपि पुण्यबन्धो धर्म इत्युपचर्यते । निमित्त चोपचारस्यैकार्थसबन्धित्वम् । प्रयोजन पुनर्लोकशास्त्रव्यवहार. लोके यथा—'स्याद्धर्ममस्त्रिया पुण्यश्रेयसी सुकृत वृष. ।' [अमरकोश १।४।२४] इति

कथन करनेकी प्रतिज्ञा करते हुए भी धर्मके इसी फलका कथन किया है यथा[1]—

'मै कर्मबन्धनको नष्ट करनेवाले समीचीन धर्मका कथन करता हूँ जो प्राणियोंको संसारके दु.खसे छुड़ाकर उत्तम सुखमें धरता है ।'

इस मुख्यफलके साथ धर्मका आनुषंगिक फल भी है और वह है सासारिक सुखोकी प्राप्ति। जो मोक्षके लिए धर्माचरण करता है उसे उत्तम देवपद, राजपद आदि अनायास प्राप्त हो जाते है ॥२३॥

इससे यह शंका होती है कि उत्तम देवपद आदि सासारिक सुख तो पुण्यबन्धसे प्राप्त होता है और मोक्ष पुण्यबन्धके भी अभावमे होता है। तो एक ही धर्मरूप कारणसे मोक्ष और बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है ? मोक्ष और बन्धका एक कारण होनेमें विरोध क्यो नहीं है। इसका उत्तर देते हैं—

नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पूर्वबद्ध पापकर्मका क्षय करनेवाले धर्ममे अनुराग होनेसे जो पुण्यकर्मका बन्ध होता है वह भी धर्म कहा जाता है और वह धर्म अभ्युदयको— स्वर्ग आदिकी सम्पदाको देता है ॥२४॥

विशेषार्थ—प्रश्नकर्ताका प्रश्न था कि धर्मसे मोक्ष और लौकिक अभ्युदय दोनो कैसे सम्भव है ? मोक्ष कर्मबन्धके नाशसे मिलता है और लौकिक अभ्युदय पुण्यबन्धसे मिलते हैं। इसके उत्तरमे ग्रन्थकार कहते हैं कि नवीन पापबन्धको रोकनेवाले और पुराने बँधे हुए पापकर्मका एकदेशसे नाश करनेवाले धर्ममें विशेष प्रीति करनेसे जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और शुभ गोत्ररूप पुण्यकर्मका बन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहा है और उस धर्मसे स्वर्गादि रूप लौकिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है। यथार्थमें तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमे एक साथ प्रवृत्त एकाग्रतारूप शुद्ध आत्मपरिणामका नाम धर्म है। आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारके प्रारम्भमें धर्मका स्वरूप बतलाते हुए कहा है[2]—

'निश्चयसे चारित्र धर्म है और जो धर्म है उसे ही समभाव कहा है। तथा मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम सम है।'

---

१ 'देशयामि समीचीन धर्म कर्मनिवर्हणम् ।
ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे ॥'—रत्न श्रा , २ श्लो ।

२ 'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥'
—प्रव., गा. ७ ।

शास्त्रे यथा—

धर्मादवाप्तविभवो धर्मं प्रतिपाल्य भोगमनुभवतु ।
वीजादवाप्तधान्यः कृपीवलस्तस्य बीजमिव ॥—[आत्मानु , २१ श्लो.] ३

अपि च—

'यस्मादभ्युदयः पुंसां निःश्रेयसफलाश्रयः ।
वदन्ति विदिताम्नायास्तं धर्मं धर्मसूरयः' ॥२४॥ ६

—[सोम उपा , २१ लो]

इन्हीं आचार्य कुन्दकुन्दने अपने भावपाहुडमे धर्म और पुण्यका भेद करते हुए कहा है[1]—

'जिनेन्द्र भगवान्के द्वारा अपने धर्मोपदेशमें कहा गया है कि देवपूजा आदिके साथ व्रताचरण करना पुण्य है। और मोह और क्षोभसे रहित आत्माके परिणामको धर्म कहते हैं।'

ऐसे धर्ममें अनुराग करनेसे जो पुण्यबन्ध होता है उसे भी उपचारसे धर्म कहते हैं। शास्त्रोंमें कहा है कि प्रयोजन और निमित्तमें उपचारकी प्रवृत्ति होती है। पुण्यको उपचारसे धर्म कहनेका प्रयोजन यह है कि लोकमें और शास्त्रमे पुण्यके लिए धर्म शब्दका व्यवहार किया जाता है। लोकमें शब्दकोशोंमे पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है।

शास्त्रोंमे भी पुण्यको धर्म शब्दसे कहा है। पहले लिख आये हैं कि आचार्य जिनसेनने जिससे सासारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है उसे भी धर्म कहा है। तथा उनके शिष्य आचार्य गुणभद्रने कहा है—

"जैसे किसान बीजसे धान्य प्राप्त करके उसे भोगता भी है और भविष्यके लिए कुछ बीज सुरक्षित भी रखता है उसी प्रकार धर्मसे सुख-सम्पत्तिको पाकर धर्मका पालन करते हुए भोगोका अनुभवन कर।"

यहाँ भी पुण्यके लिए ही धर्म शब्दका व्यवहार किया गया है। इस तरह लोकमें शास्त्रोंमे पुण्यको भी धर्म कहा जाता है। यह प्रयोजन है उपचारका और निमित्त है धर्म और पुण्यका एकार्थसम्बन्धी होना। धर्मका प्रारम्भ सम्यग्दर्शनसे होता है। सात तत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान करके निज शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिका नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दृष्टि पुण्य और पाप दोनोको ही हेय मानता है फिर भी पुण्यबन्धसे बचता नहीं है। हेय मानकर भी वह पुण्यबन्ध कैसे करता है इसे एक दृष्टान्तके द्वारा ब्रह्मदेवजीने द्रव्य-संग्रह [गा. ३८] की टीकामे इस प्रकार स्पष्ट किया है—जैसे कोई पुरुष किसी अन्य देशमें स्थित किसी सुन्दरीके पाससे आये हुए मनुष्योंका उस सुन्दरीकी प्राप्तिके लिए दान-सम्मान आदि करता है उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी उपादेय रूपसे अपने शुद्ध आत्माकी ही भावना करता है, परन्तु चारित्र मोहके उदयसे उसमें असमर्थ होनेपर निर्दोष परमात्मस्वरूप अर्हन्तों और सिद्धोंकी तथा उनके आराधक आचार्य उपाध्याय और साधुओंकी दान-पूजा आदिसे

---

१. 'पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहि सासणे भणियं ।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥'
—भा. पा , गा. ८१ ।

अथ धर्मस्यानुषङ्गिकफलदानपुरस्सर मुख्यफलसपादनमुपदिशति—

धर्माद् दृक्फलमभ्युदेति करणैरुद्गीर्यमाणोऽनिशं,
यत्प्रीणाति मनो वहन् भवरसो यत्पुंस्यवस्थान्तरम् ।
स्याज्जन्मज्वरसंज्वरव्युपरमोपक्रम्य निस्सीम तत्,
तादृक् शर्म सुखाम्बुधिप्लवमयं सेवाफलं स्वस्य तत् ॥२५॥

दृक्फल—दृष्टिफलं धर्मविषयश्रद्धानजनितपुण्यसाध्यमित्यर्थ. । यथा राजादे सकाशादागन्तुसेवकस्य दृष्टिफल सेवक(सेवा)फलं च द्वे स्त इत्युक्तिलेश. । करणैः—चक्षुरादिभि श्रीकरणादिनियुक्तैश्च । भवरस.—ससारसारमिन्द्रादिपद ग्राम-सुवर्ण-वस्तु-वाहनादि च । पुंसि—जीवे सेवकपुरुषे च । अवस्थान्तर—अशरीरत्व सामन्तादिपद च । सज्वरः—सताप । प्लवः—अवगाहनम् । अस्य धर्मस्य । तदुक्तम्—

तथा उनके गुणोके स्तवन आदिसे परम भक्ति करता है। इस भक्तिका उद्देश्य भी परमात्मपद की प्राप्ति ही होता है। तथा प्रयोजन होता है विपय कपायसे मनको रोकना। न तो उसके इस भव-सम्बन्धी भोगोंकी चाह होती है और न परभव-सम्बन्धी भोगोंकी चाह होती है। इस प्रकार निदान रहित परिणामसे नहीं चाहते हुए भी पुण्यकर्मका आस्रव होता है। उस पुण्यवन्धसे वह मरकर स्वर्गमे देव—इन्द्र आदि होता है और वहाँ भी स्वर्गकी सम्पदाको जीर्ण तृणके समान मानता है। वहाँसे वन्दनाके लिए विदेह क्षेत्रमे जाकर देखता है कि समवसरणमे वीतराग जिनदेव विराजमान है, भेद रूप या अभेद रूप रत्नत्रयके आराधक गणधर देव विराजमान हैं। उससे उसकी आस्था धर्ममे और भी दृढ हो जाती है। वह चतुर्थ गुणस्थानके योग्य अपनी अविरत अवस्थाको नहीं छोड़ते हुए भोगोंको भोगते हुए भी धर्मध्यान पूर्वक काल विताकर स्वर्गसे च्युत होकर मनुष्य पर्यायमे जन्म लेता है किन्तु तीर्थंकर चक्रवर्ती आदि पद पाने पर भी मोह नहीं करता और जिनदीक्षा लेकर पुण्य और पाप दोनोसे रहित निज परमात्माके ध्यानसे मोक्ष प्राप्त करता है। किन्तु मिथ्यादृष्टि तीव्र निदान पूर्वक वाँधे गये पुण्यसे भोगोको प्राप्त करके रावणकी तरह नरकमे जाता है।

इस तरह धर्म और पुण्य दोनो एकार्थसम्वन्धी है इसलिए पुण्यको उपचारसे धर्म कहा है। वस्तुत पुण्य धर्म नहीं है। धर्म पुण्यसे वहुत ऊँची वस्तु है। जव तक पुण्य है संसारसे छुटकारा सम्भव नहीं है। पापकी तरह पुण्यसे भी मुक्ति मिलने पर ही संसारसे मुक्ति मिलती है ॥२४॥

आगे कहते हैं कि धर्म आनुषंगिक फलदानपूर्वक मुख्य फलको भी पूर्णतया देता है—

जैसे राजाके समीप आनेवाले सेवकको दृष्टिफल और सेवाफलकी प्राप्ति होती है वैसे ही धर्मका सेवन करनेवालेको धर्मसे ये दो फल प्राप्त होते है। इन्द्रियोके द्वारा होनेवाला और दिन-रात रहनेवाला जो संसारका रस मनको प्रसन्न करता है वह दृष्टिफल है। तथा संसाररूप महाज्वरके विनाशसे उत्पन्न होनेवाला असर्याद अनिर्वचनीय आगमप्रसिद्ध सुख रूपी अमृतके समुद्रमे अवगाहन रूप जो पुरुषकी अवस्थान्तर है—संसार अवस्थासे विपरीत आत्मिक अवस्था है उसकी प्राप्ति सेवाफल है ॥२५॥

विशेपार्थ—राजा आदिके समीपमें आनेवाले सेवकको दो फलोकी प्राप्ति होती है। प्रथम दर्शनमे राजा उसे ग्राम, सोना, वस्त्र आदि देता है। यह तो दृष्टिफल या राजदर्शन फल है और सेवा करने पर उसे सामन्त आदि वना देता है यह सेवाफल है। इसी तरह

दिट्ठा अणादिमिच्छादिट्ठी जम्हा खणेण सिद्धा य ।
आराधया चरित्तस्स तेण आराधणासारे ॥२५॥—[भ. आरा. १७ गा]

अथ त्रयोविंशत्या वृत्तैरभ्युदयलक्षणं धर्मफलं वर्णयति, तत्रादौ तावत् समासतः (सामान्यतः)— ३

वंशे विश्वमहिम्नि जन्म महिमा काम्यः समेषां शमो,
मन्दाक्षं सुतपोजुषां श्रुतमृषिब्रह्मर्द्धिसंघर्षकृत् ।
त्यागः श्रीदद्गुराधिदाननिरनुक्रोश प्रतापो रिपु- ६
स्त्रीशृङ्गारगरस्तरङ्गितजगद्धर्माद्यशश्चाङ्गिनाम् ॥२६॥

विश्वमहिम्नि—जगद्व्यापिमाहात्म्ये, समेषा—सर्वेषाम् । मन्दाक्षं—लज्जा । ब्रह्मर्द्धि —ज्ञानातिशय । संहर्ष. (संघर्ष)—स्पर्द्धा । श्रीदः—कुबेर. । निरनुक्रोश.—निर्दय । गर —कृत्रिमविषम् । ९
तरङ्गित—तरङ्गवदाचरितं स्वल्पीभूतमित्यर्थ. ॥२६॥

वुद्धयादिसामग्र्यपि फलदाने पुण्यमुख प्रेक्षत एवेत्याह—

धीस्तीक्ष्णानुगुणः कालो व्यवसायः सुसाहसः । १२
धैर्यमुद्यत्तथोत्साहः सर्वं पुण्यादृते वृथा ॥२७॥

धर्मका सेवन करनेवालेको भी दो फलोकी प्राप्ति होती है। उसे मनको प्रसन्न करनेवाला सांसारिक सुख मिलता है यह दृष्टिफल है। दृष्टिफलका मतलव है—धर्मविपयक श्रद्धानसे होनेवाले पुण्यका फल। सांसारिक सुख उसीका फल है। तथा धर्मका सेवन करते हुए निज शुद्धात्म तत्त्वकी भावनाके फलस्वरूप जो शुद्धात्म स्वरूपकी प्राप्ति होती है जो अनन्त सुखका समुद्र है वह सेवाफल है। इस तरह धर्मसे आनुपंगिक सांसारिक सुखपूर्वक मुख्य फल मोक्षकी प्राप्ति होता है ॥२५॥

आगे तेईस पद्योंके द्वारा धर्मके अभ्युदयरूप फलका वर्णन करते है। उनमेसे प्रथम चौदह श्लोकोंके द्वारा सामान्य रूपसे उसे स्पष्ट करते हैं—

धर्मसे प्राणियोका ऐसे वंशमे जन्म होता है जिसकी महिमा जगत्-व्यापी है अर्थात् जिसकी महिमा तीर्थंकर आदि पदको प्राप्त कराने में समर्थ होती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसे तीर्थंकर आदि पद प्राप्त होते है जिनकी चाह सब लोग करते हैं। अपराध करनेवालोको दण्ड देनेकी सामर्थ्य होते हुए भी धर्म से ऐसी सहन शक्ति प्राप्त होती है जिसे देखकर अच्छे-अच्छे तपस्वियोंकी भी दृष्टि लज्जासे झुक जाती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसा श्रुतज्ञान प्राप्त होता है जो तपोवलके द्वारा बुद्धि आदि ऋद्धिको प्राप्त ऋषियोंके ज्ञानातिशयसे भी टक्कर लेता है। धर्मसे प्राणियोंको दान देनेकी ऐसी क्षमता प्राप्त होती है जो कुबेरके मनको भी निर्दयतापूर्वक व्यथित करती है। धर्मसे प्राणियोंको ऐसा प्रताप प्राप्त होता है जो शत्रुओकी स्त्रियोके शृङ्गारके लिए विषके समान है। तथा धर्मसे ऐसा यश प्राप्त होता है जिसमे जगत् एक लहरकी तरह प्रतीत होता है अर्थात् तीनों लोकोमे व्याप्त होता हुआ वह यश अलोकको भी व्याप्त करनेके लिए तत्पर होता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि वुद्धि आदि सामग्री भी अपना फल देनेमे पुण्यका ही मुख देखा करती है—

कुशके अग्रभागके समान तीक्ष्ण बुद्धि, कार्यके अनुकूल समय, कार्यके प्रति साहसपूर्ण अध्यवसाय, वढता हुआ धैर्य और वृद्धिगत उत्साह, ये सव पुण्यके विना व्यर्थ है अर्थात्

अनुगुण:—कार्यं प्रत्युपकारी। व्यवसाय.—क्रिया प्रत्युद्यम। सुसाहस:—यत्र नाहमित्यव्यवसायस्तत्साहस, स्वाम्यं यत्रास्ति (सोऽयं यत्रास्ति)। उद्यत्—आरोहत् प्रकर्षम्। तथा चोक्तम्—

३ आदौ पश्यति वुद्धिर्व्यवसायो हीनकालमारभते।
धैर्यं व्यूढमहाभरमुत्साह. साधयत्यर्थम्॥ [ ]

ऋते विना॥२७॥

६ ननु यदीष्टसिद्धौ पुण्यस्य स्वातन्त्र्यं तत्किमेतत् स्वकर्तुस्तत्र क्रियामपेक्षते इति प्रश्ने सति प्रत्यक्षमुत्तरयति—

मनस्विनामीप्सितवस्तुलाभाद्रम्योऽभिमान' सुतरामितीव।
९ पुण्यं सुहृत्पौरुषदुर्मदानां क्रिया करोतीष्टफलाप्तिदृप्ताः॥२८॥

मनस्विनां मानिनाम्॥२८॥

विशिष्टा आयुरादयोऽपि पुण्योदयनिमित्ता एवेत्यावेदयति—

१२ आयु. श्रेयोनुवन्धि प्रचुरमुरुगुणं वज्रसारः शरीरं,
श्रीस्त्यागप्रायभोगा सततमुदयनी धी. परार्ध्या श्रुताढ्या।
गीरादेया सदस्या व्यवहृतिरपथोन्माथिनी सद्भिरर्थ्या,
१५ स्वाम्यं प्रत्यर्थिकाम्यं प्रणयिपरवश प्राणिना पुण्यपाकात्॥२९॥

पुण्यका उदय होने पर ही ये सव प्राप्त होते हैं और पुण्यके उदयमे ही कार्यकारी होते हैं॥२७॥

यदि इष्टकी सिद्धिमे पुण्य कर्म स्वतन्त्र है अर्थात् यदि पुण्यके ही प्रतापसे कार्यसिद्धि होती है तो पुण्य अपने कर्ताके क्रियाकी अपेक्षा क्यों करता है अर्थात् विना कुछ किये पुण्यसे ही इष्टसिद्धि क्यों नहीं होती इस प्रश्नका उत्तर उत्प्रेक्षापूर्वक देते है—

अभिमानी पुरुषोंको इच्छित वस्तुका लाभ हो जाने पर अत्यन्त मनोरम अभिमान हुआ करता है। मानो इसीलिए छलरहित उपकारक पुण्य अपने पौरुपका मिथ्या अहंकार करनेवालोंकी क्रियाओंको—कार्योंको इष्टफलकी प्राप्तिके अभिमानरससे रंजित कर देता है। अर्थात् इष्टफलकी प्राप्ति तो पुण्यके प्रतापसे होती है किन्तु मनुष्य मिथ्या अहंकार करते है कि हमने अपने पौरुपसे प्राप्ति की है॥२८॥

आगे कहते हैं कि विशिष्ट आयु आदि भी पुण्योदयके निमित्तसे ही होती है—

पुण्य कर्मके उदयसे प्राणियोको सतत कल्याणकारी उत्कृष्ट आयु प्राप्त होती है, सौरूप्य आदि गुणोसे युक्त तथा वज्रकी तरह अभेद्य शरीर प्राप्त होता है, जीवन पर्यन्त दिनोंदिन वढनेवाली तथा प्राय. करके अर्थीजनोके भोगमें आनेवाली लक्ष्मी प्राप्त होती है, सेवा आदि गुणोसे सम्पन्न होनेके कारण उत्कृष्ट तथा शास्त्रज्ञानसे समृद्ध वुद्धि प्राप्त होती है, सभाके योग्य और सवके द्वारा आदरणीय वाणी प्राप्त होती है, साधुजनोके द्वारा अभिलषणीय तथा दूसरोंको कुमार्गसे वचानेवाला हितमे प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्तिरूप व्यवहार प्राप्त होता है, तथा शत्रु भी जिसकी अभिलापा करते है कि हम भी ऐसे हो, ऐसा प्रभुत्व प्राप्त होता है जो केवल प्रियजनोंकी ही परवशता स्वीकार करता है। ये सव पुण्यकर्मके उदयके निमित्तसे प्राप्त होते हैं॥२९॥

श्रेयोनुबन्धि—अविच्छिन्नकल्याणम् । वज्रसारः—वज्रस्य सार इव अभि(भे-)द्यतमत्वात् । त्यागप्रायभोगाः—त्यागोऽर्थिषु संविभाग प्रायेण बाहुल्येन भोगे अनुभवे यस्या । सततं—यावज्जीवम् । उदयिनी—दिने दिने वर्धमाना । परार्ध्या—उत्कृष्टा शुश्रूषादिगुणसपन्नत्वाद् । आदेया—अनुल्लङ्घ्या । सदस्या—सभाया पट्वी । व्यवहृतिः—हिते प्रवृत्तिरहितान्निवृत्तिश्च । प्रणयिपरवशं—बन्धुमित्रादीनामेव परतन्त्रं न शत्रूणाम् ॥२९॥

अथ पुण्यस्य बहुफलयौगपद्य दर्शयति—

चिद्भूम्युत्थ प्रकृतिशिखरिश्रेणिरापूरिताशा-
चक्रः सज्जीकृतरसभरः स्वच्छभावाम्बुपूरैः ।
नानाशक्ति-प्रसव-विसरः साधुपान्थौघसेव्यः,
पुण्यारामः फलति सुकृतां प्रार्थितांल्लुम्बिशोऽर्थान् ॥३०॥

चित्—चेतना पुण्यस्य जीवोपश्लिष्टत्वात् । प्रकृतयः—सद्वेद्यादयः । शिखरिण —वृक्षा । आशा —भविष्यार्थवाञ्छा दिशश्च । रस —विपाको मधुरादिश्च । भावः—परिणाम । विसरः—समूहः । सुष्ठु—शोभनं तपोदानादिकृतवताम् । लुम्बिश —त्रिचतुरादिफलस्तोमं प्रशस्तं कृत्वा ॥३०॥

अथ सहभाविवाञ्छितार्थफलस्तोमं पुण्यस्य लक्षयति—

पित्र्यैर्वैनयिकैश्च विक्रमकलासौन्दर्यचर्यादिभि-
र्गोष्ठीनिष्ठुरसैर्नृणां पृथगपि प्रार्थ्यैः प्रतीतो गुणैः ।
सम्यक्स्निग्ध-विदग्ध-मित्रसरसालापोल्लसन्मानसो,
धन्यः सौधतलेऽखिलर्तुमधुरे कान्तेक्षणैः पीयते ॥३१॥

आगे बतलाते हैं कि पुण्यसे एक साथ बहुत फल प्राप्त होते हैं—

पुण्य उपवनके तुल्य है। यह पुण्यरूपी उपवन चित्तरूपी भूमिमे उगता है, इसमें कर्मप्रकृतिरूपी वृक्षोकी पंक्तियाँ होती हैं। उपवन दिशाचक्रको अपने फलभारसे घेरे होता है, पुण्य भी भविष्यके मनोरथोंसे पूरित होता है। उपवन स्वच्छ जलके समूहके कारण रसभारसे भरपूर होता है, पुण्य भी निर्मल परिणामरूपी जलके समूहसे होनेवाले अनुभागरूप रसभारसे भरपूर रहता है अर्थात् जितने ही अधिक मन्द कषायको लिये हुए निर्मल परिणाम होते हैं उतना ही अधिक शुभ प्रकृतियोमें फलदानकी शक्ति प्रचुर होती है। उपवन नाना प्रकारके फूलोंके समूहसे युक्त होता है, पुण्य भी नाना प्रकारकी फलदान शक्तिसे युक्त होता है। चूँकि फूलसे ही फल लगते हैं अतः शक्तिको फूलोंकी उपमा दी है। उपवनमें सदा पथिक जन आते रहते हैं। पुण्य भी साधुजनोंके द्वारा सेवनीय होता है। यहाँ साधुजनसे धर्म, अर्थ और कामका सेवन करनेवाले लेना चाहिए।

इस तरह पुण्यरूपी उपवनमे दान तप आदि करनेवाले पुण्यशालियोंके द्वारा प्रार्थित पदार्थ प्रचुर रूपमें फलते है ॥३०॥

आगे कहते हैं कि पुण्यसे बहुत सहभावी इच्छित पदार्थ फलरूपमें प्राप्त होते है—

माता-पितासे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त विक्रम, कला, सौन्दर्य, आचार आदि गुणोसे, जिनकी चर्चा पारस्परिक गोष्ठीमे भी आनन्ददायक होती है और जिनमेसे मनुष्य एक एक गुणको भी प्राप्त करनेके इच्छुक रहते हैं, सबकी तो बात ही क्या है? ऐसे गुणोंसे युक्त पुण्यशाली मनुष्य सब ऋतुओंमे सुखदायक महलके ऊपर कान्ताके नयनोंके द्वारा अनु-

पित्र्यै—पितृभ्यामागतैः आभिजनैरित्यर्थः । वैनयिकैः—शिक्षाप्रभवैराहार्यैरित्यर्थः । तत्र विक्रम-सौन्दर्यप्रियंवदत्वादयः सहजाः कलाचर्या मैत्र्यादयः आहार्याः गोष्ठीनिष्ठरसैः—लक्षणया सदा समुदितैः ।
३ पृथक्—एकैकशः । पीयते—अत्यन्तमालोक्यते ॥३१॥

अथैव पुण्यवतः स्वगतां गुणसंपत्तिं प्रदर्श्य कान्तागतां तां प्रकाशयति—

साध्वीस्त्रिवर्गविधिसाधनसावधानाः,
६ कोपोपदंशमधुरप्रणयानुभावाः ।
लावण्यवारितरगात्रलताः समान-
सौख्यासुखाः सुकृतिनः सुदृशो लभन्ते ॥३२॥ [ ]

९ लावण्यवारितराः—अतिशायिनि कान्तिमत्त्वे जलवद्व्यापिनि तरन्त्य इव लताः । प्राशस्त्यं कार्श्यं वा द्योतयतीदम् । असुखं—दुःखम् । तच्चात्र प्रणयभङ्गादिकृतमेव न व्याध्यादिनिमित्तं तस्य कृतपुण्येष्वसंभवात् । यदि वा संसारे सुखदुःखे प्रकृत्या सान्तरे एव । तथा च लोकाः पठन्ति—

१२ सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम् ।
सुखं दुःखं च मर्त्यानां चक्रवत्परिवर्तते ॥३२॥

राग पूर्वक देखा जाना है और उसका चित्त सच्चे प्रेमी रसिक मित्रोंके साथ होनेवाले सरस वार्तालापसे सदा आनन्दित रहता है ॥३१॥

विशेषार्थ—गुण दो तरहके होते हैं—कुलक्रमसे आये हुए और शिक्षासे प्राप्त हुए। पराक्रम, सौन्दर्य और प्रियवादिता आदि तो कुलक्रमागत गुण हैं। लिखना, पढना, गायन, प्रातःकाल उठकर देवपूजा आदि करना, आचार, ये शिक्षासे प्राप्त होनेवाले गुण है। तथा कान्तासे मतलब अपनी पत्नीसे है जो पवित्र नागरिक आचारसे सम्पन्न हो, तथा चरित्र, सरलता, क्षमा आदिसे भूषित हो, अवस्थाके अनुसार वह बाला युवती या प्रौढा हो सकती है। उक्त श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने सद्गुणोकी प्राप्ति और सच्चे गुणी मित्रोंकी गोष्ठी तथा सद्गुणोसे युक्त पत्नीकी प्राप्तिको पुण्यका फल कहा है और जिसे वे प्राप्त हैं उस पुरुषको धन्य कहा है। जो लक्ष्मी पाकर कुसंगतमे पड़ जाते है जिनमे न कुलीनता होती है और न सदाचार, जो सदा कुमित्रोंके संग रमते है, शराब पीते है, वेश्यागमन करते हैं वे पुण्यशाली नही है, पापी है। सच्चा पुण्यात्मा वही है जो पुण्यके उदयसे प्राप्त सुख-सुविधाओको पाकर भी पुण्य कर्मसे विमुख नहीं होता। कुसंगति पुण्यका फल नहीं है, पाप-का फल है।

इस प्रकार पुण्यवान्‌की स्वयंको प्राप्त गुणसम्पदाका कथन करके दो श्लोकोंके द्वारा स्त्रीविषयक गुणसम्पदाको बतलाते हैं—

पुण्यशालियोंको ऐसी स्त्रियाँ पत्नी रूपसे प्राप्त होती हैं जो सुलोचना, सीता, द्रौपदी-की तरह पतिव्रता होती हैं, धर्म, अर्थ और कामका शास्त्रोक्त विधिसे सम्पादन करनेमें सावधान रहती है—उसमे प्रमाद नहीं करतीं, जिनके प्रेमके अनुभाव—कटाक्ष फेकना, मुसकराना, परिहासपूर्वक व्यंग वचन बोलना आदि—बनावटी कोपरूपी स्वादिष्ट व्यंजनसे मधुर होते है, जिनकी शरीररूपी लता लावण्यरूपी जलमे मानो तैरती है अर्थात् उनका शरीर लताकी तरह कोमल और लावण्यसे पूर्ण होता है, तथा जो पतिके सुखमें सुखी और दुःखमे दुःखी होती है ॥३२॥

अपि च—

व्यालोलनेत्रमधुपाः सुमनोभिरामाः,
पाणिप्रवालरुचिराः सरसाः कुलीनाः । ३
आनृण्यकारणसुपुत्रफलाः पुरन्ध्र्यो,
धन्यं व्रतत्य इव शाखिनमास्वजन्ते ॥३३॥

सुमनस —सुचित्ता. पुष्पाणि च। सरसा —सानुरागा. सार्द्राश्च। कुलीना —कुलजा भूमिश्लिष्टाश्च। ६
आनृण्यम्—अपुत्र पुमान् पितॄणामृणभाजनमित्यत्रोपजीव्यम् । शाखिन—वृक्ष बहुगोत्रविस्तारं च ॥३३॥

अथ बालात्मजलीलावलोकनसुखं कृतपुण्यस्य प्रकाश्यते—

क्रीत्वा वक्षोरजोभिः कृतरभसमुरश्चन्दनं चाटुकारैं, ९
किंचित् संतर्प्य कर्णौ द्रुतचरणरणद्घुर्घुरं दूरमित्वा ।
क्रीडत् डिम्भैः प्रसादप्रतिघघनरसं सस्मयस्मेरकान्ता-
दृक्संबाधं जिहीते नयनसरसिजान्यौरस पुण्यभाजाम् ॥३४॥ १२

क्रीत्वा—पणयित्वा स्वीकृत्य इत्यर्थ । इत्वा—गत्वा । प्रतिघ —कोपः । सस्मया —सगर्वा ।
संकट कान्तादृशोऽप्यौरसोऽपि युगपन्नयनयो सञ्चरन्तीत्यर्थ ॥३४॥

अथ पुत्रस्य कौमारयौवनोचिता गुणसपद पुण्यवत शंसति— १५

आयुके अनुसार अपनी पत्नीके भी दो रूप होते है—युवती और पुरन्ध्री। जब तक प्रारम्भिक युवावस्था रहती है तबतक युवती और वाल-बच्चोंसे कुटुम्बके पूर्ण हो जाने पर पुरन्ध्री कही जाती है। इनमें-से युवतीसम्बन्धी सुख-सम्पदाका कथन करके अब पुरन्ध्री-विषयक सुख बतलाते हैं—

जैसे चचल नेत्रोंके समान भौरोंसे युक्त, पुष्पोंसे शोभित, हथेलीके तुल्य नवीन कोमल पत्तोंसे मनोहर, सरस और फलभारसे पृथ्वीमे झुकी हुई लताएँ वृक्षका आलिंगन करती है उसी प्रकार भौरे-जैसे चंचल नेत्रवाली, प्रसन्न मन, कोमल पल्लव जैसे करोसे सुन्दर, अनुरागसे पूर्ण, कुलीन और अपने पतिको पितृऋणसे मुक्त करनेमे कारण सुपुत्ररूपी फलोंसे पूर्ण पुरन्ध्रियाँ पुण्यशाली पतिका आलिंगन करती हैं ॥३३॥

अब बतलाते हैं कि पुण्यवान्‌को अपने बालपुत्रकी लीलाको देखनेका सुख प्राप्त होता है—

खेलते हुए अपनी छातीमें लगी हुई धूलके साथ वेगसे आकर पितासे लिपट जानेसे पिताकी छाती पर लगा चन्दन बालककी छाती पर लग जाता है और बालककी छाती पर लगी धूल पिताकी छातीसे लग जाती है। कभी अपने प्रियवचनोंसे पिताके कानोंको तृप्त करता है, कभी जल्दी-जल्दी चलनेसे पैरोंमे बँधे हुए घुँघुरूके झुनझुन शब्दके साथ दूर तक जाता है और बालकोंके साथ खेलते हुए क्षणमे रुष्ट और क्षणमे तुष्ट होता है। उसकी इन क्रीडाओंसे आकृष्ट बालककी माता गर्वसे भरकर मुसकराती हुई उसे निहारती है तो पुण्य-शाली पुरुष के नयनकमल अपने पुत्रकी क्रीडाओंको देखनेमे बाधाका अनुभव करते हैं क्योकि प्रिय पुत्र और प्रिय पत्नी दोनो ही उसे अपनी ओर आकृष्ट करते है। यह पुण्यका विलास है ॥३४॥

पुण्यशालीके पुत्रकी कुमार अवस्था और यौवन अवस्थाके योग्य गुण-सम्पदाकी प्रशंसा करते हैं—

सद्विद्याविभवैः स्फुरन् धुरि गुरूपास्त्यर्जितैस्तज्जुषां,
दो पाशेन बलात् सितोऽपि रमया बध्नन् रणे वैरिणः।
३ आज्ञैश्वर्यमुपागतस्त्रिजगतीजाग्रद्यशश्चन्द्रमा,
देहेनैव पृथक् सुतः पृथुवृषस्यैकोऽपि लक्षायते ॥३५॥

तज्जुषा—सद्विद्याविभवभाजा, सितः—बद्धः, रमया—लक्ष्म्या, पृथुवृषस्य—विपुलपुण्यस्य पुंसः, ६ लक्षायते—शतसहस्रपुत्रसाध्यं करोतीत्यर्थः ॥३५॥

अथ गुणसुन्दरा दुहितरोपि पुण्यादेव संभवन्तीति दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

कन्यारत्नसृजां पुरोऽभवदिह द्रोणस्य धात्रीपतेः,
९ पुण्यं येन जगत्प्रतीतमहिमा द्रष्टा विशल्यात्मजा।
क्रूर राक्षसचक्रिणा प्रणिहितां द्राग् लक्ष्मणस्योरसः,
शक्तिं प्रास्य यया स विश्वशरणं रामो विशल्यीकृतः ॥३६॥

१२ द्रोणस्य—द्रोणघननाम्न'। राक्षसचक्रिणा—रावणेन ॥३६॥

अथ पुण्योदयवर्तिना कर्मायासं प्रत्यस्यति—

गुरुओंकी सेवासे उपार्जित समीचीन विद्याके विलाससे जो विद्याके वैभवसे युक्त ज्ञानी जनोंके मध्यमें उनसे ऊपर शोभता है, जो लक्ष्मीके बाहुपाशसे बलपूर्वक बद्ध होने पर भी युद्धमें शत्रुओको बाँधता है, आज्ञा और ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, जिसका यशरूपी चन्द्रमा तीनो लोकोमें छाया हुआ है, तथा जो पितासे केवल शरीरसे ही भिन्न है, गुणोंमें पिताके ही समान है, पुण्यशाली पिताका ऐसा एक भी पुत्र लाखो पुत्रोंके समान होता है ॥३५॥

गुणोंसे शोभित कन्याएँ भी पुण्यसे ही होती हैं, यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

इस लोकमे कन्यारूपी रत्नको जन्म देनेवालोंमे राजा द्रोणका पुण्य प्रधान था जिन्होने विशल्या नामक पुत्रीको जन्म दिया जिसकी महिमा जगतमे प्रसिद्ध है। जब राक्षसराज रावणने क्रूरतापूर्वक लक्ष्मणकी छातीमें शक्तिसे प्रहार किया तो उस विशल्याने तत्काल ही उस शक्तिको निरस्त करके जगत्‌के लिए शरणरूपसे प्रसिद्ध रामचन्द्रको अपने लघुभ्राता लक्ष्मणकी मृत्युके भयसे मुक्त कर दिया ॥३६॥

विशेषार्थ—यह कथा रामायणमे आती है। पद्मपुराणमें कहा है कि राम और रावणके युद्धमे रावणने अपनी पराजयसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मण पर शक्तिसे प्रहार किया। लक्ष्मण मूर्छित होकर गिर गये। मूर्छित लक्ष्मणको मरे हुए के समान देखकर रामचन्द्र शोकसे विह्वल होकर मूर्छित हो गये। मूर्छा दूर होने पर लक्ष्मणको जिलानेका प्रयत्न होने लगा। इतनेमे एक विद्याधर रामचन्द्रजीके दर्शनके लिए आया और उसने लक्ष्मणकी मूर्छा दूर होनेका उपाय बताया कि राजा द्रोणकी पुत्री विशल्याके स्नानजलसे सब व्याधियाँ दूर हो जाती है। तब विशल्याका स्नानजल लेनेके लिए हनुमान आदि राजा द्रोणके नगरमे गये। राजा द्रोणने विशल्याको लक्ष्मणसे विवाहनेका संकल्प किया था। अतः उसने विशल्याको ही हनुमान आदिके साथ भेज दिया। विशल्याको देखते ही शक्तिका प्रभाव समाप्त हो गया और लक्ष्मणकी मूर्छा दूर हो गयी। रामचन्द्रजीकी चिन्ता दूर हुई। अत ऐसी कन्या भी पुण्यके प्रतापसे ही जन्म लेती है।

जिनके पुण्यका उदय है उनको कामके लिए श्रम करनेका निषेध करते हैं—

विश्राम्यत स्फुरत्पुण्या गुडखण्डसितामृतैः ।
स्पर्द्धमाना फलिष्यन्ते भावाः स्वयमितस्ततः ॥३७॥

सिता—शर्करा, भावा—पदार्था ॥३७॥ ३

अथ कल्पवृक्षादयोऽपि धर्माधीनवृत्तय इत्युपदिशति—

धर्मः क्व नालं कर्माणो यस्य भृत्या सुरद्रुमाः ।
चिन्तामणिः कर्मकरः कामधेनुश्च किंकरा ॥३८॥ ६

अलकर्माण —कर्मक्षमः ॥३८॥

बिना किसी बाधाके अपना कार्य करनेमें समर्थ पुण्यके धारी जीवो ! अपने कार्यकी सिद्धिके लिए दौड़धूप करनेसे विरत होओ। क्योंकि गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे स्पर्द्धा करनेवाले पदार्थ आपके प्रयत्नके विना स्वयं ही इधर-उधरसे आकर प्राप्त होंगे ॥३७॥

विशेषार्थ—बँधनेवाले कर्मोंकी पुण्य प्रकृतियोंमें जो फलदानकी शक्ति पड़ती है उसकी उपमा गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृतसे दी गयी है।

अघातिया कर्मोंकी शक्तिके भेद प्रशस्त प्रकृतियोंके तो गुड़ खाण्ड शर्करा और अमृतके समान होते हैं। और अप्रशस्त प्रकृतियोके नीम, काजीर, विप और हालाहलके समान होते है।[1]

जैसे गुड़, खाण्ड, शक्कर और अमृत अधिक-अधिक मीठे होनेसे अधिक सुखके कारण होते हैं। उसी प्रकार पुण्य प्रकृतियोंमे जो अनुभाग पड़ता है वह भी उक्त रूपसे अधिक-अधिक सुखका कारण होता है। इस प्रकारके अनुभागके कारण जीवके परिणाम जैसे विशुद्ध, विशुद्धतर, विशुद्धतम होते हैं तदनुसार ही अनुभाग भी गुड़, खाण्ड, शर्करा और अमृतके तुल्य होता है। उसका विपाक होने पर वाह्य वस्तुओंकी प्राप्ति बिना प्रयत्नके ही अनुकूल होती है ॥३७॥

आगे कहते हैं कि कल्पवृक्ष आदि भी धर्म (पुण्य) के आधीन है—

कल्पवृक्ष जिसके सेवक हैं, चिन्तामणि रत्न पैसेसे खरीदा हुआ दास है और कामधेनु आज्ञाकारी दासी है वह धर्म अभ्युदय और मोक्ष सम्बन्धी किस कार्यको करनेमे समर्थ नहीं है ? ॥३८॥

विशेषार्थ—कल्पवृक्ष, चिन्तामणि रत्न और कामधेनु ये तीनो इच्छित वस्तुको देनेमे प्रसिद्ध हैं। कल्पवृक्ष भोगभूमिमे होते है। इनसे माँगने पर भोग-उपभोगकी सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य जिनसेनने इन्हें पार्थिव कहा है—

"ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न देवोंके द्वारा अधिष्ठित है। केवल पृथिवीके साररूप हैं।"[2]

---

१. गुडखडसक्करामियसरिसा सत्था हु णिंवकजीरा ।
विसहालाहलसरिसाऽसत्था हु अघादिपडिभागा ॥—गो क, गा ८४ ।

२ न वनस्पतयोऽप्येते नैव दिव्यैरधिष्ठिता ।
केवलं पृथिवीसारास्तन्मयत्वमुपागता ॥—महापु. ९।४९ ।

अथ यथाकथंचित् पूर्वपुण्यमुदीर्णं स्वप्रयोक्तारमनुगृह्णातीत्याह—

प्रियान् दूरेऽप्यर्थाञ्जनयति पुरो वा जनिजुषः,
करोति स्वाधीनान् सखिवदथ तत्रैव दयते ।
३ ततस्तान्वानीय स्वयमपि तदुद्देशमथवा,
नरं नीत्वा कामं रमयति पुरापुण्यमुदितम् ॥३९॥

पुरः—भोक्तुरुत्पत्तेः प्रागेव, जनिजुषः—उत्पन्नान्, दयति (-ते) रक्षति । ततः—दूरादेशात् । उक्तं
६ चार्षे—

दीपान्तराद्दिशोऽप्यन्तादन्तरीपदपानिधे ।
विधिर्घटयतीष्टार्थमानीयात्लीपता गत ॥ [ ] ॥३९॥

चिन्तामणि रत्नको ग्रन्थकारने अपनी टीकामें रोहणपर्वत पर उत्पन्न होनेवाला रत्न विशेष कहा है । और कामधेनु कवि कल्पनामें देवलोककी गाय है । ये सभी पदार्थ माँगने पर इच्छित पदार्थोंको देते हैं । किन्तु विना पुण्यके इनकी प्राप्ति नहीं होती है । अतः ये सब भी धर्मके ही दास हैं । धर्मसे ही प्राप्त होते हैं । यही बात कविवर भूधरदासजीने बारह भावनामें कही है[1] ॥३८॥—

आगे कहते हैं कि पूर्वकृत पुण्य उदयमें आकर अपने कर्ताका किसी न किसी रूपमें उपकार करता है—

पूर्वमें किया हुआ पुण्य अपना फल देनेमें समर्थ होने पर दूरवर्ती प्रदेशमें भी स्पर्शन आदि इन्द्रियोंसे भोगने योग्य प्रिय पदार्थोंको उत्पन्न करता है । यदि वे प्रिय पदार्थ अपने भोक्ता की उत्पत्तिसे पहले ही उत्पन्न हो गये हों तो उन्हें उसके अधीन कर देता है । अथवा मित्रकी तरह वहाँ ही उनकी रक्षा करता है । और उन पदार्थोंको दूर या निकट देशसे लाकर अथवा उस मनुष्यको स्वयं उन पदार्थोंके प्रदेशमें ले जाकर यथेच्छ भोग कराता है ॥३९॥

विशेषार्थ—यह कथन पुण्यकी महत्ता बतलानेके लिए किया गया है । पदार्थ तो अपने-अपने कारणके अनुसार स्वयं ही उत्पन्न होते हैं । तथापि जो पदार्थ उत्पन्न होकर जिस व्यक्तिके उपभोगमें आता है उसके कर्मको भी उसमें निमित्त कहा जाता है । यदि कर्म स्वयं कर्ता होकर बाह्य सामग्रीको उत्पन्न करे और मिलावे तब तो कर्मको चेतनपना और बलवानपना मानना होगा । किन्तु ऐसा नहीं है स्वाभाविक एक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । जब कर्मका उदय होता है तब आत्मा स्वयं ही विभाव रूप परिणमन करता है तथा अन्य द्रव्य भी वैसे ही सम्बन्ध रूप होकर परिणमन करते हैं । जब पुण्य कर्मका उदय-काल आता है तब स्वयमेव उस कर्मके अनुभागके अनुसार कार्य बनते हैं, कर्म उन कार्योंको उत्पन्न नहीं करता । उसका उदयकाल आने पर कार्य बनता है ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है । अघाति कर्मोंमें वेदनीयके उदयसे सुख-दुःखके बाह्यकारण उत्पन्न होते हैं । शरीरमें नीरोगता, बल आदि सुखके कारण हैं, भूख प्यास आदि दुःखके कारण हैं । बाहरमें इष्ट स्त्री पुत्रादि, सुहावने देश कालादि सुखके कारण हैं अनिष्ट स्त्री पुत्रादि असुहावने

---

१. जाँचे सुरतरु देय सुख, चिन्तैं चिन्ता रैन ।
बिन जाँचे बिन चितये धरम सकल सुखदैन ॥

अथ धर्मस्यामुत्रिकफलातिशयं स्तौति—

यद्दिव्य वपुराप्य मङ्क्षु हृषितः पश्यन् पुरा सत्कृतं,
द्राग् बुद्ध्वावधिना यथा स्वममरानादृत्य सेवादृतान् ।
सुप्रीतो जिनयज्वनां धुरि परिस्फूर्जन्नुदारश्रियां,
स्वाराज्यं भजते चिराय विलसन् धर्मस्य सोऽनुग्रहः ॥४०॥

मङ्क्षु—अन्तर्मुहूर्तत., हृषित —विस्मित । सुकृत—सदाचरणम् । अवधिना—तत्कालोत्पन्नातीन्द्रियज्ञानविशेषेण, यथास्वं—यो यस्य नियोगस्त तत्रैव प्रत्यवस्थाप्य इत्यर्थ. । अमरान्—सामानिकादीन् । जिनयज्वना—अर्हत्पूजकानामैशानादिशक्राणाम् । स्वाराज्यं—स्वर्गेऽधिपतित्वम्, विलसन्—शच्यादिदेवीविलासप्रसक्त सन् । स अनुग्रह —उपकार ॥४०॥

देश-कालादि दुःखके कारण है । वाह्य कारणोंमें कुछ कारण तो ऐसे होते हैं जिनके निमित्तसे शरीरकी अवस्था सुख-दु.खका कारण होती है और कुछ कारण ऐसे होते हैं जो स्वयं ही सुख-दु खके कारण होते हैं । ऐसे कारणोंकी प्राप्ति वेदनीय कर्मके उदयसे बतलायी है । साता वेदनीयके उदयसे सुखके कारण मिलते है और असाता वेदनीयके उदयसे दुःखके कारण मिलते हैं । किन्तु कारण ही सुख-दु खको उत्पन्न नहीं करते, जीव मोहके उदयसे स्वयं सुख-दुःख मानता है । वेदनीय और मोहनीय कर्मोंके उदयका ऐसा ही सम्बन्ध है । जब सातावेदनीयके उदयसे प्राप्त वाह्य कारण मिलता है तब सुख मानने रूप मोहका उदय होता है और जब असातावेदनीयके उदयसे प्राप्त वाह्य कारण मिलता है तब दु ख मानने रूप मोहका उदय होता है । एक ही वाह्य कारण किसीके सुखका और किसीके दु.खका कारण होता है । जैसे किसीको सातावेदनीयके उदयमें मिला हुआ जैसा वस्त्र सुखका कारण होता है वैसा ही वस्त्र किसीको असातावेदनीयके उदयमे मिले तो दु खका कारण होता है । इसलिए वाह्य वस्तु सुख-दुःखका निमित्त मात्र है सुख-दु ख तो मोहके निमित्तसे होता है । निर्मोही मुनियोंको ऋद्धि आदि तथा परीप आदि कारण मिलते हैं फिर भी उन्हें सुख-दु.ख नहीं होता । अत. सुख-दु'खका बलवान कारण मोहका उदय है, अन्य वस्तुएँ बलवान कारण नहीं हैं । परन्तु अन्य वस्तुओंके और मोही जीवके परिणामोंके निमित्त नैमित्तिककी मुख्यता है इससे मोही जीव अन्य वस्तुओको ही सुख-दु.खका कारण मानता है । पुण्य कर्मके उदयमे सुखरूप सामग्रीकी प्राप्ति होती है इसीलिए उसमे पुण्य कर्मको निमित्त माना जाता है ॥३९॥

इस प्रकार अनेक प्रकारके शुभ परिणामोसे संचित पुण्यविशेपके अतिशय युक्त विचित्र फलोंका सामान्य कथन किया । अब विशेप रूपसे उसके पारलौकिक विचित्र फलोंको वताते हैं । सबसे प्रथम स्वर्गलोक सम्बन्धी सुख का कथन करते हैं—

अन्तर्मुहूर्तमे ही उपपाद शिला पर उत्पन्न हुआ दिव्य शरीर प्राप्त करके विस्मयपूर्वक चारों ओर देव और देवियोंके समूहको देखता है । देखते ही तत्काल उत्पन्न हुए अवधिज्ञानसे जानता है कि पूर्व जन्ममे शुभ परिणामसे उपार्जित पुण्यका यह फल है । तब प्रसन्न होकर सेवामे तत्पर प्रतीन्द्र सामानिक आदि देवोका यथायोग्य सत्कार करता है । और महर्द्धिक देवोंके चित्तमे भी आश्चर्य उत्पन्न करनेवाली अणिमा आदि आठ ऋद्धियोंके ऐश्वर्यसे सम्पन्न ईशान आदि इन्द्रोंके, जो जिनदेवके पूजक होते हैं, भी अगुआ बनकर

इन्द्रपदानन्तरभावि चक्रिपदमपि पुण्यविशेषादेवासाद्यत इत्याह—

उच्चैर्गोत्रमभिप्रकाश्य शुभकृद्दिक्चक्रवालं करै-
३ **राक्रामन् कमलाभिनन्दिभिरनुग्रथ्नन् रथाङ्गोत्सवम् ।**
दूरोत्सारितराजमण्डलरुचिः सेव्यो मरुत्खेचरै-
रासिन्धोस्तनुते प्रतापमतुलं पुण्यानुगुण्यादिनः ॥४१॥

६ उच्चैर्गोत्रं—इक्ष्वाक्वादिवंशविशेषं कुलाद्रिं च । अभि—निर्भयं समन्ताद्वा । शुभकृत्—शुभं कृन्तन्ति छिन्दन्ति शुभकृत. प्रतिपक्षभूपास्तदुपलक्षित दिक्चक्रं, पक्षे प्रजाना क्षेमकर. । करै.—सिद्धायै. किरणैश्च । कमला—लक्ष्मी, कमलानि च पद्मानि । अनुग्रथ्नन्—दीर्घीकुर्वन् । रथाङ्गोत्सवं—चक्ररत्नस्योद्धर्षं चक्रवाक-
९ प्रीतिं च । राजमण्डल—नृपगण चन्द्रबिम्बं च । मरुत्खेचरै:—देवविद्याधरैर्ज्योतिष्कदेवग्रहैश्च । इन.—स्वामी सूर्यश्च ॥४१॥

अथार्द्धचक्रिपदमपि सनिदानधर्मानुभावादेव भवतीत्याह—

१२ **छित्वा रणे शत्रुशिरस्तदस्तचक्रेण दृप्यन् धरणीं त्रिखण्डाम् ।**
बलानुगो भोगवशो भुनक्ति कृष्णो वृषस्यैव विजृम्भितेन ॥४२॥

शत्रु.—प्रतिवासुदेव । त्रिखण्डा—विजयार्धादर्वाग्भाविनीम् । बलानुगः—बलभद्रं पराक्रमं चानुगच्छन् । भोगवश'—स्रग्वनितादि-विषयतन्त्र । भोगं वा नागशरीरं वष्टि कामयते नागशय्याशायित्वात् । विजृम्भितेन—दु खावसानसुखावसायिनानुभावेन, तस्य मिथ्यात्वानुभावेन नरकान्तफलत्वात् ॥४२॥

अपना प्रभाव फैलाता है । तथा चिरकाल तक शची आदि देवियोंके साथ विलास करते हुए स्वर्गमे जो राज्यसुख भोगता है वह सब सम्यक् तपश्चरणमें अनुरागसे उत्पन्न हुए पुण्यका ही उपकार है ॥४०॥

आगे कहते हैं कि इन्द्रपदके पश्चात् चक्रीका पद भी पुण्य विशेषसे ही प्राप्त होता है—

जैसे सूर्य उच्चगोत्र—निषधाचलको प्रकाशित करके कमलोको आनन्दित करनेवाली किरणोके द्वारा दिशामण्डलको व्याप्त करके प्रजाका कल्याण करता है, और चकवेको चकवीसे मिलाकर उन्हें आनन्द देता है, चन्द्रमण्डलकी कान्तिको समाप्त कर देता है ज्योतिष्क ग्रहोंसे सेवनीय होता है और समुद्र पर्यन्त अपने अतुल प्रतापको फैलाता है । वैसे ही पूर्वक्त पुण्यके योगसे चक्रवर्ती भी अपने जन्मसे उच्चकुलको प्रकाशित करके लक्ष्मीको बढानेवाले करोंके द्वारा प्रतिपक्षी राजाओंसे युक्त दिशामण्डलको आक्रान्त करके चक्ररत्नका उत्सव मनाता है, राजागणोंके प्रतापको नष्ट कर देता है, देव और विद्याधर उसकी सेवा करते हैं तथा वह अपने अनुपम प्रतापको समुद्रसे लेकर हिमाचल तक फैलाता है ॥४१॥

आगे कहते हैं कि अर्धचक्रीपद भी निदान पूर्वक किये गये धर्मके प्रभावसे ही प्राप्त होता है—

अपने शत्रु प्रतिनारायणके द्वारा युद्धमे चलाये गये चक्रके द्वारा उसीका मस्तक काटकर गर्वित हुआ विषयासक्त कृष्ण बलदेवके साथ तीन खण्ड पृथ्वीको भोगता है यह उसके पूर्वजन्ममे निदानपूर्वक तपके द्वारा संचित पुण्यका ही विरुद्ध विलास है ॥४२॥

विशेषार्थ—चक्रवर्तीके तो घरमे चक्ररत्न उत्पन्न होता है किन्तु अर्धचक्री नारायणके प्रतिद्वन्दी प्रतिनारायणके पास चक्ररत्न होता है । जब दोनोंका युद्ध होता है तो प्रतिनारायण नारायण पर चक्र चलाता है । इस तरह वह चक्र प्रतिनारायणसे नारायणके पास आ जाता

अथ कामदेवत्वमपि धर्मविशेषेण सम्पद्यत इत्याह—

यासां भ्रूभङ्गमात्रप्रदरवरभरप्रक्षरत्सत्त्वसारा
वीराः कुर्वन्ति तेऽपि त्रिभुवनजयिनश्चाटुकारान् प्रसत्त्यै । ३
तासामप्यङ्गनानां हृदि नयनपथेनैव संक्रम्य तन्वन्
याञ्चाभङ्गेन दैन्यं जयति सुचरितः कोऽपि धर्मेण विश्वम् ॥४३॥

विद्येशीभूय धर्माद्वरविभवभरभ्राजमानैर्विमाने- ६
र्व्योम्नि स्वैरं चरन्तः प्रिययुवतिपरिस्पन्दसान्द्रप्रमोदा ।
दीव्यन्तो दिव्यदेशेष्वविहतमणिमाद्यद्भुतोत्सृप्तिदृप्ता,
निष्क्रान्ताविभ्रमं धिग्भ्रमणमिति सुरान् गत्यहंयून् क्षिपन्ति ॥४४॥ ९

परिस्पन्दः—श‍ृङ्गाररचना। दिव्यदेशेसु—नन्दनकैलासान्तरद्वीपादिपु। अणिमादय.—अणिमा महिमा लघिमा गरिमा ईशित्वं प्रागम्यं (प्राकाम्यं) वशित्वं कामरूपित्वं वेति। उत्सृप्तिः—उद्गति। निष्क्रान्ताविभ्रमं—देवीनामनिमेषलोचनतया भ्रूविकारानवतारादेवमुच्यते। गत्यहंयून्—मानुपोत्तरपर्वताद् १२ बहिरभि गमनेन गर्वितान्। क्षिपन्ति—निन्दन्ति ॥४४॥

है और फिर नारायण उसी चक्रसे प्रतिनारायणका मस्तक काटकर विजयार्धपर्यन्त तीनखण्ड पृथ्वीका स्वामी होकर अपने बड़े भाई बलभद्रके साथ भोग भोगता है, और मरकर नियमसे नरकमे जाता है। पूर्वजन्ममे निदानपूर्वक तप करनेसे संचित हुए पुण्यका यह परिणाम है कि सासारिक सुख तो प्राप्त होता है किन्तु उसका अन्त दुःखके साथ होता है क्योकि मिथ्यात्वके प्रभावसे उस पुण्यके फलका अन्त नरक है।

आगे कहते हैं कि कामदेवपना भी धर्मविशेषका ही फल है—

तीनों लोकोंको जीतनेकी शक्ति रखनेवाले जगत् प्रसिद्ध वीर पुरुष भी जिन स्त्रियोंके केवल कटाक्षपातरूपी बाणसे अतिपीड़ित होकर अपना विवेक और बल खो बैठते हैं और उनकी प्रसन्नताके लिए चाटुकारिता करते हैं—चिरौरी आदि करते हैं, उन स्त्रियोंके भी हृदयमे दृष्टिमार्ग मात्रसे प्रवेश करके उनकी प्रार्थनाको स्वीकार न करनेके कारण उनके मन-स्तापको बढानेवाले अखण्डितशील विरले पुरुष ही धर्मके द्वारा विश्वको वशमें करते हैं ॥ ४३ ॥

आगे कहते हैं कि विद्याधरपना भी धर्मविशेषसे प्राप्त होता है—

धर्मके प्रतापसे विद्याधर होकर ध्वजा, माला, घण्टाजाल आदि श्रेष्ठ विभवके प्रकर्षसे शोभायमान विमानोंमें स्वच्छन्दतापूर्वक आकाशमे विचरण करते हैं, साथमे तरुणी वल्लभाओंकी शृंगार-रचनासे उनका आनन्द और भी घना हो जाता है। वे अणिमा-महिमा आदि आठ विद्याओंके अद्भुत उद्गमसे गर्विष्ठ होकर नन्दनवन, कुलाचल, नदी, पर्वत आदि दिव्य देशोंमें क्रीडा करते हुए मानुपोत्तर पर्वतसे बाहर भी जा सकनेकी शक्तिसे गर्वित देव-के भी भ्रमणको धिक्कारते हुए उनका तिरस्कार करते हैं क्योंकि देवागनाओंकी ऑखें निर्नि-मेष होती हैं—उनकी पलकें नहीं लगतीं अत. कटाक्ष निक्षेपका आनन्द स्वर्गमें नहीं है ॥४४॥

विशेषार्थ—विद्याधर मनुष्य होनेसे मनुष्यलोकसे बाहर नही जा सकते। किन्तु देव बाहर भी विचरण कर सकते हैं। किन्तु फिर भी विद्याधर देवोंसे अपनेको सुखी मानते हैं।

अथाहारकशरीरसंपदपि पुण्यपविक्रमेत्याह—

प्राप्याहारकदेहेन सर्वज्ञं निश्चितश्रुताः ।
योगिनो धर्ममाहात्म्यान्नन्दन्त्यानन्दमेदुराः ॥४५॥

प्राप्येत्यादि—

प्रमत्तसयतस्य यदा श्रुतविषये क्वचित् संशयः स्यात्तदा क्षेत्रान्तरस्थतीर्थंकरदेवात्त निराकर्तुमसावाहारकमारभते । तच्च हस्तमात्र शुद्धस्फटिकसकाशमुत्तमाङ्गान्न निर्गच्छति । तन्न केनचिद् व्याहन्यते, न किमपि व्याहन्ति । तच्चान्तर्मुहूर्तेन संशयमपनीय पुनस्तत्रैव प्रविशति । आनन्दमेदुराः—प्रीतिपरिपुष्टा ॥४५॥

आगे कहते हैं कि आहारकशरीररूप सम्पत्ति भी पुण्यके उदयसे ही मिलती है—

धर्मके माहात्म्यसे आहारकशरीरके द्वारा केवलीके पास जाकर और परमागमके अर्थका निर्णय करके मुनिजन आनन्दसे पुष्ट होते हुए ज्ञान और संयमसे समृद्ध होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—जो मुनि चारित्र विशेषका पालन करते हुए आहारक शरीरनामकर्म नामक पुण्य विशेषका वन्ध कर लेते हैं, भरत और ऐरावत क्षेत्रमे रहते हुए यदि उन्हें शास्त्रविषयक कोई शंका होती है और वहाँ केवलीका अभाव होता है तव तत्त्वनिर्णयके लिए महाविदेहोंमे केवलीके पास जानेके लिए आहारकशरीरकी रचना करते हैं क्योंकि अपने औदारिक शरीरसे जानेपर उनका संयम न पलनेसे महान् असंयम होता है । वह आहारकशरीर एक हाथ प्रमाण होता है, शुद्ध स्फटिकके समान धवल वर्ण होता है और मस्तकसे निकलता है । न तो कोई उसे रोक सकता है और न वही किसीको रोकता है । एक अन्तर्मुहूर्तमें संशयको दूर करके पुनः मुनिके ही शरीरमे प्रविष्ट हो जाता है । इसे ही आहारक समुद्घात कहते हैं । कहा भी है[1]—

आहारक शरीर नामकर्मके उदयसे प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती मुनिके आहारक शरीर होता है । यह असंयमसे बचावके लिए तथा सन्देहको दूर करनेके लिए होता है । मुनि जिस क्षेत्रमें हो उस क्षेत्रमे केवली श्रुतकेवलीका अभाव होनेपर तथा विदेह आदि क्षेत्रमें तपकल्याणक आदि सम्पन्न होता हो या जिनेन्द्रदेव और जिनालयोकी वन्दना करनी हो तो उसकी रचना इस प्रकारकी होती है—वह मस्तकसे निकलता है, धातुसे रहित होता है, शुभ होता है, संहननसे रहित होता है, समचतुरस्र संस्थानवाला होता है, एक हाथ प्रमाण और प्रशस्त उदयवाला होता है । व्याघात रहित होता है, जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति अन्तर्मुहूर्त होती है । आहारक शरीर पर्याप्तिके पूर्ण होनेपर कदाचित् मुनिका मरण भी हो सकता है ।

---

१. आहारस्सुदयेण पमत्तविरदस्स होदि आहारं ।
असंजमपरिहरणट्ठं संदेहविणासणट्ठं च ॥
णियखेत्ते केवलिदुगविरहे णिक्कमणपहुदि कल्लाणे ।
परखेत्ते सवित्ते जिणजिणघरवंदणट्ठं च ॥
उत्तमअंगम्हि हवे धादुविहीणं सुहं असंघडणं ।
सुहसंठाणं धवलं हत्थपमाणं पसत्थुदयं ॥
अव्वाघादी अंतोमुहुत्तकालट्ठिदी जहण्णिदरे ।
पज्जत्तीसंपुण्णे मरणं पि कदाचि संभवइ ॥
—गो. जीव, गा. २३५-२३८

अथ धर्मानुभावजनितस्वपरान्तरज्ञानाना मुनीन्द्राणामतीन्द्रियसुखसवित्या अहमिन्द्रपदव्यावृत्ति दर्शयति—

कथयतु महिमानं को नु धर्मस्य येन स्फुटघटितविवेकज्योतिषः शान्तमोहाः । ३
समरससुखसंविल्लक्षितात्यक्षसौख्यास्तदपि पदमपोहन्त्याहमिन्द्रं मुनीन्द्राः ॥४६॥

विवेकज्योतिः—स्वपरविभागज्ञानम् । अपोहन्ति—व्यावर्तयन्ति । 'उपसर्गादस्य त्यूहो वा' इति परस्मैपदम् । आहमिन्द्र—अहमिन्द्रः कल्पातीतदेवः । तल्लक्षणमार्षोक्तं यथा— ६

'नासूया परनिन्दा वा नात्मश्लाघा न मत्सरः ।
केवलं सुखसाद्भूता दीव्यन्त्येते दिवौकसः ॥'

अपि च— 'अहमिन्द्रोऽस्मि नेन्द्रोऽन्यो मत्तोऽस्तीत्यात्तकर्तृताः । ९
अहमिन्द्राख्यया ख्यातिं गतास्ते हि सुरोत्तमाः ॥''

[महा पु. ११।१४४, १४३]

अहमिन्द्रस्येदं पदमित्यण् ॥४६॥ १२

आगे कहते हैं कि धर्मके माहात्म्यसे जिन्हें स्वपर भेद-ज्ञान हो जाता है वे मुनीन्द्र अतीन्द्रिय सुखका संवेदन होनेसे अहमिन्द्र पदसे भी विमुख होते हैं—

उस धर्मके माहात्म्यको कौन कह सकता है जिसके माहात्म्यसे स्पष्ट रूपसे स्वपरका भेदज्ञान प्राप्त कर लेनेवाले शान्तमोह अर्थात् उपशान्त कषाय गुणस्थानवर्ती और समरस अर्थात् यथाख्यात चारित्रसे होनेवाले सुखकी अनुभूतिसे अतीन्द्रिय सुखको साक्षात् अनुभवन करनेवाले मुनीद्र उस लोकोत्तर अहमिन्द्र पद से भी विमुख हो जाते हैं ? ॥४६॥

विशेषार्थ—सातवें गुणस्थानके पश्चात् गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ हैं—एकको उपशम श्रेणी कहते हैं और दूसरीको क्षपक श्रेणी। उपशम श्रेणीमे मोहनीय कर्मका उपशम किया जाता है और क्षपक श्रेणीमे मोहका क्षय किया जाता है। आठसे दस तक गुणस्थान दोनों श्रेणियोमे सम्मिलित हैं। उनके बाद ग्यारहवाँ उपशान्त कषाय गुणस्थान उपशम श्रेणीका ही है और बारहवाँ गुणस्थान क्षपकश्रेणीका ही है। इस तरह आठसे ग्यारह तक चार गुणस्थान उपशम श्रेणीके हैं और ग्यारहवेंको छोड़कर आठसे बारह तकके चार गुणस्थान क्षपक श्रेणीके हैं। उपशम श्रेणीपर आरोहण करनेवाला ग्यारहवें गुणस्थानमे जाकर नियमसे नीचे गिरता है क्योंकि दबा हुआ मोह उभर आता है। यदि वह ग्यारहवेमें मरण करता है तो नियमसे अहमिन्द्रदेव होता है। किन्तु जो चरमशरीरी होते हैं वे उपशम श्रेणीपर यदि चढ़े तो गिरकर पुनः क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं और उसी भवसे मोक्ष प्राप्त करते हैं। उक्त श्लोकमे ऐसे ही चरमशरीरी मुनिराजोंका कथन है। जो मुनिराज शुद्धोपयोगसे मिले हुए योग-विशेषसे अहमिन्द्र पदकी प्राप्तिके योग्य पुण्य विशेषके बन्धके अभिमुख होकर भी शुद्धोपयोग-के बलसे उसे बिना बाँधे ही उपशम श्रेणीसे उतरकर क्षपक श्रेणीपर चढ़ते हैं वे जीवन्मुक्त होकर परममुक्तिको प्राप्त करते है। महापुराणमें अहमिन्द्रका लक्षण इस प्रकार कहा है—

मैं ही इन्द्र हूँ, मेरे सिवाय कोई अन्य इन्द्र नहीं है इस प्रकार अपनी सराहना करनेसे वे उत्तम देव अहमिन्द्र नामसे ख्यात हुए। वे न तो परस्पर में असूया करते हैं न परनिन्दा, न आत्मप्रशंसा और न डाह। केवल वे सुखमय होकर क्रीड़ा करते हैं।

अथ गर्भादिकल्याणाश्चर्यविभूतिरपि सम्यक्त्वसहचारिपुण्यविशेषादेव संपद्यत इत्याह—

द्योरेष्यन् विश्वपूज्यौ जनयति जनकौ गर्भगोऽतीव जीवो
जातो भोगान् प्रभुङ्क्ते हरिभिरुपहृतान् मन्दिरान्निष्क्रमिष्यन् ।
३
ईर्त्ते देवर्षिकीर्ति सुरखचरनृपैः प्रव्रजत्याहितेज्यः
प्राप्यार्हन्त्यं प्रशास्ति त्रिजगदृषिनुतो याति मुक्तिं च धर्मात् ॥४७॥

६ व्योममार्गात् एष्यन् । तीर्थंकरे हि जनिष्यमाणे प्रागेव मासषट्कात्तन्माहात्म्येन तत्पितरौ जगत्पूज्यौ भवत । ईर्त्ते—गच्छति प्राप्नोति । देवर्षिकीर्ति—लौकान्तिकदेवकृता स्तुतिम् । प्रव्रजति—दीक्षा गृह्णाति याति मुक्तिं च । अत्रापि धर्मादित्येव केवलम् । धर्मोऽत्र यो मुख्यतया प्राग् व्याख्यात । तस्यैव कृत्स्नकर्म-
९ विप्रमोक्षे सामर्थ्योपपत्ते. ॥४७॥

अथ धर्मोदयानुदयाभ्या सम्पदामिवाधर्मोदयानुदयाभ्या विपदामुपभोगानुपभोगौ भवत इत्याह—

धर्म एव सतां पोष्यो यत्र जाग्रति जाग्रति ।
१२ **भक्तुं मीलति मीलन्ति संपदो विपदोऽन्यथा ॥४८॥**

पोष्य । एतेनोपमान लक्षयति । ततो यथा उपरिके सावधाने राज्ञा सेवनायावरोधिका सावधाना. भवन्ति निरवधाने च निरवधाना तथा प्रकृतेऽपि योज्यम् । जाग्रति—स्वव्यापार प्रवर्तयति सति । मीलति—
१५ स्वव्यापारादुपरमति । अन्यथा—अधर्मे जाग्रति (विपदो) जाग्रति तस्मिश्च मीलति मीलन्ति ॥४८॥

नौ ग्रैवेयकसे लेकर सर्वार्थसिद्धि तकके देव अहमिन्द्र कहलाते हैं। वे सब ब्रह्मचारी होते हैं, उनमे देवांगना नहीं होती ॥४६॥

आगे कहते हैं कि गर्भावतरण आदि कल्याणकोंकी आश्चर्यजनक विभूति भी सम्यक्त्व सहचारी पुण्यविशेषसे ही सम्पन्न होती है—

धर्मके प्रभावसे जब जीव स्वर्गसे च्युत होकर आनेवाला होता है तो माता-पिताको जगत्‌मे पूज्य कर देता है। अर्थात् तीर्थंकरके गर्भमे आनेसे छह मास पूर्व ही उनके माहात्म्य-से माता-पिता जगत्‌मे पूज्य बन जाते है। गर्भमें आनेपर और भी अधिक पूज्य हो जाते हैं। जन्म लेनेपर सौधर्म आदि इन्द्रोके द्वारा भेंट किये गये भोगोंको भोगता है। जब वह घरका परित्याग करना चाहता है तो लौकान्तिकदेवोके द्वारा की गयी स्तुतिका पात्र होता है। फिर देव, विद्याधर और राजाओसे पूजित होकर जिनदीक्षा ग्रहण करता है। अर्हन्त अवस्थाको प्राप्त करके तीनों लोकोको धर्मका उपदेश करता है तथा गणधरदेव आदिसे पूजित होता है। अन्तमे मुक्ति प्राप्त करता है ॥४७॥

विशेषार्थ—इनमे गर्भावतरण आदि महोत्सव तो पुण्य विशेष रूप औपचारिक धर्मके उदयसे होते हैं। किन्तु मोक्षकी प्राप्ति तो पूर्वमे प्रतिपादित मुख्य धर्मसे ही होती है क्योकि समस्त कर्मोंसे छुडानेकी शक्ति मुख्य धर्ममें ही है ॥४७॥

आगे कहते है कि जैसे धर्म—पुण्यके उदयसे सम्पत्तिका भोग और अनुदयमे अनुपभोग है वैसे ही अधर्म—पापके उदयमे विपत्तिका उपभोग और अनुदयमे विपत्तिका अनुपभोग होता है—

विचारशील सत्पुरुषोंको धर्मका ही पोषण करना चाहिए जिसके जाग्रत् रहने पर—कार्यशील रहनेपर सम्पदाएँ अपने स्वामीकी सेवाके लिए जाग्रत् रहती हैं और विराम लेने

अथेदानी धर्मस्य सुखसम्पादकत्वमभिधायेदानी दु खनिवर्तकत्वं तस्यैव पद्यैश्चतुर्दशभि. प्रपञ्चयति । तत्र तावद्दुर्गदेशेषु धर्मस्योपकारं दर्शयति—

कान्तारे पुरुपाकसत्त्वविगलत्सत्त्वेऽम्बुधौ बम्भ्रमत्
ताम्यन्नक्रपयस्युदर्चिषि मरुच्चक्रोच्चरच्छोचिषि ।
संग्रामे निरवग्रहद्विषदुपस्कारे गिरौ दुर्गम-
ग्रावग्रन्थिलदिङ्मुखेऽप्यशरणं धर्मो नरं रक्षति ॥४९॥

कान्तारे—अरण्ये मार्गे च दुर्गमे । पाकसत्त्वा.—क्रूरजीवा सिंहव्याघ्रादय । सत्त्व मनोगुण । सत्त्वा वा प्राणिन । उदर्चिषि—अग्नौ । उपस्कार.—प्रतियत्नो वैकृत वा । ग्रन्थिलानि—निम्नोन्नतत्व नीतानि ॥४९॥

अथ धर्मो नानादुरवस्थाप्राप्त नरमुद्धरतीत्याह—

क्षुत्क्षामं तर्षतप्तं पवनपरिधुतं वर्षशीतातपार्तं
रोगाघ्रातं विषार्तं ग्रहरुगुपहतं मर्मशल्योपतप्तम् ।
दूराध्वानप्रभग्नं प्रियविरहबृहद्भानुदूनं सपत्न-
व्यापन्नं वा पुमासं नयति सुविहित. प्रीतिमुद्धृत्य धर्मः ॥५०॥

ग्रहरुक्—ग्रहाणा शनैश्चरादीना ब्रह्मराक्षसादीना वा पीडा । दूराध्वानप्रभग्न विप्रकृष्टमार्गे खिन्नम् । अध्वानशब्दोऽपि मार्गार्थोऽस्ति । यल्लक्ष्यम्—'करितुरगमनुष्य यत्र वाध्वानदीनम् ।' बृहद्भानु—अग्नि ॥५०॥

अथोक्तार्थसमर्थनार्थं त्रिभि. श्लोकै क्रमेण सगर-तोयदवाहन-रामभद्रान् दृष्टान्तत्वेनाचष्टे—

पर विराम ले लेती हैं । तथा पापके जाग्रत् रहने पर विपत्तियाँ पापीकी सेवाके लिए जाग्रत् रहती हैं और पापके विराममे विपत्तियाँ भी दूर रहती हैं ॥४८॥

इस प्रकार धर्म सुखका दाता है यह बतलाकर अब चौदह पद्योंसे उसी धर्मको दुःख का दूर करनेवाला बतलाते हैं । उनमेंसे सर्वप्रथम दुर्गम देशमें धर्मका उपकार कहते हैं—

जहाँ व्याघ्र, सिंह आदि क्रूर प्राणियोंके द्वारा अन्य प्राणियोंका संहार प्रचुरतासे किया जाता है ऐसे बीहड़ वनमे, जिसके जलमे भीषण मगरमच्छ डोलते हैं ऐसे समुद्रमें, वायु-मण्डलके कारण ज्वालाओसे दीप्त अग्निमे, शत्रुओंके निरकुंश प्रतियत्नसे युक्त युद्धसे और दुर्गम पत्थरोंसे दिशामण्डलको दुरूह बनानेवाले पर्वतपर अशरण मनुष्यकी धर्म ही रक्षा करता है ॥४९॥

आगे कहते हैं कि धर्म अनेक दुरवस्थाओंसे घिरे हुए मनुष्यका उद्धार करता है—

भूखसे पीडित, प्याससे व्याकुल, वायुसे अत्यन्त कम्पित, वर्षा शीत घामसे दुखी, रोगोसे आक्रान्त, विपसे त्रस्त, शनीचर आदि ग्रहोकी पीडासे सताये हुए, मर्मस्थानमे लगे हुए काँटे आदिसे अत्यन्त पीडा अनुभव करनेवाले, बहुत दूर मार्ग चलनेसे अत्यन्त थके हुए, स्त्री पुत्र बन्धु मित्र आदि प्रियजनोंके वियोगसे आगकी तरह तपे हुए तथा शत्रुओंके द्वारा विविध आपत्तियोंमे डाले हुए मनुष्यको निष्ठापूर्वक पालन किया गया धर्म कष्टोंसे निकाल कर आनन्द प्रदान करता है ॥५०॥

उक्त अर्थका समर्थन करनेके लिए तीन श्लोकोंके द्वारा क्रमसे सगर मेघवाहन और रामभद्रको दृष्टान्तरूपसे उपस्थित करते हैं—

सगरस्तुरगेणैकः किल दूरं हृतोऽटवीम् ।
खेटैः पुण्यात् प्रभूकृत्य तिलकेशीं व्यवाह्यत ॥५१॥

३ हृत.—नीत । खेटै.—सहस्रनयनादिविद्याधरै. ॥५१॥

कीर्णे पूर्णघने सहस्रनयनेनान्वीर्यमाणोऽजितं
सर्वज्ञं शरणं गतः सह महाविद्यां श्रिया राक्षसीम् ।
६ दत्वा प्राग्भवपुत्रवत्सलतया भीमेन रक्षोन्वय-
प्राज्योऽरच्यत मेघवाहनखगः पुण्यं क्व जागर्ति न ॥५२॥

कीर्णे—हते । पूर्णघने—सुलोचनघातिनि स्वजनके । सहस्रनयनेन—सुलोचनपुत्रेण । आनीयमाणः ९ (अन्वीर्यमाण) तद्बलैरनुद्रूयमाण. । श्रिया—नवग्रहाख्यहारलकाऽलङ्कारोदराख्यपुरद्वयकामगाख्यविमान-प्रभृतिसम्पदा सह । भीमेन—भीमनाम्ना राक्षसेन्द्रेण । रक्षोऽन्वयप्राज्यः—राक्षसवंशस्यादिपुरुष । अरच्यत—कृत ॥५२॥

१२ राज्यश्रीविमुखीकृतोऽनुजहृतै: कालं हरंस्त्वक्फलैः
संयोगं प्रियया दशास्यहृतया स्वप्नेऽप्यसंभावयन् ।
विलष्टः शोकविषार्चिषा हनुमता तद्वार्तयोज्जीवितो
१५ रामः कीशबलेन यत्तमवधीत् तत्पुण्यविस्फूर्जितम् ॥५३॥

रायज्श्रीविमुखीकृत:—राज्यलक्ष्म्या. पित्रा दशरथराजेन निर्वर्तित । अनुजहृतै —लक्ष्मणानीतै. । कीशबलेन—वानरसैन्येन ॥५३॥

१८ अथ धर्मस्य नरकेऽपि घोरोपसर्गनिवर्तकत्व प्रकाशयति—

आगममे ऐसा सुना जाता है कि एक घोड़ा अकेले राजा सगरको हरकर दूर अटवीमें ले गया। वहाँ पुण्यके प्रभावसे सहस्रनयन आदि विद्याधरोंने उसे अपना स्वामी बनाया और विद्याधर-कन्या तिलकेशीके साथ उसका विवाह हो गया ॥५१॥

विशेषार्थ—यह कथा और आगेकी कथा पद्मपुराणके पाँचवे पर्वमे आयी है।

सहस्रनयनके द्वारा पूर्णघनके मारे जानेपर सहस्रनयनकी सेना पूर्णघनके पुत्र मेघ-वाहनके पीछे लग गयी। तब मेघवाहनने भगवान् अजितनाथ तीर्थंकरके समवसरणमे शरण ली। वहाँ राक्षसराज भीमने पूर्वजन्मके पुत्र प्रेमवश नवग्रह नामक हार, लंका और अलंकारोदय नामक दो नगर और कामग नामक विमानके साथ राक्षसी महाविद्या देकर मेघवाहन विद्याधरको राक्षसवंशका आदि पुरुष बनाया। ठीक ही है पूर्वकृत पुण्य सुख देने और दुःख को मेटने रूप अपने कार्यमे कहाँ नही जागता, अर्थात् सर्वत्र अपना कार्य करनेमे तत्पर रहता है ॥५२॥

श्रीरामको उनके पिता दशरथने राजसिंहासनसे वंचित करके वनवास दे दिया था। वहाँ वह अपने लघुभ्राता लक्ष्मणके द्वारा लाये गये वनके फलों और वल्कलोंसे काल बिताते थे। रावणने उनकी प्रियपत्नी सीताको हर लिया था और उन्हे स्वप्नमे भी उसके साथ संयोगकी सम्भावना नहीं थी। शोकरूपी विषकी ज्वालासे सन्तप्त थे। किन्तु हनुमान्ने सीताका संवाद लाकर उन्हें उज्जीवित किया। और रामने वानर सैन्यकी सहायतासे रावणका वध किया, यह सब पुण्यका ही माहात्म्य है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि धर्म नरकमें भी घोर उपसर्गका निवारण करता है—

श्लाघे कियद्वा धर्माय येन जन्तुरुपस्कृतः ।
तत्तादृगुपसर्गेभ्यः सुरैः श्वभ्रेऽपि मोच्यते ॥५४॥

उपस्कृतः—आहितातिशय. । तत्तादृशः—नारकैः सक्लिष्टासुरैश्च स्वैरमुदीरिता । सुरैः—कल्प- ३
वासिदेवैः । ते हि षण्मासायु शेषेन नरकादेष्यता तीर्थकराणामुपसर्गान्निवारयन्ति । तथा चागम.—

तित्थयरसत्तकम्मे उवसग्गनिवारणं करंति सुरा ।
छम्माससेसनिरए सग्गे अमलाणमालाओ ॥५४॥ ६
[ ]

अथ धर्ममाचरतो विपदुपतापे तन्निवृत्त्यर्थं धर्मस्यैव बलाधानं कर्तव्यमित्यनुशास्ति—

व्यभिचरति विपक्षक्षेपदक्षः कदाचिद् ९
बलपतिरिव धर्मो निर्मलो न स्वमीशम् ।
तदभिचरति काचित्तत्प्रयोगे विपच्चेत्
स तु पुनरभियुक्तैस्तद्ध्युपाजे क्रियेत ॥५५॥ १२

बलवति (बलपति) सेनापतिरत्नम् । निर्मल.—निरतिचार सर्वोपधाविशुद्धश्च । ईशं प्रयोक्तार चक्रिणं च । स तु—स एव धर्म उपाजे क्रियेत—आहितबल कर्तव्य ॥५५॥

उस धर्मकी कितनी प्रशसा की जाय जिसके द्वारा सुशोभित प्राणी नरकमे भी नारकियों और असुरकुमारोंके द्वारा दिये जानेवाले अत्यन्त दु खके कारणभूत उपसर्गोंसे देवोके द्वारा बचाया जाता है ॥५४॥

विशेपार्थ—जो जीव नरकसे निकलकर तीर्थंकर होनेवाले होते हैं, जब उनकी आयु छह मास शेष रहती है तो कल्पवासी देव नरकमें जाकर उनका उपसर्ग निवारण करते हैं, नारकियों और असुरकुमारोंके उपसर्गोंसे वचाते हैं । जो स्वर्गसे च्युत होकर तीर्थंकर होते हैं स्वर्गमें उनकी मन्दारमाला मुरझाती नहीं ॥५४॥

धर्मका आचरण करते हुए यदि विपत्ति कष्ट देती है तो उसको दूर करनेके लिए धर्मको ही सबल बनानेका उपदेश देते हैं—

जैसे शत्रुओंके निराकरणमें समर्थ और सब प्रकारसे निर्दोष सेनापति रत्न कभी भी अपने स्वामी चक्रवर्तीके विरुद्ध नहीं होता, उसी प्रकार अधर्मका तिरस्कार करनेमे समर्थ निरतिचार धर्म अपने स्वामी धार्मिक पुरुषके विरुद्ध नहीं जाता—उसके अनुकूल ही रहता है । इसलिए उस धर्म या, सेनापतिके अपना काम करते हुए भी कोई देवकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत या अचेतन कृत विपत्ति सताती है तो कार्यतत्पर सत्पुरुषोंके द्वारा उसी सेनापतिकी तरह धर्मको ही बलवान् करनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥५५॥

विशेपार्थ—जैसे स्वामिभक्त निर्दोष सेनापतिको नहीं बदला जाता उसी प्रकार विपत्ति आने पर भी धर्मको छोड़ना नहीं चाहिए। किन्तु विशेष तत्परतासे धर्मका साधन करना चाहिए ॥५५॥

१ तित्थयरसतकम्मुवसग्ग णिरए णिवारयंति सुरा ।
छम्मासाउगसेसे सग्गे अमलाणमालंको ॥—त्रि सार, १९५ गा ।

अथ दुर्निवारेऽपि दुष्कृते विलसति सति धर्मः पुंसामुपकरोत्येव इत्याह—

यज्जीवेन कषायकर्मठतया कर्मार्जितं तद् ध्रुवं
नाभुक्तं क्षयमृच्छतीति घटयत्युच्चैःकटूनुद्भटम् ।
भावान् कर्मणि दारुणेऽपि न तदेवान्वेति नोपेक्षते
धर्मः किन्तु ततस्त्रसन्निव सुधां स्नौति स्वधाम्न्यस्फुटम् ॥५६॥

कषायकर्मठतया—क्रोधादिभिर्मनोवाक्कायव्यापारेषु घटमानत्वेन । उच्चैः कटून्—हालाहलप्रख्यान् । चतुर्धा हि पापरस निम्ब-काञ्जीर-विष-हालाहलतुल्यत्वात् । उद्भट—प्रकटदर्पाटोपम् । भावान्—अहि-विषकण्टकादीन् पदार्थान् । सुधाम्—लक्षणया सर्वाङ्गीणमानन्दम् । स्वधाम्नि—स्वाश्रयभूते पुंसि । अस्फुट—गूढ बाह्यलोकानामविदितम् । अत्रेयं भावना-बाह्या दुर्वारदुष्कृतपाकोत्थमुपर्युपर्युपसर्गमेव पश्यन्ति न पुन पुंसो धर्मेणानुगृह्यमाणसत्त्वोत्साहस्य तदनभिमतम् ॥५६॥

कठिनतासे हटाने योग्य पाप कर्मका उदय होने पर भी धर्म पुरुषका उपकार ही करता है ऐसा उपदेश देते हैं—

जिसका प्रतीकार अशक्य है ऐसे भयानक पाप कर्मके उदयमे भी धर्म न तो उस पाप-कर्मका ही सहायक होता है और न धर्मात्मा पुरुषकी ही उपेक्षा करता है। इसपर यह शंका हो सकती है कि सच्चे बन्धु धर्मके होते हुए भी पापरूपी शत्रु क्यों अशक्य प्रतीकार वाला होता है इसके समाधानके लिए कहते हैं—जीवने क्रोध, मान, माया और लोभ कषायसे आविष्ट होकर मानसिक, वाचनिक और कायिक व्यापारके द्वारा पूर्वमे जो कर्म बाँधा वह अवश्य ही भोगे विना नष्ट नहीं होता, इसलिए वह अपने फलस्वरूप अत्यन्त कटु हालाहल विषके समान दु खदायी पदार्थोंको मिलाता है। तब पुनः प्रश्न होता है कि जब धर्म न तो उस पाप कर्मकी सहायता करता है और न धर्मात्मा पुरुषकी उपेक्षा करता है तब क्या करता है ? इसके उत्तरमे कहते हैं—यद्यपि धर्म ये दोनों काम नहीं करता किन्तु चुपचाप छिपे रूप-से धर्मात्मा पुरुषमे आनन्दामृतकी वर्षा करता है। प्रकट रूपसे ऐसा क्यों नहीं करता, इसके उत्तरमें उत्प्रेक्षा करते हैं मानो धर्म उस भयानक पाप कर्मसे डरता है ॥५६॥

विशेषार्थ—जैसे रोगकी तीव्रतामें साधारण औषधिसे काम नहीं चलता—उसके प्रती-कारके लिए विशेष औषधि आवश्यक होती है वैसे ही तीव्र पाप कर्मके उदयमें धर्मकी साधारण आराधनासे काम नहीं चलता। किन्तु धर्माचरण करते हुए भी तीव्र पापका उदय कैसे आता है यह शंका होती है। इसका समाधान यह है कि उस जीवने पूर्व जन्ममे अवश्य ही तीव्र कषायके वशीभूत होकर ऐसे पाप कर्म किये है जो विना भोगे नष्ट नहीं हो सकते। यह स्मरण रखना चाहिए कि कर्म किसीके द्वारा न दिये जाते हैं और न लिये जाते हैं। हम जो कर्म भोगते है वे हमारे ही द्वारा किये होते हैं। हम कर्म करते समय जैसे परिणाम करते है हमारे परिणामोंके अनुसार ही उनमे फल देनेकी शक्ति पड़ती है।[1] घाति कर्मोंकी शक्तिकी उपमा लता (बेल), दारु (लकड़ी), अस्थि(हड्डी) और पाषाणसे दी जाती है। जैसे ये उत्तरोत्तर कठोर होते है वैसे घातिकर्मोंका फल भी होता है। तथा अघातिया पाप कर्मोंकी शक्ति की उपमा नीम, कजीर, विष और हालाहलसे दी जाती है। निकाचित बन्धका फल अवश्य

---

१ लतादार्वस्थिपाषाणशक्तिभेदाच्चतुर्विध ।
स्याद् घातिकर्मणा पाकोऽन्येषा निम्बगुडादिवत् ॥

अथ पापपुण्ययोरपकारोपकारौ दृष्टान्तद्वारेण द्रढयितुं वृत्तद्वयमाह—

तत्तादृक्कमठोपसर्गलहरीसर्गप्रगल्भोष्मणः
किं पार्श्वे तमुदग्रमुग्रमुदयं निर्वच्मि दुष्कर्मणः । ३
किं वा तादृशदुर्दशाविलसितप्रध्वंसवीर्यौजसो
धर्मस्योरु विसारि सख्यमिह वा सीमा न साधीयसाम् ॥५७॥

अत्रावोचत स्वयमेव स्तुतिषु यथा— ६

वज्रेष्वद्भुतपञ्चवर्णजलदेष्वत्युग्रवात्यायुध-
व्रातेष्वप्सरसां गणेऽग्निजलधिव्यालेषु भूतेष्वपि ।
यद्ध्यानानुगुणीकृतेषु विदधे वृष्टिं मरुद्वादिनी ९
गोत्रा यं प्रतिमेघमाल्यसुरराट् विश्व स पार्श्वोऽवतात् ॥

लहरी—परम्परा, ऊष्मा—दु सहवीर्यानुभाव । साधीयसाम्—अतिशयशालिनाम् ॥५७॥

भोगना पडता है । फिर भी धर्माचरण करनेसे मनुष्यके मनमें दुःख भोगते हुए भी जो शान्ति बनी रहती है वही धर्मका फल है । अन्यथा विपत्तिमे मनुष्य आत्मघात तक कर लेते हैं ॥५६॥

पापके अपकार और पुण्यके उपकारको दृष्टान्तके द्वारा दृढ करनेके लिए दो पद्य कहते हैं—

हम तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ पर कमठके द्वारा किये गये उन प्रसिद्ध भयानक उपसर्गोंकी परम्पराको जन्म देनेमे समर्थ दु'स्सह शक्तिशाली दुष्कर्मके उस आगम-प्रसिद्ध तीव्र दु.सह उदयका कहाँ तक कथन करें । तथा इन्द्रके द्वारा नियुक्त धरणेन्द्र और पद्मावती नामक यक्ष-यक्षिणी द्वारा भी दूर न की जा सकनेवाली पार्श्व प्रभुकी अत्यन्त दुःख-दायक दुर्दशाको रोकनेमे अधिकाधिक प्रतापशाली उस धर्मकी सर्वत्र सर्वदा कार्यकारी महती मैत्रीका भी कहाँ तक गुणगान करें ? ठीक ही है इस लोकमे अतिशयशालियोंकी कोई सीमा नहीं है ॥५७॥

विशेषार्थ—जैन शास्त्रोंमे भगवान् पार्श्वनाथ और उनके पूर्व जन्मके भ्राता कमठके वैरकी लम्बी कथा वर्णित है । जब भगवान् पार्श्वनाथ प्रव्रज्या लेकर साधु बन गये तो अहिच्छत्रके जगलमे ध्यानमग्न थे । उधरसे उनका पूर्व जन्मोंका वैरी कमठ जो मरकर व्यन्तर हुआ था, जाता था । भगवान् पार्श्वनाथको देखते ही उसका क्रोध भडका और उसने भीषण जलवृष्टि, उपलवृष्टि, झंझावातके साथ ही अग्नि, समुद्र, सर्प, भूत, वैताल आदिके द्वारा इतना त्रस्त किया कि इन्द्रका आसन भी डोल उठा । इन्द्रके आदेशसे धरणेन्द्र और पद्मावती संकट दूर करनेके लिए आये । किन्तु वे भी उन उत्पातोंका निवारण नहीं कर सके । किन्तु भगवान् पार्श्वनाथ रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए, वे बराबर ध्यानमग्न बने रहे । उनकी उस धर्माराधनाने ही उस संकटको दूर किया । इसी परसे ग्रन्थकार कहते हैं कि पापकर्मकी शक्ति तो प्रबल है ही किन्तु धर्मकी शक्ति उससे भी प्रबल है जो बड़े-बड़े उपद्रवों-को भी दूर करनेकी क्षमता रखती है ।

आशाधरजीने अपनी टीकामें दो विशिष्ट बातें लिखी हैं । एक इन्द्रकी आज्ञासे धरणेन्द्र पद्मावती आये और दूसरे वे व्यन्तर कृत उपद्रवको दूर नहीं कर सके ।

अपि च—

प्रद्युम्न षडहोद्भवोऽसुरभिदः सौभागिनेयः क्रुधा
हृत्वा प्राग्विगुणोऽसुरेण शिलयाऽऽक्रान्तो वने रुन्द्रया ।
तत्कालीनविपाकपेशलतमैः पुण्यैः खगेन्द्रात्मजी-
कृत्याऽलम्भ्यत तेन तेन जयिना विद्याविभूत्यादिना ॥५८॥

सौभागिनेय'—सुभगाया इतरकान्तापेक्षया अतिवल्लभाया रुक्मिण्या अपत्यम् । प्राग्विगुण.—प्राक् मधुराजभवे विगुण वल्लभावहरणादपकर्ता । असुरेण—हेमरथराजचरेण ज्वलितधूमशिखनाम्ना दैत्येन । वने—महाखदिराटव्याम् । खगेन्द्रात्मजीकृत्य—कालसवरनाम्नो विद्याधरेन्द्रस्य अनात्मज सन्तमात्मज कृत्वा । अलम्भ्यत—योज्यते स्म ॥५८॥

ननु मन्त्रादिप्रयोगोऽपि विपन्निवारणाय शिष्टैर्व्यवह्रियते । तत्कथ भवता तत्प्रतीकारे पुण्यस्यैव सामर्थ्यप्रकाशन न विरुध्यते इत्यत्राह—

यश्चानुश्रूयते हर्तुमापद. पापपक्त्रिमा ।
उपाय पुण्यसद्बन्धुं सोऽप्युत्थापयितुं परम् ॥५९॥

पापपक्त्रिमा.—पापपाकेन निर्वृत्ता ॥५९॥

ये दोनों बाते अन्य शास्त्रोंमें वर्णित नहीं हैं । किन्तु दोनों ही यथार्थ प्रतीत होती हैं । मध्यलोकमे सौधर्म इन्द्रका शासन होनेसे भवनवासी देव भी उसके ही अधीन हैं अतः भगवान्पर उपसर्ग होनेपर इन्द्रकी आज्ञासे धरणेन्द्र-पद्मावतीका आना उचित है । दूसरे इन दोनोंने आकर उपसर्गसे रक्षा तो की । धरणेन्द्रने अपना विशाल फणामण्डप भगवान्पर तान दिया । किन्तु उपसर्ग दूर हुआ भगवान्की आत्माराधन रूप धर्मके प्रभावसे । दोनों ही बातें स्मरणीय हैं ॥५७॥

दूसरा उदाहरण—

दैत्यका मर्दन करनेवाले श्रीकृष्णकी अतिवल्लभा रुक्मिणीके पुत्र प्रद्युम्नको, जब वह केवल छह दिनका शिशु था, क्रुद्ध ज्वलित धूमशिखी नामके दैत्यने हरकर महाखदिर नामकी अटवीमे बडी भारी शिलाके नीचे दबा दिया और ऊपरसे भी दबाया। इसका कारण यह था कि पूर्वजन्ममे मधु राजाकी पर्यायमें प्रद्युम्नने उसकी प्रिय पत्नीका बलपूर्वक हरण किया था । किन्तु तत्काल ही उदयमें आये अत्यन्त मधुर पुण्यकर्मके योगसे विद्याधरोंका स्वामी कालसंवर उस वनमे आया और उसने शिलाके नीचेसे शिशुको निकालकर अपना पुत्र बनाया। कालसंवरके अन्य पुत्र उसके विरुद्ध थे। प्रद्युम्नने उन्हें पराजित किया तथा विद्याधरोंकी विद्याएँ और सोलह अद्भुत लाभ प्राप्त किये ॥५८॥

किन्हींका कहना है कि विपत्तिको दूर करनेके लिए शिष्टजन मन्त्रादिके प्रयोगका भी व्यवहार करते हैं । तब आप उसके प्रतीकारके लिए पुण्यकी ही शक्तिका गुणगान क्यो करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं—

पापकर्मके उदयसे आनेवाली विपत्तियोंको दूर करनेके लिए सिद्ध मन्त्र आदिका प्रयोग जो आप्त पुरुषोंकी उपदेश परम्परासे सुना जाता है वह भी केवल सच्चे बन्धु पुण्यको ही जाग्रत् करके अपने कार्यमे लगानेके लिए किया जाता है। अर्थात् पुण्योदयके विना मन्त्र-तन्त्र आदि भी अपना कार्य करनेमे असमर्थ होते है ॥५९॥

अथोदयाभिमुख-तद्विमुखत्वे द्वयेऽपि पुण्यस्य साधनवैफल्यं दर्शयति—

पुण्यं हि संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम्।
न पुण्यं संमुखीनं चेत् सुखोपायशतेन किम् ॥६०॥ ३

संमुखीनम्—उदयाभिमुखम् ॥६०॥

अथ पुण्यपापयोर्बलाबलं चिन्तयति—

शीतोष्णवत् परस्परविरुद्धयोरिह हि सुकृत-दुष्कृतयोः। ६
सुखदुःखफलोद्भवयोर्दुर्बलमभिभूयते बलिना ॥६१॥

स्पष्टम् ॥६१॥

अथ क्रियमाणोऽपि धर्मः पापपाकमपकर्षतीत्याह— ९

धर्मोऽनुष्ठीयमानोऽपि शुभभावप्रकर्षतः।
भङ्क्त्वा पापरसोत्कर्षं नरमुच्छ्वासयत्यरम् ॥६२॥

उच्छ्वासयति—किंचिदापदो चयति ॥६२॥ १२

अथ प्रकृतार्थमुपसंहरन् धर्माराधनाया श्रोतॄन् प्रोत्साहयति—

तत्सेव्यतामभ्युदयानुषङ्गफलोऽखिलक्लेशविनाशनिष्ठः।
अनन्तशर्मामृतवः सदार्यैर्विचार्य सारो नृभवस्य धर्मः ॥६३॥ १५

आगे कहते हैं कि पुण्य कर्म उदयके अभिमुख हो अथवा विमुख हो दोनो ही अवस्थाओंमे सुखके साधन व्यर्थ है—

यदि पुण्य कर्म अपना फल देनेमें तत्पर है तो सुखके सैकड़ों उपायोंसे क्या प्रयोजन है, क्योंकि पुण्यके उदयमे सुख अवश्य प्राप्त होगा। और यदि पुण्य उदयमे आनेवाला नहीं है तो भी सुखके सैकडों उपाय व्यर्थ है क्योंकि पुण्यके विना उनसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता ॥६०॥

आगे पुण्य और पापमे बलाबलका विचार करते हैं—

पुण्य और पाप शीत और उष्णकी तरह परस्परमे विरोधी है। पुण्यका फल सुख है और पापका फल दुःख है। इन दोनोंमें जो दुर्बल होता है वह बलवानके द्वारा दबा दिया जाता है ॥६१॥

तत्काल किया गया धर्म भी पापके उदयको मन्द करता है यह बताते हैं—

उसी समय किया गया धर्म भी शुभ परिणामोंके उत्कर्षसे पाप कर्मके फल देनेकी शक्तिकी उत्कटताको घात कर शीघ्र ही मनुष्यको शान्ति देता है। अर्थात् पहलेका किया गया धर्म ही सुखशान्ति दाता नहीं होता, किन्तु विपत्तिके समय किया गया धर्म भी विपत्तिको दूर करता है ॥६२॥

प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए श्रोताओंका धर्मकी आराधनामे उत्साहित करते है—

यतः धर्मकी महिमा स्थायी और अचिन्त्य है अतः विचारशील पुरुषोको विचारकर प्रत्यक्ष अनुमान और आगम प्रमाणोंसे निश्चित करके सदा धर्मकी आराधना करनी चाहिए, क्योंकि धर्म मनुष्य-जन्मका सार है—अत्यन्त उपादेय होनेसे उसका अन्त भाग है, उसका आनुषंगिक फल अभ्युदय है। अर्थात् धर्म करनेसे जो पुण्य होता है उससे सासारिक अभ्युदयकी प्राप्ति होती है अतः यह गौणफल है। वह सब प्रकारके क्लेशोको नष्ट करनेमे सदा

अनुषंग—अनुषज्यते धर्मेण संबध्यत इत्यनुषंगोऽत्र पुण्यम्। अनन्तशर्मामृतदः—निरवधिसुखं मोक्षं दत्ते ॥६३॥

३ अथ द्वाविंशत्या पद्यैर्मनुष्यत्वस्य नि.सारत्वं चिन्तयति तत्र तावच्छरीरस्वीकारदुःखमाह—

प्राङ् मृत्युक्लेशितात्मा द्रुतगतिरुदरावस्करेऽह्नाय नार्याः
संचार्याहार्य शुक्रार्तवमशुचितरं तन्निगीर्णान्नपानम्।
६ गृद्ध्याऽश्नन् क्षुत्तृषार्तः प्रतिभयभवनाद्वित्रसन् पिण्डितो ना
दोषाद्यात्माऽनिशार्तं चिरमिह विधिना ग्राह्यतेऽङ्गं वराक. ॥६४॥

द्रुतगति—एक-द्वि-त्रिसमयप्राप्यगन्तव्यस्थान। अवस्करः—वर्चोगृहम्। आहार्य—ग्राहयित्वा। ९ तन्निगीर्णं—तया नार्या निगीर्णमाहृतम्। प्रतिभयभवनात्—निम्नोन्नतादिक्षोभकरणात्। ना—मनुष्यगति-नामकर्मोदयवर्ती जीव। दोषाद्यात्म—दोषधातुमलस्वभावम्। अनिशार्तं—नित्यातुरम्। चिरं—नवमासान् यावत् नृभवे ॥६४॥

तत्पर है और अनन्त सुख स्वरूप मोक्षको देनेके साथ लम्बे समय तक सांसारिक सुख भी देता है ॥६३॥

विशेषार्थ—धर्म सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त देवत्व रूप और तीर्थंकरत्व पर्यन्त मानुषत्व रूप फल देता है इसका समर्थन पहले कर आये हैं। वह धर्मका आनुषंगिक फल है। अर्थात् धर्म करनेसे सांसारिक सुखका लाभ तो उसी प्रकार होता है जैसे गेहूँकी खेती करनेसे भूसेका लाभ अनायास होता है। किन्तु कोई बुद्धिमान भूसेके लिए खेती नहीं करता ॥६३॥

आगे यहाँसे बाईस पद्योंके द्वारा मनुष्यभवकी निस्सारताका विचार करते हैं। उसमें सबसे प्रथम शरीर ग्रहण करनेके दुःखको कहते हैं—

नया शरीर ग्रहण करनेसे पहले यह आत्मा पूर्वजन्मके मरणका कष्ट उठाता है। पुनः नया शरीर धारण करनेके लिए शीघ्र गतिसे एक या दो या तीन समयमें ही अपने जन्म-स्थानमें पहुँचता है। उस समय पदार्थोंके जाननेके लिए प्रयत्न रूप उपयोग भी उसका नष्ट हो जाता है क्योंकि विग्रहगतिमें उपयोग नहीं रहता। वहाँ तत्काल ही वह माताके उदररूपी शौचालयमें प्रवेश करके अति अपवित्र रज-वीर्यको ग्रहण करता है और भूख प्याससे पीडित होकर माताके द्वारा खाये गये अन्न पानको लिप्सापूर्वक खाता है। ऊँचे-नीचे प्रदेशों पर माताके चलने पर भयसे व्याकुल होकर सिकुड जाता है। रात-दिन दुखी रहता है। इस प्रकार बेचारा जीव पूर्वकर्मके उदयसे वात पित्त कफ, रस, रुधिर, मास, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, मलमूत्र आदिसे बने हुए शरीरको नौ दस मासमें ग्रहण करता है।

विशेषार्थ—इस विषयमें दो श्लोक कहे गये हैं ॥६४॥

कलल कलुषस्थिरत्वं पृथग्दशाहेन बुद्बुदोऽथ घनः।
तदनु तत. पलपेश्यथ क्रमेण मासेन पञ्च पुलकमत ॥
चर्मनखरोमसिद्धिः स्यादङ्गोपाङ्गसिद्धिरथ गर्भे।
स्पन्दनमष्टममासे नवमे दशमेऽथ नि.सरणम् ॥

माताके उदरमें वीर्यका प्रवेश होने पर दस दिन तक कलल रूपसे रहता है। फिर दस दिन तक कलुषरूपसे रहता है। फिर दस दिन तक स्थिर रहता है। दूसरे मासमें बुद्बुद—

अथ गर्भप्रसवक्लेशमाह—

गर्भक्लेशानुद्रुतेर्विद्रुतो वा निन्द्यद्वारेणैव कृच्छ्राद्विवृत्य ।
निर्यंस्तत्तद्दुःखदत्त्याऽकृतार्थो नूनं दत्ते मातुरुग्रामनस्यम् ॥६५॥ ३

विद्रुतः—विम्रस्तः । निन्द्यद्वारेण—आर्तववाहिना मार्गेण । विवृत्य—अधोमुखो भूत्वा । तत्तद्-दु.खदत्त्या—गर्भावतरणक्षणात् प्रभृति बाधासपादनेन । आमनस्य—प्रसूतिज दु खम् ॥६५॥

बुलबुलाकी तरह रहता है । तीसरे मासमे घनरूप हो जाता है । चौथे मासमे मांसपेशियाँ बनती है । पाँचवें मासमें पाँच पुलक-अंकुर फूटते हैं । छठे मासमें उन अंकुरोंसे अंग और उपांग बनते हैं । सातवे मासमें चर्म, नख रोम बनते है । आठवे मासमें हलन-चलन होने लगता है । नौवे अथवा दसवे महीनेमे गर्भसे बाहर आता है ।

अर्थात्—मृत्युके बाद जीव तत्काल ही नया जन्म धारण कर लेता है । जब वह अपने पूर्व स्थानसे मरकर नया जन्म ग्रहण करनेके लिए जाता है तो उसकी गति सीधी भी होती है और मोड़े वाली भी होती है । तत्त्वार्थसूत्र [२।२६] मे बतलाया है कि जीव और पुद्गलोंकी गति आकाशके प्रदेशोंकी पक्तिके अनुसार होती है । आकाश यद्यपि एक और अखण्ड है तथापि उसमे अनन्त प्रदेश है और वे जैसे वस्त्रमे धागे रहते हैं उसी तरह क्रमबद्ध हैं । उसीके अनुसार जीव गमन करता है । यदि उसके मरणस्थानसे नये जन्मस्थान तक आकाश प्रदेशोंकी सीधी पंक्ति है तो वह एक समयमे ही उस स्थान पर पहुँचकर अपने नये शरीरके योग्य वर्गणाओको ग्रहण करने लगता है । इसे ऋजुगति कहते हैं । अन्यथा उसे एक या दो या तीन मोड़े लेने पडते हैं और उसमे दो या तीन या चार समय लगते हैं उसे विग्रहगति कहते हैं । विग्रह गतिमे स्थूल शरीर न होनेसे द्रव्येन्द्रियाँ भी नहीं होतीं अत. वहाँ वह इन्द्रियोसे जानने देखने रूप व्यापार भी नहीं करता । गर्भमे जानेके बादकी शरीर-रचनाका जो कथन ग्रन्थकारने किया है सम्भव है वह भगवती आराधनाका ऋणी हो । भ. आ. मे गाथा १००३ से शरीरकी रचनाका क्रम वर्णित है जो ऊपर दो श्लोकोमे कहा है । तथा लिखा है कि मनुष्यके शरीरमें तीन सौ अस्थियाँ है जो दुर्गन्धित मज्जासे भरी हुई हैं । तीन सौ ही सन्धियाँ है । नव सौ स्नायु हैं । सात सौ सिरा हैं, पाँच सौ मांसपेशियाँ हैं, चार शिराजाल हैं, सोलह कडेर (?) हैं, छह सिराओके मूल हैं और दो मांसरज्जू हैं । सात त्वचा हैं, सात कालेयक हैं, अस्सी लाख कोटि रोम हैं । पक्वाशय और आमाशयमें सोलह आँतें हैं । सात मलके आशय है । तीन स्थूणा हैं, एक सौ सात मर्मस्थान हैं । नौ द्वार हैं जिनसे सदा मल बहता है । मस्तिष्क, मेद, ओज और शुक्र एक एक अंजुलि प्रमाण है । वसा तीन अंजुलि, पित्त छह अंजुलि, कफ भी छह अजुलि प्रमाण है । मूत्र एक आढक, विष्टा छह प्रस्थ, नख बीस, दाँत बत्तीस हैं [गा. १०२७-३५] ।

आगे गर्भसे बाहर आनेमें जो क्लेश होता है उसे कहते हैं—

गर्भके कष्टोंके पीछा करनेसे ही मानो भयभीत होकर गर्भस्थजीव मलमूत्रके निन्दनीय द्वारसे ही कष्टपूर्वक नीचेको मुख करके निकलता है । और गर्भमें आनेसे लेकर उसने माताको जो कष्ट दिये उससे उसका मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ मानो इसीसे वह माताको भयानक प्रसव-वेदना देता है ॥६५॥

अथ जन्मानन्तरभाविक्लेशं भावयति—

जातः कथंचन वपुर्वहनश्रमोत्थ-
३ दुःखप्रदोच्छ्वसनदर्शनसुस्थितस्य ।
जन्मोत्सवं सृजति बन्धुजनस्य यावद्
यास्तास्तमाशु विपदोऽनुपतन्ति तावत् ॥६६॥

६ यास्ता.—प्रसिद्धा फुल्लिकान्त्रा गोपिकाप्रभृतय ॥६६॥

अथ बाल्यं जुगुप्सते—

यत्र क्वापि विगत्रपो मलमरुन्मूत्राणि मुञ्चन् मुहु-
९ र्यत् किंचिद्वदनेऽर्पयन् प्रतिभयं यस्मात् कुतश्चित्पतन् ।
लिम्पन् स्वाङ्गमपि स्वयं स्वशकृता लालाविलास्योऽहिते,
व्याषिद्धो हतवत् रुदन् कथमपि च्छिद्येत बाल्यग्रहात् ॥६७॥

१२ यत्र क्वापि—अनियतस्थानशयनासनादौ । यत्किंचित्—भक्ष्यमभक्ष्यं वा । यस्मात् कुतश्चित्—पतद्भाजनशब्दादेः । पतन्—गच्छन् । (स्व) शकृता—निजपुरीषेण । अहिते—मृद्भक्षणादौ । छिद्येत—वियुज्येत मुक्तो भवेदित्यर्थः ॥६७॥

१५ अथ कौमारं निन्दति—

धूलीधूसरगात्रो धावन्नवटाश्मकण्टकादिरुजः ।
प्राप्तो हसत्सहेलकवर्गममर्षन् कुमारः स्यात् ॥६८॥

१८ अवटः—गर्त. । अमर्षन्—ईर्ष्यन् ॥६८॥

आगे जन्मके पश्चात् होने वाले कष्टोंका विचार करते हैं—

किसी तरह महान् कष्टसे जन्म लेकर वह शिशु शरीर धारण करनेके परिश्रमसे उत्पन्न हुई दुःखदायक श्वास लेता है उसके देखनेसे अर्थात् उसे जीवित पाकर उसके माता-पिता आदि कुटुम्बी उसके जन्मसे जब तक आनन्दित होते हैं तब तक शीघ्र ही बच्चोंको होने वाली प्रसिद्ध व्याधियाँ घेर लेती हैं ॥६६॥

बचपनकी निन्दा करते हैं—

बचपनमें शिशु निर्लज्जतापूर्वक जहाँ कहीं भी निन्दनीय मल-मूत्र आदि बार-बार करता है। कोई भी वस्तु खानेकी हो या न हो अपने मुखमें दे लेता है। जिस किसी भी शब्द आदि से भयभीत हो जाता है। अपनी टट्टीसे स्वयं ही अपने शरीरको भी लेप लेता है। मुख लारसे गन्दा रहता है। मिट्टी आदि खानेसे रोकने पर ऐसा रोता है मानो किसीने मारा है। इस बचपन रूपी ग्रहके चक्करसे मनुष्य जिस किसी तरह छूट पाता है ॥६७॥

आगे कुमार अवस्थाका तिरस्कार करते हैं—

बचपन और युवावस्थाके बीचकी अवस्थावाले बालकको कुमार कहते हैं। कुमार रास्तेकी धूलसे अपने शरीरको मटीला बनाकर दौड़ता है तो गड्ढेमें गिर जाता है या पत्थरसे टकरा जाता है या तीखे काँटे वगैरहसे बिंध जाता है। यह देखकर साथमें खेलनेवाले बालक हँसते हैं तो उनसे रूठ जाता है ॥६८॥

अथ यौवनमपवदति—

पित्रोः प्राप्य मृषामनोरथशतैस्तैस्तारुण्यमुन्मार्गगो
दुर्वारव्यसनाप्तिशङ्किमनसोर्दु खार्चिषः स्फारयन् ।
तत्किंचित्प्रखरस्मरः प्रकुरुते येनोद्धधाम्नः पितृन्
क्लिश्नन् भूरिविडम्बनाकलुषितो धिग्दुर्गतौ मज्जति ॥६९॥

उद्धधाम्नः—विपुलतेजस्कान् प्रशस्तस्थानान् वा । विडम्बना—खरारोपणादिविगोपकाः । दुर्गतौ—दारिद्र्ये नरके वा ॥६९॥

अथ तारुण्येऽपि अविकारिण. स्तौति—

धन्यास्ते स्मरवाडवानलशिखादीप्रः प्रवल्गद्बल-
क्षाराम्बुर्निरवग्रहेन्द्रियमहाग्राहोऽभिमानोर्मिक ।
यैर्दोषाकरसंप्रयोगनियतस्फीतिः स्ववसाच्चक्रिभि-
स्तीर्णो धर्मयशःसुखानि वसुवत्तारुण्यघोरार्णवः ॥७०॥

दोषाकर'—दुर्जनश्चन्द्रश्च । स्फीतिः—प्रतिपत्तिर्वृद्धिश्च । स्वसाच्चक्रिभिः—आत्मायत्तानि कुर्वाणै । वसुवत्—रत्नानीव ॥७०॥

अथ मध्यावस्थामेकादशभि पद्यैधिक्कुर्वाण. प्रथमं तावदपत्यपोषणाकुलमतेर्धनार्थितया कृष्यादिपरिक्लेशमालक्षयति—

यत्कन्दर्पवशंगतो विलसति स्वैरं स्वदारेष्वपि
प्रायोऽहंयुरितस्ततः कटु ततस्तुग्घाटको धावति ।
अप्यन्यायशतं विधाय नियमाद् भर्तुं यमिद्धाग्रहो
वर्धिष्णवा द्रविणाशया गतवया' कृष्यादिभिः प्लुष्यते ॥७१॥

यौवनकी निन्दा करते हैं—

माता-पिताके सैकड़ों मिथ्या मनोरथोंके साथ कि बड़ा होनेपर यह पुत्र हमारे लिए अमुक-अमुक कार्य करेगा, युवावस्थाको प्राप्त करके कुमार्गगामी हो जाता है और कहीं यह ऐसे दुर्व्यसनोंमे न पड़ जाये जिनमेंसे इसका निकालना अशक्य हो इस आशंकासे दु खीमन माता-पिताकी दु खज्वालाओंको वढाता हुआ कामके तीव्रवेगसे पीड़ित होकर ऐसे निन्दनीय कर्मोंको करता है जिससे प्रतिष्ठित माता-पिताको क्लेश होता है । तथा वह स्वयं समाज और राजाके द्वारा दिये गये दण्डोसे दुःखी होकर नरकादि दुर्गतिमें जाता है ॥६९॥

जो युवावस्थामें भी निर्विकार रहते हैं उनकी प्रशंसा करते हैं—

युवावस्था एक भयंकर समुद्रके समान है । उसमें कामरूपी वडवाग्नि सदा जलती रहती है, वलवीर्य-रूप खारा जल उमड़ा करता है, निरकुंश इन्द्रियरूपी बड़े-बड़े जलचर विचरते है, अभिमानरूपी लहरे उठा करती हैं । समुद्र दोषाकर अर्थात् चन्द्रमाकी संगति पाकर उफनता है, जवानी दोपाकर अर्थात् दुर्जनकी संगति पाकर उफनती है। जिन्होंने धनकी तरह धर्म, यश और सुखको अपने अधीन करके इस घोर जवानीरूपी समुद्रको पार कर लिया वे पुरुप धन्य हैं ॥७०॥

युवावस्थाके पश्चात् आनेवाली मध्य अवस्थाकी ग्यारह पद्योंसे निन्दा करते हुए सर्वप्रथम सन्तानके पालनके लिए व्याकुल गृहस्थ धनके लिए जो कृपि आदि करता है उसके कष्टोंको कहते हैं—

अहंयुः—साहङ्कार । तुग्घाटकः—अपत्यघाटी । अपि इत्यादि । तथाहि वाह्याः—

'वृद्धौ च मातापितरौ साध्वी भार्या सुत. शिशु. ।
३ अप्यन्यायशतं कृत्वा भर्तव्या मनुरब्रवीत् ॥७१॥ [मनु ११।१]

अथ कृषि-पशुपाल्य-वाणिज्याभिरुभयलोकभ्रंशं दर्शयति—

यत् संभूय कृषीबलैः सह पशुप्रायैः खरं खिद्यते
६ यद् व्यापत्तिमयान् पशूनवति तद्देहं विशन् योगिवत् ।
यन्मुष्णाति वसून्यसूनिव ठकक्रूरो गुरूणामपि
भ्रान्तस्तेन पशूयते विधुरितो लोकद्वयश्रेयस. ॥७२॥

९ सभूय—मिलित्वा । विधुरितः—वियोजित ॥७२॥

अथ धनलुब्धस्य देशान्तरवाणिज्यं निन्दति—

यत्र तत्र गृहिण्यादीन् मुक्त्वापि स्वान्यनिर्दयः ।
१२ न लङ्घयति दुर्गाणि कानि कानि धनाशया ॥७३॥

यत्र तत्र—अपरीक्षितेऽपि स्याने । स्वः—आत्मा । अन्य.—सहायपश्वादि. ॥७३॥

जो सन्तान प्रायः अहंकारमें आकर जिस-तिस स्वार्थमें अनिष्ट प्रवृत्ति करती है और कामके वश होकर अपनी धर्मपत्नीमें भी स्वच्छन्दतापूर्वक कामक्रीड़ा करती है उसी सन्तानका अवश्य पालन करनेके लिए अति आग्रही होकर मध्य अवस्थावाला पुरुष बढती हुई धनकी तृष्णासे सैकडों अन्याय करके भी कृषि आदि कर्मसे खेदखिन्न होता है ॥७१॥

आगे कहते है कि कृषि, पशुपालन और व्यापार आदिसे दोनों लोक नष्ट होते हैं—

यतः वह मध्यावस्थावाला पुरुष पशुके तुल्य किसानोंके साथ मिलकर अत्यन्त खेद-खिन्न होता है और जैसे योगी योग द्वारा अन्य पुरुषके शरीरमें प्रवेश करता है वैसे ही वह पशुओंके शरीरमें घुसकर विविध आपत्तियोंसे ग्रस्त पशुओंकी रक्षा करता है। तथा ठगके समान क्रूर वह मनुष्य गुरुजनोंके भी प्राणोंके तुल्य धनको चुराता है इसलिए वह विपरीत-मति इस लोक तथा परलोकके कल्याणसे वंचित होकर पशुके समान आचरण करता है ॥७२॥

विशेषार्थ—यहाँ खेती, पशुपालन और व्यापारके कष्टों और बुराइयोको बतलाया है। तथा खेती करनेवाले किसानोको पशुतुल्य कहा है। यह कथन उस समयकी स्थितिकी दृष्टिसे किया गया है। आज भी गरीब किसानोंकी दशा, उनका रहन-सहन पशुसे अच्छा नहीं है। दूसरी बात यह है कि पशुओंका व्यापार करनेवाले पशुओंकी कितनी देखरेख करते थे यह उक्त कथनसे प्रकट होता है कि वे पशुओंके कष्टको अपना ही कष्ट मानते थे तभी तो पशुओंके शरीरमे प्रवेश करनेकी बात कही है। तीसरी बात यह है कि व्यापारी उस समयमें भी अन्याय करनेसे सकुचाते नहीं थे। दूसरोंकी तो बात ही क्या अपने गुरुजनोंके साथ भी छलका व्यवहार करके उनका धन हरते थे। ये सब बाते निन्दनीय हैं। इसीसे इन कर्मोंकी भी निन्दा की गयी है ॥७२॥

आगे धनके लोभसे देशान्तरमें जाकर व्यापार करनेवालेकी निन्दा करते हैं—

अपनी पत्नी, पुत्र आदिको यहाँ-वहाँ छोडकर या साथ लेकर भी धनकी आशासे यह मनुष्य किन वन, पहाड, नदी वगैरहको नहीं लाँघता और इस तरह अपनेपर तथा अपने परिजनोपर निर्दय हो जाता है, स्वयं भी कष्ट उठाता है और दूसरोंको भी कष्ट देता है ॥७३॥

अथ वृद्धयाजी-(वं) निन्दति—

वृद्धिलुब्ध्याधमर्णेषु प्रयुज्यार्थान् सहासुभिः ।
तदापच्छङ्कितो नित्यं चित्रं वार्धुषिकश्चरेत् ॥७४॥ ३

वृद्धिलुब्ध्या—कलान्तरलोभेन । अधमर्णेषु—धारणिकेषु ॥७४॥

अथ सेवा गर्हते—

स्वे सद्वृत्तकुलश्रुते च निरनुक्रोशीकृतस्तृष्णया ६
स्वं विक्रीय धनेश्वरे रहितवीचारस्तदाज्ञावशात् ।
वर्षादिष्वपि दारुणेषु निविडध्वान्तासु रात्रिष्वपि
व्यालोग्रास्वटवीष्वपि प्रचरति प्रत्यन्तकं यात्यपि ॥७५॥ ९

स्वे—आत्मनि । व्यालोग्रासु—श्वापदभुजगरौद्रासु । प्रत्यन्तकं—यमाभिमुखतम् ॥७५॥

अथ कारुकर्मादीन् प्रतिक्षिपति—

चित्रैः कर्मकलाधर्मैः परासूयापरो मनः । १२
हर्तुं तदर्थिनां श्राम्यत्यार्तपोष्येक्षितायनः ॥७६॥

चित्रैः—नाना प्रकारैराश्चर्यकरैर्वा । धर्मो—मूल्येन पुस्तकवाचनादि । आर्तपोष्येक्षितायनः—क्षुधादिपीडिते (त) कलत्रापत्यादिगवेषितमार्ग ॥७६॥ १५

आगे व्याजसे आजीविका करनेवालोंकी निन्दा करते हैं—

आश्चर्य है कि व्याजसे आजीविका करनेवाला सूदखोर व्याजके लोभसे ऋण लेनेवालोंको अपने प्राणोंके साथ धन देकर सदा उसकी आपत्तियोंसे भयभीत रहकर प्रवृत्ति करता है। अर्थात् ऋणदाताको सदा यह भय सताता रहता है कि ऋण लेनेवालेपर कोई ऐसी आपत्ति न आ जाये जिससे उसका ऋण मारा जाये। और यहाँ आश्चर्य इस बातका है कि व्याजके लोभीको धन प्राणोंके समान प्रिय होता है। वह धन दूसरेको दिया तो मानो अपने प्राण ही दे दिये। किन्तु दूसरोंको अपने प्राण देनेवाला तो प्रवृत्ति नहीं कर सकता क्योंकि वह निष्प्राण हो जाता है किन्तु ऋणदाता प्राण देकर भी प्रवृत्तिशील रहता है ॥७४॥

आगे सेवाकर्मकी निन्दा करते हैं—

अपने पर और अपने सदाचार कुल तथा शास्त्रज्ञानपर निर्दय होकर लोभवश सेठ राजा आदिको अपनेको बेचकर योग्य-अयोग्यका विचार छोड़कर मनुष्य अपने स्वामीकी आज्ञासे भयानक वर्षा आदिमें भी जाता है, घने अन्धकारसे आच्छन्न रात्रिमे भी विचरण करता है, भयानक जंगली जन्तुओसे भरे हुए बियावान जंगलमें भी घूमता है, अधिक क्या, मृत्युके मुखमे भी चला जाता है ॥७५॥

आगे शिल्पकर्म आदि करनेवालोकी निन्दा करते हैं—

शिल्प आदिसे आजीविका करनेवाला पुरुष शिल्पप्रेमी जनोंके मनको हरनेके लिए उनके सामने अन्य शिल्पियोंकी निन्दा करता है। उनके शिल्पमें दोष निकलता है और अनेक प्रकारके कर्म, कला और धर्मके निर्माणका श्रम उठाता है क्योंकि भूखसे पीड़ित उसके स्त्री-पुत्रादि उसका रास्ता देखते है।

विशेषार्थ—लकड़ीके कामको कर्म कहते हैं, गीत नृत्य आदिको कला कहते हैं और मूल्य लेकर पुस्तकवाचन आदि करनेको धर्म कहते हैं ॥७६॥

अथ कारुकदुरवस्था कथयति—

आशावान् गृहजनमुत्तमर्णमन्यानप्याप्तैरिव सरसो धनैर्धिनोति।
३ छिन्नाशो विलपति भालमाहते स्वं द्वेष्टीष्टानपि परदेशमप्युपैति ॥७७॥

उत्तमर्णं—धनिकम्। अन्यान्—सम्बन्धिसुहृदादीन्। आहते—ताडयति ॥७७॥

अथासौ देशेऽपि धनाशया पुन खिद्यत इत्याह—स्पष्टम् ॥७८॥

६ आशया जीवति नरो न ग्रन्थावपि बद्धया।
पञ्चाशतेत्युपायज्ञस्ताम्यत्यर्थाशया पुनः ॥७८॥

अथ इष्टलाभेऽपि तृष्णानुपरतिं दर्शयति—

९ कथं कथमपि प्राप्य किंचिदिष्टं विधेर्वशात्।
पश्यन् दीनं जगद् विश्वमप्यधीशितुमिच्छति ॥७९॥

अधीशितु—स्वाधीना कर्तुम् ॥७९॥

१२ अथ साधितधनस्यापरापरा विपदो दर्शयति—

दायादाद्यै क्रूरमावर्त्यमान पुत्राद्यैर्वा मृत्युना छिद्यमानः।
रोगाद्यैर्वा बाध्यमानो हताशो दुर्दैवस्य स्कन्धकं धिग् बिभर्ति ॥८०॥

१५ आवर्त्यमानः—लङ्घनादिना कदर्थ्यमान। छिद्यमान—वियुज्यमान। स्कन्धक—कालनियमेन देयमृणम् ॥८०॥

शिल्पियोकी दुरवस्था बतलाते हैं—

मुझे अपने शिल्पका मूल्य आज या कल मिल जायेगा इस आशासे हर्षित होकर शिल्पी मानो धन हाथमें आ गया है इस तरह अपने परिवारको, साहूकारको तथा दूसरे भी सम्बन्धी जनोंको प्रसन्न करता है। और निराश होनेपर रोता है, अपने मस्तकको ठोकता है, अपने प्रिय जनोसे भी लड़ाई-झगड़ा करता है तथा परदेश भी चला जाता हैं ॥७७॥

आगे कहते हैं कि वह परदेशमें भी धनकी आशासे पुनः खिन्न होता है—

'मनुष्य आशासे जीता है, गाँठमे बँधे हुए सैकडों रुपयोंसे नही,' इस लोकोक्तिके अनुसार जीविकाके उपायोको जाननेवाला शिल्पी फिर भी धनकी आशासे खिन्न होता है ॥७८॥

आगे कहते हैं कि इष्ट धनकी प्राप्ति होनेपर भी तृष्णा शान्त नहीं होती—

पूर्वकृत शुभकर्मके योगसे जिस किसी तरह महान् कष्टसे कुछ इष्टकी प्राप्ति होनेपर वह जगत्को अपनेसे हीन देखने लगता है और समस्त विश्वको भी अपने अधीन करनेकी इच्छा करता है ॥७९॥

धन प्राप्त होनेपर आनेवाली अन्य विपत्तियोंको कहते हैं—

धन सम्पन्न होनेपर मनुष्यको धनके भागीदार भाई-भतीजे बुरी तरह सताते हैं अथवा मृत्यु आकर पुत्रादिसे उसका वियोग करा देती है या रोगादि पीड़ा देते हैं। इस तरह वह अभागा दुर्दैवके उस ऋणको लिये फिरता है जिसे नियत समयपर ही चुकाना होता है ॥८०॥

अथ मध्यवयसो विपद्भिररतिं जीवितोपरचित (—तोपरतिं च) निरूपयति—

पिपीलिकाभिः कृष्णाहिरिवापद्भिर्दुराशयः ।
दंदश्यमान क्व रतिं यातु जीवतु वा कियत् ॥८१॥ ३

ददश्यमानः—गर्हित खाद्यमान ॥८१॥

अथ पलितोद्भवदु खमालक्षयति—

जराभुजङ्गीनिर्मोकं पलितं वीक्ष्य वल्लभाः ।
यान्तीरुद्वेगमुत्पश्यन्नप्यपैत्योजसोऽन्वहम् ॥८२॥ ६

निर्मोक.—कञ्चुक. । वीक्ष्य—अत्र यान्तीरित्युत्पश्यन्निति वापेक्ष्य उत्पश्यन्—उत्प्रेक्षमाणः । ओजसः—शुक्रार्तधातुपरमतेजस । तत्प्रत्ययश्च प्रियाविरागदर्शनात् । तथा चोक्तम्— ९

'ओज क्षीयेत कोपक्षुद्ध्यानशोकश्रमादिभि.' ॥८२॥

अथ जरानुभाव भावयति—

विस्रसोद्देहिका देहवनं नृणां यथा यथा ।
चरन्ति कामदा भावा विशीर्यन्ते तथा तथा ॥८३॥ १२

विश्रसा—जरा ॥८३॥

अथ जरातिव्याप्ति चिन्तयति— १५

मध्यम अवस्थावाले मनुष्यको विपत्तियोके कारण होनेवाली अरति और जीवनसे अरुचिको बतलाते हैं—

चींटियोंसे बुरी तरह खाये जानेवाले काले सर्पकी तरह विपत्तियोंसे सब ओरसे घिरा हुआ दुःखी मनुष्य किससे तो प्रीति करे और कबतक जीवित रहे ? ॥८१॥

सफेद बालोंको देखकर होनेवाले दु खको कहते है—

वृद्धावस्थारूपी सर्पिणीकी केंचुलीके समान सफेद बालोंको देखकर विरक्त होनेवाली प्रिय पत्नियोका स्मरण करके ही बुढापेकी ओर जानेवाला मनुष्य दिनोदिन ओजसे क्षीण होता है ॥८२॥

विशेषार्थ—कहा भी है—कोप, भूख, ध्यान, शोक और श्रम आदिसे ओज क्षीण होता है। वैद्यक शास्त्रके अनुसार ओज शरीरके धातुरसको पुष्ट करता है ॥८२॥

बुढापेका प्रभाव बतलाते है—

मनुष्योंके शरीररूपी उद्यानको बुढापारूपी दीमक जैसे-जैसे खाती है वैसे-वैसे उसके कामोद्दीपक भाव स्वय ही नष्ट हो जाते हैं। अर्थात् यह शरीर उद्यानके समान है उद्यानकी तरह ही इसका पालन-पोषण यत्नसे किया जाता है। जैसे उद्यानको यदि दीमकें खाने लगे तो बगीचा लगानेवालेके मनोरथोको पूरा करनेवाले फल-फूल सब नष्ट हो जाते हैं वैसे ही बुढ़ापा आनेपर मनुष्यके कामोद्दीपक भाव भी स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं ॥८३॥

बुढापेकी अधिकताका विचार करते हैं—

प्रक्षीणान्तःकरणकरणो व्याधिभिः सुष्ट्विवाधि-
स्पर्द्धाद्दग्धः परिभवपदं याप्यकम्प्राऽङ्क्रियाङ्गः ।
३　तृष्णेर्ष्याद्यैर्विलगितगृहः प्रस्खलद्‌द्वित्रदन्तो
ग्रस्येताद्धा विरस इव न श्राद्धदेवेन वृद्ध. ॥८४॥

इवाधिस्पर्द्धात्—मनोदु खसहर्षादिव । याप्यानि—कुत्सितानि । विलगितगृहः—उपततकलत्रादि-
६　लोक । अद्धा—झगिति । श्राद्धदेवेन—यमेन क्षयार्हभोज्येन च ॥८४॥

अथ तादृग् दुष्टमपि मानुषत्व परमसुखफलधर्माङ्गत्वेन सर्वोत्कृष्ट विदध्यादिति शिक्षयति—

बीजक्षेत्राहरणजननद्वाररूपाशुचीदृग्-
९　दुःखाकीर्णं दुरसविविधप्रत्ययातक्यंमृत्यु ।
अल्पाग्रायुः कथमपि चिराल्लब्धमीदृग् नरत्वं
सर्वोत्कृष्टं विमलसुखकृद्धर्मसिद्धचैव कुर्यात् ॥८५॥

१२　वीज—शुक्रार्तवम् । क्षेत्र—मातृगर्भः । आहरणं—मातृनिगीर्णमन्नपानम् । जननद्वारं—रज पथ । रूप—दोपाद्यात्मकत्वसदातुरत्वम् । ईदृग्दु.खानि—गर्भादिवार्द्धक्यान्तवाधा । दुरसः—दुर्निवार । विविधा.—व्याधिशस्त्राशनिपातादय । प्रत्यया—कारणानि । अल्पाग्रायुः—अल्प स्तोकमग्र परमायुर्यत्र ।
१५　इह हीदानी मनुष्याणामुत्कर्षेणापि विंश वर्षशत जीवितमाहु । ईदृक्—सज्जातिकुलाद्युपेतम् ॥८५॥

अथ वीजस्य (जीवस्य) त्रस्यत्वादि (त्रसत्वादि) यथोत्तरदुर्लभत्व चिन्तयति—

जिसका मन और इन्द्रियाँ विनाशके उन्मुख हैं, मानसिक व्याधियोकी स्पर्द्धासे ही मानो जिसे शारीरिक व्याधियोंने अत्यन्त क्षीण कर दिया है, जो सबके तिरस्कारका पात्र है, जिसके हाथ-पैर आदि अंग वुरी तरहसे काँपते हैं और अपना काम करनेमे असमर्थ हैं, अतिलोभी, क्रोधी आदि स्वभावके कारण परिवार भी जिससे उकता गया है, मुँहमें दो-चार दाँत शेष हैं किन्तु वे भी हिलते हैं, ऐसे वृद्ध पुरुषको मानो स्वादरहित होनेसे मृत्यु भी जल्दी नहीं खाती ॥८४॥

इस प्रकार मनुष्यपर्याय बुरी होनेपर भी परम सुखके दाता धर्मका अग है इसलिए उसे सर्वोत्कृष्ट बनानेकी शिक्षा देते हैं—

इस मनुष्य शरीरका वीज रज और वीर्य है, उत्पत्तिस्थान माताका गर्भ है, आहार माताके द्वारा खाया गया अन्न-जल है, रज और वीर्यका मार्ग ही उसके जन्मका द्वार है, वात-पित्त-कफ-धातु उपधातु ही उसका स्वरूप है, इन सबके कारण वह गन्दा है, गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त दुःखोंसे भरा हुआ है, व्याधि, शस्त्राघात, वज्रपात आदि अनेक कारणोसे आकस्मिक मृत्यु अवश्यम्भावी है, तथा इसकी उत्कृष्ट आयु भी अति अल्प अधिक से अधिक एक सौ वीस वर्प कही है। समीचीन धर्मके अंगभूत जाति-कुल आदिसे युक्त यह ऐसा मनुष्य भव भी चिरकालके वाद बड़े कष्टसे किसी तरह प्राप्त हुआ है। इसे विमल अर्थात् दु.खदायी पापके संसर्गसे रहित सुखके दाता धर्मका साधन बनाकर ही देवादि पर्यायसे भी उत्कृष्ट बनाना चाहिए ॥८५॥

आगे जीवको प्राप्त होनेवाली त्रसादि पर्यायोंकी उत्तरोत्तर दुर्लभताका विचार करते हैं—

जगत्यनन्तैकहृषीकसंकुले त्रसत्व-संज्ञित्व-मनुष्यतार्यताः ।
सुगोत्रसद्‌गात्रविभूतिवार्तता सुधीसुधर्माश्च यथाग्रदुर्लभा. ॥८६॥

वार्तता—आरोग्यम् ॥८६॥ ३

अथ धर्माचरणे नित्योद्योगमुद्‌वोधयति—

स ना स कुल्यः स प्राज्ञः स बलश्रीसहायवान् ।
स सुखी चेह चामुत्र यो नित्यं धर्ममाचरेत् ॥८७॥ ६

स्पष्टम् ॥८७॥

अनन्त एकेन्द्रिय जीवोंसे पूरी तरहसे भरे हुए इस लोकमे त्रसपना, संज्ञिपना, मनुष्यपना, आर्यपना, उत्तमकुल, उत्तम-शरीर, सम्पत्ति, आरोग्य, सद्‌बुद्धि और समीचीन धर्म उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं ॥८६॥

विशेषार्थ—इस लोकमें यह जीव अपने द्वारा बाँधे गये कर्मके उदयसे बार-बार एकेन्द्रिय होकर किसी तरह दो-इन्द्रिय होता है। दो-इन्द्रिय होकर पुनः एकेन्द्रिय हो जाता है। इस प्रकार एकेन्द्रियसे दो-इन्द्रिय होना कठिन है, दो इन्द्रियसे तेइन्द्रिय होना कठिन है, तेइन्द्रियसे चतुरिन्द्रिय होना कठिन है, चतुरिन्द्रियसे असंज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, असंज्ञी पचेन्द्रियसे संज्ञी पंचेन्द्रिय होना कठिन है, संज्ञी पंचेन्द्रियोमें भी मनुष्य होना कठिन है। मनुष्योंमें भी आर्य मनुष्य होना कठिन है। आर्य होकर भी अच्छा कुल, अच्छा शरीर, सम्पत्ति, नीरोगता, समीचीन बुद्धि और समीचीन धर्मका लाभ उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थराजवार्तिक (अ. ९।७) मे बोधिदुर्लभ भावनाका स्वरूप इसी शैली और शब्दोंमें बतलाया है। अकलंकदेवने लिखा है—आगममे एक निगोद शरीरमे सिद्धराशिसे अनन्त गुणे जीव बतलाये है। इस तरह सर्व लोक स्थावर जीवोंसे पूर्णतया भरा है। अत. त्रसपर्याय रेगिस्तानमे गिरी हुई हीरेकी कनीके समान मिलना दुर्लभ है। त्रसोंमे भी विकलेन्द्रियोका आधिक्य है अत. उसमे पचेन्द्रियपना प्राप्त होना गुणोमें कृतज्ञता गुणकी तरह कठिन है। पंचेन्द्रियोंमें भी पशु, मृग, पक्षी आदि तिर्यंचोंकी बहुलता है। अतः मनुष्यपर्याय वैसी ही दुर्लभ है जैसे किसी चौराहे पर रत्नराशिका मिलना दुर्लभ है। मनुष्यपर्याय छूटनेपर पुन उसका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे किसी वृक्षको जला डालनेपर उसकी राखका पुन. वृक्षरूप होना। मनुष्यपर्याय भी मिली किन्तु हित-अहितके विचारसे शून्य पशुके समान मनुष्योसे भरे हुए कुदेशोंका बाहुल्य होनेसे सुदेशका मिलना वैसा ही दुर्लभ है जैसे पाषाणोमे मणि। सुदेश भी मिला तो सुकुलमे जन्म दुर्लभ है क्योंकि संसार पापकर्म करनेवाले कुलोंसे भरा है। कुलके साथ जाति भी प्राय. शील, विनय और आचारको करनेवाली होती है। कुल-सम्पत्ति मिल जानेपर भी दीर्घायु, इन्द्रिय, बल, रूप, नीरोगता वगैरह दुर्लभ हैं। उन सबके मिलनेपर भी यदि समीचीन धर्मका लाभ नहीं होता तो जन्म व्यर्थ है ॥८६॥

आगे धर्मका आचरण करनेमे नित्य तत्पर रहने की प्रेरणा करते हैं—

जो पुरुष सदा धर्मका पालन करता है वही पुरुष वस्तुतः पुरुष है, वही कुलीन है, वही बुद्धिशाली है, वही बलवान्, श्रीमान् और सहायवान् है, वही इस लोक और परलोकमे सुखी है अर्थात् धर्मका आचरण न करनेवाले दोनो लोकोमे दुःखी रहते है ॥८७॥

अथ धर्मार्जनविमुखस्य गुणान् प्रतिक्षिपति—

धर्मं श्रुति-स्मृति-स्तुतिसमर्थनाचरणचारणानुमतैः ।
यो नार्जयति कथंचन किं तस्य गुणेन केनापि ॥८८॥

३

स्पष्टम् ॥८८॥

ननु लोकादेवावगम्य धर्मशब्दार्थोऽनुष्ठास्यते तत्किं तदर्थप्रतिपादनाय शास्त्रकरणप्रयासेनेति वदन्त

६ प्रत्याह—

लोके विषामृतप्रख्यभावार्थः क्षीरशब्दवत् ।
वर्तते धर्मशब्दोऽपि तत्तदर्थोऽनुशिष्यते ॥८९॥

९ भाव.—अभिधेय वस्तु ॥८९॥

अथ धर्मशब्दार्थं व्यक्तीकरोति—

धर्मः पुंसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्ररूपा स च स्वां
१२ **सामग्रीं प्राप्य मिथ्यारुचिमतिचरणाकारसंक्लेशरूपम् ।**
मूलं बन्धस्य दुःखप्रभवफलस्याबधुन्वन्नधर्मं
संजातो जन्मदु.खाद्धरति शिवसुखे जीवमित्युच्यतेऽर्थात् ॥९०॥

जो पुरुष धर्मसे विमुख रहता है उसके गुणोंका तिरस्कार करते हैं—

जो पुरुष श्रुति, स्मृति, स्तुति और समर्थना इनमे-से किसी भी उपायके द्वारा किसी भी तरहसे स्वयं आचरण करके या दूसरोसे कराकर या अनुमोदनाके द्वारा धर्मका संचय नहीं करता उसके अन्य किसी भी गुणसे क्या लाभ है ॥८८॥

विशेषार्थ—धर्मके अनेक साधन हैं। गुरु आदिसे धर्म सुनना श्रुति है। उसे स्वयं स्मरण करना स्मृति है। धर्मके गुणोंका बखान करना स्तुति है। युक्ति पूर्वक आगमके बलसे धर्मका समर्थन करना समर्थन है। स्वयं धर्मका पालन करना आचरण है। दूसरोंसे धर्मका पालन कराना चारण है। और अनुमोदना करना अनुमत है। इस प्रकार कृत कारित अनुमोदनाके द्वारा श्रुति, स्मृति, स्तुति, समर्थना पूर्वक धर्मकी साधना करनी चाहिए। इनमे-से कुछ भी न करके धर्मसे विमुख रहनेसे मनुष्यपर्याय, सुकुल, सुदेश, सुजाति आदिका पाना निरर्थक है ॥८८॥

धर्म शब्दका अर्थ लोगोसे ही जानकर उसका आचरण किया जा सकता है। तब उसके अर्थको बतलानेके लिए शास्त्ररचना करनेका श्रम उठाना बेकार है। ऐसा कहनेवाले को उत्तर देते हैं—

जैसे लोकमे क्षीर शब्दसे विषतुल्य अर्क आदि रस और अमृततुल्य गोरस अर्थ लिया जाता है वैसे ही धर्म शब्दसे भी विषतुल्य दुर्गतिके दु खको देनेवाला हिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है और अमृततुल्य अहिंसा आदि रूप अर्थ भी लिया जाता है। इसलिए उसमें भेद बतलानेके लिए धर्म शब्दका उपदेश परम्परासे आगत अर्थ कहते हैं ॥८९॥

आगे धर्मशब्दका अर्थ स्पष्ट करते हैं—

जीवकी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप विशुद्धिको धर्म कहते हैं। और मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र रूप संक्लेशपरिणामको अधर्म कहते हैं। वह अधर्म उस पुण्य-पापरूप बन्धका कारण है जिसका फल दु खदायक संसार है। जीवकी

पुंसो विशुद्धिः—जीवस्य विशुद्धिपरिणामः। तथा चोक्तम्—

भाउविसुद्धउ अप्पणउ धम्मु भणेविणु लेहु।
चउगइदुक्खहिं जो धरइ जीउ पडंतउ एउ ॥ ३

[पर. प्र २।६८।]

सामग्री—बाह्येतरकारणकलाप सद्ध्यान वा। तदुक्तम्—

स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि। ६
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यान सुधिय सदाप्यपास्यालस्यम् ॥

[तत्त्वानुशासन—३३]

विशुद्धि रूप वह धर्म अधर्मको पूरी तरहसे हटाते हुए अपनी अन्तरंग वहिरंग कारण रूप सामग्रीको प्राप्त करके जव अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें सम्पूर्ण होता है तव जीवको संसारके दु.खोंसे उठाकर मोक्षसुखमे धरता है इसलिए उसे परमार्थसे धर्म कहते हैं ॥९०॥

विशेषार्थ—धर्म शब्द जिस 'धृ' धातुसे वना है उसका अर्थ है धरना इसलिए धर्म शब्दका अर्थ होता है—जो धरता है वह धर्म है। किसी वस्तुको एक जगहसे उठाकर दूसरी जगह रखनेको धरना कहते हैं। धर्म भी जीवको संसारके दु.खोसे उठाकर मोक्षसुखमें धरता है इसलिए उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म शब्दका व्युत्पत्तिसिद्ध अर्थ है। किन्तु धरना तो एक क्रिया है। क्रिया तो परमार्थसे धर्म या अधर्म नहीं होती। तव परमार्थ धर्म क्या है? परमार्थ धर्म है आत्माकी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप निर्मलता। दर्शन, ज्ञान और चारित्र आत्माके गुण हैं। जव ये विपरीत रूप होते हैं तव इन्हें मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र कहते हैं। उनके होनेसे आत्माकी परिणति संक्लेशरूप होती है। उससे ऐसा कर्मवन्ध होता है जिसका फल अनन्त संसार है। किन्तु जव मूढता आदि दोषोंके दूर होनेपर दर्शन सम्यग्दर्शन होता है, संशय आदि दोषोंके दूर होने पर ज्ञान सम्यग्ज्ञान होता है और मायाचार आदिके दूर होने पर चारित्र सम्यक्चारित्र होता है तव जो आत्मामे निर्मलता होती है वही वस्तुत. धर्म है। ज्यों ज्यों सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्णताकी ओर वढते जाते हैं त्यों त्यो निर्मलता वढती जाती है और ज्यों ज्यों निर्मलता वढती जाती है त्यों त्यों सम्यग्दर्शनादि पूर्णताकी ओर वढते जाते हैं। इस तरह वढते हुए जव जीव मुनिपद धारण करके अर्हन्त अवस्था प्राप्त कर अयोगकेवलि नामक चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमें पहुँचता है तव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र पूर्ण होते हैं और तत्काल ही जीव संसारसे छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है। परमात्मप्रकाशमे कहा है—

'आत्माका मिथ्यात्व रागादिसे रहित विशुद्ध भाव ही धर्म है ऐसा मान कर उसे स्वीकार करो। जो संसारमें पड़े हुए जीवको उठाकर मोक्षमें धरता है।' इसकी टीकामें ब्रह्मदेवने लिखा है—यहाँ धर्म शब्दसे निश्चयसे जीवका शुद्ध परिणाम ही लेना चाहिए। उसमे वीतराग सर्वज्ञके द्वारा रचित नयविभागसे सभी धर्मोंका अन्तर्भाव होता है। उसका खुलासा इस प्रकार है—धर्मका लक्षण अहिंसा है। वह भी जीवके शुद्ध भावके विना सम्भव नहीं है। गृहस्थ और मुनिधर्मरूप धर्म भी शुद्ध भावके विना नहीं होता। उत्तम क्षमा आदि रूप दस प्रकारका धर्म भी जीवके शुद्ध भावकी अपेक्षा रखता है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान

मिथ्या वैपरीत्येऽभावे च। दु खप्रभव —दु ख प्रभवत्यस्मादस्मिन्वा भावे (भवे)। संजातः— अयोगिचरमसमये सपूर्णीभूत.। जन्मदु.खात्—संसारक्लेशादुद्धृत्य •। अर्थात् अभिधेय परमार्थं

३ वाश्रित्य ॥९०॥

अथ निश्चयरत्नत्रयलक्षणनिर्देशपुरस्सर मोक्षस्य सवरनिर्जरयोर्बन्धस्य च कारणं निरूपयति—

मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत् संदेहमोहभ्रमं

६ वान्ताशेषकषायकर्मभिदुदासीनं च रूपं चितः।

तत्त्वं सद्दृगवायवृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तद्

रुन्द्धे निर्जरयत्यपीतरदघं बन्धस्तु तद्व्यत्ययात् ॥९१॥

और सम्यक् चारित्र रूप धर्म भी शुद्धभावरूप ही है। रागद्वेष मोह रहित परिणामको धर्म कहा है, वह भी जीव का शुद्ध स्वभाव ही है। वस्तुके स्वभावको धर्म कहा है। वह भी जीवका शुद्धस्वभाव ही है। इस प्रकारका धर्म चारों गतिके दुःखोंमे पड़े हुए जीवको उठाकर मोक्षमे धरता है।

प्रश्न—आपने पहले कहा था कि शुद्धोपयोगमे संयम आदि सब गुण प्राप्त होते हैं। यहाँ कहते है कि आत्माका शुद्ध परिणाम ही धर्म है उसमे सब धर्म गर्भित हैं। इन दोनोंमें क्या अन्तर है—

समाधान—वहाँ शुद्धोपयोग संज्ञाकी मुख्यता है और यहाँ धर्म संज्ञा मुख्य है—इतना ही विशेष है। दोनोके तात्पर्यमे अन्तर नहीं है। इसलिए सब प्रकारसे शुद्धपरिणाम ही कर्तव्य है। धर्मकी इस अवस्थाकी प्राप्तिमे ध्यानको प्रमुख कारण बतलाया है। कहा भी है कि ध्यानमे दोनों ही प्रकारके मोक्षके कारण मिल जाते हैं अत. आलस्य छोड़कर ध्यानका अभ्यास करना चाहिए ॥९१॥

निश्चयरत्नत्रयके लक्षणके निर्देशपूर्वक मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धके कारण कहते है—

मिथ्या अर्थात् विपरीत या प्रमाणसे बाधित अर्थको मिथ्या अर्थ कहते हैं। और सर्वथा एकान्तरूप मिथ्या अर्थके आग्रहको मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते है। उससे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। अथवा जिसके उदयसे मिथ्या अर्थका आग्रह होता है ऐसे दर्शनमोहनीयकर्मको भी मिथ्या अर्थका अभिनिवेश कहते हैं। उस दर्शनमोहनीय कर्मसे रहित आत्माका स्वरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है। यह स्थाणु (ठूंठ) है या पुरुष इस प्रकारके चंचल ज्ञानको सन्देह कहते हैं। चलते हुए पैरको छूनेवाले तृण आदिके ज्ञानकी तरह पदार्थका जो अनध्यवसाय होता है उसे मोह कहते हैं। जो वैसा नही है उसे उस रूपमे जानना—जैसे ठूठको पुरुष जानना—भ्रम है। इन सन्देह मोह और भ्रमसे रहित आत्माके स्वरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। क्रोधादि कषाय और हास्य आदि नोकषायो से रहित, ज्ञानावरण आदि कर्म और मन वचन कायके व्यापार रूप कर्मको नष्ट करनेवाला

---

१ दुविह पि मोक्खहेउ झाणे पाउणदि ज मुणी णियमा।
तम्हा पयत्तचित्ता जूय झाण समब्भसह ॥ —द्रव्य सग्रह ४७।
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यस्यन्तु ध्यान सुधिय सदाऽप्यपालस्यम् ॥ —तत्त्वानुशा ६३ श्लो।

सदेह:—स्थाणुर्वा पुरुषो वेति चलिता प्रतीति । मोह —गच्छत्तृणस्पर्शज्ञानवत् पदार्थानध्यवसाय. । भ्रम अतस्मिंस्तदिति ग्रहण स्थाणौ पुरुषज्ञानवत् । कर्मभित्—ज्ञानावरणादि कर्मछेदि मनोवाक्कायव्यापार-निरोधि वा । तथा चोक्त तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके— ३

'मिथ्याभिमाननिर्मुक्तिर्ज्ञानस्येष्टं हि दर्शनम् ।
ज्ञानत्वं चार्थविज्ञप्तिश्चर्यात्व कर्महन्तृता ॥'

[त श्लो. १-५४] ६

चित —चेतनस्य । तत्त्व—परमार्थरूपम् । सदृगवायवृत्त—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र मिथ्येत्यादिना क्रमेणोक्तलक्षणम् । सहतिप्रधाननिर्देशात्तत्त्रयमय आत्मैव निश्चयमोक्षमार्ग इति लक्षयति । तदुक्तम्—

'णिच्छयणएण भणिओ तिहिं तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा । ९
ण गहदि किंचिवि अण्ण ण मुयदि सो मोक्खमग्गो त्ति ॥'

[पञ्चास्ति १६१ गा]

आत्माका उदासीन रूप निश्चय सम्यक्चारित्र है। पूर्ण अवस्थामे होने पर तीनों मोक्षके ही मार्ग हैं। किन्तु व्यवहाररूप तथा अपूर्ण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र अशुभकर्मको रोकता भी है और एक देशसे क्षय भी करता है। परन्तु मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बन्ध होता है ॥९१॥

विशेषार्थ—ऊपर निश्चयरत्नत्रयके लक्षणके साथ मोक्ष, संवर, निर्जरा तथा बन्धका कारण कहा है। मिथ्या अर्थके आग्रहसे रहित आत्मरूपको अथवा जिसके कारण मिथ्या अर्थका आग्रह होता है उस दर्शन मोहनीय कर्मसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यग्दर्शन कहते हैं। तथा संशय, विपर्यय और मोहसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। तथा समस्त कषायोंसे रहित आत्मरूपको निश्चय सम्यक्चारित्र कहते हैं। तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिकमें कहा है—

'ज्ञानका मिथ्या अभिमानसे पूरी तरहसे मुक्त होना सम्यग्दर्शन है। अर्थको यथार्थ रीतिसे जानना सम्यग्ज्ञान है और कर्मोंका नाश सम्यक्चारित्र है।' ये तीनों ही आत्मरूप होते हैं। इसलिए अमृतचन्द्राचार्यने आत्माके निश्चयको सम्यग्दर्शन, आत्माके परिज्ञानको सम्यग्ज्ञान और आत्मामे स्थितिको सम्यक्चारित्र कहा है। और ऐसा ही पद्मनन्दि पञ्च-विंशतिका (४।१४) में कहा है।

इनमेसे सबसे प्रथम सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। समयसार गा ३२० की टीकाके उपसंहारमे विशेष कथन करते हुए आचार्य जयसेनने कहा है—जब काललब्धि आदिके योगसे भव्यत्व शक्तिकी व्यक्ति होती है तब यह जीव सहज शुद्ध पारिणामिक भावरूप निज परमात्मद्रव्यके सम्यक् श्रद्धान, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् अनुचरण रूप पर्यायसे परिणत होता है। इस परिणमनको आगमकी भाषामे औपशमिक भाव या क्षायोपशमिक भाव या क्षायिक भाव कहते है। किन्तु अध्यात्मकी भाषामें उसे शुद्धात्माके अभिमुख परिणाम, शुद्धोपयोग आदि कहते हैं। सम्यग्दर्शन दर्शन मोहनीयकी मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति तथा अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन सात कर्मप्रकृतियोंके उपशम,

अयनं—मार्ग । इतरत्—व्यवहाररूपमपूर्णं च । तद्व्यत्ययात्—मिथ्यादर्शनादित्रयात् । तथा चोक्तम्—

३ 'रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्यं शुभोपयोगस्य सोऽयमपराधः ॥'
[पुरुषार्थ २२०]

क्षय अथवा क्षयोपशमसे होता है। यह आत्माके श्रद्धागुणकी निर्मल पर्याय है। इसीसे इसे आत्माका मिथ्या अभिनिवेशसे शून्य आत्मरूप कहा है। यह चौथे गुणस्थानके साथ प्रकट होता है। किन्तु कहीं-कहीं निश्चय सम्यग्दर्शनको वीतरागचारित्रका अविनाभावी कहा है इसलिए कुछ विद्वान् चतुर्थ गुणस्थानमें निश्चय सम्यग्दर्शन नहीं मानते। टीकाकार ब्रह्मदेवने परमात्मप्रकाश (२।१७) की टीकामें इसका अच्छा खुलासा किया है। 'आगममें सम्यक्त्वके दो भेद कहे हैं—सराग सम्यग्दर्शन और वीतराग सम्यग्दर्शन। प्रशम संवेग अनुकम्पा आस्तिक्य आदिसे अभिव्यक्त होने वाला सराग सम्यग्दर्शन है। उसे ही व्यवहार सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसके विषयभूत छह द्रव्य हैं। वीतराग सम्यक्त्वका लक्षण निज शुद्धात्माकी अनुभूति है वह वीतराग चारित्रका अविनाभावी है। उसीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। ब्रह्मदेवजीके इस कथनपर शिष्य प्रश्न करता है कि 'निज शुद्धात्मा ही उपादेय है' इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व है ऐसा आपने पहले बहुत बार कहा है अतः आप वीतराग चारित्रके अविनाभावीको निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं यह पूर्वापरविरोध है। कारण—अपनी शुद्धात्मा ही उपादेय है इस प्रकारकी रुचिरूप निश्चय सम्यक्त्व गृहस्थ अवस्थामें तीर्थंकर, भरत चक्रवर्ती, सगर चक्रवर्ती, राम, पाण्डव आदिके विद्यमान था किन्तु उनके वीतराग चारित्र नहीं था यह परस्पर विरोध है। यदि वीतराग चारित्र था तो वे असयमी कैसे थे ? शिष्यकी इस शंकाके उत्तरमें ब्रह्मदेवजी कहते हैं—यद्यपि उनके शुद्धात्माके उपादेयकी भावना रूप निश्चय सम्यक्त्व था किन्तु चारित्रमोहके उदयसे स्थिरता नहीं थी। अथवा व्रत प्रतिज्ञा भंग होनेसे असंयत कहे गये हैं (यह कथन तीर्थंकरके साथ नहीं लगाना चाहिए) जब भरत आदि शुद्धात्माकी भावनासे च्युत होते थे तब निर्दोष परमात्मा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोंका स्तवन आदि करते थे, उनके चरित पुराण आदि सुनते थे। उनके आराधक आचार्य उपाध्याय साधुओंको विषयकषायसे बचनेके लिए दान, पूजा आदि करते थे। अत शुभरागके योगसे सरागसम्यग्दृष्टि होते थे। किन्तु उनके सम्यक्त्वको निश्चयसम्यक्त्व इसलिए कहा गया है कि वह वीतराग चारित्रके अविनाभावी निश्चय सम्यक्त्वका परम्परासे साधक है। वास्तवमें वह सरागसम्यक्त्व नामक व्यवहारसम्यक्त्व ही है'। जिस तरह सम्यग्दर्शन आदिके दो प्रकार हैं उसी तरह मोक्षमार्गके भी दो प्रकार हैं—निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग। उक्त तीन भावमय आत्मा ही निश्चय मोक्षमार्ग है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रकी पूर्णता अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके अन्तिम समयमें होती है। उसके पश्चात् ही मोक्ष हो जाता है अत. सम्पूर्ण रत्नत्रय मोक्षका ही मार्ग है। किन्तु अपूर्ण रत्नत्रय ? जब तक रत्नत्रय असम्पूर्ण रहता है नीचेके गुणस्थानोंमें साधुके पुण्य प्रकृतियोंका बन्ध होता है तब क्या उससे बन्ध नहीं होता ? इसके समाधानके लिए पुरुषार्थ सि. के २११ से २२० श्लोक देखना चाहिए। उसमेंसे आदि और अन्तिम श्लोकमें कहा है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबन्धो यः ।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः ॥
[पुरुषार्थ २११] ॥९१॥

एकदेश रत्नत्रयका भावन करनेसे जो कर्मबन्ध होता है वह अवश्य ही विपक्षकृत है क्योंकि मोक्षका उपाय बन्धनका उपाय नहीं हो सकता।

इस श्लोकका अर्थ कुछ विद्वान् इस रूपमें करते हैं कि असमग्ररत्नत्रयसे होनेवाला कर्मबन्ध मोक्षका उपाय है। किन्तु यह अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रके तथा जैन सिद्धान्तके सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि आगे वे कहते हैं[1]—

इस लोकमें रत्नत्रय मोक्षका ही हेतु है, कर्मबन्धका नहीं। किन्तु एकदेश रत्नत्रयका पालन करते हुए जो पुण्य कर्मका आस्रव होता है वह शुभोपयोगका अपराध है। जिसे बन्ध अपराध कहा है वह मोक्षका उपाय कैसे हो सकता है।

व्यवहार रूप रत्नत्रयसे जो अपूर्ण होता है, अशुभकर्मका संवर और निर्जरा होती है। यहाँ अशुभ कर्मसे पुण्य और पाप दोनों ही लिये गये हैं क्योंकि सभी कर्म जीवके अपकारी होनेसे अशुभ कहे जाते हैं। निश्चयरत्नत्रयकी समग्रता तो चौदहवें गुणस्थानके अन्तमें ही होती है उसके होते ही मोक्ष हो जाता है इसलिए उसे मोक्षका ही कारण कहा है। किन्तु उससे पहले जो असम्पूर्ण रत्नत्रय होता है उससे नवीन कर्मबन्धका संवर तथा पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। पञ्चास्तिकायके अन्तमें आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्गका कथन किया है और अमृतचन्द्राचार्यने दोनोंमें साध्यसाधन भाव बतलाया है।

इसकी टीकामें कहा है—व्यवहार मोक्षमार्गके साध्यरूपसे निश्चय मोक्षमार्गका यह कथन है। सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रसे समाहित हुआ आत्मा ही जीव स्वभावमें नियत चारित्र रूप होने से निश्चयसे मोक्षमार्ग है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—यह आत्मा किसी प्रकार अनादि अविद्याके विनाशसे व्यवहार मोक्षमार्गको प्राप्त करता हुआ धर्मादि तत्त्वार्थका अश्रद्धान, अंगपूर्वगत पदार्थ सम्बन्धी अज्ञान और अतपमें चेष्टाका त्याग तथा धर्मादि तत्त्वार्थका श्रद्धान, अंग पूर्वगत अर्थका ज्ञान और तपमें चेष्टाका उपादान करनेके लिए अपने परिणाम करता है। किसी कारणसे यदि उपादेयका त्याग और त्यागने योग्यका ग्रहण हो जाता है तो उसका प्रतीकार करता है। ऐसा करते हुए विशिष्ट भावनाके सौष्ठवके कारण स्वभावभूत सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रके साथ अग और अङ्गिभावरूप परिणतिके साथ एकमेक होकर त्याग और उपादानके विकल्पसे शून्य होनेसे परिणामोंके व्यापारके रुक जाने पर यह आत्मा निश्चल हो जाता है। उस समयमे यह ही आत्मा तीन स्वभावमें नियत चारित्र रूप होनेसे निश्चय मोक्षमार्ग कहा जाता है। इस लिए निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्गमे साध्य-साधन भाव अत्यन्त घटित होता है ॥९१॥

---

१. रत्नत्रयमिह हेतुर्निर्वाणस्यैव भवति नान्यस्य ।
आस्रवति यत्तु पुण्य शुभोपयोगस्य सोऽयमपराध ॥

अथ निश्चयरत्नत्रयं केन साध्यत इत्याह—

३ उद्द्योतोद्द्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन् ।
भव्यो मुक्तिपथं भाक्तं साधयत्येव वास्तवम् ॥९२॥

उद्यवः—उत्कृष्ट मिश्रणम् । भाक्त—व्यावहारिकम् ॥९२॥

अथ व्यवहाररत्नत्रयं लक्षयति—

६ श्रद्धानं पुरुषादितत्त्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं
सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम् ।
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं
९ तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः ॥९३॥

निश्चयरत्नत्रयकी प्राप्ति किससे होती है यह कहते हैं—

उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणके द्वारा भेदरूप व्यवहार मोक्षमार्गका आराधना करनेवाला भव्य पुरुष पारमार्थिक मोक्षमार्गको नियमसे प्राप्त करता है ॥९२॥

आगे व्यवहार रत्नत्रयको कहते हैं—

व्यवहार नयसे जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन नौ पदार्थोंका जैसा इनका परमार्थस्वरूप है वैसा ही श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, जानना सम्यग्ज्ञान है तथा मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनासे हिंसा आदि पाँच पापोंका सम्यग्ज्ञानपूर्वक छोड़ना सम्यक्चारित्र है। इन्हीं तीनोंको रत्नत्रय कहते हैं। उसी रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए इन्द्रिय और मनके द्वारा होने वाली विषयोंकी चाहको रोकना तप है ॥९३॥

विशेषार्थ—जिसके द्वारा विधिपूर्वक विभाग किया जाये उसे व्यवहार नय या अशुद्ध द्रव्यार्थिक नय कहते हैं। यह नय अभेद रूप वस्तुको भेदरूप ग्रहण करता है। इसका उपयोग अज्ञानी जनोंको समझानेके लिए किया जाता है। क्योंकि वस्तुका यथार्थ स्वरूप वचनके द्वारा नहीं कहा जा सकता। व्यवहारनयका आश्रय लेकर ही उसे वचनके द्वारा कहा जा सकता है। और वैसा करने पर गुणों और पर्यायोके विस्तारसे उसकी सैकड़ों शाखाएँ फैलती जाती हैं। इस तरह व्यवहारनयके आश्रयसे ही प्राथमिक पुरुष मुख्य और उपचार कथनको जानकर शुद्ध स्वरूपको अपनाते है इस दृष्टिसे व्यवहार भी पूज्य है[1]।

'जैसे लोग आत्मा कहनेसे नहीं समझते। किन्तु जब व्यवहार नयका आश्रय लेकर कहा जाता है कि दर्शन ज्ञान और चारित्रवाला आत्मा होता है तो समझ जाते है। किन्तु ये तीनों परमार्थसे एक आत्मा ही हैं, कोई अन्य वस्तु नहीं हैं। जैसे देवदत्तका ज्ञान श्रद्धान-

---

१ तत्त्व वागतिवर्ति व्यवहृतिमासाद्य जायते वाच्यम् ।
गुणपर्यायादिविवृत्ते प्रसरति तच्चापि शतशाखम् ॥
मुख्योपचारविवृति व्यवहारोपायतो यत सन्त ।
ज्ञात्वा श्रयन्ति शुद्ध तत्त्वमिति व्यवहृति पूज्या ॥ —पद्म. पञ्च ११।१०-११ ।

योगे —मनोवाक्कायव्यापारैः । तैः प्रत्येकं कृतादित्रयेण अवद्योज्झनम् इति योज्यम् । तस्येत्यादि । 'रत्नत्रयाविर्भावार्थमिच्छानिरोधस्तप इति ह्यागम ॥९३॥

अथ श्रद्धानादित्रयसमुदायेनैव भावितं हेयमुपादेयं च तत्त्वं रसायनौषधमिव समीहितसिद्धये स्यान्नान्यथेति प्रथयति—

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्त्वमिष्टार्थसिद्धिकृत् ।
समस्तैरेव न व्यस्तै रसायनमिवौषधम् ॥९४॥

और चारित्र देवदत्त रूप ही है। उससे भिन्न वस्तु नहीं है। उसी प्रकार आत्माका ज्ञान, श्रद्धान और चारित्र आत्मरूप ही है भिन्न वस्तु नहीं है। अतः व्यवहारसे ऐसा कहा जाता है कि साधुको नित्य दर्शन ज्ञान और चारित्रकी आराधना करना चाहिए। किन्तु परमार्थसे तीनों आत्मरूप ही है। इसी तरह निश्चयसे आत्माके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं और व्यवहारसे जीव आदि नौ पदार्थोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये नौ पदार्थ व्यवहारकी प्रवृत्तिके लिए व्यवहार नयसे कहे गये हैं क्योंकि जीव और अजीवके मेलसे ये नौ तत्त्व बनते हैं। एकके ही नहीं बन सकते। बाह्य दृष्टिसे देखने पर जीव और पुद्गलकी अनादि बन्ध पर्यायको लेकर उनमें एकपने का अनुभव करने पर तो ये नौ तत्त्व सत्यार्थ है। किन्तु एक जीव द्रव्यके ही स्वभावको लेकर देखने पर असत्यार्थ हैं क्योंकि जीवके एकाकार स्वरूपमें ये नहीं हैं। अन्तर्दृष्टिसे देखने पर ज्ञायक भाव जीव है, जीवके विकारका कारण अजीव है, पुण्य-पाप, आस्रव बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये अकेले जीवके विकार नहीं हैं किन्तु अजीवके विकारसे जीवके विकारके कारण हैं। जीवके स्वभावको अलग करके स्वपरनिमित्तक एक द्रव्यपर्याय रूपसे अनुभव करके इन तत्त्वोंका श्रद्धान करना व्यवहारनयसे या व्यवहार सम्यग्दर्शन है। इसी तरह इनका जानना सम्यक्ज्ञान है।

मन वचन काय कृत कारित अनुमोदनसे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इन पाँच पापोंका त्याग करना व्यवहार सम्यक्चारित्र है। अर्थात् मनसे करने-कराने और अनुमोदना करनेका त्याग, इसी तरह वचनसे और कायसे भी हिंसादि पापोंके करने-कराने और अनुमोदनाका त्याग होना चाहिए। यद्यपि ये बाह्यत्याग प्रतीत होता है इसलिए इसे व्यवहार नाम दिया है तथापि इसका लक्ष्य है आत्माको राग-द्वेषसे निवृत्त करना। राग द्वेषवश ही पापकर्मोंमें प्रवृत्ति होती है। उस प्रवृत्तिको रोकनेसे रागद्वेषकी निवृत्तिमें सहायता मिलती है। यद्यपि तप चारित्रमें ही अन्तर्भूत है तथापि आराधनामें तपको अलग गिनाया है। इसलिए तपका लक्षण भी कहा है। तप रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए किया जाता है। आगममें कहा है कि रत्नत्रयको प्रकट करनेके लिए विषयोंकी इच्छाको रोकना तप है ॥९३॥

आगे कहते हैं कि जैसे श्रद्धा ज्ञान और आचरणपूर्वक ही रसायन औषध इष्टफलदायक होती है इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनोंके समुदायपूर्वक किया गया हेय और उपादेय तत्त्वका चिन्तन ही इष्टसिद्धिकारक होता है अन्यथा नहीं—

जैसे रसायन औषधके श्रद्धानमात्र या ज्ञानमात्र या आचरणमात्रसे इष्टार्थ-दीर्घ आयु आदिकी सिद्धि नहीं होती किन्तु रसायनके ज्ञान और श्रद्धा पूर्वक आचरण करनेसे ही होती

इष्टार्थः—अभ्युदयमोक्षौ दीर्घायुरादिश्च । तथा चोक्तम्—

दीर्घमायुः स्मृतिर्मेधा आरोग्यं तरुणं वयः ।
३ प्रभावर्णस्वरौदार्यं देहेन्द्रियबलोदयम् ॥
वाक्सिद्धिं वृषता कान्तिमवाप्नोति रसायनात् ।
लाभोपायो हि शस्तानां रसादीना रसायनम् ॥ [ ]

६ न व्यस्तं । उक्तं च—

ज्ञानादवगमोऽर्थाना न तत्कार्यंसमागमः ।
तर्षापकर्षयोषि स्याद् दृष्टमेवान्यथा पयः ॥
९ [सोम. उपा. २०]

[1]ज्ञानहीने—

श्रद्धानगन्धसिन्धुरमदुष्टमुद्यदवगममहामात्रम् ।
१२ **धीरो व्रतबलपरिवृतमारूढोऽरीन् जयेत् प्रणिधिहेत्या ॥९५॥**

है। वैसे ही श्रद्धान, ज्ञान और अनुष्ठान इन तीनोंके समुदायके साथ ही तत्त्व अभ्युदय और मोक्षदायक होता है मात्र दर्शन या ज्ञान या चारित्र अथवा इनमेंसे किन्हीं दो के भी होने पर इष्ट अर्थकी सिद्धि नहीं हो सकती ॥९४॥

आगे कहते हैं कि व्यवहारमार्ग पर चलनेवालेको समाधि रूप निश्चय मार्गके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको परास्त करना चाहिए—

जैसे धीर-वीर योद्धा, कुशल पीलवानके द्वारा नियन्त्रित गन्धहस्तीपर चढकर, सेनाके साथ, शस्त्रसे शत्रुओंको जीतता है वैसे ही धीर मुमुक्षु भी उच्च ज्ञानरूपी पीलवानके साथ निर्दोष सम्यग्दर्शनरूपी गन्धहस्ती पर आरूढ होकर व्रतरूपी सेनासे घिरा हुआ समाधिरूपी शस्त्रके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको जीतता है ॥९५॥

विशेषार्थ—यहाँ निर्दोष सम्यग्दर्शनको गन्धहस्तीकी उपमा दी है। गन्धहस्ती अपने पक्षको बल देता है और परपक्षको नष्ट करता है। निर्दोष सम्यग्दर्शन भी आत्माकी शक्तिको बढाता है और कर्मोंकी शक्तिको क्षीण करता है। ज्ञानको पीलवानकी उपमा दी है। कुशल पीलवानके बिना गन्धहस्तीका नियन्त्रण सम्भव नहीं है। इसी तरह श्रद्धानके साथ आत्मज्ञानका होना आवश्यक है। तथा व्रतोंको सेनाकी उपमा दी है। सेनाके बिना अकेला वीर शत्रुको परास्त नहीं कर सकता। इसी तरह बिना चारित्रके अकेले सम्यग्दर्शनसे भी कर्मोंको नहीं जीता जा सकता। किन्तु इन सबके सिवा भी अत्यन्त आवश्यक शस्त्र है समाधि—आत्मध्यान, आत्माकी निर्विकल्प रूप अवस्था हुए बिना व्रतादिसे भी कर्मोंसे मुक्ति नहीं मिलती। यह ध्यानमें रखना चाहिए कि चारित्रमें जितना भी प्रवृत्तिमूलक अंश है वह सब बन्धका कारण है केवल निवृत्ति रूप अंश ही बन्धका रोधक और घातक है। अतः आत्माभिमुख होना ही श्रेयस्कर है। अपनी ओर प्रवृत्ति और बाह्य ओर निवृत्ति ही चारित्र है किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके बिना यह सम्भव नहीं ॥९५॥

---

१. द्वादशं पत्रं नास्ति मूलप्रतौ।

दृष्ट्यादीनां मलनिरसनं द्योतनं तेषु शश्वद्
वृत्तिः स्वस्योद्यवनमुदितं धारणं निस्पृहस्य।
निर्वाहः स्याद् भवभयभृत पूर्णता सिद्धिरेषां
निस्तीर्णिस्तु स्थिरमपि तटप्रापणं कृच्छ्रपाते ॥९६॥ ३
शङ्कादयो मला दृष्टेर्व्यत्यासानिश्चयौ मतेः।
वृत्तस्य भावनात्यागस्तपसः स्यादसंयमः ॥९७॥ ६

अब उद्योत आदिका लक्षण कहते हैं—

अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपके दोषोंको दूर करके उन्हें निर्मल करनेको आचार्योंने उद्योतन कहा है। तथा उनमे सदा अपनेको एकमेक रूपसे वर्तन करना उद्यवन है। लाभ, पूजा, ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके निस्पृह भावसे उन सम्यग्दर्शन आदिको निराकुलता पूर्वक वहन करना धारणा है। संसारसे भयभीत अपनी आत्मामे इन सम्यग्दर्शनादिको पूर्ण करना सिद्धि है। तथा परीषह उपसर्ग आने पर भी स्थिर रहकर अपनेको मरणान्त तक ले जाना अर्थात् समाधिपूर्वक मरण करना निस्तरण है ॥९६॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र और तपके उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरणको आराधना कहते हैं।

शंका आदि दोषोंको दूर करना उद्योतन है यह सम्यक्त्वकी आराधना है। शास्त्रमें निरूपित वस्तुके विषयमें 'क्या ऐसा है या नहीं है' इस प्रकार उत्पन्न हुई शंकाका, जिसे सन्देह भी कहते हैं, युक्ति और आगमके बलसे दूर करके 'यह ऐसे ही है' ऐसा निश्चय करना उद्योतन है। निश्चय संशयका विरोधी है। निश्चय होनेपर संशय नहीं रहता। निश्चय न होना अथवा विपरीत ज्ञान होना ज्ञानका मल है। जब निश्चय होता है तो अनिश्चय नहीं रहता तथा यथार्थ ज्ञान होनेसे विपरीतता चली जाती है यह ज्ञानका उद्योतन है। भावनाका न होना चारित्रका मल है। व्रतादिकी भावनाओंमे लगना चारित्रका उद्योतन है। असंयमरूप परिणाम होना तपका दोष है। उसको दूर करके संयमकी भावना तपका उद्योतन है। उत्कृष्ट यत्नको उद्यवन कहते हैं। आत्माका निरन्तर सम्यग्दर्शनादि रूपसे परिणमन उद्यवन है। निराकुलता पूर्वक वहन अर्थात् धारण करनेको निर्वहण कहते हैं। परीषह आदि आनेपर भी आकुलताके बिना सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणति रहना निर्वहण है। अन्य ओर उपयोगके लगनेसे लुप्त हुए सम्यग्दर्शन आदि रूप परिणामोंको उत्पन्न करना साधन है। सम्यग्दर्शन आदिको आगामी भवमे भी ले जाना निस्तरण है। इस तरह आराधना शब्दके अनेक अर्थ हैं। जब जहाँ जो अर्थ उपयुक्त हो वहाँ वह लेना चाहिए ॥९६॥

आगे सम्यग्दर्शन आदिके मलोंको कहते हैं—

सम्यग्दर्शनके मल शंका आदि हैं। ज्ञानके मल विपर्यय, संशय और अनध्यवसाय हैं। चारित्रका मल प्रत्येक व्रतकी पाँच-पाँच भावनाओंका त्याग है। तपका मल प्राणियों और इन्द्रियोंके विषयमें संयमका अभाव है ॥९७॥

१ उज्जोयणमुज्जवण णिव्वहण साहण च णिच्छरण।
दसणणाणचरित्तं तवाणमाराहणा भणिया ॥—भ. आरा. २

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तद्गतातिशयेषु या ।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिराराधनोच्यते ॥९८॥

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात् ।
केवलमुपयुञ्जानो व्यञ्जनवद् भ्रश्यति स्वार्थात् ॥९९॥

पहले श्लोक ९२ में उद्योतन आदिके द्वारा मोक्षमार्गका आराधना करना कहा था। भक्ति भी आराधना है अतः उसका लक्षण कहते हैं—

जिसको सम्यग्दर्शन आदि परिणाम उत्पन्न हो गये हैं अर्थात् सम्यग्दृष्टि पुरुषकी सम्यग्दर्शन आदिमें पाये जानेवाले उद्योतन आदि रूप अतिशयोंमें जो प्रवृत्ति होती है उसे सम्यग्दर्शनादिकी भक्ति कहते हैं। उसीका नाम आराधना है ॥९८॥

निश्चयनयसे निरपेक्ष व्यवहारनयका विषय असत् है। अतः निश्चय निरपेक्ष व्यवहारका उपयोग करनेपर स्वार्थका विनाश ही होता है यह दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

व्यंजन ककार आदि अक्षरोंको भी कहते हैं और दाल-शाक वगैरहको भी कहते हैं। जैसे स्वर रहित व्यंजनका उच्चारण करनेवाला अपनी बात दूसरेको नहीं समझा सकता अतः स्वार्थसे भ्रष्ट होता है या जैसे घी, चावल आदिके विना केवल दाल-शाक खानेवाला स्वस्थ नहीं रह सकता अतः वह स्वार्थ-पुष्टिसे भ्रष्ट होता है। वैसे ही निश्चयनयसे विमुख वहिर्दृष्टिवाले मनुष्योंके सम्पर्कसे होनेवाले अज्ञानवश अधिकतर अभूतार्थ व्यवहारकी ही भावना करनेवाला अपने मोक्षसुखरूपी स्वार्थसे भ्रष्ट होता है—कभी भी मोक्षको प्राप्त नहीं कर सकता ॥९९॥

विशेषार्थ—आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने व्यवहारनयको अभूतार्थ और शुद्धनयको भूतार्थ कहा है। तथा जो जीव भूतार्थका आश्रय लेता है वह सम्यग्दृष्टी होता है।[1] आचार्य अमृतचन्द्र[2] भी निश्चयको भूतार्थ और व्यवहारको अभूतार्थ कहते हैं। तथा कहते हैं कि प्रायः सभी संसार भूतार्थके ज्ञानसे विमुख है—भूतार्थको नहीं जानता। भूतार्थको नहीं जाननेवाले बाह्यदृष्टि लोगोंके सम्पर्कसे ही अज्ञानवश व्यवहारको ही यथार्थ मानकर उसीमें उलझे रह जाते हैं। भूतार्थका मतलब है भूत अर्थात् पदार्थोंमें रहनेवाला अर्थ अर्थात् भाव, उसे जो प्रकाशित करता है उसे भूतार्थ कहते हैं। जैसे जीव और पुद्गलमें अनादि कालसे एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है। दोनों मिले-जुले एक जैसे प्रतीत होते हैं। किन्तु निश्चयनय आत्मद्रव्यको शरीर आदि परद्रव्योंसे भिन्न ही प्रकट करता है। और मुक्ति दशामें वह भिन्नता स्पष्ट रूपसे प्रकट हो जाती है। इसलिए निश्चयनय सत्यार्थ या भूतार्थ है। तथा अभूतार्थका मतलब है पदार्थोंमें न होनेवाला भाव। उसे जो कहे वह अभूतार्थ है। जैसे जीव और पुद्गलका अस्तित्व भिन्न है, स्वभाव भिन्न है, प्रदेश भिन्न हैं। फिर भी एक-क्षेत्रावगाह सम्बन्ध होनेसे आत्मद्रव्य और शरीर आदि परद्रव्यको एक कहा जाता है।

१ ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।
भूयत्थमस्सिदो खलु सम्माइट्ठी हवइ जीवो ॥—समय., ११

२ निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम्।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥—पुरुषार्थ., ५

अत. व्यवहारनय असत्यार्थ है। आशय यह है कि जीवके परिणाम निश्चयनयके श्रद्धानसे विमुख होकर शरीर आदि परद्रव्योंके साथ एकत्व श्रद्धान रूप होकर जो प्रवृत्ति करते हैं उसीका नाम संसार है। उस संसारसे जो मुक्त होना चाहते हैं उन्हें निश्चयनयसे विमुख नहीं होना चाहिए। जैसे बहुत-से मनुष्य वर्षाऋतुमे नदीके मैले जलको ही पीते हैं। किन्तु जो समझदार होते है वे पानीमें निर्मली डालकर मिट्टीसे जलको पृथक् करके निर्मल जल पीते हैं। इसी तरह अधिकाश अज्ञानीजन कर्मसे आच्छादित अशुद्ध आत्माका ही अनुभव करते हैं। किन्तु कोई एक ज्ञानी अपनी बुद्धिके द्वारा निश्चयनयके स्वरूपको जानकर कर्म और आत्माको जुदा-जुदा करता है तव निर्मल आत्माका स्वभाव ऐसा प्रकट होता है कि उसमे निर्मल जलकी तरह अपना चैतन्य स्वरूप झलकता है। उस स्वरूपका वह आस्वादन लेता है। अत निश्चयनय निर्मलीके समान है उसके श्रद्धानसे सर्वसिद्धि होती है। किन्तु अनादि कालसे अज्ञानमे पड़ा हुआ जीव व्यवहारनयके उपदेशके विना समझता नही, अत. आचार्य व्यवहारनयके द्वारा उसे समझाते हैं कि आत्मा चैतन्य स्वरूप है, किन्तु वह कर्मजनित पर्यायसे संयुक्त है अत. व्यवहारसे उसे देव मनुष्य आदि कहते हैं। किन्तु अज्ञानी उसे देव मनुष्य आदि स्वरूप ही जानता और मानता है। अतः यदि उसे देव मनुष्य आदि नामोंसे समझाया जाये तव तो समझता है। किन्तु चैतन्य स्वरूप आत्मा कहनेसे समझता है कि यह कोई अलग परमेश्वर है। निश्चयसे तो आत्मा चैतन्य स्वरूप ही है। परन्तु अज्ञानीको समझानेके लिए गति, जाति आदिके द्वारा आत्माका कथन किया जाता है। अतः अज्ञानी जीवोंको समझानेके लिए व्यवहारका उपदेश है। किन्तु जो केवल व्यवहारकी ही श्रद्धा करके उसीमे रमता है वह अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माके श्रद्धान, ज्ञान और आचरण रूप निश्चय मोक्षमार्गसे विमुख हो, व्यवहार सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्रका साधन करके अपनेको मोक्षका अधिकारी मानता है। अरिहन्तदेव, निर्ग्रन्थगुरु, दयाधर्मका श्रद्धान करके अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है, थोडा-सा शास्त्र स्वाध्याय करके अपनेको ज्ञानी मानता है, महाव्रतादि धारण करके अपनेको चारित्रवान् मानता है। इस तरह वह शुभोपयोगमे सन्तुष्ट रहता है, शुद्धोपयोग रूप मोक्षमार्गमे प्रमादी रहता है। आचार्य कुन्दकुन्दने शुभोपयोगी मुनिके लिए कहा है कि रोगी, गुरु, बाल तथा वृद्ध श्रमणोंकी वैयावृत्यके लिए लौकिक जनोंके साथ शुभोपयोगसे युक्त वार्तालाप करना निन्दनीय नहीं है।

किन्तु जब कोई मुनि रोगी आदि श्रमणोंकी सेवामे संलग्न होकर लौकिक जनोंके साथ वातचीतमे अत्यन्त लगा रहता है तो वह साधु ध्यान आदिमे प्रमादी होकर स्वार्थसे डिग जाता है। अतः शुभोपयोगी श्रमणको भी शुद्धात्मपरिणतिसे शून्य सामान्य जनोंके साथ व्यर्थ वार्तालाप करना भी निषिद्ध है। अत भूतार्थसे विमुख जनोके संसर्गसे भी बचना चाहिए ॥९९॥

जैसे निश्चयसे शून्य व्यवहार व्यर्थ है वैसे ही व्यवहारके विना निश्चय भी सिद्ध नहीं होता यह व्यतिरेक द्वारा कहते हैं—

१. वेज्जावच्चणिमित्त गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाण।
लोगिगजणसभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥—प्रवचनसार, गा० २५३

व्यवहारपराचीनो निश्चयं यश्चिकीर्षति ।
बीजादिना विना मूढः स सस्यानि सिसृक्षति ॥१००॥

३ भूतार्थं रज्जुवत्स्वैरं विहर्तुं वंशवन्मुहुः ।
श्रेयो धीरैरभूतार्थो हेयस्तद्विहृतीश्वरैः ॥१०१॥

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये ।
६ साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेददृक् ॥१०२॥

जो व्यवहारसे विमुख होकर निश्चयको करना चाहता है वह मूढ बीज, खेत, पानी आदिके बिना ही वृक्ष आदि फलोंको उत्पन्न करना चाहता है ॥१००॥

विशेषार्थ—यद्यपि व्यवहारनय अभूतार्थ है तथापि वह सर्वथा निषिद्ध नहीं है। अमृतचन्द्राचार्यने कहा है—

'केषांचित् कदाचित सोऽपि प्रयोजनवान्'

किन्हीं को किसी कालमें व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है, अर्थात् जबतक यथार्थ ज्ञान श्रद्धानकी प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति नहीं हुई तबतक जिनवचनोंका सुनना, धारण करना, जिनदेवकी भक्ति, जिनबिम्बका दर्शन आदि व्यवहार मार्गमें लगना प्रयोजनीय है। इसी तरह अणुव्रत महाव्रतका पालन, समिति, गुप्ति, पंचपरमेष्ठीका ध्यान, तथा उसका पालन करनेवालोंकी संगति, शास्त्राभ्यास आदि व्यवहार मार्गमें स्वयं प्रवृत्ति करना, दूसरोंको प्रवृत्त करना प्रयोजनीय है। व्यवहार नयको सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड देनेसे तो शुभोपयोग भी छूट जायेगा और तब शुद्धोपयोगकी साक्षात् प्राप्ति न होनेसे अशुभोपयोगमें प्रवृत्ति करके संसारमें ही भ्रमण करना पड़ेगा। इसलिए जबतक शुद्धनयके विषयभूत शुद्धात्माकी प्राप्ति न हो तबतक व्यवहारनय भी प्रयोजनीय है। कहा भी है—

"यद्यपि प्रथम पदवीमें पैर रखनेवालोंके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब रूप है। फिर भी जो पुरुष परद्रव्यके भावोंसे रहित चैतन्य चमत्कार मात्र परम अर्थको अन्तरंगमें देखते हैं उनके लिए व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनीय नहीं है॥"[1]

आगे व्यवहारके अवलम्बन और त्यागकी अवधि कहते हैं—

जैसे नट रस्सीपर स्वच्छन्दतापूर्वक विहार करने के लिए बारम्बार बाँसका सहारा लेते हैं और उसमें दक्ष हो जानेपर बाँसका सहारा लेना छोड देते हैं वैसे ही धीर मुमुक्षुको निश्चयनयमें निरालम्बनपूर्वक विहार करनेके लिए बार-बार व्यवहारनयका आलम्बन लेना चाहिए तथा उसमें समर्थ हो जानेपर व्यवहारका आलम्बन छोड़ देना चाहिए ॥१०१॥

आगे व्यवहार और निश्चयका लक्षण कहते हैं—

जो निश्चयकी प्राप्तिके लिए कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंको जीव आदि वस्तुसे भिन्न बतलाता है वह व्यवहारनय है। और कर्ता आदिको वस्तुसे अभिन्न देखनेवाला निश्चयनय है ॥१०२॥

१. व्यवहरणनय स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्यामिह निहितपदानां हन्त हस्तावलम्बः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं परविरहितमन्तः पश्यतां नैष किंचित् ।—सम. कल., श्लो. ५

विशेषार्थ—आचार्य अमृतचन्द्रजीने निश्चयनयको आत्माश्रित तथा शुद्ध द्रव्यका निरूपक कहा है और व्यवहारनयको पराश्रित तथा अशुद्ध द्रव्यका निरूपक कहा है। परके संयोगसे द्रव्यमें अशुद्धता आती है उसको लेकर जो वस्तुका कथन करता है वह व्यवहारनय है। संसारी जीवका स्वरूप व्यवहारनयका विषय है। जैसे, संसारी जीव चार गतिवाला है, पाँच इन्द्रियोंवाला है, मन-वचन-कायवाला है आदि। ये सब उसकी अशुद्ध दशाका ही कथन है जो पराश्रित है। जीव शुद्ध-बुद्ध-परमात्मस्वरूप है यह शुद्ध द्रव्यका निरूपक निश्चय-नय है। शुद्ध दशा आत्माश्रित होती है किन्तु परद्रव्यके सम्पर्कसे ही अशुद्धता नहीं आती, अखण्ड एक वस्तुमें कथन द्वारा भेद करनेसे भी अशुद्धता आती है। अत. आत्मामें दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं ऐसा कथन भी व्यवहारनयका विषय है क्योंकि वस्तु अनन्तधर्मात्मक एक-धर्मी रूप है। किन्तु व्यवहारी पुरुष धर्मोंको तो समझते हैं एकधर्मीको नहीं समझते। अत उन्हें समझानेके लिए अभेद रूप वस्तुमें भेद उत्पन्न करके कहा जाता है कि आत्मामें ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है। अभेदमें भेद करनेसे यह व्यवहार है परमार्थसे तो अनन्त धर्मोंको पिये हुए एक अभेद रूप द्रव्य है। अतः जो अभेद रूपसे वस्तुका निश्चय करता है वह निश्चयनय है और जो भेद रूपसे वस्तुका व्यवहार करता है वह व्यवहारनय है। इसीको दृष्टिमें रखकर ऐसा भी कहा गया है कि निश्चयनय कर्ता, कर्म आदिको अभिन्न ग्रहण करता है अर्थात् निश्चय कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणको भिन्न नहीं मानता और व्यवहार इन्हें भिन्न मानता है। जो स्वतन्त्रतापूर्वक अपने परिणामको करता है वह कर्ता है। कर्ताका जो परिणाम है वह उसका कर्म है। उस परिणामका जो साधकतम है वह करण है। कर्म जिसके लिए किया जाता है उसे सम्प्रदान कहते हैं। जिसमें-से कर्म किया जाता है उस ध्रुव वस्तुको अपादान कहते हैं। कर्मके आधारको अधिकरण कहते हैं। ये छह कारक निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारके हैं। जहाँ परके निमित्तसे कार्यकी सिद्धि मानी जाती है वहाँ व्यवहार कारक है और जहाँ अपने ही उपादानसे कार्यकी सिद्धि कही जाती है वहाँ निश्चय कारक है। जैसे कुम्हार कर्ता है, घडा कर्म है, दण्ड आदि करण है, जल भरनेवालेके लिए घड़ा बनाया गया अत जल भरनेवाला मनुष्य सम्प्रदान है। टोकरी-में-से मिट्टी लेकर घडा बनाया अत टोकरी अपादान है और पृथ्वी अधिकरण है। यहाँ सब कारक एक दूसरे से जुदे-जुदे हैं। यह व्यवहारनयका विषय है किन्तु निश्चयनयसे एक द्रव्यका दूसरे द्रव्य के साथ कारक सम्बन्ध नहीं होता। इसका स्पष्टीकरण आचार्य अमृत-चन्द्रने प्रवचनसार गाथा १६ की टीकामें तथा पञ्चास्तिकाय गाथा ६२ की टीकामें किया है। प्रवचनसारमें आचार्य कुन्दकुन्द स्वामीने आत्माको स्वयम्भू कहा है। स्वयम्भूका अर्थ है 'स्वयमेव हुआ'। इसका व्याख्यान करते हुए अमृतचन्द्रजीने लिखा है—शुद्ध अनन्त शक्ति-युक्त ज्ञायक स्वभाव के कारण स्वतन्त्र होनेसे यह आत्मा स्वयं कर्ता है। शुद्ध अनन्तशक्ति-युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही प्राप्य होनेसे कर्म है। शुद्ध अनन्त शक्तियुक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही साधकतम होनेसे करण है। शुद्ध अनन्तशक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके स्वभावके कारण स्वयं ही कर्म द्वारा समाश्रित होनेसे सम्प्रदान है। शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके समय पूर्वमें वर्तमान मतिज्ञान आदि विकल ज्ञान स्वभावका नाश होनेपर भी सहज ज्ञान स्वभावमें ध्रुव होनेसे अपादान है। तथा शुद्ध अनन्त शक्ति युक्त ज्ञान रूपसे परिणमित होनेके

सर्वेऽपि शुद्धबुद्धैकस्वभावाश्चेतना इति।
शुद्धोऽशुद्धश्च रागाद्या एवात्मेत्यस्ति निश्चयः ॥१०३॥

स्वभावका स्वयं ही आधार होनेसे अधिकरण है। इस प्रकार आत्मा स्वयं ही षट्कारक रूप होनेसे स्वयम्भू है।

पंचास्तिकाय गाथा ६२ मे कहा है कि निश्चयनयसे अभिन्न कारक होनेसे कर्म और जीव स्वयं ही अपने-अपने स्वरूपके कर्ता है। इसका व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र-ने कहा है—कर्मरूपसे प्रवर्तमान पुद्गल स्कन्ध ही कर्म रूप होता है अतः वही कर्ता है। स्वयं द्रव्य कर्म रूप परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे पुद्गल ही करण है। द्रव्य कर्मसे अभिन्न होनेसे पुद्गल स्वयं ही कर्म है। अपनेमे-से पूर्व परिणामका व्यय करके द्रव्य रूप कर्म-परिणामका कर्ता होनेसे तथा पुद्गल द्रव्य रूप ध्रुव होनेसे पुद्गल स्वयं ही अपादान है। अपने को द्रव्य कर्म रूप परिणाम देनेसे पुद्गल स्वयं ही सम्प्रदान है। द्रव्य कर्म रूप परिणामका स्वयं ही आधार होनेसे पुद्गल स्वयं ही अधिकरण है। इसी तरह जीव स्वतन्त्र रूपसे जीव-भावका कर्ता होनेसे स्वयं ही कर्ता है। स्वयं जीवभाव रूपसे परिणमित होनेकी शक्तिवाला होनेसे जीव ही करण है। जीवभावसे स्वयं अभिन्न होनेसे स्वयं ही कर्म है। अपनेमे-से पूर्व जीवभावका व्यय करके नवीन जीवभावको करनेसे तथा जीव द्रव्य रूपसे ध्रुव रहनेसे स्वयं ही अपादान है। अपनेको ही जीवभावका दाता होनेसे जीव स्वयं ही सम्प्रदान है। स्वयं ही अपना आधार होनेसे जीव स्वयं ही अधिकरण है। इस तरह जीव और पुद्गल स्वय ही छह कारक रूपसे प्रवृत्त होनेसे अन्य कारको की अपेक्षा नहीं करते। यह निश्चयनयकी दृष्टि है ॥१०२॥

शुद्ध और अशुद्धके भेदसे निश्चयके दो भेद है। इन दोनोका स्वरूप कहते है—

सभी जीव, संसारी भी और मुक्त भी एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले है यह शुद्ध निश्चय-नयका स्वरूप है। तथा राग-द्वेष आदि परिणाम ही आत्मा है यह अशुद्ध निश्चयनय है ॥१०३॥

विशेषार्थ—अध्यात्मके प्रतिष्ठाता आचार्य कुन्दकुन्दने निश्चयनय के लिए शुद्ध शब्द-का प्रयोग तो किया है किन्तु निश्चयनयके शुद्ध-अशुद्ध भेद नही किये। उनकी दृष्टिमे शुद्धनय निश्चयनय है और व्यवहारनय अशुद्ध नय है। कुन्दकुन्दके आद्य व्याख्याकार आचार्य अमृतचन्द्रने भी उन्हींका अनुसरण किया है। उन्होने भी निश्चय और व्यवहारके किन्हीं अवान्तर भेदों का निर्देश नहीं किया। ये अवान्तर भेद आलाप पद्धतिमे, नयचक्रमे, ब्रह्मदेवजी तथा जयसेनाचार्यकी टीकाओमे मिलते है।

समयसार गाथा ५६ मे वर्णसे लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावोको व्यवहारनयसे जीवका कहा है। तथा गाथा ५७ मे उनके साथ जीवका दूध-पानीकी तरह सम्बन्ध कहा है। इसकी टीकामे आचार्य जयसेनने यह शंका उठायी है कि वर्ण आदि तो बहिरंग है उनके साथ व्यवहारनयसे जीवका दूध-पानीकी तरह सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु रागादि तो अभ्यन्तर हैं उनके साथ जीवका सम्बन्ध अशुद्ध निश्चयनयसे कहना चाहिए? उत्तरमे कहा है कि ऐसा नहीं है, द्रव्य कर्मबन्धको असद्भूत व्यवहारनयसे जीव कहा जाता है उसकी अपेक्षा तारतम्य बतलानेके लिए रागादिको अशुद्ध निश्चयनयसे जीव कहा जाता है। वास्तवमे तो शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा अशुद्ध निश्चयनय भी व्यवहारनय ही है। इस तरह जयसेन-

सद्भूतेतरभेदाद् व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुणगुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः ॥१०४॥

सद्भूतः शुद्धेतरभेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरितसंज्ञोऽसौ ॥१०५॥

मत्यादिविभावगुणाश्चित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः।
देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूत ॥१०६॥

जीने स्पष्ट किया है। ब्रह्मदेवजीने द्रव्यसंग्रह गाथा तीनकी टीकाके अन्तमें अध्यात्म भाषाके द्वारा संक्षेपसे छह नयोंका लक्षण इस प्रकार कहा है—सभी जीव एक शुद्ध-बुद्ध स्वभाववाले हैं यह शुद्ध निश्चयनयका लक्षण है। रागादि ही जीव हैं यह अशुद्ध निश्चय नयका लक्षण है। गुण और गुणीमें अभेद होनेपर भी भेद का उपचार करना सद्भूत व्यवहारनयका लक्षण है। भेद होनेपर भी अभेदका उपचार करना असद्भूत-व्यवहार नयका लक्षण है। यथा—जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं यह अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयका लक्षण है। जीवके मतिज्ञान आदि वैभाविक गुण है यह उपचरित अशुद्ध सद्भूत व्यवहार नयका लक्षण है। संश्लेप सम्बन्ध सहित पदार्थ शरीर आदि मेरे हैं यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है। जिनके साथ संश्लेप-सम्बन्ध नहीं है ऐसे पुत्र आदि मेरे हैं यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका लक्षण है। यह नयचक्रके मूलभूत छह नयोका लक्षण है। आलापपद्धतिके अन्तमें भी इन नयोका ऐसा ही स्वरूप कहा है ॥१०३॥

व्यवहारनयके दो भेद हैं—सद्भूत और असद्भूत। इन दोनोंका उद्देश्यपूर्वक लक्षण कहते हैं—

सद्भूत और असद्भूतके भेदसे व्यवहारके दो भेद है। गुण और गुणीमें अभेद होनेपर भी भेदका उपचार करना सद्भूत व्यवहारनय है। और इससे विपरीत अर्थात् भेदमें भी अभेदका उपचार करना असद्भूत व्यवहारनय है ॥१०४॥

सद्भूत व्यवहारनयके भी दो भेद हैं—शुद्ध और अशुद्ध। इन दोनों भेदोका नाम बतलाते हुए शुद्ध सद्भूत का उल्लेख तथा नामान्तर कहते हैं—

सद्भूत व्यवहारनय शुद्ध और अशुद्धके भेदसे दो प्रकारका है। केवलज्ञान आदि जीवके गुण हैं यह अनुपचरित नामक शुद्ध सद्भूत व्यवहार नय है ॥१०५॥

विशेषार्थ—गुण और गुणी अभिन्न होते हैं। फिर भी जब उनका कथन किया जाता है तो उनमें अभेद होते हुए भेदका उपचार करना पडता है। जैसे जीवके केवलज्ञानादि गुण हैं। ये केवलज्ञान आदि जीव के शुद्ध गुण हैं और उपचरित नहीं है अनुपचरित हैं—वास्तविक है। अतः यह कथन अनुपचरित शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयका विषय है।

आगेके श्लोकके पूर्वार्द्धमें अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनयका कथन और उत्तरार्द्धमें अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयका कथन करते हैं—

मतिज्ञान आदि वैभाविक गुण जीवके है यह उपचरित नामक अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। 'मेरा शरीर' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नय है ॥१०६॥

विशेषार्थ—बाह्य निमित्तको विभाव कहते हैं। जो गुण बाह्य निमित्तसे होते है उन्हें वैभाविक गुण कहते हैं। केवलज्ञान जीवका स्वाभाविक गुण है वह परकी सहायतासे नही

देशो मदीय इत्युपचरितसमाह्व. स एव चेत्युक्तम् ।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचनपटिष्ठैः ॥१०७॥

होता। किन्तु मतिज्ञानादि अपने प्रतिबन्धक मतिज्ञानावरणादिके क्षयोपशम तथा इन्द्रिय मन आदिकी अपेक्षासे होते है। ऐसे गुणोको जीवका कहना उपचरित नामक अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है। यह ध्यानमे रखना चाहिए कि शुद्धकी संज्ञा अनुपचरित है और अशुद्धकी संज्ञा उपचरित है। आलापपद्धतिमे सद्भूत और असद्भूतके भेद उपचरित और अनुपचरित ही किये है। किन्तु ब्रह्मदेवजीने सद्भूतके शुद्ध और अशुद्ध भेद करके उनकी संज्ञा अनुपचरित और उपचरित दी है। उन्हीका अनुसरण आशाधरजीने किया है। अस्तु, 'मेरा शरीर' यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कथन है, क्योंकि वस्तुत. शरीर तो पौद्गलिक है उसे अपना कहना असद्भूत व्यवहार है किन्तु शरीरके साथ जीवका संश्लेप सम्बन्ध है अत उसे अनपचरित कहा है।

उपचरित असद्भूत व्यवहार नयका कथन करके प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते है—

'मेरा देश' यह उपचरित असद्भूत व्यवहारनयका उदाहरण कहा है। इस प्रकार अध्यात्म शास्त्रके रहस्यको जाननेवालोंने नयचक्रके मूलभूत छह नय कहे है ॥१०७॥

विशेपार्थ—मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान ये पाँच ज्ञान प्रमाण है। इनमें-से श्रुतज्ञानको छोड़कर शेप चारो ज्ञान स्वार्थ है, उनसे ज्ञाता स्वयं ही जानता है, दूसरो-को ज्ञान करानेसे असमर्थ है। श्रुतज्ञान ही ऐसा है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी। उससे ज्ञाता स्वयं भी जानता है और दूसरोको भी ज्ञान करा सकता है। ज्ञानके द्वारा स्वयं जानना होता है और वचनके द्वारा दूसरोको ज्ञान कराया जाता है। अत. श्रुतज्ञान ज्ञानरूप भी होता है और वचनरूप भी होता है। उसीके भेद नय हैं। नय प्रमाणके द्वारा जानी गयी वस्तुके एक देशको जानता है। तथा मति, अवधि और मन.पर्ययके द्वारा जाने गये अर्थके एक देशमे नयोंकी प्रवृत्ति नहीं होती क्योकि नय समस्त देशवर्ती और समस्त कालवर्ती अर्थ-को विपय करता है, किन्तु मति आदि ज्ञानका विपय सीमित है। केवलज्ञान यद्यपि त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सभी पदार्थोंको जानता है किन्तु वह स्पष्ट है और नय अस्पष्टग्राही है। स्पष्टग्राही ज्ञानके भेद अस्पष्टग्राही नहीं हो सकते। किन्तु श्रुतके भेद होनेपर यह आपत्ति नहीं रहती [देखो—त. श्लोक वा., १।६]।

किसी भी वस्तुके विषयमे ज्ञाताका जो अभिप्राय है उसे नय कहते है। नयके भेद दो प्रकारसे मिलते हैं। आगम या सिद्धान्तसे नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ये सात भेद कहे है। किन्तु अध्यात्मसे उक्त छह भेद कहे हैं। जिसका केन्द्रबिन्दु आत्मा है उसे अध्यात्म कहते है। अध्यात्म आत्माकी दृष्टिसे प्रत्येक वस्तुका विचार करता है। अखण्ड अविनाशी आत्माका जो शुद्ध स्वरूप है वह शुद्ध निश्चय नयका विपय है और अशुद्ध स्वरूप अशुद्ध निश्चय नयका विपय है। आत्माके शुद्ध गुणोको आत्मा के कहना अनुपचरित सद्भूत व्यवहार नयका विपय है और आत्माके वैभाविक गुणोको आत्माका कहना उपचरित सद्भूत व्यवहार नय है। क्योकि वे गुण आत्माके ही है इसलिए सद्भूत हुए। उन्हें आत्मासे भेद करके कहनेसे व्यवहार हुआ। शुद्ध गुण अनुपचरित है अशुद्धगुण उपचरित हैं। मेरा शरीर यह अनुपचरित असद्भूत व्यवहार है। शरीरका जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे इसे अनुपचारित कहा है। किन्तु शरीर तो जीव नहीं है इसलिए

अनेकान्तात्मकादर्थादपोद्धृत्याञ्जसान्नयः ।
तत्प्राप्त्युपायमेकान्तं तदंशं व्यावहारिकम् ॥१०८॥
प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्छब्दात्तच्छास्त्रवत् स हि ।
मिथ्याऽनपेक्षोऽनेकान्तक्षेपान्नान्यस्तदत्ययात् ॥१०९॥ ३

असद्भूत कहा है। 'मेरा देश' यह उपचरित असद्भूत व्यवहार है क्योंकि देशके साथ तो सश्लेष रूप सम्बन्ध भी नहीं है फिर भी उसे अपना कहता है। इस नय विवक्षाके भेदसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्माका किसके साथ कैसा सम्बन्ध है ? ऐसा होनेसे परमे आत्म-बुद्धिकी भावना छूट जाती है ॥१०७॥

दो श्लोकोके द्वारा नयके मिथ्या होनेकी शंकाको दूर करते है—

वस्तु अनेकान्तात्मक है—परस्परमे विरोधी प्रतीत होनेवाले अस्तित्व, नास्तित्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि अनेक धर्मवाली है। वह श्रुतज्ञानका विषय है। उस परमार्थ सत् अनेकान्तात्मक अर्थसे उसके एक धर्मको, जो प्रवृत्ति और निवृत्तिमे साधक हो तथा जिसके द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन किया जा सकता हो ऐसे एक धर्मको भेदविवक्षाके द्वारा पृथक् करके ग्रहण करनेवाला नय मिथ्या नहीं है। जैसे 'देवदत्त पकाता है' इस प्रकृति प्रत्यय विशिष्ट यथार्थ वाक्यसे उसके एक अंश प्रकृति प्रत्यय आदिको लेकर प्रकट करनेवाला व्याकरण शास्त्र मिथ्या नहीं है। हॉ निरपेक्ष नय मिथ्या होता है क्योकि वह अनेकान्तका घातक है। किन्तु सापेक्ष नय मिथ्या नहीं है क्योंकि वह अनेकान्त-का अनुसरण करता है ॥१०८-१०९॥

विशेषार्थ—जैनदर्शन स्याद्वादी या अनेकान्तवादी कहा जाता है। अन्य सब दर्शन एकान्तवादी हैं, क्योंकि वे वस्तुको या तो नित्य ही मानते हैं या अनित्य ही मानते है। एक ही मानते हैं या अनेक ही मानते है। उनकी समझमे यह बात नहीं आती कि एक ही वस्तु नित्य-अनित्य, एक-अनेक, सत्-असत् आदि परस्पर विरोधी धर्मवाली कैसे हो सकती है। किन्तु जैनदर्शन युक्ति और तर्कसे एक ही वस्तुमे परस्पर विरोधी धर्मोंका अस्तित्व सिद्ध करता है। वह कहता है प्रत्येक वस्तु स्वरूपकी अपेक्षा सत् है, पररूपकी अपेक्षा असत् है, घट घट रूपसे सत् है, पटरूपसे असत् है। यदि घट पटरूपसे असत् न हो तो वह पटरूपसे सत कहा जायेगा और ऐसी स्थितिमे घट और पटका भेद ही समाप्त हो जायेगा। अत वस्तुका वस्तुत्व दो बातोंपर स्थिर है, प्रत्येक वस्तु अपने स्वरूपको अपनाये हुए है और पररूपको नही अपनाये हुए है। इसीको कहा जाता है कि वस्तु स्वरूपसे सत् और पररूपसे असत् है। इसी तरह द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है। वस्तु न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्याय रूप है किन्तु द्रव्यपर्यायात्मक है। द्रव्य नित्य और पर्याय अनित्य होती है। अत द्रव्यरूपसे वस्तु नित्य है, पर्यायरूपसे अनित्य है। द्रव्य एक होता है पर्याय अनेक होती है। अतः द्रव्यरूपसे वस्तु एक है, पर्यायरूपसे अनेक है। द्रव्य अभेदरूप होता है, पर्याय भेदरूप होती है। अतः द्रव्यरूपसे अभिन्न और पर्याय रूपसे भेदात्मक वस्तु है। इस तरह वस्तु अनेकान्तात्मक है। ऐसी अनेकान्तात्मक वस्तुके एकधर्मका ग्रहण करनेवाला नय है। नयके द्वारा ग्रहण किया गया धर्म काल्पनिक नहीं होता, वास्तविक होता है तथा धर्म और धर्मीमें भेदकी विवक्षा करके उस एक धर्मको ग्रहण किया जाता है। उससे अनेकान्तात्मक अर्थका प्रकाशन करनेसे सरलता भी होती है। असलमे अनेक धर्मात्मक वस्तुको जानकर ज्ञाता विवक्षाके अनुसार

येनांशेन विशुद्धिः स्याज्जन्तोस्तेन न बन्धनम् ।
येनांशेन तु राग. स्यात्तेन स्यादेव बन्धनम् ॥११०॥

एक धर्मको ग्रहण करता है। जैसे जब आत्माके शुद्ध स्वरूपके कथनकी विवक्षा होती है तो कहा जाता है आत्माके गुणस्थान नहीं है, मार्गणास्थान नहीं है, जीवसमास नहीं है, और जब आत्माकी संसारी दशाका चित्रण करना होता है तो उसके गुणस्थान, जीवसमास आदि सभी बतलाये जाते है। इससे आत्माके स्वाभाविक और वैभाविक दोनों रूपोंका बोध हो जाता है। यदि कोई यह हठ पकड ले कि संसारी जीवके संसारावस्थामें भी गुणस्थानादि नहीं है और वह द्रव्य रूपसे ही नहीं पर्याय रूपसे भी शुद्ध-बुद्ध है तो वह मिथ्या कहलायेगा। जो वस्तुके एक धर्मको ग्रहण करके भी अन्य धर्मोंका निषेध नहीं करता वह नय है और जो ऐसा करता है वह दुर्नय है। दुर्नय अनेकान्तका घातक है, नय अनेकान्तका पोषक है। ॥१०८-१०९॥

आगे एकदेश विशुद्धि और एकदेश संक्लेशका फल कहते है—

जीवके जितने अंशसे विशुद्धि होती है उतने अंशसे कर्मबन्ध नहीं होता और जितने अंशसे राग रहता है उतने अंशसे बन्ध अवश्य होता है ॥११०॥

विशेषार्थ—मिथ्यादृष्टि गुणस्थानसे लेकर क्षीणकपाय गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थान भेदसे अशुभ, शुभ और शुद्धरूप तीन उपयोग होते है। मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र गुणस्थानोंमे ऊपर-ऊपर मन्द होता हुआ अशुभोपयोग होता है। उससे आगे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशसंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानोंमे ऊपर-ऊपर शुभ, शुभतर और शुभतम होता हुआ शुभोपयोग रहता है जो परम्परासे शुद्धोपयोगका साधक है। उसके अनन्तर अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर क्षीणकषाय गुणस्थान पर्यन्त जघन्य, मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे शुद्ध नयरूप शुद्धोपयोग होता है। इनमें-से प्रथम गुणस्थानमें तो किसी भी कर्मका संवर नहीं है, सभी कर्मोका यथायोग्य बन्ध होता है। किन्तु सासादन आदि गुणस्थानोंमे बन्धका निरोध इस प्रकार है[1]—मिथ्यात्व, नपुंसकवेद, नरकायु, नरकगति, एकेन्द्रियजाति, दो इन्द्रियजाति, तेइन्द्रियजाति, चौइन्द्रिय जाति, हुण्डक संस्थान, असंप्राप्तासृपाटिका संहनन, नरकगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, आतप, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्तक, साधारणशरीरनाम, ये सोलह प्रकृतियाँ मिथ्यात्वके साथ बँधती है, अतः मिथ्यात्वके चले जानेपर सासादन आदि गुणस्थानोमे उनका संवर होता है। निद्रानिद्रा, प्रचलाप्रचला, स्त्यानगृद्धि, अनन्तानुबन्धी कषाय, स्त्रीवेद, तिर्यचायु, तिर्यंचगति, मध्यके चार संस्थान, चार सहनन, तिर्यंचगति-प्रायोग्यानुपूर्वी, उद्योत, अप्रशस्तविहायोगति, दुर्भग, दु स्वर, अनादेय, नीचगोत्र इन प्रकृतियोके बन्धका कारण अनन्तानुबन्धी कषायके उदयसे होनेवाला असंयम है। अतः एकेन्द्रियसे लेकर सासादन गुणस्थान पर्यन्त जीव इनके बन्धक हैं। आगे इनका बन्ध नहीं होता। अप्रत्याख्यानावरण कषाय, मनुष्यायु, मनुष्यगति, औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग, वज्रर्षभनाराचसंहनन, मनुष्यगतिप्रायोग्यानुपूर्वी, इन दस प्रकृतियोके बन्धका कारण अप्रत्याख्यानावरण कपायके उदयसे होनेवाला असंयम है। अत. एकेन्द्रियसे लेकर

---

१ सोलस पणवीस णभ दस चउ छक्केक बंधवोच्छिण्णा ।
दुगतीसचदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ॥—गो. कर्म., गा. ९४ ।

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्तके जीव उनके वन्धक है। आगे उनका वन्ध नहीं होता। तीसरे गुणस्थानमे आयु कर्मका वन्ध नहीं होता। प्रत्याख्यानावरण कपायका आस्रव प्रत्याख्यानावरण कपायके उदयसे होनेवाले असंयमके कारण होता है। अतः एकेन्द्रियसे लेकर संयतासंयत गुणस्थान पर्यन्तके जीव उनके वन्धक होते है। आगे उनका संवर होता है। असातावेदनीय, अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ, अयश-कीर्ति ये छह प्रकृतियाँ प्रमादके कारण बँधती हैं, अतः प्रमत्तसंयत गुणस्थानसे आगे उनका संवर होता है। देवायुके वन्धका प्रारम्भ प्रमादके ही कारण होता है किन्तु प्रमत्त गुणस्थानके निकटवर्ती अप्रमत्त गुणस्थानमे भी उसका वन्ध होता है। आगे उसका संवर होता है। संज्वलन कपायके निमित्तसे जिन प्रकृतियोका आस्रव होता है उनका उसके अभावमें संवर हो जाता है। वह संज्वलन कपाय तीव्र, मध्यम और जघन्य रूपसे तीन गुणस्थानोंमे होती है। अपूर्वकरणके आदिमे निद्रा और प्रचला, मध्यमे देवगति, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियिक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्मणशरीर, समचतुरस्रसंस्थान, वैक्रियिक शरीरांगोपांग, आहारक शरीरांगोपांग, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, देवगति प्रायोग्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्वास, प्रशस्त विहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्तक, प्रत्येकशरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण, तीर्थंकर, अन्तमे हास्य, रति, भय, जुगुप्सा। तीव्र संज्वलन कपायसे इनका आस्रव होता है अत अपने-अपने भागसे आगे उनका संवर होता है। अनिवृत्ति वादरसाम्पराय गुणस्थानके प्रथम समयसे लेकर संख्यात भागोंतक पुरुपवेद और सज्वलन क्रोधका, मध्यके संख्यात भागों तक सज्वलन मान सज्वलन मायाका और अन्त समयतक संज्वलन लोभका आस्रव होता है। आगे उनका संवर है। पाँच ज्ञानावरण, चार दर्शनावरण, यशः-कीर्ति, उच्चगोत्र, पाँच अन्तराय ये सोलह प्रकृतियाँ मन्द कपायमे भी सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थानतक बँधती हैं। आगे उनका सवर है। योगके निमित्तसे केवल एक सातावेदनीय ही बँधता है अत उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय और सयोग केवलीमें उसका वन्ध होता है। अयोग केवलीके सवर होता है।

यहाँ यह शंका होती है कि संवर तो शुद्धोपयोग रूप होता है। और मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानोंमे आपने अशुभ, शुभ और शुद्ध तीन उपयोग कहे है तब यहाँ शुद्धोपयोग कैसे सम्भव है ? इसका उत्तर यह है कि शुद्धनिश्चयरूप शुद्धोपयोगमे शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव अपना आत्मा ध्येय (ध्यान करने योग्य) होता है। इसलिए शुद्ध ध्येय होनेसे, शुद्धका अवलम्बन होनेसे और शुद्ध आत्मस्वरूपका साधक होनेसे शुद्धोपयोग घटित होता है। उसीको भावसंवर कहते है। भावसंवर रूप यह शुद्धोपयोग ससारके कारण मिथ्यात्व राग आदि अशुद्ध पर्यायकी तरह अशुद्ध नहीं होता, और न शुद्धोपयोगके फलरूप केवलज्ञान लक्षण शुद्ध पर्यायकी तरह शुद्ध ही होता है। किन्तु उन शुद्ध और अशुद्ध पर्यायोसे विलक्षण एक तीसरी अवस्था कही जाती है जो शुद्धात्माकी अनुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक होनेसे मोक्षका कारण होती है तथा एक देश व्यक्तिरूप और एक देश निरावरण होती है [द्रव्य सं टी , गा. ३४]। अतः जहाँ जितने अंशमें विशुद्धि है उतने अंशमे संवर माना है।

नित्य, अत्यन्त निर्मल, स्व और पर पदार्थोंके प्रकाशनमे समर्थ, चिदानन्दात्मक परमात्माकी भावनासे प्रकट हुआ, शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप निश्चयरत्नत्रयात्मक धर्म अमृतके समुद्रके समान है। उसका अवगाहन करनेवालोके द्वारा उदीर्ण रसका लेश भी उसमे स्थित

है—

कथमपि भवकक्षं जाज्वलद्दुःखदाव-
ज्वलनमशरणो ना बम्भ्रमन् प्राप्य तीरम्।
श्रितबहुविधसत्त्वं धर्मपीयूषसिन्धो-
रसलवमपि मज्जत्कीर्णमृध्नोति विन्दन् ॥१११॥

ऋध्नोति—ज्ञानसंयमादिना प्रह्लादबले (-दौज) वीर्यादिना च वर्द्धते। विन्दन्—लभमान ॥१११॥

अथ धर्माचार्यैर्व्युत्पादितमति सङ्गत्यागादिना स्वात्मानं तद्भवे भवान्तरेषु वा निःसंसारं करोतीत्याह—

त्यक्त्वा सङ्गं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाद् ध्रुवम्।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हन्त्यल्पयति वा भवम् ॥११२॥

समाधिं रत्नत्रयैकाग्रताम्। हन्ति चरमदेह इति शेषः। तथा चोक्तम्—

ध्यानाभ्यासप्रकर्षेण त्रुट्यन्मोहस्य योगिनः।
चरमाङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदैवान्यस्य च क्रमात् ॥११२॥
[तत्त्वानुशा, २२४]

अथाभेदसमाधिमहिमानमभिष्टौति—

अयमात्मात्मनात्मानमात्मन्यात्मन आत्मने।
समादधानो हि परां विशुद्धिं प्रतिपद्यते ॥११३॥

परां विशुद्धिं—घातिकर्मक्षयलक्षणां सकलकर्मक्षयलक्षणां वा ॥११३॥

उपासक वर्गके अनुग्रहके लिए होता है, यह कहते हैं—

जिसमें दुःखरूपी दावानल प्रज्वलित है ऐसे संसाररूपी जंगलमें भटकता हुआ अशरण मनुष्य किसी तरह धर्मरूपी अमृतके समुद्रके तीरको प्राप्त होता है जहाँ निकट भव्य आदि अनेक प्राणी आश्रय लिये हुए हैं। और धर्मरूपी अमृतके समुद्रमें स्नान करनेवाले मुमुक्षु घटमान योगियोंके द्वारा प्रकट किये गये रसके लेशको भी प्राप्त करके ज्ञान संयम आदिके द्वारा तथा आह्लाद, ओज, बलवीर्य आदिके द्वारा समृद्ध होता है ॥१११॥

धर्माचार्यके द्वारा प्रबुद्ध किया गया मनुष्य परिग्रह त्याग आदि करके उसी भवमें या भवान्तरमें अपनेको संसारसे मुक्त करता है, यह कहते हैं—

परिग्रहको त्यागकर सामायिककी निरन्तर भावनाके बलसे, मरते समय अवश्य ही रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप समाधिको प्राप्त करके, प्रमाण नय-निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा व्युत्पन्न हुआ चरमशरीरी भव्य संसारका नाश करता है। यदि वह अचरमशरीरी होता है उसी भवसे मोक्ष जानेवाला नहीं होता तो संसारको अल्प करता है, उसे घटाता है ॥११२॥

अभेद समाधिकी महिमाकी प्रशंसा करते हैं—

स्वसंवेदनके द्वारा अपना साक्षात्कार करनेवाला यह आत्मा शुद्ध चिदानन्द स्वरूप आत्माके लिए, इन्द्रिय मनसे उत्पन्न होनेवाले क्षायोपशमिक ज्ञानरूप आत्मस्वरूपसे हटकर, निर्विकल्प स्वात्मामें, स्वसंवेदनरूप स्वात्माके द्वारा, शुद्धचिदानन्दमय आत्माका ध्यान करते हुए घातिकर्मोंके क्षयस्वरूप या समस्त कर्मोंके क्षयस्वरूप उत्कृष्ट विशुद्धिको प्राप्त करता है ॥११३॥

अथ ध्यानस्य सामग्रीक्रमं साक्षादसाक्षाच्च फलं कथयति—

इष्टानिष्टार्थमोहादिच्छेदाच्चेतः स्थिरं ततः ।
ध्यानं रत्नत्रयं तस्मात्तस्मान्मोक्षस्ततः सुखम् ॥११४॥ ३

मोहादि—इष्टानिष्टार्थयो स्वरूपानवबोधो मोह । इष्टे प्रीती राग । अनिष्टे चाप्रीतिर्द्वेष. । तत· स्थिराच्चेतस· । इति भद्रम् ॥११४॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसञ्ज्ञाया प्रथमोऽध्याय । ६

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं द्वादशोत्तराणि च चत्वारि शतानि । अङ्कत ॥४१२॥

विशेषार्थ—ऊपर समाधिका अर्थ रत्नत्रयकी एकाग्रता कहा है। यहाँ उसे ही स्पष्ट किया है। यहाँ बतलाया है कि छहो कारक आत्मस्वरूप जब होते है तभी रत्नत्रयकी एकाग्रता होती है और तभी मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥११३॥

आगे ध्यानकी सामग्रीका क्रम और उससे होनेवाले साक्षात् या परम्परा फलको कहते है—

इष्ट और अनिष्ट पदार्थोंमे मोह-राग-द्वेषको नष्ट करनेसे चित्त स्थिर होता है, चित्त स्थिर होनेसे ध्यान होता है। ध्यानसे रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। रत्नत्रयसे मोक्ष होता है। मोक्षसे सुख होता है ॥११४॥

विशेषार्थ—द्रव्यसग्रहके अन्तमे कहा है कि ध्यानमे निश्चय मोक्षमार्ग और व्यवहार मोक्षमार्ग दोनों ही प्राप्त होते हैं इसलिए ध्यानाभ्यास करना चाहिए। किन्तु चित्त स्थिर हुए विना ध्यान होना सम्भव नहीं है अत ध्यान के लिए चित्तका स्थिर होना जरूरी है। चित्त स्थिर करनेके लिए इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोसे द्वेष हटाना चाहिए। ये राग-द्वेष ही हैं जो ध्यानके समय बाधा डालते हैं और मन इधर-उधर भटकता है। यहाँ मोह-राग-द्वेषका स्वरूप कहते हैं—शुद्ध आत्मा आदि तत्त्वोमे मिथ्या अभिप्रायका जनक दर्शनमोह है उसीका भेद मिथ्यात्व है जो अनन्त संसारका कारण है। अध्यात्ममे मोह दर्शनमोहको ही कहा है और रागद्वेष चारित्रमोहको कहा है। निर्विकार स्वसंवित्तिरूप वीतराग चारित्रको ढाँकनेवाला चारित्रमोह है अर्थात् रागद्वेष है, क्योंकि कषायोमे क्रोध-मान तो द्वेष रूप है और माया लोभ रागरूप है। नोकषायोमे स्त्रीवेद, नपुसकवेद, पुरुषवेद, हास्य, रति तो रागरूप हैं, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा द्वेषरूप हैं। यह प्रश्न हुआ करता है कि रागद्वेष कर्मसे पैदा होते है या जीवसे पैदा होते है। इसका उत्तर यह है कि जैसे पुत्र स्त्री और पुरुष दोनो के संयोगसे पैदा होता है वैसे ही रागद्वेष भी जीव और कर्मके संयोग-से उत्पन्न होते हैं। किन्तु नयविवक्षासे एक देश शुद्धनिश्चयनयसे कर्मजनित है और अशुद्ध निश्चयनयसे, जो शुद्धनिश्चयकी अपेक्षा व्यवहार ही है, जीव-जनित हैं। इनसे बचना चाहिए तभी धर्ममे मन लग सकता है। [—द्रव्य सं. टी., गा. ४८] ॥११४॥

इस प्रकार आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगार धर्मामृतकी स्वोपज्ञ टीकानुसारी हिन्दी टीकामें धर्मस्वरूप निरूपण नामक प्रथम अध्याय समाप्त हुआ।

द्वितीय अध्याय

इह हि—'उद्योतोद्यवनिर्वाहसिद्धिनिस्तरणैर्भजन् ।
भव्यो मुक्तिपथ भाक्त साधयत्येव वास्तवम् ॥'

३ वास्तवमिति पूर्वोक्तम् । तत्रादौ सम्यक्त्वाराधनाप्रक्रमे मुमुक्षूणा स्वसामग्रीतः समुद्भूतमपि सम्यग्दर्शनमासन्नभव्यस्य सिद्धिसंपादनार्थमारोहत्प्रकर्षं चारित्रमपेक्षत इत्याह—

आसंसारविसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया-
६ **च्च्युत्वा कालबलान्निमीलितभवानन्त्यं पुनस्तद्बलात् ।**
मीलित्वा पुनरुद्गतेन तदपक्षेपादविद्याच्छिदा,
सिद्ध्यै कस्यचिदुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्यते ॥१॥

९ अन्धतमसात्—द्रव्यमिथ्यात्वात् पक्षे दुर्णयविलासितात् मिथ्याभिमानान्वयात् (—विपरीतलक्षणात् कालादिलब्ध्यवष्टम्भात्) विपरीताभिनिवेशलक्षणभावमिथ्यात्वेन पक्षे दुरभिनिवेशावष्टम्भरूपायुक्तिप्रणीता-हङ्कारेण चानुगम्यमानात् । कालबलात्—उपलक्षणात् कालादिलब्ध्यवष्टम्भात् पक्षे कार्यसिद्ध्यनुकूलसमय-
१२ सामर्थ्यात् । निमीलितभवानन्त्य—तिरस्कृतानन्तसंसार यथा भवति । तथा चोक्तम्—

'लब्ध मुहूर्तमपि ये परिवर्जयन्ति सम्यक्त्वरत्नमनवद्यपदप्रदायि ।
भ्राम्यन्ति तेऽपि न चिर भववारिराशौ तद्बिभ्रता चिरतर किमिहास्ति वाच्यम् ॥'
१५ [अमित. श्रा २।८६]

पहले कहा था कि उद्योत, उद्यव, निर्वाह, सिद्धि और निस्तरणके द्वारा निश्चय मोक्षमार्गकी सिद्धि होती है। यहाँ चार आराधनाओंमें-से सम्यक्त्व आराधनाका प्रकरण है। उसको प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि मुमुक्षु जीवोंके अपनी सामग्रीसे उत्पन्न हुआ भी सम्यग्दर्शन निकट भव्यकी मुक्तिके लिए उत्तरोत्तर उन्नतिशील चारित्रकी अपेक्षा करता है—

समस्त संसारमें मिथ्या अभिप्रायको फैलानेवाले और विपरीत अभिप्राय रूप भाव मिथ्यात्व जिसका अनुगमन करता है ऐसे द्रव्य मिथ्यात्वसे किसी प्रकार कालादिलब्धिके बलसे छूटकर अनादि मिथ्यादृष्टि भव्य संसारकी अनन्तताका अन्त करके अपने संसारको सान्त बनाता है। पुन उसी अनादिकालसे चले आते हुए मिथ्यात्वकी शक्तिसे उसका सम्य-ग्दर्शन लुप्त हो जाता है। पुन किसी निकट भव्यके उस मिथ्यात्वरूपी अन्धकारका विनाश होनेसे कुमति, कुश्रुत और कुअवधिरूप अथवा मोह-संशय और विपर्ययरूप अज्ञानका छेदन करनेवाले सम्यग्दर्शनका उदय होता है। किन्तु सम्यग्दर्शनरूपी अपने तेजसे ऊँचा उठता हुआ निकट भव्य स्वात्माकी उपलब्धिके लिए अपने मित्र चारित्रकी अपेक्षा करता है ॥१॥

तद्वलात्—अनाद्यनुवद्धमिथ्यात्वसामर्थ्यात् । भव्य. खलु अनादिमिथ्यादृष्टि कालादिलब्ध्याऽन्त-र्मुहूर्तमौपशमिकसम्यक्त्वमनुगम्य पुनस्तत प्रच्युत्य नियमेन मिथ्यात्वमाविशति । तदुक्तम्—

'निशीथ वासरस्येव निर्मलस्य मलीमसम् ।
पश्चादायाति मिथ्यात्व सम्यक्त्वस्यास्य निश्चितम् ॥' [अमित. श्रा २१४२]

तदपक्षेपात्—तथाविधाच्च तमस प्रध्वसात् । अविद्याच्छिदा—अविद्या कुमतिकुश्रुतविभङ्गस्वभावं मोह-सशय-विपर्ययरूप वा अज्ञानत्रयं छिनत्ति सम्यग्मत्यादिरूपता प्रापयतीत्यविद्याछित् तेन । सिद्ध्यै—स्वात्मोपलब्धये आत्मोत्कर्षपरापकर्षसाधनार्थं च । कस्यचित्—आसन्नभव्य (स्य) जिगीषोश्च । स्वमहसा—सम्यग्दर्शनलक्षणेन प्रतापरूपेण च निजतेजसा ॥१॥

विशेषार्थ—संसारी जीव अनादिकालसे मिथ्यात्वके कारण अपने स्वरूपको न जानकर नाना गतियोंमे भटकता फिरता है। यह मिथ्यात्व भाव और द्रव्यके भेदसे दो प्रकारका है। जीवके जो मिथ्यात्वरूप भाव है वह भाव मिथ्यात्व है, और जो दर्शन मोहनीय कर्मका भेद मिथ्यात्व मोहनीय है उस रूप परिणत पौद्गलिक कर्म द्रव्य मिथ्यात्व है। द्रव्य मिथ्यात्वके उदयमें भाव मिथ्यात्व होता है अत. भाव मिथ्यात्व द्रव्य मिथ्यात्वका अनुगामी है। तथा मिथ्यात्वके उदयमें ही नवीन मिथ्यात्व कर्मका वन्ध होता है। इस तरह इसकी परम्परा चलती आती है। जव पाँच लब्धियोंका लाभ होता है तव भव्य पंचेन्द्रिय पर्याप्तक जीवको एक अन्तर्मुहूर्तके लिए सम्यग्दर्शनका लाभ होता है। जब जीवके संसार परिभ्रमणका काल अर्धपुद्गल परावर्त शेष रहता है तव वह प्रथम सम्यक्त्वके ग्रहण करनेके योग्य होता है इसे काललब्धि कहते हैं। उसे सद्गुरुके द्वारा तत्त्वोंका उपदेश मिलना देशनालब्धि और विशुद्ध परिणाम होना विशुद्धिलब्धि है। विशुद्ध परिणाम होनेपर पाप प्रकृतियोंमें स्थिति अनुभाग घटता है, प्रशस्त प्रकृतियोंका अनुभाग वढ़ता है। इस तरह प्रति समय अनन्तगुणी विशुद्धि होते हुए जव कर्मोंकी स्थिति अन्त कोटाकोटी सागर प्रमाण वाँधता है तव क्रमसे अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणामोंको करता है। यह करणलब्धि है। अनिवृत्तिकरणके अन्तर्गत अन्तरकरण करता है। उसमे अनन्तानुवन्धी कषाय और मिथ्यात्वका अपवर्तन करता है उससे मिथ्यात्व कर्म मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति इन तीन रूप हो जाता है अर्थात् प्रथमोपशम सम्यक्त्व रूप परिणामोंसे सत्तामे स्थित मिथ्यात्व कर्मका द्रव्य तीन रूप हो जाता है। तब अनन्तानुवन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति इन सात प्रकृतियोंका उपशम करके सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। इसकी स्थिति एक अन्तर्मुहूर्तकी होती है अत. पुन मिथ्यात्वमे चला जाता है। मगर एक वार भी सम्यक्त्वके होनेसे अनन्त संसार सान्त हो जाता है। कहा भी है कि जैसे निर्मल दिनके पीछे अवश्य मलिन रात्रि आती है, वैसे ही इस प्रथमोपशम सम्यक्त्वके पीछे अवश्य मिथ्यात्व आता है।[1] एक वार सम्यक्त्व छूटकर पुनः हो जाता है किन्तु मुक्तिके लिए चारित्रकी अपेक्षा करता है। चारित्रके विना अकेले सम्यक्त्वसे मुक्तिलाभ नहीं हो सकता ॥ १ ॥

१ सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिका कथन विस्तारसे जाननेके लिए षट्खण्डागम पु. ६ के अन्तर्गत सम्यक्त्वोत्पत्ति-चूलिका देखें।

अथ मिथ्यात्वस्योपस्कारिका सामग्री प्रतिनिवर्तयितुं मुमुक्षून् व्यापारयति—

दवयन्तु सदा सन्तस्तां द्रव्यादिचतुष्टयीम् ।
३ पुंसां दुर्गतिसर्गे या मोहारे. कुलदेवता ॥२॥

दवयन्तु—दूरीकुर्वन्तु । द्रव्यादिचतुष्टयी—द्रव्यक्षेत्रकालभावान् । तत्र द्रव्य परसमयप्रतिमादि, क्षेत्र तदायतनतीर्थादि, काल सक्रान्तिग्रहणादि., भाव. शङ्कादिः । दुर्गतिसर्गे—मिथ्याज्ञानस्य नरकादि-
६ गतेर्वा पक्षे दारिद्रचस्य सर्गे निर्माणे ॥२॥

अथ मिथ्यात्वस्य कारण लक्षण चोपलक्षयति—

मिथ्यात्वकर्मपाकेन जीवो मिथ्यात्वमृच्छति ।
९ स्वादु पित्तज्वरेणैव येन धर्मं न रोचते ॥३॥

पावक (पाक)—स्वफलदानायोद्भूति । मिथ्यात्व—विपरीताभिनिवेशम् । धर्म—वस्तु-याथात्म्यम् । तदुक्तम्—

१२ 'मिच्छत्त वेदतो जीवो विवरीयदसणो होदि ।
ण य धम्म रोचेदि हु महुर खु रसं जहा जरिदो ॥३॥' [गो. जीव १७ गा.]

मिथ्यात्वको बढानेवाली सामग्रीको दूर करनेके लिए मुमुक्षुओंको प्रेरणा करते हैं—

मुमुक्षु जन उस द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीको सदा दूर रखे जो मनुष्योंकी दुर्गतिके निर्माण करनेमे मोहरूपी शत्रुकी कुलदेवता है ॥२॥

विशेषार्थ—जैसे प्रतिपक्षके मनुष्योको दरिद्री बनानेके लिए जीतनेवालेका कुलदेवता जागता रहता है वैसे ही प्राणियोंकी दुर्गति करनेमे मोहका कुलदेवता द्रव्य-क्षेत्र काल और भाव है। मिथ्या देवताओंकी प्रतिमा वगैरह द्रव्य है, उनके धर्मस्थान तीर्थस्थान क्षेत्र है। संक्रान्ति, ग्रहण, पितृपक्ष आदि काल हैं। और समीचीन धर्मके सम्बन्धमे शंका आदि भाव है। मिथ्या देवताओंकी आराधना करनेसे, उनके धर्मस्थानोको पूजनेसे, संक्रान्ति ग्रहण वगैरहमे दानादि करनेसे तथा समीचीन धर्मकी सत्यतामे सन्देह करनेसे मिथ्यात्वका ही पोषण होता है। अत. उनसे दूर रहना चाहिए ॥२॥

मिथ्यात्वका कारण और लक्षण कहते है—

मद्यके समान दर्शनमोह कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होता है जिससे आविष्ट हुए जीवको धर्म उसी तरह रुचिकर नही लगता जैसे पित्तज्वरके रोगीको मधुर रस अच्छा नहीं लगता—कड़ुआ लगता है ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ यह बात ध्यान देनेकी है कि जिस मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जीव मिथ्यात्वको प्राप्त होता है वह मिथ्यात्व कर्म स्वयं उस जीवके द्वारा ही बाँधा गया है। यदि जीव मिथ्यात्व कर्मके उदयमे भी मिथ्यात्वरूप परिणमन न करे अपने भावोंको सम्हाले तो मिथ्यात्व कर्मका बन्ध भी न हो या मन्द हो। ऐसा होनेसे ही तो सम्यक्त्वकी प्राप्ति होती है। अत. मिथ्यात्व अपनी ही गलतीका परिणाम है। उसे सुधारनेसे मिथ्यात्वसे उद्धार हो सकता है और उसे सुधारनेका रास्ता यही है कि मिथ्यात्वके सहायक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे दूर रहा जाये ॥३॥

अथ मिथ्यात्वस्य विकल्पान् तत्प्रणेतृमुखेन लक्षयति—

[1]बौद्ध-शैव-द्विज-श्वेतपट-मस्करिपूर्वकाः ।
एकान्त-विनय-भ्रान्ति-संशयाज्ञानदुर्दृश ॥४॥ ३

भ्रान्ति.—विपर्यय । तदुक्तम्—

'मिथ्योदयेन मिथ्यात्वं तत्त्वाश्रद्धानमङ्गिनाम् ।
एकान्त संशयो मौढ्य विपर्यासो विनीतता ॥' ६
वौद्धादि सितवस्त्रादिर्मस्करी विप्रतापसी ।
मिथ्यात्वे पञ्चधा भिन्ने प्रभव प्रभवन्त्यमी ॥ [ ]

मिथ्यात्वके भेद उनके पुरस्कर्ताओके साथ वतलाते हैं—

वौद्व एकान्त मिथ्यादृष्टि हैं । शैव विनय मिथ्यादृष्टि है । द्विज विपरीत मिथ्यादृष्टि हैं, श्वेताम्बर सशय मिथ्यादृष्टि हैं और मस्करी अज्ञान मिथ्यादृष्टि हैं ।

विशेपार्थ—मिथ्यात्वके पाँच भेद है—एकान्त, विनय, विपरीत, संशय और अज्ञान । पाँच भेदकी परम्परा प्राचीन है । आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि(१।१) मे मिथ्यात्व-के भेदोंका कथन दो प्रकारसे किया है—'मिथ्यादर्शनके दो भेद है—नैसर्गिक और परोपदेश-पूर्वक । परोपदेशके विना मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जो तत्त्वार्थका अश्रद्धान होता है वह नैसर्गिक मिथ्यात्व है । परोपदेशके निमित्तसे होनेवाला मिथ्यात्व चार प्रकारका है—क्रिया-वादी, अक्रियावादी, अज्ञानी और वैनयिक । अथवा मिथ्यात्वके पॉच भेद है—एकान्त मिथ्यादर्शन, विपरीत मिथ्यादर्शन, संशय मिथ्यादर्शन, वैनयिक मिथ्यादर्शन, अज्ञान मिथ्या-दर्शन । यही है, ऐसा ही है इस प्रकार धर्मी और धर्मके विपयमे अभिप्राय एकान्त है । यह सव पुरुप-ब्रह्म ही है अथवा नित्य ही है यह एकान्त है । परिग्रहीको निर्ग्रन्थ मानना, केवली-को कवलाहारी मानना, स्त्रीकी मुक्ति मानना आदि विपर्यय है । सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र मोक्षके मार्ग हैं या नही, इस तरह किसी भी पक्षको स्वीकार न करके डॉवा-डोल रहना संशय है । सव देवताओंको और सव धर्मोंको समान मानना वैनयिक है । हित और अहितकी परीक्षाका अभाव अज्ञान है ।' अकलकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (८।१) मे पूज्य-पादके ही कथनको दोहराया है । प्राकृत पंचसंग्रहके जीवसमास प्रकरणमें (गा० ७) तथा भगवती आराधना (गा० ५६) मे मिथ्यात्वके तीन भेद किये हैं—संशयित, अभिगृहीत, अनभिगृहीत । आचार्य जटासिंहनन्दिने अपने वरागचरित [११।४] मे मिथ्यात्वके सात भेद किये हैं—ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभाविक, वैनयिक, व्युद्ग्राहित और विपरीत । आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके द्वितीय अध्यायके आदिमे वरांगचरितका ही अनुसरण किया है । श्वेताम्वर परम्परामे स्थानाग सूत्र (३ ठा.) मे मिथ्यात्वके तीन भेद किये है—अक्रिया, अविनय, अज्ञान । तत्त्वार्थ भाष्यमे दो भेद किये हैं—अभिगृहीत, अनभिगृहीत । टीकाकार सिद्धसेन गणिने 'च' शब्दसे सन्दिग्ध भी ले लिया है । धर्मसंग्रह-मे पॉच भेद किये है—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, साशयिक, अना-भोगिक । प्राय नामभेद है, लक्षणभेद नहीं है ।

---

१ एयतवुद्धदरसी विवरीयो ब्रह्म तावसो विणओ । इदो विय ससइओ मक्कणिओ चेव अण्णाणी ॥

—गो जी. १६ गा.

मस्करिपूरणनामा पार्श्वनाथतीर्थोत्पन्न ऋषि. स सद्योजातवेवऽज्ञानाद् वीरजिनाद् ध्वनिच्छन् (ध्वनिमिच्छन्) तत्राजातध्वनौ मय्येकादशाङ्गधारिण्यपि नास्य ध्वनिनिर्गमोऽभूत् स्वे शिष्ये तु गौतमे ३ सोऽभूदिति मत्सराद् विकल्पे नाय सर्वज्ञ इति ततोऽपसृत्य 'अज्ञानान्मोक्ष ' इति मत प्रकाशितवान् ॥४॥

ग्रन्थकारने एकान्त मिथ्यात्वका प्रणेता बौद्धको, विनय मिथ्यात्वका पुरस्कर्ता शैवको, विपरीत मिथ्यात्वका द्विजोको, संशय मिथ्यात्वका श्वेताम्वरोको और अज्ञान मिथ्यात्वका मस्करीको कहा है। गोमट्टसार जीवकाण्डमे भी कहा है—

'बौद्धदर्शन एकान्तवादी है, ब्रह्म विपरीतमिथ्यात्वी है, तापस विनयमिथ्यात्वी है। इन्द्र संशयमिथ्यात्वी है और मस्करी अज्ञानी है।'

दर्शनसारमे देवसेनने प्रत्येकका विवरण देते हुए लिखा है—भगवान् पार्श्वनाथके तीर्थमे पिहिताश्रव मुनिका शिष्य बुद्धिकीर्ति मुनि हुआ। उसने रक्ताम्बर धारण कर एकान्त-मतकी प्रवृत्ति की। उसने मासभक्षणका उपदेश दिया और कहा कर्ता अन्य है, भोक्ता अन्य है। यह बुद्धिकीर्ति, बौद्धधर्मके संस्थापक बुद्ध है उन्होंने क्षणिकवादी बौद्धदर्शनकी स्थापना की। उन्होने स्वयं यह स्वीकार किया है कि एक समय मैं नगा रहता था, केशलोंच करता था, हाथमें खाता था आदि। यह सब दिगम्बर जैन साधुकी चर्या है। अत. उन्होंने अवश्य ही किसी जैन साधुसे दीक्षा ली होगी। जब उन्होंने घर छोड़ा तब भगवान् पार्श्वनाथका तीर्थ चलता था। भगवान् महावीरने तीर्थप्रवर्तन तबतक नहीं किया था। अत. दर्शनसारके कथनमे तथ्य अवश्य है। विपरीत मतकी उत्पत्तिके सम्बन्धमे लिखा है कि मुनिसुव्रतनाथके तीर्थमे क्षीरकदम्ब नामक सम्यग्दृष्टि उपाध्याय था। उसका पुत्र पर्वत बड़ा दुष्ट था। उसने विपरीत मतका प्रवर्तन किया। जैन कथानकोमे नारद पर्वतके शास्त्रार्थकी कथा आती है। 'अजैर्यष्टव्यम्' इस श्रुतिमें अजका अर्थ बकरा पर्वतने बतलाया और राजा वसुने उसका समर्थन किया। इस तरह वैदिक हिंसाका सूत्रपात हुआ। पर्वत ब्राह्मण था। अतः द्विज या ब्रह्म शब्दसे उसीको विपरीत मिथ्यात्वका प्रवर्तक कहा है। विनय मिथ्यात्वके सम्बन्धमे कहा है कि सभी तीर्थोंमें वैनयिक होते हैं उनमे कोई जटाधारी, कोई सिर मुँड़ाये, कोई शिखाधारी और कोई नग्न होते है। दुष्ट या गुणवान् हों भक्तिपूर्वक सबको साष्टांग नमस्कार करना चाहिए ऐसा उन मूढो ने माना। जीवकाण्डमें तापसको और आशाधरजीने शैवोको वैनयिक कहा है। दर्शनसारमे जो कहा है वह दोनोंमे घटित होता है। आशाधरजी-ने श्वेताम्बरो को संशय मिथ्यादृष्टि कहा है। दर्शनसारमे भी श्वेताम्बर मतकी उत्पत्ति बतलाकर उन्हें संशय मिथ्यादृष्टि कहा है। किन्तु आचार्य पूज्यपादने उन्हें विपरीत मिथ्या-दृष्टि कहा है क्योकि वे परिग्रहीको निर्ग्रन्थ कहते हैं। अतः विपरीत कथन करनेसे विपरीत मिथ्यादृष्टि ही हुए। मस्करीको अज्ञान मिथ्यादृष्टि कहा है। इसके सम्बन्धमे दर्शनसारमें कहा है—श्री वीर भगवान्के तीर्थमे पार्श्वनाथ तीर्थंकरके संघके गणीका शिष्य मस्करी पूरण नामका साधु था उसने अज्ञानका उपदेश दिया। अज्ञानसे मोक्ष होता है, जीवका पुनर्जन्म नहीं है आदि। भगवान् महावीरके समयमे बुद्धकी ही तरह पूरण और मक्खलि गोशालक नामके दो शास्ता थे। मक्खलि तो नियतिवादीके रूपमें प्रख्यात है। श्वेताम्बर आगमोके अनुसार वह महावीरका शिष्य भी रहा किन्तु उनके विरुद्ध हो गया। आशाधरजी-ने अपनी टीकामे लिखा है—मस्करी अर्थात् पार्श्वनाथके तीर्थमे उत्पन्न हुआ मस्करी-पूरण नामक ऋषि। भगवान् महावीरको केवलज्ञान होनेपर भी दिव्यध्वनि नहीं खिरी और

अथैकान्तमिथ्यात्वस्य दोषमाख्याति—

अभिसरति यतोऽङ्गी सर्वथैकान्तसंवित्

परयुवतिमनेकान्तात्मसंवित्प्रियोऽपि । ३

मुहुरुपहितनानाबन्धदुःखानुबन्धं

तमनुषजति विद्वान् को नु मिथ्यात्वशत्रुम् ॥५॥

सर्वथैकान्ताः—केवलनित्य-क्षणिक-भावाभाव-भेदाभेदवादाः । संवित्—प्रतिज्ञा ज्ञानं वा । अपि, ६ न परं मिथ्यादृष्टिरित्यर्थः । नानाबन्धाः—प्रकृतिस्थित्यादिकर्मबन्धप्रकाराः रज्जुनिगडादिबन्धनानि च । अनुषजति—अनुबध्नाति ॥५॥

अथ विनयमिथ्यात्वं निन्दति— ९

शिवपूजादिमात्रेण मुक्तिमभ्युपगच्छताम् ।

निःशङ्कं भूतघातोऽयं नियोगः कोऽपि दुर्विधेः ॥६॥

शिवपूजा—स्वयमाहृतबिल्वपत्रादियजन-गडुक(मुदक)प्रदान-प्रदक्षिणीकरणात्मविडम्बनादिका । आदि- १२ शब्दाद् गुरुपूजादि । मुक्तिं । तथा चोक्तम्—

'विणयाओ होइ मोक्खं किज्जइ पुण तेण गद्दहाईण ।

अमुणिय गुणागुणाण य विणयं मिच्छत्तनडिएण ॥' [भावसंग्रह ७४] १५

दुर्विधेः—दुर्दैवस्य दुरागमप्रयोगस्य वा ॥६॥

गौतम स्वामीके गणधर होनेपर खिरी । इससे वह रुष्ट हो गया कि मुझ ग्यारह अंगके धारीके होते हुए भी दिव्यध्वनि नहीं हुई और गौतमके होनेपर हुई । द्वेषवश वह 'यह सर्वज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर अलग हो गया और अज्ञानसे मोक्ष होता है इस मतको प्रकाशित किया । अस्तु ।

आगे एकान्त मिथ्यात्वके दोष कहते हैं—

जिसके कारण यह प्राणी अनेकान्त संवित्तिरूप प्यारी पत्नीके होते हुए भी सर्वथा एकान्त संवित्तिरूप परस्त्रीके साथ अभिसार करता है, उस शत्रुतुल्य मिथ्यात्वके साथ कौन विद्वान् पुरुष सम्बन्ध रखेगा, जो बार-बार प्रकृतिबन्ध आदि नाना बन्धोंके कारण होनेवाले दुःखोंकी परम्पराका जनक है ॥५॥

विशेषार्थ—मिथ्यात्वसे बड़ा कोई शत्रु नहीं है इसीके कारण जीव नाना प्रकारके कर्मबन्धनोंसे बद्ध होकर नाना गतियोंमें दुःख उठाता है । इसीके प्रभावसे अनेकान्तात्मक वस्तुतत्त्वको एकान्तरूप मानता है । वस्तु क्षणिक ही है, नित्य ही है, भावरूप ही है या अभावरूप ही है, भेदरूप ही है या अभेदरूप ही है इस प्रकारके एकान्तवाद फैले हुए हैं । एकान्तवादकी संवित्ति—ज्ञानको परस्त्रीकी उपमा दी है और अनेकान्तवादकी संवित्ति—ज्ञानको स्वस्त्रीकी उपमा दी है । जैसे दुष्ट लोगोंकी संगतिमें पड़कर मनुष्य घरमें प्रियपत्नीके होते हुए भी परस्त्रीके चक्रमें फँसकर जेल आदिका कष्ट उठाता है उसी तरह अनेकान्तरूप वस्तुका ज्ञाता भी मिथ्यात्वके प्रभावमें आकर एकान्तका अनुसरण करता है और कर्म-बन्धनसे बद्ध होकर दुःख उठाता है ॥५॥

आगे विनय मिथ्यात्वकी निन्दा करते हैं—

केवल शिवपूजा आदिके द्वारा ही मुक्ति माननेवाले वैनयिकोंका निःशंक प्राणिघात दुर्दैवका कोई अलौकिक ही व्यापार है ॥६॥

अथ विपर्यासमिथ्यात्वपरिहारे प्रेरयति—

येन प्रमाणतः क्षिप्तां श्रद्दधानाः श्रुतिं रसात् ।
**३	चरन्ति श्रेयसे हिंसां स हिंस्यो मोहराक्षसः ॥७॥**

प्रमाणतः—अनाप्तप्रणीतत्व-पशुवधप्रधानत्वादिबलेन । श्रुतिं—वेदम् । रसात्—आनन्दमाश्रित्य । श्रेयसे—स्वर्गादिसाधनपुण्यार्थम् । तदुक्तम्—

६	'मण्णइ जलेण सुद्धि तित्ति मसेण पियरवग्गाण ।
पसुकयवहेण सग्ग धम्म गोजोणिफासेण ॥' [भावसग्रह गा. ५]

मोहः—विपरीतमिथ्यात्वनिमित्तं कर्म ॥७॥

९	अथ सशयमिथ्यादृष्टेः कलिकालसहायकमाविष्करोति—

अन्तस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषाम् ।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेष नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन् ॥८॥

१२	शल्य—काण्डादि । रूप—किं केवली कवलाहारी उतस्विदन्यथा इत्यादिदोलायितप्रतीतिलक्षणमात्म-

---

विशेषार्थ—पहले शैवोको विनय मिथ्यादृष्टि कहा था । शैव केवल शिवपूजासे ही मोक्ष मानते है । स्वयं लाये हुए बेलपत्रोंसे पूजन, जलदान, प्रदक्षिणा, आत्मविडम्बना, ये उनकी शिवोपासनाके अंग हैं । शैव सम्प्रदायके अन्तर्गत अनेक पन्थ रहे हैं । मुख्य भेद हैं दक्षिणमार्ग और वाममार्ग । वाममार्ग शैवधर्मका विकृत रूप है । उसीमे मद्य, मांस, मदिरा, मैथुन और मुद्राके सेवनका विधान है ॥६॥

आगे विपरीत मिथ्यात्वको छोडनेकी प्रेरणा करते है—

जिसके कारण वेदपर श्रद्धा करनेवाले मीमासक प्रमाणसे तिरस्कृत हिंसाको स्वर्ग आदिके साधन पुण्यके लिए आनन्दपूर्वक करते है उस मोहरूपी राक्षसको मार डालना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करनेवाला मीमांसक दर्शन वेदविहित हिंसाको बडी श्रद्धा और हर्षके साथ करता था । उसका विश्वास था कि यज्ञमे पशुबलि करनेसे पुण्य होता है और उससे स्वर्गकी प्राप्ति होती है । 'स्वर्गकामो यजेत्' स्वर्गके इच्छुकको यज्ञ करना चाहिए यह श्रुति है । बौद्धो और जैनोने इस वैदिकी हिंसाका घोर विरोध किया । फलत यज्ञ ही बन्द हो गये । अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिक (८।१) मे लिखा है, वैदिक ऋषि अज्ञानी थे क्योकि उन्होने हिंसाको धर्मका साधन माना । हिंसा तो पापका ही साधन हो सकती है, धर्मका साधन नही । यदि हिंसाको धर्मका साधन माना जाये तो मछलीमार, चिडीमारोको भी धर्म-प्राप्ति होनी चाहिए । यज्ञकी हिंसाके सिवाय दूसरी हिंसा पापका कारण है ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योकि दोनों हिंसाओमे प्राणिवध समान रूपसे होता है, इत्यादि । अत. जिस मिथ्यात्व मोहनीयके कारण ऐसी विपरीत मति होती है उसे ही समाप्त कर देना चाहिए ॥७॥

आगे कहते है कि संशय मिथ्यादृष्टिकी कलिकाल सहायता करता है—

जिनका अपना ही रूप शरीरमें प्रविष्ट हुए चंचल कॉटेकी तरह अपना घात करता है उन श्वेताम्बरोके भाग्यसे ही लोगोके विवेकको नष्ट करनेवाला कलिकाल पूरी तरहसे तपता है—अपने प्रभावको फैलाये हुए है । यह हम निश्चित रूपसे मानते है ॥८॥

स्वरूपम् । स्ववधाय—आत्मनो विपरीताभिनिवेशलक्षणपरिणमनेनोपघातार्थम् । कलि—एतेन कलिकाले श्वेतपटमतमुदभूदिति ज्ञापितं स्यात् । यद् वृद्धा —

'छत्तीसे वरिससए विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स । ३
सोरट्ठे उप्पण्णो सेवडसघो य वलहीए ॥' [भावसग्रह गा. १३७]

लोकविवेकं—व्यवहर्तृजनाना युक्तायुक्तविचारम् ॥८॥

अथाज्ञानमिथ्यादृशा दुर्ललितान्यनुशोचति— ६

युक्तावनाश्वास्य निरस्य चाप्तं भूतार्थमज्ञानतमोनिमग्ना ।
जनानुपायैरतिसंदधाना. पुष्णन्ति ही स्वव्यसनानि धूर्ताः ॥९॥

युक्तौ—सर्वज्ञोऽस्ति सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत् इत्यादि प्रमाणव्यवस्थायाम् । ९
भूतार्थं—वास्तवम् । तदुक्तम्—

"अण्णाणाओ मोक्ख एव लोयाण पयडमाणो हु ।
देवो ण अत्थि कोई सुण्ण झाएह इच्छाए ॥" [भावसग्रह गा १६४] १२

उपायै—तदभिप्रायानुप्रवेशोपक्रमै. । तथा चोक्तम्—

"दृष्टान्ता सन्त्यसख्येया मतिस्तद्वशवर्तिनी ।
किन्न कुर्युर्मही धूर्ता विवेकरहितामिमाम् ॥" १५
[सोम उपा., १४१ श्लो]

अतिसदधाना.—वञ्चयमाना ॥९॥

विशेषार्थ—भगवान् महावीर स्वामीके पश्चात् उनके अनुयायी दो भागोमे विभाजित हो गये—श्वेताम्बर और दिगम्बर। श्वेताम्बर सम्प्रदायके साधु श्वेत वस्त्र पहनते है, स्त्रीकी मुक्ति मानते हैं और मानते हैं कि केवली अर्हन्त अवस्थामे भी ग्रासाहार करते है। दिगम्बर इन वातोंको स्वीकार नहीं करते। दिगम्बर अभिलेखोंके अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्यके समयमे वारह वर्षका दुर्भिक्ष पडनेपर श्रुतकेवली भद्रबाहु, जो उस समय भगवान् महावीरके सर्वसंघके एकमात्र प्रधान थे, अपने सघको लेकर दक्षिणापथकी ओर चले गये। वहीं श्रमण बेलगोलामे उनका स्वर्गवास हो गया। जो साधु दक्षिण नहीं गये उन्हें उत्तरभारतमे दुर्भिक्षके कारण वस्त्रादि धारण करना पडा। दुर्भिक्ष बीतनेपर भी उन्होने उसे छोडा नही। फलत संघभेद हो गया। उसीको लेकर कलिकालको उनका सहायक कहा गया है क्योकि पंचमकालमे ही सघभेद हुआ था। किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदाय स्त्रीमुक्ति आदिके विषयमे संशयशील नहीं है। इसीसे आचार्य पूज्यपादने श्वेताम्बर मान्यताओंको विपरीत मिथ्यादर्शन बतलाया है। हाँ, एक यापनीय संघ भी था जो स्त्रीमुक्ति और केवलिमुक्तिको तो मानता था किन्तु दिगम्बरत्वका पोषक था। दोनो वातोको अंगीकार करनेसे उसे संशय मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। संशय मिथ्यात्वको शरीरमे घुसे हुए काँटेकी उपमा दी है। जैसे पैरसे घुसा हुआ काँटा सदा करकता है वैसे ही सशयमें पड़ा हुआ व्यक्ति भी किसी निर्णयपर न पहुँचनेके कारण सदा ढुलमुल रहता है ॥८॥

आगे अज्ञान मिथ्यादृष्टियोके दुष्कृत्योपर खेद प्रकट करते है—

बड़ा खेद है कि अज्ञानरूपी अन्धकारमें डूबे हुए और अनेक उपायोसे लोगोंको ठगनेवाले धूर्तजन परमार्थ सत् सर्वज्ञका खण्डन करके और युक्तिपर विश्वास न करके अपने इच्छित दुराचारोका ही पोषण करते है ॥९॥

अथ प्रकारान्तरेण मिथ्यात्वभेदान् कथयन् सर्वत्र सर्वदा तस्यापकारकत्वं कथयति—

तत्त्वारुचिरतत्त्वाभिनिवेशस्तत्त्वसंशयः ।
३ मिथ्यात्वं वा क्वचित्किंचिन्नाश्रेयो जातु तादृशम् ॥१०॥

तत्त्वारुचि—वस्तुयाथात्म्ये नैसर्गिकमश्रद्धानम् । तथा चोक्तम्—

एकेन्द्रियादिजीवाना घोराज्ञानविवर्तिनाम् ।
६ तीव्रसतमसाकार मिथ्यात्वमगृहीतकम् ॥

[अमित. पं स १।१३५]

अतत्त्वाभिनिवेश —गृहीतमिथ्यात्वम् । तच्च परोपदेशाज्जात, तच्च त्रिपष्ट्यधिकत्रिशतभेदम् ।
९ तद्यथा—

'भेदा क्रियाक्रियावादिविनयाज्ञानवादिनाम् ।
गृहीतासत्यदृष्टीना त्रिपष्टित्रिशतप्रमा. ॥'
१२ तत्राशीतिशत ज्ञेयमशीतिश्चतुरुत्तरा ।
द्वात्रिंशत् सप्तषष्टिश्च तेषा भेदा त(य)थाक्रमम् ॥'

[अमित. पं सं १।३०८-३०९]

विशेपार्थ—वेदको अपौरुपेय कहकर उसके ही प्रामाण्यको स्वीकार करनेवाले मीमासक पुरुपकी सर्वज्ञताको स्वीकार नहीं करते । उनका कहना है कि वेदसे भूत, भावि, वर्तमान, तथा सूक्ष्म, व्यवहित और विप्रकृष्ट वस्तुओंका ज्ञान होता है । उसके अध्ययनसे ही मनुष्य सर्वज्ञाता हो सकता है । उसके विना कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता । मीमासादर्शनके प्रख्यात विद्वान् कुमारिलने अपने मीमांसाश्लोकवार्तिक, तन्त्रवार्तिक आदि ग्रन्थोमे पुरुपकी सर्वज्ञताका वड़े जोरसे खण्डन किया है। क्योंकि जैनदर्शन अपने तीर्थंकरोंको और वौद्धदर्शन वुद्धको सर्वज्ञ मानते थे और समन्तभद्र स्वामीने अपनी आप्तमीमासामे सर्वज्ञकी सिद्धि की है । उसीका खण्डन कुमारिलने किया है और कुमारिलका खण्डन भट्टाकलकदेवने तथा उनके टीकाकार विद्यानन्द स्वामी, प्रभाचन्द्र आदि आचार्योंने किया है । यह सव युक्ति और तर्कके आधारपर किया गया है। इसी तरह वेदसे प्राणिहिंसाके विधानको भी धर्म कहा जाता है । हिंसा और धर्म परस्परमें विरोधी हैं । जहाँ हिंसा है वहाँ धर्म नहीं है और जहाँ धर्म है वहाँ हिंसा नहीं है । यह सव अज्ञानका ही विलास है कि मनुष्य धर्मके नामपर अधर्मका पोषण करता है । अतः अज्ञान मिथ्यात्व महादुःखदायी है ॥९॥

प्रकारान्तरसे मिथ्यात्वके भेदोका कथन करते हुए वतलाते हैं कि मिथ्यात्व सर्वत्र सर्वदा अपकार ही करता है—

तत्त्वमे अरुचि, अतत्त्वाभिनिवेश और तत्त्वमें संशय, इस प्रकार मिथ्यात्वके तीन भेद है । किसी भी देशमे और किसी भी कालमे मिथ्यात्वके समान कोई भी अकल्याणकारी नहीं है ॥१०॥

विशेपार्थ—वस्तुके यथार्थ स्वरूपके जन्मजात अश्रद्धानको तत्त्व-अरुचि रूप मिथ्यात्व कहते हैं। इसको नैसर्गिक मिथ्यात्व या अगृहीत मिथ्यात्व भी कहते है । यह मिथ्यात्व घोर अज्ञानान्धकारमे पड़े हुए एकेन्द्रिय आदि जीवोके होता है। कहा भी है—'घोर अज्ञानमे पड़े हुए एकेन्द्रिय आदि जीवोंके तीव्र अन्धकारके तुल्य अगृहीत मिथ्यात्व होता है ।'

तत्र क्रियावादिनामास्तिकाना कौत्कलकाठविद्धि-कौशिक-हरिश्मश्रु-माद्यविक-रोमश-हरीत-मुण्डाश्वलाय-नादयोऽशीतिशतप्रमाणभेदा. । तेषामानयनमुच्यते—स्वभाव-नियति-कालेश्वरात्मकर्तृत्वाना पञ्चानामधो जीवादि-पदार्थाना नवानामध स्वत. परतो नित्यत्वानित्यत्वानि च चत्वारि सस्थाप्य अस्ति जीव स्वत स्वभावत ॥१॥ अस्ति परतो जीव स्वभावतः ॥२॥ अस्ति नित्यो जीव स्वभावत' ॥३॥ अस्त्यनित्यो जीव स्वभावत ॥४॥ इत्याद्युच्चारणतो राशित्रयस्य परस्परवधे नव भेदा लभ्यन्ते ॥१८०॥ स्वभावादीनाह—

क: स्वभावमपहाय वक्रता कण्टकेषु विहगेषु चित्रताम् ।
मत्स्यकेषु कुरुते पयोगतिं पङ्कजेषु खरदण्डता परः ॥ [अमित. पं. स. १।३१०]

बाह्या अप्याहु —

काकाः कृष्णीकृता येन हंसाश्च धवलीकृताः ।
मयूराश्चित्रिता येन स मे वृत्तिं विधास्यति ॥

परके उपदेशसे उत्पन्न हुए गृहीत मिथ्यात्वको अतत्त्वाभिनिवेश कहते है। उसके तीन सौ त्रेसठ भेद हैं। कहा भी है—क्रियावादी, अक्रियावादी, वैनयिक और अज्ञानवादी गृहीत मिथ्यादृष्टियोके तीन सौ त्रेसठ भेद हैं। उनमें-से क्रियावादियोके १८० भेद हैं, अक्रिया-वादियोंके ८४ भेद हैं, वैनयिकोंके ३२ भेद है और अज्ञानवादियोके ६७ भेद है।

क्रिया कर्ताके विना नहीं होती और वह आत्माके साथ समवेत है ऐसा कहनेवाले क्रियावादी हैं। अथवा, जो कहते हैं कि क्रिया प्रधान है ज्ञान प्रधान नहीं है वे क्रियावादी हैं। अथवा, क्रिया अर्थात् जीवादि पदार्थ है इत्यादि जो कहते है वे क्रियावादी है [भग. सूत्र, टी. ३०।१]

इन क्रियावादियोंके कौत्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रु, माद्यविक, रोमश, हारीत, मुण्ड, आश्वलायन आदि एक सौ अस्सी भेद है। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य, पाप ये नौ पदार्थ है। ये नौ पदार्थ स्वत., परत, नित्य, अनित्य, इन चार विकल्पोंके द्वारा तथा काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव इन पाँच विकल्पोंके द्वारा है। यथा—जीव स्वत स्वभावसे है ॥१॥ जीव परतः स्वभावसे है ॥२॥ जीव स्वभावसे नित्य है ॥३॥ जीव स्वभावसे अनित्य है ॥४॥ इस प्रकार उच्चारण करनेसे ९×५×४ इन तीनों राशियोंको परस्परमे गुणा करनेसे १८० भेद होते हैं। कहा भी है[1]—

जीवादि पदार्थ नहीं है ऐसा कहनेवाले अक्रियावादी है। जो पदार्थ नहीं उसकी क्रिया भी नहीं है। यदि क्रिया हो तो वह पदार्थ 'नहीं' नही हो सकता। ऐसा कहनेवाले भी अक्रियावादी कहे जाते है [भग सूत्र, टीका ३०।१, स्था. टी ४।४।३४५]

अक्रियावादी नास्तिकोंके मरीचिकुमार, कपिल, उलूक, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन आदि ८४ भेद हैं। उनके लानेकी विधि इस प्रकार है—स्वभाव आदि पाँचके नीचे पुण्य-पापको छोड़कर जीवादि सात पदार्थ स्थापित करो। फिर उनके नीचे स्वत-परतः स्थापित करो। जीव स्वभावसे स्वत. नहीं है ॥१॥ जीव स्वभावसे परतः नही

१. अत्थि सदो परदो वि य णिच्चाणिच्चत्तणेण य णवत्था ।
कालीसरप्पणियदिसहावेहि य ते हि भगा हु ॥
—गो. कर्म, गा ७८७ ।

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत् तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत् ।
स्फुट नियत्येह नियन्त्र्यमाण परो न शक्त' किमपीह कर्तुम् ॥ [अमित. पं सं. १।३११]

३ क्वचिच्च—

विनैवोपादानैः समसमयमोयासविगमा-
दानकाकारत्वदपि पृथगवस्थानविपमम् ॥
६ अखण्डब्रह्माण्ड विघटय वि(ति)याद्राग् घटयति
चमत्कारोद्रेक जयति न सा कास्य नियतिः ॥
काल पचति भूतानि काल. सहरते प्रजा ।
९ काल सुप्तेपु जार्गति तस्मात् कालस्तु कारणम् ॥
अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मन' सुखन्दु खयो ।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥ [महाभा० वनपर्व ३०।२८]
१२ एको देवः सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता ।
आत्मा मूर्तः सर्वभूतस्वरूप साक्षाज्ज्ञाता निर्गुण शुद्धरूप' ॥
[अमित. पं. सं १।३१४]

१५ परेऽप्याहु —

ऊर्णनाभ इवाशूना चन्द्रकान्त इवाम्भसाम् ।
प्ररोहाणामिव प्लक्ष स हेतु. सर्वजन्मिनाम् ॥

है ॥२॥ अजीव स्वभावसे स्वतः नहीं है ॥३॥ अजीव स्वभावसे परतः नहीं है ॥४॥ इस प्रकार उच्चारण करने पर ५×७×२ को परस्परमे गुणा करनेसे ७० भेद होते हैं। तथा नियति और कालके नीचे सात पदार्थोको रखकर जीव नियतिसे नहीं है ॥१॥ जीव कालसे नहीं है ॥२॥ इत्यादि कथन करनेपर चौदह भेद होते हैं। दोनोको मिलानेसे ८४ भेद होते हैं। श्वेताम्बर टीका ग्रन्थोंके अनुसार [आचा, टी. १।१।१।४, नन्दी टी मलय सू. ४६] जीवादि सात पदार्थ स्व और पर तथा काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन सवको परस्परमे गुणा करनेपर ७×२×६=८४ भेद होते हैं। विनयवादियोके वसिठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिण, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, ऐन्द्रदत्त, अयस्थूण आदि ३२ भेद है। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—देव, राजा, ज्ञानी, यति, वृद्ध, वाल, माता और पिता इन आठोंकी मन, वचन, काय और दानसे विनय करनेपर ८×४=३२ भेद होते हैं। यथा—देवोकी मनसे विनय करनी चाहिए ॥१॥ देवोकी वचनसे विनय करना चाहिए ॥२॥ देवोंकी कायसे विनय करनी चाहिए ॥३॥ देवोकी दानसे विनय करनी चाहिए ॥४॥ अज्ञानवादियोके साकल्य, वाकल्य, कुथिमि, नारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, वादरायण, ऐतिकायन, वसु, जैमिनि आदि ६७ भेद हैं। उनको लानेकी विधि इस प्रकार है—जीवादि नौ पदार्थोके नीचे सत्, असत्, सदसत्, अवाच्य, सदवाच्य, असदवाच्य, सदसदवाच्य इन सात भंगोको रखना चाहिए। इस तरह ९×७ =६३ भेद होते हैं। पुन. एक शुद्ध पदार्थको सत्, असत्, सदसत् और अवक्तव्य इन चार भगोके साथ मिलानेसे चार भेद होते है। इस तरह अज्ञानवादियोके ६७ भेद होते है। श्वेताम्बरीय टीका ग्रन्थोंके अनुसार जीव आदि नौ पदार्थोंको अस्ति आदि सात भंगोके

अक्रियावादिना नास्तिकाना मरीचि-कुमारोलूक-कपिल-गार्ग्य-व्याघ्रभूति-वाद्वलि-माठर-मोद्गिलायनप्रमुखा- यश्चतुरशीतिप्रमा भेदा.। तेषामानयनमाह—

स्वभाववादीना पञ्चानामध पुण्यपापानिष्टे सप्ताना जीवादीनामध. स्व-परद्वय निक्षिप्य नास्ति स्वतो ३ जीव स्वभावत ।१। नास्ति परतो जीव स्वभावत.।२। नास्ति स्वतोऽजीव स्वभावत ।३। नास्ति परतोऽजीव स्वभावत ।४। इत्याद्युच्चारणे परस्पराभ्यासे वा लब्धा भेदा सप्तति ७०। नियतिकालयोरधो जीवादिसप्तक विन्यस्य नास्ति जीवो नियतित.।१। नास्ति जीवः कालत.॥२॥ इत्याद्युच्चारणे लब्धाश्चतुर्दश ॥१४॥ पूर्वै ६ सहैते चतुरशीति ॥८४॥ विनयवादिना वसिष्ठ-पाराशर-जतुकर्ण-वाल्मीकि-रोमहर्षिण-सत्रदत्त-व्यासैलापुत्रोप- मन्यवेन्दुदत्तायस्थूणादयो द्वात्रिंशद्भेदा। तेषामानयन माह—देव-नृपति-यति-ज्ञानिक-वृद्ध-बाल-जननी-जनका- नामधो मनोवाक्कायदानचतुष्टय निक्षिप्य, विनयो मनसा देवेषु कार्य, विनयो वाचा देवेषु कार्य.॥२॥ विनय ९ कायेन देवेषु कार्य ॥३॥ विनयो दानेन देवेषु कार्य ॥४॥ इत्युच्चारणैर्लब्धा भेदा द्वात्रिंशत् ॥३२॥

अज्ञानवादिना साकल्य-वाकल्य-कुथिमि-चारायण-कठ-माध्यदिन-मौद-पिप्पलाद-वादरायणैतिकायन-वसु- जैमिनिप्रभृतय सप्तषष्टिसख्या भेदा। तेषामानयनमाह—नवाना जीवादीनामध सत् असत् सदसत् (अ) वाच्य १२ सद्वा(दवा)च्यं असद्वा(दवा)च्य सदसद्वा(दवा)च्यमिति सप्त निक्षिप्य सज्जीवभाव को वेत्ति ।१। असज्जीवभाव को वेत्ति ।२। इत्याद्युच्चारणे लब्धा भेदास्त्रिषष्टि ॥६३॥

पुनर्भावोत्पत्तिमाश्रित्य सद्भावासद्भाव-सदसद्भावावाच्याना चतुष्टय प्रस्तीर्य सद्भावोत्पत्ति को १५ वेत्ति।१। असद्भावोत्पत्ति को वेत्ति।२। सदसद्भावोत्पत्ति को वेत्ति ।३। वाच्यभावोत्पत्ति को वेत्ति ।४। इत्युच्चारणया लब्धैश्चतुर्भिरेतै सह पूर्वे सप्तषष्टि ६७। सर्वसमासे त्रिषष्ट्यधिकानि त्रीणि शतानि ३६३।

तत्त्वसंशय—जिनोक्तं तत्त्व सत्य न वा इति सकल्प ॥१०॥ १८

साथ मिलानेसे ६३ और उत्पत्तिको प्रारम्भके चार भंगोंके साथ मिलानेसे चार इस तरह ६७ भंग होते हैं। यहाँ स्वभाव आदिका भी स्वरूप जान लेना चाहिए—

स्वभाववादियोंका कहना है कि स्वभावको छोडकर दूसरा कौन काँटोंको तीक्ष्ण बनाता है, पक्षियोंको नाना रूप देता है, मछलियोंको जलमे चलाता है और कमलोमे कठोर नाल लगाता है।

अन्य जन भी कहते हैं—जिसने कौओंको काला किया, हंसोको सफेद किया, मयूरों- को चित्रित किया, वही मुझे आजीविका देगा।

नियतिका स्वरूप इस प्रकार है—जब, जैसे, जहाँ, जिसके द्वारा, जो होता है तब, तहाँ, तैसे, तिसके द्वारा वह होता है। स्पष्ट है कि नियतिके द्वारा ही यहाँ सब नियन्त्रित है। दूसरा कोई कुछ भी नही कर सकता।

कालवादी कहते हैं—काल प्राणियोंको पकाता है, काल प्रजाका सहार करता है। काल सोते हुए भी जागता है इसलिए काल ही कारण है।

ईश्वरवादी कहते हैं—यह अज्ञानी जीव अपने सुख-दुःखका स्वामी नहीं है। अत ईश्वरके द्वारा प्रेरित होकर स्वर्गमे या नरकमे जाता है।

सब प्राणियोमे एक देव समाया हुआ है, वह नित्य है, व्यापक है, सब कार्योंका कर्ता है, आत्मा है, मूर्त है, सर्व प्राणिस्वरूप है, साक्षात् ज्ञाता है, निर्गुण है, शुद्धरूप है।[1]

---

१ एको देव सर्वभूतेषु लीनो नित्यो व्यापी सर्वकार्याणि कर्ता।
आत्मा मूर्त सर्वभूतस्वरूप साक्षाज्ज्ञाता निर्गुण शुद्धरूप ॥

अथ मिथ्यात्वव्यवच्छेदपरं प्रशंसति—

यो मोहसप्तार्चिषि दीप्यमाने चेक्लिश्यमानं पुरुषं क्षषं वा।
उद्धृत्य निर्वापयतीद्धविद्यापीयूषसेकैः स कृती कृतार्थः ॥११॥

मोहसप्तार्चिषि—मिथ्यात्वाग्नौ। सप्तार्चिरित्युपमानपदं मिथ्यात्वस्य सप्तापि भेदा. कैश्चिदिष्यन्त इति सूचयति। तथा च पठन्ति—

ऐकान्तिक साशयिकं च मूढं स्वाभाविकं वैनयिक तथैव।
व्युद्ग्राहिक तद्विपरीतसंज्ञं मिथ्यात्वभेदानववोध सप्त ॥ [वरागचरित ११।४]

तद्विवरणश्लोका क्रमेण यथा—

सर्वथा क्षणिको जीव. सर्वथा सगुणो गुणः।
इत्यादिभाषमाणस्य तदेकान्तिकमिष्यते ॥१॥ [अमित. श्रा २।६]
सर्वज्ञेन विरागेण जीवाजीवादिभाषितम्।
तथ्य न वेति सकल्पे दृष्टिः साशयिकी मता ॥२॥ [अ श्रा २-७]
देवो रागी यति. सङ्गी धर्म. प्राणिनिशुंभनम्।
मूढदृष्टिरिति ब्रूते युक्तायुक्तविवेचकाः ॥३॥ [अ. श्रा. २।१२]
दीनो निसर्गमिथ्यात्वस्तत्त्वातत्त्वं न बुध्यते।
सुन्दरासुन्दरं रूपं जात्यन्ध इव सर्वथा ॥४॥ [अमित. श्रा. २।११]
आगमा लिङ्गिनी (-नो) देवौ(वा) धर्मः सर्वे सदा समाः।
इत्येषा कथ्यते बुद्धिः पुंसो वैनयिकी जिनै. ॥५॥ [अमित. श्रा २।८]
पूर्णं कुहेतुदृष्टान्तैर्न तत्त्वं प्रतिपद्यते।
मण्डलश्चर्मकारस्य भोज्य चर्मलवैरिव ॥६॥ [अमित श्रा. २।९]
अतत्त्व मन्यते तत्त्व विपरीतरुचिर्जन.।
दोषातुरमनास्तिक्तं ज्वरीव मधुरं रसम् ॥७॥ [अमित. श्रा २।१०]

दूसरोंने भी कहा है—जैसे मकड़ी अपने तन्तुजालेका हेतु है, चन्द्रकान्तमणि जलका हेतु है, वड़का पेड प्ररोहोका हेतु है वैसे ही वह ईश्वर सब प्राणियोका हेतु है। इन ३६३ मतोंका उपपादन ग्रन्थकार आशाधरने अपनी ज्ञानदीपिका नाम पंजिकामे अमितगतिकृत पंचसंग्रहके आधारसे किया है।

जो मिथ्यात्वका विनाश करनेमे तत्पर है उसकी प्रशंसा करते हैं—

जो प्रज्वलित मिथ्यात्व मोहरूपी अग्निमे मछलीकी तरह तड़फडाते हुए जीवको उससे निकालकर प्रमाण नय आदिके ज्ञानरूपी अमृतसिंचनके द्वारा शान्ति पहुँचाते है वे ही विद्वान् पूर्णमनोरथ होते हैं ॥११॥

विशेषार्थ—यहाँ मिथ्यात्वको सप्तार्चिकी उपमा दी है। सप्तार्चि अग्निको कहते हैं क्योंकि उसकी सात ज्वालाएँ मानी हैं। इसी तरह मिथ्यात्वके भी कोई आचार्य सात भेद मानते हैं यथा—

ऐकान्तिक, सांशयिक, मूढ, स्वाभाविक, वैनयिक, व्युद्ग्राहिक और विपरीत, ये मिथ्यात्वके सात भेद जानो।

---

१. मतथ्यं मन्यते तथ्य .॥ अमि. श्रा २-१।

अथवा मोह इत्यनेन मिथ्यात्व-सम्यग्मिथ्यात्व-सम्यक्त्वाख्यास्त्रयो दर्शनमोहभेदा अनन्तानुबन्धिक्रोध-मानमायालोभाख्याश्चारित्रमोहभेदा गृह्यन्ते समानामपि सम्यक्त्वघातकत्वादिति सप्तार्चि शब्द' स्मरयति । चेक्लिश्यमानं—भृशं पुनः पुनर्वा उपतप्यमानम् ॥११॥ ३

अथ मिथ्यात्वसम्यक्त्वयो सुखप्रतीत्यर्थं लक्षणमुपसंगृह्णाति—

ग्रासाद्यादीनवे देवे वस्त्रादिग्रन्थिले गुरौ ।
धर्मे हिंसामये तद्धीर्मिथ्यात्वमितरेतरत् ॥१२॥ ६

ग्रासाद्यादीनवे—ग्रासादिभि कवलाहारप्रभृतिभि कार्यैरभिव्यज्यमाना आदीनवा क्षुदादयो दोषा यस्य । तत्र तावत् कवलाहारिणि सितपटाचार्यकल्पिते न रागद्वेषाभिव्यक्तिर्यथा—यो य कवल भुङ्क्ते स स न वीतरागो यथा रथ्यापुरुष , भुङ्क्ते च कवलं स भव नात. केवलीति । कवलाहारो हि स्मरणाभिलापाभ्या भुज्यते ९ भुक्तवता च कण्ठोष्ठप्रमाणतृप्त्वेनारुचितस्त्यज्यते । तथा च अभिलापारुचिभ्यामाह रे प्रवृत्तिनिवृत्तिमत्त्वात्कथ वीतरागत्व तदभावान्नाप्तता । आदिशब्दाद्यथा—

अथवा 'मोह' शब्दसे मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व ये दर्शन मोहनीयके तीन भेद और अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ये चारित्र मोहनीयके चार भेद ग्रहण किये जाते हैं क्योंकि ये सातों सम्यग्दर्शनके घातक होनेसे जीवको कष्ट देते हैं। 'सप्तार्चि' शब्द इनका स्मरण कराता है।

मिथ्यात्व और सम्यक्त्वका सुखपूर्वक बोध करानेके लिए लक्षण कहते हैं—

कवलाहार, स्त्री, शस्त्र और रुद्राक्षकी माला धारण करने आदिसे जिनमें भूख, प्यास, मोह, राग, द्वेष आदि दोषोंका अनुमान किया जाता है ऐसे देवको देव मानना, वस्त्र-दण्ड आदि परिग्रहके धारी गुरुको गुरु मानना और हिंसामय धर्मको धर्म मानना मिथ्यात्व है। तथा निर्दोष देवको देव मानना, निर्ग्रन्थ गुरुको गुरु मानना और अहिंसामयी धर्मको धर्म मानना सम्यक्त्व है ॥१२॥

विशेषार्थ—विभिन्न शास्त्रोंमे सम्यग्दर्शनके भिन्न-भिन्न लक्षण पाये जाते हैं। उन्हें लेकर कभी-कभी ज्ञानियोंमे भी विवाद खड़ा हो जाता है। पण्डितप्रवर टोडरमलजीने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशकके नौवें अधिकारमे उनका समन्वय बड़े सुन्दर ढगसे किया है। यहाँ उसका साराश दिया जाता है—यहाँ सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्मकी श्रद्धाको सम्यक्त्व कहा है। ऐसा ही कथन रत्नकरण्डश्रावकाचारमे है। वहाँ सच्चे धर्मके स्थानमें सच्चा शास्त्र कहा है। किन्तु तत्त्वार्थसूत्रमे तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। अमृतचन्द्राचार्यने पुरुषार्थसिद्ध्युपायमे भी ऐसा ही कहा है—

'विपरीत अभिप्रायसे रहित जीव-अजीव आदि तत्त्वार्थोंका सदा श्रद्धान करना योग्य है। यह श्रद्धान आत्माका स्वरूप है।'[1]

इन्हीं आचार्य अमृतचन्द्रने अपने इसी ग्रन्थमे आत्माके विनिश्चयको सम्यग्दर्शन कहा है—'दर्शनमात्मविनिश्चिति ।' तथा समयसारकलशमे 'एकत्वे नियतस्य' इत्यादि श्लोकमें कहा है कि परद्रव्यसे भिन्न आत्माका अवलोकन ही नियमसे सम्यग्दर्शन है। इन लक्षणोंमें सिद्धान्त भेद नहीं है, दृष्टि भेद है, शैली भेद है। अरहन्तदेव आदिके श्रद्धानसे

---

१. जीवाजीवादीना तत्त्वार्थाना सदैव कर्तव्यम् ।
श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मरूप तत् ॥—पुरुषार्थ. २२ ।

ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्रादिरागाद्यङ्ककलङ्किताः ।
निग्रहानुग्रहपरास्ते देवा. स्युर्न मुक्तये ॥
३ नाट्याट्टहाससगीताद्युपप्लवविसस्थुलाः ।
लम्भयेयु पद शान्तेः प्रपन्नात् प्राणिनः कथम् ॥ [ ]

ग्रथिल —परिग्रहवान् । उक्त च—

६ सर्वाभिलाषिण सर्वभोजिनः सपरिग्रहा ।
अब्रह्मचारिणो मिथ्योपदेशा गुरवो न तु ॥ [ ]

हिंसामये । उक्त च—

९ देवातिथिमन्त्रौषधपित्रादिनिमित्ततोऽपि सपन्ना ।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥ [अमि. श्रा ६।२९]

कुदेव आदिका श्रद्धान दूर होता है इससे गृहीत मिथ्यात्वका अभाव होता है। इसलिए इसे सम्यक्त्वका लक्षण कहा है। किन्तु यह सम्यक्त्वका नियामक लक्षण नहीं है क्योंकि व्यवहारधर्मके धारक मिथ्यादृष्टियोके भी ऐसा श्रद्धान पाया जाता है। अतः अरहन्त देवादिका श्रद्धान होनेपर सम्यक्त्व हो या न हो किन्तु अरहन्तादिका यथार्थ श्रद्धान हुए विना सम्यग्दर्शन कभी भी नहीं हो सकता। सम्यग्दृष्टिको उनका श्रद्धान होता ही है। किन्तु वैसा श्रद्धान मिथ्यादृष्टिको नहीं होता। वह पक्षमोहवश श्रद्धान करता है। क्योंकि उसके तत्त्वार्थ श्रद्धान नहीं है इसलिए उसके अरहन्त आदिका श्रद्धान भी यथार्थ पहचान सहित नहीं है। जिसके तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसके सच्चे अरहन्त आदिके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान होता ही है तथा जिसके अरहन्त आदिके स्वरूपका यथार्थ श्रद्धान होता है उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही है; क्योकि अरिहन्त आदिके स्वरूपको पहचाननेसे जीव आदिकी पहचान होती है अतः इन दोनोको परस्परमे अविनाभावी जानकर भी अरहन्त आदिके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। तथा सप्ततत्त्वोंके श्रद्धानमे अरहन्त आदिका श्रद्धान गर्भित है। क्योकि तत्त्वश्रद्धानमे मोक्षतत्त्व सर्वोत्कृष्ट है। और अरहन्त सिद्ध अवस्था होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है अत. मोक्षतत्त्वमे श्रद्धा होनेपर अरहन्त सिद्धमें श्रद्धा होना अनिवार्य है। तथा मोक्षके कारण संवर निर्जरा हैं। सवर निर्जरा निर्ग्रन्थ वीतरागी मुनियोके ही होती है। अतः संवर निर्जरा तत्त्वोपर श्रद्धा होनेपर संवर निर्जराके धारक मुनियोपर श्रद्धा होगी ही। यही सच्चे गुरुका श्रद्धान हुआ। तथा रागादि रहित भावका नाम अहिंसा है। उसीको उपादेयरूप धर्म माननेसे वही धर्मका श्रद्धान हुआ। इस प्रकार तत्त्वश्रद्धानमे अरहन्त आदिका श्रद्धान भी गर्भित है। अत. सम्यक्त्वसे देव आदिके श्रद्धानका नियम है। इस विषयमे ज्ञातव्य यह है कि तत्त्वश्रद्धानके विना अरहन्तके छियालीस गुणोका यथार्थ ज्ञान नहीं होता क्योंकि जीव-अजीवको जाने विना अरहन्त आदिके आत्माश्रित गुणोको और शरीराश्रित गुणोको भिन्न-भिन्न नहीं जानता। यदि जाने तो आत्माको परद्रव्यसे भिन्न अवश्य माने। इसलिए जिसके जीवादि तत्त्वोंका सच्चा श्रद्धान नहीं है उसके अरहन्त आदिका भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। तथा मोक्ष आदि तत्त्वके श्रद्धान विना अरहन्त आदिका भी माहात्म्य यथार्थ नहीं जानता। लौकिक अतिशयादिसे अरहन्तका, तपश्चरणादिसे गुरुका और परजीवोकी हिंसा आदि न करनेसे धर्मका माहात्म्य जानता है। यह सब तो पराश्रित भाव है। आत्माश्रित भावोसे

अपि च—

वृक्षाञ्छित्वा पशून् हत्वा स्नात्वा रुधिरकर्दमे।।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ।। [ ] ३

तद्धीः—देवगुरुधर्मबुद्धि । इतरा निर्दोषे देवे निर्ग्रन्थे गुरौ अहिंसालक्षणे च धर्मे तद्बुद्धि' ।।१२।।

अथ सम्यक्त्वसामग्रीमाशास्ति—

तद् द्रव्यमव्ययमुदेतु शुभे स देशः संतन्यतां प्रतपतु प्रततं स कालः। ६
भावः स नन्दतु सदा यदनुग्रहेण प्रस्तौति तत्त्वरुचिमाप्तगवी नरस्य ।।१३।।

द्रव्य—जिनदेहतत्प्रतिमादि । देश —समवसरणचैत्यालयादि । काल —जिनजन्माभिषेकनिष्क्रमणादि । भाव —औपशमिकादि । तत्त्वरुचि—तत्त्वं जीवादिवस्तुयाथात्म्यम्। उक्तं च— ९

अरहन्त आदिका श्रद्धान ही यथार्थ श्रद्धान है और वह तत्त्वश्रद्धान होनेपर ही होता है। इसलिए जिसके अरहन्त आदिका सच्चा श्रद्धान होता है उसके तत्त्वश्रद्धान होता ही है। तथा तत्त्वोंमें जीव-अजीवके श्रद्धानका प्रयोजन स्व और परका भिन्न श्रद्धान है। और आस्रव आदिके श्रद्धानका प्रयोजन रागादिका छोड़ना है। सो स्व और परका भिन्न श्रद्धान होनेपर परद्रव्यमें रागादि न करनेका श्रद्धान होता है। इस तरह तत्त्वार्थश्रद्धानका प्रयोजन स्व और परका भिन्न श्रद्धान है और स्व और परके भिन्न श्रद्धानका प्रयोजन है आपको आप जानना अत. आत्मश्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है क्योंकि वही मूलभूत प्रयोजन है। इस तरह भिन्न प्रयोजनोंसे भिन्न लक्षण कहे हैं। वास्तवमें तो जब मिथ्यात्व कर्मका उपशमादि होनेपर सम्यक्त्व होता है वहाँ चारों लक्षण एक साथ पाये जाते हैं। इसलिए सम्यग्दृष्टिके श्रद्धानमें चारों ही लक्षण होते हैं। यहाँ सच्चे देव, सच्चे गुरु और सच्चे धर्मके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है क्योंकि—

जो स्त्री, शस्त्र, रुद्राक्षमाला आदि रागके चिह्नोंसे कलंकयुक्त हैं तथा लोगोंका बुरा-भला करनेमें तत्पर रहते हैं, वे देव मुक्तिके साधन नहीं हो सकते।

तथा—जो सब प्रकारकी वस्तुओंके अभिलाषी हैं, सब कुछ खाते हैं—जिनके भक्ष्य-अभक्ष्यका विचार नहीं है, परिग्रह रखते हैं, ब्रह्मचर्यका पालन नहीं करते, तथा मिथ्या उपदेश करते हैं वे गुरु नहीं हो सकते।

तथा—देव, अतिथि, मन्त्रसिद्धि, औषध और माता-पिताके उद्देश्यसे किये गये श्राद्धके निमित्तसे भी की गयी हिंसा मनुष्यको नरकमें ले जाती है। तब अन्य प्रकारसे की गयी हिंसाका तो कहना ही क्या है?

और भी कहा है—

यदि वृक्षोंको काटनेसे, पशुओंकी हत्या करनेसे और खूनसे भरी हुई कीचड़में स्नान करनेसे स्वर्गमें जाते हैं तो फिर नरकमें क्या करनेसे जाते हैं?

अतः निर्दोष देव, निर्ग्रन्थ गुरु और अहिंसामयी धर्ममें बुद्धि ही सम्यक्त्व है ।।१२।।

आगे सम्यक्त्वकी सामग्री बतलाते हैं—

वह द्रव्य बिना किसी बाधाके अपना कार्य करनेके लिए समर्थ हो, वह देश सदा शुभ कल्याणोंसे परिपूर्ण रहे, वह काल सदा शक्ति सम्पन्न रहे, और वह भाव सदा समृद्ध हो जिनके अनुग्रहसे परापर गुरुओंकी वाणी जीवमें उसी प्रकार, तत्त्व रुचि उत्पन्न करती है जैसे प्रामाणिक पुरुषके द्वारा दी गयी विश्वस्त गौ मनुष्यको दूध प्रदान करती है ।।१३।।

'चेतनोऽचेतनो वार्थो यो यथैव व्यवस्थित. ।
तथैव तस्य यो भावो याथात्म्यं तत्त्वमुच्यते ॥' [तत्त्वानुशा. १११]

३ तस्य रुचि श्रद्धान विपरीताभिनिवेशविविक्तमात्मस्वरूपं न त्विच्छालक्षणं, तस्योपशान्तकपायादिपु मुक्तात्मसु वासंभवात् । आप्तगवो—परापरगुरूणा गीर्वाक् तत्त्वरुचिं प्रस्तौति—प्रक्षरति सुरभिरिव क्षीरम् । नरस्य—मानुषस्यात्मनो वा ॥१३॥

६ अथ परमाप्तलक्षणमाह—

मुक्तोऽष्टादशभिर्दोषैर्युक्तः सार्वज्ञसंपदा ।
शास्ति मुक्तिपथं भव्यान् योऽसावाप्तो जगत्पतिः ॥१४॥

९ दोषै । ते यथा—

क्षुधा तृषा भय द्वेषो रागो मोहश्च चिन्तनम् ।
जरा रुजा च मृत्युश्च स्वेद खेदो मदो रति ॥
१२ विस्मयो जनन निद्रा विषादोऽष्टादश ध्रुवाः ।
त्रिजगत्सर्वभूताना दोपा. साधारणा इमे ॥
एतैर्दोषैर्विनिर्मुक्त सोऽयमाप्तो निरञ्जनः ।—[आप्तस्वरूप १५-१७ ।]

१५ एतेनापायापगमातिशय उक्त । सार्वज्ञ्यसपदा—सार्वज्ञ्ये अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-लक्षणाया जीवन्मुक्तौ, संपत्—समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिविभूतिस्तया । एतेन ज्ञानातिशय पूजातिशयश्चोक्त । शास्तीत्यादि । एतेन वचनातिशय उक्तः । एवमुत्तरत्रापि बोध्यम् ॥१४॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिकी सामग्री है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव । द्रव्य है जिनबिम्ब आदि । क्षेत्र है समवसरण, चैत्यालय आदि । काल है जिन भगवान्‌का जन्म-कल्याण या तपकल्याणक आदिका काल या जीवके संसार परिभ्रमणका काल जब अर्ध-पुद्गल परावर्त शेष रहे तब सम्यग्दर्शन होता है । क्योकि सम्यग्दर्शन होनेपर जीव इससे अधिक काल तक संसारमे भ्रमण नही करता । तथा जब जीव सम्यग्दर्शनके अभिमुख होता है तो उसके अध.करण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण रूप भाव होते हैं । ये ही भाव हैं जिनके बिना सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं होती । इस सब सामग्रीके होनेपर जीवकी तत्त्वमे रुचि होती है । आचार्य परम्परासे चली आती हुई जिनवाणीको सुनकर वस्तुके यथार्थ स्वरूपके प्रति रुचि अर्थात् श्रद्धान होता है । तत्त्वका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

जो चेतन या अचेतन पदार्थ जिस रूपसे स्थित है उसका उसी रूपसे जो भाव है उसे याथात्म्य या तत्त्व कहते है ।

उस तत्त्वकी रुचि अर्थात् विपरीत अभिप्रायरहित श्रद्धान सम्यग्दर्शन है । वह सम्यग्दर्शन आत्माका परिणाम है । रुचिका अर्थ इच्छा भी होता है । किन्तु यहाँ इच्छा अर्थ नहीं लेना चाहिए । इच्छा मोहकी पर्याय है अत. ग्यारहवे आदि गुणस्थानोमे तथा मुक्त जीवोमे इच्छा नहीं होती, किन्तु सम्यग्दर्शन होता है ॥१३॥

आगे परम आप्तका लक्षण कहते हैं—

जो अठारह दोषोसे मुक्त है, और सार्वज्ञ अर्थात् अनन्तज्ञान आदि चतुष्टयरूप जीवन्मुक्तिके होनेपर समवसरण, अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूतिसे युक्त है तथा भव्य जीवोको मोक्षमार्गका उपदेश देता है वह तीनों लोकोंका स्वामी आप्त है ॥१४॥

अथ मुमुक्षून् परमाप्तसेवाया व्यापारयति—

यो जन्मान्तरतत्त्वभावनभुवा बोधेन बुद्ध्वा स्वयं,
श्रेयोमार्गमपास्य घातिदुरितं साक्षादशेषं विदन् । ३
सद्यस्तीर्थंकरत्वपक्त्रिमगिरा कामं निरीहो जगत्,
तत्त्वं शास्ति शिवार्थिभिः स भगवानाप्तोत्तम. सेव्यताम् ॥१५॥

घातिदुरित—मोहनीय-ज्ञानावरण-दर्शनावरणान्तरायाख्यकर्मचतुष्टयम् । साक्षादशेष विदन् । मीमा- ६
सकं प्रत्येतत्साधन यथा—कश्चित्पुरुष सकलपदार्थसाक्षात्कारी तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिवन्धप्रत्यय-
त्वात् । यद्यद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिवन्धप्रत्यय तत्तत्साक्षात्कारि, यथापगततिमिर लोचन रूप-
साक्षात्कारि । तद्ग्रहणस्वभावत्वे सति प्रक्षीणप्रतिवन्धप्रत्ययश्च विवादापन्न. कश्चित्' इति सकलपदार्थगहण- ९
स्वभावत्व नात्मनोऽसिद्ध चोदनात् (—त.) सकलपदार्थपरिज्ञानस्यान्यथायोगादन्धस्येवादर्शाद् रूपप्रतीति-
रिति । व्याप्तिज्ञानोत्पत्तिवलाच्चाशेषविषयज्ञानसभव , केवल वैशद्ये विवाद । तत्र दोषावरणापगम एव कारण

विशेषार्थ—भूख, प्यास, भय, द्वेष, राग, मोह, चिन्ता, बुढापा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, अहंकार, रति, अचरज, जन्म, निद्रा और विषाद ये अठारह दोष तीनो लोकोके सब प्राणियोंमें पाये जाते हैं। इन दोषोसे जो छूट गया है वही निर्दोष सच्चा आप्त है। और जिनमे ये दोष सदा वर्तमान रहते है उन्हें संसारी कहते हैं।

तीनों लोकोंके सब संसारी जीवोंमे ये अठारह दोष पाये जाते है। जो इन अठारह दोषोंको नष्ट करके उनसे मुक्त हो जाता है उसे जीवन्मुक्त कहते है। इन अठारह दोषोंके हटनेपर उस जीवन्मुक्त परमात्मामे अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्यरूप अनन्तचतुष्टय प्रकट होते हैं और वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है। तब उसकी उपदेश-सभा लगती है उसे समवसरण कहते हैं क्योकि आत्मकल्याणके इच्छुक सभी जीव उसमें जा सकते हैं। समवसरणकी विभूतिका वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्तिके चतुर्थ अधिकारसे जान लेना चाहिए। तब आप्तकी दिव्यध्वनि खिरती है। इस तरह आप्तमे चार अतिशय होते है। प्रथम अपायका चले जाने रूप अतिशय, दूसरा ज्ञानातिशय, तीसरा पूजातिशय और चौथा वचनातिशय। अतिशयका अर्थ होता है पराकाष्ठा या चरम सीमा। सब दोषोंका सदाके लिए हट जाना अपायका चले जाने रूप प्रथम अतिशय है। सब अपाय अर्थात् बुराई की जड दोष हैं। उनके हटे बिना आगेके अतिशय नहीं हो सकते। दोषोंके हटनेपर अनन्तज्ञान प्रकट होनेसे सर्वज्ञ होते है यह ज्ञानातिशय है। सर्वज्ञ होनेपर सब उनकी पूजा करते है यह पूजातिशय है। इसीसे उन्हें 'अर्हत्' कहा जाता है। तब उनकी दिव्यध्वनि खिरती है जिसे समवसरणमें उपस्थित सब जीव अपनी-अपनी भाषामें समझ लेते हैं। इस तरह सच्चे आप्तके तीन लक्षण हैं—वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशिता ॥१४॥

आगे मुमुक्षुओको सच्चे आप्तकी सेवा करनेके लिए प्रेरित करते हैं—

जो पूर्वजन्ममे किये गये तत्त्वाभ्याससे उत्पन्न हुए ज्ञानके द्वारा परोपदेशके बिना स्वय मोक्षमार्गको जानकर मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मरूप घातिया कर्मोंको नष्ट करके समस्त लोकालोकवर्ती पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है और उसी क्षणमें उदयमे आये तीर्थंकर नामक पुण्य कर्मके उदयसे खिरनेवाली दिव्यध्वनिके द्वारा अत्यन्त निष्कामभावसे भव्यजीवोंको जीवादि तत्त्वका उपदेश देता है, मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोको उस भगवान् परम आप्तकी आराधना करनी चाहिए ॥१५॥

रजोनीहाराद्यावृतार्थज्ञानस्येव तदपगम इति । तत्साधन यथा, दोपावरणे क्वचिन्निर्मूल प्रलयमुपव्रजत· प्रकृष्य-माणहानित्वात् । यस्य प्रकृष्यमाणहानि स क्वचिन्निर्मूलं प्रलयमुपव्रजति, यथा अग्निपुटपाकापसारितकिट्टका-लिकाद्यन्तरङ्गबहिरङ्गमलद्वयात्मनि हेम्नि मल इति, निर्ह्रासातिशयवती च दोपावरणे इति । सद्य इत्यादि—केवलज्ञानोत्पत्त्यनन्तरभाविना तीर्थकरत्वाख्यनामकर्मविशेषपाकेन निर्वृत्तया वाचा । कामं—यथेष्टम् । जगता । निरीह·—शासनतत्फलवाञ्छारहित· तन्निमित्तमोहप्रक्षयात् । भगवान्, इन्द्रादीना पूज्य ॥१५॥

विशेषार्थ—आप्त कैसे बनता है यह यहाँ स्पष्ट किया है। पूर्वजन्ममें तत्त्वाभ्यास-पूर्वक सम्यक्त्वको प्राप्त करके सम्यग्दृष्टि कर्मभूमिया मनुष्य ही केवली या श्रुतकेवलीके पादमूलमें तीर्थंकर नामक कर्मका बन्ध करता है। कहा है[1]—

प्रथमोपशम सम्यक्त्वमें या द्वितीयोपशम, क्षायिक या क्षायोपशमिक सम्यक्त्वमें स्थित कर्मभूमिज मनुष्य अविरत सम्यग्दृष्टिसे लेकर चार गुणस्थानोंमें केवली या श्रुतकेवलीके निकट तीर्थंकर नामक कर्मके बन्धको प्रारम्भ करता है।

उसके बाद मरण करके देवगतिमें जाता है। यदि पहले नरककी आयुबन्ध कर लेता है तो नरकमें जाता है। वहाँसे आकर तीर्थंकर होता है। तब स्वयं ही मोक्षमार्गको जानकर दीक्षा लेकर तपस्याके द्वारा चार घातिकर्मोंको नष्ट करके सर्वज्ञ हो जाता है। जिस क्षणमें सर्वज्ञ होता है उसी क्षणमें पहले बाँधा हुआ तीर्थंकर नामक कर्म उदयमें आता है इससे पहले उसका उदय नहीं होता। उसी कर्मके उदयमें आते ही समवसरण अष्ट महाप्रातिहार्य आदि विभूति प्राप्त होती है और उनकी वाणी खिरती है। पहले लिख आये हैं कि वेदवादी मीमासक पुरुपकी सर्वज्ञता स्वीकार नहीं करते, वे उसका खण्डन करते हैं। उनके सामने जैनाचार्योंने जिन युक्तियोंसे पुरुपकी सर्वज्ञता सिद्ध की है उसका थोडा-सा परिचय यहाँ दिया जाता है—

कोई पुरुप समस्त पदार्थोंको प्रत्यक्ष जानता है, क्योंकि समस्त पदार्थोंको जाननेका उसका स्वभाव होनेके साथ ही, जो उसके जाननेमें रुकावट पैदा करनेवाले कारण हैं वे नष्ट हो जाते हैं। जो जिसके ग्रहण करनेका स्वभाव रखते हुए रुकावट पैदा करनेवाले कारण दूर हो जाते हैं वह उसे अवश्य जानता है, जैसे रोगसे रहित आँख रूपको जानती है। कोई एक विवादग्रस्त व्यक्ति समस्त पदार्थोंको ग्रहण करनेका स्वभाववाला होनेके साथ ही रुकावट पैदा करनेवाले कारणोको नष्ट कर देता है। इस अनुमानसे पुरुपविशेपकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। शायद मीमांसक कहे कि जीवका समस्त पदार्थोंको ग्रहण करने-का स्वभाव असिद्ध है, किन्तु उसका ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योकि वह मानता है कि वेदसे पुरुपको समस्त पदार्थोका ज्ञान हो सकता है। यदि पुरुपका वैसा स्वभाव न हो तो वेदसे पुरुपको सब पदार्थोंका ज्ञान नहीं हो सकता, जैसे अन्धेको दर्पणके देखनेसे अपना मुँह दिखाई नहीं देता। तथा व्याप्तिज्ञानके बलसे भी यह सिद्ध होता है कि पुरुप सब पदार्थोंको जान सकता है। जब कोई व्यक्ति धूमके होनेपर आग देखता है और आगके अभावमें धुआँ नहीं देखता तब वह नियम बनाता है कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ-वहाँ आग होती है और जहाँ आग नहीं होती वहाँ धुआँ भी नहीं होता। इसीको व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति सर्वदेश और सर्वकालको लेकर होती है। अत व्याप्तिका निर्माता एक

१ पढमुवसमिये सम्मे सेसतिये अविरदादि चत्तारि ।
तित्थयरबंधपारंभया णरा केवलिदुगंते ॥—गो कर्म , गा ९३ ।

अथ ऐदंयुगीनानां तथाविधाप्तनिर्णयः कुतः स्यादित्यारेकायामिदमाह—

शिष्टानुशिष्टात् सोऽत्यक्षोऽप्यागमाद्युक्तिसंगमात् ।
पूर्वापराविरुद्धाच्च वेद्यतेऽद्यतनैरपि ॥१६॥

शिष्टानुशिष्टात्—शिष्टा, आप्तोपदेशसंपादितशिक्षाविशेषाः स्वामिसमन्तभद्रादयस्तैरनुशिष्टाद् गुरुपर्वक्रमेणोपदिष्टात् । आगमात्—

'आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥' [रत्न० श्रा० ५]

इत्यादिकात् । युक्तिसंगमात्—युक्त्या संयुज्यमानात् । युक्तिश्चात्र—आप्तागमः प्रमाणं स्याद् यथावद्वस्तुसूचकत्वादित्यादिका ।

पूर्वापराविरुद्धात्—'न हिंस्यात्सर्वभूतानि' इति 'यज्ञार्थं पशवः स्रष्टाः स्वयमेव स्वयंभुवा' इत्यादिवत् (न) पूर्वापरविरोधसहितात् । अद्यतनैः—माप्रतिकैः श्रेयोर्थिभिः ॥१६॥

तरहसे सर्वदेश और सर्वकालका ज्ञाता होता है तभी तो वह इस प्रकारकी व्याप्ति बनाता है। इस व्याप्तिज्ञानसे सिद्ध है कि पुरुष सबको जान सकता है। केवल स्पष्ट रूपसे प्रत्यक्ष जाननेमें विवाद रहता है। सो उसमें दोष और आवरणका हट जाना ही कारण है। जैसे धूल, बर्फ आदिसे ढके हुए पदार्थके ज्ञानमें धूल, बर्फ आदिका हट जाना ही कारण है। दोष और आवरणके दूर हो जानेका साधन इस प्रकार किया जाता है—किसी व्यक्ति विशेषमें दोष और आवरण जड़मूलसे नष्ट हो जाते हैं क्योंकि उनकी हानि प्रकृष्यमाण है—बढ़ती जाती है। जिसकी हानि बढ़ती जाती है वह कहीं जड़मूलसे नष्ट हो जाता है जैसे अग्निमें तपानेसे सोनेमें-से कीट आदि अन्तरंग मल और कालिमा आदि बहिरंग मल नष्ट हो जाते हैं। दोष और आवरण भी क्षीण होते-होते एकदम क्षीण हो जाते हैं इस प्रकार पुरुषकी सर्वज्ञता सिद्ध होती है। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

किसी व्यक्तिमें दोष और आवरणकी हानि पूरी तरहसे होती है क्योंकि वह तरतम भावसे घटती हुई देखी जाती है। जैसे स्वर्णपाषाणमें बाह्य और अभ्यन्तर मलका क्षय हो जाता है। [विशेषके लिए देखो—अष्टसहस्री टीका] ॥१५॥

इसपर शंका होती है कि आजके युगके मनुष्य इस प्रकारके आप्तका निर्णय कैसे करें ? उसका समाधान करते हैं—

यद्यपि आप्तता अतीन्द्रिय है चक्षु आदिके द्वारा देखी नहीं जा सकती, फिर भी आप्तके उपदेशसे जिन्होंने विशिष्ट शिक्षा प्राप्त की है ऐसे स्वामी समन्तभद्र जैसे शिष्ट पुरुषोंके द्वारा गुरु परम्परासे कहे गये, और युक्तिपूर्ण तथा पूर्वापर अविरुद्ध आगमसे आजकलके मनुष्य भी परम आप्तको जान सकते हैं ॥१६॥

विशेषार्थ—अपने कल्याणके इच्छुक आजके भी मनुष्य आगमसे आप्तका निर्णय कर सकते हैं। आगमके तीन विशेषण दिये हैं। प्रथम तो वह आगम ऐसा होना चाहिए जो गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेशके आधारपर समन्तभद्र जैसे आचार्योंके द्वारा रचा हो इनके बिना आप्तता नहीं हो सकती।

---

१. दोषावरणयोर्हानिर्निःशेषास्त्यतिशायनात् ।
क्वचिद् यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥—आप्तमी., श्लो. ४ ।

यतो वचसो दुष्टत्वादुष्टत्वे तथाविधाश्रयवशाद् भवतस्ततः 'शिष्टानुशिष्टात्' इत्युक्तमत एवेदमाह—

विशिष्टमपि दुष्टं स्याद् वचो दुष्टाशयाश्रयम् ।
घनाम्बुवत्तदेवोच्चैर्वन्द्यं स्यात्तीर्थगं पुन. ॥१७॥

३ आशय —चित्तमाधारश्च । तीर्थगं—अदुष्टचित्त पुमान् पवित्रदेशश्च तीर्थं तदाश्रयम् । ॥१७॥

अथ वाक्यस्य यत्र येन प्रामाण्यं स्यात्तत्र तेन तत्कथयति—

दृष्टेऽर्थेऽध्यक्षतो वाक्यमनुमेयेऽनुमानतः ।
६ **पूर्वापराविरोधेन परोक्षे च प्रमाण्यताम् ॥१८॥**

दृष्टे—प्रत्यक्षप्रमाणग्रहणयोग्ये । प्रमाण्यतां—प्रमाणं क्रियताम् ॥१८॥

दूसरा विशेषण दिया है कि वह आगम युक्ति संगत हो। जैसे आप्तस्वरूपके प्रथम श्लोकमे ही कहा[1] है—

जैसाका तैसा वस्तुस्वरूपका सूचक होनेसे आप्तके द्वारा कहा गया आगम प्रमाण होता है। अत जो यथावद् वस्तुस्वरूपका सूचक है वही आगम प्रमाण है। तीसरा विशेषण है, उसमे पूर्वापर अविरुद्ध कथन होना चाहिए। जैसे स्मृतिमे कहा है 'न हिंस्यात् सर्व-भूतानि'—सब प्राणियोंकी हिंसा नहीं करना चाहिए। और उसीमे कहा है[2]—

"ब्रह्माजीने स्वयं यज्ञके लिए ही पशुओंकी सृष्टि की है।" इस प्रकारके पूर्वापर विरुद्ध वचन बतलाते है कि उनका रचयिता कैसा व्यक्ति होगा। दोपसहित या दोषरहित वक्ताके आश्रयसे ही वचनमे दोप या निर्दोपपना आता है। अत. आगमसे वक्ताकी पहचान हो जाती है ॥१६॥

आगे उसीको कहते हैं—

जैसे गंगाजलकी वर्पा करनेवाले मेघका जल पथ्य होते हुए भी दूपित स्थानपर गिरकर अपथ्य हो जाता है वैसे ही आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन भी दर्शनमोहके उदयसे युक्त पुरुपका आश्रय पाकर श्रद्धाके योग्य नहीं रहता। तथा जैसे मेघका जल पवित्र देशमें पवित्र हो जाता है वैसे ही आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन सम्यग्दृष्टि पुरुपका आश्रय पाकर अत्यन्त पूज्य हो जाता है ॥१७॥

विशेपार्थ—ऊपर कहा था कि वचनकी दुष्टता और अदुष्टता वचनके आश्रयभूत पुरुष-की दुष्टता और अदुष्टतापर निर्भर है। यदि पुरुप कलुपित हृदय होता है तो अच्छा वचन भी कलुपित हो जाता है। अतः आप्तके द्वारा उपदिष्ट वचन भी मिथ्यादृष्टिकी व्याख्याके दोपसे दूपित हो जाता है। अत. आगमके प्रामाण्यका भी निर्णय करना चाहिए। आगम या वचनके प्रामाण्यका निर्णय विभिन्न प्रकारसे किया जाता है ॥१७॥

जहाँ जिस प्रकारसे वाक्यकी प्रमाणता हो वहाँ उसी प्रकारसे उसे करना चाहिए। ऐसा कहते हैं—

प्रत्यक्ष प्रमाणसे ग्रहण योग्य वस्तुके विपयमे वाक्यको प्रत्यक्षसे प्रमाण मानना चाहिए। अनुमान प्रमाणसे ग्रहण योग्य वस्तुके विपयमे वाक्यको अनुमानसे प्रमाण मानना चाहिए। और परोक्ष वस्तुके विपयमे वाक्यको पूर्वापर अविरोधसे प्रमाण मानना चाहिए ॥१८॥

---

१ 'आप्तागम प्रमाण स्याद्यथावद्वस्तुसूचक.'—आप्तस्वरूप, १ श्लो ।
२ 'यज्ञार्थं पशव सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा ।'—मनुस्मृति, ५।३९।

अथ आप्तानाप्तोक्तवाक्ययोर्लक्षणमाह—

एकवाक्यतया विष्वग्वर्तते साऽर्हती श्रुतिः ।
क्वचिदिव केनचिद् धूर्ता वर्तन्ते वाक्क्रियादिना ॥१९॥

एकवाक्यतया—एकादृशार्थप्रतिपादकत्वेन । विष्वक्—सिद्धान्ते तर्के काव्यादौ च । क्वचित्— ३
नियतविषये । धूर्ता —प्रतारणपरा । वर्तन्ते—जीवन्ति ॥१९॥

अथ जिनवाक्यहेतुप्रतिघातशङ्का प्रत्याचष्टे—

जिनोक्ते वा कुतो हेतु बाधगन्धोऽपि शंक्यते । ६
रागादिना विना को हि करोति वितथं वचः ॥२०॥

जिन —रागादीना जेता । यत्र तु रागादय स्युस्तत्र वचसो वैतथ्य सभवत्येव । तदुक्तम्—

विशेषार्थ—परस्पर सापेक्ष पदोंके निरपेक्ष समुदायको वाक्य कहते है। यदि वाक्यका विषय प्रत्यक्षगम्य हो तो प्रत्यक्षसे जानकर उस कथनको प्रमाण मानना चाहिए। यदि वाक्यंका विषय अनुमान प्रमाणके द्वारा ग्रहण करनेके योग्य हो तो साधनके द्वारा साध्यको जानकर उसे प्रमाण मानना चाहिए। यदि वह परोक्ष हो, हम लोगोके प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणसे ग्रहणके अयोग्य अतीन्द्रिय हो तो उस कथनको आगे पीछे कोई विरोध कथनमे न हो तो प्रमाण मानना चाहिए ॥१८॥

आगे आप्त और अनाप्तके द्वारा कहे गये वाक्योंके लक्षण कहते है—

जो सिद्धान्त, तर्क, काव्य आदि सब विषयोंमे एक रूपसे अर्थका कथन करता है वह अर्हन्त देवके द्वारा उपदिष्ट प्रवचन है। क्योंकि दूसरोंको धोखा देनेमें तत्पर धूर्त लोग जिन वचनके किसी नियत विषयमें किसी नियत वचन, चेष्टा और वेष आदिके द्वारा प्रवृत्त होते है ॥१९॥

विशेपार्थ—ग्रन्थकार पं॰ आशाधरजीने विक्रम संवत् १३०० मे इसकी टीकाको पूर्ण किया था। उस समय तक भट्टारक परम्परा प्रवर्तित हो चुकी थी। उन्होंने किन धूर्तोंकी ओर संकेत किया है यह उन्होंने स्पष्ट नही किया। फिर भी उनके इस कथनसे ऐसा लगता है कि जिनवचनोंमें भी विपर्यास किया गया है। भट्टारक युगमे कुछ इस प्रकारके ग्रन्थ बनाये गये हैं जो तथोक्त धूर्तोंकी कृतियाँ हैं। सच्चे जिनवचन वे ही हैं जो सर्वत्र एकरूपताको लिये हुए होते है चाहे सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थ हो, या तर्क-विषयक ग्रन्थ हों या कथा काव्य हों उनमे जिनवचनोंकी एकरूपता होती है। यही उनकी प्रामाणिकताका सूचक है। वीतरागताका पोषण और समर्थन ही जिनवचनोंकी एकरूपता है। यदि किसी आचार्य-प्रणीत पुराणादिमे प्रसंगवश रागवर्द्धक वर्णन होता भी है तो आगे ही रागकी निस्सारता भी बतला दी जाती है। यदि कही पापसे छुडानेके लिए पुण्य-संचयकी प्रेरणा की गयी है तो आगे पुण्यसे भी बचनेकी प्रेरणा मिलती है। अतः प्रत्येक कथनका पौर्वापर्य देखकर ही निष्कर्ष निकालना उचित होता है ॥१९॥

आप्तोक्त वचनमें युक्तिसे बाधा आनेकी आशंकाका परिहार करते है—

अथवा जिनभगवान्‌के द्वारा कहे गये वचनमें युक्तिसे बाधा आनेकी गन्धकी भी शंका क्यो की जाती है? क्योंकि राग, द्वेष और मोहके बिना मिथ्या वचन कोन कहता है अर्थात् कोई नही कहता ॥२०॥

'रागाद्वा द्वेषाद्वा मोहाद्वा वाक्यमुच्यते वितथम् ।
यस्य तु नैते दोषास्तस्यानृतकारण नास्ति ॥' [आप्तस्वरूप ४]

३ गन्ध.—लेश ॥२०॥

अथ रागाद्युपहतानामाप्तता प्रतिक्षिपति—

ये रागादिजिता. किंचिज्जानन्ति जनयन्त्यपि ।
६ संसारवासना तेऽपि यद्याप्ता किं ठकै' कृतम् ॥२१॥

किं ठकै कृत येन तेऽप्याप्तत्वेन न प्रतिपद्यन्त इति सामर्थ्याद् गम्यते ॥२१॥

अथ आप्ताभासानामुपेक्षणीयतोपायमुपदिशति—

विशेषार्थ—जो राग आदिको जीत लेता है उसे जिन कहते है। अत. रागादिके जेता जिनके वचनोंमे मिथ्यापना होना सम्भव नहीं है। ऐसी दशामे उनके वचनोमे युक्तिसे वाधा आ नहीं सकती। हाँ, जहाँ रागादि होते है वहाँ वचन मिथ्या होते ही हैं। कहा भी है—

'राग से, अथवा द्वेप से, अथवा मोहसे झूठा वचन कहा जाता है। जिसमें ये दोप नहीं हैं उसके झूठ वोलनेका कोई कारण नहीं है।'

जो राग आदिसे ग्रस्त हैं उनकी आप्तताका निपेध करते हैं—

जो राग-द्वेष-मोहसे अभिभूत होते हुए थोड़ा-सा ज्ञान रखते है तथा संसारकी वासनाको—स्त्री-पुत्रादिकी चाहके संस्कारको पैदा करते हैं, वे भी यदि यथार्थ वक्ता माने जाते हैं तो ठगोंने ही क्या अपराध किया है, उन्हें भी आप्त मानना चाहिए ॥२१॥

विशेपार्थ—ग्रन्थकारने अपनी टीकामें ठकका अर्थ खारपट किया है। आचार्य अमृतचन्द्रने इन खारपटिकोंका मत इस प्रकार कहा है—

'थोड़े-से धनके लोभसे शिष्योंमें विश्वास पैदा करनेके लिए दिखलानेवाले खारपटिकोंके तत्काल घड़ेमे वन्द चिडियाके मोक्षकी तरह मोक्षका श्रद्धान नहीं करना चाहिए।' इस कथन-से ऐसा ज्ञात होता है कि खारपटिक लोग थोड़े-से भी धनके लोभसे मोक्षकी आशा दिलाकर उसे मार डालते थे। और वे अपने शिष्योमे विश्वास उत्पन्न करनेके लिए अपने इस मोक्षका प्रदर्शन भी करते थे। जैसे घड़े मे चिडिया वन्द हैं वैसे ही शरीरमें आत्मा वन्द है। और जैसे घड़ेको फोडनेपर चिड़िया मुक्त हो जाती है वैसे ही शरीरको नष्ट कर देनेपर आत्मा मुक्त हो जाती हैं। ऐसा उनका मत प्रतीत होता है। ऐसे ठगोंसे सावधान रहना चाहिए। धर्ममार्गमे भी ठगीका व्यापार चलता है ॥२१॥

आप्ताभासोकी उपेक्षा करनेका उपदेश देते है—

---

१ धनलवपिपासिताना विनेयविश्वासनाय दर्शयताम् ।
झटिति घटचटकमोक्ष श्रद्धेय नैव खारपटिकानाम् ॥
—पुरुपार्थ , श्लो. ८८ ।

योऽर्धाङ्गे शूलपाणिः कलयति दयितां मातृहा योऽत्ति मांसं,
पुंस्ख्यातीक्षाबलाद्यो भजति भवरसं ब्रह्मवित्तत्परो यः।
यश्च स्वर्गादिकाम. स्यति पशुमकृपो भ्रातृजायादिभाज,
कानीनाद्याश्च सिद्धा य इह तदवधिप्रेक्षया ते ह्युपेक्ष्याः ॥२२॥ ३

शूलस्त्रीयोगाद् द्वेपरागसप्रत्ययेन शम्भोरासत्वनिपेध.। मातृहा इत्यादि—प्रसूतिकाले निजजननीजठर-विदारणात्सुगतस्यातिनिर्दयत्वम्। ६

'मासस्य मरण नास्ति नास्ति मासस्य वेदना।
वेदनामरणाभावात् को दोपो मासभक्षणे ॥' [ ]

इति युक्तिवलाच्च मासभोजनेन राग सिद्धयन्नासतां व्याहन्ति। पुमित्यादि—पुमान्—पुरुप, ९ स्याति'—प्रकृति, तयोरीक्षा—ज्ञान तदवष्टम्भाद्विपयसुखसेविन सांख्यस्य सुतरामा[मना-]प्तत्वम्। तथा च तन्मतम्—

'हँस पिव लस खाद त्व विपयानुपजीव मा कृथा. शङ्काम्। १२
यदि विदित कपिलमतं प्राप्स्यसि सौख्य च मोक्षं च ॥' [ ]

तथा—

'पँञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र तत्राश्रमे रत'। १५
शिखी मुण्डी जटी वापि मुच्यते नात्र सशय ॥' [ ]

जो महादेव अपने शरीरके आधे भागमे अपनी पत्नी पार्वतीको और हाथमे त्रिशूल धारण करते हैं, जो बुद्ध मास खाता है और जिसने जन्मसमय अपनी माताका घात किया, जो सांख्य प्रकृति और पुरुपके ज्ञानके वलसे विपयसुखका सेवन करता है, जो वेदान्ती ब्रह्मको जानते हुए विपयसुखमे मग्न रहता है, जो याज्ञिक स्वर्ग आदिकी इच्छासे निर्दय होकर पशुघात करता है, तथा जो व्यास वगैरह भाईकी पत्नी आदिका सेवन करनेवाले प्रसिद्ध हैं उन सवके शास्त्रोंको पढकर तथा उनका विचार करके उनकी उपेक्षा करनी चाहिए, अर्थात् न उनसे राग करना चाहिए और न द्वेप करना चाहिए ॥२२॥

विशेपार्थ—महादेव त्रिशूल और पार्वतीको धारण करते है अत द्वेप और रागसे सम्वद्ध होनेके कारण उनके आप्त होनेका निपेध किया है। बुद्धने माताकी योनिसे जन्म नहीं लिया था क्योंकि योनि गन्दी होती है अतः माताका उदर विदारण करके जन्मे थे इसलिए बुद्ध अतिनिर्दय प्रमाणित होते हैं। तथा उनका कहना है—

मासका न तो मरण होता है और न मांसको सुख-दुःखका अनुभव होता है। अतः वेदना और मरणके अभावमें मांस भक्षणमे कोई दोप नहीं है।

इस युक्तिके वलसे उनका स्वयं मरे पशुका मास भोजनमें राग सिद्ध होता है अतः वे भी आप्त नहीं हो सकते। सांख्यका मत है—

'हँस, खा, पी, नाच-कूद, विपयोंको भोग। किसी प्रकारकी शंका मत कर। यदि तू कपिलके मतको जानता है तो तुझे मोक्ष और सुख प्राप्त अवश्य होगा।'

तथा—

---

१ हस पिव लल मोद नित्यं विपयानुपभुञ्ज कुरु च मा शङ्काम्।
यदि विदित ते कपिलमत तत्प्राप्स्यसे मोक्षसौख्य च ॥—सा का माठर पृ ५३।

२. तथा च उक्तं पञ्चशिखेन प्रमाणवाक्यम्—पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो.... .। तत्त्ववा०, पृ ६१

ब्रह्मेत्यादि—ब्रह्म आनन्दैकरूपं तत्त्व वेत्ति अथ च तत्परो भवरसभजनप्रवानो वेदान्ती कथमास. परीक्षकैर्लक्ष्यते । तथा च केनचित्त प्रत्फलञ्च (?)

३ 'संध्यावन्दनवेलाया मुक्तोऽहमिति मन्यसे ।
खण्डलड्डुकवेलायां दण्डमादाय धावसि ॥' [ ]

यज्वेत्यादि—'श्वेतमजमालभेत स्वर्गकाम:' इत्याद्यपौरुपेयवाक्यग्रहावेशात् विपयतृष्णातरलितमनस'

६ पशुहिंसानन्दसान्द्रस्य याज्ञिकस्य क सुधीरासतां श्रद्दधीत । तथा च मुरारिसूक्त विश्वामित्राश्रमवर्णनप्रस्तावे—

'तत्तादृक् तृणपूलकोपनयनक्लेशाच्चिरद्वेषिभि-
र्मेध्या वत्सतरी विहस्य वटुभि' सोल्लुण्ठमालभ्यते ।
९ अप्येप प्रतनूभवत्यतिथिभिः सोच्छ्वासनासापुटै-
रापीतो मधुपर्कपाकसुरभिः प्राग्वशजन्मानिल. ॥'

[अनर्घराघव, अक २, श्लो १४]

१२ स्यति—हिनस्ति । कानीनाद्या.—कन्याया अपत्य कानीनो व्यासमुनि. । स किल भ्रातुर्जायाव्यवायपरवान् प्रसिद्ध. । तथा च पठन्ति—

'कानीनस्य मुने' स्वबान्धववधूवैधव्यविध्वसिनो
१५ नप्तार. किल गोलकस्य तनया. कुण्डा. स्वयं पाण्डवा. ।
ते पञ्चापि समानजानय इति ख्यातास्तदुत्कीर्तनात्
पुण्यं स्वस्त्ययन भवेद्दिनदिने धर्मस्य सूक्ष्मा गतिः ॥' [ ]

'जो साख्यके पचीस तत्त्वोंको जानता है वह किसी भी आश्रममें आसक्त हो, चोटी रखता हो, या सिर मुँड़ाता हो, या जटाजूट रखता हो, अवश्य ही मुक्त हो जाता है इसमें संशय नहीं है ।'

वेदान्तीके प्रति किसीने कहा है—

'हे वेदान्ती ! सन्ध्यावन्दनके समय तो तू अपनेको मुक्त मानता है (अत. सन्ध्यावन्दन नहीं करता)। किन्तु खाँडके लड्डूके समय दण्ड लेकर दौड़ता है (कहीं लड्डू बाँटे जाते हो तो सबसे पहले पहुँचता है) ।'

श्रुतिमे कहा है—'श्वेतमजमालभेत स्वर्गकाम:'। स्वर्गके इच्छुकको सफेद बकरेकी वलि करनी चाहिए। यह अपौरुपेय वेदवाक्य है । इस प्रकारके आग्रहके वश होकर याज्ञिक पशुहिंसामे आनन्द मानता है। उसे कौन बुद्धिमान् आप्त मान सकता है। मुरारि मिश्रने विश्वामित्रके आश्रमका वर्णन करते हुए कहा है—

'मुनिवालकोंको गायोंके लिए घासके गट्ठर लानेमें जो कष्ट होता उसके कारण वे गायोसे चिरकालसे द्वेप रखते। अत. अतिथिके स्वागतके लिए दो वर्षकी पवित्र गायको हँसकर वड़े उल्लासके साथ वे मारते। उससे मधुपर्क वनता। हवनके स्थानसे पूरवकी ओर बने घरसे निकली हुई वायु को, जो मधुपर्कके पाकसे सुगन्धित होती, अतिथिगण दीर्घ उच्छ्वासके साथ अपनी नाकसे पीते थे—सूँघते थे ।'

व्यास मुनिने अपने भाईकी पत्नीके साथ सम्भोग किया यह प्रसिद्ध है। कहा है—

'व्यासजीका जन्म कन्यासे हुआ था इसलिए उन्हें कानीन कहते हैं। उन्होने अपने भाईकी वहूके वैधव्यका विध्वंस किया था अर्थात् उसके साथ सम्भोग करके सन्तान उत्पन्न

तथा वसिष्ठोऽक्षमालाख्या चण्डालकन्या परिणीयोपभुञ्जानो महर्षिरूढिमूढवान् । एवमन्येऽपि बहवस्तच्छास्त्रदृष्टया प्रतीयन्ते । यन्मनु —

'अक्षमाला वशिष्ठेन प्रकृष्टाधमयोनिजा ।
शार्ङ्गी च मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥' [ ] ३

'एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नवकृष्टप्रसूतय. ।
उत्कर्षं योपित. प्राप्ता. स्वै स्वैर्भर्तृगुणै शुभैः ॥' [मनु ९।२३-२४] ६

तत्कृते च धर्मोपदेशक. प्रेक्षावता समाश्वास । तथा च पठन्ति—

ज्ञानवान्मृग्यते कश्चित्तदुक्तप्रतिपत्तये ।
अज्ञोपदेशकरणे विप्रलम्भनशङ्किभि. ॥ [प्रमाणवा १।३२] ९

अवधि.—शास्त्रम् ॥२२॥

अथ युक्त्यनुगृहीतपरमागमाधिगतपदार्थव्यवहारपरस्य मिथ्यात्वविजयमाविष्करोति—

यो युक्त्यानुगृहीतयाप्तवचनज्ञप्त्यात्मनि स्फारिते- १२
ऽर्थेषु प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मात्मसु ।
नीत्याऽऽक्षिप्तविपक्षया तदविनाभूतान्यधर्मोत्थया
धर्मं कस्यचिदर्पितं व्यवहरत्याहन्ति सोऽन्तस्तमः ॥२३॥ १५

की थी। उनके पौत्र पाण्डव थे। पाण्डव स्वयं जारज थे। उनकी उत्पत्ति राजा पाण्डुसे न होकर देवोंसे हुई थी। फिर भी देवोके वरदानसे वे पाँचों समान जन्मवाले कहे गये। दिनों-दिन उनका कल्याण हुआ। ठीक ही है, धर्मकी गति सूक्ष्म है। उसका समझमे आना कठिन है।' वशिष्ठने अक्षमाला नामक चण्डालकी कन्यासे विवाह करके उसका उपभोग किया और महर्षि कहलाये। इसी तरह उनके शास्त्रके अनुसार और भी बहुत-से हुए। मनु महाराजने कहा है—

'अत्यन्त नीच योनिमें उत्पन्न हुई अक्षमाला वशिष्ठसे तथा शार्ङ्गी मदपालसे विवाह करके पूज्य हुई। इस लोकमे ये तथा अन्य नीच कुलमे उत्पन्न हुई स्त्रियाँ अपने-अपने पतिके शुभ गुणोके कारण उत्कर्षको प्राप्त हुईं।'

किन्तु सच्चे आप्तके लिए बुद्धिमानोको धर्मोपदेशका ही सहारा है। कहा है—

'यदि अज्ञ मनुष्य उपदेश दे तो उससे ठगाये जानेकी आशंका है। इससे मनुष्य आप्तके द्वारा कही गयी बातोको जाननेके लिए किसी ज्ञानीकी खोज करते है।'

युक्तिसे अनुगृहीत आगमके द्वारा पदार्थोंको जानकर जो उनका व्यवहार करनेमे तत्पर रहते हैं वे मिथ्यात्वपर विजय प्राप्त करते है, यह कहते है—

जो युक्ति द्वारा व्यवस्थित आप्तवचनोके ज्ञानसे आत्मामें प्रकाशित पदार्थोंमें, जो कि प्रतिपक्षी धर्मोंसे युक्त सत् आदि अनन्त धर्मोंको लिये हुए है, प्रतिपक्षी नयका निराकरण न करनेवाले तथा विवक्षित धर्मके अविनाभावी अन्य धर्मोंसे उत्पन्न हुए नयके द्वारा विवक्षित किसी एक धर्मका व्यवहार करता है वह अपने और दूसरोके मिथ्यात्व या अज्ञानका विनाश करता है ॥२३॥

युक्त्या 'आप्तवचनं प्रमाण दृष्टेष्टाविरुद्धत्वात्', सर्वमनेकान्तात्मकं सत्त्वादित्यादिरूपया । अनुगृहीतया—व्यवस्थितया आप्तवचनज्ञप्त्या ।

३ 'जीवो त्ति हवदि चेदा उवओगविसेसिदो पहू कत्ता ।
भोत्ता य देहमेत्तो ण हु मुत्तो कम्मसंजुत्तो ॥' [पञ्चास्ति., गा २७]

इत्याद्यागमज्ञानेन । वचनमुपलक्षण तेन आप्तसंज्ञादिजनितमपि ज्ञानमागम एव । तथा च सूत्रम्—

६ 'आप्तवचनादिनिबन्धनमर्थज्ञानमागमः ।' इति [परीक्षामुख ३।९५ ।]

स्फारितेषु—स्फुरद्रूपीकृतेषु । अर्थेषु—जीव-पुद्गल-धर्माधर्माकाशकालेषु पदार्थेषु प्रतीत्यादि । सत्—सत्ता भाव इत्यर्थ । भावप्रधानोऽयं निर्देश. । सत् आदिर्येषा नित्यैकभेदादीना धर्माणा ते सदादयः । प्रति-

९ पक्षा विरुद्धधर्मा यथाक्रममसत्क्षणिकाभेदादय. । प्रतिपक्षैर्लक्षिता विशिष्टा सदादय प्रतिपक्षलक्षितसदादयस्ते च ते अनन्ता एव आनन्त्या धर्मा विशेषा' प्रतिपक्षलक्षितसदाद्यानन्त्यधर्मा , त एवात्मा स्वरूपं येषा ते तथोक्ता । नीत्या—नीयते परिच्छिद्यते प्रमाणपरिगृहीतार्थैकदेशोऽनयेति नीतिर्नय स्वार्थैकदेशव्यवसायात्मको बोध

१२ इत्यर्थ ।

विशेषार्थ—आप्त पुरुषके वचनोंसे होनेवाले ज्ञानको आगम कहते हैं। परीक्षामुख सूत्रमें ऐसा ही कहा है। जैसे—

"आत्मा जीव है, चेतनस्वरूप है, उपयोगसे विशिष्ट है, प्रभु है, कर्ता है, भोक्ता है, शरीरके बराबर है, अमूर्तिक है किन्तु कर्मसे संयुक्त है।"

इस आप्त वचनसे होनेवाले ज्ञानको आगम कहते हैं। यहाँ 'वचन' शब्द उपलक्षण है। अत आप्त पुरुषके हाथके सकेत आदिसे होनेवाले ज्ञानको भी आगम कहते हैं। वह आगम युक्तिसे भी समर्थित होना चाहिए। जैसे, आप्तका वचन प्रमाण है क्योंकि वह प्रत्यक्ष और अनुमानप्रमाण आदिके अविरुद्ध है। या सब वस्तु अनेकान्तात्मक है सत् होने से। इन युक्तियोंसे आगमकी प्रमाणताका समर्थन होता है। आगममें छह द्रव्य कहे हैं—जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल। एक-एक पदार्थमें अनन्त धर्म होते हैं। और वे धर्म अपने प्रतिपक्षी धर्मोंके साथ होते हैं। अर्थात्, वस्तु सत् भी है और असत् भी है, नित्य भी है और अनित्य भी है, एक भी है और अनेक भी है आदि। यह अनन्त धर्मात्मक वस्तु प्रमाणका विषय है। प्रमाणसे परिगृहीत पदार्थके एकदेशको जाननेवाला ज्ञान नय है। किन्तु वह नय अपने प्रतिपक्षी नयसे सापेक्ष होना चाहिए। जैसे नयके मूल भेद दो हैं—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिक नय। जो नय द्रव्यकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह द्रव्यार्थिक है और जो नय पर्यायकी मुख्यतासे वस्तुको ग्रहण करता है वह पर्यायार्थिक नय है। द्रव्यार्थिक नय पर्यायार्थिक सापेक्ष होनेसे सम्यक् होता है और पर्यायार्थिक नय द्रव्यार्थिक सापेक्ष होनेसे सम्यक् होता है। क्योंकि वस्तु न केवल द्रव्यरूप है और न केवल पर्यायरूप है किन्तु द्रव्यपर्यायरूप है। उस द्रव्यपर्यायरूप वस्तुके द्रव्यांश या पर्यायांशको ग्रहण करनेवाला द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नय है। यदि द्रव्यांशग्राही द्रव्यार्थिक नय अपने विषयको ही पूर्ण वस्तु मानता है तो वह मिथ्या है। इसी तरह पर्यायांशका ग्राही पर्यायार्थिक नय यदि अपने विषयको ही पूर्ण वस्तु कहता है तो वह भी मिथ्या है। कहा भी है—

प्रतिपक्षका निराकरण न करते हुए वस्तुके अंशके विषयमे जो ज्ञाताका अभिप्राय है उसे नय कहते है। और जो प्रतिपक्षका निराकरण करता है उसे नयाभास कहते हैं।

[नयके सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिए देखे तत्त्वा. श्लोक वा, १।६]

भवति चात्रार्या—
'ज्ञातुरनिराकृते प्रतिपक्षो वस्त्वंशस्यास्त्यभिप्राय ।
यः स नयोऽत्र नयाभो निराकृतप्रत्यनीकस्तु ॥' [ ] ३
उक्तं च तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकालकारे—[१।३३।२]
'सधर्मणैव साध्यस्य साधर्म्यादविरोधत ।
स्याद्वादप्रविभक्तार्थविशेषव्यञ्जको नय ॥ [आप्तमी. १०६] ६
तथा श्रीमदकलङ्कदेवैरप्युक्तम्—
'उपयोगौ श्रुतस्य द्वौ स्याद्वादनयसञ्ज्ञितौ ।
स्याद्वादः सकलादेशो नयो विकलसकथा ॥' [लघीयस्त्रय ६२] ९

आक्षिप्तविपक्षया—आक्षिप्तोऽपेक्षितोऽक्षिप्तो वाऽनिराकृतो विपक्ष. प्रत्यनीकनयो यया । द्रव्यार्थनयो हि पर्यायार्थनय पर्यायार्थनयश्च द्रव्यार्थनयमपेक्ष्यमाण एव सम्यग् भवति । नान्यथा । एव सदसदादिष्वपि चिन्त्यम् । तदित्यादि—तेन । विवक्षितेन धर्मेण अविनाभूत सहभावेन क्रमभावेन वा नियतोऽन्यो धर्मो हेतु १२ 'साध्याविनाभावित्वेन निश्चितो हेतुरिति वचनात् । तत्र तस्माद्वा उत्था उत्थान यस्या. सा तया । तद्यथा—पर्वते धर्मिणि सिसाधयिषितो धर्मो वह्नि, तदविनाभावित्वेन निश्चितो धर्मो धूम, तज्जनिता प्रतिपत्ति-र्नीतिर्व्यवहर्तॄणामप्रतिपन्नवह्नि पर्वतस्थ प्रवृत्तिविषय निवृत्तिविषय वा कुर्यात् । धर्मं सदसदादीनामन्यतमम् । १५ कस्यचित् ॥२३॥

आचार्य समन्तभद्रने अपने आप्त मीमांसा नामक प्रकरणमे स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अर्थके विशेषोके व्यंजकको नय कहा है । 'स्याद्वाद'से उन्होंने आगम लिया है और नयवादसे हेतुवाद या युक्तिवाद लिया है । उसीको दृष्टिमें रखकर पं. आशाधरजीने भी नयको 'तद-विनाभूतान्यधर्मोत्थया' कहा है । इसका अर्थ उन्होने टीकामे इस प्रकार किया है—विवक्षित धर्मसे अविनाभूत अर्थात् सहभाव या क्रमभाव रूपसे निश्चित अन्य धर्म यानी हेतु। क्योंकि कहा है—जिसका साध्यके साथ सुनिश्चित अविनाभाव होता है उसे हेतु कहते हैं। उस हेतुसे जिसकी उत्पत्ति होती है ऐसा नय है । जैसे पर्वतमे आग सिद्ध करना चाहते हैं । उस आगका अविनाभावी रूपसे निश्चित धुआँ है क्योकि धुआँ आगके बिना नहीं होता । अतः धूमसे आगको जानकर व्यवहारी पुरुष पर्वतमें होनेवाली आगके पास जाते हैं या उससे बच जाते हैं। इसी तरह जीवादि छह पदार्थोंमे-से किसी एक पदार्थमे रहनेवाले सत्-असत् आदि धर्मोंमे-से किसी एक विवक्षित धर्मको जानकर ज्ञाता उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति करता है। इससे उसका अज्ञानान्धकार हटता है और वह वस्तुके यथार्थ स्वरूपको जानता है ।

आचार्य विद्यानन्दिने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमें (१।३३।२) हेतुवाद और नयमे भेद बतलाया है। उनका कहना है कि हेतु स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त समस्त अर्थके विशेषोको व्यक्त करनेमे असमर्थ है। हेतुसे होनेवाला ज्ञान ही व्यजक है और वही नय है। क्योकि पदार्थके एकदेशका निर्णयात्मक ज्ञान नय है। पं. आशाधरजीका भी यही अभिप्राय है। अतः स्याद्वादके द्वारा प्रविभक्त अर्थ अनेकान्तात्मक है। अनेकान्तात्मक अर्थको कहनेका नाम ही स्याद्वाद है। उस अनेकान्तात्मक अर्थके विशेष हैं नित्यता, अनित्यता, सत्ता, असत्ता आदि। उसका कथन करनेवाला नय है। इस तरह अनेकान्तका ज्ञान प्रमाण है, उसके एक धर्मका ज्ञान नय है, और एक ही धर्मको स्वीकार करके अन्य धर्मोंका निराकरण

जीवादिपदार्थान् प्रत्येक युक्त्या समर्थयते—

सर्वेषां युगपद् गतिस्थितिपरीणामावगाहान्यथा-
योगाद् धर्मतदन्यकालगगनान्यात्मा त्वहं प्रत्ययात् ।
सिध्येत् स्वस्य परस्य वाक्प्रमुखतो मूर्तत्वतः पुद्गल-
स्ते द्रव्याणि षडेव पर्ययगुणात्मानः कथंचिद् ध्रुवाः ॥२४॥

सर्वेषा—गतिस्थितिपक्षे जीवपुद्गलाना तेषामेव सक्रियत्वात् गतिमतामेव च स्थितिसंभवात् । परिणामावगाहपक्षे पुन. षण्णामपि अपरिणामिन खपुष्पकल्पत्वात् आधारमन्तरेण च आधेयस्थित्ययोगात् । नवर काल परेषामिव स्वस्यापि परिणामस्य कारण प्रदीप इव प्रकाशस्य । आकाश च परेषामिव स्वस्याप्य-वकाशहेतु 'आकाश च स्वप्रतिष्ठमित्यभिधानात् । अन्यथायोगात् धर्मादीनन्तरेण जीवादीना युगपद्भा-विगत्याद्यनुपपत्ते । तदन्य —तत श्रुतत्वाद् धर्मादन्योऽधर्म । अहंप्रत्ययात्—अह सुखी अहं दुखीत्यादिज्ञानात् प्रतिप्राणि स्वयं सवेद्यमानात् । सिद्धयेत्—निर्णयं गच्छेत् । वाक्प्रमुखत. वचनचेष्टादिविशेषकार्यात् । मूर्तत्वात्—रूपादिमत्त्वात् । यस्य हि रूपरसगन्धस्पर्शा सत्तया अभिव्यक्त्या वा प्रतीयन्ते स सर्वोऽपि पुद्गल । तेन पृथिव्यप्तेजोवायूना पर्यायभेदेनान्योन्य भेदो रूपाद्यात्मकपुद्गलद्रव्यात्मकतया चाभेद. । ते द्रव्याणि गुणपर्यायवत्त्वात् । तल्लक्षणं यथा—

'गुण इदि दव्वविहाणं दव्वविकारो य पज्जओ गणिओ ।
तेहिं अणूण दव्व अजुदपसिद्ध हवदि णिच्चं ॥' [सर्वार्थसि. ५।३८ में उद्धृत]

करनेवाला दुर्नय है । जैसे अस्तित्वका विपक्षी नास्तित्व है। जो वस्तुको केवल सत् ही मानता है वह दुर्नय है, मिथ्या है क्योकि वस्तु केवल सत् ही नहीं है । वह स्वरूपसे सत् है और पररूपसे असत् है । जैसे घट घटरूपसे सत् है और पटरूपसे असत् है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो घट-पटमे कोई भेद न रहनेसे दोनो एक हो जायेगे। इस तरहसे वस्तुको जाननेसे ही यथार्थ प्रतीति होती है । और यथार्थ प्रतीति होनेसे ही आत्मापर पड़ा अज्ञानका पर्दा हटता है ॥२२॥

अब जीव आदि पदार्थोंमें-से प्रत्येकको युक्तिसे सिद्ध करते हैं—

यथायोग्य जीवादि पदार्थोंका एक साथ गति, स्थिति, परिणाम और अवगाहन अन्यथा नहीं हो सकता, इससे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, काल और आकाशद्रव्यकी सिद्धि होती है । 'मै' इस प्रकारके ज्ञानसे अपनी आत्माकी सिद्धि होती है और बातचीत चेष्टा आदिसे दूसरोंकी आत्माकी सिद्धि होती है। मूर्तपनेसे पुद्गल द्रव्यकी सिद्धि होती है । इस प्रकार ये छह ही द्रव्य हैं जो गुणपर्यायात्मक है तथा कथचित् नित्य हैं ॥२४॥

विशेषार्थ—जैनदर्शनमे मूल द्रव्य छह ही है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्मद्रव्य, आकाश और काल । इन्हींके समवायको लोक कहते है। सभी द्रव्य अनादि है तथा अनन्त है । उनका कभी नाश नहीं होता । न वे कम-ज्यादा होते है । इन छह द्रव्योमे गतिशील द्रव्य दो ही है जीव और पुद्गल । तथा जो चलते हैं वे ही ठहरते भी है । इस प्रकार गतिपूर्वक स्थिति भी इन्हीं दो द्रव्योंमे होती है । किन्तु परिवर्तन और अवगाह तो सभी द्रव्योमे होता है। परिवर्तन तो वस्तुका स्वभाव है और रहनेके लिए सभीको स्थान चाहिए। इन छह द्रव्योमे-से इन्द्रियोसे तो केवल पुद्गल द्रव्य ही अनुभवमे आता है क्योंकि अकेला वही एक द्रव्य मूर्तिक है । मूर्तिक उसे कहते हैं जिसमे रूप, रस, गन्ध और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। चक्षु रूपको देखती है,

अपि च—

धर्माधर्मनभ काला अर्थपर्यायगोचराः ।
व्यञ्जनार्थस्य[1] सवद्धौ द्वावन्यौ जीवपुद्गलौ ॥ [ज्ञाना ६।४०]
मूर्तो[2] व्यञ्जनपर्यायो वाग्गम्यो नश्वर स्थिर ।
सूक्ष्म प्रतिक्षणध्वसी पर्यायश्चार्थसज्ञक ॥ [ज्ञाना. ६।४५] ३

पडेव पृथिव्यप्तेजोवायूना पुद्गलपरिणामविशेषत्वेन द्रव्यान्तरत्वायोगात् । दिश आकाशप्रदेशपक्ति-रूपतया ततोऽनर्थान्तिरत्वात् । द्रव्यमनस पुद्गले भावमनसश्च आत्मनि पर्यायतयाऽन्तर्भावात् परपरिकल्पितस्य च मनोद्रव्यस्यासिद्धे । ६

रसना रसका स्वाद लेती है, घ्राण इन्द्रिय सुगन्ध-दुर्गन्धका अनुभव करती है और स्पर्शन इन्द्रिय कोमल-कठोर, गर्म-सर्द आदिको जानती है। इस तरह इद्रियोसे पुद्गल द्रव्यकी प्रतीति होती है। किन्तु पुद्गल द्रव्य तो अणुरूप है जो इन्द्रियोका विषय नही है। अणुओके मेलसे जो स्थूल स्कन्ध वनते है उन्हें ही इन्द्रियाँ जानती है। उन्हींके आधार पर हम लोग अनुमानसे परमाणुको जानते हैं। कुछ अन्य दर्शनोंमे परमाणु विभिन्न प्रकारके माने गये हैं। उनके मत-से पृथ्वीके परमाणुओंमें रूप-रस-गन्ध-स्पर्श चारो गुण है। जलके परमाणुओमें गन्धगुण नहीं है, अग्निके परमाणुओंमे गन्ध और रस नहीं है। वायुके परमाणुओमे केवल स्पर्श गुण है। इस तरह उनके यहाँ पृथ्वी, जल, आग और वायु चार अलग-अलग द्रव्य हैं। किन्तु जैन दर्शनमे परमाणुकी एक ही जाति मानी गयी है और उसमे चारों गुण रहते हैं। परिणमनके अनुसार किसीमे कोई गुण अव्यक्त रहता है और कोई गुण व्यक्त। यही वात आचार्य कुन्दकुन्दने[3] कही है—

जो आदेश मात्रसे मूर्त है वह परमाणु है। वह पृथ्वी, जल, आग, वायु चारोंका कारण है। परिणमनकी वजहसे उसके गुण व्यक्त-अव्यक्त होते हैं। वह शब्दरूप नहीं है। शेष कोई भी द्रव्य इन्द्रियोंका विषय नहीं है। क्योंकि अमूर्तिक होनेसे उनमें रूपादि गुण नहीं होते। उनमें-से जीवद्रव्य स्वयं तो 'मैं' इस प्रत्ययसे जाना जाता है। अन्य किसी भी द्रव्यमें इस प्रकारका प्रत्यय नहीं होता। दूसरे चलते-फिरते, वातचीत करते प्राणियोंको देखकर अनुमान-से उनमे जीव माना जाता है। उसीके आधारपर लोग जीवित और मृतकी पहचान करते हैं। शेष चार द्रव्योको उनके कार्योंके आधारपर जाना जाता है। स्वयं चलते हुए समस्त जीव और पुद्गलोंको जो चलनेमे उदासीन निमित्त है वह धर्मद्रव्य है। जो चलते-चलते स्वयं ठहरनेवाले जीव और पुद्गलोंके ठहरनेमें उदासीन निमित्त है वह अधर्मद्रव्य है। ये दोनों द्रव्य न तो स्वयं चलते है और न दूसरोंको चलाते हैं किन्तु स्वयं चलते हुए और चलते-चलते स्वय ठहरते हुए जीव और पुद्गलोंके चलने और ठहरनेमे निमित्त मात्र होते है। यह सिद्धान्त है कि जिस द्रव्यमे जो शक्ति स्वय नहीं है दूसरे द्रव्यके योगसे उसमे वह शक्ति पैदा नहीं हो सकती। अत धर्मद्रव्यके और अधर्मद्रव्यके योगसे जीव पुद्गलोंमे चलने और ठहरने-

---

१ 'व्यञ्जनेन तु सवद्धौ'—आलापप. । व्यञ्जनार्थेन स—अनगार भ कु टी ।

२. स्थूलो व्य—आलाप , अनगार ध. भ. टी ।

३. आदेशमेत्तमुत्तो धादुचदुक्कस्स कारण जो दु ।
सो णेओ परमाणु परिणामगुणो सयमसद्दो ॥—पञ्चा. गा ७८

कथंचिद् ध्रुवाः—द्रव्यरूपतया नित्या पर्यायरूपतया चानित्या इत्यर्थोऽभ्यते । तथाहि—जीवादि वस्तु नित्यं तदेवेदमिति प्रतीते । यद्धि बालावस्थायां प्रतिपन्नं देवदत्तादिवस्तु तद् युवाद्यवस्थायां तदेवेदमिति ३ निरारेकं प्रत्यभिज्ञानतो व्यवहरन्ति सर्वेऽपि । तथा तदनित्यं बालाद्यवस्थातो युवाद्यवस्थाऽन्येति निर्बाधनया निर्णीते । अथ प्रकारान्तरेण धर्मादिसिद्धये प्रमाणानि लिख्यन्ते । तथाहि—विवादापन्ना सकलजीवपुद्गला- श्रया सकृद्गतयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविगतित्वात् एकसर:सलिलानेकमत्स्यादिगतिवत् । तथा ६ सकलजीवपुद्गलस्थितयः साधारणबाह्यनिमित्तापेक्षा युगपद्भाविस्थितित्वादेककुण्डाश्रयानेकबदरादिस्थितिवत् । यत्साधारणं निमित्तं स धर्मोऽधर्मश्च ताभ्यां विना तद्गतिस्थितिकार्यानुपपत्ते । तथा चागमः—

गइपरिणयाण धम्मो पुग्गलजीवाण गयणसहयारी ।
९ तोयं जह मच्छाणं अच्छंता णेव सो णेइ ॥
ठाणजुदाण अहम्मो पुग्गलजीवाण ठाण सहयारी ।
छाया जह पहियाणं गच्छंता णेव सो धरइ ॥ [द्रव्य सं. १७-१८]

१२ तथा दिग्देशकृतपरापरादिप्रत्ययविपरीता परापरादिविशिष्टप्रत्ययाः विशिष्टकारणपूर्वकाः विशिष्ट- प्रत्ययत्वात् । यो विशिष्टः प्रत्ययः स विशिष्टकारणपूर्वको दृष्टो यथा दण्डीत्यादिप्रत्ययः, विशिष्टाश्चैते परापर- यौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्यया इति । यत्त्वेषां विशिष्टं कारणं स काल इति । वास्तवकालसिद्धिः । आगमाच्च—

की शक्ति उत्पन्न नहीं होती। वह शक्ति तो उनमें स्वभावसिद्ध है। इसी तरह सभी द्रव्योंमें परिणमन करनेकी भी शक्ति स्वभावसिद्ध है। कालद्रव्य उसमें निमित्त मात्र होता है। इतनी विशेषता है कि कालद्रव्य स्वयं भी परिणमनशील है और दूसरोंके भी परिणमनमें सहायक है। इसी तरह आकाश द्रव्य स्वयं भी रहता है और अन्य सब द्रव्योंको भी स्थान देता है। 'स्थान देता है' ऐसा लिखनेसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि आकाश द्रव्य पहले बना और पीछेसे उसमें अन्य द्रव्य आकर रहे। लोककी रचना तो अनादि है। फिर भी लोकमें ऐसा व्यवहार किया जाता है कि आकाशमें सब द्रव्य रहते हैं क्योंकि आकाश सब ओरसे अनन्त है। अन्य द्रव्य केवल लोकमें ही हैं लोकके बाहर नहीं हैं। वास्तवमें तो सभी द्रव्य अपने-अपने आधारसे ही रहते हैं। कोई किसीका आधार नहीं है। इस प्रकार गति, स्थिति, परिणमन और अवगाहन कार्य देखकर धर्म, अधर्म, काल और आकाश द्रव्यकी सत्ता स्वीकार की जाती है। आचार्योंने धर्मादि द्रव्योंकी सिद्धिके लिए जो प्रमाण उपस्थित किये हैं उन्हें यहाँ दिया जाता है। समस्त जीवों और पुद्गलोंमें होनेवाली एक साथ गति किसी साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षासे होती है, एक साथ होनेवाली गति होनेसे। एक तालाबके पानीमें होने- वाली अनेक मछलियोंकी गतिकी तरह। तथा सब जीव और पुद्गलोंकी स्थिति किसी साधारण बाह्य निमित्तकी अपेक्षा रखती है, एक साथ होनेवाली स्थिति होनेसे, एक कुण्डके आश्रयसे होनेवाली अनेक बेरोंकी स्थितिकी तरह। जो साधारण निमित्त है वह धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य है, उनके बिना उनकी गति और स्थितिरूप कार्य नहीं हो सकता। आगममें कहा है—

चलते हुए जीव और पुद्गलोंको चलनेमें सहकारी धर्मद्रव्य है। जैसे मछलियोंको चलनेमें सहायक जल है। वह धर्मद्रव्य ठहरे हुए जीव पुद्गलोंको नहीं चलाता है। ठहरे हुए जीव और पुद्गलोंको ठहरनेमें सहायक अधर्मद्रव्य है। जैसे छाया पथिकोंको ठहरनेमें सहायक है। वह अधर्मद्रव्य चलते हुओंको नहीं ठहराता है। तथा दिशा और देशकृत पर- अपर आदि प्रत्ययोंसे भिन्न पर-अपर आदि विशिष्ट प्रत्यय विशिष्ट कारणपूर्वक होते हैं

वर्तनालक्षणः कालो वर्तनावत्पराश्रया ।
यथास्वं गुणपर्यायैः परिणतत्वयोजना ॥ [महा पु २४।१३९]
स कालो लोकमात्रोऽस्ति रेणुभिर्निचितस्थितिः । ३
ज्ञेयोऽन्योन्यमसकीर्णं रत्नानामिव राशिभि ॥ [महा पु २४।१४२]

तथा—

लोयायासपदेसे एक्केक्के जे ठिया हु एक्केक्का ।
रयणाण रासिमिव ते कालाणू असखदव्वाणि ॥ [द्रव्य स. २२] ६

अपि च—

भाविनो वर्तमानत्व वर्तमानास्त्वतीतताम् ।
पदार्था प्रतिपद्यन्ते कालकेलिकदर्थिता. ॥ [ज्ञानार्ण. ६।३९] ९

तथा युगपन्निखिलावगाह साधारणकारणापेक्षो युगपन्निखिलावगाहत्वात् य एवविधोऽवगाह स एवविधकारणापेक्षो दृष्टो यथैकसर मलिलान्त-पाति-मत्स्याद्यवगाहस्तथावगाहश्चायमिति । यच्च तत्साधारण-कारणं तदाकाशमित्याकाशसिद्धि. । तथागमाच्च— १२

धम्माधम्मा कालो पोग्गलजीवा य सति जावदिए ।
आवासे सो लोगो तत्तो परदो अलोगो ख ॥ [द्रव्य स २०] १५

विशिष्ट प्रत्यय होनेसे । जो विशिष्ट प्रत्यय होता है वह विशिष्ट कारणपूर्वक देखा गया है जैसे दण्डी आदि प्रत्यय । और पर, अपर, यौगपद्य, शीघ्र, देरमे इत्यादि प्रत्यय विशिष्ट है । इन प्रत्ययोंका जो विशिष्ट कारण है वह काल है । इस प्रकार वास्तविक कालकी सिद्धि होती है । आगममे भी कहा है—

कालका लक्षण वर्तना है । वह वर्तना काल तथा कालसे भिन्न अन्य पदार्थोंके आश्रयसे रहती है और अपने-अपने यथायोग्य गुण और पर्यायों रूप जो सब पदार्थो मे परिणमन होता है उसमे सहायक होती है ।

वह काल रत्नों की राशिकी तरह परस्परमे जुदे-जुदे स्थिर कालाणुओंसे व्याप्त है । तथा लोक प्रमाण है ।

एक-एक लोकाकाशके प्रदेशपर एक-एक कालाणु रत्नोंकी राशिकी तरह स्थित है । वे कालाणु असंख्यात द्रव्य है ।

कालके वर्तनसे ही भावि पदार्थ वर्तमानका रूप लेते है और वर्तमान पदार्थ अतीतका रूप लेते हैं । कहा है—

कालकी क्रीडा से सताये गये भावि पदार्थ वर्तमानपनेको और वर्तमान पदार्थ अतीत-पने को प्राप्त होते हैं ।

तथा एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह साधारण कारणकी अपेक्षा करता है एक साथ समस्त पदार्थोंका अवगाह होनेसे । जो इस प्रकारका अवगाह होता है वह इस प्रकार-के कारणकी अपेक्षा करता देखा गया है । जैसे एक तालावके पानीमे रहनेवाली मछलियोका अवगाह । यह अवगाह भी वैसा ही है । और जो साधारण कारण है वह आकाश है । इस प्रकार आकाश द्रव्यकी सिद्धि होती है । आगममे भी कहा है—

जितने आकाशमे धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, कालद्रव्य, पुद्गल और जीव रहते है वह लोक है । उससे आगेका आकाश अलोक है ।

तथा—जीवच्छरीर प्रयत्नवताधीष्ठितमिच्छानुविधायिक्रियाश्रयत्वाद् द्रव्यवत्। श्रोत्रादीन्युपलब्धि-साधनानि कर्तृप्रयोजनानि करणत्वाद् वास्यादिवदिति च। यश्च प्रयत्नवान् कर्ता च स जीव इति परशरीरे ३ जीवसिद्धि। स्वशरीरे तु स्वसवेदनप्रत्यक्षादेवात्मा सिद्ध'। तथा जलादयो गन्धादिमन्त स्पर्शवत्त्वात्। यत्स्पर्शवत्तद् गन्धादिमत्प्रसिद्ध यथा पृथिवी। यत्पुनर्गन्धादिमन्न भवति न तत् स्पर्शवत् यथाऽऽत्मादि, इत्यनुमानाद् जलादिपु गन्धादिसद्भावसिद्धे' पुद्गललक्षणरूपादिमत्त्वयोगात्पुद्गलत्वसिद्धिः। उक्तं च—

६ 'उवभोज्जमिंदिएहि इदियकाया मणो य कम्माणि।
ज हवदि मुत्तमण्ण त सव्व पोग्गल जाण'॥ [पञ्चास्ति. ८२]

तथा—

९ 'द्विस्पर्शानशनित्यैकवर्णगन्धरसोऽध्वनि.।
द्रव्यादिसख्याभेत्ताऽणु स्कन्धभू स्कन्धशब्दकृत्॥
द्व्यधिकादिगुणत्यक्तजघन्यस्नेहरौक्षत'।
१२ तत्तत्कर्मवशत्वाङ्गभोग्यत्वेनाणवोऽङ्गिनाम्॥
पिण्डिताद्या घन सान्त सख्या क्ष्माम्भोऽग्निवायुक'।
स्कन्धाश्च ते व्यक्तचतुस्त्रिद्व्येकस्वगुणा. क्रमात्॥' [ ]

तथा जीवित शरीर किसी प्रयत्नवान्‌के द्वारा अधीष्ठित है, इच्छाके अनुसार क्रियाका आश्रय होनेसे। जाननेके साधन श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ कर्ताके द्वारा प्रयुक्त होती है कारण होनेसे विसौले आदिकी तरह। और जो प्रयत्नवान् कर्ता है वह जीव है। इससे पराये शरीरसे जीवकी सिद्धि होती है। अपने शरीरमे तो स्वसवेदन प्रत्यक्षसे ही आत्माकी सिद्धि होती है।

तथा जल आदि गन्धवाले है स्पर्शादिवाले होनेसे। जिसमे स्पर्श होता है उसमे गन्धका अस्तित्व भी प्रसिद्ध है, जैसे पृथिवीमें। जिसमे गन्ध आदि नही होते उसमें स्पर्श भी नही होता, जैसे आत्मा वगैरह। इस अनुमानसे जल आदिमे गन्ध आदिके सद्भावकी सिद्धि होनेसे पुद्गलपना सिद्ध होता है क्योकि जिसमें रूप, रस, गन्ध, स्पर्श होते है उसे पुद्गल कहते है। कहा भी है—

'जो पाँचो इन्द्रियोके द्वारा भोगनेमें आते है तथा इन्द्रियाँ, शरीर, मन, कर्म व जो अन्य मूर्तिक पदार्थ है वह सब पुद्गल द्रव्य जानो।'

और भी कहा है—

'पुद्गलके एक परमाणुमें दो स्पर्शगुण, एक वर्ण, एक गन्ध और एक रस रहते है। परमाणु नित्य और निरंश होता है, शब्दरूप नही होता। द्रव्योके प्रदेशोंका माप परमाणुके द्वारा ही किया जाता है। परमाणुओंके मेलसे ही स्कन्ध बनते है। शब्द स्कन्ध रूप होता है अतः परमाणु ही उसका कर्ता है।

जघन्य गुणवाले परमाणुओको छोडकर दो अधिक गुणवाले परमाणुओंका ही परस्पर-मे बन्ध होता है। बन्धमे कारण है स्निग्ध और रूक्षगुण। जैसे दो स्निग्धगुणवाले परमाणुका बन्ध चार स्निग्ध गुणवाले या चार रूक्ष गुणवाले परमाणुके ही साथ होता है तीन या पाँच गुणवालेके साथ नही होता। अपने-अपने कर्मके वशसे परमाणु प्राणियोंके भोग्य होते है।

वे परमाणु परस्परमे पिण्डरूप होकर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु रूप स्कन्धोमे परिवर्तित होते हैं। उनमे क्रमसे चार, तीन, दो और एक गुण व्यक्त होता है। अर्थात् पृथ्वीमें गन्ध,

एव समासतो धर्मादिपद्पदार्थव्यवस्था मुमुक्षुभिर्लक्ष्या। विस्तरतस्तु न्यायकुमुदचन्द्रादिशास्त्रेष्वसौ प्रतिपत्तव्येति। किंच व्यामोहव्यपोहाय सूक्तानीमानि नित्य मनसि सनिधेयानि—

सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्। ३
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ [आप्तमी. १५]
अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो.।
क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतया मता॥ [लघीयस्त्रये ८] ६

रस, रूप, स्पर्श चारों गुण व्यक्त होते हैं, जलमे रस, रूप, स्पर्श गुण व्यक्त होते हैं, अग्निमें रूप और स्पर्श गुण व्यक्त होते हैं तथा वायुमे केवल एक स्पर्श गुण ही व्यक्त होता है, शेष गुण अव्यक्त होते हैं।'

इस तरह छह ही द्रव्य हैं क्योकि पृथिवी, जल, अग्नि और वायु पुद्गल द्रव्यके ही परिणाम विशेष होनेसे अन्य द्रव्य रूप नहीं हैं। दिशा तो आकाशसे भिन्न नहीं है क्योकि आकाशके प्रदेशकी पंक्तियोमे जो पूर्व-पश्चिम आदि व्यवहार होता है उसे ही दिशा कहते है। मन भी पृथक् द्रव्य नहीं है क्योंकि द्रव्यमन पुद्गलकी पर्याय है और भावमन जीवकी पर्याय है। अतः न्यायवैशेपिक दर्शनमे जो नौ द्रव्य माने हैं वे ठीक नहीं है।

गुणपर्यायवाला होनेसे इन्हे द्रव्य कहते है। उनका लक्षण इस प्रकार कहा है—

'एक द्रव्यसे दूसरा द्रव्य जिसके कारण भिन्न होता है वह गुण है। गुण ही द्रव्यका विधाता है। गुणके अभावमें सब द्रव्य एक हो जायेंगे। जैसे जीव ज्ञानादि गुणोके कारण पुद्गल आदिसे भिन्न होता है और पुद्गल आदि रूपादि गुणोके कारण जीवादिसे भिन्न होते हैं। यदि दोनोंमे ये गुण न हों तो दोनों समान होनेसे एक हो जायेंगे। इसलिए सामान्यकी अपेक्षासे अन्वयी ज्ञानादि जीवके गुण है और रूपादि पुद्गल आदिके गुण हैं। उनके विकार-को—विशेष अवस्थाओंको पर्याय कहते हैं। जैसे घटज्ञान, पटज्ञान, क्रोध, मान, तीव्र गन्ध, मन्द गन्ध, तीव्र वर्ण, मन्द वर्ण आदि। उन गुण-पर्यायोंसे सहित नित्य द्रव्य होता है, गुण, पर्याय और द्रव्य ये सब अयुतसिद्ध होते है, इन सबकी सत्ता पृथक्-पृथक् नही होती, एक ही होती है। पर्याय क्रमभावी होती हैं, द्रव्यमे क्रमसे होती है। गुण सहभावी होते है। वे द्रव्यकी प्रत्येक अवस्थामे वर्तमान रहते हैं। पर्याय तो आती-जाती रहती है। पर्यायके भी दो प्रकार हैं—अर्थपर्याय और व्यंजनपर्याय। अर्थपर्याय धर्मादि द्रव्योंमे होती है तथा व्यंजनपर्याय जीव और पुद्गल द्रव्योमे होती है। कहा भी है—

'धर्म, अधर्म, आकाश और काल तो अर्थ पर्यायके विपय है उनमें अर्थपर्याय होती है। किन्तु जीव और पुद्गलोंमे व्यंजन पर्याय भी होती है और अर्थपर्याय भी होती है। व्यंजन पर्याय मूर्त-स्थूल होती है। उसे वचनसे कहा जा सकता है। वह नश्वर भी होती है और स्थिर भी होती है। किन्तु अर्थ पर्याय सूक्ष्म और क्षण-क्षणमें नष्ट होनेवाली होती है। मूर्त द्रव्यके गुण मूर्तिक और अमूर्त द्रव्यके गुण अमूर्तिक होते है। गुण कथंचित् नित्य हैं अर्थात् द्रव्यरूपसे नित्य और पर्याय रूपसे अनित्य है।'

जैन तत्त्वज्ञानके नीचे लिखे कुछ सूत्रोंको सदा हृदयमें धारण करना चाहिए। उससे तत्त्व ज्ञान विपयक भ्रान्तियाँ दूर होती हैं—

'द्रव्य और पर्याय एक वस्तु है। क्योकि दोनोमे प्रतिभास भेद होनेपर भी भेद नही है। जिनमे प्रतिभास भेद होनेपर भी अभेद होता है वे एक होते है। अतः द्रव्य और पर्याय

द्रव्यपर्याययोरैक्यं तयोरव्यतिरेकत. ।
परिणामविशेषाच्च शक्तिमच्छक्तिभावत. ॥
३ सज्ञासख्याविशेषाच्च स्वलक्षणविशेषत॰ ।
प्रयोजनादिभेदाच्च तन्नानात्व न सर्वथा ॥ [आप्त. ७१-७२]
समुदेति विलयमृच्छति भावो नियमेन पर्ययनयस्य ।
६ नोदेति नो विनश्यति भवनतया लिङ्गितो नित्यम् ॥ [ ]
सिय अत्थि णत्थि उभय अव्वत्तव्व पुणो य तत्तिदयं ।
दव्व खु सत्तभंग आदेसवसेण सभवदि ॥ [पञ्चास्ति १४]

भिन्न नहीं है। इस तरह वस्तु द्रव्य पर्यायात्मक है। इन दोनोंमें-से यदि एकको भी न माना जाये तो वस्तु नहीं हो सकती। क्योंकि सत्‌का लक्षण है अर्थक्रिया। किन्तु पर्याय निरपेक्ष अकेला द्रव्य अर्थक्रिया नही कर सकता और न द्रव्य निरपेक्ष पर्याय ही कर सकती है। क्योंकि अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है किन्तु केवल द्रव्यरूप या केवल पर्यायरूप वस्तुमे क्रमयौगपद्य नहीं बनता, क्योंकि द्रव्य अथवा पर्याय सर्वथा एक स्वभाव होनेसे उनमे क्रमयौगपद्य नहीं देखा जाता। अनेक पर्यायात्मक द्रव्यमें ही क्रमयौगपद्य पाया जाता है। शायद कहा जाये कि द्रव्य और पर्याय यद्यपि वास्तविक है किन्तु उनमें अभेद नहीं है क्योकि जैसे ज्ञानके द्वारा घट और पटका प्रतिभास भिन्न होता है उसी तरह घट आदि द्रव्यसे रूप आदि पर्यायोका भी भिन्न प्रतिभास होता है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्रतिभास भेद एकत्वका विरोधी नहीं है। जैसे एक ही पदार्थको दूरसे देखनेवाला अस्पष्ट देखता है और निकटसे देखनेवाला स्पष्ट देखता है किन्तु इससे वह पदार्थ भिन्न नहीं हो जाता। उसी तरह उपयोगकी विशेषतासे रूपादि ज्ञानमे प्रतिभास भेद होता है किन्तु इससे द्रव्य और पर्याय भिन्न नहीं हो जाते। इस तरह द्रव्य और पर्याय एक ही वस्तु हैं। किन्तु एक वस्तु होनेपर भी उनमे परस्परमें स्वभाव। नाम, संख्या आदिकी अपेक्षा भेद भी है। द्रव्य अनादि अनन्त है, एक स्वभाव परिणामवाला है, पर्याय सादि सान्त अनेक स्वभाव परिणामवाली है। द्रव्यकी संज्ञा द्रव्य है, पर्यायकी संज्ञा पर्याय है। द्रव्यकी संख्या एक है, पर्यायकी संख्या अनेक है। द्रव्यका कार्य है एकत्वका बोध कराना, पर्यायका कार्य है अनेकत्वका बोध कराना। पर्याय वर्तमान कालवाली होती है, द्रव्य त्रिकालवर्ती होता है। द्रव्यका लक्षण अलग है, पर्यायका लक्षण अलग है। इसतरह स्वभावभेद, संख्याभेद, नामभेद, लक्षणभेद, कार्यभेद, प्रयोजनभेद होनेसे द्रव्य और पर्याय भिन्न है किन्तु वस्तुरूपसे एक ही हैं। इसीसे द्रव्यदृष्टिसे वस्तु नित्य है और पर्याय दृष्टिसे अनित्य है। कहा भी है—पर्यायार्थिकनयसे पदार्थ नियमसे उत्पन्न होते है और नष्ट होते है। किन्तु द्रव्यार्थिकनयसे न उत्पन्न होते हैं और न नष्ट होते हैं। अतएव नित्य है।

स्यात् (कथचित् किसी अपेक्षा) द्रव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है, स्यात् द्रव्य है और नहीं है, स्यात् द्रव्य अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य है और अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है, स्यात् द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य है। यह सप्तभंगी है। यहाँ स्यात् शब्दका अर्थ कथंचित् है। यह स्यात् शब्द सर्वथापनेका निषेधक और अनेकान्तका द्योतक है। उक्त सात भंगोका विवेचन इस प्रकार है—स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभावकी अपेक्षा द्रव्य है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभावकी अपेक्षा द्रव्य नहीं है। क्रमसे

एकेनाकर्षन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण ।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ [पुरुषार्थ. २२५] ॥२४॥

अथैवं धर्मादिवदास्रवाद्यपि समधिगम्य श्रद्दध्यादित्यनुशास्ति— ३

धर्मादीनधिगम्य सच्छ्रुतनयन्यासानुयोगैः सुधीः
श्रद्दध्यादविदाज्ञयैव सुतरां जीवांस्तु सिद्धेतरान् ।
स्यान्मन्दात्मरुचेः शिवाप्तिभवहान्यर्थो ह्यपार्थं श्रमो ६
मन्येताप्तगिरास्रवाद्यपि तथैवाराधयिष्यन् दृशम् ॥२५॥

अधिगम्य—ज्ञात्वा । सच्छ्रुत—सम्यक् श्रुतज्ञानम् । तल्लक्षणं यथा—
अर्थादर्थान्तरज्ञानं मतिपूर्वं श्रुतं भवेत् । ९
शाब्दतल्लिङ्गजं वात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम् ॥ [ ]
न्यास —निक्षेप । तल्लक्षणं यथा—

स्वद्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और परद्रव्य, क्षेत्र, काल, भावकी विवक्षामें द्रव्य है और नहीं है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी युगपत् विवक्षा होनेपर द्रव्य अवक्तव्य है। स्वद्रव्य क्षेत्र-काल भाव और युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षामे द्रव्य है और अवक्तव्य है। परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्व-परद्रव्य-क्षेत्र-भावकी विवक्षामे द्रव्य नहीं है और अवक्तव्य है। स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव और युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकी विवक्षा होनेपर द्रव्य है, नहीं है और अवक्तव्य है। जैसे एक देवदत्त गौण और मुख्यकी विवक्षा से अनेकरूप होता है, वह पुत्रकी अपेक्षा पिता कहा जाता है और अपने पिताकी अपेक्षा पुत्र कहाता है। मामाकी अपेक्षा भानेज कहा जाता है और भानेजकी अपेक्षा मामा कहलाता है। पत्नीकी अपेक्षा पति और बहिनकी अपेक्षा भाई कहाता है। इसी तरह एक भी द्रव्य गौण और मुख्य विवक्षा वश सप्तभगमय होता है। सत्, एक, नित्य आदि धर्मोंमे से एक-एक धर्मको लेकर सात भग होते है। जैसे ग्वालिन मथानीकी रस्सीको एक ओरसे खीचती है तो दूसरी ओरसे ढील देती है। इसी तरह वस्तुतत्त्वको एक धर्मकी मुख्यतासे खीचती हुई और इतर धर्मकी अपेक्षासे गौण करती हुई जैनीनीति जयशील होती है। आचार्य अमृतचन्द्रजीने यही कहा है ॥२४॥

आगे कहते है कि धर्म आदि की तरह आस्रव आदिको भी जानकर उनपर श्रद्धा करनी चाहिए—

बुद्धिशाली जीवोंको समीचीन श्रुत, नय, निक्षेप और अनुयोगोंके द्वारा धर्म आदि द्रव्योंको जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिए। और मन्दबुद्धि जीवोको 'जिन भगवान् अन्यथा नहीं कहते' ऐसा मनमे धारण करके उनकी आज्ञाके रूपमें ही उनका श्रद्धान करना चाहिए। किन्तु बुद्धिमानों और मन्दबुद्धि दोनों ही प्रकारके प्राणियोंको सम्यक् श्रुत आदिके द्वारा तथा आज्ञा रूपसे धर्म आदि अजीव द्रव्योंकी अपेक्षा मुक्त और ससारी जीवोंको विशेप रूपसे जानना चाहिए, क्योंकि जिसकी आत्म विपयक श्रद्धा मन्द होती है, मोक्षकी प्राप्ति और संसारकी समाप्तिके लिए उसका तपश्चरण आदि रूप श्रम व्यर्थ होता है। तथा सम्यग्दर्शनकी आराधनाके इच्छुक बुद्धिमान और मन्दबुद्धि जनको उसी प्रकार आप्त की वाणीसे आस्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वको भी जानना चाहिए ॥२५॥

जीवादीनां श्रुताप्ताना द्रव्यभावात्मना नयैः ।
परीक्षिताना वाच्यत्व प्राप्ताना वाचकेपु च ॥
३ यद् भिदा प्ररूपण न्यास. सोऽप्रस्तुतनिराकृते' ।
प्रस्तुतव्याकृतेश्चार्थं स्यान्नामाद्यैश्चतुर्विध. ॥
अतद्गुणेपु भावेपु व्यवहारप्रसिद्धये ।
६ तत्सज्ञाकर्म तन्नाम नरेच्छावशवर्तनात् ॥
साकारे वा निराकारे काष्ठादौ यन्निवेशनम् ।
सोऽयमित्यवधानेन स्थापना सा निगद्यते ॥
९ आगामिगुणयोग्योऽर्थो द्रव्य न्यासस्य गोचरः ।
तत्कालपर्ययाक्रान्त वस्तु भावोऽभिधीयते ॥ [   ]

अनुयोग —प्रश्न उत्तर च । तद्यथा—

१२ 'स्वरूपादीनि पृच्छ्यन्ते प्रत्युप्य (?) ते च वस्तुन. ।
निर्देशादयस्तेऽनुयोगाः स्युर्वा सदादय' ॥ [   ]

विशेपार्थ—श्रुतज्ञानका लक्षण इस प्रकार कहा है—

मतिज्ञान पूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। वह श्रुतज्ञान शब्दजन्य और लिगजन्य होता है। श्रोत्रेन्द्रियसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो ज्ञान होता है वह शब्दज श्रुतज्ञान होता है। और अन्य इन्द्रियोंसे होनेवाले मतिज्ञान पूर्वक जो श्रुतज्ञान होता है वह लिंगजन्य श्रुतज्ञान है। शब्दजन्य श्रुतज्ञान के दो भेद हैं, अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य । गणधरके द्वारा केवलीकी वाणी सुनकर जो वारह अंगोंकी रचना की जाती है वह अंगप्रविष्ट है और उसके वारह भेद है। तथा अल्प वुद्धि अल्पायु जनोंके लिए आचार्योंके द्वारा जो ग्रन्थ रचे गये उन्हे अगवाह्य कहते हैं। अंगवाह्यके अनेक भेद है।

निक्षेपका लक्षण तथा भेद इसप्रकार कहे हैं—

श्रुतके द्वारा विवक्षित और नयके द्वारा परीक्षित तथा वाच्यताको प्राप्त द्रव्य भावरूप जीवादिका वाचक जीवादि शब्दोंमे भेदसे कथन करना न्यास या निक्षेप है। वह निक्षेप अप्रस्तुतका निराकरण और प्रस्तुतका कथन करनेके लिए होता है।

आशय यह है कि श्रोता तीन प्रकारके होते है, अव्युत्पन्न, विवक्षित पदके सब अर्थोंको जाननेवाला और एक देशसे जाननेवाला। पहला तो अव्युत्पन्न होनेसे विवक्षित पदके अर्थको नहीं जानता। दूसरा, या तो सशयमे पड जाता है कि इस पदका यहाँ कौन अर्थ लिया गया है या विपरीत अर्थ लेता है। तीसरा भी संशय या विपर्ययमे पडता है। अतः अप्रकृतका निराकरण करनेके लिए और प्रकृतका निरूपण करनेके लिए निक्षेप है। उसके चार भेद है नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। इनका स्वरूप—जिन पदार्थोंमे गुण नहीं है, उनमे व्यवहार चलानेके लिए मनुष्य अपनी इच्छानुसार जो नाम रखता है वह नाम निक्षेप है। साकार या निराकार लकडी वगैरहसे 'यह इन्द्र है' इत्यादि रूपसे निवेश करनेको स्थापना कहते है। आगामी गुणोके योग्य पदार्थ द्रव्य निक्षेपका विपय है (जैसे राजपुत्रको राजा कहना)। और तत्कालीन पर्यायसे विशिष्ट वस्तुको भाव कहते है (जैसे, राज्यासनपर बैठकर राज करते हुएको राजा कहना)।

अवित्—मन्दमति.। आज्ञयेव—'नान्यथावादिनो जिना' इत्येवं कृत्वा। जीवान्—जीवनगुणयोगाज्जीवः। तदुक्तम्—

'पाणेहिं चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हु जीविदो पुव्व। ३
सो जीवो पाणा पुण वलमिंदियमाउ उस्सासो ॥' [पञ्चास्ति. ३०]

सिद्धेतरान्—मुक्तान् ससारिणश्च। अपार्थ.—निष्फल। श्रम.—तपश्चरणाद्यभ्यास। यत्तात्विक— ६

अप्पा मिल्लिवि णाणमउ जे परदव्वि रमति।
अण्ण कि मिच्छाइट्ठियहो म इ सिंग हवति ॥ [ ]

अथ जीवपदार्थं विशेषेणाधिगमयति— ९

जीवे नित्येऽर्थसिद्धिः क्षणिक इव भवेन्न क्रमादक्रमाद्वा
नामूर्ते कर्मबन्धो गगनवदणुवद् व्यापकेऽध्यक्षबाधा।
नैकस्मिन्नुद्भवादिप्रतिनियमगतिः क्ष्मादिकार्ये न चित्त्वं १२
यत्तन्नित्येतरादिप्रचुरगुणमयः स प्रमेयः प्रमाभिः ॥२६॥

नित्ये—योगादीन् प्रति अर्थसिद्धि.—कार्योत्पत्तिर्न भवेत्, पूर्वोत्तराकारपरिहारावाप्तिस्थितिलक्षणपरिणामेनार्थक्रियोपपत्ते। क्षणिके—बौद्ध प्रति, अमूर्ते—योगादीन् प्रति। अणुवत्—वटकणिकामात्रे यथा। १५ व्यापके—योगादीन् प्रति, एकस्मिन्—ब्रह्माद्वैतवादिन प्रति, क्ष्मादिकार्ये—चार्वाक प्रति, चेतनत्वम्। नित्येत्यादि—नित्यानित्यमूर्तााद्यनेकधर्मात्मक.। प्रमाभि.—स्वसवेदनानुमानागमप्रमाणै ॥२६॥

अनुयोग कहते हैं प्रश्नपूर्वक उत्तर को। जैसे—

जिनके द्वारा वस्तुके स्वरूप संख्या आदि पूछी जाये और उनका उत्तर दिया जाये वे निर्देश आदि या सत् संख्या आदि अनुयोग है।

इन सबके द्वारा जीवादि द्रव्योंको जानना चाहिए। किन्तु उनमें भी अजीव द्रव्योंसे जीव द्रव्यको विशेष रूपसे जानना चाहिए क्योंकि उसको जाने विना व्रत, संयम, तपश्चरण सभी व्यर्थ हैं ॥२५॥

जीवपदार्थको विशेष रूपसे कहते हैं—

जैसे जीवको क्षणिक माननेपर क्रम या अक्रमसे कार्यकी निष्पत्ति सम्भव नहीं है वैसे ही जीवको सर्वथा नित्य माननेपर भी क्रम या अक्रमसे कार्यकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। तथा आकाशकी तरह सर्वथा अमूर्त माननेपर कर्मबन्ध नहीं हो सकता। तथा जीवको अणु बराबर माननेपर जैसे प्रत्यक्षसे बाधा आती है वैसे ही सर्वत्र व्यापक माननेमे भी प्रत्यक्षबाधा है। सर्वथा एक ही जीव माननेपर जन्म-मरण आदिका नियम नहीं वन सकता। जीवको पृथिवी आदि पंच भूतोंका कार्य माननेपर चेतनत्व नहीं बनता। इसलिए प्रमाणोंके द्वारा जीवको नित्य, अनित्य, मूर्त, अमूर्त आदि अनेक धर्मात्मक निश्चित करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—क्षणिकवादी बौद्ध चित्तक्षणोंको भी क्षणिक मानता है। योग आत्माको सर्वथा नित्य व्यापक और अमूर्तिक मानता है। ब्रह्माद्वैतवादी एक ब्रह्म ही मानता है। चार्वाक जीवको पच भूतोंका कार्य मानता है। इन सबमे दोष है। जीवको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपद्। क्षणिक पदार्थ तो कोई कार्य कर ही नहीं सकता, क्योंकि वह उत्पन्न होते ही नष्ट

अथ जीवादिवस्तुनः सर्वथा नित्यत्वे सर्वथा क्षणिकत्वे च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियाकारित्वानुपपत्त्याऽवस्तुत्व प्रतीति—

> नित्यं चेत् स्वयमर्थकृत्तदखिलार्थोत्पादनात् प्राक्क्षणे
> नो किञ्चित् परतः करोति परिणाम्येवान्यकाङ्क्षं भवेत् ।
> तन्नैतत् क्रमतोऽर्थकृन्न युगपत् सर्वोद्भवाप्तेः सकृन्-
> नाशाच्च क्षणिकं सहार्थकृदिहाव्यापिन्यहो कः क्रमः ॥२७॥

हो जाता है उसे कार्य करनेके लिए समय ही नहीं है। नित्य पदार्थ क्रमसे काम नहीं कर सकता। क्योंकि जब वह सदा वर्तमान है तो क्रमसे कार्य क्यों करेगा। और यदि सभी कार्य एक ही समयमे उत्पन्न कर देगा तो दूसरे समयमे उसे करनेके लिए कुछ भी नहीं रहेगा। ऐसी अवस्थामे वह अवस्तु हो जायगा, क्योंकि वस्तुका लक्षण अर्थक्रिया है। इसी तरह आत्माको सर्वथा अमूर्तिक माननेपर आकाशकी तरह वह कर्मोंसे बद्ध नहीं हो सकता। आत्माको अणु बराबर या सर्वत्र व्यापक माननेपर प्रत्यक्षबाधा है; क्योंकि, स्वसंवेदन प्रत्यक्ष-से आत्मा अपने शरीरमे ही सर्वत्र प्रतीत होती है, उससे बाहर उसकी प्रतीति नहीं होती। अद्वैतवादकी तरह केवल एक आत्मा माननेपर जन्म-मरण आदि नहीं बन सकता। एक ही आत्मा एक ही समयमे कैसे जन्म-मरण कर सकता है। जीवको पृथिवी, जल, अग्नि, वायु-का कार्य मानने पर वह चेतन नहीं हो सकता, क्योंकि पृथ्वी आदिमे चेतनपना नहीं पाया जाता। उपादान कारणका गुण ही कार्यमें आता है, उपादानमें जो गुण नहीं होता वह कार्य-में नहीं आ सकता। किन्तु जीवमे चैतन्य पाया जाता है। अतः आत्माको एकरूप न मानकर अनेक गुणमय मानना चाहिए। वह द्रव्य रूपसे नित्य है, पर्याय रूपसे अनित्य है। अपने शुद्ध स्वरूपकी अपेक्षा अमूर्तिक है। कर्मबन्धके कारण मूर्तिक है। अपने शरीरके बराबर है। इस तरह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाणोंसे आत्माको अनेक गुणमय जानना चाहिए ॥२६॥

आगे कहते हैं कि जीवादि वस्तुको सर्वथा नित्य या सर्वथा क्षणिक माननेपर अर्थक्रियाकारिता नहीं बनता, अतः अर्थक्रियाकारिता न बननेसे अवस्तुत्वका प्रसंग आता है—

यदि नित्य पदार्थ सहकारी कारणके बिना स्वयं ही कार्य करता है तो पहले क्षणमे ही समस्त अपना कार्य करनेसे दूसरे आदि क्षणोंमे कुछ भी नहीं करता। यदि कहोगे कि सहकारीकी अपेक्षासे ही वह अपना कार्य करता है तो अपना कार्य करनेमे सहकारीकी अपेक्षा करनेसे वह परिणामी-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक ही सिद्ध होता है। अतः नित्य वस्तु क्रमसे-कालक्रमसे तो कार्यकारी नहीं है। यदि कहोगे कि वह युगपत् अपना कार्य करता है सो भी कहना ठीक नहीं है। क्योकि सभी कार्योंके एक साथ एक ही क्षणमे उत्पन्न होनेका प्रसंग आता है। इसपर बौद्ध कहता है कि नित्य पदार्थ भले ही कार्यकारी न हो, क्षणिक तो है। इसपर जैनोंका कहना है कि क्षणिक वस्तु युगपत् कार्यकारी है तब भी एक ही क्षणमे सब कार्य उत्पन्न हो जानेसे दूसरे क्षणमे वह अकार्यकारी हो जायेगा। यदि कहोगे कि क्षणिक पदार्थ-क्रमसे कार्य करता है तो जैन कहते है कि आश्चर्य इस बातका है, जो कालान्तर और देशान्तरमे अव्यापी है उसमे आप क्रम स्वीकार करते है, ऐसे पदार्थमे न देशक्रम बनता है और न कालक्रम बनता है ॥२७॥

नित्यं—जीवादिवस्तु । स्वयं—सहकारिकारणमन्तरेणैव । अखिलार्थोत्पादनात्—सकलस्वकार्यकरणात् । प्राक्क्षणे—प्रथमक्षणे एव । परत—द्वितीयादिक्षणेषु । परिणामि—उत्पादव्ययध्रौव्यैकत्वलक्षणवृत्तियुक्तम् । अन्यकांक्षं—सहकारिकारणापेक्षम् । सर्वोद्भवाप्तेः सकृत्—सर्वेषा कार्याणा युगपदुत्पत्तिप्रसगात् । अतश्च—सकृत् सर्वोद्भवाप्तेरेव, सह—युगपदक्रमेणेत्यर्थ । अव्यापिनि—देशकालव्याप्तिरहिते । क. क्रमः ?—न कोऽपि देशक्रम. कालक्रमो वा स्यादित्यर्थ. । यथाहु —

यो यत्रैव स तत्रैव यो यदैव तदैव स ।
न देशकालयोर्व्याप्तिर्भावानामिह विद्यते ॥ [　　　]

विशेषार्थ—आचार्य अकलंक देवने कहा है—

'नित्य और क्षणिक पक्षमे अर्थात् नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमे अर्थक्रिया नहीं बनती। वह अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या अक्रम से होती है। अर्थक्रियाको ही पदार्थका लक्षण माना है।'[1]

आशय यह है कि अर्थक्रिया अर्थात् कार्य करना ही वस्तुका लक्षण है। जो कुछ भी नहीं करता वह अवस्तु है। अर्थक्रिया या तो क्रमसे होती है या युगपत् होती है। किन्तु नित्यैकान्त और क्षणिकैकान्तमे क्रम और अक्रम दोनों ही सम्भव नहीं है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—पहले एक कार्य करके फिर दूसरा कार्य करनेको क्रम कहते है। नित्य पदार्थ क्रमसे तो कार्य नहीं कर सकता; क्योंकि जिस स्वभावसे वह पहला कार्य करता है उसी स्वभावसे यदि दूसरा कार्य भी करता है तो दोनों ही कार्य एककालीन हो जायेंगे। तब पीछेवाला कार्य भी पहले वाले कार्यके कालमे ही हो जायेगा, क्योकि जिस स्वभाव से पहला कार्य जन्म लेता है उसी स्वभावसे पीछेका कार्य भी जन्म लेता है। यदि वह जिस स्वभावसे पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करता है उसी स्वभावसे पहलेवाले कार्यको उत्पन्न करता है तो पहले वाला कार्य भी पीछेवाले कार्यके कालमें ही उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि वह पीछेवाले कार्यको उत्पन्न करनेवाले स्वभावसे ही उत्पन्न होता है। यदि कहोगे कि यद्यपि दोनो कार्य एक ही स्वभावसे उत्पन्न होते हैं तथापि सहकारियोके क्रमके कारण उनमें क्रम माना जाता है, तब तो वे कार्य सहकारियोके द्वारा हुए ही कहे जायेंगे। यदि कहोगे कि नित्यके भी रहनेपर वे कार्य होते है इसलिए उन्हें सहकारिकृत नहीं कहा जा सकता तो जो कुछ कर नहीं सकता, उसके रहनेसे भी क्या प्रयोजन है ? अन्यथा घड़ेकी उत्पत्तिके समय गधा भी उपस्थित रहता है अत. घड़ेकी उत्पत्ति गधेसे माननी चाहिए। यदि कहोगे कि नित्य प्रथम कार्यको अन्य स्वभावसे उत्पन्न करता है और पीछेवाले कार्यको अन्य स्वभावसे, तो उसके दो स्वभाव हुए। अत. वह परिणामी सिद्ध होता है। अत. नित्य क्रमसे कार्य नहीं कर सकता। युगपद् भी कार्य नहीं करता, क्योंकि एक क्षणमें ही सब कार्योंको उत्पन्न करनेपर दूसरे आदि क्षणोंमे उसे करनेके लिए कुछ भी शेष न रहनेसे उसके असत्त्वका प्रसंग आता है। अत नित्य वस्तु क्रम और अक्रमसे अर्थक्रिया न कर सकनेसे अवस्तु ही सिद्ध होती है। इसी तरह क्षणिक वस्तु भी न तो क्रमसे अर्थक्रिया कर सकती हैं और न युगपत्। युगपत् अर्थक्रिया माननेसे एक ही क्षणमे सब

---

१. अर्थक्रिया न युज्येत नित्यक्षणिकपक्षयो ।
क्रमाक्रमाभ्या भावाना सा लक्षणतया मता ॥ —लघीयस्त्रय, ८

अथ आत्मन किंचिद् मूर्तत्वानुवादपुरस्सरं कर्मवन्धं समर्थयते—

स्वतोऽमूर्तोऽपि मूर्तेन यद्गत. कर्मणैकताम् ।
३ पुमाननादिसंतत्या स्यान्मूर्तो वन्धमेत्यत ॥२८॥

स्वतोऽमूर्तं—स्वरूपेण रूपादिरहित । उक्तं च—

अरसमरूवमगध अव्वत्त चेदणागुणमसद्दं ।
६ जाणमलिंगग्गहण जीवमणिद्दिट्ठसठाणं ॥ [प्रवचनसार २८० ।]

एकता—क्षीरनीरवदेकलोलीभावम् । स्यान्मूर्त । अत इत्यत्रापि मवव्यते । स्याच्छब्दोऽनेकान्तद्योतक एकान्तनिषेधक कथंचिदर्थे निपातः । ततः कर्मणा सह अन्योन्यप्रदेशानुप्रवेशलक्षणमेकत्वपरिणतिमापन्नो जीवो ९ व्यवहारेण मूर्त इत्युच्यते । तथा चोक्तम्—

वंध पडि एयत्तं लक्खणदो हवदि तस्स णाणत्तं ।
तम्हा अमुत्तिभावो णेयंतो हवदि जीवस्स ॥ [सर्वार्थसि. (२।७) में उद्धृत]

१२ अतः कथंचिन्मूर्तत्वात् ॥२८॥

कार्योंकी उत्पत्तिका प्रसंग आनेसे दूसरे क्षणमे उसे कुछ भी करनेको शेप नहीं रहेगा। और ऐसी स्थितिमे वह अवस्तु सिद्ध होगा। रहा क्रम, सो क्रमके दो प्रकार हैं—देशक्रम और कालक्रम। पहले एक देशमे कार्य करके फिर दूसरे देशमे कार्य करनेको देशक्रम कहते हैं। और पहले एक समयमे कार्य करके पुनः दूसरे समयमे कार्य करनेको कालक्रम कहते है। क्षणिकमे ये दोनों ही क्रम सम्भव नहीं हैं। क्योंकि वौद्धमत मे कहा है—

'क्षणिकवादमें जो जहाँ है वहीं है और जिस क्षणमे है उसी क्षणमे है। यहाँ पदार्थोंमें न देशव्याप्ति है और न कालव्याप्ति है अर्थात् एकक्षणवर्ती वस्तु न दूसरे क्षणमे रहती है और न दूसरे प्रदेश में। क्षणिक ही जो ठहरी। तव वह कैसे क्रमसे कार्य कर सकती है' ? ॥२७॥

आगे जीवको कथंचित् मूर्त वतलाते हुए कर्मवन्ध का समर्थन करते हैं—

यह जीव यद्यपि स्वरूपसे अमूर्तिक है तथापि वीज और अकुर की तरह अनादि सन्तानसे मूर्त पौद्गलिक कर्मोंके साथ दूध और पानीकी तरह एकमेक हो रहा है अतः कथंचित् मूर्तिक है। और कथंचित् मूर्त होनेसे ही कर्म पुद्गलोंके साथ वन्धको प्राप्त होता है ॥२८॥

विशेपार्थ—संसारी जीव भी स्वरूपसे अमूर्तिक है। जीवका स्वरूप इस प्रकार कहा है—

'जीवमें रस नहीं है, रूप नहीं है, गन्ध नहीं है, अव्यक्त है—सूक्ष्म है, शुद्ध चेतना उसका गुण है, शव्द रूप नहीं है, स्वसंवेदन ज्ञानका विपय है, इन्द्रियोंका विपय नहीं है तथा सव संस्थानो—आकारोंसे रहित है।

किन्तु स्वरूपसे अमूर्तिक होनेपर भी अनादि सन्तानसे जीव पौद्गलिक कर्मोंके साथ दूध पानीकी तरह मिला हुआ है। यद्यपि उस अवस्थामें भी जीव जीव ही रहता है और पौद्गलिक कर्म पौद्गलिक ही हैं। न जीव पौद्गलिक कर्मरूप होता है और न पौद्गलिक कर्म जीवरूप होते हैं। पौद्गलिक कर्मकी वात दूर, पौद्गलिक कर्मका निमित्त मात्र पाकर जीवमे होनेवाले रागादि भावोंसे भी वह तन्मय नहीं है। जैसे लाल फूलके निमित्तसे स्फटिक मणि लाल दिखाई देती है। परन्तु वह लाल रंग स्फटिकका निज भाव नहीं है, उस समय भी स्फटिक अपने श्वेतवर्णसे युक्त है। लालरंग उसके स्वरूपमे प्रवेश

अथ आत्मनो मूर्तत्वे युक्तिमाह—

विद्युदाद्यैः प्रतिभयहेतुभिः प्रतिहन्यते ।
यच्चाभिभूयते मद्यप्रायैर्मूर्तस्तदङ्गभाक् ॥२९॥ ३

विद्युदाद्यै —तडिन्मेघगर्जिताशनिपातादिभिः । प्रतिहन्यते—निद्वय(निरुद्ध)प्रसर क्रियते । अभिभूयते—व्याहतसामर्थ्यं क्रियते । मद्यप्रायै —मदिरा-मदन-कोद्रव-विषधत्तूरकादिभि. ॥२९॥

अथ कर्मणो मूर्तत्वे प्रमाणमाह— ६

किये विना ऊपर-ऊपर झलक मात्र दीखता है। रत्नका पारखी तो ऐसा ही जानता है किन्तु जो पारखी नही है उसे तो वह लालमणिकी तरह लाल ही प्रतिभासित होती है। उसी तरह जीव कर्मोंके निमित्तसे रागादिरूप परिणमन करता है। वे रागादि जीवके निजभाव नहीं हैं, आत्मा तो अपने चैतन्यगुणसे विराजता है। रागादि उसके स्वरूपमे प्रवेश किये विना ऊपरसे झलक मात्र प्रतिभासित होते है। ज्ञानी तो ऐसा ही जानता है क्योकि वह आत्म-स्वरूपका परीक्षक है। किन्तु जो उसके परीक्षक नहीं है उन्हें तो आत्मा रागादिस्वरूप ही प्रतिभासित होता है। यह प्रतिभास ही संसारका बीज है। इस तरह कर्मोंके साथ परस्परमे एक दूसरेके प्रदेशोका प्रवेशरूप एकत्वको प्राप्त हुआ जीव व्यवहारसे मूर्त कहाता है। कहा भी है—

'वन्धकी अपेक्षा जीव और कर्ममे एकपना है किन्तु लक्षण से दोनों भिन्न-भिन्न है। इसलिए जीवका अमूर्तिकपना अनेकान्त रूप है'। अतः जीव कथंचित् मूर्त है। इसीसे कर्मबन्ध होता है। यदि सर्वथा अमूर्तिक होता तो सिद्धों के समान उसके बन्ध नहीं होता ॥२८॥

आगे आत्माके मूर्त होनेमे युक्ति देते है—

अचानक उपस्थित हुए विजलीकी कड़क, मेघोंका गर्जन तथा वज्रपात आदि भयके कारणोंसे जीवका प्रतिघात देखा जाता है तथा मदिरा, विष, धतूरा आदिके सेवन से जीवकी शक्तिका अभिभव देखा जाता है—वह वेहोश हो जाता है अत. जीव मूर्त है ॥२९॥

विशेषार्थ—नशीली वस्तुओंके सेवनसे मनुष्यकी स्मृति नष्ट हो जाती है और वह वेहोश होकर लकडीकी तरह निश्चल पड जाता है। इसी तरह कर्मोंसे अभिभूत आत्मा मूर्त है ऐसा निश्चय किया जाता है। शायद कहा जाये कि मद्य, चक्षु आदि इन्द्रियोको ही अभिभूत करता है क्योकि इन्द्रियाँ पृथिवी आदि भूतोंसे वनी हैं, आत्माके गुणोपर मद्यका कोई प्रभाव नहीं होता क्योकि वह अमूर्तिक है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योकि विचारणीय यह है कि इन्द्रियाँ चेतन हैं या अचेतन ? यदि अचेतन हैं तो अचेतन होनेसे मद्य उनपर कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकता। यदि अचेतनपर भी मद्यका प्रभाव होता तो सबसे प्रथम उसका प्रभाव उस पात्रपर होना चाहिए जिसमे मद्य रखा जाता है। यदि कहोगे कि इन्द्रियाँ चेतन हैं तो पृथिवी आदि में तो चैतन्य स्वभाव पाया नहीं जाता। अत. पृथिवी आदि भूतोंसे वनी इन्द्रियोंको चेतन द्रव्यके साथ सम्बन्ध होनेसे ही चेतन कहा जाता है। अतः मद्य आत्मगुणो-को ही मोहित करता है यह सिद्ध होता है। और इससे आत्माका कथंचित् मूर्तिकपना सिद्ध होता है क्योकि अमूर्तिकका मूर्तिकके द्वारा अभिघात आदि नहीं हो सकता ॥२९॥

आगे कर्मोंके मूर्त होनेमे प्रमाण देते है—

यदाखुविषवन्मूर्तसंबन्धेनानुभूयते ।
यथास्वं कर्मणः पुंसा फलं तत्कर्म मूर्तिमत् ॥३०॥

३ फल—सुखदु खहेतुरिन्द्रियविषयः । प्रयोगः—कर्म मूर्तं मूर्तसवन्वेनानुभूयमानफलत्वादाखुविपवत् । आखुविषपक्षे फलं शरीरे मूषकाकारशोफरूपो विकार. ॥३०॥

अथ जीवस्य स्वोपात्तदेहमात्रत्व साधयति—

६ स्वाङ्ग एव स्वसवित्या स्वात्मा ज्ञानसुखादिमान् ।
यत. संवेद्यते सर्वः स्वदेहप्रमितिस्ततः ॥३१॥

स्वाङ्ग एव न परशरीरे नाप्यन्तराले स्वाङ्गेऽपि सर्वत्रैव तिलेपु तैलमित्यादिवदभिव्यापकाधारस्य ९ विवक्षितत्वात् । ज्ञानदर्शनादिगुणैः सुखदु खादिभिश्च पर्यायैः परिणत । प्रयोग —देवदत्तात्मा तद्देह एव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यमानत्वात् । यो यत्रैव यत्र सर्वत्रैव च (स्वासाधारणगुणाधारतयोपलभ्यते, स तत्रैव तत्र सर्वत्रैव च विद्यते । यथा देवदत्तगृहे एव तत्र सर्वत्रैव) १२ चोपलभ्यमान स्वासाधारणभासुरत्वादिगुण. प्रदीप । तथा चाय, तस्मात्तथेति । तदसाधारणगुणा ज्ञानदर्शनसुखवीर्यलक्षणा ते च सर्वाङ्गीणास्तत्रैव चोपलभ्यन्ते ।

यतः जीव चूहेके विषकी तरह कर्मके फल सुख-दुःखको मूर्तके सम्बन्धसे ही यथायोग्य भोगता है अतः कर्म मूर्तिक है । इसके आधारपर अनुमान प्रमाणसे सिद्ध होता है—कर्म मूर्त है क्योंकि उनका फल मूर्तके सम्बन्धसे भोगा जाता है, जैसे चूहेका विप । चूहेके काटनेपर उसके विषके प्रभावसे शरीरमें चूहेके आकारकी सूजन आती है ॥३०॥

विशेषार्थ—जो मूर्तिकके सम्बन्धसे पकता है वह मूर्तिक होता है । जैसे अन्न-धान्य वगैरह जल, सूर्यका ताप आदिके सम्बन्धसे पकते हैं अत. मूर्तिक हैं । इसी तरह कर्म भी गुड, कॉटा आदि मूर्तिमान् द्रव्यके मिलनेपर पकता है—गुड़ खानेसे सुखका अनुभव होता है, कॉटा चुभनेसे दु खका अनुभव होता है । इसलिए वह मूर्तिक है ॥३०॥

आगे जीवको अपने शरीरके बराबर परिमाणवाला सिद्ध करते है—

यतः सभी लोग अपने शरीरमे ही ज्ञान सुख आदि गुणोंसे युक्त अपनी आत्माका स्वसंवेदन प्रत्यक्षके द्वारा अनुभव करते है । अत. आत्मा अपने शरीरके बराबर ही परिमाणवाला है ॥३१॥

विशेषार्थ—ज्ञान-दर्शन आदि गुणो और सुख-दुःख आदि अपनी पर्यायोके साथ अपनी आत्माका अनुभव अपने शरीरमे ही सर्वत्र होता है, न तो पर-शरीरमे होता है और न अपने शरीर और पर-शरीरके मध्यमे होता है किन्तु तिलमें तेलकी तरह अपने शरीरमे ही सर्वत्र अपनी आत्माका स्वसवेदन प्रत्यक्षसे अनुभव होता है । जैसे मै सुखी हूँ या मै दुःखी हूँ । उसीपर-से यह अनुमान होता है—देवदत्तकी आत्मा उसके शरीरमे ही सर्वत्र विद्यमान है क्योंकि उसके शरीरमे ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोको लिये हुए पायी जाती है । जो जहाँपर ही सर्वत्र अपने असाधारण गुणोंको लिये हुए पाया जाता है वह वहाँ ही सर्वत्र विद्यमान रहता है, जैसे देवदत्तके घरमे ही सर्वत्र अपने असाधारण प्रकाश आदि गुणोको लिये हुए पाया जानेवाला दीपक । वैसे ही आत्मा भी सर्वत्र शरीरमे ही पायी जाती है इसलिए

'सुखमाह्लादनाकारं विज्ञानं मेयबोधनम्।
शक्तिः क्रियानुमेया स्याद्यून. कान्तासमागमे ॥' [स्याद्वादमहार्णव]

इति वचनात्। तस्मादात्मा स्वदेहप्रमाण इति ॥३१॥ ३

देहे देहे भिन्नो जीव इति दर्शयति—

यदैवैकोऽश्नुते जन्म जरां मृत्युं सुखादि वा।
तदैवान्योऽन्यदित्यङ्ग्या भिन्नाः प्रत्यङ्गसङ्गिन. ॥३२॥ ६

अन्यत्—जरादि जन्मादि च। यदा ह्येको जायते तदैवान्यो जीर्यति—म्रियते वा। यदा चैको जीर्यति म्रियते वा तदैवान्यो जायते। तथा यदैवैक सुखमैश्वर्यादिक वाऽनुभवति तदैवान्यो दु ख दौर्गत्यादिक वाऽनुभवतीति जगद्वैचित्र्यं कस्य न वास्तवी निराबाधबोधे प्रतिभासात्। अङ्ग्या —बोध्या ॥३२॥ ९

अथ चार्वाकं प्रति जीवस्य पृथिव्यादिभूतकार्यता प्रतिषेधयति—

चित्तश्चेत् क्ष्माद्युपादानं सहकारि किमिष्यते।
तच्चेत् तत्त्वान्तरं तत्त्वचतुष्कनियमः कुत ॥३३॥ १२

चित्त —चेतनाया उपादानम्। तल्लक्षण यथा—

त्यक्तात्यक्तात्मरूपं यत्पौर्वापर्येण वर्तते।
कालत्रयेऽपि तद्द्रव्यमुपादानमिति स्मृतम् ॥ [ ] १५

वह शरीरमें ही सर्वत्र रहती है। उसके असाधारण गुण हैं—ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि। ये गुण सब शरीरमें ही पाये जाते हैं। कहा है—

'आह्लादनाकार अनुभूतिको सुख कहते हैं और पदार्थके जाननेको ज्ञान कहते हैं। अत. आत्मा अपने शरीरके ही बराबर परिमाणवाला है' ॥३१॥

आगे कहते हैं कि प्रत्येक शरीरमे भिन्न जीव है—

जिस समय एक जीव जन्म लेता है उसी समय दूसरा जीव मरता है या वृद्ध होता है। जिस समय एक जीव मरता है या बूढा होता है उसी समय दूसरा जीव जन्म लेता है। जिस समय एक जीव सुख या ऐश्वर्यका भोग करता है उसी समय दूसरा जीव दु ख या दारिद्र्यको भोगता है। जगत्की यह वास्तविक विचित्रता किसको सत्यरूपसे प्रतिभासित नहीं होती। अत. प्रत्येक शरीरमे भिन्न-भिन्न जीव जानना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ—जैसे कुछ दार्शनिक आत्माको सर्वव्यापी या अणुमात्र मानते है वैसे ही अद्वैतवादी सब जीवोको एक ब्रह्मरूप ही मानते है। इन मतोंके खण्डनके लिए प्रमेय कमल मार्तण्ड, अष्ट सहस्री आदि दार्शनिक ग्रन्थ देखना चाहिए ॥३२॥

चार्वाक मानता है कि जीव पृथिवी आदि भूतोका कार्य है। उसका निषेध करते है—

यदि चार्वाक पृथिवी, जल, अग्नि और वायुको चेतनाका उपादान कारण मानता है तो उसका सहकारी कारण—बहिरंग कारण क्या है? क्योकि सभी कार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणोंके समूहसे ही उत्पन्न होते है। और यदि पृथिवी आदि चार भूतोंसे भिन्न कोई सहकारी कारण चार्वाक मानता है तो चार्वाकदर्शनमे कहा है—

'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि। तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' पृथिवी, जल, तेज, वायु ये चार ही तत्त्व है। उनके एकत्र होनेपर शरीर, इन्द्रिय, विषय आदि बनते हैं। ये जो चार तत्त्वोंका नियम है वह कहाँ रहता है ॥३३॥

सहकारि—वहिरङ्गं कारणं तदन्तरेण क्ष्माद्युपादानादेव चेतनालक्षणकार्योत्पत्त्यनुपपत्तेः । सकलकार्याणामन्तरङ्गवहिरङ्गकारणकलापाधीनजन्मत्वात् । तत्त्वान्तर—पृथिव्यादिचतुष्टयादन्यत् । स.—'पृथिव्यापस्तेजोवायुरिति तत्त्वानि तत्समुदये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा' इति चार्वाकसिद्धान्ते प्रसिद्धः । न च भूतानां चैतन्य प्रत्युपादानत्वमनुमानवाधनात् । तथाहि—यस्मिन् विक्रियमाणेऽपि यन्न विक्रियते न तत्तस्योपादानं, यथा गोरश्व , विक्रियमाणेष्वपि कायाकारपरिणतभूतेषु न विक्रियते च चैतन्यमिति । न चेदमसिद्धम्, अन्यत्र गतचित्ताना वासीचन्दनकल्पाना वा शस्त्रसपातादिना शरीरविकारेऽपि चैतन्यस्याविकारप्रसिद्धे । तदविकारेऽपि विक्रियमाणत्वाच्च तद्वदेव । न चेदमप्यसिद्ध शरीरगत प्राच्याप्रसन्नताद्याकारविनाशेऽपि कमनीयकामिनीसन्निधाने चैतन्ये हर्षादिविकारोपलम्भात् ॥३३॥

अथ का चेतना इत्याह—

अन्वितमहमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासिवोधेषु ।
प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित् ॥३४॥

अहमहमिकया—य एवाहं पूर्वं घटमद्राक्षं स एवाहमिदानी पटं पश्यामीत्यादिपूर्वोत्तराकारपरामर्शरूपया सवित्या । अखिलै —समस्तैश्छद्मस्थैर्जीवै । वेद्यते—स्वयमनुभूयते । चित्—चेतना । सा च कर्मफल-कार्य-ज्ञानचेतनाभेदात्त्रिधा ॥३४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक कार्यकी उत्पत्ति उपादानरूप अन्तरंग कारण और सहकारिरूप वहिरंग कारणसे होती है । दोनोंके विना नहीं होती । चार्वाक केवल चार ही तत्त्व मानता है और उन्हें जीवका उपादान कारण मानता है । ऐसी स्थितिमें प्रश्न होता है कि सहकारी कारण क्या है । यदि सहकारी कारण चार तत्त्वोंसे भिन्न है तो चार तत्त्वका नियम नहीं रहता । तथा पृथिवी आदि भूत चैतन्यके उपादान कारण भी नहीं हो सकते । उसमे युक्तिसे वाधा आती है उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जिसमें विकार आनेपर भी जो अविकारी रहता है वह उसका उपादान कारण नहीं होता । जैसे गायमे विकार आनेपर घोड़ेमें विकार नहीं आता अतः वह उसका उपादान कारण नहीं है । इसी तरह शरीरके आकाररूपसे परिणत पृथिवी आदि भूतोंमे विकार आ जानेपर भी चैतन्यमे कोई विकार नहीं आती, अतः वे उसका उपादान कारण नहीं हो सकते । यह वात असिद्ध नहीं है, जिनका ध्यान दूसरी ओर है और जिनके लिए छुरा और चन्दन समान हैं, शस्त्रके घातसे उनके शरीरमें विकार आनेपर भी चैतन्यमे कोई विकार नहीं आता । यह प्रसिद्ध वात है । इसका विशेष कथन प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि ग्रन्थोंमे देखा जा सकता है ॥३३॥

आगे चेतनाका स्वरूप कहते हैं—

यथायोग्य इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण करने योग्य घट-पट आदि पदार्थोंको जाननेवाले ज्ञानोंमें अनुस्यूत और जो मै पहले घटको देखता था वही मै अव पटको देखता हूँ इस प्रकार पूर्व और उत्तर आकारको विषय करनेवाले ज्ञानके द्वारा अपने स्वरूपको प्रकाशित करनेवाला जो रूप सभी अल्पज्ञानी जीवोंके द्वारा स्वयं अनुभव किया जाता है वही चेतना है ॥३४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक मनुष्य अपनी प्रत्येक क्रियाकी अनुभूति करते समय ऐसा विकल्प करता है, मैं खाता हूँ । मैं जाता हूँ । मैं देखता हूँ, मै सुनता हूँ । इस तरह यह जो प्रत्येक ज्ञानमे 'मै मै' यह रूप मोतीकी मालामें अनुस्यूत धागेकी तरह पिरोया हुआ है । इसके साथ ही 'जो मै पहले अमुक पदार्थको देखता था वही मै अब अमुक पदार्थको देखता हूँ' इस प्रकारका ज्ञान होता है जो पूर्व अवस्था और उत्तर अवस्था दोनोको अपनाये हुए हैं । इस

यद्येवं तर्हि कः किं प्राधान्येन चेतयत इत्याह—

सर्वं कर्मफलं मुख्यभावेन स्थावरास्त्रसाः ।
सकार्यं चेतयन्तेऽस्तप्राणित्वा ज्ञानमेव च ॥३५॥ ३

कर्मफलं—सुखदु खम् । स्थावरा—एकेन्द्रिया जीवा पृथिवीकायिकादय. । त्रसाः—द्वीन्द्रियादय. । सकार्यं—क्रियत इति कार्यं कर्म वुद्धिपूर्वो व्यापार इत्यर्थ । तेन सहितम् । कार्यचेतना हि प्रवृत्तिनिवृत्तिकारण-भूतक्रियाप्राधान्योत्पाद्यमानः सुखदु खपरिणाम. । चेतयन्ते—अनुभवन्ति । अस्तप्राणित्वा —व्यवहारेण ६ जीवन्मुक्ता । परमार्थेन परममुक्ता एव हि निजीर्णकर्मफलत्वादत्यन्तकृतकृत्यत्वाच्च स्वतोऽव्यतिरिक्तस्वाभाविकसुख ज्ञानमेव चेतयन्ते । जीवन्मुक्तास्तु मुख्यभावेन ज्ञान गौणतया त्वन्यदपि । ज्ञानादन्यत्रेदमहमिति चेतन ह्यज्ञान-चेतना । सा द्विविधा कर्मचेतना कर्मफलचेतना च । तत्र ज्ञानादन्यत्रेदमहं करोमीति चेतनं कर्मचेतना । ९

ज्ञानमें जो रूप प्रतिभासित होता है वही चेतना है। यह रूप न तो इन्द्रियमूलक है और न इन्द्रियजन्य ज्ञानमूलक है। इन्द्रियाँ तो अचेतन है और ज्ञान क्षणिक है। घटज्ञान घटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है और पटज्ञान पटको जाननेके बाद नष्ट हो जाता है। घटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है और पटको जाननेवाला ज्ञान भिन्न है। फिर भी कोई एक ऐसा व्यक्तित्व है जो दोनों ज्ञानोंमे अनुस्यूत है, तभी तो वह अनुभव करता है कि जो मैं पहले अमुकको जानता था वही अब मैं अमुकको जानता हूँ यही चेतना या आत्मा है। उस चेतनाके तीन प्रकार हैं—कर्मचेतना, कर्मफल चेतना और ज्ञानचेतना ॥३४॥

किन जीवोंके कौन चेतना होती है यह वतलाते है—

सब पृथिवीकायिक आदि एकेन्द्रिय स्थावर जीव मुख्य रूपसे सुख-दुःखरूप कर्म-फलका अनुभवन करते हैं। दो-इन्द्रिय आदि त्रस जीव मुख्य रूपसे कार्य चेतना का अनु-भवन करते हैं और जो प्राणिपनेको अतिक्रान्त कर गये हैं वे ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं ॥३५॥

विशेषार्थ—आत्माका स्वरूप चैतन्य ही है। आत्मा चैतन्यरूप ही परिणमित होता है। इसका आशय यह है कि आत्माका कोई भी परिणाम चेतनाको नहीं छोड़ता। चेतनाके तीन भेद हैं—ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। अर्थ विकल्पको ज्ञान कहते हैं। स्व और परके भेदको लिये हुए यह समस्त विश्व अर्थ है। और उसके आकारको जानना विकल्प है। जैसे दर्पणमे स्व और पर आकार एक साथ प्रकाशित होते हैं उसी प्रकार जिससे एक साथ स्व-पर आकार प्रतिभासित होते है ऐसा अर्थ विकल्प ज्ञान है। जो आत्माके द्वारा किया जाता है वह कर्म है। अत आत्माके द्वारा प्रति समय किया जानेवाला जो भाव है वही आत्माका कर्म है। वह कर्म यद्यपि एक प्रकारका है तथापि द्रव्यकर्मकी उपाधिकी निकटताके होने और न होनेसे अनेक रूप है। उस कर्मके द्वारा होनेवाला सुख-दु ख कर्मफल है। द्रव्यकर्मरूप उपाधिके नही होनेसे जो कर्म होता है उसका फल अना-कुलता रूप स्वाभाविक सुख है। और द्रव्यकर्मरूप उपाधिका सान्निध्य होनेसे जो कर्म होता है उसका फल विकाररूप दु ख है क्योकि संसारके सुखमे सुखका लक्षण नही पाया जाता। इस तरह चेतनाके तीन रूप हैं। जिन आत्माओका चेतक स्वभाव अति प्रगाढ़ मोहसे मलिन होता है तथा तीव्रतर ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उसकी शक्ति कुण्ठित होती है और अति प्रकृष्ट वीर्यान्तरायसे कार्य करनेकी शक्ति भी नष्ट हो जाती है ऐसे स्थावर एकेन्द्रिय जीव प्रधान रूपसे सुख-दु खरूप कर्मफलका ही अनुभवन करते हैं। जिन जीवोका चेतक

ज्ञानादन्यत्रेद चेतयेऽहमिति चेतनं कर्मफलचेतना। सा चोभय्यपि जीवन्मुक्ते गणी (गौणी) बुद्धिपूर्वककर्तृत्व-भोक्तृत्वयोरुच्छेदात्। श्लोक —

३ निर्मलोन्मुद्रितानन्तशक्तिचेतयितृत्वतः।
ज्ञान निस्सीमशर्मात्म विन्दन् जीयात् परः पुमान्॥

उक्त च—

६ सव्वे खलु कम्मफल थावरकाया तसा हि कज्जजुदा।
पाणित्तमदिक्कता णाण विदति ते जीवा॥३५॥
[पञ्चास्ति. ३९]

स्वभाव अति प्रगाढ मोहसे मलिन होनेपर भी और तीव्र ज्ञानावरण कर्मसे शक्तिके मुद्रित होनेपर भी थोड़े-से वीर्यान्तराय कर्मके क्षयोपशमसे कार्य करनेकी शक्ति प्राप्त है वे सुख-दुःख-रूप कर्मफलके अनुभवनसे मिश्रित कर्मको ही प्रधान रूपसे अनुभवन करते हैं। किन्तु समस्त मोहनीय कर्म और ज्ञानावरणीय कर्मके नष्ट हो जानेसे जिनका चेतक स्वभाव अपनी समस्त शक्तिके साथ प्रकट है वे वीर्यान्तरायका क्षय होनेसे अनन्त वीर्यसे सम्पन्न होनेपर भी अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते हैं क्योंकि कर्मफलकी निर्जरा हो जानेसे और अत्यन्त कृतकृत्य होनेसे कर्मफल चेतना और कर्म चेतनाको वहाँ अवकाश ही नहीं है। आचार्य कुन्दकुन्दने ऐसा ही कहा है कि सब स्थावरकाय कर्मफलका अनुभवन करते हैं। त्रस कर्मचेतनाका अनुभवन करते है। और प्राणित्वको अतिक्रान्त करनेवाले ज्ञानचेतनाका अनुभवन करते है। यहाँ प्राणित्व अतिक्रान्तका अर्थ आचार्य अमृतचन्द्रने केवलज्ञानी किया है और आचार्य जयसेनने सिद्धजीव किया है। इन दोनों आचार्योंके कथनोंको दृष्टिमे रखकर ग्रन्थकार आशाधरने अपनी टीकामे 'अस्तप्राणित्वाः'का अर्थ प्राणित्वसे अतिक्रान्त जीव करके व्यवहारसे जीवन्मुक्त और परमार्थसे परममुक्त दोनोंको लिया है। और लिखा है—मुक्त जीव ही अपनेसे अभिन्न स्वाभाविक सुखरूप ज्ञानका ही अनुभवन करते है क्योकि उनके कर्मफल निर्जीर्ण हो चुका है और वे अत्यन्त कृतकृत्य है। किन्तु जीवन्मुक्त केवली मुख्य रूपसे ज्ञानका और गौण रूपसे अन्य चेतनाका भी अनुभवन करते हैं। क्योकि उनमें बुद्धिपूर्वक कर्तृत्व और भोक्तृत्वका उच्छेद हो जाता है। असलमे आत्मा ज्ञानस्वरूप है। आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है[1] आत्मा ज्ञानस्वरूप है, इतना ही नहीं, वह स्वयं ज्ञान है। ज्ञानसे अन्य वह क्या करता है। आत्मा परभावका कर्ता है यह कहना तो व्यवहारी जीवोंका अज्ञान है।

अतः ज्ञानसे अन्य भावोमे ऐसा अनुभव करना कि यह मै हूँ यह अज्ञान चेतना है। उसीके दो भेद हैं—कर्म चेतना और कर्मफल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोमे ऐसा अनुभव करना कि इसका मै कर्ता हूँ यह कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोंमे ऐसा अनुभव करना कि इसका मैं भोगता हूँ यह कर्मफल चेतना है। ये दोनों अज्ञान चेतना ससारकी बीज हैं। क्योकि संसारके बीज तो आठ कर्म है उनकी बीज अज्ञान चेतना है। उससे कर्मबन्ध होता है। इसलिए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाका विनाश करनेके लिए सकल

१ आत्मा ज्ञान स्वय ज्ञान ज्ञानादन्यत् करोति किम्।
परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्॥ —समय. कलश, ६२

अथ आस्रवतत्त्वं व्याचष्टे—

ज्ञानावृत्यादियोग्याः सदृगधिकरणा येन भावेन पुंसः
शस्ताशस्तेन कर्मप्रकृतिपरिणतिं पुद्गला ह्यास्रवन्ति ।
आगच्छन्त्यास्रवोसावकथि पृथगसद्दृग्मुखस्तत्प्रदोष-
पूर्वो वा विस्तरेणास्रवणमुत मतः कर्मतात्ति' स तेषाम् ॥३६॥

३

सदृगधिकरणा'—जीवेन सह समानस्थाना । उक्तं च—

६

अत्ता कुणदि सहावं तत्थ गदा पोग्गला सहावेहि ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाढमवगाढा ॥ [पञ्चास्ति ६५]

शस्ताशस्तेन—शस्तेन युक्तः शस्त', अशस्तेन युक्तोऽशस्त. । शस्ताशस्तेन शुभेनाशुभेन चेत्यर्थ । तत्र शुभ प्रशस्तरागादि. पुण्यास्रव । अशुभ सज्ञादि पापास्रव. । तथा चोक्तम्—

९

कर्म संन्यास भावना और कर्मफल संन्यास भावनाके द्वारा नित्य ही एक ज्ञान चेतनाको मानना चाहिए। इन बातोंको दृष्टिमे रखकर पंचाध्यायीकारने सम्यग्दृष्टिके ज्ञानचेतना कही[1] है। यथा—

'यहाँ ज्ञान शब्दसे आत्मा वाच्य है क्योंकि आत्मा स्वयं ज्ञानमात्र है। ज्ञानचेतनाके द्वारा वह शुद्ध आत्मा अनुभवनमें आता है इसलिए उसे शुद्धज्ञान चेतना कहते है। इसका आशय यह है कि जिस समय ज्ञानगुण सम्यक् अवस्थाको प्राप्त होकर आत्माकी उपलब्धि रूप होता है उसे ज्ञान चेतना कहते हैं। वह ज्ञान चेतना नियमसे सम्यग्दृष्टि जीवके होती है, मिथ्यादृष्टिके कभी भी नही होती क्योंकि मिथ्यात्वकी दशामे ज्ञान चेतनाका होना असम्भव है।' इस तरह सम्यक्त्वके साथ ज्ञान चेतनाका आशिक प्रादुर्भाव होता है। क्योंकि सम्यग्दृष्टि ज्ञानके सिवाय परभावों में कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि नहीं रखता। किन्तु उसकी पूर्ति जीवन्मुक्त केवली दशामें होती है ॥३५॥

आस्रवतत्त्वको कहते हैं—

जीवके जिस शुभ या अशुभ भावसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य और जीवके साथ उसके समान स्थानमे रहनेवाले पुद्गल आते हैं—ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणत होते हैं उसे आस्रव कहते हैं। विस्तारसे मिथ्यादर्शन आदि तथा तत्प्रदोष आदि रूप आस्रव कहा है। अथवा उन पुद्गलोंका आना—उनका ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणत होना आस्रव पूर्वाचार्योंको मान्य है ॥३६॥

विशेषार्थ—जैन सिद्धान्तमें २३ प्रकारकी पुद्गल वर्गणाएँ कही है। उन्हीमें-से कर्मवर्गणा है। कर्मयोग्य पुद्गल सर्वलोकव्यापी है। जहाँ आत्मा होती है वहाँ विना बुलाये स्वयं ही वर्तमान रहते है। ऐसी स्थितिमें ससार अवस्थामे आत्मा अपने पारिणामिक चैतन्य

---

१. अत्रात्मा ज्ञानशब्देन वाच्यस्तन्मात्रत स्वयम् ।
स चेत्यतेऽनया शुद्ध शुद्धा सा ज्ञानचेतना ॥
अर्थाज्ज्ञान गुण सम्यक् प्राप्तावस्थान्तर यदा ।
आत्मोपलब्धिरूप स्यादुच्यते ज्ञानचेतना ॥
सा ज्ञानचेतना नूनमस्ति सम्यग्दृगात्मन ।
न स्यान्मिथ्यादृश. क्वापि तदात्वे तदसम्भवात् ॥—पञ्चाध्या. उ., १९६–१९८

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपासंसिदो य परिणामो।
चित्तम्मि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्सासवदि ॥ [पञ्चास्ति. १३५]
३ संण्णाओ य तिलेस्सा इंदियवसदा अ अट्टरुद्दाणि।
णाणं च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ॥ [पञ्चास्ति. १४०]

स एष भावास्रवः पुण्यपापकर्मरूपद्रव्यास्रवस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं स्यात्।
६ तन्निमित्तश्च शुभाशुभकर्मपरिणामो योगद्वारेण प्रविशतां पुद्गलानां द्रव्यास्रवः स्यात्। तथा चोक्तम्—

आसवदि जेण कम्मं परिणामेणप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥ [द्रव्यसं. २९]

९ कर्मप्रकृतिपरिणति—ज्ञानावरणादिकर्म स्वभावेन परिणमनम्। उक्तम्—

स्वभावको तो नहीं छोड़ता, किन्तु अनादिकालसे कर्मबन्धनसे बद्ध होनेके कारण अनादि मोह राग द्वेषसे स्निग्ध हुए अविशुद्ध भाव करता रहता है। जिस भी समय और जिस भी स्थानपर वह अपने मोहरूप, रागरूप या द्वेषरूप भाव करता है, उसी समय उसी स्थानपर उसके भावोंका निमित्त पाकर जीवके प्रदेशोंमें परस्पर अवगाह रूपसे प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभावसे ही कर्मरूप हो जाते हैं। इसीका नाम आस्रव है। यह आस्रव योगके द्वारा होता है। मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिका नाम योग है। योगरूपी द्वारसे आत्मामें प्रवेश करनेवाले कर्मवर्गणारूप पुद्गल ज्ञानावरण आदि कर्मरूपसे परिणमन करते हैं। आस्रवके दो भेद है—द्रव्यास्रव और भावास्रव। इनका स्वरूप इस प्रकार[1] है—

'आत्माके जिस परिणामसे कर्म आते है उसे भावास्रव जानो और कर्मोंका आना द्रव्यास्रव है।'

जीवके जिस परिणामसे कर्म आते है वह परिणाम या भाव या तो शुभ होता है या अशुभ होता है। शुभ भावसे पुण्यकर्मका आस्रव होता है और अशुभ भावसे पापकर्मका आस्रव होता है।

कहा भी है—

'जिसका राग प्रशस्त है अर्थात् जो पंचपरमेष्ठीके गुणोंमें, उत्तम धर्ममें अनुराग करता है, जिसके परिणाम दयायुक्त है और मनमें क्रोध आदि रूप कलुषता नही है उस जीवके पुण्यकर्मका आस्रव होता है।'

तीव्र मोहके उदयसे होनेवाली आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा, तीव्र कषायके उदयसे रँगी हुई मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिरूप कृष्ण, नील, कापोत ये तीन लेश्याएँ, राग-द्वेषके उदयके प्रकर्षसे तथा इन्द्रियो की अधीनतारूप राग-द्वेषके उद्रेकसे प्रिय संयोग, अप्रियका वियोग, कष्टसे मुक्ति और आगामी भोगोकी इच्छारूप आर्तध्यान, कषायसे चित्तके क्रूर होनेसे हिंसा, असत्य, चोरी और विषय संरक्षणमें आनन्द मानने रूप रौद्र ध्यान, शुभकर्म-को छोड़कर दुष्कर्मोंमें लगा हुआ ज्ञान और दर्शनमोहनीय तथा चारित्र मोहनीयके उदयसे होनेवाला अविवेकरूप मोह ये सब पापास्रवके कारण है।

---

१. आसवदि जेण कम्मं परिणामेप्पणो स विण्णेओ।
भावासवो जिणुत्तो कम्मासवणं परो होदि ॥—द्रव्यसं, गा २९।

णाणावरणादीणं जोग्गं जं पोग्गलं समासवदि ।
दव्वासवो स णेओ अणेयभेओ जिणक्खादो ॥ [द्रव्यस ३१]

पृथक्—प्रत्येकम् । असद्दृग्मुखः—मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगपञ्चकम् । तत्प्रदोषपृष्ठः—'तत्प्रदोषनिह्नवमात्सर्यान्तरायासादनोपघाता ज्ञानदर्शनावरणयो' इत्यादिसूत्रपाठक्रमोक्त । स.—आस्रव. । तेषा ज्ञानावृत्यादियोग्यपुद्गलानाम् । अत्रैव द्रव्यास्रव. पूर्वश्च भावास्रव. इति मन्तव्यम् ॥३६॥ ३

अथ भावास्रवभेदप्रतिपत्त्यर्थमाह— ६

मिथ्यादर्शनमुक्तलक्षणमसुभ्रंशादिकोऽसंयमः
शुद्धावष्टविधौ दशात्मनि वृषे मान्द्यं प्रमादस्तथा ।
क्रोधादिः किल पञ्चविंशतितयो योगस्त्रिधा चास्रवाः ९
पञ्चैते यदुपाधयः कलियुजस्ते तत्प्रदोषादयः ॥३७॥

उक्तलक्षण—'मिथ्यात्वकर्मपाकेन' इत्यादिग्रन्थेन । असुभ्रंशादिक.—हिंसाविषयाभिलापप्रमुख. । अष्टविधौ—अष्टप्रकाराया वक्ष्यमाणायाम् । मान्द्य—अनुत्साह' । उक्त च— १२

इस प्रकार शुभ और अशुभ भाव द्रव्य पुण्यास्रव और द्रव्य पापास्रवके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत हैं । अतः जिस क्षणमे द्रव्य पुण्य या द्रव्य पापका आस्रव होता है उसके पश्चात् उन शुभाशुभ भावोको भावपुण्यास्रव और भावपापास्रव कहा जाता है । और उन शुभाशुभ भावोंके निमित्तसे योग द्वारा प्रविष्ट होनेवाले पुद्गलोका जो शुभाशुभ कर्मरूप परिणाम है वह द्रव्यपुण्यास्रव और द्रव्यपापास्रव है । इस तरह भावास्रवके निमित्तसे द्रव्यास्रव और द्रव्यास्रवके निमित्तसे भावास्रव होता है । भावास्रवके विस्तारसे अनेक भेद हैं । सामान्यसे मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये पाँच भेद हैं । तथा तत्त्वार्थसूत्रके छठे अध्यायमे प्रत्येक ज्ञानावरण आदि कर्मके आस्रवके भिन्न-भिन्न कारण वतलाये हैं । जैसे—

ज्ञान और दर्शनके विषयमें प्रदोष, निह्नव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात करनेसे ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मका आस्रव होता है । इत्यादि । प्रत्येकके अलग-अलग कारण कहे हैं ॥३६॥

आगे भावास्रवके भेद कहते हैं—

मिथ्यादर्शनका लक्षण पहले कह आये हैं । प्राणिका घात आदि करना असंयम है । आठ प्रकारकी शुद्धियोंमे और दश प्रकारके धर्ममे आलस्य करना प्रमाद है । क्रोध आदि पचीस कषाय है । तीन प्रकारका योग है । ये पाँच भावास्रवके भेद है । इन्हींके विशेष भेद प्रदोप आदि हैं जो जीवसे कर्मोंको संयुक्त करते हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—भावास्रवके मूल भेद पाँच है—मिथ्यादर्शन, असंयम या अविरति, प्रमाद, कषाय और योग । मिथ्यादर्शन-का स्वरूप पहले वतला दिया है । प्राणोंके घात करने आदिको असंयम या अविरति कहते है; उसके बारह भेद हैं—पृथिवी काय आदि छह कायके जीवोका घात करना और पाँचो इन्द्रियो तथा मनको वशमें न रखना । अच्छे कार्योंमें उत्साहके न होनेको या उनमे अनादरका भाव होनेको प्रमाद कहते हैं । उसके अनेक भेद हैं । जैसे उत्तम क्षमा आदि दस धर्मोंमे तथा आठ प्रकारकी शुद्धियोमे प्रमाद का होना । कहा भी है—

संज्वलनोकषायाणा यः स्यात्तीव्रोदयो यतेः ।
प्रमादः सोऽस्त्यनुत्साहो धर्मे शुद्ध्यष्टके तथा ॥ [लङ्घा पं. स. १।३९]

३ तद्भेदा पञ्चदश यथा—

विकहा तहा कसाया इदिय णिद्दा तह य पणओ य ।
चदु चदु पण एगेगं होंति पमादा हु पण्णरसा ॥ [गो. जी. ३४]

६ क्रोधादिः—क्रोधमानमायालोभा प्रत्येकमनन्तानुवन्ध्यप्रत्याख्यानावरण - प्रत्याख्यानावरणसंज्वलन-विकल्पा' पोडश हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सा-स्त्रीवेद-पुवेद-नपुसकवेदाश्च नवेति पञ्चविंशत्यवयव कपायवर्गः किल ।

९ 'कषाया. षोडश प्रोक्ता नोकषाया यतो नव ।
ईपद्भेदो न भेदोऽतः कषाया. पञ्चविंशतिः ।' [ ]

'जिससे मुनिके संज्वलन और नोकपायका तीव्र उदय होता है उसे प्रमाद कहते हैं। तथा दस धर्मों और आठ शुद्धियोंके पालनमे अनुत्साहको प्रमाद कहते हैं। उसके पन्द्रह भेद हैं—चार विकथा (स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा, राजकथा), चार कपाय, पॉच इन्द्रियॉ, एक निद्रा और एक स्नेह—ये पन्द्रह प्रमाद हैं। पचीस कपाय है—अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ। इस तरह ये सोलह कपाय है। तथा नौ नोकपाय है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुपवेद, नपुंसक वेद। ये ईपत् कपाय हैं, क्रोधादि कपायोंका वल पाकर ही प्रवुद्ध होती है इसलिए इन्हें नोकपाय कहते हैं। ये सव पचीस कपाय हैं। आत्माके प्रदेशोंमे जो परिस्पन्द-कम्पन होता है उसे योग कहते हैं। मन-वचन-कायका व्यापार उसमे निमित्त होता है इसलिए योगके तीन भेद होते है। इनमे-से पहले गुणस्थानमे पॉच कारण होते हैं। 'सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्-मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानोंमे चार ही कारण होते है क्योकि उनमे मिथ्यात्व-का अभाव है। संयतासंयतके अविरति तो विरतिसे मिश्रित है क्योंकि वह देश संयमका धारक होता है तथा प्रमाद कपाय और योग होते है। प्रमत्तसंयतके मिथ्यात्व और अविरतिका अभाव होनेसे केवल प्रमाद कपाय और योग होते है। अप्रमत्तसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय-संयत पर्यन्त चार गुणस्थानोंमे केवल कपाय और योग होते है। उपशान्तकपाय, क्षीणकपाय और सयोगकेवलीके एक योग ही होता है। अयोगकेवली अवन्धक है उनके वन्धका हेतु नहीं है।

सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थराजवार्तिक, पञ्चसंग्रह, गोमट्टसार कर्मकाण्ड आदि सभी ग्रन्थोंमें गुणस्थानोंमे वन्धके उक्त कारण वतलाये है। किन्तु पं. आशाधरजीने अपनी टीका भ. कु. च. मे तृतीय गुणस्थानमे पॉच कारण वतलाये हैं अर्थात् मिथ्यात्वको भी वतलाया है किन्तु मिथ्यात्वका उदय केवल पहले गुणस्थानमे ही वतलाया गया है। सम्यक्मिथ्यात्व कर्म वस्तुत. मिथ्यात्वकर्मका ही अर्धशुद्ध रूप है, सम्भवतया इसीसे आशाधरजीने मिथ्यात्व-

१. 'पोडशैव कपाया' स्युर्नोकपाया नवेरिता ।
ईपद्भेदो न भेदोऽत्र कपाया पञ्चविंशति ॥' [तत्त्वार्थसार ५।११]

इति आगमोक्त्या। योग आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणो मनोवाक्कायव्यापार । यदुपाधय:—येपा मिथ्यादर्शनादिभावास्रवभेदाना विशेपा. । कलियुज.—ज्ञानावरणादिकर्मबन्धका ॥३७॥

अथ बन्धस्वरूपनिर्णयार्थमाह— ३

स बन्धो वध्यन्ते परिणतिविशेषेण विवशी-
क्रियन्ते कर्माणि प्रकृतिविदुषो येन यदि वा।
स तत्कर्माम्नातो नयति पुरुषं यत्स्ववशतां, ६
प्रदेशानां यो वा स भवति मिथ श्लेष उभयोः ॥३८॥

परिणतिविशेषेण—मोहरागद्वेपस्निग्धपरिणामेन मोहनीयकर्मोदयसपादितविकारेणेत्यर्थं । स एप जीवभाव. कर्मपुद्गलाना विशिष्टशक्तिपरिणामेनावस्थानस्य निमित्तत्वाद् बन्धस्यान्तरङ्गकारण जीवप्रदेशवर्ति ९ कर्मस्कन्धानुप्रवेशलक्षणकर्मपुद्गलग्रहणस्य कारणत्वाद् वहिरङ्गकारण योग । तद्विवक्षाया परिणतिविशेपेणेत्यस्य

का उदय तीसरेमें माना है। किन्तु यह परम्परासम्मत नहीं है। इसी तरह उन्होने संयतासंयतमें मिथ्यात्वके साथ अविरतिका अभाव वतलाया है किन्तु यह कथन भी शास्त्रसम्मत नहीं है। पाँचवे गुणस्थानमें पूर्णविरति नहीं होती, एकदेशविरति होती है। हम नही कह सकते कि आशाधर-जैसे वहुश्रुत ग्रन्थकारने ऐसा कथन किस दृष्टिसे किया है। आगममे हमारे देखनेमें ऐसा कथन नहीं आया। यहाँ हम कुछ प्रमाण उद्धृत करते हैं—

प्राकृत पचसंग्रह और कर्मकाण्डमे प्रमादको अलगसे वन्धके कारणोंमे नहीं लिया है। इसलिए वहाँ प्रथम गुणस्थानमे चार, आगेके तीन गुणस्थानोंमे तीन, देशविरतमे अविरतिसे मिश्रित विरति तथा कपाय योग वन्धके हेतु है ॥३७॥

वन्धका स्वरूप कहते है—

पूर्ववद्ध कर्मोंके फलको भोगते हुए जीवकी जिस परिणति विशेपके द्वारा कर्म वँधते है अर्थात् परतन्त्र कर दिये जाते है उसे वन्ध कहते है। अथवा जो कर्म जीवको अपने अधीन कर लेता है उसे वन्ध कहा है। अथवा जीव और कर्मके प्रदेशोंका जो परस्परमे मेल होता है उसे वन्ध कहते है ॥३८॥

विशेपार्थ—यहाँ तीन प्रकारसे वन्धका स्वरूप वतलाया है। पहले कहा है कि कर्मवद्ध संसारी जीवकी जिस परिणति विशेपके द्वारा कर्म वाँधे जाते है—परतन्त्र वनाये जाते है वह वन्ध है। यहाँ कर्मसे कर्मरूप परिणत पुद्गल द्रव्य लेना चाहिए। और परतन्त्र किये जानेसे यह आशय है कि योगरूपी द्वारसे प्रवेश करने की दशामे पुण्य-पापरूपसे परिणमन करके और प्रविष्ट होनेपर विशिष्ट शक्तिरूपसे परिणमाकर भोग्यरूपसे सम्बद्ध किये जाते हैं। यहाँ परिणति विशेपसे मोह-राग और द्वेपसे स्निग्ध परिणाम लेना चाहिए। अर्थात् मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले विकारसे युक्त जीव भाव। वही जीव भाव कर्मपुद्गलोके विशिष्ट शक्ति रूपसे अवस्थानमे निमित्त होनेसे वन्धका अन्तरंग कारण है। और कर्मपुद्गल ग्रहण-

---

१. 'सासादन-सम्यग्दृष्टि-सम्यक्मिथ्यादृष्टि-असयतसम्यग्दृष्टीनामविरत्यादयश्चत्वार । सयतासयतस्याविरतिर्विरतिमिश्रा. । —सर्वार्थ , त. रा वा. ८।१

चदुपच्चइओ वधो पढमे अणतरतिये तिपच्चइओ।
मिस्सय विदिओ उवरिमदुग च देसेक्कदेसम्हि ॥ —प्रा प स ४।७८

योग इत्यर्थो वाच्य· मनोवाक्कायवर्गणालम्बनात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणस्य तस्यापि जीवविकारित्वाविशेषात्। एतेन वाह्यमान्तरं वन्धकारण व्याख्यात प्रतिपत्तव्यम्। उक्त च—

जोगणिमित्तं गहणं जोगो मणवयणकायसंभूदो।
भावणिमित्तो बधो भावो रदिरायदोसमोहजुदो॥ [पञ्चास्ति १४८]

प्रकृतिविदुषः—प्राक्तन कर्मानुभवतो जीवस्य। स तत्कर्मेत्यादि—एपः कर्मस्वातन्त्र्यविवक्षाया वन्ध उक्तो द्विष्ठत्वात्तस्य। मिथ श्लेप । वन्धन वन्ध इति निरुक्तिपक्षे। उक्त च—

परस्परं प्रदेशाना प्रवेशो जीवकर्मणो.।
एकत्वकारको बन्धो रुक्मकाञ्चनयोरिव॥ [अमित. पं. स (पृ. ५४) पर उद्धृत]

तदत्र मोहरागद्वेषस्निग्ध· शुभोऽशुभो वा परिणामो जीवस्य भावबन्ध.। तन्निमित्तेन शुभाशुभकर्मत्वपरिणताना जीवेन सहान्योन्यमूर्च्छन पुद्गलाना द्रव्यबन्ध·। उक्त च—

वज्झदि कम्मं जेण दु चेदणभावेण भावबधो सो।
कम्मादपदेसाण अण्णोण्णपवेसणं इदरो॥

का अर्थ है जीवके प्रदेशोंमे कर्मस्कन्धोका प्रवेश। उसका कारण है योग। अत. योग बहिरंग कारण है। उसकी विवक्षामें परिणति विशेषका अर्थ योग लेना चाहिए। मनोवर्गणा, वचन-वर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे जो आत्मप्रदेशोमें हलन-चलन होता है उसे योग कहते है। वह योग भी जीवका विकार है। इस तरह वन्धके अन्तरंग और बहिरंग कारण जानना।

पचास्तिकाय गाथा १४ का व्याख्यान करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रजीने कहा है—

ग्रहणका अर्थ है कर्मपुद्गलोका जीवके प्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रमें स्थित कर्मस्कन्धोंमें प्रवेश। उसका निमित्त है योग। योग अर्थात् वचनवर्गणा, मनोवर्गणा और कायवर्गणाके आलम्बनसे होनेवाला आत्मप्रदेशोंका परिस्पन्द। बन्धका अर्थ है कर्मपुद्गलोका विशिष्ट शक्तिरूप परिणाम सहित स्थित रहना। उसका निमित्त है जीवभाव। जीवभाव मोह राग-द्वेपसे युक्त है अर्थात् मोहनीयके उदयसे होनेवाला विकार। अत· यहाँ पुद्गलोंके ग्रहणका कारण होनेसे बहिरंग कारण योग है और विशिष्ट शक्तिकी स्थितिमें हेतु होनेसे जीव भाव ही अन्तरंग कारण है। वन्धका दूसरा लक्षण है जो जीवको परतन्त्र करता है। यह कर्मकी स्वातन्त्र्य विवक्षामे वन्धका स्वरूप कहा है क्योकि वन्ध दोमें होता है। तीसरा लक्षण है जीव और कर्मस्कन्धके प्रदेशोंका परस्परमें श्लेप। कहा है—

'चाँदी और सोने की तरह जीव और कर्मके प्रदेशोका परस्परमें एकत्व करानेवाला प्रवेश वन्ध है।'

जैसे पात्रविशेपमे डाले गये अनेक रस और शक्तिवाले पुष्प और फल शराबके रूपमे बदल जाते है वैसे ही आत्मामे स्थित पुद्गल भी योगकपाय आदिके प्रभावसे कर्मरूपसे परिणमित हो जाते हैं। यदि योग कपाय मन्द होते है तो वन्ध भी मन्द होता है और तीव्र होते है तो वन्ध भी तीव्र होता है। मोह राग और द्वेपसे स्निग्ध शुभ या अशुभ परिणाम भावबन्ध है। उसका निमित्त पाकर शुभाशुभ कर्मरूपसे परिणत पुद्गलोका जीवके साथ परस्परमे संश्लेप द्रव्यवन्ध है। कहा भी है—

पयडिट्ठिदिअणुभागप्पदेसभेदा दु चदुविधो बंधो ।
जोगा पयडिपदेसा ठिदि अणुभागा कसायदो होंति ॥ [द्रव्यस. ३२-३३] ॥३८॥

अथ के ते प्रकृत्यादय इत्याह— ३

ज्ञानावरणाद्यात्मा प्रकृतिस्तद्विधिरविच्युतिस्तस्मात् ।
स्थितिरनुभवो रसः स्यादणुगणना कर्मणां प्रदेशश्च ॥३९॥

ज्ञानावरणस्य कर्मणोऽर्थानवगमः कार्यम् । प्रक्रियते प्रभवत्यस्य इति प्रकृतिः स्वभावो निम्बस्येव तिक्तता । एवं दर्शनावरणस्यार्थानालोचनम् । वेद्यस्य सदसल्लक्षणस्य सुख-दुःखसंवेदनम् । दर्शनमोहस्य तत्त्वार्थाश्रद्धानम् । चारित्रमोहस्यासंयमः । आयुषो भवधारणम् । नाम्नो नारकादिनामकरणम् । गोत्रस्य उच्चैर्नीचैः स्थानसंशब्दनम् । अन्तरायस्य दानादिविघ्नकरणम् । क्रमेण तद्दृष्टान्तार्थो गाथा यथा— ६ ९

पडपडिहारसिमज्जाहलि-चित्तकुलालभंडयारीणं ।
जह एदेसिं भावा तह कम्माण वियाणाहि ॥ [गो. क. २१]

'जिस अशुद्ध चेतनाभावसे कर्म बँधते हैं उसे भावबन्ध कहते हैं। कर्म तथा आत्माके प्रदेशोंका परस्परमें दूध-पानीकी तरह मिल जाना द्रव्यबन्ध है। बन्धके चार भेद हैं— प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्ध । इनमें-से प्रकृतिबन्ध और प्रदेशबन्ध तो योगसे होते हैं और कषायसे स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध होते है ।'

द्रव्यसंग्रहकी संस्कृत टीकामें ब्रह्मदेवने एक शंका उठाकर समाधान किया है, आशाधर जीने भी अपनी संस्कृत टीकामें उसे दिया है। शंका—मिथ्यात्व, अविरति आदि आस्रवके भी हेतु हैं और बन्धके भी। दोनोंमें क्या विशेषता है? समाधान—पहले समयमें कर्मोंका आना आस्रव है, आगमनके अनन्तर दूसरे आदि समयमें जीवके प्रदेशोंमें स्थित होना बन्ध है। तथा आस्रवमें योग मुख्य है और बन्धमें कषाय आदि।

इस प्रकार आस्रव और बन्धमें कथंचित् कारणभेद जानना ॥३८॥

आगे प्रकृतिबन्ध आदिका स्वरूप कहते हैं—

द्रव्यबन्धके चार भेद हैं। कर्मोंमें ज्ञानको ढाकने आदि रूप स्वभावके होनेको प्रकृतिबन्ध कहते है। और उस स्वभावसे च्युत न होनेको स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मोंकी सामर्थ्य विशेषको अनुभवबन्ध कहते हैं और कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंके परमाणुओंके द्वारा गणनाको प्रदेशबन्ध कहते हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—प्रकृति कहते हैं स्वभावको। जैसे नीमकी प्रकृति कटुकता है, गुड़की प्रकृति मधुरता है। इसी तरह ज्ञानावरणका स्वभाव है पदार्थका ज्ञान नहीं होना। दर्शनावरणका स्वभाव है पदार्थका दर्शन न होना। सातावेदनीय-असातावेदनीयका स्वभाव है सुख-दुःखका अनुभवन। दर्शनमोहका स्वभाव है तत्त्वार्थका अश्रद्धान। चारित्र मोहनीयका स्वभाव है असंयम। आयुका कार्य है भवमें अमुक समय तक रहना। नामकर्मका स्वभाव है नारक देव आदि नाम रखाना। गोत्रका स्वभाव है उच्च-नीच व्यवहार कराना। अन्तरायका स्वभाव है विघ्न करना। कहा भी है—

'पट (पर्दा), द्वारपाल, शहद लगी तलवार, मद्य, हलि (जिसमें अपराधीका पैर फाँस देते थे), चित्रकार, कुम्हार, और भण्डारीके जैसे भाव या कार्य होते हैं वैसा ही कार्य आठ कर्मोंका भी जानना चाहिए'। इस प्रकारके स्वभाववाले परमाणुओंके बन्धको प्रकृतिबन्ध कहते हैं। तथा जैसे बकरी, गाय, भैंस आदिके दूधका अमुक काल तक अपने माधुर्य

तद्विधिः—द्रव्यबन्धप्रकार । तस्मात्—ज्ञानावरणादिलक्षणात् स्वभावात् । रसः—कर्मपुद्गलाना स्वगतसामर्थ्यविशेष । अणुगणना—परमाणुपरिच्छेदेनावधारणम् । कर्मणा—कर्मभावपरिणतपुद्गलस्कन्धानाम् । उक्त च—

३

स्वभाव' प्रकृति प्रोक्ता स्थिति' कालावधारणम् ।
अनुभागो विपाकस्तु प्रदेशोऽशकल्पनम् ॥ [अमित श्राव ३।५६] ॥३९॥

स्वभावसे च्युत न होना स्थिति है । उसी प्रकार ज्ञानावरण आदि कर्मोंका पदार्थको न जानने देने रूप अपने स्वभावसे अमुक कालतक च्युत न होना स्थिति है । अर्थात् पदार्थको न जानने देनेमे सहायक आदि कार्यकारित्व रूपसे च्युत न होते हुए इतने काल तक ये बँधे रहते हैं । इसीको स्थितिबन्ध कहते हैं । तथा जैसे बकरी, गाय, भैंस आदिके दूधका तीव्रता-मन्दता आदि रूपसे अपना कार्य करनेमे शक्ति विशेषको अनुभव कहते है वैसे ही कर्म पुद्गलोंका अपना कार्य करनेमें जो शक्तिविशेष है उसे अनुभाग वन्ध कहते है । अर्थात् अपना-अपना कार्य करनेमे समर्थ कर्म परमाणुओका वन्ध अनुभागवन्ध है । प्रकृतिवन्धमे तो आस्रवके द्वारा लाये गये आठों कर्मोंके योग्य कर्मपरमाणु बँधते है और अनुभागवन्धमे शक्ति विशेषसे विशिष्ट होकर बँधते हैं इस तरह प्रकृतिबन्धसे इसमें विशेषता है । किसी जीवमे शुभ परिणामोंका प्रकर्ष होनेसे शुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और अशुभ प्रकृतियोका निकृष्ट (अल्प) अनुभाग बँधता है । और अशुभ परिणामोका प्रकर्ष होनेपर अशुभ प्रकृतियोंका प्रकृष्ट अनुभाग बँधता है और शुभ प्रकृतियोका मन्द अनुभाग बँधता है । उस अनुभागके भी चार भेद हैं । घातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा लता, दारु, हड्डी और पत्थरसे दी जाती है । अशुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा नीम, काञ्जीर, विष और हलाहल विषसे दी जाती है । तथा शुभ अघातिकर्मोंके अनुभागकी उपमा गुड, खाण्ड, शर्करा और अमृतसे दी जाती है । जैसे ये उत्तरोत्तर विशेष कठोर या कटुक या मधुर होते है वैसे ही कर्मोंका अनुभाग भी जानना । तथा कर्मरूप परिणत पुद्गल स्कन्धोंका परिमाण परमाणुओके द्वारा अवधारण करना कि इतने परमाणु प्रमाण प्रदेश ज्ञानावरण आदि रूपसे बँधे है इसे प्रदेशवन्ध कहते हैं । कहा भी है—

'स्वभावको प्रकृति कहते है । कालकी मर्यादाको स्थिति कहते हैं । विपाकको अनुभाग कहते हैं और परिमाणके अवधारणको प्रदेश कहते है' ।

जैसे खाये गये अन्नका अनेक विकार करनेमे समर्थ वात, पित्त, कफ तथा खल और रसरूपसे परिणमन होता है वैसे ही कारणवश आये हुए कर्मका नारक आदि नानारूपसे आत्मामे परिणमन होता है । तथा जैसे आकाशसे वरसता हुआ जल एकरस होता है किन्तु पात्र आदि सामग्रीके कारण अनेक रसरूप हो जाता है, वैसे ही सामान्य ज्ञानावरण रूपसे आया हुआ कर्म कषाय आदि सामग्रीकी हीनाधिकताके कारण मतिज्ञानावरण आदिरूपसे परिणमता है । तथा सामान्यरूपसे आया हुआ वेदनीय कर्म कारणविशेषसे सातावेदनीय, असातावेदनीय रूपसे परिणमता है । इसी प्रकार शेष कर्मोंके भी सम्बन्धमे जानना चाहिए । इस तरह सामान्यसे कर्म एक है । पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकारका है । प्रकृतिवन्ध आदिके भेदसे चार प्रकारका है । ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका है । इस तरह कर्मके संख्यात, असंख्यात और अनन्त भेद होते है । इन वन्धोंका मूल कारण जीवके योग और कषायरूप भाव ही है ॥३९॥

अथ पुण्यपापपदार्थनिर्णयार्थमाह—

पुण्यं य कर्मात्मा शुभपरिणामैकहेतुको वन्धः।
सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्रभित्ततोऽपरं पापम् ॥४०॥

पुण्य—द्रव्यपुण्यमित्यर्थ । यावता पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपुण्यम्। जीवस्य च कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्न शुभपरिणामो द्रव्यपुण्यस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्व भावपुण्यम्। भित्—भेद । ततोऽपर—पुण्यादन्यत् अशुभपरिणामैकहेतुककर्मत्वव(वन्ध)रूप द्व्यशीतिज्ञानावरणादि-प्रकृतिभेदमित्यर्थ । तद्यथा—ज्ञानावरणप्रकृतय पञ्च, दर्शनावरणीयस्य नव, मोहनीयस्य षड्विंशति सम्यक्त्वसम्यक्मिथ्यात्ववर्जा, पञ्चान्तरायस्य, नरकगतितिर्यग्गती द्वे, चतस्रो जातय , पञ्चेद्रियजातिवर्जा , पञ्च सम्थानानि समचतुरस्रवर्जानि, पञ्च सहनानि वज्रर्षभनाराचवर्जानि, अप्रशस्तवर्णगन्धरसस्पर्शा , नरकगतितिर्यग्गत्यानुपूर्व्यद्वयम्, उपघाताप्रशस्तविहायोगति-स्थावर-सूक्ष्मापर्याप्त-साधारणशरीरास्थिराशुभदुर्भगदुस्वरानादेयायश कीर्तयश्चेति नामप्रकृतयश्चतुस्त्रिंशत् । असद्वेद्य नरकायुर्नीचगोत्रमिति । पाप—द्रव्यपापमित्यर्थ । यत पुद्गलस्य कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो विशिष्टप्रकृतित्वपरिणामो जीवाशुभपरिणामनिमित्तो द्रव्यपापम्। जीवस्य च कर्तुर्निश्चयकर्मतामापन्नो अशुभपरिणामो द्रव्यपापस्य निमित्तमात्रत्वेन कारणीभूतत्वात्तदास्रवक्षणादूर्ध्वं भावपापम् ॥४०॥

आगे पुण्य और पाप पदार्थका स्वरूप कहते है—

शुभ परिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मरूप वन्ध पुण्य है। सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम, शुभ गोत्र उसके भेद है। उससे अतिरिक्त कर्म पाप है ॥४०॥

विशेषार्थ—यहाँ पुण्यसे द्रव्यपुण्य और पापसे द्रव्यपाप लेना चाहिए। पुद्गल कर्ता है और ज्ञानावरण आदि प्रकृतिरूपसे परिणमन उसका निश्चय कर्म है। जीवके शुभपरिणाम उसमे निमित्त है। कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप शुभपरिणाम द्रव्यपुण्यमे निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत है। अतः द्रव्यपुण्यका आस्रव होनेपर वे शुभपरिणाम भावपुण्य कहे जाते हैं। अर्थात् द्रव्य पुण्यास्रव और द्रव्य पापास्रवमे जीवके शुभाशुभ परिणाम निमित्त होते है इसलिए उन परिणामोको भाव पुण्य और भाव पाप कहते है। पुण्यास्रवका प्रधान कारण शुभ परिणाम है, योग वहिरंग कारण होनेसे गौण है। पुण्यास्रवके भेद है सातावेदनीय, शुभ आयु-नरकायुको छोडकर तीन आयु। शुभ नाम सैंतीस—मनुष्यगति, देवगति, पंचेन्द्रियजाति, पॉच शरीर, तीन अंगोपांग, समचतुरस्रसंस्थान, वज्रवृषभनाराच संहनन, प्रशस्त वर्ण, गन्ध-रस-स्पर्श, मनुष्यगत्यानुपूर्वी, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरुलघु, उपघात, परघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रशस्तविहायोगति, त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति, निर्माण और तीर्थंकर, एक उच्चगोत्र, इसतरह ४२ पुण्य प्रकृतियाँ हैं।

कर्ता पुद्गलका निश्चय कर्म है पुद्गलका विशिष्ट प्रकृतिरूपसे परिणाम। उसमे निमित्त है जीवके अशुभ परिणाम। कर्ता जीवके निश्चयकर्मरूप वे अशुभ परिणाम, द्रव्य-पापके निमित्तमात्र होनेसे कारणभूत है, अत द्रव्यपापका आस्रव होनेपर उन अशुभपरिणामों को भाव पाप कहते है। इस तरह अशुभपरिणामकी प्रधानतासे होनेवाला कर्मबन्ध पाप है। उसके ८२ भेद है—ज्ञानावरण कर्मकी पॉच प्रकृतियाँ, दर्शनावरणकी नौ, मोहनीयकी छब्बीस सम्यक्त्व और सम्यक्मिथ्यात्वको छोडकर क्योकि इन दोनोंका वन्ध नहीं होता, अन्तराय कर्मकी पॉच, नरकगति, तिर्यंचगति, पचेन्द्रियको छोडकर चार जातियाँ, समचतुरस्रको छोड़कर पॉच संस्थान, वज्रर्षभ नाराचको छोड़कर पॉच संहनन, अप्रशस्तवर्ण-गन्ध-रस

अथ संवरस्वरूपविकल्पनिर्णयार्थमाह—

स संवरः संव्रियते निरुध्यते कर्मास्रवो येन सुदर्शनादिना।
३ गुप्त्यादिना वात्मगुणेन संवृतिस्तद्योग्यतद्भावनिराकृतिः स वा ॥४१॥

संवरः—भावसंवरः शुभाशुभपरिणामनिरोधो द्रव्यपुण्यपापसंवरस्य हेतुरित्यर्थः। उक्तं च—

'जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो व सव्वदव्वेसु।
६ णासवदि सुहमसुहं समसुहदुक्खस्स भिक्खुस्स ॥' [पञ्चास्ति. १४६]

कर्मास्रवः—कर्म ज्ञानावरणादि आस्रवति अनेन। भावास्रवो मिथ्यादर्शनादि।

सुदर्शनादिना—सम्यग्दर्शनज्ञानसंयमादिना गुप्त्यादिना। उक्तं च—

९ वदसमिदीगुत्तीओ धम्मणुवेहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा ॥ [द्रव्य सं. ३५]

कर्मयोग्यानां पुद्गलानां कर्मत्वपरिणतिनिराकरणं द्रव्यसंवर इत्यर्थः। उक्तं च—

१२ 'चेदणपरिणामो जो कम्मस्सासवणिरोहणे हेऊ।
सो भावसंवरो खलु दव्वासवरोहणो अण्णो ॥ [द्रव्य सं. ३४] ॥४१॥

अथ निर्जरातत्त्वनिर्जरार्थ(-निश्चयार्थ-)माह—

१५ निर्जीर्यते कर्म निरस्यते यया पुंसः प्रदेशस्थितमेकदेशतः।
सा निर्जरा पर्ययवृत्तिरंशतस्तत्संक्षयो निर्जरणं मताथ सा ॥४२॥

स्पर्श, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, उपघात, अप्रशस्तविहायोगति, स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारणशरीर, अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश:कीर्ति ये चौंतीस नामकर्म, असातावेदनीय, नीच गोत्र। ये सब पाप कर्म हैं ॥४०॥

संवरका स्वरूप कहते हैं—

आत्माके जिन सम्यग्दर्शन आदि अथवा गुप्ति आदि गुणोंके द्वारा कर्मोंका आस्रव संवृत होता है—रुकता है उसे संवर कहते हैं। अथवा कर्मयोग्य पुद्गलोंके कर्मरूप होनेसे रुकनेको संवर कहते हैं ॥४१॥

विशेषार्थ—संवरके दो भेद हैं, भावसंवर और द्रव्यसंवर। शुभ और अशुभ परिणामोंको रोकना भाव संवर है। यह द्रव्यपुण्य और द्रव्य पापके संवरका कारण है क्योंकि शुभ और अशुभ परिणामोंके रुकनेसे पुण्यपाप कर्मोंका आना रुक जाता है। दूसरे शब्दोंमें भावास्रवके रुकनेको भावसंवर कहते हैं। भावास्रव है मिथ्यादर्शन आदि, उन्हींसे ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्रव होता है। मिथ्यादर्शनके विरोधी हैं सम्यग्दर्शन आदि और गुप्ति आदि रूप चेतन परिणाम। अतः इन परिणामोंको भावसंवर कहा है। कहा भी है—

'व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहजय तथा अनेक प्रकारका चारित्र ये भाव संवरके भेद जानना। भावसंवरके होने पर कर्मयोग्यपुद्गलोंका परिणमन ज्ञानावरण आदि रूप नहीं होता। यही द्रव्यसंवर है' ॥४१॥

आगे निर्जरातत्त्वका स्वरूप कहते हैं—

'जिसके द्वारा जीवके प्रदेशोंमें स्थित कर्म एकदेशसे निर्जीर्ण किये जाते हैं—आत्मासे पृथक् किये जाते हैं वह निर्जरा है। वह निर्जरा पर्ययवृत्ति है—संक्लेश निवृत्ति रूप परिणति है। अथवा जीवके प्रदेशोंमें स्थित कर्मका एक देशसे क्षय हो जाना निर्जरा है' ॥४२॥

पर्ययवृत्ति —सक्लेशविशुद्धिरूपा परिणति परिशुद्धो यो बोध पर्ययस्तत्र वृत्तिरिति व्युत्पत्ते । सैषा भावनिर्जरा । यावता कर्मवीर्यशातनसमर्थो वहिरङ्गान्तरङ्गतपोभिवृंहित शुद्धोपयोगो भावनिर्जरा । तदनुभाव-नीरसीभूतानामेकदेशसंक्षय समुपात्तकर्मपुद्गलाना च द्रव्यनिर्जरा । एतेन 'अशत' इत्याद्यपि व्याख्यात वोद्धव्यम् । ३
उक्त च—

'जह कालेण तवेण भुत्तरस कम्मपुग्गल जेण ।
भावेण सडदि णेया तस्सडण चेदि णिज्जरा दुविहा' ॥ [द्रव्य स. ३६] ॥४२॥ ६

अथ निर्जराभेदनिर्ज्ञानार्थमाह—

द्विधा कामा सकामा च निर्जरा कर्मणामपि ।
फलानामिव यत्पाकः कालेनोपक्रमेण च ॥४३॥ ९

अकामा—कालपक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा । सकामा—उपक्रमपक्वकर्मनिर्जरणलक्षणा । उपक्रमेण—वुद्धिपूर्वकप्रयोगेण । स च मुमुक्षूणा संवरयोगयुक्त तप । उक्त च—

'संवरजोगेहि जुदो तवेहि जो चिट्ठदे वहुविहेहिं । १२
कम्माणं णिज्जरण वहुगाण कुणदि सो णियद ॥' [पञ्चास्ति. १४४]

विशेषार्थ—निर्जराके भी दो भेद है—भावनिर्जरा और द्रव्यनिर्जरा। भावनिर्जरा पर्ययवृत्ति है अर्थात् संक्लेशसे निवृत्ति रूप परिणति भावनिर्जरा है, क्योकि संक्लेशनिवृत्ति रूप परिणतिसे ही आत्माके प्रदेशोमे स्थितकर्म एक देशसे झड जाते हैं, आत्मासे छूट जाते हैं। और एक देशसे कर्मोंका झड जाना द्रव्य निर्जरा है।

शंका—पर्ययवृत्तिका अर्थ सक्लेशनिवृत्तिरूप परिणति कैसे हुआ ?

समाधान—परिशुद्ध वोधको—ज्ञानको पर्यय कहते है, उसमे वृत्ति पर्ययवृत्ति है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार पर्ययवृत्तिका अर्थ होता है संक्लेशपरिणाम निवृत्तिरूप परिणति। साराश यह है कि कर्मकी शक्तिको काटनेमे समर्थ और वहिरंग तथा अन्तरग तपोसे वृद्धिको प्राप्त शुद्धोपयोग भावनिर्जरा है। और उस शुद्धोपयोग के प्रभावसे नीरस हुए कर्म-पुद्गलोका एक देशसे क्षय होना द्रव्यनिर्जरा है। कहा भी है—

'यथा समय अथवा तपके द्वारा फल देकर कर्मपुद्गल जिस भावसे नष्ट होता है वह भावनिर्जरा है। कर्मपुद्गलका आत्मासे पृथक् होना द्रव्य निर्जरा है। इस प्रकार निर्जराके दो भेद है' ॥४२॥

द्रव्यनिर्जराके भेद कहते है—

निर्जरा दो प्रकारकी है—अकामा और सकामा। क्योकि फलोंकी तरह कर्मोंका भी पाक कालसे भी होता है और उपक्रमसे भी होता है ॥४३॥

विशेषार्थ—यहाँ निर्जरासे द्रव्यनिर्जरा लेना चाहिए। अपने समयसे पककर कर्मकी निर्जरा अकामा है। उसे सविपाक निर्जरा और अनौपक्रमिकी निर्जरा भी कहते है। और उपक्रमसे विना पके कर्मकी निर्जराको सकामा कहते हैं। उसे ही अविपाक निर्जरा और औपक्रमिकी निर्जरा भी कहते है।

जैसे आम आदि फलोका पाक कहीं तो अपने समयसे होता है कहीं पुरुषोंके द्वारा किये गये उपायोंसे होता है। इसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्म भी अपना फल देते है। जिस कालमे फल देने वाला कर्म वाँधा है उसी कालमे उसका फल देकर जाना सविपाक निर्जरा

इतरजनाना तु स्वपरयोर्बुद्धिपूर्वक सुखदु खसाधनप्रयोग 'पर्ययवृत्ति' इत्यनेन मामान्यत' परिणाममात्रस्याप्याश्रयणात् । यल्लौकिका —

३ 'कर्मान्यजन्मजनित यदि सर्वदैवं तत्केवल फलति जन्मनि सत्कुलाद्ये ।
वात्यात्पर विनयसौष्ठवपात्रतापि पुदैवजा कृपिवदित्यत उद्यमेन ॥'
'उद्योगिन पुरुषसिहमुपैति लक्ष्मीर्दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति ।
६ दैव निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्र दोप. ॥'

आर्पेऽप्युक्तम्—

'असिर्मपी कृपिर्विद्या वाणिज्य शिल्पमेव च ।
९ कर्माणीमानि पोढा स्यु प्रजाजीवनहेतव ॥' [महापु १६।१७९] ॥४३॥

अथ मोक्षतत्त्व लक्षयति—

येन कृत्स्नानि कर्माणि मोक्ष्यन्तेऽस्यन्त आत्मनः ।
१२ **रत्नत्रयेण मोक्षोऽसौ मोक्षणं तत्क्षय स वा ॥४४॥**

कृत्स्नानि—प्रथम घातीनि पश्चादघातीनि च । अस्यन्ते अपूर्वाणि परमसंवरद्वारेण निरुध्यन्ते पूर्वोपात्तानि च परमनिर्जराद्वारेण भृग विश्लिष्यन्ते येन रत्नत्रयेण सो मोक्षो जीवन्मुक्तिलक्षणो भावमोक्ष स्यात् ।
१५ तत्क्षय —वेदनीयायुर्नामगोत्ररूपाणा कर्मपुद्गलाना जीवेन सहात्यन्तविश्लेप । स एप द्रव्यमोक्ष । उक्त च—

है और कर्मको जो बलपूर्वक उदयावलीमे लाकर भोगा जाता है वह अविपाक निर्जरा है। बुद्धिपूर्वक प्रयुक्त अपने परिणामको उपक्रम कहते हैं। शुभ और अशुभ परिणामका निरोध रूप जो भावसवर है वह है शुद्धोपयोग। उस शुद्धोपयोग से युक्त तप मुमुक्षु जीवोका उपक्रम है। कहा भी है—

'सवर और शुद्धोपयोगसे युक्त जो जीव अनेक प्रकारके अन्तरंग वहिरंग तपोमे संलग्न होता है वह नियमसे बहुत कर्मोंकी निर्जरा करता है'।

मुमुक्षुओंसे भिन्न अन्य लोगोका अपने और दूसरोंके सुख और दु.खके साधनोका बुद्धिपूर्वक प्रयोग भी उपक्रम है। क्योकि 'पर्ययवृत्ति' शब्दसे सामान्यत परिणाम मात्रका भी ग्रहण किया है। अत. अन्य लोग भी अपनी या दूसरोंकी दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्तिके लिए जो कुछ करते है उससे उनके भी औपक्रमिकी निर्जरा होती है। कहा[1] भी है—

अचानक उपस्थित होने वाला इष्ट या अनिष्ट दैवकृत है उसमे बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा नहीं है। और प्रयत्नपूर्वक होनेवाला इष्ट या अनिष्ट अपने पौरुषका फल है क्योकि उसमे बुद्धिपूर्वक व्यापारकी अपेक्षा है ॥४३॥

मोक्षतत्त्वको कहते हैं—

जिस रत्नत्रयसे आत्मासे समस्त कर्म पृथक् किये जाते है वह मोक्ष है। अथवा समस्त कर्मोंका नष्ट हो जाना मोक्ष है ॥४४॥

विशेषार्थ—मोक्षके भी दो भेद है—भावमोक्ष और द्रव्यमोक्ष। रत्नत्रयसे निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र लेना चाहिए। इतना ही नहीं, वल्कि उन रूप परिणत आत्मा लेना चाहिए। अतः जिस निश्चय रत्नत्रयरूप आत्माके द्वारा

---

१ अबुद्धिपूर्वापेक्षायामिष्टानिष्ट स्वदैवत ।
बुद्धिपूर्वव्यपेक्षायामिष्टानिष्ट स्वपौरुषात् ॥ —आप्तमी , ९१ श्लो ।

'आत्यन्तिक स्वहेतोर्यो विश्लेषो जीवकर्मणो ।
स मोक्ष फलमेतस्य ज्ञानाद्या क्षायिका गुणाः ।। [तत्त्वानुशा २३०]

तथा—'वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्यां कृत्स्नकर्मविप्रमोक्षो मोक्षः' [त सू १०।२] इत्यादि। ३

तथैव सजग्राह भगवान्नेमिचन्द्र —

'सव्वस्स कम्मणो जो खयहेऊ अप्पणो हु परिणामो।
णेओ स भावमोक्खो दव्वविमोक्खो य कम्मपुधभावो ॥' [द्रव्यस ३७] ॥४४॥ ६

आत्मासे समस्त कर्म छूटते हैं—अर्थात् नवीन कर्म तो परम सवरके द्वारा रोक दिये जाते हैं और पूर्वबद्ध समस्त कर्म परम निर्जराके द्वारा आत्मासे अत्यन्त पृथक् कर दिये जाते हैं वह निश्चय रत्नत्रयरूप आत्मपरिणाम भावमोक्ष है। समस्त कर्मसे आठो कर्म लेना चाहिए। पहले मोहनीय आदि घाति कर्मोका विनाश होता है पीछे अघाति कर्मोका विनाश होता है। इस तरह समस्त कर्मोका क्षय हो जाना अर्थात् जीवसे अत्यन्त पृथक् हो जाना द्रव्यमोक्ष है। कहा भी है—

'वन्धके कारणोंका अभाव होनेसे नवीन कर्मोका अभाव हो जाता है और निर्जराके कारण मिलनेपर संचित कर्मका अभाव हो जाता है। इस तरह समस्त कर्मोसे छूट जानेको मोक्ष कहते हैं'।

'अपने कारणसे जीव और कर्मका जो आत्यन्तिक विश्लेप है—सर्वदाके लिये पृथक्ता है वह मोक्ष है। उसका फल क्षायिक ज्ञानादि गुणोंकी प्राप्ति है। कर्मोका क्षय हो जानेपर आत्माके स्वाभाविक गुण प्रकट हो जाते हैं'।

'आत्माका जो परिणाम समस्त कर्मोके क्षयमें हेतु है उसे भावमोक्ष जानो। और आत्मासे कर्मोका पृथक् होना द्रव्यमोक्ष है'।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकमे निश्चयनय और व्यवहारनयसे मोक्षके कारणका विवेचन इस प्रकार किया[1] है—

'इसके पश्चात् मोहनीय कर्मके क्षयसे युक्त पुरुप केवलज्ञानको प्रकट करके अयोग-केवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमें अशरीरीपनेका साक्षात् हेतु रत्नत्रयरूपसे परिणमन करता है। निश्चयनयसे यह कथन निर्वाध है। अर्थात् निश्चयनयसे अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम क्षणमे रहनेवाला रत्नत्रय मोक्षका साक्षात् कारण है क्योकि उससे अगले ही क्षणमे मोक्षकी प्राप्ति होती है। और व्यवहारनयसे तो रत्नत्रय इससे पहले भी मोक्षका कारण कहा जाता है, अत इसमे विवाद करना उचित नही है। अर्थात् व्यवहारनयसे रत्नत्रय मोक्षका कारण है। यह कथन परम्पराकारणकी अपेक्षा है। किन्तु साक्षात् कारण तो चौदहवे गुणस्थानके अन्तिम समयमें वर्तमान रत्नत्रय ही है क्योकि उसके दूसरे ही क्षणमे मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥४४॥

---

१ ततो मोहक्षयोपेत पुमानुद्भूतकेवल ।
विशिष्टकरण साक्षादशरीरत्वहेतुना ॥
रत्नत्रितयरूपेणायोगकेवलिनोऽन्तिमे ।
क्षणे विवर्तते ह्येतदवाध्य निश्चयान्नयात् ॥
व्यवहारनयाश्रित्या त्वेतत् प्रागेव कारणम् ।
मोक्षस्येति विवादेन पर्याप्त न्यायदर्शिन ॥—१।१।९३-९६

अथ मुक्तात्मस्वरूपं प्ररूपयति—

प्रक्षीणे मणिवन्मले स्वमहसि स्वार्थप्रकाशात्मके
३ मज्जन्तो निरुपाख्यमोघचिदचिन्मोक्षार्थितीर्थक्षिपः ।
कृत्वानाद्यपि जन्म सान्तममृतं साद्यप्यनन्तं श्रिताः
सद्दृग्धीनयवृत्तसंयमतपः सिद्धाः सदानन्दिनः ॥४५॥

६ मज्जन्त —एतेन वैलक्षण्य लक्षयति निरुपाख्येत्यादि । निरुपाख्यमोक्षार्थिन. प्रदीपनिर्वाणकल्पमात्मनिर्वाणमिति नि स्वभावमोक्षवादिनो बौद्धा मोघचिन्मोक्षार्थिन 'चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूप तच्च ज्ञेयराकारपरिच्छेदपराङ्मुखमिति निष्फलचैतन्यस्वभावमोक्षवादिन साख्या । अचिन्मोक्षार्थिन बुद्धयादि-नवात्म-
९ विशेषगुणोच्छेदलक्षणनिश्चेतन्यमोक्षवादिनो वैशेपिका । तेपा तीर्थान्यागमान् क्षिपन्ति निराकुर्वन्ति तद्विलक्षणमोक्षप्रतिष्ठितत्वात् । जन्म—ससार, सतानरूपतयादिरहितमपि सान्त—सविनाशं कृत्वा । अमृत—मोक्षं पर्यायरूपतया साद्यपि पुनर्भवाभावादनन्त—निरवधि । सदृगित्यादि—आरम्भावस्थापेक्षया सम्यक्त्वादिना
१२ सिद्धा । केचिद्धि सम्यग्दर्शनाराधनाप्राधान्येन प्रक्रम्य सपूर्णरत्नत्रय कृत्वा प्रक्षीणमलकलङ्का. स्वात्मोपलब्धिलक्षणा सिद्धिमध्यासिता । एव सम्यग्ज्ञानादावपि योज्यम् । तथा चोक्तम्—

'तवसिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य ।
१५ णाणमि दसण मिय सिद्धे सिरसा णमंसामि ॥' [सिद्धभक्ति]

इति समासतो जीवादिनवपदार्थव्यवस्था । व्यासतस्तु परमागमार्णवावगाहनादधिगन्तव्या ॥४५॥

आगे मुक्तात्माका स्वरूप कहते हैं—

मणिकी तरह द्रव्यकर्म और भावकर्मरूपी मलके पूर्णरूपसे क्षय हो जानेपर, अपने और त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थोंका एक साथ प्रकाश करनेवाले दर्शन ज्ञानरूप स्वाभाविक निज तेजमें निमग्न और निरूपाख्यमुक्ति, निष्फल चैतन्यरूप मुक्ति और अचेतन मुक्तिके इच्छुक दार्शनिकोंके मतोंका निराकरण करनेवाले, अनादि भी जन्मपरम्पराको सान्त करनेवाले, तथा सादि भी मोक्षको अनन्त रूपसे अपनानेवाले, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, नय, चारित्र, संयम और तपके द्वारा आत्म स्वभावको साध लेनेवाले सदा आनन्द स्वरूप मुक्त जीव होते हैं ॥४५॥

विशेषार्थ—जैसे मणि अपने ऊपर लगे मलके दूर हो जानेपर अपने और परका प्रकाश करनेवाले अपने तेजमें डूबी रहती है उसी तरह मुक्तात्मा भी द्रव्यकर्म और भावकर्मके नष्ट हो जानेपर अपने और त्रिकालवर्ती पदार्थोंको जाननेवाले अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञानरूप अपने स्वरूपको लिये हुए उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूपसे सदा परिणमन करते है। अन्य दार्शनिकोंने मुक्तिको अन्यरूप माना है। बौद्ध दर्शन निःस्वभाव मोक्षवादी है। जैसे तेल और बातीके जलकर समाप्त हो जानेपर दीपकका निर्वाण हो जाता है उसी तरह पॉच स्कन्धोका निरोध होनेपर आत्माका निर्वाण होता है। बौद्ध आत्माका अस्तित्व नहीं मानता और उसका निर्वाण शून्य रूप है। साख्य मुक्तिमे चैतन्य तो मानता है किन्तु ज्ञानादि नही मानना। वैशेपिक मोक्षमे आत्माके विशेप गुणोका विनाश मानता है। जैन दर्शन इन सबसे विलक्षण मोक्ष मानता है। अतः जैन सम्मत मुक्तात्मा इन दार्शनिकोकी मुक्ति सम्बन्धी मान्यताको काटनेवाले है। वे अनन्त संसारको सान्त करके मोक्ष प्राप्त करते है उस मोक्षकी आदि तो है किन्तु अन्त नही है वहॉ से जीव कभी संसारमे नहीं आता। इस तरह संक्षेपसे जीव आदि नौ पदार्थोंकी व्यवस्था जानना। विस्तारसे जाननेके लिए समयसार तत्त्वार्थसूत्र आदि पढना चाहिये।

अथ एवंविधतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य सम्यक्त्वस्य सामग्रीविशेषं श्लोकद्वयेनाह—

दृष्टिघ्नसप्तकस्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये।
क्षयोपशम आहोस्विद्भव्यः कालादिलब्धिभाक् ॥४६॥ ३
पूर्णः संज्ञी निसर्गेण गृह्णात्यधिगमेन वा।
त्र्यज्ञानशुद्धिदं तत्त्वश्रद्धानात्मसुदर्शनम् ॥४७॥

दृष्टिघ्नसप्तकस्य—दृष्टिं सम्यक्त्वं घ्नन्ति दृष्टिघ्नानि मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वसम्यक्त्वानन्तानु- ६
बन्धिक्रोधमानमायालोभाख्यानि कर्माणि। उपशमे—स्वफलदानसामर्थ्यानुद्भवे। क्षये—आत्यन्तिकनिवृत्तौ। क्षयोपशमे—क्षीणाक्षीणवृत्तौ। भव्य—सिद्धियोग्यो जीव। कालादिलब्धिभाक्—काल आदिर्येषा वेदनाभिभवादीना ते कालादयस्तेषा लब्धि सम्यक्त्वोत्पादने योग्यता ता भजन् ॥४६॥ ९

पूर्ण—षट्पर्याप्तियुक्त। तल्लक्षण यथा—

'आहाराङ्गहृषीकान-भाषामानसलक्षणाः।
पर्याप्तय षडत्रादि शक्ति-निष्पत्ति-हेतव ॥' [अमित प. स १।१२८] १२

सज्ञी—

शिक्षालापोपदेशाना ग्राहको य स मानस.।
स सज्ञी कथितोऽसंज्ञी हेया(-देया)विवेचक ॥ [अमित प स १।३१९] १५

आगे तत्त्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी विशेष सामग्री दो श्लोकोसे कहते हैं—

कालादिलब्धिसे युक्त संज्ञी पर्याप्तक भव्य जीव सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियोंके उपशम, क्षय या क्षयोपशमरूप अन्तरंग कारणके होनेपर निसर्गसे या अधिगमसे तत्त्वश्रद्धानस्वरूप सम्यग्दर्शनको ग्रहण करता है। उस सम्यग्दर्शनके होनेपर कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाते है ॥४६-४७॥

विशेषार्थ—जो शिक्षा, बातचीत और उपदेशको ग्रहण कर सकता है वह जीव संज्ञी है। कहा[1] भी है—

'जो शिक्षा, आलाप उपदेशको ग्रहण करता है उस मनसहित जीवको संज्ञी कहते हैं। जो हेय उपादेयका विचार नहीं कर सकता वह असंज्ञी है'।

जिसकी आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ पूर्ण होती हैं उसे पर्याप्तक कहते हैं। कहा भी है—'आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियाँ शक्तिकी निष्पत्तिमें कारण हैं'।

जिसे जीवमें मोक्ष प्राप्तिकी योग्यता है उसे भव्य कहते है। और सम्यक्त्वग्रहणकी योग्यताको लब्धि कहते है। कहा भी है—

'चारो गतियोंमे-से किसी भी गतिवाला भव्य, संज्ञी, पर्याप्तक, मन्द कषायी, ज्ञानोपयोगयुक्त, जागता हुआ, शुभलेश्यावाला तथा करणलब्धिसे सम्पन्न जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करता है'।

सम्यग्दर्शनका घात करनेवाली सात कर्म प्रकृतियाँ है—मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, अनन्तानुबन्धी, क्रोध, मान, माया, लोभ। इनका उपशम, क्षय या क्षयोपशम सम्यग्दर्शनका अन्तरंग कारण है। अपना फल देनेकी शक्तिको प्रकट होनेके अयोग्य कर देना उपशम है। कर्मका विनाश क्षय है। आत्माके गुणोंको एकदम ढाँकनेवाली कर्मशक्तिको

(त्रि-) अज्ञानशुद्धिद—त्रयाणामज्ञानाना मिथ्यामतिश्रुतावधीना शुद्धि यथार्थग्राहित्वहेतुं नैर्मल्य दत्ते । तत्त्वार्थश्रद्धानात्म—तत्त्वाना श्रद्धान तथेति प्रतिपत्तिर्यस्मात्तद्दर्शनमोहरहितमात्मस्वरूप न पुना रुचिस्तस्याः ३ क्षीणमोहेष्वभावात् । तथा च सम्यक्त्वाभावेन ज्ञानचारित्राभावात् तेपा मुक्त्यभावः स्यात् । तदुक्तम्—

'इच्छाश्रद्धानमित्येके तदयुक्तममोहिन. ।
श्रद्धानविरहासक्तेर्ज्ञानचारित्रहानित. ॥' [तत्त्वार्थश्लोक २।१०]

६ यत्तु तत्त्वरुचिमिति प्रागुक्त तदुपचारात् । उक्त च—

'चतुर्गतिभवो भव्य शुद्ध सञ्ज्ञी सुजागरी ।
सल्लेश्यो लब्धिमान् पूर्णो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति ॥ [ ]

९ अथ कालादिलब्धिविवरणम्—भव्य कर्माविष्टोऽर्द्धपुद्गलपरिवर्तपरिमाणे काले विशिष्टे (अवशिष्टे) प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवतीति काललब्धि । आदिशब्देन वेदनाभिभवजातिस्मरण-जिनेन्द्रार्चादर्शनादयो गृह्यन्ते । श्लोक —

१२ 'क्षायोपशमिकी लब्धि शौद्धी देशनिकी भवीम् ।
प्रायोगिकी समासाद्य कुरुते करणत्रयम् ॥' [अमि पं स. १।२८७]

सर्वघाति स्पर्द्धक कहते हैं। और आत्माके गुणोंको एकदेशसे ढाँकनेवाली कर्मशक्तिको देशघाति स्पर्द्धक कहते हैं। सर्वघातिस्पर्द्धकोंका उदयाभावरूप क्षय और आगामी कालमें उदय आनेवाले कर्मनिषेकोंका उपशम तथा देशघातिस्पर्द्धकोंका उदय, इस सबको क्षयोपशम कहते हैं। कर्मोसे बद्ध भव्य जीव अर्ध पुद्गल परावर्त प्रमाण काल शेष रहनेपर प्रथम सम्यक्त्वके योग्य होता है, क्योंकि एक बार सम्यक्त्व होनेपर जीव इससे अधिक समयतक संसारमें नहीं रहता। इसे ही काललब्धि कहते है। सम्यग्दर्शनके बाह्य कारण इस प्रकार[1] हैं—

देवोंमें प्रथम सम्यग्दर्शनका बाह्य कारण धर्मश्रवण, जातिस्मरण, अन्य देवोंकी ऋद्धिका दर्शन और जिन महिमाका दर्शन हैं। ये आनत स्वर्गसे पहले तक जानना। आनत, प्राणत, आरण, अच्युत स्वर्गके देवोंके देवर्द्धिदर्शनको छोड़कर अन्य तीन बाह्य कारण हैं। नव-ग्रैवेयकवासी देवोंके धर्मश्रवण और जातिस्मरण दो ही बाह्य कारण हैं। मनुष्य और तिर्यंचोंके जातिस्मरण, धर्मश्रवण और देवदर्शन ये तीन बाह्य कारण है। प्रथम तीन नरकोंमें जाति-स्मरण, धर्मश्रवण और वेदना अभिभव ये तीन बाह्य कारण हैं। शेष नरकोंमे जातिस्मरण और वेदनाभिभव दो ही बाह्य कारण है।

लब्धियोंके विषयमे कहा है—

भव्य जीव क्षयोपशमलब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धिको प्राप्त करके तीन करणोंको करता है। पूर्वबद्ध कर्मपटलके अनुभाग स्पर्द्धकोंका विशुद्ध परिणामोंके योगसे प्रति समय अनन्त गुणहीन होकर उदीरणा होना क्षयोपशम लब्धि है।

अनुभागस्पर्द्धकका स्वरूप इस प्रकार[2] कहा है—

---

१. धर्मश्रुति-जातिस्मृति-सुरर्द्धिजिनमहिमदर्शनं मरुताम् ।
बाह्य प्रथमदृशोऽङ्गं विना सुरर्द्धीक्षयानतादिभुवाम् ॥
ग्रैवेयकिणा पूर्वे द्वे सजिनार्चेक्षणे नरतिरश्चाम् ।
सरुगभिभवे त्रिषु प्राक् श्वभ्रेष्वन्येषु सद्वितीयोऽसौ ॥

२. वर्ग शक्तिसमूहोऽणोरणूना वर्गणोदिता ।
वर्गणाना समूहस्तु स्पर्धक स्पर्धकापहै ॥ —अमित. प. स. १।४५

प्रागुपात्तकर्मपटलानुभागस्पर्द्धकाना शुद्धियोगेन प्रतिसमयानन्तगुणहीनानामुदीरणा क्षायोपशमिकी लब्धि. ।१। क्षयोपशमविशिष्टोदीर्णानुभागस्पर्द्धकप्रभव. परिणाम सातादिकर्मबन्धनिमित्त सावद्यकर्मबन्धविरुद्धा शौद्धी लब्धि ।२। यथार्थतत्त्वोपदेशतदुपदेशकाचार्याद्युपलब्धिरुपदिष्टार्थग्रहणधारणविचारणशक्तिर्वा ३ देशनिकी लब्धि ।३। अन्त कोटाकोटीसागरोपमस्थितिकेषु कर्मसु बन्धमापद्यमानेषु विशुद्धपरिणामयोगेन सत्कर्मसु सख्येयसागरोपमसहस्रोनायामन्त कोटीकोटीसागरोपमस्थितौ स्थापितेषु आद्यसम्यक्त्वयोग्यता भवतीति प्रायोगिकी लब्धि । श्लोक — ६

'अथाप्रवृत्तकापूर्वानिवृत्तिकरणत्रयम् ।
विधाय क्रमतो भव्य सम्यक्त्व प्रतिपद्यते ॥' [अमित० पञ्च १।२८८]

भव्योऽनादिमिथ्यादृष्टि षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मक सादिमिथ्यादृष्टिर्वा षड्विंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मक ९ सप्तविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा अष्टाविंशतिमोहप्रकृतिसत्कर्मको वा प्रथमसम्यक्त्वमादातुकाम शुभपरिणामाभिमुखोऽन्तर्मुहूर्तमनन्तगुणवृद्धया वर्धमानविशुद्धिश्चतुर्षु मनोयोगेष्वन्यतममनोयोगेन चतुर्षु वाग्योगेष्वन्यतमवाग्योगेन औदारिकवैक्रियिककाययोगयोरन्यतरेण काययोगेन त्रिषु वेदेष्वन्यतमेन वेदेनालीढो निरस्तसक्लेशो १२ हीयमानान्यतमकषाय साकारोपयोगो वर्द्धमानशुभपरिणामयोगेन सर्वप्रकृतीना स्थिति ह्रासयन्नशुभप्रकृतीनामनुभागबन्धमपसारयन् शुभप्रकृतीना वर्धयस्त्रीणि करणानि प्रत्येकमन्तर्मुहूर्तकालेन कर्तुमुपक्रमते । तत्रान्त -कोटीकोटीस्थितिकर्माणि कृत्वा अथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरण च क्रमेण प्रविशति । तत्र सर्वकरणाना १५

'समान अनुभाग शक्तिवाले परमाणुके समूहको वर्ग कहते हैं। वर्गोंके समूहको वर्गणा कहते हैं और वर्गणाओंके समूहको स्पर्द्धक कहते हैं'।

क्षयोपशमसे युक्त उदीरणा किये गये अनुभाग स्पर्धकोंसे होनेवाले परिणामोंको विशुद्धिलब्धि कहते हैं। वे परिणाम साता आदि कर्मोंके बन्धमें कारण होते हैं और पापकर्मके बन्धको रोकते हैं ॥२॥ यथार्थ तत्त्वका उपदेश और उसके उपदेशक आचार्योंकी प्राप्ति अथवा उपदिष्ट अर्थको ग्रहण, धारण और विचारनेकी शक्तिको देशनालब्धि कहते हैं ॥३॥ अन्तःकोटाकोटी सागरकी स्थितिको लेकर कर्मोंका बन्ध होनेपर विशुद्ध परिणामके प्रभावसे उसमें संख्यात हजार सागरकी स्थिति कम हो जानेपर अर्थात् संख्यात हजार सागर कम अन्तःकोटाकोटी सागर प्रमाण स्थिति होनेपर प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेकी योग्यता होती है। इसे प्रायोग्यलब्धि कहते है। इन चारों लब्धियोंके होनेपर भी सम्यक्त्वकी प्राप्ति होनेका नियम नहीं है। हाँ, करणलब्धि होनेपर सम्यक्त्व नियमसे होता है। कहा है—

'अथाप्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणको क्रमसे करके भव्यजीव सम्यक्त्व को प्राप्त करता है'।

इनका स्वरूप इस प्रकार है—

जिस जीवको सम्यक्त्वकी प्राप्ति नहीं हुई है उसे अनादि मिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंमें से छब्बीसकी ही सत्ता रहती है क्योंकि सम्यक्त्वके होनेपर ही एक मिथ्यात्व कर्म तीन रूप होता है। जो जीव सम्यक्त्वको प्राप्त करके उसे छोड़ देता है उसे सादिमिथ्यादृष्टि कहते हैं। उसके मोहनीय कर्मकी अट्ठाईस प्रकृतियोंकी भी सत्ता होती है, सत्ताईसकी भी और छब्बीसकी भी। जब ये दोनों ही प्रकारके मिथ्यादृष्टि प्रथम सम्यक्त्वको ग्रहण करनेके अभिमुख होते हैं तो उनके शुभ परिणाम होते है, अन्तर्मुहूर्त काल तक उनकी विशुद्धि अनन्त गुणवृद्धिके साथ वर्धमान होती है, चार मनोयोगोंमें-से कोई एक मनोयोग, चार वचनयोगोंमें-से कोई एक वचनयोग, औदारिक और वैक्रियिक काययोगमें-

प्रथमसमये स्वल्पाशुद्धिस्तत प्रतिसमयमन्तर्मुहूर्तसमाप्तेरनन्तगुणा द्रष्टव्या। सर्वाणि करणान्यर्थानि। अथ प्रागवृत्ता कदाचिदीदृशा करणा परिणामा यत्र तदध प्रवृत्तकरणमिति चान्वर्थसज्ञा। अपूर्वा समये समये ३ अन्ये शुद्धतरा करणा यत्र तदपूर्वकरणम्। एकसमयस्थानामनिवृत्तयो भिन्ना करणा यत्र तदनिवृत्तिकरणम्। सर्वेपु नानाजीवानामसख्येयलोकप्रमाणा परिणामा द्रष्टव्या'। तथा प्रवृत्तकरणे स्थितिखण्डनानुभागखण्डन-गुणश्रेणिसक्रमा न सन्ति। परमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धया अशुभप्रकृतीरनन्तगुणानुभागहीना बध्नन्ति शुभ-६ प्रकृतीनामनन्तगुणरसवृद्धया स्थितिमपि पल्योपमा सख्येयभागहीना करोति। अपूर्वकरणानिवृत्तिकरणयो

से कोई एक काययोग, तथा तीनो वेदोमे-से कोई एक वेद होता है। संक्लेश परिणाम हट जाते हैं, कषाय हीयमान होती है, साकार उपयोग होता है। वर्धमान शुभ परिणामके योगसे सब कर्मप्रकृतियोकी स्थितिमे कमी करता है, अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागबन्धको घटाता तथा शुभ प्रकृतियोंके अनुभागको बढाता हुआ तीन करण करता है। प्रत्येकका काल अन्तर्मुहूर्त है। कर्मोंकी स्थिति अन्त कोटि-कोटि सागर करके क्रमसे अध करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमे प्रवेश करता है। सब करणोंके प्रथम समयमे अल्प विशुद्धि होती है। उसके बाद अन्तर्मुहूर्त काल समाप्त होने तक प्रतिसमय अनन्तगुणी विशुद्धि होती जाती है। सभी करणोके नाम सार्थक है। पहले कभी भी इस प्रकारके करण-परिणाम नही हुए वह अथा-प्रवृत्त करण है। अथवा नीचेके समयोमे होनेवाले परिणामोसे जहाँ ऊपरके समयोमे होने-वाले परिणाम समान होते हैं उसे अध प्रवृत्तकरण कहते है। ये दोनो पहले करणके सार्थक नाम है। जिसमे प्रति समय अपूर्व-अपूर्व—जो पहले नही हुए ऐसे परिणाम होते है उसे अपूर्वकरण कहते है। जिसमे एक समयवर्ती जीवोके परिणाम अनिवृत्ति=अभिन्न=समान होते है उसे अनिवृत्तिकरण कहते है। सब करणोमे नाना जीवोके असंख्यात लोक प्रमाण परिणाम होते है। अथाप्रवृत्तकरणमे स्थिति खण्डन, अनुभागखण्डन और गुणश्रेणिसंक्रम नहीं होते, केवल अनन्त गुण विशुद्धिके द्वारा अशुभ प्रकृतियोका अनुभाग अनन्त गुणहीन और शुभ प्रकृतियोका अनुभाग अनन्त गुण अधिक बाँधता है। स्थितिको भी पल्यके असंख्यातवे भाग हीन करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरणमे स्थिति खण्डन आदि होते है। तथा क्रमसे अशुभ प्रकृतियोका अनुभाग अनन्त गुणहीन होता है और शुभ प्रकृतियो-का अनुभाग अनन्त गुण वृद्धिको लिये हुए होता है। अनिवृत्तिकरणके असंख्यात भाग बीतनेपर अन्तरकरण करता है। उस अन्तरकरणके द्वारा दर्शन मोहनीयका घात करके अन्तिम समयमे शुद्ध, अशुद्ध और मिश्रके भेदसे तीन रूप करता है उसीको सम्यक्त्व, सम्यक मिथ्यात्व और मिथ्यात्व कहते है। कहा है—

उसके पश्चात् भव्यजीव अनन्तानुबन्धीके साथ दर्शन मोहनीयकी उन तीन प्रकृतियोंका उपशम करके प्रथमोपशम सम्यक्त्वको प्राप्त करता है। सवेग, प्रशम, आस्तिक्य, दयाभाव आदिसे उस सम्यक्त्वकी पहचान होती है तथा वह सम्यक्त्व शंका आदि दोपोसे रहित होकर समस्त दुःखोका विनाश कर देता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त कराता है।

यदि मोहनीय कर्मकी उक्त सात प्रकृतियोका क्षय होता है तो क्षायिक सम्यक्त्व होता है, यदि उपशम होता है तो औपशमिक सम्यक्त्व होता है तथा क्षयोपशम होनेपर क्षायोप-शमिक सम्यक्त्व होता है। कहा भी है—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप सामग्रीसे मोहनीय

---

१. 'क्षीणप्रशान्तमिश्रासु मोहप्रकृतिषु क्रमात्।
परचाद् द्रव्यादिसामग्र्या पुसा सद्दर्शन त्रिधा' ॥

स्थितिखण्डनादय सन्ति । क्रमेण ([1]अशुभप्रकृतीनामनुभागोऽनन्तगुणहान्या शुभ-) प्रकृतीनामनन्तगुणवृद्धया वर्तते । तत्रानिवृत्तकरणस्य सङ्ख्येयेषु भागेषु गतेष्वन्तर-([2]करणमारभते येन दर्शनमोहनीयं निहत्य चरमसमये) त्रिधाकरोति शुद्धाशुद्धमिश्रभेदेन सम्यक्त्वं मिथ्यात्वं सम्यक्मिथ्यात्वं चेति । श्लोक — ३

प्रश ([3]मय्य ततो भव्यः सहानन्तानुवन्धिभिः ।
ता मोहप्रकृती-) स्तिस्रो याति सम्यक्त्वमादिमम् ॥
संवेगप्रशमास्तिक्यदयादिव्यक्तलक्षणम् । ६
तत्सर्वदुःखविध्वंसि त्यक्तशंकादिदूषणम् ॥ [अमित प. सं १।२८९-२९०] ॥४६-४७॥

अथ को निसर्गाधिगमावित्याह—

विना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे । ९
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोऽधिगमश्च सः ॥४८॥

कर्मकी सात प्रकृतियोंका क्रमसे क्षय या उपशम या क्षयोपशम होनेपर जीवोंके क्षायिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्दर्शन होता है। एक जीवके एक कालमें एक ही सम्यग्दर्शन होता है। वह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहसे रहित आत्मस्वरूप है। रुचिका नाम सम्यग्दर्शन नहीं है। क्योंकि रुचि कहते हैं इच्छाको, अनुरागको। किन्तु जिनका मोह नष्ट हो जाता है उनमें रुचिका अभाव हो जाता है। ऐसी स्थितिमें उनके सम्यक्त्वका अभाव होनेसे सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका भी अभाव होनेसे मुक्तिका भी अभाव हो जायेगा। पहले जो सम्यक्त्वका लक्षण तत्त्वरुचि कहा है वह उपचारसे कहा है।[4] धवला टीकामें कहा है— 'अथवा 'तत्त्व रुचिको सम्यक्त्व कहते हैं' यह लक्षण अशुद्धतर नयकी अपेक्षासे जानना।'

आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है—किन्हींका कहना है कि इच्छाश्रद्धानको सम्यक्त्व कहते हैं। यह ठीक नहीं है। क्योंकि ऐसा माननेसे मोहरहित जीवोंके श्रद्धानका अभाव प्राप्त होनेसे ज्ञान और चारित्रके भी अभावका प्रसंग आता है ॥४६-४७॥

निसर्ग और अधिगमका स्वरूप कहते हैं—

सम्यग्दर्शनको ग्रहण करनेके समय गुरु आदिके वचनोंकी सहायताके विना जो तत्त्वज्ञान होता है वह निसर्ग है। और परोपदेशसे जो तत्त्वज्ञान होता है वह अधिगम है ॥४८॥

विशेषार्थ—आचार्य विद्यानन्दने भी कहा है—

'परोपदेशके विना तत्त्वार्थके परिज्ञानको निसर्ग कहते हैं और परोपदेशपूर्वक होनेवाले तत्त्वार्थके परिज्ञानको अधिगम कहते हैं'।

इस वार्तिक की टीकामें आचार्य विद्यानन्दने जो चर्चा उठायी है उसे यहाँ उपयोगी होनेसे दिया जाता है—यहाँ निसर्गका अर्थ स्वभाव नहीं है क्योंकि स्वभावसे उत्पन्न हुआ

१-२-३ ( ) एतच्चिह्नाङ्किता. पाठा मूलप्रती विनष्टा.। भ कु च. पूरिता । सर्वमिदममितगतिपञ्चसंग्रहादेव गृहीतं ग्रन्थकृता ।

४ अथवा तत्त्वरुचिः सम्यक्त्वं अशुद्धतरनयसमाश्रयणात् ।
—षट्खं पु १, पृ. १५१

विनेत्यादि—यद्वार्तिकम्—[त श्लोक ३।३]

विना परोपदेशेन तत्त्वार्थप्रतिभासनम् ।
३ निसर्गोऽधिगमस्तेन कृतं तदिति निश्चय. ॥४८॥

सम्यक्त्व तत्त्वार्थके परिज्ञानसे शून्य होनेके कारण सम्भव नहीं है। निसर्गका अर्थ है परोपदेशसे निरपेक्ष ज्ञान। जैसे सिंह निसर्गसे शूर होता है। यद्यपि उसका शौर्य अपने विशेष कारणोसे होता है तथापि किसीके उपदेशकी उसमे अपेक्षा नही होती इसलिए लोकमे उसे नैसर्गिक कहा जाता है। उसी तरह परोपदेशके बिना मति आदि ज्ञानसे तत्त्वार्थको जानकर होनेवाला तत्त्वार्थश्रद्धान निसर्ग कहा जाता है। शंका—इस तरह तो सम्यग्दर्शनके साथ मति आदि ज्ञानोंकी जो उत्पत्ति मानी गयी है कि सम्यग्दर्शनके होनेपर ही मति आदि ज्ञान होते हैं उसमे विरोध आता है। क्योकि, सम्यग्दर्शनसे पहले भी मति आदि ज्ञान आप कहते है ? समाधान—नहीं, सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य मति अज्ञान आदिको मति ज्ञान कहा जाता है। वैसे मति आदि ज्ञानोकी उत्पत्ति तो सम्यग्दर्शनके समकालमे ही होती है। शंका—तब तो मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमें होनेवाला सम्यग्दर्शन मिथ्या कहा जायेगा ? समाधान—यदि ऐसा है तब तो ज्ञान भी मिथ्या ही कहा जायेगा। शंका—सत्यज्ञानका विषय अपूर्व होता है इसलिए मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमे उसकी प्रवृत्ति नहीं होती। समाधान—तब तो सभीके सत्यज्ञानकी सन्तान अनादि हो जायेगी। शंका—सत्यज्ञानसे पहले उसके विषयमे मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव है इसलिए सत्यज्ञानकी अनादिताका प्रसंग नहीं आता। समाधान—तब तो मिथ्याज्ञानकी तरह सत्यज्ञानका भी अभाव होनेसे सर्वज्ञानसे शून्य ज्ञाताके जड़त्वका प्रसंग आता है। किन्तु ज्ञाता जड़ नहीं हो सकता। शका—सत्यज्ञानसे पहले उसके विषयका ज्ञान न तो मिथ्या है क्योकि उसमे सत्यज्ञानको उत्पन्न करनेकी योग्यता है और न सत्य है क्योकि वह पदार्थके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता। किन्तु वह सत्य और मिथ्यासे भिन्न ज्ञान सामान्य है अत. उसके द्वारा जाने गये अर्थमे प्रवृत्त होनेवाला सत्यज्ञान न तो मिथ्याज्ञानके द्वारा जाने गये अर्थका ग्राहक है और न गृहीतग्राही है। समाधान—तब तो सत्यज्ञानका विषय कथंचित् अपूर्व है सर्वथा नहीं, यह बात सिद्ध होती है। और उसे स्वीकार करने पर सम्यग्दर्शनको भी वैसा ही स्वीकार करना होगा। तब मिथ्याज्ञानसे जाने हुए अर्थमे या सत्यज्ञान पूर्वक सम्यग्दर्शन कैसे हुआ कहा जायेगा। जिससे उसके समकालमे मति ज्ञानादिके माननेमे विरोध आये। शंका—सभी सम्यग्दर्शन अधिगमज ही होते हैं क्योकि ज्ञान सामान्यसे जाने हुए पदार्थमे होते हैं। समाधान—नहीं, क्योकि अधिगम शब्दसे परोपदेश सापेक्ष तत्त्वार्थ ज्ञान लिया जाता है। शका—इस तरह तो इतरेतराश्रय दोष आता है क्योकि सम्यग्दर्शन हो तो परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो और परोपदेशपूर्वक तत्त्वार्थज्ञान हो तो सम्यग्दर्शन हो। समाधान—परोपदेश निरपेक्ष तत्त्वार्थज्ञानकी तरह सम्यग्दर्शनको उत्पन्न करनेके योग्य परोपदेश सापेक्ष तत्त्वार्थज्ञान सम्यग्दर्शनके होनेसे पूर्व ही अपने कारणसे उत्पन्न हो जाता है। इसलिए इतरेतराश्रय दोष नहीं आता। शका—सभी सम्यग्दर्शन स्वाभाविक ही होते हैं क्योंकि मोक्षकी तरह अपने समयपर स्वयं ही उत्पन्न होते हैं। समाधान—आपका हेतु असिद्ध है तथा सर्वथा नहीं जाने हुए अर्थमे श्रद्धान नहीं हो सकता। शका—जैसे शूद्रको

एतदेवं (–देव) समर्थयते—

केनापि हेतुना मोहवैधुर्यात् कोऽपि रोचते।
तत्त्वं हि चर्चनायस्तः कोऽपि च क्षोदखिन्नधीः ॥४९॥ ३

केनापि—वेदनाभिभवादिना। मोहवैधुर्यात्—दर्शनमोहोपशमादेः। चर्चनायस्त—चर्चया आयासमप्राप्तः। क्षोदखिन्नधी—विचारक्लिष्टमना। उक्त च—

'निसर्गोऽधिगमो वापि तदाप्तौ कारणद्वयम्। ६
सम्यक्त्वभाक् पुमान् यस्मादल्पानल्पप्रयासत'॥ [सोम. उपा. २२३ श्लो] ॥४९॥

अथ सम्यक्त्वभेदानाह—

तत्सरागं विरागं च द्विधौपशमिकं तथा। ९
क्षायिकं वेदकं त्रेधा दशधाज्ञादिभेदतः ॥५०॥

स्पष्टम् ॥५०॥

अथ सरागेतरसम्यक्त्वयोरधिकरणलक्षणोपलक्षणार्थमाह— १२

वेदके अर्थको विना जाने भी उसमे श्रद्धान होता है उसी तरह हो जायेगा। समाधान—नहीं,[1] क्योकि महाभारत आदि सुननेसे शूद्रको उसीका श्रद्धान देखा जाता है। जैसे कोई व्यक्ति मणिको प्रत्यक्ष देखकर तथा उसकी चमक आदिसे मणि होनेका अनुमान करके उसे ग्रहण करता है। यदि ऐसा न हो तो वह मणिको ग्रहण नहीं कर सकता। तथा मोक्ष भी स्वाभाविक नही है, वह स्वकालमें स्वयं नहीं होता। किन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रके आत्मरूप होनेपर ही होता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन भी दर्शनमोहके उपशम आदिसे उत्पन्न होता है, केवल स्वकालसे ही उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह स्वाभाविक नहीं है ॥४८॥

आगे इसी का समर्थन करते हैं—

कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का श्रम न उठाकर किसी भी निमित्तसे मिथ्यात्व आदि सात कर्म प्रकृतियोंका उपशम, क्षय या क्षयोपशम होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है। और कोई भव्य जीव तत्त्वचर्चा का क्लेश उठाकर मिथ्यात्व आदिका अभाव होनेसे तत्त्वकी श्रद्धा करता है ॥४९॥

विशेषार्थ—कहा भी है—

'उस सम्यग्दर्शन की प्राप्तिमे निसर्ग और अधिगम दो कारण हैं, क्योंकि कोई पुरुष तो थोड़े-से प्रयाससे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है तथा कोई बहुत प्रयत्नसे सम्यक्त्वको प्राप्त करता है' तथा जैसे[1] शूद्रको वेद पढनेका अधिकार नहीं है। फिर भी रामायण, महाभारत आदिके समवलोकनसे उसे वेदके अर्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है। उसी तरह किसी जीवको तत्त्वार्थका स्वयं ज्ञान हो जाता है ॥४९॥

अब सम्यग्दर्शनके भेद कहते हैं—

सराग और वीतरागके भेदसे सम्यग्दर्शनके दो भेद हैं। औपशमिक, क्षायिक और वेदकके भेदसे तीन भेद हैं। तथा आज्ञा सम्यक्त्व आदिके भेदसे दस भेद हैं ॥५०॥

सराग और वीतराग सम्यक्त्वका अधिकरण, लक्षण और उपलक्षण कहते हैं—

---

१. 'यथा शूद्रस्य वेदार्थे शास्त्रान्तरसमीक्षणात्।
स्वयमुत्पद्यते ज्ञान तत्त्वार्थे कस्यचित्तथा ॥'

ज्ञे सरागे सरागं स्याच्छमादिव्यक्तिलक्षणम् ।
विरागे दर्शनं त्वात्मशुद्धिमात्रं विरागकम् ॥५१॥

ज्ञे—ज्ञातरि पुंसि । विरागे—उपशान्तकषायादिगुणस्थानवर्तिनि । आत्मशुद्धिमात्रं—आत्मनो जीवस्य, शुद्धि :—दृग्मोहस्योपशमेन क्षयेण वा जनितप्रसाद , सैव तन्मात्रं न प्रशमादि । तत्र हि चारित्रमोहस्य सहचारिणोऽपायान्न प्रशमाद्यभिव्यक्ति स्यात् । केवल स्वसवेदनेनैव तद्वेद्येत । उक्त च—

असंयत सम्यग्दृष्टि आदि रागसहित तत्त्वज्ञ जीवके सराग सम्यग्दर्शन होता है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्यकी व्यक्ति उसका लक्षण है—इनके द्वारा उसकी पहचान होती है। वीतराग उपशान्त कषाय आदि गुणस्थानवर्ती जीवोंके वीतराग सम्यग्दर्शन होता है। यह सम्यग्दर्शन दर्शनमोहनीय कर्मके उपशम या क्षयसे होनेवाली आत्माकी विशुद्धि मात्र होता है अर्थात् प्रशम संवेग आदि वहाँ नही होते, क्योंकि इनका सहायक चारित्र मोहनीय कर्म वहाँ नहीं रहता। केवल स्वसंवेदनसे ही सम्यक्त्व जाना जाता है ॥५१॥

विशेषार्थ—स्वामी विद्यानन्दने भी कहा है[1]—

जैसा ही विशिष्ट आत्मस्वरूप श्रद्धान सरागी जीवोंमें होता है वैसा ही वीतरागी जीवोंमे होता है। दोनोंके श्रद्धानमें अन्तर नही है, अन्तर है अभिव्यक्तिमें। सरागी जीवोंमें सम्यग्दर्शनकी अभिव्यक्ति प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भावसे होती है और वीतरागियोंमे आत्मविशुद्धि मात्रसे। प्रशम आदिका स्वरूप ग्रन्थकार आगे कहेंगे। ये प्रशमादि एक-एक या सब अपनेमे स्वसंवेदनके द्वारा और दूसरोंमे शरीर और वचनके व्यवहाररूप विशेष लिंगके द्वारा अनुमित होकर सराग सम्यग्दर्शनको सूचित करते हैं। सम्यग्दर्शनके अभावमें मिथ्यादृष्टियोंमें ये नही पाये जाते। यदि पाये जाये तो वह मिथ्यादृष्टि नहीं है। शंका—किन्हीं मिथ्यादृष्टियोंमें भी क्रोधादिका उद्रेक नही देखा जाता। अत प्रशम भाव मिथ्यादृष्टियोंमे भी होता है। समाधान—मिथ्यादृष्टियोंके एकान्तवादमें अनन्तानुबन्धी मानका उदय देखा जाता है। और अपनी अनेकान्तात्मक आत्मामे द्वेषका उदय अवश्य होता है। तथा पृथिवीकाय आदि जीवोंका घात भी देखा जाता है। जो संसारसे संविग्न होते हैं, दयालु होते हैं उनकी प्राणिघातमे निःशंक प्रवृत्ति नहीं हो सकती। शंका—अज्ञानवश सम्यग्दृष्टि की भी प्राणिघातमें प्रवृत्ति होती है। समाधान—सम्यग्दृष्टि भी हो और जीवतत्त्वसे अनजान हो यह बात तो परस्पर विरोधी है। जीवतत्त्व-विषयक अज्ञान ही मिथ्यात्व विशेषका रूप है। शका—यदि प्रशमादि अपनेमे स्वसंवेदनसे जाने जाते है तो तत्त्वार्थोंका श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे क्यों नहीं जाना जाता? उसका प्रशमादिसे अनुमान क्यों किया जाता है? यदि तत्त्वार्थ श्रद्धान भी स्वसंवेदनसे जाना जाता है तो फिर प्रशमादिसे तत्त्वार्थ श्रद्धानका अनुमान किया जाता है, और तत्त्वार्थ श्रद्धानसे प्रशमादिका अनुमान नहीं किया जाता? यह बात कौन विचारशील मानेगा? समाधान—आपके कथनमें कोई सार नहीं है। दर्शनमोहके उपशम आदिसे विशिष्ट आत्मस्वरूप तत्त्वार्थ श्रद्धानके स्वसंवेद्य होनेका निश्चय नहीं है। प्रशम संवेग अनुकम्पाकी तरह आस्तिक्यभाव उसका अभिव्यंजक है और वह तत्त्वार्थश्रद्धानसे कथचित् भिन्न है क्योकि उसका फल है। इसीलिए फल और फलवानमे अभेद

---

१ 'सरागे वीतरागे च तस्य संभवतोऽञ्जसा ।
प्रशमादेरभिव्यक्ति. शुद्धिमात्राच्च चेतस. ॥'—त. श्लो वा १।२।१२

"सरागवीतरागात्मविषयं तद्द्विधा स्मृतम् ।
प्रशमादिगुण पूर्वं पर त्वात्मविशुद्धिभाक् ॥" [सो. उ. पा २२७ श्लो.] ॥५१॥

अथ प्रशमादीना लक्षणमाह—

प्रशमो रागादीनां विगमोऽनन्तानुबन्धिनां संवेगः ।
भवभयमनुकम्पाखिलसत्त्वकृपास्तिक्यमखिलतत्त्वमति. ॥५२॥ ३

रागादीना—क्रोधादीना साहचर्यान्मिथ्यात्वसम्यग्मिथ्यात्वयोश्च, विगम —अनुद्रेक , अखिलतत्त्वमति —हेयस्य परद्रव्यादेर्हेयत्वेनोपादेयत्वेन प्रतिपत्ति. ॥५२॥ ६

अथ स्वपरगतसम्यक्त्वसद्भावनिर्णय केन स्यादित्याह—

विवक्षा होनेपर आस्तिक्य ही तत्त्वार्थ श्रद्धान है। शंका—प्रशमादिका अनुभव सम्यग्दर्शनके समकालमें होता है इसलिए प्रशमादि सम्यग्दर्शनके फल नहीं है। समाधान—प्रशमादि सम्यग्दर्शनके अभिन्न फल हैं इसलिए सम्यग्दर्शनके समकालमें उनका अनुभव होनेमें कोई विरोध नहीं है। शंका—दूसरोमे प्रशमादिका अस्तित्व सन्दिग्धासिद्ध है इसलिए उनसे सम्यग्दर्शनका बोध नहीं हो सकता ? समाधान—शरीर और वचनके व्यवहार विशेषसे दूसरोमें प्रशमादिका निर्णय होता है यह हम कह आये है। अपनेमें प्रशमादिके होनेपर जिस प्रकारके कायादि व्यवहार विशेष निर्णीत किये जाते है, दूसरोंमे भी उस प्रकारके व्यवहार विशेष प्रशमादिके होनेपर ही होते हैं ऐसा निर्णय करना चाहिए। शंका—तो फिर जैसे सरागी जीवोमे तत्त्वार्थ श्रद्धानका निर्णय प्रशमादिसे किया जाता है वैसे ही वीतरागियोंमे भी उसका निर्णय प्रशमादिसे क्यों नहीं किया जाता ? समाधान—नहीं, क्योंकि वीतरागीमें तत्त्वार्थ श्रद्धान आत्मविशुद्धि मात्र है और समस्त मोहका अभाव हो जानेपर संशयादि सम्भव नहीं है। अतः स्वसंवेदनसे ही उसका निश्चय हो जाता है। दूसरोंमे निश्चयके उपाय यद्यपि सम्यग्दर्शनके चिह्न प्रशम आदि होते है किन्तु प्रशम आदिके निर्णयके उपाय कायादि व्यवहार विशेष वहाँ नहीं होते। शंका—तो अप्रमत्त गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान पर्यन्त प्रशमादिके द्वारा सम्यग्दर्शनका अनुमान कैसे किया जा सकता है ? क्योंकि वीतरागके समान अप्रमत्त आदिमे भी कोई व्यापार विशेष नहीं होता ? समाधान—नहीं, क्योंकि ऐसा नहीं कहा है कि सभी सरागी जीवोमें सम्यग्दर्शनका अनुमान प्रशमादिसे होता है। यथायोग्य सरागियोंमे सम्यग्दर्शन प्रशमादिके द्वारा अनुमान किया जाता है और वीतरागियोंमें आत्मविशुद्धि मात्र है, यह कहा है ॥५१॥

प्रशम आदिका लक्षण कहते हैं—

अनन्तानुबन्धी अर्थात् बीजांकुर न्यायसे अनन्त संसारका प्रवर्तन करनेवाले क्रोध, मान, माया, लोभ तथा उनके सहचारी मिथ्यात्व और सम्यक् मिथ्यात्वके अनुद्रेकको प्रशम कहते हैं। संसारसे डरनेको संवेग कहते है। नरकादि गतियोमे कष्ट भोगनेवाले समस्त त्रस और स्थावर जीवोंपर दया अनुकम्पा है। समस्त स्व और पर द्रव्योकी उपादेय और हेय रूपसे प्रतिपत्ति अर्थात् हेय परद्रव्यादिको हेयरूपसे और उपादेय अपने शुद्ध आत्मस्वरूपको उपादेय रूपसे श्रद्धान करना आस्तिक्य है ॥५२॥

अपनेमे तथा दूसरोमे सम्यक्त्वके सद्भावका निर्णय करनेका उपाय बतलाते हैं—

तै स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ता स्वां दृशं विदुः ।
प्रमत्तान्तान्यगा तज्जवाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥५३॥

३ सूक्ष्मलोभान्ताः—असंयतसम्यग्दृष्टयादिसूक्ष्मसाम्परायपर्यन्ता सप्त । प्रमत्तान्तान्यगा—असंयतसम्यग्दृष्टि-संयतासंयतप्रमत्तसंयताख्यपरवर्तिनीम् । 'तज्ज' इत्यादि—तेभ्य प्रशमादिभ्यो जाता वाक्-वचन, चेष्टा च कायव्यापार । अयमर्थ —सम्यक्त्वनिमित्तकान् प्रशमादीन् स्वस्य स्वसंवेदनेन निश्चित्य तदविनाभाविन्यौ ६ च वाक्कायचेष्टे यथास्व निर्णीय तथाविधि(धे)च परस्य वाक्चेष्टे दृष्ट्वा ताभ्या तद्धेतून् प्रशमादीन् निश्चित्य तै परसम्यक्त्वमनुमिनुयात् ॥५३॥

अथ औपशमिकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

९ **शमान्मिथ्यात्वसम्यक्त्वमिश्रानन्तानुबन्धिनाम् ।**
शुद्धेऽम्भसीव पङ्कस्य पुंस्यौपशमिकं भवेत् ॥५४॥

मिश्र—सम्यग्मिथ्यात्वम् ॥५४॥

१२ अथ क्षायिकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

तत्कर्मसप्तके क्षिप्ते पङ्कवत्स्फटिकेऽम्बुवत् ।
शुद्धेऽतिशुद्धं क्षेत्रज्ञे भाति क्षायिकमक्षयम् ॥५५॥

असंयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानसे लेकर सूक्ष्मसाम्पराय नामक दसवें गुणस्थान तकके जीव अपने द्वारा सम्यक् रीतिसे निर्णीत, अपनेमें विद्यमान सम्यक्त्वसे होनेवाले प्रशमादिके द्वारा अपने सम्यक्त्वको जानते हैं । तथा असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत और प्रमत्त संयत गुणस्थानवर्ती दूसरे जीवोंके सम्यक्त्वको अपनेमें सम्यक्त्वसे होनेवाले प्रशमादिसे जन्य वचन व्यवहार और काय व्यवहारके द्वारा अनुमान किये गये प्रशमादिके द्वारा जानते है ॥५२॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि सम्यक्त्वके होनेपर प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य भाव अवश्य होते हैं । किन्तु ये भाव कभी-कभी मिथ्यादृष्टिमें भी हो जाते है । यद्यपि मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिके प्रशमादि भावोंमें अन्तर होता है । उसी अन्तरको समझकर यह निर्णय करना होता है कि ये प्रशमादि भाव यथार्थ हैं या नहीं । तभी उनके द्वारा अपनेमें सम्यक्त्वके अस्तित्वका यथार्थ रीतिसे निश्चय करनेके लिए कहा है । जब ये भाव होते हैं तो वचन और कायकी चेष्टामें भी अन्तर पड़ जाता है । अत सम्यग्दृष्टि अपनी-जैसी चेष्टाएँ दूसरोंमें देखकर दूसरोंके सम्यक्त्वको अनुमानसे जानता है । चेष्टाएँ छठे गुणस्थानपर्यन्त जीवोंमें ही पायी जाती हैं । आगेके गुणस्थान तो ध्यानावस्था रूप है । अतः छठे गुणस्थानपर्यन्त जीवोंके ही सम्यक्त्वको अनुमानसे जाना जा सकता है ॥५३॥

औपशमिक सम्यक्त्वके अन्तरंग कारण कहते हैं—

जैसे निर्मलीके डालनेसे स्फटिकके पात्रमें रखे हुए जलमें पंक शान्त हो जाती है—नीचे बैठ जाती है और जल स्वच्छ हो जाता है । उसी तरह मिथ्यात्व, सम्यक्त्व, सम्यक्-मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभका उपशम होनेसे जीवमें औपशमिक सम्यक्दर्शन होता है ॥५४॥

क्षायिक सम्यक्त्वका अन्तरंग कारण कहते हैं—

जैसे पंकके दूर हो जानेपर शुद्ध स्फटिकके पात्रमें अति शुद्ध जल शोभित होता है, वैसे ही मिथ्यात्व आदि सात कर्मोंका सामग्री विशेषके द्वारा क्षय होनेपर शुद्ध आत्मामें अति शुद्ध अविनाशी क्षायिक सम्यक्त्व सदा प्रदीप्त रहता है ॥५५॥

क्षिप्ते—विश्लेपिते । स्फटिके—स्फटिकभाजने । अतिशुद्ध—त्यक्तशकादिदूषणत्वेन शुद्धादौपशमिकातिशयेन शुद्धं प्रक्षीणप्रतिवन्धकत्वात् । अतएव भाति—नित्य दीप्यते कदाचित् केनापि क्षोभयितुमशक्यत्वात् । तदुक्तम्— ३

"रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तदर्शिभिः ।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चलः ॥ [अमि. प स. १।२९३]

क्षेत्रज्ञे—आत्मनि ॥५५॥ ६

अथ वेदकस्यान्तरङ्गहेतुमाह—

पाकाद्देशघ्नसम्यक्त्वप्रकृतेरुदयक्षये ।
शमे च वेदकं षण्णामगाढं मलिनं चलम् ॥५६॥ ९

पाकात्—उदयात् । उदयक्षये—मिथ्यात्वादीना षण्णामुदयप्राप्तानामुदयस्य निवृत्तौ । शमेति—तेपामेवानुदयप्राप्तानामुपशमे सदवस्थालक्षणे ॥५६॥

विशेषार्थ—क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होकर पुनः लुप्त नहीं होता, सदा रहता है, क्योकि उसके प्रतिवन्धक मिथ्यात्व आदि कर्मोंका क्षय हो जाता है। इसीसे शंका आदि दोष नही होनेसे वह औपशमिक सम्यग्दर्शनसे अति शुद्ध होता है। कभी भी किसी भी कारणसे उसमे क्षोभ पैदा नहीं होता। कहा भी है—

'भयंकर रूपोसे, हेतु और दृष्टान्तपूर्वक वचन विन्याससे क्षायिक सम्यक्त्व कभी भी डगमगाता नहीं है, निश्चल रहता है अर्थात् भयंकर रूप और युक्तितर्कके वाग्जाल भी उसकी श्रद्धामे हलचल पैदा करनेमे असमर्थ होते है' ॥५५॥

वेदक सम्यक्त्वका अन्तरंग हेतु कहते हैं—

सम्यग्दर्शनके एकदेशका घात करनेवाली देशघाती सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोके उदयकी निवृत्ति होनेपर और आगामी कालमे उदयमे आनेवाली उन्हीं छह प्रकृतियोका सदवस्थारूप उपशम होनेपर वेदक अर्थात् क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। वह सम्यक्त्व चल, मलिन और अगाढ होता है ॥५६॥

विशेषार्थ—इस सम्यक्त्वको क्षायोपशमिक भी कहते है और वेदक भी कहते हैं। कार्मिक परम्परामे प्रायः वेदक नाम मिलता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका सर्वत्र यही लक्षण पाया जाता है जो ऊपर ग्रन्थकारने कहा है, किन्तु वीरसेन स्वामीने धवलामे (पु ५, पृ. २००) इसपर आपत्ति की है। वे कहते है—

'सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयके साथ रहने वाला सम्यक्त्व परिणाम क्षायोपशमिक है। मिथ्यात्वके सर्वघाती स्पर्द्धकोंके उदयाभावरूप क्षयसे, उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे, और सम्यग्मिथ्यात्व प्रकृतिके सर्वघाती स्पर्द्धकोके उदयक्षयसे तथा उन्हींके सदवस्थारूप उपशमसे अथवा अनुदयोपशमसे और सम्यक्त्व प्रकृतिके देशघाती स्पर्द्धकोंके उदयसे क्षायोपशमिक भाव कितने ही आचार्य कहते हैं। किन्तु वह घटित नहीं होता, क्योकि उसमें अव्याप्ति दोष आता है। अत. यथास्थित अर्थके श्रद्धानको घात करनेवाली शक्ति सम्यक्त्व प्रकृतिके स्पर्धकोमे क्षीण हो जाती है इसलिए उनकी क्षायिक संज्ञा है। क्षीण हुए स्पर्धकोके उपशम अर्थात् प्रसन्नताको क्षयोपशम कहते हैं। उससे उत्पन्न होनेसे वेदक सम्यक्त्व क्षायोपशमिक है यह घटित होता है।'

वह सम्यक्त्व अगाढ, मलिन और चल होता है ॥५६॥

अथ वेदकस्यागाढत्वं दृष्टान्तेनाचष्टे—

वृद्धयष्टिरिवात्यक्तस्थाना करतले स्थिता ।
३ स्थान एव स्थितं कम्प्रमगाढं वेदकं यथा ॥५७॥

स्थाने—विषये देवादौ ॥५७॥

अथ तदगाढतोल्लेखमाह—

६ स्वकारितेऽर्हच्चैत्यादौ देवोऽयं मेऽन्यकारिते ।
अन्यस्यासाविति भ्राम्यन् मोहाच्छ्राद्धोऽपि चेष्टते ॥५८॥

मोहात्—सम्यक्त्वप्रकृतिविपाकात् । श्राद्धः—श्रद्धावान् । चेष्टते—प्रवृत्तिनिवृत्ति करोति ॥५८॥

९ अथ तन्मालिन्य व्याचष्टे—

तदप्यलब्धमाहात्म्यं पाकात् सम्यक्त्वकर्मणः ।
मलिनं मलसङ्गेन शुद्धं स्वर्णमिवोद्भवेत् ॥५९॥

१२ अलब्धमाहात्म्य—अप्राप्तकर्मक्षपणातिशयम् । मलसङ्गेन—शङ्कादीना रजतादीना च ससर्गेण ॥५९॥

अथ तच्चलत्व विवृणोति—

लसत्कल्लोलमालासु जलमेकमिव स्थितम् ।
१५ नानात्मीयविशेषेषु चलतीति चलं यथा ॥६०॥

नानेत्यादि—नानाप्रकारस्वविषयदेवादिभेदेषु ॥६०॥

वेदक सम्यक्त्वकी अगाढताको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है—

जैसे वृद्ध पुरुपके हाथकी लाठी हाथमे ही रहती है उससे छूटती नहीं है, न अपने स्थानको ही छोडती है फिर भी कुछ कॉपती रहती है। वैसे ही वेदक सम्यक्त्व अपने विषय देव आदिमे स्थित रहते हुए भी थोड़ा सकम्प होता है—स्थिर नहीं रहता ॥५७॥

इस अगाढताको वतलाते है—

मिथ्यादृष्टिकी तो वात ही क्या, श्रद्धावान सम्यग्दृष्टि भी सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयसे भ्रममें पड़कर अपने वनवाये हुए जिनप्रतिमा, जिनमन्दिर वगैरहमें, यह मेरे देव है, यह मेरा जिनालय है तथा दूसरेके वनवाये हुए जिनमन्दिर—जिनालय वगैरहमे, यह अमुकका है, ऐसा व्यवहार करता है ॥५८॥

वेदक सम्यक्त्वके मलिनता दोषको कहते है—

जैसे स्वर्ण पहले अपने कारणोसे शुद्ध उत्पन्न होकर भी चॉदी आदिके मेलसे मलिन हो जाता है वैसे ही क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन उत्पत्तिके समय निर्मल होनेपर भी सम्यक्त्व-कर्मके उदयसे कर्मक्षयके द्वारा होनेवाले अतिशयसे अछूता रहते हुए शंका आदि दोपोंके संसर्गसे मलिन हो जाता है ॥५९॥

वेदक सम्यक्त्वके चलपनेको कहते हैं—

जैसे उठती हुई लहरोंमे जल एकरूप ही स्थित रहता है, लहरोके कारण जलमें कोई अन्तर नहीं पडता, वैसे ही सम्यग्दर्शनके विपयभूत नाना प्रकारके देव आदि भेदोंमें स्थित रहते हुए भी चंचलताके कारण वेदक सम्यक्त्व चल होता है ॥६०॥ जैसे—

अथ तदुल्लेखमाह—

समेऽप्यनन्तशक्तित्वे सर्वेषामर्हतामयम् ।
देवोऽस्मै प्रभुरेषोऽस्मा इत्यास्था सुदृशामपि ॥६१॥ ३

अय देवः—पार्श्वनाथादि । अस्मै—उपसर्गादिनिवारणाय । प्रभु.—समर्थ । आस्था—प्रतिपत्ति-दार्ढ्यम् ॥६१॥

अथ आज्ञासम्यक्त्वादिभेदानाह— ६

आज्ञामार्गोपदेशार्थबीजसंक्षेपसूत्रजा. ।
विस्तारजावगाढासौ परमा दशधेति दृक् ॥६२॥

आज्ञा—जिनोक्तागमानुज्ञा । मार्ग.—रत्नत्रयविचारसर्ग । उपदेश —पुराणपुरुषचरणाभिनिवेश । ९ अर्थः—प्रवचनविपये स्वप्रत्ययसमर्थ । बीजम्—सकलसमथ (समय) दलसूचनाव्याजम् । सक्षेपः—आस-श्रुतव्रतसमासलोपक्षेप । सूत्र—यतिजनाचरणनिरूपणपात्रम् । विस्तार —द्वादशाङ्गचतुर्दशपूर्वप्रकीर्णक-विस्तीर्णश्रुतार्थसमर्थनप्रस्तार । अवगाढा—त्रिविधस्यागमस्य नि शेपतोऽन्यतमदेशावगाहालीढा । असौ- १२ परमा—परमावगाढा अवधिमन पर्ययकेवलाधिकपुरुपप्रत्ययप्ररूढा ॥६२॥

सभी तीर्थंकरोंमें अनन्तशक्तिके समान होनेपर भी सम्यग्दृष्टियोंकी भी ऐसी श्रद्धा रहती है कि यह भगवान् पार्श्वनाथ उपसर्ग आदि दूर करनेमे समर्थ हैं और यह भगवान् शान्तिनाथ शान्तिके दाता हैं ॥६१॥

विशेपार्थ—इन दोषोंका स्वरूप इस प्रकार भी कहा है—[1]

जो कुछ काल तक ठहरकर चलायमान होता है उसे चल कहते है और जो शंका आदि दोपोंसे दूपित होता है उसे मलिन कहते हैं। वेदक सम्यक्त्व चल और मलिन होनेसे अगाढ और अनवस्थित होनेके साथ किसी अपेक्षा नित्य भी है क्योकि अन्तर्मुहूर्तसे लेकर छियासठ सागर तक रहता है अर्थात् वेदक सम्यक्त्वकी जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट स्थिति छियासठ सागर होनेसे वह चल भी है और स्थायी भी है ॥६१॥

आगे आज्ञा सम्यक्त्व आदि दस भेद कहते हैं—

सम्यक्त्वके दस भेद है—आज्ञा सम्यक्त्व, मार्गसम्यक्त्व, उपदेशसम्यक्त्व, अर्थ-सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेपसम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, विस्तार सम्यक्त्व, अवगाढ सम्यक्त्व, परमावगाढ सम्यक्त्व ॥६२॥

विशेपार्थ—दर्शनमोहके उपशमसे शास्त्राध्ययनके विना केवल वीतराग भगवान्की आज्ञासे ही जो तत्त्वश्रद्धान होता हे उसे आज्ञा सम्यक्त्व कहते हैं। दर्शनमोहका उपशम होनेसे शास्त्राध्ययनके विना रत्नत्रय रूप मोक्षमार्गमे रुचि होनेको मार्ग सम्यक्त्व कहते हैं। त्रेसठ शलाका पुरुषोंके चरितको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है वह उपदेश सम्यग्दर्शन है। किसी अर्थके द्वारा प्रवचनके विपयमे जो श्रद्धा उत्पन्न होती है उसे अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं। वीजपदोंसे होनेवाले तत्त्वश्रद्धानको वीज सम्यग्दर्शन कहते हैं। देव, शास्त्र,

---

१ 'कियन्तमपि यत्काल स्थित्वा चलति तच्चलम् ।
वेदक मलिन जातु शङ्काद्यैर्यत्कलङ्क्यते ॥
यच्चल मलिन चास्मादगाढमनवस्थितम् ।
नित्य चान्तर्मुहूर्तादि पट्षष्ट्यव्ध्यन्तवर्ति यत् ॥'

अथ आज्ञासम्यक्त्वसाधनोपायमाह—

देवोऽर्हन्नेव तस्यैव वचस्तथ्यं शिवप्रद. ।
३ धर्मस्तदुक्त एवेति निर्बन्धः साधयेद् दृशम् ॥६३॥

निर्बन्धः—अभिनिवेश , साधयेत्—उत्पादयेत् ज्ञापयेत् ॥६३॥

अथ वृत्तपञ्चकेन सम्यग्दर्शनमहिमानमभिष्टौति—तत्र तावद्विनेयाना सुखस्मृत्यर्थं तत्सामग्रीस्वरूपे अनूद्य
६ सक्षेपेणानन्यसभवतन्महिमानमभिव्यक्तुमाह—

प्राच्येनाथ तदातनेन गुरुवाग्बोधेन कालारुण-
स्थामक्षामतमश्छिदे दिनकृतेवोदेष्यताविष्कृतम् ।
९ तत्त्वं हेयमुपेयवत् प्रतियता संवित्तिकान्ताश्रिता
सम्यक्त्वप्रभुणा प्रणीतमहिमा धन्यो जगज्जेष्यति ॥६४॥

व्रत, पदार्थ आदिको संक्षेपसे ही जानकर जो तत्त्वार्थ श्रद्धान होता है वह संक्षेप सम्यग्दर्शन है। मुनिके आचरणको सूचित करनेवाले आचार सूत्रको सुननेसे जो तत्त्वश्रद्धान होता है उसे सूत्र सम्यग्दर्शन कहते हैं। बारह अंग, चौदह पूर्व तथा अंग बाह्यरूप विस्तीर्ण श्रुतको सुनकर जो तत्त्वार्थश्रद्धान होता है उसे विस्तार सम्यग्दर्शन कहते हैं। अंग, पूर्व और प्रकीर्णक रूप आगमोको पूरी तरहसे जानकर श्रद्धानमें जो अवगाढपन आता है उसे अवगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। और केवलज्ञानके द्वारा पदार्थोंको साक्षात् जानकर जो श्रद्धामें परमावगाढपना होता है उसे परमावगाढ सम्यग्दर्शन कहते हैं। सम्यग्दर्शनके ये भेद प्राय. तत्त्वज्ञानके बाह्य निमित्तोंकी प्रधानतासे कहे हैं। सम्यक्त्वकी उत्पत्ति तो दर्शनमोहकी उपशमना आदि पूर्वक ही होती है ॥६२॥

आगे आज्ञा सम्यक्त्वको प्राप्त करनेके उपाय बताते हैं—

अर्हन्त ही सच्चे देव है, उन्हींके वचन सत्य है, उन्हींके द्वारा कहा गया धर्म मोक्षदाता है, इस प्रकारका आग्रहपूर्ण भाव सम्यग्दर्शनका उत्पादक भी होता है और ज्ञापक भी होता है अर्थात् उक्त प्रकारकी दृढ भावना होनेसे ही सम्यक्त्व उत्पन्न होता है तथा उससे ही यह समझा जा सकता है कि अमुक पुरुष सम्यग्दृष्टि है ॥६३॥

आगे पॉच पद्योसे सम्यग्दर्शनकी महिमा बतलाते है। सर्वप्रथम शिष्योको सुखपूर्वक स्मृति करानेके लिए सम्यग्दर्शनकी सामग्री और स्वरूप बताकर संक्षेपसे उसकी असाधारण महिमा प्रकट करते हैं—

जैसे सूर्यके सारथिकी शक्तिसे मन्द हुए अन्धकारका छेदन करनेके लिए सूर्यका उदय होता है उसी तरह काल क्षेत्र द्रव्यभावकी शक्तिके द्वारा मन्द हुए दर्शनमोहका छेदन करनेके लिए सम्यग्दर्शनसे पहले अथवा उसके समकालमे गुरु अर्थात् महान् आगमज्ञान या गुरुके उपदेशसे होनेवाला ज्ञान उदित होता है। उससे उपादेय तत्त्वकी तरह हेय तत्त्वकी भी प्रतीति करनेवाला और सम्यक् ज्ञप्तिरूपी पत्नीसे युक्त सम्यग्दर्शन प्रभुके द्वारा महत्ताको प्राप्त हुआ पुण्यशाली सम्यग्दृष्टि जीव निश्चयसे स्वचिन्मय और व्यवहारसे जीवादि द्रव्योंके समुदाय-रूप लोकको वशमे करता है अर्थात् वह सर्वज्ञ और सर्वजगत्का भोक्ता होता है ॥६४॥

विशेषार्थ—उक्त श्लोकमे केवल काल शब्द दिया है। उससे सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिके योग्य काल क्षेत्र-द्रव्य-भाव चारो लेना चाहिए। उस कालको अरुण—सूर्यके सारथिकी उपमा दी है क्योकि वह सूर्यके सारथिकी तरह दर्शनमोहरूपी अन्धकारको मन्द करनेमे

प्राच्येन—सम्यक्त्वोत्पत्तेः प्राग्भाविना। तदातनेन—सम्यक्त्वोत्पत्तिसमसमयभाविना। कालेत्यादि—सम्यक्त्वोत्पत्तियोग्यसमयसूर्यसारथिशक्त्या (कृशी)कृतस्य मिथ्यात्वस्य तिमिरस्य च निरासार्थे। दिनकृता—आदित्येन। उदेष्यता—सम्यग्भावाभिमुखेन उदयाभिमुखेन च। एतेन सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तभूतो बोध. स्वरूपेण (अ-)सम्यक् सम्यक्त्वोत्पत्तिनिमित्तत्वेनैव सम्यगिति न मोक्षमार्ग इत्युक्त स्यात्। अतः सम्यक्त्वसहजन्मैव बोधो मोक्षमार्ग इति प्रतिपत्तव्यम्। न चैव तयो कार्यकारणभावि(भाव)विरोध, समसमयभावित्वेऽपि तयो प्रदीपप्रकाशयोरिव तस्य सुघटत्वात्। तथा चोक्तम्— ३ ६

'कारणकार्यविधानं समकाल जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव सम्यक्त्वज्ञानयो सुघटम्॥' [पुरुषार्थ ३४]

अत एव सम्यक्त्वाराधनानन्तर ज्ञानाराधनोपदेश'। तदप्युक्तम्— ९

'सम्यग्ज्ञान कार्यं सम्यक्त्व कारण वदन्ति जिना.।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥' [पुरुषार्थ ३३]

तेनैतत् सितपटाचार्यवचनमनुचितम्— १२

'चतुर्वर्गाग्रणीर्मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्
ज्ञानश्रद्धानचारित्ररूप रत्नत्रय च स ॥' [योगशास्त्र १।१५]

उपेयवत्—उपादेयेन स्वशुद्धात्मस्वरूपेण तुल्यम्। प्रतियता—प्र(ती)तिविषय कुर्वता। सवित्तिकान्ताश्रिता—सम्यग्ज्ञप्तिप्रियायुक्तेन। स एष सम्यक्त्वानन्तरमाराध्यो मोक्षमार्गभूतो बोध। न चानयो पृथगाराधन न सगच्छते लक्षणभेदेन भेदात्। तदुक्तम्— १५

निमित्त होता है। तथा सम्यग्दर्शनके उत्पन्न होनेसे पहले और उसके समकालमे भी तत्त्वार्थका बोध होना आवश्यक है, उसीको देशनालब्धि कहते हैं। यदि वह बोध परोपदेशसे हुआ हो तो उससे होनेवाले सम्यग्दर्शनको अधिगमज कहते हैं और उसके बिना हुआ हो तो उसे निसर्गज कहते हैं। इसीको लक्ष्यमे रखकर 'गुरुवाग्बोध'का अर्थ—गुरु अर्थात् महान्, वाग्बोध—आगमज्ञान—तत्त्वार्थ-बोध, और गुरुके वचनोंसे होनेवाला बोध, किया गया है। सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाले इस तत्त्वज्ञानको 'उदेष्यता' कहा है। उदेष्यताका अर्थ है उदयके अभिमुख। किन्तु ज्ञानके पक्षमे इसका अर्थ है सम्यक्पनेके अभिमुख। क्योकि सम्यग्दर्शनसे पहले होनेवाला ज्ञान सम्यक् नहीं होता। अतः सम्यग्दर्शनकी उत्पत्तिमें निमित्त हुआ ज्ञान स्वरूपसे सम्यक् नही है किन्तु सम्यक्त्वकी उत्पत्तिमे निमित्त होनेसे सम्यक् कहा जाता है। इसलिए वह मोक्षका मार्ग नहीं है किन्तु सम्यक्त्वके साथ होनेवाला ज्ञान ही मोक्षका मार्ग है। किन्तु सम्यक्त्वके साथ उत्पन्न होनेपर भी सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमे कार्यकारणपना होनेमे कोई विरोध नहीं है। जैसे दीपक और प्रकाश समानकाल भावी है फिर भी उनमे कार्यकारणपना है वैसे ही सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शनमें भी जानना। कहा भी है—

'सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समयमें उत्पन्न होते है फिर भी दीपक और प्रकाशकी तरह उनमें कारण-कार्य-विधान सुघटित होता है।'

इसीलिए सम्यग्दर्शनकी आराधनाके अनन्तर ज्ञानाराधनाका उपदेश है। कहा भी है—

'जिनेन्द्रदेव सम्यग्ज्ञानको कार्य और सम्यग्दर्शनको कारण कहते है। इसलिए सम्यग्दर्शनके अनन्तर ही ज्ञानकी आराधना योग्य है।'

'पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य ।
लक्षणभेदेन यतो नानात्वं संभवत्यनयोः ॥' [पुरुषार्थ० ३२]

३ सम्यक्त्वप्रभुणा—सम्यक्त्व च तत्प्रभुश्च परमाराध्यः तत्प्रसादैकसाध्यत्वात् सिद्धेः ।

यत्तात्विका :—

६ 'किं पल्लविएण बहु सिद्धा जे णरवरा गए काले ।
सिज्झिहहिं जे वि भविया त जाणह सम्ममाहप्प ॥' [बा. अणु. ९०]

सम्यक्त्व प्रभुरिवेत्यर्थोक्तिलेशपक्षे प्रभुः स्वमते शक्रादि', परमते तु पार्वतीपतिः श्रीपतिर्वा ।
९ प्रणीतमहिमा—प्रवर्तितमाहात्म्य. । जेष्यति—वशीकरिष्यति । सर्वश —सर्वजगद्भोक्ता च भविष्यतीत्यर्थ ॥६४॥

अथ निर्मलगुणालंकृतसम्यक्त्वस्य निरतिशयमाहात्म्ययोनितया सर्वोत्कर्षवृत्तिमाशंसति—

अत' श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रका कथन उचित नहीं है । उन्होंने ज्ञानको प्रथम स्थान दिया है और सम्यग्दर्शनको द्वितीय ।

अतः मोक्षमार्गभूत सम्यग्ज्ञानकी आराधना सम्यग्दर्शनके अनन्तर करना चाहिए । शायद कहा जाये कि इन दोनोंकी अलग आराधना नही हो सकती, किन्तु ऐसा कहना ठीक नही है । लक्षणके भेदसे दोनोंमें भेद है । कहा है—

'यद्यपि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका सहभावी है फिर भी उसकी अलग आराधना योग्य है क्योंकि लक्षणके भेदसे दोनोंमे भेद है ।

यहाँ सम्यग्दर्शनको प्रभु कहा है क्योंकि वह परम आराध्य है । उसीके प्रसादसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है । कहा भी है—

'अधिक कहनेसे क्या ? अतीतमें जो नरश्रेष्ठ मुक्त हुए और भविष्यमें जो मुक्त होंगे वह सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो । इस प्रकार सम्यक्त्वकी महिमा जाननी चाहिए ।'

इस विषयमें दो आर्या[1] है—उनका भाव इस प्रकार है—तत्त्वकी परीक्षा अतत्त्वका निराकरण करके तत्त्वके निश्चयको जन्म देती है । तत्त्वका निश्चय दर्शनमोहका उपशम आदि होनेपर तत्त्वमें रुचि उत्पन्न करता है और तत्वमें रुचि सर्वसुखको उत्पन्न करती है । अनन्तानुबन्धी कषाय, मिथ्यात्व और सम्यक्‌मिथ्यात्वका उपशम होनेपर शुभ परिणामके द्वारा मिथ्यात्वकी शक्तिको रोक देनेवाला सम्यक्त्व होता है वह प्रशम आदिके द्वारा पहचाना जाता है ॥६४॥

जिसका सम्यक्त्व निर्मल गुणोंसे सुशोभित है वह भव्यके निरतिशय माहात्म्यका धारक है अतः उसके सर्वोत्कर्षकी कामना करते है—

---

१ 'तत्त्वपरीक्षाऽतत्त्वव्यवच्छिदा तत्त्वनिश्चय जनयेत् ।
स च दृग्मोहशमादौ तत्त्वरुचि सा च सर्वसुखम् ॥
शुभपरिणामनिरुद्धस्वरस प्रशमादिकैरभिव्यक्तम् ।
स्यात् सम्यक्त्वमनन्तानुबन्धीमिथ्यात्वमिश्रशमे ॥'

यो रागादिरिपून्निरस्य दुरसान्निर्दोषमुद्यन् रथं
संवेगच्छलमास्थितो विकचयन् विष्वक्कृपाम्भोजिनीम् ।
व्यक्तास्तिक्यपथस्त्रिलोकमहितः पन्थाः शिवश्रीजुषा-
माराद्धृन्पृणतीप्सितैः स जयतात् सम्यक्त्वतिग्मद्युतिः ॥६५॥ ३

रागादिरिपून्—सप्त मिथ्यात्वादीन् षष्टिकोटिसहस्रसंख्यान्मदेहराक्षसा ते हि सन्ध्यात्रयेऽपि सूर्यं प्रतिबध्नन्ति । निरस्य—उदयतः स्वरूपतो वा काललब्ध्यादिना व्युत्छेद्य, पक्षे ब्राह्मणैर्निपात्य । मदेहा हि सन्ध्योपासनानन्तरदत्तार्घांजलिजलबिन्दुवज्रैस्त्रिसन्ध्याकुलद्विजैर्निपात्यन्ते[1] । दुरसान्—दुर्निवारान् । निर्दोष—नि शङ्कादिमलम् । दोषेति रात्रेरभावेन च । विकचयन्—विकासयन् । विष्वक्—सर्वभूतेषु सर्वभूतले च । शिवश्रीजुषा—अनन्तज्ञानादिलक्षणा मोक्षलक्ष्मी प्रीत्या सेवितुमिच्छताम् । पक्षे मोक्षस्थान गच्छताम् । सिद्धा हि सूर्यमण्डल भित्वा यान्तीति केचित् । ६ ९

तथा चोक्त सन्यासविधौ—

'सन्यसन्त द्विज दृष्ट्वा स्थानाच्चलति भास्करः ।
एष मे मण्डल भित्त्वा पर ब्रह्माधिगच्छति ॥' [ ] १२

जो दुर्निवार रागादि शत्रुओंका विनाश करके ऊपरको उठते हुए संवेगरूपी रथपर आरूढ होकर सर्वत्र दयारूपी कमलिनीका विकास करता हुआ, आस्तिक्यरूपी मार्गको प्रकट करता है, तीनो लोकोमे पूजा जाता है, मोक्षरूपी लक्ष्मीका प्रेमपूर्वक सेवन करनेके इच्छुकोको उसकी प्राप्तिका उपाय है, तथा जो आराधकोंको इच्छित पदार्थोंसे सन्तुष्ट करता है वह सम्यक्त्वरूपी सूर्य जयवन्त हो, अपने समस्त उत्कर्षके साथ शोभित हो ॥६५॥

विशेषार्थ—यहाँ सम्यग्दर्शनको सूर्यकी उपमा दी है, सूर्य भूखसे पीडित जनोंका सर्वोत्कृष्ट आराध्य है तो सम्यग्दर्शन मुमुक्षु जनोंका परम आराध्य है । सम्यग्दर्शनको दुर्निवार मिथ्यात्व आदि सात कर्मशत्रु घेरे रहते हैं तो हिन्दू मान्यताके अनुसार तीनों सन्ध्याओंमे सूर्यको साठ कोटि हजार राक्षस घेरे रहते है । काललब्धि आदिके द्वारा सम्यग्दर्शनसे उन कर्म शत्रुओका विनाश होता है तो ब्राह्मणोके द्वारा किये जानेवाले सन्ध्या-वन्दनके अन्तमे दी जानेवाली अर्घाञ्जलिके जलबिन्दुरूपी वज्रसे सूर्य उन राक्षसोंको मार गिराता है । तब सूर्य रथमे सवार होकर समस्त भूतल पर कमलिनियोंको विकसित करता है तो सम्यग्दर्शन भी आगे बढकर वैराग्यरूपी रथपर सवार हो समस्त प्राणियोंमे दयाको विकसित करता है । रथ आकाशको लाँघता है तो संवेगसे शेष संसार सुखपूर्वक लाँघा जाता है । अतः संवेगको रथकी उपमा दी है । सूर्य दोषा अर्थात् रात्रिका अभाव होनेसे निर्दोष है तो सम्यग्दर्शन शंकादि दोषोंसे रहित होनेसे निर्दोष है । सूर्य मार्गको आलोकित करता है तो सम्यग्दर्शन आस्तिक्य भावको प्रकट करता है । आस्तिक्यको मार्गकी उपमा दी है क्योकि वह मार्गकी तरह इष्ट स्थानकी प्राप्तिका हेतु है । सम्यग्दर्शन भी त्रिलोक-पूज्य है और सूर्य भी । सम्यग्दर्शन भी मोक्षकी प्राप्तिका पथ—उपाय है और सूर्य भी मोक्षस्थानसे जानेवालोके लिए पथ है क्योंकि किन्हींका मत है कि मुक्त जीव सूर्य-मण्डलका भेदन करके जाते हैं ।

---

१. त्रिसन्ध्य किल द्विजै–भ कु च ।

लोकेऽपि—

णमह परमेसर त कप्पंते पाविऊण रविविम्ब ।
३ णिव्वाणजणयछिद्द जेण कय छारछाणणय ॥ [ ]

पृणति—प्रीणयति, पृण प्रीणने तुदादि ॥६५॥

अथ पुण्यमपि सकलकल्याणनिर्माणे सम्यक्त्वानुग्रहादेव समर्थं भवतीति प्रतिपादयितुमाह—

६ वृक्षा कण्टकिनोऽपि कल्पतरवो ग्रावापि चिन्तामणिः,
पुण्याद् गौरपि कामधेनुरथवा तन्नास्ति नाभून्न वा ।
भाव्यं भव्यमिहाङ्गिनां मृगयते यज्जातु तद्भ्रूकुटिं,
९ सम्यग्दर्शनवेधसो यदि पदच्छायामुपाच्छेंन्ति ते ॥६६॥

ग्रावा—सामान्यपाषाण.। भाव्य—भविष्यति। भव्य—कल्याणम्। तद्भ्रुकुटिं—पुण्यभ्रुकुटिं। इयमत्र भावना—ये सम्यग्दर्शनमाराधयन्ति तेषा तादृशपुण्यमास्रवति येन त्रैकाल्ये त्रैलोक्येऽपि ये तीर्थकरत्वपद-
१२ पर्यन्ता अभ्युदयास्ते सपाद्यन्ते। भ्रूकुटिवचनमत्रेद लक्षयति यो महाप्रभुस्तदाज्ञा योऽतिक्रामति स त प्रति क्रोधाद् भ्रूकुटिमारचयति। न च सम्यक्त्वसहचारिपुण्य केनापि सपादयितुमारब्धेनाभ्युदयेन लङ्घ्येत सर्वोऽप्यभ्यु-दयस्तदुदयानन्तरमेव सपद्यत इत्यर्थ। पदच्छाया—प्रतिष्ठा सम्पदाश्रय च ॥६६॥

संन्यासविधिमे कहा भी है—

द्विजको संन्यास लेते देखकर सूर्य अपने स्थानसे मानो यह जानकर चलता है कि यह मेरे मण्डलका भेदन करके परमब्रह्मको प्राप्त हुआ जाता है। इस प्रकार सम्यग्दर्शन सूर्यके समान है ॥६५॥

पुण्य भी सम्पूर्ण कल्याणको करनेमे सम्यक्त्वके अनुग्रहसे ही समर्थ होता है, यह कहते है—

यदि वे प्राणी सम्यग्दर्शनरूपी ब्रह्माके चरणोंका आश्रय लेते हैं तो पुण्यके उदयसे बबूल आदि कॉटेवाले वृक्ष भी कल्पवृक्ष हो जाते हैं, सामान्य पाषाण भी चिन्तामणिरत्न हो जाता है। साधारण गाय भी कामधेनु हो जाती है। अथवा इस लोक मे प्राणियोका ऐसा कोई कल्याण न हुआ, न है, न होगा जो कभी भी पुण्यकी भ्रुकुटिकी अपेक्षा करे ॥६६॥

विशेषार्थ—इसका आशय है कि जो सम्यग्दर्शनकी आराधना करते हैं उनका ऐसा पुण्योदय होता है जिससे तीनों कालों और तीनो लोकोमे भी तीर्थंकरपदपर्यन्त जितने अभ्युदय है वे सब प्राप्त होते है। 'भ्रुकुटि' शब्द बतलाता है कि जो अपने महान् स्वामीकी आज्ञाका उल्लंघन करता है उसके प्रति उसका स्वामी क्रोधसे भौं चढाता है। किन्तु सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यकी आज्ञाका उल्लघन कोई भी अभ्युदय नहीं कर सकता। सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यका उदय होते ही सब अभ्युदय स्वतः प्राप्त होते है। सम्यग्दर्शनको ब्रह्माकी उपमा दी है क्योंकि वह सर्व पुरुषार्थोंके निर्माणमे समर्थ है। इसीसे शास्त्रोमे सम्यग्दृष्टिके पुण्यको मोक्षका भी कारण कहा है। इसके यथार्थ आशयको न समझनेवाले सम्यग्दर्शनके माहात्म्यको भुलाकर केवल पुण्यके ही माहात्म्यको गाने लगते हैं। इससे भ्रम पैदा होता है। पुण्य तो कर्मबन्धन है और बन्धन मोक्षका कारण नहीं हो सकता। यह बन्धन सम्यग्दर्शनसे नहीं होता किन्तु सम्यक्त्वके साथ रहनेवाले शुभरागसे होता है। सम्यग्दर्शन तो उसका निवारक होता है ॥६६॥

अथ सुसिद्धसम्यक्त्वस्य न परं विपदपि सपद् भवति किं तर्हि तन्नामोच्चारिणोऽपि विपद्भि सद्यो मुच्यन्त इति प्रकाशयति—

सिंह. फेरुरिभ स्तम्भोऽग्निरुदकं भीष्म फणी भूलता ३
पाथोधि स्थलमन्दुको मणिसरश्चौरश्च दासोऽञ्जसा।
तस्य स्याद् ग्रहशाकिनीगदरिपुप्राया. पराश्चापद-
स्तन्नाम्नापि वियन्ति यस्य वदते सद्दृष्टिदेवी हृदि ॥६७॥ ६

फेरु—शृगाल । भूलता—गण्डूपद । अन्दुक—शृखला । मणिसर—मुक्ताफलमाला । अञ्जसा—झगिति परमार्थेन वा । वियन्ति—विनश्यन्ति । वदते—त्वदितु दीप्यते सुसिद्धा भवतीत्यर्थ । 'दीप्त्युपाक्ति-ज्ञानेहविमत्युपमत्रणे वद' इत्यात्मनेपदम् ॥६७॥ ९

अथ मुमुक्षून् सम्यग्दर्शनाराधनायां प्रोत्साहयन् दुर्गतिप्रतिबन्धपुरस्सर परमाभ्युदयसाधनाङ्गत्व साक्षान्मोक्षाङ्गत्वं च तस्य दृढयितुमाह—

परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां १२
नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसीदति तन्वती।
कृतपरपुरभ्रंशं क्लृप्तप्रभाभ्युदयं यया
सृजति नियतिः फेलाभोक्त्रीकृतत्रिजगत्पतिः ॥६८॥ १५

वरिवस्यता—हे मुमुक्षवो युष्माभिराराध्यताम् । नरे—पुरुषे । शिवरमासाचीक्षा—मोक्षलक्ष्मी-कटाक्षम् । प्रसीदति—शकादिमलकलङ्कविकलतया प्रसन्ना भवति । तन्वती—दीर्घीकुर्वती । मोक्षलक्ष्मी तद्भवलभ्या द्वित्रिभवलभ्या वा कुर्वतीत्यर्थ । कृतपरपुरभ्रंशं—परेण—सम्यक्त्वापेक्षया मिथ्यात्वेन सम्पाद्यानि १८

आगे कहते हैं कि जो सम्यग्दर्शनको अच्छी तरहसे सिद्ध कर चुके है उनकी विपत्ति भी संपत्ति हो जाती है। इतना ही नही, किन्तु उनका नाम लेनेवाले भी विपत्तियोसे तत्काल मुक्त हो जाते हैं—

जिस महात्माके हृदयमे सम्यग्दर्शन देवता बोलता है उसके लिए भयंकर सिंह भी शृगालके समान हो जाता है अर्थात् उसके हुकार मात्रसे भयंकर सिंह भी डरकर भाग जाता हैं, भयंकर हाथी जड हो जाता है अर्थात् क्रूर हाथीका बकरेकी तरह कान पकड़कर उसपर वह चढ जाता है, भयंकर आग भी पानी हो जाती है, भयंकर सर्प केंचुआ हो जाता है अर्थात् केंचुआकी तरह उसे वह लाघ जाता है, समुद्र स्थल हो जाता है अर्थात् समुद्रमे वह स्थलकी तरह चला जाता है, सॉकल मोतीकी माला बन जाती है, चोर उसका दास बन जाता है। अधिक क्या, उसके नामका उच्चारण करने मात्रसे भी ग्रह, शाकिनी, ज्वरादि व्याधियॉ और शत्रु वगैरह जैसी प्रकृष्ट विपत्तियॉ भी नष्ट हो जाती हैं ॥६७॥

मुमुक्षुओंको सम्यग्दर्शनकी आराधनामे प्रोत्साहित करते हुए, सम्यग्दर्शन दुर्गतिके निवारणपूर्वक परम अभ्युदयके साधनका अंग और साक्षात् मोक्षका कारण है, यह दृढ करनेके लिए कहते हैं—

हे मुमुक्षुओ! परम पुरुष परमात्माकी आद्य—प्रधानभूत शक्ति सम्यग्दर्शनकी उपासना करो, जो मनुष्यपर शिवनारीके कटाक्षोको विस्तृत करती हुई शंकादि दोषोसे रहित होनेसे प्रसन्न होती है तथा जिसके द्वारा प्रभावित हुई नियति अर्थात् पुण्य मिथ्यात्वके द्वारा प्राप्त होनेवाले एकेन्द्रियादि शरीरोंकी उत्पत्तिको रोककर ऐसा अभ्युदय देती है जो तीनों लोकोंके स्वामियोंको उच्छिष्टभोजी बनाता है ॥६८॥

पुराणि शरीराणि एकेन्द्रियादिकाया.। पक्षे—शत्रु । तेपा भ्रंश—कायपक्षेऽप्रादुर्भावो नगरपक्षे च विनाश ।
क्वतोऽसौ यत्राभ्युदयसर्जनकर्मणि सम्यक्त्वाराधको हि जीव सम्यक्त्वग्रहणात् प्रागवद्धायुष्कश्चेत्तदा नरकादिपु न
३ प्राप्नोति । वद्धायुष्कोऽप्यधोनरकभूमिपट्कादिपु नोत्पद्यते । तथा चोक्तम्—

'छसु हेट्ठिमासु पुढविसु जोइसि-वण-भवण-सव्वइत्थीसु ।
वारस मिच्छुववाए सम्माइट्ठी ण उववण्णा ॥' [प. स. १।१९३]

६ एतेनेदमपि योगमत प्रत्युक्त भवति—

'नाभुक्त क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्य कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥' [ ]

९ न चोपभोगात् प्रक्षये कर्मान्तरस्यावश्यभावात् संसारानुच्छेदः, समाधिवलादुत्पन्नतत्त्वज्ञानस्यावगतकर्मसामर्थ्योत्पादितयुगपदशेपशरीरद्वारावासाशेषभोगस्योपात्तकर्मप्रक्षयात्, भाविकर्मोत्पत्तिनिमित्तमिथ्याज्ञानजनितानुसन्धानविकलत्वाच्च ससारच्छेदोपपत्ते.। अनुसधीयते गत चित्तमनेनेत्यनुसधान रागद्वेपाविति ।
१२ क्लृप्तप्रभा—आहितप्रभावातिशया नियतिः—दैव, तच्चेह पुण्य, पक्षे महेश्वरशक्तिविशेप.। तत्राद्यशक्तिर्हि पार्वती तया चाहितातिशया सती नियतिर्भक्तान् प्रति परमाभ्युदयं करोतीति भाव.। फेलेत्यादि फेला—भुक्तोच्छिष्टम् । सा चेह सुरेन्द्रादिविभूति । ता हि भुक्त्वा त्यक्त्वा च सम्यक्त्वाराधकाः परमार्हन्त्यलक्ष्मीलक्षणं
१५ परमाभ्युदय लब्ध्वा शिव लभन्ते । तथा चोक्तम्—

'देवेन्द्रचक्रमहिमानममेयमान राजेन्द्रचक्रमवनीन्द्रशिरोऽर्चनीयम् ।
धर्मेन्द्रचक्रमधरीकृतसर्वलोक लब्ध्वा शिवं च जिनभक्तिरुपैति भव्य ॥' [रत्न. श्रा ४१]

१८ फेला भोक्तार ताच्छील्यादिना भुञ्जाना फेलाभोक्तार, अतथाभूतास्तथाभूता कृता जगत्पतयः ऊर्ध्वमध्याधोभुवनस्वामिनो यत्र यया वा ॥६८॥

विशेपार्थ—जैसे शैवधर्ममें महादेव परमपुरुप है और उनकी आद्या शक्ति पार्वती है। उस शक्तिसे प्रभावित होकर नियति शत्रुओके नगरोंको नष्ट करती है। उसी तरह जैनधर्ममें परमपुरुष परमात्मा है और उसकी आद्य या प्रधान शक्ति सम्यग्दर्शन है। उस सम्यग्दर्शनसे प्रभावित नियति अर्थात् पुण्य एकेन्द्रियादि पर्यायमें जन्मको रोकता है। आशय यह है कि सम्यक्त्वका आराधक जीव सम्यक्त्व ग्रहणसे पहले यदि आगामी भवकी आयुका बन्ध नहीं करता तो वह मरकर नरक आदि दुर्गतिमे नहीं जाता। यदि आयुबन्ध कर लेता है तो नीचेके छह नरकों आदिमें जन्म नही लेता। कहा भी है—नीचेके छह नरकोमे, ज्योतिपीदेव, व्यन्तरदेव, भवनवासी देवोमे और सब स्त्रियोमे अर्थात् तिर्यंची, मानुपी और देवी इन वारह मिथ्योपपादमे अर्थात् जिनमे मिथ्यादृष्टि जीव ही जन्म लेता है, सम्यग्दृष्टिका जन्म नहीं होता। इससे नैयायिक वैशेपिकोका यह मत भी खण्डित होता है कि सैकडो करोड कल्प वीत जानेपर भी भोगे बिना कर्मोंका क्षय नहीं होता। किये हुए शुभ और अशुभ कर्म अवश्य ही भोगने पडते है। इस तरह सम्यक्त्वके प्रभावसे दुर्गतियोका नाश होता है, नरेन्द्र-सुरेन्द्र आदिकी विभूतियाँ प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि जीव उन्हे भी भोगकर छोड़ देते है और परम आर्हन्त्य लक्ष्मीरूप परम अभ्युदयको प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करते हैं। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—जिनेन्द्रका भक्त भव्य सम्यग्दृष्टि अपरिमित माहात्म्यवाली देवेन्द्रोके समूहकी महिमाको, राजाओंके शिरोसे पूजनीय राजेन्द्रचक्र अर्थात् चक्रवर्ती पदको, और समस्त लोकोको निम्न करनेवाले धर्मेन्द्रचक्र अर्थात् तीर्थंकर पदको प्राप्त करके मोक्षको प्राप्त करता है ॥६८॥

अथ एवमनन्यसामान्यमहिमा सम्यक्त्वपरमप्रभुः कथमाराध्यत इति पृच्छन्तं प्रत्याह—

मिथ्यादृग् यो न तत्त्वं श्रयति तदुदितं मन्यतेऽतत्त्वमुक्तं,
नोक्तं वा तादृगात्माऽऽभवमयममृतेतीदमेवागमार्थः।
निर्ग्रन्थ्यं विश्वसारं सुविमलमिदमेवामृताध्वेति तत्त्व-
श्रद्धामाधाय दोषोज्झनगुणविनयापादनाभ्यां प्रपुष्येत् ॥६९॥ ३

मिथ्यादृक्—स मिथ्यादृष्टिर्भवतीति सबन्धः। उदितं—'यो युक्त्या' इत्यादिना प्रबन्धेन प्रागुक्तम्। उक्तं—उपदिष्टम्। तथा चोक्तम्— ६

'मिच्छाइट्ठी जीवो उवइट्ठं पवयणं ण सद्दहदि।
सद्दहदि असब्भावं उवइट्ठं अणुवइट्ठं वा ॥'—[गो. जी १८] ९

तादृक्—मिथ्यादृक् सन्। आभव—आसंसारम्। अमृतामृत। इति हेतोः तत्त्वश्रद्धां प्रपुष्येदिति संबन्धः। आगमार्थः—सकलप्रवचनवाच्यम्। निर्ग्रन्थ्य—ग्रथ्नन्ति दीर्घीकुर्वन्ति संसारमिति ग्रन्थाः—मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि तेभ्यो निष्क्रान्तं रत्नत्रयमित्यर्थः। तदुक्तम्— १२

'णिग्गंथं पव्वयणं इणमेव अणुत्तरं सुपरिसुद्धं (र-सुपरि-) सुद्धं।
इणमेव मोक्खमग्गो(त्ति) मदी कायव्विया तम्हा ॥' [भ. आरा ४३]

अमृताध्वा—मोक्षमार्गः। अत्र 'इति'शब्दः स्वरूपार्थः। मिथ्यात्वादित्रयं हेयं तत्त्वं—रत्नत्रयं चोपादेयमित्येवंविधप्रतिपत्तिस्तत्त्वमित्यर्थः। आधाय—अन्तः संनिहितां कृत्वा। दोषः—स्वकार्यकारित्वहापनं स्वल्पाङ्कुरणं वा। प्रपुष्येत्—प्रकृष्टपुष्टिं नयेत क्षायिकरूपां कुर्यादित्यर्थः ॥६९॥ १५

इस प्रकार असाधारण महिमावाले सम्यक्त्वरूप परम प्रभुकी आराधना कैसे की जाती है इसका उत्तर देते हैं—

'मैं' इस अनुपचरित ज्ञानका विषयभूत आत्मा अनादिकालसे वैसा मिथ्यादृष्टि होकर जन्ममरण करता आता है। इसलिए मुमुक्षुको यह प्रतीयमान निर्ग्रन्थ ही सकल आगमका सार है, सकल जगत्में उत्कृष्ट है, अत्यन्त शुद्ध है, अमृतका—जीवन्मुक्ति और परममुक्तिका मार्ग है, इस प्रकारकी तत्त्वश्रद्धाको अन्तःकरणमें समाविष्ट करके, उसे दोषोंके त्याग और दोषोंसे विपरीत गुणों तथा विनयकी प्राप्तिके द्वारा खूब पुष्ट करना चाहिए अर्थात् उसे क्षायिक सम्यक्त्वरूप करना चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—जो पीछे तेईसवें श्लोक द्वारा कहे गये तत्त्वको नहीं मानता और उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वको मानता है वह मिथ्यादृष्टि है। कहा भी है—मिथ्यादृष्टि जीव उपदिष्ट प्रवचनका श्रद्धान नहीं करता। किन्तु उपदिष्ट या अनुपदिष्ट अतत्त्वका श्रद्धान करता है। अस्तु। यहाँ मिथ्यादृष्टिका स्वरूप और मिथ्यात्वका फल बतलाकर तत्त्व-श्रद्धाका रूप बतलाया है तथा उसे पुष्ट करनेकी प्रेरणा की है। एकमात्र तत्त्वकी अश्रद्धा और अतत्त्वकी श्रद्धारूप मिथ्यात्वके कारण ही यह आत्मा अनादिकालसे संसारमें जन्ममरण करता है इसलिये अतत्त्वकी श्रद्धा छोड़कर तत्त्वकी श्रद्धा करनी चाहिए। वह तत्त्व है निर्ग्रन्थ। जो संसारको लम्बा करता है वह है ग्रन्थ—मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र, उससे जो रहित हो वह है निर्ग्रन्थ अर्थात् रत्नत्रय—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र। 'मिथ्यात्व आदि हेय हैं, रत्नत्रय उपादेय हैं—इस प्रकारकी दृढ़ श्रद्धा ही तत्त्व श्रद्धा है। कहा है—

अथ सम्यक्त्वस्योद्योतेनाराधना विवापयिष्यन् मुमुक्षूंस्तदतिचारपरिहारे व्यापारयति । दु खेत्यादि—

दुःखप्रायभवोपायच्छेदोद्युक्तापकृष्यते ।
दृग्लेश्यते वा येनासौ त्याज्यः शङ्कादिरत्ययः ॥७०॥

३

दु ख प्रायेण यस्मिन्नसौ भव संसारस्तस्योपाय -कर्मवन्ध., अपकृष्यते स्वकार्यकारित्वं हाप्यते । उक्तं च—

'नाङ्गहीनमलं छेत्तुं दर्शनं जन्मसंततिम् ।
न हि मन्त्रोऽक्षरन्यूनो निहन्ति विपवेदनाम् ॥'—[रत्न. श्रा. २१]

६

लेश्यते—स्वरूपेणाल्पीक्रियते । अत्यय —अतिचार ॥७०॥

अथ शङ्कालक्षणमाह—

९

विश्वं विश्वविदाज्ञयाभ्युपयतः शङ्कास्तमोहोदयाज्-
ज्ञानावृत्युदयान्मतिः प्रवचने दोलायिता संशयः ।
दृष्टिं निश्चयमाश्रितां मलिनयेत् सा नाहिरज्ज्वादिगा,
या मोहोदयसंशयात्तदरुचिः स्यात्सा तु संशीतिदृक् ॥७१॥

१२

विश्वं—समस्तवस्तुविस्तारम् । अभ्युपयत.—तथा प्रतीतिगोचर कुर्वत । अस्तमोहोदयात्—दर्शनमोहोदयरहितात् । प्रवचने—सर्वज्ञोक्ततत्त्वे । निश्चय—प्रत्ययम् । सा—प्रवचनगोचरा शङ्का । अहि-

---

निर्ग्रन्थ-रत्नत्रय ही प्रवचनका सार है, वही लोकोत्तर और अत्यन्त विशुद्ध है। वही मोक्षका मार्ग है, इसलिए इस प्रकारकी श्रद्धा करनी चाहिए। और उस श्रद्धाको पुष्ट करना चाहिए ॥६९॥

सम्यग्दर्शनके उद्योतके द्वारा आराधना करनेकी इच्छासे मुमुक्षुओंको उसके अतीचारोंको त्यागनेका उपदेश करते हैं—

यह संसार दु खबहुल है। इस दु खका साक्षात् कारण है कर्मवन्ध और परम्परा कारण हैं मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र। उनका अत्यन्त विनाश करनेमे समर्थ है सम्यग्दर्शन। किन्तु शका आदि अतीचार उस सम्यग्दर्शनको अपना कार्य करनेमे कमजोर वनाते हैं तथा उसके स्वरूपमे कमी लाते हैं अत. उन्हें छोडना चाहिए ॥ ७०॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी अपेक्षा रखते हुए अन्तरंग व्यापार या वाह्य व्यापारके द्वारा उसके एक अगके खण्डित होनेको अतीचार कहते हैं। कहा भी है—'नि शंकित आदि अगोंसे हीन सम्यग्दर्शन जन्मकी परम्पराको छेदन करनेमे असमर्थ है, क्योंकि अक्षरसे हीन मन्त्र सर्पादिके विषकी वेदनाको दूर नहीं करता' ॥७०॥

शंका नामक अतीचारका स्वरूप कहते हैं—

दर्शन मोहके उदयका अभाव होनेसे, सर्वज्ञकी आज्ञासे विश्वको—समस्त वस्तु विस्तारको—'यह ऐसा ही है' इस प्रकार मानते हुए ज्ञानावरण कर्मके उदयसे सर्वज्ञके द्वारा कहे गये तत्त्वमे 'यह है या यह नहीं है' इस प्रकारकी जो डगमगाती हुई प्रतिपत्ति होती है उसे संशय कहते हैं। उसे ही शका नामक अतीचार कहते हैं। वह प्रवचन विषयक शका निश्चयसे—वस्तु स्वरूपके यथार्थ प्रत्ययसे सम्बन्ध रखनेवाले सम्यग्दर्शनको मलिन करती है। किन्तु यह साँप है या रस्सी है इस प्रकारकी शका सम्यग्दर्शनको मलिन नहीं करती। किन्तु दर्शन मोहके उदयसे होनेवाले सन्देहसे जो प्रवचनमे अश्रद्धा होती है, वह संशय मिथ्यात्व है ॥७१॥

रज्ज्वादिगा—अहिर्वा रज्जुर्वेति, स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिका। मोहोदयसंशयात्—दर्शनमोहोदयसपादितसदेहात्। तदरुचि —प्रवचनाश्रद्धा। सशीतिदृक्—संशयमिथ्यात्वनामातिचार स हि एकदेशभङ्ग ॥७१॥

अथ शङ्कानिराकरणे नियुङ्क्ते— ३

प्रोक्तं जिनैर्न परथेत्युपयन्निदं स्यात्
किंवान्यदित्थमथवाऽपरथेति शङ्काम्।
स्वस्योपदेष्टुरुत कुण्ठतयानुषक्तां ६
सद्युक्तितीर्थमचिरादवगाह्य मृज्यात् ॥७२॥

उपयन्—गृह्णन्। इद—जिनोक्त धर्मादितत्त्व। अन्यत्—वैशेषिकोक्तं द्रव्यगुणादि, नैयायिकोक्त प्रमाणप्रमेयादि, साख्योक्त प्रधानपुरुषादि, बौद्धोक्त दु खसमुदयादि। इत्थ—सामान्यविशेषात्मकत्वेन प्रकारेण। ९ अपरथा—भेदैकान्तादिप्रकारेण। कुण्ठतया—स्वस्य मतिमान्द्येन गुर्वादिर्वचनानयेन अनाचरणेन वा। सद्युक्तितीर्थं—युक्त्यागमकुशलमुपाध्याय युक्त्यनुगृहीतमागम वा, तयोरेव परमार्थतीर्थत्वात्। तदुक्तम्—

'जिनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्त्वत.। १२
ससारस्तीर्यते ताभ्या तत्सेवी तीर्थसेवक ॥' [ ]

अवगाह्य—अन्त प्रविश्य। मृज्यात्—शोधयेत् ॥७२॥

विशेषार्थ—शंकाका अर्थ भी संशय है। 'यह साँप है या रस्सी है, ठूँठ है या पुरुष है' इस प्रकारकी चलित प्रतीतिको संशय कहते है। इस प्रकारका संशय तो सम्यग्दृष्टिको भी होता है, कुछ अँधेरा होनेके कारण ठीक-ठीक दिखाई न देनेसे इस प्रकारका सन्देह होता है। यह सन्देह श्रद्धामूलक नहीं है अत. इससे सम्यग्दर्शन मलिन नहीं होता। दर्शन मोहके उदयके अभावमे सर्वज्ञोक्त तत्त्वोंकी श्रद्धा करते हुए भी ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जो सन्देहरूप प्रतीति होती है वह सन्देह शंका नामक अतीचार है। उससे सम्यग्दर्शन मलिन होता है। इसीसे यह कहा है कि अच्छे समझानेवालेके न होनेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेसे यदि कोई तत्त्व समझमे न आता हो तो उसमे सन्देह न करके सर्वज्ञ प्रणीत आगमको ही प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना चाहिए। तो सम्यग्दर्शन अज्ञान मूलक प्रवचन विषयक शंकासे मलिन होता है। किन्तु यदि शंका अश्रद्धानमूलक हो, उसके मूलमे दर्शन मोहका उदय कारण हो तो उसे सशय मिथ्यात्व कहते है। संशय मिथ्यात्वके रहते हुए तो सम्यग्दर्शन हो नही सकता। वह अतीचार नही है। अतीचार तो एक देशका भंग होनेपर होता है ॥७१॥

इस शंका अतीचारके निराकरणकी प्रेरणा करते है—

वीतराग सर्वज्ञ देवके द्वारा कहा गया 'सब अनेकान्तात्मक हैं' यह मत अन्यथा नहीं हो सकता, इस प्रकार श्रद्धा करते हुए, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे अथवा गुरु आदिके नय प्रयोगमे कुशल न होनेसे, यह जिन भगवान्के द्वारा कहा गया धर्मादितत्त्व ठीक है या बौद्ध आदिके द्वारा कहा गया ठीक है, यह जिनोक्त तत्त्व इसी प्रकार है या अन्य प्रकार है, इस प्रकार हृदयमे लगी हुई शंकाको युक्ति और आगममे कुशल गुरु या युक्तिसे समर्थित आगमरूपी तीर्थका तत्काल अवगाहन करके दूर करना चाहिए ॥७२॥

विशेषार्थ—लोकमे देखा जाता है कि लोग पैरमे कीचड़ लग जानेपर नदी आदिके घाटपर जाकर उसमे अवगाहन करके शुद्धि कर लेते है। इसी तरह अपनी बुद्धि मन्द होनेसे या समझानेवालेकी अकुशलताके कारण यदि हृदयमे यह शंका पैदा हो जाती है कि जिनोक्त

अथ शङ्कामलादपायमाह—

सुरुचिः कृतनिश्चयोऽपि हन्तुं द्विषतः प्रत्ययमाश्रितः स्पृशन्तम् ।
३ उभयीं जिनवाचि कोटिमाजौ तुरगं वीर इव प्रतीर्यते तैः ॥७३॥

सुरुचि —सद्दृष्टि सुदीप्तिश्च । कोटिं—वस्तुनो रणभूमेश्चाशम् । आजौ—रणभूमौ । प्रतीर्यते—प्रतिक्षिप्यते प्रतिहन्यत इत्यर्थ ॥७३॥

६ अथ भयसशयात्मकशङ्कानिरासे यत्नमुपदिशति—

भक्तिः परात्मनि परं शरणं नुरस्मिन्
देव. स एव च शिवाय तदुक्त एव ।
९ धर्मश्च नान्य इति भाव्यमशङ्कितेन
सन्मार्गनिश्चलरुचेः स्मरताऽञ्जनस्य ॥७४॥

शरण—अपायपरिरक्षणोपाय. । नु —पुरुषस्य । अशंकितेन—भयसशयरहितेन तद्भेदा (-त्)
१२ द्विधा हि शङ्का । उक्त च—

तत्त्व ठीक है या नही या वह अनेकान्त रूप ही है या एकान्त रूप है तो सद्युक्तिरूपी तीर्थमें अवगाहन करके उसे दूर करना चाहिए। युक्ति कहते है नय प्रमाणरूप हेतुको । समीचीन-अबाधित युक्तिको सद्युक्ति कहते है। सद्युक्ति तीर्थ है युक्ति और आगममें कुशल गुरु तथा युक्तिसे समर्थित आगम । कहा भी है—

'जिनागम और जिनागमके ज्ञाता गुरु, वास्तवमे ये दो ही तीर्थ हैं क्योकि उन्हींके द्वारा संसाररूपी समुद्र तिरा जाता है । उनका सेवक ही तीर्थसेवक है' ॥७२॥

गका नामक अतीचारसे होनेवाले अपायको कहते है—

जैसे शूरवीर पुरुष शत्रुओंको मारनेका संकल्प करके भी युद्धमे यदि ऐसे घोड़ेपर चढा हो जो वेगसे दौडता हुआ कभी पूरब और कभी पश्चिमकी ओर जाता हो तो वह शत्रुओके द्वारा मारा जाता है । उसी तरह सम्यक्दृष्टि मोहरूपी शत्रुओको मारनेका निश्चय करके भी यदि सर्वज्ञके वचनोंमे 'यह ऐसा ही है या अन्यथा है' इस प्रकार दोनो ही कोटियोको स्पर्श करनेवाली प्रतीतिका आश्रय लेता है तो वह मोहरूपी शत्रुओंके द्वारा सम्यग्दर्शनसे च्युत कर दिया जाता है ॥७३॥

भय और संशयरूप शंकाको दूर करनेके लिए प्रयत्न करनेका उपदेश करते है—

इस लोकमे जीवको केवल परमात्मामे भक्ति ही शरण है, मोक्षके लिए उसी परमात्माकी आराधना करनी चाहिए, दूसरेकी नही, उसी परमात्माके द्वारा कहा गया धर्म ही मोक्षदाता है दूसरा नहीं। इस प्रकार सन्मार्ग पर निश्चल श्रद्धा करनेवाले अंजन चोरका स्मरण करते हुए मुमुक्षुको भय और संशयको छोड़कर नि शंक होना चाहिए ॥७४॥

विशेषार्थ—शकाके दो भेद है—भय और सशय । कहा भी है—मैं अकेला हूँ, तीनो लोकोंमे मेरा कोई रक्षक नहीं है, इस प्रकार रोगोंके आक्रमणके भयको शका कहते है। अथवा 'यह तत्त्व है या यह तत्त्व है ? यह व्रत है या यह व्रत है ? यह देव है या यह देव है' इस प्रकार-के सशयको शंका कहते है। इन दोनोसे जो मुक्त है वही नि शक है। उसीका उपाय बताया है। मृत्यु आदिके भयसे मुक्त होनेके लिये यह श्रद्धा करना चाहिए कि परमात्माके सिवाय इस संसारमे अन्य कोई शरण नहीं है। स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षामे अशरण भावनाका चिन्तन करते

'अहमेको न मे कश्चिदस्ति त्राता जगत्त्रये ।
इति व्याधिव्रजोत्क्रान्ति भीतिं शङ्का प्रचक्षते ॥
एतत्तत्त्वमिदं तत्त्वमेतद्व्रतमिद व्रतम् । ३
एष देवश्च देवोऽयमिति शङ्का विदुः पराम् ॥' —[सोम उपा.]

अञ्जनस्य—अञ्जननाम्नश्चोरस्य ॥७४॥

अथ काक्षातिचारनिश्चयार्थमाह— ६

या रागात्मनि भङ्गुरे परवशे सन्तापतृष्णारसे
दु.खे दुःखदबन्धकारणतया संसारसौख्ये स्पृहा ।
स्याज्ज्ञानावरणोदयैकजनितभ्रान्तेरिदं दृक्तपो- ९
माहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येषैव काङ्क्षा दृशम् ॥७५॥

रागात्मनि—इष्टवस्तुविपयप्रीतिस्वभावे । सन्तापतृष्णारसे—सन्तापश्च तृष्णा च रसो निर्या-सोऽन्त सारोऽस्य । उक्त च— १२

हुए कहा है—जिस संसारमे देवोके स्वामी इन्द्रोका भी विलय देखा जाता है तथा जहाँ ब्रह्मा, विष्णु, महेश-जैसे देव भी कालके ग्रास बन चुके है उस संसारमें कुछ भी शरण नहीं है। जैसे शेरके पजेमे फँसे हुए हिरनको कोई नहीं बचा सकता, वैसे ही मृत्युके मुखमे गये हुए प्राणीको भी कोई नहीं बचा सकता। यदि मरते हुए जीवको देव, तन्त्र, मन्त्र, क्षेत्रपाल वगैरह बचा सकते तो मनुष्य अमर हो जाते। रक्षाके विविध साधनोंसे युक्त बलवान्से बलवान् मनुष्य भी मृत्युसे नहीं बचता। यह सब जानते-देखते हुए भी मनुष्य तीव्र मिथ्यात्वके फन्देमे फँसकर भूत, प्रेत, यक्ष, आदिको शरण मानता है। आयुका क्षय होनेसे मरण होता है और आयु देनेसे कोई भी समर्थ नहीं है अत स्वर्गका स्वामी इन्द्र भी मृत्यु से नहीं बचा सकता। दूसरोको बचानेकी बात तो दूर है, यदि देवेन्द्र अपनेको स्वर्गसे च्युत होनेसे बचा सकता तो वह सर्वोत्तम भोगोंसे सम्पन्न स्वर्गको ही क्यो छोडता। इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही शरण है, अन्य कुछ भी ससारमे शरण नही है, उसीकी परम श्रद्धासे सेवा करनी चाहिए। इस प्रकारकी श्रद्धाके बलसे भयरूप शकासे छुटकारा मिल सकता है। अतः परमात्मामे विशुद्ध भाव युक्त अन्तरग अनुराग करना चाहिए और उनके द्वारा कहे गये धर्मको मोक्षमार्ग मानकर संशयरूप शंकासे मुक्त होना चाहिए और सम्यग्दर्शनके निःशकित अंगका पालन करनेमे प्रसिद्ध हुए अजनचौरके जीवनको स्मृतिमे रखना चाहिए कि किस तरह उसने सेठ जिनदत्तके द्वारा बताये गये मन्त्रपर दृढ श्रद्धा करके पेड़मे लटके छीकेपर बैठकर उसके बन्धन काट डाले और नीचे गड़े अस्त्र-शस्त्रोसे मृत्युका भय नहीं किया। तथा अंजनसे निरजन हो गया ॥७४॥

काक्षा नामक अतीचारको कहते है—

सासारिक सुख इष्ट वस्तुके विपयमे प्रीतिरूप होनेसे रागरूप है, स्वयं ही नश्वर है, पुण्यके उदयके अधीन होनेसे पराधीन है, सन्ताप और तृष्णा उसके फल है, दुःखदायक अशुभ कर्मके बन्धका कारण होनेसे दुःखरूप है। ऐसे सासारिक सुखमे एकमात्र ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाली भ्रान्तिसे जो आकाक्षा होती है कि सम्यग्दर्शनके या तपके माहात्म्यसे मुझे यह इन्द्र आदिका पद या संसारका सुख प्राप्त हो, यही काक्षा सम्यग्दर्शनमे अतीचार लगाती है ॥७५॥

'यत्तु सासारिक सौख्य रागात्मकमशाश्वतम् ।
स्वपरद्रव्यसभूततृष्णासतापकारणम् ॥
३ मोह-द्रोह-मद-क्रोध-माया-लोभनिबन्धनम् ।
दु खकारणवन्धस्य हेतुत्वाद् दु.खमेव तत् ॥' [तत्त्वानुशा २४३-२४४]

अपि च—

६ 'सपर बाधासहिद विच्छिन्न बन्धकारण विसमं ।
ज इदिएहि लद्ध तं सुक्ख दुक्खमेव तहा ॥' [प्रवचनमार १।७६]

एकः—दृग्मोहोदयसहायरहित । सुदृष्टीना तन्निमित्तभ्रान्त्यसभवादन्यथा मिथ्याज्ञानप्रसङ्गात् । तथा
९ चोक्तम्—

'उदये यद्विपर्यस्त ज्ञानावरणकर्मण ।
तदस्थास्नुतया नोक्त मिथ्याज्ञान सुदृष्टिपु ॥' [अमित. पं स १।२३३]

१२ इद—इन्द्रादिपद ससारसौख्य वा । उदियात्—उद्भूयात् ।

एषैव न कृष्यादिना धान्यधनादावाकाक्षाऽन्यथातिप्रसङ्गात् । उक्त च—

'स्या देव स्यामहं यक्ष स्या वा वसुमतीपति ।
१५ यदि सम्यक्त्वमाहात्म्यमस्तीतीच्छा परित्यजेत् ॥' [सोम उपा] ॥७५॥

विशेषार्थ—संसारके सुखका स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्दने इस प्रकार कहा है—'जो परद्रव्यकी अपेक्षा रखता है, भूख-प्यास आदिकी बाधासे सहित है, प्रतिपक्षी असाताके उदयसे सहित होनेसे बीचमे नष्ट हो जाता है, कर्मबन्धका कारण है, घटता-बढता है, तथा जो इन्द्रियोके द्वारा प्राप्त होता है ऐसा सुख दुःखरूप ही है ।'

अन्यत्र भी कहा है—

'जो रागात्मक सांसारिक सुख है वह अनित्य है, स्वद्रव्य और परद्रव्यके मेलसे उत्पन्न होता है, तृष्णा और सन्तापका कारण है, मोह, द्रोह, मद, क्रोध, माया और लोभका हेतु है, दु खका कारण जो कर्मबन्ध है उसका कारण है इसलिए दु खरूप है ।' सम्यग्दृष्टिको भी एकमात्र ज्ञानावरण कर्मके उदयसे ससारके सुखमे सुखकी भ्रान्ति होती है । एकमात्र कहनेका यह अभिप्राय है कि उसके साथमे दर्शनमोहका उदय नहीं है क्योकि सम्यग्दृष्टियोके दर्शनमोहके उदयसे होनेवाली भ्रान्ति असम्भव है । यदि उनके वैसी भ्रान्ति हो तो उनके मिथ्याज्ञानका प्रसंग आता है । कहा भी है—

'ज्ञानावरण कर्मके उदयसे जो ज्ञानमे विपरीतपना आता है वह तो अस्थायी है इसलिए सम्यग्दृष्टियोमे मिथ्याज्ञान नहीं कहा है ।'

तो ज्ञानावरण कर्मके उदयजन्य भ्रान्तिसे सम्यग्दृष्टिको भी ससारके सुखकी चाह होती है । वही चाह सम्यग्दर्शनसे अतीचार लगाती है । कहा है—

'यदि सम्यक्त्वमे माहात्म्य है तो मै देव होऊँ, यक्ष होऊँ अथवा राजा होऊँ, इस प्रकारकी इच्छाको छोडना चाहिए ।' 'वही चाह' कहनेसे अभिप्राय यह है कि यदि कोई सम्यग्दृष्टि कृषि-व्यापार आदिके द्वारा धन-धान्य प्राप्त करनेकी इच्छा करता है तो वह इच्छा सम्यक्त्वका अतीचार नहीं है ॥७५॥

अथाकाङ्क्षापराणां सम्यक्त्वफलहानिं कथयति—

यल्लीलाचललोचनाञ्चलरसं पातुं पुनर्लालसाः
स्वश्रीणां बहु रामणीयकमदं मृद्नन्त्यपीन्द्रादयः। ३
तां मुक्तिश्रियमुत्कयद्विदधते सम्यक्त्वरत्नं भव-
श्रीदासीरतिमूल्यमाकुलधियो धन्यो ह्यविद्यातिगः ॥७६॥

लालसाः—अतिलम्पटाः। मृद्नन्ति—सञ्चूर्णयन्ति। उत्कयद्—उत्कण्ठितां कुर्वत्। उक्तं च— ६
'उदश्वितेव माणिक्यं सम्यक्त्वं भवजैः सुखैः।
विक्रीणानः पुमान् स्वस्य वञ्चकः केवलं भवेत्' ॥ [सोम उपा.] ॥७६॥

अथ सम्यक्त्वादिजनितपुण्यानां संसारसुखाकाङ्क्षाकरणे न किमपि फलमिति दर्शयति— ९

तत्त्वश्रद्धानबोधोपहितयमतपःपात्रदानादिपुण्यं,
यद्गीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः।
तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धिं विधुरयसि मुधा क्वापि संसारसारे, १२
तत्र स्वैरं हि तत् तामनुचरति पुनर्जन्मनेऽजन्मने वा ॥७७॥

अर्हणा—पूजाम्। प्राध्वंकृत्य—बद्ध्वा। तामनु—तया बुद्ध्या सह। पुनर्जन्मने—उत्तमदेव-मनुष्यत्वलक्षणपुनर्भवार्थे। अजन्मने—अपुनर्भवार्थम् ॥७७॥ १५

संसारके सुखकी आकांक्षा करनेवालोंके सम्यक्त्वके फलकी हानि बतलाते हैं—

जिसकी लीलासे चंचल हुए नेत्रोंके कटाक्षरूपी रसको पीनेके लिए आतुर इन्द्रादि भी अपनी लक्ष्मियोंके—देवियोंके सम्भोग प्रवृत्तिके विपुल मदको चूर-चूर कर देते है उस मुक्ति-रूपी लक्ष्मीको उत्कण्ठित करनेवाले सम्यक्त्वरूपी रत्नको विषय सेवनके लिए उत्सुक मनो-वृत्तिवाले पुरुष संसारकी लक्ष्मीरूपी दासीके साथ सम्भोग करनेके भाड़ेके रूपमे दे डालते हैं। अतः जो अविद्याके जालमे नही फँसता वह धन्य है ॥७६॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्व रूपी रत्न मुक्तिरूपी लक्ष्मीको आकृष्ट करनेवाला है क्योकि सम्यग्दृष्टि ही मुक्तिलक्ष्मीका वरण करता है। और मुक्तिलक्ष्मीका वरण करनेके लिए इन्द्रादिक भी इतने उत्सुक रहते हैं कि वे स्वर्गके सुखोमे मग्न न होकर पुनः मनुष्यजन्म प्राप्त करके तपश्चरण करनेकी इच्छा रखते हैं। ऐसे सम्यक्त्व रत्नके बदलेमे जो विषय-सुखकी आकांक्षा करता है वह मनुष्य उस विषयी मनुष्यके तुल्य है जो किसी दासीके साथ सम्भोग करनेके बदलेमे चिन्तामणि रत्न दे डालता है। कहा भी है—

'जो सांसारिक सुखोंके बदलेमे सम्यक्त्वको बेचता है वह छाछके बदलेमे माणिक्यको बेचनेवाले मनुष्यके समान केवल अपनेको ठगता है' ॥७६॥

आगे कहते हैं कि सम्यक्त्व आदिसे पुण्यकर्मका संचय करनेवाले मनुष्योंको संसार सुखकी आकांक्षा करनेसे कुछ भी लाभ नहीं होता—

तत्त्वश्रद्धान और सम्यग्ज्ञानसे विशिष्ट यम, तप, पात्रदान आदिके द्वारा होनेवाला पुण्य पूजनीय तीर्थंकरत्वादि गुणोंके कारण इन्द्रादिके द्वारा पूजा कराता है। तथा तेरी कल्पनाकी अपेक्षा न करके स्वयं ही तेरी भावनाके अनुसार उत्तम देव और मनुष्य रूपमे पुनर्जन्मके लिए या अपुनर्जन्म—मोक्षके लिए प्रवृत्त होता है। ऐसे महान् पुण्यका बन्ध करके तू संसारके रसमे व्यर्थ ही अपनी बुद्धिको परेशान करता है कि इस पुण्यके उदयसे मुझे अमुक अभ्युदय प्राप्त होवे ॥७७॥

अथ आकाक्षानिरोधेऽत्यन्त यत्नमुपदिशति—

पुण्योदयैकनियतोऽभ्युदयोऽत्र जन्तोः,
३ प्रेत्याप्यतश्च सुखमप्यभिमानमात्रम् ।
तन्नात्र पौरुषतृषे परवागुपेक्षा-
पक्षो ह्यनन्तमतिवन्मतिमानुपेयात् ॥७८॥

६ प्रेत्यापि—परलोकेऽपि । अत्र—अभ्युदयतज्जनितसुखयो । परवाच —सर्वथैकान्तवादिमतानि । उपेयात् ॥७८॥

अथ विचिकित्सातिचार लक्षयति—

९ कोपादितो जुगुप्सा धर्माङ्गे याऽशुचौ स्वतोऽङ्गादो ।
विचिकित्सा रत्नत्रयमाहात्म्यारुचितया दृशि मल. सा ७९॥

अशुचौ—अपवित्रेऽरम्ये च ॥७९॥

१२ अथ महता स्वदेहे निर्विचिकित्सितामाहात्म्यमाह—

यद्दोषधातुमलमूलमपायमूल-
मङ्गं निरङ्गमहिमस्पृहया वसन्तः ।
१५ सन्तो न जातु विचिकित्सितमारभन्ते
संविद्रते हृतमले तदिसे खलु स्वे ॥८०॥

निरङ्गा.—सिद्धा । सवित्ति लभन्ते—हृतमले—विलीनकर्ममालिन्ये ॥८०॥

आगे आकांक्षाको रोकनेके लिए अधिक प्रयत्न करनेका उपदेश करते है—

इस लोक और परलोकमें भी जीवका अभ्युदय एकमात्र पुण्योदयके अधीन है, पुण्यका उदय होनेपर ही होता है उसके अभावमे नही होता। और इस अभ्युदयसे सुख भी 'मै सुखी हूँ' इस प्रकारकी कल्पना मात्र होता है। इसलिए सर्वथा एकान्तवादी मतोके प्रति उपेक्षाका भाव रखनेवाले बुद्धिमान् पुरुषको श्रेष्ठीपुत्री अनन्तमतीकी तरह अभ्युदयके साधनोमे पौरुष प्रयत्न नहीं करना चाहिए तथा उससे होनेवाले सुखमे तृष्णा नही करना चाहिए ॥७८॥

आगे विचिकित्सा नामक अतीचारका स्वरूप कहते है—

क्रोध आदिके वश रत्नत्रयरूप धर्समे साधन किन्तु स्वभावसे ही अपवित्र शरीर आदिमे जो ग्लानि होती है वह विचिकित्सा है। वह सम्यग्दर्शन आदिके प्रभावमे अरुचि रूप होनेसे सम्यग्दर्शनका मल है—दोष है ॥७९॥

विशेषार्थ—शरीर तो स्वभावसे ही गन्दा है, उसके भीतर मल-मूत्र-रुधिर आदि भरा है, ऊपरसे चामसे मढा है। किन्तु धर्मका साधन है। मुनि उस शरीरके द्वारा ही तपश्चरण आदि करके धर्मका साधन करते है। किन्तु वे शरीरकी उपेक्षा ही करते है। इससे उनका शरीर बाहरसे भी मलिन रहता है। ऐसे शरीरको देखकर उससे घृणा करना वस्तुतः धर्मके प्रति ही अरुचिका द्योतक है। अत वह सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥७९॥

महापुरुषोंके द्वारा अपने शरीरमे विचिकित्सा न करनेका माहात्म्य बतलाते हैं—

सन्त पुरुष मुक्तात्माओंकी गुणसम्पत्तिकी अभिलाषासे दोष—वात-पित्त-कफ, धातु—रुधिर, मास, मेद, हड्डी, मज्जा, वीर्य, और मल, पसीना वगैरहसे बने हुए तथा आपत्तियोके

अथ महासत्त्वाना निमित्तसंनिधानेऽपि जुगुप्सानुद्भावं भावयति—

किंचित्कारणमाप्य लिङ्गमुदयन्निर्वेदमासेदुषो,
धर्माय स्थितिमात्रविध्यनुगमेऽप्युच्चैरवद्याद्भिया। ३
स्नानादिप्रतिकर्मदूरमनस प्रव्यक्तकुत्स्याकृति,
कायं वीक्ष्य निमज्जतो मुदि जिनं स्मर्तुः क्व शूकोद्गम ॥८१॥

लिङ्ग—आचेलक्यलोचादि। आसेदुष—आश्रितस्य ॥८१॥ ६

अथ विचिकित्साविरहे यत्नमादिशति—

द्रव्यं विडादि करणैर्न ममेति पृक्ति,
भावः क्षुदादिरपि वैकृत एव मेऽयम्। ९
तत्किं ममात्र विचिकित्स्यमिति स्वमृच्छे-
दुद्दायनं मुनिरुगुद्धरणे स्मरेच्च ॥८२॥

विडादि—पुरीषमूत्रादि। पृक्ति—सम्पर्कम्। अत्र—एतयोर्द्रव्यभावयोर्मध्ये। कि विचिकित्स्य—न किमपीत्यर्थ। स्वमृच्छेत्—आत्मानमाविशेत् सम्यग्दृष्टिरिति शेष ॥८२॥ १२

अथ परदृष्टिप्रशसा सम्यक्त्वमल निषेद्धु प्रयुङ्क्ते—

मूल शरीरमे रहते हुए कभी भी उससे ग्लानि नही करते है। इससे वे सन्त पुरुष निश्चय ही कर्म-मलसे रहित अपनी आत्मामे ज्ञानको प्राप्त करते हैं ॥८०॥

महापुरुषोंको निमित्त मिलनेपर भी ग्लानि नहीं होती—

किसी इष्टवियोग आदि कारणको पाकर, वैराग्यके बढनेपर केशलोच पूर्वक दिगम्बर मुनिलिंगको धारण करके, धर्मकी साधनाके हेतु शरीरकी केवलस्थिति बनाये रखनेके लिए, न कि बाह्य चमक-दमकके लिए, विधिपूर्वक आहार आदि ग्रहण करते हुए भी, पापके अत्यधिक भयसे स्नान, तेलमर्दन आदि प्रसाधनोंसे जिनका मन अत्यन्त निवृत्त है, अतएव अत्यन्त स्पष्ट बीभत्स रूपवाले उन मुनिराजके शरीरको देखकर जिन भगवान्‌का स्मरण करते हुए आनन्दमे निमग्न सम्यग्दृष्टि को ग्लानि कैसे हो सकती है अर्थात् नहीं हो सकती ॥८१॥

विचिकित्साके त्यागके लिए प्रयत्न करनेका उपदेश देते है—

विष्टा, मूत्र, आदि द्रव्य अचेतन, स्पर्शन आदि इन्द्रियोके साथ सम्बन्ध करता है, मेरे चिद्रूपके साथ नहीं, क्योकि मूर्तका सम्पर्क मूर्तके ही साथ होता है। मेरे यह भूख प्यास आदि भी कर्मके उदयसे होनेके कारण वैकारिक ही है। इसलिए इन द्रव्य और भावोमे किससे मुझे विचिकित्सा करनी चाहिए? ऐसा विचार करते हुए सम्यग्दृष्टिको शुद्ध चैतन्य रूप आत्मामे स्थिर होना चाहिए। तथा मुनियोके रोगका निवारण करनेमे राजा उद्दायनका स्मरण करना चाहिए ॥८२॥

विशेषार्थ—राजा उद्दायन निर्विचिकित्सा अंगका पालन करनेमे प्रसिद्ध हुआ है। उसने मुनिको वमन हो जानेपर भी ग्लानि नही की थी और उनकी परिचर्यामे लगा रहा था ॥८२॥

सम्यक्त्वके परदृष्टि प्रशसा नामक अतीचारको दूर करनेकी प्रेरणा करते हैं—

एकान्तध्वान्तविध्वस्तवस्तुयाथात्म्यसंविदाम् ।
न कुर्यात् परदृष्टीना प्रशंसा दृक्कलङ्किनीम् ॥८३॥

३ परदृष्टीना—बौद्धादीनाम् ॥८३॥

अथ अनायतनसेवा दृग्मल निषेधति—

मिथ्यादृग्ज्ञानवृत्तानि त्रीणि त्रीस्तद्वतस्तथा ।
६ षडनायतनान्याहुस्तत्सेवां दृङ्मलं त्यजेत् ॥८४॥

तद्वत —मिथ्यादृगादियुक्तान् पुरुषान् । उक्त च—

'मिथ्यादर्शनविज्ञानचारित्रै सह भापिता ।
९ तदाधारजनाः पापा षोढाऽनायतनं जिनै ॥ [अमि श्रा २।२५] ॥८४॥

अथ मिथ्यात्वाख्यानायतन निषेद्धु नयति—

वस्तु सर्वथा क्षणिक ही है इस प्रकारके एकान्तवादरूपी अन्धकारसे जिनका वस्तुके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान अर्थात् अनेकान्त तत्त्वका बोध नष्ट हो गया है उन बौद्ध आदि एकान्तवादियोकी प्रशसा नहीं करनी चाहिए, क्योकि उससे सम्यक्त्वमे दूषण लगता है॥८३॥

सम्यग्दर्शनके अनायतन सेवा नामक दृष्टिदोषका निषेध कहते है—

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र ये तीन तथा इनके धारक मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी और मिथ्याचारित्री ये छह अनायतन हैं। सम्यग्दृष्टिको इन छहोकी उपासना छोड़नी चाहिए, क्योंकि यह सम्यक्त्वका दोष है ॥८४॥

विशेषार्थ—अन्यत्र भी ये ही छह अनायतन कहे हैं यथा—

'मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्रके साथ उनके धारक पापी जन ये छह अनायतन जिनदेवने कहे है। किन्तु द्रव्यसंग्रह (गा. ४१) की टीकामे मिथ्यादेव, मिथ्यादेव-के आराधक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्याआगम और मिथ्याआगमके धारक ये छह अनायतन कहे है। कर्मकाण्ड (गा. ७४)की टीकामे भी ये ही छह अनायतन कहे है। भगवती आराधनामे सम्यग्दर्शनके पॉच अतीचार इस प्रकार कहे[1] है—

शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा। ऊपरके कथन-से ये पॉचो अतीचार आ जाते है। इस गाथाकी विजयोदया टीकामे भी आशाधरजीके द्वारा कहे गये छह अनायतन गिनाये हैं। काक्षा नामक अतीचारको स्पष्ट करते हुए विजयोदया टीकामे कहा है कि असंयत सम्यग्दृष्टि और देशसयमीको आहारादिकी कांक्षा होती है, प्रमत्त संयत मुनिको परीपहसे पीडित होनेपर खानपानकी काक्षा होती है। इसी तरह भव्यो को सुखकी काक्षा होती है किन्तु काक्षा मात्र अतीचार नहीं है, दर्शनसे, व्रतसे, दानसे, देवपूजासे उत्पन्न हुए पुण्यसे मुझे अच्छा कुल, रूप, धन, स्त्री पुत्रादिक प्राप्त हो, इस प्रकार की काक्षा सम्यग्दर्शनका अतीचार है ॥८४॥

आगे मिथ्यात्व नामक अनायतनके सेवनका निषेध करते है—

---

१ सम्मत्तादीचारा सका कखा तहेव विदिगिंछा ।
परदिट्ठीणपससा अणायदण सेवणा चेव ॥ —गा ४४ ।

सम्यक्त्वगन्धकलभः प्रबलप्रतिपक्षकरटिसंघट्टम् ।
कुर्वन्नेव निवार्यः स्वपक्षकल्याणमभिलषता ॥८५॥

प्रतिपक्ष.—मिथ्यात्व शत्रुश्च । स्वपक्ष —आत्माभ्युपगतव्रतादिक् निजयूथ च ॥८५॥ ३

अथ सम्यक्त्वप्रौढिमतो मदमिथ्यात्वावेशशङ्का निरस्यति—

मा भैषीर्दृष्टिसिंहेन राजन्वति मनोवने ।
न मदान्धोऽपि मिथ्यात्वगन्धहस्ती चरिष्यति ॥८६॥ ६

राजन्वति—दुष्टनिग्रहशिष्टपरिपालनपरेण राज्ञा युक्ते परपराभवाविषये इत्यर्थ । मद —जात्यादि-अभिमानो दान च ॥८६॥

अथ जात्यादिभिरात्मोत्कर्षसभाविन सधर्माभिभवनमुखेन सम्यक्त्वमाहात्म्यहानिं दर्शयति— ९

संभावयन् जातिकुलाभिरूप्यविभूतिधीशक्तितपोऽर्चनाभि. ।
स्वोत्कर्षमन्यस्य सधर्मणो वा कुर्वन् प्रघर्षं प्रदुनोति दृष्टिम् ॥८७॥

आभिरूप्य—सौरूप्यम् । धी —शिल्पकलादिज्ञानम् । अन्यस्य—जात्यादिना हीनस्य । प्रदुनोति— १२ माहात्म्यादपकर्षति ॥८७॥

अथ जातिकुलमदयो परिहारमाह—

जैसे अपने यूथका कल्याण चाहनेवाला यूथनाथ—हस्तीसमूहका स्वामी प्रधान हाथी अपने होनहार बाल हाथीको अपने प्रतिपक्षके प्रबल हाथीके साथ लडाई करते ही रोक देता है, उसी तरह अपने द्वारा धारण किये गये व्रतादिका संरक्षण चाहनेवाले सम्यक्त्वके आराधक भव्यको प्रबल मिथ्यात्वके साथ संघर्ष होते ही अपने सम्यक्त्वकी रक्षा करनेमे तत्पर रहना चाहिए क्योंकि आगामी ज्ञान और चारित्रकी पुष्टिमे सम्यक्त्व ही निमित्त होता है ॥८५॥

प्रौढ सम्यक्त्वके धारक सम्यग्दृष्टिके अभिमानरूपी मिथ्यात्वके आवेशकी शंकाको दूर करते है—

हे सुदृढ सम्यग्दृष्टि ! तू मत डर, क्योंकि सम्यग्दर्शन रूपी सिंहका जहाँ राज्य है उस मन रूपी वनमे मदान्ध (हाथीके पक्षमे मदसे अन्ध, मिथ्यात्वके पक्षमे मदसे अन्धा—हिताहितके विचारसे शून्य करनेवाला) मिथ्यात्वरूपी गन्धहस्ती विचरण नहीं कर सकेगा ॥८६॥

जाति आदिके मदसे अहंकाराविष्ट हुआ सम्यग्दृष्टि साधर्मीके अपमानकी ओर अभिमुख होनेसे सम्यक्त्वके माहात्म्यको हानि पहुँचाता है यह बतलाते है—

जाति, कुल, सुन्दरता, समृद्धि, ज्ञान, शक्ति, तप और पूजासे अपना उत्कर्ष मानने-वाला—मैं उससे बडा हूँ ऐसा समझनेवाला अथवा अन्य साधर्मीका तिरस्कार करनेवाला सम्यक्त्वकी महत्ताको घटाता है ॥८७॥

विशेषार्थ—कहा भी है, जो अहंकारी अहंकारवश अन्य साधर्मियोका अपमान करता है वह अपने धर्मका अपमान करता है क्योकि धार्मिकोके विना धर्म नही रहता ॥८७॥

जातिमद और कुलमदको त्यागनेका उपदेश देते हैं—

पुंसोऽपि क्षतसत्त्वमाकुलयति प्रायः कलङ्कैः कलौ,
सद्दृग्वृत्तवदान्यतावसुकलासौरूप्यशौर्यादिभिः ।
३ स्त्रीपुंसैः प्रथितैः स्फुरत्यभिजने जातोऽसि चेद्दैवत-
स्तज्जात्या च कुलेन चोपरि मृषा पश्यन्नधः स्वं क्षिपेः ॥८८॥

आकुलयति—दूषयति मति । वदान्यता—दानशौण्डत्वम् । वसु—धनम् । कला—गीतादय । शौर्यादि—आदिशब्दान्नय-विनय-गाम्भीर्यादि । अभिजने—अन्वये । जात्या—मातृपक्षेण । कुलेन—पितृपक्षेण । उपरि—प्रक्रमात् सधर्माणाम् । साधर्मिकाणामेव हि समयत्वस्यातिचार' । तदुक्तम्—

'स्मयेन योऽन्यानत्येति धर्मस्थान् गर्विताशय ।
सोऽत्येति धर्ममात्मीय न धर्मो धार्मिकैर्विना ॥' [रत्न. श्राव. २६]

मृषा—जातिकुलयो परमार्थतः शुद्धेर्निश्चेतुमशक्यत्वात् । नु—किम् । अध —सम्यक्त्वविराधनाया ही(न)पदस्य सुघटत्वात् । तथा चोक्तम्—

'जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलै ।
कुर्वाणोऽहङ्कृति नीच गोत्र बध्नाति मानव ॥' [ ] ॥८८॥

अथ सौरूप्यमदाविष्टस्य दोष दर्शयति—

हे जाति और कुलसे अपनेको ऊँचा माननेवाले ! पूर्व पुण्यके उदयसे यदि तू सम्यक्त्व, सदाचार, दानवीरता, धन, कला, सौन्दर्य, वीरता आदि गुणोसे प्रसिद्ध स्त्री-पुरुषोंके द्वारा जनताके मनमे चमत्कार करनेवाले कुलमे पैदा हुआ है तो इस कलि कालमे तो स्त्रियोंकी तो बात ही क्या, पुरुषोका भी मनोबल प्राय अपवादोसे गिर जाता है । इसलिए जाति और कुलके मिथ्या अभिमानसे तू अन्य साधर्मियोंसे ऊपर मानकर अपनेको नीचे क्यो गिराता है ॥८८॥

विशेषार्थ—आगमसे जाति आदिके मदको बहुत बुरा बतलाया है । कहा है—

'जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है ।'

इसके सिवाय इस कलिकालमे जाति और कुलकी उच्चताका अभिमान इसलिए भी व्यर्थ है कि कुल नारीमूलक है । और कलिकालमे कामदेवका साम्राज्य रहता है । कब कहाँ किसका मन विकृत होकर शीलको दूषित कर दे इसका कोई ठिकाना नहीं है अत. जाति—कुलका अभिमान व्यर्थ है । [1] कहा भी है—

'संसार अनादि है, कामदेवकी गति दुर्निवार है और कुलका मूल नारी है ऐसी स्थितिमे जातिकी कल्पना ही बेकार है' ॥८८॥

सौन्दर्यका मद करनेवाले सम्यग्दृष्टिका दोष बतलाते है—

---

१ 'अनादाविह ससारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥'

यानारोप्य प्रकृतिसुभगानङ्गनायाः पुमांसं,
पुंसश्चास्यादिषु कविठका मोहयन्त्यङ्गनां द्राक्।
तानिन्द्वादीन्न परमसहन्नुन्मदिष्णून्वपुस्ते, ३
स्रष्टाऽस्राक्षीद् ध्रुवमनुपमं त्वां च विश्वं विजिष्णुम् ॥८९॥

आरोप्य—कल्पयित्वा। आस्यादिषु—मुखनयनादिपूपमेयेषु। इन्द्वादीन्—चन्द्रकमलादीनुपमानभूतान्। उन्मदिष्णून्—स्वोत्कर्षसभाविन। अनुपम—मुखादिषु चन्द्राद्युपमामतीत प्रत्युत चन्द्रादीनप्युपमेयान् ६ कर्तुं सृष्टवानिति भाव। त्वामित्यादि—त्वामपि सम्यक्त्वबलेन समस्तजगद्विजय साधु कुर्वाणमसहमानो विधाता तव शरीरमनन्योपमं व्यधादित्यह सभावयामि। इयमत्र भावना भवान् सम्यक्त्वमाहात्म्याद् विश्वं व्यजेष्यत् यदि हतविधिस्तादृक् सौरूप्यमुत्पाद्य तन्मदेन सम्यक्त्व नामलिनयिष्यत् ॥८९॥ ९

अथ लक्ष्मीमद निषेद्धु वक्रभणित्या नियुङ्क्ते—

या देवैकनिबन्धना सहभुवा याऽऽपद्भियामामिषं,
या विस्रम्भमजस्रमस्यति यथासन्नं सुभक्तेष्वपि। १२
या दोषेष्वपि तन्वती गुणधिय युङ्क्तेऽनुरक्तया जनान्,
स्वभ्यस्वान्न तया श्रियासु ह्रियसे यान्त्यान्यमान्ध्यान्न चेत् ॥९०॥

ये कविरूपी ठग जिन स्वभावसे ही सुन्दर चन्द्रमा, कमल आदि उपमानभूत पदार्थोंको नारीके मुख नयन आदि उपमेय भूत अंगोंमे आरोपित करके तत्काल पुरुषको मोहित करते है और पुरुषके अंगोमे आरोपित करके नारीको तत्काल मोहित करते हैं। मै ऐसा मानता हूँ कि निश्चय ही उन्मादकी ओर जानेवाले उन चन्द्र आदि को न केवल सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारे अनुपम शरीरको रचा है किन्तु सम्यक्त्वके बलसे समस्त जगत्को विजय करनेवाले तुमको सहन न करके ब्रह्माने तुम्हारा अनुपम शरीर रचा है ॥८९॥

विशेषार्थ—लोकोत्तर वर्णन करनेमे निपुण कविगण अपने काव्योमे स्त्रीके मुखको चन्द्रमाकी, नेत्रोको कमलकी उपमा देकर पुरुषोंको स्त्रियोकी ओर आकृष्ट करते है और पुरुषोंके अगोंको उपमा देकर स्त्रीको पुरुषोकी ओर आकृष्ट करते हैं। इसलिए कवियोको ठग कहा है क्योकि वे पुरुषार्थ का घात करते है। इसके साथ ही ग्रन्थकारने यह संभावना व्यक्त की है कि ब्रह्माने इन चन्द्रमा आदिके अहंकारको केवल सहन न करके ही पुरुषके अगोको उनसे भी सुन्दर बनाया है, बल्कि उसने सोचा कि यह सम्यग्दृष्टि अपने सम्यक्त्वके माहात्म्यसे विश्वको जीत लेगा इसलिए उसने तुम्हारा शरीर इतना सुन्दर बनाया कि तुम अपनी सुन्दरताके मदसे अपने सम्यक्त्वको दूषित कर लो। जिससे तुम जगत्को न जीत सको ॥८९॥

वक्रोक्तिके द्वारा लक्ष्मीका मद त्यागनेकी प्रेरणा करते है—

जो लक्ष्मी एकमात्र पुराकृत शुभकर्मसे प्राप्त होती है, जो लक्ष्मी एक साथ आनेवाली विपत्तियों और भीतियोका स्थान है, जो लक्ष्मी अपने अत्यन्त भक्त निकट सम्बन्धी पुत्र भाई आदिमे भी निरन्तर विश्वासको घटाती है, जो लक्ष्मी दोषोंमे भी गुणोकी कल्पना कराकर लोगोंको अनुरागी बनाती है, हे भाई, युक्त-अयुक्त विचारसे विकल होनेके कारण ऐसी लक्ष्मी तुम्हे छोडकर अन्य पुरुषके पास जाये इससे पहले ही तू अपनेको उक्त लक्ष्मीसे बडा मान ॥९०॥

आमिष—ग्रासो विषयो वा । तथा चोक्तम्—

'बह्वपायमिदं राज्यं त्याज्यमेव मनस्विनाम् ।

३ यत्र पुत्रा. ससोदर्याः वैरायन्ते निरन्तरम् ॥' [ ]

दोषेषु—ब्रह्महत्यादिषु । अनुरक्तया । ब्रह्मघ्नोऽपि धनी धनलोभाद् वृद्धैरप्याश्रीयते । तदुक्तम्—

'वयोवृद्धास्तपोवृद्धा ये च वृद्धा बहुश्रुताः ।

६ सर्वे ते धनवृद्धस्य द्वारे तिष्ठन्ति किङ्करा' ॥' [ ]

स्वभ्यस्व—आत्मानमुत्कृष्टं संभावय त्वम् । अन्न—हे भ्रातः । आस्वित्यादि—अयमर्थः—क्षणिकतया पुरुषान्तरं गच्छन्त्या लक्ष्म्या यदि सद्योऽन्धत्वान्न प्रच्याव्यसे अन्यथा पुरुषान्तरं मम लक्ष्मीरेषा गच्छतीति

९ दु सहदु ख प्राप्नोषि न चैव सर्वस्यापि प्रायेण लक्ष्मीसमागमे पश्यतोऽप्यदर्शनस्य तद्विगमे च दर्शनस्योपलम्भात् । यल्लोकोक्तिः —

संपय पडलहि लोयणइ वभजि छाइज्जंति ।

१२ ते दालिद्दसलाइयइ अंजिय णिम्मल होंति ॥ [ ] ॥९०॥

अथ शिल्पादिज्ञानिनां मदावेशमनुशोचति—

शिल्पं वै मदुपक्रमं जडधियोऽप्याशु प्रसादेन मे,

१५ **विश्वं शासति लोकवेदसमयाचारेष्वहं दृङ् नृणाम् ।**

राज्ञां कोऽहमिवावधानकुतुकामोदैः सदस्यां मन.,

कर्षत्येवमहो महोऽपि भवति प्रायोऽद्य पुंसां तमः ॥९१॥

विशेषार्थ—लक्ष्मीकी प्राप्तिमें पौरुषसे अधिक दैवका हाथ होता है फिर लक्ष्मी पाकर मनुष्य आपत्तियोंका शिकार बन जाता है । कहा है—

"यह राज्य बहुत-सी बुराइयोंसे भरा है, यह मनस्वी पुरुषोंके छोड़ देने योग्य है । जिसमे सहोदर भाई और पुत्र सदा वैरीकी तरह व्यवहार करते हैं ।" लक्ष्मी पाकर मनुष्य अपने निकट बन्धुओंका भी विश्वास नहीं करता । लक्ष्मीके लोभसे धनवान्‌के दोष भी गुण कहलाते हैं । कहा भी है—'जो अवस्थामे बड़े हैं, तपमे बड़े हैं और जो बहुश्रुत वृद्धजन हैं वे सब लक्ष्मीमे बड़े पुरुषके द्वार पर आज्ञाकारी सेवककी तरह खड़े रहते हैं ।'

ऐसी लक्ष्मीको प्राप्त करनेवालेको ग्रन्थकार उपदेश देते हैं कि लक्ष्मीसे अपनेको बडा मान, लक्ष्मीको बडा मत मान क्योकि लक्ष्मी तो चंचल है। यह एक पुरुषके पास सदा नहीं रहती क्योंकि इसे पाकर मनुष्य अन्धा हो जाता है, उसे हिताहितका विचार नहीं रहता। अत जब लक्ष्मी उसे छोडकर दूसरेके पास जाती है तो मनुष्य बहुत दुखी होता है। प्रायः धन पानेपर मनुष्य देखते हुए भी नहीं देखता और उसके जाने पर उसकी आँखे खुलती हैं । एक लोकोक्ति है—विधि सम्पत्तिरूपी पटलसे मनुष्योंके जिन नेत्रोंको ढाँक देता है वे दारिद्र्यरूपी शलाकासे अंजन आँजनेपर निर्मल हो जाते हैं—पुन खुल जाते है ॥९०॥

शिल्प आदि कलाके ज्ञाताओंके मदावेशपर दु.ख प्रकट करते हैं—

अमुक हस्तकलाका आविष्कार मैने ही किया था, उसे देखकर ही दूसरोने उसकी नकल की है । मन्दबुद्धि लोग भी मेरे अनुग्रहसे शीघ्र ही चराचर जगत्‌का स्वरूप दूसरोंको बतलाने लगते है अर्थात् लोककी स्थितिविषयक ज्ञान करानेमे मै ही गुरु हूँ। लोक, वेद और नाना मतों के आचारोके विषयमे मैं मनुष्योंका नेत्र हूँ, अर्थात् लोक आदिका आचार स्पष्ट रूपसे दिखलानेमे मै ही प्रवीण हूँ। राजसभामे अवधानरूप कौतुकोंके आनन्दके द्वारा

शिल्प—पत्रच्छेदादि करकौशलम्। मदुपक्रमं—मया प्रथमारब्धम्। अवधानानि—युगपत्पाठगीत-नृत्यादिविषयावधारणानि। यल्लोके—

'व्यावृत्त प्रकृत वियद् विलिखित पृष्ठार्पित व्याकृतं
मात्राशेषममात्रमङ्कशवल तत्सर्वतो भद्रवत्।
य शक्तो युगपद् ग्रहीतुमखिल काव्ये च सचारयन्
वाच सूक्तिसहस्रभङ्गिसुभगा गृह्णातु पत्र स मे॥' [ ]

मह.—शिल्पादिज्ञानाख्यतेज ॥९१॥

अथ कुलीनस्य बलमददुर्लक्षता लक्षयति—

शाकिन्या हरिमाययाभिचरितान् पार्थः किलास्थद्द्विषो,
वीरोदाहरणं वरं स न पुना राम. स्वयं कूटकृत्।
इत्यास्थानकथाप्रसंगलहरीहेलाभिरुत्प्लावितो,
हृत्कोडाल्लयमेति दो परिमलः कस्यापि जिह्वाञ्चले॥९२॥

अभिचारितान्—उपतप्तान्। आस्थत्—निराकृतवान्। द्विष—कौरवान्। वीरोदाहरण—अर्जुनेन सदृशा इमे वीरा इत्यस्तु। कूटकृत्—वालिवधादिप्रस्तावे कथाप्रसङ्ग. वार्ता। लय—अलक्ष्यत्वम्। दो परिमलः—लक्षणया भुजवीर्यम्। कस्यापि कुलीनस्य पुस ॥९२॥

अथ तपोमदस्य दुर्जयत्व व्यनक्ति—

कर्मारिक्षयकारणं तप इति ज्ञात्वा तपस्तप्यते,
कोऽप्येतर्हि यदीह तर्हि विषयाकांक्षा पुरो धावति।
अप्येक दिनमीदृशस्य तपसो जानीत यस्तत्पद-
द्वन्द्वं मूर्ध्नि वहेयमित्यपि दृशं मथ्नाति मोहासुर॰ ॥९३॥

तप्यते—अर्जयति। एतर्हि—एतस्मिन् काले। इह—अस्मिन् क्षेत्रे। ईदृशस्य—मया निरीहतया विधीयमानेन तपसा सदृशस्य। जानीत—ईदृश तपश्चरितु प्रवर्तेत इत्यर्थ। 'ज्ञा स्वार्थे करण' इति षष्ठी। वहेय—वोढव्य मया इत्यर्थ ॥९३॥

राजाओंके मनको दूसरा कौन व्यक्ति मेरे समान आकृष्ट कर सकता है, खेद है कि इस प्रकार आज प्रायः पुरुषोंका शिल्प आदिका ज्ञानरूप तेज भी अन्धकाररूप हो रहा है॥९१॥

आगे कहते हैं कि कुलीन पुरुष बल का मद नहीं करता—

ऐसा सुना जाता है कि शाकिनीके समान विष्णुकी मायासे मोहित हुए कौरव-शत्रुओंको अर्जुनने मारा। अतः वीरोंके उदाहरणके रूपमे अर्जुन ही श्रेष्ठ है, रामचन्द्र नहीं, क्योंकि उन्होंने वालिके वध मे छलसे काम लिया था। इस प्रकार जनसमुदाय मे जब कभी उठनेवाले कथाप्रसगरूपी लहरोंसे अन्तस्तलसे ऊपर उठा वीरोंकी बाहुओंका सौरभ किसी भी कुलीनकी जिह्वाके अग्र भागमे आकर विलीन हो जाता है अर्थात् वह अपने मुखसे अपनी वीरताका गुणगान नहीं करता। और दूसरोंके मुखसे सुनकर भी उधर कान नहीं देता॥९२॥

तप का मद दुर्जय है यह स्पष्ट करते हैं—

इस क्षेत्र और इस कालमे यदि कोई 'तप, मोह आदि शत्रुओंके विनाशका कारण है' यह जानकर भी तप करता है तो विषयोंकी चाह आगे दौडती है। मेरे समान निरीह होकर किये जानेवाले तपके समान तप यदि कोई एक दिन भी कर सके तो मैं उसके दोनों चरण

अथ पूजामदकर्तुर्दोषं दर्शयति—

स्वे वर्गे सकले प्रमाणमहमित्येतत्कियद्यावता,
पौरा जानपदाश्च सन्त्यपि मम श्वासेन सर्वे सदा ।
यत्र क्वाप्युत यामि तत्र सपुरस्कारां लभे सत्क्रिया-
मित्यर्चामदमूर्णनाभवदधस्तन्तुं वितन्वन् पतेत् ॥९४॥

यावता—येन कारणेन । श्वसन्ति–मदेकायत्तास्तिष्ठन्तीत्यर्थ । ऊर्णनाभवत्–कौलिको यथा । तन्तु–लालास्वरूपम् ॥९४॥

अथैव प्रसङ्गायातैः साधर्मिकान् प्रति जात्यादिमदै सह मिथ्यात्वाख्यमनायतन त्याज्यतया प्रकाश्य साम्प्रत तद्वत सप्त त्याज्यतया प्रकाशयति—

सम्यक्त्वादिषु सिद्धिसाधनतया त्रिष्वेव सिद्धेषु ये,
रोचन्ते न तथैकशस्त्रय इमे ये च द्विशस्ते त्रयः ।
यश्च त्रीण्यपि सोऽप्यमी शुभदृशा सप्तापि मिथ्यादृश-
स्त्याज्या खण्डयितु प्रचण्डमतयः सद्दृष्टिसम्राट्पदम् ॥९५॥

त्रिष्वेव—समुदितेषु न व्यस्तेषु । सिद्धेषु—आगमे निर्णीतेषु । तथा—सिद्धिसाधनताप्रकारेण । एकश —एकैक कर्मतापन्नम् । तथाहि—कश्चित् सम्यक्त्वज्ञाने मोक्षमार्गं मन्यते न चारित्रम्, अन्य सम्यक्त्व-चरित्रे न ज्ञानम्, अन्यतरो ज्ञानचारित्रे न सम्यक्त्वमेवमुत्तरत्रापि चिन्त्यम् । द्विशः—द्वे द्वे सिद्धिसाधनतया न रोचन्ते । मिथ्यादृश । उक्त च—

अपने मस्तकपर धारण करूँ, इस प्रकार मोहरूपी दैत्य न केवल चारित्रको किन्तु सम्यग्दर्शन-को भी नष्ट-भ्रष्ट कर देता है । अर्थात् तपस्वी भी तप का मद करके भ्रष्ट होते हैं ॥९३॥

पूजाका मद करनेवालेके दोष दिखलाते हैं—

मैं अपने समस्त सजातीय समूहमे प्रमाण माना जाता हूँ, इतना ही नहीं, किन्तु सब नगरवासी और देशवासी सदा मेरे श्वासके साथ श्वास लेते हैं, उनका जीवन मेरे अधीन है, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ वहाँ पुरस्कारपूर्वक सत्कार पाता हूँ इस प्रकारका पूजाका मद मकड़ीके समान अपना जाल फैलाता हुआ अध.पतन करता है ॥९४॥

इस प्रकार साधर्मियोंके प्रति प्रसग प्राप्त जाति आदि आठ मदो के साथ मिथ्यात्व नामक अनायतनको त्यागने योग्य बतलाकर आगे सात प्रकारके मिथ्यादृष्टियोंको त्याज्य बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनों ही मोक्षके कारण है यह आगमसे निर्णीत है । इनमें-से जो एक-एकको मोक्षका कारण नहीं मानते ऐसे तीन, जो दो-दोको मोक्षका कारण नही मानते ऐसे तीन और जो तीनोको ही मोक्षका कारण नहीं मानता ऐसा एक, इस तरह सम्यग्दर्शनरूपी चक्रवर्ती पदका खण्डन करनेके लिए उसके प्रभाव और स्वरूपको दूषित करनेके लिए ये सातो ही मिथ्यादृष्टि बड़े दक्ष होते है । सम्यग्दृष्टिको इनसे दूर ही रहना चाहिए ॥९५॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीनो ही मोक्षके कारण है । जो इनमे-से एकको या दोको या तीनोको ही स्वीकार नही करते वे मिथ्यादृष्टि है । इस तरह मिथ्यादृष्टिके सात भेद हो जाते है—सम्यग्दर्शनको न माननेवाला एक, सम्यग्ज्ञानको न माननेवाला दो, सम्यक् चारित्रको न माननेवाला तीन, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानको न

'एकैक न त्रयो द्वे द्वे रोचन्ते न परे,त्रय.।
एकस्त्रीणीति जायन्ते सप्ताप्येते कुदर्शना ॥' [अमि. श्रा २।२६] ॥९५॥

अथापरैरपि मिथ्यादृष्टिभि सह ससर्गं प्रतिषेधति— ३

मुद्रां साव्यवहारिकीं त्रिजगतीवन्द्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये वहिस्तां श्रिताः।
लोकं भूतवदाविशन्त्यवशिनस्तच्छायया चापरे, ६
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ॥९६॥

मुद्रा—आचेलक्यादिलिङ्गं टकादिनाणकाकृति च। साव्यवहारिकी—समीचीनप्रवृत्तिप्रयोजनाम्। अपोद्य—अपवादविपया कृत्वा 'निषिद्धय' इत्यर्थ। वामा—तद्विपरीता। केचित्—तापसादय। अहंयव'— ९ अहङ्कारिण। अन्ये—द्रव्यजिनलिङ्गमलधारिण। तच्छायया—अर्हद्गतप्रतिरूपकेण। अपरे—द्रव्यजिन- लिङ्गधारिण। म्लेच्छन्ति—म्लेच्छा इवाचरन्ति। तकै—कुत्सितैस्तै। त्रिधा परिचय—मनसानु- मोदन वाचा कीर्तन कायेन संसर्गं च। तदुक्तम्— १२

माननेवाला चार, सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्रको न माननेवाला पाँच, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको न माननेवाला छह तथा तीनोको ही न माननेवाला सात। कहा भी है—

'जिन्हे तीनोंमे-से एक-एक नहीं रुचता ऐसे तीन, जिन्हे दो-दो नहीं रुचते ऐसे तीन और जिन्हे तीनो भी नहीं रुचते ऐसा एक, इस तरह ये सातो भी मिथ्यादृष्टि है।'

ये सम्यग्दर्शनके प्रभाव और स्वरूपको क्षति पहुँचानेमे तत्पर रहते है। अतः सम्यग्दृष्टि- को इनसे दूर रहना चाहिए ॥९५॥

अन्य मिथ्यादृष्टियोके भी साथ सम्बन्ध रखनेका निषेध करते है—

दिगम्बरत्वरूप जैनी मुद्रा तीनो लोकोमें वन्दनीय है, समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारके लिए प्रयोजनीभूत है। किन्तु इस क्षेत्रमे वर्तमान कालमे उस मुद्राको छोड़कर कुछ अहंकारी तो उससे विपरीत मुद्रा धारण करते है—जटा धारण करते हैं, शरीरमे भस्म रमाते हैं। अन्य द्रव्य जिनलिंगके धारी अपनेको मुनि माननेवाले अजितेन्द्रिय होकर उस जैन मुद्राको केवल शरीरमे धारण करके धर्मके इच्छुक लोगोपर भूतकी तरह सवार होते है। अन्य द्रव्यलिंगके धारी मठाधीश भट्टारक है जो जिनलिगका वेष धारण करके म्लेच्छोके समान आचरण करते है। ये तीनों पुरुषके रूपमे साक्षात् मिथ्यात्व है। इन तीनोका मनसे अनुमोदन मत करो, वचनसे गुणगान मत करो और शरीरसे संसर्ग मत करो। इस तरह मन-वचन-कायसे इनका परित्याग करो ॥९६॥

विशेषार्थ—इस श्लोकके द्वारा ग्रन्थकारने अपने समयके तीन प्रकारके मिथ्यादृष्टि साधुओका चित्रण करके सम्यग्दृष्टिको उनसे सर्वथा दूर रहनेकी प्रेरणा की है। इनमे-से प्रथम तो अन्य मतानुयायी साधु है जो भस्म रमाते हैं और जटा वगैरह धारण करते है। किन्तु शेष दोनों जैन मतानुयायी साधु हैं जो वाहरसे दिगम्बर जैन मुनिका रूप धारण किये होते है—नग्न रहते है, केश लोच करते है। किन्तु अन्तरगमे सच्चे मुनि नहीं होते। इन दोमे-से अन्तिम मठाधीश भट्टारक होते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि शकराचार्यने जैनो और बौद्धोके विरुद्ध जो अभियान चलाया था और दण्डी साधुओकी सृष्टि करके धर्मके संरक्षणके लिए भारतमे मठोकी स्थापना की थी उसीके अनुकरणपर जैनोंमे भी साधुओने वनवास छोडकर मन्दिरोमे रहना शुरू किया और मन्दिरोके लिए दानादि स्वीकार करके धर्मकी रक्षाका

'कापथे पथि दुःखाना कापस्थेऽप्यसम्मतिः ।
असपृक्तिरनुत्कीर्तिरमूढा दृष्टिरुच्यते ॥ [रत्न. श्रा. १४] ॥९६॥

३ अथ मिथ्याज्ञानिभिः सपर्कं व्यपोहति—

विद्वानविद्याशाकिन्याः क्रूरं रोद्‍धुमुपप्लवम् ।
निरुन्ध्यादपराध्यन्ती प्रज्ञां सर्वत्र सर्वदा ॥९७॥

६ **कुहेतुनयदृष्टान्तगरलोद्गारदारुणैः ।**
आचार्यव्यञ्जनैः सङ्गं भुजङ्गैर्जातु न व्रजेत् ॥९८॥

व्यञ्जन—विष । उक्तं च—

९ 'शाक्यनास्तिकयागज्ञजटिलाजीवकादिभिः ।
सहावास सहालाप तत्सेवा च विवर्जयेत् ॥'
अज्ञाततत्त्वचेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
१२ युद्धमेव भवेद् गोष्ठ्या दण्डादण्डि कचाकचि ॥ [सोम. उपा ८०४-८०५ श्लो]

कार्य करने लगे वे भट्टारक कहलाये । ग्रन्थकारने लिखा है कि वे म्लेच्छोंके समान आचरण करते हैं इससे ज्ञात होता है कि उनका आचरण बहुत गिर गया था । उन्होंने एक श्लोक भी उद्धृत किया है—जिसमे कहा है—

'चरित्रभ्रष्ट पण्डितोंने और बनावटी तपस्वियोने जिनचन्द्रके निर्मल शासनको मलिन कर दिया ।'[1]

सम्यग्दृष्टिको ऐसे वेषी जैन साधुओंसे भी मन-वचन-काय-से दूर रहने की प्रेरणा की है क्योकि ऐसा न करनेसे सम्यग्दर्शनके अमूढदृष्टि नामक अंगको क्षति पहुँचती है । उसका स्वरूप इस प्रकार है—

दुःखोके मार्ग-कुमार्गकी और कुमार्गमे चलनेवालोंकी मनसे सराहना न करना, कायसे संसर्ग न रखना और वचनसे प्रशंसा न करना अमूढदृष्टि अंग कहा जाता है ।

दूसरे मतवालोने भी ऐसे साधुओंसे दूर रहनेकी प्रेरणा[2] की है—

'खोटे कर्म करनेवाले, विलावके समान व्रत धारण करनेवाले, ठग, वगुला भगत तथा किसी हेतुसे साधु बननेवाले साधुओंका वचन मात्रसे भी आदर नहीं करना चाहिए ।'

मिथ्याज्ञान नामक अनायतनको छुड़ाते है—

त्रिकालवर्ती विषयोके अर्थको जाननेवाली बुद्धिको प्रज्ञा कहते हैं । उसका काम है कि वह अविद्यारूपी पिशाचिनीके क्रूर उपद्रवोंको सर्वत्र सर्वदा रोके अर्थात् ज्ञानका प्रचार करे । यदि वह ऐसा न करे और विमूढ हो जाये तो विद्वान्‌को उसका निवारण करना चाहिए॥९७॥

मिथ्याज्ञानियोसे सम्पर्कका निषेध करते हैं—

खोटे हेतु नय और दृष्टान्तरूपी विषको उगलनेके कारण भयानक आचार्य वेषधारी सर्पों या दुष्टोके साथ कभी भी नहीं रहना चाहिए अर्थात् खोटी युक्तियो, खोटे नयो और खोटे दृष्टान्तोके द्वारा मिथ्या पक्षको सिद्ध करनेवाले गुरुओसे भी दूर रहना चाहिए ॥९८॥

---

१. पण्डितैर्भ्रष्टचारित्रैर्वठरैश्च तपोधनैः ।
शासन जिनचन्द्रस्य निर्मल मलिनीकृतम् ॥

२. पाखण्डिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान् ।
हेतुकान् वकवृत्तीश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत् ॥

भूयोऽपि भङ्ग्यन्तरेणाह—

भारयित्वा पटीयांसमप्यज्ञानविषेण ये।
विचेष्टयन्ति संचक्ष्यास्ते क्षुद्राः क्षुद्रमंत्रिवत् ॥९९॥ ३

भारयित्वा—विकलीकृत्य। पटीयासं—तत्त्ववेत्तारमदृष्टपूर्वं च। विचेष्टयन्ति—विरुद्ध वर्तयन्ति। सचक्ष्या —वर्जनीया। क्षुद्रा.—मिथ्योपदेष्टारो दुर्जना। क्षुद्रमन्त्रिवत्—दुष्टगारुडिका यथा ॥९९॥

अथ मिथ्याचारित्राख्यमनायतन प्रतिक्षिपति— ६

रागाद्यैर्वा विषाद्यैर्वा न हन्यादात्मवत् परम्।
ध्रुवं हि प्राग्वधेऽनन्तं दु.खं भाज्यमुदग्वधे ॥१००॥

प्राग्वधे—रागद्वेषादिभिरात्मन परस्य च घाते। भाज्य—विकल्पनीयम्। उदग्वधे—विषशस्त्रादिभि. स्वपरयोर्घाते। अयमभिप्राय विषादिभिर्हन्यमानोऽपि यदि पञ्चनमस्कारमना स्यात्तदा नानन्तदु ख-भाग्भवति अन्यथा भवत्येवेति ॥१००॥ ९

पुनः प्रकारान्तरसे उसी बातको कहते हैं—

जैसे सर्पके विषको दूर करनेका ढोंग रचनेवाले दुष्ट मान्त्रिक जिसे साँपने नहीं काटा है ऐसे व्यक्तिको भी विषसे मोहित करके कुचेष्टाएँ कराते हैं, उसी तरह मिथ्या उपदेश देनेवाले दुष्ट पुरुष तत्त्वोंके जानकारको भी मिथ्याज्ञानसे विमूढ करके उनसे विरुद्ध व्यवहार कराते हैं। अतः सम्यक्त्वके आराधकोंको उनसे दूर रहना चाहिए ॥९९॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने भी कहा है—बौद्ध, नास्तिक, याज्ञिक, जटाधारी तपस्वी और आजीवक आदि सम्प्रदायके साधुओके साथ निवास, बातचीत और उनकी सेवा वगैरह नहीं करना चाहिए। तत्त्वोसे अनजान और दुराग्रही मनुष्योके साथ वार्तालाप करनेसे लड़ाई ही होती है जिसमे डण्डा-डण्डी और झोटा-झोटी तककी नौबत आ जाती है ॥९९॥

आगे मिथ्याचारित्र नामक अनायतनका निषेध करते हैं—

मिथ्याचारित्र नामक अनायतनको त्यागनेके इच्छुक सम्यग्दृष्टिको मोहोदयजन्य रागादि विकारोसे तथा विष, शस्त्र, जल, अग्निप्रवेश आदिसे अपना और दूसरोका घात नहीं करना चाहिए, क्योंकि रागादिसे घात करनेमे तो निश्चय ही अनन्त दुख मिलता है किन्तु विषादिसे घात करनेपर अनन्त दुःख हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता ॥१००॥

विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि रागादिरूप परिणतिके द्वारा अपने या दूसरोंके विशुद्ध परिणामस्वरूप साम्यभावका घात करनेवालेके भाव मिथ्याचारित्र रूप अनायतनकी सेवासे सम्यक्त्व मलिन होता है। और विषादिके द्वारा अपना या परका घात करनेवाला द्रव्य मिथ्याचारित्रका सेवी होता है। आशय यह है कि हिंसाके दो प्रकार हैं—भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। पहले प्रकारकी हिंसा भावहिंसा है और दूसरे प्रकारकी हिंसा द्रव्यहिंसा है। जैनधर्ममे भावहिंसाको ही हिंसा माना है। चाहे द्रव्यहिंसा हुई हो या न हुई हो। जहाँ भावमे हिंसा वहाँ अवश्य ही हिंसा है। किन्तु द्रव्यहिंसा होनेपर भी यदि भावमे हिंसा नहीं है तो हिंसा नहीं है। अत रागादिरूप परिणाम होने पर आत्माके विशुद्ध परिणामोंका घात होनेसे हिंसा अवश्य है और इसलिए उसका फल अनन्त दु ख अवश्य भोगना पडता है। किन्तु द्रव्यहिंसामें ऐसी नियामकता नहीं है। कदाचित् विष खाकर मरनेवाला आदमी

अथ हिंसाहिंसयोर्माहात्म्यमाह—

हीनोऽपि निष्ठया निष्ठागरिष्ठः स्यादहिंसया।
हिंसया श्रेष्ठनिष्ठोऽपि श्वपचादपि हीयते ॥१०१॥

निष्ठया—व्रतादिना ॥१०१॥

अथ मिथ्याचारित्रपरैः सह सागत्यं प्रत्याख्याति—

केचित् सुखं दुःखनिवृत्तिमन्ये प्रकर्तुकामाः करणीगुरूणाम्।
कृत्वा प्रमाणं गिरमाचरन्तो हिंसामहिंसारसिकैरपास्याः ॥१०२॥

करणीगुरूणा—मिथ्याचार्याणाम् ॥१०२॥

अथ त्रिमूढापोढत्वं सम्यग्दृष्टेर्भूषणत्वेनोपदिशति—

यो देवलिङ्गिसमयेषु तमोमयेषु लोके गतानुगतिकेऽप्यपथैकपान्थे।
न द्वेष्टि रज्यति न च प्रचरद्विचारः सोऽमूढदृष्टिरिह राजति रेवतीवत् ॥१०३॥

समय—शास्त्रम्। तमोमयेषु—अज्ञानरूपेष्वज्ञानबहुलेषु वा। अपथैकपान्थे—केवलोन्मार्गानित्यचारिणि। ननु च कथमेतद् यावता लोकदेवतापाषण्डिभेदात् त्रिधैव मूढमनुश्रूयते। तथा च स्वामिसूक्तानि—

यदि तत्काल सद्बुद्धि आ जानेसे पंचनमस्कार मन्त्रका जप करते हुए प्राण छोडता है तो वह अपनी गलतीका प्रतीकार तत्काल कर लेता है अतः अनन्त दुःखका भागी नहीं होता ॥१००॥

हिंसा और अहिंसाका माहात्म्य कहते हैं—

व्रतादिके अनुष्ठानरूप निष्ठासे हीन भी व्यक्ति द्रव्य और भावहिंसाके त्यागसे निष्ठाशाली होता है और उत्कृष्ट निष्ठावाला भी व्यक्ति हिंसा करनेसे चाण्डालसे भी नीच होता है ॥१०१॥

मिथ्याचारित्रका पालन करनेवालोंके साथ संगति करनेका निषेध करते हैं—

कुछ लोग स्वयं अपनेको और अपने सम्बन्धियोंको खूब सुखी करनेकी इच्छासे और कुछ दुःख दूर करनेकी इच्छासे मिथ्या आचार्योंकी वाणीको प्रमाण मानकर हिंसा करते हैं। अहिंसाप्रेमियोंको उनसे दूर ही रहना चाहिए ॥१०२॥

आगे कहते हैं कि तीन मूढताओंका त्याग सम्यग्दृष्टिका भूषण है—

जो विचारशील पुरुष अज्ञानमय या अज्ञानबहुल देव, गुरु, शास्त्रमें तथा केवल कुमार्गमें नित्य गमन करनेवाले गतानुगतिक लोगोंमें न द्वेष करता है और न राग करता है वह अमूढदृष्टि इस लोकमें रानी रेवतीकी तरह सम्यक्त्वके आराधकके रूपमें शोभित होता है ॥१०३॥

विशेषार्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगमके द्वारा जो वस्तु जिस रूपमें स्थित है उसको उसी रूपमें व्यवस्थित करनेमें हेतु तर्क वितर्कको विचार कहते हैं। तथा देश काल और समस्त पुरुषोंकी अपेक्षा बाधकाभावरूपसे विचारका प्रवर्तन करनेवालेको विचारशील कहते हैं। बिना विचारे काम करनेवालोंका देखादेखी अनुसरण करनेवालोंको गतानुगतिक कहते हैं। ऐसे लोगोंमें और कुदेव, कुगुरु और कुशास्त्रमें जो न राग करता है और न द्वेष करता है अर्थात् उनकी उपेक्षा करता है वह अमूढदृष्टि है। यहाँ यह शंका होती है कि मूढताके तो तीन ही भेद हैं लोकमूढता, देवमूढता और पाषण्डिमूढता। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—

'आपगासागरस्नानमुच्चयः सिकताश्मनाम् ।
गिरिपातोऽग्निपातश्च लोकमूढं निगद्यते ॥'
'वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः । ३
देवता यदुपासीत देवतामूढमुच्यते ॥'
'सग्रन्थारम्भहिंसानां संसारावर्तवर्तिनाम् ।
पाषण्डिनां पुरस्कारो ज्ञेयं पाषण्डिमोहनम् ॥' [रत्न. श्रा. २२-२४] ६

नैष दोषः, कुदेवे कुलिङ्गिनि वा कदागमस्यान्तर्भावात् । कथमन्यथेदं स्वामिसूक्तमुपपद्येत—
'भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागमलिङ्गिनाम् ।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥' [रत्न. श्रा. ३०] ९

एतदनुसारेणैव ठक्कुरोऽपीदमपाठीत्—
'लोके शास्त्राभासे समयाभासे च देवताभासे ।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना कर्तव्यममूढदृष्टित्वम् ॥' [पुरुषार्थ. २६] १२

विचारः—प्रत्यक्षानुमानागमैर्यथावस्थितवस्तुव्यवस्थापनहेतुः क्षोदः । अमूढदृष्टिः—अमूढा षडनायतनत्यागादनभिभूता दृष्टिः सम्यक्त्वं यस्य । एतेन षडायतनवर्जनद्वारेणामूढदृष्टित्वगुणोऽपि पञ्चमः स्मृतिप्रसिद्धः संगृहीतः । सिद्धान्ते तु चत्वार एव दृग्विशुद्धिवृद्धयर्था गुणाः श्रूयन्ते । तथा चाराधनाशास्त्रम्— १५
'उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पहावणा गुणा भणिया ।
सम्मत्तविसुद्धीए उवगूहणगारया चउरो ॥' [भ. आरा. ४५]

'कल्याणका साधन मानकर नदी या समुद्रमें स्नान करना, बालू और पत्थरोंका स्तूप बनाना, पर्वतसे गिरना, अग्निमें प्रवेश करना लोकमूढ़ता है ॥ इस लोक सम्बन्धी फलकी आशा रखनेवाला मनुष्य इच्छित फल प्राप्त करनेकी इच्छासे जो राग-द्वेषसे मलिन देवताओंकी उपासना करता है उसे देवमूढ़ता कहते हैं ॥ परिग्रह और आरम्भ सहित तथा संसारमें भटकानेवाले पापण्डियोंका—साधुओंका आदर-सत्कार पापण्डिमूढ़ता है' ॥

इस तरह तीन ही मूढ़ता हैं किन्तु यहाँ चार मूढ़ताएँ बतायी हैं। किन्तु यह कोई दोष नहीं है क्योंकि कुदेव और कुगुरुमें कुशास्त्रका अन्तर्भाव होता है। यदि ऐसा न होता तो स्वामी समन्तभद्र ऐसा क्यों कहते कि,

'निर्मल सम्यग्दृष्टियोंको भय, आशा, स्नेह और लोभसे कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरुओंको प्रणाम और विनय भी नहीं करना चाहिए।'

स्वामीके उक्त कथनका अनुसरण करके अमृतचन्द्रजीने भी कहा है—

'लोकमें, शास्त्राभासमें, धर्माभासमें और देवाभासमें तत्त्वोंमें रुचि रखनेवाले सम्यग्दृष्टिको सदा अमूढदृष्टि होना चाहिए।'

अमूढा अर्थात् छह अनायतनोंके त्यागसे अनभिभूत है दृष्टि-सम्यक्त्व जिसका उसे अमूढदृष्टि कहते हैं। इससे छह अनायतनोंके त्यागके द्वारा पाँचवाँ अमूढदृष्टि अंग भी संगृहीत होता है। सिद्धान्तमें तो सम्यग्दर्शनकी विशुद्धि करनेवाले चार ही गुण सुने जाते हैं। आराधना शास्त्रमें कहा है—

'उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना ये चार गुण सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिको बढ़ानेवाले हैं।'

एतद् विपर्ययाश्चान्ये अनुपगूहनादयश्चत्वारो दर्शनदोषाः संभवन्ति। अत एव विस्तररुचीन् प्रति पञ्चविंशतिसम्यक्त्वदोषान् व्याचक्षते। तथा चोक्तं—

३ 'मूढत्रय मदाश्चाष्टौ तथानायतनानि षट्।
अष्टौ शकादयश्चेति, दृग्दोषा. पञ्चविंशतिः॥' [सोम. उपा., २४१ श्लो]॥१०३॥

अथानुपगूहनादिकारिण सम्यक्त्ववैरिण इत्याचष्टे—

६ यो दोषमुद्भावयति स्वयूथ्ये यः प्रत्यवस्थापयतीलमित्ये।
न योऽनुगृह्णाति न दीनमेनं मार्गं च य. प्लोषति दृग्विषस्ते॥१०४॥

दोष—सन्तमसन्तं वा सम्यक्त्वव्यभिचारम्। स्वयूथ्ये—सधर्मणि। प्रत्यवस्थापयति इम स्वयूथ्य
९ दर्शनादे प्रत्यवस्यन्तम्। दीन—प्रक्षीणपुरुषार्थसाधनसामर्थ्यम्। प्लोषति—दहति माहात्म्याद् भ्रंशयति, नि प्रभावतया लोके प्रकाशयतीत्यर्थं। ते अनुपगूहनास्थितीकरणावात्सल्याप्रभावनाकर्तारश्चत्वार क्रमेणोक्ता॥१०४॥

आचार्य कुन्दकुन्दने समयसारके निर्जराधिकारमे, आचार्य समन्तभद्रने रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे सम्यग्दर्शनके आठ अंगोंका विवेचन किया है। पूज्यपाद अकलंक आदिने भी तत्त्वार्थसूत्र ६—२४ की व्याख्यामे सम्यग्दर्शनके आठ अंग गिनाये है। किन्तु भगवती आराधनामें सम्यक्त्वके वर्धक चार ही गुण कहे है। श्वेताम्बर परम्परामे भी हमे आठ अंगोंका उल्लेख नहीं मिला। रत्नकरण्डमे सम्यग्दर्शनको तीन मूढतारहित, आठ मदरहित और आठ अगसहित कहा है। उत्तर कालमे इनमें छह अनायतनोके मिल जानेसे सम्यग्दर्शनके पचीस दोष माने गये। उपासकाध्ययनमे कहा है—

'तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंका आदि आठ ये सम्यग्दर्शनके पचीस दोष है।'

भगवती आराधनामे ही सम्यग्दर्शनके पॉच अतीचारोंमे अनायतन सेवा नामक अतीचार गिनाया है। अनायतनकी परम्पराका उद्गम यहींसे प्रतीत होता है। उसकी टीकामे अपराजित सूरिने अनायतनके छह भेद करते हुए प्रथम भेद मिथ्यात्वके सेवनको अतीचार नहीं, अनाचार कहा है अर्थात् वह मिथ्यादृष्टि ही है। श्वेताम्बर साहित्यमे अनायतन शब्द तो आया है किन्तु छह अनायतन हमारे देखनेमे नहीं आये॥१०३॥

आगे कहते है कि उपगूहन आदि नहीं करनेवाले सम्यक्त्वके वैरी है—

जो साधर्मीमे विद्यमान या अविद्यमान दोषको—जिससे सम्यक्त्व आदिमे अतीचार लगता है, प्रकाशित करता है, जो सम्यग्दर्शन आदिसे चिगते हुए साधर्मीको पुनः उसी मार्गमे स्थापित नही करता, जो पुरुषार्थके साधनकी सामर्थ्यसे हीन साधर्मीको साधन सम्पन्न नहीं करता, तथा जो अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्तिके उपायरूप मार्गको उसकी महत्तासे भ्रष्ट करता है—लोकमे उसे प्रभावशून्य बतलाता है, ये क्रमश उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणोका पालन न करनेवाले चारो सम्यक्त्वके विराधक है॥१०४॥

विशेषार्थ—इन चारो गुणोका स्वरूप समयसारमे तो स्वपरक कहा है और रत्नकरण्ड श्रावकाचारमे परपरक कहा है। प्रथम कथन निश्चयसे है और दूसरा कथन व्यवहारसे है। जो सिद्ध भक्तिसे युक्त है और सब मिथ्यात्व राग आदि विभाव धर्मोंको ढॉकनेवाला—दूर करनेवाला है वह सम्यग्दृष्टि उपगूहन अंगका पालक है। जो उन्मार्गमे जाते हुए अपने

इति दोषोज्झनम् ।

इतो गुणापादनमुच्यते । तत्र तावदुपगूहनगुणमन्तर्बहिर्वृत्तिरूपेण द्विविधमप्यवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

धर्मं स्वबन्धुमभिभूष्णुकषायरक्षः क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्रपरः सदा स्यात् । ३
धर्मोपबृंहणधियाऽबलबालिशात्मयूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेन्द्रभक्त ॥१०५॥

अभिभूष्णु—ताच्छील्येन व्याहतशक्तिकं कुर्वन् । कषायरक्षः—क्रोधादिराक्षसमिव घोरदुर्निवारत्वात् । जिनेन्द्रभक्त.—सज्ञेयम् । उक्तं च— ६

'धर्मो विवर्द्धनीय. सदात्मनो मार्दवादिभावनया ।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम् ॥' [पुरुषार्थ २७] ॥१०५॥

आत्माको सन्मार्गमें स्थित करता है वह सम्यग्दृष्टि स्थितिकरण अंगका पालक है। जो मोक्षमार्गके साधक सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको अपनेसे अभिन्न रूपसे अनुभव करता है वह वात्सल्य अंगका धारक है। जो विद्यारूपी रथपर चढकर मनरूपी रथके मार्गमे भ्रमण करता है वह सम्यग्दृष्टि प्रभावना अंगका पालक है (समय. गा २३३-३६)। स्वयं शुद्ध रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गसे बाल और अशक्त जनोंके द्वारा होनेवाली निन्दाको जो दूर करता है उसे उपगूहन कहते हैं। सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रसे डिगते हुओको धर्मप्रेमी पण्डितजनके द्वारा अपने धर्मंमे स्थिर करना स्थितिकरण है। साधर्मियोंके प्रति समीचीन भावसे छल-कपटरहित यथायोग्य आदर भाव वात्सल्य है। अज्ञानान्धकारके फैलावको जैसे भी बने वैसे दूर करके जिनशासनके माहात्म्यको प्रकट करना प्रभावना है [रत्न. श्लो. १५-१८] ॥१०४॥

यहाँ तक सम्यग्दर्शनके दोषोको त्यागनेका कथन किया। आगे गुणोंको उत्पन्न करनेका कथन करते हैं। उनमे से प्रथम अन्तर्वृत्ति और बहिर्वृत्ति रूपसे दोनों प्रकारके उपगूहन गुणको अनिवार्यत' पालन करनेका उपदेश देते हैं—

धर्मको बढानेकी भावनासे मुमुक्षुको अपने बन्धुके समान सम्यक्त्वरूप अथवा रत्नत्रयरूप धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करनेवाले कषायरूप राक्षसोका निग्रह करनेके लिए सदा उत्तम क्षमा आदि दिव्य आयुधोंसे सुसज्जित होना चाहिए। और अपने अशक्त तथा अज्ञानी साधर्मी जनोंके दोषोंको ढाँकनेके लिए जिनेन्द्रभक्त नामक सेठकी तरह चेष्टा करना चाहिए ॥१०५॥

विशेषार्थ—इस लोक और परलोकमे बन्धुके समान उपकारी होनेसे धर्म अपना बन्धु है और क्रोधादिरूप कषाय भयानक तथा दुर्निवार होनेसे राक्षसके समान है। यह कषाय धर्मकी शक्तिको कुण्ठित करती है। कषायके रहते हुए सम्यक्त्वरूप या रत्नत्रयरूप धर्म प्रकट होना कठिन होता है। प्रकट भी हो जाये तो उसकी अभ्युन्नति कठिन होती है। अत कषायोके विरोधी उत्तम क्षमा आदि भावनासे कषायरूपी राक्षसका दलन करनेके लिए तत्पर रहना चाहिए। उसके बिना आत्मधर्मका पूर्ण विकास सम्भव नहीं है। यह उपबृंहण गुण जो अन्तर्वृत्तिरूप है उसीकी बाह्य वृत्तिका नाम उपगूहन है अर्थात् एक ही गुणको दो नाम दो दृष्टियोंसे दिये गये है। अज्ञानी और असमर्थ साधर्मी जनोके द्वारा होनेवाले अपवादको ढाँककर धर्मको निन्दासे बचाना उपगूहन है। इस उपगूहनसे धर्मका उपबृंहण—वृद्धि होती है क्योकि धर्मकी निन्दा होनेसे धर्मके प्रसारको हानि पहुँचती है।

अथ स्वपरयो स्थितिकरणाचरणमाह—

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं
३ स्वं धारयेल्लघु विवेकसुहृद्बलेन।
तत्प्रच्युतं परमपि दृढयन् बहुस्वं,
स्याद्वारिषेणवदलं महतां महार्हः ॥१०६॥

६ सुपथः—व्यस्ताद् समस्ताद्वा रत्नत्रयात्। धारयेत्—स्थिरीकुर्यात्। तत्प्रच्युतं—सन्मार्गप्रच्यवनोन्मुखम्। दृढयन्—स्थिरीकुर्वन्। बहुस्व—आत्मानमिव। ईषदसिद्धः स्व इति विगृह्य 'वा सुपो बहु. प्राक्' इत्यनेन बहुप्रत्ययः पूर्वो विधीयते। महार्हः—पूज्यः।

९ उक्तं च—'कामक्रोधमदादिषु चलयितुमुदितेषु वर्त्मनो न्याय्यात्।
द्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम् ॥' [पुरुषार्थ. २७] ॥१०६॥

अथाऽन्तर्बहिर्वात्सल्यकरणे प्रयुङ्क्ते—

१२ धेनुः स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्णं
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षतिं च।
धर्मे सधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध-
१५ प्रेमानुबन्धमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥१०७॥

दृष्टि—अन्तर्मतिं चक्षुश्च। क्षिपेत्—व्यापारयेत्। विष्णुवत्—विष्णुकुमारो यथा। उक्तं च—
'अनवरतमहिंसायां शिवसुखलक्ष्मीनिबन्धने धर्मे।
१८ सर्वेष्वपि च सधर्मसु परमं वात्सल्यमवलम्ब्यम् ॥' [पुरुषार्थ २९] ॥१०७॥

इस अंगका पालन करनेवालोंमे जिनेन्द्र भक्त सेठ प्रसिद्ध हुआ है। उसने एक क्षुल्लक भेपधारी चोरके अपने चैत्यालयसे मणि चुरा लेनेपर भी धर्मकी निन्दाके भयसे उसका उपगूहन किया था ॥१०५॥

अपना और दूसरोंका स्थितिकरण करनेकी प्रेरणा करते हैं—

बलवान् दैव—पूर्वकृत कर्म और प्रमादके वशसे सम्पूर्ण रत्नत्रयरूप या उसके एक देशरूप सुमार्गसे गिरनेके अभिमुख अपनेको युक्तायुक्त विचाररूप मित्रकी सहायतासे शीघ्र ही सन्मार्गमें स्थिर करना चाहिए। सन्मार्गसे गिरनेके अभिमुख दूसरे साधर्मीको भी अपनी ही तरह सन्मार्गमे स्थिर करनेवाला श्रेणिक-पुत्र वारिषेणकी तरह इन्द्रादिके द्वारा महान् पूज्य होता है ॥१०६॥

अन्तरंग और बाह्य वात्सल्यके करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जैसे तत्कालकी व्याही हुई गाय अपने बच्चेपर अनुरागवश निरन्तर दृष्टि रखती है, उसे आँखोसे ओझल नहीं होने देती, और उसकी हानि नहीं सह सकती, उसी तरह मुमुक्षुको भी धर्ममे अपनी दृष्टि रखनी चाहिए। तथा मनसे भी की गयी धर्मकी क्षतिको नहीं सहना चाहिए। और साधर्मी जनोंके कल्याणके लिए विष्णुकुमार मुनि की तरह स्नेहके अनुबन्धको लिये हुए प्रयत्न करना चाहिए ॥१०७॥

विशेषार्थ—वात्सल्य अंगका पालन करनेवालोंमें मुनि विष्णुकुमार प्रसिद्ध हुए हैं। उन्होंने बलिके द्वारा अकम्पनाचार्य सहित सात सौ मुनियों पर किये गये उपसर्गको अपनी विक्रिया दृष्टिके द्वारा दूर करके वात्सल्य अंगका पालन किया था ॥१०७॥

अथान्तरङ्गबहिरङ्गप्रभावनाभावनामाह—

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबध्नन्
स्वस्य प्रभावमभितोऽद्भुतमारभेत । ३
विद्यातपोयजनदानमुखावदानै-
र्वज्रादिवज्जिनमतश्रियमुद्धरेच्च ॥१०८॥

अवदान—अद्भुतकर्म । वज्रादिवत्—वज्रकुमारादयो यथा । जिनमतश्रिय—जिनशासन- ६ माहात्म्यम् । उद्धरेत्—प्रकाशयेत् । उक्त च—

'आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव ।
ज्ञानतपोजिनपूजाविद्यातिशयैश्च जिनधर्मः ॥' [पुरुषार्थं ३०] ॥१०८॥ ९

अथ प्रकारान्तेरण गुणापादनमाह—

देवादिष्वनुरागिता भववपुर्भोगेषु नीरागता
दुर्वृत्तेऽनुशयः स्वदुष्कृतकथा सूरेः क्रुधाद्यस्थितिः । १२
पूजार्हत्प्रभृते सधर्मविपदुच्छेदः क्षुधाद्यर्दिते-
ष्वङ्गिष्वार्द्रमनस्कताऽष्ट चिनुयुः संवेगपूर्वा दृशम् ॥१०९॥

देवादिषु—देवे गुरौ सघे धर्मे फलदर्शने च । नीरागता—वैराग्यम् । अनुशय —पश्चात्ताप । १५ क्रुधाद्यस्थिति —क्रोधादेरस्थिरत्व, अनन्तानुबन्धिनामभाव इत्यर्थ । चिनुयु —वर्द्धयेयु । सवेगपूर्वा. । ते यथाक्रम यथा—

अन्तरंग और बाह्य प्रभावनाको कहते हैं—

प्रकृष्ट तेजस्वी रत्नत्रयका सदा अनुवर्तन करते हुए अपने प्रभावको सर्वत्र आश्चर्य-जनक रूपसे फैलाना चाहिए। तथा वज्रकुमारकी तरह विद्या, मन्त्र, तप, जिनपूजा, दान प्रमुख अद्भुत कार्योंके द्वारा जिनशासनके माहात्म्यका प्रकाश करना चाहिए ॥१०८॥

विशेपार्थ—जो साधन करनेसे सिद्ध होती है वह विद्या है, जैसे आकाशगामिनी विद्या। जो पाठ मात्रसे सिद्ध हो उसे मन्त्र कहते हैं। इच्छाको रोकना तप है। इस प्रकारके अद्भुत कार्यों द्वारा जैनशासनका माहात्म्य लोकमे प्रकट करना बाह्य प्रभावनाग है। इसमे वज्रकुमार प्रसिद्ध हुए है। उन्होने अष्टाह्निका पर्वमे जैन रथयात्राकी रोकको हटवाकर धर्मका प्रभाव फैलाया था ॥१०८॥

अन्य उपायोसे भी गुण प्राप्त करनेकी प्रेरणा करते हैं—

देव, गुरु, संघ, धर्म और धर्मके फलमे ख्याति आदिकी अपेक्षा न करके किये जाने-वाले अनुरागको संवेग कहते हैं। ससार, शरीर और स्त्री आदि भोगोमे राग न करना—उनसे विरक्त होना वैराग्य है। दुष्ट कार्य हो जानेपर उसका पश्चात्ताप होना निन्दा है। आचार्यके सम्मुख अपने बुरे कार्यको प्रकट करना गर्हा है। क्रोध आदि कषायोकी अस्थि-रताको उपशम कहते हैं। जिनदेव, सिद्ध आदि पूज्य वर्गकी पूजा करना भक्ति है। साधर्मियों पर आयी आपत्तियोको दूर करना वात्सल्य है। भूख आदिसे पीडित प्राणियोंको देखकर हृदयका दयासे द्रवित होना अनुकम्पा है। इस प्रकार ये सवेग आदि आठ गुण सम्यक्त्वको बढाते है ॥१०९॥

विशेपार्थ—सम्यग्दर्शनके आठ अगोका विवेचन करके अन्य गुणोका कथन यहाँ किया है—

'सवेओ णिव्वेओ णिंदा गरुहा य उवसमो भत्ती ।
वच्छल्ल अणुकपा गुणा हु सम्मत्तजुत्तस्स ॥' [भाव स. २६३–वसुनन्दि ४९] ॥१०९॥

३ इति गुणापादनम् ।

अथ विनयापादनमुच्यते—

धर्मार्हदादितच्चैत्यश्रुतभक्त्यादिकं भजेत् ।
६ दृग्विशुद्धिविवृद्धयर्थं गुणवद्विनयं दृशः ॥११०॥

वसुनन्दि श्रावकाचारमे कहा है—

'संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य, अनुकम्पा ये सम्यग्दृष्टिके गुण है ।' इन्हीका स्वरूप ऊपर कहा है' ॥१०९॥

विनय गुणको प्राप्त करनेका उपदेश देते है—

जैसे सम्यग्दर्शनकी निर्मलताको बढानेके लिए उपगूहन आदि गुणोंका पालन किया जाता है वैसे ही धर्म, अर्हन्त आदि, उनके प्रतिबिम्ब और श्रुतकी भक्ति आदिरूप सम्यग्दर्शन की विनयका भी पालन करना चाहिए ॥११०॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. ४६-४७) मे जो कहा है उसका विस्तृत व्याख्यान अपराजिताचार्य रचित मूलाराधना टीका तथा पं आशाधर रचित मूलाराधना दर्पणसे यहाँ दिया जाता है—अरि अर्थात् मोहनीय कर्मका नाश करनेसे, ज्ञानावरण दर्शनावरण कर्मका नाश करनेसे, अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे और अतिशय पूजाके योग्य होनेसे 'अर्हत्' नामको प्राप्त नोआगम भावरूप अर्हन्तोका यहाँ ग्रहण है । जो नाममात्रसे अर्हन्त है उनका ग्रहण यहाँ नहीं है, क्योकि उनमे 'अरिहनन' आदि निमित्तोके अभावमे भी बलात् अर्हन्त नाम रख दिया जाता है । अर्हन्तोके प्रतिबिम्ब भी 'यह यह है' इस प्रकारके सम्बन्धसे अर्हन्त कहे जाते है । यद्यपि वे अतिशय पूजाके योग्य है तथापि बिम्बोमें 'अरिहनन' आदि गुण नही है इसलिए उनका भी यहाँ ग्रहण नही है । अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता है किन्तु उसमे उपयुक्त नहीं है, अन्य कार्यमे लगा है उसे आगम द्रव्य अर्हन्त कहते हैं । उस शास्त्रके ज्ञाताके त्रिकालवर्ती शरीरको ज्ञायक शरीर अर्हन्त कहते है । जिस आत्मामे अरिहनन आदि गुण भविष्यमे होगे उसे भावि अर्हन्त कहते है । तीर्थकर नामकर्म तद्व्यतिरिक्त द्रव्य अर्हन्त है । अर्हन्तके स्वरूपका कथन करनेवाले शास्त्रका ज्ञान और अर्हन्तके स्वरूपका ज्ञान आगमभाव अर्हन्त है । इन सभीसे अरिहनन आदि गुणोका अभाव होनेसे उनका यहाँ अर्हत् शब्दसे ग्रहण नहीं होता । इसी प्रकार जिसने सम्पूर्ण आत्मस्वरूप-को नही प्राप्त किया है उसमे व्यवहृत सिद्ध शब्द नामसिद्ध है । अथवा निमित्त निरपेक्ष सिद्ध संज्ञा नामसिद्ध है । सिद्धोके प्रतिबिम्ब स्थापना सिद्ध है । शंका—सशरीर आत्माका प्रतिबिम्ब तो उचित है, शुद्धात्मा सिद्ध तो शरीरसे रहित है उनका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव है ? समाधान—पूर्वभाव प्रज्ञापन नयकी अपेक्षासे जो सयोग केवली या इतर शरीरानुगत आत्मा है उसे शरीरसे पृथक् नहीं कर सकते । क्योकि शरीरसे उसका विभाग करनेपर संसारीपना नहीं रहेगा । अशरीर भी हो और ससारी भी हो यह तो परस्पर विरुद्ध बात है । इसलिए शरीरके आकाररूप चेतन आत्मा भी आकारवाला ही है क्योंकि वह आकारवान्से अभिन्न है जैसे शरीरमे स्थित आत्मा । वही सम्यक्त्व आदि आठ गुणोसे सम्पन्न है इसलिए सिद्धोंकी स्थापना सम्भव है । जो सिद्ध विषयक शास्त्रका ज्ञाता उसमे उपयुक्त नही है और

भक्त्यादिकं—भक्ति पूजा वर्णजननमवर्णवादनाशनमत्यासादनपरिहार च । उक्तं च—

'अरहंतसिद्धचेदियसुदे य धम्मे य साहुवग्गे य ।
आयरियउवज्झायसु पवयणे दंसणे चावि ॥'

३

उसे सिद्ध शब्दसे कहा जाता है तो वह आगम द्रव्यसिद्ध है। सिद्धविषयक शास्त्रके ज्ञाताका शरीर ज्ञायकशरीर है। जो भविष्यमे सिद्ध होगा वह भाविसिद्ध है। तद्व्यतिरिक्त सिद्ध सम्भव नहीं है क्योंकि सिद्धपर्यायका कारण कर्म नही है, समस्त कर्मोके नष्ट हो जानेपर सिद्धपर्याय प्राप्त होती है। पुद्गल द्रव्य सिद्धपर्यायका उपकारक नहीं है इसलिए नोकर्म सिद्ध भी नहीं है। सिद्धविपयक शास्त्रका ज्ञाता जो उसीमे उपयुक्त है वह आगम भावसिद्ध है। जिसके भावकर्म और द्रव्यकर्मरूपी कलंक नष्ट हो गये है तथा जिसने सब क्षायिक भावोको प्राप्त कर लिया है वह नोआगम भावसिद्ध है। उसीका यहाँ ग्रहण है, शेपका नहीं क्योकि उन्होंने पूर्ण आत्मस्वरूपको प्राप्त नही किया है। 'चेदिय' शब्दसे अर्हन्त और सिद्धोंके प्रतिबिम्ब ग्रहण किये है अथवा साधु आदिकी स्थापनाका भी ग्रहण किया जाता है। श्रुतज्ञानावरणके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ और वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाला श्रद्धानपूर्वक ज्ञान श्रुत है। वारह अंग, चौदह पूर्व और अगवाह्य ये उसके भेद है। अथवा तीर्थंकर और श्रुतकेवली आदिके द्वारा रचित वचनसमूह और लिपिरूप अक्षरसमूह भी श्रुत हैं। धर्म शब्दसे समीचीन चारित्र कहा जाता है। वह चारित्र सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अनुगत होना चाहिए। उसके सामायिक आदि पाँच भेद है। जो दुर्गतिमे पड़े जीवको शुभ स्थानमे धरता है वह धर्म है। अथवा उत्तम-क्षमा आदि रूप दस धर्म है। जो रत्नत्रयका साधन करते हैं वे साधु है उनका वर्ग अर्थात् समूह। वस्तुके यथार्थ स्वरूपको ग्रहण करनेवाले ज्ञानरूपसे परिणतिको ज्ञानाचार कहते है। तत्त्वश्रद्धानरूप परिणामको दर्शनाचार कहते है। पापक्रियासे निवृत्तिरूप परिणतिको चारित्राचार कहते है। अनशन आदि तप करनेको तप आचार कहते है। ज्ञानादिमे अपनी शक्तिको न छिपाने रूप वृत्तिको वीर्याचार कहते हैं। इन पाँच आचारोको जो स्वयं पालते है और दूसरोसे पालन कराते हैं वे आचार्य है। जो रत्नत्रयमे संलग्न है और जिनागमके अर्थका सम्यक् उपदेश देते है वे उपाध्याय है। जिनके पास विनय पूर्वक जाकर श्रुतका अध्ययन किया जाता है वे उपाध्याय हैं। 'पवयण' से प्रवचन लेना। शंका—पहले श्रुत शब्द आया है और श्रुतका अर्थ भी प्रवचन है, अत पुनरुक्त दोप आता है। समाधान—यहाँ प्रवचन शब्दसे रत्नत्रय लेना चाहिए। कहा है—'ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रवचन है।' अथवा पहले श्रुतसे श्रुतज्ञान लिया है और यहाँ जीवादि पदार्थ लिये है अर्थात् शब्दश्रुत प्रवचन है। दर्शनसे सम्यग्दर्शन लिया है। अर्हन्त आदिके गुणोमे अनुरागको भक्ति कहते है। पूजाके दो प्रकार है—द्रव्यपूजा और भावपूजा। अर्हन्त आदिका उद्देश करके गन्ध, पुष्प, धूप, अक्षत आदिका दान द्रव्यपूजा है। आदरपूर्वक खड़े होना, प्रदक्षिणा देना, नमस्कार आदि करना, वचनसे गुणोका स्तवन करना भी द्रव्यपूजा है। और मनसे गुणोका स्मरण करना भावपूजा है। वर्ण शब्दके अनेक अर्थ है। यहाँ उनमे-से यश अर्थ लेना चाहिए। विद्वानोंकी परिपद्मे अर्हन्त आदिका यश फैलाना, उनके वचनोको प्रत्यक्ष अनुमान आदिके अविरुद्ध वतलाकर महत्ताका ख्यापन करना भगवान्का 'वर्णजनन' है। निर्वाणको चैतन्य मात्रमे अवस्थिति माननेपर अपर्व अतिशयोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि विना प्रयत्नके ही सभी आत्माओंमे चैतन्य

'भत्ती पूया वण्णजणण च णासणमवण्णवादस्स ।
आसादणपरिहारो दसणविणओ समासेण॥' [भग. आ. ४६-४७]॥ ११०॥

सदा वर्तमान रहता है। विशेष रूपसे रहित चैतन्य आकाशके फूलकी तरह असत् है। प्रकृति तो अचेतन है उसके लिए मुक्ति अनुपयोगी है। प्रकृतिके बँधने या छूटनेसे आत्माका क्या ? इस प्रकार सांख्य मतमें सिद्धपना सम्भव नहीं है। नैयायिक वैशेषिक सिद्ध अवस्थामें बुद्धि आदि विशेष गुणोका अभाव मानते है। कौन समझदार आत्माको जड़ बनाना पसन्द करेगा। तथा विशेष गुणोंसे शून्य आत्माकी सत्ता कैसे सम्भव है ? जो बुद्धि आदि विशेष गुणोंसे रहित है वह तो आत्मा ही नहीं है जैसे भस्म। इस प्रकार अन्य मतोंमे कथित सिद्धोंका स्वरूप नहीं बनता। अत बाधा करनेवाले समस्त कर्मलेपके विनाशसे उत्पन्न हुए निश्चल स्वास्थ्यमे स्थित और अनन्त ज्ञानात्मक सुखसे सन्तुष्ट सिद्ध होते हैं। इस प्रकार सिद्धोंके माहात्म्यका कथन सिद्धोंका वर्णजनन है। जैसे वीतरागी, वीतद्वेषी, त्रिलोकके चूडामणि भव्य जीवोंके शुभोपयोगमे कारण होते हैं। उसी प्रकार उनके बिम्ब भी होते हैं। बाह्य द्रव्यके अवलम्बनसे ही शुभ और अशुभ परिणाम होते है। जैसे आत्मामें इष्ट और अनिष्ट विषयोंके सान्निध्यसे राग-द्वेष होते हैं, अपने पुत्रके समान व्यक्तिका दर्शन पुत्रके स्मरणका आलम्बन होता है। इसी तरह प्रतिबिम्बको देखकर अर्हन्त आदिके गुणोंका स्मरण होता है। वह स्मरण नवीन अशुभ कर्मोंका आस्रव रोकनेमे, नवीन शुभकर्मोके बन्धमें, बँधी हुई शुभ प्रकृतियोके अनुभागको बढानेमें और पूर्वबद्ध अशुभ प्रकृतियोंके अनुभागको घटानेमे समर्थ है। इसलिए जिनबिम्बोंकी उपासना करना चाहिए। इस प्रकार बिम्बकी महत्ताका प्रकाशन बिम्बका वर्णजनन है। श्रत केवलज्ञानकी तरह समस्त जीवादि द्रव्योंका यथार्थ स्वरूप प्रकाशन करनेमे समर्थ है। कर्मरूपी तापका निर्मूलन करनेमे तत्पर शुभध्यानरूपी चन्दनके लिए मलयगिरिके समान है, स्व और परका उद्धार करनेमे लीन विद्वानोके द्वारा मनसे आराधनीय है, अशुभ आस्रवको रोकता है, अप्रमत्तता लाता है, सकल प्रत्यक्ष और विकल प्रत्यक्ष ज्ञानका बीज है, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानमे प्रवृत्त कराता है, ऐसा कहना श्रुतका वर्णजनन है। जिन भगवान्के द्वारा उपदिष्ट धर्म दु खसे रक्षा करनेमे, सुख देनेमे तथा मोक्षको प्राप्त करानेमे समर्थ है। इस प्रकार धर्मके माहात्म्यको कहना धर्मका वर्णजनन है। साधु अनित्य भावनामे लीन होनेसे शरीर आदिकी ओर ध्यान नहीं देते, जिनप्रणीत धर्मको ही दु खोंसे रक्षा करनेमे समर्थ जानकर उसीकी शरण लेते हैं, कर्मोंको ग्रहण करने, उसका फल भोगने और उनको जडमूलसे नष्ट करनेवाले हम अकेले ही हैं ऐसा उनका दृढ निश्चय होता है, न वे सुखसे राग करते हैं और न दु खसे द्वेष, भूख-प्यासकी बाधा होनेपर भी परिणामोंको सक्लिष्ट नहीं करते, ज्ञान ध्यानमे तत्पर रहते है इस प्रकार साधुके माहात्म्यका प्रकाशन साधुका वर्णजनन है। इसी प्रकार आचार्य और उपाध्यायके माहात्म्यका प्रकाशन उनका वर्णजनन है। रत्नत्रयके लाभसे भव्य जीवराशि अनन्त कालसे मुक्ति लाभ करती आती है इत्यादि कथन मार्गका वर्णजनन है। समीचीन दृष्टि मिथ्यात्वको हटाकर ज्ञानको निर्मल करती है, अशुभ गतिमे जानेसे रोकती है इत्यादि कथन सम्यग्दृष्टिका वर्णजनन है। झूठा दोष लगानेको अवर्णवाद कहते है। अर्हन्त सिद्ध आदिमे मिथ्यावादियोके द्वारा लगाये गये दोषोंका प्रतिवाद करके उन्हें दूर करना चाहिए। आसादना अवज्ञाको कहते है। उसे नहीं करना चाहिए। इस प्रकार अर्हन्त आदिमे भक्ति आदि करना सम्यक्त्वकी विनय है ॥११०॥

अथ प्रकारान्तरेण सम्यक्त्वविनयमाह—

धन्योऽस्मीयमवापि येन जिनवागप्राप्तपूर्वा मया,
भो विष्वग्जगदेकसारमियमेवास्यै नखच्छोटिकाम् । ३
यच्छाम्युत्सुकमुत्सहाम्यहमिहैवाद्येति कृत्स्नं युवन्,
श्रद्धाप्रत्ययरोचनैः प्रवचनं स्पृष्ट्या च दृष्टिं भजेत् ॥१११॥

उत्सुकं—सोत्कण्ठम् । युवन्—मिश्रयन् योजयन्नित्यर्थः । स्पृष्ट्या—स्पर्शनेन । उक्तं च— ६

'सद्दहया पत्तियआ रोचयफासंतया पवयणस्स ।
सयलस्स जे णरा ते सम्मत्ताराहया होंति ॥' [भा आ ७] ॥१११॥

अथाष्टाङ्गपुष्टस्य संवेगादिविशिष्टस्य च सम्यक्त्वस्य फलं दृष्टान्ताक्षेपमुखेन स्फुटयति— ९

पुष्टं निःशङ्कितत्वाद्यैरङ्गैरष्टाभिरुत्कटम् ।
संवेगादिगुणैः कामान् सम्यक्त्वं दोग्धि राज्यवत् ॥११२॥

निःशङ्कितत्वाद्यैः—निःशङ्कितत्व-निष्काङ्क्षितत्व-निर्विचिकित्सत्व-अमूढदृष्टित्वोपगूहन-स्थितीकरण- १२ वात्सल्य-प्रभावनाख्यैः. अङ्गैः माहात्म्यसाधनैः अष्टाभिः । राज्यं तु स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलाख्यैः सप्तभिरङ्गैः पुष्टमिति ततोऽस्य व्यतिरेकः । उत्कटम् । राज्यं तु सन्धिविग्रहयानासनद्वैधीभावसंश्रयैः षड्भिरेव गुणैर्विशिष्टं स्यात् । अत एव काक्वा राज्यवत् सम्यक्त्वं मनोरथान् पूरयति ? नैव पूरयति । तर्हि सम्यक्त्वमिव १५ पूरयति इति लोकोत्तरमस्य माहात्म्यमाविष्करोति ॥११२॥

प्रकारान्तरसे सम्यक्त्वकी विनय कहते हैं—

मुमुक्षुको श्रद्धा, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शनके द्वारा समस्त जिनागमको युक्त करते हुए सम्यग्दर्शनकी आराधना करनी चाहिए। मैं सौभाग्यशाली हूँ क्योंकि मैंने अभी तक संसारमें रहते हुए भी न प्राप्त हुई जिनवाणीको प्राप्त किया। इस प्रकार अन्तरंगसे श्रद्धान करना श्रद्धा है। अहो, यह जिनवाणी ही समस्त लोकमें एकमात्र सारभूत है इस प्रकारकी भावना प्रत्यय है। इसी जिनवाणीके लिए मैं नखोंसे चिऊँटी लेता हूँ। (अँगूठा और उसके पासकी तर्जनी अँगुलीके नखोंसे अपने प्रियके शरीरमें चिऊँटी लेनेसे उससे रुचि व्यक्त होती है)। यही रोचन है। आज उत्कण्ठाके साथ मैं उसी जिनवाणीमें उत्साह करता हूँ यह स्पर्शन है ॥१११॥

विशेषार्थ—कहा भी है—'जो मनुष्य समस्त जिनागमका श्रद्धान, प्रत्यय, रोचन और स्पर्शन करते हैं वे सम्यक्त्वके आराधक होते हैं ॥१११॥

आठ अंगोंसे पुष्ट और संवेग आदिसे विशिष्ट सम्यक्त्वका फल दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

निःशंकित आदि आठ अंगोसे पुष्ट और संवेग आदि आठ गुणोंसे प्रभावशाली सम्यग्दर्शन राज्यकी तरह मनोरथोंको पूर्ण करता है ॥११२॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शन निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितीकरण, वात्सल्य, प्रभावना इन आठ गुणोंसे पुष्ट होता है और संवेग, निर्वेद, गर्हा, निन्दा, उपशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा नामक आठ गुणोंसे अत्यन्त प्रभावशाली होता है। किन्तु राज्य, स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना इन सात ही अंगोंसे पुष्ट होता है तथा सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और आश्रय इन छह गुणोंसे प्रभावशाली होता है। इससे स्पष्ट है कि राज्यसे सम्यक्त्व बलशाली है। अतः अर्थ करना चाहिए—क्या राज्यकी तरह सम्यक्त्व मनोरथोंको पूरा करता है? अर्थात् पूरा नहीं करता।

अथैवमुद्योतनपूर्वकस्य सम्यग्दर्शनोद्यवनाद्याराधनोपायचतुष्टयस्य प्रयोक्तु फलमाचष्टे—

इत्युद्द्योत्य स्वेन सुष्ट्वेकलोलीकृत्याक्षोभं विभ्रता पूर्यते दृक् ।
३ येनाभीक्ष्णं संस्क्रियोद्येव बीजं तं जीवं सान्वेति जन्मान्तरेऽपि ॥११३॥

स्वेन—आत्मना सह । एकलोलीकृत्य—मिश्रयित्वा । उद्यवनार्थमिदम् । अक्षोभं विभ्रता—निराकुल वहता । निर्वहणार्थमिदम् । पूर्यते—साध्यते । साधनाराधनैपा । अभीक्ष्ण—पुन पुन । सस्क्रिया—६ मजिष्ठादिरागानुवेध. । वीज—कार्पासादिप्ररोहणम् । जन्मान्तरेऽपि—तद्भवे मोक्षेऽपि च इत्यपि शब्दार्थ. । पक्षे तु पुन प्रादुर्भावेऽपि ॥११३॥

अथ क्षायिकेतरसम्यक्त्वयो साध्यसाधनभाव ज्ञापयति—

९ सिद्धयौपशमिक्येति दृष्टचा वैदिकयापि च ।
क्षायिकीं साधयेद् दृष्टिमिष्टदूती शिवश्रिय ॥११४॥

किन्तु सम्यक्त्व सम्यक्त्वकी तरह ही मनोरथोंको पूरा करता है उसे राज्यकी उपमा नहीं देना चाहिए। उसका माहात्म्य तो लोकोत्तर है ॥११२॥

इस प्रकार उद्योतनपूर्वक सम्यग्दर्शनकी आराधनाके उद्यवन आदि चार उपायोंके कर्ताको जो फल प्राप्त होता है उसे कहते हैं—

जैसे कपास आदिके बीजमें मंजीठके रंगका अन्तरंग-बहिरंगव्यापी योग कर देनेपर वह योग बीजके उगनेपर भी उसमे रहता है, वैसे ही उक्त प्रकारसे सम्यग्दर्शनको निर्मल करके आत्माके साथ दृढतापूर्वक एकमेक करके निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए जो प्रतिक्षण सम्यग्दर्शनको सम्पूर्ण करता है, उस जीवका वह सम्यग्दर्शन न केवल उसी पर्यायमे किन्तु जन्मान्तरमे भी अनुसरण करता है ॥११३॥

विशेपार्थ—सिद्धान्तमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तप प्रत्येककी पॉच-पॉच आराधनाएँ प्रसिद्ध हैं । उक्त श्लोकमे उन्हीका कथन है, यथा—'उद्योत्य'—निर्मल करके, पदके द्वारा सम्यग्दर्शनकी उद्योतन नामक आराधना जानना । 'आत्माके साथ एकमेक करके' इस पदके द्वारा उद्यवन आराधना कही है । 'निराकुलतापूर्वक धारण करते हुए' इन शब्दोंके द्वारा निर्वहण आराधना कही है । 'प्रतिक्षण पूर्ण करता है' इस पदके द्वारा साधन और 'उस जीवको' इत्यादि पदके द्वारा नि.सरण आराधना कही है ॥११३॥

आगे क्षायिक सम्यक्त्व तथा शेष दो सम्यक्त्वोंमे साध्य-साधन भाव बतलाते हैं—

अनन्तर कहे गये उद्योतन आदि पॉच उपायोंके प्रयोगके द्वारा निष्पन्न औपशमिकरूप सम्यग्दर्शनके और वेदक सम्यक्त्वके द्वारा अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप जीवन्मुक्ति और परममुक्तिकी प्रियदूती क्षायिक दृष्टिको साधना चाहिए ॥११४॥

विशेपार्थ—विपरीत अभिनिवेशसे रहित आत्मरूप तत्त्वार्थश्रद्धानको दृष्टि या सम्यग्दर्शन या सम्यक्त्व कहते हैं । उसके तीन भेद हैं—औपशमिक, वेदक या क्षायोपशमिक और क्षायिक। मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व नामक दर्शनमोहकी तीन प्रकृतियोंके और अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभ इन चार चारित्रमोहनीयकी प्रकृतियोके उपशमसे होनेवाले सम्यक्त्वको औपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं । इन्हीं सात प्रकृतियोके क्षयसे

इति—अनेनानन्तरोक्तेनोद्योतनाद्युपायपञ्चकप्रयोगलक्षणेन प्रकारेण इति भद्रम् ।

होनेवाले सम्यक्त्वको क्षायिक सम्यक्त्व कहते है । मिथ्यात्व आदि छह प्रकृतियोंका उपशम होने पर और शुभ परिणामोंके द्वारा सम्यक्त्व प्रकृतिके स्वरसका निरोध होनेपर वेदक सम्यक्त्व होता है। सम्यक्त्व प्रकृतिके उदयके साथ होनेसे इसका नाम वेदक है क्योंकि इसमे उसका वेदन—अनुभवन होता है। यह सम्यक्त्व ही व्यवहारमार्गी है क्योंकि इसमें उद्योतन आदि आराधनाओका स्पष्ट रूपसे अनुभव होता है। क्षायिक सम्यग्दर्शन या तो औपशमिक सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है या वेदक सम्यक्त्वपूर्वक होता है। इसीसे इनमे और क्षायिक सम्यग्दर्शनमे साध्य-साधन भाव है। पहले दो सम्यक्त्व साधन हैं और क्षायिक सम्यक्त्व साध्य है। यह क्षायिक सम्यक्त्व मुक्ति की प्रियदूती है। अत्यन्त मान्य होनेसे जिसके वचन अनुल्लंघ्य होते हैं वह इष्टदूती होती है। क्षायिक सम्यक्त्व होनेपर कभी छूटता नहीं है उसी भवमे या तीसरे भवमे नियमसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

अकलंक देवने कहा है[1] कि श्रुतसे अनेकान्तरूप जीवादि पदार्थोंको जानकर, नयोंके द्वारा व्यावहारिक प्रयोजनके साधक उन-उन अनेक धर्मोंकी परीक्षा करे। फिर नाम, स्थापना आदि स्वभावसे भिन्न जीवादि द्रव्योंके जाननेमे कारणभूत नय निक्षेपोके द्वारा श्रुतके द्वारा विवक्षित द्रव्य-भावरूप अर्थात्मक, नामरूप वचनात्मक और स्थापनारूप प्रत्ययात्मक भेदोंकी रचना करके निर्देश स्वामित्व आदि भेदवाले अनुयोगोंके द्वारा जीवादि रूप तत्त्वोको जानकर अपने सम्यग्दर्शनको पुष्ट करे। इस तरह जीवसमास, गुणस्थान और मार्गणास्थानोंके रहस्यको जानकर तपके द्वारा कर्मोंकी निर्जरा करके मुक्त होकर सुखको प्राप्त करता है। अर्थात् तत्त्वको जाननेके जो उपाय प्रमाण, नय, निक्षेप, सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि बतलाये हैं उन सबको जानकर उनके द्वारा गुणस्थान और मार्गणास्थानको जानकर जीवकी विविध दशाओंको हृदयंगम करनेसे सम्यक्त्वका पोषण होता है। इसीसे परमागममे गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस प्ररूपणाओके द्वारा जीव तत्त्वका विवेचन करके ससारी जीवके स्वरूपका चित्रण किया है। उपादेयकी तरह हेयको भी जानना आवश्यक है। हेयको जाननेसे उपादेयमे आस्था दृढ होती है। इसीसे आचार्य कुन्दकुन्दने जहाँ समयसार-जैसे अध्यात्म प्रधान ग्रन्थको रचा वहाँ षट्खण्डागम-जैसे सिद्धान्त ग्रन्थपर भी परिकर्म नामक व्याख्या ग्रन्थ रचा। अत. मुमुक्षुके लिए एकमात्र समयसार ही पठनीय नहीं है, किन्तु चारो अनुयोग

---

१. 'श्रुतादर्थमनेकान्तमधिगम्याभिसन्धिभि ।
परीक्ष्य तास्तास्तद्धर्माननेकान् व्यावहारिकान् ॥
नयानुगतनिक्षेपैरुपायैर्भेदवेदने ।
विरचय्यार्थवाक्प्रत्ययात्मभेदान् श्रुतार्पितान् ॥
अनुयोज्यानुयोगैश्च निर्देशादिभिदा गतै ।
द्रव्याणि जीवादीन्यात्मा विवृद्धाभिनिवेशत. ॥
जीवस्थानगुणस्थानमार्गणास्थानतत्त्ववित् ।
तपोनिर्जीर्णकर्माऽयं विमुक्त सुखमृच्छति ॥'
—लघीयस्त्रय ७३-७६ ।

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरमज्ञाया द्वितीयोऽध्याय. ।।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाण पञ्चविंशति अष्टौ शतानि । अकत श्लोका ८२५।।

पठनीय है। तभी तो तपके द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जाता है। विना तपके तीन कालमे मोक्ष नहीं हो सकता। किन्तु कोरे तपसे भी मोक्ष प्राप्त नहीं है। आत्मश्रद्धान ज्ञानमूलक तप ही यथार्थ तप है ।।११४।।

इस प्रकार पं आशाधररचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिका नामक टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पञ्जिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें सम्यक्त्वका उत्पादनादिक्रम नामक द्वितीय अध्याय समाप्त हुआ ।।२।।

तृतीय अध्याय

'विद्यावृत्तस्य सभूतिस्थितिवृद्धिफलोदया ।
न सन्त्यसति सम्यक्त्वे वीजाभावे तरोरिव ॥' [रत्न. श्रा. ३२]

इति प्रथम सम्यक्त्वमाराध्येदानी सम्यग्ज्ञानाराधना प्राप्नोति। तत्र तावत् परमज्ञानप्राप्त्युपाय- ३
भूतत्वाच्छ्रुतस्य तदाराधनाया मुमुक्षून्नियुङ्क्ते—

सद्दर्शनब्राह्ममुहूर्तदृप्यन्मन.प्रसादास्तमसां लवित्रम् ।
भक्तुं परं ब्रह्म भजन्तु शब्दब्रह्माञ्जस नित्यमथात्मनीनाः ॥१॥ ६

ब्राह्ममुहूर्त —पञ्चदशमुहूर्ताया रात्रेश्चतुर्दशो मुहूर्त । स च चित्तकालुष्यापसारणद्वारेण सदेहादि-
च्छेदाद्यथार्थां (बुद्धिमुद्बोधयन् प्रसिद्ध । यन्नीति[2] —ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थायेतिकर्तव्यताया समाधिमुपेयात् ।
सुखनिद्राप्रसन्ने हि मनसि प्रतिफलन्ति यथार्था) बुद्धय इति । दृप्यन्—उत्कटीभवन् । पर ब्रह्म—शुद्धचिद्रूप ९
स्वात्मस्वरूपम् । तद्धि शब्दब्रह्मभावनावष्टम्भादेव सम्यग्द्रष्टुं शक्यते । तथा चोक्तम्—

रत्नकरण्डश्रावकाचार (श्लो ३२ मे) कहा है—'वीजके अभावमे वृक्षकी तरह सम्यक्त्वके अभावमें ज्ञान और चारित्रकी उत्पत्ति, स्थिति, वृद्धि और फलकी उत्पत्ति नहीं होती।'

इस आचार्यवचनके अनुसार सर्वप्रथम सम्यक्त्वकी आराधना करके अब सम्यग्ज्ञानकी आराधना प्रस्तुत करते हैं। उनमे श्रुतज्ञान उत्कृष्ट केवलज्ञानकी प्राप्तिके लिए उपायभूत है इसलिए मुमुक्षुओंको श्रुतज्ञानकी आराधनामें लगाते हैं—

सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् जिनके मनकी निर्मलता सम्यग्दर्शनरूपी ब्राह्म मुहूर्तसे उद्बुद्ध हो गयी है, उन आत्माका हित चाहनेवाले मुमुक्षुओंको, मोहनीय और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय कर्मका नाश करनेवाले परब्रह्म—शुद्ध चित्स्वरूप की आराधना करनेके लिए नित्य पारमार्थिक शब्द ब्रह्म—श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनको ब्राह्म मुहूर्तकी उपमा दी है। पन्द्रह मुहूर्तकी रात्रिके चौदहवें मुहूर्तको ब्राह्म मुहूर्त कहते हैं। मुहूर्त अर्थात् दो घटिका। वह समय चित्तकी कलुषताको दूर करके सन्देह आदिको हटाते हुए यथार्थ वुद्धिको जाग्रत् करता है यह बात प्रसिद्ध है। कहा भी है—

'ब्राह्म मुहूर्तमें उठकर नित्यकृत्य करके ध्यान लगावे। सुखपूर्वक निद्रासे मनके प्रसन्न होनेपर यथार्थवुद्धि प्रस्फुटित होती है।' यतः ब्राह्म मुहूर्तकी तरह सम्यग्दर्शन भी चित्तकी प्रसन्नताका—निर्मलताका हेतु है। अत सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए। क्योंकि श्रुतज्ञानकी आराधना ही समस्त पुरुषार्थकी सिद्धिका सबसे प्रधान उपाय है। श्रुतज्ञान ही स्वात्म्यके अभिमुख संवित्तिरूप है। कहा भी है—'पहले

---

१. भ कु च. टी.। २ नीतिवाक्यामृत।

'स्याकारश्रीवासवश्यैर्नयौघैः पश्यन्तीत्थं चेत्प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मं स्वात्मद्रव्य शुद्धचिन्मात्रमन्त ॥' [ ]

३ शब्दब्रह्म—श्रुतज्ञानम् । आञ्जस—पारमार्थिक स्वात्माभिमुखसंवित्तिरूपमित्यर्थः । उक्तं च—

गहियं तं सुअणाणा पच्छा सवेयणेण भावेज्जो ।
जो ण हु सुअमवलंबइ सो मुज्झइ अप्पसब्भावे ॥
६ लक्खणदो णियलक्खं अणुहवमाणस्स ज हवे सोक्ख ।
सा सवित्ती भणिया सयलवियप्पाण णिडहणी ॥' [द्र. स्व प्र. नय. ३४९, ३५१]॥१॥

आत्मनीना —आत्माभिहिता. ॥१॥

९ अथ श्रुताराधनाया परम्परया केवलज्ञानहेतुत्वमुपदर्शयन् भूयस्तत्रैव प्रोत्साहयति—

कैवल्यमेव मुक्त्यङ्गं स्वानुभूत्यैव तद्भवेत् ।
सा च श्रुतैकसंस्कारमनसाऽतः श्रुतं भजेत् ॥२॥

१२ स्पष्टम् ॥२॥

श्रुतज्ञानके द्वारा आत्माको ग्रहण करके पीछे संवेदनके द्वारा उसका ध्यान करना चाहिए । जो श्रुतका अवलम्बन नहीं लेता वह आत्माके सद्भावमें मूढ रहता है । लक्षणके द्वारा अपने लक्ष्यका अनुभव करते हुए जो सुख होता है उसे संवित्ति कहते हैं । वह समस्त विकल्पोको नष्ट करनेवाली है । यहाँ लक्ष्य आत्मा है, वह आत्मा अपने ज्ञानदर्शन आदि गुणोंके साथ ध्यान करने योग्य है । उस आत्माका लक्षण चेतना या उपलब्धि है । वह चेतना दर्शन और ज्ञान रूप है ।'

श्रुतज्ञानकी भावनाके अवलम्बनसे ही आत्माके शुद्ध स्वरूपको देखा जा सकता है । कहा भी है—

'जो इस प्रकार स्याद्वादरूपी रालसे सम्बद्ध नयोंके द्वारा तथा प्रमाणसे भी वस्तु-स्वरूपको देखते हैं वे अनन्तधर्मोंसे समन्वित शुद्ध चिन्मात्र स्वात्मद्रव्यको अन्तस्तलमे अवश्य देखते है' । अतः स्वात्मसवेदनरूप श्रुतज्ञान पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए अत्यन्त आवश्यक है । उसके विना आत्मदर्शन नहीं हो सकता और आत्मदर्शनके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अत सम्यग्दर्शनकी आराधनाके पश्चात् सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनी ही चाहिए ।' ॥१॥

श्रुतकी आराधना परम्परासे केवलज्ञानमे हेतु है यह बतलाते हुए पुनः श्रुतकी आराधनामें उत्साहित करते हैं—

केवलज्ञान ही मोक्षका साक्षात् कारण है । और वह केवलज्ञान स्वानुभूतिसे ही होता है । तथा वह स्वानुभूति श्रुतज्ञानकी उत्कृष्ट भावनामें लीन मनसे होती है इसलिए श्रुतकी आराधना करनी चाहिए ॥२॥

विशेषार्थ—मोक्षमार्गमे केवलज्ञानका जितना महत्त्व है उससे कम महत्त्व श्रुतज्ञानका नहीं है । आगमसे कहा है कि 'द्रव्यश्रुतसे भावश्रुत होता है और भावश्रुतसे भेदज्ञान होता है । भेदज्ञानसे स्वानुभूति होती है और स्वानुभूतिसे केवलज्ञान होता है' । आशय यह है कि वस्तुके स्वरूपका निश्चय जीव और कर्मका स्वरूप बतलानेवाले शास्त्रोके अभ्याससे होता है । जो पुरुष आगममे प्रतिपादित गुणस्थान, जीवसमास आदि बीस प्ररूपणाओंको नहीं जानता और न अध्यात्ममे प्रतिपादित आत्मा और शरीरादिके भेदको जानता है वह पुरुष

अथ मनसः श्रुतसंस्कारपुर सरस्वसंवेदनोपयोगेन शुद्धचिद्रूपतापरिणतिं दृष्टान्तेन स्पष्टयति—

श्रुतसंस्कृतं स्वमहसा स्वतत्त्वमाप्नोति मानसं क्रमशः ।
विहितोषपरिष्वङ्गं शुद्धचति पयसा न किं वसनम् ॥३॥ ३

स्वमहसा—स्वसंवेदनेन । उक्त च—

'अविद्याभ्याससस्कारैरवश्य क्षिप्यते मन ।
तदेव ज्ञानसस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥' [समा त ३७ श्लो] ६

स्वतत्त्वं—शुद्धचिन्मात्र तस्यैव मुमुक्षुभिरपेक्षणीयत्वात् । तदुक्तम्—

'अविद्यासस्कारव्यतिकरविवेकादकलिलं
प्रवृत्ति-व्यावृत्ति-प्रतिविहतनैष्कर्म्यमचलम् । ९
लयात्पर्यायाणा क्रमसहभुवामेकमगुणं
स्वतत्त्वं चिन्मात्र निरुपधि विशुद्ध स्फुरतु वः ॥' [ ] ॥३॥

रागादि दोषोंसे रहित और अव्याबाध सुख आदि गुणोसे सहित आत्माका भावकर्म शब्दसे कहे जानेवाले रागादिरूप विकल्प जालसे भेद नहीं जानता । इसी तरह कर्मरूपी शत्रुओंका नाश करनेमे समर्थ अपने परमात्मतत्त्वका ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्मोंके साथ भी भेद नही जानता । तथा शरीरसे रहित शुद्ध आत्मपदार्थका शरीर आदि नोकर्मसे भी भेद नहीं जानता । इस प्रकारका भेदज्ञान न होनेसे उसे अपने शुद्ध आत्माकी ओर रुचि नहीं होती और रुचि न होनेसे वह समस्त रागादिसे रहित आत्माका अनुभवन नहीं करता । तब वह कैसे कर्मक्षय कर सकता है । अत. मुमुक्षुओंको परमागमके उपदेशसे उत्पन्न निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञानकी ही भावना करनी चाहिए । साराश यह है कि परमागमसे सभी द्रव्यगुण पर्याय ज्ञात होते है क्योंकि आगम परोक्ष होते हुए भी केवलज्ञानके समान है । पीछे आगमके आधारसे स्वसंवेदन ज्ञान होनेपर स्वसवेदन ज्ञानके बलसे केवलज्ञान होनेपर सभी पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं । इसलिए श्रुतज्ञानरूपी चक्षु परम्परासे सबको देखती है इसलिए श्रुतकी आराधना करनी चाहिए ॥२॥

मनके श्रुतसंस्कारपूर्वक स्वसंवेदनरूप उपयोगके द्वारा शुद्ध चिद्रूप परिणतिको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

कालक्रमसे श्रुतज्ञानसे भावित मन स्वसंवेदनसे शुद्ध चिन्मात्र स्वतत्त्वको प्राप्त कर लेता है । क्या खारी मिट्टीसे रगड़ा गया वस्त्र जलसे शुद्ध नहीं होता ॥३॥

विशेषार्थ—यहाँ मन वस्त्रके समान है । श्रुतज्ञान खारी मिट्टी या क्षारके समान है । स्वसवेदन जलके समान है । जैसे वस्त्रकी शुद्धि कालक्रमसे होती है । उसी तरह मनकी शुद्धि भी धीरे-धीरे कालक्रमसे होती है । कहा है—

'अविद्या अर्थात् अज्ञानके अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारो द्वारा मन पराधीन होकर चंचल हो जाता है—रागी-द्वेषी बन जाता है । वही मन श्रुतज्ञानके सस्कारोके द्वारा स्वय ही आत्मस्वरूप स्वतत्त्वमें स्थिर हो जाता है' । यहाँ स्वतत्त्वसे शुद्ध चिन्मात्र लेना चाहिए क्योंकि मुमुक्षुओंको उसीकी अपेक्षा होती है ॥३॥

अथ मत्यादिज्ञानानामप्युपयोगो मुमुक्षुणा स्वार्थसिद्ध्यै विधेय इत्युपदेशार्थमाह—

मत्यवधिमनःपर्ययबोधानपि वस्तुतत्त्वनियतत्वात् ।
उपयुञ्जते यथास्वं मुमुक्षवः स्वार्थसंसिद्ध्यै ॥४॥

अवधिः—अधोगत बहुतर द्रव्यमवच्छिन्न वा रूपि द्रव्यं गोचरोऽस्यासावधिः अतीन्द्रियप्रत्यक्ष-ज्ञानविशेषः । स त्रेधा देशावध्यादिभेदात् । तत्र देशावधिरवस्थितोऽनवस्थितोऽनुगाम्यननुगामी वर्धमानो हीयमानश्चेति षोढा स्यात् । परमावधिरनवस्थितहीयमानवर्जनाच्चतुर्धा । सर्वावधिरवस्थितोऽनुगाम्यननुगामी चेति त्रेधा । भवति चात्र श्लोकः—

'देशावधिः सानवस्थाहानिः स परमावधिः ।
वर्धिष्णुः सर्वावधिस्तु सावस्थानुगमेतरः ॥' [　　　]

आगे उपदेश देते हैं कि मुमुक्षुओंको स्वार्थकी सिद्धिके लिए मति आदि ज्ञानोंका भी उपयोग करना चाहिए—

मुमुक्षुगण स्वार्थकी सम्प्राप्तिके लिए मतिज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञानका भी यथायोग्य उपयोग करते हैं। क्योंकि ये ज्ञान भी वस्तुतत्त्वके नियामक हैं, वस्तुका यथार्थ स्वरूप बतलाते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—मतिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर इन्द्रिय और मनकी सहायतासे जो अर्थको जानता है वह मतिज्ञान है। उसके मति, स्मृति, संज्ञा, चिन्ता, अभिनिबोध आदि अनेक भेद हैं। बाह्य और अन्तरंगमें स्पष्ट अवग्रहादि रूप जो इन्द्रियजन्य ज्ञान और स्वसंवेदन होता है उसे मति और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। स्वयं अनुभूत अतीत अर्थको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको स्मृति कहते हैं जैसे वह देवदत्त। यह वही है, यह उसके समान है, यह उससे विलक्षण है इस प्रकारके स्मृति और प्रत्यक्षके जोड़रूप ज्ञानको प्रत्यभि-ज्ञान या संज्ञा कहते हैं। आगके बिना कभी भी कहींपर धुआँ नहीं होता, या आत्माके बिना शरीरमें हलन-चलन आदि नहीं होता यह देखकर जहाँ-जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है या जिस शरीरमें हलन-चलन है उसमें आत्मा है इस प्रकारकी व्याप्तिके ज्ञानको तर्क या ऊह या चिन्ता कहते हैं। उक्त व्याप्तिज्ञानके बलसे धूमको देखकर अग्निका ज्ञान करना अनुमान या अभिनिबोध है। रात या दिनमें अकस्मात् बाह्य कारणके बिना 'कल मेरा भाई आवेगा' इस प्रकारका जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह प्रतिभा है। अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको बुद्धि कहते हैं। पठितको ग्रहण करनेकी शक्तिको मेधा कहते हैं। ऊहापोह करनेकी शक्तिको प्रज्ञा कहते हैं। ये सब इन्द्रिय और मनके निमित्तसे होनेवाले मतिज्ञानके ही भेद हैं।

अवधिज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर अधिकतर अधोगत द्रव्यको अथवा मर्यादित नियतरूपी द्रव्यको जाननेवाले ज्ञानको अवधि कहते हैं। यह देशप्रत्यक्षज्ञानका भेद है। उसके तीन भेद हैं—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि। देशावधिके छह भेद हैं—अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान और हीयमान। परमावधिके अनवस्थित और हीयमानको छोड़कर शेष चार भेद हैं। सर्वावधिके तीन ही भेद हैं—अवस्थित, अनुगामी और अननुगामी। कहा भी है—

'देशावधि अनवस्था और हानि सहित है। परमावधि बढ़ता है और सर्वावधि अवस्थित अनुगामी और अननुगामी होता है।'

तल्लक्षणविकल्पस्वामिशास्त्रं त्विदम्—

'अवधीयत इत्युक्तोऽवधिः सीमा सजन्मभूः ।
पर्याप्तश्वभ्रदेवेषु सर्वाङ्गो (-त्थो जिनेषु च ॥ ३
गुणकारणको मर्त्यतिर्यक्ष्वब्जादिचिह्नज ।
सोऽवस्थितोनु-) गामी स्याद् वर्धमानश्च सेतर ॥' [ ]

इत्यादि । किं चावधिज्ञानिना नाभेरुपरि शङ्खपद्मादिलाञ्छनं स्यात्, विभङ्गज्ञानिना तु नाभेरध ६
सरटमर्कटादि. । मन पर्यय । तल्लक्षणाया (?) यथा—

'स्वमन परीत्य यत्परमनोऽनुसधाय वा परमनोऽर्थम् ।
विशदमनोवृत्तिरात्मा वेत्ति मनःपर्यय स मत ॥' [ ] ९

अवधिज्ञानका लक्षण, भेद और स्वामीका कथन करते हुए कहा है—

'अवधि' का अर्थ है मर्यादा या सीमा। मर्यादा सहित ज्ञानको अवधिज्ञान कहते हैं। उसके दो भेद हैं—भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। भवप्रत्यय—जन्मसे ही होनेवाला अवधिज्ञान देवा और नारकियो तथा तीर्थंकरोंके होता है। यह समस्त अगोंसे उत्पन्न होता है। गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान तिर्यञ्च और मनुष्योंमे होता है। अवधिज्ञानियोंके नाभिके ऊपर शंख, पद्म आदि चिह्न प्रकट होते है और कुअवधिज्ञानियोके नाभिसे नीचे सरट, मर्कट आदि चिह्न होते हैं। उन्हींसे अवधिज्ञान होता है। षट्खण्डागमके वर्गणा खण्ड (पु. १३, पृ. २९२, सूत्र ५६) मे अवधिज्ञानके अनेक भेद कहे हैं। उनका कथन श्रीधवलाटीकाके अनुसार किया जाता है—

अवधिज्ञान अनेक प्रकारका है—देशावधि, परमावधि, सर्वावधि, हीयमान, वर्धमान, अवस्थित, अनवस्थित, अनुगामी, अननुगामी, सप्रतिपाती, अप्रतिपाती, एकक्षेत्र, अनेकक्षेत्र। जो अवधिज्ञान कृष्णपक्षके चन्द्रमाके समान घटता ही जाये वह हीयमान है। इसका अन्तर्भाव देशावधिमे होता है, परमावधि, सर्वावधिमे नहीं, क्योकि ये दोनो घटते नहीं है। जो अवधिज्ञान शुक्लपक्षके चन्द्रमाके समान बढता ही रहता है वह वर्धमान है। इसका अन्तर्भाव देशावधि, परमावधि, सर्वावधिमे होता है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर हानि वृद्धिके बिना केवलज्ञान होनेतक अवस्थित रहता है वह अवस्थित है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर कभी बढता है, कभी घटता है और कभी अवस्थित रहता है वह अनवस्थित अवधि-ज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर जीवके साथ जाता है वह अनुगामी है। वह तीन प्रकारका है—क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और क्षेत्रभवानुगामी। जो अवधिज्ञान एक क्षेत्रमे उत्पन्न होकर जीवके स्वयं या परप्रयोगसे स्वक्षेत्र या परक्षेत्रमे जानेपर नष्ट नहीं होता वह क्षेत्रानुगामी है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर उस जीवके साथ अन्य भवमे जाता है वह भवानुगामी है। जो अवधिज्ञान भरत, ऐरावत, विदेह आदि क्षेत्रोमे तथा देव, नारक, तिर्यञ्च और मनुष्य भवमे भी साथ जाता है वह क्षेत्रभवानुगामी है। अननुगामी अवधिज्ञान

१. तत्त्वार्थ राजवार्तिक आदि में सर्वावधिको वर्धमान नही कहा है क्योकि पूरे अवधिका नाम सर्वावधि है। उसमें आगे बढनेका स्थान नही है।

२. सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ राजवार्तिकमें केवलज्ञानकी उत्पत्ति तक या वह जीवन समाप्त होने तक तदवस्थ रहनेवाले अवधिज्ञानको अवस्थित कहा है।

तत्स्वरूपविशेपशास्त्र त्विदम्—

'चिन्ति-(चिन्ति-)ताचिन्तितार्द्धादिचिन्तिताद्यर्थवेदकम् ।
३ स्यान्मन पर्ययज्ञान चिन्तकश्च नृलोकगः ॥'
'द्विधा हृत्पर्ययज्ञानमृज्व्या विपुलया धिया ।
अवक्रवाङ्मनःकायवर्त्यर्थजनितस्त्रिधा ॥'
६ 'स्यान्मतिर्विपुला षोढा वक्रावक्राङ्गवाग्घृदि ।
तिष्ठता व्यञ्जनार्थाना षड्भिदा ग्रहणं यत ॥'
'पूर्वास्त्रिकालरूप्यर्थान् वर्तमाने विचिन्तके ।
९ वेत्त्यस्मिन् विपुला धीस्तु भूते भाविनि सत्यपि ॥'
'विनिद्राष्टदलाम्भोजसन्निभं हृदये स्थितम् ।
प्रोक्तं द्रव्यमन (तज्ज्ञैर्मन)पर्ययकारणम् ॥' [ ]

१२ इत्यादि। वस्तुतत्त्वनियतत्वात्—वस्तुनो द्रव्यपर्यायात्मनोऽर्थस्य तत्त्वं याथात्म्य तत्र नियता प्रतिनियतवृत्त्या निवद्धास्तेपा भावस्तत्त्वं तस्मात्। तथाहि—इन्द्रियजा मति कतिपयपर्यायविशिष्टं मूर्तमेव वस्तु

भी तीन प्रकार का है—क्षेत्राननुगामी, भवाननुगामी और क्षेत्रभवाननुगामी। जो क्षेत्रान्तरमें साथ नहीं जाता, भवान्तरमे ही साथ जाता है वह क्षेत्राननुगामी अवधिज्ञान है। जो भवान्तरमे साथ नहीं जाता, क्षेत्रान्तरमें ही साथ जाता है वह भवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो क्षेत्रान्तर और भवान्तर दोनोंमे साथ नहीं जाता किन्तु एक ही क्षेत्र और भवके साथ सम्बन्ध रखता है वह क्षेत्रभवाननुगामी अवधिज्ञान है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर निर्मूल विनाशको प्राप्त होता है वह सप्रतिपाती है। जो अवधिज्ञान उत्पन्न होकर केवलज्ञानके उत्पन्न होनेपर ही नष्ट होता है वह अप्रतिपाती है। जिस अवधिज्ञानका करण जीवके शरीरका एकदेश होता है वह एक क्षेत्र है। जो अवधिज्ञान शरीरके सब अवयवोंसे होता है वह अनेकक्षेत्र है। तीर्थंकर, देवो और नारकियोके अनेकक्षेत्र अवधिज्ञान होता है।

तत्त्वार्थ वार्तिकमे (१।२२।५) मे प्रथम आठ भेदोमे-से देशावधिके आठों भेद बतलाये हैं। परमावधिके हीयमान और प्रतिपाती भेदोके सिवाय शेप छह भेद बतलाये है और सर्वावधिके अवस्थित, अनुगामी, अननुगामी और अप्रतिपाती ये चार भेद बतलाये है।

दूसरेके मनमे स्थित अर्थको मन कहते है उसका स्पष्ट जानना मन.पर्यय है। उसका लक्षण है—

विशदमनोवृत्ति अर्थात् मन.पर्यय ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न विशुद्धिवाला जीव अपने या परके मनको लेकर दूसरेके मनोगत अर्थको जानता है उस ज्ञानको मन पर्यय कहते हैं। उसका विशेप स्वरूप शास्त्रमे इस प्रकार कहा है—

'मनुष्य लोकमे स्थित जीवके द्वारा चिन्तित, अचिन्तित, अर्द्धचिन्तित अर्थको जाननेवाला मन पर्यय ज्ञान है। उसके दो भेद हैं—ऋजुमति मन पर्यय और विपुलमति मन पर्यय। ऋजुमतिके तीन भेद हैं—ऋजुमनस्कृतार्थज्ञ, ऋजुवाक्कृतार्थज्ञ, ऋजुकायकृतार्थज्ञ। अर्थात् मनके द्वारा पदार्थका स्पष्ट चिन्तन करके, वचनके द्वारा स्पष्ट कहकर, शरीरकी चेष्टा स्पष्ट रूपसे करके भूल जाता है कि मैंने अमुक पदार्थका चिन्तन किया था या अमुक बात कही थी या शरीरके द्वारा अमुक क्रिया की थी। इस प्रकारके अर्थको ऋजुमतिज्ञानी पूछनेपर या विना पूछे भी जान लेता है कि अमुक पदार्थका तुमने इस रीतिसे विचार किया था

वेत्ति । मनोमतिस्तु तथाविध मूर्तममूर्तं च । अवधिस्तु तथाविधान् पुद्गलान् पुद्गलसम्बद्धाश्च जीवान् । मन-पर्ययस्तु सर्वावधिज्ञानविषयानन्तिमभागमिति । उपयुञ्जते—स्वार्थग्रहणे व्यापारयन्ति । यथास्व—आत्मीयप्रयोजनानतिक्रमेण । तथाहि—श्रोत्र शास्त्रग्रहणादौ, चक्षुर्जिनप्रतिमाभक्तपानमार्गादिनिरीक्षणे, मनश्च गुणदोषविचारस्मरणादौ, तथाऽवधि संदिग्धश्रुतार्थनिर्णये स्वपरायु परिमाणादिनिश्चये च व्यापारयन्ति, एव मन.पर्ययमपि ॥४॥ ३

अथ श्रुतसामग्रीस्वरूपनिर्णयार्थमाह— ६

स्वावृत्यपायेऽविस्पष्टं यन्नानार्थनिरूपणम् ।
ज्ञानं साक्षादसाक्षाच्च मतेर्जायेत तच्छ्रुतम् ॥५॥

स्वावृत्यपाये—श्रुतज्ञानावरणक्षयोपशमे सति । नानार्थं—उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक वस्तु, तस्य प्ररूपणं—सम्यक्स्वरूपनिश्चायनम् । 'श्रुतमविस्पष्टतर्कणम्' इत्यभिधानात् । शाक्षादित्यादि—घट इत्यादिशब्दश्रवणलक्षणाया धूमोऽयमित्यादि चक्षुरादिज्ञानलक्षणायाश्च मतेर्जात क्रमेण घटादिज्ञान वह्न्यादिज्ञान च शब्दज लिङ्गज च श्रुत स्यात् । ततश्च जात जलधारणादिज्ञान च श्रुतम् । श्रुतपूर्वमप्युपचारेण मतिपूर्वमित्युच्यते । ९ १२

या कहा था। विपुलमतिके छह भेद हैं—तीन ऋजुरूप और तीन वक्ररूप। ऋजुमति मन-पर्यय वर्तमान जीवके द्वारा चिन्तित त्रिकालवर्ती रूपी पदार्थोंको जानता है किन्तु विपुलमति चिन्तन करनेवाला यदि भूत हो—पहले हो चुका हो या आगे होनेवाला हो तब भी उसके द्वारा चिन्तित या आगामी कालमे विचारे जानेवाले रूपी पदार्थोंको भी जानता है। हृदयमे खिले हुए आठ पाँखुड़ीके कमलके आकार द्रव्यमन स्थित है वही मनःपर्ययज्ञानका कारण है।

ये सभी ज्ञान सामान्य विशेषात्मक वस्तुके स्वरूपको जानते हैं। उनमे-से इन्द्रियजन्य मतिज्ञान केवल मूर्त द्रव्यकी कुछ ही पर्यायोको जानता है। मनोजन्य मतिज्ञान मूर्त और अमूर्त द्रव्योकी कुछ पर्यायोंको जानता है। अवधिज्ञान पुद्गल और पुद्गलसे सम्बद्ध जीवोकी कुछ पर्यायोंको जानता है। मनःपर्ययज्ञान सर्वावधिज्ञानके विषयभूत द्रव्यके भी अनन्तवें भागको जानता है। सभी ज्ञान यथायोग्य अपने प्रयोजनके अनुसार ही पदार्थोंको जानते हैं। यथा—मुमुक्षुगण श्रोत्रके द्वारा शास्त्र श्रवण करते है, चक्षुके द्वारा जिनप्रतिमाका, खान-पानका और मार्ग आदिका निरीक्षण करते हैं, मनके द्वारा गुण-दोषका विचार स्मरण आदि करते हैं। अवधिज्ञानसे शास्त्रके सन्दिग्ध अर्थका निर्णय करते हैं, अपनी और दूसरोंकी आयुके परिमाणका निश्चय करते है। इसी तरह मन पर्ययको भी जानना ॥४॥

श्रुतज्ञानकी सामग्री और स्वरूपका विचार करते हैं—

श्रुतज्ञानावरण कर्मका क्षयोपशम होनेपर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक या अनेकान्तात्मक वस्तुके स्वरूपका निश्चय करनेवाले अस्पष्ट ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। यह श्रुतज्ञान या तो साक्षात् मतिज्ञानपूर्वक होता है या परम्परा मतिज्ञानपूर्वक होता है ॥५॥

विशेषार्थ—श्रुतज्ञान दो प्रकारका है—शब्दजन्य और लिंगजन्य। 'घट' इत्यादि शब्दके सुननेरूप मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले घटादिके ज्ञानको शब्दजन्य श्रुतज्ञान कहते हैं। और 'यह धूम है' इत्यादि चक्षु आदिके द्वारा होनेवाले मतिज्ञानके अनन्तर होनेवाले आग वगैरहके ज्ञानको लिंगजन्य श्रुतज्ञान कहते हैं। घट आदिके ज्ञानके बाद जो यह ज्ञान होता है कि यह घट जल भरनेके काम आता है या अग्निके ज्ञानके बाद जो यह ज्ञान होता

उक्त च—'मतिपूर्वं श्रुत दक्षैरुपचारान्मतिर्मता ।
मतिपूर्वं तत सर्वं श्रुत ज्ञेय विचक्षणै. ॥' [अमित. पं. स. १।२१८]

३ एतच्च भावश्रुतमित्युच्यते ज्ञानात्मकत्वात् । एतन्निमित्तं तु वचनं द्रव्यश्रुतमित्याहु ॥५॥

यद्येव द्वेधा स्थित श्रुत तर्हि तद्भेदा सन्ति न सन्ति वा ? सन्ति चेत् तदुच्यतामित्याह—

तद्भावतो विंशतिधा पर्यायादिविकल्पत. ।

६ **द्रव्यतोऽङ्गप्रविष्टाङ्गबाह्यभेदाद् द्विधा स्थितम् ॥६॥**

पर्याय —अपर्याप्तसूक्ष्मनिगोतस्य प्रथमसमये जातस्य प्रवृत्त सर्वजघन्य ज्ञान तद्धि लब्ध्यक्षरापराभिधानमक्षरश्रुतानन्तभागपरिमाणत्वात् सर्वविज्ञानेभ्यो जघन्य नित्योद्घाटित निरावरण, न हि तावतस्तस्य

९ कदाचनाऽप्यभावो भवति आत्मनोऽप्यभावप्रसङ्गात् उपयोगलक्षणत्वात्तस्य । तदुक्तम्—

है कि यह पकानेके काम आती है। यह श्रुतज्ञान यद्यपि श्रुतज्ञानपूर्वक होता है फिर भी उसे उपचारसे मतिपूर्वक कहते है। कहा भी है—

'ज्ञानियोने मतिपूर्वक होनेवाले श्रुतज्ञानको उपचारसे मतिज्ञान माना है। अत साक्षात् मतिपूर्वक या परम्परासे मतिपूर्वक होनेवाले सभी श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होते है ऐसा विद्वानोको जानना चाहिए।'

तथा श्रुतके स्वरूप और भेदके विषयमे कहा[1] है—

मतिपूर्वक होनेवाले अर्थसे अर्थान्तरके ज्ञानको श्रुतज्ञान कहते है। यह शब्दजन्य और लिंगजन्य होता है। उसके अगबाह्य और अगप्रविष्ट दो भेद हैं। अंगबाह्यके अनेक भेद है और अंगप्रविष्टके बारह भेद है।

श्रुत शब्द 'श्रु' धातुसे बनता है जिसका अर्थ सुनना है। श्रुत ज्ञानरूप भी होता है और शब्दरूप भी। जिस ज्ञानके होनेपर वक्ता शब्दका उच्चारण करता है वक्ताका वह ज्ञान ओर श्रोताको शब्द सुननेके बाद होनेवाला ज्ञान भावश्रुत है अर्थात् ज्ञानरूप श्रुत है। और उसमे निमित्त वचन द्रव्यश्रुत है। भावश्रुत या ज्ञानरूप श्रुतका फल अपने विवादोको दूर करना है अर्थात् उससे ज्ञाता अपने सन्देहादि दूर करता है इसलिए वह स्वार्थ कहलाता है। और शब्द प्रयोगरूप द्रव्यश्रुतका फल दूसरे श्रोताओके सन्देहोंको दूर करना है इसलिए उसे परार्थ कहते है। इस तरह श्रुतज्ञान ही केवल एक ऐसा ज्ञान है जो स्वार्थ भी है और परार्थ भी है। शेष चारो ज्ञान स्वार्थ ही है क्योकि शब्द प्रयोगके बिना दूसरोका सन्देह दूर नहीं किया जाता। और शब्द प्रयोगका कारणभूत ज्ञान तथा शब्द प्रयोगसे होनेवाला ज्ञान दोनों श्रुतज्ञान है ॥५॥

आगे श्रुतके इन दोनो भेदोके भी भेद कहते है—

भावश्रुत पर्याय, पर्याय समास आदिके भेदसे बीस प्रकारका है। और द्रव्यश्रुत अंगप्रविष्ट और अंगबाह्यके भेदसे दो प्रकारका है ॥६॥

विशेषार्थ—आगममे भावश्रुतके बीस भेद इस प्रकार कहे है—पर्याय, पर्यायसमास,

---

१. अर्थादर्थान्तरज्ञान मतिपूर्व श्रुत भवेत् ।
शाब्द तल्लिङ्गज चात्र द्व्यनेकद्विषड्भेदगम् ॥ [ ]

२ पज्जय-अक्खर-पद-सघादय-पडिवत्ति-जोगदाराइ ।
पाहुड पाहुड वत्थू पुव्वसमासा य बोधव्वा ॥—षट् खं , पु. १२, पृ. ३६० ।

'सुहमणिगोद अपज्जत्तयस्स जातस्स पढमसमयम्हि ।
हवदि हि सव्वजहण्ण णिच्चुघाडं णिरावरण ॥' [गो जी. ३१९]

तथा— ३

'सूक्ष्मापूर्णनिगोदस्य जातस्याद्यक्षणेऽप्यद ।
श्रुत स्पर्शमतेर्जातं ज्ञानं लब्ध्यक्षराभिधम् ॥' [ ]

तदेव ज्ञानमनन्तामख्येय(-सख्येय-)भागवृद्धचा सख्येया(-सख्येया-)नन्तगुणवृद्धचा च वर्धमानसंख्येयलोक- ६

पद, पद समास, संघात, संघात समास, प्रतिपत्ति, प्रतिपत्ति समास, अनुयोगद्वार, अनुयोगद्वार-समास, प्राभृत-प्राभृत, प्राभृत-प्राभृत समास, प्राभृत, प्राभृतसमास, वस्तु, वस्तु समास, पूर्व, पूर्वसमास। ये श्रुतज्ञानके बीस भेद जानने चाहिए। इनका स्वरूप श्रीधवला टीकाके आधारपर सक्षेपमे दिया जाता है—सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके जो जघन्य ज्ञान होता है उसका नाम लब्ध्यक्षर है क्योकि यह ज्ञान नाशके विना एक रूपसे अवस्थित रहता है। अथवा केवलज्ञान अक्षर है क्योकि उसमे हानि-वृद्धि नहीं होती। द्रव्यार्थिक नयकी अपेक्षा चूँकि सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तकका ज्ञान भी वही है इसलिए भी उसे अक्षर कहते है। इसका प्रमाण केवल-ज्ञानका अनन्तवॉ भाग है। यह ज्ञान निरावरण है क्योकि आगममे कहा है कि अक्षरका अनन्तवॉ भाग नित्य उद्घाटित रहता है। यदि यह भी आवृत हो जाये तो जीवके अभावका प्रसंग आ जावे। यह लब्ध्यक्षर अक्षर सज्ञावाले केवलज्ञानका अनन्तवॉ भाग है। इसलिए इस लब्ध्यक्षर ज्ञानमे सब जीवराशिका भाग देनेपर ज्ञानके अविभागी प्रतिच्छेदोंकी अपेक्षा सब जीवराशिसे अनन्तगुणा लब्ध आता है। इस प्रक्षेपको प्रतिराशिभूत लब्ध्यक्षर ज्ञानसे मिलानेपर पर्यायज्ञानका ,प्रमाण आता है। पुनः पर्यायज्ञानमे सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसी पर्यायज्ञानमे मिला देनेपर पर्याय समास ज्ञान उत्पन्न होता है। आगे छह वृद्धियाँ होती हैं—अनन्त भाग वृद्धि, असख्यात भाग वृद्धि, सख्यात भाग वृद्धि, सख्यात गुण वृद्धि, असंख्यात गुण वृद्धि और अनन्त गुण वृद्धि। इनके क्रमसे असंख्यात लोकमात्र पर्याय समास ज्ञान स्थान प्राप्त होते हैं। अन्तिम पर्याय समास ज्ञान स्थानमे सब जीवराशिका भाग देनेपर जो लब्ध आवे उसे उसीमे मिलानेपर अक्षरज्ञान उत्पन्न होता है। वह अक्षरज्ञान सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके अनन्तानन्त लब्ध्यक्षरोंके बराबर है। अक्षरके तीन भेद हैं—लब्ध्यक्षर, निर्वृत्त्यक्षर और सस्थानाक्षर। सूक्ष्मनिगोद लब्ध्यपर्याप्तकसे लेकर श्रुतकेवली तक जीवोके जितने क्षयोपशम होते है उन सबकी लब्ध्यक्षर संज्ञा है। जीवोके मुखसे निकले हुए शब्दकी निर्वृत्त्यक्षर संज्ञा है। संस्थानाक्षरका दूसरा नाम स्थापनाक्षर है। 'यह वह अक्षर है' इस प्रकार अभेदरूपसे बुद्धिमे जो स्थापना होती है या जो लिखा जाता है वह स्थापनाक्षर है। इन तीन अक्षरोंमे यहाँ लब्ध्यक्षरसे प्रयोजन है, शेषसे नहीं, क्योकि वे जड हैं। जघन्य लब्ध्यक्षर सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तकके होता है और उत्कृष्ट चौदह पूर्वधारीके होता है। एक अक्षरसे जो जघन्य ज्ञान उत्पन्न होता है वह अक्षर श्रुतज्ञान है। इस अक्षरके ऊपर दूसरे अक्षरकी वृद्धि होनेपर अक्षर समास नामक श्रुतज्ञान होता है। इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए संख्यात अक्षरोंकी वृद्धि होने तक अक्षर समास श्रुतज्ञान होता है। पुन संख्यात अक्षरोको मिलाकर एक पद नामक श्रुतज्ञान होता है। सोलह सौ चौतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षरोंका एक मध्यम पद होता

परिमाणप्रागक्षरश्रुतज्ञानात्पर्यायसमासोऽभिधीयते । अक्षरश्रुतज्ञानं तु एकाकाराद्यक्षराभिधेयावगमरूपं श्रुतज्ञान-सख्येयभागमानम् । तस्योपरिष्टादक्षरसमासोऽक्षरवृद्धया वर्धमानो द्वित्र्याद्यक्षरावबोधस्वभावः पदावबोधात् ३ पुरस्तात् । एव पदपदसमासादयोऽपि भावश्रुतभेदाः पूर्वसमासान्ता विंशतिर्यथागममधिगन्तव्या. ।

है । इस मध्यम पद श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरके बढनेपर पद समास नामक श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिसे बढता हुआ पद समास श्रुतज्ञान एक अक्षरसे न्यून संघात श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक जाता है । पुन इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात नामक श्रुतज्ञान होता है । इस तरह संख्यात पदोंको मिलाकर एक संघात श्रुतज्ञान होता है । यह मार्गणा ज्ञानका अवयवभूत ज्ञान है । पुन. संघात श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर संघात समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून गतिमार्गणाविषयक ज्ञानके प्राप्त होने तक संघात समास श्रुतज्ञान होता है । पुन इसपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान होता है । अनुयोग द्वारके जितने अधिकार होते हैं उनमे-से एक अधिकारकी प्रतिपत्ति संज्ञा है और एक अक्षरसे न्यून सब अधिकारोंकी प्रतिपत्ति समास संज्ञा है । प्रतिपत्तिके जितने अधिकार होते हैं उनमें-से एक-एक अधिकारकी संघात सज्ञा है और एक अक्षर न्यन सब अधिकारोंकी संघात समास संज्ञा है । इसका सब जगह कथन करना चाहिए । पुनः प्रतिपत्तिश्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार एक-एक अक्षरकी वृद्धिके क्रमसे बढता हुआ एक अक्षरसे न्यून अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्रतिपत्ति समास श्रुतज्ञान होता है । पुन उसमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वार श्रुतज्ञान होता है । अनुयोगद्वार श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर अनुयोगद्वार समास नामक श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक अनुयोगद्वार समास श्रुतज्ञान होता है । पुनः उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत श्रुतज्ञान होता है । पुनः इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृतप्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून प्राभृत श्रुतज्ञानके प्राप्त होनेतक प्राभृत प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । पुन उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । इस तरह संख्यातप्राभृत प्राभृतोंका एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है । इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून वस्तु श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक प्राभृत समास श्रुतज्ञान होता है । पुन उसमे एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु श्रुतज्ञान होता है । इसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए एक अक्षरसे न्यून पूर्व श्रुतज्ञानके प्राप्त होने तक वस्तु समास श्रुतज्ञान होता है । उसके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व श्रुतज्ञान होता है । पूर्वगतके जो उत्पाद पूर्व आदि चौदह अधिकार हैं उनकी अलग-अलग पूर्व श्रुतज्ञान संज्ञा है । इस उत्पाद पूर्व श्रुतज्ञानके ऊपर एक अक्षरकी वृद्धि होनेपर पूर्व समास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार उत्तरोत्तर एक-एक अक्षरकी वृद्धि होते हुए अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य रूप सकल श्रुतज्ञानके सब अक्षरोंकी वृद्धि होने तक पूर्वसमास श्रुतज्ञान होता है । इस प्रकार भावश्रुतके वीस भेद होते हैं ।

अङ्गप्रविष्ट आचारादिद्वादशभेद वचनात्मक द्रव्यश्रुतम् । अङ्गबाह्य सामायिकादिचतुर्दशभेद प्रकीर्णकश्रुतम् । तत्प्रपञ्चोऽपि प्रवचनाच्चिन्त्य. ॥६॥

अथ श्रुतोपयोगविधिमाह— ३

तीर्थादाम्नाय निध्याय युक्त्याऽन्तः प्रणिधाय च ।
श्रुतं व्यवस्येत् सद्विश्वमनेकान्तात्मकं सुधीः ॥७॥

तीर्थात्—उपाध्यायात् । आम्नाय—गृहीत्वा । निध्याय—अवलोक्य । युक्त्या—हेतुना सा हि ६ अपक्षपातिनी । तदुक्तम्—

'इतें युक्ति यदेवात्र तदेव परमार्थसत् ।
यद्भानुदीप्तिवत्तस्या पक्षपातोऽस्ति न क्वचित् ॥' [सोम. उपा. १३ श्लो] ९

अन्त प्रणिधाय—स्वात्मन्यारोप्य । व्यवस्येत्—निश्चिनुयात् । सत्—उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तम् । अनेकान्तात्मक—द्रव्यपर्यायस्वभावम् श्रुत खलु अविशदतया समस्त प्रकाशयेत् । तदुक्तम्—

द्रव्यश्रुतके दो भेद है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य। अंगप्रविष्टके बारह भेद हैं—आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या-प्रज्ञप्ति, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृद्दश, अनुत्तरोपपादिकदश, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद। दृष्टिवादके पाँच भेद है—परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। पूर्वगतके चौदह भेद है—उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुप्रवाद, कल्याणनामधेय, प्राणावाय, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। अंगबाह्यके अनेक भेद है। वक्ताके भेदसे ये भेद जानना चाहिए। वक्ता तीन है—सर्वज्ञ तीर्थंकर, श्रुतकेवली और आरातीय। भगवान् सर्वज्ञदेवने केवलज्ञानके द्वारा अर्थरूप आगमका उपदेश दिया। वे प्रत्यक्षदर्शी और वीतराग थे अत प्रमाण थे। उनके साक्षात् शिष्य गणधर श्रुतकेवलियोंने भगवान्‌की वाणीको स्मरणमे रखकर जो अंग पूर्व ग्रन्थोंकी रचना की वह भी प्रमाण है। उसके बाद आरातीय आचार्योंने कालदोषसे अल्पमति अल्पायु शिष्योंके कल्याणार्थ जो ग्रन्थ रचे वे अंगबाह्य है। वे भी प्रमाण है क्योंकि अर्थरूपसे तो वे भी वही हैं। क्षीर समुद्रके जलको घरमे भरनेसे जल तो वही रहता है। उसी तरह जानना ॥६॥

श्रुतके उपयोगकी विधि कहते हैं—

बुद्धिशाली मुमुक्षुको गुरुसे श्रुतको ग्रहण करके तथा युक्तिसे परीक्षण करके और उसे स्वात्मामे निश्चल रूपसे आरोपित करके अनेकान्तात्मक अर्थात् द्रव्यपर्यायरूप और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक विश्वका निश्चय करना चाहिए ॥७॥

विशेषार्थ—श्रुतज्ञान प्राप्त करनेकी यह विधि है कि शास्त्रको गुरुमुखसे सुना जाये या पढा जाये। गुरु अर्थात् शास्त्रज्ञ जिसने स्वयं गुरुमुखसे शास्त्राध्ययन किया हो। गुरुकी सहायताके विना स्वयं स्वाध्यायपूर्वक प्राप्त किया श्रुतज्ञान कभी-कभी गलत भी हो जाता है। शास्त्रज्ञान प्राप्त करके युक्तिसे उसका परीक्षण भी करना चाहिए। कहा भी है कि 'इस लोकमे जो युक्तिसम्मत है वही परमार्थ सत् है। क्योकि सूर्यकी किरणोके समान युक्तिका किसीके भी साथ पक्षपात नहीं है।' जैसे सब अनेकान्तात्मक है सत् होनेसे। जो सत् नहीं है वह अनेकान्तात्मक नहीं है जैसे आकाशका फूल। इसके बाद उस श्रुतको अपने अन्तस्तलमे उतारना चाहिए। गुरुमुखसे पढकर और युक्तिसे परीक्षण करके भी यदि उसपर अन्तस्तलसे

'श्रुत केवलबोधश्च विश्वबोधात् सम द्वयम् ।
स्यात्परोक्ष श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष केवल स्फुटम् ॥' [ ]

३ प्रयोग —सर्वमनेकान्तात्मक सत्त्वात् यन्नेत्थं तन्नेत्थं यथा खपुष्पम् ॥७॥

अथ तीर्थाम्नायपूर्वक श्रुतमभ्यस्येदित्युपदिशति—

वृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः ।
६ प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीतये मुहुः ॥८॥

सन्मेघै —सन्त शिष्टा भगवज्जिनसेनाचार्यादय ॥८॥

अथ प्रथमानुयोगाभ्यासे नियुङ्क्ते—

९ पुराणं चरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदम् ।
तत्त्वप्रथार्थी प्रथमानुयोग प्रथयेत्तराम् ॥९॥

पुराण—पुराभवमष्टाभिधेयं त्रिषष्टिशलाकापुरुषकथाशास्त्रम् । यदार्षम्—

१२ 'लोको देश पुर राज्यं तीर्थं दानतपोद्वयम् ।
पुराणस्याष्टधाख्येयं गतय. फलमित्यपि ॥' [महापु ४।२]

श्रद्धा न हुई तो वह ज्ञान कैसे हितकारी हो सकता है। श्रुतज्ञानका वड़ा महत्त्व है। उसे केवलज्ञानके तुल्य कहा है। समन्तभद्र स्वामीने कहा है—स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व जीवादि तत्त्वोंके प्रकाश है। दोनोंमे भेद प्रत्यक्षता और परोक्षता है। जो दोनोंमे-से किसीका भी ज्ञानका विषय नहीं है वह वस्तु ही नहीं है ॥७॥

तीर्थ और आम्नायपूर्वक श्रुतका अभ्यास करनेका उपदेश देते है—

परमागमरूपी समुद्रसे संग्रह करके भगवज्जिनसेनाचार्य आदि सत्पुरुषरूपी मेघोंके द्वारा वरसाये गये प्रथमानुयोग आदि रूप जलको भव्यरूपी चातक बार-बार प्रीतिपूर्वक पान करे ॥८॥

विशेषार्थ—मेघोंके द्वारा समुद्रसे ग्रहीत जल वरसनेपर ही चातक अपनी चिरप्यासको बुझाता है। यहाँ भव्य जीवोंको उसी चातककी उपमा दी है क्योंकि चातककी तरह भव्य जीवोंको भी चिरकालसे उपदेशरूपी जल नहीं मिला है। तथा परमागमको समुद्रकी उपमा दी है और परमागमसे उद्धृत प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको जलकी उपमा दी है; क्योकि जैसे जल तृष्णाको—प्यासको दूर करता है उसी तरह शास्त्रोंसे भी ससारकी तृष्णा दूर होती है। और उन शास्त्रोंकी रचना करनेवाले भगवज्जिनसेनाचार्य आदि आचार्योंको मेघकी उपमा दी है क्योंकि मेघोंकी तरह वे भी विश्वका उपकार करते है ॥८॥

आगे प्रथमानुयोगके अभ्यासकी प्रेरणा करते है—

हेय और उपादेयरूप तत्त्वके प्रकाशका इच्छुक भव्य जीव बोधि और समाधिको देनेवाले तथा परमार्थ सत् वस्तु स्वरूपका कथन करनेवाले पुराण और चरितरूप प्रथमानुयोगको अन्य तीन अनुयोगोसे भी अधिक प्रकाशमे लावे अर्थात् उनका विशेष अभ्यास करे ॥९॥

---

१ 'स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने ।
भेद साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥'
—आप्तमी., १०५ ।

लोकस्तु—

'सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशा मन्वन्तराणि च।

वंशानुचरितं चेति पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥' [ब्रह्मवैवर्त पु, कृष्ण जन्म खण्ड १३१ अ.] ३

चरितं—एकपुरुषाश्रिता कथा। अर्थाख्यानं—अर्थस्य परमार्थसतो विषयस्य आख्यानं प्रतिपादनं यत्र येन वा। बोधि:—अप्राप्तानां सम्यग्दर्शनादीनां प्राप्तिः। प्राप्तानां तु पर्यन्तप्रापणं समाधिः। धर्म्य-शुक्लध्याने वा। तौ दत्ते (तत्) तच्छ्रवणात्तत्प्राप्त्याद्युपपत्तेः। प्रथा—प्रकाशः। प्रथयेत्तरां—इतरानु- ६ योगत्रयादतिशयेन प्रकाशयेत् तदर्थप्रयोगदृष्टान्ताधिकरणत्वात्तस्य ॥९॥

अथ करणानुयोगे प्रणिधत्ते—

चतुर्गतियुगावर्तलोकालोकविभागवित्। ९

हृदि प्रणेयः करणानुयोगः करणातिगैः ॥१०॥

चतुर्गतयः—नरकतिर्यग्मनुष्यदेवलक्षणाः। युगावर्तः—उत्सर्पिण्यादिकालपरावर्तनम्। लोकः—लोक्यन्ते जीवादयः षट्पदार्था यत्रासौ त्रिचत्वारिंशदधिकशतत्रयमात्ररज्जुपरिमित आकाशावकाशः। ततोऽन्यो १२ अलोको अनन्तानन्तमानावस्थितः शुद्धाकाशस्वरूपः। प्रणेयः—परिचेयः। करणानुयोगः—लोकायनि-लोक-विभाग-पञ्चसंग्रहादिलक्षणं शास्त्रम्। करणातिगैः—जितेन्द्रियैः ॥१०॥

विशेषार्थ—पूर्वमें हुए तिरेसठ शलाका पुरुषोंकी कथा जिस शास्त्रमें कही गयी हो उसे पुराण कहते है। उसमें आठ बातोंका वर्णन होता है। कहा है—'लोक, देश, नगर, राज्य, तीर्थ, दान तथा अन्तरंग और बाह्य तप—ये आठ बातें पुराणमें कहनी चाहिए तथा गतियों और फलको भी कहना चाहिए।'

ब्रह्मवैवर्त पुराणमें कहा है—'जिसमें सर्ग—कारणसृष्टि, प्रतिसर्ग—कार्यसृष्टि, वंश, मन्वन्तर और वंशोंके चरित हो उसे पुराण कहते हैं। पुराणके ये पाँच लक्षण है।'

जिसमें एक पुरुषकी कथा होती है उसे चरित कहते हैं। पुराण और चरित विषयक शास्त्र प्रथमानुयोगमें आते हैं। प्रथम नाम देनेसे ही इसका महत्त्व स्पष्ट है। अन्य अनुयोगोंमें जो सिद्धान्त आचार आदि वर्णित है, उन सबके प्रयोगात्मक रूपसे दृष्टान्त प्रथमानुयोगमें ही मिलते हैं। इसलिए इसके अध्ययनकी विशेष रूपसे प्रेरणा की है। उसके अध्ययनसे हेय क्या है और उपादेय क्या है, इसका सम्यक् रीतिसे बोध होता है साथ ही बोधि और समाधिकी भी प्राप्ति होती है। बोधिका अर्थ है—अप्राप्त सम्यग्दर्शन आदिकी प्राप्ति। और प्राप्त होनेपर उन्हें उनकी चरम सीमातक पहुँचाना समाधि है अथवा समाधि-का अर्थ है धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान ॥९॥

अब करणानुयोग सम्बन्धी उपयोगमें लगाते है—

नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देवरूप चार गतियों, युग अर्थात् सुषमा-सुषमा आदि कालके विभागोंका परिवर्तन, तथा लोक और अलोकका विभाग जिसमें वर्णित है उसे करणानुयोग कहते है। जितेन्द्रिय पुरुषोंको इस करणानुयोगको हृदयमें धारण करना चाहिए ॥१०॥

विशेषार्थ—करणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंमें चार गति आदिका वर्णन होता है। नरकादि गति नामकर्मके उदयसे होनेवाली जीवकी पर्यायको गति कहते हैं। उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालोंके परिवर्तनको युगावर्त कहते हैं। जिसमें जीव आदि छहों पदार्थ देखे जाते हैं उसे लोक कहते हैं। अर्थात् तीन सौ तैतालीस राजु प्रमाण आकाशका प्रदेश लोक है। उसके चारों ओर अनन्तानन्त प्रमाण केवल आकाश अलोक है। इन सबका वर्णन

अथ चरणानुयोगमीमांसायां प्रेरयति—

सकलेतरचारित्रजन्मरक्षाविवृद्धिकृत् ।
३ विचारणीयश्चरणानुयोगश्चरणादृतैः ॥११॥

चरणानुयोग —आचाराङ्गोपासकाध्ययनादि शास्त्रम् ॥११॥

अथ द्रव्यानुयोगभावनायां व्यापारयति—

६ जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुम् ।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ॥१२॥

द्रव्यानुयोगसमय—सिद्धान्तसूत्र-तत्त्वार्थसूत्रादिकम् ।
९ समयन्तु—सम्यग्जानन्तु ॥१२॥

अथ सदा जिनागमसम्यगुपास्ते फलमाह—

सकलपदार्थबोधनहिताहितबोधनभावसंवरा,
१२ नवसंवेगमोक्षमार्गस्थिति तपसि चात्र भावनान्यदिक् ।
सप्तगुणाः स्युरेवममलं विपुलं निपुणं निकाचितं
सार्वमनुत्तरं वृजिनहृज्जिनवाक्यमुपासितुः सदा ॥१३॥

१५ भावसंवर —मिथ्यात्वाद्यास्रवनिरोध । नवेत्यादि—नवसंवेगश्च मोक्षमार्गस्थितिश्चेति समाहार । अन्यदिक्—परोपदेश । अमल—पूर्वापरविरोधादिदोषरहितम् । विपुल—लोकालोकार्थव्यापि । निपुण—

करणानुयोगमें होता है। लोकानुयोग, लोकविभाग, पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ उसी अनुयोगके अन्तर्गत है ॥१०॥

चरणानुयोगके चिन्तनमें प्रेरित करते हैं—

चारित्रपालनके लिए तत्पर पुरुषोंको सकलचारित्र और विकलचारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और विशिष्ट वृद्धिको करनेवाले चरणानुयोगका चिन्तन करना चाहिए॥११॥

विशेषार्थ—हिंसा आदिके साथ रागद्वेषकी निवृत्तिको चारित्र कहते है। उसके दो भेद है—सकल चारित्र और विकल चारित्र। इन चारित्रोंको कैसे धारण करना चाहिए, धारण करके कैसे उन्हें अतीचारोंसे बचाना चाहिए और फिर कैसे उन्हे बढ़ाना चाहिए, इन सबके लिए आचारांग, उपासकाध्ययन आदि चरणानुयोग सम्बन्धी शास्त्रोंको पढ़ना चाहिए ॥११॥

द्रव्यानुयोगकी भावनामें लगाते है—

तीक्ष्ण बुद्धिशाली पुरुषोंको जीव-अजीव, बन्ध-मोक्ष और पुण्य-पापका निश्चय करनेके लिए सिद्धान्तसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र, पंचास्तिकाय आदि द्रव्यानुयोग-विषयक शास्त्रोंको सम्यक् रीतिसे जानना चाहिए ॥१२॥

इस प्रकार चारों अनुयोगोंमे संगृहीत जिनागमकी उपासनाका फल कहते है—

जिनागम पूर्वापरविरोध आदि दोषोंसे रहित होनेसे अमल है, लोक और अलोकवर्ती पदार्थोंका कथन करनेवाला होनेसे विपुल है, सूक्ष्म अर्थका दर्शक होनेसे निपुण है, अर्थतः अवगाढ—ठोस होनेसे निकाचित है, सबका हितकारी है, परम उत्कृष्ट है और पापका हर्ता है। ऐसे जिनागमकी जो सदा अच्छी रीतिसे उपासना करता है उसे सात गुणोंकी प्राप्ति होती है—१. त्रिकालवर्ती अनन्त द्रव्य पर्यायोंके स्वरूपका ज्ञान होता है, २. हितकी प्राप्ति

सूक्ष्मार्थदर्शि । निकाचित—अर्थावगाढम् । सार्वं—सर्वहितम् । अनुत्तर—परमोत्तमम् । वृजिनहृत्—पापापहारि । उपासितु—साधुत्वेन सेवमानस्य ॥१३॥

अथाष्टवा विनयं ज्ञानाराधनार्थमाह— ३

ग्रन्थार्थतद्द्वयैः पूर्णं सोपधानमनिह्नवम् ।
विनयं बहुमानं च तन्वन् काले श्रुतं श्रयेत् ॥१४॥

सोपधानं—यथाविहितनियमविशेषसहितम् । अनिह्नव—गुर्वाद्यपह्नवरहितम् । काले—यथाविहिते सन्ध्याग्रहणादिवर्जिते ॥१४॥ ६

अथ सम्यक्त्वानन्तरज्ञानाराधने हेतुमाह—

आराध्य दर्शनं ज्ञानमाराध्यं तत्फलत्वतः । ९
सहभावेऽपि ते हेतुफले दीपप्रकाशवत् ॥१५॥

स्पष्टम् ॥१५॥

और अहितके परिहारका ज्ञान होता है, ३. मिथ्यात्व आदिसे होनेवाले आस्रवका निरोधरूप भाव संवर होता है अर्थात् शुद्ध स्वात्मानुभूतिरूप परिणाम होता है, ४. प्रति समय संसारसे नये-नये प्रकारकी भीरुता होती है, ५. व्यवहार और निश्चयरूप रत्नत्रयमें अवस्थिति होती है उससे चलन नहीं होता, ६ रागादिका निग्रह करनेवाले उपायोंमें भावना होती है और ७ परको उपदेश देनेकी योग्यता प्राप्त होती है ॥१३॥

ज्ञानकी आराधनाके लिए आठ प्रकारकी विनय कहते हैं—

ग्रन्थपूर्णता, अर्थपूर्णता, उभयपूर्णता, सोपधानता, अनिह्नव, विनय और बहुमानके साथ योग्यकालमें मुमुक्षुको जिनागमका अभ्यास करना चाहिए ॥१४॥

विशेषार्थ—ज्ञानकी आराधना विनयपूर्वक करनी चाहिए। विनयके आठ अंग हैं—उसमें सबसे प्रथम तो ज्ञानके तीन अंग हैं—ग्रन्थरूप, अर्थरूप और उभयरूप। इन तीनोंकी पूर्णता होनी चाहिए। जिस ग्रन्थका स्वाध्याय किया जाये उसका शुद्ध वाचन हो, उसके अर्थका सम्यक् अभ्यास हो—गूढ अर्थ भी छिपा न रहे, इन दोनोंकी पूर्णता होनी चाहिए, शब्द और अर्थ दोनोंकी सम्पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। शेष पाँच ज्ञानकी आराधनाके अंग हैं—ज्ञानकी आराधनाकी जो विधि-नियम आदि कहे हैं उनके साथ आराधना करना सोपधानता है। जिनसे शास्त्रज्ञान प्राप्त किया हो उन गुरु आदिका नाम न छिपाना अनिह्नव है। ज्ञानका माहात्म्य प्रकट करनेके लिए जो कुछ प्रयत्न किया जाता है वह विनय है। ज्ञानका, ज्ञानके साधन शास्त्र, गुरु, पाठशाला आदिका खूब आदर-सत्कार करना बहुमान है। तथा योग्य कालमें ही स्वाध्याय करना चाहिए, सन्ध्यासमय और चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहणके समय सिद्धान्त ग्रन्थोंका स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिक (१।२०।१४) में अंगबाह्यके कालिक-उत्कालिक आदि भेद किये हैं। जिसका स्वाध्यायकाल नियत है उसे कालिक कहते हैं और जिसका काल नियत नहीं है उसे उत्कालिक कहते हैं। आचार्य वीरनन्दिने आचारसारके चतुर्थ अधिकारमें कालादि शुद्धिपूर्वक स्वाध्यायका कथन करते हुए पुराण, आराधना, पंचसंग्रह आदिके अध्ययनको इस नियमसे वर्जित रखा है ॥१४॥

सम्यक्त्वकी आराधनाके पश्चात् ज्ञानकी आराधना करनेका कारण बतलाते हैं—

मुमुक्षुको सम्यग्दर्शनकी आराधना करनेके पश्चात् श्रुतज्ञानकी आराधना करनी चाहिए क्योंकि सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनका कार्य है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि जैसे गायके

अथ तपस समीहितार्थसाधकत्व ज्ञान विना न स्यादिति दर्शयति—

विभावमरुता विपद्वति चरद् भवाब्धौ सुरुक्,
प्रभुं नयति कि तप.प्रवहणं पदं प्रेप्सितम् ।
३
हिताहितविवेचनादवहितः प्रबोधोऽन्वहं,
प्रवृत्तिविनिवृत्तिकृद्यदि न कर्णधारायते ॥१६॥

६ विभावमरुता—रागाद्यावेशवायुना । विपद्वति—आपद्वहुले । सुरुक्—बहुक्लेश । अवहितः—अवधानपर ॥१६॥

अथ ज्ञानस्योद्योतना (-द्या-) राधनात्रितयमाह—

दो सीग एक साथ उगते है अत उनमे कार्यकारण भाव नहीं है। उसी तरह सम्यग्दर्शनके साथ ही सम्यग्ज्ञान होता है तब उनमें कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है तो उत्तर देते हैं कि दीपक और उसके प्रकाशकी तरह एक साथ होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानमे कार्य-कारण भाव है ॥१५॥

विशेषार्थ—सम्यक्त्वके अभावमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान कुमति और कुश्रुत होते हैं। किन्तु सम्यग्दर्शनके होते ही वे मतिज्ञान श्रुतज्ञान कहलाते हैं। अतः वे ज्ञान तो पहले भी थे किन्तु उनमें सम्यक्पना सम्यग्दर्शनके होनेपर हुआ। कहा है—'दुरभिनिवेसविमुक्कं णाणं सम्म खु होदि सदि जम्हि'—द्रव्य सं गा. ४१। उस सम्यक्त्वके होनेपर ही ज्ञान मिथ्या अभिप्रायसे रहित सम्यक् होता है। अतः सम्यग्दर्शन कारणरूप है और सम्यग्ज्ञान कार्य-रूप है। इसपर यह प्रश्न होता है कि कारण पहले होता है कार्य पीछे होता है। किन्तु सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो एक साथ होते है अतः कार्यकारण भाव कैसे हो सकता है। उसका समाधान ऊपर किया है। पुरुषार्थसि. ३४ में कहा भी है—

'यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक ही समय उत्पन्न होते हैं फिर भी उनमे कार्य-कारण भाव यथार्थ रूपसे घटित होता है। जैसे दीपक और प्रकाश एक ही समय उत्पन्न होते है फिर भी दीपक प्रकाशका कारण है और प्रकाश उसका कार्य है क्योकि दीपक-से प्रकाश होता है' ॥१५॥

आगे कहते है कि ज्ञानके बिना तप इच्छित अर्थका साधक नहीं होता—

यदि हित और अहितका विवेचन करके हितमे प्रवृत्ति और अहितसे निवृत्ति करने-वाला प्रमादरहित ज्ञान प्रतिदिन कर्णधारके समान मार्गदर्शन न करे तो रागादिके आवेश-रूप वायुसे क्लेशपूर्ण विपत्तिसे भरे संसाररूपी समुद्रमें चलनेवाला तपरूपी जहाज क्या मुमुक्षुको इच्छित स्थानपर पहुँचा सकता है अर्थात् नही पहुँचा सकता ॥१६॥

विशेषार्थ—जैसे वायुसे क्षुब्ध समुद्रमे पड़ा हुआ जहाज प्रतरण कलामें कुशल नाविक की मददके विना आरोहीको उसके गन्तव्य स्थान पर नही पहुँचा सकता, वैसे ही हिताहित विचारपूर्वक हितमे प्रवृत्ति करानेवाले और अहितसे निवृत्ति करानेवाले ज्ञानकी मददके विना ज्ञानशून्य तप भी मुमुक्षुको मोक्ष नहीं पहुँचा सकता ॥१६॥

सम्यग्ज्ञानकी उद्योतन आदि तीन आराधनाओको कहते हैं—

ज्ञानावृत्युदयाभिमात्युपहितैः संदेहमोहभ्रमैः,
स्वार्थभ्रंशपरैर्वियोज्य परया प्रीत्या श्रुतश्रीप्रियाम् ।
प्राप्य स्वात्मनि यो लयं समयमप्यास्ते विकल्पातिगः,
सद्यः सोऽस्तमलोच्चयश्चिरतपोमात्रश्रमैः काम्यते ॥१७॥ ३

अभिमाति[1]—शत्रु । वियोज्य—सन्देहादिभिस्त्याजयित्वा इत्यर्थः । एतेनोद्योतनमुक्तं, प्राप्य—नीत्वा । लयं—एकत्वपरिणतिमाश्लेषं च । एतेनोद्यवनमुक्तम् । समयमपि—एकमपि क्षणमल्पकालमपीत्यर्थः । आस्ते—परमानन्देन तिष्ठतीत्यर्थः । एतेन निर्वहणं भणितम् । सद्य इत्यादि । उक्तं च— ६

'जं अण्णाणी कम्मं खवेइ भवसयसहस्सकोडीहिं ।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेइ [2]णिमिसद्धमेत्तेण ॥ [ ]' ९

चिरेत्यादि—चिरं बहुकालं तपोमात्रे ज्ञानाराधनारहितकायक्लेशाद्यनुष्ठाने श्रमोऽभ्यासो येषाम् ॥१७॥

अथ बोधप्रकाशस्य दुर्लभत्वमाह—

ज्ञानावरण कर्मके उदयरूप शत्रुके द्वारा उत्पन्न किये गये संशय विपर्यय और अनध्यवसायरूप मिथ्याज्ञान पुरुषार्थको नष्ट करते हैं। इनके रहते हुए यथार्थ वस्तु-स्वरूपका बोध नहीं हो सकता। अतः श्रुतज्ञान भावनारूपी प्रियाको इनसे वियुक्त करके अत्यन्त प्रीतिके साथ उसे जो अपनी आत्मामें लय करके एक क्षणके लिए भी निर्विकल्प होता है उसके कर्ममल तत्काल निर्जीर्ण हो जाते हैं। और जो ज्ञानाराधनासे शून्य कायक्लेशरूप तपमें चिरकालसे लगे हैं वे भी उसकी अनुमोदना करते हैं कि यह व्यक्ति ठीक कर रहा है ॥१७॥

विशेषार्थ—यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयको शत्रुकी उपमा दी है, क्योंकि वह शत्रुके समान सदा अपकारमें ही तत्पर रहता है। 'एक मेरी आत्मा ही शाश्वत है' इत्यादि श्रुतज्ञान भावनाको प्रियपत्नीकी उपमा दी है क्योंकि वह अपने स्वामीको प्रगाढ आनन्द देनेवाली है। जैसे ज्ञानी राजा अपने शत्रुओंके द्वारा प्रेषित व्यक्तियोंके फन्देमें फँसी अपनी प्रियपत्नीको उनसे छुड़ाकर बड़े प्रेमके साथ उसे अपनेमें लय करके आनन्दमग्न हो जाता है उसी तरह ज्ञानका उद्योतन, उद्यवन और निर्वहण करनेवाला मुमुक्षु अपनी ज्ञान भावनाको ज्ञानावरण कर्मके उदयसे उत्पन्न होनेवाले संशय आदिसे मुक्त करके यदि उसमें एक क्षणके लिए भी लीन होकर निर्विकल्प हो जाये—'यह क्या है, कैसा है, किसका है, किससे है, कहाँ है, कब है' इत्यादि अन्तर्जल्पसे सम्पृक्त भावना जालसे रहित हो जाये तो उसके कर्मबन्धन तत्काल कट जाते हैं। कहा भी है—'अज्ञानी जीव लाख-करोड़ भवोंमें—जितना कर्म खपाता है, तीन गुप्तियोंका पालक ज्ञानी उसे आधे निमेष मात्रमें नष्ट कर देता है।'

यहाँ ज्ञानावरण कर्मके उदयसे होनेवाले संशय आदिको दूर करना ज्ञानका उद्योतन है। परम प्रीतिपूर्वक श्रुतज्ञान भावनाको प्राप्त करके आत्मामें लय होना ज्ञानका उद्यवन है और एक समयके लिए निर्विकल्प होना ज्ञानका निर्वहण है। इस प्रकार ज्ञानकी तीन आराधनाओंका कथन किया है ॥१७॥

ज्ञानके प्रकाशको दुर्लभ बतलाते हैं—

---

१. अभिभाति भ. कु. च. टी. ।
२. 'उस्सासमेत्तेण'—प्रव. सा. ३।३८। 'अंतोमुहुत्तेण, भ. आ. १०८।

दोषोच्छेदविजृम्भितः कृततमश्छेदः शिवश्रीपथः
सत्त्वोद्बोधकरः प्रक्लृप्तकमलोल्लासः स्फुरद्वैभवः ।
लोकालोकततप्रकाशविभवः कीर्तिं जगत्पाविनीं,
तन्वन् क्वापि चकास्ति बोधतपनः पुण्यात्मनि व्योमनि ॥१८॥

३

दोषोच्छेद —सन्देहादिविनाशो रात्रिक्षयश्च । शिवश्रीपथ.—मोक्षलक्ष्मीप्राप्त्युपायः पक्षे शिवानां—मुक्तानां प्रधानमार्ग । सत्त्वोद्बोधकर —सात्त्विकत्वाभिव्यक्तिकारी प्राणिनां निद्रापसारी च । प्रक्लृप्त इत्यादि—प्रक्लृप्तो रचित. कमलाया श्रिय , पक्षे कमलानां पङ्कजानामुल्लास उद्गतिर्विकासश्च येन । अथवा, कस्य आत्मनो मला रागादयस्तेषामुल्लास उद्भव प्रक्लृप्त. प्रकर्षेण छिन्नोऽसौ येन बोधेनेति ग्राह्यम् । लोकालोकौ पूर्वोक्तौ । लोकालोकश्चक्रवालशैल । कीर्तिं—यश स्तुतिं च ॥१८॥

६

९

अथ ज्ञानस्य साधननिस्तरणयो प्रणुदति—

निर्मथ्यागमदुग्धाब्धिमुद्धृत्यातो महोद्यमा ।
तत्त्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः ॥१९॥

१२

उद्धृत्य, एतेन साधनमाम्नातं समग्रद्रव्यागमावगाहनप्रभवभावागमसम्पूर्णीकरणलक्षणत्वात् तत्त्वज्ञानोद्धरणस्य । तत्त्वज्ञानामृत—परमोदासीनज्ञानपीयूषं पीत्वा । एतेन निस्तरणमुक्तम् । तत्त्वज्ञानपरिणतय-

---

सम्यग्ज्ञान सूर्यके समान है। जैसे सूर्य दोषा अर्थात् रात्रिका क्षय करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है वैसे ही ज्ञान भी दोषोंका विनाश करनेमें निरंकुश रूपसे प्रवृत्त होता है। जैसे सूर्य तमका विध्वंस करता है वैसे ही ज्ञान भी तम अर्थात् ज्ञानको रोकनेवाले कर्मका विध्वंस करता है। जैसे सूर्य मुक्तिको जानेवालोंका प्रधान मार्ग है (एक मतके अनुसार मुक्त हुए जीव सूर्य मण्डलको भेदकर जाते हैं) वैसे ही ज्ञान भी मुक्त जीवोंका प्रधान मार्ग है। जैसे सूर्य प्राणियोंको नींदसे जगाता है वैसे ही ज्ञान भी प्राणियोंको मोहरूपी निद्रासे जगाता है। जैसे सूर्य कमलोंको विकसित करता है वैसे ही ज्ञान भी 'क' अर्थात् आत्माके रागादि मलोंकी उत्पत्तिको एकदम नष्ट कर देता है। सूर्यका प्रभाव भी मनुष्योंके मनमें चमत्कार पैदा करता है, ज्ञानका प्रभाव तीनों लोकोंका अधिपतित्व मनुष्योंके मनमें चमत्कार पैदा करता है। सूर्य अपना प्रकाश लोकालोक अर्थात् चक्रवाल पर्वतपर फैलाता है, ज्ञानका प्रकाश लोक-अलोकमें फैलता है क्योंकि वह लोकालोकको जानता है। सूर्य भी जगत्को पवित्र करनेवाली अपनी कीर्तिको फैलाता है—भक्त लोग उसका स्तुतिगान करते हैं। ज्ञान भी धर्मोपदेशरूप दिव्यध्वनिसे जगत्को पवित्र करता है। जैसे सूर्य अन्धकारादि दोषोंसे रहित आकाशमें प्रकाशित होता है वैसे ही ज्ञान भी किसी एक पुण्यात्मा जीवमें प्रकाशित होता है अर्थात् सबमें ज्ञानका उदय होना असम्भव है ॥१८॥

आगे ज्ञानकी साधन आराधना और निस्तरण आराधनाको कहते हैं—

हिन्दू पुराणोंमें कथा है कि देवोंने बड़े उत्साहसे समुद्र-मन्थन करके अमृतका पान किया था और अमर हो गये थे। उसीको दृष्टिमें रखकर कहते हैं कि मैत्री आदि भावनाओंसे प्रसन्नचित्त ज्ञानीजन आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके—शब्दसे, अर्थसे और आक्षेप समाधानके द्वारा पूरी तरह विलोडन करके उससे निकाले गये तत्त्वज्ञानरूपी अमृतको पीकर अपने उत्साहको बढ़ावें और अमरत्वको प्राप्त करें—पुनर्मरणसे मुक्त होवें ॥१९॥

विशेषार्थ—आगमरूपी समुद्रका मन्थन करके तत्त्वज्ञानरूपी अमृतका उद्धार करनेसे ज्ञानकी साधन आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानके उद्धारका मतलब है सम्पूर्ण द्रव्यरूप

नन्तरभाविनोऽमरभावस्य तच्छब्दाभिधेयत्वात् । सुमनसः—प्रसन्नचित्ता देवाश्च । अमराः—मृत्युरहिताः । मृत्युश्चात्र पुनर्मरणमपमृत्युश्च ॥१९॥

अथ मनसो चञ्चलत्वमनूद्य तन्निग्रहेण स्वाध्यायप्रणिधानादतिदुर्द्धरस्यापि संयमस्य सुवहत्वं निरूपयितुं श्लोकत्रयमाह— ३

लातुं वीलनमत्स्यवद् गमयितुं मार्गे विदुष्टाश्ववन्निम्नाद्रोद्‌धुमगापगौघ इव यन्नो वाञ्छिताच्छक्यते ।
दूरं यात्यनिवारणं यदणुवद् द्राग्वायुवच्चाभितो, नश्यत्याशु यदब्दवद्‌बहुविधैर्भृत्वा विकल्पैर्जगत् ॥२०॥ ६

वीलनमत्स्यवत्—मसृणतरदेहमत्स्य इव । अगापगौघः—पर्वतनदीपूरः । अभितः—समन्ताद्यातीति सम्बन्धः । अब्दवत्—मेघैस्तुल्यम् । विकल्पैः—चिन्ताविवर्तैर्भेदैश्च ॥२०॥ ९

नो मूकवद् वदति नान्धवदीक्षते यद्रागातुरं बधिरवन्न शृणोति तत्त्वम् । १२
यत्राऽयते यतवचोवपुषोऽपि वृत्तं, क्षिप्रं क्षरत्यवितथं तितओरिवाम्भः ॥२१॥

किं च, अयते—अमयते । तितओः—चालन्या ॥२१॥ १५

व्यावर्त्याशुभवृत्तितो सुनयवन्नीत्वा निगृह्य त्रपां, वश्यं स्वस्य विधाय तद्‌भृतकवत्प्राप्य भावं शुभम् ।
स्वाध्याये विदधाति यः प्रणिहितं चित्तं भृशं दुर्धरं, चक्रेशैरपि दुर्वहं स वहते चारित्रमुच्चैः सुखम् ॥२२॥ [त्रिकलम्] १८

आगमके अवगाहनसे उत्पन्न भावागमकी सम्पूर्णता । तथा 'ज्ञानामृतको पीकर अमरता प्राप्त करे' इससे निस्तरण आराधनाको कहा है क्योंकि तत्त्वज्ञानरूप परिणतिके अनन्तर होनेवाला अमरत्व निस्तरण शब्दका अभिधेय है ॥१९॥

मनको अत्यन्त चंचल बतलाकर उसके निग्रहके द्वारा स्वाध्यायमें मन लगानेसे अति दुर्धर भी संयम सुखपूर्वक धारण किया जा सकता है, यह बात तीन श्लोकोंसे कहते हैं—

जो मन अत्यन्त चिकने शरीरवाले मत्स्यकी तरह पकड़नेमें नहीं आता, जिसे दुष्ट घोड़ेकी तरह इष्ट मार्ग पर चलाना अत्यन्त कठिन है, निचले प्रदेशकी ओर जानेवाले पहाड़ी नदीके प्रवाहकी तरह इच्छित वस्तुकी ओर जानेसे जिसे रोकना अशक्य है, जो परमाणुकी तरह बिना रुके दूर देश चला जाता है, वायुकी तरह शीघ्र ही सब ओर फैल जाता है, शीघ्र ही नाना प्रकारके विकल्पोंसे जगत्‌को भरकर मेघकी तरह नष्ट हो जाता है, इष्ट तत्त्वको विषयके प्रति रागसे पीड़ित होनेपर गूँगेकी तरह कहता नहीं है, अन्धेकी तरह देखता नहीं है, बहरेकी तरह सुनता नहीं है तथा जिसके अनियन्त्रित होनेपर वचन और कायको वशमें कर लेनेवाले पुरुषका सच्चा चारित्र भी चलनीसे जलकी तरह शीघ्र ही खिर जाता है, उस अत्यन्त दुर्धर मनको जो प्रमादचर्या, कलुषता, विषयलोलुपता आदि अशुभ प्रवृत्तियोंसे हटाकर, दुर्जन पुरुषकी तरह ज्ञान संस्कार रूपी दण्डके बलसे निग्रह करके, लज्जित करके, खरीदे हुए दासकी तरह अपने वशमें करके शुभ भावोंमें लगाकर स्वाध्यायसे एकाग्र करता है, वह चक्रवर्तियोंसे भी धारण किये जानेमें अशक्य उच्च चारित्रको सुखपूर्वक धारण करता है ॥२०-२२॥

तत असुनयवर्जसमस्ततपोभ्य स्वाध्यायस्योत्कृष्टशुद्धिहेतुतया समाधिमरणसिद्धयर्थं नित्यकर्तव्यता दर्शयति--

३ नाभून्नास्ति न वा भविष्यति तपःस्कन्धे तपो यत्समं
कर्मान्यो भवकोटिभि क्षिपति यद्योऽन्तर्मुहूर्तेन तत् ।
शुद्धि वाऽनशनादितोऽमिततगुणां येनाऽश्नुतेऽश्नन्नपि,
६ स्वाध्याय. सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥२३॥

स्कन्ध —समूह । अन्यः—तपोविधि । अमितगुणा—अनन्तगुणाम् ॥२३॥

अथ श्रुतज्ञानाराधनाया परम्परया परममुक्तिहेतुत्वमाह—

९ श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम् ।
शुक्लं ततश्च कैवल्यं ततश्चान्ते पराच्युतिः ॥२४॥

पृथक्लक्षण –पृथक्त्ववितर्कवीचार।स्य क्षण (?) पृथक्त्ववितर्कवीचाराख्य प्रथम शुक्लध्यानम्, एकत्वलक्षण—एकत्ववितर्कावीचारसंज्ञित द्वितीयशुक्लध्यानम् । तत.—ताभ्या प्रथमापेक्षत्वाद् द्वितीयस्य । संसाराभावे पुंम स्वात्मलाभो मोक्ष इति वचनात् । अथवा अन्ते मरणे, पण्डितपण्डितमरणप्राप्यत्वान्निर्वाणस्य । इति भद्रम् ॥२४॥

१५ इति आशाधरदृब्धाया स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया तृतीयोऽध्याय ॥३॥

अत्र अध्यायग्रन्थप्रमाण त्रिंश शत, अङ्कत श्लोका १३० ।

ध्यानको छोडकर शेष सभी तपोंमे स्वाध्याय ही ऐसा तप है जो उत्कृष्ट शुद्धिमें हेतु है। अतः समाधिमरणकी सिद्धिके लिए उसे नित्य करनेका विधान करते हैं—

अनशन आदि छह बाह्य तपों और प्रायश्चित्त आदि पाँच अभ्यन्तर तपोंके समूहमे जिसके समान तप न हुआ, न है, न होगा, जो कर्म अन्य तपस्वी करोडों भवोंमें निर्जीण करता है उसे जो अन्तर्मुहूर्तमे ही निर्जीण करता है, जिसके द्वारा भोजन करते हुए भी अनशन आदिसे अनन्तगुनी विशुद्धि प्राप्त होती है वह स्वाध्याय तप मरणके समय आराधनाकी सिद्धिके लिए सदा करना चाहिए ॥२३॥

आगे कहते है कि श्रुतज्ञानकी आराधना परम्परासे मुक्तिकी कारण है—

यतः श्रुतभावनासे पृथक्त्व वितर्क और एकत्व वितर्क रूप शुक्लध्यान होते है। शुक्लध्यानसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होती है और केवलज्ञानसे अन्तमे परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥२४॥

विशेषार्थ—श्रुतभावना व्यग्रतारहित ज्ञानरूप भी होती है और एकाग्र ज्ञान रूप भी होती है। व्यग्रता रहित ज्ञान रूपको स्वाध्याय कहते हैं और एकाग्र ज्ञान रूपको धर्म्यध्यान कहते हैं। अतः स्वाध्यायसे धर्मध्यान होता है। धर्मध्यानसे पृथक्त्व वितर्क वीचार नामक शुक्ल ध्यान होता है। उससे एकत्व वितर्क वीचार नामक दूसरा शुक्ल ध्यान होता है। उससे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है। उसके पश्चात् क्रमसे सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति और व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्लध्यान होते हैं। अन्तिम शुक्लध्यानसे सब कर्मोंका क्षय होकर सम्यक्त्व आदि आठ गुणोसे युक्त परम मुक्ति प्राप्त होती है ॥२४॥

इस प्रकार प. आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी टीकामें ज्ञानाराधनाधिगम नामक तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

चतुर्थ अध्याय

अथ क्रमप्राप्ता चारित्राराधना प्रति मुमुक्षूनुत्साहयति—

सम्यग्दृष्टिसुभूमिवैभवलसद्विद्याम्बुमाद्यद्दया-
मूलः सद्व्रतसुप्रकाण्ड उदयद्गुप्त्यग्रशाखाभरः ।
शीलोद्योद्विटप समित्युपलतासंपद्गुणोद्धोद्गम-
च्छेत्तुं जन्मपथक्लमं सुचरितच्छायातरुः श्रीयताम् ॥१॥ ३

वैभव—प्रभाव । दया—दुःखार्तजन्तुत्राणाभिलाप । प्रकाण्ड.—स्कन्ध. । विटप —विस्तार । उपलता —उपशाखा । उद्धोद्गमानि—प्रशस्तपुण्याणि । जन्म—ससार । सुचरितं—सर्वमावद्ययोग-विरतोऽस्मीत्येव रूप सामायिक नाम प्रागुपादेय सम्यक्चारित्रम् । तस्यैवैदयुगीनानुद्दिश्य छेदोपस्थापनरूपतया प्रपञ्च्यमानत्वात् । छायातरुः—यस्यार्कपरिवर्तनेऽपि छाया न चलत्यसौ ॥१॥ ६ ९

अब क्रमसे प्राप्त चारित्राराधनाके प्रति मुमुक्षुओंको उत्साहित करते हैं—

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानका अच्छी तरहसे बारम्बार सेवन करनेवाले मुमुक्षुओंको जन्मरूपी मार्गकी थकान दूर करनेके लिए सम्यक्चारित्ररूपी छायावृक्षका आश्रय लेना चाहिए। इस वृक्षका मूल दया है। यह दयारूप मूल दर्शनविशुद्धिरूपी उत्तम भूमिके प्रभावसे अपना कार्य करनेमे समर्थ सम्यक् श्रुतज्ञानरूपी जलसे हरा-भरा है। समीचीन व्रत उसका स्कन्ध (तना) है। गुप्तिरूप प्रधान उन्नत शाखासे शोभित है। शीलरूपी उठा हुआ विटप है। समितिरूप उपशाखा सम्पदासे युक्त है। उसमें संयमके भेद-प्रभेदरूपी सुन्दर फूल लगे है ॥१॥

विशेषार्थ—सम्यक्चारित्रको छायातरुकी उपमा दी है। सूर्यकी दिशा बदल जानेपर भी जिसकी छाया बनी रहती है उसे छायावृक्ष कहते है। सम्यक्चारित्र ऐसा ही छायावृक्ष है। उसका मूल दया है। दुःखसे पीडित जन्तुकी रक्षा करनेकी अभिलापाका नाम दया है। वही दया सम्यक्चारित्ररूपी वृक्षका मूल है। वह मूल विशुद्ध सम्यग्दर्शनरूपी भूमिमे श्रुतज्ञानरूपी जलसे सिंचित होनेसे अपना कार्य करनेमे समर्थ है। जिसमें-से अंकुर फूटता है वह मूल होता है। दयारूपी मूलमें-से ही व्रतादिरूप अंकुर फूटते है। अत. व्रत उसका तना है। गुप्ति उसकी प्रधान शाखा है। सम्यक् रीतिसे योगके निग्रहको गुप्ति कहते है। समितियाँ उपशाखाएँ हैं। शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करनेका नाम समिति है। शील विटप है—वृक्षका फैलाव है। जो व्रतकी रक्षा करता है उसे शील कहते है। सयमके भेद उसके फल-फूल हैं। इस तरह सम्यक्चारित्र छायावृक्षके तुल्य है जो संसाररूपी मार्गमे भ्रमण करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करता है। सबसे प्रथम 'मैं सर्व सावद्ययोगसे विरत हूँ' इस प्रकार सामायिकरूप सम्यक्चारित्र उपादेय होता है। उसी चारित्रको यहाँ इस युगके साधुओंके उद्देश्यसे छेदोपस्थापनारूपमे विस्तारसे कहा जाता है ॥१॥

अथ सम्यक्त्वज्ञानयोः सम्पूर्णत्वेऽपि सति चारित्रासम्पूर्णताया परममुक्त्यभावमावेदयति—

परमावगाढसुदृशा परमज्ञानोपचारसंभृतया ।

३ **रक्ताऽपि नाप्रयोगे सुचरितपितुरीशमेति मुक्तिश्री. ॥२॥**

परमावगाढसुदृशा—अचलक्षायिकसम्यक्त्वेन । अतिचतुरदूत्या च उपचारः—कामितालङ्कारादि-सत्कार । रक्ता—अनुकूलिता उत्कण्ठिता च । अप्रयोगे—सयोगत्वाघातिकर्मतीव्रोदयत्वस्वरूपातिचार-

६ सद्भावादसपूर्णत्वेऽप्रदाने च । ईश—जीवन्मुक्त वरयिष्यन्त च नायकम् । मुक्तिश्री.—परममुक्ति. । अत्र उपमानभूता कुलकन्या गम्यते ॥२॥

अथ लसद्विद्येति समर्थयितुमाह—

९ **ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा ।**

चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ॥३॥

व्याख्यातप्रायम् ॥३॥

१२ भूयोऽपि—

हितं हि स्वस्य विज्ञाय श्रयत्यहितमुज्झति ।

तद्विज्ञानं पुनश्चारि चारित्रस्याघमाघ्नतः ॥४॥

१५ अघं—कर्म । आघ्नत —निर्मूलयत. ॥४॥

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके सम्पूर्ण होनेपर भी चारित्रकी पूर्णता न होनेपर परम-मुक्ति नहीं हो सकती, यह कहते हैं—

केवलज्ञानरूपी उपचारसे परिपुष्ट परमावगाढ सम्यग्दर्शनके द्वारा अनुकूल की गयी भी मुक्तिश्रीरूपी कन्या सम्यक्चारित्ररूपी पिताके द्वारा न दिये जानेपर सयोगकेवलीरूपी वरके पास नहीं जाती ॥२॥

विशेषार्थ—परममुक्ति कुलीन कन्याके तुल्य है। और समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे उत्पन्न होनेके कारण सदा निर्मल आत्यन्तिक क्षायिक चारित्र पिताके तुल्य है। जीवन्मुक्त केवलज्ञानी वरके तुल्य है। केवलज्ञान इच्छित वस्त्र-अलंकार आदिसे किये गये सत्कारके तुल्य है। और परमावगाढ सम्यग्दर्शन चतुर दूतीके तुल्य है। जैसे चतुर दूतीके द्वारा भोगके लिए आतुर भी कुलकन्या पिताके द्वारा कन्यादान किये बिना इच्छित वरके पास नहीं जाती वैसे ही परमावगाढ सम्यक्त्व और केवलज्ञानके द्वारा अवश्य प्राप्त करनेकी स्थितिमें लाये जानेपर भी परममुक्ति अघातिकर्मोंकी निर्जरामें कारण समुच्छिन्न क्रियानिवृत्ति नामक परम शुक्लध्यानके प्राप्त न होनेसे क्षायिक चारित्रके असम्पूर्ण होनेके कारण सयोगकेवलीके पास नहीं आती। इससे उत्कृष्ट चारित्रकी आराधनाको परममुक्तिका साक्षात् कारण कहा है ॥२॥

आगे ज्ञानपूर्वक चारित्रका समर्थन करते हैं—

जैसे सम्यग्दर्शनके बिना ज्ञान अज्ञान होता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानके बिना चारित्र भी चारित्राभास होता है ॥३॥

पुनः उक्त कथनका ही समर्थन करते हैं—

यत मुमुक्षु अपने हित सम्यग्दर्शन आदिको अच्छी तरहसे जानकर अपने अहित मिथ्यात्व आदिको छोड़ देता है। अत. विज्ञान कर्मका निर्मूलन करनेवाले चारित्रका अगुआ है—चारित्रसे पहले ज्ञान होता है ॥४॥

अथ सम्यग्ज्ञानपूर्वके चारित्रे यत्नवतो जगद्विजयं कथयति—

देहेष्वात्ममतिर्दुःखमात्मन्यात्ममतिः सुखम् ।
इति नित्यं विनिश्चिन्वन् यतमानो जगज्जयेत् ॥५॥ ३

देहेषु स्वगतेष्वौदारिकादिषु त्रिषु चतुर्षु वा परगतेषु तु यथासभवम्। आत्ममति.—आत्मेति मननं देह एवाहमिति कल्पनेति यावत्। यतमान.—परद्रव्यनिवृत्ति-शुद्धस्वात्मानुवृत्तिलक्षण यत्न कुर्वन्। जगज्जयेत्—सर्वज्ञो भवेदित्यर्थ. ॥५॥ ६

अथ दयेति सफलयितुमाह—

यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुत. । ९
न हि भूतद्रुहा कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत् ॥६॥

कुत ? दयामूलत्वाद् धर्मस्य। यदार्षम्—

'दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राणानुकम्पनम् । १२
दयाया परिरक्षार्थं गुणा शेषा. प्रकीर्तिताः ॥' [महापु ५।२१]

भूतद्रुहा—जन्तून् हन्तुमिच्छूनाम्। कापि—स्नानदेवार्चनदानाध्ययनादिका ॥६॥

अथ सदयनिर्दययोरन्तरमाविष्करोति— १५

दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः ।
व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गति स्याददुर्गति. ॥७॥

अदुर्गति । सुगमा ॥७॥ १८

अथ निर्दयस्य तपश्चरणादिनैष्फल्यकथनपुरस्सर दयालोस्तदकर्तृत्वेऽपि तत्फलपुष्टिलाभ प्रकाशयति—

आगे कहते है कि सम्यग्ज्ञानपूर्वक चारित्रमे प्रयत्नशील व्यक्ति जगत्को विजय करता है—

अपने या पराये औदारिक आदि शरीरोमे आत्मबुद्धि—शरीर ही मैं हूँ या मैं ही शरीर हूँ इस प्रकारकी कल्पना दु खका कारण है और आत्मामे आत्मबुद्धि—मै ही मैं हूँ, अन्य ही अन्य है ऐसा विकल्प सुखका हेतु है, ऐसा सदा निश्चय करनेवाला मुमुक्षु परद्रव्यसे निवृत्तिरूप और स्वद्रव्य शुद्ध स्वात्मामे प्रवृत्तिरूप प्रयत्न करे तो जगत्को वशमे कर लेता है अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है क्योकि सर्वज्ञका एक नाम लोकजित् भी है ॥५॥

दयाको चारित्रका मूल बतलाते है—

जिसको प्राणियोंपर दया नहीं है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है ? क्योंकि जीवोंको मारनेवालेकी देवपूजा, दान, स्वाध्याय आदि कोई भी क्रिया कल्याणकारी नही होती ॥६॥

दयालु और निर्दय व्यक्तियोमे अन्तर बतलाते है—

व्रतरहित भी दयालु पुरुषको देवगति सुलभ होती है और दयासे रहित व्रती पुरुषको भी नरकगति सुलभ होती है ॥७॥

आगे कहते है कि निर्दय पुरुषका तपश्चरण आदि निष्फल है और दयालुको तपश्चरण न करनेपर भी उसका फल प्राप्त होता है—

तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु ।
निर्दयस्तत्फलैर्दीनः पीनश्चैकां दयां चरन् ॥८॥

३ तीव्रं व्रतयतु—अत्यर्थं नियमं करोतु । दीन.—दरिद्रः ॥८॥

अथ दयार्द्रनृशंसयोः सिद्ध्यर्थं क्लेशादेर्नैष्फल्यमभिलपति—

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ।
६ **मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये ॥९॥**

क्लिश्नासि—अनशनादिना आत्मनः क्लेशं करोषि । दयापविद्धं—कृपायुक्तम् ॥९॥

अथ विश्वासत्रासयोः सकृपत्वनिष्कृपत्वमूलत्वमुपलक्षयति—

९ **विश्वसन्ति रिपवोऽपि दयालोर्वित्रसन्ति सुहृदोऽप्यदयाच्च ।**
प्राणसंशयपदं हि विहाय स्वार्थमीप्सति ननु स्तनपोऽपि ॥१०॥

रिपव.—अपकर्तारः । सुहृद.—उपकर्तारः । स्तनपः—अविज्ञातव्यवहारो डिम्भः ॥१०॥

१२ अथ दयार्द्रस्यारोपितदोषो न दोषाय किं तर्हि बहुगुणः स्यादित्याह—

क्षिप्तोऽपि केनचिद् दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति ।
तक्रार्द्रे तृणवत् किंतु गुणग्रामाय कल्पते ॥११॥

१५ केनचित्—असहिष्णुना । दोष.—प्राणिवध-पैशुन्य-चौर्यादिः । न प्ररोहति—अकीर्ति-दुर्गत्यादिप्रदो न भवतीत्यर्थः । पक्षे प्रादुर्भवति (?) तक्रार्द्रे मथिताप्लुते प्रदेशे । यच्चिकित्सा—

'न विरोहन्ति गुदजा. पुनस्तक्रसमाहताः ।
१८ निषिक्तं तद्धि दहति भूमावपि तृणोलुपम् ॥' [ ] ॥११॥

निर्दय मनुष्य चिरकाल तक तपस्या करे, खूब व्रत करे, दान देवे किन्तु उस तप, व्रत और दानके फलसे वह दरिद्र ही रहता है उसे उनका किंचित् भी फल प्राप्त नहीं होता। और केवल एक दयाको पालनेवाला उसके फलसे पुष्ट होता है ॥८॥

आगे कहते हैं कि दयालु और निर्दय व्यक्तियोंका मुक्तिके लिए कष्ट उठाना व्यर्थ है—

हे मोक्षके इच्छुक ! यदि तेरा मन दयासे भरा है तो तू उपवास आदिके द्वारा व्यर्थ ही कष्ट उठाता है। तुझे दयाभावसे ही सिद्धि मिल जायेगी। यदि तेरा मन दयासे शून्य है तो तू मुक्तिके लिए व्यर्थ ही क्लेश उठाता है क्योंकि कोरे कायक्लेशसे मुक्ति नहीं मिलती ॥९॥

आगे कहते हैं कि विश्वासका मूल दया है और भयका मूल अदया है—

दयालुका शत्रु भी विश्वास करते हैं और दयाहीनसे मित्र भी डरते हैं। ठीक ही है दूध पीता शिशु भी, जहाँ प्राण जानेका सन्देह होता है ऐसे स्थानसे बचकर ही इष्ट वस्तुको प्राप्त करना चाहता है ॥१०॥

आगे कहते हैं कि दयालुको झूठा दोष लगानेसे भी उसका अपकार नहीं होता, किन्तु उलटा बहुत अधिक उपकार ही होता है—

जैसे मठासे सींचे गये प्रदेशमे घास नहीं उगती वैसे ही दयालु पुरुषपर किसी असहिष्णु व्यक्तिके द्वारा लगाया गया हिंसा, चोरी आदिका दोष न उसकी अपकीर्तिका कारण होता है और न दुर्गतिका, बल्कि उल्टे गुणोंको ही लाने मे कारण होता है ॥११॥

अथ निर्दयस्यान्यकृतोऽपि दोष सपद्यत इत्याह—

अन्येनाऽपि कृतो दोषो निस्त्रिशमुपतिष्ठते ।
तटस्थमप्यरिष्टेन राहुमर्कोपरागवत् ॥१२॥ ३

तटस्थं—निकटमुदासीन वा । अरिष्टेन—आदित्यछादकग्रहविशेषेण.। यथाह—

'राहुस्स अरिट्ठस्स य किंचूण जोयण अधोगता ।
छम्मासे पव्वते चंद रविं छादयति कमा ॥' ६

तथा— राहु अरिट्ठविमाणद्धयादुवरि पमाणगुलचउक्कं ।
गतूण ससिविमाणा सूरविमाणा कमे हुति ॥' [त्रि सा ३३९-३४०]

राहु समानमण्डलवर्तित्वात्तटस्थम् ॥१२॥ ९

अथ सकृदपि विराद्धो विराद्धारमसकृद्धिनस्तीति दृष्टान्तेन स्फुटयति—

विराधकं हन्त्यसकृद्विराद्ध. सकृदप्यलम् ।
क्रोधसंस्कारतः पार्श्वकमठोदाहृतिः स्फुटम् ॥१३॥ १२

विराद्धः—कृतापकार ॥१३॥

विशेषार्थ—झूठा दोप लगाये जानेपर भी दयालु व्यक्ति शान्त रहता है उत्तेजित नहीं होता, इससे उसके अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। साथ ही उसका रहस्य खुल जानेपर दयालु का सम्मान और भी बढ जाता है ॥११॥

किन्तु निर्दय मनुष्यको अन्यके द्वारा किया गया भी दोप लगता है—

अन्यके द्वारा किया गया दोष तटस्थ भी निर्दय व्यक्तिके सिर आ पड़ता है। जैसे अरिष्ट विमानके द्वारा किया जानेवाला सूर्यग्रहण राहुके सिर आ पड़ता है ॥१२॥

विशेषार्थ—आगम मे कहा है—'राहु और अरिष्टके विमान कुछ कम एक योजन व्यासवाले हैं। और वे चन्द्रमा और सूर्यके नीचे चलते हुए छह मास बीतनेपर पूर्णिमा और अमावस्याके दिन सूर्य और चन्द्रमाको ढाँक लेते हैं। राहु और अरिष्टके विमानकी ध्वजासे चार प्रमाणांगुल ऊपर जाकर क्रमसे चन्द्रमा और सूर्यके विमान है। इस तरह सूर्यग्रहण अरिष्ट (केतु) के द्वारा किया जाता है किन्तु लोकमे राहुका नाम बदनाम होनेसे उसीके द्वारा किया गया कहा जाता है। इसी तरह दयारहित व्यक्ति तटस्थ भी हो फिर भी लोग उसे ही दोपी मानते है ॥१२॥

जिस जीवका कोई एक बार भी अपकार करता है वह जीव उस अपकार करनेवाले-का बार-बार अपकार करता है यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते है—

जिस जीवका एक बार भी अपकार किया जाता है वह जीव अनन्तानुबन्धी क्रोध कषायकी वासनाके वश होकर उस अपकार करनेवालेका बार-बार अपकार करता है यह बात भगवान् पार्श्वनाथ और कमठके उदाहरणसे स्पष्ट है ॥१३॥

विशेषार्थ—पार्श्वनाथ भगवान्का जीव जब मरुभूतिकी पर्यायमे था तो कमठ सहोदर भ्राता था। कमठने मरुभूतिकी स्त्रीके साथ रमण किया। राजाने उसे देशनिकाला दे दिया। इसीसे कमठ मरुभूतिका वैरी बन गया और उसका यह वैर पार्श्वनाथके भव तक बराबर चलता रहा। इस प्रकार एक बार किये गये अपकारके बदलेमे कमठके जीवने बराबर ही मरुभूतिके जीवका अपकार किया। अतः किसीका एक बार भी अपकार नहीं करना चाहिए ॥१३॥

अथ दयाभावनापरस्य प्रीतिविशेषः फलं स्यादित्याह—

तत्त्वज्ञानच्छिन्नरम्येतरार्थप्रीतिद्वेषः प्राणिरक्षामृगाक्षीम् ।
३ आलिङ्ग्यालं भावयन्निस्तरङ्गस्वान्तः सान्द्रानन्दमङ्गत्यसङ्गः ॥१४॥

भावयन्—गुणानुस्मरणद्वारेण पुनः पुनश्चेतसि सन्निवेशयन् । निस्तरङ्गस्वान्तः—निर्विकल्पमनाः । अंगति—गच्छति । असङ्गः—यति. ॥१४॥

६ अथ दयारक्षार्थं विषयत्यागमुपदिशति—

सद्वृत्तकन्दलीं काम्यामुद्भेदयितुमुद्यतः ।
येश्छिद्यते दयाकन्दस्तेऽपोह्या विषयाखवः ॥१५॥

९ काम्या—तत्फलार्थिभिः स्पृहणीयाम् ॥१५॥

आगे कहते हैं कि दयाकी भावनामें तत्पर व्यक्ति प्रीतिविशेषरूप फलको पाता है—

परिग्रहका त्यागी यति तत्त्वज्ञानके द्वारा प्रिय पदार्थोंमें रागको और अप्रिय पदार्थोंमें द्वेषको नष्ट करके जीवदयारूपी कामिनीका आलिंगनपूर्वक उसके गुणोंका पुनः-पुनः स्मरण करते हुए जब निर्विकल्प हो जाता है तो गाढ आनन्दका अनुभव करता है ॥१४॥

दयाकी रक्षाके लिए विषयोंके त्यागका उपदेश देते हैं—

मुमुक्षुओंके द्वारा चाहने योग्य सम्यक्चारित्ररूपी कन्दलीको प्रकट करनेमें तत्पर दयारूपी कन्द जिनके द्वारा काटा जाता है उन विषयरूपी चूहोंको त्यागना चाहिए ॥१५॥

विशेषार्थ—दयाको धर्मका मूल कहा है। मूलको कन्द भी कहते हैं। कन्दमें-से ही अंकुर फूटकर पत्र, कली आदि निकलते हैं। इस सबके समूहको कन्दली कहते हैं। जैसे कन्दली कन्दका कार्य है वैसे ही दयाका कार्य सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र जीवदयामें-से ही प्रस्फुटित होता है। उस दयाभावको विषयोंकी चाहरूपी चूहे यदि काट डालें तो उसमें-से सम्यक्चारित्रका उद्गम नहीं हो सकता है। अतः दयालु पुरुषको विषयोंसे बचना चाहिए। विषय हैं इन्द्रियोंके द्वारा प्रिय और अप्रिय कहे जानेवाले पदार्थ। उनकी लालसामें पड़कर ही मनुष्य निर्दय हो जाता है। अतः दयालु मनुष्य अपने दयाभावको सुरक्षित रखनेके लिए उस सभी परिग्रहका त्याग करता है जिसको त्यागना उसके लिए शक्य होता है और जिसका त्यागना शक्य नहीं होता उससे भी वह ममत्व नहीं करता। इस तरह वह सचेतन-अचेतन सभी परिग्रहको छोडकर साधु बन जाता है और न इष्टविषयोंसे राग करता है और अनिष्टविषयोंसे द्वेष। राग और द्वेष तो दयाभावके शत्रु हैं इसीलिए कहा है—'आगममें रागादिकी अनुत्पत्तिको अहिंसा और रागादिकी उत्पत्तिको हिंसा कहा है। यह जिनागमका सार है।' अतः उत्कृष्ट दया अहिंसा ही है। दयामें-से ही अहिंसाकी भावना प्रस्फुटित होती है। वही अहिंसाके रूपमें विकसित होती है ॥१५॥

---

१. 'रागादीणमणुप्पा अहिंसगत्तं त्ति भासिदं समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसेति जिणागमस्स संखेओ' ॥

अथ इन्द्रियाणां प्रज्ञोपघातसामर्थ्यं कथयति—

स्वार्थरसिकेन ठकवद् विकृष्यतेऽक्षेणयेन तेनापि। ३
न विचारसंपदः परमनुकम्पाजीवितादपि प्रज्ञा ॥१६॥

स्वार्थरसिकेन—स्वविषयलम्पटेन स्वप्रयोजनकामेन च। विकृष्यते—दूरीक्रियते। प्रच्याव्यत इत्यर्थः। प्रज्ञा—बुद्धिः। अत्राऽप्युपमानभूता कामिनी गम्यते। अथवा प्रजानातीति प्रज्ञाऽतिविदग्धा ६ स्त्रीति ग्राह्यम् ॥१६॥

अथ विषयिणोऽपायं दर्शयति—

विषयामिषलाम्पट्यात्तन्वन्नृजु नृशंसताम्। ९
लालामिवोर्णनाभोऽधः पतत्यहह दुर्मतिः ॥१७॥

आमिष—प्राणिलक्षणो ग्रासः। ऋजु—सम्मुखं प्राञ्जलं च। नृशंसता—हिंसकत्वं अव-अधोगतौ अधोदेवौ च। अहह खेदे ॥१७॥ १२

अथ विषयनिस्पृहस्येष्टसिद्धिमाचष्टे—

यथाकथञ्चिदेकैव विषयाशापिशाचिका।
क्षिप्यते चेत् प्रलप्यालं सिद्ध्यतीष्टमविघ्नतः ॥१८॥ १५

प्रलप्याल—अलं प्रलपनेन, अनर्थकं न वक्तव्यमित्यर्थः। इष्ट—प्रकृतत्वात् सुचरितमूलभूता दयाम् ॥१८॥

अथ किं तत्सद्व्रतमित्याह— १८

आगे कहते हैं कि इन्द्रियाँ मनुष्योंकी प्रज्ञाको—यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करनेकी शक्तिको नष्ट कर देती हैं—

ठगकी तरह अपने निमित्तसे बल प्राप्त करके चक्षु आदि इन्द्रियोंमें-से कोई भी इन्द्रिय अपने विषयकी लम्पटताके कारण न केवल मनुष्यकी प्रज्ञाको—उसकी यथार्थ रूपमें अर्थको ग्रहण करने की शक्तिको विचारसम्पदासे दूर करती है किन्तु दयारूपी जीवनसे भी दूर कर देती है ॥१६॥

विशेषार्थ—जैसे कोई भी ठग अपने मतलबसे किसी स्त्रीके भूषण ही नहीं छीनता किन्तु उसका जीवन भी ले लेता है, उसे मार डालता है। उसी तरह इन्द्रिय भी मनुष्यकी बुद्धिको युक्तायुक्त विचारसे ही भ्रष्ट नहीं करती किन्तु दयाभावसे भी भ्रष्ट कर देती है। इसलिए मुमुक्षुको सदा इन्द्रियोंको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥१६॥

विषयलम्पट मनुष्यकी दुर्गति दिखाते हैं—

जैसे मकड़ी मक्खी वगैरहको खानेकी लम्पटतासे अपने जालको फैलाती हुई नीचे गिर जाती है उसी तरह खेद है कि दुर्बुद्धि प्राणी विषयरूपी मांसकी लम्पटताके कारण हिंसकपनेको विस्तारता हुआ नरकादि गतिमें जाता है ॥१७॥

आगे कहते हैं कि जो विषयोंसे निस्पृह रहता है उसकी इष्टसिद्धि होती है—

अधिक कहनेसे क्या? यदि जिस-किसी भी तरह एक विषयोंकी आशारूप पिशाचीको ही भगा दिया जाये, उससे अपना पीछा छुड़ा लिया जाये तो इष्ट—चारित्रकी मूल दया नामक वस्तु विघ्नके बिना सिद्ध हो सकती है ॥१८॥

सुचरित्ररूपी छायावृक्षका मूल दयाका कथन करके उसके स्कन्धरूप समीचीन व्रतका कथन करते हैं—

हिंसाऽनृतचुराऽब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम् ।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृंहणात् ॥१९॥

३ चुरा—चौर्यम् । अब्रह्म—मैथुनम् । सत्—प्रशस्तम् । तत्र सर्वजीवविषयमहिंसाव्रतम्, अदत्त-परिग्रहत्यागौ सर्वद्रव्यविषयौ । द्रव्यैकदेशविषयाणि शेषव्रतानि । उक्तं च—

'पढमम्मि सव्वजीवा तदिये चरिमे य सव्वदव्वाणि ।
६ सेसा महव्वया खलु तदेकदेसम्हि दव्वाणं ॥' [विशेपाव. भा. २६३७ गा.] ॥१९॥

हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रहसे मन-वचन-काय, कृत कारित अनुमोदना-पूर्वक निवृत्तिको व्रत कहते है । सम्यग्ज्ञानपूर्वक होनेसे तथा सम्यग्दर्शनको बढ़ानेमें कारण होनेसे उन्हें समीचीन या प्रशस्त व्रत कहते हैं ॥१९॥

विशेषार्थ—कपायसहित आत्मपरिणामके योगसे प्राणोंके घात करनेको हिंसा कहते है । प्राणीको पीड़ा देनेवाले वचन बोलना असत्य है । बिना दी हुई वस्तुको ग्रहण करना चोरी है । मैथुनको अब्रह्म कहते है । ममत्व भावको परिग्रह कहते हैं । अहिंसा व्रतमें सभी जीव समाविष्ट है अर्थात् किसी भी जीवकी हिंसा नहीं करनी चाहिए । इसी तरह बिना दी हुई वस्तुके त्यागमें और परिग्रह त्यागमें सभी द्रव्य आते हैं । कोई भी वस्तु बिना दिये हुए नही लेना चाहिए और न किसी भी वस्तुमें 'यह मेरी है' इस प्रकारका ममत्व भाव रखना चाहिए । किन्तु असत्य त्याग और मैथुन त्याग व्रत द्रव्यके एकदेशको लेकर हैं । अर्थात् असत्य त्यागमे वचन मात्रका त्याग नहीं है किन्तु असत्य वचनका त्याग है और मैथुन त्यागमें मैथुनके आधारभूत द्रव्योंका ही त्याग है । कहा भी है—'पहले अहिंसा व्रतमें सभी जीव और तीसरे तथा अन्तिम व्रतमें सभी द्रव्य लिये गये । शेष दो महाव्रत द्रव्योके एकदेशको लेकर होते हैं ।' इन्हीं पाँच व्रतोंका पालन करनेके लिए रात्रिभोजन त्याग छठा व्रत भी रहा है । भगवती आराधनाकी विजयोदया टीका (गा. ४२१) में लिखा है कि प्रथम-अन्तिम तीर्थंकरके तीर्थमे रात्रिभोजनत्याग नामक छठा व्रत है । ग्रन्थकार पं. आशाधरने भी अपनी टीकामें अणुव्रत नामसे इस छठे व्रतका निर्देश किया है । किन्तु पूज्यपादने सर्वार्थसिद्धि (७।१) मे व्रतोका वर्णन करते हुए रात्रिभोजन नामक छठे अणुव्रतका निषेध करते हुए अहिंसाव्रतकी भावनामे उसका अन्तर्भाव कहा है । श्वेताम्बराचार्य सिद्धसेन गणिने तत्त्वार्थ भाष्य (७।२) की टीकामें भी यह प्रश्न उठाया है कि यदि अहिंसाव्रतके पालनके लिए होनेसे असत्यविरति आदि मूल गुण है तो रात्रिभोजन-विरति भी मूलगुण होना चाहिए । इसके उत्तरमें उन्होंने कहा है कि अहिंसाव्रतके पालनके लिए तो समिति भी है उसको भी मूलगुण मानना होगा । तथा रात्रिभोजन विरति महाव्रती-का ही मूलगुण है क्योंकि उसके अभावमें तो मूलगुण ही अपूर्ण रहते है । अतः मूलगुणोंके ग्रहणमें उसका ग्रहण हो जाता है । जिस तरह रात्रिभोजन त्याग सब व्रतोंका उपकारक है उस तरह उपवासादि नहीं है इसलिए रात्रिभोजनत्याग महाव्रतीका मूल गुण है शेष उत्तर-गुण है । हाँ, अणुव्रतधारीके लिए वह उत्तरगुण है । अथवा उपवासकी तरह आहारका त्याग होनेसे वह तप ही है । श्री सिद्धसेन गणिने जो कहा है वही उनके पूर्वज जिनभद्रगणि

१. भ. आ. विजयोदया गा. ४२१ में उद्धृत ।

अथ व्रतमहिमानं वर्णयति—

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम् ।
उद्द्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥२०॥ ३

प्रेक्षतेतरां—ज्ञानापेक्षया तरा प्रत्यय । उद्योतादिषु ज्ञानमुखस्यापि सम्यक्त्वेनापेक्षणीयत्वात् । अतिशयाधाने—कर्मक्षपणलक्षणशक्त्युत्कर्षसम्पादने । फलससाधने—इन्द्रादिपदप्रापणपूर्वकनिर्वाणलक्षणस्य नानाविधापन्निवारणलक्षणस्य च फलस्य साक्षादुत्पादने । एतेन सक्षेपत सम्यक्त्वचारित्रे द्वे एवाराध्ये, सम्यक्-चारित्रमेकमेव चेत् फल स्यात् ॥२०॥ ६

क्षमाश्रमणने विशेषावश्यक भाष्य[1] (गा॰ १२४० आदि) मे कहा है। रात्रिभोजन विरमण मुनिका मूल गुण है क्योकि जैसे अहिंसा आदि पॉच महाव्रतोमे-से यदि एक भी न हो तो महाव्रत पूर्ण नहीं होते। इसी तरह रात्रिभोजनविरतिके अभावमे भी महाव्रत पूर्ण नही होते। अत॰ मूलगुणों (महाव्रत) के ग्रहणमे रात्रिभोजनविरतिका ग्रहण हो ही जाता है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्बर परम्परामे भी रात्रिभोजन विरमण नामका षष्ठ व्रत नहीं रहा है ॥१९॥

व्रतकी महिमाका वर्णन करते हैं—

शंका आदि मलोको दूर करनेमे, कर्मोंका क्षय करनेवाली आत्मशक्तिमें, उत्कर्षता लानेमे और इन्द्रादि पदको प्राप्त कराकर मोक्षरूप फल तथा अनेक प्रकारकी आपत्तियोका निवारणरूप फलको साक्षात् उत्पन्न करनेमे सम्यग्दर्शनको जिसका मुख उत्सुकतापूर्वक देखना पडता है उस व्रतका माहात्म्य आश्चर्यकारी है ॥२०॥

विशेषार्थ—यहॉ लक्षणासे 'व्रतके मुख' का अर्थ व्रतकी प्रधान सामर्थ्य लेना चाहिए। तत्त्वार्थ सूत्रके सातवे अध्यायमे आस्रव तत्त्वका वर्णन है और उसके पहले ही सूत्रमे व्रतका स्वरूप कहा है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धिमे यह प्रश्न किया गया है कि व्रतको आस्रवका हेतु वतलाना तो उचित नहीं है उसका अन्तर्भाव तो संवरके कारणोमे होता है। आगे नौवे अध्यायमे संवरके हेतु गुप्ति समिति कहे गये है उनमे संयम धर्ममे व्रत आते है? इसका उत्तर दिया गया है कि नौवे अध्यायमें तो संवरका कथन है और संवर निवृत्तिरूप होता है। किन्तु इन व्रतोमे प्रवृत्ति देखी जाती है। हिंसा, असत्य और विना दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि छोडकर अहिंसा, सत्यवचन और दी हुई वस्तुका ग्रहण आदि क्रियाकी प्रतीति होती है। तथा ये व्रत गुप्ति आदि संवरके साधनोके परिकर्म हैं। जो साधु व्रतोंमे अभ्यस्त हो जाता है वह सुखपूर्वक सवर करता है इसलिए व्रतोका पृथक् कथन किया है। सर्वार्थसिद्धि-के रचयिता इन्हीं पूज्यपादस्वामीने समाधि तन्त्रमे कहा है[2]—'अव्रत अर्थात् हिंसा आदिसे अपुण्य अर्थात् पापका वन्ध होता है और व्रतोसे पुण्यवन्ध होता है। पुण्य-पाप दोनोंका

१ 'जम्हा मूलगुणच्चिय न होंति तव्विरहियस्स पडिपुन्ना ।
तो मूलगुणग्गहणे तग्गहणमिहत्थओ नेय ॥' —विशेषा १२४३ गा

२ 'अपुण्यमव्रतै' पुण्य व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्यय ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥
अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।
त्यजेत्तान्यपि सम्प्राप्य परम पदमात्मन ' ॥—८३-८४ श्लो. ।

अथ सकलेतरविरत्या स्वामिनौ निर्दिशति—

स्फुरद्बोधो गलद्वृत्तमोहो विषयनिःस्पृहः ।
३ हिंसादेर्विरतः कात्स्न्र्याद्यतिः स्याच्छ्रावकोऽशतः ॥२१॥

गलद्वृत्तमोह —क्षयोपशमरूपतया हीयमानश्चारित्रमोहो यस्यासौ । सामायिकछेदोपस्थापनयो' संयमासंयमस्य च विवक्षितत्वात्तत्त्रयस्यैवात्रत्येदानीतनजीवेपु सभवात् । कात्स्न्र्यात्—साकल्यत । अंशत — ६ एकदेशेन ॥२१॥

अथ चतुर्दशभि पद्यैरहिंसाव्रतमाचष्टे ।

सा हिंसा व्यपरोप्यन्ते यत् त्रसस्थावराङ्गिनाम् ।
९ प्रमत्तयोगतः प्राणा द्रव्यभावस्वभावका. ॥२२॥

विनाश मोक्ष है । इसलिए मुमुक्षुको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिए । अव्रतोंको छोड़कर व्रतोमें निष्ठित रहे और आत्माके परमपदको प्राप्त करके उन व्रतोंको भी छोड़ दे ।'

अव्रत पापवन्धका कारण है तो व्रत पुण्यवन्धका कारण है इसलिए यद्यपि अव्रतकी तरह व्रत भी त्याज्य हैं किन्तु अव्रत सर्वप्रथम छोड़ने योग्य है और उन्हें छोडनेके लिए व्रतोंको स्वीकार करना आवश्यक है । अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहको स्वीकार किये विना हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परिग्रह पापसे नही वचा जा सकता और इनसे वचे विना आत्माका उद्धार नहीं हो सकता । शास्त्रकार कहते है कि परमपद प्राप्त होनेपर व्रतोंको भी छोड दे । परमपद प्राप्त किये विना पुण्यवन्धके भयसे व्रतोंको स्वीकार न करनेसे तो पापमे ही पडना पड़ेगा । केवल सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे परमपद प्राप्त नहीं हो सकता । उसके लिए तो सम्यक्चारित्र ही कार्यकारी है और सम्यक्चारित्रका प्रारम्भ व्रतोसे ही होता है । ये व्रत ही हैं जो इन्द्रियोको वशमे करनेमें सहायक होते है और इन्द्रियोंके वशमे होनेपर ही मनुष्य आत्माकी ओर सलग्न होकर परमपद प्राप्त करनेमे समर्थ होता है । अतः व्रतका माहात्म्य कम नहीं है । उनको अपनाये विना संसारसागरको पार नही किया जा सकता ॥२०॥

व्रतके दो भेद है—सकलविरति और एकदेशविरति । दोनोंके स्वामी बतलाते हैं—

जो पाँचों पापोसे पूरी तरहसे विरत होता है उसे यति कहते है और जो एकदेशसे विरत होता है उसे श्रावक कहते हैं । किन्तु इन दोनोमे ही तीन बाते होनी आवश्यक है—१. जीवादि पदार्थोंका हेय, उपादेय और उपेक्षणीय रूपसे जाग्रत् ज्ञान होना चाहिए । २. यतिके प्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया-लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए और श्रावकके अप्रत्याख्यानावरण क्रोध-मान-माया लोभरूप चारित्रमोहका क्षयोपशम होना चाहिए, क्योकि इस कालमे इस क्षेत्रमें जीवोंके सामायिक और छेदोपस्थापना संयम तथा संयमासंयम ही हो सकते है । ३. देखे गये, सुने गये और भोगे गये भोगोमे अरुचि होना चाहिए । इस तरह इन तीन विशेषताओसे विशिष्ट व्यक्ति उक्त व्रत ग्रहण करनेसे व्रती होता है ॥२१॥

आगे चौदह पद्योंसे अहिंसाव्रतको कहते हैं । सवसे प्रथम हिंसाका लक्षण कहते है—

प्रमत्त जीवके मन-वचन-कायरूप योगसे अथवा कपाययुक्त आत्मपरिणामके योगसे त्रस और स्थावर प्राणियोके द्रव्यरूप और भावरूप प्राणोका घात करनेको हिसा कहते हैं ॥२२॥

तत्र तावत् हिंसालक्षणमाह—व्यपरोप्यन्ते—यथासंभवं वियोज्यन्ते। प्रमत्तयोगतः—प्रमादः सकषायत्वं तद्वानात्मपरिणामः प्रमत्तः तस्य योगः—सम्बन्धः तस्मात्ततः। रागाद्यावेशादित्यर्थः। प्राणाः—इन्द्रियादयो दश। तदुक्तम्— ३

'पंचवि इंदियपाणा मणवचि-काएसु तिण्णि बलपाणा।
आणप्पाणप्पाणा आउगपाणेण हुंति दह पाणा॥ [गो. जी. १३० गा.] ६

ते च चित्सामान्यानुविधायी पुद्गलपरिणामो द्रव्यप्राणाः। पुद्गलसामान्यानुविधायी चित्परिणामो भावप्राणाः। तदुभयभाजो जीवाः संसारिणस्त्रसाः स्थावराश्च। तत्र स्पर्श-रस-गन्ध-वर्ण-शब्दान् स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्रेषु क्रमेण द्वाभ्यां त्रिभिश्चतुर्भिः पञ्चभिश्च पृथग् ज्ञानं ते (जानन्तो) द्वीन्द्रियादयश्चतुर्द्धा त्रसाः। ९ तद्विकल्पश्लोका यथा—

'जलूका शुक्ति-शम्बूक-गण्डू-पद-कपर्दका।
जठरकृमिशखाद्या द्वीन्द्रिया देहिनो मताः॥

विशेषार्थ—इन्द्रियोंकी स्वच्छन्द वृत्तिका विचार किये विना जो प्रवृत्ति करता है वह प्रमत्त है। अथवा जो कषायके आवेशमें आकर हिंसा आदिके कारणोंमें संलग्न रहते हुए अहिंसामें शठतापूर्वक प्रवृत्त होता है वह भी प्रमत्त है। अथवा राजकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा, भोजनकथा ये चार कथाएँ, पाँच इन्द्रियाँ, निद्रा और स्नेह इन पन्द्रह प्रमादोंसे जो प्रमादी है वह प्रमत्त है। अथवा कषाय सहित आत्मपरिणामका नाम प्रमत्त है। उसके योगसे अर्थात् रागादिके आवेशसे। प्राण दस हैं—

पाँच इन्द्रिय प्राण, मनोबल, वचनबल, कायबल ये तीन बलप्राण, एक श्वासोच्छ्वास प्राण और एक आयु प्राण—ये दस प्राण होते हैं। ये प्राण दो प्रकारके हैं—द्रव्यप्राण और भावप्राण। चित्सामान्यका अनुसरण करनेवाले पुद्गलके परिणामको द्रव्यप्राण कहते हैं और पुद्गल सामान्यका अनुसरण करनेवाले चेतनके परिणामको भावप्राण कहते हैं। इन दोनों प्रकारके प्राणोंसे युक्त जीव संसारी होते हैं। संसारी जीव दो प्रकारके होते हैं—त्रस और स्थावर। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र ये पाँच इन्द्रियाँ हैं और स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द इनका क्रमसे विषय है। जो जीव क्रमसे आदिकी दो इन्द्रियोंसे जानता है वह दो-इन्द्रिय जीव है, जो तीनसे जानता है वह तीन-इन्द्रिय जीव है, जो चारसे जानता है वह चौइन्द्रिय जीव है और जो पाँचों इन्द्रियोंसे जानता है वह पंचेन्द्रिय जीव है। ये सब त्रस हैं। इनके कुछ भेद इस प्रकार हैं[1]—

---

१ 'संबुक्कमादुवाहा संखासिप्पी अपादगा य किमी।
जाणंति रसं फासं जे ते वेइंदिया जीवा॥
जूगागुंभीमक्कणपिपीलिया विच्छियादया कीडा।
जाणंति रसं फासं गंधं तेइंदिया जीवा॥
उद्दंसमसयमक्खियमधुकरभमरापतंगमादीया।
रूपं रसं च गंधं फासं पुण ते वि जाणंति॥
सुरणरणारयतिरिया वण्णरसप्फासगंधसद्दण्हू।
जलचरथलचरखचरा बलिया पंचेंदिया जीवा'॥
—पञ्चास्ति. ११४-११७ गा.।

कुन्थुः पिपीलिका गोभी यूका-मत्कुणवृश्चिकाः।
मर्कोटकेन्द्रगोपाद्यास्त्रीन्द्रियाः सन्ति देहिनः ॥
३
पतङ्गा मशका दंशा मक्षिकाकीटगर्मुतः।
पुत्रिका चञ्चरीकाद्याश्चतुरक्षाः शरीरिणः ॥
नारका मानवा देवास्तिर्यञ्चश्च चतुर्विधाः।
६
सामान्येन विशेषेण पञ्चाक्षा बहुधा स्थिताः' ॥' [अमित. पञ्चसं. १।१४७-१५०]

द्रव्येन्द्रियाकारा यथा—

'यवनाल-मसूरातिमुक्तकेन्द्वर्धसन्निभाः।
९
श्रोत्राक्षिघ्राणजिह्वाः स्युः स्पर्शनेऽनेकधाकृतिः' ॥' [अमि. पं. स. १।१४३]

त्रसक्षेत्रं यथा—

'उववाद मारणंतियजिणकवाडादिरहियसेसतसा।
१२
तसनाडि बाहिरम्हि य णत्थि त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठं ॥' [ ]

स्पर्शनेनैकेन स्पर्शं जानन्त एकेन्द्रिया पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः पञ्च स्थावराः। तेषां च बुद्धिपूर्वव्यापारादर्शनेऽप्यण्डान्तर्लीनादिवत्सजीवत्वं निश्चीयते। तदुक्तम्—

'शम्बूक, मातृवाह, शंख, सीप, बिना पैरके कीड़े ये दो-इन्द्रिय जीव रस और स्पर्शको जानते हैं। जूँ, गुम्मी, खटमल, चिउँटी, बिच्छू आदि तेइन्द्रिय जीव स्पर्श-रस-गन्धको जानते हैं। डाँस, मच्छर, मक्खी, भौंरा, मधुमक्खी, पतंगा आदि चौइन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गन्ध और रूपको जानते हैं। देव, मनुष्य, नारकी, जलचर, थलचर और नभचर पशु-पक्षी ये पंचेन्द्रिय जीव स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्दको जानते हैं' ॥२२॥

त्रस जीवोंका निवासस्थान इस प्रकार कहा है—उपपाद, मारणान्तिक समुद्घात और कपाट आदि समुद्घात करनेवाले सयोगकेवलि जिनको छोड़कर शेष त्रस त्रसनाडीके बाहर नहीं रहते ऐसा जिनदेवने कहा है।

उक्त गाथा आशाधरकी टीकामें उद्धृत है। गोमट्टसार जीवकाण्डमें 'जिणकवाडादिरहिय' पाठ नहीं है। शेष सब यही है। तिलोयपण्णत्ति (२।८) में त्रस नाड़ीका परिमाण बतलाते हुए कहा है—उपपाद मारणान्तिक समुद्घातमें परिणत त्रस तथा लोकपूरण समुद्घातको प्राप्त केवलीका आश्रय करके सारा लोक ही त्रसनाली है। त्रसजीव त्रसनालीमें ही रहते हैं। लोकके ठीक मध्यसे एक राजू चौड़ी लम्बी और कुछ कम चौदह राजू ऊँची त्रसनाड़ी है। उपपाद मारणान्तिक समुद्घात और केवली समुद्घात अवस्थामें त्रस जीव त्रस नाडीके बाहर पाये जाते हैं। केवली समुद्घातकी चार अवस्थाएँ हैं—दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूरण। तिलोयपण्णत्तिके अनुसार लोकपूरण समुद्घातमें केवलीके आत्मप्रदेश त्रसनाड़ीके बाहर पाये जाते हैं। किन्तु ऊपरवाली गाथाके अनुसार कपाट-प्रतरमें भी त्रसनाड़ीके बाहर पाये जाते हैं। गोमट्टसारवाली गाथामें केवली समुद्घातका निर्देश नहीं है। किन्तु उसकी टीकामें कपाट आदि अवस्थामें आत्मप्रदेशोंको त्रसनालीके बाहर बतलाया है।

---

1. 'उववादमारणंतिय परिणदतसमुज्झिऊण सेस तसा।' —गो. जी. १९८ गा।
2. 'उववाद मारणंतिय परिणद तस लोयपूरणेण गदो।
केवलिणो अवलंबिय सव्वजगो होदि तसणाली' ॥—ति० प० २।८।

'अंडेसु पवट्ठता गब्भट्ठा माणुसा य मुच्छगया ।
जारिसया तारिसया जीवा एगेंदिया णेया ॥' [पञ्चास्ति. ११३ गा]

ते च पञ्चतयेऽपि सूक्ष्मा सर्वत्र सन्ति । स्थूलास्त्विमे— 3

मृत्तिका बालिका चैव शर्करा चोपल शिला ।
लवणादयस्तथा ताम्र त्रपुषा (त्रपुसीसकमेव च) ॥' [तत्त्वार्थसार ५१]

मणिविद्रुमवर्ण । शर्करोपलशिलावज्रप्रवालवर्जिता. शुद्धपृथिवीविकारा । शेषा. खरपृथ्वीविकारा । एतेष्वेव पृथिव्यष्टकमेर्वादिशैला द्वीपा विमानानि भवनानि वेदिका प्रतिमा तोरणस्तूपचैत्यवृक्षजम्बूशालमलीधातक्यो रत्नाकरादयश्चान्तर्भवन्ति । अवश्यायो रात्रिपश्चिमप्रहरे निरभ्राकाशात् पतित सूक्ष्मोदकम् । महिका 6 9

'अवश्यायो हिमं चैव महिका विन्दुशीकरा ।
शुद्ध घनोदकं बिन्दुर्जीवा रक्ष्यास्तथैव ते ॥' [ ]

धूमाकारजलं कुहडरूप धूमरीत्यर्थ. । विन्दु (स्थूल-)बिन्दुजलम् । शीकर सूक्ष्मविन्दुजलम् । शुद्ध चन्द्रकान्तजल सद्य.पतितजल वा । घनोदक समुद्रह्लदघनवाताद्युद्भवम् । च शब्देन वापीनिर्झरादिजल करका अपि गृह्यन्ते । 12

जो जीव एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा केवल स्पर्शको जानते हैं वे एकेन्द्रिय हैं। पृथिवीकायिक, जलकायिक, तेजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक ये पाँच स्थावर एकेन्द्रिय जीव है। इन जीवोमे यद्यपि बुद्धिपूर्वक व्यापार नहीं देखा जाता है फिर भी जैसे अण्डेमे त्रसजीवका निश्चय किया जाता है उसी तरह इनमे भी जीवका निश्चय किया जाता है। कहा भी है—'अण्डावस्थामे, गर्भावस्थामे तथा मूर्च्छित अवस्थामे बुद्धिपूर्वक व्यापार न देखनेपर जिस प्रकार जीवपनेका निश्चय किया जाता है उसी प्रकार एकेन्द्रिय जीवोका भी निश्चय किया जाता है।' ये पाँचो स्थावर जीव सूक्ष्म भी होते है और स्थूल भी होते है। सूक्ष्म तो सर्वत्र पाये जाते हैं। स्थूल जीव इस प्रकार हैं[3]—मिट्टी, बालिका—रूक्ष अंगार आदिसे उत्पन्न हुई बालुका, शर्करा—कठोरबजी, गोल पापाण, बड़ा पाषाण, लवण, लोहा, ताँबा, राँगा, सीसा, चाँदी, सोना, हीरा, हरिताल, ईंगुर, मेनसिल, तूतिया, सुरमा, मूँगा, अभ्रकका चूरा, बड़ी-बडी मणियोके टुकड़े, गोमेद, रुजक—अलसीके फूलकी रंगकी लाजावर्तमणि, अक—लाल रंगकी पुलिकमणि, स्फटिक, पद्मरागमणि, वैडूर्य, चन्द्रकान्त, जलकान्त, सूर्यकान्त, गैरिक—लालमणि, चन्दनके समान रंगवाली मणि, मरकतमणि, पुष्परागमणि, नीलमणि, लाल रंगकी पापाणमणि इन सब पृथिवीकायिक जीवोकी रक्षा यतियोको करनी चाहिए। इनमे-से शर्करा, गोल पापाण, बड़ा पापाण, हीरा, मूँगा ये तो खर पृथ्वीके विकार हैं शेष शुद्ध पृथिवीके विकार हैं। इनमे ही आठ पृथिवियाँ (सात नरकभूमियाँ एक सिद्धशिला), मेरु आदि पर्वत, द्वीप, विमान, भवन, वेदिका, प्रतिमा, तोरण, स्तूप, चैत्यवृक्ष, जम्बूवृक्ष, शाल्मलिवृक्ष, धातकीवृक्ष और रत्नाकर आदिका अन्तर्भाव होता है।

ओस, बर्फ, कोहरा, जलकी बडी बूँद, जलकी सूक्ष्म विन्दु, चन्द्रकान्तसे झरता हुआ या तत्काल गिरा जल, समुद्र-तालाब आदिसे वायुके द्वारा उठाया गया जल, च शब्दसे वापी-झरनेका जल जलकायिक जीवरूप है। इनकी भी रक्षा करनी चाहिए।

---

१ 'त्रपु' इत्यतोऽग्रे मणिविद्रुमपूर्वपर्यन्त बहुपाठ प्रतौ नास्ति भव्य कु च. टीकानुसारेण लिखितम्।

२ 'अवश्यायो हिमविन्दुस्तथा शुद्धघनोदके। पूतिकाद्याश्च विज्ञेया जीवा सलिलकायिका।'—तत्त्वार्थसार ६३।

३. उत्तराध्ययन सूत्र ३६।७०-१०० में भी जीवके इन्ही सब भेदोको कहा है।

'[1]ज्वालाङ्गारस्तथाचिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजोजीवा रक्ष्यास्तथैव च ॥' [ ]

३ अर्चि प्रदीपशिखाद्यग्नि (–द्यग्रम्)। मुर्मुर. कारीपोऽग्नि. । शुद्ध वज्रविद्युत्सूर्यकान्ताद्युद्भवोऽग्नि· सद्यः पातितो वा। अनल सामान्योऽग्निर्धूमादिसहित । च शब्देन स्फुलिङ्गवाडवाग्निनन्दीश्वरभूमतुण्डिका-मुकुटानलादयो गृह्यन्ते।

६ '[3]वात उद्भ्रमकश्चान्य उत्कलिर्मण्डलिस्तथा।
महान् घनस्तनुर्गुञ्जास्ते पाल्या. पवनाङ्गिन । [ ]

वात सामान्यरूप । उद्भ्रम. यो भ्रमन्नूर्ध्वं गच्छति । उत्कलि. लहरीवात· । मण्डलि. यः पृथिवी-
९ लग्नो भ्रमन् गच्छति । महान् महावातो वृक्षादिमोटक· । घन. घनोदधिर्घननिलयः तनुः तनुवातो व्यञ्जनादिकृत । गुञ्जा उदरस्था पञ्चवाता· । लोकप्रच्छादकभवनविमानाधारादिवाता अत्रैवान्तर्भवन्ति ।

ज्वाला, अंगार, दीपककी लौ, कण्डेकी आग, वज्र, बिजली या सूर्यकान्तमणिसे उत्पन्न हुई अग्नि, सामान्य आग जिसमे-से धुआँ निकलता हो, च शब्दसे स्फुलिग, समुद्रकी बडवानल, नन्दीश्वरके धूमकुण्ड और अग्निकुमारोंके मुकुटोसे निकली आग ये सब तैजस्कायिक जीव है। इनकी भी उसी प्रकार रक्षा करनी चाहिए।

सामान्य वायु, जमीनसे उठकर घूमते हुए ऊपर जानेवाली वायु, लहरीरूप वायु जो पृथ्वीसे लगते हुए घूमती है, महावायु जो वृक्षोको उखाड देती है, घनोदधिवायु, तनुवायु, उदरस्थवायु ये सब वायुकायिक जीव है। इनकी भी रक्षा करनी चाहिए।

मूलसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे हल्दी, अद्रक वगैरह। अग्रसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे बेला, अपामार्ग आदि। पर्वसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति ईख, बेत वगैरह। कन्दसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे आलू वगैरह। स्कन्धसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति जैसे देवदारु, सलई आदि। बीजसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति गेहूँ, जौ आदि। मूल आदिके बिना भी जो वनस्पति अपने योग्य पुद्गल आदि उपादान कारणसे उत्पन्न होती है वह सम्मूर्च्छिम है। देखा जाता है कि सींगसे सार और गोबरसे कमलकी जड बीजके बिना उत्पन्न होती है। अतः वनस्पति जाति दो प्रकारकी है—एक बीजसे उत्पन्न होनेवाली और एक सम्मूर्च्छिम। जिन जीवोका एक ही साधारण शरीर होता है उन्हें अनन्तकाय या साधारणशरीर कहते है जैसे गुडूची, स्नुही आदि। या अनन्त निगोदिया जीवोंके आश्रित होनेसे जिनकी काय अनन्त है वे अनन्तकाय है अर्थात् सप्रतिष्ठित प्रत्येक जैसे मूली वगैरह। कहा है—

'[4]यतः एक भी अनन्तकाय वनस्पतिका घात करनेकी इच्छावाला पुरुष अनन्त जीवोंका घात करता है अतः सम्पूर्ण अनन्तकाय वनस्पतियोका त्याग अवश्य करना चाहिए।'

---

१ 'ज्वालाङ्गारास्तथाचिश्च मुर्मुर शुद्ध एव च। अग्निश्चेत्यादिका ज्ञेया जीवा ज्वलनकायिका ॥'
—तत्त्वार्थ. ६४।

२ –रघूमकुण्डि–भ. कु. च.।

३ महान् घनतनुश्चैव गुञ्जामण्डलिरुत्कलि । वातश्चेत्यादयो ज्ञेया जीवा. पवनकायिका ॥—तत्त्वार्थ ६५।

४. एकमपि प्रजिघांसुर्निहन्त्यनन्तान्यतस्ततोऽवश्यम्।
करणीयमशेषाणा परिहरणमनन्तकायानाम् ॥—पुरुषार्थ सि., १६२

'[1]मूलाग्रपर्वकन्दोत्थाः स्कन्धबीजसमुद्भवाः।
सम्मूर्छिमास्तथानन्तकायाः प्रत्येककायिकाः ॥
त्वग्मूलकन्दपत्राणि प्रवालः प्रसव फलम् । ३
स्कन्धो गुच्छस्तथा गुल्मस्तृण वल्ली च पर्व च ॥
शैवलं पणकः किण्व कवक कुहणस्तथा ।
वादरा सूक्ष्मकायास्तु जलस्थलनभोगता' ॥ ६
गूढसन्धिशिरापर्वसमभङ्गमहीरुहम् ।
छिन्नोद्भव च सामान्य प्रत्येकमितरद्वपु. ॥
वल्लीवृक्षतृणाद्य स्यादेकाक्ष च वनस्पति । ९
परिहार्या भवन्त्येते यतिना हरिताङ्गिन ॥' [ ]

मूलोत्था. येषा मूलं प्रादुर्भवति ते च हरिद्रार्द्रकादय । पर्वोत्था इक्षुवेत्रादय । कन्दोत्था कदलीपिण्डालुकादय । स्कन्धोद्भवा शल्लकी[2]पालिभद्रादय । बीजोद्भवा यवगोधूमादय । सम्मूर्छिमा १२ मूलाद्यभावेऽपि येषा जन्म स्वयोग्यपुद्गलोपादानकारणात् । दृश्यते हि शृङ्गाच्छै[3]रो गोमयाच्छालूक बीजमन्तरेणोत्पत्तिमत् । एते वनस्पतिजातिबीजोद्भवा सम्मूर्छिमा चेति द्विधा स्यादित्युक्त प्रतिपत्तव्यम् । अनन्तकाया अनन्त' साधारण. कायो येषा ते साधारणाङ्गा स्नुहीगुडुच्यादय. । प्रत्येककायिका. एकमेक प्रति प्रत्येक १५ पृथक् भिन्नो भिन्न कायो येषामस्ति ते पूगनालिकेरादय । उक्त च—

एकमेकस्य यस्याङ्ग प्रत्येकाङ्ग स कथ्यते ।
साधारण. स यस्याङ्गमपरैर्बहुभि समम् ॥ [अमि प स १।१०५] १८

प्रत्येकका भिन्न-भिन्न शरीर जिनका होता है उन वनस्पतियोंको प्रत्येककायिक कहते हैं जैसे नारियल, सुपारी आदि । कहा भी है—'जिस एक वनस्पतिका एक शरीर होता है उसे प्रत्येकशरीर कहते है । और बहुत-से जीवोंका एक ही सामान्य शरीर हो तो उसे साधारण शरीर कहते है' ।

ऊपर जो मूल आदिसे उत्पन्न होनेवाली वनस्पति कही है वह अनन्तकाय भी होती है और प्रत्येककाय भी होती है । तथा सम्मूर्च्छिम भी दोनों प्रकारकी होती हैं । दोनो ही प्रकारकी वनस्पतियोंके अवयव इस प्रकार हैं—छाल, पुष्प, गुच्छा, झाडी । पुष्पके विना उत्पन्न होनेवाले फलोंको फल कहते है । जिसके पुष्प ही होते हैं फल नहीं उन्हें पुष्प कहते है । जिसके-पत्र ही होते हैं फल या पुष्प नहीं होते उसे पत्र कहते हैं । पानीपर जमी काईको शैवल कहते है । गीली ईटोंकी भूमि और दीवारोपर जो काई लग जाती है उसे पणक कहते हैं । वर्षाऋतुमे जो कुकुरमुत्ते उगते है उन्हें किण्व कहते हैं । शृंग वनस्पतिसे उत्पन्न हुए जटाकार अंकुरोको कवक कहते है । भोजनपर आयी फुईको कुहण कहते हैं । पृथिवीकायिक आदि पाँचो वादरकाय भी होते है और सूक्ष्मकाय भी होते है । जिनकी सन्धि, सिरा पर्व अदृश्य होते हैं, तोडने पर समभंग होता है तथा मध्यमे तार आदि लगा नहीं रहता, जो काटनेपर पुनः उग आती है वह सब साधारण वनस्पति है, इसके विपरीत प्रत्येक वनस्पति है । लता, वृक्ष, तृण आदि एकेन्द्रिय वनस्पति हैं । यतिको इन सवका बचाव करना चाहिए । आगमसे

---

१. 'मूलाग्रपर्वकन्दोत्था स्कन्धबीजरुहास्तथा । सम्मूर्छिनश्च हरिता. प्रत्येकानन्तकायिका ॥'—तत्त्वार्थसार ६६

२. पारिभ—भ. कु च ।

३. च्छारो—भ कु च. ।

मूलेत्यादयोऽनन्तकाया प्रत्येककायाश्च भवन्ति। तथा सम्मूर्छिमा अपीति योज्यम्। त्वगित्यादि सम्मूर्छिमवनस्पतिजातिस्वरूपप्रतिपादनार्थमिदमुभयावयवव्यापनार्थं वा। त्वक् छल्ली। प्रसवः पुष्पम्।
३ गुच्छः एककालीनबहुसमूहो जातिमल्लिकादिः। गुल्मः कथारिकाकरमर्दिकादिसंघातः। किं च पुष्पमन्तरेण यस्योत्पत्तिः फलानां स फल इत्युच्यते। यस्य पुष्पाण्येव भवन्ति न फलानि स पुष्प इत्युच्यते। यस्य पत्राण्येव भवन्ति न पुष्पाणि न फलानि स पत्र इत्युच्यते इत्यादि बोध्यम्। शैवलमुदकगतकायिका हरितवर्णा। पिणकः
६ सार्द्रेष्टका भूमिकुड्योद्भवकालिका पञ्चवर्णोल्लिरित्यन्ये। किण्व वर्षाकालोद्भवछत्राणि। कवकः शृङ्गोद्भवाङ्कुराः जटाकाराः। कुहण आहारकंजिकादिगतपुष्पिका। बादरा स्थूलाः पृथिवीकायिकादयः पञ्चाप्येते पूर्वोक्ताः। सूक्ष्मकायाः सर्वेऽपि पृथिव्यादिभेदा वनस्पतिभेदाश्चाङ्गुलासंख्यातभागशरीराः। गूढानि अदृश्यमानानि। समभङ्गं
९ त्वचारहितम्। अहीरुह सूत्राकारादिवर्जितं मञ्जिष्ठादिकम्। छिन्नोद्भवं छिन्नेन छेदेनोद्भवति रोहति। उपलक्षणाद् भिन्नरोहि च। सामान्यं साधारणम्।

मूले कंदे छल्ली पवालसालदलकुसुमफलबीए।
१२ समभंगे सदि णंता असमे सदि हुंति पत्तेया॥
कंदस्स व मूलस्स व सालाखंधस्स वावि बहुलतरी।
छल्ली साणंतजिया पत्तेयजिया दु तणुकदरी॥ [गो. जी. १८८-१८९]

१५ वल्लीत्यादि। प्रत्येकशरीरं किंभूतमिति पृष्टे सत्युत्तरमिदम्—वृक्षाः पुष्पफलोपमा वनस्पतिः फलवान्। हरिताङ्गिनः प्रत्येकाङ्गाः साधारणाङ्गाः सर्वेऽपि हरितकाया इत्यर्थः। जीवत्वं चैषामागमतः सर्वत्वगपहरणे मरणादाहारादिसंज्ञास्तित्वाच्च निश्चेयम्। ते ह्युदकादिना शाद्वला भवन्ति। स्पृष्टाश्च लज्जिकादयः
१८ संकुचन्ति। वनितागण्डूषादिना वकुलादयो हर्षविकासादिकं कुर्वन्ति। निधानादिशि पादादिकं प्रसारयन्तीति क्रमेणाहार-भय-मैथुन-परिग्रहसंज्ञावन्तः किल वृक्षाः स्युः। निगोतलक्षणं यथा—

'साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च।
२१ साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं॥
जत्थेक्कु मरदि जीवो तत्थदु मरणं भवे अणंताणं।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं॥' [गो. जी. १९२-१९३]

सिद्ध है कि इन सबमें जीव होता है तथा यदि पूरी छाल उतार ली जाये तो इनका मरण भी देखा जाता है। इनमें आहार आदि संज्ञा भी पायी जाती है। इससे इनमें जीवत्वका निश्चय होता है। पानी देने पर हरे-भरे हो जाते हैं। लाजवन्तीको छूने पर वह संकुचित हो जाती है। स्त्रीके कुल्लेके पानीसे वकुल आदि विकसित होते हैं। जिस दिशामें धन गड़ा होता है वृक्षकी जड़ें उधर फैलती हैं। इस प्रकार वृक्षोंमें क्रमसे आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा होती है जो संसारी जीवके चिह्न हैं। निगोद जीवका लक्षण गोम्मटसारमें कहा है। उसका व्याख्यान संस्कृत टीका गोम्मटसारके अनुसार किया जाता है—जिन जीवोंके साधारण नामकर्मका उदय होता है वे साधारण जीव होते हैं। उन जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति एक साथ एक ही कालमें होती है। वे सब एक ही साथ श्वास लेते हैं। एक निगोद शरीरमें अनन्त जीवोंका आवास रहता है। प्रति समय अनन्तजीव उत्पन्न होते रहते हैं। पहलेके जीवोंके समान ही दूसरे-तीसरे आदि समयोंमें उत्पन्न हुए अनन्तानन्त जीवोंकी आहारादि पर्याप्ति एक साथ एक कालमें होती है। इस तरह पूर्वाचार्योंने यह साधारण जीवोंका लक्षण कहा है। एक निगोद शरीरमें जब एक जीव अपनी आयु पूरी होनेसे मरता है उसी समय उस शरीरमें रहनेवाले अनन्तानन्त जीव अपनी आयु पूरी होनेसे मरते हैं। जिस निगोद शरीरमें

'एक्काणिगोदसरीरे जीवा दव्वप्पमाणदो दिट्ठा ।
सिद्धे हिं अणतगुणा सव्वेण वितोदकालेण ॥' [गो. जी. १९६]

ते च नित्येतरभेदाद् द्विधा । तद्यथा— ३

'त्रसत्व ये प्रपद्यन्ते कालाना त्रितयेऽपि नो ।
ज्ञेया नित्यनिगोतास्ते भूरिपापवशीकृता. ॥
कालत्रयेऽपि यैर्जीवैस्त्रसता प्रतिपद्यते । ६
सन्त्यनित्यनिगोदास्ते चतुर्गतिविहारिण ॥' [अमि प. स १।११०-१११]

जब एक जीव उत्पन्न होता है तब उसी निगोद शरीरमें समान स्थितिवाले अनन्तानन्त जीव एक साथ उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार जन्म-मरणका समकालमें होना भी साधारणका लक्षण है । दूसरे आदि समयोंमे उत्पन्न अनन्तानन्त जीव भी अपनी स्थितिका क्षय होनेपर साथ ही मरते हैं । इस प्रकार एक निगोद शरीरमे प्रति समय अनन्तानन्त जीव एक साथ ही मरते हैं, एक साथ ही उत्पन्न होते हैं । निगोद शरीर ज्योंका त्यो रहता है । उसकी उत्कृष्टस्थिति असंख्यात कोटाकोटी सागर मात्र है । जबतक यह स्थिति पूरी नहीं होती तबतक जीवोंका उत्पाद और मरण होता रहता है । इतना विशेष वक्तव्य है कि एक बादर निगोद या सूक्ष्म निगोद शरीरमे या तो सब पर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं या सब अपर्याप्तक ही जीव उत्पन्न होते हैं । एक ही शरीरमें पर्याप्त और अपर्याप्त दोनों उत्पन्न नहीं होते, क्योंकि उनके समान कर्मके उदयका नियम है ।

एक निगोद शरीरमे वर्तमान जीव द्रव्यप्रमाणसे सिद्धजीवोंसे अनन्तगुने और समस्त अतीत कालसे भी अनन्तगुने देखे गये हैं । वे दो प्रकारके हैं—नित्यनिगोद और इतर निगोद । सिद्धान्तमे नित्यनिगोदका लक्षण इस प्रकार कहा है—अनादि संसारमें ऐसे अनन्तजीव हैं जिन्होंने त्रस पर्याय कभी भी प्राप्त नहीं की । उनके भाव अर्थात् निगोदपर्याय, उसके कारणभूत कलंक अर्थात् कषायोके उदयसे होनेवाले संक्लेशसे प्रचुर होते हैं । इस प्रकारके नित्य निगोदिया जीव निगोद सम्बन्धी भवस्थितिको कभी नहीं छोडते । इस कारणसे निगोदभव आदि और अन्तसे रहित है । नित्य विशेषणसे चतुर्गतिनिगोदरूप अनित्य निगोदवाले भी जीव हैं ऐसा सूचित होता है । परमागममे दोनों प्रकारके निगोद जीव कहे हैं । अर्थात् जो अनादिसे निगोदपर्यायको धारण किये हुए है वे नित्यनिगोद जीव हैं । और जो बीचमें अन्य पर्याय धारण करके निगोद पर्याय धारण करते है वे अनित्य-निगोद या इतर निगोद जीव हैं । वे सादिसान्त हैं । गाथामें कहा है कि जिनके प्रचुर भाव कलंक है वे निगोदवासको नहीं छोडते । यहाँ प्रचुर शब्द एक देशका अभावरूप है तथा सकल अर्थका वाचक है । इसपरसे ऐसा अर्थ जानना कि जिनके भावकलंक प्रचुर नहीं होता वे जीव नित्यनिगोदसे निकलकर चतुर्गतिमें आते है । अत. आठ समय अधिक छह मासके अन्दर चतुर्गतिरूप जीव राशिसे निकलकर छह सौ आठ जीवोके मुक्ति चले जानेपर उतने ही जीव नित्यनिगोदको छोडकर चतुर्गतिमे आते है । गोमट्टसारकी संस्कृत टीकामें ऐसा व्याख्यान किया है । उक्त गाथा प्राकृत पंचसंग्रहके जीव समासाधिकारमें भी है । आचार्य अमितगतिने उसके आधारपर रचित अपने संस्कृत पचसग्रहमे लिखा है—जो तीनों कालोंमें त्रसपर्यायको प्राप्त नहीं करते वे बहुपापी जीव नित्यनिगोद जानने चाहिए ।

तथा पृथिव्यादय पञ्चापि साधारणा. पृथिव्यादिकाया. पृथिव्यादिकायिका. पृथिव्यादिजीवाश्च भवन्ति। श्लोक.—

'क्षमाद्या: साधारणा: क्षमादिकाया जीवोज्झिता. श्रिता: ।
३ जीवैस्तत्कायिका' श्रेयास्तज्जीवा विग्रहेतिगे. ॥' [ ]

तत्रान्त्यद्वयेऽपि सयतै रक्ष्या । तद्देहाकारा यथा—

'समानास्ते मसूराम्भो विन्दुसूचीव्रजध्वजैः ।
६ धराम्भोऽग्निमरुत्काया क्रमाच्चित्रास्तरुत्रसा: ॥' [अमि पं. सं १।१५४]

ससारिण पुनर्द्वेवा प्रतिष्ठितेतरभेदात् । तद्यथा—

'प्रत्येककायिका देवा. श्वाभ्रा: केवलिनोर्द्वयम् ।
९ आहारकधरा तोयपावकानिलकायिका. ॥
निगोतैर्वादरै सूक्ष्मैरेते सन्त्यप्रतिष्ठिता. ।
पञ्चाक्षा विकला वृक्षा जीवा शेषा प्रतिष्ठिता' ॥' [अमित. पं स १।१६२-१६३]

१२

जो जीव तीनों कालोंमे त्रसपर्याय प्राप्त करते हैं वे चारों गतिमे विहार करनेवाले अनित्य-निगोद जीव है।

श्वेताम्वर परम्परामे नित्यनिगोद शब्द राजेन्द्र अभिधानकोश और पाइअसद्द महण्णवमे भी नहीं मिला। निगोदके दो भेद किये हैं—निगोद और निगोद जीव। सेनप्रश्नके तीसरे उल्लासमे प्रश्न ३४६ में पूछा है कि कुछ निगोद जीव कर्मोंके लघु होनेपर व्यवहार राशिमे आते हैं उनके कर्मोंके लघु होनेका वहाँ क्या कारण है ? उत्तरमे कहा है कि भव्यत्वका परिपाक आदि उनके कर्मोंके लघु होनेमें कारण है। इससे स्पष्ट है कि श्वेताम्वर परम्परामें भी नित्यनिगोदसे जीवोंका निकास मान्य है। अस्तु,

पाँचों पृथिवीकायिक आदिके चार-चार भेद कहे[1] हैं—'पृथिवी, पृथिवीकाय, पृथिवीकायिक, पृथिवीजीव। पहला पृथिवी भेद सामान्य है जो उत्तरके तीनों भेदोंमें पाया जाता है। पृथिवीकायिक जीवके द्वारा छोड़े गये शरीरको पृथिवीकाय कहते हैं। जैसे मरे हुए मनुष्यका शरीर। जीव विशिष्ट पृथिवी पृथिवीकायिक है। जिस जीवके पृथिवीकाय नाम कर्मका उदय है किन्तु विग्रहगतिमें स्थित है, पृथिवीकायमे जन्म लेने जा रहा है किन्तु जबतक वह पृथिवीको कायके रूपमे ग्रहण नहीं करता तबतक उसे पृथिवी जीव कहते हैं। इनमें-से अन्तिम दोकी रक्षा संयमियोंको करनी चाहिए।

इन जीवोंके शरीरका आकार इस प्रकार कहा है—'पृथिवी आदि चारोका शरीर क्रमसे मसूरके समान, जलकी बूँदके समान, सूइयोंके समूहके समान और ध्वजाके समान होता है। वनस्पतिकाय और त्रसकायके जीवोके शरीरका आकार अनेक प्रकारका होता है।'

संसारी जीव दो प्रकारके होते है—सप्रतिष्ठित और अप्रतिष्ठित। यथा—देव, नारकी, सयोग-केवली, अयोगकेवली, आहारकशरीर, पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक और वायुकायिक, वादर और सूक्ष्म निगोदजीवोंसे अप्रतिष्ठित हैं अर्थात् इनके शरीरोमे निगोद-जीवोंका वास नहीं होता। शेष पंचेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और वनस्पतिकायिक जीवोंके शरीर

१. पुढवी पुढवीकायो पुढवीकाइय पुढवीजीवो य।
साहारणोपमुक्को सरीरगहिदो भवतरिदो ॥ —सर्वार्थ. २।१३ में उद्धृत।

तेषा च पूर्णापूर्णाना प्राणसख्या यथा—

'सर्वेष्वङ्गेन्द्रियायूंषि पूर्णेष्वान. शरीरिषु ।
वाग् द्वित्र्यादिहृषीकेषु मन. पूर्णेषु सज्ञिषु ॥ ३
तथा संज्ञिनि चैकैको हीनोऽन्येष्वन्त्ययोर्द्वयम् ।
अपर्याप्तेषु सप्ताद्या एकैकोऽन्येषु हीयते ॥' [अमित. प. स १।१२५-१२६]

सज्ञिन पर्याप्तस्य स्पर्शन रसन घ्राणं चक्षु श्रोत्र मनोवाक्कायवलानि त्रीण्यायुरुच्छ्वासश्चेति दश । ६ असज्ञिनो मनोवर्जा नव । चतुरिन्द्रियस्य मन श्रोत्रवर्ज्या अष्टौ । त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्ज्या. सप्त । द्वीन्द्रियस्य ते घ्राणवर्ज्या. षट् । एकेन्द्रियस्य ते रसनवाग्बलाभ्या विना चत्वार । तथा सज्ञिनोऽसज्ञिनश्चापर्याप्तस्य मनोवागुच्छ्वासवर्जास्ते सप्त । चतुरिन्द्रियस्य श्रोत्रवर्जा षट् । त्रीन्द्रियस्य ते चक्षुर्वर्जा पञ्च । द्वीन्द्रियस्य ते ९ घ्राणं विना चत्वार. । एकेन्द्रियस्य ते रसन विना त्रय । पर्याप्तापर्याप्तलक्षण यथा—

'गृहवस्त्रादिक द्रव्यं पूर्णापूर्णं यथा भवेत् ।
पूर्णेतरास्तथा जीवा. पर्याप्तेतरनामत ॥ १२
आहाराङ्गेन्द्रियप्राणवाच' पर्याप्तयो मन. ।
चतस्र. पञ्च षट् चैकद्व्यक्षादौ सज्ञिना च ता. ॥
पर्याप्ताख्योदयाज्जीव. स्वस्वपर्याप्तिनिष्ठित. । १५
वपुर्यावदपर्याप्तं तावन्निर्वर्त्यपूर्णक ॥
निष्ठापयेन्न पर्याप्तिमपूर्णस्योदये स्वकाम् ।
सान्तर्मुहूर्तमृत्यु. स्याल्लब्ध्यपर्याप्तक. स तु ॥' [ ] १८

निगोदजीवोंसे प्रतिष्ठित होते हैं। इन पर्याप्तक और अपर्याप्तक जीवोंके प्राणोंकी संख्या इस प्रकार है—संज्ञी पर्याप्तकके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र, मनोबल, वचनबल, कायबल, आयु और उच्छ्वास ये दस प्राण होते हैं। असंज्ञीके मनको छोड़कर नौ प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके मन और श्रोत्रको छोड़कर आठ होते है। तेइन्द्रियके उनमे-से चक्षुको छोड़कर सात प्राण होते है। दो-इन्द्रियके उनमे-से घ्राणको छोड़कर छह प्राण होते है। एकेन्द्रियके उनमे-से रसना और वचनबलको छोड़कर चार प्राण होते है। तथा सज्ञी और असंज्ञी अपर्याप्तकके मनोबल, वचनबल और उच्छ्वासको छोड़कर सात प्राण होते हैं। चतुरिन्द्रियके श्रोत्रको छोडकर छह प्राण होते हैं। तेइन्द्रियके चक्षुको छोडकर पॉच प्राण होते है। दोइन्द्रियके घ्राणके विना चार प्राण होते हैं। एकेन्द्रियके रसनाके विना तीन प्राण होते है। पर्याप्त और अपर्याप्तका लक्षण इस प्रकार है—जैसे मकान, घट, वस्त्र आदि द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण होते हैं वैसे ही पूर्ण जीवोंको पर्याप्त और अपूर्ण जीवोंको अपर्याप्त कहते है।

आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन ये छह पर्याप्तियॉ है। इनमे एकेन्द्रियके आरम्भकी चार पर्याप्तियॉ होती हैं, विकलेन्द्रियके पॉच और संज्ञीके छह पर्याप्तियॉ होती हैं।

पर्याप्तिनामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियोकी पूर्तिमे लग जाता है। जबतक शरीरपर्याप्ति पूर्ण नहीं होती तबतक उसे निर्वृत्यपर्याप्तक कहते हैं। और अपर्याप्त नामकर्मका उदय होनेपर जीव अपनी-अपनी पर्याप्तियोकी पूर्ति नहीं कर पाता। अन्तर्मुहूर्तमे ही उसका मरण हो जाता है। उसे लब्ध्यपर्याप्तक कहते है।

पर्याप्तिश्चाहारपरिणामादिशक्तिकारणनिष्पत्तिरुच्यते । श्लोक.—

'आहारपरिणामादि शक्तिकारणसिद्धयः ।
३ पर्याप्तयः षडाहारदेहाक्षोच्छ्वासवाङ्मनः ॥' [ ]

इमे च जीवसमासाश्चतुर्दश—

'समणा अमणा णेया पंचेंदिय णिम्मणा परे सव्वे ।
६ बादर सुहुमेइद्री सव्वे पज्जत्त इदरा य । [द्रव्य सं. १२]

तथा गुणस्थानैर्मार्गणाभिश्च विस्तरेणागमतो जीवान्निश्चित्य रक्षेत् । गुणस्थानानि यथा—

आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी निष्पत्तिको पर्याप्ति कहते हैं। कहा है—'आहारपरिणाम आदि शक्तिके कारणकी सिद्धिको पर्याप्ति कहते हैं। अर्थात् आहारवर्गणा, भाषावर्गणा, मनोवर्गणाके परमाणुओंको शरीर इन्द्रिय आदि रूप परिणमानेकी शक्तिकी पूर्णताको पर्याप्ति कहते हैं। वे छह हैं।'

चौदह जीवसमास इस प्रकार हैं—पंचेन्द्रिय जीव मनसहित भी होते हैं और मन-रहित भी होते हैं। शेष सब जीव मनरहित होते हैं। तथा एकेन्द्रिय जीव बादर भी होते हैं और सूक्ष्म भी होते हैं। इस तरह एकेन्द्रिय बादर, एकेन्द्रिय सूक्ष्म, दो-इन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रियअसंज्ञी, पंचेन्द्रियसंज्ञी ये सातों पर्याप्तक भी होते हैं और अपर्याप्तक भी होते हैं। इस तरह चौदह जीवसमास होते हैं। विस्तारसे ९८ जीवसमास होते हैं—तिर्यंचके ८५, मनुष्यके ९, नारकीके दो और देवोंके दो। तिर्यंचके ८५ जीवसमासोंमें-से सम्मूर्छनके उनहत्तर और गर्भजके १६ जीवसमास होते हैं। सम्मूर्छनके उनहत्तरमें-से एकेन्द्रियके ४२, विकलत्रयके ९ और पंचेन्द्रियके १८ जीवसमास होते हैं। एकेन्द्रियके ४२ जीवसमास इस प्रकार हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, नित्यनिगोद, इतरनिगोद इन छहोंके बादर और सूक्ष्मकी अपेक्षासे १२, तथा सप्रतिष्ठित प्रत्येक अप्रतिष्ठित प्रत्येकको मिलानेसे १४ होते हैं। इन चौदहोंके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षासे ४२ जीवसमास होते हैं। तथा दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय और चतुरिन्द्रियके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा ९ भेद विकलेन्द्रियके होते हैं। जलचर, थलचर, नभचर इन तीनोंके संज्ञी और असंज्ञीकी अपेक्षा ६ भेद होते हैं। और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा अठारह भेद पचेन्द्रिय तिर्यंचके होते हैं। इस तरह सम्मूर्छन पंचेन्द्रियके ६९ भेद होते है। गर्भज पंचेन्द्रिय तिर्यंचके १६भेद इस प्रकार हैं—कर्मभूमिजके १२ और भोगभूमिजके चार। जलचर, थलचर, नभचरके सज्ञी और असंज्ञीके भेदसे छह भेद होते हैं और इनके पर्याप्तक, निर्वृत्यपर्याप्तक और लब्ध्यपर्याप्तककी अपेक्षा १२ भेद होते हैं। भोगभूमिमें थलचर और नभचर ही होते हैं जलचर नहीं होते और वे पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं। इस तरह उनके चार भेद होते हैं। मनुष्योके नौ भेद इस प्रकार हैं—म्लेच्छ मनुष्य, भोगभूमिज और कुभोगभूमिके मनुष्य पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते हैं। आर्यखण्डके मनुष्य लब्ध्यपर्याप्त भी होते है इस तरह नौ भेद होते हैं। नारकी और देव पर्याप्तक और निर्वृत्यपर्याप्तक होते है अत. इन दोनोंके दो-दो भेद होते है। तथा गुणस्थान और मार्गणाओंके द्वारा भी विस्तारसे जीवोंका निश्चय करके उनकी रक्षा करनी चाहिए। गुणस्थान इस प्रकार कहे हैं—

'मिथ्यादृक् शासनो मिश्रोऽसयतोऽणुव्रतस्ततः ।
सप्रमादेतरापूर्वंनिवृत्तिकरणास्तथा ॥
'सूक्ष्मलोभोपशान्ताख्यौ निर्मोहो योग्ययोगिनौ ।
गुणाश्चतुर्दशेत्येते मुक्ता मुक्तगुणा परे ॥' [ ]

मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यक्मिथ्यादृष्टि, असंयतसम्यक्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण उपशमक क्षपक, अनिवृत्तिवादरसाम्पराय उपशमक क्षपक, सूक्ष्मसाम्पराय उपशमक क्षपक, उपशान्त कपाय वीतरागछद्मस्थ, क्षीणकपाय वीतराग छद्मस्थ, सयोगकेवली, अयोगकेवली ये चौदह गुणस्थान हैं। इनमे संसारके सव जीव अपने-अपने परिणामोंके अनुसार विभाजित हैं। मिथ्यात्व कर्मके उदयसे जिनकी दृष्टि मिथ्या होती है उन जीवोंको मिथ्यादृष्टि कहते हैं। मिथ्यादृष्टिको तत्त्वार्थका श्रद्धान नहीं होता। मिथ्यात्व कर्मका उदय दूर होनेपर जिस जीवकी अन्तरात्मा अनन्तानुवन्धी कषायके उदयसे कलुपित होती है उसे सासादन-सम्यग्दृष्टि कहते हैं। आसादन कहते हैं सम्यक्त्वकी विराधनाको। जो आसादनसे सहित है वह सासादन है। अर्थात् जिसने सम्यक्दर्शनको तो विनष्ट कर दिया है और मिथ्यात्व कर्मके उदयसे होनेवाले परिणामको प्राप्त नहीं किया है किन्तु मिथ्यात्वके अभिमुख है वह सासादन है। जिस जीवकी दृष्टि समीचीन और मिथ्या दोनों प्रकारकी होती है उसे सम्यक्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। अर्थात सम्यक्मिथ्यात्वकर्मके उदयसे तत्त्वार्थके श्रद्धान और अश्रद्धानरूप आत्माको सम्यक्मिथ्यादृष्टि कहते हैं। औपशमिक या क्षायोपशमिक या क्षायिक सम्यक्त्वसे युक्त होनेके साथ चारित्र मोहनीयके उदयसे अत्यन्त अविरतिरूप परिणामवाले जीवको असंयत सम्यग्दृष्टि कहते हैं। इससे ऊपरके गुणस्थानोंमे सम्यग्दर्शन नियमसे होता है। जो सम्यग्दृष्टि एक ही समय त्रसहिंसासे विरत और स्थावर जीवोंकी हिंसासे अविरत होता है उसे विरताविरत या सयतासयत कहते है। जो संयमसे युक्त होते हुए भी प्रमादसे युक्त होता है उसे प्रमत्तसंयत कहते हैं। संयमके दो भेद है—प्राणिसयम और इन्द्रियसंयम। दोनों प्रकारके संयमको अपनाये हुए भी पन्द्रह प्रमादोंके कारण जिसका चारित्रपरिणाम कुछ स्खलित होता है वह प्रमत्तसंयत है। संयमको धारण किये हुए जो पूर्वोक्त प्रमादोंके न होनेसे अस्खलित सयम पालता है वह अप्रमत्त संयत है। यहाँसे आगे चार गुणस्थानोंकी दो श्रेणियाँ होती हैं—उपशमश्रेणी, क्षपकश्रेणी। जिसमे आत्मा मोहनीय कर्मका उपशम करते हुए चढता है वह उपशमश्रेणी है और जिसमे मोहनीय कर्मका क्षय करते हुए चढता है वह क्षपकश्रेणी है। करण शब्दका अर्थ परिणाम हैं। और जो पहले नहीं हुए उन्हें अपूर्व कहते हैं। अर्थात विवक्षित समयवर्ती जीवोसे भिन्न समयवर्ती जीवोंके परिणाम अपूर्व होते हैं। इस तरह प्रत्येक समयमे होनेवाले अपूर्व परिणामोके कारण आठवे गुणस्थानको अपूर्वकरण कहते है। इसमे न तो कर्मप्रकृतियोका उपशम होता है और न क्षय होता है। किन्तु पहले और आगे होनेवाले उपशम और क्षयकी अपेक्षा उपचारसे उपशमक या क्षपक कहते है। समान समयवर्ती जीवोंके परिणामोकी भेदरहित वृत्तिको निवृत्ति कहते हैं। और साम्परायका अर्थ कपाय है। वादरका अर्थ स्थूल है। अत स्थूल कपायोंको वादर साम्पराय कहते है और अनिवृत्तिरूप वादर साम्परायको अनिवृत्ति वादर साम्पराय कहते है। अनिवृत्तिरूप परिणामोसे कर्मप्रकृतियोका स्थूलरूपसे उपशम या क्षय होता है। साम्पराय अर्थात् कषाय जहाँ सूक्ष्मरूपसे उपशान्त या क्षय होती

मार्गणा यथा—

'गतय' करण कायो योगो वेदः क्रुधादयः ।
३ वेदन सयमो दृष्टिर्लेश्या भव्यः सुदर्शनम् ॥
सज्ञी चाहारकः प्रोक्तास्ताश्चतुर्दश मार्गणाः ।
मिथ्यादृगादयो जीवा मार्ग्या यासु सदादिभिः ॥ [ ] ॥२२॥

६ अथ परमार्थतः 'प्रमत्तयोग एव हिंसा' इत्युपदिशति—

रागाद्यसङ्गत' प्राणव्यपरोपेऽप्यहिंसकः ।
स्यात्तदव्यपरोपेऽपि हिंस्रो रागादिसंश्रितः ॥२३॥

है वह सूक्ष्मसाम्पराय गुणस्थान है। समस्त मोहनीय कर्मका उपशम या क्षय होनेसे उपशान्त-कषाय और क्षीणकषाय नाम होते हैं। घातिकर्मोंका अत्यन्त क्षय होनेसे जिनके केवलज्ञान प्रकट हो जाता है उन्हें केवली कहते हैं। योगके होने और न होनेसे केवलीके दो भेद होते हैं—सयोगकेवली और अयोगकेवली। ये चौदह गुणस्थान मोक्षके लिए सीढ़ीके तुल्य हैं। जो इनसे अतीत हो जाते है वे सिद्ध जीव कहलाते हैं। चौदह गुणस्थानोंकी तरह चौदह मार्गणाएँ है—गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार ये चौदह मार्गणा हैं। इनमें जीवोंको खोजा जाता है इसलिए इन्हें मार्गणा कहते हैं।

गतिनामकर्मके उदयसे जीवकी जो विशेष चेष्टा होती है, जिसके निमित्तसे जीव चतुर्गतिमे जाता है उसे गति कहते हैं। जो अपने-अपने विषयको ग्रहण करनेमें स्वतन्त्र है वह इन्द्रिय है। आत्माकी प्रवृत्तिसे संचित पुद्गल पिण्डको काय कहते है जैसे पृथिवीकाय, जलकाय आदि। मन-वचन और कायसे युक्त जीवके जो वीर्यविशेष होता है उसे योग कहते हैं। आत्मामें उत्पन्न हुए मैथुन भावको वेद कहते है। जो कर्मरूपी खेतका कर्षण करती है उसे सुख-दुःखरूप फल देने योग्य बनाती है वह कषाय है। वस्तुको जाननेवाली शक्तिको ज्ञान कहते है। व्रतोंका धारण, समितिका पालन, कषायका निग्रह, मन-वचन-कायरूप दण्डोंका त्याग, इन्द्रियोका जय ये सब संयम है। पदार्थोंके सामान्य ग्रहणको दर्शन कहते है। कषाय-के उदयसे रंजित मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। जिस जीवमे सम्यग्दर्शन आदि गुण प्रकट होगे उसे भव्य कहते है वही मोक्ष जाता है। तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहते है। जो जीव मनकी सहायतासे उपदेश आदि ग्रहण करता है वह संज्ञी है, जिसके मन नहीं है वह असंज्ञी है। तीन शरीर और छह पर्याप्तियोके योग्य पुद्गल वर्गणाओंको जो ग्रहण करता है वह आहारक है। इस तरह इन मार्गणाओमें सत् सख्या आदि आठ अनुयोगोंके द्वारा मिथ्यादृष्टि आदि जीवोको जानकर उनकी रक्षा करनी चाहिए। अर्थात् अहिंसा धर्मके पालनके लिए जीवोंके विविध प्रकारोका पूरा ज्ञान होना चाहिए। उसके बिना उनका पूर्ण संरक्षण कर सकना शक्य नहीं होता ॥२२॥

आगे कहते हैं कि यद्यपि प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है किन्तु परमार्थसे प्रमत्तयोग ही हिंसा है—

प्राणोंका घात करनेपर भी यदि व्यक्ति राग-द्वेष और मोहरूप परिणत नही है तो वह अहिंसक है। और प्राणोका घात न होनेपर भी यदि वह राग आदिसे युक्त है तो हिंसक है ॥२३॥

स्पष्टम् । उक्तं च—

> मरदु व जियदु व जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
> पयदस्स णत्थि बधो हिंसामित्तेण समिदस्स । [प्रवचनसार ३।१७] ३

अपि च—

> म्रियतां वा म्रियता जीव[1] प्रमादबहुलस्य निश्चिता हिंसा ।
> प्राणव्यपरोपेऽपि प्रमादहीनस्य सा नास्ति ॥ [अमित श्रा ६।२५] ६

तथा—

> 'अत्ता चेव अहिंसा अत्ता हिंसित्ति णिच्छया समए ।
> जो होइ अप्पमत्तो अहिंसगो हिंसगो इयरो ॥ [भ आरा० ८०] ॥२३॥ ९

विशेषार्थ—जैनधर्मके अनुसार अपने द्वारा किसी प्राणीके मर जानेसे या दुःखी हो जानेसे ही हिंसा नहीं होती। संसारमें सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्तसे मरते भी हैं फिर भी जैन सिद्धान्त इस प्राणिघातको हिंसा नहीं कहता। जैन सिद्धान्तकी दृष्टि-से हिंसारूप परिणाम ही हिंसा है। प्रमत्तयोगसे प्राणघातको हिंसा कहा है। यहाँ प्रमत्तयोग और प्राणघात दो पद इसलिए दिये हैं कि यदि दोनोमे-से एकका अभाव हो तो हिंसा नहीं है। जहाँ प्रमत्तयोग नहीं है केवल प्राणघात है वहाँ हिंसा नहीं है। कहा है—'ईर्यासमिति-पूर्वक चलते हुए तपस्वीके पैर उठानेपर चलनेके स्थानमे यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ गिरे और वह उस साधुके पैरसे कुचलकर मर जावे तो उस साधुको उस सूक्ष्म जन्तुके घातके निमित्तसे सूक्ष्म-सा भी बन्ध आगममे नहीं कहा है।'

और भी आचार्य सिद्धसेनने अपनी द्वात्रिंशिकामें कहा[2] है कि 'कोई प्राणी दूसरेको प्राणोंसे वियुक्त करता है, उसके प्राण ले लेता है फिर भी हिंसासे संयुक्त नहीं होता, उसे हिंसा-का पाप नहीं लगता। एक प्राणी दूसरेको मारनेका कठोर विचार करता है उसका कल्याण नहीं होता। तथा कोई दूसरे प्राणियोंको नहीं मारता हुआ भी हिंसकपनेको प्राप्त होता है। इस प्रकार हे जिन! तुमने यह अतिगहन प्रशमका हेतु—शान्तिका मार्ग बतलाया है।'

क्यों एक प्राणोंका घात करके भी हिंसाके पापका भागी नहीं होता और क्यों दूसरा प्राणोंका घात नहीं करके भी पापका भागी होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जीव चाहे जिये चाहे मरे जो अयत्नाचारी है उसे अवश्य हिंसाका पाप लगता है। किन्तु जो यत्नाचारपूर्वक प्रवृत्ति करता है उसे हिंसा हो जाने मात्रसे पापबन्ध नहीं होता। इस तरह जैनधर्ममें हिंसाके दो भेद किये हैं—द्रव्यहिंसा या बहिरंगहिंसा और भावहिंसा या अन्तरंगहिंसा। केवल द्रव्यहिंसा हिंसा नहीं है भावहिंसा ही हिंसा है। द्रव्यहिंसाके अभावमे भी केवल भावहिंसाके कारण सिक्थकमत्स्य तन्दुलमत्स्य (मरकर) सातवें नरकमे जाता है। अत. शुद्धनयसे अन्तरंग हिंसा ही हिंसा है बाह्यहिंसा हिंसा नहीं है। षट्खं., [पु १४, पृ

---

१. 'म्रियतां मा मृत जीव'—अमि श्राव. ६।२५ ।

२. 'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते, शिवं च न परोपमर्दपरुपस्मृतेर्विद्यते ।
वधोपनयमभ्युपैति च परानन्निघ्नन्नपि त्वयायमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः ॥'

ननु यद्येव तर्हि प्रमत्तयोगे हि सत्येवास्तु किं प्राणव्यपरोपणोपदेशेन इति चेन्न तत्रापि भावलक्षण-प्राणव्यपरोपणसद्भावात् । एतदेव समर्थयमानः प्राह—

३ **प्रमत्तो हि हिनस्ति स्वं प्रागात्माऽऽतङ्कतायनात् ।**
परोऽनु म्रियतां मा वा रागाद्या ह्यरयोऽङ्गिनः ॥२४॥

प्रमत्त.—पञ्चदशप्रमादान्यतमपरिणत । तथा चोक्तम्—

६ 'विकथाक्षकषायाणा निद्राया. प्रणयस्य च ।
अन्यासाभिरतो जन्तु' प्रमत्त परिकीर्तित. ॥' [ ]

प्राक्—परवधात्पूर्वम् । आतङ्कतायनात्—दुष्कर्मनिर्मापकत्वेन स्वस्य सद्य पुरस्ताच्च व्याकुलत्व-
९ लक्षणदु खमतननात् । पर —हन्तुमिष्ट प्राणी । अनु—पश्चात्, आत्महिंसनादूर्ध्वमित्यर्थ. । तदुक्तम्—

'स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान् ।
पूर्वं प्राण्यन्तराणा तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वध ॥' [सर्वार्थसि. ७।१३ में उद्धृत]

१२ रागाद्या हि—रागद्वेषमोहा एव न परप्राणवधः। तेषामेव हि दु.खैककारणकर्मबन्धनिमित्तत्वेनारित्वात्। तथा चोक्तम्—

'न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मक कर्म वा
१५ न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बन्धकृत् ।

९०] में कहा[1] है—'अहिंसा भी स्वयं होती है और हिंसा भी स्वयं होती है। दोनों ही पराधीन नहीं हैं। जो प्रमादहीन है वह अहिंसक है और जो प्रमादसे युक्त है वह सदैव हिंसक है।'

उक्त कथनपर से यह शंका हो सकती है कि यदि प्रमत्तयोगका ही नाम हिंसा है तो हिंसाका लक्षण केवल प्रमत्तयोग होना चाहिए, उसके साथ 'प्राणघात' लगाना व्यर्थ है। इसका समाधान करते हैं—

जो जीव पन्द्रह प्रमादोंमें-से किसी एक प्रमादसे भी युक्त है वह परका घात करनेसे पहले तत्काल अपने दुष्कर्मोंका संचय करनेके कारण और आगे व्याकुलतारूप दु खको बढानेसे अपने ही भावप्राणोंका घात करता है। उसके पश्चात् जिसको मारनेका विचार किया था वह प्राणी मरे या न मरे। क्योंकि राग-द्वेष-मोह ही प्राणीके शत्रु है ॥२४॥

विशेषार्थ—जो दूसरेको मारनेका या उसका अनिष्ट करनेका विचार करता है सबसे प्रथम इस दुर्विचारके द्वारा वह अपने भावप्राणोंका घात करता है। क्योंकि इस दुर्विचारके द्वारा ही उसके अशुभ कर्मोंका बन्ध होता है और इस बन्धके कारण आगे उसे उसका दुःख-रूप फल भोगना पडता है। कहा भी है—'प्रमादी आत्मा पहले तो स्वयं अपने ही द्वारा अपना घात करता है। दूसरे प्राणियोका घात पीछे हो या न हो।'

अपनेसे अपना घात कैसे करता है तो इसका उत्तर है कि प्राणीके असली शत्रु तो राग-द्वेष-मोह है क्योंकि दु खका एकमात्र कारण है कर्म और उस कर्मबन्धमे निमित्त है राग-द्वेष, मोह। अत वे आत्माके अपकार करनेवाले हैं। कहा है—'कर्मबन्धका कारण कर्मयोग्य पुद्गलोसे भरा लोक नहीं है। हलन-चलनरूप मन-वचन-कायकी क्रियारूप योग भी उसका कारण नहीं है। अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ भी बन्धके कारण नहीं हैं, न चेतन और अचेतनका

---

१. 'स्वय ह्यहिंसा स्वयमेव हिंसन न तत्पराधीनमिह द्वय भवेत् ।
प्रमादहीनोऽत्र भवत्यहिंसक प्रमादयुक्तस्तु सदैव हिंसक ॥'

यदैक्यमुपयोगभू. समुपयाति रागादिभि·
स एव किल केवलं भवति बन्धहेतुर्नृणाम् ॥ [समय कलश १६४]

यदि पुन शुद्धपरिणामवतोऽपि जीवस्य स्वशरीरनिमित्तान्यप्राणिप्राणवियोगमात्रेण वध स्यान्न कस्यचिन्मुक्ति स्याद् योगिनामपि वायुकायिकादिवधनिमित्तमद्भावात् । तथा चाभाणि— ३

'जइ सुद्धस्स य वधो होदि हि बहिरगवत्थुजोगेण ।
णत्थि दु अहिंसगो णाम वादरकायादिवधहेदू ॥' [भ आरा ८०६ गा.] ६

एतदेवाह—

तत्त्वज्ञानवलाद् रागद्वेषमोहानपोहत ।
समितस्य न बन्धः स्याद् गुप्तस्य तु विशेषतः ॥२५॥ ९

अपोहत —निवर्तयत ॥२५॥

अथ रागाद्युत्पत्त्यनुत्पत्ती हिंसाहिंसे इति जिनागमरहस्यतया विनिश्चाययति—

घात ही बन्धका कारण है। किन्तु यह जो आत्मा रागादिके साथ एकताको प्राप्त होता है यही जीवोंके वन्धका कारण है।'

जैसे कोई मनुष्य शरीरमे तेल लगाकर धूलभरी भूमिमें शस्त्र-संचालनका अभ्यास करते हुए अनेक वृक्षोंको काटता है और धूलसे लिप्त होता है। अब विचारना चाहिए कि उसके धूलसे लिप्त होनेका कारण क्या है ? धूलभरी भूमि तो उसका कारण नहीं है। यदि वह हो तो शरीरमे तेल लगाये विना जो उसमे व्यायाम करते हैं उनका शरीर भी धूलसे लिप्त होना चाहिए। इसी तरह शस्त्राभ्यास भी उसका कारण नहीं है और न वृक्षोका छेदन-भेदन करनेसे ही धूल चिपटती है। किन्तु उसके शरीरमें लगे तेलके ही कारण उससे धूल चिपटती है। इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव रागादि भावोंसे लिप्त होकर कर्मपुद्गलोंसे भरे लोकमें मन-वचन-कायकी क्रिया करते हुए अनेक उपकरणोंसे सचित्त-अचित्त वस्तुका घात करता है ओर कर्मसे बँधता है। यहाँ विचारणीय है कि बन्धका कारण क्या है ? कर्मपुद्गलोंसे भरा लोक तो वन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो सिद्धोंके भी वन्ध होगा। मन-वचन-कायकी प्रवृत्ति-रूप योग भी बन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो यथाख्यात चारित्रके धारकोको भी बन्ध-का प्रसंग आयेगा। अनेक प्रकारकी इन्द्रियाँ भी बन्धका कारण नही है। यदि हो तो केवल-ज्ञानियोके भी वन्धका प्रसंग आयेगा। सचित्त-अचित्त वस्तुका घात भी वन्धका कारण नहीं है। यदि हो तो समितिमें तत्पर मुनियोको भी वन्ध होगा। अत वन्धका कारण रागादि ही है। यदि शुद्ध परिणामवाले जीवके अपने शरीरके निमित्तसे होनेवाले अन्य प्राणिके घात मात्रसे वन्ध होना माना जाये तो किसीकी मुक्ति नही हो सकती, क्योंकि योगियोके श्वास लेनेसे भी वायुकायिक जीवोका घात होता है। कहा भी है—'यदि बाह्य वस्तुके योगसे शुद्ध परिणामवाले जीवके भी वन्ध होवे तो कोई भी अहिसक नहीं हो सकता, क्योकि शुद्ध योगी-के भी श्वासके निमित्तसे वायुकाय आदि जीवोका वध होता है ॥२४॥

यही वात कहते हैं—

तत्त्वज्ञानके वलसे राग-द्वेष और मोहको दूर करनेवाले और समितिके पालक मुनिराजके वन्ध नहीं होता और गुप्तिके पालकके तो विशेषरूपसे वन्ध नहीं होता ॥२५॥

रागादिकी उत्पत्ति हिसा है और अनुत्पत्ति अहिसा है यह जिनागमका परम रहस्य है ऐसा निश्चय करते हैं—

परं जिनागमस्येदं रहस्यमवधार्यताम् ।
हिंसा रागाद्युदद्भूतिरहिंसा तदनुद्भवः ॥२६॥

अवधार्यता—निश्चलचेतसि निवेश्यताम् । उदुद्भूतिः—'प्रोपोत्सगा पादपूरणे' इत्युदो द्वित्वम् ॥२६॥

३

अथ अष्टोत्तरशतप्रकारहिंसाकारणनिरासादहिंसकः स्यादित्यनुशास्ति कषायेत्यादि—

कषायोद्रेकतो[2] योगैः कृतकारितसम्मतान् ।
स्यात् संरम्भ-समारम्भारम्भानुज्झन्नहिंसकः ॥२७॥

६

सरम्भः—प्राणव्यपरोपणादिषु प्रमादवत प्रयत्नावेशः । समारम्भ.—साध्याया हिंसादिक्रियाया. साधनाना समाहार । आरम्भः—सचितहिंसाद्युपकरणस्याद्य' प्रक्रम. । तथा चोक्तम्—

'सरभोऽकधिसकल्पः समारम्भोऽधितापकः ।
९
शुद्धबुद्धिभिरारम्भः प्राणाना व्यपरोपक. ॥' [ ]

तत्र क्रोधोदयात् कायेन कृत कारितोऽनुमतश्चेति त्रय. सरम्भाः । एव त्रयो मानावेशात्, त्रयो मायोद्रेकात् त्रयश्च लोभोद्भवादिति द्वादश सरम्भा' । तद्वत्समारम्भा आरम्भाश्च द्वादशेति सर्वे मिलिता षट्-
१२

जिनागमका यह उत्कृष्ट सार अपने चित्तमे निश्चित रूपसे अंकित करे कि राग-द्वेप आदिकी उत्पत्ति हिंसा है और उसकी अनुत्पत्ति अहिंसा है ॥२६॥

आगे कहते है कि हिंसाके एक सौ आठ प्रकारके कारणोंको दूर करनेपर ही अहिंसक होता है—

क्रोध आदि कपायोंके उदयसे मन-वचन-कायसे कृत कारित अनुमोदनासे युक्त संरम्भ, समारम्भ और आरम्भको छोडनेवाला अहिंसक होता है ॥२७।

विशेषार्थ—प्राणोंके घात आदिमें प्रमादयुक्त होकर जो प्रयत्न किया जाता है उसे संरम्भ कहते हैं। साध्य हिंसा आदि क्रियाके साधनोका अभ्यास करना समारम्भ है। एकत्र किये गये हिंसा आदिके साधनोंका प्रथम प्रयोग आरम्भ है। क्रोधके आवेशसे कायसे करना, कराना और अनुमोदना करना इस तरह संरम्भके तीन भेद हैं। इसी तरह मानके आवेशसे तीन भेद होते है, मायाके आवेशसे तीन भेद होते हैं और लोभके आवेशसे तीन भेद होते हैं। इस तरह संरम्भके बारह भेद हैं। इसी तरह बारह भेद समारम्भके और बारह भेद आरम्भके होनेसे सब मिलकर छत्तीस भेद होते हैं। छत्तीस ही भेद वचन सम्बन्धी होते हैं और छत्तीस ही भेद मन सम्बन्धी होते हैं। ये सब मिलकर जीवाधिकरणरूप आस्रवके १०८ भेद होते हैं। ये सब हिसाके कारण हैं। आशय यह है कि मूल वस्तु सरम्भ, समारम्भ, आरम्भ है। ये तीन मनसे, वचनसे और कायसे होते हैं इसलिए प्रत्येकके तीन-तीन प्रकार हैं। इन तीन-तीन प्रकारोमें-से भी प्रत्येकके कृत, कारित, अनुमोदनाकी अपेक्षासे तीन-तीन भेद होते हैं। स्वयं करना कृत है, दूसरेसे कराना कारित है। कोई करता हो तो उसकी सराहना करना अनुमोदना है। इस प्रकार संरम्भ, समारभ और आरम्भके नौ प्रकार होते हैं। इन नौ प्रकारोमे-से भी चार कपायोंकी अपेक्षा प्रत्येकके चार-चार भेद होते हैं।

१. रागादीणमणुप्पा अहिसगत्त त्ति भासिद समये ।
तेसिं चेदुप्पत्ती हिंसे त्ति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥—सर्वार्थ. ७।२२ मे उद्धृत ।

२. आद्य सरम्भसमारम्भारम्भयोगकृतकारितानुमतकषायविशेषैस्त्रिस्त्रिस्त्रिश्चतुश्चैकश ।
—तत्त्वा. सू. ६।८

त्रिशत्। तथैव वाचापि ते षट्त्रिंशत्। तथा मनसाऽपि ते षट्त्रिंशदेवेति सर्वे मीलिता अष्टोत्तरशतजीवाधिकरणास्रवभेदा हिंसाकारणानि स्युस्तत्परिणतश्च हिंसक इत्युच्यते आत्मनो भावप्राणाना परस्य च द्रव्यभावप्राणाना वियोजकत्वात्। तथा चोक्तम्— ३

'रत्तो वा दुट्ठो वा मूढो वा ज पउजए पओग।
हिंसा वि तत्थ जायदि तम्हा सो हिंसओ होइ॥' [भ. आरा. ८०२] ॥२७॥

अथ भावहिंसानिमित्तभूतपरद्रव्यनिर्वृत्ति परिणामविशुद्धयर्थमुपदेष्टुमाचष्टे— ६

हिंसा यद्यपि पुंसः स्यान्न स्वल्पाऽप्यन्यवस्तुतः।
तथापि हिंसायतनाद्विरमेद्भावशुद्धये ॥२८॥

अन्यवस्तुत.—परद्रव्यात्। हिंसायतनात्—भावहिंसानिमित्तान्मित्रशत्रुप्रभृते.। भावशुद्धये—भावस्य आत्मपरिणामस्यात्मनो मनसो वा। शुद्धिः—मोहोदयसपाद्यमानरागद्वेषकालुष्योच्छेदस्तदर्थम्। उक्त च— ९

'स्वल्पापि न खलु हिंसा परवस्तुनिवन्धना भवति पुसः।
हिंसायतननिवृत्तिः परिणामविशुद्धये तदपि कार्या॥' [पुरुषार्थसि ४९] १२

तथा यथा जीवपरिणामो हिंसोपकरणभूतो जीवाधिकरणास्रवभेदोऽष्टोत्तरशतसख्य तथाऽजीवपर्यायोऽप्यजीवाधिकरण चतुर्भेद स्यात्ततस्तद्वत्ततोऽपि भावशुद्धयर्थं निवर्तेतेत्यपि 'हिंसायतनाद्विरमेत' इत्यनेनैव सूचितं नेतव्यम्। तद्यथा—निर्वर्तनानिक्षेपसयोगनिसर्गाद् द्विचतुर्द्वित्रिभेदा क्रमादजीवाधिकरणमिष्यते। तत्र हिंसोपकरणतया निर्वर्त्यत इति निर्वर्तना। दु प्रयुक्तो देह सच्छिद्राणि चोपकरणानीति द्विविधा। तया सहसाऽनाभोगदुष्प्रमृष्टाप्रत्यवेक्षितभेदाच्चतुर्धा निक्षेप। तत्र पुस्तकाद्युपकरणशरीरतन्मलानि भयादिना शीघ्र निक्षिप्यमाणानि षट्जीववाधाधिकरणत्वात्सहसानिक्षेप। असत्यामपि त्वराया जीवा सन्तीति न सन्तीति वा निरूपणामन्तरेण निक्षिप्यमाणमुपकरणादिकमनाभोगनिक्षेप। य(त)देव दु प्रमृष्ट निक्षिप्यमाण दु प्रमृष्टो निक्षेप। १५ १८

सब मिलकर १०८ भेद होते हैं। कोई भी हिंसा सम्बन्धी कार्य इन १०८ प्रकारके अन्तर्गत ही आता है। और जो इन प्रकारोंमें-से किसी भी एक प्रकारसे सम्बद्ध होता है वह हिंसक होता है। क्योंकि वह अपने भावप्राणोंका और दूसरेके द्रव्यप्राण और भावप्राणोंका घातक है। कहा भी है—'रागी, द्वेषी और मोही व्यक्ति जो कुछ करता है उसमें हिंसा भी होती है और इसलिए वह हिंसक होता है।'

परद्रव्य भावहिंसामें निमित्त होता है। इसलिए परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परद्रव्यके त्यागका उपदेश देते हैं—

यद्यपि परवस्तुके सम्बन्धसे जीवको थोड़ी-सी भी हिंसाका दोष नहीं लगता। तथापि आत्माके परिणामोंकी विशुद्धिके लिए भावहिंसाके निमित्त मित्र-शत्रु वगैरहसे दूर रहना चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—हिंसाके दो साधन हैं—जीव और अजीव। अतः जैसे जीवके परिणाम, जिनकी सख्या १०८ है, हिंसाके प्रधान साधन हैं वैसे ही अजीवकी चार अवस्थाएँ भी हिंसाकी साधन हैं। अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए उनका भी त्याग आवश्यक है। यह बात श्लोकके 'हिंसायतनाद्विरमेत्' 'हिंसाके निमित्तोंसे दूर रहना चाहिए' पदसे सूचित होती है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—अजीवाधिकरणके भेद हैं निर्वर्तना, निक्षेप, सयोग और निसर्ग। हिंसाके उपकरण रूपसे रचना करने अथवा बनानेको निर्वर्तना कहते हैं।

प्रमार्जनोत्तरकाल जीवा सन्त्यत्र न सन्तीति वाऽप्रत्यवेक्षितं निक्षिप्यमाणमप्रत्यवेक्षितनिक्षेप.। तथा उपकरण-भक्तपानसयोजनभेदाद् द्विधा सयोग । तत्र शीतस्य पुस्तकादेरातपातितसेन पिच्छादिना प्रमार्जनप्रच्छादनादि-
३ करण (-मुपकरण-)सयोजनम्। तथा सम्मूर्छनासभवे पान पानेन पान भोजनेन भोजन पानेनेत्यादि सयोजन भक्तपानसयोग'। तथा दुष्टमनोवाक्कायप्रवृत्तिभेदान्निसर्गस्त्रिधेति । तथा चोक्तम्—

'सहसानाभोगितदु प्रमार्जिताप्रेक्षणानि निक्षेपे।
६ देहश्च [1]दुष्टयुक्तस्तथोपकरण च निर्वृत्ति ॥
सयोजनमुपकरणे पानागनयोस्तथैव सयोगः।
वचनमनस्तनवरता दुष्टा भेदा निसर्गस्य ॥' [ ] ॥२८॥

९ अथेदानीमात्मवत्परस्यापि प्राणव्यपरोपणमसह्यदु खकारणमाकलयन् सर्वत्र समदर्शी सर्वथा तत्परिहरतीति स्थितार्थोपसहारार्थमाह—

उसके दो भेद हैं, मूलगुणनिर्वर्तना और उत्तरगुणनिर्वर्तना। शरीर वगैरहका इस प्रकार प्रयोग करना कि वह हिंसाका साधन बने मूलगुणनिर्वर्तना है। लकड़ी वगैरहमें चित्र आदि अकित करना उत्तरगुणनिर्वर्तना है। निक्षेप नाम रखनेका है। उसके चार भेद हैं—सहसा निक्षेप, अनाभोगनिक्षेप, दु प्रमृष्ट निक्षेप और अप्रत्यवेक्षित निक्षेप। भय आदिके वश पुस्तक आदि उपकरणोंको, शरीरको और मलमूत्र आदिको शीघ्र इस तरह निक्षेपण करना जिससे छह कायके जीवोंको बाधा पहुँचे, उसे सहसा निक्षेप कहते हैं। जल्दी नहीं होनेपर भी 'जीव हैं या नहीं' यह देखे विना उपकरण आदि रखना अनाभोग निक्षेप है। दुष्टतापूर्वक पृथ्वी आदिकी सफाई करके उपकरण आदिका निक्षेप करना दु.प्रमृष्टनिक्षेप है। पृथिवी आदिकी सफाईके बाद भी जीव हैं या नहीं यह देखे विना उपकरण आदिका रखना अप्रत्यवेक्षित निक्षेप है। संयोगके दो भेद हैं—उपकरण संयोग और भक्तपान संयोग। ठण्डे स्थानमें रखी हुई पुस्तक आदिका धूपसे गर्म हुई पीछी आदिसे प्रमार्जन करना या ढाँकना आदि उपकरण संयोग है। सम्मूर्च्छन जीवोंकी सम्भावना होनेपर पेयको पेयसे, पेयको भोजनसे, भोजनको भोजनसे, भोजनको पेयसे अर्थात् सचित्त-अचित्त भक्तपानको मिलाना भक्तपान संयोग है। निसर्गके भी तीन भेद हैं—दुष्ट मनकी प्रवृत्ति, दुष्ट वचनकी प्रवृत्ति और दुष्ट कायकी प्रवृत्ति। कहा भी है—

'परवस्तुके निमित्तसे जीवको थोड़ी-सी भी हिंसा नहीं लगती फिर भी परिणामोंकी निर्मलताके लिए हिंसाके घर जो परिग्रह आदि हैं उनका त्याग करना उचित है। आशय यह है कि परिणामोंकी अशुद्धताके विना परवस्तुके निमित्त मात्रसे जीवको हिंसाका रंचमात्र भी दोष नहीं लगता। फिर भी परिणाम वस्तुका आलम्बन पाकर होते हैं। जैसे यदि बाह्य परिग्रह आदिका निमित्त होता है तो उसका आलम्बन पाकर कषायरूप परिणाम होते हैं। अतः परिणामोंकी विशुद्धिके लिए परिग्रह आदिका त्याग करना चाहिए' ॥२८॥

उक्त कथनसे यह निष्कर्ष निकलता है कि अपनी तरह दूसरेके प्राणोंका घात भी असह्य दुःखका कारण है। ऐसा निश्चय करके सर्वत्र समदर्शी मुमुक्षु सर्वथा हिंसाका त्याग करता है। इसीका उपसहार आगेके पद्यमें करते हैं—

१. दु प्रयुक्त—भ. कु. च।

मोहादैक्यमवस्यतः स्ववपुषा तन्नाशमप्यात्मनो,
नाशं संक्लिशितस्य दुःखमतुलं नित्यस्य यद्द्रव्यतः ।
स्याद् भिन्नस्य ततो भवत्यसुभृतस्तद्घोरदुःखं स्वव-
ज्जानन् प्राणवधं परस्य समधीः कुर्यादकार्यं कथम् ॥२९॥

मोहात्—आत्मदेहान्तरज्ञानाभावात् । अवस्यत —निश्चिन्वत । स्ववपुपा—स्वोपात्तशरीरेण सह आत्मनो नाशमवस्यत इत्येव । सक्लिश्यत.—देहद्वारप्रवृत्तव्याधिजरामरणादिभयादिना कलुषितचित्तस्य । द्रव्यत —अर्थात्पर्यायतश्चानित्यस्य । स्याद्भिन्नस्य तत —कथंचिद् लक्षणभेदान्निजदेहात् पृथग्भूतस्याशक्यविवेचनत्वाच्चाभिन्नस्य । ये तु जीवदेहावत्यन्त (—भिन्नौ मन्य-)न्ते तेपा देहविनाशेऽपि जीवविनाशाभावाद्धिसानुपपत्ते कुतस्तन्निवृत्त्या प्राणिरक्षाप्रधानो धर्म सिद्धयेत् । तदुक्तम्—

'आत्मशरीरविभेदं वदन्ति ये सर्वथा गतविवेका' ।
कायवधे हन्त कथ तेषा सजायते हिंसा ॥' [ ]

ये च तयोरभेदैकान्त मन्यन्ते तेपा कायविनाशे जीवस्यापि विनाशात् कथ परलोकार्थ धर्मानुष्ठान शोभते । तदप्युक्तम्—

'जीववपुपोरभेदो येपामैकान्तिको मत शास्त्रे ।
कायविनाशे तेपा जीवविनाश कथ वार्यं ॥' [ ]

ततो देहाद्भिन्नाभिन्न एवाहिंसालक्षणपरमधर्मसिद्धयर्थिभिरात्माऽभ्युपगन्तव्यः । तथात्मन सर्वथा नित्यस्येव क्षणिकस्यापि हिंसा दुरुपपादा इति नित्यानित्यात्मक एव जीवे हिंसासंभवात्तद्विरतिलक्षणधर्माचरणार्थिभिर्द्रव्यरूपतया नित्य पर्यायरूपतया चानित्य प्रमाणप्रसिद्धो जीव प्रतिपत्तव्य । तथा चोक्तम्—

जो प्राणी आत्मा और शरीरका भेदज्ञान न होनेसे अपने शरीरके साथ अभेद मानता है और शरीरके नाशके साथ द्रव्यरूपसे नित्य तथा शरीरसे कथचित् भिन्न भी आत्माका नाश मानता है अतएव जिसका चित्त शरीरके द्वारा होनेवाले रोगादिके कारण कलुषित रहता है उसे बहुत दु ख होता है। अपनी ही तरह दूसरोंके प्राणोंके घातको भी घोर दु खका कारण जानकर समदर्शी मुमुक्षु कैसे हिंसारूप अकार्यको करेगा ? अर्थात् नहीं करेगा ॥२९॥

विशेषार्थ—शरीर और जीव ये दोनो दो भिन्न द्रव्य हैं। शरीर पौद्गलिक है और जीव चेतन द्रव्य है। किन्तु दोनों इस तरहसे मिल गये हैं कि उनका भेद करना शक्य नहीं है। इसीलिए जीवको शरीरसे सर्वथा भिन्न न कहकर कथंचित् भिन्न कहा है। जो जीव और शरीरको अत्यन्त भिन्न मानते हैं उनके मतमे देहका विनाश होनेपर भी जीवका विनाश न होनेसे हिंसा ही सम्भव नहीं है तब हिंसाके त्याग पूर्वक होनेवाला प्राणिरक्षारूप धर्म कैसे सिद्ध हो सकेगा। कहा भी है—

'विवेक शून्य जो अज्ञानी आत्मा और शरीरमे सर्वथा भेद कहते है उनके यहाँ शरीरका घात होनेपर कैसे हिंसा हो सकती है यह खेदकी बात है। तथा जो शरीर और जीवमें सर्वथा अभेद मानते हैं उनके मतमे शरीरका विनाश होनेपर जीवका विनाश भी होनेसे कैसे परलोकके लिए धर्मका अनुष्ठान शोभित होता है ?' 'जिनके शास्त्रमे जीव और शरीरका एकान्तसे भेद माना है उनके यहाँ शरीरका विनाश होनेपर जीवके विनाशको कैसे रोका जा सकता है ?'

'जीवस्य हिंसा न भवेन्नित्यस्यापरिणामिनः ।
क्षणिकस्य स्वय नाशात्कथ हिंसोपपद्यताम् ॥' [ ]

३ असुभृत'—प्राणिन । अकार्यं—न हिंस्यात् सर्वभूतानीति शास्त्रे निषिद्धत्वान्न कर्तव्य नित्यादिपक्षे तूक्तनीत्या कर्तुमशक्य च । कथ—केन प्रकारेण मनोवाक्कायकृतकारितानुमनननाना मध्ये न केनापि प्रकारेणेत्यर्थ । तथा चाहु —

६ 'षड्जीवनिकायवध यावज्जीव मनोवचःकायैः ।
कृतकारितानुमननैरुपयुक्त' परिहर सदा त्वम् ॥' [ ] ॥२९॥

अथ प्राणातिपातादिहामुत्र च घोरदुर्निवारमपाय दर्शयित्वा ततोऽत्यन्त शिवार्थिनो निवृत्तिमुपदिशति—

९ **कुष्ठप्रष्ठैः करिष्यन्नपि कथमपि यं कर्तुमारभ्य चाप्त-**
भ्रंशोऽपि प्रायशोऽत्राप्यनुपरममुपद्रूयतेऽतीवरौद्रैः ।
यं चक्राणोऽथ कुर्वन् विधुरमधरधीरेति यत्तत्कथास्तां-
१२ **कस्तं प्राणातिपातं स्पृशति शुभमतिः सोदरं दुर्गतीनाम् ॥३०॥**

कुष्ठप्रष्ठै —कुष्ठजलोदरभगन्दरादिमहारोगै । करिष्यन्—कर्तुमिच्छन् । आप्तभ्रंश.—प्राप्ततत्करणान्तराय. । अत्रापि—इह लोकेऽपि । अनुपरम—अनवरतम् । उपद्रूयते—पीड्यते । चक्राण.—
१५ कृतवान् ॥३०॥

इसलिए जो अहिंसारूप परमधर्मकी सिद्धिके अभिलाषी है उन्हें आत्माको शरीरसे कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न मानना चाहिए। इसी तरह सर्वथा नित्य आत्माकी तरह सर्वथा क्षणिक आत्माकी भी हिंसा सम्भव नहीं है क्योंकि वह तो क्षणिक होनेसे स्वयं ही नष्ट हो जाती है। कहा है—'सर्वथा अपरिणामी नित्य जीवकी तो हिंसा नही की जा सकती, और क्षणिक जीवका स्वयं ही नाश हो जाता है। तब कैसे हिसा बन सकती है।'

इसलिए जीवको कथंचित् नित्य और कथंचित् अनित्य माननेपर ही हिसा सम्भव है। अतः अहिंसारूप धर्मका पालन करनेके इच्छुक मुमुक्षुओको द्रव्यरूपसे नित्य और पर्याय-रूपसे अनित्य जीव स्वीकार करना चाहिए। ऐसा जीव ही प्रमाणसे सिद्ध होता है। इस प्रकार जीवका स्वरूप निश्चित रूपसे जानकर जीवहिंसाका त्याग करना चाहिए। कहा भी है—'तू सदा मन, वचन, काय और कृत कारित अनुमोदनासे छह कायके जीवोकी हिसा जीवनपर्यन्तके लिए छोड़ दे।' ॥२९॥

प्राणोके घातसे इस लोक और परलोकमें ऐसी भयानक आपत्तियाँ आती है जिनको दूर कर सकना शक्य नहीं है इसलिए उससे मुमुक्षुको अत्यन्त दूर रहने का उपदेश देते है—

जिस हिंसाको करनेकी इच्छा करनेवाला भी इसी जन्ममें अत्यन्त भयानक कुष्ठ आदि रोगोसे निरन्तर पीड़ित रहता है। केवल उसे करनेकी इच्छा करनेवाला ही पीडित नही होता किन्तु जो आरम्भ करके किसी भी कारणसे उसमे बाधा आ जानेके कारण नही कर पाता वह भी इसी जन्मसे प्राय. भयंकर रोगोसे पीडित होता है। जो उस हिंसाको कर चुका है अथवा कर रहा है वह कुबुद्धि जिस कष्टको भोगता है उसकी कथा तो कही नही जा सकती। अपने कल्याणका इच्छुक कौन मनुष्य दुर्गतियोकी सगी बहन हिंसाके पास जाना भी पसन्द करेगा ॥३०॥

अथ हिंसाया दुर्गतिदुःखैकफलत्वमुदाहरणेन प्रव्यक्तीकर्तुमाह—

मध्ये मस्करजालि दण्डकवने संसाध्य विद्यां चिरात्
कृष्टं शम्बुकुमारकेण सहसा तं सूर्यहासं दिवः ।
धृत्वायान्तमसिं बलाद् रभसया तां च्छिन्दता तच्छिर-
श्छिन्नं यत्किल लक्ष्मणेन नरके ही तत्खरं भुज्यते ॥३१॥ ३

मध्ये मस्करजालि—वंशजालिमध्ये । चिरात्—षण्मासात् । शम्बुकुमारकेण—सूर्पणखापुत्रेण । रभसया—अविमृश्यकारितया । तां—वंशजालिम् ॥३१॥ ६

अथ हिंसाया परिणतिरिवाविरतिरपि हिंसात्वात्तत्फलप्रदेति हिंसां न करोमीति स्वस्थमन्यो भवान्मा-भूदिति ज्ञानलवदुर्विदग्धं बोधयति— ९

स्थान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्येव स्यां सुखीति मा ।
अविरामोऽपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत् ॥३२॥

विशेषार्थ—जो हिंसा करनेका विचार करता है और प्रारम्भ करके भी बाधा आ जानेसे कर नहीं पाता वह भी प्रायः इसी जन्ममें भयंकर रोगोंसे सदा पीडित रहता है। किन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि ऐसे लोगोंको इस जन्ममे कोई पीडा नही होती। इसलिए 'प्रायः' पद दिया है जो बतलाता है कि दैववश यदि उस जन्ममे पीड़ा नही होती तो जन्मान्तरमे अवश्य पीडा होती है। तथा हिंसाको दुर्गतियोंकी सगी बहन कहा है क्योंकि हिंसक जीवोंको अवश्य ही नरकादि गतियोंमें जाकर दुःख उठाना पडता है ॥३०॥

हिंसाका एकमात्र फल दुर्गतिका दुःख है यह बात उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

पद्मपुराणमे कहा है कि शम्बुकुमारने दण्डकवनमे बॉसोके झुरमुटमे बैठकर छह मास तक विद्या सिद्ध करके सूर्यहास खड्ग प्राप्त करनेका उपक्रम किया था। जब वह खड्ग आकाशसे आया तो सहसा उसे ग्रहण करके लक्ष्मणने बिना विचारे बलपूर्वक उस वंशजालको उस खड्गसे काटा तो शम्बुकुमारका सिर कट गया। उसीका अतिदुःसह फल नरकमे आज भी लक्ष्मण भोगते है यह बड़े खेदकी बात है ॥३१॥

विशेषार्थ—पद्मपुराणमें कहा है कि जब रामचन्द्रजी सीता और लक्ष्मणके साथ वनवासी होकर दण्डकवनमें पहुँचे तो वहाँ रावणकी बहन शूर्पणखाका पुत्र बॉसोके झुरमुटमे बैठकर छह माससे विद्या सिद्ध करता था। देवोपनीत खड्ग आकाशमें लटक रहा था। लक्ष्मण वनमें घूमते हुए उधरसे निकले और उन्होंने लपककर सूर्यहास खड्ग हस्तगत कर लिया। उसकी तीक्ष्णता जाननेके लिए उन्होंने उसी बॉसोंके झुरमुटपर उसका प्रहार किया। फलतः बॉसोंके साथ उनके भीतर बैठे शम्बुकुमारका सिर भी कट गया। यह घटना ही आगे चलकर सीताहरण और राम-रावणके युद्धमे कारण बनी। फलतः लक्ष्मण मरकर नरकमे गये ॥३१॥

आगे ग्रन्थकार अज्ञानीको समझाते हैं कि हिंसा करनेकी तरह हिंसाका त्याग न करनेसे भी हिंसाका ही फल मिलता है इसलिए मैं हिंसा नहीं करता ऐसा मानकर आप निश्चिन्त न होवें—

हे सुखके इच्छुक जीव! मैं यदि अहिंसाका पालन नहीं करता तो हिंसा भी नहीं करता, अतः मुझे अवश्य सुख प्राप्त होगा, ऐसा मानकर मत बैठ। क्योंकि हिंसाके परिणाम-

मा स्थात्—मा भूद्भवानित्यर्थ । अविरामः—प्राणिन. प्राणान्न व्यपरोपयामीति संकल्पाकरणलक्षणमविरमणम् । वाम:—प्रतिकूलो दु:खकारीत्यर्थ । परिणामवत्—हिनस्मीति परिणतिर्यथा । उक्त च—

'हिंसाया अविरमणं वधपरिणामोऽपि भवति हिंसैव ।
३ तस्मात्प्रमत्तयोगे प्राणव्यपरोपणं नित्यम् ॥' [पुरुषार्थ. ४८] ॥३२॥

अथ हिंसाया अहिंसायाश्च परिपाट्या फलोद्रेक दृष्टान्तेन कथयित्वा अहिंसापरिणत्यै स्वहितोद्यतान्नितान्तमुद्यमति—

६ धनश्रियं विश्रुतदुःखपाकामाकर्ण्य हिंसां हितजागरूकाः ।
छेत्तुं विपत्तीर्मृगसेनवच्च श्रियं वरीतुं व्रतयन्त्वहिंसाम् ॥३३॥

वरीतुं—सभक्तुम् । व्रतयन्तु—व्रता (?) अहिंसाया परिणमतामित्यर्थ ॥३३॥

की तरह मैं प्राणीके प्राणोंका घात नहीं करूँगा इस प्रकारके संकल्पका न करना रूप अविरति भी दुःखकारी है ॥३२॥

विशेषार्थ—जबतक किसी बातका संकल्पपूर्वक त्याग नहीं किया जाता तबतक केवल उसे न करनेसे ही उसके फलसे छुटकारा नहीं होता। संकल्पपूर्वक त्याग न करना ही इस बातका सूचक है कि उस ओर प्रवृतिमें राग है। जैसे कोई आदमी किसी विषयका सेवन नहीं करता। उससे कहा जाये कि तुम उसका त्याग कर दो तो वह त्याग करनेके लिए यदि तैयार नहीं होता तो स्पष्ट है उसे उस विषयसे अरुचि नहीं है। और यह स्थिति विषय सेवनकी तरह ही दुःखकारक है। यही बात हिंसा न करते हुए भी हिंसाका त्याग न करनेमें लागू होती है। कहा भी है—'हिंसासे विरक्त न होना और हिंसारूप परिणाम भी हिंसा ही है। इसलिए प्रमादरूप आत्मपरिणामोंके होनेपर निरन्तर प्राणघात होता है।'

क्रमसे हिंसा और अहिंसाके उत्कट फलको दृष्टान्तके द्वारा प्रकट करके आत्महितमें तत्पर मुमुक्षु जनोंको अहिंसा परिणतिके लिए अत्यन्त उद्यम करनेकी प्रेरणा करते हैं—

धनश्रीने हिंसाका फल जो घोर दुःख भोगा वह आगमसे प्रसिद्ध है। उसे सुनकर अपने हितमें जागरूक मुमुक्षु जनोंको विपत्तियोंको नष्ट करनेके लिए और लक्ष्मीका वरण करनेके लिए मृगसेनधीवरकी तरह अहिंसापालनका व्रत लेना चाहिए ॥३३॥

विशेषार्थ—रत्नकरण्ड श्रावकाचारमें हिंसा नामक पापके करनेमें धनश्रीको प्रसिद्ध कहा है। धनश्री वणिक् धनपालकी पत्नी थी। उसके एक पुत्र था और एक पुत्री थी। उसने एक बालक कुण्डलको पाला था। सेठके मरने पर धनश्री उस पालित कुण्डलमें अनुरक्त हो गयी। जब उसका पुत्र समझदार हुआ तो धनश्रीने उसे मारनेका प्रबन्ध किया। यह बात उसकी पुत्रीको ज्ञात हो गयी और उसने अपने भाईको सावधान कर दिया। प्रतिदिन कुण्डल पशु चराने जंगलमें जाता था। एक दिन धनश्रीने अपने पुत्रको पशु चराने भेजा। सावधान पुत्रने पशुओंको जंगलमें छोड दिया और एक ठूठको अपने वस्त्र पहिराकर स्वयं छिप गया। पीछेसे कुण्डल उसे मारनेके लिये गया और उसने ठूँठको गुणपाल जानकर उसपर खड्गसे प्रहार किया। उसी समय गुणपालने उसी खड्गसे उसका वध कर दिया और घर लौट आया। धनश्रीने उससे पूछा, कुण्डल कहाँ है? रक्तसे सना खड्ग दिखा कर गुणपालने कहा—इससे पूछो। धनश्रीने तत्काल उसी खड्गसे अपने पुत्रको मार दिया। कोलाहल होनेपर धनश्रीको पकड़कर राजदरबारमें उपस्थित किया गया। राजाने उसके नाक कान काटकर गधे पर बैठाकर देशसे निकाल दिया। मरकर उसने नरकादि गतिमें भ्रमण किया। इसी तरह मृग

अथ वाङ्मनोगुप्तीर्यादाननिक्षेपणसमित्यालोकितपानभोजनभावनापञ्चकेन भाव्यमानमहिंसामहाव्रतं स्थिरीभूय परं माहात्म्यमासादयतीत्युपदिशति—

निगृह्णतो वाङ्मनसी यथावन्मार्गं चरिष्णोर्विधिवद्यथार्हम् । ३
आदाननिक्षेपकृतोऽन्नपाने दृष्टे च भोक्तुः प्रतपत्यहिंसा ॥३४॥

चरिष्णोः—साधुत्वेन पर्यटतः । विधिवत्—शास्त्रोक्तविधानेन । यथार्हं—यदसंयमपरिहारेणादातुं निक्षेप्तुं च योग्यं ज्ञानसंयमाद्युपकरणं तदनतिक्रमेण । आदाननिक्षेपकृतः—ग्रहणस्थापनकारिणः । दृष्टे— ६ कल्पते (—न कल्पते—) वेति चक्षुषा निरूपिते । भोक्तुः—साधुभुञ्जानस्य । प्रतपति—अव्याहतप्रभावो भवति ॥३४॥

सेन धीवर प्रतिदिन जाल लेकर मछली मारने जाता था। एक दिन एक साधुको उसने नमस्कार किया और उनका उपदेश सुना। साधुने उससे कहा कि तुम्हारे जालमें जो पहली मछली आये उसे मत मारना। उसने ऐसा ही किया। उस मछली पर निशानके लिए धागा बाँधकर जलमे छोड़ दिया। किन्तु उस दिन पाँच बार वही मछली उसके जालमें आयी और उसने उसे जलमे छोड़ दिया। इतनेमें सन्ध्या हो गयी और वह खाली हाथ घर लौटा। उसकी पत्नीने उसे खाली हाथ देखकर द्वार नहीं खोला। वह बाहर ही सो गया और साँपके काटनेसे मर गया। मरकर उसने दूसरे जन्ममे जिस तरह पाँच बार मृत्युके मुखसे छुटकारा पाया, उसकी रोचक कथा कथाकोश आदि ग्रन्थोंमे वर्णित है। अतः हिंसाको त्यागकर अहिंसा पालनका व्रत लेना चाहिए ॥३३॥

आगे कहते हैं कि वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदाननिक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन इन पाँच भावनाओंसे भाया गया अहिंसाव्रत स्थिर होकर उत्कृष्ट माहात्म्यको प्राप्त कराता है—

जो मुमुक्षु संक्लेश, सत्कार, लोक प्रसिद्धि आदिकी चाहको त्यागकर वचन और मनका निरोध करता है, शास्त्रोक्त विधानके अनुसार मार्गमें चलता है, असंयमको बचाते हुए ग्रहण करने और रखनेके योग्य पुस्तकादि उपकरणोंका ग्रहण और निक्षेपण करता है तथा यह योग्य है या नहीं इस प्रकार आँखोंसे देखकर अन्न पानको खाता है, उसकी अहिंसा बडी प्रभावशाली होती है ॥३४॥

विशेषार्थ—अहिंसाव्रतकी पाँच भावनाएँ आगममें कही हैं—वचन गुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्यासमिति, आदान निक्षेपण समिति और आलोकित पान भोजन। इन्हींका स्वरूप ऊपर कहा है और आगे भी कहेंगे। इन भावनाओंसे अहिंसाकी पुष्टि होती है। वचनका निरोध करनेसे कठोर आदि वचनसे होने वाली हिंसा नहीं होती। मनका निरोध होनेसे दुर्विचारसे होनेवाली हिंसा नहीं होती। ईर्या समिति पूर्वक चलनेसे मार्ग चलनेसे होनेवाली हिंसा नहीं होती। देखकर उपकरणोंको ग्रहण करने और देखकर रखनेसे उठाने-धरनेमें होनेवाली हिंसा नहीं होती। देखकर दिनमे खानपान करनेसे भोजन-सम्बन्धी हिंसाका बचाव होता है। साधुको इतनी ही क्रियाएँ तो करनी पडती हैं। यदि प्रमादका योग न हो तो हिंसा हो नहीं सकती। अतः सदा अप्रमादी होकर ही प्रवृत्ति करना चाहिए। तभी अहिंसाका पालन पूरी तरहसे सम्भव है ॥३४॥

अथैतद्भावनावता निजानुभावभरनिर्भरमहिंसामहाव्रती दूरमारोहतीति प्रतिपादयितुमाह—

सम्यक्त्व-प्रभुशक्ति-सम्पदमल-ज्ञानामृतांशुद्रुति-
३ निःशेषव्रतरत्नखानिरखिलक्लेशाहिताक्ष्यहितिः।
आनन्दामृतसिन्धुरद्भुतगुणामर्त्यागभोगावनी
श्रीलीलावसतिर्यशःप्रसवभूः प्रोदेत्यहिंसा सताम् ॥३५॥

६ शक्तिसम्पत्—शक्तित्रयी। अयमर्थः—यथा विजिगीषु

'मन्त्रशक्तिर्मतिबलं कोशदण्डबलं प्रभोः।
प्रभुशक्तिश्च विक्रान्तिबलमुत्साहशक्तिता ॥' [ ]

९ इति शक्तित्रयेण शत्रूनुन्मूलयति एवं सम्यक्त्वं कर्मशत्रूनहिंसया। अमृतांशुः-चन्द्रः। द्रुतिः—निर्यासः।
तथा चोक्तम्—

'सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम्।
१२ व्रतगुणशीलादीनां पिण्डः सारोऽपि चाहिंसा ॥' [ ]

ताक्ष्यहितिः—गरुडाघातः। अमर्त्यागाः—कल्पवृक्षाः। भोगावनी—देवकुरुप्रमुखभोगभूमिः।
यथाऽसौ कल्पवृक्षैः सततं संयुक्तं तथा अहिंसा जगच्चमत्कारकारिभिस्तपःसंयमादिभिर्गुणैरित्यर्थः। श्रीलीलाव-
१५ सतिः—लक्ष्म्या लीलागृहं निरातङ्कतया सुखावस्थानहेतुत्वात् ॥३५॥

अथ द्वादशभिः पद्यैः सत्यव्रतं व्याचिकीर्षुरसत्यादीनां हिंसापर्यायत्वात्तद्विरतिरप्यहिंसाव्रतमेवेति ज्ञापयति—आरमेत्यादि—

आगे कहते हैं कि इन भावनाओंको भानेवाले साधुओंका अहिंसा महाव्रत, जो पालन करनेवालेके भावों पर निर्भर है, उन्नत होता है—

अहिंसा सम्यग्दर्शनरूपी राजाकी शक्तिरूप सम्पदा है, निर्मलज्ञानरूपी चन्द्रमाका निचोड़ है, समस्त व्रतरूपी रत्नोंके लिए खान है, समस्त क्लेशरूपी सर्पोंके लिए गरुडका आघात है, आनन्द रूपी अमृतके लिए समुद्र है, अद्भुतगुण रूपी कल्पवृक्षोंके लिए भोग भूमि है, लक्ष्मीके विलासके लिए घर है, यशकी जन्मभूमि है। उक्त आठ विशेषणोंसे विशिष्ट अहिंसा असाधारण रूपसे शोभायमान होती है ॥३५॥

विशेषार्थ—जैसे जीतनेका इच्छुक राजा मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्तिसे सम्पन्न होने पर शत्रुओंका उन्मूलन करता है। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन अहिंसाके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंको नष्ट करता है। निर्मल ज्ञानका सार अहिंसा ही है। कहा भी है—'अहिंसा समस्त सिद्धान्तोंका हृदय है, सर्वशास्त्रोंका गर्भ है, व्रत, गुण, शील आदिका पिण्ड है। इस प्रकार अहिंसा सारभूत है।' अहिंसामें-से ही व्रतोंका निकास होता है। तथा जैसे गरुडकी चोंचके प्रहारसे सर्प भाग जाते हैं वैसे ही अहिंसासे सब क्लेश दूर होते हैं। जैसे समुद्रसे अमृत निकलता है वैसे ही अहिंसासे आनन्द रूप अमृत पैदा होता है। जैसे उत्तरकुरु आदि भोगभूमि सदा कल्प वृक्षोंसे पूर्ण रहती है वैसे ही अहिंसा, तप, संयम आदि गुणोंसे पूर्ण होती है। अहिंसकके घरमें लक्ष्मीका आवास रहता है और जगत्में उसका यश छाया रहता है। इस प्रकार अहिंसा महाव्रतका स्वरूप तथा माहात्म्य जानना ॥३५॥

आगे बारह श्लोकोंसे सत्यव्रतका कथन करते हुए बताते हैं कि असत्य आदि सभी पाप हिंसाकी ही पर्याय हैं अतः उनका त्याग भी अहिंसा व्रत ही है—

आत्मंहिंसनहेतुत्वाद्धिंसैवासूनृताद्यपि ।
भेदेन तद्विरत्युक्तिः पुनरज्ञानुकम्पया ॥३६॥

आत्मनो हिंसनं शुद्धपरिणामोपमर्दः स एव हेतुरस्य तद्भावात् प्रमत्तयोगैकहेतुकत्वादित्यर्थः । उक्तं च— ३
'आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत् ।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृतं शिष्यबोधाय ॥' [पुरुषार्थ. ४२] ॥३६॥

अथ सत्यव्रतस्वरूपं निरूपयन्नाह— ६

अनृताद् विरतिः सत्यव्रतं जगति पूजितम् ।
अनृतं त्वभिधानं स्याद् रागाद्यावेशतोऽसतः ॥३७॥

अनृतात्—असत्ययोग्यादात्मपरिणामात् तस्यैव कर्मबन्धनिबन्धनत्वेन वस्तुवृत्त्या परिहार्यत्वात्, तन्नि- ९
मित्तिकपौद्गलिकवचनस्य व्यवहारेणैव परिहार्यत्वसमर्थनात् । असतः—अशोभनस्य कर्मबन्धनिमित्तवचनस्य इत्यर्थः ॥३७॥

केवल प्राणोंका घात ही हिंसा नहीं है किन्तु असत्य बोलना वगैरह भी हिंसा है क्योंकि उससे भी आत्मा की हिंसा होती है। फिर भी सत्य आदिका अहिंसासे पृथक् कथन मन्दबुद्धि लोगों पर कृपाकी भावनासे किया गया है ॥३६॥

विशेषार्थ—हिंसाका लक्षण जो प्रमत्तयोगसे प्राणोंका घात कहा है वह झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन सभी पापोंमें घटित होता है क्योंकि ये सभी पाप आत्माके शुद्ध परिणामोंके घातक हैं। आत्मामें किसी भी प्रकारका विकार भाव उसका घातक होता है। अतः विकार मात्र हिंसा है। झूठ बोलनेका भाव, परायी वस्तुको चुरानेका भाव, स्त्री भोगका भाव, धन-सम्पत्तिके अर्जन, संचय और संरक्षणका भाव ये सभी विकार भाव हैं। आत्माका इनसे घात होता है, आत्मा अपने शुद्ध परिणाम रूप स्वभावसे च्युत होकर अशुद्ध रूप परिणमन करता है उसका यह परिणमन ही हिंसा है। अतः विकार मात्र हिंसा है किन्तु मन्द बुद्धि लोग इसको नहीं समझते। इसीसे सत्यव्रत आदि चार व्रतोंका पृथक् कथन किया है। कहा भी है—'आत्माके परिणामोंके घातमें कारण होनेसे ये सभी हिंसा रूप हैं फिर भी असत्य वचन आदिका कथन शिष्योंको समझानेके उद्देश्यसे किया है' ॥३६॥

आगे सत्यव्रतका स्वरूप कहते हैं—

रागद्वेषरूप परिणामोंके आवेशसे अशोभनीय वचनोंके बोलनेको अनृत कहते हैं। उस अनृतके त्यागको सत्यव्रत कहते हैं। यह सत्यव्रत जगत्में पूजनीय है ॥३७॥

विशेषार्थ—जैनधर्ममें प्रत्येक व्रत आत्मपरिणाम रूप है। अतः यहाँ अनृतसे असत्य वचन योगरूप आत्मपरिणाम लिया गया है क्योंकि वही कर्मबन्धमें निमित्त होनेसे वास्तवमें त्यागने योग्य है। वचन वर्गणाके अवलम्बनसे वाक् परिणामके अभिमुख आत्माके प्रदेशोंमें जो हलन-चलन होता है उसे वचन योग कहते हैं। उसके चार भेदोंमें-से एक भेद असत्य वचन योग है वही वस्तुतः त्यागने योग्य है। उस योगमें निमित्त जो पौद्गलिक वचन है व्यवहारसे ही उनके त्यागका समर्थन होता है। 'असत्' का अर्थ है अप्रशस्त, अशोभन।

---

१ 'असदभिधानमनृतम्' ।—त. सू. ७।१४।
यदिदं प्रमादयोगादसदभिधानं विधीयते किमपि ।
तदनृतं विज्ञेयं तद्भेदाः सन्ति चत्वारः ॥—पुरुषार्थ, ९१ श्लो. ।

अथ चतुःप्रकारमनृतं सोदाहरणं निरूप्य तत्परिहारं त्रिविधेन विधातुमार्याद्वयमाह—

नोऽकालेऽस्ति नृणां मृतिरिति सत्प्रतिषेधनं शिवेन कृतम् ।
क्ष्मादीत्यसदुद्भावनमुक्षा वाजीति विपरीतम् ॥३८॥
सावद्याप्रियगर्हितभेदात्त्रिविधं च निन्द्यमित्यनृतम् ।
दोषोरगवल्मीकं त्यजेच्चतुर्धापि तत्त्रेधा ॥३९॥ [युग्मम्]

३

६

अकाले—आयुःस्थितिकालादन्यदा । नृणां—चरमदेहवर्जकर्मभूमिमनुष्याणाम् । सत्प्रतिषेधनं—अकालेऽपि विषवेदनादिना विद्यमानस्य मरणस्य निषेधनम् । तदुक्तम्—

और जिससे प्राणीको कष्ट पहुँचता है वह वचन अप्रशस्त है भले ही वह सत्य हो। जैसे काने आदमीको काना कहना यद्यपि सत्य है तथापि पीड़ाकारक होनेसे वह असत्यमें ही सम्मिलित है ॥३७॥

चार प्रकारके असत्यका उदाहरणपूर्वक निरूपण करके मन-वचन-कायसे उनका त्याग करनेके लिए दो आर्या छन्द कहते हैं—

असत्यके चार भेद हैं—सत्का निषेध, असत्का उद्भावन, विपरीत और निन्द्य। चरमशरीरीके सिवाय अन्य कर्मभूमिया मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता ऐसा कहना सत्प्रतिषेध नामक प्रथम असत्य है। पृथिवी, पर्वत, वृक्ष आदिको ईश्वरने बनाया है ऐसा कहना असत् उद्भावन नामक दूसरा असत्य है। गायको घोड़ा कहना विपरीत नामक तीसरा असत्य है। और निन्द्य नामक चतुर्थ असत्यके तीन भेद हैं—सावद्य, अप्रिय और गर्हित। यह चारों ही प्रकारका असत्य दोषरूपी सर्पोंके लिए बामीके समान है। अतः मन-वचन-कायसे उसका त्याग करना चाहिए ॥३८-३९॥

विशेषार्थ—'असदभिधानमनृतम्' इस सूत्रका व्याख्यान करते हुए अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (७।१४।५) में यह शंका उठायी है कि 'मिथ्याऽनृतम्' ऐसा लघु सूत्र क्यों नहीं बनाया ? उसके समाधानमें कहा है कि मिथ्या शब्दका अर्थ विपरीत होता है। अतः ऐसा सूत्र बनानेसे भूत (सत्) निह्नव (निषेध) और अभूत (असत्) का उद्भावन ही झूठ कहलायेगा। जैसे आत्मा नहीं है, परलोक नहीं है या आत्मा चावलके बराबर या अँगूठेके पर्व बराबर है या सर्वव्यापक है। जो वचन विद्यमान अर्थका कथन करते हुए भी प्राणीको कष्टदायक होता है वह असत्य नहीं कहा जायेगा। किन्तु 'असत्' कहनेसे जितना भी अप्रशस्त वचन है वह सब असत्य कहा गया है। भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकामें 'असंतवयण'का अर्थ अशोभन वचन किया है और जिस वचनसे कर्मबन्ध हो उसे अशोभन कहा है। आचार्य पूज्यपाद और अकलंकने असत्का अर्थ अप्रशस्त किया है और अप्रशस्त तथा अशोभन एकार्थवाचक हैं। फिर भी उक्त दोनों आचार्योंने प्राणिपीडाकारक वचनको अप्रशस्त कहा है। और विजयोदया टीकाके कर्ताने कर्मबन्धके कारण वचनको अशोभन कहा है। उसमें आगे यह शंका उठायी है कि वचन आत्माका परिणाम नहीं है वह तो पुद्गल नामक द्रव्य है। अतः बन्ध अथवा बन्धस्थितिमें निमित्तभूत जो मिथ्यात्व, असंयम,

---

१ भग आ , ८२४-८३२ गा. ।

२. 'परिहर असंतवयणं सव्वं पि चदुव्विधं पयत्तेण ।
धत्तं पि संजयंतो भासादोसेण लिप्पदि हु ॥' —भ. आ., ८२३ गा. ।

'विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गहणसंकिलेसेहिं ।
आहारोस्सासाणं निरोहओ छिज्जदे आऊ ॥' [गो कर्म. ५७]

क्ष्मादि—क्षितिर्भवति वृक्षादिकम् । इति प्रकारार्थतो नास्ति सुराणामकाले मृत्युरित्यावेद्यम् ॥३८॥ ३

त्रेधा—मनोवाक्कार्यं. ॥३९॥

कषाय और योगरूप आत्मपरिणाम है वही त्याज्य है, असत् वचनके त्यागका उपदेश अनुपयोगी है। इसके उत्तरमें कहा है—कृत कारित अनुमतके भेदसे असंयम तीन प्रकारका है। 'मैं इस मनुष्यको इस असंयममें प्रवृत्त करता हूँ अथवा इस वचनके द्वारा असंयममें प्रवृत्त हुए मनुष्यकी अनुमोदना करता हूँ' इस प्रकारके अभिप्रायके बिना ऐसे वचन नहीं निकल सकते। अत. उस वचनमें कारणभूत अभिप्राय आत्मपरिणामरूप होता है और वह कर्मबन्धमें निमित्त होता है इसलिए उसे त्यागना चाहिए। उसके त्यागनेपर उसका कार्य वचन भी छूट जाता है, क्योंकि कारणके अभावमें कार्य नहीं होता। अतः आचार्यने इस क्रमसे असत् वचनका त्याग कहा है। अप्रमादी होकर सभी प्रकारके असत् वचनोंका त्याग करना चाहिए; क्योंकि संयम धारण करके भी और उसका अच्छी तरह पालन करते हुए भी मुनि भाषादोषसे उत्पन्न हुए कर्मसे लिप्त होता है। यहाँ 'भाषा'से वचनयोग नामक आत्मपरिणाम लेना चाहिए। अर्थात् दुष्ट वचनयोगके निमित्तसे उत्पन्न हुए कर्मसे आत्मा लिप्त होता है। इस असत्य वचनके चार भेद हैं—सत्का निषेध करना प्रथम असत्य है जैसे यह कहना कि मनुष्यकी अकालमें मृत्यु नहीं होती। यहाँ कालसे मतलब है आयुका स्थितिकाल। उस कालसे भिन्न काल अकाल है। यद्यपि भोगभूमिके मनुष्योंका अकालमें मरण नहीं होता किन्तु जो चरमशरीरी होते हैं उनके सिवाय शेष कर्मभूमिके मनुष्योंका अकालमरण आगममें कहा है। यथा—'उपपाद जन्मवाले देव नारकी, चरमशरीरी मनुष्य और असंख्यात वर्षकी आयुवाले भोगभूमिया जीवोंकी आयुका विष शस्त्रादिसे घात नहीं होता।' इससे सिद्ध है कि अकालमें भी विषादिके द्वारा मरण हो सकता है। कहा भी है—'विष, वेदना, रक्तक्षय, भय, शस्त्राघात, संक्लेश और आहार तथा श्वासके रुकनेसे आयु छीज जाती है।' अस्तु।

असत्का उद्भावन—जो नहीं है उसे 'है' कहना दूसरा असत्य है। जैसे देवोंकी अकाल-मृत्यु कहना या जगत्को ईश्वरका बनाया हुआ कहना। गायको घोड़ा कहना तीसरा विपरीत नामक असत्य है। चतुर्थ भेद निन्द्य है। भ. आ. में भी असत्यके चार भेद कहे हैं और उन्हींका अनुसरण इस ग्रन्थके रचयिता पं आशाधरने किया है। किन्तु तीसरे असत्यका नाम विपरीत और चतुर्थ असत्यका नाम निन्द्य न भ आ. में है और न पुरुषार्थ में। पुरुषार्थ. में (९२-९४) आचार्य अमृतचन्द्रने इन असत्योंका स्वरूप जिस रूपमें कहा है वह जैन दार्शनिक शैलीके अनुरूप है। तदनुसार[1] 'स्वक्षेत्र, स्वकाल, और स्वभावसे विद्यमान

---

१. स्वक्षेत्रकालभावैः सदपि हि यस्मिन्निषिध्यते वस्तु ।
तत्प्रथममसत्यं स्यान्नास्ति यथा देवदत्तोऽत्र ॥
असदपि हि वस्तुरूपं यत्र परक्षेत्रकालभावैस्तैः ।
उद्भाव्यते द्वितीयं तदनृतमस्मिन्यथास्ति घटः ॥

अथ चतुर्विधस्याप्यनृतस्य दोषानाह—

यद्विश्वव्यवहारविप्लवकरं यत्प्राणिघाताद्यघ-
द्वारं यद्विषशस्त्रपावकतिरस्कारोद्धुराहंकृति ।
यन्म्लेच्छेष्वपि गर्हितं तदनृतं जल्पन्न चेद्रौरव-
प्रायाः पश्यति दुर्गतीः किमिति ही जिह्वाच्छिदाद्यान् कुधीः ॥४०॥

यत्—सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रयं, यत् सावद्याख्यमनृतम् । प्राणीत्यादि । तद्यथा—पृथिवीं खन्, स्नाहि शीतोदकेन, पचापूपम्, प्रसूनमुच्चिनु, चौरोऽयमित्यादि । यत् सत्प्रतिषेधनाद्यनृतत्रय यत् सावद्याख्यमनृत यत् गर्हिताख्यमनृत कर्कशादि । तदुक्तम्—

'पैशुन्यहास्यगर्भं कर्कशमसमञ्जसं प्रलपित च ।
अन्यदपि यदुत्सूत्र तत्सर्वं गर्हित गदितम् ॥' [पुरुषार्थसि. ९६]

गर्हितं—निन्दितं किमिति न पश्यतीत्यत्रापि योज्यम् । जिह्वाच्छिदाद्यान्—जिह्वायाश्छिदा छेदनमाद्यो येषां विपाकन्युदकायसहन-स्वजनावमानव-मित्रविरक्ति-सर्वस्वहरणाद्यपायानाम् ॥४०॥

वस्तुका भी जिसमें निषेध किया जाता है वह पहला असत्य है। जैसे देवदत्तके होते हुए भी कहना कि यहाँ देवदत्त नहीं है। परक्षेत्र, परकाल और परभावसे असत् भी वस्तुको सत् कहना दूसरा असत्य है। जैसे घड़ेके अभावमें भी घड़ेका सद्भाव कहना। स्वरूपसे सत् भी वस्तुको पररूपसे कहना तीसरा असत्य है जैसे गायको घोड़ा कहना। चतुर्थ असत्यके सामान्यसे तीन भेद हैं—गर्हित, सावद्य और अप्रिय। कर्कश वचन, निष्ठुर वचन, दूसरोंके दोषसूचक वचन, हास्यपरक वचन तथा जो कुछ भी वृथा बकवादरूप वचन है वे सब गर्हित वचन हैं। जिस वचनसे हिंसा आदि दोषोंमें प्रवृत्ति हो उसे सावद्य वचन कहते हैं। जैसे पृथ्वी खोदो, भैंस दुहो, फूल चुनो। जो वचन वैर, शोक, कलह, भय, खेद आदि उत्पन्न करता है उसे अप्रिय वचन कहते हैं। इन सभी असत्य वचनोंमें प्रमादका योग ही कारण है इसलिए असत्य बोलनेमें हिंसा अवश्य होती है। अतएव असत्य बोलना त्याज्य है। [भग. आ. ८३०-३२ । पुरुषार्थ. ९६-९९ इलो.] ॥३८-३९॥

चारों ही प्रकारके असत्य वचनके दोष कहते हैं—

जो प्रथम तीन प्रकारके असत्य सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहारोंका नाश करनेवाले हैं, सावद्य नामक असत्य वचन हिंसा, चोरी, मैथुन आदि पापोंका द्वार है, अप्रिय नामक असत्यका उत्कट अहंकार तो विष, शस्त्र और अग्निसे होनेवाले विनाशका भी तिरस्कार करता है। निन्दित वचन तो सब धर्मोंसे बहिष्कृत म्लेच्छोंमें भी निन्द्य माने जाते हैं। इन असत्य वचनोंको बोलनेवाला दुर्बुद्धि मनुष्य जब रौरव नरक आदि दुर्गतियोंको ही नहीं देखता तो हाय वह जिह्वाका छेदन आदि छह लौकिक अपायोंको कैसे देख सकता है ? ॥४०॥

वस्तु सदपि स्वरूपात्पररूपेणाभिधीयते यस्मिन् ।
अनृतमिदं च तृतीय विज्ञेयं गौरिति यथाश्व. ॥
गर्हितमवद्यसंयुतमप्रियमपि भवति वचनरूपं यत् ।
सामान्येन त्रेधा मतमिदमनृत तुरीयं तु ॥—पुरुषार्थ. ९२-९५ इलो. ।

अथाद्भुतानुभावभूयस्तया (–भूयस्तया) सूनृतवचसो नित्यसेव्यतामुपदिशति—

विद्याकामगवीशकृत्करिमरिप्रातीप्यसर्पौषधं,
कीर्तिस्वस्तटिनी हिमाचलतटं शिष्टाब्दषण्डोष्णगुम् । ३
वाग्देवीललनाविलासकमलं श्रीसिन्धुवेलाविधुं,
विश्वोद्धारचणं गृणन्तु निपुणा. शश्वद्वचः सूनृतम् ॥४१॥

कामगवी—कामधेनु । तदुक्तम्— ६

'सत्यं वदन्ति मुनयो मुनिभिर्विद्या विनिर्मिता सर्वा ।
म्लेच्छानामपि विद्या सत्यभृता सिद्धिमायान्ति ॥' [ ]

शकृत्करि —वत्स । अरीत्यादि—शत्रुकृतापकारपन्नगप्रतिकर्तृ । स्वस्तटिनी—आकाशगङ्गा । ९
उष्णगु —आदित्य । विश्वोद्धारचण—त्रिजगदनुग्रहणप्रतीतम् । गृणन्तु—भापन्ताम् ॥४१॥

विशेषार्थ—सभी लौकिक और शास्त्रीय व्यवहार सत्यपर प्रतिष्ठित हैं। यदि सर्वत्र असत्यका ही चलन हो जाये तो लोकमें देन-लेनका व्यवहार, व्यापार आदि सब गडबड हो जाये। कोई किसीका विश्वास ही न करे। यही स्थिति शास्त्रीय व्यवहारोंकी भी हो जाये क्योंकि तब कौन विश्वास करेगा कि शास्त्रकारोंने जो कुछ कहा है वह सत्य है? और तब कैसे लोग शास्त्रोंकी आज्ञाका पालन करेंगे? अत विश्वका सभी व्यवहार लुप्त हो जायेगा। इसी तरह यदि लोग इसे मारो, उसे काटो, अमुकका धन छीन लो, अमुककी स्त्री भगा लो जैसे सावद्य वचनों पर उतर आये तो पापाचारका ही राज्य हो जावे। अप्रिय वचन तो विष, शस्त्राघात और आगसे भी अधिक दु खदायक होते हैं। कहावत है कि तीरका घाव भर आता है किन्तु तीखी वाणीका घाव नहीं भरता। तथा गाली-गलौज तो बीच पुरुषोंमे भी अच्छी नहीं मानी जाती। इस प्रकारके असत्य वचनोंका दुष्फल इसी जन्ममे राजदण्डके रूपमे मिलता है। जब उसका ही भय लोग नहीं करते तब दुर्गतिका भय भला कैसे कर सकते हैं? यह बड़े दु.ख और खेदकी बात है ॥४०॥

प्रिय और सत्य वचनके अनेक आश्चर्यकारक प्रभाव होनेसे उसका नित्य आचरण करनेका उपदेश देते हैं—

सत्य वचन विद्यारूपी कामधेनुका बच्चा है, शत्रुओंके द्वारा किये गये अपकाररूपी सर्पका इलाज है, कीर्तिरूप गङ्गाके उद्गमके लिए हिमाचल पर्वत है, शिष्ट पुरुषरूपी कमलवनको विकसित करनेके लिए सूर्य है, सरस्वतीरूपी ललनाका क्रीडाकमल है, लक्ष्मीरूपी समुद्रकी वेलाके लिए चन्द्रमा है। यत सत्य वचन इन छह विशेषताओंको लिये हुए है अतः जगत्का विपत्तियोंसे उद्धार करनेमे समर्थ है। इसलिए सूक्ष्मदृष्टिवाले विचारशील पुरुषोको सदा सत्य वचन बोलना चाहिए ॥४१॥

विशेषार्थ—विधिपूर्वक साधन करनेसे जो सिद्ध होती है उसे विद्या कहते है। विद्याएँ इच्छित पदार्थोंको देती हैं इसलिए उन्हे कामधेनु कहा है। जैसे कामधेनु अपने बछड़ेके संयोगसे इच्छित अर्थ दूध देती है वैसे ही सत्य वचनके संयोगसे ही विद्या इच्छित मनोरथोंको पूर्ण करती है। कहा भी है—'मुनिगण सत्य बोलते हैं इसलिए मुनियोंने सब विद्याओका निर्माण किया है। सत्य बोलनेवाले म्लेच्छोंकी भी विद्याएँ सिद्ध हो जाती है।'

सत्यवादीका शत्रु भी अपकार नहीं करते। जैसे हिमालयसे गंगा निकलकर फैलती है वैसे ही सत्यरूपी हिमालयसे कीर्तिरूपी गंगा निकलकर फैलती है, सत्यवादीका यश सर्वत्र

अथ सूनृतलक्षणमाह—

सत्यं प्रियं हितं चाहु. सूनृतं सूनृतव्रताः ।
३ तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत् ॥४२॥

सत्य—सत्युत्पादव्ययध्रौव्यात्मन्यर्थे साधु कुशलं सत्सु वा साधु हितं वच. । अप्रियं—कर्कशादिवचसामपि मृषाभाषणदोषकारित्वाविशेषात् । तदुक्तम्—

६ 'इहलोके परलोके येऽनृतवचनस्य वर्णिता दोषाः ।
कर्कशवचनादीना त एव दोषा निबोद्धव्याः ॥' [ ] ॥४२॥

अथ साधुना सज्जनसौहित्याय समये वक्तव्यमित्यनुशास्ति—

९ साधुरत्नाकरः प्रोद्यद्दयापीयूषनिर्भर. ।
समये सुमनस्तृप्त्यै वचनामृतमुद्गिरेत् ॥४३॥

समये—प्रस्तावे प्रवचनविपये वा । सुमनस.—सज्जना देवाश्च ॥४३॥

फैलता है। जैसे सूर्यके उदित होते ही कमलोका वन खिल उठता है उसी तरह ज्ञानसे विनम्र शिष्ट जन भी सत्यसे खिल उठते हैं। सरस्वती भी सत्यवादीपर रीझती है और लक्ष्मी भी बढती है। अतः सदा सत्य ही बोलना चाहिए ॥४१॥

सत्यका स्वरूप कहते हैं—

जिन्होंने सत्य ही बोलनेका व्रत लिया है वे सत्य प्रिय और हित वचनको सत्यवचन कहते हैं। जो अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य भी सत्य नहीं है ॥४२॥

विशेपार्थ—सत्य शब्द सत् शब्दसे बना है। उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक वस्तुको सत् कहते हैं। उसमें जो साधु अर्थात् कुशल हो वह सत्य है। अथवा सत्का अर्थ सज्जन भी है। जो साधु पुरुषोंमे हितकारक वचन है वह सत्य है। अर्थात् जिस वचनसे किसी तरहका विसंवाद उत्पन्न न हो वह अविसंवादी वचन सत्य है। सत्य होनेके साथ ही प्रिय भी होना चाहिए जिसे सुनकर कान और हृदय आनन्दका अनुभव करें। किन्तु प्रिय होनेके साथ हितकारी भी होना चाहिए। किन्तु जो सत्यवचन अप्रिय और अहितकारक है वह सत्य नहीं है क्योंकि असत्य भापणमें जो दोप हैं वे सब दोष कर्कश आदि वचनोमे भी हैं। कहा भी है—'इस लोक और परलोकमे झूठ बोलनेके जो दोप कहे हैं वे ही दोप कर्कश वचन आदिके भी जानना चाहिए' ॥४२॥

साधुओंको सज्जन पुरुपोंका सच्चा हित करनेके लिए समयके अनुसार बोलना चाहिए ऐसी शिक्षा देते हैं—

उछलते हुए दया रूपी अमृतसे भरे हुए साधु रूपी समुद्रको देवताओके तुल्य सज्जनोकी तृप्तिके लिए प्रसगके अथवा आगम के अनुसार वचन रूपी अमृतको कहना चाहिए ॥४३॥

विशेपार्थ—हिन्दू पुराणोंके अनुसार जब देवताओ पर संकट आया तो उन्होने समुद्र का मन्थन किया और समुद्रने उन्हें अमृत दिया जिसे पीकर वे अमर हो गये। उसी रूपक के अनुसार साधु तो समुद्रके समान होता है क्योंकि समुद्रकी तरह ही उसमे गम्भीरता आदि गुण पाये जाते हैं। और जैसे समुद्रमे अमृत भरा है वैसे ही साधुमें दया रूपी अमृत भरा होता है। सुमन देवोंको भी कहते है और सज्जनोंको भी। अत. जैसे समुद्रने समय पर देवोंको अमृतसे तृप्त किया था वैसे ही साधुओंको समयानुसार सज्जन पुरुपोको वचनामृतसे

अथ मुमुक्षोर्मौनं स्वार्थाविरोधेन वक्तव्य चोपदिशति—

मौनमेव सदा कुर्यादार्यः स्वार्थैकसिद्धये।
स्वैकसाध्ये परार्थे वा ब्रूयात् साध्याविरोधत ॥४४॥ ३

मौनमित्यादि । उक्त च—

'मौनमेव हितं पुंसां शश्वत्सर्वार्थसिद्धये ।
वचो वातिप्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारि यत्' [ ] ६

तथा—

'धर्मनाशे क्रियाध्वसे स्वसिद्धान्तार्थविप्लवे ।
अपृष्टैरपि वक्तव्य तत्स्वरूपप्रकाशने ॥' [ ] ॥४४॥ ९

अथ क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानान्यनुवीचिभाषण च भावयता सत्यव्रतमुच्चैरुद्योत्यमिति शिक्षार्थमाह—

तृप्त करना चाहिए। समय आगमको भी कहते हैं और समय प्रसंगको भी कहते है। अत साधुको प्रसंगके अनुसार तो बोलना ही चाहिए, साथ ही आगमका भी ध्यान रखकर आगमके अनुसार बोलना चाहिए। आगमसे विरुद्ध नहीं बोलना चाहिए ॥४३॥

साधुओंको मुख्यतासे मौन ही रखना चाहिए। यदि बोलना पड़े तो स्वार्थके अविरुद्ध बोलना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

गुणवान मुनिको केवल एक स्वार्थकी सिद्धिके लिए सदा मौन ही रखना चाहिए, बोलना नहीं चाहिए। किन्तु यदि कोई ऐसा परार्थ हो जो केवल अपने ही द्वारा साध्य हो तो स्वार्थका घात न करते हुए ही बोलना चाहिए ॥४४॥

विशेषार्थ—वचनका प्रयोग तो दूसरोंके लिए ही किया जाता है। अतः स्वार्थरत साधुको जहाँतक शक्य हो मौन ही रहना चाहिए। वचनका प्रयोग तभी करना चाहिए जब उसकी परोपकारके लिए अत्यन्त आवश्यकता हो। किन्तु उस समय भी स्वार्थको ध्यानमे रखकर ही बोलना चाहिए। यों तो लोकमे सामान्य जन भी स्वार्थको हानि न पहुँचे ऐसा ध्यान रखकर ही बोलते हैं। इसीसे वे चोरी करके भी उसे छिपाते है, झूठ बोलकर भी सत्यवादी होनेका नाटक रचते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि हमने सच बोला तो पकड़े जायेंगे, आर्थिक हानि होगी। उनका स्वार्थ एकमात्र विषय और कषायका पोषण होता है। किन्तु साधुका स्वार्थ है आत्महित। अपनी आत्माका जिसमे हित हो वही उनका स्वार्थ है। उसीकी साधनाके लिए वे साधु बने हैं। उसकी साधनामे तो मौन ही सहायक है वार्तालाप नहीं। कहा है—

'सर्व अर्थोंकी सिद्धिके लिए पुरुषोंको सदा मौन ही हितकर है। अथवा यदि मौन शक्य न हो तो ऐसा अतिप्रिय सत्य वचन बोलना चाहिए जो सब प्राणियोंका उपकारी हो। तथा यदि धर्मका नाश होता हो, क्रियाकाण्ड ध्वस होता हो अथवा अपने सिद्धान्तके अर्थमें बिगाड होता हो तो उनका स्वरूप प्रकाशनार्थ बिना पूछे भी बोलना चाहिए' ॥४४॥

आगे क्रोध, लोभ, भय और हास्यका त्याग तथा निर्दोष भाषण इन पाँच भावनाओं-को भाते हुए सत्यव्रतके अच्छी तरह उद्योतनकी शिक्षा देते हैं—

हत्वा हास्यं कफवल्लोभमपास्यामवद्भयं भित्वा।
वातवदपोह्य कोपं पित्तवदनुसूत्रयेद् गिरं स्वस्थः ॥४५॥

३ कफवत्—जाड्यमोहादिहेतुत्वात् आमवत्—अतिदुर्जयविकारत्वात्। आमलक्षण यथा—

'ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमान्द्यमपाचितम्।
दुष्टमामाशयगत संतमाम प्रचक्षते ॥'

६ 'अन्ये दोषेभ्य एवातिदुष्टेभ्योऽन्योन्यमूर्छनात्।
कोद्रवेभ्यो विषस्येव वदन्त्यामस्य सभवम् ॥' [अष्टाङ्गहृदय १३।२५-२६]

वातवत्—मनोविप्लवादिहेतुत्वात्। अपोह्य—निषिद्धय। पित्तवत्—सतापभूयिष्ठत्वात्। अनुसूत्र-
९ येत्—सूत्रानुसारेणाचक्षीत। स्वस्थ —परद्रव्यव्यासङ्गरहितो निर्व्याधिश्च ॥४५॥

अथ सत्यमृषाभाषिणो फलविशेषमाख्यानमुखेन ख्यापयन्नाह—

सत्यवादीह चामुत्र मोदते धनदेववत्।
१२ **मृषावादी सधिक्कारं यात्यधो वसुराजवत् ॥४६॥**

स्पष्टम् ॥४६॥

स्वस्थ मनुष्यको कफकी तरह हास्यका निग्रह करके, आँवकी तरह लोभको दूर करके, वातकी तरह भयको भगाकर और पित्तकी तरह कोपको रोककर सूत्रके अनुसार बोलना चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्र (७।५) तथा चरित्तपाहुडमें सत्यव्रतकी पाँच भावनाएँ कही है। सत्यव्रतीको उनको पालन अवश्य करना चाहिए। जो स्वमे स्थित है वह स्वस्थ है। शारीरिक दृष्टिसे तो जो नीरोग है वह स्वस्थ है और आध्यात्मिक दृष्टिसे जो परद्रव्य-विषयक आसक्तिसे रहित है वह स्वस्थ है। शारीरिक स्वस्थताके लिए वात-पित्त-कफ और आँवका निरसन आवश्यक है क्योंकि जिसके वात-पित्त-कफ समान है, अग्नि समान है, धातु और मलकी क्रिया समान है उसे स्वस्थ कहते है। आध्यात्मिक स्वस्थताके लिए भी क्रोध, लोभ, भय, हँसी, मजाकको छोडना जरूरी है क्योकि मनुष्य क्रोध आदिके वशीभूत होकर झूठ बोलता है ॥४५॥

सत्य भापण और असत्य भाषणका फल विशेष उदाहरणके द्वारा कहते है—

सत्यवादी मनुष्य धनदेवकी तरह इस लोक और परलोकमे आनन्द करता है। और झूठ बोलनेवाला राजा वसुकी तरह तिरस्कृत होकर नरकमें जाता है ॥४६॥

विशेषार्थ—आगममे सत्यव्रतका पालन करनेमे धनदेव प्रसिद्ध है। वह एक व्यापारी था। जिनदेवके साथ व्यापारके लिए विदेश गया। दोनोका लाभमें समभाग ठहरा। लौटने-पर जिनदेव अपने वचनसे मुकर गया किन्तु धनदेव अपने वचनपर दृढ रहा। राजाने उसका सम्मान किया। राजा वसु नारद और पर्वतका सहपाठी था। जब नारद और पर्वतमें 'अजैर्यष्टव्यम्' के अज शब्दको लेकर विवाद हुआ और दोनों वसु राजाकी सभामें न्यायके लिए पहुँचे तो राजा वसुने गुरुपुत्र पर्वतका पक्ष लेकर अजका अर्थ बकरा ही बतलाया अर्थात् बकरेके माससे यज्ञ करना चाहिए। नारदका कहना था कि अजका अर्थ तीन वर्षका

---

१. 'क्रोध-लोभ-भीरुत्व-हास्य-प्रत्याख्यानानुवीचिभाषणं च पञ्च' ।—त. सू. ७।५।

अथ— जनान्त-सम्मति-न्यास-नाम-रूप-प्रतीतिषु ।
सत्यं सभावने भावे व्यवहारोपमानयो '—[अमित. प. सं. १।१६९]

इति दशप्रकारसत्यमुदाहरणद्वारेण प्रचिकटयिपुराह— ३

सत्यं नाम्नि नरेश्वरो, जनपदे चोरोऽन्धसि, स्थापने
देवोऽक्षादिषु, दारयेदपि गिरिं शीर्षेण संभावने ।
भावे प्रासु, पचौदनं व्यवहृतौ, दीर्घः प्रतीत्येति ना ६
पल्यं चोपमितौ सित शशधरो रूपेऽम्बुजं सम्मतौ ॥४७॥

नरि—मनुष्यमात्रे, ईश्वर —ऐश्वर्याभावेऽपि व्यवहारार्थमीश्वर इति सञ्ज्ञाकरणं नामसत्यमित्यर्थ । अन्धसि—भक्ते चौर इति व्यपदेशो जनपदसत्यम् । तत्र स्वार्थे नियतत्वेन तस्य रुढत्वात् । अक्षादिषु— ९ पाशकादिषु देवोऽयमिति न्यसनं स्थापनासत्यम् । सभावने—वस्तुनि तथाऽप्रवृत्तेऽपि तथाभूते कार्ययोग्यतादर्शनात् । अन्ये पुनरस्य स्थाने सयोजनासत्यमाहु । यच्चारित्रसारे—धूपचूर्णवासानुलेपनप्रघर्षादिषु पद्ममकर-हंस-सर्वतोभद्र-क्रौञ्चव्यूहादिषु वा चेतनेतरद्रव्याणा यथाभागविधानसनिवेशाविर्भावक यद्वचस्तत्सयोजना- १२ सत्यम् । भावे प्रासु तथाहि—छद्मस्थज्ञानस्य द्रव्ययाथात्म्यादर्शनेऽपि सयतस्य सयतासंयतस्य वा स्वगुणपरिपालनार्थं प्रासुकमिदमप्रासुकमित्यादि यद्वचस्तद्भावसत्यम् । निरीक्ष्य स्वप्रयताचारो भवेत्यादिक वा अहिंसा-

---

पुराना धान्य है जो बोनेपर उगता नहीं। राजा वसु मरकर नरकमे गया। इसकी विस्तृत कथा सोमदेव उपासकाचारमे देखनी चाहिए। महाभारतमें भी इसी तरहकी कथा है ॥४६॥

आगममे दस प्रकारका सत्य कहा है—नाम सत्य, जनपद सत्य, स्थापना सत्य, सम्भावना सत्य, भाव सत्य, व्यवहार सत्य, प्रतीत्य सत्य, उपमा सत्य, रूप सत्य और सम्मति सत्य। इनका उदाहरण पूर्वक कथन करते हैं—

मनुष्यमात्रमे ऐश्वर्यका अभाव होनेपर भी व्यवहारके लिए ईश्वर नाम रखना नामसत्य है। किसी देशमे भातको चोर कहते हैं। यह जनपद सत्य है क्योंकि उस देशकी भाषामे चोर शब्द इसी अर्थमे नियत है। अक्ष आदिमे 'यह देव है' इस प्रकारकी स्थापनाको स्थापना सत्य कहते हैं। पाशा वगैरहको अक्ष कहते है। अमुक व्यक्ति सिरसे भी पर्वतको तोड़ सकता है यह सम्भावना सत्य है। ऐसा वास्तविक रूपमे नहीं होनेपर भी उस प्रकारके कार्यकी योग्यताको देखकर ऐसा कहा जाता है। छद्मस्थ जीवोंका ज्ञान यद्यपि द्रव्यके यथार्थ स्वरूपको देखनेमे असमर्थ है फिर भी मुनि और श्रावक अपने धर्मका पालन करनेके लिए 'यह प्रासुक है' 'यह अप्रासुक है' इत्यादि जो कहते हैं वह भावसत्य है। जिसमे-से जीव निकल गये है उसे प्रासु या प्रासुक कहते हैं। यह अहिंसारूप भावके पालनका अंग होनेसे भाव सत्य कहा जाता है। चावल पकाये जाते हैं किन्तु लोकमे प्रचलित व्यवहारका अनुसरण करके जो 'भात पकाओ' ऐसा वचन कहा जाता है वह व्यवहार सत्य है। किसी मनुष्यको दूसरोंकी अपेक्षासे लम्बा देखकर 'लम्बा मनुष्य' ऐसा कहना प्रतीत्य सत्य है। उपमान रूपसे जो सत्य है उसे उपमा सत्य कहते हैं जैसे आगममे पल्योपम प्रमाणकी उपमा पल्य (गड्ढा) से दी जाती है या स्त्रीके मुखको चन्द्रमा की उपमा दी जाती है। रूपमे जो सत्य है वह रूप सत्य है। जैसे चन्द्रमाको श्वेत कहना, यद्यपि चन्द्रमामे काला धब्बा है किन्तु उसकी यहाँ विवक्षा नहीं है। जो लोकमतमे सत्य है वह सम्मति सत्य है जैसे कमल कीचड आदि अनेक कारणोंसे पैदा होता है फिर भी लोकमे उसे अम्बुज—जो पानीमे जन्मा हो, कहते हैं ॥४७॥

लक्षणभावपालनाङ्गत्वात् । पचेत्यादि सिद्धेऽप्योदने लोकव्यवहारानुसरणम्, तन्दुलान्पचेति वक्तव्ये 'ओदनं पच' इति वचनं व्यवहारसत्यम् । दीर्घ इत्यादि—ना पुरुषो दीर्घोऽयमित्यापेक्षिकं वच. प्रतीत्यसत्यमित्यर्थ. । 3 उपमितौ—उपमानसत्य यथा पल्योपम चन्द्रमुखी कान्तेत्यादि । रूपे—रूपसत्यं यथा सितः शशधरः सतोऽपि लाञ्छने कार्ष्ण्यस्याविवक्षा । सम्मतौ—लोकाविप्रतिपत्तौ, यथाऽम्बुजं पङ्काद्यनेककारणत्वेऽप्यम्बुनि जातम् । इत्थं वा—

६ 'देशेष्टस्थापनानामरूपापेक्षाजनोक्तिषु ।
सभावनोपमाभावेष्विति सत्यं दशात्मना ॥
ओदनोऽप्युच्यते चौरो राज्ञी देवीति सम्मता ।
९ दृषदप्युच्यते देवो दुर्विधोऽपीश्वराभिधः ॥
दृष्टाधरादिरागापि कृष्णकेश्यपि भारती ।
प्राचुर्याच्छ्वेतरूपस्य सर्वशुक्लेति सा श्रुता ॥
१२ ह्रस्वापेक्षो भवेद्दीर्घः पच्यन्ते किल मण्डकाः ।
अपि मुष्ट्या पिनष्टीन्द्रो गिरीन्द्रमपि शक्तितः ॥
अतद्रूपाऽपि चन्द्रास्या कामिन्युपमयोच्यते ।
१५ चौरे दृष्टेऽप्यदृष्टोक्तिरित्यादि वदतां नृणाम् ॥
स्यान्मण्डलाद्यपेक्षायां सत्यं दशविध वच. ।' [　　　　]

विशेषार्थ—पं. आशाधरने अपनी टीकामे अमितगतिके संस्कृत पञ्च संग्रहसे श्लोक उद्धृत किया है और तदनुसार ही दस भेदोंका कथन किया है । संस्कृत पञ्च संग्रह प्रा. पं. सं. का ही संस्कृत रूपान्तर है किन्तु उसमें सत्यके दस भेद नहीं गिनाये हैं । गो. जीवकाण्ड में गिनाये हैं । सं पं. सं में भी तदनुसार ही हैं ।

श्वे. स्थानांग सूत्र (स्था. १०) मे भी सत्यके दस भेद गिनाये हैं—उसमे सम्भावनाके स्थानमें योग सत्य है । योगका अर्थ है सम्बन्ध । सम्बन्धसे जो सत्य है वह योग सत्य है, जैसे दण्डके सम्बन्धसे दण्डी कहना, छत्रके सम्बन्धसे छत्री कहना। कुछ सत्योंके स्वरूपमें भी अन्तर है । सम्मत सत्यका स्वरूप—कुमुद, कुवलय, उत्पल, तामरस ये सभी पंक (कीचड़) से पैदा होते हैं फिर भी ग्वाले तक भी इस बातसे सम्मत हैं कि अरविन्द ही पंकज है । अतः सम्मत होनेसे अरविन्दको पंकज कहना सत्य है । कुवलयको पंकज कहना असत्य है क्योंकि सम्मत नहीं है । रूपसत्यका उदाहरण—बनावटी साधुको साधुका रूप धारण करनेसे रूपकी अपेक्षा साधु कहना रूपसत्य है । भावसत्य—जैसे बगुलोंकी पंक्तिको ऊपरी सफेदी देखकर सफेद कहना, यद्यपि अन्दरसे वह पंच वर्ण है ।

तत्त्वार्थवार्तिकमें (१।२०) सत्यके दस भेदोंका कथन है । यथा—नाम, रूप, स्थापना, प्रतीत्य, संवृति, संयोजना, जनपद, देश, भाव और समय सत्य । इसमे संवृति, संयोजन, देश और समय ये चार नाम भिन्न हैं । रूपसत्यका उदाहरण—अर्थ नहीं रहनेपर भी रूपमात्रसे कहना । जैसे चित्रमें अंकित पुरुषमें चैतन्यरूप अर्थके नहीं होनेपर भी पुरुष कहना । सादि, अनादि, औपशमिक आदि भावोंको लेकर जो वचन व्यवहार होता है

---

१. 'जणवय सम्मय ठवण नामे रूवे पडुच्च सच्चे य ।
ववहार भाव जोगे दसमे ओवम्म सच्चे य' ॥

यत्तु नवधा असत्यमृषारूपमनुभयं वचस्तदपि मार्गाविरोधेन वदतो न सत्यव्रतहानिरनृतनिवृत्त्यनतिवृत्ते। तथा चोक्तम्—

'सत्यमसत्यालोकव्यलीकदोषादिवर्जमनवद्यम्।
सूत्रानुसारिवदतो भाषासमितिर्भवेच्छुद्धा॥' [ ] 3

तद्यथा—

'याचनी ज्ञापनी पृच्छानयनी संशयन्यपि।
आह्वानीच्छानुकूला वाक् प्रत्याख्यान्यप्यनक्षरा॥ 6
असत्यमोषभाषेति नवधा बोधिता जिनै।
व्यक्ताव्यक्तमतिज्ञान वक्तु श्रोतुश्च यद्भवेत्॥' [ ] 9

अत्र वृत्तिश्लोकत्रयम्—

'त्वामहं याचयिष्यामि ज्ञापयिष्यामि किंचन।
पृष्टुमिच्छामि किंचित्त्वामानेष्यामि च किंचन॥ 12
बालः किमेष वक्तीति ब्रूत संदेग्धि मन्मनः।
आह्वयाम्येहि भो भिक्षो करोम्याज्ञा तव प्रभो॥

वह प्रतीत्य सत्य है। इसका कोई उदाहरण नहीं दिया है। चारित्रसारमें भी यही लक्षण दिया है और उसका उदाहरण दिया है यह पुरुष लम्बा है। लोकमें जो वचन संवृतिसे लाया गया हो उसे संवृति सत्य कहते हैं। जैसे पृथिवी आदि अनेक कारणोंके होनेपर भी पंकमें उत्पन्न होनेसे पंकज कहते हैं। पं. आशाधरजीने तथा स्थानांगमें इसे सम्मति सत्य कहा है। सम्भवतया सम्मतिके स्थानमें ही संवृत्ति सत्य अकलंक देवने रखा है। गो जीवकाण्डमें लोकोंकी सम्मतिके अनुसार जो सत्य हो उसे सम्मति सत्य कहा है जैसे राज्याभिषेक होनेसे पट्टरानी होती है। धूप, उपटन आदिमें या कमल, मगर, हंस, सर्वतोभद्र आदि सचेतन-अचेतन वस्तुओंमें आकार आदिकी योजना करनेवाला वचन संयोजना सत्य है। जनपद सत्यकी तरह ही ग्राम-नगर आदिकी वाणी देशसत्य है। आगमगम्य छह द्रव्य और पर्यायोंका कथन करनेवाले वचन समयसत्य हैं। इस तरह सत्यके भेदोंमें अन्तर पाया जाता है। उक्त श्लोकमें 'पल्यं च'का 'च'शब्द अनुक्तके समुच्चयके लिए है। उससे नौ प्रकार-के अनुभयरूप वचनका भी ग्रहण किया है क्योंकि मार्गका विरोध न करते हुए उस वचनके बोलनेसे सत्यव्रतकी हानि नहीं होती। कहा भी है—'अलीक आदि दोषोंसे रहित निर्दोष और सूत्रके अनुसार सत्य और अनुभय वचन बोलनेवाले साधुकी भाषासमिति शुद्ध होती है।' अनुभय वचनके नौ भेद इस प्रकार हैं—जिस वचनसे दूसरेको अपने अभिमुख किया जाता है उसे आमन्त्रणी भाषा कहते हैं। जैसे, हे देवदत्त। यह वचन जिसने संकेत ग्रहण किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त है और जिसने संकेतग्रहण नहीं किया उसकी प्रतीतिमें निमित्त

---

1 आशाधरेण स्वरचितमूलाराधनादर्पणे 'सिद्धान्तरत्नमालायामेवमित्युक्त्वा एते श्लोका उद्धृता (भ आ शोलापुर पृ ११९५)।

2 'आमंतणी आणवणी जायणी संपुच्छणी य पण्णवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य॥
संसयवयणी य तहा असच्चमोसा य अट्ठमी भासा।
णवमी अणक्खरगदा असच्चमोसा हवदि णेया' ॥—भग. आरा, ११९५-९६ गा।

किंचित्त्वां त्याजयिष्यामि हुंकरोत्यत्र गौः कुतः।
याचन्यादिषु दृष्टान्ता इत्थमेते प्रदर्शिताः ॥' [ ]

३ किं च, अहमयोग्यं न ब्रवीमीत्येतावता सत्यव्रतं पालितमिति मुमुक्षुणा नाश्वसनीयं यावता परेणोच्यमानमप्यसत्यवचनं शृण्वतोऽशुभपरिणामसंभवात् कर्मबन्धो महान् भवतीत्यसत्यस्य वचनमिव श्रवणमपि यत्नतः साधुना परिहार्यम्। तदुक्तम्—

नहीं है। इस तरह दो रूप होनेसे न सत्य है और न झूठ। स्वाध्याय करो, असंयमसे विरत होओ इस प्रकारकी अनुशासनरूप वाणी आज्ञापनी है। इस आदेशको दूसरा व्यक्ति पाले या न पाले, इसलिए यह वचन न एकान्तसे सत्य है और न असत्य। आप ज्ञानके उपकरण शास्त्र आदि या पीछी आदि देवें इस प्रकार याचना करनेको याचनी भाषा कहते हैं। दाता देवे या न देवे, इस अपेक्षा यह वचन भी अनुभयरूप है। किसीसे पूछना कि क्या तुम्हें जेलमें कष्ट है, पृच्छनी भाषा है। यदि कष्ट है तो सत्य है नहीं है तो असत्य है। अतः पृच्छावचन न सत्य है और न असत्य है। धर्मकथाको प्रज्ञापनी भाषा कहते हैं। यह बहुत-से श्रोताओंको लक्ष करके की जाती है। बहुत-से लोग उसके अनुसार करते है, बहुत-से नहीं करते। अतः इसे भी न सत्य कह सकते है और न झूठ। किसीने गुरुसे न कहकर 'मैं इतने समय तक अमुक वस्तुका त्याग करता हूँ' ऐसा कहा। यह प्रत्याख्यानी भाषा है। पीछे गुरुने कहा कि तुम अमुक वस्तुका त्याग करो। उसके पहले त्यागका काल अभी पूरा नहीं हुआ इसलिए उसका पहला किया हुआ त्याग एकान्तसे सत्य नहीं है और गुरुकी आज्ञासे उस त्यागको पालता है इसलिए कोई दोष न होनेसे झूठा भी नहीं है अतः अनुभयरूप है। ज्वरसे ग्रस्त रोगी कहता है घी और शक्करसे मिश्रित दूध अच्छा नहीं है, दूसरा कहता है अच्छा है। माधुर्य आदि गुणोंके सद्भाव तथा ज्वरकी वृद्धिमें निमित्त होनेसे 'अच्छा नहीं है' ऐसा कहना न तो सर्वथा झूठ ही है न सत्य ही है अतः अनुभयरूप है। यह ठूँठ है या पुरुष, यह संशय वचन है। यह भी दोनोंमें-से एकका सद्भाव और दूसरेका अभाव होनेसे न सत्य है और न झूठ। अपराजित सूरिने अपनी विजयोदया टीकामें अँगुली चटकाने आदिके शब्दको अनक्षरी भाषा कहा है। ध्वनि और भाषामें अन्तर है। तात्वादि परिस्पन्दसे जो शब्द होता है उसे भाषा कहते है। अतः गो. जीवकाण्डकी टीकामें जो द्वीन्द्रिय आदि की भाषाको अनक्षरी भाषा कहा है वह ठीक प्रतीत होता है। दशवैकालिक सूत्रमें उक्त प्रथम गाथामें कहे हुए भेद तो आमन्त्रणीसे लेकर इच्छानुलोमा पर्यन्त वही है। बल्कि गाथा भी वही है। दूसरीमें भेद है। यथा—

अनभिगृहीत भाषा, जैसे डित्थ (जिसका कुछ अर्थ नहीं।) अभिगृहीत भाषा—जैसे घट। जिस शब्दके अनेक अर्थ होनेसे सुननेवाला सन्देहमें पड़ जाये वह संशयकरणी भाषा है। जैसे सैन्धव। सैन्धवके अनेक अर्थ होते हैं। व्याकृत भाषा, जिससे स्पष्ट अर्थ प्रकट हो। जैसे यह देवदत्तका भाई है। अव्याकृत भाषा—जिससे स्पष्ट अर्थबोध न हो। जैसे

१ आमंतणि आणवणी जायणि तह पुच्छणी अ पन्नवणी।
पच्चक्खाणी भासा भासा इच्छाणुलोमा य ॥
अणभिग्गहिया भासा भासा अ अभिग्गहम्मि बोधव्वा।
संसयकरणी भासा वायड अव्वायडा चेव ॥ —दशवै., ७ अ., ४२-४३ गा.।

'तव्विवरीदं सव्वं कज्जे काले मिद सविसए य।
भत्तादिकहारहिदं भणाहि त चेव य सुणाहि ॥ [भ. आरा. ८३४ गा.] ॥४७॥

अथ एकादशभिः पद्यैरचौर्यव्रत व्याचिख्यासु स्तेये दोषख्यापनपुरःसरं तत्परिहारमुपदेष्टु तावदिदमाह— ३

दौर्गत्याद्युग्रदुःखाग्रकारणं परदारणम्।
हेयं स्तेयं त्रिधा राद्धुमहिंसामिष्टदेवताम् ॥४८॥

दौर्गत्य—नरकादिगतिर्दारिद्रय वा। आदिशब्दाद् वधबन्धादि। तदुक्तम्— ६

'वधबन्धयातनाश्च छायाघात च परिभव शोकम्।
स्वयमपि लभते चौरो मरण सर्वस्वहरण च ॥ [ ]

इत्यादि। परदारण—परस्य धनपतेः परमुत्कृष्ट वा दारणं विनाशनम्। तदुक्तम्— ९

'अर्थेऽपहृते पुरुष. प्रोन्मत्तो विगतचेतनो भवति।
म्रियते कृतहाकारो रिक्तं खलु जीवितं जन्तो. ॥' [ ]

बालकोंकी भापा। इस प्रकार ये सब वचन अनुभयरूप होते हैं। अस्तु, तथा 'मैं अयोग्य नहीं बोलता इसीलिए कि मैंने सत्यव्रत पाला है' मुमुक्षुको इतनेसे ही आश्वस्त नही होना चाहिए। क्योंकि दूसरेके द्वारा कहे गये असत्य वचनको सुननेसे भी अशुभ परिणामोका होना सम्भव है और उससे महान् कर्मबन्ध होता है इसलिए असत्य बोलनेकी तरह असत्य सुननेसे भी साधुको यत्नपूर्वक बचना चाहिए। कहा है—

'हे मुमुक्षु ! तू असत्य वचनसे विपरीत सब सत्य वचनोको बोल। ज्ञान-चारित्र आदिकी शिक्षावाला, असंयमसे बचानेवाला, दूसरेको सन्मार्गमे स्थापन करनेवाला वचन बोल। समयके अनुरूप मितवचन बोल। तथा भोजनकथा, स्त्रीकथा, चोरकथा और राजकथासे रहित वचन बोल। और इसी प्रकारके वचन सुन। असत्य वचन सुननेसे भी पाप होता है।' इस प्रकार सत्यमहाव्रतका स्वरूप जानना।' ॥४७॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे अचौर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे चोरीकी बुराइयाँ बतलाते हुए उसके त्यागका उपदेश देते हैं—

चोरी नरक आदि गति अथवा दारिद्रय आदि दुःखोंका प्रधान कारण है और जिसका धन चुराया जाता है उसके विनाशका कारण है। इष्ट देवता रूप अहिंसाकी आराधनाके लिए मन-वचन-कायसे चोरीका त्याग करना चाहिए ॥४८॥

विशेषार्थ—मूलव्रत अहिंसा है उसीके पालनके लिए शेष व्रत हैं। अतः पराये द्रव्यको चुराना, अनुचित साधनोंसे उसे लेना लेनेवालेके लिए भी दुःखदायक है और जिसका धन लिया जाता है उसके लिए भी दु खकारक है अतः हिंसा है। लोकमे ही चोरको राजदण्ड भोगना होता है, जेलखानेका कष्ट उठाना पडता है। मारपीटकर लोग उसे अधमरा कर डालते हैं। पुराने समयमे चौरका सर्वस्व हर लिया जाता था। तथा धन मनुष्योंका दूसरा प्राण होता है। धन चुराये जानेपर उसका स्वामी पागल हो जाता है, उसकी चेतना लुप्त हो जाती है और अन्तमे वह रोता कलपता हुआ मृत्युके मुखमे चला जाता है। जबतक मनुष्यके पास धन रहता है वह अपने परिवारके साथ सुखपूर्वक जीवन बिताता है। धन चुराये जानेपर उसका सुख और जीवन दोनो ही चले जाते हैं। अत. किसी भी प्रकारके अनुचित साधनसे पराये धनको हरनेका विचार ही छोड़ने योग्य है। अनुचित साधनोसे धनवान

तथा—

'जीवति सुख धने सति वहुपुत्रकलत्रमित्रसंयुक्तः ।
धनमपहरता तेषा जीवितमप्यपहृतं भवति ॥ [ ] ॥४८॥

३

अथ द्रविणापहार. प्राणिना प्राणापहार इति दर्शयति—

त्रैलोक्येनाप्यविक्रेयाननुप्राणयतोऽङ्गिनाम् ।
प्राणान् रायोऽणकः प्रायो हरन् हरति निर्घृणः ॥४९॥

६

अविक्रेयान् । यदाहु —

'भुवनतलजीविताभ्यामेकं कश्चिद् वृणीष्व देवेन ।
इत्युक्तो भुवनतलं न वृणीते जीवितं मुक्त्वा ॥'

९

'यस्माद् भुवनमशेष न भवत्येकस्य जीवितव्यार्थः ।
एक व्यापादयतो तस्माद् भुवनं हृत भवति ॥' [ ]

अनुप्राणयत —अनुगत वर्तयत. । रायः—धनानि । अणकः—निकृष्ट. । प्रायः—बाहुल्येन,

१२

प्रगतपुण्यो वा । यदाहु.—

'पापास्रवणद्वार परधनहरण वदन्ति परमेव ।
चौर. पापतरोऽसौ शौकरिकव्याधजारेभ्यः ॥' [ ] ॥४९॥

१५

अथ चौरस्य मातापित्रादयोऽपि सर्वत्र सर्वदा परिहारमेवेच्छन्तीत्याह—

दोषान्तरजुषं जातु मातापित्रादयो नरम् ।
संगृह्णन्ति न तु स्तेयमषीकृष्णमुखं क्वचित् ॥५०॥

१८

बननेपर उस धनको दूसरे लोग हथियानेकी कोशिश करते हैं। अत. जो दूसरोंका धन हरता है पहले वह दूसरोंको दु खी करता है। पीछे अपना धन हरे जानेपर स्वयं दुखी होता है। अतः यह कर्म मन वचन कायसे छोडने योग्य है। न तो मनमें किसीका एक पाई भी चुरानेका विचार करना चाहिए, न ऐसा करनेके लिए किसीसे कहना चाहिए और न स्वयं ऐसा करना चाहिये ॥४८॥

आगे कहते हैं कि किसीके धनका हरना उसके प्राणोंका हरना है—

तीनों लोकोंके भी मूल्यसे जिन प्राणोंको नहीं बेचा जा सकता उन प्राणोंकी समानता करनेवाले धनको हरण करनेवाला निर्दयी नीच मनुष्य प्राय. प्राणियोंके प्राणोंको हरता है ॥४९॥

विशेपार्थ—यदि कोई कहे कि यदि तू मुझे अपने प्राण दे देवे तो मैं तुझे तीनों लोक दे दूँ। फिर भी कोई अपने प्राण देना नहीं चाहता। क्योंकि जब प्राण ही चले गये तो तीन लोक लेगा कौन ? इस तरह प्राण ऐसी वस्तु है जिनका कोई मूल्य नहीं हो सकता। धन भी मनुष्यका ऐसा ही प्राण है। फिर भी नीच मनुष्य सदा दूसरोंका धन हरनेके लिए आतुर रहते हैं। ऐसे धनहारी चोर पशु-पक्षियोंका शिकार करनेवालोंसे भी अधिक पापी हैं। कहा है—'पर धनके हरणको पापास्रवका उत्कृष्ट द्वार कहते हैं। इसलिए चोर व्यक्ति पशु पक्षीका शिकार करनेवालोंसे और दुराचारियोंसे भी अधिक पापी है' ॥४९॥

चोरके माता-पिता आदि भी सर्वत्र सर्वदा उससे दूर ही रहना चाहते हैं—

चोरीके सिवाय अन्य अपराध करनेवाले मनुष्यको तो माता पिता वगैरह कदाचित्

दोपान्तरजुपं—स्तेयादन्यस्यापराधस्य भक्तारम् । उक्त च—
'अन्यापराधवाधामनुभवतो भवति कोऽपि पक्षेऽपि ।
चौर्यापराधभाजो भवति न पक्षे निजोऽपि जन. ॥' ३
'अन्यस्मिन्नपराधे ददति जनावासमात्मनो गेहे ।
माताऽपि निजे सदने यच्छति वास न चौरस्य ॥' [ ]
क्वचित्—देशे काले वा ॥५०॥ ६

अथ चौरस्यातिदु.सहदु.खपातकबन्धं निवोधयति—

भोगस्वाददुराशयार्थलहरीलुब्धोऽसमीक्ष्यैहिकी,
स्वस्य स्वैः सममापदः कटुतराः स्वस्यैव चामुष्मिकीः । ९
आरुह्यासमसाहसं परधनं मुष्णन्नघं तस्कर-
स्तत्किंचिच्चिनुते वधान्तविपदो यस्य प्रसूनश्रियः ॥५१॥

लहरी—प्राचुर्यम् । यदाहु.— १२
'लोभे पुन. प्रवृद्धे कार्याकार्यं नरो न चिन्तयति ।
स्वस्याविगणय्य मृति साहसमधिक ततस्तनुते ॥' [ ]
स्वै —बन्धुभि. । आमुष्मिकी:—नरकादिभवा. ॥५१॥ १५

अथ स्तेयतन्निवृत्त्यो फल दृष्टान्तमुखेनाचष्टे—

श्रुत्वा विपत्तीः श्रीभूतेस्तद्भवेऽन्यभवेष्वपि ।
स्तेयात्तद्व्रतयेन्माढिमारोढुं वारिषेणवत् ॥५२॥ १८

व्रतयेत । माढि—पूजाम् ॥५२॥

अपना भी लेते है । किन्तु चोरीकी कालिमासे अपना मुख काला करनेवाले मनुष्यको किसी भी देश और किसी भी कालमें माता-पिता वगैरह भी आश्रय नहीं देते ॥५०॥

आगे कहते हैं कि चोरके अत्यन्त दुःसह दु:खोंके हेतु पापका बन्ध होता है—

भोगोंको भोगनेकी खोटी आशासे मनुष्य एक साथ बहुत-सा धन प्राप्त करनेके लोभसे चोरी करता है । उस समय वह यह नहीं देखता कि इस कार्यसे इसी जन्ममें मुझे और मेरे सम्बन्धी जनोंको कितना कष्ट भोगना होगा तथा परलोकमें अकेले मुझे ही यहाँसे भी अधिक कष्टकर विपत्तियाँ भोगनी होंगी । जीवन तककी बाजी लगाकर असाधारण साहसके साथ वह पराया धन चुराता है । उससे वह इतने तीव्र पापकर्मका बन्ध करता है कि उसमें ऐसी विपत्तिरूपी फूल खिलते हैं जिसके अन्तमें उसके जीवनका ही अन्त हो जाता है ॥५१॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा चोरी और उसके त्यागका फल बतलाते हैं—

चोरीके दोपसे उसी भवमें तथा अन्य भवोंमें भी श्रीभूतिकी विपत्तियोंको सुनकर वारिषेणकी तरह अतिशय पूजित होनेके लिए चोरीका त्याग करना चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—जैन कथा ग्रन्थोंमें चोरीमें श्रीभूति पुरोहितकी कथा वर्णित है । श्रीभूति राजपुरोहित था, शास्त्रोंका पण्डित था । सत्यकी ओर अधिक रुझान होनेसे वह सत्यघोष नामसे विख्यात था । उसका सब विश्वास करते थे । एक बार एक वणिक् पुत्र समुद्रयात्राके लिए जाते समय अपने बहुमूल्य सात रत्न उसकी स्त्रीके सामने श्रीभूतिके पास धरोहर रख गया । लौटते समय समुद्रमें तूफान आ जानेसे उसका सर्वस्व समुद्रमें डूब गया । जिस

भूयोऽपि स्तेयदोषान् प्रकाशयंस्तद्विरतिं दृढयति—

गुणविद्यायशःशर्मधर्ममर्माविध सुधीः।
३ अदत्तादानतो दूरे चरेत् सर्वत्र सर्वथा ॥५३॥

गुणा —कौलीन्यविनयादय । यदाहु'—

'सुतरामपि सयमयन्नादायादत्त मनागपि तृणं वा।
६ भवति लघुः खलु पुरुषः प्रत्ययविरहो यथा चीर. ॥' [ ]

मर्मावित्—लक्षणया सद्यो विनाशनम् ॥५३॥

किसी तरह प्राण बचे तो उसने श्रीभूतिसे अपने रत्नोंकी याचना की। उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय थी और उसके पास कुछ प्रमाण भी नहीं था। फलतः श्रीभूतिने वणिक् पुत्रको तिरस्कृत करके घरसे निकाल दिया। इतना ही नहीं, किन्तु राजासे भी उसकी शिकायत करके कि यह व्यर्थ ही मुझे बदनाम करता है, राजाका हृदय भी उसकी ओरसे उत्तेजित कर दिया। तब उस बुद्धिमान् वणिक् पुत्रने दूसरा मार्ग अपनाया। राजाकी पटरानीके महलके निकट एक इमलीका वृक्ष था। रात्रिमे वह उसपर चढ जाता और जोरसे चिल्लाता कि श्रीभूति मेरे अमुक रूप-रंगके रत्नोंको नहीं देता। मैंने उसके पास धरोहरके रूपमे रखे थे। इसकी साक्षी उसकी पत्नी है। यदि मेरा कथन रंचमात्र भी असत्य हो तो मुझे सूली दे दी जाये। इस तरह चिल्लाते-चिल्लाते उसे छह मास बीत गये। एक दिन रानीका ध्यान उसकी ओर गया। उसने श्रीभूतिको द्यूत-क्रीड़ाके लिए आमन्त्रित किया। श्रीभूति द्यूत-क्रीडाका रसिक था। रानीने द्यूत-क्रीड़ामें जीती हुई वस्तुओंको प्रमाणरूपमें दिखाकर अपनी धायके द्वारा श्रीभूतिकी पत्नीसे सातों रत्न प्राप्त कर लिये और राजाको दे दिये। राजाने उन रत्नोंको अनेक रत्नोंमें मिलाकर वणिक् पुत्रको बुलाया और उससे अपने रत्न चुननेके लिए कहा। उसने अपने रत्न चुन लिये। यह देखकर राजाने वणिक् पुत्रकी प्रशंसा की और श्रीभूतिका सर्वस्व हरण करके गधेपर बैठाकर अपने देशसे निकाल दिया।

वारिषेण राजा श्रेणिकका पुत्र था। बडा धर्मात्मा था। एक दिन चतुर्दशीकी रात्रिमे वह उपवासपूर्वक श्मशानमें ध्यानस्थ था। उसी दिन एक चोर हार चुराकर भागा। रक्षकोंने देख लिया। वे उसके पीछे भागे। श्मशानमे जाकर चोरने वह हार वारिषेणके पास रख दिया और वहाँसे भाग गया। रक्षकोंने वारिषेणको चोर मानकर राजा श्रेणिकसे शिकायत की। श्रेणिकने उसके वधकी आज्ञा दे दी। ज्यों ही जल्लाद ने तलवारका वार किया, तलवार फूलमाला हो गयी। तब वारिषेणका बडा सम्मान हुआ और उन्हें निर्दोष मान लिया गया ॥५२॥

पुनः चोरी की बुराइयाँ बतलाकर उससे विरत होनेका समर्थन करते है—

दूसरेके द्वारा दिये गये बिना उसके धनको लेनेसे कुलीनता-विनय आदि गुण, विद्या, यश, सुख और धर्म तत्काल नष्ट हो जाते है। अत उससे सब देशोंमे, सब कालमे और सर्व प्रकारसे दूर ही रहना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—जिनागममें चोरीके लिए 'अदत्तादान' शब्द का प्रयोग किया है, जो उससे व्यापक होनेसे विशेष अर्थका बोधक है। साधारण तो चोरी परायी वस्तुके चुरानेको कहते है। किन्तु अदत्तादानका अर्थ है बिना दी हुई वस्तुका ग्रहण। बिना दी हुई वस्तुको स्वीकार करना चोरी है। यदि मार्गमें किसीकी वस्तु गिर गयी है या रेलमे कोई व्यक्ति कुछ सामान भूल गया है तो उसको ले लेना भी चोरी ही है। हमें ऐसी वस्तुको भी नही उठाना

अथ ज्ञानसंयमादिसाधनं विधिना दत्तं गृह्णीयादित्यनुशास्ति—

वसतिविकृतिबर्हवृसीपुस्तककुण्डीपुर सरं श्रमणैः ।
श्रामण्यसाधनमवग्रहविधिना ग्राह्यमिन्द्रादेः ॥५४॥ ३

विकृतिः—गोमयदग्धमृत्तिकादि॰ । वृसी—व्रतिनामासनम् । अवग्रहविधिना—स्वीकर्तव्यविधानेन । इन्द्रादेः । उक्तं च—

देविंदराय गहवइदेवद साहम्मि उग्गह तम्हा । ६
उग्गह विहिणा दिन्न गिण्हसु सामण्णसाहणय ॥५४॥ [भ. आ. ८७६ गा.]

अथ विधिदत्तं गृहीत्वा यथोक्तं चरतः समीहितमभिधत्ते—

चाहिए। देशकी नैतिकताकी यह भी एक कसौटी है कि मनुष्यको अपनी वस्तु उसी स्थानपर मिल जाये जहाँ वह छोड गया था या भूल गया था। हाँ, यदि उस तक पहुँचानेके उद्देश्यसे उसे उठाया जाता है तो वह चोरी नहीं है। चोरी को गुण आदिका 'मर्माविध्' कहा है। मर्मस्थानके छिदने पर प्राणीका तत्काल मरण होता है। उसी तरह चोरी करनेपर व्यक्तिके सब गुण, विद्या, यश वगैरह तत्काल नष्ट हो जाते हैं। वह मनुष्य स्वयं अपनी ही दृष्टिमें गिर जाता है। अन्य लोग भले ही उसके मुँहपर कुछ न कहें किन्तु उनकी दृष्टि भी बदल जाती है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि साधुको ज्ञान-संयम आदिके साधन भी विधिपूर्वक दिये जानेपर ही स्वीकार करना चाहिए—

तपस्वी श्रमणोंको मुनिधर्मके साधन आश्रय, मिट्टी, राख, पिच्छिका, व्रतियोंके योग्य आसन और कमण्डलु वगैरह इन्द्र-नरेन्द्र आदिसे ग्रहण करनेकी विधिपूर्वक ही ग्रहण करना चाहिए ॥५४॥

विशेषार्थ—यह ग्रन्थ साधु धर्मसे सम्बद्ध है। जैन साधुका प्राचीन नाम श्रमण है। उन्हींके प्रसंगसे यहाँ अदत्तादान विरमण महाव्रतका कथन किया गया है। साधुका वेश धरकर तो चोर चोरी करते हैं। किन्तु सच्चा साधु विना दी हुई वस्तुको ग्रहण नहीं करता। उसकी आवश्यकताएँ बहुत सीमित होती हैं। शरीरसे वह नग्न रहता है अतः वस्त्र सम्बन्धी किसी वस्तुकी उसे आवश्यकता नहीं होती। भोजन श्रावकके घर जाकर करता है अतः भोजन सम्बन्धी भी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। सिर वगैरहके बाल अपने हाथसे उखाड लेता है अतः उस सम्बन्धी भी किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती। जब साधु वनोंमें रहते थे तब निवासस्थान वसतिकी भी तभी आवश्यकता होती थी जब नगरमें ठहरते थे। वसतिके सिवाय हाथ माँजनेके लिए मिट्टी, राख वगैरह, जीव जन्तुकी रक्षाके लिए पिच्छिका, बैठनेके लिए आसन, स्वाध्यायके लिए शास्त्र और शौचके लिए कमण्डलु आवश्यक होता है। ये भी विना दिये नहीं लेना चाहिए। तथा देनेवाला यदि इन्द्र और राजा भी हो तब भी स्वीकार करनेकी विधिपूर्वक ही स्वीकार करना चाहिए। अर्थात् किसीके प्रभावमें आकर विना विधिके दी हुई वस्तु भी स्वीकार नहीं करनी चाहिए ॥५४॥

आगे कहते हैं कि विधिपूर्वक दिये हुए संयमके साधनोको ग्रहण करके यथोक्त संयमका पालन करनेवाले साधुके ही इष्टकी सिद्धि होती है—

---

१. विधदत्त भ. कु. च. । २ तसिद्धिम भ कु च. ।

शचीश-धात्रीश-गृहेश-देवता सधर्मणां धर्मकृतेऽस्ति वस्तु यत् ।
ततस्तदादाय यथागमं चरन्नचौर्यचुञ्चुः श्रियमेति शाश्वतीम् ॥५५॥

३ शचीश.—इन्द्र । इह हि किल पूर्वादिदिक्षु पूर्वस्या अधिपः सौधर्मेन्द्रः, उत्तरस्यामीशानेन्द्रः । धात्रीश —भूपतिः । गृहेशः—वसतिस्वामी । देवता—क्षेत्राधिष्ठितो भूतादिः ॥५५॥

अथ शून्यागार-विमोचितावास-परोपरोधाकरण-भैक्ष्यशुद्धि-सधर्माविसंवादलक्षण-भावनापञ्चकेन स्थैर्यार्थ-
६ मचौर्यव्रतं भावयेदित्युपदिशति—

[१]शून्यं पदं विमोचितमुतावसेद्भैक्षशुद्धिमनु यस्येत् ।
न विसंवदेत्सधर्मभिरुपरुन्ध्यान्न परमप्यचौर्यपरः ॥५६॥

इन्द्र, राजा, वसतिका स्वामी, गृहपति, क्षेत्रका अधिष्ठाता, देवता और अपने संघके साधुओंकी जो वस्तु धर्मका साधन हो उसे उनसे लेकर आगमके अनुसार आचरण करनेवाला अचौर्यव्रती साधु अविनाशिनी लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥५५॥

विशेषार्थ—धर्मसंग्रह (श्वे.) की टीकामें अदत्तके चार भेद किये हैं—स्वामीके द्वारा अदत्त, जीवके द्वारा अदत्त, तीर्थंकरके द्वारा अदत्त और गुरुके द्वारा अदत्त। जो स्वामीके द्वारा नहीं दिया गया वह पहला अदत्त है जैसे तृण, काष्ठ वगैरह । जो स्वामीके द्वारा दिया गया भी जीवके द्वारा न दिया गया हो वह दूसरा अदत्त है जैसे पुत्रकी इच्छाके बिना माता-पिताके द्वारा अपना पुत्र गुरुको अर्पित करना । तीर्थंकरके द्वारा निषिद्ध वस्तुको ग्रहण करना तीसरा अदत्त है । और स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी गुरुकी अनुज्ञाके बिना लेना चौथा अदत्त है । चारों ही प्रकारका अदत्त साधुके लिए त्याज्य है । दशवैकालिकमें कहा[२] है—

'संयमी मुनि सचित्त या अचित्त, अल्प या बहुत, दन्तशोधन मात्र वस्तुका भी उसके स्वामीकी आज्ञाके बिना स्वयं ग्रहण नहीं करता, दूसरोंसे ग्रहण नहीं कराता, और अन्य ग्रहण करनेवालेका अनुमोदन भी नहीं करता' ॥५५॥

आगे स्थिरताके लिए पाँच भावनाओंके द्वारा अचौर्य व्रतके भावनका उपदेश देते हैं—

अचौर्यव्रती साधुको निर्जन गुफा वगैरहमें अथवा दूसरोंके द्वारा छोड़े गये स्थानमें बसना चाहिए । भिक्षाओंके समूहको अथवा भिक्षामें प्राप्त द्रव्यको भैक्ष्य कहते हैं उसकी शुद्धिके लिए सावधान रहना चाहिए अर्थात् पिण्डशुद्धि नामक अधिकारमें आगे कहे गये दोषोंसे बचना चाहिए । साधर्मीजनोंके साथमें 'यह मेरा है' यह तेरा है' इस तरहका झगड़ा नहीं करना चाहिए । तथा अन्य श्रावक वगैरहको अभ्यर्थनासे रोकना नहीं चाहिए ॥५६॥

---

१ 'सुण्णायारणिवासो विमोचियावास जं परोधं च ।
एसण सुद्धिसउत्त साहम्मीसु विसंवादो' ॥—चारित्र पाहुड, ३४ गा.
शून्यागारविमोचितावास-परोपरोधाकरण भैक्षशुद्धिसद्धर्माविसंवादाः पञ्च ॥—त. सू ७।६
अस्तेयस्यानुवीच्यवग्रहयाचनमभीक्ष्णावग्रहयाचनमेतावदित्यवग्रहावधारण समानधार्मिकेभ्योऽवग्रहयाचनं अनुज्ञापितपानभोजनमिति ।—त. भाष्य ७।३

२ 'चित्तमतमचित्त वा अप्प वा जइ वा बहु ।
दतसोहणमेत्त पि ओग्गहसि अजाइया ॥
त अप्पणा ण गेण्हंति नो वि गेण्हावए परं ।
अन्न वा गेण्हमाण पि नाणु जाणति सजया' ॥—अ ६, श्लो १३-१४

शून्यं—निर्जन गुहागेहादि। पद—स्थानम्। विमोचितं—परचक्रादिनोद्वासितम्। भैक्षशुद्धिमनु—भिक्षाणा समूहो भिक्षाया आगत वा भैक्ष तस्य शुद्धि पिण्डशुद्धयुक्तदोषपरिहारस्ता प्रति। यस्येत्—प्रयतेत। न विसवदेत्—तवेदं वस्तु न ममेति विसवाद सार्धमिकै सह न कुर्यादित्यर्थ। उपरुन्ध्यात्—सकोचयेत् ॥५६॥ ३

अथास्तेयव्रतस्य भावनाः प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—

योग्यं गृह्णन् स्वाम्यनुज्ञातमस्यन् सक्ति तत्र प्रत्तमप्यर्थवत्तत्। ६
गृह्णन् भोज्येऽप्यस्तगर्धोपसङ्गः स्वाङ्गालोची स्यान्निरीहः परस्वे ॥५७॥

योग्य—ज्ञानाद्युपकरणम्। स्वाम्यनुज्ञात—तत्स्वामिना 'गृहाण' इत्यनुमतम्। एतेनाचारशास्त्रमार्गेण योग्ययाचन ततस्तत्स्वाम्यनुज्ञातात् ग्रहण चेति भावनाद्वय सगृहीत वोद्धव्यम्। या तु गोचरादिपु गृहस्वाम्यननुज्ञात(–गृहप्रवेशवर्जन–)लक्षणा भावना साऽत्रैवान्तर्भवत्यननुज्ञातानभ्युपगमाविशेषात्। तत्र पर(–ानुज्ञा सपाद्य–) गृहीतेऽप्यासक्तबुद्धितेति। सैपा चतुर्थी। अर्थवत्—सप्रयोजनम्। पनत्प ण...(ऐतत्परिमाणमिद भवता दातव्य–) मिति सप्रयोजनमात्रपरिग्रहो न पुनर्दाता यावद् ददाति तावद् गृह्णाति (–णामीति) बुद्धिरि- ९ १२

विशेषार्थ—श्वेताम्बर सम्मत तत्त्वार्थाधिगम भाषामे पाँच भावनाएँ इस प्रकार हैं—१ अनुवीच्यवग्रहयाचन—आलोचनापूर्वक अवग्रहकी याचना करना चाहिए। देवेन्द्र, राजा, गृहपति, शय्यातर और साधर्मी, इनमे-से जो जहाँ स्वामी हो उसीसे याचना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे अदत्तादान नहीं होता। २ अभीक्ष्ण अवग्रहयाचन—पहले बारम्बार परिग्रह प्राप्त करके भी रुग्ण आदि अवस्थामे टट्टी-पेशावके लिए पात्र, हाथ-पैर धोनेके लिए स्थान आदिकी याचना करनी चाहिए। इससे दाताके चित्तको कष्ट नहीं होता। ३ एतावत् इति अवग्रहावधारण—इतने परिमाणवाला ही क्षेत्र अवग्रह करना। उसीमे क्रिया करनेसे दाता रोकता नहीं है। ४ समान धार्मिकोंसे अवग्रहयाचन—समानधर्मी साधुओके द्वारा पहलेसे परिगृहीत क्षेत्रमे-से अवग्रह माँगना चाहिए। उनकी आज्ञा मिलनेपर ही वहाँ ठहरना चाहिए अन्यथा चोरीका दोष लगता है। ५. अनुज्ञापित पान भोजन—शास्त्रकी विधिके अनुसार पान-भोजन करना। अर्थात् पिण्डैषणाके उपयुक्त, कृत कारित अनुमोदनासे रहित, कल्पनीय भोजन लाकर गुरुकी अनुज्ञापूर्वक सबके साथ या एकाकी जीमना। प्रश्न व्याकरण सूत्रके अनुसार पाँच भावनाएँ इस प्रकार है—१. विविक्तवसतिवास, २ अनुज्ञातसस्तारकग्रहण, ३. शय्यापरिकर्मवर्जन, ४ अनुज्ञातभक्तादिभोजन और ५ साधर्मिकोमे विनय। अर्थात् सभी वस्तुएँ उसके स्वामियोकी और गुरु आदिकी अनुज्ञापूर्वक ही ग्राह्य हैं ॥५६॥

अचौर्य व्रतकी भावनाओको दूसरे प्रकारसे कहते हैं—

योग्यको ग्रहण करनेवाला, स्वामीके द्वारा अनुज्ञातको ग्रहण करनेवाला, गृहीतमे भी आसक्तिको छोड़नेवाला तथा दिये हुएमे-से भी प्रयोजन मात्रको ग्रहण करनेवाला साधु परवस्तुमे सर्वथा निरीह होता है। तथा भोजन-पानमे और अपिशब्दसे शरीरमे गृद्धिको त्यागनेवाला, परिग्रहसे दूर रहनेवाला और शरीर तथा आत्माके भेदको जाननेवाला साधु परवस्तुमें निरीह होता है ॥५७॥

---

१ भ. कु. च.। २ भ कु च। मूलप्रती स्थान रिक्तम्

त्यर्थ. । सैषा पञ्चमी । तथा चोक्तम्—'अणणण्णदस्सणो ग्रह असगबुद्धो अणु वि । उग्रहजायण मह उग्रहणास्स । वज्जणमणण्णणाद ग्रहिपावसस्सण । ग्रह असगबुद्ध अगोचरादी मु । उगह जायणमणुवीचए तह भावणा ३ तदिए ॥[1]

अत्रेद संस्कृतम्—

'उपादान मन्येव (मतस्यैव) मते चासक्तबुद्धिता ।
६ ग्राह्यस्यार्थकृतो लीनमितरस्य तु वर्जनम् ॥'
'अप्रवेशोऽमतेऽगारे गृहिभिर्गोचरादिषु ।
तृतीये भावना योग्या याञ्चा सूत्रानुसारत. ॥' [ ]

९ भोज्ये च—भक्तपाने च । एतेन भक्तसतुष्टता पानसतुष्टता चेति द्वे भावने सगृहीते । अपिशब्दात् देहेऽपि । देहेऽशुचित्वानित्यत्वादिभावनापर इत्यर्थ. । सैषा तृतीया । अपसङ्ग. । सैषा परिग्रहनिवृत्तिलक्षणा चतुर्थी । स्वाङ्गालोची आत्मान देह च भेदेनाध्यवस्यन् । इद शरीरादिकमात्मनो देहनमुपलेप कर्मकृतं गुरुत्व १२ नोपकारकारकमिति देहनात्या । सैषा पञ्चमी ।

एतदप्यभाणि—

'देहणं भावण चावि उग्गहं च परिग्गहे ।
१५ सतुट्ठो सत्तपाणेसु तदिय वदमस्सिदो ॥' [ ]

एतेनैतदुक्त भवति व्रतान्तरेऽपि शास्त्रान्तरोक्तान्यपि भावनान्तराणि भाव्यानि ।

तत्राद्ये यथा—

१८ 'मणगुत्तो वचिगुत्तो इरियाकायसजुदो ।
एषणासमिदिसजुत्तो पढम वदमस्सिदो ॥' [ ]

चतुर्थे यथा—

२१ 'इत्थिकहा इत्थिससग्गी हस्सखेडपलोयणो ।
णियत्तो य णियम हिट्ठिदो चउत्थ वदमस्सिदो ॥' [ ] ॥५७॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार पं. आशाधरने पहले अचौर्य व्रतकी भावना तत्त्वार्थसूत्रके अनुसार कही थी। अन्य ग्रन्थोमे अन्य प्रकारसे पॉच भावनाऍ बतलायी है। यहॉ उन्हींके अनुसार पॉच-पॉच भावनाओका कथन किया है। आचारशास्त्रमे प्रतिपादित मार्गके अनुसार योग्य ज्ञानादिके उपकरणोकी याचना करना पहली भावना है। और उसके स्वामी-की अनुज्ञासे ग्रहण करना दूसरी भावना है। गोचरीके समय गृहस्वामीके द्वारा अनुज्ञा न मिलनेपर उस घरमे प्रवेश न करना तीसरी भावना है। स्वामीकी अनुज्ञासे गृहीत योग्य वस्तुमे भी आसक्ति न होना चतुर्थ भावना है। स्वामीके द्वारा दिये जानेपर भी प्रयोजन मात्रका ग्रहण करना पॉचवीं भावना है।

प्रतिक्रमण शास्त्रमे पॉच भावनाऍ इस प्रकार कही है—'शरीरके विषयमे अशुचित्व-अनित्यत्व आदिका भावन करना, शरीरको आत्माका उपलेप मानना, परिग्रहका त्याग, भक्त और पानमे सन्तोष रखना ये पॉच भावनाऍ है' ॥५७॥

---

१. 'अणणुण्णादग्गहण असगबुद्धो अणुण्णवित्ता वि ।
एदावतिय उग्गह जायणमध उग्गहाणुस्स ॥
वज्जणमणण्णुणादगिहप्पवेसस्स गोयरादीसु ।
उग्गहजायणमणुवीचिए तहा भावणा तइए ॥' [भ आ. १२०८-९]

अथास्तेयव्रतदृढिमदूराधिरूढप्रौढमहिम्ना परमपदप्राप्तिमाशंसति—

ते संतोषरसायनव्यसनिनो जीवन्तु यै. शुद्धचि-
न्मात्रोन्मेषपराङ्मुखाखिलजगद्दौर्जन्यगर्जद्भुजम् ।
जित्वा लोभमनल्पकिल्विषविषस्रोत' परस्वं शकृन्-
मन्वानै स्वमहत्त्वलुप्तखमदं दासीक्रियन्ते श्रियः ॥५८॥ ३

जीवन्तु—शुद्धचैतन्यदृग्बोधादिभावप्राणै प्राणन्तु । खमद —आकाशदर्प । परधननिरीहा आकाशादपि (—महान्त इति भाव —) ॥५८॥ ६

अथ पञ्चचत्वारिंशत्पद्यैर्ब्रह्मचर्यव्रत व्याचिकीर्षुस्तन्माहात्म्यमुपदर्श्य रोचनमुत्पाद्य तत्परिपालनाय मुमुक्षु नित्यमुद्यमयति । ९

आगे कहते हैं कि दृढतापूर्वक अचौर्य व्रतका अच्छी तरह पालन करनेवाले प्रौढ महिमाशाली साधुओंको परमपदकी प्राप्ति होती है—

यह समस्त जगत् शुद्ध चिन्मात्र अर्थात् समस्त विकल्पोंसे अतीत अविचल चैतन्यके साक्षात्कारमें उपयोग लगानेसे विमुख हो रहा है। इस अपकारके अहंकारसे गर्वित होकर लोभ अपनी भुजाएँ ठोककर अट्टहास करता है। ऐसे तीनो लोकोंको जीतनेवाले उस लोभको भी जीतकर जो पराये धनको विष्टाके तुल्य और महापापरूपी विषका स्रोत मानते हैं और अपनी महत्तासे आकाशके भी मदको छिन्न-भिन्न करके लक्ष्मीको अपनी दासी बना लेते हैं वे सन्तोषरूपी रसायनके व्यसनी साधु सदा जीवित रहें अर्थात् दया, इन्द्रिय-संयम और त्यागरूप भावप्राणोंको धारण करे ॥५८॥

विशेषार्थ—संसारके प्रायः समस्त प्राणी जो अपने स्वरूपको भूले हुए हैं और अपने शुद्ध चैतन्य स्वरूपसे विमुख हो रहे हैं इसका मूल कारण है लोभ। इसीसे लोभको पापका बाप कहा है। उस लोभको जीतकर पराये धनसे जो निरीह रहते है वे आकाशसे भी महान् हैं। उन्हें जो कुछ उचित रीतिसे प्राप्त होता है उसीमे सन्तोष करते हैं। यह सन्तोष रसायनके तुल्य है। जैसे रसायनके सेवनसे दीर्घ आयु, आरोग्य आदि प्राप्त होते हैं उसी तरह सन्तोष आत्माके आरोग्यके लिए रसायन है। सन्तोषके विना लोभको नहीं जीता जा सकता और लोभको जीते विना अचौर्यव्रतका पूर्णतासे पालन नही किया जा सकता। मनमे छिपा हुआ असन्तोष लोभवृत्तिको जगाकर पराये धनके प्रति लालसा पैदा करता है। यह पराये धनकी लालसा ही चोरीके लिए प्रेरित करती है। चोरीसे मतलब केवल डाकेजनी या किसीके घरमे घुसकर माल निकालनेसे ही नहीं है। यह सब न करके भी जगत्मे चोरी चलती है। अनुचित रीतिसे परधन ग्रहणकी भावनामात्र चोरी है। परधनके प्रति निरीह हुए विना मनुष्य चोरीसे नहीं बच सकता और लोभको जीते विना परधनके प्रति निरीह नहीं हो सकता। इस प्रकार अचौर्यव्रतका वर्णन जानना ॥५८॥

आगे ग्रन्थकार पैंतालीस पद्योसे ब्रह्मचर्यव्रतका व्याख्यान करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम ब्रह्मचर्यके माहात्म्य-वर्णनके द्वारा रुचि उत्पन्न करके मुमुक्षुओको उसका सदा पालन करनेके लिए प्रेरित करते हैं—

प्रादु:षन्ति यतः फलन्ति च गुणाः सर्वेऽप्यखर्वौजसो,
यत्प्रह्वीकुरुते चकास्ति च यतस्तद्ब्राह्ममुच्चैर्महः।
३ **त्यक्त्वा स्त्रीविषयस्पृहादि दशधाऽब्रह्मामलं पालय.**
स्त्रीवैराग्यनिमित्तपञ्चकपरस्तद्ब्रह्मचर्यं सदा ॥५९॥

प्रादु षन्ति—दु खेन प्रस्रवन्ति । गुणा —व्रतशीलादय. । अप्यखर्वौजसः—अखर्वमुन्नतमुदितोदित-
६ मोजस्तेज उत्साहो वा येषा ते तानिन्द्रादीनपीत्यर्थः । ब्राह्मं—सार्वज्ञम् । स्त्रीविपयाः—स्त्रीगता रूपरसगन्ध-
स्पर्शशब्दाः । (अब्रह्म—बृहं)न्त्यहिंसादीन्यस्मिन्निति ब्रह्म—शुद्धस्वात्मानुभूतिपरिणतिस्ततोऽन्यत् ॥५९॥

अथ ब्रह्मचर्यस्वरूपं निरूप्य तत्पालनपराणा परमानन्दप्रतिलम्भमभिधत्ते—

९ **या ब्रह्मणि स्वात्मनि शुद्धबुद्धे चर्या परद्रव्यमुच प्रवृत्तिः।**
तद्ब्रह्मचर्यं व्रतसार्वभौमं ये पान्ति ते यान्ति परं प्रमोदम् ॥६०॥

स्पष्टम् । उक्तं च—
१२ निरस्तान्याङ्गरागस्य स्वदेहेऽपि विरागिण ।
जीवे ब्रह्मणि या चर्या ब्रह्मचर्यं तदीर्यते ॥ [अमित. भ. आरा पृ. ९९० ।] ॥६०॥

---

१५ हे मुमुक्षु ! स्त्री-विषयक अभिलाषा आदि दस प्रकारके अब्रह्म अर्थात् मैथुनको त्यागकर तथा स्त्रीमें वैराग्यके पाँच निमित्त कारणोंमें तत्पर होकर सदा निर्मल उस ब्रह्मचर्यका पालन कर, जिस ब्रह्मचर्यके प्रभावसे सभी गुण उत्पन्न होते हैं और फलते हैं, अत्यन्त प्रताप-शाली इन्द्रादि भी नम्रीभूत हो जाते है तथा जिससे प्रसिद्ध उच्च ब्राह्म तेज प्रकाशित होता है। अर्थात् श्रुतकेवलीपना और केवलज्ञानीपना प्राप्त होता है ॥५९॥

ब्रह्मचर्यका स्वरूप बतलाकर उसके पालनमें तत्पर पुरुषोंको परमानन्दकी प्राप्ति बतलाते है—

ब्रह्म अर्थात् अपनी शुद्ध-बुद्ध आत्मामें, चर्या अर्थात् शरीर आदि परद्रव्यका त्याग करनेवाले साधुकी बाधारहित परिणतिको ब्रह्मचर्य कहते है। समस्त भूमिके स्वामी चक्र-वर्तीको सार्वभौम कहते है। ब्रह्मचर्य भी व्रतोंका सार्वभौम है। इसे जो निरतिचार पालते है वे परमानन्दको प्राप्त करते है ॥६०॥

विशेषार्थ—निरुक्तिकारोंने ब्रह्मचर्यकी निरुक्ति 'ब्रह्मणि चर्या' की है। ब्रह्मका अर्थ है अपनी शुद्ध-बुद्ध आत्मा। देखे गये, सुने गये, भोगे गये समस्त प्रकारके भोगोंकी चाहरूप निदानसे होनेवाले बन्ध आदि समस्त विभाव तथा रागादि मलसे निर्मुक्त होनेसे आत्मा शुद्ध है। और एक साथ समस्त पदार्थोंका साक्षात्कार करनेमे समर्थ होनेसे बुद्ध है। ऐसी आत्मामे अपने और पराये शरीरसे ममत्वको त्याग कर जो प्रवृत्ति की जाती है उसीमें लीन होना है वही ब्रह्मचर्य है। कहा भी है—'पराये शरीरके प्रति अनुरागको दूर करके अपने शरीरसे भी विरक्त जीवकी ब्रह्ममे चर्याको ब्रह्मचर्य कहते है'।

इसी ब्रह्मचर्यका व्यावहारिक रूप स्त्री-वैराग्य है। स्त्रीसे मानुषी, तिरश्ची, देवी और उनकी प्रतिमा सभी लिये गये है। वैराग्यसे मतलब है स्त्रीसे रमण करनेकी इच्छाका निग्रह। जबतक यह नही होता तबतक ब्रह्मचर्यका पालन सम्भव नही है। इसीसे ब्रह्मचर्यको सब व्रतोंका स्वामी कहा है। इससे कठिन दूसरा व्रत नही है। और इसके विना समस्त त्याग, यम, नियम व्यर्थ है।

अथ दशप्रकारब्रह्मसिद्ध्यर्थं दशविधाब्रह्मप्रतिषेधाय प्रयुङ्क्ते—

मा रूपादिरसं पिपास सुदृशां मा वस्तिमोक्षं कृथा,
वृष्यं स्त्रीशयनादिकं च भज मा मा दा वराङ्गे दृशम् । ३
मा स्त्री सत्कुरु मा च संस्कुरु रतं वृत्तं स्मर रमार्यं मा,
वत्स्यंन्मेच्छ जुषस्व मेष्टविषयान् द्विः पञ्चधा ब्रह्मणे ॥६१॥

पिपास—पातुमिच्छ त्वम् । वस्तिमोक्ष—लिङ्गविकारकरणम् । वृष्य—शुक्रवृद्धिकरम् । स्त्रीशय- ६
नादिकं—कामिन्यङ्गस्पर्शवत्तत्ससक्तशय्यासनादिस्पर्शस्यापि कामिना प्रीत्युत्पत्तिनिमित्तत्वात् । मा दाः—
मा देहि, मा व्यापारयेत्मर्थ । वराङ्गे—भगे । सत्कुरु—सम्मानय । सस्कुरु—वस्त्रमाल्यादिभिरलकुरु ।
वृत्तं—पूर्वानुभृतम् । स्मर स्म मा । तथा ताभि सह मया क्रीडितमिति मा स्म चिन्तय इत्यर्थ । वत्स्यंत्— ९
भविष्यत् ॥६१॥

ब्रह्मचर्यके दस प्रकारोंकी सिद्धिके लिए दस प्रकारके अब्रह्मको त्यागनेकी प्रेरणा करते हैं—

हे आर्य ! दस प्रकारके ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेके लिए दस प्रकारके अब्रह्मका सेवन मत करो । प्रथम, कामिनियोंके रूपादि रसका पान करनेकी इच्छा मत करो । अर्थात् चक्षुसे उनके सौन्दर्यका, जिह्वासे उनके ओष्ठरसका, घ्राणेन्द्रियसे उनके उच्छ्वास आदिकी सुगन्धका, स्पर्शन इन्द्रियसे उनके अंगस्पर्शका और श्रोत्रसे गीत आदिके शब्दका परिभोग करनेकी अभिलाषा मत करो । दूसरे, अपने लिंगमें विकार उत्पन्न मत करो । तीसरे, वीर्य वृद्धिकारक दूध, उडद आदिका सेवन मत करो । चौथे, स्त्री शय्या आदिका सेवन मत करो क्योंकि स्त्रीके अंगके स्पर्शकी तरह उससे संसक्त शय्या, आसन आदिका स्पर्श भी रागकी उत्पत्तिमें निमित्त होता है । पाँचवे, स्त्रीके गुप्तांगपर दृष्टि मत डाल । छठे, अनुरागवश नारीका सम्मान मत कर । सातवे, वस्त्र, माला आदिसे स्त्रीको सज्जित मत कर । आठवे, पहले भोगे हुए मैथुनका स्मरण मत कर । नौवे, आगामी भोगकी इच्छा मत कर कि मैं देवांगनाओंके साथ अमुक-अमुक प्रकारसे मैथुन करूँगा । दसवे, इष्ट विषयोका सेवन मत कर ॥६१॥

विशेषार्थ—भगवती [1]आराधनामें [गा. ८७९-८०] अब्रह्मके दस प्रकार कहे हैं—'स्त्री सम्बन्धी विषयोंकी अभिलाषा, लिंगके विकारको न रोकना, वीर्यवृद्धिकारक आहार और रसका सेवन करना, स्त्रीसे ससक्त शय्या आदिका सेवन करना, उनके गुप्तागको ताकना, अनुरागवश उनका सम्मान करना, वस्त्रादिसे उन्हें सजाना, अतीत कालमें की गयी रतिका स्मरण, आगामी रतिकी अभिलाषा और इष्ट विषयोका सेवन, ये दस प्रकारका अब्रह्म हैं । इनसे निवृत्त होना दस प्रकारका ब्रह्मचर्य है' ॥६१॥

---

१ 'इत्थिविसयाभिलासो वत्थिविमोक्खो य पणिदरससेवा ।
ससत्तदव्वसेवा तदिंदिया लोयण चेव ॥
सक्कारो सकारो अदीदसुमिरणमणागदभिलासे ।
इट्ठविसयसेवा वि य अब्बभ दसविह एद' ॥

अथ विषयवर्गस्य मनोविकारकारित्वं मुनीनामपि दुर्वारमिति परं तत्परिहारे विनेयं सज्जयति—

यद्व्यद्धुं घुणवद् वज्रमीष्टे न विषयव्रजः ।
३ मुनीनामपि दुष्प्रापं तन्मनस्तत्तमुत्सृज ॥६२॥

वाद्धु (व्यद्धुं)—वो(-वे-)धितुं विकारयितुमित्यर्थः ॥६२॥

अथ स्त्रीवैराग्यपञ्चकभावनया प्राप्तस्त्रीवैराग्यो ब्रह्मचर्यं वर्द्धस्वेति शिक्षयति—

६ नित्यं कामाङ्गनासङ्गदोषाशौचानि भावयन् ।
कृतार्यसङ्गतिः स्त्रीषु विरक्तो ब्रह्म बृंहय ॥६३॥

सङ्ग'—संसर्गः । प्रत्यासत्तेरङ्गनाया एव । अथवा कामाङ्गनाङ्गसङ्गेति पाठ्यम् । स्त्रीषु—मानुषी-
९ तिरश्चीदेवीषु तत्प्ररूपकेषु च । विरक्त'—संसर्गादेर्निवृत्तः ।

तदुक्तम्—

'मातृस्वसृसुतातुल्यं दृष्ट्वा स्त्रीत्रिकरूपकम् ।
१२ स्त्रीकथादिनिवृत्तिर्या ब्रह्म स्यात्तन्मतं सताम् ॥' [ ] ॥६३॥

अथ अष्टाभिः पद्यैः कामदोषान् व्याचिख्यासुः प्रथमं तावद्योन्यादिरिरंसायाः प्रवृत्तिनिमित्तकथनपुरस्सरं तीव्रदुःखकरत्वं वक्रभणित्या प्रकाशयति—

विषय मनमें विकार पैदा करते हैं जो मुनियोंके द्वारा भी दुर्निवार होता है । इसलिए अभ्यासियोंको उनका त्याग करनेकी प्रेरणा करते हैं—

जैसे घुन वज्रको नहीं छेद सकता, उसी तरह इन्द्रियोंके विषयोंका समूह जिस मनको विकारयुक्त नहीं करता वह मन मुनियोंको भी दुर्लभ है अर्थात् विषय मुनियोंके मनमें भी विकार पैदा कर देते हैं । इसलिए तू उन विषयोंको त्याग दे ॥६२॥

आगे स्त्रियोंसे वैराग्य उत्पन्न करनेवाली पाँच भावनाओंके द्वारा स्त्रीसे विरक्त होकर ब्रह्मचर्यको बढ़ानेकी शिक्षा देते हैं—

हे साधु ! काम, स्त्री और स्त्री-संसर्गके दोष तथा अशौचका निरन्तर विचार करते हुए ज्ञानवृद्ध तपस्वी जनोंके साहचर्यमें रहकर तथा स्त्री-विषयक अभिलाषाको दूर करके ब्रह्मचर्य व्रतको उन्नत कर ॥६३॥

विशेषार्थ—स्त्रीवैराग्यका मतलब है स्त्रियोंकी अभिलाषा न करना, उनसे रमण करनेकी इच्छाकी निवृत्ति । उसके बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं किया जा सकता । तथा उसके लिए पाँच भावनाएँ आवश्यक हैं । काम-सेवन, स्त्री और स्त्रीसंसर्गके दोष तथा उनसे होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन और ज्ञानी-विवेकी तपस्वीजनोंका सहवास । सत्संगतिमें बड़े गुण हैं । जैसे कुसंगतिमें दुर्गुण हैं वैसे ही सत्संगतिमें सद्गुण हैं । अतः ब्रह्मचर्यव्रती-को सदा ज्ञानी तपस्वियोंका सहवास करना चाहिए तथा कामभोग, स्त्री-सहवास आदिके दोष, उनसे पैदा होनेवाली गन्दगीका सतत चिन्तन करते रहना चाहिए ॥६३॥

आगे ग्रन्थकार आठ पद्योंसे कामके दोषोंका कथन करना चाहते हैं । उनमें-से सर्व-प्रथम योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छाके तथा उसमें प्रवृत्तिके निमित्तोंका कथनपूर्वक उसे वक्रोक्तिके द्वारा तीव्र दुःखदायक बतलाते हैं—

वृष्यभोगोपयोगाभ्यां कुशीलोपासनादपि ।
पुंवेदोदीरणात् स्वस्थ. कः स्यान्मैथुनसंज्ञया ॥६४॥

वृष्येत्यादि—वृष्याना कामवर्द्धनोद्दीपनाना क्षीरशर्करादीना भोजनेन रम्योद्यानादीना च सेवनेन । ३
पुंवेदोदीरणात्—पुंसो वेदो योन्यादिरिरसा संमोहोत्पादनिमित्त चारित्रमोहकर्मविशेष तस्य उदीरणा-
दुद्भवादन्तरङ्गनिमित्तादुद्भूतया मैथुनसंज्ञया—मैथुने रते सज्ञा वाञ्छा तया । तस्याश्चाहारादिसंज्ञावत्तीव्रदु ख-
हेतुत्वमनुभवसिद्धमागमसिद्ध च । ६

तथा ह्यागम —

'इह जाहि बाहिया वि जीवा पावंति दारुण दुक्खम् ।
सेवंता वि य उभए ताओ चत्तारि सण्णाओ ॥' [गो जी १३४] ९

कामका वर्धन और उद्दीपन करनेवाले पदार्थोंके भोगसे और उपयोगसे, तथा कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और पुरुषवेदकी उदीरणासे होनेवाली मैथुन संज्ञासे कौन मनुष्य सुखी हो सकता है ? ॥६४॥

विशेषार्थ—चारित्र मोहनीयका उदय होनेपर रागविशेषसे आविष्ट स्त्री और पुरुषोंमें जो परस्परमें आलिंगन आदि करनेकी इच्छा होती है उसे मैथुन संज्ञा कहते हैं । स्त्री स्त्रीके साथ और पुरुष पुरुषके साथ या अकेला पुरुष और अकेली स्त्री मैथुनके अभिप्रायसे जो हस्त आदिके द्वारा अपने गुप्त अंगका सम्मर्दन करते हैं वह भी मैथुनमें ही गर्भित है । मैथुन-के लिए जो कुछ चेष्टाएँ की जाती हैं उसे लोकमें सम्भोग शृंगार कहते हैं । कहा है[1]—हर्षातिरेकसे युक्त सहृदय दो नायक परस्परमें जो-जो दर्शन और सम्भाषण करते हैं वह सब सम्भोग शृंगार है ।'

इस मैथुन संज्ञाके बाह्य निमित्त हैं दूध आदि वृष्य पदार्थोंका भोजन और रमणीक वनोंमें विहार तथा स्त्री आदिके व्यसनोंमें आसक्त पुरुषोंकी संगति । और अन्तरंग निमित्त है पुरुषवेदकी उदीरणा । पुरुषवेदका मतलब है योनि आदिमें रमण करनेकी इच्छा । पुरुष-वेद कर्म चारित्र मोहनीय कर्मका भेद है । यहाँ पुंवेदका ग्रहण इसलिए किया है कि चूँकि पुरुष ही मोक्षका अधिकारी होता है इसलिए उसकी मुख्यता है । वैसे वेद मात्रका ग्रहण अभीष्ट है । अत स्त्रीवेद और नपुंसकवेद भी लेना चाहिए । कोमलता, अस्पष्टता, बहुकामावेश, नेत्रोंमें चंचलता, पुरुषकी कामना आदि स्त्रीभाववेदके चिह्न हैं । इससे विपरीत पुरुषभाव-वेद है । और दोनोंका मिला हुआ भाव नपुंसकभाववेद है । भाववेदकी उदीरणा मैथुन संज्ञाका अन्तरंग कारण है । आगम में कहा है—'कामोद्दीपक पदार्थोंका भोजन करनेसे, कामोद्दीपक बातोंमें उपयोग लगानेसे, कुशील पुरुषोंकी संगतिसे और वेदकर्मकी उदीरणासे इन चार कारणोंसे मैथुन संज्ञा होती है ।'

लोगोंके मनमें यह भ्रान्त धारणा है कि मैथुन संज्ञामें सुख है । संज्ञा मात्र दुःखका कारण है । कहा है—'इस लोकमें जिनसे पीड़ित होकर भी तथा सेवन करते हुए भी जीव भयानक दु ख पाते हैं वे संज्ञाएँ चार हैं—आहार, भय, मैथुन और परिग्रह ।'

---

१ 'अन्योन्यस्य सचित्तावनुभवतो नायकौ यदिद्धमुदौ ।
आलोकनवचनादि स सर्व सम्भोगशृङ्गार ' ॥

अपि च—

'[1]परितप्यते विषीदति शोचति विलपति च खिद्यते कामी।
नक्तं दिवं न निद्रां लभते ध्यायति, च विमनस्कः॥' [ ] ॥६४॥

अथ बहिरात्मप्राणिगणस्य कामदुःखाभिभवदुर्निवारतामनुशोचति—

संकल्पाण्डकजो द्विदोषरसनश्चिन्तारुषो गोचर-
च्छिद्रो दर्पबृहद्रदो रतिमुखो ह्रीकञ्चुकोन्मोचकः।
कोऽप्युग्रदृशवेगदुःखगरलः कन्दर्पसर्पः स्वयं,
ही दन्दष्टि हठद्विवेकगरुडक्रोडादपेतं जगत् ॥६५॥

संकल्प—इष्टाङ्गनादर्शनात्तां प्रत्युत्कण्ठागर्भोऽध्यवसायः। द्विदोषं—रागद्वेषौ। चिन्ता—इष्टाङ्गनागुणसमर्थनतद्दोषपरिहरणार्थो विचारः। गोचराः—रूपादिविषयाः। बृहद्रदः—दंष्ट्रा सा चेह तालुगता। कोऽपि—अपूर्वः। सप्तवेगविषो हि शास्त्रे सर्पः प्रसिद्धः। यद्वाग्भटः—

कामी पुरुषोंकी दुर्दशाका वर्णन काव्य-साहित्य तकमें भी किया है। यथा—'कामी पुरुष परिताप करता है, खेद-खिन्न होता है, दुःखी होता है, शोक करता है, विलाप करता है। दिन-रात सोता नहीं है और विक्षिप्त चित्त होकर किसीके ध्यानमें मग्न रहता है।'

एक कामी कहता है—'बड़ा खेद है कि मैंने सुखके लोभसे कामिनीके चक्करमें पड़कर उत्कण्ठा, सन्ताप, घबराहट, नींदका न आना, शरीरकी दुर्बलता ये फल पाया।'

और भी कहा है—'स्त्रीके प्रेममें पड़े हुए मूढ़ मनुष्य खाना-पीना छोड़ देते हैं, लम्बी-लम्बी साँस लेते हैं, विरहकी आगसे जलते रहते हैं। मुनीन्द्रोंको जो सुख है वह उन्हें स्वप्नमें भी प्राप्त नहीं होता' ॥६४॥

दुर्निवार कामविकारके दुःखसे अभिभूत संसारके विषयोंमें आसक्त प्राणियोंके प्रति शोक प्रकट करते हैं—

कामदेव एक अपूर्व सर्प है। यह संकल्परूपी अण्डेसे पैदा होता है। इसके रागद्वेषरूपी दो जिह्वाएँ हैं। अपनी प्रेमिका-विषयक चिन्ता ही उसका रोष है। रूपादि विषय ही उसके छिद्र हैं। जैसे साँप छिद्र पाकर उसमें घुस जाता है उसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि देखकर कामका प्रवेश होता है। वीर्यका उद्रेक उसकी बड़ी दाढ़ है जिससे वह काटता है। रति उसका मुख है। वह लज्जारूपी केंचुलीको छोड़ता है। प्रतिक्षण बढ़ते हुए दस वेग ही उसका दुःखदायी विष है। खेद है कि जाग्रत् विवेकरूपी गरुड़की गोदसे वंचित इस जगत्‌को वह कामरूपी सर्प बुरी तरह डँस रहा है ॥६५॥

विशेषार्थ—यहाँ कामदेवकी उपमा सर्पसे दी है। सर्प अण्डेसे पैदा होता है। कामदेव संकल्परूपी अण्डेसे पैदा होता है। किसी इच्छित सुन्दरीको देखकर उसके प्रति उत्कण्ठाको लिये हुए जो मनका भाव होता है उसे संकल्प कहते हैं। उसीसे कामभाव पैदा होता है। पञ्चतंत्रमें कहा है—

---

१. 'सोयदि विलपदि परितप्पदी य कामादुरो विसीयदि य।
रत्तिदिया य णिद्दं ण लहदि पज्झादि विमणो य॥' [भ. आ. ८८४ गा.]

'पूर्वं दर्वीकृता वेगे दुष्टं श्यावीभवत्यसृक् ।
श्यावता नेत्रवक्त्रादौ सर्पन्तीव च कीटिका' ॥
द्वितीये ग्रन्थयो वेगे तृतीये मूर्द्धगौरवम् ।
दृग्रोधो दशविक्लेदश्चतुर्थे ष्ठीवन वमि ॥
'सधिविश्लेषण तन्द्रा पञ्चमे पर्वभेदनम् ।
दाहो हिध्मा तु षष्ठे तु हृत्पीडा गात्रगौरवम् ॥
'मूर्छा विपाकोऽतीसार. प्राप्य शुक्र च सप्तमे ।
स्कन्धपृष्ठकटीभङ्गः सर्वचेष्टानिवर्तनम् ॥' [अष्टाङ्ग. उत्त. ३६।१९-२२]

सम—सर्वं युगपद्वा । यल्लोक —

'उच्छु सरासणु कुसुमसरु अगु ण दीसइ जासु ।
हलि म (त) सु मयण महाभडह तिहुवणि कवणु ण दासु ॥' [ ]

ददष्टि—गर्हित दशति । गर्हा चात्र वृद्धेष्वप्यतिज्वलनादनौचित्यप्रवृत्ता । हठन्—(दे-) दीप्यमानो बलात्कारयुक्तो वा ॥६५॥

'हे कामदेव ! मैं तुम्हारा स्वरूप जानता हूँ। तू संकल्पसे पैदा होता है। मै संकल्प नहीं करूँगा। तव तू कैसे पैदा होगा।' सर्पको 'द्विजिह्व' कहते है। उसके दो जिह्वा होती हैं। राग-द्वेष कामकी दो जिह्वाएँ है। सर्प जव काटता है तो बड़े रोषमे होता है। इच्छित स्त्रीके गुणोका चिन्तन ही कामका रोष है उससे वह और भी प्रवल होता है। इसी तरह स्त्रीका सौन्दर्य आदि वे छिद्र है जिनको देखकर काम रूपी सर्प प्रवेश करता है। साँपके दाढ होती है जिससे वह काटता है। वीर्यका उद्रेक ही कामरूपी सर्पकी दाढ है। रति उसका मुख है। साँप केचुली छोड़ता है। कामदेव भी लज्जारूपी केंचुली छुड़ाता है। कामी मनुष्य निर्लज्ज हो जाता है। सर्पमे जहर होता है। कामके दस वेग ही उसका जहर है। और इसीसे कामको अपूर्व सर्प कहा है क्योकि सर्पके विपके सात वेग प्रसिद्ध हैं। वाग्भटने कहा है—'पहले वेगमे मनुष्यका रक्त काला पड जाता है, नेत्र-मुख वगैरहपर कालिमा आ जाती है। शरीरमे कीड़े रेंगते प्रतीत होते है। दूसरे वेगमे रक्तमे गाँठे पड जाती हैं। तीसरेमे सिर भारी हो जाता है। दृष्टिमे रुकावट आ जाती है। चौथेमे वमन होती है। शरीरकी सन्धियाँ ढीली पड जाती है। मुँहमे झाग आने लगते हैं। पाँचवे वेगमे शरीरके पर्व अलग होने लगते है, जलन पड़ती है, हिचकी आती है। छठेमे हृदयमे पीड़ा होती है, शरीरमे भारीपन आ जाता है, मूर्छा, दस्त आदि होते है। सातवे वेगमे कन्धा, पीठ, कमर भंग हो जाती है और अन्तमे मृत्यु हो जाती है।' इस तरह साँपके तो सात ही वेग है किन्तु कामरूपी सर्पके दस वेग है जो आगे वतलायेंगे। अतः कामरूपी सर्प अन्य सर्पोंसे भी वढकर होनेसे अपूर्व है। गरुड साँपका दुश्मन है। जो उसके समीप होते हैं उन्हे साँप नहीं डँसता। इसी तरह जो कामके दोपोका विचार करते रहते हैं उनको कामरूपी सर्प नहीं डँसता है। किन्तु जगत्मे वह विवेक विरल ही मनुष्योंके पास है अतः सर्व जगत्को कामने डँस रखा है। कहा भी है—'हे सखि ! ईख तो उसका धनुप है, पुष्प वाण है और उसका शरीर दिखाई नहीं देता। फिर भी यह काम वडा वीर है। तीनों लोकोमे कौन उसका दास नहीं है ॥६५॥

अथ कामस्य दश वेगानाह—

शुग्दिदृक्षायतोच्छ्‌वासज्वरदाहाशनारुचीः ।
समूर्च्छोन्मादमोहान्ताः कान्तामाप्नोत्यनाप्य ना ॥६६॥

३

स्पष्टम् । उक्तं च—

'शोचति प्रथमे वेगे द्वितीये तां दिदृक्षते ।
तृतीये निःश्वसित्युच्चैश्चतुर्थे ढौकते ज्वरः ॥
पञ्चमे दह्यते गात्रं षष्ठे भक्तं न रोचते ।
प्रयाति सप्तमे मूर्छां प्रोन्मत्तो जायतेऽष्टमे ॥
न वेत्ति नवमे किंचिन्म्रियते दशमेऽवशः ।
संकल्पस्य वशेनैव वेगास्तीव्रास्तथाऽन्यथा ॥' —[अमित भ. आरा. ९०७-९०९]

६

९

लोके त्विमा कामस्य दशावस्था—

'आदावभिलाषः स्याच्चिन्ता तदनन्तरं ततः स्मरणम् ।
तदनु च गुणसंकीर्तनमुद्वेगोऽथ प्रलापश्च ॥
उन्मादस्तदनु ततो व्याधिर्जडता ततस्ततो मरणम् ।
इत्थमसंयुक्तानां रक्तानां दश दशा ज्ञेया ॥' [काव्यालंकार १४।४-५] ॥६६॥

१२

१५

आगे कामके दस वेगोंको हेतु सहित कहते हैं—

इच्छित स्त्रीके न मिलनेपर मनुष्यकी दस अवस्थाएँ होती हैं— १ शोक, २ देखनेकी इच्छा, ३ दीर्घ उच्छ्‌वास, ४ ज्वर, ५ शरीरमें दाह, ६ भोजनसे अरुचि, ७ मूर्च्छा, ८ उन्माद, ९ मोह और १० मरण ॥६६॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना [८९३-८९५] मे कामके दस वेग इस प्रकार[3] कहे हैं— 'कामी पुरुष कामके प्रथम वेगमे शोक करता है। दूसरे वेगमे उसे देखनेकी इच्छा करता है। तीसरे वेगमें साँस भरता है। चौथे वेगमे उसे ज्वर चढता है। पाँचवें वेगमे शरीरमें दाह पड़ती है। छठे वेगमें खाना-पीना अच्छा नही लगता। सातवें वेगमे मूर्च्छित होता है। आठवें वेगमें उन्मत्त हो जाता है। नौवें वेगमें उसे कुछ भी ज्ञान नही रहता। दसवें वेगमे मर जाता है। इस प्रकार कामान्ध पुरुषके संकल्पके अनुसार वेग तीव्र या मन्द होते हैं अर्थात् जैसा संकल्प होता है उसीके अनुसार वेग होते हैं क्योंकि काम संकल्पसे पैदा होता है' ॥६६॥

---

१ 'ज्वरस्तुर्ये प्रवर्तते' ।

२. 'दशमे मुच्यतेऽसुभिः' । संकल्पतरततो वेगास्तीव्रा मन्दा भवन्ति हि ।' —अमित भ. आ. ९०९ ।

३ 'पढमे सोयदि वेगे दट्ठुं तं इच्छदे विदियवेगे ।
णिस्सदि तदिये वेगे आरोहदि जरो चउत्थम्मि ॥
डज्झदि पंचमवेगे अंगं छट्ठे ण रोचदे भत्तं ।
मुच्छिज्जदि सत्तमए उम्मत्तो होदि अट्ठमए ॥
णवमे ण किंचि जाणदि दसमे पाणेहिं मुच्चदि मदंधो ।
संकप्पवसेण पुणो वेगा तिव्वा व मंदा वा ॥

अथ कामार्तस्य किमप्यकृत्यं नास्तीति ज्ञापयति—

अविद्याशाचक्र-प्रसृमर-मनस्कारमरुता,
ज्वलत्युच्चैर्भोक्तुं स्मरशिखिनि कृत्स्नामिव चितम् ।
रिरंसुः स्त्रीपङ्के कृमिकुलकलङ्के विधुरितो,
नरस्तन्नास्त्यस्मिन्नहह सहसा यन्न कुरुते ॥६७॥

आशा—भाविविषयाकाङ्क्षा दिशश्च । चक्रप्रसृमरः—चक्रेण संघातेन सन्तानेन पक्षे मण्डलाकारेण प्रसरणशील । मनस्कार —चित्तप्रणिधानम् । चित्त—चेतनाम् । कृमय —योनिजन्तव । यद्वात्स्यायन — ६

'रक्तजा कृमय' सूक्ष्मा मृदुमध्याधिशक्तय ।
जन्मवर्त्मसु कण्डूतिं जनयन्ति तथाविधाम् ॥' [ ] ॥६७॥ ९

अथ ग्राम्यसुखोत्सुकबुद्धेर्धनार्जन-कर्मसाकल्यश्रमाप्रगुणत्वमशेषयोषिदयन्त्रणान्त करणत्व च व्याचष्टे—

आपातमृष्टपरिणामकटौ प्रणुन्न , किंपाकवन्निधुवने मदनग्रहेण ।
किं किं न कर्म हतशर्म धनाय कुर्यात्, क्व क्व स्त्रियामपि जनो न मनो विकुर्यात् ॥६८॥ १२

आपातमृष्टं—उपयोगोपक्रमे (-मृष्ट-) मधुर सुखवदाभासनात् । उक्त च—

आगे कहते हैं कि कामसे पीडित मनुष्यके लिए कुछ भी अकरणीय नही है—

जैसे अज्ञात दिशाओंसे वहनेवाले वायुमण्डलसे प्रेरित आग जब इस तरह तीव्र रूपसे जलने लगती है कि मानो वह सब कुछ जलाकर भस्म कर देगी, तब उससे अत्यन्त घबराया हुआ मनुष्य कीडोंसे भरे हुए कीचडमे भी गिरनेको तैयार हो जाता है। उसी तरह शरीर और आत्माके भेदको न जानकर भावी भोगोंकी इच्छाओकी बहुलता सम्बन्धी संकल्प-विकल्परूप वायुसे प्रेरित कामाग्नि इस प्रकार जलने लगती है मानो समस्त चेतनाको खा जायेगी। उस समय यह कामी मनुष्य कामसे पीडित होकर कीडोसे भरे हुए स्त्रीयोनिमें रमण करनेकी इच्छासे ऐसा कोई भी अकृत्य इस जगत्में नहीं है जिसे वह न करता हो यह बड़े खेद और आश्चर्यकी बात है। अर्थात् कामाग्निके प्रदीप्त होनेपर व्याकुल हुआ मनुष्य कीचडके तुल्य स्त्रीमे रमण करनेकी इच्छासे सभी अकृत्य कर डालता है ॥६७॥

विशेषार्थ—स्त्रीको ऐसी कीचड़की उपमा दी है जिसमें कीड़े बिलबिलाते है। जैसे कीचडमें फँसकर निकलना कठिन होता है वैसे ही स्त्रीके रागमे फँस जानेपर उससे निकलना कठिन होता है। तथा स्त्रीकी योनिमे ऐसे जन्तु कामशास्त्रमे बतलाये है जिनसे स्त्रीको पुरुषके संसर्गकी इच्छा होती है। कहा है—'स्त्रियोंकी योनिमे रक्तजन्य सूक्ष्म कीट होते हैं जो रिरंसाके कारणभूत खाजको उत्पन्न करते है ॥६७॥

आगे कहते है कि विषय सुखकी उत्सुकतासे मनुष्य रात दिन धन कमानेके साधनोंमें जुटा रहता है और उसका मन सभी स्त्रियोंके प्रति अनियन्त्रित रहता है—

मैथुन किंपाक फलके समान प्रारम्भमे मधुर लगता है किन्तु परिणाममे कटु है। कामरूपी भूतके द्वारा बहुत अधिक प्रेरित होकर मैथुन सेवनमे प्रवृत्त हुआ मनुष्य धनके लिए कौन-कौन कष्टदायक व्यापार नही करता और किस-किस स्त्रीमे अपने मनको विकारयुक्त नहीं करता अर्थात् मानुषी, देवी, तिरश्ची, निर्जीव स्त्रियो तकमे अपने मनको विकृत करता है ॥६८॥

'रम्यमापातमात्रेण परिणामे तु दारुणम् ।
किंपाकफलसंकाशं तत्कः सेवेत मैथुनम् ॥' [ ]

३ क्व क्व स्त्रिया—मनुष्या देव्या तिरश्च्या निर्जीवाया वा ॥६८॥

अथ कामाग्नेरचिकित्स्यतामाचष्टे—

ज्येष्ठे ज्योत्स्नेऽमले व्योम्नि मूले मध्यन्दिने जगत् ।
६ दहन् कथंचित्तिग्मांशुश्चिकित्स्यो न स्मरानल. ॥६९॥

ज्योत्स्न —शुक्लपक्ष । अमले—निरभ्रे । मूले—मूलनक्षत्रे ।

यल्लोके—

९ 'हारो जलार्द्रवसन नलिनीदलानि
प्रालेयसीकरमपस्तुहिनांशुभास ।
यस्येन्धनानि सरसानि च चन्दनानि
१२ निर्वाणमेष्यति कथं स मनोभवाग्नि· ॥' [ ]

अपि च—

'चन्द्र. पतङ्गति भुजङ्गति हारवल्ली
१५ स्रक् चन्दनं विषति मुर्मुरतीन्दुरेणुः ।
तस्या कुमार ! भवतो विरहातुराया
किन्नाम ते कठिनचित्त ! निवेदयामि ॥' [ ] ॥६९॥

विशेषार्थ—एक कविने लिखा है—कामी पुरुष ऐसा कोई काम नही है जिसे नहीं करता। पुराणोंमें कहा है कि कामसे पीडित ब्रह्माने अपनी कन्यामें, विष्णुने गोपिकाओंमें, महादेवने शन्तनुकी पत्नीमें, इन्द्रने गौतम ऋषिकी पत्नी अहिल्यामें और चन्द्रमाने अपने गुरुकी पत्नीमे मन विकृत किया। अतः मैथुनके सम्बन्धमें जो सुख की भ्रान्त धारणा है उसे दूर करना चाहिए। विषय सेवन विप सेवनके तुल्य है ॥६८॥

आगे कहते है कि कामाग्निका कोई इलाज नही है—

ज्येष्ठ मासके शुक्लपक्षमें, मेघरहित आकाशमें, मूल नक्षत्रमे, मध्याह्नके समयमें जगत्‌को तपानेवाले सूर्यका तो कुछ प्रतिकार है, शीतल जल आदिके सेवनसे गर्मी शान्त हो जाती है किन्तु कामरूपी अग्निका कोई इलाज नही है ॥६९॥

विशेषार्थ—ज्येष्ठ मासके मध्याह्नमे सूर्यका ताप बड़ा प्रखर होता है किन्तु उसका तो इलाज है—शीत-ताप-नियन्त्रित कमरेमे आवास, शीतल जलसे स्नान-पान आदि। किन्तु कामाग्निकी शान्तिका कोई इलाज नही है। कहा है—'हार, जलसे गीला वस्त्र, कमलिनीके पत्ते, बर्फके समान शीतल जलकण फेंकनेवाली चन्द्रमाकी किरणे, सरस चन्दनका लेप, ये जिसके ईंधन है अर्थात् इनके सेवनसे कामाग्नि अधिक प्रज्वलित होती है वह कामाग्नि कैसे शान्त हो सकती है' ?

फिर सूर्य तो केवल दिनमे ही जलाता है और कामाग्नि रात-दिन जलाती है। छाता वगैरहसे सूर्यके तापसे बचा जा सकता है किन्तु कामाग्निके तापसे नही बचा जा सकता। सूर्य तो शरीरको ही जलाता है किन्तु कामाग्नि शरीर और आत्मा दोनोंको जलाती है ॥६९॥

---

१. 'जेट्ठामूले जोण्हे सूरो विमले णहम्मि मज्झण्हे ।
ण डहदि तह जह पुरिसं डहदि विवड्ढंतओ कामो' ॥ —भ. आरा ८९६ गा. ।

अथ कामोद्रेकस्य सहसा समगगुणग्रामोपमर्दकत्व निवेदयति—

कुलशीलतपोविद्याविनयादिगुणोच्चयम् ।
दन्दह्यते स्मरो दीप्त. क्षणात्तृण्यामिवानल. ॥७०॥ ३

विनयादि—आदिशब्दात् प्रतिभा-मेधा-वादित्व-वाग्मित्व-तेजस्वितादय । यन्नीति—

'निकाम सक्तमनसा कान्तामुखविलोकने ।
गलन्ति गलिताश्रूणा यौवनेन सह श्रियः' [ ] ६

दंदह्यते—गर्हितं दहति । गर्हा चात्र लौकिकालौकिकगुणग्रामयोरविशेषेण भस्मीकरणादवतरति । तृण्या—तृणमहतिम् ॥७०॥

अथ आसंसारप्रवृत्तमैथुनसज्ञासमुद्भूताखिलदु.खानुभवधिक्काराग्रत सरन्तन्निग्रहोपायमावेदयन्नाह— ९

नि.संकल्पात्मसंवित्सुखरसशिखिनानेन नारीरिरंसा-
संस्कारेणाद्य यावद्भिगहमधिगतः किं किमस्मिन्न दुःखम् ।
तत्सद्यस्तत्प्रबोधच्छिदि सहजचिदानन्दनिष्यन्दसान्द्रे १२
मज्जाम्यस्मिन्निजात्मन्ययमिति विधमेत् काममुत्पित्सुमेव ॥७१॥

रस —पारद । तत्प्रबोधच्छिदि—नारीरिरंसासंस्कारप्राकट्यापनोदके । विधमेत्—विनाशयेत् । उत्पित्सु—उत्पत्त्यभिमुखम् । १५

तथा चोक्तम्—

'शश्वद्दु सहदु खदानचतुरो वैरी मनोभूरय
न ध्यानेन नियम्यते न तपसा सगेन न ज्ञानिनाम् । १८
देहात्मव्यतिरेकबोधजनित स्वाभाविक निश्चल
वैराग्य परम विहाय शमिना निर्वाणदानक्षमम् ॥' [ ] ॥७१॥

आगे कहते हैं कि कामका वेग शीघ्र ही समस्त गुणोंको नष्ट कर देता है—

जैसे आग तृणोंके समूहको जलाकर भस्म कर देती है वैसे ही प्रज्वलित कामविकार कुल, शील, तप, विद्या, विनय आदि गुणोंके समूहको क्षण-भरमे नष्ट कर देता है ॥७०॥

विशेषार्थ—कामविकार मनुष्यके लौकिक और अलौकिक सभी गुणोंको नष्ट कर देता है। वंश-परम्परासे आये हुए आचरणको कुल कहते है। सदाचारको शील कहते हैं। मन और इन्द्रियोंके निरोधको तप कहते है। ज्ञानको विद्या कहते हैं। तपस्वी और ज्ञानीजनोंके प्रति नम्र व्यवहारको विनय कहते हैं। आदि शब्दसे प्रतिभा, स्मृति, तेजस्विता, आरोग्य, बल, वीर्य, लज्जा, दक्षता आदि लिये जाते हैं ॥७०॥

जबसे ससार है तभीसे मैथुन सज्ञा है। उससे होनेवाले समस्त दु खोंके अनुभवसे जो उसके प्रति धिक्कारकी भावना रखनेमे अगुआ होता है उसे उसके निग्रहका उपाय बताते हैं—

निर्विकल्प स्वात्मानुभूतिसे होनेवाले सुखरूप रसको जलानेके लिए अग्निके तुल्य स्त्रीमें रमण करनेकी भावनासे आज तक मैंने इस संसारमे क्या क्या दुःख नहीं उठाये, मुझे धिक्कार है। इसलिए तत्काल ही स्त्रीमे रमण करनेकी भावनाके प्रकट होते ही उसका छेदन करनेवाले, स्वाभाविक ज्ञानानन्दके पुन -पुन प्राकट्यसे घनीभूत अपनी इस आत्मामे लीन होता हूँ। इस उपायसे उत्पत्तिके अभिमुख अवस्थामें ही कामका निग्रह करना चाहिए ॥७१॥

एवं कामदोषान् व्याख्याय इदानी षड्भि. पद्यै' स्त्रीदोषान् व्याचिकीर्षु. तद्दोषज्ञातृत्वमुखेन पाण्डित्य-प्रकाशनाय मुमुक्षुमभिमुखीकुर्वन्नाह—

३ पत्यादीन् व्यसनार्णवे स्मरवशा या पातयत्यञ्जसा,
या रुष्टा न महत्त्वमस्यति परं प्राणानपि प्राणिनाम् ।
तुष्टाऽप्यत्र पिनष्टयमुत्र च नरं या चेष्टयन्तीप्सितो
६ दोषज्ञो यदि तत्र योषिति सखे दोषज्ञ एवासि तत् ॥७२॥

पिनष्टि—सचूर्णयति सर्वपुरुषार्थोपमर्दकरत्वात् । इप्सितः—स्वेच्छात' । दोषज्ञ एव—विद्वानेव ॥७२॥

विशेषार्थ—यह जीव अपने स्वरूपको नहीं जानता। इसने अनादिकालसे शरीरमें ही आत्मबुद्धि की हुई है। उसीके साथ अपना जन्म और मरण मानता है। फलत. पुद्गलमें इसकी आसक्ति बनी हुई है। जबतक इसे अपने स्वरूपका ज्ञान नहीं होता तबतक यह आसक्ति नहीं हट सकती और इस आसक्तिके हटे बिना मैथुन संज्ञासे छुटकारा नहीं हो सकता। अतः शरीर और आत्माके भेदज्ञान करानेकी सख्त जरूरत है। शरीरसे भिन्न चिदानन्दस्वरूप आत्माकी अनुभूतिके लिए शरीर और आत्माका भेदज्ञान आवश्यक है। वह होनेपर ही अपनी ओर उपयोग लगानेसे स्वात्मानुभूति होती है। किन्तु उस अनुभूतिकी बाधक है मैथुन संज्ञा। अत' मैथुनकी भावनासे मनको हटाकर आत्मभावनामें मन लगानेके लिए आत्माके स्वरूपके प्रतिपादक ग्रन्थोंका स्वाध्याय करना चाहिए। उससे ज्यों-ज्यों आत्माभिरुचि होती जायेगी त्यों-त्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी और ज्यों-ज्यों मैथुनकी रुचि घटती जायेगी त्यों-त्यों आत्माभिरुचि बढती जायेगी। यह आत्माभिरुचि ही स्वात्मानु-भूतिकी पृष्ठभूमि है। उसके बिना ब्रह्मचर्य व्रत लेनेपर भी मैथुनकी भावनासे छुटकारा नहीं होता। इसीसे इस व्रतका नाम ब्रह्मचर्य 'आत्मामे आचरण' है ॥७१॥

पहले ब्रह्मचर्यकी वृद्धिके लिए स्त्रीवैराग्यकी कारण पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश दिया था। उनमें-से कामदोष भावनाका व्याख्यान पूर्ण हुआ। आगे छह पद्योंसे स्त्री-दोष भावनाका कथन करते हुए मुमुक्षुको उनके जाननेको यह कहकर प्रेरणा करते हैं जो स्त्रियोंके दोषोंको जानता है वही पण्डित है—

जो स्त्री कामके वशमें होकर पति-पुत्र आदिको दुःखके सागरमे डाल देती है और सचमुचमें रुष्ट होनेपर प्राणियोंके महत्त्वका ही अपहरण नही करती किन्तु प्राणो तकका अपहरण कर डालती है। तथा सन्तुष्ट होनेपर भी अपनी इच्छानुसार चेष्टाएँ कराकर पुरुष-को इस लोक और परलोकमे पीस डालती है। इसलिए हे मित्र ! यदि तुम स्त्रीके दोषोंको जानते हो तो तुम निश्चय ही दोषज्ञ—विद्वान् हो ॥७२॥

विशेषार्थ—जो वस्तुओके यथार्थ दोषोंको जानता है उसे दोषज्ञ अर्थात् विद्वान् कहते हैं। यह बात प्रसिद्ध है। संस्कृत अमरकोशमें लिखा है—'विद्वान् विपश्चिद् दोषज्ञः' [२।७।५] अर्थात् विद्वान्, विपश्चिद्, दोषज्ञ ये विद्वान् पण्डितके नाम है। ग्रन्थकारका कहना है कि सभी दूषित वस्तुओंके दोषोको जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोको नही जानता तो वह विद्वान् नहीं है। किन्तु जो अन्य वस्तुओके दोषोको जानकर या नहीं जानकर भी यदि स्त्रीके दोषोंको जानता है तो वह विद्वान् है ॥७२॥

अथ स्त्रीणा निसर्गवञ्चकत्वेन दुःखैककारणत्वमुपदर्शयन् लोकस्य ततः स्वतश्च मुग्धत्वमुद्भावयति—

लोकः किन्नु विदग्धः किं विधिदग्धः स्त्रियं सुखाङ्गेषु । ३

यद्धुरि रेखयति मुहुर्विश्रम्भं कृन्ततीमपि निकृत्या ॥७३॥

विधिदग्धः—दैवेन प्लुष्टः मतिभ्रष्टः कृत । अथवा विधिर्विहिताचरणं दग्धोऽस्येति ग्राह्यम् । रेखयति—रेखायता करोति गणयतीत्यर्थः । निकृत्या—वञ्चनया ॥७३॥ ६

अथ स्त्रीचरित्रं योगिनामपि दुर्लक्षमिति लक्षयति—

परं सूक्ष्ममपि ब्रह्म परं पश्यन्ति योगिनः ।

न तु स्त्रीचरितं विश्वमतद्विद्यं कुतोऽन्यथा ॥७४॥ ९

अतद्विद्यं—स्त्रीचरितज्ञानशून्य महर्षिज्ञानपूर्वकत्वात् सर्वविद्यानाम् । श्लोक —

'मायागेहं (ससन्देह) नृशंसं बहुसाहसम् ।

कामान्धे. स्त्रीमनोलक्ष्यमलक्ष्यं योगिनामपि ॥' [ ] ॥७४॥

अथ स्त्रीणा दम्भादिदोषभूयिष्ठतया नरकमार्गाग्रेसरत्व निवेदयन् दुर्दैवस्य तत्पथप्रस्थानसूत्रधारता प्रत्याचष्टे— १२

दोषा दम्भतमस्सु वैरगरलव्याली मृषोद्यातडिन्-

मेघाली कलहाम्बुवाहपटलप्रावृड् वृषौजोज्वरः । १५

कन्दर्पज्वररुद्रभालदृगसत्कर्मोमिमालानदी,

स्त्री श्वभ्राध्वपुरःसरी यदि नृणां दुर्दैव किं ताम्यसि ॥७५॥

आगे कहते हैं—स्त्रियाँ स्वभावसे ही ठक विद्यामे कुशल होनेसे एकमात्र दुःखकी ही कारण होती हैं फिर भी लोग उनके विषयमे सदा मूढ ही बने रहते हैं—

पता नहीं, संसारके प्राणी क्या व्यवहारचतुर हैं या दैवने उनकी मति भ्रष्ट कर दी है जो वे छलसे बार-बार विश्वासघात करनेवाली भी स्त्रीको सुखके साधनोंमे सबसे प्रथम स्थान देते हैं ॥७३॥

विशेषार्थ—विदग्धका अर्थ चतुर भी होता है और वि—विशेषरूपसे दग्ध अर्थात् अभागा भी होता है । उसीको लेकर ग्रन्थकारने लोगोंके साथ व्यंग किया है कि वे चतुर हैं या अभागे हैं ?

आगे कहते हैं कि स्त्रीका चरित्र योगियोंके लिए भी अगम्य है—

योगिजन अत्यन्त सूक्ष्म भी परम ब्रह्मको स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे जान लेते हैं किन्तु स्त्रीके चरितको नहीं जानते । यदि जानते तो यह विश्व स्त्रीचरितके ज्ञानसे शून्य क्यों रहता ? अर्थात् इस विश्वको जो भी ज्ञान प्राप्त हुआ है वह योगियोंके द्वारा ही प्राप्त हुआ है । यतः संसार स्त्रीचरितको नहीं जानता । अतः प्रतीत होता है कि योगियोंको भी स्त्रीचरितका ज्ञान नहीं था ॥७४॥

आगे मायाचार आदि दोषोंकी बहुलताके कारण स्त्रियोंको नरकके मार्गका अग्रेसर बतलाते हुए दुर्दैवके नरकके मार्गमे ले जानेकी अगुआईका निराकरण करते हैं—

जो मायारूपी अन्धकारके प्रसारके लिए रात्रि है, वैररूपी विषके लिए सर्पिणी है, असत्यवादरूपी बिजलीके लिए मेघमाला है, कलहरूपी मेघोंके पटलके लिए वर्षाऋतु है,

---

१. कामान्धै भ कु च ।

वृषौजोज्वरः—वृषो धर्म स एव ओज. शुक्रान्तधातुपरमतेज. ।

'ओजस्तेजोधातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्'

३ इत्यभिधानात् । तत्र ज्वरसहर्तृत्वात् । तदुक्तम्—

'ज्वरो रोगपतिः पाप्मा मृत्युरोजोशनान्तक' ।
क्रोधो दक्षाध्वरध्वंसी रुद्रोर्ध्वनयनोद्भवः ॥' [अष्टाङ्गहृदय २।१] ॥७५॥

६ अथ स्त्रीणा रागद्वेषयो. परा कोटिमा[1]र्ष्टुमुपपत्ति दर्शयति—

व्यक्तं धात्रा भीरुसर्गविशेषौ रागद्वेषौ विश्वसर्गे विभक्तौ ।
यद्रक्ता स्वानप्यसून् व्येति पुंसे पुंसोऽपि स्त्री हन्त्यसून् द्राग्विरक्ता ॥७६॥

९ व्यक्त—अहमेव मन्ये । भीरुसर्ग.—स्त्रीसृष्टि । व्येति—विलमते ददातीत्यर्थ ॥७६॥

अथ सुचरिताना सदाचारविशुद्ध्यर्थं दृष्टान्तमुखेन स्त्रीचरितभावनामुपदिशति—

रक्ता देवरतिं सरित्यवनिपं रक्ताऽक्षिपत् पङ्गुके,
१२ **कान्तं गोपवती द्रवन्तमवधीच्छित्वा सपत्नीशिरः ।**
शूलस्थेन मलिम्लुचेन दलितं स्वोष्ठं किलाख्यत्पति-
च्छिन्नं वीरवतीति चिन्त्यमबलावृत्तं सुवृत्तैः सदा ॥७७॥

१५ रक्ता—राज्ञीसज्ञेयम् । रक्ता—आसक्ता । द्रवन्त—पलायमानं । मलिम्लुचेन—अंगारकनाम्ना चौरेण ॥७७॥

धर्मरूपी ओजके विनाशके लिए ज्वर है, कामज्वरके लिए शिवका तीसरा नेत्र है, पापकर्म-रूपी तरंगमालाके लिए नदी है ऐसी स्त्री यदि नरकके मार्गकी अगुआ है तो हे दुर्दैव, तू क्यों वृथा कष्ट उठाता है ? उक्त प्रकारकी नारीसे ही पुरुषोंका नरकमे प्रवेश निश्चित है ॥७५॥

स्त्रियोंमें राग और द्वेषकी चरम सीमा बतलानेके लिए उसकी उपपत्ति दिखाते हैं—

मैं ऐसा मानता हूँ कि सृष्टिको बनानेवालेने रागद्वेषमयी स्त्रीकी रचना करके शेष बचे रागद्वेषको विश्वकी रचनामे विभक्त कर दिया अर्थात् शेषसे विश्वकी रचना की। क्योंकि स्त्री यदि पुरुषसे अनुराग करती है तो उसके लिए धनादिकी तो बात ही क्या, अपने प्राण तक दे डालती है। और यदि द्वेष करती है तो तत्काल ही पुरुषके प्राण भी ले डालती है। इस तरह स्त्रीमे राग और द्वेषकी चरम सीमा है ॥७६॥

सम्यक् चारित्रका पालन करनेवालोंके सदाचारकी विशुद्धिके लिए दृष्टान्त रूपसे स्त्रीचरितकी भावनाका उपदेश देते हैं—

एक पैरहीन पुरुषपर अनुरक्त होकर रक्ता नामकी रानीने अपने पति राजा देवरति-को नदीमें फेंक दिया। गोपवतीने सौतका सिर काटकर भागते हुए पतिको मार डाला। सूलीपर चढ़े हुए अंगारक नामक चोरके द्वारा काटे गये ओष्ठको वीरवतीने अपने पतिके द्वारा काटा हुआ कहा। इस प्रकारके स्त्रीचरितका चरित्रवानोंको सदा विचार करना चाहिए ॥७७॥

---

१ -मादेष्टु—भ. कु. च ।

अथ त्रयोदशभि' पद्यैः स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यातुकामस्तासामुपपत्तिपूर्वकं दूरपरिहार्यत्वमादावनुशास्ति—

सिद्धिः काऽप्यजितेन्द्रियस्य किल न स्यादित्यनुष्ठीयत, ‌ ३
सुष्ट्वामुत्रिकसिद्धयेऽक्षविजयो दक्षै स च स्याद् ध्रुवम् ।
चेतः संयमनात्तप. श्रुतवतोऽप्येतच्च तावद् भवेद्,
यावत्पश्यति नाङ्गनामुखमिति त्याज्याः स्त्रियो दूरत. ।।७८।। ‌ ६

कापि—ऐहिकी पारत्रिकी वा । अङ्गनामुखं—प्रशस्तमङ्ग यस्या साऽङ्गना, तस्या वक्त्रम् । उपपत्तिमात्रार्थमङ्गनाग्रहण स्त्रीमात्रससर्गेऽपि सद्वृत्तविप्लवोपलम्भात् । अत एव त्याज्या स्त्रिय इति सामान्येनोक्तम् ।

'द्वयमेव तप.सिद्धा वुधा कारणमूचिरे । ‌ ९
यदनालोकन स्त्रीणा यच्च सग्लापन तनो ।।' [यशस्तिलक १।८१] ।।७८।।

विशेषार्थ—भगवती आराधना गा. ९४९, ५०, ५१ मे उक्त दृष्टान्त[1] आते है । यथा—'साकेत नगरीका राजा देवरति अपनी रानी रक्तामे अति आसक्तिके कारण राज्यसे निकाल दिया गया । मार्गमे रक्ता एक पंगुल गायकपर आसक्त हो गयी और उसने अपने पतिको छलसे नदीमे डुवो दिया ।। गोपवती वड़ी ईर्ष्यालु थी। उसका पति सिंहवल उससे पीड़ित होकर चला गया और उसने वहाँ अपनी शादी कर ली। गोपवतीने जाकर अपनी सपत्नीका सिर काट लिया। और जव उसका पति लौटकर आया तो उसे भी मार डाला ।। वीरमती एक चोरपर आसक्त थी। राजाने चोरको सूली दे दी। रातमे उठकर वीरमती चोरसे मिलने गयी और चोरने उसका ओठ काट लिया। दिन निकलने पर उसने हल्ला किया कि मेरे पतिने मेरा ओठ काट लिया। राजाने उसके पतिको प्राणदण्ड दिया। किन्तु पतिके मित्रने यह सव चरित्र देखा था उसने राजासे कहा। तव उसका पति वचा।' ये तीनो कथाएँ हरिषेण रचित कथाकोशमे क्रमसे ८५, ८६, ८७ नम्वरपर हैं ।।७७।।

आगे ग्रन्थकार तेरह पद्योसे स्त्री-संसर्गके दोप कहना चाहते हैं। सवसे प्रथम उपपत्तिपूर्वक उन स्त्रियोंको दूरसे ही त्यागनेकी सलाह देते हैं—

आगममें कहा है—जिसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें नहीं है उसे कोई भी इस लोक सम्वन्धी या परलोक सम्वन्धी इष्ट अर्थकी प्राप्ति नहीं होती। इसलिए परलोकमे अर्थकी सिद्धिके लिए उसके साधनमे तत्पर चतुर मनुष्य अच्छी तरहसे इन्द्रियोंको जीतते है। इन्द्रियोका जय मनके निरोधसे होता है। किन्तु तपस्वी और ज्ञानी पुरुषोंका भी मनोनिरोध तव होता है जव वह स्त्रीका मुख नही देखता। अत मुमुक्षुओंको दूरसे ही स्त्रियोंका त्याग करना चाहिए ।।७८।।

---

१. 'साकेतपुराधिवदी देवरदी रज्ज सुक्ख-पब्भट्ठो ।
पंगुलहेदुं छूडो णदीए रत्ताए देवीए ।।
ईसालुयाए गोववदीए गामकूटधूदिया सीस ।
छिण्ण पहदो तध भल्लएण पासम्मि सिहवलो ।।
वीरमदीए सूलगदचोरदट्ठोट्ठिगाय वाणियओ ।
पहदो दत्तो य तहा छिण्णो ओट्ठोत्ति आलविदो' ।।

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणादिपरम्परया पुंसस्तन्मयत्वपरिणतिमावेदयति—

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रमो भ्रमयति स्वान्तं नृणां धूर्तवत्,
तस्माद् व्याधिभरादिवोपरमति व्रीडा ततः शाम्यति ।
शङ्का वह्निरिवोदकात्तत उदेत्यस्यां गुरोः स्वात्मवद्,
विश्वास प्रणयस्ततो रतिरलं तस्मात्ततस्तल्लयः ॥७९॥

सुभ्रूविभ्रमसंभ्रम'—शोभने दर्शनमात्रान्मनोहरणक्षमे भ्रुवौ यस्या. सा सुभ्रूस्तस्या विभ्रमो रागोद्रेकाद् भ्रूपर्यन्तविक्षेप , तत्र संभ्रमो निरीक्षणादर । भ्रमयति—अन्यथावृत्ति करोति व्याकुलयति वा । धूर्तवत्—धत्तूरकोपयोगो यथा । शङ्का—भयम् । 'कामातुराणां न भयं न लज्जा' इत्यभिधानात् । गुरोः—अध्यात्मतत्त्वोपदेशकात् । स्वात्मवत्—निजात्मनि यथा ॥७९॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने कहा है—'जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं उसका कार्य सिद्ध नहीं होता' । तथा और भी कहा है—'विद्वानोंने तपकी सिद्धिमें दो ही कारण कहे हैं—एक स्त्रियोंको न ताकना और दूसरा शरीरको कृश करना । जिसके अंग सुन्दर होते हैं उसे अंगना कहते है । अत. 'अंगना' का ग्रहण तो उपपत्ति मात्रके लिए है' । स्त्री मात्रके संसर्गसे भी सदाचारमें गड़बड़ी देखी जाती है ॥७८॥

आगे कहते हैं कि स्त्रीके कटाक्ष आदिको देखते-देखते मनुष्य तन्मय हो जाता है—

जिस स्त्रीकी भौं देखने मात्रसे मनको हर लेती है उसे सुभ्रू कहते हैं । जब वह रागके उद्रेकसे भौं चढाकर दृष्टिपात करती है तो उसको रागपूर्वक देखनेसे मनुष्योंका मन वैसा ही भ्रमित हो जाता है जैसा धतूरा खानेसे होता है । मनके भ्रमित होनेसे वैसे ही लज्जा चली जाती है जैसे रागके आधिक्यमें लज्जा नहीं रहती । लज्जाके चले जानेसे वैसे ही भय चला जाता है जैसे पानीसे आग । कहा भी है कि काम-पीडितोंको न भय रहता है न लज्जा रहती है । भय शान्त हो जानेसे कामीको स्त्रीमें वैसा ही विश्वास उत्पन्न होता है जैसा गुरुके उपदेशसे उसकी अध्यात्मवाणीको सुनकर अपनी आत्मामें श्रद्धा उत्पन्न होती है । और जैसे गुरुके उपदेशसे अपनी आत्मामें रुचि होती है वैसे ही स्त्रीमें विश्वास उत्पन्न होनेसे उससे प्रेमपरिचय होता है तथा जैसे गुरुके उपदेशसे आत्मामें रुचि होनेके बाद आत्म रति होती है वैसे स्त्रीसे प्रेमपरिचय होनेपर रति होती है । और जैसे गुरुके उपदेशसे आत्मरतिके पश्चात् वह आत्मामें लय हो जाता है वैसे ही कामी स्त्री रति होनेपर उसीमें लय हो जाता है ॥७९॥

विशेषार्थ—यहाँ स्त्रीमें विश्वास, प्रणय, रति और लयको क्रमसे आत्मामें विश्वास, प्रणय, रति और लयकी उपमा दी है । दोनों दो छोर हैं—एक रागका है और दूसरा विरागका । रागकी चरम परिणति स्त्रीके साथ रतिके समयमें होनेवाली तल्लीनता है । उस समय भी यह विवेक नहीं रहता कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और यह सब क्या है । इसीसे काव्यरसिकोंने उसे ब्रह्मानन्द सहोदर कहा है । आचार्य जयसेनने समयसारकी टीकामें सम्यग्दृष्टिके स्वसंवेदनको वीतराग स्वसंवेदन कहा है । इसपर-से यह शंका की गयी कि क्या स्वसंवेदन सराग भी होता है जो आप स्वसंवेदनके साथ वीतराग विशेषण लगाते है ? उत्तरमें आचार्यने कहा है कि विषयानन्दके समय होनेवाला स्वसंवेदन सराग है । उसीसे निवृत्तिके लिए वीतराग विशेषण लगाया है । उसी सबको दृष्टिमें रखकर यहाँ ग्रन्थकारने

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणस्यापातमात्ररमणीयत्वपरिणामात्यन्तदारुणत्वे वक्रभणित्युपपत्त्या प्रतिपादयति—

चक्षुस्तेजोमयमिति मतेऽप्यन्य एवाग्निरक्ष्णो- ३
रेणाक्षीणा कथमितरथा तत्कटाक्षाः सुधावत् ।
लीढा दृग्भ्या ध्रुवमपि चरद्द विष्वगप्यप्यणीयः,
स्वान्तं पुंसा पविदहनवद्दग्धुमन्तर्ज्वलन्ति ॥८०॥ ६

मते—चक्षुस्तैजस रश्मिवत्त्वात्प्रदीपवदिति वैशेषिकदर्शने । अपिशब्दादभ्युपगमसिद्धान्ताश्रयणेन विचार्यमाण इति लक्षयति । अन्य एव—भासुररूपोष्णस्पर्शगुणयोगित्वसयुक्तबाह्यस्थूलस्थिरमूर्तद्रव्यदाहित्व-लक्षणादग्नेर्विलक्षण एव । लीढा—आस्वादिता । सतर्पमालोकिता इत्यर्थ । ध्रुवमपि—नित्यरूपतया-ऽविकार्यमपि । चरद्विष्वगपि—समन्ताद् भ्रमदपि । तदुक्तम्— ९

'क्रियाऽन्यत्र क्रमेण स्यात्, कियत्स्वेव च वस्तुषु ।
जगत्त्रयादपि स्फारा चित्ते तु क्षणत. क्रिया ॥' [सोम उपा ३४५ श्लोक] १२

अप्यणीय.—परमाणोरप्यतिशयेन सूक्ष्म योगिभिरपि दुर्लक्षत्वात् ॥८०॥

उक्त उपमा दी है ऐसा प्रतीत होता है । पं. आशाधरने टीकामें 'गुरु'का अर्थ अध्यात्म तत्त्वका उपदेशक किया है । अध्यात्म तत्त्वका उपदेश सुने बिना न अपनी आत्माका बोध होता है और न श्रद्धा । श्रद्धाके पश्चात् ही आत्माके प्रति रुचि बढती है । रुचि बढते-बढते रति पैदा हो जाती है । जैसे रागी स्त्रीरतिके लिए घर-द्वार सब भुला बैठता है और स्त्रीके लिए मजनू बन जाता है । वैसे ही आत्मरतिके पीछे मनुष्य विरागी बनकर घर-द्वारको तिलांजलि देकर केवल अपने शरीरके सिवा सब कुछ छोड़कर निकल पडता है, वनमे और एकान्तमे आत्मरतिमें निमग्न होकर उसीमे लय हो जाता है । रागी भी यही सब करता है किन्तु अपनेको ही भुला बैठता है वह परके पीछे दीवाना होता है । विरागी 'स्व' के पीछे दीवाना होता है । इतना ही अन्तर है भोगी और योगीमे ॥७९॥

कामिनियोंके कटाक्षका अवलोकन प्रारम्भमे ही मनोरम लगता है किन्तु परिणाममे अत्यन्त भयानक है, यह बात वक्रोक्तिके द्वारा कहते है—

चक्षु तैजस है । इस वैशेषिक मतमें भी कामिनियोंके लोचनोमें भास्वररूप और उष्ण स्पर्श-गुणवाली अग्निसे कोई भिन्न ही आग रहती है । यदि ऐसा न होता तो मनुष्योंके नेत्रोंके द्वारा अमृतकी तरह पान किये गये उनके कटाक्ष मनुष्योके नित्य और अलात चक्रकी तरह सर्वत्र घूमनेवाले अणुरूप भी मनको वज्राग्निकी तरह जलानेके लिए क्यो आत्माके भीतर प्रज्वलित होते ॥८०॥

विशेषार्थ—वैशेषिक दर्शन चक्षुको तैजस मानता है और तेज अर्थात् अग्नि गर्म होती है, जलाती है । तथा मनको अणुरूप नित्य द्रव्य मानता है । यतः वैशेषिक दर्शनमे आत्मा व्यापक है और मन अणुरूप है अत मन आत्मासे सम्बद्ध होते हुए अलात चक्रकी तरह घूमता रहता है । यह सब उनकी मान्यता है । उसीको लेकर ग्रन्थकारने व्यग किया है कि स्त्रियोंके नेत्र भी तैजस हैं किन्तु उनकी विचित्रता यह है कि मनुष्य उन्हे अमृत मानकर अपनी ऑखोंसे पी जाते है जबकि बाह्य अग्निको पीना सम्भव नहीं है । किन्तु पीनेके बाद मनुष्यका मन कामिनीके वियोगमे जला करता है अत कामिनीकी ऑखोमे इस बाह्य आगसे भिन्न कोई दूसरी ही आग बसती है ऐसा लगता है ॥८०॥

अथ कामिन्याः कटाक्षनिरीक्षणद्वारेण तत्क्षणान्नरहृदये स्वरूपाभिव्यक्तिकर्तृत्वशक्ति विदग्धोक्त्या प्रकटयति—

३ हृद्यभिव्यञ्जती सद्य स्वं पुंसोऽपाङ्गवल्गितैः ।
सत्कार्यवादमाहत्य कान्ता सत्यापयत्यहो ॥८१॥

सत्कार्यवादं—

६ असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥' [साख्यका ९]

इति सांख्यमतम् । आहत्य—हठात् न प्रमाणवलात् । सत्यापयति—सत्यं करोति । अहो—
९ कष्टमाश्चर्यं वा ॥८१॥

अथ कामिनीकटाक्षनिरीक्षणपराणा युक्तायुक्तविवेचनशून्यता प्रभूता भवानुबन्धिनी वक्रभणित्योपपादयति—

१२ नूनं नृणां हृदि जवान्निपतन्नपाङ्गः
स्त्रीणां विषं वमति किञ्चिदचिन्त्यशक्ति ।
नो चेत्कथं गलितसद्गुरुवाक्यमन्त्रा
१५ जन्मान्तरेष्वपि चकास्ति न चेतनान्तः ॥८२॥

गलित —प्रच्युतो भ्रष्टप्रभावो वा जातः ॥८२॥

कटाक्ष निरीक्षणके द्वारा तत्काल ही मनुष्यके हृदयमें अपने स्वरूपको अभिव्यक्त करनेकी शक्ति कामिनीमें है यह बात विदग्धोक्तिके द्वारा बतलाते हैं—

यह बडा खेद अथवा आश्चर्य है कि अपने नेत्रोंके कटाक्षोंके द्वारा पुरुषके हृदयमें अपनेको अभिव्यक्त करती हुई कामिनी विना प्रमाणके ही वलपूर्वक सांख्यके सत्कार्यवादको सत्य सिद्ध करती है ॥८१॥

विशेषार्थ—सांख्यदर्शन कार्यकी उत्पत्ति और विनाश नहीं मानता, आविर्भाव और तिरोभाव मानता है। उसका मत है कि कारणमें कार्य पहलेसे ही वर्तमान रहता है, बाह्य सामग्री उसे व्यक्त करती है। उसका कहना है कि असत्की उत्पत्ति नहीं होती, कार्यके लिए उसके उपादानको ही ग्रहण किया जाता है जैसे घटके लिए मिट्टी ही ली जाती है, सबसे सबकी उत्पत्ति नहीं होती, निश्चित कारणसे ही निश्चित कार्यकी उत्पत्ति होती है, जो कारण जिस कार्यको करनेमे समर्थ होता है वह अपने शक्य कार्यको ही करता है तथा कारणपना भी तभी बनता है जब कार्य सद्रूप है अतः कार्य सद्रूप ही है। इसी सिद्धान्तको लेकर ग्रन्थकार कहते हैं—कामी मनुष्य स्त्रीको देखते ही उसके ध्यानमें तन्मय हो जाता है इससे सांख्यका सत्कार्यवाद विना युक्तिके भी स्त्री सिद्ध कर देती है ॥८१॥

जो मनुष्य कामिनियोंके कटाक्षका निरीक्षण करनेमे तत्पर रहते है वे अनेक भवों तक युक्तायुक्तके विचारसे शून्य हो जाते हैं यह बात वक्रोक्तिके द्वारा कहते हैं—

मैं ऐसा मानता हूँ कि मनुष्योंके हृदयमे चक्षुके द्वारा प्रतिफलित स्त्रियोंका कटाक्ष एक अलौकिक विषको उगलता है जिसकी शक्ति विचारसे परे है। यदि ऐसा न होता तो उसी भवमे ही नहीं, किन्तु अन्य भवोंमें भी उसमे चेतनाका विकास क्यों नहीं होता और क्यों सद्गुरुओंके वचनरूपी मन्त्र अपना प्रभाव नहीं डालते ॥८२॥

अथ सयमसेविना चित्तं येन तेन निरीक्षणवचनादिप्रकारेणान्तर्निपत्य स्त्रिया विकार्यमाण दु:शक-प्रतीकारं भवतीति भीत्युत्पादनमुखेन सुतरा तत्परिहारे तान् जागरयति—

चित्रमेकगुणस्नेहमपि संयमिना मनः ।
यथा तथा प्रविश्य स्त्री करोति स्वमयं क्षणात् ॥८३॥ ३

एकगुणस्नेहं—उत्कृष्टगुणानुरागमेकत्वरसिकं वा विरोधाभासपक्षे तु 'न जघन्यगुणानाम्' इत्यभिधानात् एकगुणस्नेहस्य केनापि सह सबन्धो न स्यादिति द्रष्टव्यम् ॥८३॥ ६

अथाल्पगोऽपि स्त्रीसम्पर्कः सयतस्य स्वार्थभ्रंशकरोतीति शिक्षार्थमाह—

कणिकामपि कर्कटचा गन्धमात्रमपि स्त्रियाः ।
स्वादुशुद्धां मुनेश्चित्तवृत्ति व्यर्थीकरोत्यरम् ॥८४॥ ९

अल्पमप्यालोकनस्पर्शनवचनादिकं पक्षे घ्राणग्राह्यो गुणो गन्ध' । पक्षद्वयेऽप्यसावेव वा । स्वादु शुद्धा—मानन्दवीतरागा मधुरशुभ्रा च । व्यर्थीकरोति—विगतो विरुद्धो वाऽर्थ प्रयोजनं कर्मक्षपण मण्डकाद्युत्पादश्च यरया सा व्यर्था ॥८४॥ १२

अथ स्त्रीसागत्यदोप दृष्टान्तेन स्पष्टयन्नाह—

विशेपार्थ—सच्चे मान्त्रिकोंके मन्त्रोंके प्रभावसे सर्प-विप उतर जाता है और मनुष्य होशमे आ जाता है किन्तु स्त्रीके कटाक्षरूपी सर्पसे डॅसा हुआ मनुष्य भव-भवमें ज्ञानशून्य वना रहता है, उसपर सच्चे गुरुओंके उपदेशका भी कोई प्रभाव नहीं पडता ॥८२॥

संयमका पालन करनेवाले संयमियोंका मन भी अवलोकन-भापण आदि किसी भी प्रकारसे भीतर घुसकर स्त्रियॉ ऐसा विकृत कर देती हैं कि उसका प्रतीकार बहुत ही कठिन हो जाता है। इस प्रकारका भय उत्पन्न करके उनका बहुत ही उचित परिहार करनेके लिए सावधान करते हैं—

संयमियोंका मन एकगुणस्नेह है फिर भी आश्चर्य है कि स्त्री जिस-किसी तरह उसमे प्रवेश करके क्षणभरमें ही अपने रूप कर लेती है ॥८३॥

विशेपार्थ—संयमियोंके मनमे सम्यग्दर्शनादि गुणोंमें उत्कृष्ट अनुराग होता है अथवा वे आत्माके एकत्वके रसिक होते हैं इसलिए उनके मनको 'एकगुणस्नेह' कहा है। यह तो यथार्थ ही है इसमें कोई आश्चर्यकी वात नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके पॉचवे अध्यायमे कहा है—'न जघन्य गुणानाम्'। जघन्य अर्थात् एक स्निग्ध या रूक्ष गुणवाले परमाणुका वन्ध नहीं होता। और संयमीका मन एकगुणस्नेहवाला है फिर भी उसको स्त्री अपने रूप कर लेती है, यही आश्चर्य है। इसे साहित्यमे विरोधाभास नामक अलंकार कहते है ॥८३॥

आगे शिक्षा देते हैं कि थोड़ा-सा भी स्त्री-सम्पर्क संयमोंके स्वार्थका विनाश कर देता है—

जेसे कर्कटीकी गन्धमात्र गेहूँके स्वादु और शुद्ध आटेको व्यर्थ कर देती है फिर उससे स्वादिष्ट मण्डे आदि नहीं वन सकते। उसी तरह स्त्रीकी गन्धमात्र भी—उसका देखना, स्पर्शन और वचन मात्र भी मुनिकी सानन्द वीतराग चित्तवृत्तिको तत्काल ही व्यर्थ कर देती है। फिर उससे कर्मोंका क्षपणरूप कार्य नहीं होता ॥८४॥

स्त्रीसंगतिके दोपोंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

सत्त्वं रेतश्छलात् पुंसां घृतवद् द्रवति द्रुतम् ।
विवेकः सूतवत्क्वापि याति योषाग्नियोगतः ॥८५॥

३ सत्त्वं—मनोगुणः । द्रवति—विलीयते ॥८५॥

अथ कामिनीचेष्टाविशेषो महामोहावेशं करोतीति वक्रभणित्या बोधयति—

वैदग्धीमयनर्मवक्रिमचमत्कारक्षरत्स्वादिमाः
६ सभ्रूलास्यरसाः स्मितद्युतिकिरो दूरे गिरः सुभ्रुवाम् ।
तच्छ्रोणिस्तनभारमन्थरगमोद्दामक्वणन्मेखला,
मञ्जीराकुलितोऽपि मङ्क्षु निपतेन्मोहान्धकूपे न कः ॥८६॥

९ वैदग्धी—रसिकचेष्टा । स्वादिमा—माधुर्यम् । लास्यं—मसृणनृत्यम् । स्मितद्युतिकिरः—ईषद्ध-सितकान्तिप्रस्तारिण्य' ॥८६॥

अथ स्त्रीसकथादोषं कथयति—

१२ सम्यग्योगाग्निना रागरसो भस्मीकृतोऽप्यहो ।
उज्जीवति पुनः साधोः स्त्रीवाक्सिद्धौषधीबलात् ॥८७॥

योगः—समाधि' प्रयोगश्च । रसः—पारदः ॥८७॥

१५ अथोत्तमस्त्रीपरिरम्भानुभाव भावयति—

पश्चाद् बहिर्वरारोहादोःपाशेन तनीयसा ।
बध्यतेऽन्तः पुमान् पूर्वं मोहपाशेन भूयसा ॥८८॥

स्त्री अग्निके तुल्य है। जैसे अग्निके सम्पर्कसे तत्काल घी पिघलता है और पारा उड़ जाता है वैसे ही स्त्रीके सम्पर्कसे मनुष्योंका मनोगुण सत्त्व वीर्यके छलसे विलीन हो जाता है और युक्त-अयुक्तका विचारज्ञान न जाने कहाँ चला जाता है ॥८५॥

कामिनियोंकी विशेष चेष्टाएँ महामोहके आवेशको उत्पन्न करती हैं यह बात वक्रोक्तिके द्वारा समझाते है—

रसिक चेष्टामय परिहास और कुटिलतासे आश्चर्यके आवेशमें माधुर्यको बहानेवाली, भ्रुकुटियोंके कोमल नर्तनके रससे युक्त और मन्द-मन्द मुसकराहटकी किरणोंको इधर-उधर बिखेरनीवाली, कामिनियोंकी वाणीसे तो दूर ही रहो, वे तो मोक्षमार्गकी अत्यन्त प्रतिबन्धिनी हैं ही, उनके कटि और स्तनके भारसे मन्द-मन्द गमन करनेसे चेरोक शब्द करनेवाली करधनी और पायलोंसे आकुल हुआ कौन मनुष्य तत्काल ही मोहरूपी अन्धकूपमें नहीं गिरता। अर्थात् मुमुक्षुको स्त्रीसे वार्तालाप तो दूर, उनके शब्द-श्रवणसे भी बचना चाहिए ॥८६॥

स्त्रियोंसे वार्तालाप करनेके दोष बतलाते है—

आश्चर्य है कि जैसे अग्निसे भस्म हुआ भी पारा उसको जिलानेमे समर्थ औषधिके बलसे पुनः उज्जीवित हो जाता है वैसे ही समीचीन समाधिके द्वारा भस्म कर दिया गया भी साधुका राग स्त्रीके साथ बातचीत करनेसे पुन उज्जीवित हो जाता है ॥८७॥

कामिनीके आलिंगनका प्रभाव बतलाते हैं—

पहले तो पुरुष अपनी आत्मामें बड़े भारी मोहपाशसे बँधता है। मोहपाशसे बँधनेके पश्चात् बाहरमें सुन्दर स्त्रीके कोमल बाहुपाशसे बँधता है। अर्थात् अन्तरंगमें मोहका उदय

वरारोहा—वर उत्कृष्ट आरोहो नितम्बोऽस्या असौ, उत्तमस्त्रीत्यर्थः । भूयसा—बहुतरेण ॥८८॥

अथ स्त्रीदृष्ट्यादिदोषानुपसंगृह्णन्नाह—

दृष्टिविषदृष्टिरिव दृक् कृत्यावत् संकथाग्निवत्संगः । ३
स्त्रीणामिति सूत्रं स्मर नामापि ग्रहवदिति च वक्तव्यम् ॥८९॥

दृष्टिविष.—सर्पविशेष. । कृत्यावत्—विद्याविशेषो यथा । सूत्रं—नानार्थसूत्रकत्वात् । वक्तव्य—सूत्रातिरिक्तं वचनम्, एकार्थपरत्वात् ॥८९॥ ६

अथ स्त्रीप्रसंगदोषानुपसंहरन्नाह—

किं बहुना चित्रादिस्थापितरूपापि कथमपि नरस्य ।
हृदि शाकिनीव तन्वी तनोति संक्रम्य वैकृतशतानि ॥९०॥ ९

वैकृतशतानि । तानि च—

'खद्धो खद्धो पभणइ लुंचइ सीसं न याणए किं पि ।
गयचेयणो हु विलवइ उड्ढ जोएइ अह ण जोएइ ॥' [ ] १२

इत्यादीनि मन्त्रमहोदधौ शाकिन्या[1] स्त्रियास्तु प्रागुक्तिरिति ॥९०॥

होनेपर ही मनुष्य स्त्रीके प्रति आकृष्ट होकर उसकी कोमल बाहुओंके बन्धनमें बँधता है। शरीरके इस तुच्छ बन्धनसे आत्माका मोहबन्धन बलवान् है। उससे छूटनेका प्रयत्न करना चाहिए ॥८८॥

आगे स्त्री दृष्टि आदिके दोषोंको बतलाते हैं—

हे साधु ! इस सूत्रवाक्यको स्मरण रखो कि स्त्रीकी दृष्टि दृष्टिविष सर्पकी दृष्टिकी तरह है। उनके साथ बातचीत कृत्या नामक मारण विद्याकी तरह है। उनका संग अग्निकी तरह है। तथा इस वक्तव्यको भी याद रखो कि उनका नाम भी भूतकी तरह है ॥८९॥

विशेषार्थ—जिस वाक्यसे अनेक अर्थोंका सूचन होता है उसे सूत्र कहते हैं। ब्रह्मचारीके लिए भी कुछ सूत्र वचन सदा स्मरणीय हैं, उन्हें कभी भूलना नहीं चाहिए। जैसे दृष्टिविष—जिसकी आँखमें विष होता है उसे दृष्टिविष कहते हैं। उसकी दृष्टिसे ही मनुष्यका बल क्षीण हो जाता है। स्त्रीकी दृष्टि भी ऐसी ही घातक है। जैसे मारणविद्या मनुष्योंके प्राणोंको हर लेती है उसी तरह स्त्रीके साथ संभाषण साधुके संयमरूपी प्राणको हर लेता है। तथा जैसे अग्निका संसर्ग जलाकर भस्म कर देता है वैसे ही स्त्रीका संग साधुके संयमरूपी रत्नको जलाकर राख कर देता है। अतः स्त्रीकी दृष्टिसे, उसके साथ संभाषणसे उसके संसर्गसे दूर ही रहना चाहिए। इसके साथ ही इतना वक्तव्य और भी याद रखना चाहिए कि स्त्रीकी दृष्टि आदि ही नहीं, उनका नाम भी भूतकी तरह भयानक है ॥८९॥

आगे स्त्रीके संसर्गसे होनेवाले दोषोंका उपसंहार करते हैं—

अधिक कहनेसे क्या ? चित्र, काष्ठफलक आदिमें अंकित स्त्री भी किसी भी प्रकारसे शाकिनीकी तरह मनुष्यके हृदयमें प्रवेश करके सैकड़ों विकारोंको उत्पन्न करती है ॥९०॥

---

१. -न्या कथितानि । स्त्रियास्तु प्राक्प्रबन्धेन—भ कु क ।

अथैव स्त्रीसंसर्गदोषान् व्याख्यायेदानीं पञ्चभिर्वृत्तैस्तदशुचित्वं प्रपञ्चयिष्यन् सामान्यतस्तावत्केशपाश-वक्त्राकृतीनामाहार्यरामणीयकसद्योविपर्याससपादकत्व मुमुक्षूणा निर्वेदनिदानत्वेन मुक्त्युद्योगानुगुणं स्यादित्या-
३ सूत्रयति—

गोगर्मुद्व्यजनैकवंशिकमुपस्कारोज्ज्वलं कैशिकं,
पादूकृद्गृहगन्धिमास्यमसकृत्ताम्बूलवासोत्कटम् ।
६ **मूर्तिश्चाजिनकृद्दृतिप्रतिकृर्ति संस्काररम्या क्षणाद्,**
व्यांजिष्यन्न नृणां यदि स्वममृते कस्तद्धुदस्थास्यत ॥९१॥

गवित्यादि—गवामनड्वाहीना गर्मुतो मक्षिकास्तासा व्यजन विक्षेपणं तालवृन्तम् । तस्यैकवशिक सगोत्र
९ जुगुप्सास्पदत्वात् । स्वमात्मान यदि न व्याजिष्यदिति गत्वा सबन्ध. कर्तव्यः । एक. समानो वशोऽन्वयो-ऽस्यास्तीति विगृह्य 'एकगोपूर्वाविञ्निमिति ठञ्' । उपस्कारोज्ज्वलं—उपस्कारेण अभ्यङ्गस्नानधूपनादिप्रति-यत्नेन । उज्ज्वल—दीप्तम् । कैशिकविशेषणमिदम् । कैशिक—केशसमूह. । पादूकृद्गृहगन्धि—पादूकृत-
१२ श्चर्मकारस्य गृहस्येव गन्धोऽस्येति । पूर्ववत् 'स्वम्' इत्यस्य विशेषणम् । अजिनेत्यादि—अजिनकृतश्चर्मकारस्य दृति रज्यमाना खल्वा तत्प्रतिमम् । इदमपि स्वमित्यस्यैव विशेषणम् । व्याजिष्यत्—प्रकटमकरिष्यत् । स्वं—आत्मानम् । उदस्थास्यत—उद्यममकरिष्यत ॥९१॥

१५ अथ कामान्धस्य स्वोत्कर्षसभावन धिक्कुर्वन्नाह—

[1]कुचौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्यभिसरन्-
सुधास्यन्दीत्यङ्गव्रणमुखमुखक्लेदकलुषम् ।

इस प्रकार स्त्रीसंगके दोषोंको कहकर अब पाँच पद्योंसे उनकी अशुचिताको कहना चाहते हैं। पहले सामान्यसे स्त्रियोंके केशपाश, मुख और शरीरको ऊपरी उपायोंसे सुन्दर किन्तु शीघ्र ही बदसूरत बतलाते हैं जिससे मुमुक्षु उनसे विरक्त होकर मुक्तिके उद्योगमें लगें—

स्त्रियों और पुरुषोंका केशसमूह गाय और बैलोंकी मक्खियाँ भगानेवाली पूँछके बालोंके ही वंशका है, दोनोंका एक ही कुल है। किन्तु तेल, साबुन-स्नान आदिसे उन्हें चमकाकर स्त्री पुरुषोंके सामने और पुरुष स्त्रियोंके सामने उपस्थित होते हैं। मुख चर्मकार-के घरकी तरह दुर्गन्धयुक्त है। किन्तु उसे बार-बार ताम्बूलकी सुवाससे वासित करके स्त्री और पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं। शरीर चर्मकारकी रँगी हुई मशकके समान है। किन्तु उसे भी स्नान, सुगन्ध आदिसे सुन्दर बनाकर स्त्री और पुरुष परस्परमें एक दूसरेके सामने उपस्थित होते हैं। किन्तु यह बनावट क्षण-भरमें ही विलीन हो जाती है और केशपाश, मुख और शरीर अपनी स्वाभाविक दशामें प्रकट हो जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो मोक्षके विषय में कौन उद्यम करता अर्थात् मोक्षमार्गमें कोई भी न लगता ॥९१॥

कामान्ध पुरुषके अपनेको महान् समझनेकी भावनाका तिरस्कार करते हैं—

---

१ 'स्तनौ मासग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ ।
मुख श्लेष्मागार तदपि च शशाङ्केन तुलितम् ॥
स्रवन्मूत्रक्लिन्न करिवरशिर स्पर्धि जघन
मुहुर्निन्द्य रूप कविजनविशेषैर्गुरु कृतम् ॥'—वैराग्यश. १६ श्लो. ।

पिबन्नोष्ठं गच्छन्नपि रमणमित्यार्तवपथं,
भगं धिक् कामान्धः स्वमनु मनुते स्वःपतिमपि ॥९२॥

अभिसरन्—आलिङ्गन् । अङ्गेत्यादि—अङ्ग व्रणमिवाशुचिरूपत्वात् तस्य मुख द्वार यन्मुख वक्त्र तस्य क्लेदेन क्वाथेन कलुष कश्मलम् । गच्छन्—उपभुञ्जान । आर्तवपथं—रजोवाहियोनिरन्ध्रम् । स्वमनु—आत्मन सकाशाद्धीनम् ॥९२॥ 3

अथ स्त्रीशरीरेऽनुरज्यन्त्या दृष्टौ सद्यस्तत्स्वरूपपरिज्ञानोन्मेष एव मोहोच्छेदाय स्यादित्यावेदयति— 6

रेतःशोणितसंभवे बृहदणुस्रोतःप्रणालीगल-
द्गर्होद्गारमलोपलक्षितनिजान्तर्भागभाग्योदये ।
तन्वङ्गीवपुषीन्द्रजालवदलं भ्रान्तौ सजन्त्यां दृशि, 9
द्रागुन्मीलति तत्त्वदृग् यदि गले मोहस्य दत्तं पदम् ॥९३॥

बृंहन्ति—नासागुदादिरन्ध्राणि, अणूनि—रोमकूपविवराणि । गर्होद्गारा —जुगुप्सोद्भावका. । मला'—श्लेष्मविण्मूत्रप्रस्वेदादय । भाग्योदय.—विपरीतलक्षणया पुण्यविपाक । अलंभ्रान्तौ—भ्रान्तये विभ्रमायालं समर्थम् । 'तिकुप्रादय.' इति समास ॥९३॥ 12

अथ स्त्रीशरीरस्याहारवस्त्रानुलेपनादिप्रयोगेणैव चारुत्व स्यादिति प्रौढोक्त्या व्यञ्जयति—

वर्च.पाकचरुं जुगुप्स्यवसतिं प्रस्वेदधारागृहं, 15
बीभत्सैकविभावभावनिवहैर्निर्माय नारीवपुः ।
वेधा वेद्मि सरीसृजीति तदुपस्कारैकसारं जगत्
को वा क्लेशमवैति शर्मणि रतः संप्रत्ययप्रत्यये ॥९४॥ 18

कामसे अन्धा हुआ मनुष्य मासकी ग्रन्थिरूप स्त्रीके स्तनोंको सोनेके कलश मानकर उनका आलिंगन करता है। जो मुख शरीरके घावके बहनेका द्वार जैसा है उसके कफ आदिसे दूषित हुए स्त्रीके ओष्ठको अमृतका प्रवाही मानकर पीता है, रजको बहानेवाले स्त्रीके योनि छिद्रमे रमण मानकर सम्भोग करता है। और ऐसा करते समय इन्द्रको भी अपनेसे हीन मानता है। उसकी यह कल्पना धिक्कारके योग्य है ॥९२॥

जिस समय दृष्टि स्त्रीके शरीरमें अनुरक्त हो, तत्काल ही उसके स्वरूपके परिज्ञानकी झलक ही मोहको दूर कर सकनेमे समर्थ है ऐसा कहते है—

स्त्रीका शरीर रज और वीर्यसे उत्पन्न होता है। उसमे नाक, गुदा आदि बड़े छिद्र हैं और रोमावलीके छोटे छिद्र हैं। ये वे नालियाँ हैं जिनसे ग्लानि उत्पन्न करनेवाले शब्दके साथ मल-मूत्रादि बहते रहते हैं। उनसे उनके शरीरके अन्तर्भागमे कितना पुण्यका उदय है यह अनुभवमे आ जाता है। फिर भी इन्द्रजाल (जादूगरी) की तरह वह शरीर मनुष्योको भ्रममे डालनेमे समर्थ है अर्थात् ऐसे शरीरके होते हुए भी मनुष्य उसके मोहमे पड़ जाते हैं। अतः उसमे दृष्टि आसक्त होते ही यदि तत्काल तत्त्वदृष्टि खुल जाती है तो समझना चाहिए कि मोहकी गर्दनपर पैर रख दिया गया अर्थात् साधुने मोहका तिरस्कार कर दिया ॥९३॥

स्त्रीका शरीर सुस्वादु पौष्टिक आहार और वस्त्र आदिके व्यवहारसे ही सुन्दर प्रतीत होता है यह बात प्रौढ पुरुषोकी उक्तिसे प्रकट करते हैं—

नारीका शरीर मलको पकानेके लिए एक पात्र है, घृणा पैदा करनेवाले मलमूत्र आदिका घर है, पसीनेका फुवारा है। मुझे ऐसा लगता है कि एक मात्र वीभत्स रसके आलम्बन-

चरु.—स्थाली। जुगुप्स्यानि—सूकाजनकानि मूत्रार्तवादीनि। वीभत्सः—जुगुप्साप्रभवो हृत्संकोचकृद्रस। विभावा—कारणानि। भावा.—पदार्था दोषधातुमलादय। सरीसृजीति—पुन. पुन सृजति। ३ तदुपस्कारैकसारं—तस्य नारीवपुष उपस्कारो गुणान्तराधानं चारुत्वसौरभ्याद्यापादन, स एवैक उत्कृष्टः सार फल यस्य तेनैकेन वा सारं ग्राह्यम्। जगत्—भोगोपभोगाङ्गप्रपञ्चम्। चराचरस्यापि जगतो रामाशरीररम्यतासपादनद्वारेणैव कामिनामन्त परमनिर्वृतिनिमित्तत्वात्तदुपभोगस्यैव लोके परमपुरुषार्थतया प्रसिद्धत्वात्। ६ तदाह भद्ररुद्रट—

'राज्ये सारं वसुधा वसुंधराया पुर पुरे सौधम्।
सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम्॥'—[काव्यालंकार ॥७।९७॥]

९ सप्रत्ययप्रत्यये—अतद्गुणे वस्तुनि तद्गुणत्वेनाभिनिवेश. संप्रत्ययस्तत्कारणके ॥९४॥

अथ परमावद्ययोषिदुपस्थलालसस्य पृथग्जनस्य विषयव्यामुग्धबुद्धेर्दुस्सहनरकदु खोपभोगयोग्यताकरणोद्योगमनुशोचति—

१२ विष्यन्दिक्लेदविश्राम्भसि युवतिवपु.श्वभ्रभूभागभाजि,
क्लेशाग्निक्लान्तजन्तुव्रजयुजि रुधिरोद्गारगर्होद्धुरायाम्।
आद्यूनो योनिनद्यां प्रकुपितकरणप्रेतवर्गोपसर्ग-
१५ मूर्छाल स्वस्य बालः कथमनुगुणयेद्वै तरं वैतरण्याम्॥९५॥

उद्दीपन रूपसे जनक दोष धातु मल आदि पदार्थोंके समूहसे उस नारीके शरीरका निर्माण करके ब्रह्मा जगत्का निर्माण करता है क्योंकि नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करना ही इस जगत्का एक मात्र सार है। अर्थात् नारीके शरीरको सुन्दरता प्रदान करनेके द्वारा ही यह चराचर जगत् कामी जनोंके मनमे परमनिवृत्ति उत्पन्न करता है, लोकमे नारीके शरीरके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ माना जाता है अथवा जिसमे जो गुण नहीं है उसमे वह गुण मान लेनेसे होनेवाले सुखमे आसक्त कौन मनुष्य दुःखका अनुभव करता है? कोई भी नहीं करता ॥९४॥

स्त्रीशरीरके निन्दनीय भागमे आसक्त और विषयोमे ही संलग्न मूढ पुरुष नरकके दु.सह दु खोको भोगनेकी योग्यता सम्पादन करनेमे जो उद्योग करता है उसपर खेद प्रकट करते हैं—

योनि एक नदीके तुल्य है उससे तरल द्रव्यरूप दुर्गन्धित जल सदा झरता रहता है, युवतीके शरीररूपी नरकभूमिके नियत भागमे वह स्थित है, दु.खरूपी अग्निसे पीड़ित जन्तुओका समूह उसमे बसता है और रुधिरके बहावसे वह अत्यन्त ग्लानिपूर्ण है। उस योनिरूपी नदीमे आसक्त और क्रुद्ध इन्द्रियरूपी नारकियोके उपसर्गोंसे मूर्छित हुआ मूढ अपनेको कैसे वैतरणी नदीमे तिरनेके योग्य बना सकेगा? ॥९५॥

विशेषार्थ—कामान्ध मनुष्य सदा स्त्रीकी योनिरूपी नदीमे डूबा रहता है। मरनेपर वह अवश्य ही नरक जायेगा। वहाँ भी वैतरणी नदी है। यहाँ उसे इन्द्रियाँ सताती हैं तो मूर्छित होकर योनिरूप नदीमे डुबकी लगाता है। नरकमे नारकी सतायेंगे तो वैतरणीमे डूबना होगा। मगर उसने तो नदीमे डूबना ही सीखा है तैरना नहीं सीखा। तब वह कैसे वैतरणी पार कर सकेगा? उसे तो उसीमे डूबे रहना होगा ॥९५॥

विश्रं—आमगन्धि । आद्यून —लम्पट । प्रेता —नारका । मूर्च्छाल —मूर्छित । अनुगुणयेत्—अनुकूलयेत् । तरं—प्रतरणम् । वैतरण्या—नरकनद्याम् ॥९५॥

अथ पञ्चभि. पद्यैर्वृद्धसागत्यविधातुमना कुशलसातत्यकामस्य मुमुक्षोर्मोक्षमार्गनिर्वहणचणाना परिचरणमत्यन्तकरणीयतया प्रागुपक्षिपति— ३

स्वानूकाङ्कुशिताशया सुगुरुवाग्वृत्त्यस्तचेत:शया,
संसारार्तिबृहद्भया परहितव्यापारनित्योच्छ्रया । ६
प्रत्यासन्नमहोदया समरसीभावानुभावोदया,
सेव्या शश्वदिह त्वयादृतनया. श्रेय प्रबन्धेप्सया ॥९६॥

अनूक.—कुलम् । तच्चेह पितृगुरुसवन्धि । कुलीनो हि दुरपवादभयादकृत्यान्नितरा जुगुप्सते । चेत:-शय —काम । यदाह— ९

'य करोति गुरुभाषित मुदा संश्रये वसति वृद्धसंकुले ।
मुञ्चते तरुणलोकसगति ब्रह्मचर्यममल स रक्षति ॥' [ ] १२

उच्छ्रय —उत्सव । महोदय'—मोक्ष । समरसीभावः—शुद्धचिदानन्दानुभव । तदनुभावा'—सद्योरागादिप्रक्षयजातिकारणवैरोपशमनोपसर्गनिवारणादयस्तेपामुदय उत्कर्षो येषाम् ।। अथवा समरसीभावस्यानुभाव कार्यमुदयो वुद्धितपोविक्रियौपधिप्रभृतिलब्धिलक्षणोऽभ्युदयो येषाम् ॥९६॥ १५

अथ वृद्धेतरसागत्ययो फलविशेषमभिलपति—

कालुष्यं पुंस्युदीर्णं जल इव कतकै. संगमाद्व्येति वृद्धै-
रश्मक्षेपादिवाम्रप्रशममपि लघूदेति तत्पिङ्गसङ्गात् । १८
वार्भिर्गन्धो मृदीवोद्भवति च युवभिस्तत्र लीनोऽपि योगाद्,
रागो द्राग्वृद्धसङ्गात्सरटवदुपलक्षेपतश्चैति शान्तिम् ॥९७॥

आगे पाँच श्लोकोंसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिका विधान करना चाहते हैं। सर्वप्रथम निरन्तर कुशलताके इच्छुक मुमुक्षुको मोक्षमार्गका निर्वहण करनेमे कुशल गुरुओंकी सेवा अवश्य करनेका निर्देश करते हैं—

हे साधु ! इस ब्रह्मचर्यव्रतमे चारित्र अथवा कल्याणमे रुकावट न आनेकी इच्छासे तुझे ऐसे नीतिशाली वृद्धाचार्योंकी सेवा करनी चाहिए जिनका पितृकुल और गुरुकुल उनके चित्तको कुमार्गमे जानेसे रोकता है (क्योंकि कुलीन पुरुष खोटे अपवादके भयसे खोटे कार्योंसे अत्यन्त ग्लानि करता है), सच्चे गुरुओंके वचनोंके अनुसार चलनेसे जिनका कामविकार नष्ट हो गया है, जो संसारके दु खोंसे अत्यन्त भीत रहते हैं, सदा परहितके व्यापारमे आनन्द मानते है, जिनका मोक्ष निकट है, तथा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवके प्रभावसे जिनके तत्काल रागादिका प्रक्षय, जन्मसे होनेवाले वैरका उपशमन, उपसर्गनिवारण आदिका उत्कर्ष पाया जाता है अथवा शुद्ध चिदानन्दके अनुभवका कार्य बुद्धि, विक्रिया, तप, औषधि आदि ऋद्धिरूप अभ्युदय पाया जाता है, ऐसे आचार्योंकी संगति अवश्य करनी चाहिए ॥९६॥

वृद्धजनोंकी और युवाजनोंकी संगतिके फलमें अन्तर बतलाते हैं—

जैसे जलमें कीचडके योगसे उत्पन्न हुई कालिमा निर्मलीके चूर्णके योगसे शान्त हो जाती है वैसे ही अपने निमित्तोंके सम्बन्धसे जीवमे उत्पन्न हुई कालिमा अर्थात् द्वेष, शोक,

कालुष्यं—द्वेषशोकभयादिसंक्लेशः पङ्काविलत्वं च । सरटवत्—करकेटुको यथा । एति शान्ति—शाम्यति । राग उदीर्णोऽपि इत्युपसृत्य योज्यम् ॥९७॥

३ अथ प्रायो यौवनस्यावश्य विकारकारित्वप्रसिद्धेर्गुणातिशयशालिनोऽपि तरुणस्याश्रयणमविश्वास्यतया प्रकाशयन्नाह—

अप्युद्यद्गुणरत्नराशिरुगपि स्वच्छः कुलीनोऽपि ना,
६ नव्येनाम्बुधिरिन्दुनेव वयसा संक्षोभ्यमाणः शनैः ।
आशाचक्रविवर्तिगर्जितजलाभोगः प्रवृत्त्यापगाः,
पुण्यात्माः प्रतिलोमयन् विधुरयत्यात्माश्रयान् प्रायशः ॥९८॥

९ रुक्—दीप्ति. । संक्षोभ्यमाण.—प्रकृतेश्चाल्यमानः । यत्लोकः—

'अवश्यं यौवनस्थेन क्लीवेनापि हि जन्तुना ।
विकार. खलु कर्तव्यो नाविकाराय यौवनम् ॥' [ ]

१२ जलाभोगः—मूढलोकोपभोगो वारिविस्तारश्च । पुण्यात्माः—पवित्रस्वभावा' । अनश्चवादिति ज्ञात् । प्रतिलोमयन्—प्रावर्तयन् प्रावारिणी. कुर्वन्नित्यर्थ' । विधुरयति—श्रेयसो भ्रंशयति आत्माश्रयान् शिष्यादीन्मत्स्यादींश्च ॥९८॥

भय आदि रूप संक्लेश ज्ञान और संयमसे वृद्ध पुरुषोंकी संगतिसे शान्त हो जाता है। तथा जैसे जलमें निर्मलीके चूर्णसे शान्त हुई कीचडकी कालिमा पत्थर फेंकनेसे तत्काल उद्भूत हो जाती है वैसे ही जीवमें वृद्धजनोंकी संगतिसे शान्त हुआ भी संक्लेश दुराचारी पुरुषोंकी संगतिसे पुनः उत्पन्न हो जाता है। जैसे मिट्टीमे छिपी हुई गन्ध जलका योग पाकर प्रकट होती है उसी तरह युवाजनोंकी संगतिसे जीवका अप्रकट भी राग प्रकट हो जाता है। तथा जैसे पत्थरके फेंकनेसे गिरगिटका राग—बदलता हुआ रंग शान्त हो जाता है वैसे ही वृद्धोंकी संगतिसे उद्भूत हुआ राग शान्त हो जाता है। अत. ब्रह्मचर्य व्रतके पालकोंको दुराचारी जनोंकी संगति छोडकर ज्ञानवृद्ध और संयमवृद्धोंकी संगति करनी चाहिए ॥९७॥

यह बात प्रसिद्ध है कि प्रायः यौवन अवस्थामें विकार अवश्य होता है। अत. अतिशय गुणशाली तरुणकी संगति भी सर्वथा विश्वसनीय नहीं है, यह बात कहते हैं—

जैसे रत्नोंकी राशिकी चमकसे प्रदीप्त स्वच्छ और प्रशान्त भी समुद्र चन्द्रमाके द्वारा धीरे-धीरे क्षुब्ध होकर अपने गर्जनयुक्त जलके विस्तारसे दिशा मण्डलको चंचल कर देता है, पवित्र गंगा आदि नदियोंको उन्मार्गगामिनी बना देता है और समुद्रमें बसनेवाले मगर-मच्छोंको भी प्रायः कष्ट देता है उसी प्रकार प्रतिक्षण बढते हुए गुणोंके समूहसे प्रदीप्त स्वच्छ कुलीन भी मनुष्य यौवन अवस्थामें धीरे-धीरे चंचल होता हुआ आशापाशमें फँसे हुए और डींग मारनेवाले मूढ लोगोंके इष्ट विषयोपभोगका साधन बनकर अर्थात् कुसंगमें पड़कर अपनी मन-वचन-कायकी पुण्य-प्रवृत्तियोंको कुमार्गमें ले जाता है और अपने आश्रितोंको भी कल्याणसे भ्रष्ट कर देता है ॥९८॥

---

१. व्यावर्तयन् उत्पथे चारिणी. कुर्वन्नित्यर्थ —भ कु च ।

अथ तारुण्येऽप्यविकारिणं प्रशंसयति—

दुर्गेऽपि यौवनवने विहरन् विवेकचिन्तामणिं स्फुटमहत्त्वमवाप्य धन्यः ।
चिन्तानुरूपगुणसंपदुरुप्रभावो वृद्धो भवत्यपलितोऽपि जगद्विनीत्या ॥९९॥ ३

जगद्विनीत्या—लोकाना शिक्षासंपादनेन ॥९९॥

अथासाधुसाधुकथाफलं लक्ष्यद्वारेण स्फुटयति—

सुशीलोऽपि कुशील स्याद्दुर्गोष्ठ्या चारुदत्तवत् ।
कुशीलोऽपि सुशीलः स्यात् सद्गोष्ठ्या मारिदत्तवत् ॥१००॥ ६

स्पष्टम् ॥१००॥

जो युवावस्थामे भी निर्विकार रहते है उनकी प्रशंसा करते है—

यौवनरूपी दुर्गम वनमें विहार करते हुए अर्थात् युवावस्थामें महिमाको प्रकट करने-वाले विवेकरूपी चिन्तामणिको प्राप्त करके चिन्ताके अनुरूप गुणसम्पदासे महान् प्रभाव-शाली धन्य पुरुष लोगोंको शिक्षा प्रदान करनेके कारण केशोंके श्वेत न होनेपर भी वृद्ध जैसा होता है अर्थात् जो युवावस्थामे संयम धारण करके लोगोंको सत् शिक्षा देता है वह वृद्धा-वस्थाके विना भी वृद्ध है ॥९९॥

असाधु और साधु पुरुषोंके साथ संभाषणादि करनेका फल दृष्टान्त द्वारा वत-लाते हैं—

दुष्टजनोंकी संगतिसे चारुदत्त सेठकी तरह सुशील भी दुराचारी हो जाता है। और सज्जनोकी संगतिसे मारिदत्त राजाकी तरह दुराचारी भी सदाचारी हो जाता है ॥१००॥

विशेषार्थ—जैन कथानकोंमें चारुदत्त और यशोधरकी कथाएँ अतिप्रसिद्ध हैं। चारुदत्त प्रारम्भमे वडा धर्मात्मा था। अपनी पत्नीके पास भी न जाता था। फलत. उसे विषयासक्त वनानेके लिए वेश्याकी सगतिमे रखा गया तो वह इतना विषयासक्त हो गया कि वारह वर्षोंमें सोलह करोड़ स्वर्णमुद्राएँ लुटा वैठा। जव पासमे कुछ भी न रहा तो वेश्याकी अभि-भाविकाने एक दिन रात्रिमें उसे सोता हुआ ही उठवाकर नगरके चौराहे पर फिंकवा दिया। इस तरह कुसंगमे पडकर धर्मात्मा चारुदत्त कदाचारी वन गया। इसी तरह मारिदत्त राजा अपनी कुलदेवी चण्डमारीको वलि दिया करता था। एक वार उसने सव प्रकारके जीव-जन्तुओके युगलकी वलि देवीको देनेका विचार किया। उसके सेवक एक मनुष्य युगलकी खोजमें थे। एक तरुण सुरूप क्षुल्लक और क्षुल्लिका भोजनके लिए नगरमें आये। राजाके आदमी उन दोनोको पकडकर ले गये। राजाने उन्हें देखकर पूछा—तुम दोनों कौन हो और इस कुमारवयमें दीक्षा लेनेका कारण क्या है? तव उन्होने अपने पूर्वजन्मोंका वृत्तान्त सुनाया कि किस तरह एक आटेके वने मुर्गेका वलिदान करनेसे उन्हें कितना कष्ट भोगना पडा। उसे सुनकर राजा मारिदत्तने जीववलिका विचार छोड़ दिया और जिनदीक्षा धारण कर ली। यह सत्संगतिका फल है ॥१००॥

अथैवं स्त्रीवैराग्यपञ्चकोपचितं ब्रह्मचर्यव्रतं स्त्रीरागकथाश्रवणतन्मनोहराङ्गनिरीक्षणपूर्वरतानुस्मरण-वृष्येष्टरस-स्वशरीरसंस्कारपरिहारस्वभावभावनापञ्चकेन स्थैर्यमापादयेदित्युपदेष्टुमिदमाचष्टे—

३ **रामारागकथाश्रुतौ श्रुतिपरिभ्रष्टोऽसि चेद् भ्रष्टदृक्,**
तद्रम्याङ्गनिरीक्षणे भवसि चेत्तत्पूर्वभुक्तावसि ।
निःसंज्ञो यदि वृष्यवाञ्छितरसास्वादेऽरसज्ञोऽसि चेत्,
६ **संस्कारे स्वतनोः कुजोऽसि यदि तत् सिद्धोऽसि तुर्यंव्रते ॥१०१॥**

रामारागकथाश्रुतौ—रामाया स्त्रिया रागो रतिः, तदर्थं[1] रामयो वा रागेण क्रियमाणा कथा तदाकर्णने । श्रुतिपरिभ्रष्टः—अत्यन्तवधिर. सस्कारपराङ्मुखोऽसीत्यर्थ' ॥१०१॥

९ अथ वृष्यद्रव्यसौहित्यप्रभावं भावयति—

को न वाजीकृतां दृप्तः कन्तुं कन्दलयेद्यत. ।
ऊर्ध्वमूलमध शाखमृषयः पुरुषं विदुः ॥१०२॥

१२ वाजीकृता—अवाजिन वाजिन कुर्वन्ति वाजीकृतो रतौ वृद्धिकरा' क्षीराद्यर्थास्तेपाम् । कन्दलयेत्—उद्भावयेत् । जीह्वेन्द्रियसतर्पणाप्रभवत्वात् कन्दर्पदर्पस्य । अत्र पूर्वरतानुस्मरण—वृष्येष्टरसादिवर्जनस्य पुनरुपदेशो ब्रह्मचर्यपालने अत्यन्तयत्न कर्तव्य इति बोधयति । मुहु साध्यत्वात्तस्य । तथा च ब्रुवन्ति—

आगे कहते हैं कि स्त्रीरागकथाश्रवण, उसके मनोहर अंगोंका निरीक्षण, पूर्व भुक्त भोगोंका स्मरण, कामोद्दीपक भोजन और शरीर संस्कार इन पाँचोंके त्यागरूप पाँच भावनाओंसे ब्रह्मचर्य व्रतको स्थिर करना चाहिए—

हे साधु ! यदि तू स्त्रीमें राग उत्पन्न करनेवाली अथवा स्त्रीसे रागसे की जानेवाली कथाको सुननेमे बहरा है, यदि तू उसके मुख, स्तन आदि मनोहर अंगोंको देखनेमें अन्धा है, यदि तू पहले भोगी हुई स्त्रीका स्मरण करनेमे असैनी है, यदि तू वीर्यवर्धक इच्छित रसोंके आस्वादमे जिह्वाहीन है, यदि तू अपने शरीरके संस्कार करनेमे वृक्ष है (वृक्ष अपना संस्कार नहीं करते) तो तू ब्रह्मचर्य व्रतमें सिद्ध है—सच्चा ब्रह्मचारी है ॥१०१॥

विशेषार्थ—आँख, कान और जिह्वा तथा मनपर नियन्त्रण किये बिना ब्रह्मचर्यका पालन नहीं हो सकता । इसलिए ब्रह्मचारीको स्त्रियोंके विषयमे अन्धा, बहरा, गूँगा तथा असज्ञी तक बनना चाहिए । इसीलिए जैन मुनि स्नान, विलेपन, तेलमर्दन, दन्तमंजन आदि शरीर संस्कार नहीं करते । रसना इन्द्रियको भी स्पर्शन इन्द्रियकी तरह कामेन्द्रिय कहा है । इसका जीतना स्पर्शनसे भी कठिन है । अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमे कहा है कि जो स्पर्शजन्य सुखका त्याग कर देते है वे भी रसनाको वशमे नहीं रख सकते । आगममे भी कहा है—'इन्द्रियोंमे रसना, कर्मोंमे मोहनीय, व्रतोंमें ब्रह्मचर्य और गुप्तियोमें मनोगुप्ति ये चार बड़े कष्टसे वशमें आते हैं ॥१०१॥

वीर्यवर्द्धक रसोंके सेवनका प्रभाव बतलाते हैं—

मनुष्योंको घोड़ेके समान बना देनेवाले वीर्यवर्द्धक दूध आदि पदार्थोंको वाजीकरण कहते हैं । वाजीकरणके सेवनसे मत्त हुआ कौन पुरुष कामविकारको नहीं करता अर्थात् सभी करते हैं । क्योंकि ऋषियोंने पुरुषको ऊर्ध्वमूल और अधःशाख कहा है ॥१०२॥

---

१. तदर्था रामया रागेण वा—भ. कु. च. ।

'अक्खाण रसणी कम्माण मोहणी तह वयाण बभं च।
गुत्तीणं मणगुत्ती चउरो दुक्खेण सिज्झंति ॥' [ ] ॥१०२॥

अथ पूर्वेऽपि भूयासो मुक्तिपथप्रस्थायिनो ब्रह्मव्रतप्रमादभाजो लोके भूयासमुपहासमुपगता इति दर्शयंस्तत्र सुतरा साधूनवधानपरान् विधातुमाह— ३

दुर्घर्षोद्धतमोहशौल्किकतिरस्कारेण सद्माकराद्,
भूत्वा सद्‌गुणपण्यजातमयनं मुक्तेः पुरः प्रस्थिताः। ६
लोलाक्षोप्रतिसारकैर्मदवशैराक्षिप्य ता ता हठा-
न्नीताः किन्न विडम्बनां यतिवराः चारित्रपूर्वाः क्षितौ ॥१०३॥

शौल्किक.—शुवति शुलति वा सुखेन यात्यनेनेति शुल्क प्रावेश्यनैष्क्रम्यद्रव्येभ्यो राजग्राह्यो भाग.। शुल्के नियुक्त. शौल्किक। तेन साधर्म्यं मोहस्य पापावद्यभूयिष्ठत्वात्। तस्य तिरस्कार छलनोपक्रम। आक्षिप्य—सोल्लुण्ठ हठाद् व्यावर्त्य। चारित्रपूर्वा.—पूर्वशब्देन शकट-कूर्चकर-रुद्रादयो गृह्यन्ते ॥१०३॥ ९

विशेपार्थ—भगवद्‌गीता (अ १५।१) मे कहा है—'ऊर्ध्वमूलमध शाखमश्वत्थं प्राहुर-व्ययम्' इसके द्वारा ससारको वृक्षका रूपक दिया है। उसीको लेकर यहाँ ग्रन्थकारने पुरुपके ऊपर घटित किया है। पुरुष मूल ऊपर है अर्थात् जिह्वा आदि उनका मूल है और हाथ-पैर आदि अवयव अधोगत शाखा है। इसका आशय यह है कि जिह्वाके द्वारा पुरुष जिस प्रकार-का भोजन करता है उसी प्रकारके उसके शरीरके अवयव वनते है। अतः जिह्वा द्वारा वाजी-करण पदार्थोंका सेवन करनेसे शरीरके अवयव भी तदनुरूप होंगे। अतः उन्हें संयत करनेके लिए जिह्वा इन्द्रियको संयत करना चाहिए। उसके विना ब्रह्मचर्यका पालन कठिन है ॥१०२॥

पूर्वकालमें वहुत-से मोक्षमार्गी पुरुप ब्रह्मचर्य व्रतमे प्रमाद करके लोकमे अत्यधिक उपहासके पात्र वने, यह दिखलाते हुए साधुओंको उसमे सावधान करते है—

पूर्वकालमे चारित्र, शकट, कूर्चवार रुद्र आदि अनेक प्रमुख यति, दुर्धर्प और उद्धत चारित्र मोहनीय कर्मरूपी कर वसूल करनेवालेको छलकर घररूपी खानसे सम्यग्दर्शन आदि गुणरूप वहुत-सी विक्रेय वस्तुओंको लेकर मुक्तिके मार्गकी ओर चले थे। किन्तु कर वसूल करनेवाले चारित्र मोहनीय कर्मके स्त्रीरूपी गर्विष्ठ भटोंके द्वारा वलपूर्वक पकड़ लिये गये। फिर उनकी जगत्‌मे शास्त्र और लोकमे प्रसिद्ध क्या-क्या विडम्वना नहीं हुई, उन्हे वहुत ही दुर्दशा भोगनी पड़ी ॥१०३॥

विशेपार्थ—राज्योंमें किसी खान वगैरहसे निकलनेवाली विक्रेय वस्तुओंपर कर वसूल करनेके लिए मनुष्य नियुक्त होते हैं। यदि कोई मनुष्य उन्हें छलकर और खानसे रत्न आदि लेकर मार्गमे जानेका प्रयत्न करता है तो कर वसूल करनेवालोके उन्मत्त सिपाहियोंके द्वारा पकड़े जानेपर वलपूर्वक पीछे ढकेल दिया जाता है और फिर उसकी दुर्दशाका पार नही रहता। वही स्थिति पूर्वकालमे कुछ यतियोकी हुई। वे भी मोक्षमार्गमे चले थे किन्तु उनके अन्तस्तलमे वैठा हुआ चारित्र मोहनीय कर्म वड़ा उद्धत था, उसे धोखा देना शक्य नहीं था। किन्तु उन यतियोने उसकी परवाह नही की और घर त्याग कर वन गये संन्यासी और चल पड़े मुक्तिकी ओर। उन्हें शायद पता नहीं था कि चारित्रमोहनीय महाराजके वड़े गर्वीले भट नारीका सुन्दर रूप धारण करके ऐसे लोगोको पकड़नेके लिए सावधान है। वस पकड़ लिये गये, कामिनीके मोहपाशमे फँस गये। फिर तो उनकी जगत्‌मे खूव हँसी

अथाकिञ्चन्यव्रतमष्टचत्वारिंशता पद्यैर्व्यावर्णयितुमनास्तत्र शिवार्थिनः प्रोत्साहयितुं लोकोत्तरं तन्माहात्म्यमादावादिशति—

३ मूर्छा मोहवशान्ममेदमहमस्येत्येवमावेशनं,
ता दुष्टग्रहवन्न मे किमपि नो कस्याप्यहं खल्विति ।
आकिञ्चन्य-सुसिद्धमन्त्रसततात्म्यासेन धुन्वन्ति ये
६ ते शश्वत्प्रतपन्ति विश्वपतयश्चित्रं हि वृत्तं सताम् ॥१०४॥

मोहवशात्—चारित्रमोहवशात् चारित्रमोहनीयकर्मविपाकपारतन्त्र्यात् । उक्तं च—
'या मूर्छानामेयं विज्ञातव्यः परिग्रहोऽयमिति ।
९ मोहोदयादुदीर्णो मूर्छा तु ममत्वपरिणामः ॥' [पुरुषार्थ १११]

तो हुई ही दुर्दशा भी कम नहीं हुई । महाभारत आदिमें उनकी कथा वर्णित है । अतः मुक्तिमार्गके पथिकोको चारित्र मोहनीय महाराजसे बहुत सावधान रहना चाहिए । उनका देना-पावना चुकता करके मोक्षके मार्गमे पग रखना चाहिए अन्यथा इनके सिपाही आपको पकड़े विना नहीं रहेंगे ॥१०३॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्य व्रतका वर्णन समाप्त हुआ ।

आगे अडतालीस पद्योंसे आकिंचन्यव्रतको कहना चाहते है । सर्वप्रथम मुमुक्षुको प्रोत्साहित करनेके लिए उस व्रतका अलौकिक माहात्म्य बतलाते हैं—

मोहनीय कर्मके उदयसे 'यह मेरा है' 'मैं इसका हूँ' इस प्रकारका जो अभिप्राय होता है उसे मूर्छा कहते हैं । श्लोकमे आया 'एवं' शब्द प्रकारवाची है । अतः 'मैं याज्ञिक हूँ', 'मैं संन्यासी हूँ', 'मै राजा हूँ' 'मैं पुरुष हूँ', 'मैं स्त्री हूँ', इत्यादि मिथ्यात्वमूलक अभिप्रायोंका ग्रहण होता है । इस प्रकारके सभी अभिप्राय मूर्छा हैं । कोई भी बाह्य या आभ्यन्तर काम-क्रोधादि वस्तु मेरी नहीं है और न मैं भी किसी बाह्य या आभ्यन्तर वस्तुका हूँ । 'खलु' शब्दसे कोई अन्य मैं नहीं हूँ और न मैं कोई अन्य हूँ इस प्रकारके आकिंचन्यव्रतरूप सुसिद्ध मन्त्रके निरन्तर अभ्यासखे जो ब्रह्मराक्षस आदि दुष्ट ग्रहके समान उस मूर्छाका निग्रह करते है वे तीनों लोकोंके स्वामी होकर सदा प्रतापशाली रहते हैं । यहाँ यह शंका हो सकती है कि अकिचन जगत्का स्वामी कैसे हो सकता है । अतः कहते हैं कि सन्त पुरुषोंका चरित अलौकिक होता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—मेरा कुछ भी नहीं है इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते हैं, उसका अर्थ होता है निर्ममत्व । अतः ममत्वका या मूर्छाका त्याग आकिंचन्यव्रत है । इसका दूसरा नाम परिग्रहत्यागव्रत है । वास्तवमें मूर्छाका नाम ही परिग्रह है । कहा है—'जो यह मूर्छा है उसे ही परिग्रह जानना चाहिए । मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाले ममत्व परिणामको मूर्छा कहते है ।' ग्रन्थकार आशाधरने अपनी सस्कृत टीकामे मोहसे चारित्रमोहनीय लिया है क्योकि चारित्रमोहनीयके भेद लोभके उदयमे ही परिग्रह सज्ञा होती है । कहा[1] है—'उपकरणके देखनेसे, उसके चिन्तनसे, मूर्छाभाव होनेसे और लोभकर्मकी उदीरणा होनेपर परिग्रह सज्ञा होती है ।' तत्त्वार्थ सूत्र ७।१७ में मूर्छाको परिग्रह कहा है । पूज्यपाद स्वामीने

---

१. उवयरणदसणेण तस्सुवजोगेणे मूच्छिदाए य ।
लोहस्सुदीरणाए परिग्गहे जायदे सण्णा ॥—गो. जी. १३८ गा. ।

इत्येवं—इतिशब्द. स्वरूपार्थः, एवशब्द प्रकारार्थ. । तेनाह याज्ञिकोऽह, परिव्राडह राजाह पुमानह स्त्रीत्यादि—मिथ्यात्वादिविवर्ताभिनिवेशा गृह्यन्ते । खलु—अतोऽपि न कोऽप्यन्योऽहमिति ग्राह्यम् । आकिञ्चन्यं—नैर्मल्यम् । सुसिद्धमन्त्रः—यो गुरूपदेशानन्तरमेव स्वकर्म कुर्यात् । यदाहुः— ३

'सिद्ध सिध्यति कालेन साध्यो होमजपादिना ।
सुसिद्धस्तत्क्षणादेव अरिं मूलान्निकृन्तति ॥' [ ]

धून्वन्ति—निगृह्णन्ति । चित्रं—अकिञ्चनाश्च जगत्स्वामिनश्चेत्याश्चर्यम् ॥१०४॥ ६

अथोभयपरिग्रहदोषख्यापनपुरस्सर श्रेयोर्थिनस्तत्परिहारमुपदिशति—

शोध्योऽन्तर्न तुषेण तण्डुल इव ग्रन्थेन रुद्धो वहि-
र्जीवस्तेन वहिर्भुवाऽपि रहितो मूर्छामुपार्छन् विषम् । ९
निर्मोकेण फणीव नार्हति गुणं दोषैरपि त्वेधते,
तद्ग्रन्थानवहिश्चतुर्दश वहिश्चोज्झेद्दश श्रेयसे ॥१०५॥

उसकी व्याख्यामे वाह्य गाय, भैंस, मणि, मुक्ता आदि चेतन-अचेतन वस्तुओंके और राग आदि उपाधियोंके संरक्षण, अर्जनके संस्कार रूप व्यापारको मूर्छा कहा है। इसपर-से यह शंका की गयी कि यदि मूर्छाका नाम परिग्रह है तव तो वाह्य वस्तु परिग्रह नही कही जायेगी क्योकि मूर्छासे तो आभ्यन्तरका ही ग्रहण होता है। इसके उत्तरसे कहा है—उक्त कथन सत्य ही है क्योंकि प्रधान होनेसे अभ्यन्तर को ही परिग्रह कहा है। वाह्यमे कुछ भी पास न होनेपर भी 'मेरा यह है' इस प्रकार संकल्प करनेवाला परिग्रही होता है। इसपर पुन शंका हुई कि तव तो वाह्य परिग्रह नहीं ही हुई। तो उत्तर दिया गया कि ऐसी वात नहीं है। वाह्य भी परिग्रह है क्योकि मूर्छाका कारण है। पुन शंका की गयी—यदि 'यह मेरा है' इस प्रकारका संकल्प परिग्रह है तो सम्यग्ज्ञान आदि भी परिग्रह कहलायेंगे क्योंकि जैसे राग आदि परिणाममें ममत्व भाव परिग्रह कहा जाता है वैसे ही सम्यग्ज्ञानादिकमे भी ममत्व भाव होता है। तव उत्तर दिया गया कि जहाँ प्रमत्तभावका योग है वहीं मूर्छा है। अतः सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्रसे युक्त व्यक्ति अप्रमत्त होता है। उसके मोहका अभाव होनेसे मूर्छा नहीं है अत. वह अपरिग्रही है। दूसरी वात यह है कि ज्ञान आदि तो आत्माका स्वभाव है। उसे छोड़ा नहीं जा सकता अतः वह परिग्रहमे सम्मिलित नही है। किन्तु राग आदि तो कर्मके उदयसे होते हैं, वे आत्माके स्वभाव नहीं हैं अत. छोड़ने योग्य है। उनमे 'यह मेरे हैं' ऐसा संकल्प करना परिग्रह है। यह संकल्प सव दोषोंका मूल है। 'यह मेरा है' ऐसा संकल्प होनेपर उसकी रक्षाका भाव होता है। उसमे हिंसा अवश्य होती है। परिग्रहकी रक्षाके लिए उसके उपार्जनके लिए झूठ वोलता है, चोरी भी करता है अत. परिग्रह सव अनर्थोंकी जड़ है। उससे छुटकारा पानेका रास्ता है आकिंचन्यरूप सुसिद्ध मन्त्रका निरन्तर अभ्यास। जो मन्त्र गुरुके उपदेशके अनन्तर तत्काल अपना काम करता है उस मन्त्रको सुसिद्ध कहते हैं। कहा है—'जो काल पाकर सिद्ध होता है वह सिद्ध मन्त्र है। जो होम-जप आदिसे साधा जाता है वह साध्य मन्त्र है। और जो तत्क्षण ही शत्रुको मूलसे नष्ट कर देता है वह सुसिद्ध मन्त्र है।'

आकिंचन्य भाव परिग्रहका पाश छेदनेके लिए ऐसा ही सुसिद्ध मन्त्र है ॥१०४॥

दोनों ही प्रकारके परिग्रहोंके दोष वताते हुए मुमुक्षुओंको उनके त्यागका उपदेश देते हैं—

शोध्यः—कर्ममलं कौण्डकं च त्याजयितुमशक्यः । रुद्धः—आसक्तिं नीतः छादितश्च ।

'शक्यो यथापनेतुं न कोण्डकस्तन्दुलस्य सतुषस्य ।
३ न तथा शक्यं जन्तोः कर्ममलं सङ्गसक्तस्य ॥' [ ]

गुणं—अहिंसकत्वाभिगम्यत्वादिकम् । अवहिः—आभ्यन्तरान् । तद्यथा—

'मिच्छत्तवेदरागा हस्सादीया य तह य छद्दोसा ।
६ चत्तारि तह कसाया चउदसब्भंतरा गथा ॥ [भ. आरा. १११८ गा.]

दश क्षेत्रादीन् । यदाह—

'क्षेत्रं धान्यं धनं वास्तु कुप्यं शयनमासनम् ।
९ द्विपदाः पशवो भाण्डं बाह्या दश परिग्रहाः ॥' [सोम. उपा. ४३३ श्लो.]

जैसे बाहरमें तुषसे वेष्टित चावल अर्थात् धान बाहरका छिलका दूर हुए बिना अन्दरसे शुद्ध नहीं हो सकता, वैसे ही बाह्य परिग्रहमें आसक्त हुआ जीव अभ्यन्तर कर्ममलको छोड़नेमें असमर्थ होनेसे अन्त:शुद्ध नहीं हो सकता। इसपर-से यह शंका हो सकती है कि यदि ऐसी बात है तो बाह्य परिग्रह ही छोड़ना चाहिए, अन्तरंग परिग्रह नहीं छोड़ना चाहिए ? इसके उत्तरमें कहते हैं—जैसे केंचुलीसे रहित भी सर्प विषधर होनेसे गुणी नहीं हो जाता किन्तु विष रहनेसे दोषी ही होता है, वैसे ही बाह्य परिग्रहसे रहित भी जीव यदि अन्दरमें ममत्व भाव रखता है तो अहिंसा आदि गुणोंका पात्र नहीं होता, किन्तु दोषोंका ही पात्र होता है। इसलिए चारित्रकी रक्षाके लिए और मोक्षकी प्राप्तिके लिए अन्तरंग चौदह और बाह्य दस परिग्रहोंको छोड़ना चाहिए ॥१०५॥

विशेषार्थ—बाह्य परिग्रहोंको त्यागे बिना अन्तःशुद्धि उसी प्रकार सम्भव नहीं है जैसे धानके ऊपरका छिलका दूर हुए बिना धानके अन्दर चावलके ऊपरका लाल आवरण दूर होकर चावल स्वच्छ सफेद नहीं हो सकता। कहा है—'जैसे तुष (छिलका) सहित चावलके ऊपरका लाल छिलका दूर नहीं किया जा सकता वैसे ही परिग्रहमें आसक्त जीवका कर्ममल दूर नहीं किया जा सकता।'

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि केवल बाह्य परिग्रह ही छोड़ने योग्य हैं या बाह्य परिग्रहके छोड़नेसे अन्तरंग परिग्रहसे छुटकारा मिल जाता है। बाह्य परिग्रहकी तरह अन्तरंग परिग्रह भी छोड़ना चाहिए तथा उसके लिए सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए। बाह्य परिग्रह छोड़ देनेपर भी यदि शरीरके प्रति भी ममत्व भाव बना रहा तो शरीरके नग्न रहनेपर भी परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता। अभ्यन्तर परिग्रह इस प्रकार हैं—मिथ्यात्व —वस्तुके यथार्थ स्वरूपका अश्रद्धान, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद अर्थात् स्त्रीवेद नोकषायके उदयसे पुरुषमें, पुरुषवेद नोकषायके उदयसे स्त्रीमें और नपुंसकवेद नोकषायके उदयसे दोनोंमें रमणकी अभिलाषा, हास्य, भय, जुगुप्सा, रति, अरति, शोक तथा चार कषाय ये चौदह अन्तरंग परिग्रह हैं। और खेत, गृह, धन—सुवर्णादि, धान्य गेहूँ आदि, कुप्य वस्त्र आदि, भाण्ड—हींग, मिर्च आदि, दासदासी—भृत्यवर्ग, हाथी आदि चौपाये सवारी, शय्या-आसन ये दस बाह्य परिग्रह हैं। सोमदेवके उपासकाध्ययनमें यानको नहीं गिनाया है और शय्या तथा आसनको अलग-अलग गिनकर दस संख्याकी पूर्ति की है।

ते च कर्मबन्धन (निबन्धन) मूर्च्छानिमित्तत्वात्त्याज्यतयोपदिष्टा । यदत्राह—

'मूर्छालक्षणकरणात् सुघटा व्याप्ति. परिग्रहत्वस्य ।
सग्रन्थो मूर्छावान् विनापि किल शेषसगेभ्य. ॥' ३
'यद्येवं भवति तदा परिग्रहो न खलु कोऽपि बहिरङ्गः ।
भवति नितरा यतोऽसौ धत्ते मूर्च्छानिमित्तत्वम् ॥'
'एवमतिव्याप्तिः स्यात्परिग्रहस्येति चेद् भवेन्नैवम् । ६
यस्मादकषायाणा कर्मग्रहणे न मूर्छाऽस्ति ॥' [पुरुषार्थ ११२-११४]

अथ सङ्गत्यागविधिमाह—

परिमुच्य करणगोचरमरीचिकामुज्झिताखिलारम्भः । ९
त्याज्यं ग्रन्थमशेषं त्यक्त्वापरनिर्मम. स्वशर्म भजेत् ॥१०६॥

करणगोचरमरीचिकां—करणैश्चक्षुरादीन्द्रियै क्रियमाणा गोचरेषु रूपादिविषयेषु मरीचिका प्रतिनियतवृत्त्यात्मनो मनाक् प्रकाश । अथवा करणगोचरा इन्द्रियार्था मरीचिका मृगतृष्णेव जलबुद्धया १२

श्वेताम्बर साहित्यमे सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थटीकामें (७।१९) अन्तरंग परिग्रहकी संख्या तो चौदह बतलायी है किन्तु बाह्य परिग्रहकी संख्या नहीं लिखी। उनमे-से अभ्यन्तर परिग्रहके चौदह भेद हैं—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यादर्शन, हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद। बाह्य परिग्रह—वास्तु, क्षेत्र, धन, धान्य, शय्या, आसन, यान, कुप्य, द्विपद, त्रिपद, चतुष्पद और भाण्ड हैं।

अभ्यन्तर परिग्रहमे वेदको एक गिना है और रागद्वेषको मिलाकर १४ संख्या पूरी की है। किन्तु बाह्य परिग्रह अलग गिननेसे १२ होते हैं। इसमे त्रिपद नवीन है जो अन्यत्र नहीं है। वैसे इस परम्परामें ९ बाह्य परिग्रह गिनाये हैं। यथा—धर्म संग्रहकी टीकामे कहा है—धन १, धान्य २, क्षेत्र ३, वास्तु ४, रूप्य ५, सुवर्ण ६, कुप्य ७, द्विपद ८, चतुष्पद ९ ये बाह्य परिग्रह हैं। हेमचन्द्रने भी नौ बाह्य परिग्रह कहे हैं॥१०५॥

परिग्रहके त्यागकी विधि कहते हैं—

मरीचिकाके तुल्य इन्द्रिय विषयोंको त्याग कर समस्त सावद्य क्रियाओंको भी त्याग दे। तथा छोडनेके लिए शक्य गृह-गृहिणी आदि समस्त परिग्रहको त्याग कर, जिसका छोडना शक्य नहीं है ऐसे शरीर आदिमें 'यह मेरा है' या 'यह मैं हूँ' इस प्रकारका संकल्प दूर करके आत्मिक सुखको भोगना चाहिए॥१०६॥

विशेषार्थ—इन्द्रियोंके विषय मरीचिकाके तुल्य हैं। सूर्यकी किरणोंके रेतमें पडनेसे वनमें मृगोंको जलका भ्रम होता है उसे मरीचिका कहते हैं। जैसे मृग जल समझकर उसके लिए दौडता है वैसे ही लोग सुख मानकर बडी उत्सुकतासे इन्द्रियोके विषयोंकी ओर दौडते हैं। अतः वे सर्वप्रथम त्यागने चाहिए। उसके बाद समस्त आरम्भको त्यागकर छोड सकने योग्य सभी प्रकारके परिग्रहोंको छोड देना चाहिए। बालकी नोकके बराबर भी छोडने योग्य

---

१. धन धान्यं स्वर्णरूप्यकूप्यानि क्षेत्रवास्तुनी ।
द्विपाच्चतुष्पाच्चेति स्युर्नव बाह्या. परिग्रहा. ॥—योगशास्त्र २।११५ की वृत्ति ।

मृगैरिव सुखबुद्धया लोकैरौत्सुक्यादभिगम्यमानत्वात् । त्याज्यं—त्यक्तुं (शक्यं) गृहगृहिण्यादिकम् । अपरनिर्ममः—त्यक्तुमशक्यशरीरादौ ममेदमिति सकल्परहितः । उक्तं च—

'जीवाजीवणिबद्धा परिग्गहा जीवसभवा चेव ।
तेसिं सक्कच्चाओ इय भणिओ णिम्ममो सगो ॥' [ ] ॥१०६॥

परिग्रहको अपने पास नहीं रखना चाहिए। अपने पास न रखनेसे ऐसा आशय नहीं लेना चाहिए कि स्वयं न रखकर किसी दूसरेके अधिकारमें रख दे जैसा कि आजकल साधु संघ मोटर रखते है और उसे किसी संघस्थ श्रावकको सौप देते हैं। यह परिग्रहका त्याग नहीं है उसका भोग है। क्योंकि यद्यपि साधु स्वयं मोटरमें नहीं बैठते किन्तु उनका संकल्पजाल उसमें बराबर रहता है। अपरिग्रही साधुके लिए तो जो छोडा नहीं जा सकता उस शरीरमें भी ममत्व भाव त्याज्य है। मोहके उदयसे ममकार और अहंकार होते हैं। ममकार और अहंकार करनेसे आत्मा रागमें होता है।

इन दोनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा[1] है—'जो सदा आत्माके नहीं है और कर्मके उदयसे बने है ऐसे अपने शरीर वगैरहमें 'यह मेरा है' इस प्रकारका अभिप्राय ममकार है। जैसे मेरा शरीर। जो भाव कर्म जन्य है और निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न हैं उन्हें अपना मानना अहंकार है। जैसे 'मै राजा हूँ'। तो जिस परिग्रहको छोड़ना शक्य नहीं है उसमे भी ममकार करना जब परिग्रह है तब जिसका त्याग कर चुके उसे ही प्रकारान्तरसे अपनाना तो परिग्रह है ही। और परद्रव्यका ग्रहण ही बन्धका कारण है तथा स्वद्रव्यमें ही लीन होना मोक्षका कारण है। कहा है—जो परद्रव्यको स्वीकार करता है, उसमें ममत्व भाव रखता है, वह अपराधी है अतः अवश्य बँधता है। और जो यति स्वद्रव्यमें लीन रहता है वह निर-पराधी है अत नही बँधता।

और भी कहा[2] है—जो कोई भी मुक्त हुए हैं वे भेद विज्ञानसे मुक्त हुए हैं। और जो कोई बँधे है वे उसी भेदविज्ञानके अभावसे बँधे है यह निश्चित है। भेद विज्ञानसे मतलब है एक मात्र अपने शुद्ध आत्मामे और आत्मिक गुणोंमें स्वत्व भाव और उससे भिन्न कर्मजन्य सभी पदार्थोंमें सभी भावोंमें आत्मबुद्धिका निरास। यह भेद विज्ञानकी भावना सतत चलती रहना चाहिए। इसका विच्छेद होनेपर ममत्वभाव आये बिना रहता नही। परिग्रहको छोड़ देने मात्रसे वह नहीं छूटती उसके लिए सदा जागरूक रहना पड़ता है क्योकि उसकी जड तो ममत्व भाव है ॥१०६॥

---

१ शश्वदनात्मीयेषु स्वतनुप्रमुखेषु कर्मजनितेषु ।
आत्मीयाभिनिवेशो ममकारो मम यथा देह ॥
ये कर्मकृता भावा परमार्थनयेन चात्मनो भिन्ना. ।
तत्रात्माभिनिवेशोऽहङ्कारोऽहं यथा नृपति ॥
—तत्त्वानुशा. १४-१५ श्लोक।

२ भेदविज्ञानत सिद्धा सिद्धा ये किल केचन ।
तस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥
—सम. कलश—१३१।

अथ धनधान्यादिग्रन्थग्रहाविष्टस्य मिथ्यात्व-हास्य-वेद-रत्यरति-शोक-भय-जुगुप्सा-मान-कोप-माया-लोभोद्भवपारतन्त्र्यं यत्र तत्र प्रवर्तमानमनुक्रमेण व्याकर्तुमाह—

श्रद्धत्तेऽनर्थमर्थं हसमनवसरेऽप्येत्यगम्यामपीच्छ- ३
त्यास्तेऽरम्येऽपि रम्येऽप्यहह न रमते दैष्टिकेऽप्येति शोकम् ।
यस्मात्तस्माद्विभेति क्षिपति गुणवतोऽप्युद्धतिक्रोधदम्भा-
नस्थानेऽपि प्रयुङ्क्ते ग्रसितुमपि जगद्वष्टि सङ्ग्रहार्तः ॥१०७॥ ६

अनर्थं—अतत्त्वभूत वस्तु—तत्त्वभूत रोचते धनेश्वरादिच्छन्दानुवृत्तिवशादिति यथासंभवमुपस्कारः कार्यः । तथा च पठन्ति—

'हन्ति हसति स्वामिन्युच्चै रुदत्यतिरोदिति ९
गुणसमुदित दोषापेत प्रणिन्दति निन्दति ।
कृतपरिकर स्वेदोद्गारि प्रधावति धावति
धनलवपरिक्रीत यन्त्र प्रनृत्यति नृत्यति ॥' [वादन्याय. पृ. १११] १२

अगम्यां—गुरुराजादिपत्नीम् । अरम्ये—अप्रीतिकरे भिल्लपल्ल्यादिस्थाने । दैष्टिके—दैवप्रमाणके । इष्टवियोगादौ । क्षिपति—जुगुप्सते । अस्थाने—गुर्वादिविषये । वष्टि—वाञ्छति ॥१०७॥

अथाचेतनेतरबाह्यपरिग्रहद्वयस्य दुस्त्यजत्व तावदविशेषेणैवाभिधत्ते— १५

जिसपर धन-धान्य आदि परिग्रहका भूत सवार रहता है वह मिथ्यात्व हास्य, वेद, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, मान, कोप, माया और लोभके वशीभूत होकर जहाँ-तहाँ कैसी प्रवृत्ति करता है इसे क्रमसे बतलाते हैं—

परिग्रहरूपी भूतसे पीडित व्यक्ति अनर्थको अर्थरूप श्रद्धा करता है अर्थात् अतत्त्वभूत वस्तुको तत्त्वभूत मानता है। इससे मिथ्यात्व नामक अभ्यन्तर परिग्रहका प्रभाव बतलाया है। अवसरकी तो बात ही क्या, बिना अवसरके भी हँसता है। यह हास्य नामक परिग्रहका प्रभाव है। अगम्या स्त्रीको भी पसन्द कर लेता है अर्थात् यदि गुरु, राजा आदिकी पत्नी लालच दे कि यदि तुम मेरे साथ सहवास करोगे तो मैं तुम्हें यह-यह दूँगी तो उसके लोभमें आकर उसका कहा करता है। यह पुरुषवेद नामक परिग्रहका माहात्म्य है। इसी प्रकार स्त्रीवेद और नपुंसकवेदका भी जानना। अरुचिकर भील आदिके गाँवोमे भी जा बसता है। यह रति नामक परिग्रहका प्रभाव है। कभी रमणीक राजधानी आदि स्थानमें भी इसका मन नहीं रमता। यह अरति नामक परिग्रहका प्रभाव है। दैववश आयी हुई विपत्तिमे भी शोक करता है। यह शोक नामक परिग्रहका प्रभाव है। जिस किसीसे भी डरकर चाहे वह डरका कारण हो अथवा न हो भयभीत होता है। यह उसके भय नामक परिग्रहका प्रभाव है। दोषीकी तो बात ही क्या, गुणवान्से भी घृणा करता है। यह जुगुप्सा नामक परिग्रहका प्रभाव है। अस्थानमे भी क्रोध, मान और मायाचार करता है। यह उसके क्रोध, मान और माया नामक परिग्रहका प्रभाव है। अधिक क्या कहें, परिग्रहकी भावनासे पीड़ित होकर समस्त विश्वको भी अपने उदरमें रख लेना चाहता है। यह लोभ नामक परिग्रहका प्रभाव है। यह बड़े ही खेद या आश्चर्यकी बात है। ये सब अन्तरंग परिग्रह हैं ॥१०७॥

इस तरह अन्तरंग परिग्रहका माहात्म्य बतलाकर आगे सामान्य रूपसे चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकारकी बाह्य परिग्रहको छोडना कितना कठिन है यह बतलाते हैं—

प्राग्देहस्वग्रहात्मीकृतनियतिपरीपाकसंपादितैत-
द्देहद्वारेण दारप्रभृतिभिरिमकैश्चामुकैश्चालयाद्यैः।
३ लोकः केनापि बाह्यैरपि दृढमवहिस्तेन बन्धेन बद्धो
दुःखार्तश्छेत्तुमिच्छन् निविडयतितरां यं विषादाम्बुवर्षैः ॥१०८॥

प्रागित्यादि। प्राग्देहे—पूर्वभवशरीरे यः स्वग्रह आत्मेति आत्मीय इति वा निश्चयस्तेन
६ आत्मीकृता स्वीकृता बद्धा या नियतिर्नाम कर्मविशेषः तस्या परिपाक उदय'। जीवो हि यादृशं भावयति
तादृशमेवासादयति। तदुक्तम्—

'अविद्वान् पुद्गलद्रव्य योऽभिनन्दति तस्य तत्।
९ न जातु जन्तो सामीप्यं चतुर्गतिषु मुञ्चति ॥' [ ]

निविडयतितरा—अतिशयेन गाढ करोति। रज्वादिबन्धस्य जलसेचनेनातिगाढीभावदर्शनादेव-
मुक्तम् ॥१०८॥

१२ अथ षोडशभि पद्यैश्चेतनवहिरङ्गसङ्गदोषान् प्रविभागेन वक्तुकाम. पूर्वं तावद् गाढरागनिमित्तभूत-
त्वात्कालत्रयस्य (कलत्रस्य) दोषान् वृत्तपञ्चकेनाचष्टे—

वपुस्तादात्म्येक्षामुखरतिसुखोत्कः स्त्रियमरं,
१५ परामप्यारोप्य श्रुतिवचनयुक्त्याऽऽत्मनि जडः।
तदुच्छ्वासोच्छ्वासी तदसुखसुखासौख्यसुखभाक्
कृतघ्नो मात्रादीनपि परिभवत्याः परधिया ॥१०९॥

पूर्वजन्ममें इस जीवने शरीरमें 'यह मैं हूँ' या 'यह मेरा है' इस प्रकारका निश्चय करके जो पुद्गलविपाकी नामकर्म बाँधा था उसीके उदयसे यह शरीर प्राप्त हुआ है। इस शरीरके सम्बन्धसे जो ये स्त्री-पुत्रादि तथा गृह आदि प्राप्त हैं यद्यपि ये सब बाह्य हैं तथापि मूढ बुद्धि जन अन्तरंगमे किसी अलौकिक गाढ़े बन्धनसे बद्ध हैं। जब वह उनके द्वारा पीडित होकर, उस बन्धनको काटना चाहता है अर्थात् स्त्री-पुत्रादिकको छोड़ना चाहता है तो विषादरूपी जलकी वर्षासे उस बन्धनको गाढा कर लेता है। अर्थात् देखा जाता है कि पानी डालनेसे रस्सीकी गाँठ और भी दृढ हो जाती है। इसी तरह स्त्री-पुत्र आदिके छोड़नेका संकल्प करके भी उनके वियोगकी भावनासे जो दुःख होता है उससे पुन. दुःखदायक असाता-वेदनीय कर्मका ही बन्ध कर लेता है ॥१०८॥

विशेषार्थ—पूर्वजन्ममें बाँधे गये कर्मके उदयसे शरीर मिला है। शरीरके सम्बन्धसे स्त्री-पुत्रादि प्राप्त हुए हैं। स्त्री, पुत्र, गृह आदि बाह्य हैं। तथापि आश्चर्य यह है कि बाह्य होकर भी अन्तरंगको बाँधते हैं और जब इनसे दुखी होकर इन्हे छोडना चाहता है तो उनके वियोगकी कल्पनासे आकुल होकर और भी तीव्र कर्मका बन्ध करता है ॥१०८॥

आगे सोलह पद्योंसे बाह्य चेतन परिग्रहके दोषोंको कहना चाहते है। उनमें-से प्रथम पाँच पद्योंसे स्त्रीके दोषोंको कहते हैं क्योंकि स्त्री गाढ रागमे निमित्त है—

यह मूढ प्राणी शरीरके साथ अपना तादात्म्य मानता है। उसका मत है कि शरीर ही मैं हूँ और मैं ही शरीर हूँ। इसी भावनासे प्रेरित होकर वह रतिसुखके लिए उत्कण्ठित होता है और अपनेसे अत्यन्त भिन्न भी स्त्रीको वेद मन्त्रोंके द्वारा अपनेमें स्थापित करके उसके उच्छ्वासके साथ उच्छ्वास लेता है, उसके सुखमे सुख और दुःखमें दुःखका अनुभव करता है। खेद है कि वह कृतघ्न अपना विरोधी मानकर अन्य जनोंकी तो बात ही क्या, माता-

तादात्म्य—एकत्वम् । श्रुतिवचनयुक्त्या—वेदवाक्ययोजनेन । विवाहकाले हि वैदिकमन्त्रेण स्त्रीपुंसयोरेकत्वं द्विजैरापाद्यते । परधिया—विपक्षबुद्धया ॥१०९॥

अथैव स्त्रीप्रसक्तस्य जनन्यादिपरिभवोत्पादद्वारेण कृतघ्नत्वं प्रकाश्य सांप्रतं मरणेनापि तामनुगच्छतस्तस्य दुरन्तदुर्गतिदुःखोपभोगं वक्रवाग्भङ्ग्या व्यनक्ति— ३

चिराय साधारणजन्मदुःखं पश्यन्परं दु सहमात्मनोऽग्रे ।
पृथग्जन. कर्तुमिवेह योग्या मृत्यानुगच्छत्यपि जीवितेशाम् ॥११०॥ ६

साधारणजन्म—निगोदेपु गुडूचीमूलकादिपूत्पाद । योग्य—अन्यासा निगोदे हि एकस्मिन् म्रियमाणे अनन्ता अपि म्रियन्ते । जीवितेशा—वल्लभाम् । पृथग्जनस्य तदायत्तजीवितत्वात् ॥११०॥

अथ भार्याया संभोगविप्रलम्भशृङ्गाराभ्या पुरुपार्थभ्रंशकत्वमुपलम्भयति— ९

पिता आदिका भी तिरस्कार करता है कि इन्होंने मेरा कुछ भी नहीं किया, मैं तो अपने पुण्योदयसे ही बना हूँ ॥१०९॥

विशेपार्थ—शरीरमे आत्मबुद्धिकी भावनासे ही शरीरमें राग पैदा होता है और यह राग ही रतिसुखकी उत्कण्ठा पैदा करता है। उसीकी पूर्तिके लिए मनुष्य विवाह करता है। विवाहके समय ब्राह्मण पण्डित वैदिक मन्त्र पढकर स्त्री और पुरुपको एक सूत्रमे बाँध देते हैं। फिर तो वह स्त्रीमे ऐसा आसक्त होता है कि माता-पिताको भी कुछ नहीं समझता। यह बात तो जन-जनके अनुभवकी है। कौन ऐसा कृतज्ञ है जो स्त्रीकी उपेक्षा करके माता-पिताकी बात रखे। घर-घरमे इसीसे कलह होता है। वृद्धावस्थामे माता-पिता कष्ट उठाते हैं और स्त्रीके भयसे पुत्र उनकी उपेक्षा करता है। इसका मूल कारण विषयासक्ति ही है। और इस विषयासक्तिका मूल कारण शरीरमे आत्मबुद्धि है। जबतक यह विपरीत बुद्धि दूर नहीं होती तब तक इस परिग्रहसे छुटकारा नहीं हो सकता ॥१०९॥

इस तरह स्त्रीमें आसक्त मनुष्य माता आदिका भी तिरस्कार करके कृतघ्न बनता है यह दिखाकर वचनभंगीके द्वारा यह प्रकट करते हैं कि यह जीव स्त्रीके मरणका भी अनुगमन करके कठिनतासे समाप्त होनेवाले दुर्गतिके दु खोको भोगता है—

मुझे आगे चिरकाल तक साधारण निगोद पर्यायमे जन्म लेनेका उत्कृष्ट दु.सह दु ख भोगना पड़ेगा, यह देखकर स्त्रीमे आसक्त मूढ मनुष्य मानो अभ्यास करनेके लिए अपनी प्राणप्यारी स्त्रीका मृत्युमे भी अनुगमन करता है अर्थात् उसके मरनेपर स्वय भी मर जाता है ॥११०॥

विशेपार्थ—निगोदिया जीवोंको साधारणकाय कहते हैं। क्योंकि उन सबका आहार, श्वासोच्छ्वास, जीवन-मरण एक साथ होता है। स्त्रीमे अत्यन्त आसक्त मोही जीव मरकर साधारण कायमे जन्म ले सकता है। वहाँ उसे अन्य अनन्त जीवोंके साथ ही चिरकाल तक जीना-मरना पड़ेगा। ग्रन्थकार कहते हैं कि उसीके अभ्यासके लिए ही मोही जीव स्त्रीके साथ मरता है ॥११०॥

पत्नी सम्भोग और विप्रलम्भ शृंगारके द्वारा मनुष्यको पुरुपार्थसे भ्रष्ट करती है इसका उलाहना देते हैं—

प्रक्षोभ्यालोकमात्रादपि रुजति नरं यानुरज्यानुवृत्या
प्राणैः स्वार्थापकर्षं कृशयति बहुशस्तन्वती विप्रलम्भम् ।
३ क्षेपावज्ञाशुगिच्छाविहतिविलपनाद्युग्रमन्तर्दुनोति,
प्राज्या गन्त्वामिषादामिषमपि कुरुते सापि भार्याऽहहार्या ॥१११॥

प्रक्षोभ्येत्यादि । पूर्वानुरागद्वारेण दुःखापादकत्वोक्तिरियम् । तल्लक्षणं यथा—

६ 'स्त्रीपुंसयोर्नवालोकादेवोल्लसितरागयोः ।
ज्ञेयः पूर्वानुरागोऽयमपूर्णस्पृहयोर्दशा[1] ॥ [ ]

अनुरज्येत्यादि । संभोगमुखेन बाधकत्वकथन[2] (?) मिदम् । कामिन्यो हि रहसि यथारुचि कामुकाननु-
९ वृत्य यथेष्टं चेष्टयन्ति । तदुक्तम्—

'यद्यदेव रुरुचे रुचितेभ्यः सुभ्रुवो रहसि तत्तदकुर्वन् ।
आनुकूलिकतया हि नराणामाक्षिपन्ति हृदयानि रमण्यः ॥' [ ]

१२ स्वार्थापकर्ष[3]मादि प्रच्याव्य । विप्रलम्भ—प्रणयभङ्गेर्ष्याप्रभवमानशृङ्गारं प्रवासं च । क्षेपः—
धिक्कारः । शुक्—शोकः । विलपनं—परिवेदनं[4] रामस्य यथा—

'स्निग्धः श्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
१५ वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥' [काव्यप्रकाश, ११२ श्लो.]

१८ अपि च—

'हारो नारोपितः कण्ठे स्पर्शविच्छेदभीरुणा ।
इदानीमन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः ॥' [ ]

जो पत्नी अपने रूपके दर्शन मात्रसे ही मनुष्यके मनको अत्यन्त चंचल करके उसे सन्तप्त करती है, फिर पतिकी इच्छानुसार चलकर, उसे अपनेमें अनुरक्त करके धर्म आदि पुरुषार्थसे डिगाकर उसके बल, आयु, इन्द्रिय आदि प्राणोंको कमजोर बना देती है, तथा तिरस्कार, अनादर, शोक, इष्टघात, रुदन आदिके द्वारा असह्य विप्रलम्भको बढ़ाकर अर्थात् कभी रूठकर, कभी प्रणयकोप करके, कभी पिताके घर जाकर मनुष्यके अन्तःकरणको दुःखी करती है। इस तरह नाना प्रकारके दुःखरूपी राक्षसोंका ग्रास बना देती है। आश्चर्य है कि फिर भी मनुष्य पत्नीको आर्या मानता है। अथवा खेद है कि फिर भी कामी जन पत्नीको हार्या—हृदयको हरनेवाली प्यारी मानते है ॥१११॥

विशेषार्थ—विप्रलम्भ शृंगारके चार भेद कहे है—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुणा। इनमें-से पहले-पहलेका तीव्र होता है। अर्थात् सबसे तीव्र पूर्वानुराग है। प्रथम दर्शनसे जो अनुराग होता है वह तीव्र पीड़ाकारक होता है। उसके बाद विवाह होनेपर

---

१. दृशो भ. कु. च ।
२. कत्वमुक्तम् भ. कु. च. ।
३. -र्षं धर्मादिपुरुषार्थात्प्रच्याव्य भ. कु. च. ।
४. परिदेवनं भ. कु. च. ।

प्राज्येत्यादि—प्राज्या प्रचुरा आगन्तव शत्रुप्रहारादयो दु.खप्रकारास्त एव आमिषादा राक्षसास्तेषामामिषं विषयं ग्रास वा। अहह—अद्भुते खेदे वा। आर्या—अर्यते गम्यते गुणवत्तयाश्रियते इति। अथवा 'आह' इति खेदे। हार्या—इति अनुरञ्जनीया इत्यर्थ ॥१११॥ ३

अथ पूर्वानुरागादिशृङ्गारद्वारेण स्त्रीणा पुम्पीडकत्व यथाक्रम दृष्टान्तेषु स्पष्टयन्नाह—

स्वासङ्गेन सुलोचना जयमघाम्भोधौ तथाऽऽवर्तयत्,
स्वयं श्रीमत्यनु वज्रजङ्घमनयद् भोगालसं दुर्मृतिम्। ६
मानासद्ग्रह-विप्रयोग समरानाचारशङ्कादिभिः,
सीता राममतापयत्क्व न पतिं हा सापदि द्रौपदी ॥११२॥

सुलोचना—अकम्पनराजाङ्गजा। जयं—मेघेश्वरम्। अघाम्भोधौ—दु खाहोव्यसने यथा। तथा— ९
तेन अर्ककीर्तिमहाहवादिकरणप्रकारेण। स्वमनु—आत्मना सह। श्रीमती—वज्रदन्तचक्रवर्तिपुत्री। दुर्मृति—केशवासनधूपधूमव्याकुलकण्ठतया मरणम्। मानः—प्रणयभङ्गकलह। असद्ग्रह —युध्यमानलक्ष्मणपराजयनिवारणाय त प्रति रामप्रेषणदुरभिनिवेश.। अनाचारशङ्का—दशमुखोपभोगसभावना। १२

जो सम्भोग होता है वह मनुष्यकी शक्ति आदिको क्षीण करता है। फिर भी मनुष्य स्त्रीमे अत्यधिक आसक्त होता जाता है। तब स्त्री रूठती है, खाना नही खाती, या पिताके घर चली जाती है या रोती है इन सबसे मनुष्यका मन दु खी होता है ॥१११॥

इन पूर्वानुराग आदि शृंगारके द्वारा स्त्री किस तरह पुरुषको कष्ट देती है यह दृष्टान्त द्वारा क्रमसे स्पष्ट करते हैं—

सुलोचनाने अपने रूपकी आसक्तिसे जयकुमारको विपत्तियोंके समुद्रमे ला पटका, उसे चक्रवर्तीके पुत्र अर्ककीर्तिसे युद्ध करना पडा। वज्रदन्त चक्रवर्तीकी पुत्री श्रीमतीने अपने साथ अपने पति वज्रजंघको भी विषयासक्त बनाकर दुर्मरणका पात्र बनाया। सीताने प्रेमकलहमें अभिमान, कदाग्रह, वियोग, युद्ध और अनाचारकी शंका आदिके द्वारा रामचन्द्रको कष्ट पहुँचाया। और बडा खेद है कि द्रौपदीने अपने पति अर्जुनको किस विपत्तिमे नहीं डाला ॥११२॥

विशेषार्थ—ऊपर विप्रलम्भ शृंगारके चार भेद कहे हैं। यहाँ उन्हें दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट किया है। महापुराणमे जयकुमार-सुलोचनाकी कथा प्रसिद्ध है। जयकुमार भगवान ऋषभदेवको आहारदान देनेवाले राजा सोमका पुत्र था। उसने सम्राट् भरतका सेनापति होकर मेघकुमारको जीता था। इससे वह मेघेश्वर जयकुमार कहे जाते थे। काशीराज अकम्पनकी पुत्री सुलोचना जब विवाह योग्य हुई तो उसका स्वयंवर हुआ। उसमे जयकुमार और सम्राट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति भी उपस्थित हुए। सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारका वरण किया। इसे अर्ककीर्तिने अपना अपमान समझा। उसने जयकुमारसे घोर युद्ध किया। इस तरह सुलोचनाने पूर्वानुरागवश जयकुमारको विपत्तिमे डाला। इस तरह पूर्वानुरागविप्रलम्भ दु.खदायी है। दूसरा उदाहरण है सम्भोगशृंगारका। श्रीमती और वज्रजघ परस्परमे बड़े अनुरक्त थे। एक दिन वे दोनो शयनागारमे सोते थे। सुगन्धित धूप जल रही थी। द्वारपाल झरोखे खोलना भूल गया और दोनो दम घुटनेसे मर गये। इस तरह सम्भोग शृंगार दु.खदायी है। यह कथा महापुराणके नवम पर्वमे आयी है। तीसरा उदाहरण है सीताका। वनवासके समय जब लक्ष्मण राक्षसोंसे युद्ध करने गया था और मारीचने

आदिशब्दाद्दिव्यशुद्ध्युत्तरकाले रामस्यापमाननं तपस्यतश्चोपसर्गकरणम् । पति—अर्जुनम् । आस—चिक्षेप । आपदि—स्वयंवरामण्डपयुद्धादिव्यसनावर्ते । द्रौपदी—पञ्चालराजपुत्री ॥११२॥

अथ वल्लभाया दूरक्षत्व-शीलभङ्ग-सद्गुरुसगान्तरायहेतुत्व-परलोकोद्योग - प्रतिबन्धकत्वकथनद्वारेण मुमुक्षूणा प्रागेवापरिग्राह्यत्वमुपदिशति—

तैरश्चोऽपि वधूं प्रदूषयति पुंयोगस्तथेति प्रिया-
सामीप्याय तुजेऽप्यसूयति सदा तद्विप्लवे दूयते ।
तद्विप्रीतिभयान्न जातु सजति ज्यायोभिरिच्छन्नपि,
त्यक्तुं सद्म कुतोऽपि जीर्यतितरां तत्रैव तद्यन्त्रितः ॥११३॥

तथा सत्यं तेन वा प्रभञ्जनचरितादिप्रसिद्धेन प्रकारेण । तत्र हि राज्ञी मर्कटासक्ता श्रूयते । तुजे—पुत्राय । तद्विप्लवे—प्रियाशीलभङ्गे । सजति—सगं करोति । ज्यायोभिः—धर्माचार्यादिभि ॥११३॥

कपटसे हा राम, हा रामकी ध्वनि की तो सीताने घोर आग्रह करके रामको उसकी मददके लिए भेजा। पीछेसे रावणने उसका हरण किया। उसके वियोगमें रामने घोर कष्ट सहन किया। फिर सीताके विषयमे यह आशंका की गयी कि रावणके घरमे इतने लम्बे समय तक रहनेसे वह शीलवती कैसे हो सकती है। इससे भी रामचन्द्रको मार्मिक व्यथा हुई और उन्हें सीताकी अग्निपरीक्षा लेनी पड़ी। ये सब मान-प्रवास नामक विप्रलम्भके द्वारा दु.खोत्पत्तिके उदाहरण हैं। यह सब कथा पद्मपुराणमें वर्णित है। तथा पंचालदेशके राजा द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी तो प्रसिद्ध है। स्वयंवर मण्डपमें उसने अर्जुनके गलेमे वरमाला डाली तो वह टूटकर पाँचों पाण्डवोंपर गिरी। इससे यह अपवाद फैला कि उसने पाँचों पाण्डवोंको वरण किया है। वरणके बाद अर्जुनको स्वयंवर में आगत कौरव आदि राजाओंसे युद्ध करना पड़ा। जुएमें हार जानेपर कौरव सभामें द्रौपदीका चीर हरण किया गया। जो आगे महाभारतका कारण बना। यह सब कथा हरिवंशपुराणमे वर्णित है। यह पूर्वानुराग और प्रवास विप्रलम्भके द्वारा दुःखका उत्पादक दृष्टान्त है ॥११२॥

आगे बतलाते हैं कि स्त्रीकी रक्षा करना बहुत कठिन है, उनका यदि शील भंग हो जाये तो बड़ा कष्ट होता है, वे सद्गुरुओंकी संगतिमें बाधक हैं, उनसे परलोकके लिए उद्योग करनेमें रुकावट पड़ती है। अतः मुमुक्षुओंको पहले ही उनका पाणिग्रहण नहीं करना चाहिए—

दूसरोंकी तो बात ही क्या, पुत्र भी यदि प्रियाके निकट रहे तो उसपर भी दोषारोपण लोक करते हैं और यह उचित भी है क्योंकि तिर्यंच पुरुषका भी सम्बन्ध स्त्रीको दूषित कर देता है फिर मनुष्यका तो कहना ही क्या है। तथा अपनी पत्नीके शीलभंगकी बात भी सुनकर मनुष्यका मन सदा खेदखिन्न रहता है। स्त्रीसे प्रीति टूट जानेके भयसे मनुष्य धर्मगुरुओंके पास भी नहीं जाता। पुत्रमरण आदि किसी कारणसे घर छोड़ना चाहते हुए भी स्त्रीके बन्धनमे बँधा हुआ घरमे ही जराजीर्ण होता है—बूढ़ा होकर मर जाता है ॥११३॥

विशेषार्थ—कहावत प्रसिद्ध है कि विवाह ऐसा फल है कि जो खाता है वह पछताता है। नीतिशास्त्रमें भी कहा है कि रूपवती भार्या शत्रु है। जो लोग वृद्धावस्थामे विवाह करते हैं उन्हें अपनी नयी नवेलीमें अति आसक्ति होती है। फलत यदि उनका युवा पुत्र अपनी नयी माँसे अधिक प्रीति करता है तो उन्हें यह शंका सदा सताती रहती है कि कहीं

अथ पुत्रमोहान्धान् दूषयन्नाह—

यः पत्नीं गर्भभावात् प्रभृति विगुणयन् न्यक्करोति त्रिवर्गं,
प्रायो वप्तुः प्रतापं तरुणिमनि हिनस्त्याददानो धनं य । ३
मूर्खः पापो विपद्वानुपकृतिकृपणो वा भवन् यश्च शल्य-
त्यात्मा वै पुत्रनामास्ययमिति पशुभिर्युज्यते स्वेन सोऽपि ॥११४॥

विगुणयन्—सौष्ठव-सौन्दर्यादिगुणरहिता विकूला वा कुर्वन् । न्यक्करोति—ह्रासयति । यद्वृद्धाः— ६

'जाओ हरइ कलत्तं वड्ढतो वड्ढिमा हरइ ।
अत्थं हरइ समत्थो पुत्तसमो वैरिओ णत्थि ॥' [ ]

मूर्खं । यल्लोक — ९

'अजातमृतमूर्खेभ्यो मृताजातौ सुतौ वरम् ।
यतस्तौ स्वल्पदुःखाय यावज्जीव जडो भवेत् ॥' [ ]

पाप.—ब्रह्महत्या-परदारागमनादिपातकयुक्त । विपद्वान्—व्याधिवन्दिग्रहादि-विपत्तिपतित । १२
उपकृतिकृपण —असामर्थ्यादविवेकाद्वा अनुपकारक । आत्मेत्यादि । यज्जातकर्मणि पठन्ति—

'अङ्गादङ्गात्प्रभवसि हृदयादपि जायसे ।
आत्मा वै पुत्रनामासि सजीव शरद शतम् ॥' [ ] १५

वह मेरी पत्नीसे फँस न जाये । और ऐसी शका उचित भी है, क्योंकि पुरुपकी तो बात ही क्या, पशुका संसर्ग भी स्त्रीको बिगाडता है। प्रभंजन चरितमे एक रानीकी कथा वर्णित है जो बन्दरपर आसक्त थी। जो स्त्रियाँ कुत्ते पालती हैं उनके सम्बन्धमे भी ऐसा ही सुना जाता है। फिर अपनी स्त्रीके शीलभंगकी वात भी कोई कह दे तो बडा कष्ट होता है। स्त्रीके मोहवश ही मनुष्य साधु-सन्तोंके समागमसे डरता है। कभी सांसारिक कष्टोंसे घबराकर घर छोड़नेका विचार भी करता है किन्तु स्त्रीसे बँधकर घरमे ही वृद्ध होकर कालके गालमें चला जाता है। अत. मुमुक्षुओंको विवाह ही नहीं करना चाहिए यह उक्त कथनका सार है ॥११३॥

इस प्रकार स्त्रीके रागमें अन्धे हुए मनुष्योंकी बुराई वतलाकर अब पुत्रके मोहसे अन्धे हुए मनुष्योंकी बुराई वतलाते हैं—

जो गर्भभावसे लेकर पत्नीके स्वास्थ्य-सौन्दर्य आदि गुणोंको हरकर मनुष्यके धर्म, अर्थ और काममे कमी पैदा करता है, युवावस्थामें पिताके धनपर कब्जा करके प्राय. उसके प्रतापको नष्ट करता है, यदि वह मूर्ख या पापी हुआ अथवा किसी विपत्तिमें पड गया, या असमर्थ अथवा अविवेकी होनेसे माता-पिताके उपकारको भुला बैठा तो शरीरमें घुसी हुई कीलकी तरह कष्ट देता है। ऐसा भी पुत्र घरेलू व्यवहारमें विमूढ गृहस्थोंके द्वारा यह मेरा पुत्र नामधारी आत्मा है, इस प्रकार अपनेसे अभिन्न माना जाता है ॥११४॥

विशेपार्थ—माता-पिताके रज और वीर्यको आत्मसात् करनेवाले जीवको गर्भ कहते हैं और उसके भावको अर्थात् स्वरूपस्वीकारको गर्भभाव कहते हैं। पुत्रोत्पत्तिसे स्त्रीके स्वास्थ्य और सौन्दर्यमे कमी आ जाती है। साथ ही, स्त्री फिर पुत्रके मोहवश पतिसे उतनी प्रीति भी नहीं करती। फलतः पुरुपके भोगमे विघ्न पडने लगता है। युवा होनेपर पुत्र धनका मालिक वन बैठता है। कहा भी है—'उत्पन्न होते ही स्त्रीका, वडा होनेपर वडप्पनका और समर्थ होनेपर धनका हरण करता है। अत पुत्रके समान कोई वैरी नहीं है। यदि पुत्र पढा-लिखा नहीं या चोर, व्यभिचारी हुआ और जेलखानेमे वन्द हो गया या माता-पिताके

मनुस्त्विदमाह—

'पतिर्भार्यां सम्प्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते ।

३ जायायास्तद्धि जायत्वं यदस्यां जायते पुनः ॥' [मनुस्मृति ९।८]

पशुभिः—गृहव्यवहारमूढैः । युज्यते—अभेदेन दृश्यते ॥११४॥

अथ पुत्रे सांसिद्धिकौपाधिकभ्रान्त्यपसारणेन परमार्थवर्त्मनि शिवार्थिनं स्थापयितुमाह—

६ यो वामस्य विधेः प्रतिष्कशतयाऽऽस्कन्दन् पितॄञ्जीवतो-

ऽप्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्यति मृतान् पिण्डप्रदाद्यैः किल ।

इत्येषा जनुषान्धतार्य सहजाहार्याथ हार्या त्वया,

९ स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोद्धर्ता सदेत्येव दृक् ॥११५॥

वामस्य विधेः—बाधकस्य दैवस्य शास्त्रविरुद्धस्याचारस्य वा । प्रतिष्कशतया—सहकारिभावेन । आस्कन्दन्—दुष्कृतोदीरणतीव्रमोहोत्पादनद्वारेण कदर्थयन् । पुत्रो ह्यविनीतो दुःखदानोन्मुखस्य दुष्कृतस्यो-

१२ दीरणाया निमित्तं स्यात् । विनीतोऽपि स्वविषयमोहग्रहावेशनेन परलोकविरुद्धाचरणविधानस्य । उन्मथ्नाति—

उपकारको भूलकर उन्हें सताने लगा तो रात-दिन हृदयमें काँटेकी तरह करकता रहता है।' और भी कहा है—'अजात (पैदा नहीं हुआ), मर गया और मूर्ख इन तीनोंमें-से मृत और अजात पुत्र श्रेष्ठ हैं क्योंकि वे तो थोड़ा ही दुःख देते हैं किन्तु मूर्ख पुत्र जीवन-भर दुःख देता है।'

इस तरह पुत्र दुःखदायक ही होता है फिर भी मोही माता-पिता उसे अपना ही प्रतिरूप मानते हैं। कहते हैं, मेरी ही आत्माने पुत्र नामसे जन्म लिया है। मनु महाराजने कहा है—'पति भार्यामें सम्यक् रूपसे प्रवेश करके गर्भरूप होकर इस लोकमें जन्म लेता है। स्त्रीको जाया कहते हैं। जायाका यही जायापना है कि उसमें वह पुनः जन्म लेता है' ॥११४॥

आगे इस प्रकार पुत्रके विषयमें स्वाभाविक और औपाधिक भ्रान्तियोंको दूर करके मुमुक्षुओंको मोक्षमार्गमें स्थापित करते हैं—

जो पुत्र प्रतिकूल विधि अथवा शास्त्र विरुद्ध आचारका सहायक होता हुआ पाप-कर्मकी उदीरणा या तीव्र मोहको उत्पन्न करके जीवित पिता-दादा आदिके भी प्राणोंका घात करता है, उनकी अन्तरात्माको कष्ट पहुँचाता है या उन्हें अत्यन्त मोही बनाकर धर्मकर्ममें लगने नहीं देता, वह पुत्र मरे हुए पितरोंको पिण्डदान करके तर्पण करेगा, यह स्वाभाविक या परोपदेशसे उत्पन्न हुई जन्मान्धताको हे आर्य ! तू छोड़ दे। और सम्यक्विहित आचारके द्वारा संसार-समुद्रसे उद्धार करनेवाला मेरा आत्मा ही मेरा आत्मज है—पुत्र है इस प्रकारकी दृष्टिको सदा उज्ज्वल बना ॥११५॥

विशेषार्थ—पुत्र यदि अविनीत होता है तो पापकर्मकी उदीरणामें निमित्त होता है क्योंकि पापकर्मके उदयसे ही इस प्रकारका पुत्र उत्पन्न होता है जो माता-पिताकी अवज्ञा करके उन्हें कष्ट देता है। और यदि पुत्र विनयी, आज्ञाकारी होता है तो उसके मोहमें पड़कर माता-पिता धर्म-कर्मको भी भुला बैठते हैं। इस तरह दोनों ही प्रकारके पुत्र अपने पूर्वजोंके प्राणोंको कष्ट पहुँचाते हैं। फिर भी हिन्दू धर्ममें कहा है कि जिसके पुत्र नहीं होता उसकी गति नहीं होती। वह प्रेतयोनिमें ही पड़ा रहता है। प्रेतयोनिसे तभी निकास होता है जब पुत्र पिण्डदान करता है। उसीको लक्ष्यमें रखकर ग्रन्थकार कहते हैं कि जो पुत्र जीवित

शुद्धचैतन्यलक्षणै. प्राणैर्वियोजयति । मृतान्—पञ्चत्वमापन्नान् । पिण्डप्रदाद्यैः—पिण्डप्रदान-जलतर्पण-ऋणशोधनादिभि । जनुषान्धता—जात्यन्धत्वम् । सुविधिना—सम्यग्विहिताचरणेन ॥११५॥

अथ पुत्रिकामूढात्मना स्वार्थभ्रंशं सखेदमावेदयति—

मात्रादीनामदृष्टद्रुघणहतिरिवाभाति यज्जन्मवार्ता
सौस्थ्यं यत्संप्रदाने क्वचिदपि न भवत्यन्वहं दुर्भगेव ।
या दुःशीलाऽफला वा स्खलति हृदि मृते विप्लुते वा धवेऽन्त-
र्या दन्दग्धीह मुग्धा दुहितरि सुतवद् घ्नन्ति धिक् स्वार्थमन्धा ॥११६॥

द्रुघण —मुद्गर. । अफला—निरपत्या । विप्लुते—पुरुपार्थसाधनसामर्थ्यपरिभ्रष्टे । दन्दग्धि—गर्हितं दहति ॥११६॥

अवस्थामे ही अपने पिता आदिको कष्ट पहुँचाता है। वह मरने पर पिण्डदान करके हमारा उद्धार करेगा यह जो मिथ्या धारणा है चाहे वह कुलागत हो या किसीके उपदेशसे हुई हो उसे तो छोड दे। क्योंकि किसीके पिण्डदानसे मरे हुए का उद्धार कैसे हो सकता है। कहा भी है—'यदि ब्राह्मणों और कौओंके द्वारा खाया गया अन्न परलोकमे पितरोंको तृप्त करता है तो उन पितरोंने पूर्व जन्ममे जो शुभ या अशुभ कर्म किये थे वे तो व्यर्थ ही हुए कहलाये।'

अत' इस मिथ्याविश्वासको छोडकर सदा यही दृष्टि बनानी चाहिए कि आत्माका सच्चा पुत्र यह आत्मा ही है क्योंकि यह आत्मा ही सम्यक् आचरणके द्वारा संसार-समुद्रसे अपना उद्धार करनेमे समर्थ है। दूसरा कोई भी इसका उद्धार नहीं कर सकता ॥११५॥

जो पुत्रियोंके मोहसे मूढ बने हुए हैं उनके भी स्वार्थके नाशको खेद सहित बतलाते हैं—

जिसके जन्मकी बात माता-पिता आदिके लिए अचानक हुए मुद्गरके आघातकी तरह लगती है, जिसके वरके विषयमें माता आदिका चित्त कहीं भी चैन नहीं पाता, विवाहनेपर यदि उसके सन्तान न हुई या वह दुराचारिणी हुई तो भर्ताको अप्रिय—अभागिनीकी तरह माता आदिके हृदयमे रात-दिन कष्ट देती है, यदि पति मर गया या परदेश चला गया अथवा नपुंसक हुआ तो माता आदिके अन्तःकरणको जलाया करती है। ऐसी दु.खदायक पुत्रीमे पुत्रकी तरह मोह करनेवाले अन्धे मनुष्य स्वार्थका घात करते हैं यह बड़े खेदकी बात है ॥११६॥

विशेपार्थ—'पुत्री उत्पन्न हुई है' यह सुनते ही माता-पिता दुःखसे भर उठते हैं, जब वह विवाह योग्य होती है तो उसके लिए वरकी खोज होती है। वरके कुल, शील, सम्पत्तिकी चर्चा चलनेपर माता-पिताको कहीं भी यह सन्तोप नहीं होता कि हम अपनी कन्या योग्य वरको दे रहे हैं। उसके बाद भी यदि कन्या दुराचारिणी हुई या उसके सन्तान नहीं हुई, या पतिने उसको त्याग दिया, या पतिका मरण हो गया अथवा वह छोडकर चला गया तब भी माता-पिताको रात-दिन कष्ट रहता है। अतः पुत्रकी तरह पुत्री भी दुःखकी खान है ॥११६॥

---

१ द्विजैश्च काकैर्यदि भुक्तमन्नं मृतान् पितॄन् स्तर्पयते परत्र ।
पुरार्जितं तत्पितृभिर्विनष्टं शुभाशुभं तेन हि कारणेन ॥—वराङ्गचरित २५।६४ ।

अथ पितृमातृज्ञातीनामपकारकत्वं वक्रभणित्या निन्दन् दुष्कृतनिर्जरणहेतुत्वेनोपकारकत्वादरातीनभिनन्दति—

३ बीजं दुःखैकबीजे वपुषि भवति यस्तर्षसन्तानतन्त्र-
स्तस्यैवाधानरक्षाद्युपधिषु यतते तन्वती या च मायाम् ।
भद्रं ताभ्यां पितृभ्यां भवतु ममतया मद्यवद् घूर्णयद्भ्यः,
६ स्वान्तं स्वेभ्यस्तु बद्धोऽञ्जलिरयमरयः पापदारा वरं मे ॥११७॥

आधानरक्षाद्युपधिषु—गर्भाधानपालनवर्द्धनाद्युपकरणेषु । माया—संवृतिं मिथ्यामोहजालम् । घूर्णयद्भ्यः—हिताहितविचारविलोपकरविकलत्वं कुर्वद्भ्यः । स्वेभ्यः—बन्धुभ्यः । पापदाराः—अपकार-
९ करणद्वारेण पातकान्मोचयन्तः । मुमुक्षोरात्मभावनोपदेशोऽयम् ॥११७॥

अथ पृथग्जनानां मित्रत्वमधर्मपरत्वादपवदति—

अधर्मकर्मण्युपकारिणो ये प्रायो जनानां सुहृदो मतास्ते ।
१२ स्वान्तर्बहिःसन्ततिकृष्णवर्त्मन्यरंस्त कृष्णे खलु धर्मपुत्रः ॥११८॥

स्वेत्यादि । स्वान्तःसन्ततौ—निजात्मनि, कृष्णस्य—पापस्य, वर्त्म—मार्गः प्राप्त्युपाय इत्यर्थः । कृष्णशब्देन च साङ्ख्याः पापमाहुः । तथाहि तत्सूत्रम्—'प्रधानपरिणामः शुक्लं कृष्णं च कर्मेति ।' तथा स्वबहिः
१५ सन्ततौ—निजवंशे कृष्णवर्त्मा वह्निः कौरवसंहारकारकत्वात् । अरंस्त—प्रीतिमकार्षीत् ॥११८॥

अथ ऐहिकार्थसहकारिणां मोहावहत्वात्त्याज्यत्वमुपदर्शयन्नामुत्रिकार्थसुहृदामधरतनभूमिकायामेवानुपालनीयत्वमभिधत्ते—

पिता-माता आदि बन्धु-बान्धव अपकारक हैं अतः वक्रोक्तिके द्वारा उनकी निन्दा करते हैं और पापकर्मोंकी निर्जराका कारण होनेसे शत्रु उपकारक हैं अतः उनका अभिनन्दन करते हैं—

जो तृष्णाकी अविच्छिन्न धाराके अधीन होकर दुःखोंके प्रधान कारण शरीरका बीज है उस पिताका कल्याण हो। जो मिथ्या मोहजालको विस्तारती हुई उसी शरीरके गर्भाधान, पालन, वर्धन आदि उपकरणोंमें प्रयत्नशील रहती है उस माताका भी कल्याण हो। अर्थात् पुनः मुझे माता-पिताकी प्राप्ति न होवे क्योंकि वे ही इस शरीरके मूल कारण हैं और शरीर दुःखोंका प्रधान कारण है। तब बन्धु-बान्धवोंमें तो उक्त दोष नहीं हैं? तो कहता है—ममताके द्वारा मदिराकी तरह मनको हित-अहितके विचारसे शून्य करके व्याकुल करनेवाले बन्धु-बान्धवोंको तो मैं दूरसे ही हाथ जोड़ता हूँ। इनसे तो मेरे शत्रु ही भले हैं जो अपकार करके मुझे पापोंसे छुटकारा दिलाते हैं ॥११७॥

विशेषार्थ—यह मुमुक्षुके लिए आत्मतत्त्वकी भावनाका उपदेश है ॥११७॥

नीच या मूर्ख लोगोंकी मित्रता अधर्मकी ओर ले जाती है अतः उसकी निन्दा करते हैं—

प्रायः लोगोंके ऐसे ही मित्र हुआ करते हैं जो पापकर्ममें सहायक हैं क्योंकि धर्मपुत्र युधिष्ठिरने ऐसे कृष्णसे प्रीति की जो उसकी अन्तःसन्तति अर्थात् आत्माके लिए पापकी प्राप्तिका उपाय बना। और बहिःसन्तति अर्थात् अपने वंशके लिए अग्नि प्रमाणित हुआ क्योंकि उसीके कारण कौरवोंका संहार हुआ ॥११८॥

आगे कहते हैं कि जो इस लोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं वे मोहको बढ़ानेवाले

निश्छद्म मेद्यति विपद्यपि संपदीव यः सोऽपि मित्रमिह मोहयतीति हेयः ।
श्रेयः परत्र तु विबोधयतीति तावच्छक्यो न यावदसितुं सकलोऽपि सङ्गः ॥११९॥

मेद्यति—स्निह्यति । असितु—त्यक्तुम् । उक्तं च—

'सगः सर्वात्मना त्याज्यो मुनिभिर्मोक्तुमिच्छुभिः ।
स चेत्त्यक्तुं न शक्येत कार्यस्तर्ह्यात्मदर्शिभिः ॥' [ ]

अपि च—

'सगः सर्वात्मना त्याज्य. स चेत्त्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सन्तः सगस्य भेषजम् ॥' [ ] ॥११९॥

अथ अत्यन्तभक्तिमतोऽपि भृत्यस्याकृत्यप्रधानत्वादनुपादेयता लक्षयति—

योऽतिभक्ततयात्मेति कार्यिभिः कल्प्यतेऽङ्गवत् ।
सोऽप्यकृत्येऽग्रणीर्भृत्यः स्याद्रामस्याञ्जनेयवत् ॥१२०॥

कार्यिभिः—स्वार्थपरे । आञ्जनेयवत्—हनूमानिव ॥१२०॥

अथ दासीदासस्य स्वीकारो मनस्तापाय स्यादित्याह—

अतिसंस्तवधृष्टत्वादनिष्टे जाघटीति यत् ।
तद्दासीदासमृक्षीव कर्णात्ताः कस्य शान्तये ॥१२१॥

जाघटीति—भृशं पुनः पुनर्वा चेष्टते ॥१२१॥

होनेसे छोडने योग्य हैं और जो परलोक सम्बन्धी कार्योंमें सहायक हैं, नीचेकी भूमिकामे ही उनका अनुसरण करना चाहिए—

जो निश्छल भावसे सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमे भी स्नेह करता है ऐसा भी मित्र इस जन्ममे हेय है—छोड़ने योग्य है क्योंकि वह मोह उत्पन्न करता है। किन्तु जबतक समस्त परिग्रह छोडनेकी सामर्थ्य नहीं है तब तक परलोकके विषयमे ऐसे मित्रका आश्रय लेना चाहिए जो आत्मा और शरीरके भेदज्ञानरूप विशिष्ट बोधको कराता है ॥११९॥

विशेषार्थ—कहा भी है—'मुक्तिके इच्छुक मुनियोंको सर्वरूपसे परिग्रहका त्याग करना चाहिए। यदि उसका छोडना शक्य न हो तो आत्मदर्शी महर्षियोंकी संगति करना चाहिए।' तथा—सर्वरूपसे परिग्रहको छोडना चाहिए। यदि उसका छोड़ना शक्य न हो तो सज्जन पुरुषोंकी संगति करना चाहिए। क्योकि सन्त पुरुष परिग्रहकी औषधि है ॥११९॥

अत्यन्त भक्तियुक्त भी सेवक अकृत्य करनेमे अगुआ हो जाता है अतः वह भी उपादेय नहीं है—

जैसे बाह्यदृष्टि मनुष्य अत्यन्त सम्बद्ध होनेसे शरीरमें 'यह मैं हूँ' ऐसी कल्पना करते हैं उसी तरह स्वार्थमे तत्पर मनुष्य अपनेमे अत्यन्त अनुरक्त होनेसे जिसे 'यह मै हूँ' ऐसा मानते हैं, वह भृत्य भी रामचन्द्रके सेवक हनुमान्की तरह हिंसादि कार्योंमे अगुआ हो जाता है। अतः सेवक नामक चेतन परिग्रह भी त्याज्य है ॥१२०॥

आगे कहते हैं कि दासी-दासको रखना भी मनके लिए सन्तापकारक होता है—

जैसे स्त्री भालुसे इतना घनिष्ठ परिचय हो जानेपर भी कि उसका कान पकड़ लिया जाये, वह कभी भी निश्चिन्तता प्रदान नहीं करती उससे सावधान ही रहना पडता है। उसी

---

१ त्याज्य एवाखिल सङ्गो मुनिभिः—ज्ञानार्णव १३।८ ।

अथ शिष्यशासनेऽपि क्वचित् क्रोधोद्भवं भवति—

य: शिष्यते हितं शश्वदन्तेवासी सुपुत्रवत् ।
सोऽप्यन्तेवासिनं कोपं छोपयत्यन्तरान्तरा ॥१२२॥

३ अन्तेवासी—शिष्यः। अन्तेवासिनं—चण्डालम्। साधुजनानामस्पृश्यत्वात्। छोपयति—स्पर्शयति ॥१२२॥

६ अथ चतुष्पदपरिग्रहं प्रतिक्षिपति—

द्विपदैरप्यसत्संगश्चेत् किं तर्हि चतुष्पदैः ।
तिक्तमप्यामसन्नाग्नेर्नायुष्यं किं पुनर्घृतम् ॥१२३॥

तरह अत्यन्त परिचयके कारण सिरचढ़े जो दासी-दास स्वामीके अनिष्ट करनेमें लगे रहते हैं वे किसके लिए शान्तिदाता हो सकते हैं ॥१२१॥

विशेषार्थ—भृत्यमें और दासी-दासमें अन्तर है। जो काम करनेका वेतन पाता है वह भृत्य है। भृतिका अर्थ है 'कामका मूल्य'। और जो पैसा देकर खरीद लिया जाता है वह दास या दासी कहाता है। परिग्रह परिमाण व्रतके अतिचारोमे वास्तु, खेत आदिके साथ जो दासी-दास दिये हैं वे खरीदे हुए गुलाम ही हैं। पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें दासका अर्थ 'क्रयक्रीतः कर्मकरः' अर्थात् मूल्य देकर खरीदा गया कर्मचारी किया है। स्व. श्री नाथूरामजी प्रेमीने 'जैन साहित्य और इतिहास'के द्वितीय संस्करण, पृ. ५१० आदिमे परिग्रह परिमाण व्रतके दास-दासीपर विस्तारसे प्रकाश डाला है। भगवती आराधनामें (गा. ११६२) सचित्त परिग्रहके दोष बतलाये हैं। उसकी विजयोदया टीकामें 'सचित्ता पुण गंथा'का अर्थ 'दासीदासगोमहिष्यादयः' किया है। अर्थात् दासी-दासकी भी वही स्थिति थी जो गौ-भैंस आदिकी है। उन्हें गाय-भैंसकी तरह बाजारोमें बेचा जाता था। उनसे उत्पन्न सन्तानपर भी मालिकका ही अधिकार रहता था। इस प्रथाका अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन अमेरिकी लेखककी पुस्तक 'अंकिल टामस् केबिन'मे चित्रित है। पढकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कोई अहिंसाका एकदेश व्रती भी मानवके साथ पशु-जैसा व्यवहार कैसे कर सकता है? अब तो यह प्रथा सभ्य देशोंसे उठ गयी है किन्तु इससे घृणित व्यवहार शायद ही दूसरा रहा हो। पशुओंकी तरह खरीदे गये दास-दासियोकी परिग्रहमें गणना भी आपत्तिजनक प्रतीत होती है ॥१२१॥

आगे कहते है कि शिष्योंपर अनुशासन करनेमें भी कभी-कभी क्रोध उत्पन्न हो आता है—

जिस शिष्यको गुरुजन सुपुत्रकी तरह रात-दिन हितकी शिक्षा देते है, वह भी बीच-बीचमे चाण्डालके तुल्य क्रोधका स्पर्श करा देता है ॥१२२॥

विशेषार्थ—शिष्यको शिक्षण देते समय यदि शिष्य नहीं समझता या तदनुसार आचरण नहीं करता तो गुरुको भी क्रोध हो आता है। इससे आशय यह है कि मुमुक्षुको शिष्योंका भी संग्रह नहीं करना चाहिए ॥१२२॥

आगे चतुष्पद परिग्रहका निषेध करते हैं—

यदि दो पैरवाले मनुष्य आदिका संग बुरा है तो चार पैरवाले हाथी-घोडोके संगका तो कहना ही क्या है। आँवके कारण जिसकी उदराग्नि मन्द पड़ गयी है उसके लिए यदि

तिक्तं—भूनिम्बनिम्बादिप्रायमौषधम् । सन्नः—अभिभूत. ।

तथा चोक्तम्—

'तीव्रार्तिरपि नाजीर्णी[1] पिबेच्छूलघ्नमौषधम् । ३
आमसन्नो नलो नालं पक्तुं दोषौषधाशनम् ॥' [ ]

अपि च—

'सप्ताहादौषधं केचिदाहुरन्ये दशाहतः । ६
केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमानोल्वणे तु[2] न ॥' [ ]

एतेन द्विपदसंगाच्चतुष्पदसंगस्य बहुतरापायत्वं समर्थितम् ॥१२३॥

अथाचेतनसंगाच्चेतनसंगस्य बाधाकरत्वमाचष्टे— ९

यौनमौखादिसंबन्धद्वारेणाविश्य मानसम् ।
यथा परिग्रहश्चित्वान् मथ्नाति न तथेतर. ॥१२४॥

यौन —योनेरागत. सोदरादिसंबन्ध । मौख.—मुखादागत' शिष्यादिसंबन्ध । आदिशब्दात् १२ जन्यजनकत्व-पोष्यपोषकत्व-भोग्यभोक्तृभावादिसंबन्धा यथास्वमवसेयाः । चित्वान्—चेतनावान् । मथ्नाति—व्यथयति ॥१२४॥

अथ पञ्चदशभि पद्यैरचेतनपरिग्रहस्य दोषानुद्भावयति— १५

नीम चिरायता आदि कटु औषधि स्वास्थ्यकर नहीं हो सकती तो फिर घीकी तो बात ही क्या है ? ॥१२३॥

विशेषार्थ—द्विपदोंके संगसे चौपायोका संग ज्यादा कष्टदायक होता है, क्योंकि जब दो पैरवाला कष्टदायक है तो चार पैरवाला तो उससे दूना कष्टदायक होगा। दृष्टान्त दिया है आमरोगीका। जब पेटमें रसका परिपाक ठीक नहीं होता तो उदराग्नि मन्द होती जाती है। कटुक औषधि स्वभावसे ही ऑवके लिए पाचक होती है। किन्तु जिस ऑवरोगीको कटु औषधि भी अनुकूल नहीं पड़ती उसके लिए घी कैसे पथ्य हो सकता है ? घी तो चिक्कण और शीतल होनेसे आँवको बढाता है। अत. जब दोपाया ही कष्टकर है तब चौपायेका तो कहना ही क्या ? ॥१२३॥

आगे कहते हैं कि अचेतन परिग्रहसे चेतन परिग्रह अधिक कष्टकर है—

योनि और मुख आदिकी अपेक्षासे होनेवाले सम्बन्धोंके द्वारा गाढरूपसे प्रविष्ट होकर चेतन परिग्रह मनुष्यके मनको जैसा कष्ट देती है वैसा कष्ट अचेतन परिग्रह नहीं देती ॥१२४॥

विशेषार्थ—अचेतन परिग्रहके साथ तो मनुष्यका केवल स्वामित्व सम्बन्ध रहता है किन्तु सहोदर भाई-बहनके साथ यौन सम्बन्ध होता है और गुरु-शिष्य आदिका मौखिक सम्बन्ध होता है। इसी तरह पिता-पुत्रका जन्य-जनक सम्बन्ध होता है, पति-पत्नीका भोग्य-भोक्तृत्व सम्बन्ध होता है। ये सब सम्बन्ध अधिक अनुरागके कारण होनेसे अधिक कष्टदायक भी होते है। इसीसे ग्रन्थकारने चेतन परिग्रहके पश्चात् अचेतन परिग्रहका कथन किया है ॥१२४॥

आगे दस श्लोकोंसे अचेतन परिग्रहके दोष बतलानेकी भावनासे प्रथम ही घरके दोष बतलाते हैं क्योंकि घर ही दोषोंका घर है—

---

1. जीर्णी भ कु च. ।
2. णेन तु भ कु. च ।

पञ्चशूनाद् गृहाच्छून्यं वरं संवेगिनां वनम् ।
पूर्वं हि लब्धलोपार्थमलब्धप्राप्तये परम् ॥१२५॥

३ पञ्चसूनात्—

'कुण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भः प्रमार्जनी ।
पञ्चशूना गृहस्थस्य तेन मोक्ष न गच्छति ॥' [ ]

६ लब्धः—प्रक्रमात् सवेग । अलब्ध—शुद्धात्मतत्त्वम् । कदाचिदप्यप्राप्तपूर्वकत्वात् ॥१२५॥

अथ गृहकार्यव्यासक्ताना दु खसातत्यमनुशोचति—

विवेकशक्तिवैकल्याद् गृहद्वन्द्वनिषद्वरे ।
९ मग्न. सीदत्यहो लोकः शोकहर्षभ्रमाकुलः ॥१२६॥

विवेक—हिताहितविवेचन विश्लेषणं च । निषद्वरः—कर्दम । भ्रमः—पर्ययेण वृत्तिर्भ्रान्तिर्वा ।
तदुक्तम्—

१२ 'रतेररतिमायातः पुना रतिमुपागतः ।
तृतीयं पदमप्राप्य बालिशो वत् सीदति ॥' [आत्मानु २३२ ।]

तथा—

१५ वासनामात्रमेवैतत्सुख दु.ख च देहिनाम् ।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि ॥ [इष्टोप. ६ ।] ॥१२६॥

शूनका अर्थ है वधस्थान। घरमे पाँच वधस्थान हैं। अत. पाँच वधस्थानवाले घरसे ससारसे भीरुओके लिए एकान्त वन श्रेष्ठ है। क्योकि घरमें तो जो प्राप्त है उसका भी लोप हो जाता है और वनमे जो पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ उस शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति होती है ॥१२५॥

विशेषार्थ—उखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घड़ा और बुहारी इन पाँचके बिना घरका काम नहीं चलता। जो घरमे रहेगा उसे कूटना, पीसना, आग जलाना, पानी भरना और झाड़ू लगाना अवश्य पड़ेगा। और ये पाँचों ही जीवहिंसाके स्थान है अतः घरको पाँच वधस्थानवाला कहा है। यथा—'ओखली, चक्की, चूला, जल भरनेका घट और बुहारू ये पाँच शूना गृहस्थके है। इसीसे गृहस्थ दशामे मोक्ष नहीं होता'। अतः घरसे श्रेष्ठ एकान्त वन है। घरमे तो जो कुछ धर्म-कर्म प्राप्त है वह भी छूट जाता है किन्तु वनमें जाकर आत्मध्यान करनेसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ॥१२५॥

जो गृहकार्यमे विशेषरूपसे आसक्त रहते है वे निरन्तर दु:खी रहते है। अत. उनके प्रति शोक प्रकट करते हैं—

खेद है कि हित-अहितका विवेचन करनेकी शक्तिके न होनेसे शोक और हर्षके भ्रमसे व्याकुल हुआ मूढ मनुष्य घरकी आसक्तिरूपी कीचड़मे फँसकर कष्ट उठाता है ॥१२६॥

विशेषार्थ—जैसे कीचड़मे फँसा मनुष्य उसमे-से निकलनेमे असमर्थ होकर दुःख उठाता है, उसी तरह घरके पचड़ोंमें फँसा हुआ मनुष्य भी हित और अहितका विचार करनेमे असमर्थ होकर दु.ख उठाता है। गृहस्थाश्रममे हर्ष और शोकका या सुख-दुःखका चक्र चला करता है। कहा है—'खेद है कि मूर्ख मनुष्य रतिसे अरतिकी ओर आता है और पुन रतिकी ओर जाता है। इस तरह तीसरा पद रति और अरतिके अभावरूप परम उदासीनताको प्राप्त न करके कष्ट उठाता है।'

अथ क्षेत्रपरिग्रहदोषमाह—

क्षेत्रं क्षेत्रभृतां क्षेममाक्षैत्रज्ञ्यं मृषा न चेत् ।
अन्यथा दुर्गतेः पन्था बह्वारम्भानुबन्धनात् ॥१२७॥ ३

क्षेत्र—सस्याद्युत्पत्तिस्थानम् । क्षेत्रभृता—देहिनाम् । क्षेमम्—ऐहिकसुखसंपादकत्वात् । आक्षैत्रज्ञ्य—नैरात्म्य बौद्धैश्चार्वाकैश्च जल्पितम् । अन्यथा—नैरात्म्य मिथ्या चेद् जीवो यद्यस्तीति भाव. ॥१२७॥

अथ कुप्यादिपरिग्रहस्यौद्धत्याशानुबन्धनिबन्धनत्वमभिधत्ते— ६

यः कुप्य-धान्य-शयनासन-यान-भाण्ड-
काण्डैकडम्बरिततान्डवकर्मकाण्ड. ।
वैतण्डिको भवति पुण्यजनेश्वरेऽपि, ९
तं मानसोर्मिजटिलोज्झति नोत्तराशा ॥१२८॥

वास्तवमे सासारिक सुख तो एक भ्रम मात्र है। संसार और सुख ये दोनों एक तरहसे परस्पर विरोधी हैं। कहा है—'प्राणियोंका यह सुख और दु ख केवल वासनामात्र है, जैसे आपत्तिकालमे रोग चित्तमे उद्वेग पैदा करते हैं वैसे ही भोग भी उद्वेग पैदा करनेवाले हैं।' ॥१२६॥

क्षेत्र परिग्रहके दोष बतलाते हैं—

यदि बौद्धदर्शनका नैरात्म्यवाद और चार्वाकका मत मिथ्या नहीं है अर्थात् आत्मा और परलोकका अभाव है तब तो प्राणियोंके लिए क्षेत्र (खेत) इस लोक सम्बन्धी सुख देनेवाला होनेसे कल्याणरूप है। और यदि आत्मा और परलोक हैं तो क्षेत्र नरकादि दुर्गतियोंका मार्ग है, क्योंकि बहुत आरम्भकी परम्पराका कारण है ॥१२७॥

विशेषार्थ—क्षेत्रका अर्थ है खेत, जहाँसे अनाज पैदा होता है। किन्तु साख्य दर्शनमें क्षेत्रका अर्थ शरीर है और क्षेत्रज्ञका अर्थ होता है आत्मा, जो क्षेत्र अर्थात् शरीरको जानता है। तथा 'क्षेत्रभृत्' का अर्थ होता है क्षेत्र अर्थात् शरीरको धारण करनेवाला प्राणी। अत. अक्षेत्रज्ञका अर्थ होता है क्षेत्रज्ञ नहीं अर्थात् आत्माका अभाव या ईषत् क्षेत्रज्ञ। बौद्ध दर्शन नैरात्म्यवादी है। वह आत्माको नहीं मानता और चार्वाक गर्भसे लेकर मरण पर्यन्त ही मानता है यह बात दृष्टिमे रखकर ग्रन्थकार कहते हैं—यदि ये दोनों मत सच्चे हैं तब तो खेत कल्याणकारी है। उसमें अन्नादि उत्पन्न करके लोग जीवन पर्यन्त जीवन-यापन करेंगे और मरने पर जीवनके साथ सब कुछ समाप्त हो जायेगा। पुण्य और पापका कोई प्रश्न ही नहीं। किन्तु यदि ये दोनों हैं तब तो खेती करनेमे जो छह कायके जीवोंका घात होता है—खेतको जोतने, सींचने, बोने, काटने आदिमे हिंसा होती है उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा। क्योंकि बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह नरकायुके बन्धका कारण है ॥१२७॥

आगे कहते हैं कि कुप्य आदि परिग्रह मनुष्यको उद्धत बनाते हैं और नाना प्रकारकी आशाओंकी परम्पराको जन्म देते हैं—

कुप्य-वस्त्रादि द्रव्य, धान्य, शय्या, आसन, सवारी और भाण्ड-हींग आदिके समूहसे नर्तनपूर्ण क्रिया कलापको अत्यधिक बढानेवाला जो व्यक्ति कुबेर पर भी हँसता है उसे मानसिक विकल्प जालसे उलझी हुई उत्कृष्ट आशा नहीं छोड़ती ॥१२८॥

कुप्य—हेमरूप्यवर्ज्यधातुरथवस्त्रादिद्रव्यम् । यान—शिविकाविमानादि । भाण्डं—हिंगुं मंजिष्ठादि । काण्डं—समूह । ताण्डवकर्मकाण्ड.—वैचित्र्यमत्र नेयम् । वैतण्डिकः—उपहासपरः । पुण्यजनेश्वरे—
३ कुबेरे शिष्टप्रधाने च । मानसोर्मयः—चित्तविकल्पा दिव्यसरस्तरङ्गाश्च । उत्तराशा—उत्कृष्टाकाक्षा उदीची दिक् च ॥१२८॥

अथ धनगृध्नोर्महापापप्रवृत्ति प्रववित—

६ **जन्तून् हन्त्याह मृषा चरति चुरां ग्राम्यधर्ममाद्रियते ।**
खादत्यखाद्यमपि धिक् धनं धनायन् पिवत्यपेयमपि ॥१२९॥

ग्राम्यधर्मं—मैथुनम् । धन—ग्रामसुवर्णादि । धनायन्—अभिकाक्षन् ॥१२९॥

९ अथ भूमिलुब्धस्यापायावद्ये दृष्टान्तेन स्फुटयति—

तत्तादृक्साम्राज्यश्रियं भजन्नपि महीलवं लिप्सुः ।
भरतोऽवरजेन जितो दुरभिनिविष्टः सतामिष्टः ॥१३०॥

१२ अवरजेन—बाहुवलिकुमारेण । दुरभिनिविष्टः—नीतिपथमनागतस्य पराभिभवपरिणामेन कार्यस्यारम्भो दुरभिनिवेशस्तमापन्न ॥१३०॥

विशेषार्थ—जिसके पास उक्त प्रकारकी परिग्रहका अत्यधिक संचय हो जाता है उसका कारभार बहुत बढ जाता है और उसीमे वह रात दिन नाचता फिरता है। उसका अहंकार इतना बढ जाता है कि वह कुबेरको भी तुच्छ मानता है। कुबेर उत्तर दिशाका स्वामी माना जाता है। उत्तर दिशामे कैलास पर्वतको घेरे हुए मान सरोवर है। जो धनपति कुबेरको भी हीन मानता है, उसे मानसरोवरकी तरंगोंमें जटिल उत्तर दिशा नहीं छोड़ती अर्थात् वह उत्तर दिशा पर भी अधिकार करना चाहता है। इसी प्रकार परिग्रही मनुष्यको भी उत्तराशा-भविष्यकी बडी-बडी आशाएँ नहीं छोड़तीं, रातदिन उन्हींमें डूबा रहता है ॥१२८॥

आगे कहते हैं कि धनका लोभी महापाप करता है—

धनका लोभी प्राणियोंका घात करता है, झूठ बोलता है, चोरी करता है, मैथुन करता है, न खाने योग्य वस्तुओंको भी खाता है, न पीने योग्य मदिरा आदिको पीता है। अतः धनके लोभीको धिक्कार है ॥२९॥

भूमिके लोभी मनुष्यके दुःखदायी और निन्दनीय कार्योंको दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—

उस प्रसिद्ध लोकोत्तर साम्राज्य लक्ष्मीको भोगते हुए भी भरत चक्रवर्तीने भूमिके एक छोटेसे भाग सुरम्यदेशको लेना चाहा तो उस देशके स्वामी अपने ही छोटे भाई बाहुवलिसे युद्धमे पराजित हुआ और सज्जनोंने उसे भरतका दुरभिनिवेश कहा ॥१३०॥

विशेषार्थ—प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेवके एक सौ पुत्रोंमे चक्रवर्ती भरत सबसे बड़े थे और बाहुवली उनसे छोटे थे। भगवान् जब प्रव्रजित हो गये तो भरत अयोध्याके स्वामी बने और फिर भरतके छह खण्डोंको जीतकर चक्रवर्ती बने। जब वह दिग्विजय करके अयोध्यामे प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न रुक गया। निमित्तज्ञानियोंने बताया कि अभी आपके भाई आपका स्वामित्व स्वीकार नहीं करते इसीसे चक्ररत्न रुक गया है। तुरन्त सबके पास दूत भेजे गये। अन्य भाई तो अपने पिता भगवान् ऋषभदेवके पादमूलमें जाकर साधु बन गये। किन्तु बाहुबलिने युद्धका आह्वान किया। विचारशील बड़े पुरुषोने परस्परमे

अथ दैन्यभापणनिर्घृणत्वकृपणत्वानवस्थितचित्तत्वदोपावहत्वेन घनानि जुगुप्सते—

श्रीमैरेयजुषां पुरश्चटुपटुर्देहीति ही भाषते,
देहीत्युक्तिहतेषु मुञ्चति हहा नास्तीति वाग्ह्रादिनीम् । ३
तीर्थेऽपि व्ययमात्मनो वधमभिप्रैतीति कर्तव्यता
चिन्तां चान्वयते यदभ्यमितधीस्तेभ्यो धनेभ्यो नम. ॥१३१॥

मैरेय—मद्यम् । हता —नाशिताः । यल्लोक — ६

'गतेर्भङ्ग. स्वरो दीनो गात्रे स्वेदो विवर्णता ।
मरणे यानि चिह्नानि तानि सर्वाणि याचने ॥' [ ]

ह्लादिनी—वज्रम् । तीर्थे—धर्मे कार्ये च समवायिनि । व्यय—द्रव्यविनियोगम् । अन्वयते— ९
अविच्छिन्न याति । यदभ्यमितधी —यैरातुरवुद्धि. । नमः—तानि धनानि धिगित्यर्थ. ॥१३१॥

परामर्श किया कि भगवान्‌की वाणीके अनुसार दोनों भाई मोक्षगामी है, ये किसीसे मरनेवाले नहीं हैं अतः इन्हीं दोनोके युद्धमें हार-जीतका फैसला हो, व्यर्थ सेनाका संहार क्यों किया जाये । फलत. दोनो भाइयोंमे जलयुद्ध, मल्लयुद्ध और दृष्टियुद्ध हुआ और तीनो युद्धोंमे चक्रवर्ती हार गये । फलत उन्होंने रोपमे आकर अपने सहोदर छोटे भाईपर चक्रसे प्रहार किया । किन्तु मुक्तिगामी वाहुवलीका कुछ भी अनिष्ट नहीं हुआ । सवने चक्रवर्तीको ही दुरभिनिवेशी कहा । न्यायमार्गको भूलकर दूसरेका तिरस्कार करनेके भावसे कार्य करनेको दुरभिनिवेश कहते है । सम्राट् भरत भूमिके लोभमे पडकर नीतिमार्गको भी भूल गये अतः भूमिका लोभ भी निन्दनीय है ॥१३०॥

धन मनुष्यमे दीनवचन, निर्दयता, कृपणता, अस्थिरचित्तता आदि दोषोंको उत्पन्न करता है अत. धनकी निन्दा करते है—

जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य लक्ष्मीरूपी मदिराको पीकर मदोन्मत्त हुए धनिकोंके सामने खुशामद करनेमे चतुर वनकर, खेद है कि, 'कुछ दो' ऐसा कहता है । 'कुछ दो' ऐसा कहनेसे ही बेचारा माँगनेवाला मृततुल्य हो जाता है । फिर भी धनका लोभी मनुष्य 'नहीं है' इस प्रकारके वचनरूपी वज्रका प्रहार उसपर करता है । यह कितने कष्टकी वात है । जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य तीर्थमे भी किये गये धनव्ययको अपना वध मानता है मानो उसके प्राण ही निकल गये । तथा जिस धनरूपी रोगसे ग्रस्त मनुष्य रात-दिन यह चिन्ता करता है कि मुझे यह ऐसे करना चाहिए और यह ऐसे करना चाहिए । उस धनको दूरसे ही नमस्कार है ॥१३१॥

विशेपार्थ—धनके लोभसे मनुष्य याचक वनकर धनिकोंके सामने हाथ पसारता है । उस समय उसकी दशा अत्यन्त दयनीय होती है । किसीने कहा है—'उसके पैर डगमगा जाते हैं, स्वरमे दीनता आ जाती है, शरीरसे पसीना छूटने लगता है और अत्यन्त भयभीत हो उठता है । इस तरह मरणके समय जो चिह्न होते हैं वे सव माँगते समय होते है ।' फिर भी धनका लोभी माँगनेवालेको दुत्कार देता है । अधिक क्या, धर्मतीर्थमे दिये गये दानसे भी उसे इतना कष्ट होता है मानो उसके प्राण निकल गये । अपने कर्मचारियोंको वेतन देते हुए भी उसके प्राण सूखते है । ऐसा निन्दनीय है यह धन ॥१३१॥

१. 'गात्रस्वेदो महद्भयम् ।'—भ कु च. ।

अथ धनस्यार्जनरक्षणादिना तीव्रदु.खकरत्वात्तत्प्राप्त्युद्यम कृतिना निराकुरुते—

यत्पृक्तं कथमप्युपार्ज्य विधुराद्रक्षन्नरस्त्याजितः,
३ खे पक्षीव पलं तदर्थिभिरलं दुःखायते मृत्युवत् ।
तल्लाभे गुणपुण्डरीकमिहिकावस्कन्दलोभोद्भव-
प्रागल्भीपरमाणुतोलितजगत्युत्तिष्ठते कः सुधीः ॥१३२॥

६ पृक्त—धनम् । मिहिकावस्कन्दः—तुपारप्रपात । प्रागल्भी—निरङ्कुशप्रवृत्ति' । उत्तिष्ठते—उद्यम करोति ॥१३२॥

अथ वहिरात्मना वनार्जनभोजनोन्मादप्रवृत्तं नि शङ्कपापकरणं स्वेच्छ मैथुनाचरणं दूपयन्नाह—

धनका कमाना और रक्षण करना तीव्र दु.खदायक है अत. उसकी प्राप्तिके लिए उद्यम करनेका निपेध करते है—

जैसे पक्षी आकाशमें किसी भी तरहसे प्राप्त मांसके टुकड़ेकी रक्षा करता है और अन्य पक्षियोंके द्वारा उसके छीन लिये जानेपर वडा दुखी होता है, उसी तरह जो धन किसी भी तरह वड़े कष्टसे उपार्जित करके सेकडों विनाशोंसे वचाया जानेपर भी यदि धनके इच्छुक अन्य व्यक्तियोंके द्वारा छुडा लिया जाता है तो मरणकी तरह अति दु खदायक होता है। और उस धनका लाभ होनेपर लोभ कपायका उदय होता है जो सम्यग्दर्शन आदि गुणरूपी श्वेत कमलोंके लिए तुपारपातके समान है। जैसे तुपारपातसे कमल मुरझा जाते हैं वैसे ही लोभ कपायके उदयमे सम्यग्दर्शनादि गुण नष्ट हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं। तथा उस लोभ कपायकी निरकुश प्रवृत्तिसे मनुष्य इस जगत्को परमाणुके तुल्य तुच्छ समझने लगता है लेकिन उससे भी उसकी तृष्णा नहीं वुझती। ऐसे धनकी प्राप्तिके लिए कौन वुद्धिशाली विवेकी मनुष्य उद्यम करता है, अर्थात् नहीं करता ॥१३२॥

विशेपार्थ—धनके विना जगत्मे काम नहीं चलता यह ठीक है। किन्तु इस धनकी तृष्णाके चक्रमे पडकर मनुष्य धर्म-कर्म भी भुला वैठता है। फिर वह धनका ही क्रीत दास हो जाता है। और आवश्यकता नहीं होनेपर भी धनके संचयमे लगा रहता है। ज्यों-ज्यों धन प्राप्त होता है त्यों-त्यों लोभ वढता जाता है। जैसे अग्नि कभी ईंधनसे तृप्त नहीं होती वैसे ही तृष्णा भी धनसे कम नहीं होती, वल्कि और वढती है। कहा भी है—'आशाका गड्ढा कौन भर सकता है। उसमे प्रतिदिन जो डाला जाता है वह आधेय आधार वनता जाता है।' और भी—प्रत्येक प्राणिमे आशाका इतना वडा गड्ढा है कि उसे भरनेके लिए यह जगत् परमाणुके तुल्य है। अत. धनकी आशापर अंकुश लगाना चाहिए ॥१३२॥

वाह्यदृष्टि मनुष्य धनके अर्जन और भोजनके उन्मादमें पडकर निर्भय होकर पाप करते हैं और स्वच्छन्तापूर्वक मैथुन सेवन करते हैं अतः उनकी निन्दा करते है—

---

१ 'क पूरयति दुष्पूरमाशागतं दिने दिने ।
यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते ॥

२. आशागर्त प्रतिप्राणि यस्मिन् विश्वमणूपमम्—आत्मानुशासन ।

धनादन्नं तस्मादसव इति देहात्ममतयो,

मनुं मन्या लब्धुं धनमघमशङ्का विदधते।

वृषस्यन्ति स्त्रीरप्यदयमशनोद्भिन्नमदना,

धनस्त्रीरागो वा ज्वलयति कुजानप्यमनसः ॥१३३॥ ३

देहात्ममतय·—देहे आत्मेति मतिर्येषाम्। मनुमन्या.—लोकव्यवहारोपदेष्टारमात्मान मन्यमाना। वृषस्यन्ति—कामयन्ते। ज्वलयति—धनस्वीकारे नारीप्रवीचारे च सरम्भयति। यन्नीति.—'अर्थेपूपभोग-रहितास्तरवोऽपि साभिलाषा' इति। दृश्यन्ते च मूलोपान्ते निखात हिरण्य जटाभिर्वेष्टयन्त प्ररोहैश्चोपसर्पन्तो वृक्षा.। सुप्रसिद्ध एव वाऽशोकादीना कामिनीविलासाभिलाष। तथा च पठन्ति— ६

'सनूपुरालक्तकपादताडितो द्रुमोऽपि यासा विकसत्यचेतन.।

तदङ्गसस्पर्शरसद्रवीकृतो विलीयते यन्न नरस्तदद्भुतम् ॥' ९

अपि च—

'यासा सीमन्तिनीना कुरुवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षा.

प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलतालिङ्गनादीन् विलासान्। १२

तासा पुर्णेन्दुगौर मुखकमलमल वीक्ष्य लीलालसाढ्य

को योगी यस्तदानी कलयति कुशलो मानस निर्विकारम् ॥' [ ] ॥१३३॥ १५

अथ गृहादिमूर्च्छया तद्रक्षणाद्युपचितस्य पातकस्यातिदुर्जरत्व व्याहरति—

'धनसे अन्न होता है और अन्नसे प्राण' इस प्रकारके लोकव्यवहारके उपदेष्टा, अपने शरीरको ही आत्मा माननेवाले अपनेको मनु मानकर धन प्राप्त करनेके लिए निर्भय होकर पाप करते है। और पौष्टिक आहारसे जब काम सताता है तब निर्दयतापूर्वक स्त्री-भोग करते हैं। ठीक ही है—धन और स्त्रीका राग मनरहित वृक्षोको भी धन और नारीके सेवनमे प्रवृत्त करता है, मनसहित मनुष्योंकी तो बात ही क्या है ॥१३३॥

विशेषार्थ—संसारमे स्त्री और धनका राग बडा प्रबल है। स्त्रीके त्यागी भी धनके रागसे नहीं बच पाते। फिर जो मूढ बुद्धि हैं लोक-व्यवहारमे अपनेको दक्ष मानकर सबको यह उपदेश देते हैं कि अन्नके बिना प्राण नहीं रह सकते और धनके बिना अन्न नहीं मिलता, वे तो धन कमानेमे ही लगे रहते हैं और पुण्य-पापका विचार नहीं करते। धन कमाकर पौष्टिक भोजन स्वयं भी करते है और ससार-त्यागियोको भी कराते हैं। पौष्टिक भोजन और विकार न करे यह कैसे सम्भव है। विकार होनेपर स्त्री सेवन करते है। ग्रन्थकार कहते हैं कि धन और स्त्रीका राग मन रहित वृक्षोको भी नहीं छोडता फिर मनुष्योंकी तो बात ही क्या है। नीतिवाक्यामृतमे कहा है—'अर्थेपूपभोगरहितास्तरवोऽपि साभिलाषा किं पुनर्मनुष्याः।' धनका उपभोग न कर सकनेवाले वृक्ष भी धनकी इच्छा करते हैं फिर मनुष्योकी तो बात ही क्या है। यदि भूमिमे धन गडा हो तो वृक्षकी जडे उस ओर ही जाती हैं। स्त्रियोके पैर मारने आदिसे वृक्ष खिल उठते है ऐसी प्रसिद्धि है। अत धनके रागसे बचना चाहिये ॥१३३॥

आगे कहते हैं कि गृह आदिमे ममत्व भावरूप मूर्छाके निमित्तसे आगत और उनके रक्षण आदिसे सचित पापकर्मकी निर्जरा बड़ी कठिनतासे होती है—

तद्गेहाद्युपधौ ममेदमिति संकल्पेन रक्षार्जना-
संस्कारादिदुरीहितव्यतिकरे हिंसादिषु व्यासजन् ।
३ **दुःखोद्गारभरेषु रागविधुरप्रज्ञ. किमप्याहर-**
त्यंहो यत्प्रखरेऽपि जन्मदहने कष्टं चिराज्जीर्यति ॥१३४॥

उपधि.—परिग्रह । प्रखरे—सुतीक्ष्णे ॥१३४॥

६ अथानाद्यविद्यानिबन्धन चेतनपदार्थेषु रागद्वेषप्रबन्धं विदधानस्य कर्मबन्धक्रियासमभिहारमनभिनन्दन्नाह—

आसंसारमविद्यया चलसुखाभासानुबद्धाशया,
९ **नित्यानन्दसुधामयस्वसमयस्पर्शच्छिदभ्याशया ।**
इष्टानिष्टविकल्पजालजटिलेष्वर्थेषु विस्फारितः
क्रामन् रत्यरती मुहुर्मुहुरहो बाबध्यते कर्मभिः ॥१३५॥

१२ स्वसमय.—शुद्धचिद्रूपोपलम्भ । अभ्यास.—सामीप्यम् । विस्फारितः—प्रयत्नावेशमापादितः । बाबध्यते—भृशं पुन पुनर्वा बध्यते । तथा चोक्तम्—

'कादाचित्को बन्धः क्रोधादे. कर्मण. सदा सङ्गात् ।
१५ नातः क्वापि कदाचित्परिग्रहग्रहवता सिद्धि ॥' [ ] ॥१३५॥

तत्त्वविद्भिरप्यकाले मोहो दुर्जय इति च चिन्तयति—

गृहस्थ घर आदिकी तृष्णासे व्याकुल होकर घर-खेत आदि परिग्रहमे 'ये मेरे है' इस प्रकारके संकल्पसे उनके रक्षण, अर्जन, संस्काररूप दुश्चेष्टाओंके जमघटमें पड़कर अत्यन्त दु खदायी हिसा आदिमे विविध प्रकारसे आसक्त होता है और उससे ऐसे न कह सकने योग्य पापका बन्ध करता है जो संसाररूपी तीव्र अग्निमें भी लम्बे समयके बाद बड़े कष्टसे निर्जराको प्राप्त होता है। अर्थात् गृह आदि परिग्रहमें ममत्वभाव होनेसे गृहस्थ उनकी रक्षा करता है, नये मकान बनवाता है, पुरानोकी मरम्मत कराता है और उसीके संकल्प-विकल्पोमे पडा रहता है। उसके लिए उसे मुकदमेबाजी भी करनी पड़ती है, उसमें मार-पीट भी होती है। इन सब कार्यों में जो पापवन्ध होता है वह घोर नरक आदिके दुःखोको भोगनेपर ही छूटता है ॥१३४॥

अनादिकालीन अविद्याके कारण चेतन और अचेतन पदार्थोंमे मनुष्य रागद्वेप किया करते है और उससे कर्मबन्धकी प्रक्रिया चलती है अत. उसपर खेद प्रकट करते है—

जबसे संसार है तभीसे जीवके साथ अज्ञान लगा हुआ है—उसका ज्ञान विपरीत है, उसे ही अविद्या कहते है। उस अविद्याके ही कारण यह जीव क्षणिक तथा सुखकी तरह प्रतीत होनेवाले असुखको ही सुख मानकर उसीकी तृष्णामें फँसा हुआ है। तथा उस अविद्याका सम्पर्क भी नित्य आनन्दरूपी अमृतसे परिपूर्ण शुद्ध चिद्रूपकी उपलब्धिके किंचित् स्पर्शका भी घातक है। उसी अविद्याके वशीभूत होकर यह जीव यह हमे प्रिय है और हमे अप्रिय है इस प्रकारके इष्ट और अनिष्ट मानसिक विकल्पोंके समूहसे जटिल पदार्थोंमे इष्टकी प्राप्ति और अनिष्टसे वचनेके लिए प्रयत्नशील होता हुआ वारम्वार राग-द्वेष करता है और उससे वारम्वार कर्मोंसे बँधता है ॥१३५॥

आगे विचार करते है कि मोहकर्मको असमयमे जीतना तत्त्वज्ञानियोंके लिए भी कष्ट-साध्य है—

महतामप्यहो मोहग्रहः कोऽप्यनवग्रहः।
ग्राहयत्यस्वमस्वाश्च योऽहंममधिया हठात् ॥१३६॥

अनवग्रहः—स्वच्छन्दो दुर्निवार इत्यर्थः, चिरावेशो वा। अस्व—अनात्मभूत देहादिकमात्मबुद्ध्या, ३
अस्वाश्च—अनात्मीयभूतान् दारागृहादीन् मम बुद्ध्येति सबन्ध ॥१३६॥

अथापकुर्वतोऽपि चारित्रमोहस्योच्छेदाय काललब्धावेव विदुषा यतितव्यमित्यनुशास्ति—

दुःखानुबन्धैकपरानरातीन्, समूलमुन्मूल्य परं प्रतप्स्यन्। ६
को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं, धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोऽपि ॥१३७॥

अरातीन्—मिथ्यात्वादीन् चोरचरटादीश्च। प्रतप्स्यन्—प्रतप्तुमिच्छन्। अरेः—चारित्रमोहस्य
प्रतिनायकस्य च। धीरः—विद्वान् स्थिरप्रकृतिश्च ॥१३७॥ ९

आश्चर्य है कि गृहस्थ अवस्थामे तीर्थंकर आदिके भी यह चारित्रमोहनीयरूप ग्रह इतना दुर्निवार होता है जिसे कहना शक्य नहीं है, क्योंकि यह जो अपने रूप नहीं हैं उन शरीर आदिमे 'यह मैं हूँ' ऐसी बुद्धि और जो अपने नही हैं पर हैं, उन स्त्री-पुत्रादिमे 'ये मेरे हैं' ऐसी बुद्धि बलपूर्वक उत्पन्न कराता है। अर्थात् यद्यपि वे तत्त्वको जानते है तथापि चारित्रमोहनीयके वशीभूत होकर अन्यथा व्यवहार करते है ॥१३६॥

आगे यह शिक्षा देते हैं कि यद्यपि चारित्रमोहनीय अपकारी है फिर भी विद्वान्को काललब्धि आनेपर ही उसके उच्छेदका प्रयत्न करना चाहिए—

केवल दुःखोंको ही देनेमे तत्पर मिथ्यात्व आदि शत्रुओंका समूल उन्मूलन करके अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जरा करके उत्कृष्ट तप करनेका इच्छुक कौन विद्वान् होगा जो कालके विना अपकार करनेवाले भी चारित्रमोहनीयका नाश करनेके लिए उत्साहित होगा ॥१३७॥

विशेषार्थ—लोकमे भी देखा जाता है कि स्थिर प्रकृतिवाला धीर नायक 'जबतक योग्य समय न प्राप्त हो अपने अपकार कर्ताके साथ भी सद्व्यवहार करना चाहिए' इस नीतिको मनमे धारण करके यद्यपि नित्य कष्ट देनेवाले चोर, बटमार आदिको निर्वंश करके प्रतापशाली होना चाहता है फिर भी अपराधी भी शत्रुको समयपर ही मारनेका निश्चय करता है। इसी तरह यद्यपि चारित्रमोह अपकारकारी है किन्तु पूरी तैयारीके साथ उचित समयपर ही उसके विध्वंसके लिए तत्पर होना चाहिए। उचित समयसे आशय यह है कि न तो समयका बहाना लेकर उससे विरत होना चाहिए और न पूरी तैयारीके विना जल्दबाजीमे ही किसी आवेशमे आकर व्रतादि धारण करना चाहिए। जैसे वर्तमान काल मुनिधर्मकी निर्मल प्रवृत्तिके लिए अनुकूल नहीं है। श्रावकोका खान-पान बिगड़ चुका है। अब श्रावक मुनिके पधारनेपर उसीके उद्देश्यसे भोजन बनाते हैं। मुनि एक स्थानपर रह नहीं सकते। विहार करते हैं तो मार्गमें आहारकी समस्या रहती है उसके लिए मुनिको स्वयं प्रयत्न भी करना पड जाता है। और इस तरह परिवारसे भी अधिक उपधि पीछे लग जाती है। अतः इस कालमे मुनिव्रत तभी लेना चाहिए जब परिग्रहके अम्बारसे बचकर साधुमार्ग पालना शक्य हो ॥१३७॥

अथ श्रियमुपार्ज्य सत्पात्रेषु विनियुञ्जानस्य सद्गृहिणस्तत्परित्यागे मोक्षपथैकप्रस्थायित्वमभिष्टौति—

पुण्याब्धेर्मथनात्कथंकथमपि प्राप्य श्रियं निर्विशन्,

वैकुण्ठो यदि दानवासनविधौ शण्ठोऽस्मि तत्सद्विधौ।

३ **इत्यर्थैरुपगृह्णता शिवपथे पान्थान्यथास्वं स्फुर-**

त्तादृग्वीर्यबलेन येन स परं गम्येत नम्येत सः ॥१३८॥

मथनात्—उदयप्रापणाद्विलोडनाच्च। निर्विशन्—अनुभवन्। वै कुण्ठ.—वै स्फुटं कुण्ठो मन्दो।
६ दानवासनविधौ—दानेनात्मन संस्कारविधाने। उक्तिलेशपक्षे तु दानं वन्ति गच्छन्तीति दानवास्त्यागशीला-
स्तेषामसुराणा वासनविधौ निराकरणे वैकुण्ठो विष्णुरिति व्याख्येयम्। शण्ठ—यत्नपरिभ्रष्ट.। सद्विधौ—
साध्वाचरणे। उपगृह्णता—उपकुर्वता। स—शिवपथ। नम्येत—नमस्क्रियेत श्रेयोर्थिभिरिति शेषः ॥१३८॥
९

अथ गृहं परित्यज्य तपस्यतो निर्विघ्ना मोक्षपथप्रवृत्तिं कथयति—

प्रजाग्रद्वैराग्य. समयबलवल्गत्स्वसमय.,

सहिष्णुः सर्वोर्मीनपि सदसदर्थस्पृशि दृशि।

१२ **गृहं पापप्रायक्रियमिति तदुत्सृज्य मुदित—**

स्तपस्यन्निःशल्यः शिवपथमजस्रं विहरति ॥१३९॥

समयबलं—श्रुतज्ञानसामर्थ्यं काललब्धिश्च। सहिष्णु.—साधुत्वेन सहमान। सर्वोर्मीन्—निशेष-
१५ परिषहान्। अपि सदसदर्थस्पृशि—प्रशस्ताप्रशस्तवस्तुपरामर्शिन्यामपि। दृशि—अन्तर्दृष्टौ सत्याम्।
नि शल्य—मिथ्यात्वनिदानमायालक्षणशल्यत्रयनिष्क्रान्त. ॥१३९॥

जो सद्गृहस्थ लक्ष्मी कमाकर सत्पात्रोंमे उसे खर्च करता है और फिर उसे त्याग कर मोक्षमार्गमे लगता है उसकी प्रशंसा करते है—

पुण्यरूपी समुद्रका मन्थन करके किसी न किसी प्रकार महान् कष्टसे लक्ष्मीको प्राप्त करके 'मैं उसको भोगता हूँ। यदि मै दानके द्वारा आत्माका संस्कार करनेमें मन्द रहता हूँ तो स्पष्ट ही सम्यक् चारित्रका पालन करनेमे भी मै प्रयत्नशील नहीं रह सकूँगा' ऐसा विचारकर जो मोक्षमार्गमे नित्य गमन करनेवाले साधुओका यथायोग्य द्रव्यके द्वारा उपकार करता है तथा मोक्षमार्गके योग्य शक्ति और बलके साथ स्वयं मोक्षमार्गको अपनाता है उसे कल्याणार्थी जीव नमस्कार करते है ॥१३८॥

आगे कहते है जो घर त्याग कर तपस्या करता है उसीकी मोक्षमार्गमें निर्विघ्न प्रवृत्ति होती है—

लाभ आदिकी कामनाके बिना जिसका वैराग्य जाग्रत् है, तथा काललब्धि और श्रुतज्ञानके सामर्थ्यसे स्वस्वरूपकी उपलब्धिका विकास हुआ है, समस्त परीषहोको शान्त-भावसे सहन करनेमे समर्थ है, वह गृहस्थ अच्छे और बुरे पदार्थोके विवेक करनेमे भी कुशल अन्तर्दृष्टिके होनेपर 'घरमे होनेवाली क्रियाएँ प्राय. पापबहुल होती है' इस विचारसे घरको त्याग कर माया, मिथ्यात्व और निदानरूप तीन शल्योसे रहित होकर प्रसन्नताके साथ तपस्या करता हुआ, बिना थके निरन्तर रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी आराधना करता है ॥१३९॥

विशेषार्थ—गृहका त्याग किये बिना मोक्षमार्गकी निरन्तर आराधना सम्भव नहीं है। इसलिए घर छोडना तो मुमुक्षुके लिए आवश्यक ही है। किन्तु घर छोडकर साधु बननेसे पहले उसकी तैयारी उससे भी अधिक आवश्यक है। वह तैयारी है संसार, शरीर और

अथ बहिःसङ्गेषु देहस्य हेयतमत्वप्रतिपादनार्थमाह—

शरीरं धर्मसंयुक्तं रक्षितव्यं प्रयत्नतः।
इत्याप्तवाचस्त्वग्देहस्त्याज्य एवेति तण्डुलः ॥१४०॥ ३

त्वक्—तुष इष्टसिद्धचनुपयोगित्वात् । त्याज्य एव देहममत्वछेदिन एव परमार्थनिर्ग्रन्थत्वात् । तदुक्तम्—

'देहो बाहिरगंथो अण्णो अक्खाण विसयअहिलासो। ६
तेसिं चाए खवओ परमत्थे हवइ णिग्गंथो ॥' [आरा. सार ३३] ॥१४०॥

भोगोंसे आन्तरिक विरक्ति, वह विरक्ति किसी लौकिक लाभसे प्रेरित या श्मशान वैराग्य जैसी क्षणिक नहीं होनी चाहिए। साथ ही सात तत्त्वोंके सम्यक् परिज्ञानपूर्वक आत्मतत्त्वकी उपलब्धिरूप सम्यग्दृष्टि प्राप्त होनी चाहिए, बिना आत्मज्ञानके घर छोड़कर मुनि बनना उचित नहीं है। अन्तर्दृष्टि इतनी प्रबुद्ध होनी चाहिए कि आत्महित या अहित करनेवाले पदार्थोंको तत्काल परखकर हितमें लग सके और अहितसे बच सके। तब घर छोड़े। कमाने-या घरेलू परेशानियोंके कारण घर न छोड़े। एक मात्र पापके भयसे घर छोड़े और छोड़कर पछताये नहीं। तथा साधुमार्गके कष्टोंको सहन करनेमें समर्थ होना चाहिए और मायाचार, मिथ्यात्व और आगामी भोगोंकी भावना नहीं होनी चाहिए। तभी मोक्षमार्गकी आराधना हो सकती है ॥१३९॥

आगे कहते हैं कि बाह्य परिग्रहमें शरीर सबसे अधिक हेय है—

'जिस शरीरमें धर्मके साधक जीवका निवास है उस शरीरकी रक्षा बड़े आदरके साथ करनी चाहिए' इस प्रकारकी शिक्षा जिनागमका ऊपरी छिलका है। 'और देह त्यागने ही योग्य है' यह शिक्षा जिनागमका चावल है ॥१४०॥

विशेषार्थ—'शरीर धर्मका मुख्य साधन है' यह प्रसिद्ध लोकोक्ति है। इसी आधारपर धर्मसंयुक्त शरीरकी रक्षा करनी चाहिए, यह कथन बालक, वृद्ध, रोगी और थके हुए मनुष्योंकी दृष्टिसे किया गया है,' क्योंकि बालपन और वृद्धपनका आधार शरीर है। उसके विषयमें प्रवचनसारके चारित्र अधिकारकी ३१वीं गाथाकी टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रने उत्सर्ग और अपवादको बतलाते हुए कहा है कि देश-कालका ज्ञाता उत्सर्गमार्गी मुनि बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण आहार-विहारमें मृदु आचरण करनेसे भी थोड़ा पापबन्ध तो होता ही है इस भयसे अत्यन्त कठोर आचरण करके शरीरको नष्ट कर बैठता है और मरकर स्वर्गमें पैदा होकर संयमसे दूर हो जाता है और इस तरह महान् बन्ध करता है। अतः अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग कल्याणकारी नहीं है। इसके विपरीत बालपन, वृद्धपन, रोग और थकानके कारण अल्प पापबन्धकी परवाह न करके यथेच्छ प्रवृत्ति करनेपर संयमकी विराधना करके असंयमी जनके समान होकर महान् पापबन्ध करता है। अतः उत्सर्ग निरपेक्ष अपवाद भी कल्याणकारी नहीं है। अतः शरीरकी रक्षाका आग्रह इष्टसिद्धिमें उपयोगी नहीं है इसीलिए उसे जिनागमरूपी तन्दुलका ऊपरी छिलका कहा है। असली तन्दुल है 'शरीर छोड़ने ही योग्य है' यह उपदेश। क्योंकि जो वस्तु बाह्यरूपसे शरीरसे बिलकुल भिन्न है उसके छोड़नेके लिए कहा अवश्य जाता है किन्तु वह तो छूटी हुई है ही। असली बाह्य परिग्रह तो शरीर ही है। उससे भी जो ममत्व नहीं करता वही परमनिर्ग्रन्थ है। कहा भी है—'शरीर ही

अथ कायक्लेशलालनयोर्गुणदोषौ भिक्षोरुपदिशन्नाह—

योगाय कायमनुपालयतोऽपि युक्त्या,
३ क्लेश्यो ममत्वहृतये तव सोऽपि शक्त्या।
भिक्षोऽन्यथाक्षसुखजीवितरन्ध्रलाभात्,
तृष्णासरिद् विधुरयिष्यति सत्तपोऽद्रिम् ॥१४१॥

६ योगाय—रत्नत्रयप्रणिधानार्थम् । युक्त्या—शास्त्रोक्तनीत्या । सोऽपि—अपिशब्दात् क्रियाया अपि ॥१४१॥

अथ प्रतिपन्ननैःसग्यव्रतस्यापि देहस्नेहादात्मक्षतिः स्यादिति शिक्षयति—

९ नैर्ग्रन्थ्यव्रतमास्थितोऽपि वपुषि स्निह्यन्नसह्यव्यथा-
भीरुर्जीवितवित्तलालसतया पञ्चत्वचेक्रीयितम् ।
याच्ञादैन्यमुपेत्य विश्वमहितां न्यक्कृत्य देवीं त्रपां,
१२ निर्मानो धनिनिष्ण्यसंघटनयाऽस्पृश्या विधत्ते गिरम् ॥१४२॥

पञ्चत्वचेक्रीयितं—लक्षणया मरणतुल्यम् । न्यक्कृत्य—अभिभूय । देवं (-देवी) महाप्रभावतो त्वात (-वत्वात्) । तदुक्तम्—

१५ 'लज्जा गुणौघजननीं जननीमिवार्या-
मत्यन्तशुद्धहृदयामनुवर्तमाना ।
तेजस्विनः सुखमसूनपि सत्यजन्ति
१८ सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् ॥' [ ]

निष्ण्य —अन्त्यज दयादाक्षिण्यरहितत्वात् । अस्पृश्या—अनादेयाम् ॥१४२॥

बाह्य परिग्रह है और इन्द्रियोंकी विषयाभिलाषा अन्तरंगपरिग्रह है। उनको त्यागनेपर ही क्षपक परमार्थसे निर्ग्रन्थ होता है' ॥१४०॥

आगे साधुको शरीरको कष्ट देनेके गुण और उसके लालन-पालनके दोष बतलाते हैं—

हे साधु ! रत्नत्रयमें उपयोग लगानेके लिए शरीरकी संयमके अनुकूल रक्षा करते हुए भी तुम्हें ममत्वभावको दूर करनेके लिए अपने बल और वीर्यको न छिपाकर शास्त्रोक्त विधानके अनुसार शरीरका दमन करना चाहिए। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो इन्द्रिय सुख और जीवनकी आशारूपी छिद्रोंको पाकर तृष्णारूपी नदी समीचीन तपरूपी पर्वतको चूर्ण कर डालेगी ॥१४१॥

विशेषार्थ—यद्यपि रत्नत्रयकी साधनाके लिए शरीर रक्षणीय है किन्तु ऐसा रक्षणीय नहीं है कि संयमका वह घातक हो जाये। अपनी शक्ति और साहसके अनुसार उसका दमन भी करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो मुनिका यह शरीर प्रेम धीरे-धीरे विषयोंकी और जीवनकी आशाको बल प्रदान करेगा। उससे बल पाकर तृष्णाकी नदी तपरूपी पर्वतको फोड़कर निकल पड़ेगी और तपका फल संवर और निर्जरा समाप्त हो जायेगा ॥१४१॥

आगे शिक्षा देते हैं कि परिग्रह त्यागरूप व्रतको धारण करके भी शरीरसे स्नेह करनेसे साधुके माहात्म्यकी हानि होती है—

सकल परिग्रहके त्यागरूप नैर्ग्रन्थ्यव्रतको स्वीकार करके भी शरीरसे स्नेह करनेवाला साधु असह्य परीषहके दुःखसे डरकर जीवन और धनकी अत्यन्त लालसासे दूसरे मरणके तुल्य माँगनेकी दीनताको स्वीकार करता है। और लज्जा देवीका तिरस्कार करके अपना

अथ महासत्त्वस्य धर्मवीररसिकतया तत्सहायकाय पालनाय यथोक्ता भिक्षा प्रतिज्ञाय प्रमाद्यतः पर्यनुयोगार्थमाह—

प्राची मार्ष्टुमिवापराधरचनां दृष्ट्वा स्वकार्ये वपुः,
सध्रीचीनमदोऽनुरोद्धुमधुना भिक्षा जिनोपक्रमम् । ३
आश्रौषीर्यदि धर्मवीररसिकः साधो नियोगाद् गुरो-
स्तत्तच्छिद्रचरौ न किं विनयसे रागापरागग्रहौ ॥१४३॥ ६

प्राची—पूर्वकृताम् । मार्ष्टुं—निराकर्तुम् । सध्रीचीन—सहायम् । अनुरोद्धुं—स्वकार्ये सहकारि यथा स्यात्तथा कर्तुम् । जिनोपक्रम—तीर्थकरेण प्रथममारब्धम् । आश्रौषी.—प्रतिज्ञातवास्त्वम् । नियोगात्—आज्ञानुरोधात् । तच्छिद्रचरौ—इदमनेन सुन्दरमसुन्दरं वा भोजनं दत्तमिति भिक्षाद्वारायातौ रागद्वेषौ । ९ ग्रहपक्षे तु छिद्रं प्रमादाचरणम् । विनयसे—शमयसि । 'कर्तृस्थे कर्मण्यमूर्तौ' इति आत्मनेपदम् ॥१४३॥

महत्त्व खो देता है तथा जगत्मे पूज्य वाणीको धनीरूपी चाण्डालके सम्पर्कसे अस्पृश्य बना देता है। अर्थात् शरीरसे मोह करनेवाला परिग्रहत्यागी भी साधु परीषहके कष्टोसे डरकर धनिकोंसे याचना करने लगता है। और इस तरह अपनी मान-मर्यादा नष्ट कर देता है ॥१४२॥

जो महासत्त्व धर्मके विषयमे प्रशस्त वीररससे युक्त होनेके कारण धर्ममे सहायक शरीरका रक्षण करनेके लिए शास्त्रोक्त भिक्षाकी प्रतिज्ञा लेकर प्रमाद करता है, उससे पूछते हैं—

हे साधु ! पूर्व गृहस्थ अवस्थामे किये गये पापोंको मानो धोनेके लिए तुमने यह रत्नत्रयकी साधना स्वीकार की है और तुम्हें यह निश्चय हो गया है कि इस कार्यमे शरीर सहायक है। तुम धर्मवीररसिक हो अर्थात् धर्मके विषयमे तुम्हारा वीररस अभिनन्दनीय है। ऐसे समयमें इस शरीरको अपना कार्य करनेमें समर्थ बनानेके लिए यदि तुमने दीक्षा देनेवाले गुरुकी आज्ञासे भगवान् ऋषभदेव तीर्थंकरके द्वारा प्रारम्भ की गयी भिक्षा ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा की थी तो उस भिक्षासे होनेवाले राग-द्वेषरूपी भूतोंको, अमुकने मुझे सुन्दर भोजन दिया और अमुकने मुझे बुरा भोजन दिया—क्यो नही शान्त करते हो ॥१४३॥

विशेषार्थ—साधुको धर्मवीररसिक कहनेसे ग्रन्थकारने द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत कहा है। अप्रमत्तसंयत सातवाँ गुणस्थान है। उसका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'जिसके समस्त प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है, जो न तो मोहनीयका उपशम करता है और न क्षय करता है, केवल ध्यानमें लीन रहता है उस ज्ञानीको अप्रमत्तसंयत कहते हैं।'[1] अप्रमत्तसंयत अवस्थामे तो भोजनका विकल्प हो नहीं सकता। किन्तु छठे और सातवे गुणस्थानोंका काल अन्तर्मुहूर्त कहा है। अन्तर्मुहूर्तमे छठेसे सातवाँ और सातवेसे छठा गुणस्थान होता रहता है। भोजन करते समय साधु द्रव्यसे अप्रमत्तसंयत हो सकता है। उस अवस्थामे भोजनके सम्बन्धमे सरस-नीरसका विकल्प करना साधुके लिए उचित नहीं है।

---

१ णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलोलिमंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अपमत्तो ॥—गो. जीव, ४६ गा. ।

अथ देहात्मभेदभावनानिरुद्धविकल्पजालस्य साधोः शुद्धस्वात्मोपलम्भमभिनन्दति—

नीरक्षीरवदेकतां कलयतोरप्यङ्गपुंसोरचि-
चिचद्भावाद्यदि भेद एव तदलंभिन्नेषु कोऽभिदभ्रमः ।
इत्यागृह्य परादपोह्य सकलोन्मीलद्विकल्पच्छिदा-
स्वच्छेनास्वनितेन कोऽपि सुकृती स्वात्मानमास्तिघ्नुते ॥१४४॥

अलं भिन्नेषु—अत्यन्तपृथग्भूतेषु दारगृहादिषु । अभिदभ्रमः—अभेदभ्रम —अभेदभ्रान्ति. । आगृह्य—दृढं प्रतिपद्य । परात्—देहादे । अपोह्य—व्यावर्त्य । छिदा—छेद. । आस्वनितेन—मनसा । आस्तिघ्नुते—आस्कन्दति, अभेदेनानुभवतीत्यर्थ ॥१४४॥

शरीरके पोषणके लिए सात्त्विक भोजन मात्र उपयोगी है। सरस विरसके विकल्पमें इन्द्रियोंकी परवशता प्रतीत होती है। और उससे राग-द्वेषको बल मिलता है ॥१४३॥

आगे शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा समस्त विकल्पोंको रोकनेवाले साधुके शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धिका अभिनन्दन करते हैं—

यद्यपि शरीर और आत्मा दूध और पानीकी तरह एकमेक हो रहे हैं फिर भी आत्माके चेतन और शरीरके अचेतन होनेसे यदि दोनोमे भेद ही है तो अत्यन्त भिन्न स्त्री, मकान आदिमे अभेदके भ्रमका कोई प्रश्न ही नहीं है, वे तो भिन्न हैं ही। इस प्रकार शरीर आदिसे स्वात्माको भिन्न रूपसे दृढतापूर्वक जानकर शरीरसे आत्माको भिन्न करके, समस्त उत्पन्न होनेवाले विकल्पोंको अर्थात् अन्तर्जल्पसे सम्बद्ध विचारोंके छेदसे स्वच्छ हुए मनके द्वारा कोई विरला ही पुण्यात्मा स्वात्माका अभेदरूपसे अनुभव करता है ॥१४४॥

विशेषार्थ—स्वात्माकी उपलब्धिके लिए सबसे प्रथम भेदविज्ञान आवश्यक है। स्व और परका भेदविज्ञान हुए विना स्वात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। जो अपनेसे साक्षात् भिन्न स्त्री, पुत्र, धन, गृह आदि हैं उनसे अभिन्नताका भ्रम तो मोहमूलक है और उस मोहका मूल है शरीर-आत्मामे एकत्वकी भ्रान्ति। यह भ्रान्ति यदि दूर हो जाये तो स्त्री, पुत्रादिकमें अभेदकी भ्रान्ति स्वत दूर हो जायेगी। शरीर-आत्मा दूध और पानीकी तरह मिले हुए हैं किन्तु आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन है। चेतन कभी अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता। दोनों दो स्वतन्त्र द्रव्य हैं। इस भेदज्ञानसे दोनोंको पृथक्-पृथक् निश्चय करके मनमे उठनेवाले राग-द्वेषमूलक सब विकल्पोंको दूर करके निर्विकल्प मनके द्वारा स्वात्माकी उपलब्धि या अनुभूति होती है। किन्तु ऐसी अनुभूति करनेवाले बहुत ही विरल होते हैं। कहा है[1]—जो पुरुष स्वयं अथवा परके उपदेशसे किसी तरह भेदविज्ञानरूप मूल कारणवाली अविचल आत्मानुभूतिको प्राप्त करते हैं, वे ही पुरुष दर्पणकी तरह अपने आत्मामे प्रतिविम्बित हुए अनन्त भावोके स्वभावसे निरन्तर विकार-रहित होते हैं अर्थात् उनके ज्ञानमे जो ज्ञेयोके आकार प्रतिभासित होते हैं उनसे वे विकारको प्राप्त नहीं होते' ॥१४४॥

---

१ 'कथमपि हि लभन्ते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानन्तभावस्वभावै-
र्मुकुरवदविकारा सतत स्युस्त एव' ॥—समयसार कलश, २१ श्लो ।

अथ समरसीभावसमुज्जृम्भितसहजज्योतिषो मोहविजयातिशयं प्रकाशयति—

स्वार्थेभ्यो विरमय्य सुष्ठु करणग्रामं परेभ्यः पराक्
कृत्वान्तःकरणं निरुध्य च चिदानन्दात्मनि स्वात्मनि ।
यस्तत्रैव निलीय नाभिसरति द्वैतान्धकारं पुन-
स्तस्योद्दाममसीम धाम कतमच्छिन्दत्तमः श्राम्यति ॥१४५॥

पराक्—पराङ्मुखम् । द्वैतान्धकार—अयमहमयं पर इति विकल्पं ध्येयादिविकल्पं वा तम इव शुद्धात्मोपलम्भप्रतिबन्धकत्वात् ॥१४५॥

अथ शुद्धस्वात्मोपलम्भोन्मुखस्य योगकाष्ठासौष्ठवावाप्तिभवितव्यतानुभावभावनामनुभावयति—

आगे कहते हैं कि उक्त प्रकारकी भावनाके बलसे समरसी भावके द्वारा जिनकी स्वाभाविक आत्मज्योति विकसित हो जाती है वे पुरुष मोहको जीत लेते हैं—

समस्त इन्द्रियोको अपने अपने विषयोसे अच्छी तरह विमुख करके तथा मनको शरीर आदिसे विमुख करके और ज्ञानानन्दमय निज आत्मामे एकाग्र करके जो उसीमे लीन हो जाता है, और द्वैतरूपी अन्धकारकी ओर पुनः अभिमुख नही होता, अर्थात् 'यह मै हूँ' 'यह पर है' या ध्यान, ध्येय आदि विकल्प नहीं करता, उस योगीका सीमा रहित और प्रतिबन्धरहित तेज किस चिरकालसे जमे हुए अज्ञानका छेदन नहीं करता, अपितु सभी प्रकारके अनादि अज्ञानके विलासको नष्ट कर देता है ॥१४५॥

विशेषार्थ—मेरा चिदानन्दमय आत्मा शरीर आदिसे भिन्न है, इस भावनाके बलसे निर्विकल्प मनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है। यह अनुभूति ही इन्द्रियोको अपने-अपने विषयोंसे विमुख होनेमे मूल कारण है। आत्मानुभूतिके बिना जो विषयोंके प्रति अरुचि होती है वह स्थायी नहीं होती। और जबतक इन्द्रियाँ विषयोके प्रति रागी रहेगी तबतक मन आत्मोन्मुख नहीं हो सकता। आत्मासे मतलब है ज्ञानानन्दमय शुद्ध चिद्रूप। जब मनमें राग-द्वेषमूलक विकल्पजाल छाया हुआ हो तब मनके स्थिर होनेकी बात ही व्यर्थ है। ऐसे मनसे आत्मस्थिति सम्भव नहीं है। [1]कहा है—'जिसका मनरूपी जल राग-द्वेषरूपी लहरोंसे चंचल नहीं होता वही पुरुष आत्माके यथार्थ स्वरूपको देखता है, दूसरा मनुष्य उसे नही देख सकता।'

अन्य रागमूलक विकल्पोंकी तो बात ही क्या, 'यह शरीर पर है' यह विकल्प भी द्वैत-रूप होनेसे शुद्धात्माकी उपलब्धिमे प्रतिबन्धक है। इसीसे द्वैतको अन्धकारकी उपमा दी है। उस अन्धकारके दूर होनेपर ही वह आत्मज्योति प्रकट होती है जो सब अनादि अज्ञानको नष्ट करती है। उसीकी प्राप्तिके लिए सब त्यागादि है ॥१४५॥

आगे शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धिके प्रति अभिमुख हुए योगीके भविष्यमे होनेवाली योगकी चरम सीमाकी प्राप्तिके फलकी भावना व्यक्त करते है—

---

१ 'रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जनः' ॥—समाधितन्त्र, ३५ श्लो. ।

भावैर्वैभाविकैर्मे परिणतिमयतोऽनादिसंतानवृत्त्या,
कर्मण्यैरेकलोलीभवत उपगतैः पुद्गलैस्तत्त्वतः स्वम् ।
३ बुद्ध्वा श्रद्धाय साम्यं निरुपधि दधतो मुत्सुधाव्धावगाधे,
स्याच्चेल्लीलावगाहस्तदयमघशिखी किं ज्वलेद्दाह्यशून्यः ॥१४६॥

वैभाविकैः—औपाधिकैः मोहरागद्वेषैरित्यर्थः । कर्मण्यैः—ज्ञानावरणादिकर्मयोग्यैः । निरुपधि—
६ निर्दम्भम् । दाह्यशून्यः—दाह्येन मोहाद्याविष्टचिद्विवर्तेन तृणकाष्ठादिना च रहितः ॥१४६॥

अथ समाधिमधिरुरुक्षोर्मुमुक्षोरन्तरात्मानुशिष्टिमुपदेष्टुमाचष्टे—

अयमधिमदवाधो भात्यहं प्रत्ययो य-
९ स्तमनु निरववन्धं बद्धनिर्व्याजसख्यम् ।
पथि चरसि मनश्चेत्तर्हि तद्धाम हीर्षे,
भवदवविपदो दिङ्मूढमभ्येषि नो चेत् ॥१४७॥

अनादि सन्तान परम्परासे सदा मेरे साथ सम्बद्ध ज्ञानावरण आदि कर्मोंके योग्य पुद्गलोंके साथ मेरा कथचित् तादात्म्य जैसा सम्बन्ध हो रहा है। और उन्हींका निमित्त पाकर होनेवाले राग-द्वेषरूप वैभाविक भावोंसे मैं परिणमन करता रहा हूँ। अब यदि मैं यथार्थ रूपसे आत्माका श्रद्धान करके और उसका निश्चय करके तथा उपाधि रहित साम्य भावको धारण करके गहरे आनन्दरूपी अमृतके समुद्रमे सरलतासे अवगाहन कर सकूँ तो क्या यह पापरूप अग्नि विना ईंधनके जलती रह सकती है ॥१४६॥

विशेषार्थ—यह योगीकी यथार्थ भावना है। इस भावनामे अपनी अतीत स्थितिके चित्रणके साथ ही उसके प्रतीकारका उपाय भी है। जीव और कर्मोंके सम्बन्धकी परम्परा अनादि है। पूर्वबद्ध कर्मके उदयका निमित्त पाकर जीव राग-द्वेषरूप परिणमन स्वतः करता है और जीवके राग-द्वेष रूप परिणामोंका निमित्त पाकर कार्मण वर्गणाएँ स्वयं ज्ञानावरणादि-रूपसे परिणमन करती हैं। इससे छूटनेका उपाय है कर्मजन्य रागादि भावोंसे आत्माकी भिन्नताको जानकर आत्माके यथार्थ स्वरूपका श्रद्धान और ज्ञान तथा रागादि रूपसे परि-णमन न करके राग और द्वेषकी निवृत्ति रूप साम्यभावको धारण करना। इसीके लिए चारित्र धारण किया जाता है। साम्यभावके आते ही आत्मामे आनन्दका सागर हिलोरे लेने लगता है। उसमें डुबकी लगानेपर पापरूप अग्नि शान्त हो जाती है क्योकि उसे रागद्वेषरूपी ईंधन मिलना बन्द हो जाता है। यदि आगमे ईंधन न डाला जाये तो वह स्वतः शान्त हो जाती है। यही स्थिति पापरूप अग्निकी भी है ॥१४६॥

समाधिपर आरोहण करनेवाले मुमुक्षुको अन्तरात्मामे ही उपयोग लगानेका उपदेश देते हैं—

हे मन! जो यह आत्माको लेकर बाधारहित 'मैं' इस प्रकारका ज्ञान प्रतिभासित होता है, उसके साथ छल-कपटसे रहित गाढ मैत्रीभाव रखकर यदि मार्गमे अस्खलित रूपसे चलोगे तो उस वचनके अगोचर और एकमात्र स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव होने योग्य स्थानको प्राप्त करोगे। अन्यथा चलनेपर दिङ्मूढ होकर—गुरुके उपदेशमे मूढ बनकर संसाररूपी दावाग्निकी विपत्तियोकी ओर जाओगे ॥१४७॥

अथिमद्—मय्यात्मन्यधिकृत्य । तमनु—तेन सह । निरवबन्ध—अस्खलितम् । अवाचागोचरतया स्वैकसवेद्यतया वा प्रसिद्ध स्थानम् । ईर्षे—गच्छसि । दिङ्मूढ—गुरूपदेशे दिक्षु च व्यामुग्धम् ॥१४७॥

अथैवमाकिञ्चन्यव्रतबद्धकक्षस्य भिक्षो शिक्षामापाद्य पूर्वविभ्रमसंस्कारात्तत्र पुन श्लथीभावावतार-तिरस्काराय मनोज्ञामनोज्ञेन्द्रियविषयरागद्वेषवर्जन-लक्षणपञ्चभावनाप्रयोगपुर सर प्रयत्नमावर्णयति— ३

विशेषार्थ—अकलंक देवने कहा है कि 'हमारा आत्मा' ऐसा जो ज्ञान हमे होता है वह संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय और सम्यक्ज्ञानमे-से कोई भी होनेसे आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। यह ज्ञान संशय तो है नही, क्योकि निर्णय है। फिर भी यदि सशय है तव भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है क्योंकि संशयका विषय अवस्तु नही होती। यह ज्ञान अनध्यवसाय भी नहीं है, अनादि कालसे इस तरहका ज्ञान सबको होता आ रहा है। यदि यह विपरीत ज्ञान है तव भी आत्माका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे पुरुषमे स्थाणुका ज्ञान होनेपर स्थाणुकी सिद्धि होती है। यदि यह सम्यग्ज्ञान है तव तो आत्माकी सिद्धिमे कोई विवाद ही नहीं रहता। आचार्य विद्यानन्दने कहा है—आत्मा सदा बाधारहित स्व-संवेदनसे सिद्ध है।[1] पृथ्वी आदि भूतोंकी पर्यायरूप चैतन्यविशिष्ट शरीररूप पुरुषमे स्वसंवेदन सम्भव नहीं है। 'यह नील है' इत्यादि ज्ञान स्वसंवेदन नहीं है क्योकि वह तो बाह्य इन्द्रियोंसे होता है उसमे 'अहं' प्रत्यय नहीं होता। 'मै सुखी हूँ' यह ज्ञान उस प्रकारका नही है, इन दोनों ज्ञानोंका अन्तर स्पष्ट अनुभवमे आता है। 'मैं गोर हूँ' यह ज्ञान भी बाह्येन्द्रियसे उत्पन्न होनेसे उससे भिन्न है। शायद कहा जाये कि 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान भी उसीके समान है। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि इस ज्ञानका आश्रय 'मै' से भिन्न कोई दूसरा नहीं है। तथा सुखके सम्बन्धसे 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान होता है। सुखका सम्बन्ध किसके साथ है यह विचार करनेपर उसका आश्रय कोई कर्ता होना चाहिए, उसके अभावमे 'मै सुखी हूँ' इस प्रकार कर्तामे स्थित सुखका ज्ञान नहीं हो सकता। और वह कर्ता आत्मा ही हो सकता है क्योंकि वह शरीर, इन्द्रिय और विषय इन तीनोसे विलक्षण है। और विलक्षण इसलिए है कि सुखादिका अनुभव उसे ही होता है। जो अनुभव करता है उसे ही स्मरण आदि भी होता है। जो मैं सुखका अनुभव करता था वही मैं अव हर्षका अनुभव करता हूँ इस प्रकारका अनुसन्धान निर्बाध होता है। इसलिए हे मन, जिसमे यह अनुपचरित 'अहं' रूप ज्ञान होता है उसीके साथ सच्ची मित्रता करेगा तो उस स्थानको प्राप्त करेगा जो वचनातीत है। और यदि गुरुके उपदेशको भूलकर मार्गभ्रष्ट हो गया तो संसारके दु खोंमे फँस जायेगा। लोकमें भी देखा जाता है कि जो मार्गपर नहीं चलता वह दिशा भूलकर जंगलमे जाकर फँस जाता है ॥१४७॥

इस प्रकार आकिंचन्यव्रतको दृढतासे पालन करनेमे तत्पर साधुको शिक्षा देनेके बाद, पूर्व गलत संस्कारवश साधु कहीं उसमे ढीला न पड जाये इस विचारसे इन्द्रियोंके प्रिय और अप्रिय विषयोंमे राग-द्वेषके त्यागरूप पाँच भावनाओंको भानेका उपदेश देते है—

---

१. 'स्वसंवेदनत सिद्ध सदात्मा बाधवर्जितात् ।
तस्य क्ष्मादिविवर्तात्मन्यात्मन्यनुपपत्तित ॥
स्वसंवेदनमप्यस्य बहि करणवर्जनात् ।
अहंकारास्पद स्पष्टमबाधमनुभूयते ॥—त. श्लो वा, १।९६-९७ ।

यश्चार्वचारुविषयेषु निषिद्धच राग-
द्वेषौ निवृत्तिमधियन् मुहुरानिवर्त्यात् ।
ईर्ते निवर्त्य विरहादनिवृत्तिवृत्ति,
तद्धाम नौमि तमसङ्गमसङ्गसिंहम् ॥१४८॥

अधियन्—ध्यायन् । आनिवर्त्यात्—निवर्तनीय वन्धं वन्धनिवन्धनं न यावत् । ईर्ते—गच्छति । अनिवृत्तिवृत्ति—निवृत्तिप्रवृत्तिरहितम् । तथा चावाचि—

'निर्वृत्ति भावयेद्यावन्निवर्त्यं तदभावत. ।
न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च तदेव पदमव्ययम् ॥
रागद्वेषौ प्रवृत्तिः स्यान्निवृत्तिस्तन्निषेधनम् ।
तौ च वाह्यार्थसम्वद्धौ तस्मात्तान् सुपरित्यजेत् ॥' [आत्मानु. २३६-२३७]

असङ्ग—सततं निरुपलेप च ॥१४८॥

अथ स्वस्वभावनासंपादितस्थैर्याणि व्रतानि साधूना समीहितं साधयन्तीत्युपदेशार्थमाह—

पञ्चभिः पञ्चभिः पञ्चाऽप्येतेऽहिंसादयो व्रताः ।
भावनाभि' स्थिरीभूताः सतां सन्तीष्टसिद्धिदाः ॥१४९॥

स्पष्टम् ॥१४९॥

जो पाँचों इन्द्रियोंके मनोज्ञ और अमनोज्ञ स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द विषयोंमें राग द्वेष न करके जवतक निवर्तनीय वन्ध और वन्धके कारण हैं तवतक वार-वार निवृत्तिकी भावनाका ध्यान करते हुए, निवर्तनीय—हटाने योग्यका अभाव होनेसे निवृत्ति और प्रवृत्तिसे रहित उस स्थानको प्राप्त होता है उस निरुपलेप निर्ग्रन्थ श्रेष्ठको मैं नमस्कार करता हूँ ॥१४८॥

विशेषार्थ—इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेषका त्याग किये विना परिग्रहत्यागव्रत परिपूर्ण नहीं होता। अत परिग्रहके त्यागीको उनका भी त्याग करना चाहिए। उसके साथ जिनसे उसे यथार्थमें निवृत्त होना है वह है वन्ध और वन्धके कारण। जवतक ये वर्तमान हैं तवतक उसे इनसे निवृत्त होनेके लिए सदा जागरूक रहना होगा। जव ये नहीं रहेंगे तभी वह उस मुक्तिको प्राप्त करेगा, जहाँ न निवृत्ति है और न प्रवृत्ति है। कहा भी है—'जवतक छोड़नेके योग्य शरीरादि वाह्य वस्तुओंके प्रति ममत्व भाव है तवतक निवृत्तिकी भावना करनी चाहिए। और जव निवृत्त होनेके लिए कुछ रहे ही नहीं, तव न तो निवृत्ति रहती है और न प्रवृत्ति रहती है। वही अविनाशी मोक्षपद है। राग और द्वेषका नाम प्रवृत्ति है और उनके अभावका नाम निवृत्ति है। ये दोनो ही वाह्य पदार्थोंसे सम्वद्ध हैं इसलिए वाह्य पदार्थोंका पूरी तरहसे त्याग करना चाहिए। अर्थात् 'वाह्य पदार्थोंका त्याग मूल वस्तु नहीं है। मूल वस्तु है रागद्वेषका त्याग। किन्तु राग द्वेष वाह्य पदार्थोंको ही लेकर होते हैं इसलिए रागद्वेषके आलम्वन होनेसे वाह्य पदार्थोंको भी छोड़ना चाहिए।' इस प्रकार परिग्रह त्याग महाव्रतका कथन पूर्ण हुआ ॥१४८॥

आगे अपनी भावनाओंके द्वारा स्थिरताको प्राप्त हुए व्रत साधुओके मनोरथोको सिद्ध करते हैं, यह उपदेश देते हैं—

ये पहले कहे गये हिंसाविरति, अनृतविरति, चौर्यविरति, अव्रह्मविरति और परिग्रहविरतिरूप पाँचों व्रत पाँच-पाँच भावनाओके द्वारा निश्चलताको प्राप्त होनेपर साधुओके इष्ट अर्थके साधक होते है। ये भावनाएँ प्रत्येक व्रतके साथ पहले वतला आये है ॥१४९॥

अथोक्तलक्षणाना पञ्चाना व्रताना महत्त्वसमर्थनपुरस्सर रात्रिभोजनविरमणलक्षणं षष्ठमणुव्रत रक्षणार्थमुपदिशन्नुत्तरोत्तराभ्याससौष्ठवेन सम्पूर्णीकरणे सति निर्वाणलक्षण फल लक्षयति—

पञ्चैतानि महाफलानि महता मान्यानि विष्वग्विर-
त्यात्मानीति महान्ति नक्तमशनोज्झाणुव्रताग्राणि ये। ३
प्राणित्राणमुखप्रवृत्त्युपरमानुक्रान्तिपूर्णीभव-
त्साम्याः शुद्धदृशो व्रतानि सकलीकुर्वन्ति निर्वान्ति ते ॥१५०॥ ६

महता मान्यानि—गणधरदेवादीनामनुष्ठेयतया सेव्यानि इन्द्रादीना वा दृग्विशुद्धिविवृद्धयङ्गतया पूज्यानि। विष्वग्विरत्यात्मानि—स्थूलसूक्ष्मभेद-सकलहिंसादिविरतिरूपाणि। उक्त च—

'[1]आचरितानि महद्भिर्यच्च महान्त प्रसाधयन्त्यर्थम्। ९
स्वयमपि महान्ति यस्मान्महाव्रतानीत्यतस्तानि ॥' [ज्ञानार्णव १८ में उद्धृत]

अपि च—

'महत्त्वहेतोर्गुणिभि. श्रितानि महान्ति मत्वा त्रिदशैर्नतानि। १२
महासुखस्थाननिवन्धनानि महाव्रतानीति सता मतानि ॥' [ज्ञानार्णव १८।१]

नक्तमित्यादि—नक्त रात्रावशनस्य चतुर्विधाहारस्योज्झावर्जन सेवाणुव्रतम्। तस्याश्चाणुव्रतत्व रात्रावेव भोजननिवृत्तेर्दिवसे यथाकाल तत्र तत्प्रवृत्तिसभवात्। तदग्र प्रधानं येषा रक्षार्थत्वात्। तदुक्तम्— १५

पाँचों व्रतोंका लक्षण पहले कह आये हैं। अब उनके महत्त्वका समर्थनपूर्वक उनकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठे अणुव्रतका कथन करते हुए यह बताते हैं कि उत्तरोत्तर अच्छी तरह किये गये अभ्यासके द्वारा इन व्रतोंके सम्पूर्ण होनेपर निर्वाणरूप फलकी प्राप्ति होती है—

ये पाँचों व्रत अनन्तज्ञानादिरूप महाफलवाले है, महान् गणधर देव आदिके द्वारा पालनीय है अथवा दर्शनविशुद्धिकी वृद्धिमे कारण होनेसे इन्द्रादिके द्वारा पूजनीय है और स्थूल तथा सूक्ष्म भेदरूप सकल हिंसा आदिकी विरतिरूप हैं इसलिए इन व्रतोको महान् कहा जाता है। रात्रिभोजनत्याग नामक अणुव्रत उनका अगुआ है उस पूर्वक ही ये व्रत धारण किये जाते हैं। जो क्षायिक सम्यग्दृष्टि नीचेकी भूमिकामे होनेवाली प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दत्तवस्तुका ग्रहण, अब्रह्म सेवन और योग्य परिग्रहका स्वीकाररूप प्रवृत्तिको उपरिम भूमिकामे त्याग कर उसके गुणश्रेणिरूप संक्रमके द्वारा सर्वसावद्ययोग विरतिरूप सामायिक चारित्रको प्राप्त करता है वह जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१५०॥

विशेषार्थ—उक्त पाँच व्रतोंको महाव्रत कहा जाता है। उसकी तीन उपपत्तियाँ बतलायी है। प्रथम उनका फल महान् है उनको धारण करनेपर ही अनन्त ज्ञानादिरूप महाफलकी प्राप्ति होती है। दूसरे गणधर आदि महान् पुरुष भी उन व्रतोंको पालते हैं या महान् इन्द्रादि उनको पूजते हैं क्योंकि व्रतोंके पालनसे सम्यग्दर्शनकी विशुद्धिमे वृद्धि होती है। तीसरे उनमे स्थूल और सूक्ष्म भेदरूप सभी प्रकारकी हिंसा असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य और परिग्रहका पूर्ण त्याग होता है। इसलिए उन्हें महान कहा है। कहा भी है—

---

१ सार्वेति जं महत्थ आयरिदाइ च ज महल्लेहिं।
जं च महल्लाइ सय महव्वदाइ हवे ताइ ॥ [भ आ, ११८४ गा.]

'तेसिं चेव वयाणं रक्खत्थं रादिभोयणणियत्ती ।
अट्ठय पवयणमादाओ भावणाओ य सव्वाओ ।' [भ आरा. ११८५]

३ रात्रिभोजिनो हि मुनेर्हिसादीना प्राप्ति. शका चात्मविपत्तिश्च स्यात् । तदप्युक्तम्—
'तेसिं पञ्चण्ह पियं वयाणमावज्जणं च संका वा ।
आदविवत्तीअ हवेज्ज रादिभत्तप्पसगम्मि ॥' [भ. आरा ११८६]

६ रात्रौ हि भिक्षार्थं पर्यटन् प्राणिनो हिनस्ति दुरालोकत्वात् । दायकागमनमार्गं तस्यात्मनश्चावस्थानदेश-मुच्छिष्टस्य निपातदेशमाहार च योग्यमयोग्य वा निरूपयितु न शक्नोति कटच्छुकादिक वा शोधयितुम् । अति-सूक्ष्मत्रसाना दिवापि दुष्परिहारत्वात् । पदविभागिकामेषणासमित्यालोचना सम्यगपरीक्षितविपया कुर्वन्
९ कथमिव सत्यव्रती स्यात् । सुप्तेन स्वामिभूतेनादत्तमप्याहारं गृह्णतोऽस्यादत्तादानमपि स्यात् ? विद्विष्टा गोत्रिणो वैरिणो वा नि शकिता रात्रौ मार्गादौ ब्रह्मचर्यं तस्य नाशयन्ति । दिवानीतं वसतौ निजभाजने धृतमाहार रात्रौ भुञ्जान सपरिग्रहश्च भवेत् । तथा मम हिंसादय सवृता न वेति शङ्का रात्रिभोजिन स्यात् स्थाणुसर्पकण्टका-
१२ दिभिरुपघातश्च । प्राणि आदि—अधस्तनभूमिकाया प्राणिरक्षणे सत्यभाषणे दत्तग्रहणे ब्रह्मचरणे योग्यपरिग्रह-स्वीकरणे च या प्रवृत्तिस्तस्या उपरम उपरिमभूमिकाया व्यावर्तन तस्यानुरीत्यानुक्रमणेन पूर्णीभवन् सम्पूर्णता गच्छन् साम्य सर्वसावद्ययोगविरतिमात्रलक्षण सामायिकचारित्र येषा ते तथाभूता भूत्वा । सकलीकुर्वन्ति—
१५ सामायिकशिखरारोहणेन सूक्ष्मसाम्परायकाष्ठामधिष्ठाय यथाख्यातरूपता नयन्ति । निर्वान्ति ते—अयोग-चरमसमय एव चारित्रस्य सम्पूर्णीभावादयोगानामचारित्रस्य व्यापकत्वात् ।

'यत: असंयमके निमित्तसे आनेवाले नवीन कर्मसमूहको रोकने रूप महान् प्रयोजनको साधते है, महान् पुरुषोंके द्वारा पाले जाते है तथा स्वयं महान् होनेसे उन्हें महाव्रत कहते है।' इन व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन विरति नामक छठा अणुव्रत भी कहा है। यथा—'उन्ही अहिंसादि-व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजननिवृत्ति नामक व्रत है। तथा पाँच समिति और तीन गुप्तिरूप आठ प्रवचन माता है। जैसे माता पुत्रोंकी अपायसे रक्षा करती है वैसे ही पॉच समिति और तीन गुप्ति व्रतोंकी रक्षा करती है। तथा सभी भावनाएँ भी व्रतोंकी रक्षिका है।'

रात्रिमे चारों प्रकारके आहारका त्याग रात्रिभोजननिवृत्ति है। उसे अणुव्रत कहा है क्योंकि जैसे हिंसा आदि पापोंका सर्वथा त्याग किया जाता है उस तरह भोजनका सर्वथा त्याग नहीं किया जाता। किन्तु केवल रात्रिमें ही भोजनका त्याग किया जाता है, दिनमे तो समयपर भोजन किया जाता है। इसलिए इसे अणुव्रत कहा है। विजयोदया टीकामे उक्त गाथाकी व्याख्या करते हुए कहा है—यदि मुनि रात्रिमे भिक्षाके लिए विचरण करता है तो त्रस जीवो और स्थावर जीवोका घात करता है। रात्रिके समय वह दाताके आनेका मार्ग, उसके अन्न आदि रखनेका स्थान, अपने खड़े होनेका स्थान, उच्छिष्ट भोजनके गिरनेका स्थान अथवा दिया जानेवाला आहार योग्य है या नहीं, यह सब वह कैसे जान सकता है? जो सूक्ष्म जीव दिनमे भी कठिनतासे देखे जा सकते है उन्हे रात्रिमें कैसे देखकर उनका बचाव कर सकता है। रात्रिमें आहार देनेके पात्र वगैरहका शोधन कैसे हो सकता है। सम्यक् रीतिसे देखे विना ही एपणा समितिकी आलोचना करनेपर साधुका सत्यव्रत कैसे रह सकता है। स्वामीके सोनेपर उसके द्वारा नहीं दिया गया आहार ग्रहण करनेसे चोरीका

---

१ य अट्ठयाण—भ आ

तथा चोक्तम्—

'सीलेसिं सपत्तो णिरुद्ध णिस्सेस आसवो जीवो।
कम्मरयविप्पमुक्को गयजोगो केवली होदि ॥'

दोष लगता है। दिनमें किसी पात्रमें आहार लाकर रात्रिमे खानेसे अपरिग्रहव्रतका लोप होता है। किन्तु रात्रिभोजनका ही त्याग करनेसे पाँचों ही व्रत परिपूर्ण रहते है। अतः पाँचों व्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रिभोजन निवृत्ति व्रत है।

तत्त्वार्थसूत्रके सातवे अध्यायके प्रथम सूत्रमे हिंसा आदि पाँच पापोंके त्यागको व्रत कहा है। उसकी सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदि टीकाओंमे यह शंका[1] की गयी है कि रात्रिभोजन नामका एक छठा अणुव्रत रात्रिभोजननिवृत्ति है उसको भी यहाँ कहना चाहिए ? इसका समाधान यह किया गया है कि उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रतकी आलोकित पानभोजन भावनामें होता है इसलिए उसे नही कहा है।

तत्त्वार्थाधिगम भाष्यमे इसकी कोई चर्चा नहीं है। किन्तु सिद्धसेन गणिने उसकी टीकामे इस चर्चाको उठाया है जो सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थवार्तिकका ही प्रभाव प्रतीत होता है। उसमे कहा है—जैसे असत्य आदिका त्याग अहिंसाव्रतके परिपालनके लिए होनेसे मूलगुण है उसी तरह रात्रिभोजनविरति भी मूलगुण होना चाहिए ? इसका उत्तर यह है कि महाव्रतधारीके लिए ही वह मूलगुण है क्योकि उसके विना मूलगुण पूर्ण नहीं हो सकते। अत अहिंसा आदि मूलगुणोंके ग्रहणमे उसका ग्रहण आ जाता है। तथा जैसे रात्रि भोजन सव व्रतोंका उपकारी है वैसे उपवास आदि उपकारी नहीं है। इसलिए महाव्रतीका वह मूलगुण है, शेष उत्तरगुण हैं। किन्तु अणुव्रतधारीका रात्रिभोजनत्याग उत्तरगुण है क्योंकि उसमें आहारका त्याग होता है। अथवा वह उपवासकी तरह तप ही है। 'रात्रिभोजनमे क्या दोष है' इसके उत्तरमे वही बाते कही गयी हैं जो ऊपर विजयोदया टीकामे और तत्त्वार्थवार्तिकमे कही है। विशेषावश्यक भाष्य (गा १२४०-४५) मे भी वही कथन है जो सिद्धसेन गणिकी टीकामे है। श्वे. आगम साहित्यमे भी पाँच मूलगुणोके साथ छठे रात्रि-भोजननिवृत्तिका निर्देश पाया जाता है। किन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं वतलायी है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि रात्रिभोजनका त्याग तो गृहस्थ अवस्थामे ही हो जाता है फिर मुनि अवस्थामे उसके त्यागका विधान क्यों किया गया ? इसका समाधान यह है कि गृहस्थ अवस्थामे मन, वचन, कायसे ही रात्रिभोजनका त्याग किया जाता है, कृत, कारित, अनुमोदनासे नहीं, क्योंकि गृहस्थ अवस्थामे इनसे वचाव होना कठिन होता है, स्वयं रात्रिभोजन न करके भी दूसरोंके लिए प्रबन्ध करना या कराना पडता है। न भी करे या करावे तब भी अनुमोदनसे वचना कठिन होता है। किन्तु मुनि नौ प्रकारोंसे रात्रि-भोजनका त्याग करता है। तत्त्वार्थसूत्रके नौवे अध्यायके अन्तिम सूत्रकी व्याख्यामे[2] सर्वार्थ-सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकमे कहा है कि पाँच मूल गुण और रात्रिभोजन त्यागमे-से वल-

१. ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमण तदिहोपसख्यातव्यम्। न, भावनास्वन्तर्भावात्। अहिंसाव्रत-भावना वक्ष्यन्ते। तत्र आलोकितपानभोजनभावना कार्येति।'—सर्वार्थ।

२ 'पञ्चाना मूलगुणाना रात्रिभोजनवर्जनस्य च पराभियोगाद् बलादन्यतम प्रतिसेवमान. पुलाको भवति।'

अपि च—

'यस्य पुण्यं च पाप च निष्फल गलति स्वयम् ।
स योगी तस्य निर्वाण न तस्य पुनरास्रवः ॥' [आत्मानु. २४६ ।] ॥१५०॥

पूर्वक किसी एकमें प्रतिसेवना करनेवाला पुलाक मुनि होता है। श्रुतसागरी टीकामें इसे स्पष्ट करनेके अभिप्रायसे यह शंका की गयी है कि पुलाक मुनि रात्रिभोजन त्याग व्रतकी विराधना कैसे करता है ? तो उसके समाधानमें कहा गया है कि इससे श्रावक आदिका उपकार होगा इस भावनासे छात्र आदिको रात्रिमे भोजन करानेसे विराधना होती है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मुनि नौ प्रकारसे रात्रिभोजनका त्यागी होता है। सर्वार्थसिद्धिपर आचार्य प्रभाचन्द्रका जो टिप्पण है उसमे यही अर्थ किया है। उसीका अनुसरण श्रुतसागरीमे किया है। अस्तु,

आचार्य कुन्दकुन्दने धर्मका स्वरूप इस प्रकार कहा[2] है—'निश्चयसे चारित्र धर्म है। वही साम्य है। मोह और क्षोभसे रहित आत्माका परिणाम साम्य है।'

इसकी व्याख्यामे आचार्य अमृतचन्द्रने स्वरूपमे चरणको अर्थात् स्वसमयप्रवृत्तिको चारित्र कहा है और उसीको वस्तु स्वभाव होनेसे धर्म कहा है। धर्म अर्थात् शुद्ध चैतन्यका प्रकाशन। वही यथावस्थित आत्मगुण होनेसे साम्य है। और साम्य दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयके उदयसे उत्पन्न होनेवाले समस्त मोह और क्षोभके अभावसे उत्पन्न अत्यन्त निर्विकार ऐसा जीवका परिणाम है। इस तरह मोह और क्षोभसे रहित जीवपरिणामका नाम साम्य है। साम्य ही धर्म है और धर्म चारित्र है अर्थात् ये सब एकार्थवाची है।

आचार्य समन्तभद्रने कहा[3] है—'मोहरूपी अन्धकारके दूर होनेपर सम्यग्दर्शनके लाभके साथ ही सम्यग्ज्ञानको प्राप्त करके साधु राग और द्वेषकी निवृत्तिके लिए चारित्रको धारण करता है।'

वह चारित्र साम्यभावरूप सामायिक चारित्र ही है। उसीकी पुष्टिके लिए साधु पॉच महाव्रतोंको धारण करता है। नीचेकी भूमिका अर्थात् गृहस्थ धर्ममे प्राणिरक्षा, सत्यभाषण, दी हुई वस्तुके ग्रहण, ब्रह्मचर्य और योग्य परिग्रहके स्वीकारमे जो प्रवृत्ति होती है, ऊपरकी भूमिकामे उसकी भी निवृत्ति हो जाती है। ऐसा होनेसे सर्वसावद्य योगकी निवृत्तिरूप सामायिक चारित्र परिपूर्ण होता हुआ सूक्ष्म साम्परायकी अन्तिम सीमाको प्राप्त करके यथाख्यात रूप हो जाता है। यद्यपि यथाख्यात चारित्र बारहवे गुणस्थानके प्रारम्भमे ही प्रकट हो जाता है तथापि उसकी पूर्णता चौदहवे अयोगकेवली गुणस्थानके अन्तिम समयमे

---

१ 'महाव्रतलक्षणपञ्चमूलगुणविभावरीभोजनवर्जनाना मध्येऽन्यतम वलात् परोपरोधात् प्रतिसेवमान' पुलाको विराधको भवति। रात्रिभोजनवर्जनस्य विराधक कथमिति चेत् ? उच्यते—श्रावकादीनामुपकारोऽनेन भविष्यतीति छात्रादिक रात्रौ भोजयतीति विराधक स्यात्।'

२ 'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥—प्रवचनसार, गा. ७।

३. मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञान।
रागद्वेषनिवृत्त्यै चरण प्रतिपद्यते साधुः ॥—रत्नकर श्रा., ४७।

अथ मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि सत्त्व-गुणाधिकक्लिश्यमानाविनेयेषु यथाक्रम भावयत सर्वाण्यपि व्रतानि पर दार्ढ्यमासादयन्तीति तद्भावनाचतुष्टये मुक्तिकामान् नियोक्तुमभिधत्ते—

मा भूत्कोपीह दु खी भजतु जगदसद्भर्म शर्मेति मैत्री
ज्यायो वृत्तेषु रज्यन्नयनमधिगुणेष्वेष्विवेति प्रमोदम् ।
दु खाद्रक्षेयमार्तान् कथमिति करुणां ब्राह्मि मामेहि शिक्षा
काऽद्रव्येष्वित्युपेक्षामपि परमपदाभ्युद्यता भावयन्तु ॥१५१॥

ही होती है। इस विषयमे आचार्य विद्यानन्द स्वामीने अपने तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमे जो महत्त्वपूर्ण चर्चा की है उसे यहाँ दिया जाता है।

लिखा[1] है—'केवलज्ञानकी उत्पत्तिसे पहले ही सम्पूर्ण यथाख्यात चारित्र उत्पन्न हो जाता है ऐसी आशंका नही करनी चाहिए। वह यथाख्यात चारित्र मुक्तिको उत्पन्न करनेमें सहकारी विशेषकी अपेक्षा रखता है अत. वह पूर्ण नहीं हो सकता। जो अपने विवक्षित कार्यको करनेमे अन्त्य क्षण अवस्थाको प्राप्त होता है वही सम्पूर्ण होता है। किन्तु केवलज्ञान-की उत्पत्तिसे पूर्वका चारित्र अन्त्य क्षण प्राप्त नहीं है क्योकि केवलज्ञानके प्रकट होनेके भी पश्चात् अघातिकर्मोंका ध्वंस करनेमे समर्थ सामग्रीसे युक्त सम्पूर्ण चारित्रका उदय होता है। शायद कहा जाये कि ऐसा माननेसे 'यथाख्यात पूर्ण चारित्र है' इस आगमवचनमें बाधा आती है। किन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योकि आगममे उसे क्षायिक होनेसे पूर्ण कहा है। समस्त मोहनीय कर्मके क्षयसे प्रकट होनेवाला चारित्र अंशरूपसे मलिन नहीं होता इसलिए उसे सदा निर्मल और आत्यन्तिक कहा जाता है। किन्तु वह चारित्र पूर्ण नहीं है। उसका विशिष्ट रूप बादमे प्रकट होता है। चारित्रका वह विशिष्ट रूप है नाम आदि तीन अघाति कर्मोंकी निर्जरा करनेमे समर्थ समुच्छिन्न क्रियाप्रतिपाति ध्यान। वह ध्यान चौदहवे गुणस्थानमे ही होता है। अत. अयोगकेवलीके अन्तिम समयमे ही चारित्र पूर्ण होता है। योगीके रहते चारित्र पूर्ण नहीं होता।

कहा भी है—'जो शीलके चौरासी हजार भेदोंके स्वामित्वको प्राप्त है, जिनके समस्त आस्रवोंका निरोध हो गया है तथा जो कर्मरजसे युक्त हो गये हैं ऐसे जीव अयोगकेवली होते हैं।'

और भी कहा है—'जिसका पुण्य और पाप विना फल दिये स्वयं झड जाता है वह योगी है, उसका निर्वाण होता है, वह पुनः आस्रवसे युक्त नहीं होता।' ॥१५०॥

प्राणि मात्रमे मैत्री, गुणी जनोमे प्रमोद, दु खी जीवोमे दया भाव, और अविनेयोमे माध्यस्थ्य भावका भावन करनेसे सभी व्रत अत्यन्त दृढ होते हैं। इसलिए इन चारों भाव-नाओंमे मुमुक्षुओंको नियुक्त करनेकी प्रेरणा करते है—

इस लोकमे कोई प्राणी दुखी न हो, तथा जगत् पारमार्थिक सुखको प्राप्त करे, इस प्रकारकी भावनाको मैत्री कहते हैं। जैसे चक्षु सामने दिखाई देनेवाले गुणाधिकोंको देखकर अनुरागसे खिल उठती है वैसे ही सुदूरवर्ती और अतीतकालमे हुए सम्यग्ज्ञान आदि गुणोसे उत्कृष्ट पुरुषोंको स्मरण करके रागसे द्रवित हुआ हृदय अत्यन्त प्रशसनीय होता है इस प्रकार-

---

1 प्रागेव क्षायिक पूर्णं क्षायिकत्वेन केवलात् ।
न त्वघातिप्रतिध्वंसिकरणोपेतरूपत ॥—त श्लो वा १।१।८५ ।

दुःखी—दु खेन च पापेन युक्त. । असद्भर्म—अविद्यमानव्याजं पारमार्थिकमित्यर्थ. । यदाह—

'मा कार्षीत् कोऽपि पापानि माभूत् कोऽपि दुःखितः ।
३ मुच्यता जगदप्येषा मतिर्मैत्री निगद्यते ॥' [ ]

ज्याय.—प्रशस्यतरम् । हृत्—मन । तेषु—सम्यग्ज्ञानादिगुणोत्कृष्टे(-षु) देशकाल-विप्रकृष्टेषु स्मृतिविषयेषु । एषु—पुरोवर्तिषु दृश्यमानेषु । प्रमोदं वदनप्रसादादिभिरभिव्यज्यमानमन्तर्भक्तिरागम् ।
६ तथा चाह—

'अपास्ताशेषदोषाणा वस्तुतत्त्वावलोकिनाम् ।
गुणेषु पक्षपातो यः स प्रमोद प्रकीर्तितः ॥' [ ]

९ करुणा—दीनानुग्रहभावम् । तथा चाह—

'दीनेष्वार्तेषु भीतेषु याचमानेषु जीवितम् ।
प्रतीकारपरा बुद्धिः कारुण्यमभिधीयते ॥' [ ]

१२ ब्राह्मि—हे वाग्देवि । मां—साम्यभावनापरमात्मानम् । अद्रव्येषु—तत्त्वार्थश्रवणग्रहणाभ्यामसंपादित-गुणेषु । उपेक्षा—माध्यस्थ्यम् । यदाह—

'क्रूरकर्मसु नि शङ्क देवतागुरुनिन्दिषु ।
१५ आत्मशंसिषु योपेक्षा तन्माध्यस्थ्यमुदीरितम् ॥' [ ]

इमानि च मैत्र्यादिसूक्तानि ध्येयानि—

'कायेन मनसा वाचा परे सर्वत्र देहिनि ।
१८ अदु खजननी वृत्तिर्मैत्री मैत्रीविदां मता ॥

की भावनाको प्रमोद कहते है । 'मै दु खसे पीडित प्राणियोकी कैसे रक्षा करूँ' इस प्रकारकी भावना करुणा है । हे वचनकी अधिष्ठात्री देवी ! तुम मेरे साम्यभावमे लीन आत्मामे अवतरित होओ, अर्थात् बोलो मत, क्योकि जिनमे सज्जनोके द्वारा आरोपित गुणोका आवास नही है अर्थात् जो अद्रव्य या अपात्र है उनको शिक्षा देना निष्प्रयोजन है इस प्रकारकी भावना माध्यस्थ्य है । जो अनन्त चतुष्टयरूप परम पदको प्राप्त करनेके लिए तत्पर है उन्हें इन भावनाओका निरन्तर चिन्तन करना चाहिए ॥१५१॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थसूत्र (७।११) मे व्रतीके लिए इन चार भावनाओंका कथन किया है। परमपदके इच्छुक ही व्रतादि धारण करते है अत. उन्हें ये भावनाएँ क्रियात्मक रूपसे भानी चाहिए। प्रथम है मैत्री भावना। मित्रके भाव अथवा कर्मको मैत्री कहते है। प्राणिमात्रको किसी प्रकारका दुःख न हो इस प्रकारकी आन्तरिक भावना मैत्री है। दु.खके साथ दु खका कारण जो पाप है वह भी लेना चाहिए। अर्थात् कोई प्राणी पापकर्ममे प्रवृत्त न हो ऐसी भी भावना होनी चाहिए। केवल भावना ही नहीं, ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए। कहा है—'अन्य सब जीवोंको दुःख न हो' मन, वचन और कायसे इस प्रकारका बरताव करनेको मैत्री कहते है।

जो अपनेसे विशिष्ट गुणशाली है उनको देखते ही मुख प्रफुल्लित होनेसे आन्तरिक भक्ति प्रकट होती है। उसे ही प्रमोद कहते है। तप आदि गुणोसे विशिष्ट पुरुषको देखकर जो विनयपूर्वक हार्दिक प्रेम उमडता है उसे प्रमोद कहते हैं।

ऐसे भी कुछ प्राणी होते हैं जिन्होंने न तो तत्त्वार्थका श्रवण किया और श्रवण किया भी तो उसे ग्रहण नहीं किया। इससे उनमे विनय न आकर उद्धतपना होता है। समझानेसे

तपोगुणाधिके पुंसि प्रश्रयाश्रयनिर्भरः।
जायमानो मनोराग प्रमोदो विदुषा मत. ॥
दीनाभ्युद्धरणे बुद्धि कारुण्य करुणात्मनाम्। ३
हर्षामर्षोज्झिता वृत्तिर्माध्यस्थ्य निर्गुणात्मनि ॥' [सोम उपा ३३५-३३७]

भावयन्तु—वीर्यान्तरायचारित्रमोहक्षयोपशमे सत्यसकृत् प्रवर्तयन्तु ॥१५१॥

अधुना— ६

'अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायण.।
परात्मबुद्धिसपन्न स्वयमेव परो भवेत्' ॥ [समाधि त —८६ श्लो]

इति मोक्षमार्गविहरणक्रममुररीकृत्य मैत्र्यादिभावना-स्वाध्याय-व्यवहार-निश्चयध्यान-फलप्रकाशनेन ९ महाव्रतनिर्वाहपरास्तदुपयोगाय जागरयितुमाह—

मैत्र्याद्यभ्यसनात् प्रसद्य समयादावेद्य युक्त्याञ्चितात्
यत्किंचिद्रुचितं चिरं समतया स्मृत्वातिसाम्योन्मुखम्। १२
ध्यात्वार्हन्तमुतस्विदेकमितरेष्वत्यन्तशुद्धं मनः
सिद्धं ध्यायदहंमहोमयमहो स्याद्यस्य सिद्ध स वै ॥१५२॥

प्रसद्य—अप्रशस्तरागद्वेषादिरहित भूत्वा। यदाह— १५

'एता मुनिजनानन्दसुधास्यन्दैकचन्द्रिका.।
ध्वस्तरागादिसक्लेशा लोकाग्रपथदीपिका ॥' [ज्ञानार्णव २७।१५।]

अर्चितात्—पूजितादनुगृहीतादित्यर्थ । रुचितं—श्रद्धया विषयीकृतम्। १८

उलटे नाराज होते हैं। ऐसे प्राणियोमे उपेक्षाभाव रखना माध्यस्थ्य है। कहा भी है—जो क्रूर कर्मोंमें नि शंक प्रवृत्ति करते है, देवता-गुरुकी निन्दा करते है, अपनी प्रशंसा करते है, उनमे उपेक्षा भाव रखना माध्यस्थ्य कहा है। इस प्रकार उक्त भावनाएँ सतत भानी चाहिए ॥१५१॥

आगे 'जो अव्रती है वह व्रत ग्रहण करके और व्रतीको ज्ञानाभ्यासमें तत्पर होकर तथा ज्ञान तत्पर परमात्म-बुद्धिसे सम्पन्न होकर स्वयं परमात्मा हो जाता है।'

इस कथनके अनुसार मोक्षमार्गमे विहार करना स्वीकार करके जो उक्त महाव्रतोंका निर्वाह करनेमे तत्पर हैं उन्हे मैत्री आदि भावनाओ, स्वाध्याय तथा व्यवहार निश्चयरूप ध्यानका फल बताते हुए उनके उपयोगके लिए सावधान करते है—

मैत्री आदि भावनाओके अभ्याससे अप्रशस्त रागद्वेषसे रहित होकर, आगम अविरुद्ध युक्तियोंसे सुशोभित, आगमसे ध्यान करनेके योग्य जीव आदि वस्तुका यथार्थ रूपसे निर्णय करके, जबतक परम उदासीनताकी योग्यता प्राप्त हो तबतक जो कोई चेतन या अचेतन वस्तु रागद्वेषका विषय न होकर श्रद्धाका विषय हो उसका ध्यान करे, और परम औदासीन्य परिणामके प्रयत्नसे तत्पर होते हुए अर्हन्तका अथवा आचार्य, उपाध्याय और साधुमे-से किसी एकका ध्यान करके अत्यन्त शुद्ध सिद्ध परमात्माका ध्यान करे। हे महाव्रतोंका पालन करनेमे उद्यत मुनिगण! ऐसा करते हुए जिस साधुका मन आत्मतेजोमय हो जाता है वही साधु शुद्ध निश्चयवादियोमे महाव्रतोका अच्छी तरह पालन करनेवाला माना जाता है अथवा शुद्धस्वरूप परिणत वह ध्याता निश्चयसे सिद्ध है, अर्थात् भावसे परममुक्त होता है ॥१५२॥

विशेषार्थ—महाव्रती साधुओंको किस प्रकार अपने लक्ष्यकी ओर बढना चाहिए, इसका दिग्दर्शन यहाँ किया है। सबसे प्रथम अप्रशस्त रागद्वेषसे बचनेके लिए ऊपर बतलायी

यदाह—

'यत्रैवाहितधी पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।
३ श्रद्धा यत्रैव जायेत चित्तं तत्रैव लीयते ॥' [समाधि तं श्लो. ९५]

अपि च—

'वहुनात्र किमुक्तेन ज्ञात्वा श्रद्धाय तत्त्वत. ।
६ ध्येय समस्तमप्येतन्माध्यस्थ्य तत्र बिभ्रता ॥' [तत्त्वानु. १३८ श्लो.]

अतीत्यादि । उक्त च—

'सति हि ज्ञातरि ज्ञेयं ध्येयता प्रतिपद्यते ।
९ ततो ज्ञानस्वभावोऽयमात्मा ध्येयतम. स्मृतः ॥'
'तत्रापि तत्त्वत पञ्च ध्यातव्या परमेष्ठिन. ।
चत्वार सकलास्तेषु सिद्धस्वामी तु निष्कल. ॥' [तत्त्वानु. ११८-११९]

गयी मैत्री आदि भावनाओका अभ्यास करना चाहिए। क्योकि कहा है—ये भावनाएँ मुनिजनोंमे आनन्दामृतकी वर्षा करनेवाली अपूर्व चन्द्रिकाके समान है। ये रागादि संक्लेशों-को ध्वस्त करनेवाली मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिए दीपिकाके समान हैं। इसके साथ ही युक्ति और आगमके अभ्याससे जीवादि तत्त्वोंका निर्णय करके उनमे-से जो रुचे उसका ध्यान करे। रुचनेसे मतलव यह नहीं है कि जिससे राग या द्वेष हो उसका ध्यान करे। ऐसा ध्यान तो सभी ससारी प्राणी करते है। रागद्वेपका विषय न होते हुए जो श्रद्धाका विषय हो वह रुचित कहा जाता है। कहा है—

जिस किसी विषयमे पुरुपकी बुद्धि सावधान होती है उसी विषयमे उसकी श्रद्धा होती है। और जिस विषयमे श्रद्धा होती है उसीमे चित्त लीन होता है। तथा—इस विषयमे बहुत कहनेसे क्या, इस समस्त ध्येयको यथार्थ रूपसे जानकर तथा श्रद्धान करके उसमे माध्यस्थ्य भाव रखकर ध्यान करना चाहिए।

अत. ध्येयमे माध्यस्थ्य भाव आवश्यक है क्योंकि ध्यानका प्रयोजन ही परम औदासीन्य भाव है। इसलिए ध्याताको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। अब प्रश्न होता है कि किसका ध्यान करना चाहिए। कहा है—ज्ञाताके होनेपर ही ज्ञेय ध्येयताको प्राप्त होता है। इसलिए ज्ञानस्वरूप यह आत्मा ही ध्येयतम—सबसे अधिक ध्यान करने योग्य है। उसमे भी वस्तुत पाँच परमेष्ठी ध्यान करनेके योग्य हैं। उनमें अर्हन्त, आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी तो सशरीर होते हैं और सिद्ध स्वामी अशरीर है। ध्यानके चार भेद ध्येयकी अपेक्षासे कहे हैं—पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। अर्हन्त परमात्माके स्वरूपका चिन्तन रूपस्थ ध्यान है क्योकि अर्हन्त सशरीर होते हैं। और अशरीरी सिद्धोंके स्वरूपका चिन्तन रूपातीत ध्यान है। इन ध्यानोंके स्वरूपका विस्तारसे वर्णन ज्ञानार्णवमे किया है। मुक्तिकी प्राप्तिमें ध्यानका बहुत महत्त्व है। कहा है—

---

१ यत्रैव जायते श्रद्धा भ कु च ।

२ किमत्र बहुनोक्तेन भ कु च ।

३. 'स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि ।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधिय सदाप्यपास्यालस्यम् ॥—तत्त्वानुशा. ३३ श्लो ।

इतरेषु—आचार्यादिषु त्रिषु मध्ये। अहमहोमयं—आत्मतेजोरूपम्। उक्त च—

'लवण व सलिलजोए झाणे चित्त विलीयए जस्स।

तस्स सुहासुहडहणो अप्पा अणलो पयासेइ॥' [आरा सार, ८४ गा] ३

अहो—भो महाव्रतपालनोद्यता मुनय। सिद्ध —शुद्धनिश्चयवादिना निर्व्यूढमहोसरत्वेन प्रसिद्ध। तथा चोक्तम्—'स च मुक्तिहेतुरिद्ध' इत्यादि॥१५२॥

एव विशेषसामान्यभावना रात्रिभोजनवर्जनपरिकराणि व्रतान्यभिधाय सांप्रत गुप्तिसमितीर्व्याख्यातुकामस्तासां प्रवचनमातृत्वोपपत्तिप्रतिपादनपूर्वक व्रतोद्यतानामाराध्यत्वमुपदिशति— ६

अहिंसां पञ्चात्म व्रतमथ यताङ्गं जनयितुं,

सुवृत्तं पातुं वा विमलयितुमम्बा श्रुतविदः। ९

विदुस्तिस्रो गुप्तीरपि च समिती पञ्च तदिमा,

श्रयन्त्विष्टायाष्टौ प्रवचनसवित्रीर्व्रतपरा॥१५३॥

'यत निश्चय और व्यवहाररूप दोनो प्रकारका निर्दोष मोक्षमार्ग ध्यानकी साधनामे प्राप्त होता है। अत हे सुधीजनो! सदा ही आलस्यको त्याग कर ध्यानका अभ्यास करो।' ध्यानसे मनुष्य तन्मय होकर उसी रूप हो जाता है। कहा है—

'जो आत्मा जिस भावरूप परिणमन करता है वह उस भावके साथ तन्मय हो जाता है। अत अर्हन्तके ध्यानमें तन्मय हुआ आत्मा स्वयं भावअर्हन्त हो जाता है। आत्माके स्वरूपको जाननेवाला आत्माको जिस भावसे जिस रूपमे ध्याता है उसके साथ वह तन्मय हो जाता है जैसे स्फटिक मणि जिस-जिस रंगवाली उपाधिके साथ सम्बन्ध करती है उस-उस रंगवाली हो जाती है। अतः अर्हन्त और सिद्धके स्वरूपको जानकर उनका ध्यान करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि ध्यान ही वह अग्नि है जिसमे शुभ और अशुभ कर्म जलकर भस्म होते हैं। कहा है—'जिस योगीका चित्त ध्यानमे उसी तरह विलीन हो जाता है जैसे नमक पानीमे लय हो जाता है उसके शुभ और अशुभ कर्मोंको जला डालनेवाली आत्मरूप अग्नि प्रकट होती है। अतः महाव्रतोंके पालनमे तत्पर मुनिको ध्यानका अभ्यासी होना चाहिए।'

इस प्रकार महाव्रतोंका प्रकरण समाप्त होता है॥१५२॥

इस प्रकार महाव्रतोंका और उनके सहकारी विशेष और सामान्य भावनाओंका तथा रात्रिभोजन-त्यागका कथन करके अब गुप्ति और समितिका व्याख्यान करना चाहते हैं। अतः उन्हें आगममे प्रवचनकी माता क्यों कहा है इसकी उपपत्ति वताते हुए व्रतोंमे तत्पर साधुओंको उनकी आराधना करनेका उपदेश देते हैं—

---

१ महाव्रतभरत्वेन भ कु च।

२ उत्तराध्ययनमें कहा है कि इन आठोमें सम्पूर्ण द्वादशाग अवतरित होता है इसलिए इन्हे प्रवचनमाता कहा है—'अट्ठमु वि समिईसु अ दुवालसंग अयोअरई जम्हा।

तम्हा पवयणमाया अज्झयण होइ नायव्वे॥

३ परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।

अर्हद्ध्यानाविष्टो भावार्हन् स्यात् स्वय तस्मात्॥

येन भावेन यद्रूप ध्यायत्यत्मानमात्मवित्।

तेन तन्मयता याति सोपाधि स्फटिको यथा॥ —तत्त्वानुशा १९०-१९१ श्लो।

यताङ्गं—यतस्य सावद्यविरतस्य योगवयंवायमानस्याङ्गं शरीरम् । अम्बा.—मातृरिव । यथा जनन्य पुत्रशरीरं जनयन्ति पालयन्ति शोधयन्ति च तथैताः सम्यक्चारित्रलक्षणं यतिगात्रमित्यर्थ. । प्रवचन-
३ सवित्री —प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातृ ॥१५३॥

अथ गुप्तिसामान्यलक्षणमाह—

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षतः ।
६ **पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह ॥१५४॥**

गोप्तुं—रक्षितुम् । प्रतिपक्षत —मिथ्यादर्शनादित्रयात्कर्मबन्धाद्वा । पापयोगान्—व्यवहारेण पापा पापार्था निश्चयेन च शुभाशुभकर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तान् । यदाह—

९ 'वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत्तत् गुप्तित्रयं मतम् ॥' [ज्ञानार्णव १८।४]

अहिंसारूप अथवा हिंसाविरति आदि पाँच रूप सम्यक् चारित्र सावद्ययोगसे विरत साधुका अथवा योगके लिए प्रयत्नशील साधुका शरीर है। उसे उत्पन्न करनेके लिए, रक्षण करनेके लिए और निर्मल करनेके लिए माताके तुल्य होनेसे आगमके ज्ञाता पुरुष तीन गुप्तियों और पाँच समितियोंको माता मानते हैं। इसलिए व्रतोंका पालन करनेवालोंको इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए इन आठ प्रवचन माताओंकी आराधना करना चाहिए ॥१५३॥

विशेषार्थ—जैसे माताएँ पुत्रोंके शरीरको जन्म देती हैं, उनका पालन करती हैं, रोगादि होनेपर शोधन करती हैं उसी तरह गुप्ति और समितियाँ मुनिके सम्यक् चारित्ररूप शरीरको जन्म देती हैं, पालन करती हैं और शुद्ध करती है। गुप्ति और समितियोंके विना सम्यक्-चारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और निर्दोपता सम्भव नहीं है। इसीलिए आगममें इन्हें रत्नत्रयरूप प्रवचनकी माता कहा है। अतः सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्रके आराधक साधुको इनका पालन सावधानतापूर्वक अवश्य करना चाहिए। इनमें प्रमादी होनेसे महाव्रतकी रक्षाकी बात तो दूर, उनका जन्म ही सम्भव नहीं है ॥१५३॥

गुप्तिका सामान्य लक्षण कहते हैं—

लोगोंके द्वारा की जानेवाली पूजा, लाभ और ख्यातिकी इच्छा न करनेवाले साधुको सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको मिथ्यादर्शन आदिसे रक्षा करनेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए ॥१५४॥

विशेषार्थ—गुप्ति शब्द 'गोप्' धातुसे बना है जिसका अर्थ रक्षण है। अर्थात् जिससे संसारके कारणोंसे आत्माकी रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते है। इसी अर्थको दृष्टिमे रखकर ग्रन्थकारने गुप्तिका सामान्य लक्षण कहा है कि साधुको लोकपूजा आदि लौकिक विषयोंकी इच्छा न करके रत्नत्रयस्वरूप आत्माको रत्नत्रयके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे बचानेके लिए पापयोगोंका निग्रह करना चाहिए। व्यवहारनयसे पाप है पापरूप कार्य और निश्चयनयसे पाप है योग अर्थात् मन-वचन-कायका व्यापार, क्योंकि वह शुभ और अशुभ कर्मोंके आस्रवका कारण है। कहा है—'मन-वचन-कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिषेध करनेवाली अथवा तीनों योगोंकी रोधक तीन गुप्तियाँ मानी गयी हैं।'

---

१. योगय वा यतमान—भ कु. च ।

लोकपङ्क्ति—लोकपूजा। आदिशब्दाल्लाभख्याती। एतेन सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति इत्यनुसूचित प्रतिपत्तव्यम् ॥१५४॥

अथ दृष्टान्तेन गुप्तिप्रयोगाय जागरयति— ३

[1]प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद् रत्नभासुरम्।
पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभि. ॥१५५॥

वप्र—धूलीप्राकार। रत्नभासुर—सम्यग्दर्शनादिभि. स्वस्वजात्युत्कृष्टैश्चार्थै साधुत्वेन भासमानम् ॥१५५॥ ६

अथ मनोगुप्त्यादीना विशेपलक्षणान्याह—

[2]रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूतां, ९
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणा वोक्तिगुप्तिम्।
कायोत्सर्गस्वभावां विशररतचुरापोहदेहामनीहा-
काया वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥१५६॥ १२

समय—आगम। स त्रेधा शब्दसमयोऽर्थसमयो ज्ञानसमयश्चेति। सद्ध्यान धर्म्यं शुक्ल च। तथा चोक्तम्—

उक्त लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्रके 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति' इस लक्षणका ही सूचन होता है। इसमें योगका अर्थ है मन वचन कायका व्यापार। उसकी स्वेच्छाचारिताको रोकना निग्रह है। विपयसुखकी अभिलापासे प्रवृत्ति निपेधके लिए 'सम्यक्' विशेपण दिया है। इस तरहसे काय आदि योगका निरोध करनेपर उसके निमित्तसे कर्मका आस्रव नहीं होता ॥१५४॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा गुप्तियोका पालन करनेके लिए साधुओंको सावधान करते हैं—

जैसे राजा रत्नोंसे अर्थात् अपनी-अपनी जातिके उत्कृष्ट पदार्थोंसे शोभायमान नगरकी प्राकार (अन्दरकी चारदीवारी), खाई और उसके बाहरकी कच्ची चारदीवारीसे रक्षा करते हैं उसी तरह व्रतीको सम्यग्दर्शन आदि रत्नोसे शोभित अपनी आत्माकी रत्नत्रयको नष्ट करनेवाले अपायोसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके द्वारा रक्षा करनी चाहिए ॥१५५॥

आगे मनोगुप्ति आदिका विशेप लक्षण कहते हैं—

राग, द्वेप और मोहके त्याग रूप अथवा आगमका विनयपूर्वक अभ्यास और धर्म्य तथा शुक्लध्यानरूप मनोगुप्ति है। कठोर आदि वचनोंका त्याग वचनगुप्तिका शरीर है अथवा मौनरूप वचनगुप्ति है। शरीरसे ममत्वका त्याग रूप स्वभाववाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरीसे निवृत्तिरूप स्वभाववाली, अथवा सर्व चेष्टाओंसे निवृत्ति रूप वाली कायगुप्ति है। समस्त हेय उपादेयको तत्त्व रूपसे देखकर जीवन मरण आदिमे समबुद्धि रखनेवाला साधु इन गुप्तियोंका पालन करते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥१५६॥

विशेपार्थ—भगवती आराधनामे गुप्तियोका स्वरूप कहा है—

---

१ छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अहव होइ पायारो।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८९॥—भ. आरा.।

२. जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ति ॥
कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ति।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि दिट्ठा ॥—भ. आ ११८७-८८ मि.।

यताङ्ग—यतस्य सावद्यविरतस्य योगवयंवायमानस्याङ्ग शरीरम् । अम्बा:—मातृरिव । यथा जनन्य पुत्रशरीर जनयन्ति पालयन्ति शोधयन्ति च तथैता. सम्यक्चारित्रलक्षण यतिगात्रमित्यर्थ । प्रवचन-
३ सवित्री.—प्रवचनस्य रत्नत्रयस्य मातृ ॥१५३॥

अथ गुप्तिसामान्यलक्षणमाह—

गोप्तुं रत्नत्रयात्मानं स्वात्मानं प्रतिपक्षत' ।
६ पापयोगान्निगृह्णीयाल्लोकपङ्क्त्यादिनिस्पृह ॥१५४॥

गोप्तु—रक्षितुम् । प्रतिपक्षत —मिथ्यादर्शनादित्रयात्कर्मबन्धाद्वा । पापयोगान्—व्यवहारेण पापा पापार्था निश्चयेन च शुभाशुभकर्मकारणत्वान्निन्दिता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तान् । यदाह—

९ 'वाक्कायचित्तजानेकसावद्यप्रतिषेधकम् ।
त्रियोगरोधकं वा स्याद्यत्तत् गुप्तित्रय मतम् ॥' [ज्ञानार्णव १८।४]

अहिसारूप अथवा हिसाविरति आदि पॉच रूप सम्यक् चारित्र सावद्ययोगसे विरत साधुका अथवा योगके लिए प्रयत्नशील साधुका शरीर है। उसे उत्पन्न करनेके लिए, रक्षण करनेके लिए और निर्मल करनेके लिए माताके तुल्य होनेसे आगमके ज्ञाता पुरुप तीन गुप्तियों और पॉच समितियोंको माता मानते है। इसलिए व्रतोंका पालन करनेवालोंको इष्ट अर्थकी सिद्धिके लिए इन आठ प्रवचन माताओंकी आराधना करना चाहिए ॥१५३॥

विशेषार्थ—जैसे माताऍ पुत्रोंके शरीरको जन्म देती है, उनका पालन करती हैं, रोगादि होनेपर शोधन करती हैं उसी तरह गुप्ति और समितियॉ मुनिके सम्यक् चारित्ररूप शरीरको जन्म देती हैं, पालन करती है और शुद्ध करती है। गुप्ति और समितियोके विना सम्यक्-चारित्रकी उत्पत्ति, रक्षा और निर्दोपता सम्भव नहीं है। इसीलिए आगममें इन्हें रत्नत्रयरूप प्रवचनकी माता कहा है। अत. सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्रके आराधक साधुको इनका पालन सावधानतापूर्वक अवश्य करना चाहिए। इनमे प्रमादी होनेसे महाव्रतकी रक्षाकी वात तो दूर, उनका जन्म ही सम्भव नही है ॥१५३॥

गुप्तिका सामान्य लक्षण कहते है—

लोगोके द्वारा की जानेवाली पूजा, लाभ और ख्यातिकी इच्छा न करनेवाले साधुको सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रयस्वरूप अपनी आत्माको मिथ्यादर्शन आदिसे रक्षा करनेके लिए पापयोगोका निग्रह करना चाहिए ॥१५४॥

विशेपार्थ—गुप्ति शब्द 'गोप्' धातुसे बना है जिसका अर्थ रक्षण है। अर्थात् जिससे संसारके कारणोसे आत्माकी रक्षा होती है उसे गुप्ति कहते है। इसी अर्थको दृष्टिमे रखकर ग्रन्थकारने गुप्तिका सामान्य लक्षण कहा है कि साधुको लोकपूजा आदि लौकिक विषयोंकी इच्छा न करके रत्नत्रयस्वरूप आत्माको रत्नत्रयके प्रतिपक्षी मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रसे वचानेके लिए पापयोगोका निग्रह करना चाहिए। व्यवहारनयसे पाप है पापरूप कार्य और निश्चयनयसे पाप है योग अर्थात् मन-वचन-कायका व्यापार, क्योंकि वह शुभ और अशुभ कर्मोके आस्रवका कारण है। कहा है—'मन-वचन-कायसे उत्पन्न अनेक पापसहित प्रवृत्तियोंका प्रतिपेध करनेवाली अथवा तीनों योगोकी रोधक तीन गुप्तियॉ मानी गयी है।'

---

१. योगय वा यतमान—भ कु. च.।

लोकपङ्क्ति—लोकपूजा । आदिशब्दाल्लाभख्याती । एतेन सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति इत्यनुसूचित प्रतिपत्तव्यम् ॥१५४॥

अथ दृष्टान्तेन गुप्तिप्रयोगाय जागरयति— ३

[1]प्राकारपरिखावप्रैः पुरवद् रत्नभासुरम् ।
पायादपायादात्मानं मनोवाक्कायगुप्तिभि. ॥१५५॥

वप्र—धूलीप्राकार । रत्नभासुर—सम्यग्दर्शनादिभि. स्वस्वजात्युत्कृष्टैश्चार्थै साधुत्वेन भासमानम् ॥१५५॥ ६

अथ मनोगुप्त्यादीना विशेषलक्षणान्याह—

[2]रागादित्यागरूपामुत समयसमभ्याससद्ध्यानभूतां, ९
चेतोगुप्तिं दुरुक्तित्यजनतनुमवाग्लक्षणां वोक्तिगुप्तिम् ।
कायोत्सर्गस्वभावां विशररतचुरापोहदेहामनीहा-
कायां वा कायगुप्तिं समदृगनुपतन्पाप्मना लिप्यते न ॥१५६॥ १२

समयः—आगम । स त्रेधा शब्दसमयोऽर्थसमयो ज्ञानसमयश्चेति । सद्ध्यान धर्म्यं शुक्लं च । तथा चोक्तम्—

उक्त लक्षणसे तत्त्वार्थसूत्रके 'सम्यग्योगनिग्रहो गुप्ति.' इस लक्षणका ही सूचन होता है। इसमें योगका अर्थ है मन वचन कायका व्यापार। उसकी स्वेच्छाचारिताको रोकना निग्रह है। विपयसुखकी अभिलापासे प्रवृत्ति निषेधके लिए 'सम्यक्' विशेपण दिया है। इस तरहसे काय आदि योगका निरोध करनेपर उसके निमित्तसे कर्मका आस्रव नही होता ॥१५४॥

आगे दृष्टान्तके द्वारा गुप्तियोंका पालन करनेके लिए साधुओंको सावधान करते हैं—

जैसे राजा रत्नोंसे अर्थात् अपनी-अपनी जातिके उत्कृष्ट पदार्थोंसे शोभायमान नगरकी प्राकार (अन्दरकी चारदीवारी), खाई और उसके बाहरकी कच्ची चारदीवारीसे रक्षा करते हैं उसी तरह व्रतीको सम्यग्दर्शन आदि रत्नोंसे शोभित अपनी आत्माकी रत्नत्रयको नष्ट करनेवाले अपायोंसे मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिके द्वारा रक्षा करनी चाहिए ॥१५५॥

आगे मनोगुप्ति आदिका विशेप लक्षण कहते हैं—

राग, द्वेप और मोहके त्याग रूप अथवा आगमका विनयपूर्वक अभ्यास और धर्म्य तथा शुक्लध्यानरूप मनोगुप्ति है। कठोर आदि वचनोंका त्याग वचनगुप्तिका शरीर है अथवा मौनरूप वचनगुप्ति है। शरीरसे ममत्वका त्याग रूप स्वभाववाली अथवा हिंसा, मैथुन और चोरीसे निवृत्तिरूप स्वभाववाली, अथवा सर्व चेष्टाओंसे निवृत्ति रूप वाली कायगुप्ति है। समस्त हेय उपादेयको तत्त्व रूपसे देखकर जीवन मरण आदिमे समबुद्धि रखनेवाला साधु इन गुप्तियोंका पालन करते हुए ज्ञानावरण आदि कर्मोंसे लिप्त नहीं होता ॥१५६॥

विशेपार्थ—भगवती आराधनामे गुप्तियोका स्वरूप कहा है—

---

१ छेत्तस्स वदी णयरस्स खाइया अइव होइ पायारो ।
तह पावस्स णिरोहो ताओ गुत्तीओ साहुस्स ॥११८९॥—भ आरा. ।

२. जा रागादिणियत्ती मणस्स जाणाहि त मणोगुत्ति ।
अलियादिणियत्ती वा मोणं वा होइ वचिगुत्ति ॥
कायकिरियाणियत्ती काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ति ।
हिंसादिणियत्ती वा सरीरगुत्ति हवदि दिट्ठा ॥—भ. आ ११८७-८८ गा. ।

'विहाय सर्वसंकल्पान् रागद्वेषावलम्बितान्।
स्वाधीनं कुर्वतश्चेतः समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ॥
सिद्धान्तसूत्रविन्यासे शश्वत्प्रेरयतोऽथवा।
३ भवत्यविकला नाम मनोगुप्तिर्मनीषिण. ॥' [ज्ञानार्णव १८।१५-१६]

अवाक्—मौनम्। तथा चोक्तम्—
'साधुसंवृतवाग्वृत्तेर्मौनारूढस्य वा मुनेः।
६ सञ्ज्ञादिपरिहारेण वाग्गुप्तिः स्यान्महामते. ॥' [ज्ञानार्णव १८।१७]
विरतेरित्यादि—हिंसामैथुनस्तेयत्यागरूपाम्। अनीहाकाया—अचेष्टारूपम्।

अपराजित सूरिकी विजयोदया टीकाके आधार पर उनका विवरण दिया जाता है—'मनकी रागादि निवृत्तिको मनोगुप्ति कहते हैं। यहाँ 'मनकी गुप्ति' ऐसा जो कहा है तो क्या प्रवृत्त मनकी गुप्ति होती है या अप्रवृत्त मन की ? यदि मन शुभमें प्रवृत्त है तो उसकी रक्षा कैसी ? यदि मन अप्रवृत्त है तो भी उसकी रक्षा कैसी, रक्षा तो सतकी होती है असतकी नहीं। सतको ही अपायसे बचाया जाता है। तथा यहाँ 'मन' शब्दसे द्रव्य मन लिया है, या भावमन ? यदि द्रव्यवर्गणारूप मन लिया है तो उसका अपाय क्या है जिससे उसको बचाकर उसकी रक्षा की जाये ? दूसरे, द्रव्य मन तो पुद्गल द्रव्य है उसकी रक्षा करनेसे जीवको क्या लाभ ? उसके निमित्तसे तो आत्माके परिणाम अशुभ होते हैं। अतः आत्माकी रक्षा उससे नहीं हो सकती। यदि नो इन्द्रिय-मतिज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमसे उत्पन्न हुआ ज्ञान मन शब्दसे लेते हैं तो उसका अपाय क्या ? यदि अपायसे विनाश लेते हैं तो उससे तो बचाव संभव नहीं है क्योंकि ज्ञान तो विनाशशील है यह बात अनुभवसिद्ध है। यदि ऐसा न हो तो आत्माकी प्रवृत्ति सदा एक ही ज्ञानमें रही आये। ज्ञान तो लहरोंकी तरह उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं। उनके अविनाशका कोई उपाय नहीं है। तीसरे, मन इन्द्रियोंके द्वारा रूपादि विषयोंको ग्रहण करता है तो आत्मामें राग द्वेष उत्पन्न होते हैं। अतः 'मनकी रागादिसे निवृत्ति' ऐसा कहना ही उचित नहीं है। इस शंकाका समाधान करते हैं—यहाँ मन शब्दसे नो इन्द्रियमति ली गयी है। वह आत्मामें रागादि परिणामोंके साथ एक कालमें होती है। क्योंकि विषयोंके अवग्रह आदि ज्ञानके बिना राग द्वेषमें प्रवृत्ति नहीं होती। और यह बात अनुभवसिद्ध है इसमें किसी अन्य युक्तिकी आवश्यकता नहीं है। किन्तु वस्तुतत्त्वके अनुरूप मानस ज्ञानके साथ राग द्वेष नहीं रहते, यह बात भी अनुभवसिद्ध है। अतः तत्त्वको जाननेवाले मनका रागादिके साथ नहीं होना ही मनोगुप्ति है। यहाँ मनका ग्रहण ज्ञानका उपलक्षण है अत रागद्वेषके कलंकसे रहित सभी ज्ञान मनोगुप्ति हैं। यदि ऐसा न माना जायगा तो इन्द्रिय जन्य मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान अथवा मन पर्यय ज्ञान रूप परिणत आत्माके मनोगुप्ति नहीं हो सकेगी। किन्तु आगममें उनके भी मनोगुप्ति मानी गयी है। अथवा जो आत्मा 'मनुते' अर्थात् जानता है, विचार करता है वही मन शब्दसे कहा जाता है। उसकी रागादिसे निवृत्ति या राग द्वेषरूपसे अपरिणति मनोगुप्ति है। ऐसा कहनेसे सम्यक् योगनिग्रहको गुप्ति कहते हैं, ऐसा कहना भी विरुद्ध नहीं है। दृष्ट फलकी अपेक्षा न करके वीर्यपरिणाम रूप योगका निग्रह अर्थात् रागादि कार्य करनेका निरोध मनोगुप्ति है। विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु होनेसे और दूसरोंके दु.खकी उत्पत्तिमें निमित्त होनेसे अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है। शंका—वचन पौद्गलिक है। विपरीत अर्थकी प्रतिपत्तिमें हेतु

तदुक्तम्—

'स्थिरीकृतशरीरस्य पर्यङ्क संश्रितस्य वा ।
परीषहप्रपातेऽपि कायगुप्तिर्मता मुने ॥' [ज्ञानार्णव १८।१८] ३

अपि च—

'कायक्रियानिवृत्तिः कायोत्सर्गं शरीरके गुप्ति. ।
हिंसादिनिवृत्तिर्वा शरीरगुप्ति समुद्दिष्टा ॥' [ ] ६

समदृक्—सम सर्व हेयमुपादेय च तत्त्वेन पश्यन् जीवितमरणादौ वा समबुद्धि ॥१५६॥

होना आदि वचनका धर्म है उससे संवर नहीं हो सकता क्योंकि वचन आत्माका धर्म नहीं है। समाधान—तो फिर व्यलीक अर्थात् कठोर, आत्मप्रशंसारूप, परनिन्दारूप दूसरोंमे उपद्रव करानेवाले वचनसे व्यावृत्ति वचनगुप्ति है अर्थात् इस प्रकारके वचनोंमे आत्माको प्रवृत्त न करनेवाली वचनगुप्ति है। जिस वचनमें प्रवृत्ति करनेसे आत्मा अशुभ कर्मका आस्रव करता है उस वचनमें प्रवृत्त न होना वचनगुप्ति है। अथवा समस्त प्रकारके वचनों-का परिहार करके मौन रहना वचनगुप्ति है। अयोग्य वचन न बोलना, विचार पूर्वक योग्य वचन भी बोलना या नहीं बोलना वचनगुप्ति है। और योग्य वचन बोलना ही भाषा समिति है। इस तरह गुप्ति और समितिमे बहुत भेद है। मौन वचन गुप्ति है ऐसा कहनेसे दोनोंका अन्तर स्पष्ट हो जाता है। औदारिक आदि शरीरकी जो क्रिया है उससे निवृत्ति शरीरगुप्ति है। शंका—बैठना, खड़े होना, सोना आदि क्रियाएँ है। और क्रिया आत्माकी प्रवर्तक है। तब कैसे आत्मा क्रियाओंसे व्यावृत्त हो सकता है। यदि कहोगे कि शरीरकी पर्याय क्रिया है, और आत्मा शरीरसे भिन्न पदार्थ है अतः अन्य द्रव्यकी पर्यायसे उस पर्यायसे शून्य अन्य द्रव्य व्यावृत्त होता है इसलिए ही आत्माको शरीर क्रियासे निवृत्त कहते हैं तब तो सभी आत्माओंके कायगुप्तिका प्रसंग आता है किन्तु वह मान्य नहीं है। समाधान—काय शब्दसे काय सम्बन्धी क्रिया ली जाती है। उसकी कारणभूत आत्माकी क्रियाको कायक्रिया कहते हैं। उसकी निवृत्ति कायगुप्ति है। अथवा कायोत्सर्ग अर्थात् शरीरकी अपवित्रता असारता और विपत्तिका मूल कारण जानकर उससे ममत्व न करना कायगुप्ति है। यदि कायोत्सर्गका अर्थ कायका त्याग लिया जाता है तो शरीर तो आयुकी साकलसे बँधा है उसका त्याग शक्य नहीं हो सकता। अथवा यहाँ गुप्तिका अर्थ निवृत्ति लेना चाहिए, यदि ऐसा न होता तो गाथाकार कायक्रियाकी निवृत्तिको शरीरगुप्ति न कहते। कायोत्सर्गसे निश्चलता कही जाती है। शंका—यदि ऐसा है तो 'कायक्रियानिवृत्ति' न कहकर 'कायोत्सर्ग कायगुप्ति है' इतना ही कहना चाहिए। समाधान—नहीं, क्योंकि कायके विषयमे 'यह मेरा है' इस भावसे रहितपनेकी अपेक्षासे कायोत्सर्ग शब्दकी प्रवृत्ति हुई है। यदि कायक्रियानिवृत्तिको कायगुप्ति नहीं कहेंगे तो दौड़ने, चलने, लाँघने आदि क्रियाओंको करनेवालेके भी कायगुप्ति माननी होगी। किन्तु ऐसी मान्यता नहीं है। और यदि कायक्रियानिवृत्तिको ही कायगुप्ति कहा जाता है तो मूर्छित व्यक्तिके भी वैसा पाया जाता है इसलिए उसके भी कायगुप्ति हो जायगी। इसलिए व्यभिचारकी निवृत्तिके लिए दोनोंका ही ग्रहण करना चाहिए। अर्थात् कर्मोंके ग्रहणमे निमित्त समस्त क्रियाओकी निवृत्तिको अथवा काय विषयक ममत्वके त्याग-को कायगुप्ति कहते हैं। अथवा प्राणीके प्राणोंका घात, विना दी हुई वस्तुका ग्रहण, मैथुन,

अथ परमार्थत्रिगुप्तमनूद्य तस्यैव परमसवरनिर्जरे भवत इत्युपदिशति—

लुप्तयोगस्त्रिगुप्तोऽर्थात्तस्यैवापूर्वमण्वपि ।
३ कर्मास्रवति नोपात्तं निष्फलं गलति स्वयम् ॥१५७॥

गुप्तयोग —निरुद्धकायमनोवाग्व्यापार ॥१५७॥

अथ सिद्धयोगमहिमानमाश्चर्यं भावयति—

६ अहो योगस्य माहात्म्यं यस्मिन् सिद्धेऽस्ततत्पथ ।
पापान्मुक्तः पुमाँल्लब्धस्वात्मा नित्यं प्रमोदते ॥१५८॥

योगस्य—ध्यानस्य । सिद्धे—अप्रमत्तसयतप्रथमसमयादारभ्यायोगप्रथमसमये व्युपरतक्रियानिवृत्तिम
९ लक्षणचतुर्थशुक्लध्यानरूपतया निष्पन्ने । अस्ततत्पथः—निराकृतपापमार्ग परमसवृत इत्यर्थ । लब्धस्वात्मा—मुक्त सन् ॥१५८॥

शरीरसे परिग्रहका ग्रहण इत्यादि विशिष्ट क्रियाएँ काय शब्दसे ली गयी हैं। उनसे व्यावृत्तिको कायगुप्ति कहते हैं। गुप्तिके उक्त लक्षणोंमे निश्चय और व्यवहार दोनों ही दृष्टियोंका संग्रह जानना चाहिए। आचार्य कुन्दकुन्दने अपने नियमसारमे दोनों दृष्टियोंसे पृथक् पृथक् स्वरूप कहा है। यथा—कालुष्य, मोह, संज्ञा, राग-द्वेष आदि अशुभ भावोंका परिहार व्यवहार नयसे मनोगुप्ति है। पापके हेतु स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा और भोजनकथा न करनेको तथा अलीक आदि वचनोंसे निवृत्ति वचनगुप्ति है। बाँधना, छेदन, मारण, हाथ-पैरका संकोच-विस्तार आदि कायक्रियाकी निवृत्ति व्यवहार कायगुप्ति है। निश्चयनयसे मनकी रागादिसे निवृत्ति मनोगुप्ति है, मौन वचनगुप्ति है, कायक्रिया निवृत्ति या कायोत्सर्ग कायगुप्ति है। (नियमसार गा ६६-७०) ॥१५६॥

इस प्रकार परमार्थसे त्रिगुप्तियुक्तका स्वरूप बताकर उसीके परम संवर और निर्जरा होती है ऐसा उपदेश करते हैं—

जिसका मन-वचन-कायका व्यापार रुक गया है वही परमार्थसे तीन गुप्तियोंसे युक्त है। उसीके एक परमाणु मात्र भी नवीन कर्मका आस्रव नहीं होता और पहले बँधा हुआ कर्म अपना फल दिये बिना स्वयं छूट जाता है ॥१५७॥

सिद्ध हुए ध्यानके आश्चर्यजनक माहात्म्यको कहते हैं—

योग अर्थात् ध्यानका माहात्म्य आश्चर्यजनक है जिसके सिद्ध होनेपर आत्मा पापकर्मके आनेके मार्गको सर्वथा बन्द करके और पूर्वबद्ध पापकर्मोंसे मुक्त होकर अपने स्वरूपको प्राप्त करके सदा परम आनन्दका अनुभव करता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—ध्यान ही मुक्तिका एक मात्र परमसाधन है। इसकी सिद्धिका आरम्भ अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानके प्रथम समयसे होता है और पूर्ति अयोगकेवली नामक चौदहवें गुणस्थानके प्रथम समयमे होनेवाले व्युपरत क्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यानके रूपमें होती है। उसी समय मन-वचन-कायका सब व्यापार रुक जानेसे परमार्थ त्रिगुप्ति होती है। वही अवस्था परमसंवर रूप है। उसीसे परम मुक्तिकी प्राप्ति होती है। क्योंकि संसारका अभाव होनेपर आत्माके स्वरूप लाभको मोक्ष कहते हैं। यहाँ 'पाप' शब्दसे सभी कर्म लेना चाहिए क्योंकि परमार्थसे कर्ममात्र संसारका कारण होनेसे पाप रूप है ॥१५८॥

अथ मनोगुप्तेरतीचारानाह—

रागाद्यनुवृत्तिर्वा शब्दार्थज्ञानवैपरीत्यं वा।
दुष्प्रणिधानं वा स्यान्मलो यथास्वं मनोगुप्तेः ॥१५९॥ ३

रागाद्यनुवृत्ति —रागद्वेषमोहानुगम्यमानात्मपरिणति । एतस्याश्चातिचारत्व मनोगुप्तौ सापेक्षत्वे-नैकदेशभङ्गत्वात् । एप रागादित्यागरूपाया मनोगुप्तेरतिचार' ॥१५९॥

अथ वाग्गुप्तेरतिचारानाह— ६

कार्कश्यादिगरोद्गारो गिरः सविकथादरः।
हुंकारादिक्रिया वा स्याद्वाग्गुप्तेस्तद्वदत्यय ॥१६०॥

कार्कश्यादीत्यादि एप दुरुक्तित्यागरूपाया वाग्गुप्तेरतिचार । हुंकारादिक्रिया—आदिशब्दाद् हस्तसंज्ञा- ९ खात्कारभ्रूचलनादय । एप मौनलक्षणाया वाग्गुप्तेरतिचार ॥१६०॥

अथ कायगुप्तेरतिचारानाह—

मनोगुप्तिके अतीचारोंको कहते हैं—

आत्माकी रागद्वेष मोहरूप परिणति, शब्द-विपरीतता, अर्थ-विपरीतता और ज्ञान-विपरीतता तथा दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त-रौद्ररूप ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना ये मनो-गुप्तिके यथायोग्य अतीचार होते हैं ॥१५९॥

विशेषार्थ—पहले मनोगुप्तिका स्वरूप तीन प्रकारसे कहा है—रागादिकी निवृत्ति, आगमका अभ्यास और सम्यक्ध्यान। इन्हीं तीनोंको ध्यानमें रखकर यहाँ मनोगुप्तिके अतीचार कहे है। आत्माकी परिणतिका रागद्वेष मोहका अनुगमन करना यह अतीचार प्रथम लक्षणकी अपेक्षासे कहा है। मनोगुप्तिकी अपेक्षा रखते हुए ही इसे अतीचार कहा जाता है क्योंकि एक देशके भगका नाम अतीचार है। शब्द शास्त्रका विरोधी होना अथवा विवक्षित अर्थको अन्यथारूपसे प्रकाशित करना शब्द-विपरीतता है। सामान्य विशेषात्मक अभिधेय वस्तु अर्थ है। केवल सामान्यरूप अथवा केवल विशेष रूप अथवा दोनोको स्वतन्त्र मानना अर्थ-विपरीतता है। अथवा आगममें जीवादि द्रव्योंका जैसा स्वरूप कहा है वैसा न मानकर अन्यथा मानना अर्थ-विपरीतता है। शब्दका, अर्थका अथवा उन दोनोंका विपरीत प्रतिभास ज्ञान-विपरीतता है। ये आगमके अभ्यास रूप मनोगुप्तिके अतीचार हैं। दुष्प्रणिधान अर्थात् आर्त रौद्ररूप ध्यान या ध्यानमें मन न लगाना समीचीन ध्यानरूप मनोगुप्तिके अतीचार हैं ॥१५९॥

वचनगुप्तिके अतीचार कहते हैं—

कर्कश आदि वचन मोह और संतापका कारण होनेसे विपके तुल्य है। उसका श्रोताओंके प्रति बोलना और स्त्री, राजा, चोर और भोजन विपयक 'विकथाओंमें—मार्ग विरुद्ध कथाओंमें आदर भाव, तथा हुंकार आदि क्रिया अर्थात् हुं हुं करना, खकारना, हाथसे या भ्रूके चालनसे इशारा करना ये वचन गुप्तिके यथायोग्य अतीचार हैं ॥१६०॥

विशेषार्थ—आगे भाषासमितिके कथनमें कर्कशा परुषा आदि दस वचन दोषोंका कथन करेंगे। उनका प्रयोग तथा खोटी कथाओंमें रुचि दुरुक्तित्याग रूप वचनगुप्तिके अतीचार हैं। और हुंकार आदि मौनरूप वचनगुप्तिके अतीचार हैं ॥१६०॥

कायगुप्तिके अतीचारोंको कहते है—

कायोत्सर्गमला. शरीरममतावृत्तिः शिवादीन्यथा.
भवतु तत्प्रतिमोन्मुखं स्थितिरथाकीर्णेऽङ्घ्रिणैकेन सा ।
३ **जन्तुस्त्रीप्रतिमापरस्ववहुले देशे प्रमादेन वा,**
सापध्यानमुताङ्गवृत्त्युपरति. स्युः कायगुप्तेर्मला ॥१६१॥

आकीर्णे—जनसकुलस्थाने । एते कायोत्सर्गस्वभावाया. कायगुप्तेरतिचाराः । जन्तु-इत्यादि ।
६ प्रमादेन—अयत्नाचरणेन । एप हिंसादित्यागलक्षणायाः कायगुप्तेरतिचार । सापध्यान—देहेन हस्तादिना वा परीपहाद्यपनयनचिन्तनमत्रापध्यानम् । तेन सहितं यथा भवति । अङ्गवृत्त्युपरतिः—शरीरव्यापारनिवृत्तिः । अयमचेष्टारूपाया कायगुप्तेरतिचार ॥१६१॥

९ अथ चेष्टितुकामो मुनि. समितिपर. स्यादित्यनुशास्ति—

गुप्तेः शिवपथदेव्या वहिष्कृतो व्यवहृतिप्रतीहार्या ।
भूयस्तद्भक्त्यवसरपरः श्रयेत्तत्सखी. शमी समिती. ॥१६२॥

कायोत्सर्गसम्बन्धी वत्तीस दोप, यह शरीर मेरा है इस प्रकारकी प्रवृत्ति, शिव आदिकी प्रतिमाके सम्मुख शिव आदिकी आराधना करने जैसी मुद्रामे खड़े होना अर्थात् दोनों हाथोंको जोड़कर शिव आदिकी प्रतिमाके अभिमुख खडा होना, अथवा जनसमूहसे भरे स्थानमे एक पैरसे खड़े होना, ये सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं। तथा जहाँ जीव जन्तु, काष्ठ पापाण आदिसे निर्मित स्त्रीप्रतिमाएँ और परधन प्रचुर मात्रामे हों, ऐसे देशमे अयत्नाचार पूर्वक निवास हिंसादित्यागरूप कायगुप्तिका अतीचार है। अथवा अपध्यान सहित शरीरके व्यापारकी निवृत्ति अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है ॥१६१॥

विशेपार्थ—कायगुप्तिके तीन लक्षण कहे हैं, कायोत्सर्ग, हिंसादिका त्याग और अचेष्टा। इन तीनोंको ही दृष्टिमे रखकर अतीचार कहे हैं। आगे आठवें अध्यायमें आवश्यकोंका वर्णन करते हुए कायोत्सर्गके वत्तीस दोप कहेंगे। वे सब कायोत्सर्गरूप कायगुप्तिके अतीचार हैं। इसी तरह शिव आदिकी प्रतिमाके सामने वन्दना मुद्रामें खड़े होना भी अतीचार है। इससे दर्शकोंको यह भ्रम होता है कि यह शिवकी भक्ति करता है। इसी तरह जनसमूहके वीचमें एक पैरसे खडे होकर कायोत्सर्ग करना भी सदोप है। हिंसा, चोरी और मैथुनके त्यागीको ऐसे स्थानमें नहीं रहना चाहिए जहाँ जीव-जन्तुओंकी वहुतायत हो या स्त्रियोंकी प्रतिमाएँ हों या असुरक्षित परधन हो। रहना ही पड़े तो सावधान होकर रहना चाहिए। असावधानतामें व्रतसे च्युत होनेका भय है। निश्चेष्ट होकर शरीर अथवा हाथ आदि द्वारा परीपह आदि दूर करनेका चिन्तन करना अचेष्टारूप कायगुप्तिका अतीचार है। निश्चेष्ट शुभ ध्यानके लिए हुआ जाता है। ऐसे समयमे यदि परीपह आ जाय तो शरीरके द्वारा उसको दूर करनेका चिन्तन भी दोप ही है ॥१६१॥

इस प्रकार गुप्तिप्रकरण समाप्त होता है।

आगे जो मुनि शरीरसे चेष्टा करना चाहता है उसे समितियोंके पालनमे तत्पर होना चाहिए, ऐसा उपदेश देते हैं—

चेष्टारूपी प्रतिहारीके द्वारा मोक्षमार्गकी देवी गुप्तिसे वहिष्कृत किया गया जो मुनि पुन. गुप्तिकी आराधनाका अवसर प्राप्त करना चाहता है उसे गुप्तिकी सखी समितिका आश्रय लेना चाहिए ॥१६२॥

व्यवहृतिः—चेष्टा। उक्तं च—

'कर्मद्वारोपरमणरतस्य तिस्रस्तु गुप्तयः सन्ति।
चेष्टाविष्टस्य मुनेर्निर्दिष्टा. समितयः पञ्च॥' ३

तत्सखी। अयमर्थ यथा नायकमाराधयितुकामस्य नायकस्यावसरमलभमानस्य तदनुकूलनार्थं तत्सखी-नामाश्रयण श्रेयस्तथा मुमुक्षोर्गुप्त्याराधनपरस्य समितीना सखीत्व, चासा नायिकाया इव गुप्ते. स्वभावाश्रयणात्। समितिपु हि गुप्तयो लभ्यन्ते न तु गुप्तिपु समितय ॥१६२॥ ६

अथ निरुक्तिगम्यं समितिसामान्यलक्षण विशेषोद्देशसहितमाह—

ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गलक्षणाः।
वृत्तयः पञ्च सूत्रोक्तयुक्त्या समितयो मताः॥१६३॥ ९

समितय.—सम्यक्श्रुतनिरूपितक्रमेणेतिर्गतिर्वृत्तिः समिति. ॥१६३॥

अथेर्यासमितिलक्षणमाह—

विशेषार्थ—अभिप्राय यह है कि जैसे कोई नायक किसी नायिकाकी आराधना करना चाहता है किन्तु अवसर नहीं पाता तो वह उस नायिकाको अपने अनुकूल करनेके लिए उसकी सखियोंका सहारा लेता है यही उसके लिए श्रेयस्कर है। उसी तरह जो मुमुक्षु गुप्तिकी आराधना करना चाहता है उसे समितिका पालन करना चाहिए। क्योंकि समिति गुप्तिकी सखी है। यतः समिति गुप्तिके स्वभावका अनुसरण करती है अत समितियोंमे तो गुप्तियाँ पायी जाती हैं किन्तु गुप्तियोंमें समितियाँ नहीं पायी जातीं। गुप्तियाँ निवृत्तिप्रधान होती हैं और समितियाँ प्रवृत्तिप्रधान। इसीलिए जहाँ समितियोंको गुप्तियोंकी सखी कहा है वहाँ गुप्तियोंको मोक्षमार्गकी देवी कहा है। इस देवीके द्वारकी रक्षिका है चेष्टा। जैसे द्वार रक्षिका अपने स्वामीकी अवज्ञा करनेवालेको वहाँसे निकाल देती है वैसे ही जो मुनि शारीरिक व्यापार करना चाहता है वह गुप्तिके द्वारसे हटा दिया जाता है। किन्तु मुमुक्षु मुनि मोक्षकी देवी गुप्तिकी आराधना तो नहीं छोडना चाहता। अतः शारीरिक चेष्टा करते हुए भी उसे समितियोंका आलम्बन लेना पडता है। ऐसी स्थितिमे उसे पुन गुप्तियोंके पालनका अवसर मिलता है। यदि वह चेष्टा करते हुए भी समितियोंका पालन नहीं करता तो वह गुप्तियोंका पालन नहीं कर सकता और तव उसे मोक्षकी वात तो दूर, मोक्षमार्गकी भी प्राप्ति सम्भव नहीं है॥ कहा भी है—'कर्मोंके आनेके द्वारको वन्द करनेमे लीन साधुके तीन गुप्तियाँ कही हैं और शारीरिक चेष्टा करनेवाले मुनिके पाँच समितियाँ कही है' ॥१६२॥

आगे समितिके भेदोंका नामनिर्देशपूर्वक निरुक्तिपूर्वक सामान्य लक्षण कहते हैं—

आगममें वताये हुए क्रमके अनुसार प्रवृत्तिरूप पाँच समितियाँ पूर्वाचार्योंने कही हैं। ईर्या अर्थात् गमन, भाषा अर्थात् वचन, एषणा अर्थात् भोजन, आदाननिक्षेप अर्थात् ग्रहण और स्थापन तथा उत्सर्ग अर्थात् त्यागना ये उनके लक्षण है ॥१६३॥

विशेषार्थ—समिति शब्द सम् और इतिके मेलसे वनता है। 'सम' अर्थात् सम्यक् 'इति' अर्थात् गति या प्रवृत्तिको समिति कहते हैं। अर्थात् आगममे कहे हुए क्रमके अनुसार गमन आदि करना समिति है। साधुको जीवनयात्राके लिए पाँच आवश्यक क्रियाएँ करनी पडती हैं—एक स्थानसे दूसरे स्थानपर जाना, वोलना, भोजन, पीछी आदिका ग्रहण, स्थापन और मलमूत्रका त्याग। अतः पाँच ही समितियाँ कही है ॥१६३॥

ईर्यासमितिका लक्षण कहते हैं—

स्यादीर्यासमितिः श्रुतार्थविदुषो देशान्तरं प्रेप्सतः,
श्रेयःसाधनसिद्धये नियमिनः कामं जनैर्वाहिते ।
३ मार्गे कौक्कुटिकस्य भास्करकरस्पृष्टे दिवा गच्छतः,
कारुण्येन शनैः पदानि ददतः पातुं प्रयत्याङ्गिनः ॥१६४॥

श्रुतार्थविदुषः—प्रायश्चित्तादिसूत्रार्थं जानतस्तत्रोपयुक्तस्येत्यर्थः । प्रेप्सतः—प्राप्तुमिच्छतः । श्रेयः-
६ साधनसिद्धये—श्रेयसः साधनानां सम्यग्दर्शनादीनां तदङ्गानां चापूर्वचैत्यालयसदुपाध्यायधर्माचार्यादीनां सिद्धिः संप्राप्तिस्तदर्थम् । कामं—यथेष्टमत्यर्थं वा । जनैः—लोकाश्वशकटादिभिः । कौक्कुटिकस्य—कुक्कुटी कुक्कुटी-पातमात्रं देशं पश्यतः । पुरो युगमात्रदेशप्रेक्षिण इत्यर्थः । प्रयत्या—प्रयत्नेन । उक्तं च—

९ 'मग्गुज्जोवुवओगालंवणसुद्धीहिं इरियदो मुणिणो ।
सुत्ताणुवीचिभणिया इरियासमिदी पवयणम्मि ॥'[भग. आरा. ११९१ गा.]॥ १६४॥

प्रायश्चित्त आदि शास्त्रोंके अर्थको जाननेवाला जो मुनि आत्मकल्याणके साधन सम्यग्दर्शन आदि और उनके सहायक अपूर्व चैत्यालय, समीचीन उपाध्याय, धर्माचार्य आदिकी प्राप्तिके लिए अपने स्थानसे अन्य स्थानको जाना चाहता है, वह मनुष्य हाथी, घोड़े, गाडी आदिके द्वारा अच्छी तरहसे रौंदे हुए और सूर्यकी किरणोंसे स्पृष्ट मार्गमें आगे चार हाथ जमीन देखकर दिनमें गमन करता है तथा दयाभावसे प्राणियोंकी रक्षा करनेके लिए सावधानतापूर्वक धीरे-धीरे पैर रखता है। उस मुनिके ईर्यासमिति होती है ॥१६४॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. ११९१) में कहा है—मार्गशुद्धि, उद्योतशुद्धि, उपयोगशुद्धि, आलम्बनशुद्धि इन चार शुद्धियोंके साथ गमन करनेवाले मुनिके सूत्रानुसार ईर्यासमिति आगममें कही है। मार्गमें चींटी आदि त्रस जीवोंका आधिक्य न होना, बीज-अंकुर, तृण, हरितवृक्ष, कीचड आदिका न होना मार्गशुद्धि है। चन्द्रमा, नक्षत्र आदिका प्रकाश अस्पष्ट होता है और दीपक आदिका प्रकाश अव्यापी होता है। अतः सूर्यका स्पष्ट और व्यापक प्रकाश होना उद्योतशुद्धि है। पैर रखनेके स्थानपर जीवोंकी रक्षाकी भावना होना उपयोगशुद्धि है। गुरु, तीर्थ तथा यतियोंकी वन्दना आदिके लिए या शास्त्रोंके अपूर्व अर्थका ग्रहण करनेके लिए या संयतोंके योग्य क्षेत्रकी खोजके लिए या वैयावृत्य करनेके लिए या अनियत आवासके कारण स्वास्थ्यलाभके लिए या श्रमपर विजय प्राप्त करनेके लिए या अनेक देशोंकी भाषा सीखनेके लिए अथवा शिष्यजनोंके प्रतिबोधके लिए गमन करना आलम्बनशुद्धि है। न बहुत जल्दी और न बहुत धीमे चलना, आगे चार हाथ जमीन देखकर चलना, पैर दूर-दूर न रखना, भय और आश्चर्यको त्यागकर चलना, विलासपूर्ण गतिसे न चलना, कूदकर न चलना, भाग-कर न चलना, दोनों हाथ नीचे लटकाकर चलना, निर्विकार, चपलतारहित, ऊपर तथा इधर-उधर देखकर न चलना, तरुण तृण और पत्तोंसे एक हाथ दूर रहकर चलना, पशु-पक्षी और मृगोंको भयभीत न करते हुए चलना, विपरीत योनिमें जानेसे उत्पन्न हुई बाधाको दूर करनेके लिए निरन्तर पीछीसे शरीरका परिमार्जन करते हुए चलना, सामनेसे आते हुए मनुष्योंसे संघट्टन न करते हुए चलना, दुष्ट गाय, बैल, कुत्ता आदिसे बचते हुए चलना, मार्गमें गिरे हुए भूसा, तुष, कज्जल, भस्म, गीला गोबर, तृणोंके ढेर, जल, पत्थर लकडीका टुकडा आदिसे

१. श्वे. आ. सिद्धसेन गणिकी तत्त्वार्थभाष्यटीका (भा. २, पृ. १८७) में इसीकी संस्कृत छाया उद्धृत है—
'उपयोगोद्योतालम्बनमार्गविशुद्धीभिर्यतेश्चरतः ।
सूत्रोदितेन विधिना भवतीर्यासमितिरनवद्या ॥'

अथ श्लोकद्वयेन भाषासमितिलक्षणमाह—

कर्कशा परुषा कट्वी निष्ठुरा परकोपिनी।
छेदंकरा मध्यकृशातिमानिन्यनयंकरा ॥१६५॥
भूतहिंसाकरी चेति दुर्भाषां दशधा त्यजन्।
हितं मितमसंदिग्धं स्याद् भाषासमितो वदन् ॥१६६॥

कर्कशा—संतापजननी 'मूर्खस्त्व', 'बलीवर्दस्त्व','न किंचिज्जानासि' इत्यादिका। परुषा—मर्मचालनी त्वमनेकदोषदुष्टोऽसीति। छेदकरा—छेदकरी वीर्यशीलगुणाना निर्मूलविनाशकरी। अथवा असद्भूतदोषोद्भाविनी। मध्यकृशा—ईदृशी निष्ठुरा वाक् या अस्थ्ना मध्यमपि कृशति। अतिमानिनी—आत्मनो महत्त्वख्यापनपरा अन्येषा निन्दापरा च। अनयकरा—शीलाना खण्डनकरी अन्योन्यसङ्गताना वा विद्वेषकारिणी ॥१६५॥

भूतहिंसाकरी— प्राणिना प्राणवियोगकरी। हित—स्वपरोपकारकम् ॥१६६॥

बचते हुए, चलना, चोरी और कलहसे दूर रहना इस प्रकारसे गमन करनेवाले यतिके ईर्यासमिति होती है। दशवैकालिक (अ. ५, उ १, सू ३-४) मे कहा है—'आगे युगप्रमाण भूमिको देखता हुआ और बीज, हरियाली, प्राणी, जल तथा सजीव मिट्टीको टालता हुआ चले। दूसरे मार्गके होते हुए गड्ढे, ऊबड-खाबड भूभाग, ठूँठ और सजल मार्गसे न जावे। पुलके ऊपरसे न जावे।'

दो श्लोकोंसे भाषासमितिका लक्षण कहते हैं—

कर्कशा, परुषा, कट्वी, निष्ठुरा, परकोपिनी, छेदंकरा, मध्यकृशा, अतिमानिनी, अनयंकरा और भूतहिंसाकरी इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको छोड़कर हित, मित और असन्दिग्ध बोलनेवाला साधु भाषासमितिका पालक होता है ॥१६५-१६६॥

विशेषार्थ—सन्ताप उत्पन्न करनेवाली भाषा कर्कशा है। जैसे तू मूर्ख है, बैल है, कुछ नहीं जानता इत्यादि। मर्मको छेदनेवाली भाषा परुषा है। जैसे, तुम बड़े दुष्ट हो, आदि। उद्वेग पैदा करनेवाली भाषा कट्वी है। जैसे, तू जातिहीन है, अधर्मी है आदि। तुम्हें मार डालूँगा, सिर काट लूँगा इत्यादि भाषा निष्ठुरा है। तू निर्लज्ज है इत्यादि भाषा परकोपिनी है। वीर्य, शील और गुणोंका निर्मूल विनाश करनेवाली अथवा असद्भूत दोषोंका उद्भावन करनेवाली भाषा छेदंकरी है। ऐसी निष्ठुर वाणी जो हड्डियोंके मध्यको भी कृश करती है मध्यकृशा है। अपना महत्त्व और दूसरोंकी निन्दा करनेवाली भाषा अतिमानिनी है। शीलोंका खण्डन करनेवाली तथा परस्परमे मिले हुए व्यक्तियोंके मध्यमें विद्वेष पैदा करनेवाली भाषा अनयंकरा भाषा है। प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेवाली भाषा भूतहिसाकरी है। इन दस प्रकारकी दुर्भाषाओंको त्यागकर हित अर्थात् स्वपरके उपकारक, मित अर्थात्

---

१ 'सच्च असच्चमोस अलियादीदोसवज्जभणवज्जं।
वदमाणस्सणुवीची भासासमिदी हवदि सुद्धा' ॥—भग आरा ११९२ गा.।

२. 'पुरओ जुगमायाए पेहमाणो मही चरे।
वज्जितो वीयहरियाइ पाणेयदगमट्टिय ॥
ओवाय विसम खाणु विज्जल परिवज्जए।
सकमेण न गच्छिज्जा विज्जमाणे परक्कमे' ॥

अथ एपणासमितिलक्षणमाह—

विघ्नाङ्गारादिशङ्काप्रमुखपरिकरैरुद्गमोत्पाददोषै.,
३ प्रस्मार्यं वीरचर्याजितममलमधःकर्ममुग् भावशुद्धम् ।
स्वान्यानुग्राहि देहस्थितिपटु विधिवद्दत्तमन्यैश्च भक्त्या,
कालेऽन्नं मात्रयाऽश्नन् समितिमनुषजत्येषणायास्तपोभृत् ॥१६७॥

६ विघ्नेत्यादि—अन्तरायादयोऽन्तराध्याये व्याख्यास्यन्ते । प्रस्मार्यं—विस्मरणीयमविपयीकृतमित्यर्थ । वीरचर्याजितं—अदीनवृत्त्योपार्जितम् । पटु—समर्थम् । विधिवत्—प्रतिग्रहादिविधानेन । अन्यै —ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रै स्वदातृगृहाद् वामतस्त्रिषु गृहेषु दक्षिणतश्च त्रिपु वर्तमानै पड्भि स्वप्रति-
९ ग्राहिणा च सप्तमेन । तपोभृत्—इन्द्रियमनसोर्नियमानुष्ठान पुष्णन् ॥१६७॥

विवक्षित अर्थके उपयोगी और असन्दिग्ध अर्थात् संशयको उत्पन्न न करनेवाली भापाको वोलनेवाला मुनि भापासमितिका पालक होता है ॥१६५-१६६॥

एपणा समितिका लक्षण कहते है—

भोजनके अन्तरायोसे, अंगार आदि दोपोंसे, भोज्य वस्तु सम्बन्धी शंका आदि दोपोसे तथा उद्गम और उत्पादन दोपोंसे रहित, वीरचर्याके द्वारा प्राप्त, पूय, रुधिर आदि दोपोसे तथा अधःकर्म नामक महान् हिसा दोषसे रहित, भावसे शुद्ध, अपना और परका उपकार करनेवाले शरीरकी स्थितिको बनाये रखनेमें समर्थ, विधिपूर्वक भक्तिके साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और सतशूद्रके द्वारा दिया गया भोजन समयपर उचित प्रमाणमे खानेवाला तपस्वी एषणा समितिका पालक होता है ॥१६७॥

विशेषार्थ—पाँचवे पिण्डैपणा नामक अध्यायके प्रारम्भमें ही कहा है कि साधुको छियालीस दोपोंसे रहित, अध कर्मसे रहित तथा चौदह मलोंसे रहित निर्विघ्न आहार ग्रहण करना चाहिए। सोलह उद्गम दोप, सोलह उत्पादन दोप, दस शंकित आदि दोप, चार अंगारादि दोप ये सब छियालीस दोप है। इनका कथन इसी अध्यायमे आगे आयेगा। एषणा समितिके पालक साधुको इन [1]सब दोपोको टालकर आहार ग्रहण करना चाहिए तथा वह आहार वीरचर्यासे प्राप्त होना चाहिए। स्वयं भ्रामरी वृत्तिसे श्रावकोके द्वारकी ओरसे जानेपर जो आहार अदीनवृत्तिसे प्राप्त होता है वही साधुके लिए ग्राह्य है। तथा वह आहार ऐसा होना चाहिए जो साधुके शरीरकी स्थिति बनाये रखनेमे सहायक हो और साधुका शरीर उसे ग्रहण करके अपना और दूसरोंका कल्याण करनेमे समर्थ हो। जिस भोजनसे साधुका शरीर विकारग्रस्त होता है, इन्द्रियमद पैदा होता है वह भोजन अग्राह्य है। तथा वह भोजन भक्तिभावसे विधिपूर्वक किसी सद्गृहस्थके द्वारा दिया गया हो वह गृहस्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा सत्शूद्र होना चाहिए। सत्शूद्र भी दानका अधिकारी माना गया है। आचार्य सोमदेवने नीतिवाक्यामृतमे जिन शूद्रोंमें पुनर्विवाह नही होता उन्हें सत्शूद्र कहा है। यथा—'सकृत्परिणयनव्यवहाराः सच्छूद्रा ।'

तथा लिखा है कि आचारकी निर्दोषता, घर पात्र वगैरहकी शुद्धि तथा शरीर शुद्धिसे शूद्र भी धर्म कर्मके योग्य हो जाता है। जिस घरमे साधुका आहार होता हो उस घरके बायीं ओरके तीन घर और दायीं ओरके तीन घर इस तरह छह घरोंके दाताओके द्वारा दिया गया

---

१ न लक्षणं तप पु—भ कु च ।

अथादाननिक्षेपणसमितिं लक्षयति—

सुदृष्टमृष्टं स्थिरमाददीत स्थाने त्यजेत्तादृशि पुस्तकादि ।
कालेन भूयः कियतापि पश्येदादाननिक्षेपसमित्यपेक्षः ॥१६८॥ ३

सुदृष्टमृष्टं—सुदृष्टं पूर्वं चक्षुषा सम्यग्निरूपितं सुमृष्टं पश्चात् पिच्छिकया सम्यक् प्रतिलेखितम् । स्थिरं—विश्रब्धमनन्यचित्तमित्यर्थः । त्यजेत्—निक्षिपेत् । तादृशि—सुदृष्टमृष्टे । पुस्तकादि—आदिशब्दात् कवलिकाकुण्डिकादि द्रव्यम् । उक्तं च— ६

'आदाणे णिक्खेवे पडिलेहिय चक्खुणा समाजेज्जो ।
दव्वं च दव्वट्ठाणं संजमलद्धीए सो भिक्खू ॥' [मूलाचार ३१९]
'सहसाणाभोइददुप्पमज्जिदापच्चवेक्खणा दोसो । ९
परिहरमाणस्स भवे समिदी आदाणणिक्खेवा ॥' [भ. आ. ११९८] ॥१६८॥

अथोत्सर्गसमितिं निर्देष्टुमाह—

आहार भी साधु ग्रहण कर सकता है। वे सब घर एक ही पंक्तिमें लगे हुए होने चाहिए। दूरके या सड़कसे दूसरी ओरके घरोंसे आया आहार साधुके लिए अग्राह्य होता है।

श्वेताम्बर परम्परामें धर्मके साधन अन्नपान, रजोहरण, वस्त्र पात्र और आश्रय सम्बन्धी उद्‌गम उत्पादन एषणा दोषोंका त्यागना एषणा समिति है ॥१६७॥

आदाननिक्षेपण समितिका स्वरूप कहते हैं—

आदाननिक्षेपण समितिके पालक साधुको स्थिर चित्त होकर प्रथम अपनी आँखोंसे अच्छी तरह देखकर फिर पीछीसे साफ करके ही पुस्तक आदिको ग्रहण करना चाहिए और यदि रखना हो तो पहले अच्छी तरह देखे हुए और पीछे पिच्छिकासे साफ किये हुए स्थानपर रखना चाहिए। रखनेके पश्चात् यदि कितना ही काल बीत गया हो तो सम्मूर्छन जीवोंकी उत्पत्तिकी सम्भावनासे पुनः उस रखी हुई पुस्तकादिका सावधानीसे निरीक्षण करना चाहिए ॥१६८॥

विशेषार्थ—अन्य ग्रन्थोंमें भी आदाननिक्षेपण समितिका यही स्वरूप कहा है। यथा—मूलाचारमें कहा है—वह भिक्षु संयमकी सिद्धिके लिए आदान और निक्षेपमें द्रव्य और द्रव्यके स्थानको चक्षुके द्वारा अच्छी तरह देखकर और पीछीके द्वारा परिमार्जित करके वस्तुको ग्रहण करता और रखता है। भ. आराधनामें कहा है—बिना देखे और बिना प्रमार्जन किये पुस्तक आदिका ग्रहण करना या रखना सहसा नामका पहला दोष है। बिना देखे प्रमार्जन करके पुस्तक आदिका ग्रहण या रखना अनाभोगित नामक दूसरा दोष है। देखकरके भी सम्यक् रीतिसे प्रमार्जन न करके ग्रहण करना या रखना दुःप्रमृष्ट नामका तीसरा दोष है। पहले देखकर प्रमार्जन किया किन्तु कितना ही काल बीत जानेपर पुनः यह देखे बिना ही कि शुद्ध है या अशुद्ध, ग्रहण या निक्षेप करना चौथा अप्रत्यवेक्षण नामक दोष है। इन चारों दोषोंका परिहार करनेवालेके आदाननिक्षेपण समिति होती है ॥१६८॥

उत्सर्ग समितिका स्वरूप कहते हैं—

---

१. 'अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीनां धर्मसाधनानामाश्रयस्य चोद्गमोत्पादनैषणादोषवर्जनमेषणा समितिः ।
—तत्त्वार्थभाष्य ९।५

निर्जन्तौ कुशले विविक्तविपुले लोकोपरोधोज्झिते,
प्लुष्टे कृष्ट उतोषरे क्षितितले विष्टादिकानुत्सृजन् ।
३ द्यु. प्रज्ञाश्रमणेन नक्तमभितो दृष्टे विभज्य त्रिधा,
सुस्पृष्टेऽप्यपहस्तकेन समितावुत्सर्गं उत्तिष्ठते ॥१६९॥

निर्जन्तौ—द्वीन्द्रियादिजीववर्जिते हरिततृणादिरहिते च । कुशले—वल्मीकाद्यातङ्ककारणमुक्तत्वा-
६ त्प्रशस्ते । विविक्त—अशुच्याद्यवस्कररहित निर्जन च । प्लुष्टे—दवस्मशानाद्यग्निदग्धे । कृष्टे—हलेनासकृद्-
विदारिते । ऊषरे—स्थण्डिले । विष्टादिकान्—पुरीप-मूत्र-मुखनासिकागतश्लेष्मकेशोत्पाटनवालसप्तमधातु-
पित्तछर्दिप्रमुखान् । द्यु —दिने । उक्त च—

९ 'वणदाहकिसिमसिकदे छडिल्ले अणुपरोधविच्छिण्णे ।
अवगतजतुविवित्ते उच्चारादि विसज्जेज्जो ॥
उच्चार पस्सवण खेल सिघाणयादि ज दव्व ।
१२ अच्चित्त भूमिदेसे पडिलेहित्ता विसज्जेज्जो ॥'—[मूलाचार, ३२१-२२]

प्रज्ञाश्रमणेन—वैयावृत्यादिकुशलेन साधुना विनयपरेण सर्वसघप्रतिपालकेन वैराग्यपरेण जितेन्द्रियेण
च । विभज्य त्रिधा । इदमत्र तात्पर्यं प्रज्ञाश्रमणेन सति सूर्ये रात्रौ साधूना विण्मूत्राद्युत्सर्गार्थं त्रीणि स्थानानि
१५ द्रष्टव्यानि । तथा च सति प्रथमे कदाचिदशुद्धे द्वितीय द्वितीयेऽपि वाशुद्धे तृतीय तेऽनुसरन्ति । अपहस्तकेन—
विपरीतकरतलेन । उक्तं च—

दोइन्द्रिय आदि जीवोसे तथा हरे तृण आदिसे रहित, साँपकी बाँबी आदि भयके कारणोसे रहित होनेसे प्रशस्त, निर्जन तथा विस्तीर्ण, लोगोकी रोक-टोकसे रहित, वनकी या श्मशानकी आगसे जले हुए, या हलके द्वारा अनेक बार खोदे गये, अथवा ऊसर भूमिमे दिन-के समय मल, मूत्र, कफ, नाक, बाल, वमन आदिका त्याग करनेवाले मुनिके उत्सर्ग समिति होती है। रात्रिके समयमे यदि बाधा हो तो दिनमे प्रज्ञाश्रमण मुनिके द्वारा अच्छी तरह देखे गये तीन स्थानोमे-से किसी एक शुद्धतम स्थानमे विपरीत हाथसे अच्छी तरह देखकर मूत्रादिका त्याग करना उत्सर्ग समिति है ॥१६९॥

विशेषार्थ—शरीरके मलोके त्यागका नाम उत्सर्ग है और उसकी जो विधि ऊपर बतलायी है उस विधिसे त्यागना उत्सर्ग समिति है। जिस स्थानपर मलका त्याग किया जाये वह भूमि उक्त प्रकारकी होनी चाहिए। यह सब दिनमे ही देखा जा सकता है। किन्तु तपस्वी एकाहारी साधुको रात्रिमे मल-मूत्रकी बाधा प्राय. रुग्णावस्थामे ही होती है। इस-लिए उसकी विधि यह है कि जो साधु वैयावृत्यमे कुशल, विनयी, सर्वसंघका पालक, वैरागी और जितेन्द्रिय होता है उसे प्रज्ञाश्रमण कहा जाता है, वह दिनमें जाकर रात्रिमें साधुओके मलत्यागके लिए तीन स्थान देख रखता है। यदि पहला स्थान अशुद्ध हो तो दूसरा, दूसरा अशुद्ध हो तो तीसरा स्थान काममे लाया जाता है। ऐसा करते समय साधु उस स्थानको हथेलीके उलटे भागसे अच्छी तरह स्पर्श करके देख लेते है कि स्थान शुद्ध है या नही, तब मलत्याग करते है। मूलाचारमे कहा है—

वनकी आगसे जले हुए, कृषि द्वारा जोते हुए, लोगोकी रोक-टोकसे रहित, निर्जन्तुक एकान्त भूमिदेशमे मल-मूत्रादि त्यागना चाहिए। टट्टी, पेशाब, नाक, थूक आदि निर्जन्तुक भूमिप्रदेशमे प्रतिलेखन करके त्यागना चाहिए।

'रात्री च तत्त्यजेत् स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते।
कुर्वन् शङ्कानिरासायावहस्तस्पर्शन मुनि. ॥
द्वितीयाद्य भवेत्तच्चेदशुद्ध साधुरिच्छति। ३
लघुत्वस्यावशो दोषे न दद्याद् गुरुकं यते ॥' [ ] ॥१६९॥

अथ निरतिचारसमितिपरस्य हिंसाद्यभावलक्षण फलमाह—

समितीः स्वरूपतो यतिराकारविशेषतोऽप्यनतिगच्छन्। ६
जीवाकुलेऽपि लोके चरन्न युज्येत हिंसाद्यैः ॥१७०॥

स्वरूपत.—यथोक्तलक्षणमाश्रित्य। यति.—यत्नपर. साधु। आकारविशेषतः—यथोक्त मार्गादिविशेषलक्षणमाश्रित्य। अनतिगच्छन्—अतिचारविषयी अकुर्वन् ॥१७०॥ ९

अथ समितीना माहात्म्यमनुवर्णयस्तासा सदासेव्यत्वमाह—

पापेनान्यवधेऽपि पद्ममणुशोऽप्युद्गेव नो लिप्यते,
यद्युक्तो यदनादृत परवधाभावेऽप्यलं बध्यते। १२
यद्योगादधिरुह्य संयमपदं भान्ति व्रतानि द्वया-
न्यप्युद्भान्ति च गुप्तयः समितयस्ता नित्यमित्याः सताम् ॥१७१॥

अणुशोऽपि—अल्पेनापि अल्पमपि वा। उद्गा—उदकेन। १५

पादमासनिशाहृदययूपदोर्दन्तनासिकोदकासनशकृद्यकृदसृजा पन्मासनिश्हृद्यूपन्दोपन् दत् नस् उदन् आसन् शकन् यकन् असनो वा स्यादावघुटीत्यनेनोदकस्योदन्। उक्त च—

रात्रिके सम्बन्धमे लिखा है—'मुनिको रात्रिमें प्रज्ञाश्रमणके द्वारा निरीक्षित स्थानमे मलत्याग करना चाहिए। यदि स्थानकी शुद्धिमें शंका हो तो उलटे हाथसे स्पर्श करके देख लेना चाहिए। यदि वह अशुद्ध हो तो दूसरा स्थान देखना चाहिए। यदि मलत्याग शीघ्र हो जाये तो मुनिको गुरु प्रायश्चित्त नहीं देना चाहिए, क्योंकि उस दोषमे उसका वश नहीं था ॥१६९॥

आगे कहते है कि निरतिचार समितियोका पालन करनेवाले साधुको हिंसा आदिके अभावरूप फलकी प्राप्ति होती है—

पूर्वमे समितियोंका जो सामान्य स्वरूप कहा है उसकी अपेक्षासे और मार्ग आदि विशेषणोंकी भी अपेक्षासे जो साधु उनके पालनमे तत्पर रहता है और अतिचार नही लगाता, वह साधु त्रस और स्थावर जीवोंसे भरे हुए भी लोकमे गमनादि करनेपर हिसा आदिके दोषोसे लिप्त नहीं होता ॥१७०॥

समितियोंके माहात्म्यका वर्णन करते हुए उनके सदा पालन करनेकी प्रेरणा करते है—

जिन समितियोका पालक साधु अन्य प्राणीके प्राणोंका दैववश घात हो जानेपर भी जलसे कमलकी तरह किंचित् भी पापसे लिप्त नहीं होता, और जिन समितियोंके प्रति असावधान साधु अन्य प्राणिका घात न होनेपर भी पापसे अच्छी तरह बँधता है, तथा जिन समितियोके सम्बन्धसे सयमपदपर आरोहण करनेसे अणुव्रत और महाव्रत चमक उठते हैं तथा गुप्तियाँ शोभित होती है उन समितियोका पालन साधुओंको सदा करना चाहिए ॥१७१॥

'अजदाचारो समणो छस्सुवि काएसु वधगोत्ति मदो ।
चरदि जद जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥' [प्रवचनसार, ३।१८ गा. ।]

३ द्वयानि—महाव्रताणुव्रतानि च । तथा चोक्तं वर्गणाखण्डस्य बन्धनाधिकारे—

'संजमविरईणं को भेदो ? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइं संजमो । समिदीहि विणा महव्वयाणु-व्वयाइं विरदी ।' इति ॥ [धवला पु. १४, पृ. १२]

६ उद्भान्ति—उद्भासन्ते । समितिषु गुप्तिसद्भावस्य प्राग् व्याख्यातत्वात् । नित्यं—गुप्तिकालादन्यदा । इत्या गम्या. सेव्या इत्यर्थः ॥१७१॥

अथ शीलस्य लक्षणं विशेषांश्चोपदिशन्नुपेयत्वमभिधत्ते—

९ शीलं व्रतपरिरक्षणमुपैतु शुभयोगवृत्तिमितरहतिम् ।
संज्ञाक्षविरतिरोधौ क्ष्मादियममलात्ययं क्षमादींश्च ॥१७२॥

विशेषार्थ—समितियोंका मूल्यांकन करते हुए उनकी चार विशेषताओंका कथन किया है। प्रथम, जैसे कमल जलमें रहते हुए भी अणुमात्र भी जलसे लिप्त नहीं होता वैसे ही समितियोंका पालक साधु कदाचित् दैववश प्राणिघात हो जानेपर भी किंचित् भी पापसे लिप्त नहीं होता। प्रवचनसारमें कहा है—'ईर्यासमितिसे चलनेवाले साधुके पैर उठानेपर उनके चलनेके स्थानपर यदि कोई क्षुद्र जन्तु आ पड़े और उनके पैरके सम्बन्धसे कुचलकर मर भी जाये तो उस साधुका उस हिंसाके निमित्तसे सूक्ष्म-सा भी बन्ध आगममें नहीं कहा है। क्योंकि साधु समितिमें सावधान है उसके मनमें हिंसाका लेश भी भाव नहीं है। दूसरे, जो समितिमें सावधान नहीं होता उसके द्वारा किसीका घात नहीं होनेपर भी पापबन्ध होता है।' कहा है—

'अयत्नाचारी श्रमण छहों कायोंमें बन्धका करनेवाला माना गया है। यदि वह सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति करता है जो जलमें कमलकी तरह सदा निरुपलेप बन्धरहित है।' तीसरे, संयमका सम्बन्ध समितिके साथ है। समितिके बिना संयमपदपर आरोहण सम्भव नहीं है अतः समितिके पालनसे ही अणुव्रत और महाव्रत शोभित होते हैं। उसके बिना नहीं। षट्खण्डागमके अन्तर्गत वर्गणा खण्डके बन्धन अनुयोगद्वारकी धवलाटीकामें कहा है—

'संयम और विरतिमें क्या भेद है ? समितिके साथ महाव्रत अणुव्रतोंको संयम कहते हैं। और समितिके बिना महाव्रतों और अणुव्रतोंको विरति कहते हैं। अतः समितियोंका पालन अणुव्रती गृहस्थके लिए भी आवश्यक है। चौथे, समितिके योगसे ही गुप्तियाँ दीप्त होती हैं क्योंकि समितियोंमें भी गुप्तिका सद्भाव है यह पहले बतलाया है। यहाँ समितियोंको सदा पालन करनेका निर्देश किया है। इसका अभिप्राय इतना ही है कि गुप्तियोंके पालनसे अतिरिक्त समयमें समितियोंका पालन करना चाहिए ॥१७१॥

इस प्रकार समितिका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब शीलका लक्षण और भेदोंका कथन करते हुए उसकी उपादेयता बतलाते हैं—

जिसके द्वारा व्रतोंकी रक्षा होती है उसे शील कहते हैं। पुण्यास्रवमें निमित्त मन-वचन-कायकी परिणति, तीन अशुभ योगोंसे निवृत्ति, आहार, भय, मैथुन, परिग्रहकी अभिलाषारूप चार संज्ञाओंसे निवृत्ति, स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, श्रोत्र इन पाँच इन्द्रियोंका निरोध, पृथ्वीकायिक आदि दस प्रकारके जीवोंके प्राणोंके घातसे निवृत्तिरूप दस यमोंके

शुभयोगवृत्ति—पुण्यादाननिमित्तमनोवाक्कायव्यापारपरिणतिं सर्वकर्मक्षयार्थी वा गुप्तित्रयीम्। इतरहृति—अशुभयोगनिराकृतित्रयीम्। सज्ञाविरति—आहार-भय-मैथुन-परिग्रहाभिलापनिवृत्तिचतुष्टयीम्। अक्षरोध—स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षु-श्रोत्रसंवरण पञ्चतयम्। क्षमादियममलात्यय—क्षमादयो दश। तद्यथा—

'भूमिरापोऽनलो वायु प्रत्येकानन्तकायिका.।
द्विकत्रिकचतु पञ्चेन्द्रिया दश धरादय'॥' [ ]

तेषु यमा प्राणव्यपरोपणोपरमा विषयभेदाद्दश। तेषा मलात्यया प्रत्येकमतीचारनिवृत्तिस्त दशतयम्। क्षमादीन्—क्षमा-मार्दवार्जव-शौच-सत्य-सयम-तपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्याणि दश। तेषामन्योन्य गुणने अष्टादशशीलसहस्राणि भवन्ति। तद्यथा—शुभयोगवृत्तिभिस्तिसृभिरभ्यस्ता अशुभयोगनिवृत्तयस्तिस्रो नव शीलानि स्यु'। तानि सज्ञाविरतिभिश्चतसृभिर्गुणितानि षट्त्रिंशत् स्यु। तानीन्द्रियरोधैः पञ्चभिस्ताडितान्यशीत्यधिकशत स्यु। तानि क्षमादियममलात्ययैर्दशभिर्हतान्यष्टादशशतानि स्यु। तान्येव पुन क्षमादिभिर्दशभि सगुणितान्यष्टादशसहस्राणि सीलानि स्यु.। तथा चोक्तम्—

दस अतिचारोंकी विशुद्धि तथा उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिंचन्य और ब्रह्मचर्यरूप दस धर्म, इन सबका परस्परमे गुणन करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते है॥१७२॥

विशेषार्थ—शीलके अठारह हजार भेदोंका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—तीन शुभयोगरूप प्रवृत्तियोंसे तीन अशुभयोग निवृत्तियोंको गुणा करनेसे ३×३=९ नौ शील होते हैं। इन नौको चार सज्ञाओंकी चार निवृत्तियोंसे गुणा करनेसे छत्तीस भेद होते है। छत्तीसको पॉच इन्द्रिय सम्बन्धी पॉच निरोधोसे गुणा करनेपर एक सौ अस्सी भेद होते हैं। उन्हें पृथ्वी आदि यम सम्बन्धी अतीचारोकी दस निवृत्तियोंसे गुणा करनेपर अट्ठारह सौ भेद होते है।

पृथिवी आदि दस इस प्रकार है—'पृथिवीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, प्रत्येक और अनन्तकायिक तथा दो-इन्द्रिय, ते-इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय ये जीवोंके दस प्रकार है। इनके प्राणोंके घातके त्यागरूप दस ही यम है। उनमें-से प्रत्येकके अतीचारकी निवृत्तिके क्रमसे दस ही निवृत्तियॉ हैं। इनसे १८० को गुणा करनेपर अठारह सौ भेद होते हैं। पुनः उन भेदोको क्षमा आदि दस धर्मोंसे गुणा करनेपर अठारह हजार भेद शीलके होते है। कहा भी है—'तीन योग, तीन करण, चार संज्ञाऍ, पॉच इन्द्रिय, दस जीव संयम और दस धर्म (३×३×४×५×१०×१०) इनको परस्परमें गुणा करनेसे शीलके अठारह हजार भेद होते है। जो मुनिश्रेष्ठ मनोयोग और आहारसंज्ञासे रहित है, मनोगुप्तिका पालक है, स्पर्शन इन्द्रियसे संवृत है, पृथिवीकायिक सम्बन्धी संयमका पालक है, उत्तम क्षमासे युक्त है, उस विशुद्ध मुनिके शीलका पहला भेद होता है। शेषमें भी इसी क्रमसे जानना। अर्थात् वचनगुप्तिका पालन करनेवाले उक्त मुनिराजके शीलका दूसरा भेद होता है। कायगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके तीसरा भेद होता है। वचनयोगसे रहित मनोगुप्तिके पालक उक्त प्रकारके मुनिराजके चौथा भेद होता है। वचनयोगसे रहित वचनगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके पॉचवॉ भेद होता है। वचनयोगसे रहित कायगुप्तिके पालक उक्त मुनिराजके छठा भेद होता है।

'तीन गुप्तियों को' एक पंक्तिमें स्थापित करके उनके ऊपर तीन करण उसी प्रकारसे स्थापित करके उसके पश्चात् क्रमसे चार संज्ञाऍ, पॉच इन्द्रियॉ, पृथिवी आदि दस, तथा दस धर्मोंकी स्थापना करके पूर्वोक्त क्रमसे शेष शीलोंको भी तब तक कहना चाहिए जब तक

'योगे करणसञ्ज्ञाक्षे धरादौ धर्म एव च ।
अष्टादशसहस्राणि स्युः शीलानि मिथो वधे ॥
३ मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे मन.करणवर्जिते ।
आहारसञ्ज्ञया मुक्ते स्पर्शनेन्द्रियसवृते ॥
सधरासयमे क्षान्तिसनाथे शीलमादिमम् ।
६ तिष्ठत्यविचल शुद्धे तथा शेषेष्वपि क्रम. ॥' [ ]

द्वितीयादीनि यथा—'वाग्गुप्ते मुनिश्रेष्ठे' इत्यादिनोच्चारणेन द्वितीयम् । एवं 'कायगुप्ते मुनिश्रेष्ठे' इत्यादिना तृतीयम् । ततश्च 'मनोगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना चतुर्थम् । ततश्च 'वाग्गुप्ते ९ मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना पञ्चमम् । ततश्च 'कायगुप्ते मुनिश्रेष्ठे वाक्करणवर्जिते' इत्यादिना षष्ठं

सभी अक्ष अचल स्थित होकर विशुद्ध होते हैं। इस तरह शीलके अठारह हजार भेद आते हैं।

श्वेताम्बर परम्परामें भी इसी प्रकार भेद कहे हैं। किन्तु कुछ अन्तर भी है—तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, श्रोत्र आदि पाँच इन्द्रियाँ, पृथिवीकायिक आदि नौ जीव (वनस्पति एक ही भेदरूप लिया है) एक अजीवकाय और दस श्रमण धर्म, क्षमा आदि इनको परस्परमें गुणा करनेसे अठारह हजार भेद होते हैं। इस तरह जीव सम्बन्धी दस भेदोंमें एक अजीवकायको लेकर दस संख्या पूरी की गयी है। अजीवकायमें महामूल्य वस्त्र, पात्र, सोना, चाँदी, अज आदिका चर्म, कोदों आदिके तृण लिये गये हैं क्योंकि साधुके लिए ये त्याज्य हैं। इनको मिलानेका क्रम 'नहीं करता है' यहाँ करनेरूप प्रथम योग लिया। 'मनसे' प्रथम करण लिया। 'आहारसंज्ञासे हीन' इससे पहली संज्ञा ली। 'नियमसे श्रोत्रेन्द्रियसे संवृत' इससे प्रथम इन्द्रिय ली। ऐसा होते हुए पृथिवीकायकी हिंसा नहीं करता। इससे प्रथम जीवस्थान लिया। 'क्षमासे युक्त' इससे प्रथम धर्म भेद लिया। इस तरह शीलका एक अंग प्रकट होता है। आगे इसी प्रकारसे मार्दव आदि पदके सयोगसे पृथिवीकायको लेकर शीलके दस भेद होते हैं अर्थात् उक्त प्रथम अंगकी तरह क्षमाके स्थानमें मार्दव, आर्जव आदिको रखनेसे दस भेद होते हैं। तथा इसी तरहसे पृथ्वीकायके स्थानमें जलकाय आदि नौ स्थानोंको रखनेसे सौ भेद होते है। ये सौ भेद श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी होते है शेष चक्षु आदि इन्द्रियोंके भी सौ-सौ भेद होनेसे पाँच सौ भेद होते हैं। ये पाँच सौ भेद आहारसंज्ञाके

---

१ जोए करणे सण्णा इदिय भूमादि समणधम्मे य ।
सीलगसहस्साण अट्ठारसगस्स णिप्पत्ती ॥—पञ्चाशक १४।३।

२ ण करति मणेण आहारसण्णाविप्पजढगो उ णियमेण ।
सोइंदियसवुडो पुढविकायारभ खतिजुओ ॥—पञ्चा. १४।६।

३ इय मद्दवादिजोगा पुढविकाए भवंति दस भेया ।
आउक्कायादीसु वि इय एते पिंडिय तु सय ।
सोइदिएण एय सेसेंहि वि जे इम तओ पचो ।
आहारसण्णजोगा इय सेसाहि सहस्सदुग ॥
एय मणेण वइमादिएसु एय ति छस्सहस्साइ ।
ण करेइ सेसंहि पि य एस सव्वे वि अट्ठारा ॥—पञ्चा. १४।७–९ ।

शीलं ब्रूयात् । तिस्रो गुप्ती पङ्क्त्याकारेण व्यवस्थाप्योद्ध्वं त्रीणि करणानि तथैव व्यवस्थाप्यानि ततश्चतस्र. संज्ञास्ततः पञ्चेन्द्रियाणि तत पृथिव्यादयो दश, ततश्च दश धर्मा, एव सस्थाप्य पूर्वोक्तक्रमेण शेषाणि शीलानि वक्तव्यानि। यावत् सर्वे अक्षा अचल स्थित्वा विशुद्धा भवन्ति तावदष्टादशशीलसहस्राणि आगच्छन्तीति ॥१७२॥ ३

सम्बन्धसे होते है। इसी तरह शेष तीन संज्ञाओंमें से प्रत्येकके सम्बन्धसे पाँचसौ भेद होनेसे दो हजार भेद होते हैं। ये दो हजार भेद मन सम्बन्धी होते हैं। इसी तरह वचन और काय योगके भी इतने ही भेद होनेसे छह हजार भेद होते है। ये छह हजार भेद 'कृत'के है कारित और अनुमतिके भी छह-छह हजार भेद होनेसे अठारह हजार भेद होते हैं। शका—ये भंग तो एकसंयोगी है। दो आदिके संयोगसे मिलानेपर तो वहुत भेद होंगे। तव अठारह हजार भेद ही क्यो कहे? समाधान—यदि श्रावक धर्मकी तरह किसी एक भंगसे सर्वविरति होती तो वैसा सम्भव था। किन्तु यहाँ शीलका प्रत्येक भेद सब भंगोके योगसे ही होता है उसके विना सर्वविरति सम्भव नहीं है इसलिए अठारह हजार ही भेद होते है।

शीलोंकी स्थापनाका क्रम इस प्रकार है—

क्षमा १	मार्दव २	आर्जव ३	शौच ४	सत्य ५	सयम ६	तप ७	त्याग ८	आकिं. ९	ब्रह्मचर्य १०
पृथ्वी	अप्	तेज २०	वा. ३०	प्रत्ये. ४०	सा ५०	दोइ. ६०	तेइन्द्रि ७०	चौइ. ८०	पचेन्द्रिय ९०
स्प	र १००	घ्रा २००	च. ३००	श्रो. ४००					
आहार	भय ५००	मै १०००	परि १५००						
मनक	वाक्क २०००	कायक ४०००							
म. गु	व गु ६०००	का गु १२०००							

इस तरह दोनोंकी प्रक्रियामे भेद है। यद्यपि पं आशाधरजीने अपनी टीकामे जो श्लोक उद्धृत किया है 'योगे करणसंज्ञाक्षे' आदि और पंचाशककी गाथा 'जोए करणे सण्णा' मे कोई अन्तर प्रतीत नहीं होता। 'करण' से श्वेताम्बर परम्परामे करना-कराना और अनुमति ये तीन लिये जाते है ओर प्रत्येकके छह हजार भेद होनेसे अठारह हजार भेद हैं। आशाधरजीने इसके स्थानमे तीन अशुभयोग निवृत्ति ली है। भावपाहुड गा ११८ की टीका मे श्रुतसागर सूरिने आशाधरजीके अनुसार ही शीलके अठारह हजार भेद कहे हैं ॥१७२॥

अथ गुणाना लक्षणं सविशेषमाचक्षाणः सेव्यत्वमाह—

गुणाः संयमवीकल्पाः शुद्धयः कायसंयमाः ।
सेव्या हिंसाकम्पितातिक्रमाद्यब्रह्मवर्जना ॥१७३॥

शुद्धय —प्रायश्चित्तानि 'आलोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तप-छेद-मूल-परिहार-श्रद्धानाख्यानि दश । कायसयमा पूर्वोक्ताः पृथिवीकायिकादि संयमभेदा दश । ते चान्योऽन्यगुणिता शतम् ।

हिंसेत्यादि—

'हिंसानृत तथा स्तेय मैथुनं च परिग्रहः ।
क्रोधादयो जुगुप्सा च भयमप्यरतीरति' ॥
मनोवाक्कायदुष्टत्व मिथ्यात्व सप्रमादकम् ।
पिशुनत्व तथा ज्ञानमक्षाणा चाप्यनिग्रहः ॥' [ ]

तेपा वर्जनास्त्यजनान्येकविशति ।

'आकम्पिय अणुमाणिय ज दिट्ठ वादर च सुहुम च ।
छण्णं सद्दाउलिय वहुजणमव्वत्ततस्सेवी ॥' [भ आरा. ५६२ । मूला १०३० ।]

गुणोंका लक्षण और भेद कहते हुए उनकी उपादेयता वतलाते हैं—

संयमके भेद शुद्धियाँ, कायसंयम, हिंसादि त्याग, आकम्पितादि त्याग, अतिक्रमादि त्याग और अब्रह्म त्यागरूप गुणोंका भी साधुको वारम्वार अभ्यास करना चाहिए॥१७३॥

विशेषार्थ—सयमके ही उत्तर भेदोंको गुण कहते है। उनकी संख्या चौरासी लाख है जो इस प्रकार है—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान इन दस प्रकारके प्रायश्चित्तोंको शुद्धियाँ कहते हैं। पूर्वोक्त पृथिवीकायिक आदि संयमके दस भेद कायसयम है। दस शुद्धियों और दस कायसंयमोंको परस्परमें गुणा करनेसे सौ भेद होते हैं। हिंसा आदि इस प्रकार हैं—हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, जुगुप्सा, भय, अरति, रति, मनकी दुष्टता, वचनकी दुष्टता, कायकी दुष्टता, मिथ्यात्व, प्रमाद, पिशुनता, अज्ञान और इन्द्रियोका अनिग्रह, इनके त्यागसे इक्कीस भेद होते है।

आकम्पित आदि दस इस प्रकार हैं—गुरुके हृदयमें अपने प्रति दयाभाव उत्पन्न करके आलोचना करना आकम्पित दोप है। गुरुके अभिप्रायको किसी उपायसे जानकर आलोचना करना अनुमानित दोप है। जो दोप दूसरोंने देख लिया उसकी आलोचना करना दृष्ट दोष है। स्थूल दोपकी आलोचना करना वादर दोप है। सूक्ष्म दोपकी आलोचना करना सूक्ष्म दोप है। प्रच्छन्न आलोचना करना कि आचार्यका कथन स्वयं ही सुन सके छन्न दोप हैं। वहुत शब्दोंसे व्याप्त समयमे जव हल्ला हो रहा हो आलोचना करना शब्दाकुलित दोष है। एक आचार्यके सामने अपने दोपको निवेदन करके और उनके द्वारा प्रदत्त प्रायश्चित्तको स्वीकार करके भी उसपर श्रद्धा न करके अन्य आचार्यसे दोपका निवेदन करना वहुजन प्रायश्चित्त है। अव्यक्त अर्थात् प्रायश्चित्त आदिमे अकुशल यतिके सामने दोपोकी आलोचना करना अव्यक्त दोप है। जो दोप आलोचनाके योग्य हैं उन्हीं दोपोके सेवी गुरुके सामने आलोचना करना तत्सेवी दोप है। इन दस दोपोके त्यागसे दस भेद होते है।

विपयोमे आसक्ति आदिसे अथवा संक्लेश भावसे आगममे कहे गये कालसे अधिक कालमें आवश्यक आदि करना अतिक्रम है। विपयोंमे आसक्ति आदिसे हीन कालमे क्रिया

तेषा त्यागा दश। अतिक्रमो व्यासगात्संक्लेशाद्वा आगमोक्तकालादधिककाले आवश्यकादिकरणम्। व्यतिक्रमो विषयव्यासगादिना हीनकाले क्रियाकरणम्। अतिचार क्रियाकरणालसत्वम्। अनाचारो व्रतादीनामनाचरणं खण्डन वा। तत्त्यागाश्चत्वारः। नास्ति ब्रह्म यासु ता अब्रह्माण. शीलविराधना'। तद्यथा— ३

'स्त्रीगोष्ठी वृष्यभुक्तिश्च गन्धमाल्यादिवासनम्।
शयनासनमाकल्प पष्ठ गन्धर्ववादितम्॥
अर्थसग्रहदु शीलसंगती राजसेवनम्। ६
रात्रौ सचरण चेति दश शीलविराधना॥' [ ]

तद्वर्जना दश। तत्र चतुर्भिर्गुणिता एकविंशतिश्चतुरशीतिगुणा स्यु.। ते च शतेन हताश्चतुरशीतिशतानि स्यु। ते चाब्रह्मकारणत्यागैर्दशभिरभ्यस्ताश्चतुरशीति सहस्राणि स्यु। ते चाकम्पितादित्यागैर्दशभिराहताश्चत्वारिंशत्सहस्राण्यधिकान्यष्टौ लक्षाणि स्यु। ते चालोचनादिप्रायश्चित्तभेदैर्दशभिस्ताडिताश्चतुरशीतिलक्षसंख्या गुणा. स्यु। तथा चोक्तम्— ९

'इगवोसचदुरसदिया दस दस दसगा य आणुपुव्वीए। १२
हिंसादिक्कमकाया विराहणा लोचणा सोही॥' [मूलाचार, १०२३ गा]

करना व्यतिक्रम है। व्रत आदिका आचरण नहीं करना या दोप लगाना अनाचार है। और क्रिया करनेमे आलस्य करना अतिचार है। इन चारोंके त्यागसे चार भेद होते है। अब्रह्म कहते हैं शीलकी विराधना करने को। वे इस प्रकार हैं—

स्त्रियोंकी संगति, इन्द्रिय मदकारक भोजन, गन्ध-माला आदिसे शरीरको सुवासित करना, शय्या और आसनकी रचना, गाना-बजाना आदि, धनका सग्रह, कुशील पुरुपोंकी संगति, राजसेवा और रात्रिमे विचरण ये दस शीलविराधना हैं। इनके त्यागसे दस भेद होते हैं। हिंसा आदिके त्याग सम्बन्धी इक्कीस भेदोंको अतिक्रम आदिके त्यागरूप चार भेदोसे गुणा करनेपर चौरासी भेद होते है। उन्हें उक्त सौ भेदोसे गुणा करनेपर चौरासी सौ भेद होते है। उन्हें अब्रह्मके कारणोंके त्यागरूप दस भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी हजार भेद होते है। उन्हें आकम्पित आदिके त्यागरूप दस भेदोंसे गुणा करनेपर आठ लाख चालीस हजार भेद होते है। उन्हें प्रायश्चित्तके आलोचन आदि दस भेदोंसे गुणा करनेपर चौरासी लाख भेद होते हैं। मूलाचारमे कहा है—हिसा आदि इक्कीस, अतिक्रम आदि चार, काय आदि दस, शील विराधना दस, आलोचना दोप दस, प्रायश्चित्त दस तरह इन सबकी शुद्धिके मेलसे २१×४×१०×१०×१०×१० चौरासी लाख भेद होते है। इनके उत्पादनका क्रम इस प्रकार है—

[1]हिंसासे विरत, अतिक्रम दोपके करनेसे विरत, पृथ्वीमे पृथिवीकायिक जीव सम्बन्धी आरम्भसे सुसंयत, स्त्रीसंसर्गसे रहित, आकम्पित दोपके करनेसे उन्मुक्त और आलोचना प्रायश्चित्तसे युक्त मुनिके पहला गुण होता है। शेप गुण भी इसी प्रकार जानने चाहिए।

---

१ पाणादिवादविरदे अदिकमणदोसकरण उम्मुक्के।
'पुढवीए पुढवीपुणरारभसुसंजदे धीरे॥
इत्थीससग्गविजुदे आकपिय दोसकरण उम्मुक्के।
आलोयणसोधिजुदे आदिगुणो सेसया णेया॥'—मूलाचार १०२२-२३ गा.।

गुणोच्चारणविधान यथा—

'मुक्ते प्राणातिपातेन तथातिक्रमवर्जिते ।
३ पृथिव्या. पृथिवीजन्तो पुनरारम्भसयते ॥
निवृत्तवनितासगे चाकम्प्य परिवर्जिते ।
तथालोचनया शुद्धे गुण आद्यस्तथा परे ॥' [ ]

६ द्वितीयादिगुणा यथा—हिंसाद्येकविंशति सस्थाप्य तदूर्ध्वमतिक्रमादयश्चत्वारा स्याप्या । तदुपरि पृथिव्यादि दश । तदूर्ध्व स्त्रीससर्गादयो दश । ततश्चोर्ध्वमाकम्पितादयो दश । ततोऽप्यूर्ध्वमालोचनादयो दश । ततो मृषावादेन निर्मुक्त इत्यादिनोच्चारणेन वाच्ये द्वितीयो गुण । ततश्च अदत्तादाननिर्मुक्त इत्यादिना ९ तृतीयः । एव तावदुच्चार्यं यावच्च चतुरशीतिलक्षा गुणा सम्पूर्णा उत्पन्ना भवन्तीति ॥१७३॥

एव सप्रपञ्च सम्यक्चारित्र व्याख्याय साम्प्रत तदुद्योतनाराधना वृत्तत्रयेण व्याख्यातुकामस्तावदति-क्रमादिवर्जनार्थं मुमूक्षून् सज्जयति—

१२ **चित्क्षेत्रप्रभवं फलर्द्धिसुभगं चेतोगवः संयम-**
व्रीहिव्रातमिमं जिघत्सुरदमः सद्भिः समुत्सार्यताम् ।
नोचेच्छीलवृतिं विलंघ्य न परं क्षिप्रं यथेष्टं चरन्
१५ **धुन्वन्नेनमयं विमोक्ष्यति फलैर्विष्वक् च तं भङ्क्ष्यति ॥१७४॥**

फलर्द्धयः—सद्वृत्ताराधनस्य फलभूता ऋद्धय' सप्तबुद्ध्यतिशयादि लब्धय । तद्यथा—

'बुद्धि तवो विय लद्धी विउव्वणलद्धी तहेव ओसहिया ।
१८ रसबलअक्खीणा वि य रिद्धीण सामिणो वदे ॥' [वसु. श्रा , ५१२ गा]

पक्षे फलसंपत्ति । चेतोगव —मनोवलीवर्द । संयम —व्रतधारणादिलक्षण. ।

इनकी स्थापनाका क्रम इस प्रकार है—हिंसा आदि इक्कीसकी स्थापना करके उसके ऊपर अतिक्रम आदि चारकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर पृथिवी आदि सौकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर स्त्रीसंसर्ग आदि दसकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर आकम्पित आदि दसकी स्थापना करना चाहिए। उसके ऊपर आलोचना आदिकी स्थापना करना चाहिए। इस प्रकार स्थापित करके असत्यसे विरत आदि पूर्वोक्त क्रमसे दूसरा गुण होता है। चोरीसे विरत इत्यादि क्रमसे तीसरा गुण होता है। इसी प्रकार योजना कर लेना चाहिए ॥१७३॥

इस प्रकार विस्तारके साथ सम्यक् चारित्रका व्याख्यान करके अब तीन पद्योंके द्वारा उसकी उद्योतनरूप आराधनाका वर्णन करनेकी भावनासे सर्वप्रथम अतिक्रम आदिका त्याग करनेके लिए मुमुक्षुओंको प्रेरित करते हैं—

चित् अर्थात् आत्मारूपी खेतमें उत्पन्न होनेवाले और ऋद्धिरूप फलोंसे शोभायमान इस सयमरूपी धान्यके ढेरको उच्छृंखल चित्तरूपी सॉड़ खा जाना चाहता है। अतः चारित्रकी आराधनामें तत्पर साधुओंको इसका दमन करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया गया तो शीलरूपी बाढ़को लाँघकर इच्छानुसार चरता हुआ तथा नष्ट करता हुआ शीघ्र ही यह चित्तरूपी सॉड न केवल इस संयमरूपी धान्यसमूहको फलोंसे शून्य कर देगा किन्तु पूरी तरह उसे रौंद डालेगा ॥१७४॥

यदाह—

'[1]व्रतदण्डकषायाक्षसमितानां यथाक्रमम् ।
संयमो धारणं त्यागो निग्रहो विजयोऽवनम् ॥' [स. प. सं २३८] ३

जिघत्सुः—भक्षयितुमिच्छुः । एतेनातिक्रमो गम्यते । यदाह—

'क्षतिं मनःशुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलङ्घनम् ।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम् ॥' [अमित. द्वात्रि.] ६

अदमः—अदान्तः । समुत्सार्यतां—दूरीक्रियताम् दान्तः क्रियतां निगृह्यतामिति यावत् । विलघ्य । एतेन व्यतिक्रमो गम्यते । यथेष्टं चरन्—यो य इष्टो विषयस्तमुपयुञ्जानः । धुन्वन्—विध्वंसयन् । एतेनातिचारो लक्ष्यते । विष्वगित्यादि । एतेनानाचारोऽवसीयते ॥१७४॥ ९

अथ चारित्रविनयं निर्दिशंस्तत्र प्रेरयति—

सदसत्खार्थकोपादिप्रणिधानं त्यजन् यतिः ।
भजन्समितिगुप्तीश्च चारित्रविनयं चरेत् ॥१७५॥ १२

विशेषार्थ—संयमका स्वरूप इस प्रकार कहा है—व्रतोंका धारण, समितियोंका पालन, कषायोंका निग्रह, दण्ड अर्थात् मन-वचन-कायकी प्रवृत्तिका त्याग और पाँचों इन्द्रियोंका जय, इसे संयम कहा है। जैसे धान्य खेतमें उत्पन्न होता है वैसे ही संयम आत्मामें उत्पन्न होता है। अतः संयमरूप धान्यकी उत्पत्तिके लिए आत्मा खेतके तुल्य है। धान्य जब पककर तैयार होता है तो उसमें अनाजके दाने भरे होते हैं और उससे वह बहुत सुन्दर लगता है। इसी तरह संयमकी आराधनाका फल सात प्रकारकी ऋद्धियाँ हैं। इन ऋद्धियोंसे वह अत्यन्त मनोरम होता है। वे ऋद्धियाँ इस प्रकार हैं—बुद्धिऋद्धि, तपऋद्धि, विक्रियालब्धि, औषधऋद्धि, रसऋद्धि, बलऋद्धि, अक्षीणऋद्धि ये सात ऋद्धियाँ कही हैं। इनका विस्तृत वर्णन तत्त्वार्थवार्तिक (३।३६) में है किन्तु उसमें एक क्रिया नामकी ऋद्धि भी बतलायी है और इस तरह आठ ऋद्धियाँ कही हैं। इस संयमरूपी हरे-भरे खेतकी रक्षाके लिए शीलरूपी बाड़ी रहती है। किन्तु उच्छृंखल मनरूपी साँड इस हरे-भरे संयमरूपी धान्यको चर जाना चाहता है। यदि उसका दमन नहीं किया गया तो वह शीलरूपी बाड़ीको लाँघकर स्वच्छन्दतापूर्वक उसे चरता हुआ संयमरूपी धान्य सम्पदाको फलसे शून्य कर पूरी तरहसे उसे रौंद डालेगा। इसमें उच्छृंखल मनरूपी साँड़ संयमरूपी धान्यसमूहको खाना चाहता है इससे अतिक्रम सूचित होता है। शीलरूपी बाड़ीको लाँघनेसे व्यतिक्रमका बोध होता है। यथेष्ट चरनेसे अतीचारका निश्चय होता है और सब ओरसे रौंद डालनेसे अनाचारका बोध होता है। इन चारोंके लक्षण इस प्रकार हैं—संयमके सम्बन्धमें मनकी शुद्धिकी विधिकी हानिको अतिक्रम, शीलकी बाड़के उल्लंघनको व्यतिक्रम, विषयोंमें प्रवृत्तिको अतीचार और उनमें अति आसक्तिको अनाचार कहते हैं ॥१७४॥

चारित्रविनयका स्वरूप दर्शाते हुए उसको पालनेकी प्रेरणा करते हैं—

इन्द्रियोंके इष्ट और अनिष्ट विषयोंमें राग-द्वेष करने और क्रोध आदि कषायरूप परिणमनका त्याग करते हुए तथा समिति और गुप्तियोंका पालन करते हुए साधुको चारित्रकी विनय करनी चाहिए ॥१७५॥

---

१ 'वद-समिदिकसायाणं दंडाणं तहिंदियाण पंचण्हं ।
धारण-पालणणिग्गह-चागजओ संजमो भणिओ' ॥—गो जी ४६४ गा. ।

सदसत्स्वार्थाः—इष्टानिष्टविषया । तेषु प्रणिधानं—रागद्वेषनिधानं क्रोधादिषु च परिणाममेतत्[1] । चारित्रविनय—व्रतान्येवात्र चारित्रम् ॥१७५॥

३ अथैदयुगीनधुर्यस्य श्रामण्यप्रतिपत्तिनियमानुवादपुरस्सरं भावस्तवमाह—

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं,
यश्छेदैर्विधिवद् व्रतादिभिरुपस्थाप्याऽन्यदन्वेत्यपि ।
६ वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि छेदेऽप्युपस्थापय-
त्यैतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदंयुगीनेषु तम् ॥१७६॥

सर्वावद्यनिवृत्तिरूप—सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणम् । उपगुरु—दीक्षकाचार्यसमीपे । आदाय—
९ सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणमेक महाव्रतमधिरूढोऽस्मीति प्रतिपद्य । सामायिक—समये एकत्वगमने भवम् ।

तदुक्तम्—

'क्रियते यदभेदेन व्रतानामधिरोपणम् ।
१२ कषायस्थूलतालीढ. स सामायिकसयमः ॥' [स. प सं. २३९]

विशेषार्थ—यहाँ चारित्रसे व्रत लिये गये है। व्रतोको निर्मल करनेका जो प्रयत्न किया जाता है वही चारित्रकी विनय है। उसीके लिए समिति और गुप्तिका पालन करते हुए इन्द्रियोके इष्टविषयोमे राग और अनिष्टविषयोमे द्वेष नहीं करना चाहिए। तथा क्रोध, मान आदि कषाय और हास्य आदि नोकषायका कदाचित् उदय हो तो क्रोधादि नहीं करना चाहिए। यही चारित्रकी विनय है। इसीसे व्रत निर्मल होते है ॥१७५॥

आगे मुनिपद धारणके नियमोंका कथन करते हुए इस युगके साधुओमें अग्रणी साधुका भावपूर्वक स्तवन करते हैं—

जो विधिपूर्वक दीक्षाचार्यके समीपमे सर्वसावद्ययोगके त्यागरूप सामायिक संयमको स्वीकार करके और निर्विकल्प सामायिक संयमके भेदरूप पाँच महाव्रत और उनके परिकररूप तेईस मूलगुणोमे यदि आत्मा प्रमादी होता है तो सामायिक संयमसे उतरकर छेदोपस्थापन संयमको भी धारण करता है। कदाचित् पुन. सामायिक संयमको धारण करता है और अज्ञान या प्रमादसे बाह्य अर्थात् द्रव्यहिंसारूप तथा अन्तर अर्थात् भावहिंसारूप छेदके होनेपर आगमके अनुसार छेदोपस्थापना धारण करता है। इस भरत क्षेत्रमे इस युगके साधुओंमे अग्रणी उस साधुको मै नमस्कार करता हूँ—उसका स्तवन करता हूँ॥१७६॥

विशेषार्थ—जो साधु होना चाहता है वह सबसे पहले अपने गुरुजनो, पत्नी, पुत्र आदिसे पूछकर उनकी स्वीकृति लेता है। उनके द्वारा मुक्त किये जानेपर कुल, रूप और वयसे विशिष्ट गुणवान् आचार्यके पादमूलमे नमस्कार करके उनसे अपनानेकी प्रार्थना करता है। यो सच्चे गुरु तो अर्हन्त देव ही है किन्तु दीक्षाकालमे निर्ग्रन्थ लिंगकी विधिको बतलाकर वे ही साधुपद स्वीकार कराते है इसलिए उन्हे व्यवहारमें दीक्षा-दाता कहा जाता है। पश्चात् सर्वसावद्ययोगके प्रत्याख्यानरूप एक महाव्रतको श्रवण करके आत्माको जानता हुआ सामायिक संयममे आरूढ होता है। सामायिक संयमका स्वरूप इस प्रकार है—बादर संज्वलन कषायके साथ जो व्रतोंको अभेदरूपसे धारण किया जाता है उसे सामायिक संयम कहते हैं।

---

१. णमनमित्यर्थ —भ. कु च ।

'विधिवत्' इत्यत्रापि योज्यम्। विधिर्यथा—श्रमणो भवितुमिच्छन् प्रथम तावद् यथाजातरूप-धरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरङ्ग च लिङ्ग प्रथममेव गुरुणा परमेश्वरेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षकाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादानक्रियया सभाव्य तन्मयो भवति। ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुन्नमस्क्रियया सभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति। तत सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मान जानन् सामयिकमध्यारोहति। तत प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन[1] समये भगवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमध्यारोहति। तत त्रैकालिकधर्मेभ्यो विविच्यमानमात्मान जानन्नतीतप्रत्युत्पन्नानुपस्थितकायवाड्मन कर्मविविक्तत्वमधिरोहति। तत सर्वसावद्यकर्मायतन कायमुत्सृज्य यथाजातरूप स्वरूपमेकाग्र्येणालम्ब्यव्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति। उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात् साक्षाच्छ्रमणो भवति। छेदै —निर्विकल्पसामायिकसयमविकल्पै। व्रतादिभि·—पञ्चभिर्महाव्रतैस्तत्परिकर-भूतैश्च त्रयोविंशत्या समित्यादिभिर्मूलगुणै। उपस्थाप्य—निर्विकल्पसामायिकसयमाविरुढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्तेषु प्रमादितमात्मानमारोप्य। अन्यत्—छेदोपस्थापनाख्य चारित्रम्। अन्वेति—सामायिकादवतीर्णोऽनुवर्तते। केवलकल्याणमात्रार्थिन कुण्डलवलयाङ्गुलीयादिपरिग्रह किल श्रेयान्न पुन सर्वथा कल्याणाभाव एवेति सप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवतीत्यर्थ।

तथा चोक्तं प्रवचनसारचूलिकायाम—

श्वेताम्बरीय विशेषावश्यक भाष्यमे कहा है—आत्मा ही सामायिक है क्योंकि सामायिक रूपसे आत्मा ही परिणत होता है। वही आत्मा सावद्ययोगका प्रत्याख्यान करता हुआ प्रत्याख्यान क्रियाके कालमे सामायिक होता है। उस सामायिकका विषय सभी द्रव्य हैं क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप क्रियाके द्वारा सभी द्रव्योंका उपयोग होता है। जैसे हिंसा निवृत्तिरूप व्रतमे सभी त्रस और स्थावर जीव उसके विषय है क्योकि उसमे सभीकी रक्षा की जाती है। इसी तरह असत्यनिवृत्तिरूप व्रतमें विषय सभी द्रव्य है क्योंकि सभी द्रव्योंके सम्बन्धमें असत्य न बोलना चाहिए इत्यादि।[2] सामायिक संयममे आरूढ हुआ आत्मा प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यानके द्वारा मन, वचन, काय सम्बन्धी अतीत, वर्तमान और अनागत कर्मोंसे भिन्न आत्माको जानता है क्योंकि अतीत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रतिक्रमण, वर्तमान दोषोंकी निवृत्तिके लिए आलोचना और अनागत दोषोंकी निवृत्तिके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है। पश्चात् समस्त सावद्य कार्योंका स्थान जो अपना शरीर है उससे ममत्वको त्यागकर यथाजात रूप एकमात्र स्वरूपको एकाग्रतासे अवलम्बन करके सर्वत्र समदृष्टि होनेसे श्रमण हो जाता है। निर्विकल्प सामायिक संयमके भेद ही पाँच महाव्रत तथा उनके परिकररूप समिति आदि तेईस मूल गुण हैं। इन विकल्पोंमे अभ्यस्त न होनेसे यदि उनमें प्रमादवश दोष लगाता है तो छेदोपस्थापनारूप चारित्रवाला होता है। इसका आशय यह है कि स्वर्णका इच्छुक व्यक्ति स्वर्ण सामान्यको यदि कुण्डल या कटक या अँगूठी आदि किसी भी रूपमे पाता है तो उसे स्वीकार कर लेता है उन्हे छोड नहीं देता। इसी तरह निर्विकल्प सामायिक संयममे स्थिर न रहनेपर निर्विकल्प सामायिक संयमके जो छेद अर्थात् भेद हैं उनमे स्थित होकर

---

१. ज्ञानेन त्रैकालिक—भ. कु च।

२ 'आया खलु सामाइयं पच्चक्खाय तओ हवइ आया।
त खलु पच्चक्खाण आयाए सव्वदव्वाण'॥—वि भा. २६३४ गा।

'जहजादरूवजाद उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं ।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ।।'

३ मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं ।
लिंग न परावेक्ख अपुणब्भवकारण जोण्ह ।।

आदाय त पि लिंगं गुरुणा परमेण त नमसिता ।
६ सोच्चा सवद किरिय उवट्ठिदो होदि सो समणो ।।

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सगमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदतवण ठिदिभोयणमेयभत्त च ।।

९ एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ।।' [गा. २०५-२०९ ।]

अपि—न केवल छेदोपस्थापनमेवान्वेति किन्तु कदाचित्पुन सामायिकमप्यधिरोहतीत्यर्थः । बाह्ये—
१२ चेष्टामात्राधिकृते द्रव्यहिंसारूपे । आन्तरे—उपयोगमात्राधिकृते भावहिंसारूपे । कथमपि—अज्ञानेन प्रमादेन वा प्रकारेण । ऐतिह्यानुगुणं—आगमाविरोधेन इत्यर्थ । उक्त च—

'व्रताना छेदन कृत्वा यदात्मन्यधिरोपणम् ।
१५ शोधन वा विलोपेन छेदोपस्थापन मतम् ।।' [स प. सं २४० श्लो.]

इह—अस्मिन् भरतक्षेत्रे । ऐदयुगीनेषु—अस्मिन् युगे साधुषु दुष्षमाकाले सिद्धिसाधकेष्वित्यर्थ । त—सामायिकादवरुह्य छेदोपस्थापनमनुवर्तमान पुन सामायिके वर्तमान वा ।।१७६।।

छेदोपस्थापक हो जाता है। प्रवचनसारमे कहा भी है—'जन्मसमयके रूप जैसा नग्न दिगम्बर, सिर और दाढी-मूँछके बालोका लोंच किया हुआ, शुद्ध, हिंसा आदिसे रहित, प्रतिकर्म अर्थात् शरीर संस्कारसे रहित बाह्य लिंग होता है। ममत्व भाव और आरम्भसे रहित, उपयोग और योगकी शुद्धिसे सहित, परकी अपेक्षासे रहित जैन लिंग मोक्षका कारण है। परम गुरुके द्वारा दिये हुए दोनों लिंगोंको ग्रहण करके, उन्हें नमस्कार करके, व्रत सहित क्रियाको सुनकर उपस्थित होता हुआ वह श्रमण होता है। पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँचों इन्द्रियोंका निरोध, केशलोच, छह आवश्यक, नग्नता, स्नान न करना, भूमिशयन, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन, एक बार भोजन ये अट्ठाईस मूलगुण श्रमणोके जिन-भगवान्ने कहे है। उनमे प्रमादी होता हुआ छेदोपस्थापक होता है। छेदोपस्थापनाके दो अर्थ हैं। यथा—व्रतोका छेदन करके आत्मामे आरोपण करनेको अथवा व्रतोमे दोष लगनेपर उसका शोधन करनेको छेदोपस्थापन कहते है। अर्थात् सामायिक संयममे दोष लगनेपर उस दोपकी विशुद्धि करके जो व्रतोको पाँच महाव्रत रूपसे धारण किया जाता है वह छेदोपस्थापना है। सामायिक संयम सर्वसावद्यके त्यागरूपसे एक यम रूप होता है और छेदोपस्थापना पाँच यम रूप होता है। छेदोपस्थापनाके पश्चात् सामायिक संयम नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। पुन. सामायिक संयम हो सकता है। और पुन. दोष लगनेपर पुन. छेदोपस्थापना संयम होता है। जो सामायिक संयमके प्रदाता दीक्षा देनेवाले आचार्य होते है उन्हे गुरु कहते है। और छिन्न संयमका संशोधन करके जो छेदोपस्थापक होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं ।।१७६।।

अथैवं चारित्रस्योद्योतनमभिधायेदानीं तदुव[तदुद्यम]नादिचतुष्टयाभिधानार्थमाह—

ज्ञेयज्ञातृतथाप्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्,
द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्। ३
पक्तुं बिभ्रदनाकुलं तदनुबन्धायैव कंचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति य. पिबत्यधिकशस्तामेव देवः स वै ॥१७७॥

ज्ञेयेत्यादि—ज्ञेयैर्बोध्यैर्हेयोपादेयतत्त्वैरुपलक्षितो ज्ञाता शुद्धचिद्रूप आत्मा। अथवा ज्ञेयानि च ज्ञाता चेति ६ द्वन्द्व। तत्र तथा यथोपदिष्टत्वेन प्रतीति प्रतिपत्तिरनुभवश्चानुभूतिस्तावाकारौ स्वरूपे ययोरेकदृग्बोधयो तात्त्विकसम्यक्त्वज्ञानयोस्तौ तथाभूतौ भजनम्। वृत्ति'—उत्पादव्ययध्रौव्यैकत्वलक्षणमस्तित्वम्। वपु -स्वभाव.। उक्त च— ९

'जीवसहाव णाण [1]अप्पविदे दसण अणण्णमय।
चरिय च तेसु णियद अत्थित्तमणिंदियं भणिदं ॥' [पञ्चास्ति १५४।]

इस प्रकार चारित्रके उद्योतनका कथन करके अब उसके उद्यमन आदि शेष चारका कथन करते हैं—

ज्ञेय और ज्ञातामें तथा प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन और तथा अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञानके साथ तादात्म्यका अनुभवन करनेवाला, द्रष्टा ज्ञातारूप निज आत्मामे उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप वृत्ति ही जिसका स्वभाव है उस चारित्ररूपी अमृतको पीकर उसे पचानेके लिए निराकुल-भावको धारण करता हुआ, उस चारित्ररूपी अमृतके पानका अनुवर्तन करनेके लिए ही आगमविहित तीर्थयात्रा आदि व्यवहारको करके भी जो उसी चारित्ररूपी अमृतको अधिकाधिक पीता है वह निश्चित ही देव है—महान् पुरुषोंके द्वारा भी आराध्य है ॥१७७॥

विशेषार्थ—हेय-उपादेय तत्त्वोंको ज्ञेय कहते हैं और उनको जाननेवाले शुद्ध चिद्रूप आत्माको ज्ञाता कहते हैं। ज्ञेय और ज्ञातामें अथवा ज्ञेयसे युक्त ज्ञातामें सर्वज्ञ भगवान्के द्वारा जैसा कहा गया है और जैसा उनका यथार्थ स्वरूप है तदनुसार प्रतीति होना सम्यग्दर्शन है और तदनुसार अनुभूति होना सम्यग्ज्ञान है। ये दोनो ही आत्माके मुख्य स्वरूप हैं। अतः इन दोनोंको कथंचित् तादात्म्यरूपसे अनुभव करनेवाला उस चारित्ररूपी अमृतको पीता है जिसका स्वरूप है द्रष्टा-ज्ञातारूप निज आत्मामें लीनता। और उसे पीनेके बाद पचानेके लिए लाभ पूजा ख्यातिकी अपेक्षारूप क्षोभसे रहित निराकुल रहता है। लोकमे भी देखा जाता है कि लोग अमृत आहारको खाकर उसे पचानेके लिए सवारी आदिपर गमन नहीं करते। यहाँ चारित्ररूपी अमृतका पान करनेसे उद्यमन सूचित होता है और उसे पीकर निराकुल वहन करनेसे निर्वहण सूचित होता है तथा उस प्रकारके चारित्ररूपी अमृतके पानकी परम्पराको प्रवर्तित रखनेके लिए तीर्थयात्रा आदि व्यवहार धर्मको करनेसे निस्तरण सूचित होता है और उसी चारित्ररूप अमृतको अधिकाधिक पीनेसे साधन सूचित होता है।

इस तरह जो उद्यमन आदि चार चारित्राराधनाओंमे सलग्न होता है वह निश्चय ही देव है। कहा भी है—'तपसे हीन ज्ञान मान्य है और ज्ञानसे हीन तप पूज्य है। जिसके ज्ञान और तप दोनों होते हैं वह देव होता है और जो दोनोंसे रहित है वह केवल संख्या पूरी करनेवाला है।' साराश यह है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन या ज्ञान

---

१. अप्पडिहद भ कु. च।

निष्पीय—अतिशयेन पीत्वा। एतेनोद्यवन द्योत्यते। पक्तु—परिणमयितुम्। अनाकुलं—क्षोभादि-क्षोभरहितम्। एतेन निर्वहण प्रतीयते। विधि—सूत्रोक्त तीर्थगमनादिव्यवहारम्। आमृति—मरणावधि। एतेन निस्तरण भण्यते। अधिकश —अधिकमधिकम्। एतेन साधनमभिधीयते। दैव । उक्त च—

'मान्य ज्ञान तपोहीन ज्ञानहीनं तपोऽहितम्।
द्वय यस्य स देवः स्याद् द्विहीनो गणपूरण.॥' [सो उपा ८१५ श्लो.]

सैषा चरणसिद्धिमूलशुद्धात्मद्रव्यसिद्धिप्रकाशना। यदाह—

'द्रव्यस्य[1] सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धि.।
बुद्ध्वेति कर्माविरता परेऽपि द्रव्याविरुद्ध चरणं चरन्तु॥'
[प्रवचनसार, चरणानुयोगचूलिका] ॥१७७॥

अथातश्चतुश्लोक्या चारित्रमाहात्म्यं श्रोतुकाम. प्रथम तावत् प्ररोचनार्थमानुषङ्गिकमभ्युदयलक्षण मुख्य च निर्वाणलक्षण तत्फलमासूत्रयति—

सद्दृग्ज्ञप्त्यमृतं लिहन्नहरहर्भोगेषु तृष्णां रहन्
वृत्ते यत्नमथोपयोगमुपयन्निर्मायमूर्मीनयन्।
तत्किंचित् पुण्यश्चिनोति सुकृतं यत्पाकमूर्छन्नव-
प्रेमास्तत्र जगच्छ्रियश्चलदृशोऽप्यौर्ध्यन्ति मुक्तिश्रिये॥१७८॥

और दर्शन जीवका स्वभाव है क्योकि जीव ज्ञानदर्शनमय है और ज्ञानदर्शन जीवमय है। इसका कारण यह है कि सामान्य विशेष चैतन्य स्वभाव जीवसे ही वे निष्पन्न होते है। जीवके स्वभावभूत उन ज्ञान दर्शनमें नियत अवस्थित जो उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप अस्तित्व है जिसमें रागादि परिणामका अभाव है वह अनिन्दित चारित्र है। इसका स्पष्टीकरण इसी प्रकार है कि केवलज्ञान और केवलदर्शन जीवका स्वभाव है क्योंकि सहज शुद्ध सामान्य विशेष चैतन्यात्मक जीवके अस्तित्वसे संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदिके भेदसे भेद होनेपर भी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावसे अभेद है। इस प्रकार पूर्वोक्त जीव स्वभावसे अभिन्न उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक निर्विकार अतएव अदूपित जो जीवके स्वभावमें नियतपना है वही चारित्र है क्योंकि स्वरूपमें चरणको चारित्र कहते है। पञ्चास्तिकायमे कहा भी है—संसारी-जीवोंमे दो प्रकारका चरित होता है—स्वचरित और परचरित। उनमेंसे जो स्व-स्वभावमे अवस्थित अस्तित्वरूप है जो कि परभावमें अवस्थित अस्तित्वसे भिन्न होनेके कारण अत्यन्त अनिन्दित है वही साक्षात् मोक्षमार्ग है अत मुमुक्षुओंको उसीके लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। यह चारित्रकी सिद्धि शुद्ध आत्म द्रव्यकी सिद्धिका मूल है—कहा है—'चारित्रकी सिद्धि होनेपर द्रव्यकी सिद्धि होती है और द्रव्यकी सिद्धि होनेपर चारित्रकी सिद्धि होती है। ऐसा जानकर कर्मोंसे अविरत दूसरे भी द्रव्यसे अविरुद्ध आचरण करें' ॥१७७॥

इस प्रकार उद्योतन आदि पाँच चारित्राराधनाओका प्रकरण समाप्त हुआ।

अब यहाँसे चार श्लोकोके द्वारा चारित्रका माहात्म्य कहना चाहते है। उनमे सबसे प्रथम चारित्रमे रुचि उत्पन्न करनेके लिए चारित्रका अभ्युदयरूप आनुषगिक फल और निर्वाणरूप मुख्य फल बतलाते है—

भोगोमे तृष्णारहित होकर निरन्तर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञानरूप अमृतका आस्वादन करनेवाला और सम्यक्चारित्रके विषयमे न केवल प्रयत्नशील किन्तु सदा उसका अनुष्ठान

---

१. 'द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिर्द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ'—प्रव. सार।

रहन्—त्यजन् । यतनम्—उद्यमम् । उपयोग—अनुष्ठानम् । एतेन चारित्रेऽन्तर्भूत तपोऽपि व्याख्यातं प्रतिपत्तव्यम् । यदाहु —

'चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउजणा य जो होइ । ३
सो चेव जिणेहिं तओ भणिओ असढ चरंतस्स ॥' [भ. आ. १०]

मूर्छत्—वर्धमानम् । चलदृगे—कटाक्षान् मुञ्चत्यै निकटसगमायै इत्यर्थ. । तथा चोक्तम्—

'संपज्जदि णिव्वाण देवासुरमणुयरायविहवेहिं । ६
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणपहाणादो ॥' [प्रवचनसार १।६ ।] ॥१७८॥

अथ सम्यक्चारित्राराधनावष्टम्भात् पुरातनानिहाऽपि क्षेत्रे निरपायपदप्राप्तानात्मनो भवापायसमुच्छेदं याचमान प्राह— ९

करनेवाला तथा भूख-प्यास आदिकी परीषहोको निष्कपट रूपसे सहन करनेवाला पुरुष कुछ ऐसे पुण्यकर्मका संचय करता है जिसके उदयसे सासारिक सम्पत्तियोंका अनुराग उसके प्रति बढ जाता है और वे उस पुरुषपर केवल कटाक्षपात ही करनेवाली मुक्तिलक्ष्मीसे ईर्ष्या करने लगती हैं ॥१७८॥

विशेषार्थ—जो व्यक्ति भोगोंकी तृष्णाको त्याग कर सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेके साथ सम्यक्चारित्रकी भी सतत आराधना करते है और परीषहोको निष्कपट भावसे सहते हैं । ऐसा कहनेसे चारित्रमे अन्तर्भूत तपका भी ग्रहण होता है । भगवती आराधनामे कहा है–'उस चारित्रमे जो उद्योग और उपयोग होता है उसे ही जिनेन्द्रदेवने तप कहा है । जो सांसारिक सुखसे विरक्त होता है वहीं चारित्रमे प्रयत्नशील होता है । जिसका चित्त सासारिक सुखमे आसक्त है वह क्यों चारित्र धारण करेगा ।' अतः बाह्य तप प्रारम्भिक चारित्रका परिकर होता है । क्योंकि बाह्य तपसे सब सुखशीलता छूट जाती है तथा पाँच प्रकारकी स्वाध्याय श्रुतभावना है, जो स्वाध्याय करता है वह चारित्ररूप परिणमता है । कहा है—श्रुत भावनासे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तप और संयमरूप परिणमन करता है । परिणामको ही उपयोग कहते है । अत. सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानकी आराधनाके साथ जो चारित्रमें उद्योग करता है और उपयोग लगाता है यद्यपि ऐसा वह मोक्षके लिए ही करता है फिर भी शुभराग होनेसे किंचित् पुण्यबन्ध भी होता है, उस पुण्यबन्धसे उसे सासारिक सुख भी प्राप्त होता है । प्रवचनसारमे कहा है—दर्शनज्ञान प्रधान वीतराग चारित्रसे मोक्ष होता है और सराग चारित्रसे देवराज, असुरराज और चक्रवर्तीका वैभव प्राप्त करानेवाला बन्ध होता है । अर्थात् मुमुक्षुको नहीं चाहते हुए भी मोक्षलक्ष्मीसे पहले संसारलक्ष्मी प्राप्त होती है । इसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि स्त्रियोमे ईर्ष्या होती ही है । अतः उक्त पुरुषपर मुक्तिलक्ष्मीकी केवल दृष्टि पडते ही ससारलक्ष्मी ईर्ष्यावश कि इसे मुक्ति लक्ष्मी वरण न कर सके उसके पास आ जाती है । यदि वह पुरुष उसी ससारलक्ष्मीमे आसक्त हो जाता है तो मुक्तिलक्ष्मी उससे दूर हो जाती है और यदि उपेक्षा करता है तो मुक्तिलक्ष्मी निकट आ जाती है ॥१७८॥

इसी भरत क्षेत्रमें जो पूर्वमे सम्यक् चारित्रकी आराधनाके बलसे मोक्षपद प्राप्त कर चुके हैं उनसे अपने सासारिक दु खोंके विनाशकी याचना करते है—

१. 'सुदभावणाए णाण दसण तव सजम च परिणमदि' ।—भ. आ. १९४ गा. ।

ते केनापि कृताऽऽजवञ्जवजया: पुंस्पुङ्गवा: पान्तु मां
तान्युत्पाद्य पुराऽत्र पञ्च यदि वा चत्वारि वृत्तानि यैः।
३ मुक्तिश्रीपरिरम्भशुम्भदसमस्थामानुभावात्मना
केनाऽप्येकतमेन वीतविपदि स्वात्माभिषिक्तः पदे ॥१७९॥

केन—शुद्धनिश्चयनयादव्यपदेशेनैकेनैवात्मना। अतिशब्दादशुद्धनिश्चयनयेन पुना रत्नत्रयेणापि। ६ आजवञ्जव—ससार। पुंस्पुङ्गवा—पुरुषोत्तमा। तानि—प्रसिद्धानि सामायिकादीनि। तत्राद्ययोर्लक्षणं प्रागुक्तम्। त्रयाणा त्विद यथा—

'त्रिशद्वर्षवया वर्षपृथक्त्वेनास्थितो जिनम्।
९ यो गुप्तिसमित्यासक्त· पाप परिहरेत् सदा॥
स पञ्चैकयमोऽधीतप्रत्याख्यानो विहारवान्।
स्वाध्यायद्वयसयुक्तो गव्यूत्यर्द्धाध्वगो मुनि ॥
१२ मध्याह्नकृद्द्विगव्यूती गच्छन् मन्दं दिनं प्रति।

जिन्होने पूर्व युगमें इसी भरत क्षेत्रमे उन पूर्वोक्त पाँच चारित्रोंको अथवा उनमें-से चार चारित्रोंको धारण करके शुद्ध निश्चयनयसे व्यपदेशरहित एक आत्मासे ही और अशुद्ध निश्चयनयसे रत्नत्रयके द्वारा संसारका नाश किया और जीवन्मुक्तिरूपी लक्ष्मीके आलिंगनसे शोभायमान असाधारण शक्तिके माहात्म्यमय किसी अनिर्वचनीय परमोत्कृष्टके द्वारा अपनी आत्माको दु खोंसे रहित मोक्षपदमे प्रतिष्ठित किया वे महापुरुष मेरी संसारके कष्टोंसे रक्षा करे॥१७९॥

विशेषार्थ—इलोकमें 'केनापि' पद संसारको विनष्ट करनेके कारणरूपसे प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ होता है 'किसीसे भी'। इससे बतलाया है कि उसका नाम नहीं लिया जा सकता। यह शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टि है। क्योकि तत्त्वार्थ सूत्रके दशम अध्यायके अन्तिम सूत्रके सभी टीकाकारोने कहा है कि प्रत्युत्पन्नग्राही नयकी अपेक्षा व्यपदेशरहित भावसे मुक्ति होती है[1]।

इसकी व्याख्या करते हुए भट्टाकलंकदेवने कहा[2] है—प्रत्युत्पन्नग्राही नयसे न तो चारित्रसे मुक्ति होती है न अचारित्रसे मुक्ति होती है किन्तु एक ऐसे भावसे मुक्ति होती है जो अनिर्वचनीय है। भूतपूर्व नयके दो भेद है—अनन्तर और व्यवहित। अनन्तरकी अपेक्षा यथाख्यात चारित्रसे मुक्ति होती है। व्यवहितकी अपेक्षा चार अर्थात् सामायिक छेदोपस्थापक, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यात चारित्रसे या परिहारविशुद्धि सहित पाँच चारित्रोसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इसीके अनुसार ऊपर 'केनापि' या चार अथवा पाँच चारित्रसे मुक्ति कही है। परिहारविशुद्धि संयम सभीके होना आवश्यक नहीं है अतः उसके बिना भी मुक्ति हो सकती है। हाँ, मुक्तिके समय जो चारित्र और अचारित्र दोनोंका ही निषेध करते

---

१ 'चारित्रेण केन सिद्धयति ? अव्यपदेशेनैकचतु पञ्चविकल्पचारित्रेण वा सिद्धि।'—सर्वार्थ टी।

२ 'प्रत्युत्पन्नावलेहिनयवशान्न चारित्रेण नाप्यचारित्रेण व्यपदेशरहितभावेन सिद्धि·। भूतपूर्वगतिर्द्विधा-अनन्तरव्यवहितभेदात्। आनन्तर्येण यथाख्यातचारित्रेण सिद्धयति। व्यवधानेन चतुर्भि पञ्चभिर्वा। चतुर्भिस्तावत् सामायिकछेदोपस्थापनासूक्ष्मसाम्पराययथाख्यातचारित्रै। पञ्चभिस्तैरेव परिहारविशुद्धिचारित्राधिकै।'—तत्त्वा वार्तिक।

कृतोक्षतकपायारिः स्यात्परिहारसयमी ॥
सूक्ष्मलोभ विदन् जीवः क्षपक. शमकोऽपि वा ।
किंचिदूनो यथाख्यातात् स सूक्ष्मसापरायकः ॥ ३
सर्वकर्मप्रभौ मोहे शान्ते क्षीणेऽपि वा भवेत् ।
छद्मस्थो वीतरागो वा यथाख्यातयमी पुमान् ॥' [ ]

चत्वारि—परिहारविशुद्धिसयमस्य केपाचिदभावात् । स्थाम—शक्ति । केनापि अनिर्वचनीयेन ६
॥१७९॥

अथ संयममन्तरेण कायक्लेशादितपोऽनुष्ठानं बन्धसहभाविनिर्जरानिवन्धनं स्यादिति सिद्धर्यार्थिभिरसावाराध्य इत्युपदिशति— ९

हुए व्यपदेशरहित अनिर्वचनीय भावसे मुक्ति वतलायी है वह अवश्य ही चिन्तनीय है। क्योंकि यथाख्यात चारित्र तो आत्मस्वभावरूप ही है फिर भी उसका मुक्तिमे निषेध किया है। इनमे-से दो चारित्रोंका स्वरूप तो पहले कहा है। शेष तीनोंका स्वरूप इस प्रकार है[2]—पॉच समिति और तीन गुप्तियोंसे युक्त जो पुरुष सदा सावद्य कार्योंका परिहार करता है और पॉच यमरूप या एक यमरूप संयमका धारक है वह परिहार विशुद्धि संयमी है। जो पुरुष तीस वर्षकी अवस्था तक गृहस्थाश्रममें सुखपूर्वक निवास करके दीक्षा लेता है और वर्षपृथक्त्व तक तीर्थंकरके पादमूलमे रहकर प्रत्याख्यान नामक पूर्वका पाठी होता है, तीनों सन्ध्याकालोंको बचाकर प्रतिदिन दो कोस विहार करता है वह परिहारविशुद्धि संयमी होता है। सूक्ष्म कृष्टिको प्राप्त लोभकपायके अनुभागके उदयको भोगनेवाला उपशम श्रेणी अथवा क्षपक श्रेणी वाला जीव सूक्ष्म साम्पराय सयमका धारक है। सूक्ष्म है कपाय जिसके उसे सूक्ष्म साम्पराय संयमी कहते है। यह यथाख्यात संयमसे किंचित् ही न्यून होता है। अशुभ मोहनीय कर्मके उपशम या क्षय होनेपर छद्मस्थ उपशान्त कपाय और क्षीणकपाय गुणस्थानवर्ती तथा सयोगी और अयोगी जिन यथाख्यात सयमी होते हैं, मोहनीयके उपशम या क्षयसे आत्मस्वभावरूप जैसी अवस्था है वैसा ही यह संयम जानना ॥१७९॥

संयमके बिना कायक्लेश आदि रूप तपके अनुष्ठानसे निर्जरा तो होती है किन्तु उसके साथ नवीन बन्ध भी होता है इसलिए सिद्धिके अभिलाषियोको संयमकी आराधनाका उपदेश देते हैं—

---

१ कृपीकृत भ. कु. च.।
२. 'पच समिदो तिगुत्तो परिहरइ सदा वि जो हु सावज्जं ।
पंचेक्कजमो पुरिसो परिहारयसजदो सो हु ॥
तीस वासो जम्मे वास पुधत्त खु तित्थयरमूले ।
पच्चक्खाणं पढिदो सझूण दुगाउय विहारो ॥
अणुलोह वेदतो जीवो उवसामगो व खवगो वा ।
सो सुहुमसापराओ जहखादेणूणओ किंचि ॥
उवसते खीणे वा असुहे कम्मम्मि मोहणीयम्मि ।
छदुमट्ठो व जिणो वा जहखादो सजदो सो दु ॥—गो. जीव. ४७१–७४ गा.।

तपस्यन् यं विनात्मानमुद्वेष्टयति वेष्टयन् ।
मन्थं नेत्रमिवाराध्यो धीरैः सिद्धये स संयमः ॥१८०॥

३ तपस्यन्—आतापनादिकायक्लेशलक्षणं तपः कुर्वन् । यं विना—हिंसादिषु विषयेषु च प्रवृत्त्यर्थ. । उद्वेष्टयति । वेष्टयन्—बन्धसहभाविनीं निर्जरां करोतीत्यर्थः । संयमः निश्चयेन रत्नत्रययौगपद्यैकाग्रवृत्ति-कात्म्यलक्षणो व्यवहारेण तु प्राणिरक्षणेन्द्रिययन्त्रणलक्षणः ॥१८०॥

६ अथ तपस्यतोऽपि संयमं विनाऽपगतात्कर्मणो बहुतरस्योपादानं स्यादिति प्रदर्शयन् संयमाराधनां प्रति सुतरां साधूनुद्यमयितुं तत्फलं पूजातिशयसमग्रं त्रिजगदनुग्राहकत्वं तेषामुपदिशति—

कुर्वन् येन विना तपोऽपि रजसा भूयो हृतादभूयसा
९ स्नानोत्तीर्ण इव द्विपः स्वमपधीरुद्धूलयत्युद्धुरः ।
यस्तं संयममिष्टदेवतमिवोपास्ते निरीहः सदा
किं कुर्वाणमरुद्गणः स जगतामेकं भवेन्मङ्गलम् ॥१८१॥

१२ रजसा—पापकर्मणा रेणुना च । हृतात्—अपनीतात् ग्रन्थकर्मणो रेणोश्च । भूयसा—बहुतरेण । उद्धुरः—मदोद्रिक्तः । उक्तं च—

'सम्माइट्ठिस्स वि अविरदस्स ण तवो महागुणो होइ ।
१५ होदि खु हत्थिण्हाणं चुंद छुदगं वत तस्स ॥' [भ. आ. ७ गा]

जैसे मथानीकी रस्सी मथानीको बाँधती भी है और खोलती भी है उसी प्रकार संयमके विना अर्थात् हिंसादिमें और विषयोंमे प्रवृत्तिके साथ कायक्लेशरूप तपको करनेवाला जीव भी बन्धके साथ निर्जरा करता है। इसलिए धीर पुरुषोंको उस संयमकी आराधना करनी चाहिए ॥१८०॥

विशेषार्थ—निश्चयसे रत्नत्रयमें एक साथ प्रवृत्त एकाग्रताको संयम कहते हैं और व्यवहारमे प्राणियोंकी रक्षा और इन्द्रियोंके नियन्त्रणको संयम कहते हैं। दोनों संयम होनेसे ही संयम होता है। अतः व्यवहार संयमपूर्वक निश्चय संयमकी आराधना करनी चाहिए तभी तपस्या भी फलदायक होती है ॥८०॥

संयमके विना तप करनेपर भी जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उससे अधिक कर्मों-का संचय होता है, इस बातको दिखाते हुए साधुओंको स्वयं संयमकी आराधनामें तत्पर करनेके लिए संयमका फल बतलाते हैं—

जिस संयमके विना तपश्चरण भी करनेवाला मदमत्त दुर्बुद्धि पुरुष स्नान करके निकले हुए हाथीकी तरह निर्जीर्ण कर्मोंसे भी अधिक बहुतसे नवीन पाप कर्मोंसे अपनेको लिप्त कर लेता है, उस संयमकी जो सदा लाभादिकी अपेक्षा न रखकर इष्टदेवताकी तरह उपा-सना करता है वह संसारके प्राणियोंके लिए उत्कृष्ट मंगलरूप होता है अर्थात् उसके निमित्त-से संसारके प्राणियोंके पापोंका क्षय और पुण्यका संचय होता है। तथा इन्द्रादि देवता उसकी सेवामें उपस्थित रहते हैं ॥१८१॥

विशेषार्थ—जैसे हाथी सरोवरमें स्नान करके बाहर निकलनेपर जलसे जितनी धूल दूर हो जाती है उससे भी अधिक धूल अपने ऊपर डाल लेता है, उसी तरह असंयमी मनुष्य

किं कुर्वाणमरुद्गणः—किं करोमीत्यादेशप्रार्थनापरशक्रादिदेवनिकाय. । एक—उत्कृष्टं मुख्यमित्यर्थ । मगलं—पापक्षपणपुण्यप्रदाननिमित्तमित्यर्थ ॥१८१॥

अथ तपसश्चारित्रेऽन्तर्भावमुपपादयन्नाह— ३

कृतसुखपरिहारो वाहृते यच्चरित्रे
न सुखनिरतचित्तस्तेन बाह्यं तपः स्यात् ।
परिकर इह वृत्तोपक्रमेऽन्यत्तु पाप ६
क्षिपत इति तदेवेत्यस्ति वृत्ते तपोऽन्त. ॥१८२॥

वाहृते—प्रयतते । तेनेत्यादि । तदुक्तम्—
वाहिरतवेण होइ खु सव्वा सुहसीलदा परिच्चत्ता । [भ. आ. २३७ ।] ९

परिकर'—परिकर्म । अन्यत्—अभ्यन्तर तपः क्षिपते—उपात्त विनाशयति अपूर्वं निरुणद्धि च । तदेव—वृत्तमेव ॥१८२॥

अयोक्तमेवार्थं स्पष्टयन्नाह— १२

त्यक्तसुखोऽनशनादिभिरुत्सहते वृत्त इत्यघं क्षिपति ।
प्रायश्चित्तादीत्यपि वृत्तेऽन्तर्भवति तप उभयम् ॥१८३॥

स्पष्टमिति भद्रम् ॥१८३॥ १५

तपस्याके द्वारा जितनी कर्मोंकी निर्जरा करता है उससे भी अधिक कर्मबन्ध कर लेता है। भगवती आराधनामे कहा भी है—असंयमी सम्यग्दृष्टिका भी तप महान् उपकारी नहीं होता। उसका वह तप हस्तिस्नान और मथानीकी रस्सीकी तरह होता है ॥१८१॥

तपके चारित्रमें अन्तर्भावकी उपपत्ति बतलाते हैं—

यत शारीरिक सुखका परित्याग करनेवाला व्यक्ति चारित्रमें यत्नशील होता है। जिसका चित्त शारीरिक सुखमें आसक्त है वह चारित्रमे यत्नशील नहीं होता। इसलिए बाह्य तप चारित्रके इस उपक्रममे उसीका अंग है। और अभ्यन्तर तप तो चारित्र ही है क्योंकि पूर्वबद्ध पापकर्मका नाश करता है और नवीन बन्धको रोकता है। अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमे गर्भित होता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—तपके दो भेद है—अन्तरंग और बाह्य। ये दोनों ही चारित्रमें अन्तर्भूत होते हैं। उनमे-से अनशन आदि रूप बाह्य तप तो इसलिए चारित्रका अंग है कि उसका सम्बन्ध विशेष रूपसे शारीरिक सुखके प्रति अनासक्तिसे है। शारीरिक सुखमें आसक्त व्यक्ति भोजन आदिका त्याग नहीं कर सकता और ऐसी स्थितिमें वह चारित्र धारण करनेके लिए उत्सुक नहीं हो सकता। तथा अन्तरंग तप तो मनका नियमन करनेवाला होनेसे चारित्र रूप ही है। चारित्रका मतलब ही स्वरूपमें चरणसे है। इन्द्रियजन्य सुखसे आसक्ति हटे बिना स्वरूपमे रुचि ही नहीं होती प्रवृत्ति तो दूरकी बात है ॥१८२॥

आगे इसीको स्पष्ट करते हैं—

शारीरिक सुखसे विरक्त साधु अनशन आदिके द्वारा चारित्र धारण करनेमें उत्साहित होता है और प्रायश्चित्त आदि तप पापको नष्ट करता है अतः दोनों ही प्रकारका तप चारित्रमें अन्तर्भूत होता है ॥१८३॥

इत्याशाधरदृब्धायां स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकायां ज्ञानदीपिकापरसंज्ञायां
चतुर्थोऽध्यायः ।

३ अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणमेकादशशतानि । अङ्कत. ११०० ।
स्वस्ति स्तात् समस्तजिनशासनाय ।

इस प्रकार प. आशाधर विरचित अनगार धर्मामृतकी भव्य कुमुदचन्द्रिका तथा
ज्ञानदीपिका नामक पंजिकानुसारिणी भाषाटीकामें सम्यक् चारित्राराधना
नामक चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ ।

अथोद्गमोत्पादनानामन्वर्थतां कथयति—

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥४॥ ३

उद्गच्छति—उत्पद्यते, अपथ्यैः—मार्गविरोधिभिः दोषत्वं चैषामध कर्मांशसंभवात् ॥४॥

अथोद्गमभेदानामुद्देशानुवादपुरःसरं दोषत्वं समर्थयितुं श्लोकद्वयमाह—

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः। ६
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम् ॥५॥
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमाः।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः ॥६॥ ९

प्रादुष्कृतं—प्रादुष्कराख्यम् ॥५॥ अन्यस्पर्शः—पार्श्वस्थपाषण्डादिवृषि (-दिक्षुसम्)। दैन्यादि—आदिशब्दात् विरोधकारुण्याकीर्त्यादि ॥६॥

अथौद्देशिकं सामान्यविशेषाभ्यां निर्दिशति— १२

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥७॥

मूलाचारमें कहा है—पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवोंकी विराधना अर्थात् दुःख देना और मारनेसे निष्पन्न हुआ आहारादि अधःकर्म है। वह स्वकृत हो, या परकारित हो या अनुमत हो। ऐसा भोजनादि यदि अपने लिए प्राप्त हो तो साधुको दूरसे ही त्यागना चाहिए ॥३॥

आगे उद्गम और उत्पादन शब्दोंको अन्वर्थ बतलाते हैं—

दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहारादि उत्पन्न होता है उन क्रियाओंको क्रमसे उद्गम कहते हैं। और साधुकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहार आदि उत्पन्न किया जाता है उन क्रियाओंको उत्पादन कहते हैं ॥४॥

विशेषार्थ—दाता गृहस्थ पात्र यतिके लिए आहार आदि बनाता है। उसके बनानेमें गृहस्थकी मार्ग विरुद्ध क्रियाओंको उद्गम दोष कहते हैं और साधुकी मार्गविरुद्ध क्रियाओंको उत्पादन दोष कहते हैं। जो बनाता है और जिसके लिए बनाता है इन दोनोंकी मार्गविरुद्ध क्रियाएँ क्रमसे उद्गम और उत्पादन कही जाती हैं ॥४॥

आगे उद्गमके भेदोंके नामोंका कथन करनेके साथ उनमें दोषपनेका समर्थन दो श्लोकोंसे करते हैं—

उद्दिष्ट अर्थात् औद्देशिक, साधिक, पूति, मिश्र, प्राभृतक, बलि, न्यस्त, प्रादुष्कृत या प्रादुष्कर, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, निषिद्ध, अभिहृत, उद्भिन्न, अच्छेद्य और आरोह ये सोलह उद्गम दोष हैं। इनमें हिंसा, अनादर, अन्यका स्पर्श, दीनता आदिका सम्बन्ध पाया जाता है इसलिए इनको दोष कहते हैं ॥५-६॥

आगे सबसे पहले औद्देशिकका सामान्य और विशेष रूपसे कथन करते हैं—

जो भोजन नाग-यक्ष आदि देवता, दीनजनों और जैन दर्शनसे बहिर्भूत लिंगके धारी साधुओंके उद्देशसे अथवा सभी प्रकारके पाखण्ड, पार्श्वस्थ, निर्ग्रन्थ आदिके उद्देशसे बनाया गया हो वह औद्देशिक है ॥७॥

अथोद्गमोत्पादनदोषाणां स्वरूपसंख्यानिश्चयार्थमाह—

दातुः प्रयोगा यत्यर्थे भक्तादौ षोडशोद्गमाः।
औद्देशिकाद्या धात्र्याद्याः षोडशोत्पादना यतेः ॥२॥

३

प्रयोगाः—अनुष्ठानविशेषाः। भक्तादौ—आहारौषधवसत्युपकरणप्रमुखे देयवस्तुनि। यतेः प्रयोगा इत्येव ॥२॥

६ अथापरदोषोद्देशार्थमाह—

शङ्किताद्या दशान्नेऽन्ये चत्वारोऽङ्गारपूर्वकाः।
षट्चत्वारिंशदन्योऽधः कर्म सूनाङ्गिहिंसनम् ॥३॥

९ षट्चत्वारिंशत् पिण्डदोषेभ्योऽन्यो—भिन्नोऽयं दोषो महादोषत्वात्। सूनाङ्गिहिंसनम्—सूनाश्चुल्याद्याः पञ्च हिंसास्थानानि ताभिरङ्गिनां षट्जीवनिकायानां हिंसनं दुःखोत्पादनं मारणं वा। अथवा सूनाश्चाङ्गिहिंसनं चेति ग्राह्यम्। एतेन वसत्यादिनिर्माणसंस्कारादिनिमित्तमपि प्राणिपीडनमत्र कर्मैवेत्युक्तं
१२ स्यात्। तदेतदधः कर्म गृहस्थाश्रितो निकृष्टव्यापारः। अथवा सूनाभिरङ्गिहिंसनं यत्रोत्पाद्यमाने भक्तादौ तदधःकर्मत्युच्यते, कारणे कार्योपचारात्। तथात्मना कृतं परेण वा कारितं, परेण वा कृतमात्मनानुमतं दूरतः संयतेन त्याज्यम्। गार्हस्थ्यमेतद् वैयावृत्यादिविमुक्तमात्मभोजननिमित्तं यद्येतत् कुर्यात् तदा न श्रमणः किन्तु गृहस्थः
१५ स्यात्। उक्तं च—

छज्जीवनिकायाणं विराहणोद्दावणेहि णिप्पण्णं।
आधाकम्मं णेयं सयपरकदमादसंपण्णं ॥ [मूलाचार, गा. ४२४] ॥३॥

आगे उद्गम और उत्पादन दोषोंका स्वरूप तथा संख्या कहते हैं—

यतिके लिए देय आहार, औषध, वसति और उपकरण आदि देनेमें दाताके द्वारा किये जानेवाले औद्देशिक आदि सोलह दोषोंको उद्गम दोष कहते हैं। तथा यतिके द्वारा अपने लिए भोजन बनवाने सम्बन्धी धात्री आदि दोषोंको उत्पादन दोष कहते हैं। उनकी संख्या भी सोलह है। अर्थात् उद्गम दोष भी सोलह हैं और उत्पादन दोष भी सोलह हैं। उद्गम दोषोंका सम्बन्ध दातासे है और उत्पादन सम्बन्धी दोषोंका सम्बन्ध यतिसे है ॥२॥

शेष दोषोंको कहते हैं—

आहारके सम्बन्धमें शंकित आदि दस दोष हैं तथा इन दोषोंसे भिन्न अंगार आदि चार दोष हैं। इस तरह सब छियालीस दोष हैं। इन छियालीस दोषोंसे भिन्न अधःकर्म नामक दोष है। चूल्हा, चक्की, ओखली, बुहारी और पानीकी घडोंची ये पाँच सूनाएँ हैं। इनसे प्राणियोंकी हिंसा करना अधःकर्म नामक महादोष है ॥३॥

विशेषार्थ—भोजन सम्बन्धी अधःकर्म नामक दोषसे यह फलित होता है कि वसति आदिके निर्माण या मरम्मत आदिके निमित्तसे होनेवाली प्राणिपीडा भी अधःकर्म ही है। इसीसे अधोगतिमें निमित्त कर्मको अधःकर्म कहते हैं, यह सार्थक नाम सिद्ध होता है। यह अधःकर्म गृहस्थोचित निकृष्ट व्यापार है। अथवा जहाँ बनाये जानेवाले भोजन आदिमें सूनाओंके द्वारा प्राणियोंकी हिंसा होती है वह अधःकर्म है। यहाँ कारणमें कार्यका उपचार है। ऐसा भोजन स्वयं किया हो, दूसरेसे कराया हो, या दूसरेने किया हो और उसमें अपनी अनुमति हो तो मुनिको दूरसे ही त्याग देना चाहिए। यह तो गृहस्थ अवस्थाका काम है। यदि कोई मुनि अपने भोजनके लिए यह सब करता है तो वह मुनि नहीं है, गृहस्थ है।

अथोद्गमोत्पादनानामन्वर्थता कथयति—

भक्ताद्युद्गच्छत्यपथ्यैर्यैरुत्पाद्यते च ते ।
दातृयत्योः क्रियाभेदा उद्गमोत्पादनाः क्रमात् ॥४॥ ३

उद्गच्छति—उत्पद्यते, अपथ्यै —मार्गविरोधिभिः दोषत्वं चैषामध कर्मांशसभवात् ॥४॥

अथोद्गमभेदानामुद्देशानुवादपुरःसरं दोषत्वं समर्थयितुं श्लोकद्वयमाह—

उद्दिष्टं साधिकं पूति मिश्रं प्राभृतकं बलिः । ६
न्यस्तं प्रादुष्कृतं क्रीतं प्रामित्यं परिवर्तितम् ॥५॥
निषिद्धाभिहृतोद्भिन्नाच्छेद्यारोहास्तथोद्गमाः ।
दोषा हिंसानादरान्यस्पर्शदैन्यादियोगतः ॥६॥ ९

प्रादुष्कृत—प्रादुष्कारारत्यम् ॥५॥ अन्यस्पर्श —पार्श्वस्थपाषण्डादिवुषि. (-दिक्षुतम्) । दैन्यादि.—आदिशब्दात् विरोधकारुण्याकीर्त्यादि ॥६॥

अथोद्देशिकं सामान्यविशेषाभ्यां निर्दिशति— १२

तदौद्देशिकमन्नं यद्देवतादीनलिङ्गिनः ।
सर्वपाषण्डपार्श्वस्थसाधून् वोद्दिश्य साधितम् ॥७॥

मूलाचारमे कहा है—पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवोंकी विराधना अर्थात् दुःख देना और मारनेसे निष्पन्न हुआ आहारादि अधःकर्म है। वह स्वकृत हो, या परकारित हो या अनुमत हो। ऐसा भोजनादि यदि अपने लिए प्राप्त हो तो साधुको दूरसे ही त्यागना चाहिए ॥३॥

आगे उद्गम और उत्पादन शब्दोंको अन्वर्थ बतलाते हैं—

दाताकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहारादि उत्पन्न होता है उन क्रियाओंको क्रमसे उद्गम कहते हैं। और साधुकी जिन मार्गविरुद्ध क्रियाओंके द्वारा आहार आदि उत्पन्न किया जाता है उन क्रियाओंको उत्पादन कहते है ॥४॥

विशेषार्थ—दाता गृहस्थ पात्र यतिके लिए आहार आदि बनाता है। उसके बनानेमे गृहस्थकी मार्ग विरुद्ध क्रियाओंको उद्गम दोष कहते है और साधुकी मार्गविरुद्ध क्रियाओंको उत्पादन दोष कहते हैं। जो बनाता है और जिसके लिए बनाता है इन दोनोंकी मार्गविरुद्ध क्रियाएँ क्रमसे उद्गम और उत्पादन कही जाती हैं ॥४॥

आगे उद्गमके भेदोंके नामोका कथन करनेके साथ उनमे दोषपनेका समर्थन दो श्लोकोंसे करते हैं—

उद्दिष्ट अर्थात् औद्देशिक, साधिक, पूति, मिश्र, प्राभृतक, बलि, न्यस्त, प्रादुष्कृत या प्रादुष्कर, क्रीत, प्रामित्य, परिवर्तित, निषिद्ध, अभिहृत, उद्भिन्न, अच्छेद्य और आरोह ये सोलह उद्गम दोष हैं। इनमे हिंसा, अनादर, अन्यका स्पर्श, दीनता आदिका सम्बन्ध पाया जाता है इसलिए इनको दोष कहते है ॥५-६॥

आगे सबसे पहले औद्देशिकका सामान्य और विशेष रूपसे कथन करते हैं—

जो भोजन नाग-यक्ष आदि देवता, दीनजनो और जैन दर्शनसे बहिर्भूत लिंगके धारी साधुओंके उद्देशसे अथवा सभी प्रकारके पाखण्ड, पार्श्वस्थ, निर्ग्रन्थ आदिके उद्देशसे बनाया गया हो वह औद्देशिक है ॥७॥

देवता:—नागयक्षादय.। दीना.—कृपणा.। लिङ्गिन.—जैनदर्शनबहिर्भूतानुष्ठाना[1] पापण्डा। सर्वे—अविशेषेण गृहस्थपापण्डादय। साधव.—निर्ग्रन्थाः। उद्दिश्य—निमित्तीकृत्य। सर्वाद्युद्देशेन च कृतमन्न क्रमेणोद्देशादि(-भेदा-)च्चतुर्धा स्यात्। तथाहि—य कश्चिदायास्यति तस्मै सर्वस्मै दास्यामीति सामान्योद्देशेन साधितमुद्देश इत्युच्यते। एवं पापण्डानुद्दिश्य साधित समुद्देशः, पार्श्वस्थानादेश, साधूश्च समादेश इति ॥७॥

अथ साधितं द्विधा लक्षयति—

स्याद्दोषोऽध्यधिरोधो यत्स्वपाके यतिदत्तये।
प्रक्षेपस्तण्डुलादीनां रोधो वाऽऽपचनाद्यते ॥८॥

स्वपाके—स्वस्य दातुरात्मनो निमित्त पच्यमाने तण्डुलादिवान्ये जले,वाऽधिश्रिते। आपचनात्—पाकान्त यावत् ॥८॥

अथाप्रासुकमिश्रणपूतिकर्मसकल्पनाभ्यां द्विविध पूतिदोषमाह—

पूति प्रासु यदप्रासुमिश्रं योज्यमिदं कृतम्।
नेदं वा यावदार्येभ्यो नादायीति च कल्पितम् ॥९॥

विशेषार्थ—मूलाचार (४२६ गा) में औद्देशिकके चार भेद किये है—उद्देश, समुद्देश, आदेश और समादेश। जो कोई भी आयेगा उन सबको दूँगा, इस प्रकार सामान्य उद्देशसे साधित भोजन उद्देश है। इसी तरह पाखण्डीके उद्देशसे बनाया गया भोजन समुद्देश है। श्रमणोंके उद्देशसे बनाया गया भोजन आदेश है और निर्ग्रन्थोंके उद्देशसे बनाया गया भोजन समादेश है। श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमे भी ये भेद हैं। इतना ही नहीं, किन्तु मूलाचार गा. २६ और पिण्ड निर्युक्ति गा. २३० भी समान हैं। पिण्ड निर्युक्तिमे औद्देशिकके अन्य भी भेद किये हैं ॥७॥

दूसरे भेद साधिकका स्वरूप दो प्रकारसे कहते हैं—

अपने लिए पकते हुए चावल आदिमें या अदहनके जलमें 'मैं आज मुनिको आहार दूँगा' इस संकल्पके साथ चावल आदि डालना अध्यधिरोध नामक दोष है। अथवा अन्न पकनेतक पूजा या धर्म सम्बन्धी प्रश्नोंके बहानेसे साधुको रोके रखना अध्यधिरोध नामक दोष है ॥८॥

विशेषार्थ—साधिक दोषका दूसरा नाम अध्यधिरोध है। पिण्ड निर्युक्तिमे इसका नाम अध्यवपूरक है। अपने लिए भोजन पकानेके उद्देश्यसे आगपर पानी रखा या चावल पकनेको रखे। पीछे मुनिको दान देनेके विचारसे उस जलमे अधिक जल डालना या चावलमे अतिरिक्त चावल डालना साधिक या अध्यधिरोध दोष है। अथवा भोजनके पकनेमे विलम्ब देखकर धर्मचर्चाके बहानेसे भोजनके पकनेतक साधुको रोके रखना भी उक्त दोष है ॥८॥

दो प्रकारके पूति दोषको कहते हैं—

पूति दोषके दो प्रकार हैं—अप्रासुमिश्र और कल्पित। जो द्रव्य स्वरूपसे प्रासुक है उसमे अप्रासुक द्रव्य मिला देना अप्रासुकमिश्र नामक प्रथम पूति दोष है। तथा इस चूल्हेपर

---

१. निकर्मक—भ. कु. च.।

प्रासु—स्वरूपेण प्रासुकमपि वस्तु पूति अप्रासुमिश्रम् । अयमाद्य पूतिभेद. । इद कृत—अनेन चुल्ल्यादिना अस्मिन् वा साधित इद भोजनगन्धादि । तथाहि—अस्या चुल्ल्या भोजनादिक निष्पाद्य यावत् साधुभ्यो न दत्तं तावदात्मन्यन्यत्र वा नोपयोक्तव्यमिति पूतिकर्मकल्पनाप्रभव एक पूतिदोष. । एवमुदूखलदर्वीपात्रशिलास्वपि कल्पनया चत्वारोऽन्येऽप्यूह्या । उक्त च— ३

'मिश्रमप्रासुना प्रासु द्रव्य पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिकोदूखल दर्वीपात्रगन्धौ च पञ्चधा ॥' [ ] ६

गन्धोऽत्र शिला । इदं चेति टीकामतसग्रहार्थमुक्तम् । तथाहि—

'यावदिद भोजन गन्धो वा ऋषिभ्यो नादायि न तावदात्मन्यन्यत्र वा कल्पते' ।

उक्त च— ९

'अप्पासुएण मिस्सं पासुयदव्व तु पूतिकम्म तु ।
चुल्ली य उखुली दव्वी भोयणगंधत्ति पंचविह ॥' [मूलाचार ४२८ गा] ॥९॥

अथ मिश्रदोष लक्षयति— १२

बनाया गया यह भोजन जबतक साधुको न दिया जाये तबतक कोई इसका उपयोग न करे, यह कल्पित नामका दूसरा पूति दोष है ॥९॥

विशेषार्थ—मूलाचारकी संस्कृत टीकामे इस दोषका स्वरूप इस प्रकार कहा है—अप्रासुक अर्थात् सचित्त आदिसे मिला हुआ आहार आदि पूति दोष है। उसके पाँच भेद हैं—चूल्हा, ओखली, दर्वी, भाजन और गन्ध। चूल्हेपर भात वगैरह पकाकर पहले साधुओंको दूँगा पीछे दूसरोंको, ऐसा संकल्प करनेसे प्रासुक भी द्रव्य पूति कर्मसे निष्पन्न होनेसे पूति दोषसे युक्त कहा जाता है। इसी तरह इस ओखलीमे कूटकर अन्न जबतक ऋषियोंको नहीं दूँगा तबतक न मैं स्वयं लूँगा न दूसरोंको दूँगा। इस प्रकार निष्पन्न प्रासुक भी द्रव्य पूति कहाता है। तथा इस करछुलसे निष्पन्न द्रव्य जबतक यतियोको नहीं दूँगा तबतक यह न मेरे योग्य है न दूसरोंके, यह भी पूति दोष है। तथा इस भाजनसे निष्पन्न द्रव्य जबतक ऋषियोंको नहीं दूँगा तबतक न अपने योग्य है न दूसरोंके, वह भी पूति दोष है। तथा यह गन्ध जबतक भोजनपूर्वक ऋषियोंको न दी जाये तबतक न मैं लूँगा न दूसरोको दूँगा, इस प्रकारके हेतुसे निष्पन्न भात वगैरह पूति कर्म है।

श्वे पिण्डनिर्युक्तिमे पूतिकर्मके द्रव्य और भावसे दो भेद किये हैं। जो द्रव्य स्वभावसे गन्ध आदि गुणसे युक्त है, पीछे यदि वह अशुचि गन्धवाले द्रव्यसे युक्त हो तो उसे द्रव्य पूति कहते हैं। चूल्हा, ओखली, बडी करछुल, छोटी करछुल ये यदि अध कर्म दोषसे युक्त हो तो इनसे मिश्रित भोजन शुद्ध होनेपर भी पूति दोषसे युक्त होता है। यह भाव पूति है। इत्यादि विस्तृत कथन है ॥९॥

मिश्र दोषका लक्षण कहते हैं—

---

१ इद वैत्याचारटी—भ कु च ।

२ 'अप्पासुएण मिस्स पासुयदव्व तु पूतिकम्म तु ।
चूल्लि उक्खली दव्वी भायणगंधत्ति पचविह' ॥ —पिण्डशुद्धि, ९ गा ।

पाषण्डिभिर्गृहस्थैश्च सह दातुं प्रकल्पितम् ।
यतिभ्यः प्रासुकं सिद्धमप्यन्नं मिश्रमिष्यते ॥१०॥

सिद्ध—निष्पन्नम् ॥१०॥

३

अथ कालवृद्धिहानिभ्यां द्वैविध्यमवलम्बमानं स्थूलं सूक्ष्मं च प्राभृतकं च सूचयति—

यद्दिनादौ दिनांशे वा यत्र देयं स्थितं हि तत् ।
प्राग्दीयमानं पश्चाद्वा ततः प्राभृतकं मतम् ॥११॥

६

दिनादौ—दिने पक्षे मासे वर्षे च । दिनांशे—पूर्वाह्लादौ । स्थितं—आगमे व्यवस्थितम् । हि—नियमेन । प्रागित्यादि । तथाहि—यच्छुक्लाष्टम्यां देयमिति स्थितं तदपकृष्य शुक्लपञ्चम्यां यद्दीयते, यच्च चैत्रस्य सिते पक्षे देयमिति स्थितं तदपकृष्य कृष्णे यद्दीयते इत्यादि तत्सर्वं कालहानिकृतं बादरं प्राभृतकम् ।

९

तथा यच्छुक्लपञ्चम्यां देयमिति स्थितं तदुत्कृष्य शुक्लाष्टम्यां यद्दीयते, यच्च चैत्रस्य कृष्णे पक्षे देयमिति स्थितं तदुत्कृष्य शुक्ले यद्दीयते इत्यादि, तत्सर्वं कालवृद्धिकृतं बादरं प्राभृतकम् । तथा यद् मध्याह्ने देयमिति स्थितं

पाषण्डी और गृहस्थोंके साथ यतियोंको भी यह भोजन मिश्र दोषसे युक्त माना जाता है ॥१०॥

विशेषार्थ—पिण्डनिर्युक्ति (गा. २७१ आदि) मे मिश्रके तीन भेद किये हैं—जितने भी गृहस्थ या अगृहस्थ भिक्षाके लिए आयेंगे उनके लिए भी पर्याप्त होगा और कुटुम्बके लिए भी, इस प्रकारकी बुद्धिसे सामान्य-से भिक्षुओंके योग्य और कुटुम्बके योग्य अन्नको एकत्र मिलाकर जो पकाया जाता है वह यावदर्थिक मिश्रजात है। जो केवल पाखण्डियोंके योग्य और अपने योग्य अन्न एकत्र पकाया जाता है वह पाखण्डिमिश्र है। जो केवल साधुओंके योग्य और अपने योग्य अन्न एकत्र पकाया जाता है वह साधुमिश्र है ॥१०॥

कालकी हानि और वृद्धिकी अपेक्षा प्राभृत दोषके दो भेद होते हैं—स्थूल और सूक्ष्म। इन दोनोंका स्वरूप कहते हैं—

आगममें जो वस्तु जिस दिन, पक्ष, मास या वर्षमें अथवा दिनके जिस अंश पूर्वाह्नमें या अपराह्नमे देने योग्य कही है उससे पहले या पीछे देनेपर प्राभृतक दोष माना है ॥११॥

विशेषार्थ—इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जो वस्तु शुक्लपक्षकी अष्टमीको देय कही है उसको शुक्लपक्षकी पंचमीको देना, जो वस्तु चैत्रमासके शुक्लपक्षमे देय कही है उसे उससे पहले कृष्णपक्षमें देना, इत्यादि। इस प्रकार कालकी हानि करके देना बादर प्राभृतक दोष है। जो शुक्लपक्षकी पंचमीमे देय कही है उसे बढाकर शुक्लपक्षकी अष्टमीको देना तथा जो चैत्रके कृष्णपक्षमे देय है उसे बढाकर शुक्लपक्षमें देना इत्यादि। इस प्रकार कालकी वृद्धि करके देना बादर प्राभृतक दोष है। तथा जो मध्याह्न मे देय है उसे उससे पहले पूर्वाह्नमे देना, जो अपराह्नमे देय है उसे मध्याह्नमें देना इत्यादि। ये सब कालको घटाकर देनेसे सूक्ष्म प्राभृतक दोष हैं। तथा जो पूर्वाह्नमे देय है उसे कालको बढाकर मध्याह्नमें देना, यह कालवृद्धिकृत सूक्ष्म प्राभृतक दोष है। मूलाचारमे कहा है—

---

१ 'पाहुडिहं पुण दुविहं बादर सुहुमं च दुविहमेक्केक्कं ।
ओकस्सणमुक्कस्सण मह कालोवट्टणा वड्ढी ॥
दिवसे पक्खे मासे वास परत्तीय बादरं दुविहं ।
पुव्वपरमज्झवेलं परियत्तं दुविहं सुहुमं च ॥'—मूलाचार, पिण्ड. १३-१४ गा

(तदपकृष्य पूर्वाह्णे यद्दीयते, यच्चापराह्णे देयमिति स्थितं तदपकृष्य मध्याह्ने यद्दीयते इत्यादि तत्सर्वं कालहानिकृतं सूक्ष्म प्राभृतक भण्यते । तथा यत् पूर्वाह्णे देयमिति स्थित) तदुत्कृष्य मध्याह्नादौ यद्दीयते तत्सर्वं कालवृद्धिकृत सूक्ष्म प्राभृतकम् । तथा चोक्तम्— ३

'द्वेधा प्राभृतक स्थूलं सूक्ष्मं तदुभयं द्विधा ।
अवसर्पस्तथोत्सर्पः कालहान्यतिरेकत ॥'
'परिवृत्या दिनादीना द्विविध बादरं मतम् । ६
दिनस्याद्यन्तमध्याना द्वेधा सूक्ष्म विपर्ययात् ॥' [ ] ॥११॥

अथ बलिन्यस्ते लक्षयति—

यक्षादिबलिशेषोऽर्चासावद्यं वा यतौ बलिः । ९
न्यस्तं क्षिप्त्वा पाकपात्रात्पात्र्यादौ स्थापितं क्वचित् ॥१२॥

यक्षादिबलिशेष —यक्षनागमातृकाकुलदेवतापित्राद्यर्थं य कृतो बलिस्तस्य शेषो दत्तावशिष्टोऽश । अर्चासावद्य—यतिनिमित्त चन्दनोद्गालनादि । पाति —पात्रविशेष । क्वचित्—स्वगृहे परगृहे वा स्थापनिकाया धृतम् । तच्चान्यदात्रा दीयमान विरोधादिकं कुर्यादिति दुष्टम् ॥१२॥ १२

प्राभृतकके दो भेद हैं—बादर और सूक्ष्म । इनमे-से भी प्रत्येकके दो भेद हैं—उत्कर्षण और अपकर्षण । उत्कर्षण अर्थात् कालवृद्धि, अपकर्षण अर्थात् कालहानि । दिवस, पक्ष, मास और वर्षमे हानि या वृद्धि करके देनेसे बादरके दो भेद हैं और पूर्वाह्ण, अपराह्ण एवं मध्याह्नकी बेलाको घटा-बढाकर देनेसे सूक्ष्म प्राभृतकके दो भेद हैं ।

पिण्डनिर्युक्ति (गा. २८५ आदि) में भी भेद तो ये ही कहे हैं किन्तु टीकामें उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—विहार करते हुए समागत साधुओंको देखकर कोई श्रावक विचारता है—यदि ज्योतिषियोंके द्वारा बतलाये गये दिन विवाह करूँगा तो साधुगण विहार करने चले जायेंगे । तब मेरे विवाहमे बने मोदक आदि साधुओंके उपयोगमे नहीं आ सकेंगे । ऐसा सोचकर जल्दी विवाह रचाता है । या यदि विवाह जल्दी होनेवाला हो और साधु समुदाय देरमें आनेवाला हो तो विवाह देरसे करता है यह बादर प्राभृतक दोष है । कोई स्त्री बैठी सूत कातती है । बालक भोजन माँगता है तो कहती है—रूईकी पूनी बना लूँ तो तुझे भोजन दूँगी । इसी बीचमे यदि साधु आते हुए सुन ले तो वह नहीं आता है क्योकि उसके आनेसे उसे साधुके लिए जल्दी उठना होगा और उसने जो बालकसे पूनी कातनेके पश्चात् भोजन देनेकी प्रतिज्ञा की थी उससे पहले ही भोजन देनेपर अवसर्पण दोष होता है । अथवा कातती हुई स्त्री बालकके भोजन माँगनेपर कहती है—किसी दूसरे कामसे उठूँगी तो तुझे भी भोजन दूँगी । इसी बीचमे यदि साधु आये और उसकी बात सुन ले तो लौट जाता है । अथवा साधुके न सुननेपर भी साधुके आनेपर बालक माँसे कहता है—अब क्यों नहीं उठती, अब तो साधु आ गये, अब तो तुम्हें उठना ही होगा, अब तो साधुके कारण हमे भी भोजन मिलेगा । बालकके ये वचन सुनकर साधु भोजन नहीं लेता । यदि ले तो अवसर्पणरूप सूक्ष्म प्राभृतिका दोष लगता है । इसी तरह उत्सर्पणरूप दोष भी जानना ॥११॥

बलि और न्यस्त दोषका स्वरूप कहते है—

यक्ष, नाग, कुलदेवता, पितरो आदिके लिए बनाये गये उपहारमे-से बचा हुआ अंश साधुको देना बलि दोष है । अथवा यतिके निमित्तसे फूल तोड़ना आदि सावद्य पूजाका

अथ प्रादुष्कारक्रीते निर्दिशति—

पात्रादेः संक्रमः साधौ कटाद्याविष्क्रियाऽऽगते ।
प्रादुष्कारः स्वान्यगोर्थविद्याद्यैः क्रीतमाहृतम् ॥१३॥

३ प्रादुष्कार' अथ सक्रम' प्रकाशश्चेति द्वेधा । तत्र सयते गृहमायाते भाजनभोजनादीनामन्यस्थानादन्यस्थाने नयन सक्रम. । कटकपाटकाण्डपटाद्यपनयन भाजनादीना भस्मादिनोदकादिना वा निर्माजन प्रदीपज्वलनादिक च प्रकाश. । उक्त च—

६ 'सक्रमश्च प्रकाशश्च प्रादुष्कारो द्विधा मतः ।
एकोऽत्र भाजनादीना कटादिविपयोऽपर. ॥' [ ]

९ स्वेत्यादि—स्वस्यात्मन सचित्तद्रव्यैर्वृपभादिभिरचित्तद्रव्यैर्वा सुवर्णादिभिर्भावैर्वा प्रज्ञप्त्यादिविद्याचैटे[1]कादिमन्त्रलक्षणै परस्य वा तैरुभयैर्द्रव्यभावैर्यथा सगवमाहृत सयत (-ते) भिक्षाया प्रविष्टे ता[2] दत्वा नीतं यद्भोज्यद्रव्य तत् क्रीतमिति दोप' कारुण्यदोपदर्शनात् । उक्त च—

१२ 'क्रीत तु द्विविधं द्रव्य भाव. स्वकपर द्विधा ।
सचित्तादिभवो द्रव्य भावो द्रव्यादिक तथा ॥' ॥१३॥

आयोजन वलि है। भोजन पकानेके पात्रसे अन्य पात्रमें भोजन निकालकर कहीं अन्यत्र रख देना न्यस्त या स्थापित दोप है। ऐसे भोजनको यदि रखनेवालेसे कोई दूसरा व्यक्ति उठाकर दे देवे तो परस्परमें विरोध होनेकी सम्भावना रहती है ॥१२॥

प्रादुष्कार और क्रीत दोपको कहते हैं—

साधुके घरमे आ जानेपर भोजनके पात्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना संक्रम नामक प्रादुष्कर दोप है। साधुके घरमे आ जानेपर चटाई, कपाट, पर्दा आदि हटाना, वरतनोंको मॉजना-धोना, दीपक जलाना आदि प्रकाश नामक प्रादुष्कर दोप है। साधुके भिक्षाके लिए प्रवेश करनेपर अपने, पराये या दोनोंके सचित्त द्रव्य वैल वगैरहसे अथवा अचित्त द्रव्य सुवर्ण वगैरहसे या विद्या मन्त्रादि रूप भावोंसे या द्रव्य भाव दोनोंसे खरीदा गया भोज्य द्रव्य क्रीत दोपसे युक्त होता है ॥१३॥

विशेपार्थ—मूलाचार (६।१५-१६) मे कहा है[3]—'प्रादुष्कारके दो भेद हैं। भोजनके पात्रोंको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाना संक्रमण है। मण्डपमे प्रकाश करना प्रकाश दोप है।'

[4]'क्रीतके दो भेद हैं—द्रव्य और भाव। इन दोनोंके भी दो-दो भेद है—स्वद्रव्य-परद्रव्य, स्वभाव परभाव। गाय-भैंस वगैरह सचित्त द्रव्य है। विद्या मन्त्र आदि भाव है। मुनिके भिक्षाके लिए प्रविष्ट होनेपर अपना या पराया सचित्त आदि द्रव्य देकर तथा स्वमन्त्र-परमन्त्र या स्वविद्या-परविद्याको देकर आहार खरीदकर देना क्रीत दोप है। इससे साधुके

---

१. चेटका भ. कु. च. ।
२. तान् भ कु च ।
३. 'पादुक्कारो दुविहो सकमण पयासणा य वोधव्वो ।
भायणभोयणदीणं मडवविरलादियं कमसो' ॥
४ 'कीदयण पुण दुविह दव्व भाव च सगपर दुविहं ।
सच्चित्तादीदव्व विज्जामतादि भावं च' ॥

अथ प्रामित्यपरिवर्तितयोः स्वरूपमाह—

उद्धारानीतमन्नादि प्रामित्यं वृद्धयवृद्धिमत् ।
व्रीह्यन्नाद्येन शाल्यन्नाद्युपात्त परिवर्तितम् ॥१४॥ ३

वृद्धयवृद्धिमत्—सवृद्धिकमवृद्धिक चेत्यर्थ. । उक्तं च—

'भक्तादिकमृण यच्च तत्प्रामित्यमुदाहृतम् ।
तत्पुनर्द्विविध प्रोक्तं सवृद्धिकमथेतरत् ॥' [ ] ६

दोपत्वं चास्य दातु क्लेशायासधरणादिकदर्थनकरणात् । व्रीह्यन्न—पष्ठिकभक्तम् । उपात्तं—साधुभ्यो दास्यामीति गृहीतम् । दोपत्व चास्य दातु क्लेशकरणात् । उक्तं च—

'व्रीहिभक्तादिभि शालिभक्ताद्य स्वीकृत च यत् । ९
सयताना प्रदानाय तत्परीवर्तमिष्यते ॥' [ ] ॥१४॥

चित्तमे करुणाभाव उत्पन्न होता है। पिण्ड निर्युक्ति (गा. २९९ आदि) में भी प्रादुष्करणके ये दो भेद किये हैं। उनका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—तीन प्रकारके चूल्हे होते हैं—एक घरके अन्दर जिसे बाहर भी रखा जा सकता है, दूसरा बाहर जो पहलेसे बना है, तीसरा जो बाहरमें साधुके निमित्त बनाया गया है। साधुको आता देखकर गृहिणी सरलभावसे कहती है—महाराज! आप अन्धकारमे भिक्षा नहीं लेते इसलिए बाहर ही बनाया है। अथवा साधुके दोपकी आशंकासे पूछनेपर गृहिणी सरलभावसे उक्त उत्तर देती है। यह संक्रामण प्रादुष्करण दोप है। प्रकाशके लिए दीवारमे छेद करनेपर या छोटे द्वारको बडा करनेपर या दूसरा द्वार बनवानेपर या दीपक आदि जलानेपर साधु यदि पूछे तो सरल भावसे उक्त उत्तर देनेपर साधु प्रादुष्करण दोपसे दुष्ट भोजन नहीं करते। क्रीत दोपका कथन भी उक्त प्रकार है। अनेक दृष्टान्तोंके द्वारा उसे स्पष्ट किया है ॥१३॥

प्रामित्य और परिवर्तित दोपोका स्वरूप कहते हैं—

मुनिको दान देनेके लिए जो अन्न आदि उधार रूपसे लिया जाता है वह प्रामित्य दोपसे युक्त है। वह दो प्रकारका होता है—एक वृद्धिमत् अर्थात् जिसपर व्याजके रूपमे लौटाते समय कुछ अधिक देना होता है और दूसरा अवृद्धिमत् अर्थात् बेव्याज। साँठी चावल आदिके बदलेमे शालिचावल आदि लेना परिवर्तित दोप है ॥१४॥

विशेपार्थ—जब किसीसे कोई अन्न वगैरह उधार लिया जाता है तो मापकर लिया जाता है इसीसे इस दोपका नाम प्रामित्य है। जो प्रमितसे बना है। प्राकृत शब्दकोशमे पामिच्चका अर्थ उधार लेना है। इसीसे मूलाचारके सस्कृत टीकाकारने इसे ऋणदोप नाम दिया है। लिखा है—चर्याके लिए भिक्षुके आनेपर दाता दूसरेके घर जाकर खाद्य वस्तु माँगता है—"तुम्हें चावल आदि वृद्धि सहित या वृद्धिरहित दूँगा मुझे खाद्य वगैरह दो।" इस प्रकार लेकर मुनियोंको देता है। यह प्रामित्य दोप है क्योकि दाताके लिए क्लेश-का कारण होता है। पिण्ड निर्युक्तिमें एक कथा देकर बतलाया है कि कैसे यह ऋण दाताके कष्टका कारण होता है। इसी तरह साधुको बढिया भोजन देनेकी भावनासे मोटे चावलके बदलेमे बढिया चावल आदि लेकर साधुको देना परावर्त दोप है। यह भी दाताके क्लेशका कारण होता है। दाताको जो कुछ जैसा भी घरमें हो वही साधुको देना चाहिए ॥१४॥

अथ निषिद्धं सभेदप्रभेदमाह—

निषिद्धमीश्वरं भर्त्रा व्यक्ताव्यक्तोभयात्मना ।
३ वारितं दानमन्येन तन्मन्येन त्वनीश्वरम् ॥१५॥

भर्त्रा—प्रभुणा। व्यक्त —प्रेक्षापूर्वकारी वा वृद्धो वाऽऽरक्षो वा। आरक्षा मन्त्र्यादय.। महारक्षैर्व-र्त्यत इति सारक्ष स्वामी। न तथाभूतो य सोऽसारक्ष' स्वतन्त्र इत्यर्थ। अव्यक्त.—अप्रेक्षापूर्वकारी वा
६ वालो वा सारक्षो वा। उभय'—व्यक्ताव्यक्तरूप। दानं—दीयमानमोदनादिकम्। तन्मन्येन—भर्तार-मात्मान मन्यमानेन अमात्यादिना। तद्यथा—निषिद्धाख्यो दोपस्तावदीश्वरोऽनीश्वरश्चेति द्वेधा। तत्राप्याद्य-स्त्रेधा। व्यक्तेश्वरेण वारित दान यदा साधु गृह्णाति तदा व्यक्तेश्वरो नाम दोप। यदा अव्यक्तेन वारितं
९ गृह्णाति तदाऽव्यक्तेश्वरो नाम। यदैकेन दानपतिना व्यक्तेन द्वितीयेन चाव्यक्तेन वारितं गृह्णाति तदा व्यक्ता-व्यक्तेश्वरो नाम तृतीय ईश्वराख्यस्य निषिद्धभेदस्य भेद' स्यात्। एवमनीश्वरेऽपि व्याख्येयम्। यच्चैकेन दीयते अन्येन च निषिद्ध्यते[1] नेष्यते वा तदपि गृह्यमाण दोपाय स्याद् विरोधापायाद्यनुपङ्गाविशेषात्। यत्तुन.—

१२ 'अणिसिट्ठ पुण दुविह ईस्सरं[2] णिस्सर ह णिस्सर व दुवियप्प।
पढमेस्सर सारक्ख वत्तावत्त च सघाडं ॥' [मूलाचार—गा ४४४]

इत्यस्य टीकाया वहुधा व्याख्यान(-त) तदनैव कुशलैः स्वबुद्धयाऽवतारयितु शक्यत इति न सूत्र-
१५ विरोध शङ्क्य ॥१५॥

भेद-प्रभेद सहित निषिद्ध दोपको कहते हैं—

व्यक्त, अव्यक्त और उभयरूप स्वामीके द्वारा मना की गयी वस्तु साधुको देना ईश्वर निषिद्ध नामक दोप है। और अपनेको स्वामी माननेवाले किसी अन्यके द्वारा मना की गयी वस्तुका दान देना अनीश्वर निषिद्ध नामक दोप है ॥१५॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें[3] उसकी संस्कृत टीकामें आचार्य वसुनन्दीने इस दोपका नाम अनीशार्थ दिया है। उसका व्याख्यान करते हुए उन्होंने लिखा है—इसके दो भेद हैं—ईश्वर और अनीश्वर। अनीश अर्थात् अप्रधान अर्थ जिस ओदन आदिका कारण है वह भात वगैरह अनीशार्थ है। उसके ग्रहण करनेमें जो दोप है उसका नाम भी अनीशार्थ है। कारणमें कार्यका उपचार है। वह अनीशार्थ ईश्वर और अनीश्वरके भेदसे दो प्रकारका है। उस दो प्रकारके भी चार प्रकार है। स्वामी दान देना चाहता है और सेवक रोकते हैं ऐसे अन्नको ग्रहण करनेसे ईश्वर नामक अनीशार्थ दोप होता है। उसके भी तीन भेद हैं—व्यक्त, अव्यक्त और व्यक्ताव्यक्त। जो अपना अधिकार स्वय रखता है परकी अपेक्षा नहीं करता वह व्यक्त है। जो परकी अपेक्षा रखता है वह अव्यक्त है। ऐसे दो व्यक्तियोंको उभय कहते हैं। इसी तरह अनीश्वर दोपके भी तीन भेद होते है। दानका स्वामी दान देना चाहे और दूसरा रोके तो ईश्वर अनीशार्थ दोप है और जो स्वामी नहीं है वह दे तो अनीश्वर अनीशार्थ दोप है। ऐसा प्रतीत होता है कि टीकाकार प्रकृत विषयमें स्पष्ट नहीं थे। उन्होंने अथवा करके कई प्रकारसे भेदोंकी संगति बैठानेका प्रयत्न किया है। पहले दोपका नाम

१. निषिद्धत्वेनेष्यते भ कु च।
२. इस्सरमह णिस्सर च दुवि–मूलाचार।
३ 'अणिसट्ठ पुण दुविहं इस्सर मह णिस्सर च दुवियप्पं।
पढमिस्सर सारक्ख वत्तावत्त च सघाड' ॥—३।२५

अथाभिहृतदोष व्याचष्टे—

त्रीन् सप्त वा गृहान् पङ्क्त्या स्थितान्मुक्त्वाऽन्यतोऽखिलात् ।
देशादयोग्यमायातमन्नाद्यभिहृतं यतेः ॥१६॥ ३

अन्यत —उक्तविपरीतगृहलक्षणात् स्वपरग्रामदेशलक्षणाच्च । अभिहृत हि द्विविध देशाभिहृतं सर्वाभिहृत वा । देशाभिहृतं पुनर्द्विधा-आदृतमनादृत च । सर्वाभिहृत तु चतुर्धा स्वग्रामादागत परग्रामादागत स्वदेशादागत परदेशादागत चेति । यत्र ग्रामे स्थीयते स स्वग्राम । तत्र पूर्वपाटकादपरपाटकेऽपरपाटकाच्च ६ पूर्वपाटके भोजनादेर्नयनं स्वग्रामाभिहृतम् । प्रचुरेर्यापथदोपदर्शनात् । एव शेषमप्यूह्यम् । तथा चोक्तम्—

'देशत' सर्वतो वापि ज्ञेय त्वभिहृत द्विधा ।
आदृतानादृतत्वेन स्याद्देशाभिहृत द्विधा ॥ ९
ऋजुवृत्त्या त्रिसप्तभ्य प्राप्त वेश्मभ्य आदृतम् ।
तत. परत आनीत विपरीतमनादृतम् ॥
स्वपरग्रामदेशेपु चतुर्धाभिहृत परम् । १२
प्राक् पश्चात्पाटकाना च शेपमप्येवमादिशेत् ॥' [ ] ॥१६॥

अथोद्भिन्नाच्छेद्यदोपयो स्वरूप विवृणोति—

पिहितं लाञ्छित वाज्यगुडाद्युद्घाट्य दीयते । १५
यत्तदुद्भिन्नमाच्छेद्यं देयं राजादिभीषितैः ॥१७॥

अनीशार्थ दिया है, पीछे अथवा करके अनिसृष्ट नाम दिया है। अनिसृष्टका अर्थ होता है निपिद्ध। पं आशाधरजीने निपिद्ध नाम दिया है (श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमे भी अनिसृष्ट नाम ही है। ईश्वरके द्वारा निसृष्ट किन्तु अनीश्वरके द्वारा अनिसृष्ट या अनीश्वरके द्वारा निसृष्ट और ईश्वरके द्वारा अनिसृष्ट वस्तुका ग्रहण निषिद्ध नामक दोष है ॥१५॥

अभिहृत दोपको कहते है—

पंक्तिरूपसे स्थित तीन या सात घरोको छोडकर शेप सभी स्थानोसे आया हुआ भोजन आदि मुनिके अयोग्य होता है। उसको ग्रहण करना अभिहृत दोप है ॥१६॥

विशेपार्थ—मूलाचार (६।१९) मे प्राकृत शब्द अभिहड है। संस्कृत टीकाकारने उसका संस्कृत रूप 'अभिघट' रखा है। और इस तरह इस दोपको अभिघट नाम दिया है जो उचित प्रतीत नहीं होता। अभिहडका संस्कृत रूप अभिहृत या अभ्याहृत होता है। वही उचित है। उसीसे उसके अर्थका बोध होता है। मूलाचारमे अभिहृतके दो भेद किये है—देशाभिहृत और सर्वाभिहृत। जिस घरमे मुनिका आहार हो उस घरकी सीधी पंक्तिमे स्थित तीन या सात घरोंसे आया हुआ भोजन आदि ग्रहण योग्य होता है। यदि सीधी पक्तिके तीन या सात घरोके बादके घरोसे भोजनादि आया हो या सीधी पंक्तिसे विपरीत घरोसे आया हो, या यहॉ-वहॉके घरोंसे आया हो तो वह ग्रहण योग्य नहीं होता। श्वे -पिण्डनिर्युक्तिमे इस दोपका नाम अभ्याहृत है। और उसका स्वरूप यही है। अभ्याहृतका अर्थ होता है सब ओरसे लाया गया। ऐसा भोजन अग्राह्य होता है ॥१६॥

आगे उद्भिन्न और अच्छेद्य दोपका स्वरूप कहते हैं—

जो घी, गुड आदि द्रव्य किसी ढक्कन वगैरहसे ढका हो या किसीके नामकी मोहर आदिसे चिह्नित हो और उसे हटाकर दिया जाता है वह उद्भिन्न कहा जाता है। उसमे

पिहितं—पिधानेन कर्दमलाक्षादिना वा सवृतम् । लाञ्छित नाम बिम्बादिना मुद्रितम् । दोषत्व चास्य पिपीलिकादिप्रवेशदर्शनात् इति । राजादिभीषितै —कुटुम्बिकैरिति शेप । यदा हि संयताना हि भिक्षाश्रम
३ दृष्ट्वा राजा तत्तुल्यो वा चौरादिर्वा कुटुम्बिकान् यदि सयतानामागताना भिक्षादानं न करिष्यथ तदा युष्माक द्रव्यमपहरिष्यामो ग्रामाद्वा निर्वासयिष्याम इति भीषयित्वा दापयति तदा तदादीयमानमाच्छेद्यनामा दोष स्यात् । उक्त च—

६ 'सयतश्रममालोक्य भीषयित्वा प्रदापितम् ।
राजचौरादिभिर्यत्तदाछेद्यमिति कीर्तितम् ॥' [ ] ॥१७॥

अथ मालारोहणदोषमाह—

९ **निश्रेण्यादिभिरारुह्य मालमादाय दीयते ।**
यद्द्रव्यं संयतेभ्यस्तन्मालारोहणमिष्यते ॥१८॥

मालं—गृहोर्ध्वभागम् । दोषत्व चात्र दातुरपायदर्शनात् ॥१८॥

१२ अथैवमुद्गमदोषान् व्याख्याय साम्प्रतमुत्पादनदोषान् व्याख्यातुमुद्दिशति—

उत्पादनास्तु धात्री दूतनिमित्ते वनीपकाजीवौ ।
क्रोधाद्या. प्रागनुनुतिवैद्यकविद्याश्च मन्त्रचूर्णवशा· ॥१९॥

चींटी आदि घुस जाती हैं। तथा राजा आदिके भयसे जो दान दिया जाता है वह अच्छेद्य कहा जाता है ॥१७॥

विशेषार्थ—पिण्ड निर्युक्ति (गा ३४८) मे कहा है—'वन्द घीके पात्र वगैरहका मुख खोलनेसे छह कायके जीवोंकी विराधना होती है। तथा साधुके निमित्तसे पीपेका मुँह खोलनेपर उसमे रखे तेल-घीका उपयोग परिवारके लिए क्रय-विक्रयके लिए किया जाता है। इसी तरह वन्द कपाटोंको खोलनेपर भी जीव विराधना होती है यह उद्भिन्न दोष है।'[1] आच्छेद्य दोषके तीन भेद किये है—प्रभु विषयक, स्वामी विषयक और स्तेन विषयक। यदि कोई स्वामी या प्रभु यतियोके लिए किसीके आहारादिको वलपूर्वक छीनकर साधुको देता है तो ऐसा आहार यतियोके अयोग्य है। इसी तरह चोरोके द्वारा दूसरोसे वलपूर्वक छीनकर दिया गया आहार भी साधुके अयोग्य है ॥१७॥

आगे मालारोहण दोषको कहते हैं—

सीढी आदिके द्वारा घरके ऊपरी भागमे चढकर और वहाँसे लाकर जो द्रव्य साधुओंको दिया जाता है उसे मालारोहण कहते हैं ॥१८॥

विशेषार्थ—पिण्डनिर्युक्ति (गा. ३५७) मे मालारोहणके दो भेद किये हैं—जघन्य और उत्कृष्ट। ऊँचे छीके आदिपर रखे हुए मिष्टान्न वगैरहको दोनो पैरोपर खड़े होकर उचककर लेकर देना जघन्य मालारोहण है और सीढ़ी वगैरहसे ऊपर चढकर वहाँसे लाकर देना उत्कृष्ट मालारोहण है ॥१८॥

इस प्रकार उद्गम दोषोंका कथन करके उत्पादन दोषोंको कहते हैं—

उत्पादन दोषके सोलह भेद है—धात्री, दूत, निमित्त, वनीपकवचन, आजीव, क्रोध, मान, माया, लोभ, पूर्वस्तवन, पश्चात् स्तवन, वैद्यक, विद्या, मन्त्र, चूर्ण और वश ॥१९॥

---

१. 'उब्भिन्ने छक्काया दाणे कयविक्कए य अहिगरण ।
ते चेव कवाडमि वि सविसेसा जतुमाईसु' ॥

उत्पादादयो यथोद्देशं वक्ष्यन्ते ॥१९॥

अथ पञ्चधा धात्रीदोषमाह—

मार्जन-क्रीडन-स्तन्यपान-स्वापन-मण्डनम् । ३

बाले प्रयोक्तुर्यत्प्रीतो दत्ते दोषः स धात्रिका ॥२०॥

प्रयोक्तु —स्वयं कर्तुं कारयितुरुपदेष्टुर्वा यत्यादेः । प्रीत —अनुरक्तो गृहस्थ । धात्रिका—धात्रीसंज्ञ । पञ्चधा हि धात्री मार्जन-मण्डन-खेलापन-क्षीराम्बाधात्रीभेदात् । मार्जनादिभिश्च कर्मभिर्बाले प्रयुक्तैर्भोजनादिकमुत्पाद्य भजतो मार्जनधात्र्यादिसंज्ञो दोष पञ्चधा स्यात् स्वाध्यायविनाशमार्गदूषणादिदोषदर्शनात् । ६ उक्तं च—

'स्नानभूषापय क्रीडामातृधात्रीप्रभेदत. । ९

पञ्चधा धात्रिकाकार्यादुत्पादो धात्रिकामल ॥' [ ] ॥२०॥

अथ दूतनिमित्तदोषौ व्याकरोति—

विशेषार्थ—उद्गम दोष तो गृहस्थोंके द्वारा होते हैं और उत्पादन दोष साधुके द्वारा होते हैं। श्वेताम्बर परम्परामें भी ये १६ उत्पादन दोष कहे हैं ॥१९॥

पाँच प्रकारके धात्री दोषको कहते हैं—

बालकको नहलाना, खिलाना, दूध पिलाना, सुलाना और और आभूषित करना इन पाँच कर्मोंके करनेवाले साधुपर प्रसन्न होकर गृहस्थ उसे जो दान देता है वह धात्रिका दोषसे दूषित है ॥२०॥

विशेषार्थ—जो बालकका पालन-पोषण करती है उसे धात्री या धाय कहते हैं। वह धात्री पाँच प्रकारकी होती है। स्नान करानेवाली मार्जन धात्री है। खिलानेवाली क्रीडन धात्री है। दूध पिलानेवाली दूध धात्री है। सुलानेवाली स्वापन धात्री है। और भूषण आदि धारण करानेवाली मण्डन धाय है। जो साधु गृहस्थसे कहता है कि बालकको अमुक प्रकारसे नहलाना चाहिए आदि। और ग्रहस्थ उसके इस उपदेशसे प्रसन्न होकर उसे दान देता है और साधु लेता है तो वह साधु धात्री नामक दोषका भागी होता है। इसी प्रकार पाँचों दोषोंको समझना। पिण्डनिर्युक्तिमें पाँचो धात्री दोषोंके कृत और कारितकी अपेक्षा दो-दो भेद किये हैं और प्रत्येकको उदाहरण देकर विस्तारसे समझाया है। यथा—भिक्षाके लिए प्रविष्ट साधु बालकको रोता देखकर पूछता है यह क्यों रोता है। भूखा है तो दूध पिलाओ पीछे मुझे भिक्षा दो। या यह पूछनेपर कि बालक क्यों रोता है? गृहिणी कहती है, हमारी धाय दूसरेके यहाँ चली गयी है। तो साधु पूछता है कि तुम्हारी धाय कैसी है वृद्धा या जवान, गोरी या काली, मोटी या पतली। मैं उसे खोजकर लाऊँगा। इस तरहसे प्राप्त भोजन धात्री दोपसे दूषित होता है ॥२०॥

आगे दूत और निमित्त दोषको कहते हैं—

---

१ खेलास्वापनक्षीराम्बु भ कु च ।

२ 'धाई दूइ निमित्ते आजीव वणीमगे तिगिच्छा य ।
कोहे माणे माया लोभे य हवंति दस एए ॥
पुव्विं पच्छा संथव विज्जा मंते य चुन्न जोगे य ।
उप्पायणाइ दोसा सोलसमे मूलकम्मे य' ॥—पिण्डनि ४०८-९ गा ।

दूतोऽशनादेरादानं संदेशनयनादिना ।
तोषिताद्दातुरष्टाङ्गनिमित्तेन निमित्तकम् ॥२१॥

दूतः । दोषत्व चास्य दूतकर्मशासनदूषणात् । उक्त च—
'जलस्थलनभःस्वान्यग्रामस्वपरदेशतः ।
सम्बन्धे[1] वचसो नीतिर्दूतदोषो भवेदसौ ॥' [ ]

अष्टाङ्गनिमित्तेन—व्यञ्जनादिदर्शनपूर्वकशुभाशुभज्ञानेन । तत्र व्यञ्जन—मसकतिलकादिकम् । अङ्ग—करचरणादि । स्वर —शब्द । छिन्न—खड्गादिप्रहारो वस्त्रादिछेदो वा । भौम—भूमिविभाग । आन्तरिक्ष—मादित्यग्रहाद्युदयास्तमनम् । लक्षण—नन्दिकावर्तपद्मचक्रादिकम् । स्वप्न. सुप्तस्य हस्ति-विमानमहिषारोहणादि-दर्शनम् । भूमिगर्जन दिग्दाहादेरत्रैवान्तर्भाव । उक्त च—
'लाञ्छनाङ्गस्वर छिन्न भौम चैव नभोगतम् ।
लक्षण स्वप्नतश्चेति[2] निमित्त त्वष्टधा भवेत् ॥' [ ]

दोषत्व चात्र रसास्वादनदैन्यादिदोषदर्शनात् ॥२१॥

किसी सम्बन्धीके मौखिक या लिखित सन्देशके पहुँचाने आदिसे सन्तुष्ट हुए दातासे भोजन आदि ग्रहण करना दूत दोष है। अष्टांगनिमित्त बतलानेसे सन्तुष्ट हुए दाताके द्वारा दिये हुए आहारको ग्रहण करना निमित्त दोष है ॥२१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है[3]—'जिस ग्राममें या जिस देशमें साधु रहता हो वह उसका स्वग्राम और स्वदेश है। साधु जल-थल या आकाशसे, स्वग्रामसे परग्राम या स्वदेशसे परदेश जाता हो तो कोई गृहस्थ कहे कि महाराज! मेरा यह सन्देश ले जाना। उस सन्देश-को पानेवाला गृहस्थ यदि प्रसन्न होकर साधुको आहार आदि दे और वह ले तो उसे दूती दोष लगता है।

महानिमित्त आठ हैं—व्यंजन, अग, स्वर, छिन्न, भौम, अन्तरीक्ष, लक्षण, स्वप्न। शरीरके अवयवोंको अंग कहते है। उनपर जो तिल, मशक आदि होते है उन्हें व्यंजन कहते है। शब्दको स्वर कहते है। तलवार आदिके प्रहारको या वस्त्र आदिके छेदको छिन्न कहते है। भूमिभागको भौम कहते हैं। सूर्य आदिके उदय-अस्त आदिको अन्तरीक्ष कहते है। शरीरमे जो कमल चक्र आदि चिह्न होते है उन्हे लक्षण कहते है। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। इन आठ महानिमित्तोंके द्वारा भावी शुभाशुभ बतलाकर यदि भोजनादि प्राप्त किया जाता है तो वह निमित्त नामक उत्पादन दोष है। पिण्डनिर्युक्ति (गा ४३६) मे निमित्त दोषकी बुराई बतलानेके लिए एक कथा दी है—एक ग्रामनायक परदेश गया। उसकी पत्नीने किसी निमित्तज्ञानी साधुसे अपने पतिकी कुशलवार्ता पूछी। उसने बताया कि वह शीघ्र आयेगा। उधर परदेशमे ग्रामनायकके मनमे हुआ कि मै चुपचाप एकाकी जाकर देखूँ कि मेरी पत्नी दुःशीला है या सुशीला। उधर ग्राममे सब लोग साधुके कथनानुसार उसकी प्रतीक्षा करते बैठे थे। जैसे ही वह पहुँचा सब आ गये। उसने पूछा—तुम लोगोको मेरे आनेका

---

१. सम्बन्धि—भ. कु. च ।
२. स्वपनश्चेति—भ. कु. च ।
३ 'जलथलआयासगद सयपरगामे सदेसपरदेसे ।
सदधिवयणणयण दूदीदोसो हवदि एसो' ॥—६।२९

अथ वनीपकाजीवदोषावाह—

दातुः पुण्यं श्वादिदानादस्त्येवेत्यनुवृत्तिवाक् ।
वनीपकोक्तिराजीवो वृत्तिः शिल्पकुलादिना ॥२२॥ ३

दातुरित्यादि— शुनक-काक-कुष्ठाद्यार्तमध्याह्नकालागतमासाद्यासक्तद्विजदीक्षोपजीवि-पार्श्वस्थतापसादि-श्रमणछात्रादिभ्यो दत्ते पुण्यमस्ति न वेति दानपतिना पृष्ठे सत्यस्त्येवेत्यनुकूलवचनं भोजनाद्यर्थं वनीपकवचनं नाम दोषो दीनत्वादिदोषदर्शनात् । उक्तं च— ६

'साण-किविण-तिहि-माहण-पासंडिय-सवण-कागदाणादी ।
पुण्ण ण वेति पुट्ठे पुण्ण तिय वणिवय वयण ॥' [मूलाचार गा ४५१]

वृत्तिरित्यादि—हस्तविज्ञान - कुल - जात्यैश्वर्यतपोऽनुष्ठानान्यात्मनो निर्दिश्य जीवनकरणमित्यर्थ । ९
उक्त च—

'आजीवस्तप ऐश्वर्यं शिल्प जातिस्तथा कुलम् ।
तैस्तूत्पादनमाजीव एष दोष. प्रकथ्यते ॥' १२

दोषत्व चात्र वीर्यागूहनदीनत्वादिदोषदर्शनात् ॥२२॥

अथ हस्तिकल्पादिनगरजाताख्यानप्रकाशनमुखेन क्रोधादिसञ्ज्ञाश्चतुरो दोषानाह—

पता कैसे लगा । सब बोले—तुम्हारी पत्नीने कहा था । उस समय वह साधु भी उसके घरमें उपस्थित था । पतिने पत्नीसे पूछा—तुमने मेरा आना कैसे जाना ? वह बोली—साधुके निमित्तज्ञानसे जाना । तब उसने पुनः पूछा—उसका विश्वास कैसे किया ? पत्नी बोली—तुम्हारे साथ मैंने पहले जो कुछ चेष्टाएँ की, वार्तालाप किया, यहाँ तक कि मेरे गुह्य प्रदेशमें जो चिह्न है वह सब साधुने सच-सच बतला दिया । तब वह क्रुद्ध होकर साधुसे बोला—बतलाओ इस घोडीके गर्भमे क्या है ? साधुने कहा—पॉच रंगका बच्चा । उसने तुरन्त घोडीका पेट फाड डाला । उसमे-से वैसा ही बच्चा निकला । तब उसने साधुसे कहा—यदि तुम्हारा कथन सत्य न निकलता तो तुम भी जीवित न रहते । अतः साधुको निमित्तका प्रयोग कभी भी नहीं करना चाहिए ॥२१॥

वनीपक और आजीव दोषको कहते है—

कुत्ते आदिको दान करनेसे पुण्य होता ही है इस प्रकार दाताके अनुकूल वचन कहकर भोजन प्राप्त करना वनीपकवचन नामक दोष है । अपने हस्तविज्ञान, कुल, जाति, ऐश्वर्य, तप आदिका वर्णन करके भोजन प्राप्त करना आजीव नामक दोष है ॥२२॥

विशेषार्थ—तात्पर्य यह है कि दाताने पूछा—कुत्ता, कौआ, कुष्ट आदि व्याधिसे पीडित अतिथि, मध्याह्न कालमे आये भिक्षुक, मांसभक्षी ब्राह्मण, दीक्षासे जीविका करनेवाले पार्श्वस्थ तापस आदि श्रमण, छात्र आदिको दान देनेमें पुण्य है या नहीं ? भोजन प्राप्त करनेके लिए 'अवश्य पुण्य है' ऐसा कहना वनीपक वचन नामक दोष है क्योंकि उसमे दीनता पायी जाती है । वनीपकका अर्थ है याचक—भिखारी । भिखारी-जैसे वचन बोलकर भोजन प्राप्त करना दोष है । मूलाचारमे भी ऐसा ही कहा है ॥२२॥

आगे हस्तिकल्प आदि नगरोंमें घटित घटनाओंके प्रकाशन द्वारा क्रोध, मान, माया, लोभ नामके चार दोषोंको कहते हैं—

क्रोधादिबलाददतश्चत्वारस्तदभिधा मुनेर्दोषाः ।
पुरहस्तिकल्पवेन्नातटकासीरासीयनवत् स्युः ॥२३॥

३ तदभिधाः—क्रोध-मान-माया-लोभनामानः । कासी—वाराणसी । कथास्तूत्प्रेक्ष्य वाच्याः ॥२३॥

अथ पूर्वसंस्तव-पश्चात्संस्तवदोषावाह—

हस्तिकल्पपुर, वेन्नातट, कासी और रासीयन नामके नगरोंकी तरह क्रोध, मान, माया और लोभके बलसे भोजन प्राप्त करनेवाले मुनिके क्रोध, मान, माया, लोभ नामके दोष होते हैं ॥२३॥

विशेषार्थ—यदि साधु क्रोध करके भिक्षा प्राप्त करता है तो क्रोध नामका उत्पादन दोष होता है। यदि मान करके भिक्षा प्राप्त करता है तो मानदोष होता है। यदि मायाचार करके भिक्षा उत्पन्न करता है तो माया नामक उत्पादन दोष होता है। यदि लोभ दिखलाकर भिक्षा प्राप्त करता है तो लोभ नामक उत्पादन दोष होता है। हस्तिकल्प नगरमें किसी साधुने क्रोध करके भिक्षा प्राप्त की थी। वेन्नातट नगरमें किसी साधुने मानसे भिक्षा प्राप्त की थी। वाराणसीमें किसी साधुने मायाचार करके भिक्षा प्राप्त की थी। राशियानमें किसी साधुने लोभ बतलाकर भिक्षा प्राप्त की थी। मूलाचारमें (६।३५) इन नगरोंका उल्लेख मात्र है और टीकाकारने केवल इतना लिखा है कि इनकी कथा कह लेना चाहिए। पिण्डनिर्युक्तिमें (गा. ४६१) उन नगरोंका नाम हस्तकल्प, गिरिपुष्पित, राजगृह और चम्पा दिया है। और कथाएँ भी दी हैं—हस्तकल्प नगरमें किसी ब्राह्मणके घरमें किसी मृतकके मासिक श्राद्धपर किसी साधुने भिक्षाके लिए प्रवेश किया। किन्तु द्वारपालने मना कर दिया। तब साधुने क्रुद्ध होकर कहा—आगे देना। दैवयोगसे फिर कोई उस घरमें मर गया। उसके मासिक श्राद्ध पर पुन वह साधु भिक्षाके लिए आया। द्वारपालने पुन. मना किया और वह पुनः क्रुद्ध होकर बोला—आगे देना। दैवयोगसे उसी घरमें फिर एक मनुष्य मर गया। उसके मासिक श्राद्धपर पुनः वह भिक्षु भिक्षाके लिए आया। द्वारपालने पुन रोका और साधुने पुनः 'आगे देना' कहा। यह सुनकर द्वारपालने विचारा—पहले भी इसने दो बार शाप दिया और दो आदमी मर गये। यह तीसरी वेला है। फिर कोई न मर जाये। यह विचारकर उसने गृहस्वामीसे सब वृत्तान्त कहा। और गृहस्वामीने सादर क्षमा-याचनापूर्वक साधुको भोजन दिया। यह क्रोधपिण्डका उदाहरण है। इसी तरह एक साधु एक गृहिणीके घर जाकर भिक्षामें सेवई माँगता है। किन्तु गृहिणी नहीं देती। तब साधु अहंकारमें भरकर किसी तरह उस स्त्रीका अहंकार चूर्ण करनेके लिए उसके पतिसे सेवई प्राप्त करता है। यह मानसे प्राप्त आहारका उदाहरण है। इसी तरह माया और लोभके भी उदाहरण हैं। श्वेताम्बर परम्परामें साधु घर-घर जाकर पात्रमें भिक्षा लेते हैं। इसलिए ये कथानक उनमें घटित होते हैं। दिगम्बर परम्परामें तो इस तरह भिक्षा माँगनेकी पद्धति नहीं है। अतः प्रकारान्तरसे इन दोषोंकी योजना करनी चाहिए। यथा—सुस्वादु भोजनके लोभसे समृद्ध श्रावकोंको फाटकेके आँक बतलानेका लोभ देकर भोजनादि प्राप्त करना। या क्रुद्ध होकर शापका भय देकर कुछ प्राप्त करना आदि ॥२३॥

आगे पूर्वस्तुति और पश्चात् स्तुतिदोषोंको कहते हैं—

स्तुत्वा दानपतिं दानं स्मरयित्वा च गृह्णतः ।
गृहीत्वा स्तुवतश्च स्तः प्राक्पश्चात्संस्तवौ क्रमात् ॥२४॥

स्तुत्वा—त्वं दानपतिस्त्वं कीर्तिर्जगद्व्यापिनीत्यादिकीर्तनं कृत्वा। स्मरयित्वा—त्वं पूर्वं महादानपतिरिदानीं किमिति कृत्वा विस्मृत इति संबोध्य। दोषत्वं चात्र नग्नाचार्यकर्तव्यकार्पण्यादिदोषदर्शनात् ॥२४॥ ३

अथ चिकित्सा-विद्या-मन्त्रास्त्रीन् दोषानाह—

चिकित्सा रुक्प्रतीकाराद्विद्यामाहात्म्यदानतः । ६
विद्या मन्त्रश्च तद्दानमाहात्म्यास्यां मलोऽश्नतः ॥२५॥

रुक्प्रतीकारात्—कायाद्यष्टाङ्गचिकित्सात्[1] शास्त्रबलेन ज्वरादिव्याधिग्रहादीन्निराकृत्य तन्निराकरणमुपदिश्य च। उक्तं च— ९

'रसायनविषक्षाराः कौमाराङ्गचिकित्सिते।
चिकित्सादोष एषोऽस्ति भूतं शिल्पं[2] शिराष्टधा ॥' [ ]

[3]शिलेरेति शालाक्यम्। दोषत्वं चात्र सावद्यादिदोषदर्शनात्। विद्येत्यादि-आकाशगामिन्यादिविद्याया प्रभावेण प्रदानेन वा। तदुक्तम्— १२

'विद्या साधितसिद्धा स्यादुत्पादस्तत्प्रदानतः[4]।
तस्या माहात्म्यतो वापि विद्यादोषो भवेदसौ ॥' [ ] १५

दाताकी स्तुति करके और पहले दिये हुए दानका स्मरण कराकर दान ग्रहण करनेवाला साधु पूर्वस्तुति नामक दोषका भागी होता है। तथा दान ग्रहण करके दाताकी स्तुति करनेवाला साधु पश्चात् स्तुति दोषका भागी होता है ॥२४॥

आगे चिकित्सा, विद्या और मन्त्र इन तीन दोषोंको कहते हैं—

चिकित्सा शास्त्रके बलसे ज्वर आदि व्याधियोंको दूर करके उससे आहार प्राप्त करनेवाला साधु चिकित्सा नामक दोषका भागी है। आकाशगामिनी आदि विद्याके प्रभावसे या उसके दानसे आहार प्राप्त करनेवाला साधु विद्या नामक दोषका भागी है। या मैं तुम्हें अमुक विद्या दूँगा ऐसी आशा देकर भोजन आदि प्राप्त करनेपर भी वही दोष होता है। सर्प आदिका विष दूर करनेवाले मन्त्रके दानसे या उसके माहात्म्यसे या मन्त्र देनेकी आशा देकर भोजनादि प्राप्त करनेसे मन्त्र नामक दोष होता है ॥२५॥

विशेषार्थ—मूलाचार (६।३३) मे चिकित्साके आठ प्रकार होनेसे चिकित्सा दोष भी आठ बतलाये हैं—कौमारचिकित्सा अर्थात् बालकोंकी चिकित्सा, शरीर चिकित्सा अर्थात् ज्वरादि दूर करना, रसायन—जिससे उम्र बढ़ती है, शरीरकी झुर्रियाँ आदि दूर होती है, विष चिकित्सा अर्थात् विष उतारना, भूत चिकित्सा—भूत उतारनेका इलाज, क्षारतन्त्र अर्थात् दुष्ट घाव वगैरहकी चिकित्सा, शलाका चिकित्सा अर्थात् सलाई द्वारा आँख आदि खोलना, शल्य चिकित्सा अर्थात् फोड़ा चीरना। इन आठ प्रकारोंमे-से किसी भी प्रकारसे

१ -रसाशास्त्र—भ कु. च.।
२ शल्य भ कु. च.।
३ शिरेति भ. कु. च।
४ प्रधान—भ कु च.।

किं च, तुभ्यमहं विद्यामिमां दास्यामीत्याशाप्रदानेन च भुक्त्युत्पादेऽपि स एव दोषः। तथा चोक्तम्—

'विज्जा साधितसिद्धा तिस्से आसापदाणकरणेहिं।
३ तिस्से माहप्पेण य विज्जादोसो दु उप्पादो ॥' [मूलाचार गा. ४५७]

मन्त्रः—सर्पादिविषापहर्ता। अत्रापि मन्त्राशाप्रदानेनेत्यपि व्याख्येयम्। दोषत्वं चात्र लोकप्रतारण-जिह्वागृद्ध्यादिदोषदर्शनात् ॥२५॥

६ अथ प्रकारान्तरेण तावेवाह—

विद्या साधितसिद्धा स्यान्मन्त्रः पठितसिद्धकः।
ताभ्यां चाहूय तौ दोषौ स्तोऽश्नतो भुक्तिदेवताः ॥२६॥

९ भुक्तिदेवताः—आहारप्रदव्यन्तरादिदेवान्। उक्तं च—

'विद्यामन्त्रैः समाहूय यद्दानपतिदेवताः।
साधितः स भवेद्दोषो विद्यामन्त्रसमाश्रयः ॥' [ ] ॥२६॥

१२ अथ चूर्णमूलकर्मदोषावाह—

दोषो भोजनजननं भूषाञ्जनचूर्णयोजनाच्चूर्णः।
स्यान्मूलकर्म चावशवशीकृतिवियुक्तयोजनाभ्यां तत् ॥२७॥

उपकार करके आहार आदि ग्रहण करना चिकित्सा दोष है। पिण्डनिर्युक्तिमें चिकित्सासे रोग प्रतीकार अथवा रोग प्रतीकारका उपदेश विवक्षित है। जैसे, किसी रोगीने रोगके प्रतीकारके लिए साधुसे पूछा तो वह बोला—क्या मैं वैद्य हूँ? इससे यह ध्वनित होता है कि वैद्यके पास जाकर पूछना चाहिए। अथवा रोगीके पूछनेपर साधु बोला—मुझे भी यह रोग हुआ था। वह अमुक औषधिसे गया था। या वैद्य बनकर चिकित्सा करना यह दूसरा प्रकार है। जो साधनासे सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं और जो पाठ करनेसे सिद्ध होता है उसे मन्त्र कहते हैं। इनके द्वारा आहारादि प्राप्त करनेसे लोकमें साधुपदकी अकीर्ति भी हो सकती है। उसे लोकको ठगनेवाला भी कहा जाता है अथवा 'मैं तुम्हें अमुक विद्या प्रदान करूँगा' ऐसी आशा देकर भोजन प्राप्त करनेपर भी यही दोष आता है। मूलाचार (गा ६।३८) मे कहा है—जो साधनेपर सिद्ध होती है उसे विद्या कहते हैं। उस विद्याकी आशा देकर कि मैं तुम्हें यह विद्या दूँगा और उस विद्याके माहात्म्यके द्वारा जो जीवन-यापन करता है उसे विद्योत्पादन नामक दोष होता है ॥२५॥

प्रकारान्तरसे उन दोनों दोषोंको कहते हैं—

जो पहले जप, होम आदिके द्वारा साधना किये जानेपर सिद्ध होती है वह विद्या है। और जो पहले गुरुमुखसे पढनेपर पीछे सिद्ध अर्थात् कार्यकारी होता है वह मन्त्र है। उन विद्या और मन्त्रके द्वारा आहार देनेमें समर्थ व्यन्तर आदि देवोंको बुलाकर उनके द्वारा प्राप्त कराये भोजनको खानेवाले साधुके विद्या और मन्त्र नामक दोष होते है ॥२६॥

चूर्ण और मूलकर्म दोषोंको कहते हैं—

शरीरको सुन्दर बनानेवाले चूर्ण और आँखोंको निर्मल बनानेवाले अंजनचूर्ण उनके अभिलाषी दाताको देकर उससे आहार प्राप्त करना चूर्ण दोष है। जो वशमें नहीं है उसे वशमें करना और जिन स्त्री-पुरुषोंमें परस्परमें वियोग हुआ है उनको मिलाकर भोजन प्राप्त करना मूलकर्म दोष है ॥२७॥

भूपाञ्जनचूर्णं—शरीरशोभालङ्करणाद्यर्थं नेत्रनैर्मल्यार्थं च द्रव्यरज.। तत् भोजनजननम्। दोपत्व चात्र पूर्वत्र जीविकादिक्रियया जीवनात्, परत्र च लज्जाद्याभोगस्य[1] करणात् ॥२७॥

अथैवमुत्पादनदोषान् व्याख्यायेदानीमशनदोषोद्देशार्थमाह— ३

शङ्कित-पिहित-म्रक्षित-निक्षिप्त-च्छोटितापरिणताख्याः।
दश साधारणदायकलिप्तविमिश्रैः सहेत्यशनदोषाः ॥२८॥[2]

स्पष्टम् ॥२८॥ ६

अथ शङ्कितदोपपिहितदोषौ लक्षयति—

संदिग्धं किमिदं भोज्यमुक्तं नो वेति शङ्कितम्।
पिहितं देयमप्रासु गुरु प्रास्वपनीय वा ॥२९॥ ९

भोज्य—भोजनार्हम्। उक्तं—आगमे प्रतिपादितम्। यच्च 'किमयमाहारो अध कर्मणा निष्पन्न उत न' इत्यादिशङ्का कृत्वा भुज्यते सोऽपि शङ्कितदोप एव। अप्रासु—सचित्त पिधानद्रव्यम्। प्रासु—अचित्त पिधानद्रव्यम्। गुरु—भारिकम्। उक्त च— १२

विशेपार्थ—पिण्डनिर्युक्तिमे आँखोंमे अदृश्य होनेका अंजन लगाकर किसी घरमे भोजन करना चूर्ण दोप है। जैसे दो साधु इस प्रकारसे अपनेको अदृश्य करके चन्द्रगुप्तके साथ भोजन करते थे। चन्द्रगुप्त भूखा रह जाता था। धीरे-धीरे उसका शरीर कृश होने लगा। तब चाणक्यका उधर ध्यान गया और उसने युक्तिसे दोनोको पकड़ लिया। दूसरे, एक साधु पैरमे लेप लगाकर नदीपर-से चलता था। एक दिन वह इसी तरह आहारके लिए गया। दाता उसके पैर धोने लगा तो वह तैयार नहीं हुआ। किन्तु पैर पखारे विना गृहस्थ भोजन कैसे कराये। अतः साधुको पैर धुलाने पड़े। पैरोंका लेप भी धुल गया। भोजन करके जानेपर साधु नदीमे डूबने लगा तो उसकी पोल खुल गयी। मूल दोपका उदाहरण देते हुए कहा है—एक राजाके दो पत्नियाँ थीं। वडी पत्नी गर्भवती हुई तो छोटीको चिन्ता हुई। एक दिन एक साधु आहारके लिए आये तो उन्होंने छोटीसे चिन्ताका कारण पूछा। उसके वतलानेपर साधुने कहा—तुम चिन्ता मत करो। हम दवा देते है तुम भी गर्भवती हो जाओगी। छोटी वोली—गद्दीपर तो वड़ीका ही पुत्र बैठेगा। ऐसी दवा दो जो उसका भी गर्भ गिर जाये। साधुने वैसा ही किया। यह मूल दोप है ॥२७॥

इस प्रकार उत्पादन दोपोका प्रकरण समाप्त हुआ।

इस प्रकार उत्पादन दोपोको कहकर अव अशन दोपोको कहते है—

जो खाया जाता है उसे अशन कहते है। अशन अर्थात् भोज्य। उसके दस दोप है—शंकित, पिहित, म्रक्षित, निक्षिप्त, छोटित, अपरिणत, साधारण, दायक, लिप्त और विमिश्र ॥२८॥

अब शंकित आदि दोषोके लक्षण कहनेकी इच्छासे प्रथम ही शंकित और पिहित दोपोंके लक्षण कहते हैं—

यह वस्तु आगममे भोजनके योग्य कही है अथवा नहीं कही है इस प्रकारका सन्देह होते हुए उसे ग्रहण करना शंकित दोप है। यह आहार अध.कर्मसे वना है या नही, इत्यादि

---

१ गस्वीकर—भ कु च।

२. सकिय मक्खिय निक्खित्त पिहिय साहरिय दाय गुम्मीसे।
अपरिणय लित्त छड्डिय एसण दोसा दस हवंति ॥ —पिण्डनिर्युक्ति, ५२० गा.।

'पिहितं यत्सचित्तेन गुर्वचित्तेन वापि यत्।
तत् त्यक्त्वैव च यद्देयं बोद्धव्य पिहित हि तत् ॥' [ ] ॥२९॥

३ अथ म्रक्षितनिक्षिप्तदोषौ लक्षयति—

म्रक्षितं स्निग्धहस्ताद्यैर्दत्तं निक्षिप्तमाहितम्।
सचित्तक्ष्माग्निवार्बीजहरितेषु त्रसेषु च ॥३०॥

६ हस्ताद्यैः—आद्यशब्दाद् भाजन कडच्छुकश्च। दोषत्व चात्र सम्मूर्च्छनादिसूक्ष्मदोषदर्शनात्। आहितं—उपरिस्थापितम्। सचित्तानि—सजीवान्यप्रासुकयुक्तानि वा कायरूपाणि। उक्त च—

'सच्चित्त पुढविआऊ तेऊ हरिदं च बीयतसजीवा।
जं तेसिमुवरि ठविद णिक्खित्त होदि छब्भेय ॥' [मूलाचार ४६५ गा.] ॥३०॥

९ अथ छोटितदोषमाह—

भुज्यते बहुपातं यत्करक्षेप्यथवा करात्।
१२ गलद्भित्वा करौ त्यक्त्वाऽनिष्टं वा छोटितं च तत् ॥३१॥

भुज्यत इत्यादि। यद्बहुपात—प्रचुरमन्नं पातयित्वा अर्थादल्प भुज्यते। यद्वा करक्षेऽपि—गलत्परिवेषकेण हस्ते प्रक्षिप्यमाण तक्राद्यं परिस्रवद् भुज्यते। यद्वा कराद् गलत्—स्वहस्तात् तक्राद्यैः परिस्रवद्

शंका होते हुए उसे ग्रहण करना भी शंकित दोष है। सचित्त या अचित्त किन्तु भारी वस्तुसे ढके हुए भोजनको ढकना दूर करके जो भोजन साधुको दिया जाता है वह पिहित दोषसे युक्त है ॥२९॥

म्रक्षित और निक्षिप्त दोषको कहते हैं—

घी-तेल आदिसे लिप्त हाथसे या पात्रसे या करछुसे मुनिको दिया हुआ दान म्रक्षित दोषसे युक्त है। सचित्त पृथ्वी, सचित्त जल, सचित्त अग्नि, सचित्त बीज और हरितकाय या त्रसकाय जीवोंपर रखी वस्तु हो उसको मुनिको देना निक्षिप्त दोष है ॥३०॥

विशेषार्थ—श्वे पिण्डनिर्युक्तिमें म्रक्षितके दो भेद हैं—सचित्त म्रक्षित, अचित्त म्रक्षित। सचित्त म्रक्षितके तीन भेद हैं—पृथिवीकाय म्रक्षित, अप्काय म्रक्षित, वनस्पतिकाय म्रक्षित। अचित्त म्रक्षितके दो भेद हैं—गर्हित और इतर। चर्बी आदिसे लिप्त गर्हित है और घृत आदिसे लिप्त इतर है। सचित्त पृथ्वीकायके दो भेद हैं—शुष्क और आर्द्र। जो देय, पात्र या हाथ सूखी चिकनी धूलसे और जो आर्द्र सचित्त पृथिवीकायसे म्रक्षित होता है वह सचित्त पृथिवीकाय म्रक्षित है। अप्काय म्रक्षितके चार भेद हैं—पुरःकर्म, पश्चात्कर्म, सस्निग्ध और जलार्द्र। साधुको भोजनादि देनेसे पहले जो हस्त आदिका जलसे प्रक्षालन किया जाता है वह पुरःकर्म है। जो भोजनदानके पश्चात् किया जाता है वह पश्चात्कर्म है। हाथको मामूली जल लगा रहे तो सस्निग्ध है और स्पष्ट रूपसे हो तो जलार्द्र है। प्रत्येक वनस्पति आम्र फलादि, अनन्तकाय वनस्पति, कटहल आदिके तत्काल बनाये टुकड़ोंसे यदि हस्तादि लिप्त हो तो वनस्पति म्रक्षित है। शेष तीन अग्नि, वायु और त्रस इन तीनोंसे म्रक्षित नहीं माना है क्योंकि लोकमें उनसे म्रक्षित होनेपर भी म्रक्षित नहीं कहा जाता। इसी तरह निक्षिप्तके भी अनेक भेद-प्रभेदोंका कथन है ॥३०॥

छोटित दोषको कहते हैं—

छोटित दोषके पाँच प्रकार हैं। संयमीके द्वारा बहुत-सा अन्न नीचे गिराते हुए थोड़ा खाना १, परोसनेवाले दाताके द्वारा हाथमें तक्र आदि देते हुए यदि गिरता हो तो ऐसी

भुज्यते। यद्वा भित्वा करौ—हस्तपुटं पृथक्कृत्य भुज्यते। यद्वा त्यक्त्वानिष्टं—अनभिरुचितमुज्झित्वा इष्टं भुज्यते, तत्पञ्चप्रकारमपि छोटितमित्युच्यते ॥३१॥

अथापरिणतदोषमाह— ३

तुषचण-तिल-तण्डुल-जलमुष्णजलं च स्ववर्णगन्धरसैः।
अरहितमपरमपीदृशमपरिणतं तन्न मुनिभिरुपयोज्यम् ॥३२॥

तुषेत्यादि—तुषप्रक्षालनं चणकप्रक्षालनं तिलप्रक्षालनं तण्डुलप्रक्षालनं वा यच्चोष्णजलं तप्तं भूत्वा ६ शीतमुदकं स्ववर्णाद्यैरपरित्यक्तमन्यदपीदृशमपरिणतं हरीतकीचूर्णादिना अविध्वस्तं यज्जलं तन्मुनिभिस्त्याज्यमित्यर्थः। तुषजलादीनि परिणतान्येव ग्राह्याणीति भावः। उक्तं च—

'तिल-तंडुल-उसणोदय-चणोदय तुसोदय अविद्धत्थं। ९
अण्णं तहाविह वा अपरिणद णेव गिण्हिज्जो ॥' [मूलाचार, गा. ४७३]

अपि च—

'तिलादिजलमुष्णं च तोयमन्यच्च तादृशम्। १२
कराद्यताडितं चैव गृहीतव्यं मुमुक्षुभिः ॥' [ ] ॥३२॥

अथ साधारणदोषमाह—

यद्दातुं संभ्रमाद्वस्त्राद्याकृष्यान्नादि दीयते। १५
असमीक्ष्य तदादानं दोषः साधारणोऽशने ॥३३॥

संभ्रमात्—सक्षोभाद् भयादादराद्वा। असमीक्ष्य—सम्यगपर्यालोच्य, अन्नादि। उक्तं च—

'संभ्रमाहरणं कृत्वाऽऽदातुं पात्रादिवस्तुनः। १८
असमीक्ष्यैव यद्देयं दोषः साधारणः स तु ॥' [ ] ॥३३॥

अवस्थामें उसे ग्रहण करना २, अथवा मुनिके हाथसे तक्र आदि नीचे गिरता हो तो भी भोजन करना ३, दोनों हथेलियोंको अलग करके भोजन करना ४ और जो न रुचे उसे खाना ये सब छोटित दोष है ॥३१॥

अपरिणत दोषको कहते हैं—

तुष, चना, तिल और चावलके धोवनका जल, और वह जल जो गर्म होकर ठण्डा हो गया हो, जिसके रूप, रस और गन्धमें परिवर्तन न हुआ हो अर्थात् हरड़के चूर्ण आदिसे जो अपना रूप-रस आदि छोड़कर अन्य रूप-रसवाला न हुआ हो उसको अपरिणत कहते है। ऐसा जल मुनियोंके उपयोगके योग्य नहीं है ॥३२॥

विशेषार्थ—श्वे. पिण्डनिर्युक्ति (गा. ६०९ आदि) में अपरिणतका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—जैसे दूध दूधरूपसे भ्रष्ट होकर दधिरूप होनेपर परिणत कहा जाता है, वैसे ही पृथिवी कायादिक भी स्वरूपसे सजीव होनेपर यदि सजीवत्वसे मुक्त नहीं हुए तो अपरिणत कहे जाते है और जीवसे मुक्त होनेपर परिणत कहे जाते है। अपरिणतके अनेक भेद कहे हैं ॥३२॥

साधारण दोषको कहते हैं—

देनेके भावसे, घबराहटसे या भयसे वस्त्र, पात्र आदिको विना विचारे खींचकर जो अन्न आदि साधुको दिया जाता है उसका ग्रहण करना भोजनका साधारण नामक दोष है ॥३३॥

अथ दायकदोषमाह—

मलिनी-गर्भिणी-लिङ्गिन्यादिनार्या नरेण च ।

३ **शवादिनाऽपि क्लीवेन दत्तं दायकदोषभाक् ॥३४॥**

मलिनी—रजस्वला । गर्भिणी—गुरुभारा । शव.—मृतकं स्मशाने प्रक्षिप्यागतो मृतकसूतकयुक्तो वा । आदिशब्दाद् व्याधितादि । उक्तं च—

६ 'सूती शौण्डी तथा रोगी शव. पण्ढ. पिशाचवान् ।
पतितोच्चारनग्नाश्च रक्ता वेश्या च लिङ्गिनी ॥
वान्ताऽभ्यक्ताङ्गिका चातिबाला वृद्धा च गर्भिणी ।
९ अदन्त्यन्धा निषण्णा च नीचोच्चस्था च सान्तरा ॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें इस दोषका नाम संव्यवहरण है । संव्यवहरणका अर्थ टीकाकारने किया है—जल्दीसे व्यवहार करके या जल्दीसे आहरण करके । इसीपर से इस दोषका नाम सव्यवहरण ही उचित प्रतीत होता है । श्वे. पिण्डनिर्युक्तिमें भी इसका नाम संहरण है । पं. आशाधरजीने साधारण नाम किसी अन्य आधारसे दिया है । किन्तु वह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि इस दोषका जो स्वरूप है वह साधारण शब्दसे व्यक्त नहीं होता । संव्यवहरण या संहरण शब्दसे ही व्यक्त होता है । अनगार धर्मामृतकी प आशाधरजीकी टीकामें इस प्रकरणमें जो प्रमाण उद्धृत किये हैं वे अधिकतर संस्कृत श्लोक है । वे श्लोक किस ग्रन्थके है यह पता नहीं चल सका है फिर भी मूलाचारकी गाथाओंके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे श्लोक मूलाचारकी गाथाओंपर-से ही रचे गये है । उसीमें इस दोषका नाम साधारण लिखा है । किन्तु उसके लक्षणमें जो 'संभ्रम आहरण' पद प्रयुक्त हुआ है उसीसे इस दोषका नाम संव्यवहरण सिद्ध होता है साधारण नहीं ॥३३॥

आगे दायक दोषको कहते है—

रजस्वला, गर्भिणी, आर्यिका आदि स्त्रीके द्वारा तथा मृतकको श्मशान पहुँचाकर आये हुए या मृतकके सूतकवाले मनुष्यके द्वारा और नपुंसकके द्वारा दिया गया दान दायक दोषसे युक्त होता है ॥३४॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें लिखा है—'जिसके प्रसव हुआ है, जो मद्यपायी है, रोगी है, मृतकको श्मशान पहुँचाकर आया है, या मृतकके सूतकवाला है, नपुंसक है, भूतसे ग्रस्त है,

---

१ 'संववहरणं किच्चा पदादुमिदि चेलभायणा दीणं ।
असमिक्खिय जं देयं संववहरणो हवदि दोसो' ॥—मूला. ६।४८

२. सूदी सुंडी रोगी मदय-णवुंसय-पिसाय-णग्गो य ।
उच्चार-पडिद-वंत-रुहिर-वेसी समणी अंगमक्खीया ॥
अतिबाला अतिवुड्ढा घासत्ती गब्भिणी य अंधलिया ।
अंतरिदा व णिसण्णा उच्चत्था अहव णीचत्था ॥
पूयण पज्जलणं वा सारण पच्छादणं च विज्झवणं ।
किच्चा तहाग्गीकज्जं णिव्वादं घट्टणं चावि ॥
लेवण मज्जणकम्मं पियमाणं दारयं च णिक्खिविय ।
एवं विहादिया पुण दाणं जदि दिंति दायगा दोसा ॥ —मूलाचार ४९-५२ गा. ।

फूत्कार ज्वालन चैव सारण छादनं तथा ।
विध्यापनाग्निकार्ये च कृत्वा निश्च्यावघट्टने ॥
लेपन मार्जन त्यक्त्वा स्तनलग्न शिशुं तथा । ३
दीयमाने हि दानेऽस्ति दोपो दायकगोचर ॥' [ ]

सूती—वालप्रसाधिका । शौण्डी—मद्यपानलम्पटा । पिशाचवान्—वाताद्युपहत पिशाचगृहीतो वा । पतित —मूर्छागत. । उच्चार —उच्चारमूत्रादीन् कृत्वाऽऽगत । नग्न·—एकवस्त्रो वस्त्रहीनो वा । रक्ता— ६ रुधिरसहिता । लिङ्गिनी—आर्यिका अथवा पञ्चश्रमणिका रक्तपटिकादय । वान्ता—छर्दि कृत्वा आगता । अभ्यक्ताङ्गिका—अङ्गाभ्यञ्जनकारिणी अभ्यक्तशरीरा वा । अदन्ती—यत् किंचिद् भक्षयन्ती । निषण्णा—उपविष्टा । नीचोच्चस्था—नीचे उच्चे वा प्रदेशे स्थिता । सान्तरा—कुड्यादिभिर्व्यवहिता । ९ फूत्कार—सन्धुक्षणम् । ज्वालन—मुखवातेनान्येन वा अग्निकाष्ठादीना प्रलेपन (प्रदीपनं) । सारण— काष्ठादीनामुत्कर्पणम् । छादन—भस्मादिना अग्ने प्रच्छादनम् । विध्यापनं—जलादिना निर्वापणम् । अग्निकार्यं—अग्नेरितस्तत करणम् । निश्च्याव —काष्ठादिपरित्याग । घट्टन—अग्नेरुपरि कुम्भ्यादि- १२ चालनम् । लेपन—गोमयकर्दमादिना कुड्यादेरुपदेहम् । मार्जन—स्नानादिक कर्म, 'कृत्वा' इति संवन्ध । शौण्डी रोगीत्यादिपु लिङ्गमतन्त्रम् ॥३४॥

अथ लिप्तदोपमाह— १५

यद्गैरिकादिनाऽऽमेन शाकेन सलिलेन वा ।
आर्द्रेण पाणिना देयं तल्लिप्तं भाजनेन वा ॥३५॥

गैरिकादिना, आदिशब्दात् खटिकादि विशेषणकरणे वा तृतीया । आमेन—अपक्वेन तण्डुलादिपिष्टेन । १८ उक्त च—

'गेरुयहरिदालेण व सेढीय मणोसिलामपिट्ठेण ।
सपवालदगुल्लेण व देय करभाजणे लित्त ॥' [मूलाचार, गा. ४७४] ॥३५॥ २१

नग्न है, मलमूत्र आदि त्यागकर आया है, मूर्च्छित है, जिसे वमन हुआ है, जिसके खून वहता है, जो वेश्या है, आर्यिका है, तेल मालिश करनेवाली है, अति वाला है, अति वृद्धा है, भोजन करती हुई है, गर्भिणी है, अन्ध है, पर्देमे है, वैठी हुई है, नीचे या ऊँचे प्रदेशपर खड़ी है, ऐसी स्त्री हो या पुरुष उसके हाथसे भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। मुँहकी हवासे या पंखेसे अग्निको फूँकना, अग्निसे लकडी जलाना, लकड़ी सरकाना, राखसे अग्निको ढाकना, पानीसे वुझाना, तथा अग्नि सम्बन्धी अन्य भी कार्य करना, लकडी छोड़ना, अग्निको खींचना, गोवर लीपना, स्नान आदि करना, दूध पीते हुए वालकको अलग करना, इत्यादि कार्य करते हुए यदि दान देती है या देता है तो दायक दोप है। पिण्डनिर्युक्ति (गा ५७२- ५७७) मे भी इसी प्रकार ४० दायक दोप वतलाये है और प्रत्येकमे क्यों दोप है यह भी स्पष्ट किया है ।

लिप्त दोपको कहते है—

गेरु, हरताल, खड़िया मिट्टी आदिसे, कच्चे चावल आदिकी पिट्ठीसे, हरे शाकसे, अप्रासुक जलसे लिप्त हाथसे या पात्रसे या दोनों ही से आहारादि दिया जाता है वह लिप्त नामक दोप है ॥३५॥

---

१. लोदणलेवेण व—मूलाचार ।

अथ विमिश्रदोषमाह—

३ पृथ्व्याऽप्रासुकयाऽद्भिश्च वीजेन हरितेन यत् ।
मिश्रं जीवत्त्रसैश्चान्नं महादोषः स मिश्रकः ॥३६॥

पृथ्व्या—मृत्तिकया । वीजेन—यवगोधूमादिना । हरितेन—पत्रपुष्पफलादिना । महादोषः—सर्वथा ६ वर्जनीय इत्यर्थः । उक्तं च—

'सजीवा पृथिवी तोयं नीलं वीजं तथा त्रस ।
अमीभिः पञ्चभिर्मिश्र आहारो मिश्र इष्यते ॥' [ ] ॥३६॥

९ अथाङ्गार-धूम-संयोजमानननामानो दोषास्त्रयो व्याख्यायन्ते—

गृद्धयाङ्गारोऽश्नतो धूमो निन्दयोष्णहिमादि च ।
मिथो विरुद्धं संयोज्य दोषः संयोजनाह्वय ॥३७॥

१२ गृद्धया—'सुष्ठु रोच्यमिदमिष्ट मे यद्यन्यदपि लभेय तदा भद्रकं भवेत्' इत्याहारेऽतिलाम्पट्येन । निन्दया—विरूपकमेतदनिष्ट ममेति जुगुप्सया । उष्णहिमादि—उष्ण शीतेन शीत चोष्णेन । आदिशब्दाद् रूक्षं स्निग्धेन स्निग्ध च रूक्षेणेत्यादि । तथा आयुर्वेदोक्तं क्षीराम्लाद्यपि । संयोज्य—आत्मना योजयित्वा । १५ उक्तं च—

'उक्त सयोजनादोष. स्वय भक्तादियोजनात् ।
आहारोऽतिप्रमाणोऽस्ति प्रमाणगतदूषणम् ॥' [ ] ॥३७॥

मिश्र दोषको कहते हैं—

अप्रासुक मिट्टी, जल, जौ-गेहूँ आदि बीज, हरित पत्र-पुष्प-फल आदिसे तथा जीवित दो इन्द्रिय आदि जीवोंसे मिश्रित जो आहार साधुको दिया जाता है वह मिश्र नामक महादोष है ॥३६॥

इस प्रकार भोजन सम्बन्धी दोषोंको बतलाकर भुक्ति सम्बन्धी चार दोषोंका कथन करनेकी इच्छासे पहले अंगार आदि तीन दोषोंको कहते हैं—

'यह भोज्य बडा स्वादिष्ट है, मुझे रुचिकर है, यदि कुछ और भी मिले तो बड़ा अच्छा हो' इस प्रकार आहारमें अति लम्पटतासे भोजन करनेवाले साधुके अंगार नामक भुक्ति दोष होता है। 'यह भोज्य बडा खराब है, मुझे बिलकुल अच्छा नहीं लगता', इस प्रकार ग्लानिपूर्वक भोजन करनेवाले साधुके धूम नामक भुक्ति दोष होता है। परस्परमें विरुद्ध उष्ण, शीत, स्निग्ध, रूक्ष आदि पदार्थोंको मिलाकर भोजन करनेसे संयोजना नामक भुक्ति दोष होता है ॥३७॥

विशेषार्थ—सुस्वादु आहारको अतिगृद्धिके साथ खानेको अंगार दोष और विरूप आहारको अरुचिपूर्वक खानेको धूम दोष कहा है। इन दोषोंको अंगार और धूम नाम क्यों दिये गये, इसका स्पष्टीकरण पिण्डनिर्युक्तिमें बहुत सुन्दर किया है। लिखा है—जो ईंधन जलते हुए अंगारदशाको प्राप्त नहीं होता वह धूम सहित होता है और वही ईंधन जलनेपर अंगार हो जाता है। इसी तरह यहाँ भी चारित्ररूपी ईंधन रागरूपी अग्निसे जलनेपर अंगार कहा जाता है। और द्वेषरूपी अग्निसे जलता हुआ चारित्ररूपी ईंधन धूम सहित

अथाहारमात्रा निर्दिश्यातिमात्रसञ्ज्ञदोषमाह—

सव्यञ्जनाशनेन द्वौ पानेनैकमशमुदरस्य।
भृत्वाऽभृतस्तुरीयो मात्रा तदतिक्रम प्रमाणमल ॥३८॥ 3

व्यञ्जनं—सूपशालनादि। तुरीय[1]—चतुर्थं कुक्षिभाग ।

उक्त च—

'अन्नेन कुक्षेर्द्वाविशौ पानेनैक प्रपूरयेत्।
आश्रेयं पवनादीना चतुर्थमवशेषयेत् ॥' [ ] ६

दोपत्व चात्र स्वाध्यायावश्यकक्षति-निद्रालस्याद्युद्भवज्वरादिव्याधिसंभवदर्शनात् ॥३८॥

होता है। इसी तरह—[2]रागरूपी अग्निसे जलता हुआ साधु प्रासुक भी आहारको खाकर चारित्ररूप ईंधनको शीघ्र ही जले हुए अंगारके समान करता है और द्वेपरूप अग्निसे जलता हुआ साधु अप्रीतिरूपी धूमसे युक्त चारित्ररूपी ईंधनको तबतक जलाता है जबतक वह अंगारके समान नहीं होता। अत रागसे ग्रस्त मुनिका भोजन अंगार है क्योंकि वह चारित्र-रूपी ईंधनके लिए अंगार तुल्य है। और द्वेपसे युक्त साधुका भोजन सधूम है, क्योंकि वह भोजनके प्रति निन्दात्मक कलुपभावरूप धूमसे मिश्रित है ॥३७॥

आगे आहारके परिमाणका निर्देश करके अतिमात्र नामक दोपको कहते हैं—

साधुको उदरके दो भाग दाल शाक सहित भात आदिसे भरना चाहिए और उदरका एक भाग जल आदि पेयसे भरना चाहिए। तथा चौथा भाग खाली रखना चाहिए। इसका उल्लंघन करनेपर प्रमाण नामक दोप होता है ॥३८॥

विशेपार्थ—आगममें भोजनकी मात्रा इस प्रकार[3] कही है—पुरुपके आहारका प्रमाण बत्तीस ग्रास है और स्त्रीके आहारका प्रमाण अट्ठाईस ग्रास है। इतनेसे उनका पेट भर जाता है। इससे अधिक आहार करनेपर प्रमाण नामक दोप होता है। पिण्डनिर्युक्तिमें उदरके छह भाग किये हैं। उसका आधा अर्थात् तीन भाग उदर तो व्यंजन सहित अन्नसे भरना चाहिए। दो भाग पानीसे और छठा भाग वायुके संचारके लिए खाली रखना चाहिए। ऊपर उदरके चार भाग करके एक चतुर्थांश उदरको खाली रखनेका विधान किया है। कालकी अपेक्षा इसमे परिवर्तन करनेका विधान पिण्डनिर्युक्तिमे है। तीन काल हैं—शीत, उष्ण और साधारण। अति शीतकालमे पानीका एक भाग और भोजनके चार भाग कल्पनीय हैं। मध्यम शीत-कालमें पानीके दो भाग और तीन भाग भोजन ग्राह्य है। मध्यम उष्ण कालमें भी दो भाग पानी और तीन भाग भोजन कल्पनीय है। अति उष्ण कालमे तीन भाग पानी और दो भाग भोजन ग्राह्य है। सर्वत्र छठा भाग वायु संचारके लिए रखना उचित है ॥३८॥

---

१. आश्रम भ कु. च ।

२ रागग्गिसपलित्तो भुजतो फासुय पि आहार।
निद्दड्ढंगालनिभ करेइ चरणिधण खिप्प ॥
दोसग्गिवि जलतो अप्पत्तिय धूमधूमिय चरण।
अगारमित्त सरिस जा न हवइ निद्दही ताव ॥—पिण्डनि. ६५७-६५८।

३. वत्तीस किर कवला आहारो कुक्खिपूरणो होई।
पुरिसस्स महिलियाए अट्ठावीस हवे कवला ॥—भग. आ. २१२ गा, पिण्ड नि, गा ६४२।

अथ चतुर्दशमलानाह—

पूयास्रपलास्थ्यजिनं नखः कचमृतविकलत्रिके कन्दः ।
बीजं मूलफले कणकुण्डौ च मलाश्चतुर्दशान्नगताः ॥३९॥

पूयं—व्रणक्लेदः । मृतविकलत्रिकं—निर्जीवद्वित्रिचतुरिन्द्रियत्रयम् । बीजं—प्ररोहयोग्य यवादिकमिति टीकायाम्, अङ्कुरितमिति टिप्पणके । कणः—यवगोधूमादीना वहिरवयव इति टीकायाम्, तण्डुलादीनि टिप्पणके । कुण्ड'—शाल्यादीनामभ्यन्तरसूक्ष्मावयवा इति टीकायाम्, वाह्ये पक्वोऽभ्यन्तरे चापक्व इति टिप्पणके । एते चाष्टविधपिण्डशुद्धावपठिता इति पृथगुक्ता' । उक्तं च—

'णह-रोम-जंतु अट्ठी-कण-कुडय-पूय-चम्म-रुहिर-मंसाणि ।
बीय-फल-कंद-मूला छिण्णाणि मला चउदसा हुंति ॥' [मूलाचार ६।६४] ॥३९॥

अथ पूयादिमलाना महन्मध्याल्पदोषत्वख्यापनार्थमाह—

पूयादिदोषे त्यक्त्वापि तदन्नं विधिवच्चरेत् ।
प्रायश्चित्तं नखे किंचित् केशादौ त्वन्नमुत्सृजेत् ॥४०॥

त्यक्त्वापीत्यादि । महादोषत्वादित्यत्र हेतु' । किंचित्—त्यक्त्वाप्यन्न प्रायश्चित्त किंचिदल्प कुर्यान्मध्यमदोषत्वादित्यर्थ । अन्नमुत्सृजेत्—न प्रायश्चित्तं चरेदल्पदोषत्वात् ॥४०॥

अथ कन्दादिषट्कस्याहारात् पृथक्करणतत्त्यागकरणत्वविधिमाह—

कन्दादिषट्कं त्यागार्हमित्यन्नाद्विभजेन्मुनिः ।
न शक्यते विभक्तुं चेत् त्यज्यतां तर्हि भोजनम् ॥४१॥

त्यागार्हं—परिहारयोग्यम् । विभजेत्—कथमप्यन्ते संसक्त ततः पृथक्कुर्यात् ॥४१॥

इस प्रकार छियालीस पिण्ड दोषोंको कहकर उसके चौदह मलोंको बतलाते हैं—

पीव, रुधिर, मांस, हड्डी, चर्म, नख, केश, मरे हुए विकलत्रय—दोइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौइन्द्रिय, कन्द, सूरण आदि, बीज—उगने योग्य जौ वगैरह या अंकुरित जौ वगैरह, मूली-आदी वगैरह, फल—बेर वगैरह, कण—गेहूँ वगैरहका बाह्य भाग या चावल वगैरह, कुण्ड—धान वगैरहका आभ्यन्तर सूक्ष्म अवयव, ये चौदह आहार सम्बन्धी मल हैं ॥३९॥

विशेषार्थ—भोजनके समय इनमें-से कुछ वस्तुओंका दर्शन या स्पर्शन होनेपर कुछके भोजनमें आ जानेपर आहार छोड़ दिया जाता है। आठ प्रकारकी पिण्ड शुद्धिमें इनका कथन न होनेसे अलगसे इनका कथन किया है।

पीव आदि मलोंमें महान्, मध्यम और अल्प दोष बतलाते हैं—

यदि खाया जानेवाला भोजन पीव, रुधिर, मांस, हड्डी और चर्मसे दूषित हुआ है तो यह महादोष है। अतः उस भोजनको छोड़ देनेपर भी प्रायश्चित्त शास्त्रमें कहे गये विधानके अनुसार प्रायश्चित्त लेना चाहिए। तथा नख दोषसे दूषित भोजनको त्याग देनेपर भी थोड़ा प्रायश्चित्त करना चाहिए। यह मध्यम दोष है। यदि भोजनमें केश या मरे हुए विकलेन्द्रिय जीव हों तो भोजन छोड़ देना चाहिए, प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि यह अल्प दोष है ॥४०॥

कन्द आदि छह दोषोंको आहारसे अलग करनेकी या भोजनको ही त्यागनेकी विधि कहते हैं—

कन्द, मूल, फल, बीज, कण और कुण्ड ये छह त्याज्य हैं तथा इन्हें भोजनसे अलग

अथ द्वात्रिंशतमन्तरायान् व्याख्यातुमुपक्षिपति—

प्रायोऽन्तरायाः काकाद्याः सिद्धभक्तेरनन्तरम् ।
द्वात्रिंशद्व्याकृताः प्राच्यैः प्रामाण्या व्यवहारत ॥४२॥ ३

प्राय॰। एतेनाभोज्यगृहप्रवेशादे सिद्धभक्ते. प्रागप्यन्तरायत्व भवतीति बोधयति । तथा द्वात्रिंशतोऽतिरिक्ता अप्यन्तराया यथाम्नाय भवन्तीति च । व्याकृता —व्याख्याता न सूत्रिता । प्राच्यै.—टीकाकारादिभि. । उक्त च मूलाचारटीकाया (गा ३४) स्थितिभोजनप्रकरणे— ६

'न चैतेऽन्तराया सिद्धभक्तावकृताया गृह्यन्ते सर्वदैव भोजनाभाव स्यात् । न चैव, यस्मात् सिद्धभक्ति यावन्न करोति तावदुपविश्य पुनरुत्थाय भुक्ते । मासादीन् दृष्ट्वा च रोदनादिश्रवणेन च उच्चारादींश्च कृत्वा भुंक्ते । न च तत्र काकादिपिण्डहरण सभवति' ॥४२॥ ९

अथ काकाख्यलक्षणमाह—

काकश्वादिविडुत्सर्गो भोक्तुमन्यत्र यात्यघ' ।
यतौ स्थिते वा काकाख्यो भोजनत्यागकारणम् ॥४३॥ १२

काकेत्यादि। काकश्येन-शुनक-मार्जारादिविष्टापरिपतनमित्यर्थ ॥४३॥

किया जा सकता है। अतः मुनि इन्हें भोजनसे अलग कर दे। यदि इन्हें भोजनसे अलग करना शक्य न हो तो भोजन ही त्याग देना चाहिए ॥४१॥

बत्तीस अन्तरायोंको कहते हैं—

पूर्व टीकाकारोंने प्रायः सिद्धभक्तिके पश्चात् काक आदि बत्तीस अन्तरायोंका व्याख्यान किया है। अतः मुनियोंको वृद्ध परम्परासे आगत देश आदिके व्यवहारको लेकर उन्हें प्रमाण मानना चाहिए ॥४२॥

विशेषार्थ—ग्रन्थकार कहते हैं कि भोजनके अन्तरायोंका कथन मूल ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता। टीकाकार वगैरहने उनका कथन किया है। तथा ये अन्तराय सिद्ध भक्ति करनेके बाद ही माने जाते हैं। मूलाचारकी टीकामे (गा. ३४) स्थिति भोजन प्रकरणमे कहा है—ये अन्तराय सिद्ध भक्ति यदि न की हो तो मान्य नहीं होते। यदि ऐसा हो तो सर्वदा ही भोजनका अभाव हो जायेगा। किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि जबतक साधु सिद्ध भक्ति नही करता तब तक बैठकर और पुनः खड़े होकर भोजन कर सकता है। मांस आदिको देखकर, रोनेके शब्दको सुनकर तथा मल-मूत्र आदिका त्याग करके भोजन करता है। 'प्रायः' कहनेसे कोई-कोई अन्तराय सिद्ध भक्ति करनेसे पहले भी होते है यह सूचित होता है। जैसे 'अभोज्य गृहप्रवेश' अर्थात् ऐसे घरमे प्रवेश जिसका भोजन ग्राह्य नहीं है। यह भी एक अन्तराय माना गया है। यद्यपि मूलाचारके पिण्डशुद्धि नामक अध्यायमे अन्तरायोंका कथन है फिर भी पं आशाधरजीका यह कहना कि अन्तरायोंका कथन टीकाकार आदिने किया है, 'व्याकृता —व्याख्याता, न सूत्रिता'। सूत्र ग्रन्थोंमे सूत्रित नही है, चिन्तनीय है कि उनके इस कथनका वास्तविक अभिप्राय क्या है? वैसे श्वेताम्बरीय पिण्डनिर्युक्तिमे, जिसे भद्रबाहु कृत माना जाता है, अन्तरायोंका कथन नहीं है ॥४२॥

काक नामक अन्तरायका लक्षण कहते हैं—

किसी कारणसे सिद्ध भक्ति करनेके स्थानसे भोजन करनेके लिए साधुके अन्यत्र जाने अथवा भोजनके लिए खड़े होनेपर यदि काक, कुत्ता, बिल्ली आदि टट्टी कर दे तो काक नामक अन्तराय होता है और वह भोजनके त्यागका कारण होता है ॥४३॥

अथामेध्यछर्दिरोधननाम्नस्त्रीनाह[1]—

लेपोऽमेध्येन पादादेरमेध्यं छर्दिरात्मना ।
३ छर्दनं रोधनं तु स्यान्मा भुङ्क्ष्वेति निषेधनम् ॥४४॥

अमेध्येन—अशुचिना । पादादे —चरणजङ्घाकार्चा[2]दिकस्य । निषेधन—धरणकादिना भोजन-निवारणम् ॥४४॥

६ अथ रुधिराश्रुपातजान्वधःपरामर्शाख्यास्त्रीन् श्लोकद्वयेनाह—

रुधिरं स्वान्यदेहाभ्यां वहतश्चतुरङ्गुलम् ।
उपलम्भोऽस्रपूयादेरश्रुपात शुचात्मनः ॥४५॥
९ पातोऽश्रूणा मृतेऽन्यस्य क्वापि वाक्रन्दत श्रुतिः ।
स्याज्जान्वधः परामर्शः स्पर्शो हस्तेन जान्वध ॥४६॥

उपलम्भ —दर्शनम् । शुचा—शोकेन च धूमादिना ॥४५॥

१२ अन्यस्य—अन्यसन्निकृष्टस्य ॥४६॥

अथ जानूपरिव्यतिक्रम-नाभ्यधोनिर्गमन-प्रत्याख्यातसेवन-जन्तुवध-नाम्नश्चतुर श्लोकद्वयेनाह—

जानुदघ्नतिरश्चीन-काष्ठाद्युपरिलङ्घनम् ।
१५ जानुव्यतिक्रम कृत्वा निर्गमो नाभ्यधः शिर. ॥४७॥
नाभ्यधो निर्गमः प्रत्याख्यातसेवोज्झिताशनम् ।
स्वस्याग्रेऽन्येन पञ्चाक्षघातो जन्तुवधो भवेत् ॥४८॥

आगे अमेध्य, छर्दि और अन्तराय नामक तीन अन्तरायोको कहते है—

मार्गमे जाते हुए साधुके पैर आदिमे विष्टा आदिके लग जानेसे अमेध्य नामका अन्तराय होता है। किसी कारणसे साधुको वमन हो जाये तो छर्दि नामका अन्तराय होता है। आज भोजन मत करो इस प्रकार किसीके रोकनेपर रोधन नामका अन्तराय होता है। अन्तराय होनेपर भोजन त्याग देना होता है ॥४४॥

रुधिर, अश्रुपात और जानु अध परामर्श इन तीन अन्तरायोको कहते है—

अपने या दूसरेके शरीरसे चार अगुल या उससे अधिक तक वहता हुआ रुधिर, पीव आदि देखनेपर साधुको रुधिर नामक अन्तराय होता है। यदि रुधिरादि चार अगुलसे कम वहता हो तो उसका देखना अन्तराय नहीं है। शोकसे अपने आँसू गिरनेसे या किसी सम्वन्धीके मर जानेपर ऊँचे स्वरसे विलाप करते हुए किसी निकटवर्ती पुरुप या स्त्रीको सुननेपर भी अश्रुपात नामक अन्तराय होता है। यदि आँसू धुएँ आदिसे गिरे हो तो वह अश्रुपात अन्तराय नहीं है। सिद्ध भक्ति करनेके पश्चात् यदि साधुके हाथसे अपने घुटनेके नीचेके भागका स्पर्श हो जाये तो जानु अध.स्पर्श नामक अतीचार होता है ॥४५-४६॥

जानूपरिव्यतिक्रम, नाभिअधोनिर्गमन, प्रत्याख्यातसेवन और जन्तुवध नामक चार अतीचारोंको दो श्लोकोसे कहते है—

घुटने तक ऊँचे तथा मार्गावरोधके रूपमे तिरछे रूपसे स्थापित लकडी, पत्थर आदिके ऊपरसे लाँघकर जानेपर जानुव्यतिक्रम नामक अतीचार होता है। नाभिसे नीचे तक सिरको

---

१ स्त्रीनन्तरायानाह भ कु. च ।
२. ङ्घाजान्वादे. भ कु. च. ।

तिरश्चीनं—तिर्यक् स्थापितम् । जानूव्यतिक्रम.—जानूपरिव्यतिक्रमाख्य. ॥४७॥

उज्भिताशन—नियमितवस्तुसेवनम् ॥४८॥

अथ काकादिपिण्डहरण पाणिपिण्डपतन पाणिजन्तुवध मासादिदर्शनमुपसर्गं पाद्यन्तर पञ्चेन्द्रिय-गमनञ्च षट् त्रिभि श्लोकैराह— ३

> काकादिपिण्डहरणं काकगृद्ध्रादिना करात् ।
> पिण्डस्य हरणे ग्रासमात्रपातेऽश्नतः करात् ॥४९॥ ६
> स्यात्पाणिपिण्डपतनं पाणिजन्तुवध. करे ।
> स्वयमेत्य मृते जीवे मासमद्यादिदर्शने ॥५०॥
> मासादिदर्शनं देवाद्युपसर्गे तदाह्वयः ।
> पादान्तरेण पञ्चाक्षगमे तन्नामकोऽश्नतः ॥५१॥ ९

स्पष्टानि ॥५१॥

अथ भाजनसपातमुच्चार च द्वावाह— १२

> भूमौ भाजनसंपाते पारिवेषिकहस्ततः ।
> तदाख्यो विघ्न उच्चारो विष्टाया. स्वस्य निर्गमे ॥५२॥

स्पष्टम् ॥५२॥ १५

अथ प्रस्रवणमभोज्यगृहप्रवेशन च द्वावाह—

नचाकर जानेपर साधुको नाभिअधोनिर्गम नामक अतीचार होता है। यदि साधु देव-गुरुकी साक्षी पूर्वक छोडी हुई वस्तुको खा लेता है तो प्रत्याख्यात सेवा नामक अन्तराय होता है। यदि साधुके सामने विलाव वगैरह पंचेन्द्रिय चूहे आदिकी हत्या कर देता है तो जन्तुवध नामक अन्तराय होता है ॥४७-४८॥

काकादि पिण्डहरण, पाणिपिण्डपतन, पाणिजन्तुवध, मासादि दर्शन, उपसर्ग और पादान्तर पंचेद्रिय गमन नामक छह अतीचारोंको तीन श्लोकोसे कहते है—

भोजन करते हुए साधुके हाथसे यदि कौआ, गृद्ध वगैरह भोजन छीन ले जाये तो काकादि पिण्डहरण नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके हाथसे यदि ग्रास मात्र गिर जाये तो पाणिपिण्डपतन नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके हाथमे यदि कोई जीव आकर मर जावे तो पाणिजन्तुवध नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुको यदि मद्य, मास आदिका दर्शन हो जाये तो मांसादि दर्शन नामक अन्तराय होता है। साधुके ऊपर देव, मनुष्य, तिर्यंचमे-से किसीके भी द्वारा उपसर्ग होनेपर उपसर्ग नामक अन्तराय होता है। भोजन करते हुए साधुके दोनो पैरोके मध्यसे यदि कोई पंचेन्द्रिय जीव गमन करे तो पादान्तर पचेन्द्रियगमन नामक अन्तराय होता है ॥४९-५१॥

भाजनसंपात और उच्चार नामक दो अन्तरायोंको कहते है—

साधुके हस्तपुटमे जल आदि देनेवालेके हाथसे भूमिपर पात्रके गिरनेपर भाजन-सपात नामक अन्तराय होता है। तथा साधुके गुदाद्वारसे विष्टा निकल जानेपर उच्चार नामक अन्तराय होता है ॥५२॥

प्रस्रवण और अभोज्य गृहप्रवेश नामक अन्तरायोंको कहते है—

मूत्राख्यो मूत्रशुक्रादेश्चाण्डालादिनिकेतने।
प्रवेशो भ्रमतो भिक्षोरभोज्यगृहवेशनम् ॥५३॥

३ शुक्रादे.—आदिशब्दादश्मर्यादिश्च। स्वस्य निर्गम इति वर्तते ॥५३॥

अथ पतनमुपवेशन संदशं च त्रीनाह—

भूमौ मूर्छादिना पाते पतनाख्यो निषद्यया।
६ उपवेशनसंज्ञोऽसौ संदंश. श्वादिदंशने ॥५४॥

स्पष्टम् ॥५४॥

अथ भूमिसंस्पर्शं निष्ठीवनमुदरक्रमिनिर्गमनमदत्तग्रहण च चतुरो द्वाभ्यामाह—

९ भूस्पर्शः पाणिना भूमे स्पर्शे निष्ठीवनाह्वयः।
स्वेन क्षेपे कफादे. स्यादुदरक्रिमिनिर्गम. ॥५५॥
उभयद्वारतः कुक्षिक्रिमिनिर्गमने सति।
१२ स्वयमेव ग्रहेऽन्नादेरदत्तग्रहणाह्वयः ॥५६॥

स्वेन—आत्मना न काशादिवशत ॥५५॥ उभयद्वारत —गुदेन मुखेन वा ॥५६॥

अथ प्रहारं ग्रामदाह पादग्रहणं करग्रहण च चतुरो द्वाभ्यामाह—

१५ प्रहारोऽस्यादिना स्वस्य प्रहारे निकटस्य वा।
ग्रामदाहोऽग्निना दाहे ग्रामस्योद्धृत्य कस्यचित् ॥५७॥
पादेन ग्रहणे पादग्रहणं पाणिना पुन ।
१८ हस्तग्रहणमादाने भुक्तिविघ्नोऽन्तिमो मुने. ॥५८॥

उद्धृत्य—भूमेरुत्क्षिप्य ॥५७॥ अन्तिम —द्वात्रिंश ।

यदि साधुके मूत्र, वीय आदि निकल जाये तो मूत्र या प्रस्रवण नामक अतीचार होता है। भिक्षाके लिए घूमता हुआ साधु चाण्डाल आदिके घरमें यदि प्रवेश कर जाये तो अभोज्य गृहप्रवेश नामक अन्तराय होता है ॥५३॥

पतन, उपवेशन और संदंश नामक अन्तरायोंको कहते है—

मूर्छा, चक्कर, थकान आदिके कारण साधुके भूमिपर गिर जानेपर पतन नामक अन्तराय होता है। भूमिपर बैठ जानेपर उपवेशन नामक अन्तराय होता है। और कुत्ता आदिके काटनेपर संदंश नामक अन्तराय होता है ॥५४॥

भूमिसंस्पर्श, निष्ठीवन, उदरक्रमिनिर्गमन और अदत्त ग्रहण नामक चार अन्तरायोंको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

साधुके हाथसे भूमिका स्पर्श हो जानेपर भूमिस्पर्श नामक अन्तराय होता है। खाँसी आदिके बिना स्वयं कफ, थूक आदि फेंकनेपर निष्ठीवन नामक अन्तराय होता है। मुख या गुदामार्गसे पेटसे कीड़े निकलनेपर उदरक्रमिनिर्गमन नामक अन्तराय होता है। दाताके दिये बिना स्वयं ही भोजन, औषधि आदि ग्रहण करनेपर अदत्त ग्रहण नामक अन्तराय होता है ॥५५-५६॥

प्रहार, ग्रामदाह, पादग्रहण और करग्रहण नामक चार अन्तरायोंको दो श्लोकोंसे कहते हैं—

स्वयं मुनिपर या निकटवर्ती किसी व्यक्तिपर तलवार आदिके द्वारा प्रहार होनेपर प्रहार नामक अन्तराय होता है। जिस ग्राममे मुनिका निवास हो उस ग्रामके आगसे जल

अथ सुखस्मृत्यर्थमुद्देशगाथा लिख्यन्ते—

'कागा मिज्झा छद्दी रोधण रुधिरं च अंसुवादं च ।
जण्हूहेट्ठामरिसं जण्हुवरि वदिक्कमो चेव ॥ ३
णाहिअहोणिग्गमण पच्चक्खिदसेवणाय जतुवहो ।
कागादिपिण्डहरणं पाणीदो पिण्डपडणं च ॥
पाणीए जंतुवहो मासादीदंसणेय उवसग्गो । ६
पादंतेर पंचिंदियसपादो भापणाण च ॥
उच्चारं पस्सवणमभोज्जगिह पवेसण तहा पडण ।
उपवेसण सदंसो भूमीसफास-णिट्ठवणं ॥ ९
उदरक्किमिणिग्गमणं अदत्तगहण पहार गामदाहो य ।
पादेण किंचिगहण करेण वा ज च भूमीदो ॥
एदे अण्णे वहुगा कारणभूदा अभोजणस्सेह । १२
वीहण लोगदुगछण संजमणिव्वेदणट्ठ च ॥'

[मूलाचार, गा ४९५–५००] ॥५८॥

अथार्याद्वयेन शेष सगृह्णन्नाह— १५

तद्वच्चाण्डालादिस्पर्शः कलह प्रियप्रधानमृती ।
भीतिर्लोकजुगुप्सा सधर्मसन्यासपतनं च ॥५९॥ १८
सहसोपद्रवभवनं स्वभुक्तिभवने स्वमौनभङ्गश्च ।
संयमनिर्वेदावपि बहवोऽनशनस्य हेतवोऽन्येऽपि ॥६०॥

भीति[1]—यत्किंचिद्भय पापभय वा ॥५९॥ अनशनस्य—भोजनवर्जनस्य ॥६०॥ २१

जानेपर ग्रामदाह नामक भोजनका अन्तराय होता है। मुनिके द्वारा भूमिपर पड़े रत्न, सुवर्ण आदिको पैरसे ग्रहण करनेपर पादग्रहण नामक अन्तराय होता है। तथा हाथसे ग्रहण करनेपर हस्तग्रहण नामक बत्तीसवाँ भोजनका अन्तराय होता है। इन अन्तरायोंके होनेपर मुनि भोजन ग्रहण नहीं करते ॥५७-५८॥

इस प्रकार भोजनके बत्तीस अन्तरायोंको कहकर दो पद्योंसे शेष अन्तरायोंका भी ग्रहण करते हैं—

काकादि नामक बत्तीस अन्तरायोंकी तरह चाण्डाल आदिका स्पर्श, लड़ाई-झगड़ा, प्रिय व्यक्तिकी मृत्यु या किसी प्रधान व्यक्तिकी मृत्यु, कोई भय या पापभय, लोकनिन्दा, साधर्मीका संन्यासपूर्वक मरण, अपने भोजन करनेके मकानमें अचानक किसी उपद्रवका होना, भोजन करते समय अवश्य करणीय मौनका भंग, प्राणिरक्षा और इन्द्रिय दमनके लिए संयम पालन तथा संसार शरीर और भोगोंसे विरक्ति इसी तरह अन्य बहुत-से कारण भोजन न करनेके होते हैं। अर्थात् यदि राजभय या लोकनिन्दा होती हो तो भी साधु भोजन नहीं करते। इसी तरह अपने संयमकी वृद्धि और वैराग्य भावके कारण भी भोजन छोड़ देते है ॥५९-६०॥

इस प्रकार अन्तरायका प्रकरण समाप्त होता है।

---

१ रम्मि जीवो स—मूलाचार ।

अथाहारकरणकारणान्याह—

क्षुच्छमं संयमं स्वान्यवैयावृत्यमसुस्थितिम् ।
वाञ्छन्नावश्यकं ज्ञानध्यानादींश्चाहरेन्मुनिः ॥६१॥ ३

क्षुच्छमं—क्षुद्वेदनोपशमम् । ज्ञानं—स्वाध्यायः । आदिशब्देन क्षमादयो गृह्यन्ते । उक्तं च—

'वेयणवेज्जावच्चे किरियुट्ठाए य संजमट्ठाए ।
तवपाणधम्मचिंता कुज्जा एदेहिं आहारं ॥' [मूला ४७९] ॥६१॥ ६

अथ दयाक्षमादयो बुभुक्षार्तस्य न स्युरित्युपदिशति—

बुभुक्षाग्लपिताक्षाणां प्राणिरक्षा कुतस्तनी ।
क्षमादयः क्षुधार्तानां शङ्क्याश्चापि तपस्विनाम् ॥६२॥ ९

स्पष्टम् ॥६२॥

अथ क्षुधाग्लानेन वैयावृत्यं दुष्करमाहारत्राणाश्च प्राणा योगिनामपीत्युपदिशति—

मुनिके आहार करनेके कारण बतलाते हैं—

भूखकी वेदनाका शमन करनेके लिए, संयमकी सिद्धिके लिए, अपनी तथा दूसरोंकी सेवाके लिए, प्राण धारणके लिए तथा मुनिके छह आवश्यक कर्तव्य, ज्ञान, ध्यान आदिके लिए मुनिको आहार करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—मुनिके भोजनके छियालीस दोष सोलह अन्तराय आदि बतलानेसे भोजन-कीट मनुष्योंको ऐसा लग सकता है कि इतने प्रतिबन्ध क्यों लगाये गये हैं। इनके लिए ही यह बतलाया है कि साधुके भोजन करनेके उद्देश क्या हैं। वे जिह्वा या अन्य इन्द्रियोंकी तृप्ति और शरीरकी पुष्टिके लिए भोजन नहीं करते, किन्तु संयम-ज्ञान-ध्यानकी सिद्धिके लिए भोजन करते हैं। इन सबकी सिद्धि शरीरके बिना सम्भव नहीं होती और शरीर भोजनके बिना ठहर नहीं सकता। अतः शरीरको बनाये रखनेके लिए भोजन करते हैं। यदि शरीर अत्यन्त दुर्बल हो तो साधु अपना कर्तव्य कर्म भी नहीं कर सकता। और यदि शरीर अत्यन्त पुष्ट हो तो भी धर्मका साधन सम्भव नहीं है। मूलाचारमें कहा भी है—'मेरे शरीरमें युद्धादि करनेकी क्षमता प्राप्त हो इसलिए साधु भोजन नहीं करते, न आयु बढानेके लिए, न स्वादके लिए, न शरीरकी पुष्टिके लिए, न शरीरकी चमक-दमकके लिए भोजन करते हैं। किन्तु ज्ञानके लिए, संयमके लिए और ध्यानके लिए ही भोजन करते हैं। यदि भोजन ही न करे तो ज्ञान-ध्यान नहीं हो सकता।

आगे कहते हैं कि भूखसे पीडित मनुष्यके दया-क्षमा आदि नहीं होतीं—

जिनकी इन्द्रियाँ भूखसे शक्तिहीन हो गयी हैं वे अन्य प्राणियोंकी रक्षा कैसे कर सकते हैं? जो तपस्वी भूखसे पीडित हैं उनके भी क्षमा आदि गुण शंकास्पद ही रहते हैं अर्थात् उनकी क्षमाशीलतामें भी सन्देह ही है। इसलिए क्षमाको वीरका भूषण कहा है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि भूखसे पीडित व्यक्तिके द्वारा वैयावृत्य दुष्कर है—और योगियोंके भी प्राण आहारके बिना नहीं बचते—

---

१ 'ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्सुवचयट्ठ तेजट्ठं ।
णाणट्ठ संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजेज्जो' ॥—मूलाचार ६।६२ ।

क्षुत्पीतवीर्येण परः स्ववदार्तो दुरुद्धरः ।
प्राणाश्चाहारशरणा योगकाष्ठाजुषामपि ॥६३॥

पीतं—नाशितम् ॥६३॥ ३

अथ भोजनत्यजननिमित्तान्याह—

आतङ्क उपसर्गे ब्रह्मचर्यस्य गुप्तये ।
कायकार्श्यतपःप्राणिदयाद्यर्थञ्च नाहरेत् ॥६४॥ ६

आतङ्के—आकस्मिकोत्थितव्याधौ मारणान्तिकपीडायाम् । गुप्तये—सुष्टु निर्मलीकरणार्थम् । दयाद्यर्थं—आदिशब्देन श्रामण्यानुवृत्ति-समाधिमरणादिपरिग्रहः ॥६४॥

अथ स्वास्थ्यार्थं सर्वैषणादिभिः समीक्ष्य वृत्तिं कल्पयेदित्युपदिशति— ९

द्रव्यं क्षेत्रं बलं कालं भावं वीर्यं समीक्ष्य च ।
स्वास्थ्याय वर्ततां सर्वविद्धशुद्धाशनैः सुधीः ॥६५॥

द्रव्यं—आहारादि । क्षेत्रं—भूम्येकदेशो जाङ्गलादि । तल्लक्षणं यथा— १२

'देशोऽल्पवारिद्रुनगो जाङ्गलः स्वल्परोगदः ।
अनूपो विपरीतोऽस्मात् समः साधारणः स्मृतः ॥
जाङ्गलं वातभूयिष्ठमनूपं तु कफोल्वणम् । १५
साधारणं सममलं त्रिधा भूदेशमादिशेत् ॥' [ ]

जिस मनुष्यकी शक्ति भूखसे नष्ट हो गयी है वह अपनी तरह दुःखसे पीड़ित दूसरे मनुष्यका उद्धार नहीं कर सकता। जो योगी योगके आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधिकी चरम सीमापर पहुँच गये हैं उनके भी प्राणोंका शरण आहार ही है। वे भी आहारके बिना जीवित नहीं रहते, फिर योगाभ्यासियोंका तो कहना ही क्या है ? ॥६३॥

भोजन छोड़नेके निमित्तोंको दिखाते हैं—

अचानक कोई मारणान्तिक पीडा होनेपर, देव आदिके द्वारा उपसर्ग किये जानेपर, ब्रह्मचर्यको निर्मल करनेके लिए, शरीरको कृश करनेके लिए, तपके लिए और प्राणियोंपर दया तथा समाधिमरण आदिके लिए साधुको भोजन नहीं करना चाहिए ॥६४॥

आगे स्वास्थ्यके लिए विचारपूर्वक सर्वैषणा आदिके द्वारा भोजन करनेका उपदेश देते हैं—

विचारपूर्वक कार्य करनेवाले साधुको द्रव्य, क्षेत्र, अपनी शारीरिक शक्ति, हेमन्त आदि छह ऋतु, भाव और स्वाभाविक शक्तिका अच्छी तरह विचार करके स्वास्थ्यके लिए सर्वाशन, विद्धाशन और शुद्धाशनके द्वारा भोजन ग्रहण करना चाहिए ॥६५॥

विशेषार्थ—साधुको द्रव्य आदिका विचार करके आहार ग्रहण करना चाहिए। द्रव्यसे मतलब आहारादिसे है। जो आहार साधुचर्याके योग्य हो वही ग्राह्य होता है। भूमिप्रदेशको क्षेत्र कहते हैं। भोजन क्षेत्रके अनुसार होना चाहिए। उसका लक्षण इस प्रकार है—भूदेश अर्थात् क्षेत्र तीन प्रकारका होता है—जांगल, अनूप और साधारण। जहाँ पानी, पेड़ और पहाड़ कम हो उसे जांगल कहते हैं यह स्वल्प रोगकारक होता है। अनूप जांगलसे विपरीत होता है। और जहाँ जल आदि न अधिक हो न कम, उसे साधारण कहते हैं।

बलं—अन्नादिज स्वाङ्गसामर्थ्यम् । कालं—हेमन्तादिऋतुषट्कम् ।

तच्चर्या यथा—

३ 'शरद्वसन्तयो रूक्षं शीतं घर्मघनान्तयो. ।
अन्नपान समासेन विपरीतमतोऽन्यदा ॥' [अष्टागहृदय ३।५७]

तथा—

६ 'शीते वर्षासु चाद्यांस्त्रीन् वसन्तेऽन्त्यान् रसान् भजेत् ।
स्वादुं निदाघे शरदि स्वादुतिक्तकषायकान् ॥' [अष्टागहृदय ३।५६]
'रसा स्वाद्वाम्ललवणतिक्तोषणकषायका. ।
९ षड्द्रव्यमाश्रितास्ते च यथापूर्वं बलावहा' ॥' [अष्टागहृदय १।१४]

भावं—श्रद्धोत्साहादिकम् । वीर्यं—सहनन नैसर्गिकशक्तिरित्यर्थ । स्वास्थ्याय—आरोग्यार्थं स्वात्मन्यवस्थानार्थं च । सर्वाशन—एषणासमितिशुद्ध भोजनम् । विद्धाशनं—गुड-तैल-घृत-दधि दुग्ध-शाल-
१२ नादिरहित सौवीरशुक्लतक्रादिसमन्वितम् । शुद्धाशनं—पाकादवतीर्णरूपं मनागप्यन्यथा न कृतम् । उक्त च—

'सव्वेसणं च विद्देसणं च सुद्धेसण च ते कमसो ।
एसण समिदिविसुद्धं णिव्वियडमवंजणं जाण ॥ [मूलाचार ६।७० गा]

१५ अत्र प्रत्येक चशब्दो असर्वैषणमविद्धैषणमशुद्धैषणं चेत्येवमर्थ । कदाचिद्धि तादृगपि योग्य कदाचिच्चायोग्यमिति टीकाव्याख्यानसंग्रहार्थं समीक्ष्य चेतयय चशब्द (–व्दार्थ) ॥६५॥

जांगलमे वातका आधिक्य रहता है, अनूप देशमें कफकी प्रधानता रहती है और साधारण प्रदेशमें तीनों ही सम रहते है। अतः भोजनमे क्षेत्रका भी विचार आवश्यक है।

कालसे मतलब छह ऋतुओंसे है। ऋतुचर्याका विधान इस प्रकार किया है—शरत् और वसन्त ऋतुमें रुक्ष तथा ग्रीष्म और वर्षा ऋतुमे शीत अन्नपान लेना चाहिए। अन्य ऋतुओमे इससे विपरीत अन्नपान लेना चाहिए। तथा मधुर, खट्टा, लवण, कटु, चरपरा, कसैला ये छह रस है जो द्रव्यके आश्रयसे रहते है। और उत्तरोत्तर कम-कम वलवर्धक हैं। अत. शीत और वर्षा ऋतुमे आदिके तीन रसोंका और वसन्त ऋतुमे अन्तके तीन रसोंका, ग्रीष्म ऋतुमे मधुरका और शरद् ऋतुमे मधुर, तिक्त और कषाय रसका सेवन करना चाहिए।

एषणा समितिसे शुद्ध भोजनको सर्वाशन कहते है। गुड़, तेल, घी, दही, दूध, सालन आदिसे रहित और काजी, शुद्ध तक्र आदिसे युक्त भोजनको विद्धाशन कहते है। जो पककर जैसा तैयार हुआ हो और किंचित् भी अन्य रूप न किया गया हो उस भोजनको शुद्धाशन कहते है। मूलाचारमे कहा भी है—'एषणा समितिसे विशुद्ध भोजन सर्वैषण है। निर्विकृत अर्थात् गुड, तेल, घी, दूध, दही, शाक आदि विकृतियोसे रहित और काजी-तक्र आदिसे युक्त भोजन विद्धाशन होता है। तथा काजी-तक्र आदिसे रहित, विना व्यंजनके पककर तैयार हुआ जैसाका तैसा भोजन शुद्धाशन है। ये तीनों ही प्रकारका भोजन खानेके योग्य है। जो भोजन सब रसोंसे युक्त है, सब व्यंजनोंसे सहित है वह कदाचित् योग्य और कदाचित् अयोग्य होता है।' यह मूलाचारकी संस्कृत टीकामे कहा है। उसीके आधारसे पं आशाधर जीने कहा है ॥६५॥

अथ विधिप्रयुक्तभोजनाच्च परोपकारं दर्शयन्नाह—

यत्प्रत्तं गृहिणात्मने कृतमपेतैकाक्षजीवं त्रसै-
निर्जीवैरपि वर्जितं तदशनाद्यात्मार्थसिद्ध्यै यतिः । ३
युञ्जन्नुद्धरति स्वमेव न परं किं तर्हि सम्यग्दृशं,
दातारं द्युशिवश्रिया च सचते भोगैश्च मिथ्यादृशम् ॥६६॥

प्रत्तं—प्रकर्षेण प्रतिग्रहादिनवपुण्यलक्षणेन दत्तम् । नवपुण्यानि यथा— ६

पडिगहमुच्चट्ठाण पादोदयमच्चणं च पणमं च ।
मण वयणकाय सुद्धी एसणसुद्धीय णवविह पुण्णं ॥ [वसु श्रा. २२४]

गृहिणा—नित्यनैमित्तिकानुष्ठानस्थेन गृहस्थेन ब्राह्मणाद्यन्यतमेन न शिल्प्यादिना । तदुक्तम्— ९

'शिल्पि-कारुक-वाक्पण्यशम्भलीपतितादिषु ।
देहस्थितिं न कुर्वीत लिङ्गिलिङ्गोपजीविषु ॥
दीक्षायोग्यास्त्रयो वर्णाश्चत्वारश्च विधोचिता । १२
मनोवाक्कायधर्माय मताः सर्वेऽपि जन्तवः ॥' [सो० उपा० ७९०-७९१]

द्युशिवश्रिया—स्वर्गापवर्गलक्ष्म्या । सचते—सम्बध्नाति तद्योग्यं करोतीत्यर्थः ॥६६॥

विधिपूर्वक किये गये भोजनसे अपना और परका उपकार बतलाते हैं—

जो भोजन आदि नित्य-नैमित्तिक अनुष्ठान करनेवाले गृहस्थके द्वारा अपने लिए बनाया गया हो और एकेन्द्रिय प्राणियोंसे रहित हो तथा मृत या जीवित दो-इन्द्रिय आदि जीवोंसे भी रहित हो और नवधा भक्ति पूर्वक दिया गया हो, उस भोजनादिको अपने सुख और दुःखकी निवृत्तिके लिए ग्रहण करनेवाला साधु केवल अपना ही उद्धार नहीं करता, किन्तु सम्यग्दृष्टि दाताको स्वर्ग और मोक्षरूपी लक्ष्मीके योग्य बनाता है और मिथ्यादृष्टि दाताको इष्ट विषय प्राप्त कराता है ॥६६॥

विशेषार्थ—मुनि हर एक दाताके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण नहीं करते। सोमदेव-सूरिने कहा है—'नाई, धोबी, कुम्हार, लुहार, सुनार, गायक, भाट, दुराचारिणी स्त्री, नीच लोगोंके घरमें तथा मुनियोंके उपकरण बेचकर जीविका करनेवालोंके घरमें मुनिको भोजन ग्रहण नहीं करना चाहिए। तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण ही मुनिदीक्षाके योग्य हैं। किन्तु मुनिको आहारदान देनेका अधिकार चारों वर्णोंको है। क्योंकि सभी प्राणियोंको मानसिक, वाचिक और कायिक धर्म पालन करनेकी अनुमति है।'

दाताको नवधा भक्तिसे आहार देना चाहिए। वे इस प्रकार हैं—

अपने द्वार पर साधुके पधारने पर हे स्वामी, ठहरिये ऐसा तीन बार कहकर उन्हें सादर ग्रहण करना चाहिए। फिर उच्चस्थान पर बैठाना चाहिए। फिर जलसे उनके चरण पखारना चाहिए। फिर अष्टद्रव्यसे पूजन करना चाहिए। फिर नमस्कार करना चाहिए। फिर मन शुद्धि, वचन शुद्धि, कायशुद्धि और भोजन शुद्धि प्रकट करनी चाहिए। इन्हें नवपुण्य कहते हैं। इस विधिसे दिये गये दानको स्वीकार करके मुनिका तो उपकार होता ही है, दाताका भी उपकार होता है। मुनिको भक्तिभावसे आहार देनेवाला सम्यग्दृष्टि गृहस्थ स्वयं अपने भावोंसे पुण्य बन्ध करनेसे भोगभूमिमें और स्वर्गमें जन्म लेकर सुख भोगता है। और

---

१. नात्स्वप—भ कु च. ।

अथ द्रव्यभावशुद्धयोरन्तरमाह—

द्रव्यत. शुद्धमप्यन्नं भावाशुद्धया प्रदुष्यते ।
३ भावो ह्यशुद्धो बन्धाय शुद्धो मोक्षाय निश्चितः ॥६७॥

द्रव्यत. शुद्धमपि, प्रासुकशुद्धमपीत्यर्थ । उक्त च—

'प्रगता असवो यस्मादन्न तद्द्रव्यतो भवेत् ।
६ प्रासुक किं तु तत्स्वस्मै न शुद्ध विहितं मतम् ॥' [ ]

भावाशुद्धया—मदर्थं साधुकृतमिदमिति परिणामदुष्ट्या । अशुद्ध —रागद्वेषमोहरूप ॥६७॥

अथ परार्थकृतस्यान्नस्य भोक्तुरदुष्टत्व दृष्टान्तेन दृढयन्नाह—

९ योक्ताऽधःकर्मिको दुष्येन्नात्र भोक्ता विपर्ययात् ।
मत्स्या हि मत्स्यमदने जले माद्यन्ति न प्लवा. ॥६८॥

योक्ता—अन्नादेर्दाता । अध कर्मिक.—अध कर्मणि प्रवृत्त । हेतुनिर्देशोऽयम् । दुष्येत्—दोषैरुप-
१२ लिप्येत् । भोक्ता—सयत । विपर्ययात्—अध कर्मरहितत्वादित्यर्थ । माद्यन्ति—विह्वलीभवन्ति ।
प्लवा —मण्डूका । उक्त च—

'मत्स्यार्थं (प्रकृते) योगे यथा माद्यन्ति मत्स्यका. ।
१५ न मण्डूकास्तथा शुद्ध' परार्थं प्रकृते यतिः ॥
अध.कर्मप्रवृत्त सन् प्रासुद्रव्येऽपि बन्धक' ।
अध.कर्मण्यसौ शुद्धो यतिः शुद्धं गवेषयेत् ॥' [ ]

वहाँसे मनुष्य होकर तप करके मोक्ष पाता है । इसमे दान ग्रहण करनेवाले मुनिका कुछ भी कर्तृत्व नहीं है । मुनि तो केवल अवलम्ब मात्र है । मिथ्यादृष्टि दाता भी दानके फलस्वरूप इष्ट विषयोंको प्राप्त करता है ॥६६॥

द्रव्यशुद्धि और भावशुद्धिमे अन्तर कहते है—

द्रव्यसे शुद्ध भी भोजन भावके अशुद्ध होनेसे अशुद्ध हो जाता है; क्योंकि अशुद्ध भाव-बन्धके लिए और शुद्ध भाव मोक्षके लिए होते है यह निश्चित है ॥६७॥

विशेषार्थ—जिस भोजनमे जीव-जन्तु नहीं होते वह भोजन द्रव्य रूपसे प्रासुक होता है । किन्तु इतनेसे ही उसे शुद्ध नहीं माना जाता । उसके साथमे दाता और ग्रहीताकी भाव-शुद्धि भी होना आवश्यक है । यदि दाताके भाव शुद्ध नहीं हैं तो भी ठीक नहीं है । और मुनि विचारे कि इसने मेरे लिए अच्छा भोजन बनाया है तो मुनिके भाव शुद्ध नहीं है क्योंकि मुनि तो अनुद्दिष्ट भोजी होते हैं । अपने लिए बनाये गये आहारको ग्रहण नहीं करते । अत. द्रव्यशुद्धिके साथ भाव शुद्धि होना आवश्यक है ॥६७॥

दूसरेके लिए बनाये गये भोजनको ग्रहण करनेवाला मुनि दोषरहित है इसे दृष्टान्तके द्वारा दृढ़ करते है—

जो आहारदाता अधःकर्ममे संलग्न होता है वह दोषका भागी होता है । उस आहार-को ग्रहण करनेवाला साधु दोषका भागी नहीं होता, वह अध कर्ममे संलग्न नहीं है । क्योंकि योग विशेषके द्वारा जिस जलको मछलियोंके लिए मदकारक बना दिया जाता है उस जलमे रहनेवाली मछलियोंको ही मद होता है, मेढकोंको नहीं होता ॥६८॥

विशेषार्थ—भोजन बनानेमे जो हिंसा होती है उसे अधःकर्म कहते हैं । इस अधःकर्म-का भागी गृहस्थ होता है क्योंकि वह अपने लिए भोजन बनाता है । उस भोजनको साधु

अपि च—

'आधाकम्मपरिणदो पासुगदव्वे वि वधगो भणिदो ।
सुद्धं गवेसमाणो आधाकम्मे वि सो सुद्धो ॥' [मूलाचार ४८७] ॥६८॥ ३

अथ शुद्धाहाराहितसामर्थ्योद्योतितसिद्ध्युत्साहास्त्रिकालविषयान् मुमुक्षूनात्मन सिद्धि प्रार्थयमानः प्राह—

विदधति नवकोटि शुद्धभक्ताद्युपार्जे- ६
कृतनिजवपुषो ये सिद्धये सज्जमोज. ।
विदधतु मम भूता भाविनस्ते भवन्तो-
ऽप्यसमशमसमृद्धाः साधव सिद्धिमद्धा ॥६९॥ ९

नवकोट्य.—मनोवाक्कायै. प्रत्येक कृतकारितानुमतानि । तच्छुद्ध—तद्रहितमित्यर्थ । आर्षे त्वेवम्—

'दातुर्विशुद्धता देय पात्र च प्रपुनाति सा । १२
शुद्धिर्देयस्य दातार पुनीते पात्रमप्यद ॥
पात्रस्य शुद्धिर्दातार देय चैव पुनात्यतः ।
नवकोटिविशुद्धं तद्दान भूरिफलोदयम् ॥' [महापु. २०।१३६-१३७] १५

ग्रहण करते हैं किन्तु वे उस अध.कर्म दोषसे लिप्त नहीं होते, क्योंकि उस भोजनके बनानेसे साधुका कृत-कारित या अनुमत रूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। बल्कि साधुको दान देनेसे गृहस्थको रसोई बनानेमे जो पाप होता है वह धुल जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है—घर छोड देनेवाले अतिथियोकी अर्थात् साधुओंकी पूजा पूर्वक दिया गया दान घरके कामोंसे संचित पापको भी उसी प्रकार दूर कर देता है जैसे पानी रक्तको धो देता है।

किन्तु यदि साधु उस भोजनको अपने लिए बनाया मानकर गौरवका अनुभव करता है तो वह भी उस पापसे लिप्त होता है। मूलाचारमे कहा है—'भोजनके प्रासुक होनेपर भी यदि उसे ग्रहण करनेवाला साधु अधःकर्मसे युक्त होता है अर्थात् यदि उस आहारको बड़े गौरवके साथ अपने लिये किया मानता है तो उसे कर्मबन्ध होता है ऐसा आगममे कहा है। किन्तु यदि साधु शुद्ध आहारकी खोजमे है, जो कृत कारित और अनुमोदनासे रहित हो, तो यदि आहार अध कर्मसे भी युक्त हो तो भी वह शुद्ध है। उस आहारको ग्रहण करके साधुको बन्ध नहीं होता, क्योंकि साधुका उसमे कृत, कारित आदि रूप कोई भाव नहीं है ॥६८॥

आगे शुद्ध आहारके द्वारा प्राप्त हुई सामर्थ्यसे मोक्ष विषयक उत्साहको उद्योतित करनेवाले त्रिकालवर्ती मुमुक्षुओसे अपनी मुक्तिकी प्रार्थना ग्रन्थकार करते है—

नवकोटिसे विशुद्ध भोजनादिके द्वारा अपने शरीरको बल देनेवाले और असाधारण उपशम भावसे सम्पन्न जो अतीत, अनागत और वर्तमान साधु सिद्धिके लिए उत्साहको साक्षात् समर्थ बनाते हैं, वे मुझे तत्काल आत्म स्वरूपकी उपलब्धि करावें अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे मुक्तिकी प्राप्ति हो ॥६९॥

---

१ गृहकर्मणापि निचितं कर्म विमार्ष्टि खलु गृहविमुक्तानाम् ।
अतिथीना प्रतिपूजा रुधिरमल धावते वारि ॥—रत्न श्रा., ११४ श्लो. ।

उपाजेकृतानि—बलाधानयुक्तानि कृतानि। सज्जं—साक्षात्क्षमम्। ओजः—उत्साह.। अद्धा—झटितीति भद्रम् ॥६९॥

३

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसञ्ज्ञाया
पञ्चमोऽध्याय ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाण सप्तत्यधिको द्विशत् । अङ्कत. २७० ।

विशेषार्थ—मन वचन काय सम्बन्धी कृत कारित अनुमोदनासे रहित आहार नवकोटिसे विशुद्ध होता है वही साधुओके लिए ग्राह्य है। महापुराणमे कहा है—'दाताकी विशुद्धता देय भोज्यको और पात्रको पवित्र करती है। देयकी शुद्धता दाता और पात्रको पवित्र करती है। और पात्रकी शुद्धि दाता और देयको पवित्र करती है।' इस तरह नवकोटिसे विशुद्ध दान बहुत फलदायक होता है। अर्थात् दाता, देय और पात्र इन तीनोकी शुद्धियोका सम्बन्ध परस्परमें जोड़नेसे नवकोटियाँ बनती है। इन नवकोटियोसे विशुद्ध दान विशेष फलदायक होता है ॥६९॥

इस प्रकार प आशाधर रचित अनगार धर्मामृत टीका भव्यकुमुद चन्द्रिका
तथा ज्ञानदीपिकाकी अनुवर्तिनी हिन्दी टीकामें पिण्डशुद्धिविधान
नामक पञ्चम अध्याय पूर्ण हुआ।

षष्ठ अध्याय

अथैवमुक्तलक्षणरत्नत्रयात्मनि मुक्तिवर्त्मनि महोद्योगमनुबद्धमनसा तापत्रयोच्छेदार्थिना साधूना सम्यक्-तपआराधनोपक्रमविधिमभिधत्ते—

दृग्वज्रद्रोण्युपघ्नेऽद्भुतविभववृषद्वीपदीप्रे स्फुटानु-
प्रेक्षातीर्थे सुगुप्तिव्रतसमितिवसुभ्राजि बोधाब्जराजि।
मग्नोन्मग्नोर्मिरत्नत्रयमहिमभरव्यक्तिदृप्तेऽभियुक्ता,
मज्जन्त्विच्छानिरोधामृतवपुषि तपस्तोयधौ तापशान्त्यै ॥१॥ ३

उपघ्न.—आश्रय । वृष —धर्म.। तीर्थं—प्रवेशघट्ट । वसूनि—रत्नानि । अब्ज'—चन्द्र.। मग्नोन्मग्नोर्मि—मग्नास्तिरोभूता स्वकार्यकरणाक्षमा उन्मग्नोर्मय उद्भूतपरीषहा यत्र, पक्षे मग्ना केचिन्निमीलिता' केचिच्च उन्मग्ना उन्मीलिता ऊर्मयस्तरङ्गा यत्र। रत्नत्रय निश्चयमोक्षमार्गोऽत्र। व्यक्ति:—आविर्भाव । तापशान्त्यै—मानस-वाचनिक-कायिकाना सहजशारीरागन्तूना वा दु खानामुच्छेदार्थम् ॥१॥ ६ ९

इस प्रकार रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्गमे सतत महान् उद्योगके लिए दृढ निश्चयी और शारीरिक, वाचनिक तथा कायिक या स्वाभाविक, शारीरिक और आगन्तुक दु खोके विनाशके इच्छुक साधुओंके सम्यक् तप आराधनाके उपक्रमकी विधि कहते है—

मोक्षमार्गमे नित्य उद्योगशील साधुओंको शारीरिक, वाचनिक, मानसिक तापकी शान्तिके लिए अथवा सहज शारीरिक और आगुन्तक दुःखोंके विनाशके लिए तपरूपी समुद्रमे स्नान और अवगाहन करना चाहिए। वस्तुत. तप समुद्रके समान है। जैसे समुद्रमें अवगाह करना कठिन है वैसे ही तपका अवगाहन भी कठिन है। अमृत अर्थात् जल समुद्रका शरीर है। इसी तरह मोहनीय कर्मके उदयसे होनेवाली इच्छाका निरोध भी अमृतके तुल्य है क्योंकि वह अमृतकी तरह सासारिक संतापकी शान्तिका कारण है। यह इच्छा निरोध रूप अमृत ही तपका शरीर है। उसीमे अवगाहन करनेसे तापकी शान्ति हो सकती है। जैसे समुद्रका आश्रय वज्रमय नाव है। वज्रमय नावके द्वारा ही समुद्रमे अवगाहन किया जाता है, उसी तरह तपका आश्रय सम्यग्दर्शन रूपी नाव है। सम्यग्दर्शनके विना सम्यक् तपमे उतरना शक्य नहीं है। जैसे समुद्रमे दीप होते है और वे आश्चर्यकारी विभूतिसे युक्त होते है, उसी तरह आश्चर्यकारी विभूतिसे सम्पन्न उत्तम क्षमा आदि दश धर्म तप रूपी समुद्रके द्वीप हैं, उनसे वह प्रकाशमान होता है। जैसे समुद्रमें प्रवेश करनेके लिए तीर्थ अर्थात् घाट होते हैं उसी तरह तप रूपी समुद्रमे प्रवेश करनेके लिए अनित्य आदि बारह भावना तीर्थ है। इन बारह भावनाओंके सतत चिन्तनसे मुमुक्षु तपके भीतर प्रवेश करता है। जैसे समुद्रमे रत्न होते है, उसी तरह सम्यग् गुप्ति समिति व्रत वगैरह तप रूपी समुद्रके रत्न हैं, उनसे वह शोभित होता है। तथा जैसे समुद्र चन्द्रमासे शोभित होता है। वैसे ही तप ज्ञानसे शोभित होता है। तथा जैसे समुद्रमे कुछ तरंगे उन्मीलित और कुछ तरंगे निमीलित होती है उसी तरह तपमें उत्पन्न हुई परीषह धैर्य भावनाके बलसे तिरोभूत हो जाती है अपना कार्य करनेमे असमर्थ होती हैं। तथा जैसे समुद्र ऐरावत हाथी, कौस्तुभमणि और पारि-

अथ दशलक्षणं धर्मं व्याचष्टे—

क्रूरक्रोधाद्युद्भवाङ्गप्रसङ्गेऽप्यादत्तेऽद्धा यन्निरीहः क्षमादीन् ।
शुद्धज्ञानानन्दसिद्धयै दशात्मा ख्यातः सम्यग् विश्वविद्भिः सधर्मः ॥२॥

३

क्रूराः—दुःखदा दुर्निवारा वा। अङ्गानि—कारणानि। आदत्ते—(स्वी-)करोति। अद्धा—व्यक्तं झटिति वा। निरीह—लाभाद्यनपेक्ष। क्षमा—क्रोधोत्पत्तिनिमित्तानां सन्निधानेऽपि कालुष्याभाव ॥२॥

अथ कषायाणामपायभूयस्त्वातिदुर्जयत्वप्रकाशनपुरस्सरं जेयत्वमुपदर्श्य तद्विजये परं स्वास्थ्यमावेदयति—

६

जीवन्त कणशोऽपि तत्किमपि ये घ्नन्ति स्वनिघ्नं मह-
स्ते सद्भिः कृतविश्वजीवविजया जेयाः कषायद्विषः ।
यन्निर्मूलनकर्मठेषु बलवत्कर्मारिसंघाश्चिता-
मासंसारनिरूढबन्धविधुरा नोत्क्राथयन्ते पुनः ॥३॥

९

स्वनिघ्न—स्वाधीनम्। चिता—चेतनानाम्। कर्मणि षष्ठी। निरूढानि निर्वाहितानि। नोत्क्राथयन्ते—न हिंसन्ति ॥३॥

१२

जात वृक्ष रूप तीन रत्नोंके माहात्म्यके अतिशयके आविर्भावसे गर्वित होता है, अपना बडप्पन अनुभव करता है वैसे ही तप रत्नत्रयरूप परिणत आत्माके घाति और अघाति कर्मोंका क्षय करनेमें समर्थ शक्त्यतिशयके द्वारा अपना उत्कर्ष प्रकट करता है। इस तरह तप समुद्रके तुल्य है उसका अवगाहन करना चाहिए ॥१॥

दश लक्षण धर्मको कहते हैं—

दुःखदायक अथवा दुर्निवार क्रोध आदिकी उत्पत्तिके कारणोंके उपस्थित होनेपर भी सांसारिक लाभ आदिकी अपेक्षा न करके शुद्ध ज्ञान और आनन्दकी प्राप्तिके लिए साधु जो क्षमा, मार्दव आदि आत्म परिणामोको तत्काल अपनाता है उसे सर्वज्ञ देवने सच्चा धर्म कहा है। उस धर्मके दस रूप हैं ॥२॥

विशेषार्थ—क्रोधकी उत्पत्तिके निमित्त मिलने पर भी मनमें कलुषताका उत्पन्न न होना क्षमा है। इसी तरह मार्दव आदि दस धर्म हैं। उनको जो आत्मिक शुद्ध ज्ञान और सुखकी प्राप्तिके उद्देशसे अपनाता है वह धर्मात्मा है ॥२॥

कषाय बुराईका घर है, अत्यन्त दुर्जय है यह बतलाते हुए उन्हे जीतना शक्य है तथा उनको जीतने पर ही आत्माका परम कल्याण होता है यह बतलाते है—

जो कणमात्र भी यदि जीवित हों तो आत्माके उस अनिर्वचनीय स्वाधीन तेजको नष्ट कर देती हैं और जिन्होंने संसारके सब जीवों पर विजय प्राप्त की है, किन्तु जो उनका भूलसे विनाश करनेमें कर्मठ होते हैं उन्हे अनादि संसारसे लेकर परतन्त्रताका दुःख भुगानेवाले बलवान् कर्म शत्रुओंके समूह भी पुनः उत्पीडित नहीं कर सकते, उन कषायरूपी शत्रुओंको जीतना चाहिए ॥३॥

विशेषार्थ—संसारकी जड़ कषाय है। कषायके कारण ही यह जीव अनादिकालसे संसारमें भटकता फिरता है। कषायने सभी जीवोंको अपने वशमें किया है इसलिए कषायोंका जीतना बहुत ही कठिन है। किन्तु जो इन्हे जड़मूलसे उखाड़ फेकनेके लिए कमर कस लेते हैं उनका संसार बन्धन सर्वदाके लिए टूट जाता है। इसलिए मुमुक्षुको कषायोंको जीतना चाहिए। उनको जीते बिना संसारसे उद्धार असम्भव है ॥३॥

अथ कोपस्यानर्थैकफलत्वं प्रकाश्य तज्जयोपायमाह—

कोपः कोऽप्यग्निरन्तर्बहिरपि बहुधा निर्दहन् देहभाजः,
कोपः कोऽप्यन्धकारः सह दृशमुभयी धीमतामप्युपघ्नन् । ३
कोपः कोऽपि ग्रहोऽस्तत्रपमुपजनयन् जन्मजन्माभ्यपायां-
स्तत्कोपं लोप्तुमाप्तश्रुतिरसलहरी सेव्यतां क्षान्तिदेवी ॥४॥

निर्दहन्—निष्प्रतीकारं भस्मीकुर्वन् माहात्म्योच्छेदात् । उभयी—चाक्षुषी मानसी वा । जन्म- ६
जन्माभि—भवे भवे । वीप्सायामभेः कर्मप्रवचनीयत्वात्तद्योगे द्वितीया । आप्तश्रुति —परमागम ॥४॥

अथ उत्तमक्षमाया माहात्म्यं स्तोतुमाह—

यः क्षाम्यति क्षमोऽप्याशु प्रतिकर्तुं कृतागसः । ९
कृत्तागसं तमिच्छन्ति क्षान्तिपीयूषसंजुषः ॥५॥

कृतागस —विहितापराधान् । कृत्तागस—छिन्नपापम् ॥५॥

अथ क्षमाभावनाविधिमाह— १२

प्राग्वास्मिन्वा विराध्यन्निममहमबुधः किल्बिषं यद्ववन्ध,
क्रूरं तत्पारतन्त्र्याद् ध्रुवमयमधुना मां शपन्कामम्नाघ्नन् ।
निघ्नन्वा केन वार्यः प्रशमपरिणतस्याथवावश्यभोग्यं, १५
भोक्तुं मेऽद्यैव योग्यं तदिति वितनुतां सर्वथार्यस्तितिक्षाम् ॥६॥

सर्व प्रथम क्रोधका एक मात्र अनर्थ फल बतलाकर उसको जीतनेका उपाय कहते हैं—

प्राणियोंके अन्तरंग और बाह्यको अनेक तरहसे ऐसा जलाता है कि उसका कोई प्रतीकार नहीं है । अत क्रोध कोई एक अपूर्व अग्नि है, क्योंकि अग्नि तो बाह्यको ही जलाती है किन्तु यह अन्तरंगको भी जलाता है । तथा बुद्धिमानोंकी भी चक्षु सम्बन्धी और मानसिक दोनों ही दृष्टियोंका एक साथ उपघात करनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व अन्धकार है, क्योंकि अन्धकार तो केवल बाह्य दृष्टिका ही उपघातक होता है । तथा जन्म-जन्ममे निर्लज्ज होकर अनिष्टोंका करनेवाला होनेसे क्रोध कोई एक अपूर्व ग्रह या भूत है । क्योंकि भूत तो एक ही जन्ममे अनिष्ट करता है । उस क्रोधका विनाश करनेके लिए क्षमा रूपी देवीकी आराधना करना चाहिए जो जिनागमके अर्थ और ज्ञानके उल्लासका कारण है ॥४॥

उत्तम क्षमाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जो अपराधियोका तत्काल प्रतीकार करनेमे समर्थ होते हुए भी उन्हें क्षमा कर देता है, क्षमा रूपी अमृतका सम्यक् सेवन करनेवाले साधुजन उसे पापका नाशक कहते हैं ॥५॥

क्षमा भावनाकी विधि कहते है—

मुझ अज्ञानीने इसी जन्ममे या पूर्व जन्ममे इस जीवका अपकार करते हुए जो अवश्य भोग्य पाप कर्मका वन्ध किया था, उस कर्मकी परवशताके कारण यह अपकारकर्ता इस समय मुझ अपराधीको बहुत गाली देता है या चाबुकसे मारता है या मेरे प्राणका हरण करता है तो उसे कौन रोक सकता है । अथवा माध्यस्थ्य भावपूर्वक मुझे उस अवश्य भोग्य कर्मको इसी भवमे भोगना योग्य है क्योंकि किया हुआ अच्छा या बुरा कर्म अवश्य भोगना होता है । इस प्रकार साधुको मन, वचन, कायसे क्षमाकी भावना करनी चाहिए ॥६॥

प्राक्—पूर्वभवे। अस्मिन्—इह भवे। क्रूर—अवश्यभोग्यकटुफलत्वादत्युग्रम्। आघ्नन्—चर्मयष्ट्यादिना ताडयन्। वार्यं —निषेद्धुं शक्य' ॥६॥

३ अथ परै प्रयुक्ते सत्याक्रोशादौ क्रोधनिमित्ते चित्तं प्रसादयत स्वेष्टसिद्धिमाचष्टे—

दोषो मेऽस्तीति युक्तं शपति शपति वा तं विनाऽज्ञः परोक्षे,
दिष्ट्या साक्षान्न साक्षादथ शपति न मा ताडयेत्ताडयेद्वा।
६ नासून् मुष्णाति तान्वा हरति सुगतिदं नैष धर्मं ममेति,
स्वान्तं यः कोपहेतौ सति विशदयति स्याद्धि तस्येष्टसिद्धिः ॥७॥

दोष:—नग्नत्वाशुचित्वामङ्गलत्वादि। एतच्चात्मनि दोषसद्भावानुचिन्तनम्। शपति वा त विना
९ इति पुनस्तदभावचिन्तनम्। दिष्ट्या—वर्द्धामहे। इष्टसिद्धि—क्षमाया हि व्रतशीलपरिरक्षणमिहामुत्र च दु खानभिष्वङ्ग सर्वस्य जगत' मन्मान-सत्कारलाभ-प्रसिद्ध्यादिश्च गुण स्यात् ॥७॥

अथ क्रोधस्य दु कीर्तिदारुणदु खहेतुत्व दृष्टान्तेषु स्पष्टयन् दूरतस्त्याज्यत्वमुपदिशति—

विशेषार्थ—पहले कहा है कि अपकार करनेवालेके अपकारका बदला चुकानेकी शक्ति होते हुए भी जो क्षमा करता है वही क्षमाशील है। अपनी कमजोरीके कारण प्रतिकार न कर सकनेसे क्षमाभाव धारण करना क्षमा नहीं है वह तो कायरता है। ऐसे कायर पुरुष मनमें बदलेकी भावना रखते हैं और ऊपरसे क्षमा दिखलाते हैं। जिन शासनमें इसे क्षमा नहीं कहा है। अपकारकर्ताके प्रति किंचित् भी दुर्भाव न रखते हुए जो उसके प्रति क्षमाभाव होता है वही सच्चा क्षमाभाव है। जब कोई हमारा बुरा करता है तो मनमें उसके प्रति रोष आता है। उसी रोषके निवारणके लिए ऊपरके विचार प्रदर्शित किये हैं। ऐसे विचारोंसे ही उत्पन्न होते रोषको रोका जा सकता है ॥६॥

आगे कहते हैं कि दूसरोंके गालियाँ आदि बकने पर भी जो अपने चित्तको प्रसन्न रखते हैं उन्हें ही इष्टकी प्राप्ति होती है—

यदि कोई नग्न साधुको गाली देता है कि यह नंगा है, मैला है, अशुभ है तो साधु विचार करता है कि मैं क्या हूँ, स्नान नहीं करता हूँ—ये दोष मेरेमें है यह गलत नहीं कहता। यदि वे दोष साधुमें न हों तो साधु विचारता है कि यह अज्ञानवश मुझे दोष लगाता है। यदि कोई परोक्षमें निन्दा करता है तो वह विचारता है कि भाग्यसे मेरे परोक्षमें ही गाली देता है प्रत्यक्षमें तो नहीं देता। यदि कोई प्रत्यक्षमें अपशब्द कहता है तो वह विचारता है कि यह मुझे गाली ही देता है मारता तो नहीं है। यदि कोई मारे तो सोचता है कि मारता ही है प्राण तो नहीं लेता। यदि कोई ज्ञानसे मारता हो तो विचारता है कि प्राण ही तो लेता है सद्गति देनेवाले मेरे धर्मको नहीं हरता। इस प्रकार क्रोधके निमित्त मिलने पर जो साधु अपने मनमें प्रसन्न रखता है उसीको इष्टकी प्राप्ति होती है। अर्थात् क्षमाभाव धारण करनेसे व्रत और शीलकी रक्षा होती है, इस लोक और परलोक सम्बन्धी दुःखोंसे छुटकारा होता है तथा लोगोंसे सन्मान मिलता है ॥७॥

क्रोध अपयश और दारुण दुःखोंका कारण है यह बात दृष्टान्तोंके द्वारा स्पष्ट करते हुए उसे दूरसे ही छोड़नेका उपदेश करते हैं—

नाद्याप्यन्त्यमनो स्वपित्यवरजामर्षाजितं दुर्यश,
प्रादोदोन्मरुभूतिमत्र कमठे वान्तं सकृत् क्रुद्विषम् ।
दग्ध्वा दुर्गतिमाप यादवपुरीं द्वीपायनस्तु क्रुधा, ३
तत्क्रोधं ह्यरिरित्यजत्वपि विराराधत्यरौ पार्श्ववत् ॥८॥

अन्त्यमनो —भरतचक्रिण । अवरजामर्षाजित—वाहुवलिविपयकोपोपार्जितम् । प्रादोदोत्—प्रकर्षेण पुन पुनरपि तपतिस्म[1] । अजतु—क्षिपतु मुमुक्षु । विराराधति—अत्यर्थं पुन. पुनर्वा विराध्यति सति । दु खयतीत्यर्थ. ॥८॥ ६

इतना काल वीत जाने पर भी भरत चक्रवर्तीके द्वारा अपने छोटे भाई वाहुवलि कुमार पर किये गये क्रोधसे अर्जित अपयश लुप्त नही हुआ है, वरावर छाया हुआ है। इसी लोकमे केवल एक वार अपने वड़े भाई कमठपर वमन किये गये क्रोधरूपी विपने पार्श्वनाथके पूर्वभवके जीव मरुभूतिको वार वार अत्यन्त सन्तप्त किया। द्वीपायन नामक तपस्वी क्रोधसे द्वारिका नगरीको जलाकर नरकमे गया। अत. किसी शत्रुके द्वारा अपकार किये जानेपर भी क्रोधको शत्रु मानकर पार्श्वनाथ स्वामीकी तरह छोड देना चाहिए, क्रोधके प्रतिकारके लिए क्रोध नहीं करना चाहिए ॥८॥ विशेषार्थ—ग्रन्थकारने क्रोधका वुरा परिणाम दिखानेके लिए लोकमे और शास्त्रोमे प्रसिद्ध तीन दृष्टान्त दिये है। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋपभदेवके एकसौ एक पुत्र थे। सवसे वड़े पुत्र प्रथम चक्रवर्ती सम्राट् भरत थे। भगवान्‌के प्रव्रजित होनेपर भरत अयोध्याके स्वामी हुए और उनसे छोटे वाहुवलिकुमारको पोदनपुरका राज्य मिला। जव भरत दिग्विजय करके अयोध्यामे प्रवेश करने लगे तो चक्ररत्न मार्गमे रुक गया। निमित्त-ज्ञानियोंने वतलाया कि आपके भाई आपकी आज्ञामे नहीं हैं इसीसे चक्ररत्न रुक गया है। भाइयोंके पास दूत भेजे गये। वाहुवलीने आज्ञा न मानकर युद्ध स्वीकार किया। मन्त्रियोने दोनों भाइयोके मध्यमे जल युद्ध, दृष्टि युद्ध और मल्ल युद्ध होनेका निर्णय किया। तीनो युद्धोंमे भरतकी हार हुई तो क्रोधमे आकर भरतने अपने छोटे भाईपर चक्रसे प्रहार किया। कन्तु देवोपनीत चक्र अपने सगे कुटुम्वियोंपर तथा मोक्षगामी जीवोंपर प्रहार नहीं करता। फलत चक्ररत्न वाहुवलीकी तीन प्रदक्षिणा देकर उनके हस्तगत हो गया। समस्त सेना और जनसमूहने सम्राट् भरतके इस कार्यकी निन्दा की जो आज भी शास्त्रोमे निवद्ध है।

पोदनपुर नगरमे एक ब्राह्मणके दो पुत्र थे। वड़े पुत्रका नाम कमठ और छोटेका नाम मरुभूति था। राजाने मरुभूतिको अपना मन्त्री नियुक्त किया। एक वार राजा अपने मन्त्री मरुभूतिके साथ दिग्विजयके लिए वाहर गया। पीछे कमठने अपने छोटे भाई मरुभूतिकी पत्नीपर आसक्त होकर उसके साथ दुराचार किया। जव राजाके कानो तक यह समाचार पहुँचा तो उन्होंने कमठका मुँह काला करके देशसे निकाल दिया। कमठ एक पर्वत पर खड़े होकर तपस्या करने लगा। एक वार मरुभूति उसके पास क्षमा माँगने गया। कमठ दोनो हाथोमे शिला लेकर तपस्या करता था। जैसे ही मरुभूतिने उसे नमस्कार किया, कमठने उस-पर शिला पटक दी। दोनो भाइयोमे यह वैरकी इकतरफा परम्परा कई भवों तक चली। जव मरुभूति पार्श्वनाथ तीर्थंकरके भवमे अहिक्षेत्रमे तपस्या करते थे तो कमठ व्यन्तर योनिमे जन्म लेकर उधरसे जाता था। पूर्व वैरका स्मरण आते ही उसने पार्श्वनाथ पर घोर उपसर्ग किया। तव पार्श्वनाथको केवलज्ञान हुआ और इस तरह इस वैरका अन्त हुआ।

१. —नरुतपतिस्म भ. कु च ।

अथैवमुत्तमक्षमालक्षण धर्मं निरूप्येदानीमुत्तममार्दवलक्षण लक्षयितु मान धिक्कुर्वन्नाह—

हृत्सिन्धुर्विधिशिल्पिकल्पितकुलाद्युत्कर्षहर्षोर्मिभि ,
किर्मीरः क्रियतां चिराय सुकृतां म्लानिस्तु पुंमानिनाम् ।　३
मानस्यात्मभुवापि कुत्रचिदपि स्वोत्कर्षसंभावनं,
तद्ध्येयेऽपि विधेश्चरेयमिति धिग्मानं पुमुत्प्लाविनम् ॥९॥

६　हृत्सिन्धु —हृदयसमुद्र । किर्मीर —चित्रः । सुकृता—विपरीतलक्षणया अकृतपुण्यानाम् । आत्मभुवा—पुत्रेण । ध्येये—स्मरणीये वस्तुनि । अशक्यानुष्ठान इत्यर्थ । चरेयं—प्रवर्तयमहम् । पुमुत्प्लाविन—पुमासमात्मनमुत्प्लावयति माहात्म्याद् भ्रंशयतीत्येवरूपम् ॥९॥

द्वीपायन ऋषि द्वारिका नगरीके बाहर तपस्या करते थे। भगवान् नेमिनाथने यह बतलाया था कि बारह वर्ष बाद द्वीपायनके कोपसे द्वारिका जलकर भस्म होगी। अतः द्वीपायन दूर चले गये थे और यादवोंने भी मदिरापान बन्द करके नगरके बाहर मदिरा फिकवा दी थी। किन्तु काल गणनामें भूल हुई। बारह वर्ष पूरे हुए जानकर यादव भी निश्चिन्त हो गये और द्वीपायन भी लौट आये। जब वह द्वारिकाके बाहर तपस्या करते थे तो कुछ यादव कुमार उधर आ निकले। नगरके बाहर पड़ी हुई पुरानी मदिराको पीकर वे मदोन्मत्त होकर द्वीपायनपर प्रहार करने लगे। क्रुद्ध द्वीपायनके बायें स्कन्धसे तैजस शरीर प्रकट हुआ और और द्वारिका नगरीकी प्रदक्षिणा करते ही द्वारिका जलकर भस्म हो गयी। पीछे द्वीपायन भी जलकर भस्म हो गया और नरकमें गया। ये क्रोध करनेका परिणाम है ॥८॥

इस प्रकार उत्तम क्षमा रूप धर्मका निरूपण करके अब उत्तम मार्दवका लक्षण कहनेके लिए मान कषायकी निन्दा करते है—

दैव रूपी शिल्पीके द्वारा बनाये गये कुल जाति आदिके उत्कर्षसे होनेवाले हर्षरूपी लहरोंके द्वारा भाग्यहीनोंका हृदयरूपी समुद्र जीवनपर्यन्त भले ही नाना रूप होवे, इससे अपनेको पुरुष माननेवालोंके किसी भी विषयमें 'मै इस विषयमे उत्कृष्ट हूँ' ऐसी सम्भावना होती है। किन्तु अपने पुत्रके द्वारा भी मानकी हानि देखी जाती है। इसलिए उस ओर प्रवृत्ति करनी चाहिए जहाँ दैवका भी प्रवेश नहीं है। अतः पुरुषको माहात्म्यसे भ्रष्ट करनेवाले मानको धिक्कार है ॥९॥

विशेषार्थ—मानका तिरस्कार करते हुए कहा है कि पूर्व जन्ममे हम जो कुछ अच्छे-बुरे कर्म करते है उसीको दैव कहते है। दैव एक कुशल शिल्पी है। क्योंकि शिल्पीकी तरह वह कर्मके निर्माणमे कुशल होता है। उसीके उदयसे कुल, जाति आदि प्राप्त होती है जिसका मद करके मनुष्य हर्षसे उन्मत्त हो उठता है। मनुष्यका हृदय समुद्रके समान है। जैसे समुद्र-मे तरंगे उठती है उसी तरह मनुष्यके हृदयमे कुल आदिकी श्रेष्ठताको लेकर उत्पन्न हुए हर्ष आदि उत्पन्न हुआ करते है। ऐसे मानी पुरुष लोकमे पुण्यशाली कहलाते है। किन्तु वास्तवमे पुण्यशाली नहीं है क्योकि वर्तमान जन्ममे वे कोई पुण्य कर्म नहीं करते। इसी लिए ऊपर श्लोकमे जो 'सुकृता' पद आया है विपरीत लक्षणासे उसका अर्थ 'अकृत पुण्य' लिया गया है। ग्रन्थकार कहते है कि दैवाधीन कुल जाति आदिको पाकर हर्षसे उन्मत्त होने-वाले भले ही अपनेको पुरुष माने, किन्तु उनका वह अहंकार व्यर्थ है, क्योकि कभी-कभी मनुष्यको अपने पुत्रसे ही तिरस्कृत होना पड़ता है। इसलिए ज्ञानी मनुष्यको मिथ्या अहंकार छोड़कर आत्म स्वरूपमे प्रवृत्ति करना चाहिए। वह दैवाधीन नही है, पुरुषार्थके अधीन है ॥९॥

अथाहङ्कारादनर्थपरम्परा कथयति—

गर्वप्रत्यग्नगकवलिते विश्वदीपे विवेक-
त्वष्टर्युच्चैः स्फुरितदुरितं दोषमन्देहवृन्दैः ।
सत्रोद्वृत्ते तमसि हतदृग् जन्तुराप्तेषु भूयो,
भूयोऽभ्याजत्स्वपि सजति ही स्वैरमुन्मार्ग एव ॥१०॥

प्रत्यग्नग —अस्तशैल । विवेकत्वष्टरि—कृत्याकृत्यविभागज्ञानादित्ये । तमसि—मोहान्धकारे च । अभ्याजत्सु—निवारयत्सु । स्वैरं—स्वच्छन्दम् । ध्वान्तछादितदृष्टिपक्षे तु स्वेन आत्मना न परोपदेशेन, इरे गमने । मुत्—प्रीतिर्यस्यासौ स्वैरमुत् । काकुव्याख्याया मार्गे एव सजति न सजति । किं तर्हि अमार्गेऽपि लगतीत्यर्थ ॥१०॥

अथाहङ्कार-जनितदुष्कृतविपवित्रममत्युग्रमपमानदु खमाख्याति—

जगद्वैचित्र्येऽस्मिन् विलसति विधौ काममनिश,
स्वतन्त्रो न क्वास्मीत्यभिनिविशतेऽहंकृतितमः ।
कुधीर्येनादत्ते किमपि तदघं यद्रसवशा-
च्चिरं भुड्क्ते नीचैर्गतिजमपमानज्वरभरम् ॥११॥

स्वतन्त्र —कर्ता । क्व ? इष्टेऽनिष्टे वाऽर्थे । अपमान —महत्त्वहानि ॥११॥

अहंकारसे होनेवाली अनर्थपरम्पराको कहते हैं—

बड़ा खेद है कि जगत्को प्रकाशित करनेके लिए दीपकके समान विवेक रूपी सूर्य जब अहंकाररूपी अस्ताचलके द्वारा ग्रस लिया जाता है और राग द्वेष रूपी राक्षसोंके समूह-के साथ मोहरूपी अन्धकार बेरोक-टोक फैल जाता है जिसमें चोरी, व्यभिचार आदि पाप कर्म अत्यन्त बढ जाते हैं, तब प्राणी दृष्टिहीन होकर बारबार गुरु आदिके रोकनेपर भी स्वच्छन्दतापूर्वक उन्मार्गमें ही प्रवृत्त होता है ॥१०॥

विशेपार्थ—क्या कर्तव्य है और क्या अकर्तव्य है इस प्रकारके ज्ञानको विवेक कहते हैं। इस विवेकको अहंकार उसी तरह ग्रस लेता है जैसे अस्ताचल सूर्यको ग्रस लेता है। जैसे सूर्यके छिप जानेपर अन्धकार फैलता है उसमें राक्षस गण विचरण करते हैं। पाप कर्म करने-वाले चोर, व्यभिचारी आदि स्वच्छन्द होकर अपना कर्म करते हैं। ऐसे रात्रिके समयमें मनुष्यको मार्ग नहीं सूझता। उसी तरह जब मनुष्यके विवेकको अहंकार ग्रस लेता है तो मनुष्यमें मोह बढ जाता है उसकी सम्यग्दृष्टि मारी जाती है। गुरु बार-बार उसे कुमार्गमें जानेसे रोकते हैं। किन्तु वह कुमार्गमें ही आसक्त रहता है। अत. अहंकार मनुष्यको कुमार्ग-गामी बनाता है ॥१०॥

आगे अहंकारसे होनेवाले पाप कर्मके उदयके फल रूप अत्यन्त उग्र अपमानके दुःखको कहते हैं—

स्थावर जगम रूप इस जगत्के भेद प्रपंचमें निरन्तर यथेष्ट रूपसे दैवके चमकनेपर किस इष्ट या अनिष्ट पदार्थको मैं स्वतन्त्रतापूर्वक प्राप्त नहीं कर सकता, इस प्रकारका अहं-काररूपी अन्धकार कुबुद्धि मनुष्यके अभिप्रायमें समा जाता है। उससे वह ऐसे अनिर्वच-नीय पापका बन्ध करता है जिसके उदयके अधीन होकर चिरकाल तक नीच गतिमें होने-वाले अपमानरूपी ज्वरके वेगको भोगता है ॥११॥

अथ तत्तादृगपायप्रायमानोपमर्दनचण मार्दवमाशास्ते—

भद्रं मार्दववज्राय येन निर्लूनपक्षतिः ।
पुनः करोति मानाद्रिर्नोत्थानाय मनोरथम् ॥१२॥

३ मार्दव—जात्याद्यतिशयवतोऽपि सततस्तत्कृतमदावेशाभावात् परप्रयुक्तपरिभवनिमित्ताभिमानाभावात्माननिर्हरणम् । पक्षति —पक्षमूलम् । तच्चेह सामर्थ्यविशेष ॥१२॥

अथ गर्व सर्वथाऽप्यकर्तव्य इत्युपदेष्टु समारदुरवस्था प्रथयति—

६ क्रियेत गर्व. संसारे न श्रूयेत नृपोऽपि चेत् ।
दैवाज्जातः कृमिर्गूथे भृत्यो नेक्ष्येत वा भवन् ॥१३॥

स्पष्टम् ॥१३॥

---

९ विशेषार्थ—अहंकारके वशीभूत हुआ कुबुद्धि मनुष्य ऐसे पाप कर्मका बन्ध करता है जिसके फलस्वरूप उसे चिरकाल तक निगोद आदि नीच गतियोंके दु.ख भोगने पडते है ।

कहा[1] है—'जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तप और बलका अहंकार करनेवाला मनुष्य नीच गोत्रका बन्ध करता है' ॥११॥

आगे उक्त प्रकारके दु खोंके देनेवाले मानका मर्दन करनेमे समर्थ मार्दव धर्मकी प्रशंसा करते हैं—

उस मार्दवरूपी वज्रका कल्याण हो, जिसके द्वारा परोंके मूलके अर्थात् शक्तिविशेषके मूलसे छिन्न हो जानेपर मानरूपी पर्वत पुनः उठनेका मनोरथ नहीं करता ॥१२॥

विशेषार्थ—कवि-परम्परा ऐसी है कि पहले पर्वतोंके पंख होते थे । इन्द्रने अपने वज्रसे उन्हें काट डाला । तबसे पर्वत स्थिर हो गये । उसीको दृष्टिमे रखकर ग्रन्थकारने मानरूपी पर्वतके पख काटनेवाले मार्दव धर्मको वज्रकी उपमा दी है । जाति आदिसे विशिष्ट होते हुए भी उसके मदके आवेशके अभावसे तथा दूसरोंके द्वारा तिरस्कार किये जानेपर भी अभिमानका अभाव होनेसे मानके पूरी तरहसे हटनेको मार्दव धर्म कहते है ॥१२॥

गर्व सर्वथा नही करना चाहिए, इस बातका उपदेश करनेके लिए संसारकी दुरवस्था बतलाते हैं—

अपने द्वारा उपार्जित अशुभ कर्मके उदयसे राजा भी मरकर विष्टेका कीडा हुआ, यदि यह बात प्रामाणिक परम्परासे सुननेमे न आती, अथवा आज भी राजाको भी नौकरी करते हुए न देखते तो ससारमे गर्व किया जा सकता है ॥१३॥

विशेषार्थ—प्राचीन आख्यानोंमे शुभाशुभ कर्मोंका फल बतलाते हुए एक राजाकी कथा आती है कि वह मरकर अपने ही पाखानेमे कीड़ा हुआ था । जब राजा भी मरकर विष्टेका कीडा हो सकता है तब राजसम्पदा आदि पाकर उसका अभिमान करना व्यर्थ है । यह तो शास्त्रीय आख्यान है । वर्तमान कालमे फ्रासके राजाका सिर जनताके द्वारा काटा गया । रूसमे क्रान्ति होनेपर वहाँके राजाको मार डाला गया और उसके परिवारको आजीविकाके लिए भटकना पडा । भारतमे स्वतन्त्रताके बाद राजाओके सब अधिकार समाप्त कर दिये गये और उनकी सब शान-शौकत धूलमे मिल गयी । ये सब बाते सुनकर और देखकर भी जो घमण्ड करता है उसकी समझपर खेद होता ही है ॥१३॥

---

१. 'जातिरूपकुलैश्वर्यशीलज्ञानतपोबलै ।
कुर्वाणोऽह कृति नीच गोत्र बध्नाति मानव.' ॥

अथ मानविजयोपायमधस्तनभूमिकाया सद्व्रतैः कर्मोच्छेदार्थमभिमानोत्तेजन चोपदिशति—

प्राच्यानैदंयुगीनानथ परमगुणग्रामसामृद्ध्यसिद्धा-
नद्धा ध्यायन्निरुन्ध्यान्म्रदिमपरिणतः शिर्मदं दुर्मदारिम् ।
छेत्तुं दौर्गत्यदु खं प्रवरगुरुगिरा संगरे सद्व्रतास्त्रै,
क्षेप्तुं कर्मारिचक्रं सुहृदमिव शितैर्दीपयेद्वाभिमानम् ॥१४॥ ३

शिर्मद—मर्मद मर्मव्यथकम् । दौर्गत्य—दुर्गतिभाव दारिद्रय च । सगरे—प्रतिज्ञाया संग्रामे च ॥१४॥ ६

अथ मार्दवभावनाभिभूतस्यापि गर्वस्य सर्वथोच्छेद शुक्लध्यानप्रवृत्त्यैव स्यादित्युपदिशति—

मार्दवाशनिनिर्लूनपक्षो मायाक्षिति गत ।
योगाम्बुनैव भेद्योऽन्तर्वहता गर्वपर्वत ॥१५॥ ९

नीचेकी भूमिकामे मानको जीतनेका उपाय वतलाते हुए समीचीन व्रतोंके द्वारा कर्मोंका उच्छेद करनेके लिए अभिमानको उत्तेजित करनेका उपदेश देते है—

मार्दव धर्मसे युक्त होकर, परम गुणोंके समूहकी समृद्धिके कारण प्रसिद्ध पूर्व पुरुपोंका और इस युगके साधुओका तत्त्वत ध्यान करते हुए मर्मभेदी दुःख देनेवाले अहंकाररूपी शत्रुको दूर हटाना चाहिए। अथवा दुर्गति सम्वन्धी दु खका विनाश करनेके लिए और निरतिचार व्रतरूपी तीक्ष्ण अस्त्रोके द्वारा ज्ञानावरण आदि कर्म शत्रुओंके समूहको भगानेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञामें स्थिर होकर मित्रकी तरह अभिमानको उत्तेजित करना चाहिए ॥१४॥

विशेपार्थ—अहकार शत्रुकी तरह वहुत अनिष्ट करनेवाला होनेसे शत्रुके तुल्य है। अत उसके रोकनेका एक उपाय तो यह है कि जो पूर्व पुरुप या वर्तमान साधु ज्ञान, विनय, दया, सत्य आदि गुणोसे सम्पन्न है उनके गुणोका ध्यान करे। दूसरा उपाय इस प्रकार है—जैसे कोई वीर योद्धा दारिद्रयके दुःखोंको दूर करनेके लिए अपने मन्त्रियोके कहनेसे युद्धके विपयमें तीक्ष्ण शस्त्रोसे प्रहार करनेके लिए तत्पर शत्रु सैन्यको नष्ट करनेकी इच्छासे अपने मित्रको वढावा देता है उसी तरह साधु दुर्गतिके दु खको दूर करनेके लिए सद्गुरुके वचनोंसे प्रतिज्ञा लेकर कर्मोंके क्षयमे समर्थ निर्मल अहिंसा आदि व्रतोंके द्वारा कर्मरूपी शत्रुओंके समूहका विनाश करनेके लिए अभिमानको उत्तेजित करे कि मै अवश्य कर्मोंका क्षपण करूँगा। नीचेकी भूमिकामे इस प्रकारका अभिमान मुमुक्षुके लिए कर्तव्य वतलाया है। साराश यह है कि यद्यपि अहंकार या मद या गर्व या अभिमान वुरे है किन्तु अहंकारके कारण जो कर्मशत्रु है उनको नष्ट करनेका संकल्परूप अभिमान वुरा नहीं है। नीचेकी अवस्थामे इस प्रकारका संकल्प करके ही साधु अहकारका मूलसे विनाश करनेमें समर्थ होता है ॥१४॥

आगे कहते है कि यद्यपि मार्दव धर्मकी भावनासे गर्व दव जाता है किन्तु उसका सर्वथा विनाश शुक्लध्यानसे ही होता है—

मार्दवरूपी वज्रके द्वारा पंखोंके कट जानेपर मायारूपी पृथ्वीपर पड़े हुए गर्वरूपी पर्वतका भेदन अन्तरंगमे वहते हुए योगरूपी जलसे ही होता है ॥१५॥

अवर्णमायेत्यादि । क्षपकश्रेण्या हि मायासज्वलने पक्षिप्य शुक्लध्यानविशेषेण गान. किलोन्मूल्यते ॥१५॥

३ अथ मानान्महतामपि महती स्वार्थक्षतिमालक्षयस्तदुच्छेदाय मार्दवभावना मुमुक्षोरवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

मानोऽवर्णमिवापमानमभितस्तेनेऽर्ककीर्तेस्तथा,
६ मायाभूतिमचीकरत्सगरजान् षष्टि सहस्राणि तान् ।
तत्सौनन्दमिवादिराट् परमरं मानग्रहान्मोचयेत्,
तन्वन्मार्दवमाप्नुयात् स्वयमिमं चोच्छिद्य तद्वच्छिवम् ॥१६॥

९ अवर्णं—अयश शोभाभ्रश वा । तथा—तेन आर्षप्रसिद्धेन प्रकारेण । मायाभूति—अवास्तवभस्म । अचीकरत्—मणिकेतुनाम्ना देवेन कारयतिस्म । सगरजान्—सगरचक्रवर्तिपुत्रान् । षष्टि सहस्राणि पद्मे सहस्रपत्रव्यपदेशवत् प्रायिकमेतत् । तेन भीमभगीरथाभ्या विनापि तद्भस्मीकरणे षष्टिसहस्रसख्यावचन न

विशेषार्थ—आशय यह है कि जैसे इन्द्रके द्वारा छोड़े गये वज्रके प्रहारसे पक्षोंके कट जानेपर भूतलपर गिरे हुए पर्वतको उसके मध्यसे बहनेवाला जल ही विदारित कर सकता है वैसे ही मार्दव भावनाके द्वारा यद्यपि मान कषायकी शक्ति संज्वलन मान कषायरूप हो जाती है किन्तु उसका विनाश आत्मामें सतत वर्तमान पृथक्त्व वितर्क विचार नामक शुक्लध्यानके द्वारा ही होता है। क्योंकि क्षपक श्रेणीमे शुक्लध्यानके द्वारा मान कषायको माया संज्वलन कषायमे प्रक्षेपण करके उसकी सत्ताका विनाश किया जाता है ॥१५॥

मानसे महापुरुषोके भी स्वार्थकी महती क्षति होती है यह बतलाते हुए उसके विनाशके लिए मुमुक्षुको मार्दव भावना अवश्य करनेका उपदेश देते है—

मानसे सम्राट् भरतके पुत्र अर्ककीर्तिका सब ओर अपयशके साथ अपमानका विस्तार हुआ। यह बात आगममें प्रसिद्ध है। तथा मानके कारण मणिकेतु नामक देवने सगरके साठ हजार पुत्र-पौत्रोंको मायामयी भस्मके रूपसें परिणत कर दिया। इसलिए जैसे सम्राट् भरतने बाहुबलि कुमारको मानरूपी भूतसे छुडाया उसी तरह साधुको भी चाहिए कि वह किसी कारणसे अभिमानके चंगुलमे फँसे दूसरे मनुष्यको शीघ्र ही अहंकाररूपी भूतके प्रभावसे छुडाने तथा मार्दव भावनाको भाते हुए भरत सम्राट्की तरह स्वय भी इस मानका उच्छेदन करके शिवको—अभ्युदय और मोक्षको प्राप्त करे ॥१६॥

विशेषार्थ—महापुराणमे कहा है कि काशिराज अकम्पनने अपनी पुत्री सुलोचनाका स्वयंवर किया। सुलोचनाने कौरव पति जयकुमारके गलेमे वरमाला डाली। इसपर सम्राट् भरतका पुत्र अर्ककीर्ति उत्तेजित हो गया और उसने अहंकारसे भरकर जयकुमारके साथ युद्ध किया। उसमे वह परास्त हुआ और सब ओर उसका अपयश फैला। सगर चक्रवर्तीके साठ हजार पुत्र-पौत्र थे। वे बड़े अभिमानी थे और चक्रवर्तीसे कोई काम करनेकी अनुज्ञा माँगा करते थे। एक बार चक्रवर्तीने उन्हे आज्ञा दी कि कैलास पर्वतपर सम्राट् भरतके द्वारा बनवाये गये जिनालयोकी रक्षाके लिए उसके चारो ओर खाई खोदकर गंगाके पानीसे भर दिया जाये। जब वे इस काममे संलग्न थे, एक देवने उन्हे अपनी मायासे भस्म सरीखा कर दिया। पीछे उन्हे जीवित कर दिया। ये दोनो कथानक उक्त पुराणमे वर्णित है। अत साधुका कर्तव्य है कि जैसे सम्राट् भरतने बाहुबलीको अहंकारसे मुक्त कराकर कल्याणके

विरुध्यते। तत् आर्षे प्रसिद्धान्। एतेन सगरात् साक्षादसाक्षाच्च जाता सगरजा इति पुत्रवत् पौत्राणामप्यार्षा-विरोधेन ग्रहणं लक्षयति। सौनन्दं—सुनन्दाया अपत्यं बाहुबलिनम्। आदिराट्—भरत। शिवम्। तथा चोक्तं— ३

'मार्दवोपेतं गुरवोऽनुगृह्णन्ति। साधवोऽपि साधु मन्यन्ते। ततश्च सम्यग्ज्ञानादीना पात्रीभवति। अतश्च स्वर्गापवर्गफलावाप्तिरिति॥'

[तत्त्वार्थवा, ९।६।२८] ॥१६॥ ६

अथार्जवस्वभाव धर्मं व्याकर्तुकामस्तदेकनिराकार्यां निकृतिमनुभावतोऽनुवदन्नाह—

क्रोधादीनसतोऽपि भासयति या सद्वत् सतोऽप्यर्थतो-
ऽसद्वद्दोषधियं गुणेष्वपि गुणश्रद्धां च दोषेष्वपि। ९
या सूते सुधियोऽपि विभ्रमयते संवृण्वती यात्यणू-
न्यप्यभ्यूहपदानि सा विजयते माया जगद्व्यापिनी॥१७॥

सद्वत्—उद्भूतानिव। अर्थत.—प्रयोजनमाश्रित्य। अत्यणूनि—अतीव सूक्ष्माणि॥१७॥ १२

अथेहामुत्र च मायाया कुत्सा कृच्छैकनिबन्धनत्वमवबोधयति—

मार्गमे लगाया और स्वयं भी अपनेको अहंकारसे मुक्त करके कल्याणके मार्गमें लगे। उसी तरह दूसरोंको और स्वयंको भी अहंकारसे छुड़ाकर कल्याणके मार्गमे लगाना और लगना चाहिए। आगममे मार्दवकी बड़ी प्रशंसा की गयी है। तत्त्वार्थवार्तिक (९।६।२८) मे अकलंक देवने कहा है—'मार्दव भावनासे युक्त शिष्यपर गुरुओंकी कृपा रहती है। साधु भी उसे साधु मानते है। उससे वह सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होता है। सम्यग्ज्ञान आदिका पात्र होनेसे स्वर्ग ओर मोक्षरूप फलकी प्राप्ति होती है।' इस प्रकार उत्तम मार्दव भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ॥१६॥

अब आर्जव धर्मका कथन करनेकी इच्छासे उसके द्वारा निराकरणीय मायाचार की महिमा बतलाते है—

जो माया प्रयोजनवश क्रोध आदिके नहीं होते हुए भी क्रोधादि हैं ऐसी प्रतीति कराती है और क्रोध आदिके होते हुए भी क्रोधादि नहीं है ऐसी प्रतीति कराती है। तथा गुणोंमे भी दोप बुद्धि कराती है और दोपोमें भी गुण बुद्धि कराती है। तथा जो अत्यन्त सूक्ष्म भी विचारणीय स्थानोको ढाँकती हुई विद्या सम्पन्न बुद्धिमानोको भी भ्रममे डाल देती है वह संसारव्यापी माया सर्वत्र विजयशील है॥१७॥

विशेपार्थ—मनमें कुछ, वचनमे कुछ और कार्य कुछ इस प्रकार मन-वचन-कायकी कुटिलताका नाम माया है। यह माया संसारव्यापी है। इसके फन्देसे विरले ही निर्मल हृदय पुरुष बचे हुए हैं। अन्यथा सर्वत्र उसका साम्राज्य है। मतलबी दुनिया अपना मतलब निकालनेके लिए इस मायाचारका खुलकर प्रयोग करती है। दुनियाको ठगनेके लिए दुर्जन भी सज्जनका बाना धारण करते है, चोर और डाकू साधुके वेशमे घूमते है। बनावटी क्रोध करके भी लोग अपना काम निकालते हैं। जिससे काम नही निकलता उस गुणीको भी दोपी बतलाते हैं और जिससे काम निकलता है उस दोपीको भी गुणी बतलाते है। यह सब स्वार्थ-की महिमा है और मायाचार उसका सहायक होता है॥१७॥

यह माया इस लोक और परलोकमें एकमात्र दुःखका ही कारण है, यह बतलाते हैं—

यः सोढुं कपटीत्यकीर्तिभुजगीमीष्टे श्रवोन्तश्चरीं,
सोपि प्रेत्य दुरत्ययात्ययमयीं मायोरगीमुज्झतु ।
३ नो चेत् स्त्रीत्वनपुंसकत्वविपरीणामप्रबन्धार्पितं
ताच्छील्यं वहु धातृकेलिकृतपुंभावोऽप्यभिव्यङ्क्ष्यति ॥१८॥

श्रवोन्तश्चरी—कर्णान्तरचारिणीम् । प्रेत्य—परलोके । दुरत्ययात्ययमयी—दुरतिक्रमापायवहुलाम् ।
६ ताच्छील्यं—स्त्रीनपुंसकस्वभावता भावस्त्रीत्वं भावनपुंसकत्व चेत्यर्थ । तल्लिङ्गानि यथा—

श्रोणिमार्दवत्रस्तत्व-मुग्धत्वक्लीवतास्तना. ।
पुस्कामेन सम सप्त लिङ्गानि स्त्रैणसूचने ॥
९ खरत्व-मेहनस्ताब्ध्य-शौण्डीर्यश्मश्रुधृष्टता. ।
स्त्रीकामेन समं सप्तलिङ्गानि पौंस्नवेदने ॥
यानि स्त्रीपुसलिङ्गानि पूर्वाणीति चतुर्दश ।
१२ श्राव्यनि (सर्वाणि) तानि मिश्राणि पण्ढभावनिवेदने ॥'

[पञ्चस अमि. ग. १।१९६-१९८]

अत्र मानसा भावाभावस्य शारीराश्च द्रव्यस्य सूचका इति विभाग. ।

१५ अभिव्यङ्क्ष्यति—अभिव्यक्त करिष्यति ॥१८॥

'यह कपटी है' इस प्रकारकी अपकीर्तिरूपी सर्पिणीको कानोंके भीतर घूमते हुए सहन करनेमें जो समर्थ है, वह भी परलोकमें दुःखसे टारे जाने योग्य कष्टोंसे भरपूर मायारूपी नागिनको छोड देवे । यदि उसने ऐसा नहीं किया तो दैवके द्वारा क्रीडावश पुरुषत्व भावको प्राप्त होकर भी वह स्त्रीत्व और नपुंसकत्व रूप विविध परिणमनोंकी परम्परासे संयुक्त स्त्रीत्व और नपुंसकत्व रूप प्रचुर भावोंको ही व्यक्त करेगा ॥१८॥

विशेषार्थ—वेद या लिंग तीन होते हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद । ये तीनों भी दो-दो प्रकारके होते हैं—द्रव्यरूप और भावरूप । शरीरमें जो स्त्री-पुरुष आदिके चिह्न होते है उन्हें द्रव्यवेद कहते है और मनके विकारको भाववेद कहते हैं । नाम कर्मके उदयसे द्रव्यवेदकी रचना होती है और नोकषायके उदयसे भाववेद होता है । ये द्रव्यवेद और भाववेद प्रायः समान होते है किन्तु कर्म भूमिके मनुष्य और तिर्यंचोमे इनकी विषमता भी देखी जाती है । अर्थात् जो द्रव्यरूपसे स्त्री है वह भावरूपसे स्त्री या पुरुष या नपुंसक होता है । जो द्रव्यरूपसे पुरुष है वह भावसे पुरुष या स्त्री या नपुंसक होता है । जो द्रव्यरूपसे नपुसक होता है वह भावसे नपुंसक या स्त्री या पुरुष होता है । इस तरह नौ भेद[1] होते है यह विचित्रता मायाचार करनेका परिणाम है । जो मायाचार करते है उनके साथ कर्म भी खेल खेलता है कि शरीरसे तो उन्हें पुरुष वनाता है किन्तु भावसे या तो वे स्त्री होते है या नपुंसक होते है । यह उक्त श्लोकका अभिप्राय है ॥१८॥

---

१ 'या स्त्री द्रव्यरूपेण भावेन साऽस्ति स्त्री ना नपुंसक ।
पुमान् द्रव्येण भावेन पुमान् नारी नपुसक ॥
संढो द्रव्येण, भावेन सढो नारी नरो मत ।
इत्येवं नवधा वेदो द्रव्यभावविभेदत ॥—अमित पं स. १।१९३-१९४।

अथ मायाविनो लोकेऽत्यन्तमविश्वास्यता प्रकाशयति—

यो वाचा स्वमपि स्वान्तं वाचं वञ्चयतेऽनिशम् ।
चेष्टया च स विश्वास्यो मायावी कस्य धीमतः ॥१९॥ ३

य इत्यादि । यन्मनस्यस्ति तन्न वदति, यच्च वक्ति तन्न कायेन व्यवहरतीति भाव. ॥१९॥

अथार्जवशीलाना सम्प्रति दुर्लभत्वमाह—

चित्तमन्वेति वाग् येषां वाचमन्वेति च क्रिया । ६
स्वपरानुग्रहपराः सन्तस्ते विरलाः कलौ ॥२०॥

अन्वेति—अनुवर्तते ॥२०॥

अथार्जवशीलाना माहात्म्यमाह— ९

आर्जवस्फूर्जदूर्जस्काः सन्तः केऽपि जयन्ति ते ।
ये निगीर्णत्रिलोकाया. कृन्तन्ति निकृतेर्मन. ॥२१॥

ऊर्ज—उत्साह ॥२१॥ १२

अथार्जवनिर्जितदुर्जयमायाकषायाणा मुक्तिवर्त्मनि निष्प्रतिबन्धा प्रवृत्ति स्यादित्युपदिशति—

दुस्तरार्जवनावा यैस्तीर्णा मायातरङ्गिणी ।
इष्टस्थानगतौ तेषां कः शिखण्डी भविष्यति ॥२२॥ १५

शिखण्डी—विघ्न ॥२२॥

अथ मायाया दुर्गतिक्लेशावेशदुस्सह-गर्हानिबन्धनत्वमुदाहरणद्वारेण प्रणिगदति—

मायावीका लोकमें किंचित् भी विश्वास नहीं किया जाता, इस बातको प्रकाशित करते हैं—

जो मायावी अपने ही मनको अपने वचनोंसे और अपने वचनोंको शारीरिक व्यापारसे रात-दिन ठगा करता है—क्योंकि जो मनमें है वह कहता नहीं है और जो कहता है वह करता नहीं है—उसका विश्वास कौन समझदार कर सकता है ॥१९॥

इस समय सरल स्वभावियोंकी दुर्लभता बतलाते हैं—

जिनके वचन मनके अनुरूप होते है और जिनकी चेष्टा वचनके अनुरूप होती है अर्थात् जैसा मनमें विचार करते है वैसा बोलते है और जो कहते है वही करते है, ऐसे अपने और दूसरोंके उपकारमे तत्पर साधु इस कलि कालमे बहुत स्वल्प हैं ॥२०॥

सरल स्वभावियोंका माहात्म्य बतलाते हैं—

जो तीनों लोकोंको अपने उदरमे रखनेवाली अर्थात् तीनों लोकोंको जीतनेवाली मायाके हृदयको भी विदीर्ण कर देते हैं, वे सरल स्वभावी उत्साही लोकोत्तर साधु जयशील होते हैं, उनका पद सबसे उत्कृष्ट होता है ॥२१॥

आगे कहते हैं कि आर्जव धर्मसे दुर्जय माया कषायको जीतनेवालोंकी मोक्षमार्गमे बेरोक प्रवृत्ति होती है—

जिन्होंने आर्जव धर्मरूपी नावके द्वारा दुस्तर मायारूपी नदीको पार कर लिया है उनके इष्ट स्थान तक पहुँचनेमे कौन बाधक हो सकता है ॥२२॥

माया दुर्गतियोके कष्ट और असह्य निन्दाका कारण है, यह बात उदाहरणके द्वारा बताते हैं—

खलूक्त्वा हृत्कर्णक्रकचमखलानां यदतुलं,
क्लिल क्लेशं विष्णोः कुसृतिरसृजत् संसृतिसृतिः ।
३ हतोऽश्वत्थामेति स्ववचनविसंवादितगुरु-
स्तपःसूनुर्म्लान. सपदि शृणु सद्भ्यचोऽन्तरधितः ॥२३॥

खलूक्त्वा—नोच्यते तत् साधुभिरिति सवन्ध । अखलाना—सज्जनानाम् । किल—आगमे लोके वा ६ श्रूयते । कुसृति.—वञ्चना । संसृतिसृतिः—संसारस्योपायभूता अनन्तानुबन्धिनीत्यर्थ । अश्वत्थामा—द्रोणाचार्यपुत्रो हस्तिविशेषश्च । विसंवादित —कुञ्जरो न नर इत्युक्त्वा विप्रलम्भित । गुरुः—द्रोणाचार्य. । तपःसूनु —युधिष्ठिर । सद्भ्यचोन्तरधित.—साधुभिरदर्शनमात्मन इच्छति स्म । सन्तो मा मा पश्यन्तु ९ इत्यन्तर्हितोऽभूदित्यर्थ । 'सद्भ्यच ' इत्यत्र 'येनादर्शनमिच्छति' इत्यनेन पञ्चमी ॥२३॥

अथ शौचरूप धर्मं व्याचिख्यासुस्तदेकप्रत्याख्येयस्य सन्निहितविषयगर्द्धचोत्पादलक्षणस्य लोभस्य सर्वपापमूलत्व-सर्वगुणभ्रंशकत्वप्रकाशनपूर्वकं कृशीकरणमवश्यकरणीयतया मुमुक्षूणामुपदिशति—

१२ लोभमूलानि पापानीत्येतद्यैर्न प्रमाण्यते ।
स्वयं लोभाद् गुणभ्रंशं पश्यन्तः श्यन्तु तेऽपि तम् ॥२४॥

हे साधुओ ! सुनो । संसार मार्गको बढानेवाली अनन्तानुबन्धी मायाने विष्णुको जो असाधारण कष्ट दिया, जैसा कि लोकमे और शास्त्रमें कहा है, वह सज्जनोंके हृदय और कानोंको करौतकी तरह चीरनेवाला है । इसलिए साधुजन उसकी चर्चा भी नहीं करते । तथा 'अश्वत्थामा मर गया' इस प्रकारके वचनोसे अपने गुरु द्रोणाचार्यको भुलावेमें डालनेवाले धर्मराज युधिष्ठिरका मुख तत्काल मलिन हो गया और उन्होंने साधुओसे अपना मुँह छिपा लिया ॥२३॥

विशेषार्थ—श्रीकृष्णकी द्वारिका द्वीपायनके क्रोधसे जलकर भस्म हो गयी । केवल श्रीकृष्ण और बलदेव दोनो भाई बचे । श्रीकृष्णको प्यास लगी तो बलदेव पानीकी खोजमे गये । इधर जरत्कुमारके बाणसे श्रीकृष्णका अन्त हो गया । यह सब महाभारतके युद्धमे श्रीकृष्णकी चतुराई करनेका ही फल है । उन्हींके ही उपदेशसे सत्यवादी युधिष्ठिरको झूठ बोलना पडा । क्योकि द्रोणाचार्यके मरे बिना पाण्डवोंका जीतना कठिन था । अतः अश्वत्थामाके मरणकी बात युधिष्ठिरके मुखसे कहलायी , क्योंकि वे सत्यवादी थे । उनकी बातपर द्रोणाचार्य विश्वास कर सकते थे । उधर अश्वत्थामा द्रोणाचार्यका पुत्र था और एक हाथीका नाम भी अश्वत्थामा था । हाथी मरा तो युधिष्ठिरने जोरसे कहा, अश्वत्थामा मारा गया । साथ ही धीरेसे यह भी कह दिया कि 'न जाने मनुष्य है या हाथी,' । द्रोणाचार्यके तत्काल प्राण निकल गये । युधिष्ठिरको बडा पश्चात्ताप हुआ और उन्होने अपना मुख छिपा लिया कि उसे कोई सत्पुरुष न देखे । यह सब मायाचारका फल है ॥२३॥

इस प्रकार उत्तम आर्जव भावना प्रकरण समाप्त हुआ ।

आगे ग्रन्थकार शौचधर्मका कथन करना चाहते हैं । उसमे सबसे प्रथम त्यागने योग्य है लोभ । निकटवर्ती पदार्थोंमे तीव्र चाहको उत्पन्न करना लोभका लक्षण है । यह लोभ सब पापोका मूल है, सब गुणोंको नष्ट करनेवाला है । इसलिए मुमुक्षुओको अवश्य ही लोभको कम करना चाहिए, ऐसा उपदेश देते है—

जो लोग 'लोभ पापोंका मूल है' इस लोक प्रसिद्ध वचनको भी प्रमाण नहीं मानते, वे भी स्वयं लोभसे दया-मैत्री आदि गुणोको विनाश अनुभव करके उस लोभको कम करे ॥२४॥

गुणाः—दयामैत्रीसाधुकारादयः। व्यासोऽप्याह—

'भूमिष्ठोऽपि रथस्थास्तान् पार्थः सर्वधनुर्धरान्।
एकोऽपि पातयामास लोभः सर्वगुणानिव ॥' [ ] ३

श्यन्तु—कृशीकुर्वन्तु ॥२४॥

अथ गुणलक्षशतेन समकक्षमप्यौचित्यमत्यन्तलुब्धस्य नित्यमुद्वेजनीय स्यादित्युपदिशति—

गुणकोटया तुलाकोटिं यदेकमपि टीकते। ६
तदप्यौचित्यमेकान्तलुब्धस्य गरलायते ॥२५॥

तुलाकोटिं—ऊर्ध्वमानान्तमुपमोत्कर्ष च। टीकते—चटति। औचित्य—दान-प्रियवचनाभ्यामन्यस्य सन्तोषोत्पादनम्। उक्त च— ९

'औचित्यमेकमेकत्र गुणाना राशिरेकत ।
विषायते गुणग्राम औचित्यपरिवर्जित. ॥' [ ] ॥२५॥

अथ स्वपरजीवितारोग्येन्द्रियोपभोगविषयभेदादष्टविधेनापि लोभेनाकुलित सातत्येन सर्वमकृत्यं करोतीत्युपदिशति— १२

उपभोगेन्द्रियारोग्यप्राणान् स्वस्य परस्य च।
गृध्यन् मुग्धः प्रबन्धेन किमकृत्यं करोति न ॥२६॥ १५

अकृत्य—गुरुपितृवधादिकम् ॥२६॥

विशेषार्थ—'लोभ पापका मूल है' यह उक्ति लोकमे प्रसिद्ध है। फिर भी जो इसे नहीं मानते वे स्वयं अनुभव करेंगे कि लोभसे किस प्रकार सद्‌गुणोंका नाश होता है। व्यासजीने भी कहा है—'भूमिपर खड़े हुए भी अकेले अर्जुनने रथमें बैठे हुए उन सभी धनुषधारियोंको उसी तरह मार गिराया जैसे लोभ सब गुणोंको नष्ट कर देता है।' इस दृष्टान्तसे स्पष्ट है कि लोभ सब गुणोंका नाशक है ॥२४॥

आगे कहते है कि औचित्य नामक गुण करोड गुणोंके समान है फिर भी वह अत्यन्त लोभीको कष्टदायक होता है—

जो अकेला भी औचित्य गुण एक करोड़ गुणोंकी तुलनामें भारी पड़ता है वही औचित्य गुण अत्यन्त लोभी मनुष्यको विषके तुल्य प्रतीत होता है ॥२५॥

विशेषार्थ—दान द्वारा तथा प्रिय वचनोंके द्वारा दूसरेको सन्तुष्ट करनेका नाम औचित्य गुण है। इस गुणकी बड़ी महिमा है। कहा है—'एक ओर एक औचित्य गुण और दूसरी ओर गुणोकी राशि। औचित्य गुणके विना गुणोंकी राशि विष तुल्य प्रतीत होती है।' यदि मनुष्यमे प्रिय वचनोंके द्वारा भी दूसरेको सन्तोष दिलानेकी क्षमता न हो तो उसके सभी गुण व्यर्थ है। किन्तु लोभी मनुष्य दान देना तो दूर, प्रिय वचनोके द्वारा भी दूसरेको सन्तुष्ट करना नहीं चाहता। उसे किसी भी प्रार्थीका आना ही नहीं सुहाता ॥२५॥

स्वजीवन, परजीवन, आरोग्य और पाँचो इन्द्रियोंके उपभोग इन आठ विषयोंकी अपेक्षा लोभके आठ भेद होते है। इन आठ प्रकारके लोभोसे व्याकुल मनुष्य सभी न करने योग्य काम करता है ऐसा कहते है—

अपने और अपने स्त्री-पुत्रादिके इष्ट विषयोको, इन्द्रियोंको, आरोग्यको और प्राणोंको

अथ लोभपरतन्त्रस्य गुणभ्रंशं व्याचष्टे—

तावत्कीर्त्यै स्पृहयति नरस्तावदन्वेति मैत्रीं,
तावद्वृत्तं प्रथयति बिभर्त्याश्रितान् साधु तावत् ।
३ तावज्जानात्युपकृतमघाच्छङ्कते तावदुच्चै-
स्तावन्मानं वहति न वशं याति लोभस्य यावत् ॥२७॥

अन्वेति—अविच्छेदेन वर्तयति ॥२७॥

६ अथ लोभविजयोपायसेवायां शिवार्थिनः सज्जयन्नाह—

प्राणेशमनु मायाम्बां मरिष्यन्तीं विलम्बयन् ।
लोभो निशुम्भ्यते येन तद्भजेच्छौचदेवतम् ॥२८॥

९ प्राणेशमनु—स्वपराभेदप्रत्ययलक्षणेन मोहेन भर्त्रा सह । मायाम्बां—वञ्चनामातरम् । मरिष्यन्तीं—मरणोन्मुखीं । विलम्बयन्—अवस्थापयन् । नारी हि स्वभर्त्रा सह मर्तुकामा पुत्रेण धार्यत इत्युक्तिलेशः । शौचं—प्रकर्षप्राप्ता लोभनिवृत्तिः । मनोगुप्तौ मनसः परिस्पन्दः सकलः प्रतिषिध्यते । तत्राक्षमस्य परवस्तुष्व-
१२ निष्टप्रणिधानोपरमः शौचमिति । ततोऽस्य भेदः ॥२८॥

अथ सन्तोषाभ्यासनिरस्ततृष्णस्यात्मध्यानोपयोगोद्योगमुद्योतयन्नाह—

अत्यन्त चाहनेवाला मूढ मनुष्य लगातार कौन न करने योग्य काम नहीं करता ? अर्थात् सभी बुरे काम करता है ॥२६॥

आगे कहते हैं कि लोभीके गुण नष्ट हो जाते हैं—

मनुष्य तभी तक यश की चाह करता है, तभी तक मित्रताका लगातार पालन करता है, तभीतक चारित्रको बढाता है, तभी तक आश्रितोंका सम्यक् रीतिसे पालन करता है, तभी तक किये हुए उपकारको मानता है, तभी तक पापसे डरता है, तभी तक उच्च सन्मानको धारण करता है जबतक वह लोभके वशमें नहीं होता । अर्थात् लोभके वशमें होनेपर मनुष्यके उक्त सभी सद्गुण नष्ट हो जाते हैं ॥२७॥

आगे मुमुक्षुओंको लोभको जीतनेके उपायोंकी आराधनामें लगाते हैं—

अपने पति मोहके साथ मरनेकी इच्छुक मायारूपी माताको मरनेसे रोकनेवाला लोभ जिनके द्वारा निगृहीत किया जाता है उस शौचरूपी देवताकी आराधना करनी चाहिए ॥२८॥

विशेषार्थ—स्त्री यदि पतिके साथ मरना चाहती है तो पुत्र उसे रोकता है । लोभका पिता मोह है और माता माया है । जब मोह मरता है तो उसके साथ माया भी मरणोन्मुख होती है । किन्तु लोभ उसे मरने नहीं देता । इसलिए लोभका निग्रह करनेके लिए शौच देवताकी आराधना करनी चाहिए । यहाँ शौचको देवता इसलिए कहा है कि देवताको अपने आश्रितका पक्षपात होता है । अतः जो शौचका आश्रय लेते हैं शौच उन्हें लोभके चंगुलसे छुड़ा देता है । लोभकी सर्वोत्कृष्ट निवृत्तिको शौच कहते हैं । मनोगुप्तिमें तो मनकी समस्त प्रवृत्तियोंको रोकना होता है । जो उसमें असमर्थ होता है उसका परवस्तुओंमे अनिष्ट संकल्प-विकल्प न करना शौच है । इसलिए मनोगुप्तिसे शौच भिन्न है ॥२८॥

जो सन्तोषका अभ्यास करके तृष्णाको दूर भगा देते हैं उनके आत्मध्यानमें उपयोग लगानेके उद्योगको प्रकट करते हैं—

अविद्यासंस्कार-प्रगुणकरण-ग्रामशरणः,
परद्रव्यं गृध्नुः कथमहमधोधश्चिरमगाम् ।
तदद्योद्यद्विद्यादृतिधृनिसुधास्वादहृततृ-
ड्ङ्गर स्वध्यात्योपर्युपरि विहराम्येष सततम् ॥२९॥ ३

प्रगुणः—विषयग्रहणाभिमुखः । शरण—आश्रयः । गृध्नुः—अभिलाषुक । स्वध्यात्या—आत्मनि संतत्या वर्तमानया निर्विकल्पनिश्चलया बुद्धया । तदुक्तम्— ६

'इष्टे ध्येये स्थिरा बुद्धिर्या स्यात्संतानवर्तिनी ।
ज्ञानान्तरापरामृष्टा सा ध्यातिर्ध्यानमीरिता ॥' [तत्त्वानु , ७२ श्लो.] ॥२९॥

९

अथ शौचमहिमानमभिष्टौति—

निर्लोभतां भगवतीमभिवन्दामहे मुहुः ।
यत्प्रसादात्सतां विश्वं शश्वद्भातीन्द्रजालवत् ॥३०॥

इन्द्रजालवत्—इन्द्रजालेन तुल्यमनुपभोग्यत्वात् ॥३०॥ १२

अथ लोभमाहात्म्यमुपाख्यानमुखेन ख्यापयन्नाह—

आत्मा और शरीरमें अभेदज्ञान रूप अविद्याके संस्कारसे अपने-अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें संलग्न इन्द्रियाँ ही अनादिकालसे मेरे लिए शरण थीं। अतः परद्रव्यकी चाहसे मैं किस प्रकार नीचे-नीचे जाता रहा। अब उत्पन्न हुई शरीर और आत्माके भेदज्ञानरूप विद्याका सारभूत जो सन्तोषरूप अमृत है, उसके आस्वादसे मेरा तृष्णारूपी विष दूर हो गया है। अतः अब वही मैं आत्मामें लीन निर्विकल्प निश्चल ध्यानके द्वारा निरन्तर ऊपर-ऊपर विहार करता हूँ ॥२९॥

विशेषार्थ—आत्मा और शरीरमें एकत्वबुद्धि होनेसे, अथवा शरीरको ही आत्मा मानने-से यह जीव विषयासक्त इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर उन्हींमे लीन रहता है। इसीसे उसका पतन होता है और संसारका अन्त नहीं आता। वह रात-दिन परद्रव्यको प्राप्त करनेके उपायोंमें ही फँसा रहता है। कितना भी द्रव्य होनेसे उसकी तृष्णा तृप्त होनेके बदले और बढ़ती है। इसके विपरीत जब वह शरीर और आत्माके भेदको जान लेता है तो उस भेदज्ञानके निचोडसे उसे असन्तोषके स्थानमें सन्तोष होता है और उससे उसकी तृष्णा शान्त हो जाती है। तब वह आत्माके निर्विकल्प स्थानमें मग्न होकर उत्तरोत्तर मोक्षकी ओर बढ़ता है। ध्यानका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'भावसाधनमें ध्यातिको ध्यान कहते हैं। और सन्तानक्रमसे चली आयी जो बुद्धि अपने इष्ट ध्येयमें स्थिर होकर अन्य ज्ञानके परामर्श-से रहित होती है अर्थात् निर्विकल्प रूपसे आत्मामें निश्चल होती है उसे ही ध्याति कहते हैं। यही ध्यान है' ॥२९॥

शौचके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जिसके प्रसादसे शुद्धोपयोगमें निष्ठ साधुओंको सदा यह चराचर जगत् इन्द्रजालके तुल्य भासमान होता है उस भगवती निर्लोभताको मैं बारम्बार नमस्कार करता हूँ ॥३०॥

एक कथानकके द्वारा लोभका माहात्म्य कहते हैं—

तादृक्षे जमदग्निमिष्टिनृपं स्वस्यातिथेयाध्वरे,
हत्वा स्वीकृतकामधेनुरचिराद्यःकार्तवीर्यः क्रुधा।
जघ्ने सान्वयसाधनः परशुना रामेण तत्सूनुना,
तद्दुर्वण्डित इत्यपाति निरये लोभेन मन्ये हठात् ॥३१॥

तादृक्षे—सकललोकचित्तचमत्कारिणि। जघ्ने—हतः। सान्वयसाधनः—संतानसैन्यसहितः। रामेण—परशुरामनाम्ना ॥३१॥

अथानन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानावरण-प्रत्याख्यानावरण-संज्वलन संज्ञिकाः क्रोध-मान-माया-लोभानां प्रत्येकं चतस्रोऽवस्था दृष्टान्तविशेषैः स्पष्टयन् क्रमेण तत्फलान्यार्याद्वयेनोपदिशति—

दृषदवनि-रजोऽबुराजिवदश्मस्तम्भास्थिकाष्ठवेत्रकवत्।
वंशाङ्घ्रिमेषशृङ्गोक्षमूत्रचामरवदनुपूर्वम् ॥३२॥
कृमि-चक्र-कायमलरजनिरागवदपि च पृथगवस्थाभिः।
क्रुन्मानदम्भलोभा नारकतिर्यङ्नृसुरगतीः कुर्युः ॥३३॥

दृषदित्यादि। यथा शिला भिन्ना सती पुनरुपायशतेनापि न संयुज्यते तथाऽनन्तानुबन्धिना क्रोधेन विघटितं मनः। यथा च पृथ्वी विदीर्णा सती महोपक्रमेण पुनर्मिलति तथाऽप्रत्याख्यानेन विघटितं चेतः। यथा च धूली रेखाकारेण मध्ये भिन्ना अल्पेनाप्युपक्रमेण पुनर्मिलति तथा प्रत्याख्यानेन विघटितं चित्तम्। यथा च

समस्त लोकके चित्तमें आश्चर्य पैदा करनेवाले अपने अतिथि सत्कारमें, सत्कार करनेवाले ऋषि जमदग्निको मारकर उनकी कामधेनु ले जाने वाले राजा कार्तवीर्यको जमदग्निके पुत्र परशुरामने क्रुद्ध होकर सेना और सन्तानके साथ मार डाला। इसपर ग्रन्थकार कल्पना करते हैं कि उसको मिला यह दण्ड पर्याप्त नहीं था, मानो इसीसे लोभने उसे बलपूर्वक नरकमें डाल दिया ॥३१॥

विशेषार्थ—महाभारतके वनपर्व अध्याय ११६ में यह कथा इस प्रकार आती है कि राजा कार्तवीर्य जमदग्निके आश्रम में गये और उनकी कामधेनु गायका बछड़ा जबरदस्ती ले आये। उस समय आश्रममें केवल ऋषिपत्नी ही थी। उन्होंने राजाका आतिथ्य किया। किन्तु राजाने उसकी भी उपेक्षा की। जब परशुराम आया तो उसके पिता ने उससे यह समाचार कहा। रामने राजा कार्तवीर्यको मार डाला। पीछे एक दिन राजाके उत्तराधिकारियोंने आश्रममें जाकर जमदग्निको मार डाला। इस सब हत्याकाण्डकी जड़ है कामधेनुका लोभ।' यही लोभ कार्तवीर्य और उसके समस्त परिवारकी मृत्युका कारण बना ॥३१॥

इस प्रकार उत्तम शौच भावनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

क्रोध, मान, माया, लोभमें से प्रत्येककी चार अवस्थाएँ होती हैं, उनके नाम अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन हैं। दृष्टान्तोंके द्वारा उसे स्पष्ट करते हुए क्रमसे दो आर्याओंके द्वारा उनका फल बतलाते हैं—

क्रोध, मान, माया और लोभ इनमें-से प्रत्येककी क्रमसे चार अवस्थाएँ होती हैं। शिलाकी रेखा, पृथ्वीकी रेखा, धूलीकी रेखा और जलकी रेखाके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध होता है। और यह क्रोध क्रमसे नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें उत्पन्न करता है। पत्थरका स्तम्भ, हड्डी, लकड़ी और वेतके समान क्रमसे अनन्तानुबन्धी आदि मान होता है

जलं यष्ट्यादिना मध्ये छिद्यमानं स्वयमेव नि:संबन्धं मिलति तथा संज्वलनेन विघटितं चित्तमित्युपमानार्थं । एवमुत्तरेष्वपि यथास्वमसौ व्याख्येयः । वंशाङ्घ्रि.—वेणुमूलम् ॥३२॥ क्रिमिराग.—क्रिमित्यक्तरक्ताहार । तद्रञ्जितोर्णातन्तुनिष्पादितो हि कम्बलो दग्धावस्थोऽपि न विरज्येत । चक्रकायमलौ—घर्णकिट्टिका देहमलश्च । रजनी—हरिद्रा । रागः—रञ्जनपर्याय । एष क्रम्यादिभि प्रत्येकमभिसवध्यते । अवस्थाभिः—सर्वोत्कृष्ट-हीन-हीनतर-हीनतमोदयरूपाभिरनन्तानुवन्ध्यादिशक्तिभि ॥३३॥

जो क्रमसे नरक गति, तिर्यचगति, मनुष्यगति और देवगतिमें जन्म कराता है। बाँसकी जड, मेढेके सींग, बैलका मूतना और चमरीके केशोंके समान अनन्तानुवन्धी आदि माया होती है जो क्रमसे नरक गति, तिर्यंचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें उत्पन्न कराती है। क्रमिराग, चकेका मल, शरीरका मल और हल्दीके रगके समान क्रमसे अनन्तानुवन्धी आदि लोभ होता है जो क्रमसे नरकगति, तिर्यचगति, मनुष्यगति, देवगतिमें जन्म कराता है ॥३२-३३॥

विशेषार्थ—प्रत्येक कषायकी सर्वोत्कृष्ट अवस्थाको अनन्तानुवन्धी, उससे हीनको अप्रत्याख्यानावरण, उससे भी हीनको प्रत्याख्यानावरण और सबसे हीन अवस्थाको संज्वलन कहते हैं। यों हीनादि अवस्था अनन्तानुवन्धी आदिमें भी होती है क्योंकि प्रत्येक कषायके उदयस्थान असंख्यात होते हैं। फिर भी ये हीनादि अवस्था जो अप्रत्याख्यानावरण आदि नाम पाती है उससे भिन्न है। सामान्यतया मिथ्यात्व सहभावी कषायको अनन्तानुवन्धी कहते हैं। उसके उदयमें सम्यग्दर्शन नही होता। इसी तरह अणुविरतिकी रोधक कषायको अप्रत्याख्यानावरण, महाविरतिको रोकनेवाली कषायको प्रत्याख्यानावरण और यथाख्यात चारित्रकी घातक कषायको संज्वलन कहते है। मिथ्यादृष्टिके इन चारों कषायोंका उदय होता है। सम्यग्दृष्टिके अनन्तानुवन्धीके विना तीन ही प्रकारकी कषायोंका उदय होता है। इसी प्रकार आगे भी जानना। ऊपर प्रत्येक कषायको उपमाके द्वारा समझाया है। जैसे—पत्थर टूट जानेपर सैकडो उपाय करनेपर भी नहीं जुडता, उसी तरह अनन्तानुवन्धी क्रोधसे टूटा हुआ मन भी नहीं मिलता। जैसे पृथ्वी फट जानेपर महान् प्रयत्न करनेसे पुन मिल जाती है उसी तरह अप्रत्याख्यान कषायसे टूटा हुआ मन भी वहुत प्रयत्न करनेसे मिलता है। जैसे धूलमे रेखा खींचनेसे वह दो हिस्सोमे विभाजित हो जाती है और थोडा-सा भी प्रयत्न करनेसे मिल जाती है, उसी तरह प्रत्याख्यान कषायसे विघटित मन भी मिल जाता है। जैसे जलमें लकडीसे रेखा खींचते ही वह स्वयं ही तत्काल मिल जाती है, उसी तरह संज्वलन कषायसे विघटित चित्त भी मिल जाता है। इसी तरह शेष उपमानोका अर्थ भी जानना। ऊपर जो अनन्तानुवन्धी कषायसे नरक गति, अप्रत्याख्यानसे तिर्यंच गतिमे जानेकी बात कही है यह स्थूल कथन है। क्योंकि अनन्तानुवन्धीका उदयवाला द्रव्य लिंगी निर्ग्रन्थ मरकर ग्रैवेयकमे देव होता है। इसी तरह अनन्तानुवन्धीके उदयवाला नारकी और देव मरकर मनुष्य या तिर्यंच ही होता है। प्रथम नम्बरकी कषायमे केवल कृष्ण लेश्या ही होती है, दूसरे नम्बरकी कषायमे कृष्णसे लेकर क्रमश वढते हुए छह लेश्याएँ होती है। तीन नम्बरकी कषायमे छहों लेश्यासे लेकर क्रमशः वढते हुए शुक्ल लेश्या होती है। और चतुर्थ नम्बरकी कषायमे केवल शुक्ल लेश्या ही होती है और लेश्याके अनुसार ही आयुका बन्ध होता है ॥३२-३३॥

---

१. घ्राणकि—भ कु. च. ।

अथोत्तमक्षमादिभि क्रोधादीन् जितवतः शुक्लध्यानवलेन जीवन्मुक्तिसुलभत्वमुपदिशति—

संख्यातादिभवान्तराब्ददलपक्षान्तर्मुहूर्ताशयान्
दृग्देशव्रतवृत्तसाम्यमथनान् हास्यादिसैन्यानुगान् ।
य: क्रोधादिरिपून् रुणद्धि चतुरोऽप्युद्घक्षमाद्यायुधै-
र्योगक्षेमयुतेन तेन सकलश्रीभूयमीषल्लभम् ॥३४॥

संख्यातादीनि—सख्यातान्यसख्यातान्यनन्तानि च । अव्ददलं—पण्मासम् । आशय—वासना । उक्त च—

'अंतोमुहुत्तपक्ख छम्मासं संखऽसंखणंतभव ।
सजलणमादियाणं वासणकालो दु णियमेण ॥' [गो. कर्म , गा. ४६]

दृगित्यादि—यथाक्रममनन्तानुवन्ध्यप्रत्याख्यानावरणप्रत्याख्यानावरणसंज्वलनसंज्ञान् । उक्तं च—

'पढमो दंसणघायी विदिओ तह देसविरदिघाई य ।
तदिओ सयमघाई चउत्थो जहखादघाई य ॥' [प्रा पञ्च., गा. १।११५]

आगे कहते हैं कि उत्तम क्षमा आदिके द्वारा क्रोध आदिको जीतनेवाले साधुके लिए शुक्ल ध्यानके द्वारा जीवन्मुक्ति प्राप्त करना सुलभ है—

सम्यग्दर्शनके घातक अनन्तानुवन्धी क्रोध आदिका वासनाकाल संख्यात, असंख्यात और अनन्त भव है। देश चारित्रको घातनेवाले अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासनाकाल छह मास है। सकल चारित्रके घातक प्रत्याख्यानावरण क्रोध आदिका वासनाकाल एक पक्ष है और यथाख्यात चारित्रके घातक संज्वलन क्रोध आदिका वासनाकाल अन्तर्मुहूर्त है। जो उत्तम क्षमा आदि आयुधोंके द्वारा हास्य आदि सेनाके साथ चारों ही क्रोध आदि शत्रुओं-को रोकता है, क्षपक श्रेणीमें शुक्ल ध्यानके साथ एक रूप हुए अर्थात् एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्ल ध्यानमें आरूढ हुए उस साधुको सकलश्री अर्थात् सशरीर अनन्तज्ञानादि चतुष्टय सहित समवसरण आदि विभूति विना श्रमके प्राप्त हो जाती है ॥३४॥

विशेषार्थ—उक्त चारों कपाय सम्यक्त्व आदिकी घातक हैं। कहा है—'प्रथम अनन्ता-नुवन्धी कपाय सम्यग्दर्शनकी घातक है। दूसरी अप्रत्याख्यानावरण कपाय देशचारित्रकी घातक है। तीसरी प्रत्याख्यानावरण कपाय सकल चारित्रकी घातक है और चौथी संज्वलन कपाय यथाख्यात चारित्रकी घातक है।' तथा इन कपायोंका वासनाकाल इस प्रकार कहा है—'संज्वलन आदि कपायोंका वासनाकाल नियमसे अन्तर्मुहूर्त, एक पक्ष, छह मास और संख्यात, असंख्यात, अनन्तभव होता है।'

इन कपायों रूपी शत्रुओंको वही जीत सकता है जो योगक्षेमसे युक्त होता है। योगका अर्थ होता है समाधि। यहाँ शुक्लध्यान लेना चाहिए क्योंकि वह कपायोंके निरोधका अविनाभावी है। कहा है—कपाय रूप रजके क्षयसे या उपशमसे शुचिगुणसे युक्त होनेसे शुक्लध्यान कहाता है।

और क्षेमका अर्थ होता है घात न होना। क्षपक श्रेणीमें होनेवाला शुक्लध्यान मध्य-में नष्ट नहीं होता। इस योगक्षेमसे जो युक्त होता है अर्थात् शुक्लध्यानरूप परिणत होता है, दूसरे शब्दोंमें एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यानमें लीन होता है। सोमदेव सूरिने

उद्धा.—लाभपूजाख्यातिनिरपेक्षतयोत्तमा । योगक्षेमयुतेन—समाध्यनुपघातयुक्तेन अलब्धलाभलब्ध-परिरक्षणसहितेन च। सकलश्रीभूयम्—जीवयुक्तत्व । (जीवन्मुक्तत्व) चक्रवर्तित्वं च। ईषल्लभं—अनायासेन लभ्यते ॥३४॥ ३

अथ सत्यलक्षणस्य धर्मस्य लक्षणोपलक्षणपूर्वकमनुभावमाह—

कूटस्थस्फुटविश्वरूपपरमब्रह्मोन्मुखाः सम्मताः
सन्तस्तेषु च साधु सत्यमुदितं तत्तीर्णसूत्रार्णवैः । ६
आ शुश्रूषुतमः क्षयात्करुणया वाच्यं सदा धार्मिकै-
र्घोराज्ञानविषार्दितस्य जगतस्तद्ध्येकमुज्जीवनम् ॥३५॥

कूटस्थानि—द्रव्यरूपतया नित्यानि। विश्वरूपाणि—चराचरस्य जगतोऽतीतानागतवर्तमानानन्त-पर्यायाकारा[1] । यदवोचत् स्वयमेव स्तुतिषु— ९

'सर्वदा सर्वथा सर्वं यत्र भाति निखातवत् ।
तज्ज्ञानात्मानमात्मानं जानानस्तद्भवाम्यहम् ॥' [ ] १२

साधु—उपकारकम् । उदित—वचनम् ॥३५॥

कहा है[2]—'मनमे किसी विचारके न होते हुए जब आत्मा आत्मामे ही लीन होता है उसे निर्बीज ध्यान अर्थात् एकत्ववितर्कवीचार नामक शुक्लध्यान कहते है।'

सारांश यह है कि जैसे कोई विजिगीषु उत्कृष्ट आदि शक्तियोंसे युक्त, उत्कृष्ट आदि वैर रखनेवाले और सेना आदिसे सहित चारो दिशाओंके शत्रुओको चक्र आदि आयुधोंसे मारकर योग और क्षेम धारण करते हुए चक्रवर्ती हो जाता है, वैसे ही कोई भव्य जीव संख्यात आदि भवोकी वासनावाली अनन्तानुबन्धी आदि क्रोधोंको हास्य आदि नोकषायोंके साथ, उत्तम क्षमा आदि भावनाके बलसे उखाड़कर शुक्लध्यान विशेषकी सहायतासे जीवन्मुक्तिको प्राप्त करता है। इस प्रकार उत्तम क्षमा आदिके माहात्म्यका वर्णन समाप्त होता है।

अब सत्य धर्मके लक्षण और उपलक्षणके साथ माहात्म्य भी बतलाते है—

जिससे द्रव्यरूपसे नित्य और स्पष्ट ज्ञानके द्वारा जानने योग्य चराचर जगत्के अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायाकार प्रतिबिम्बित होते है उस परमब्रह्मस्वरूप होनेके लिए जो तत्पर होते हैं उन्हें सन्त कहते है। और ऐसे सन्त पुरुषोंमे जो उपकारी वचन होता है उसे सत्य कहते है। परमागमरूपी समुद्रके पारदर्शी धार्मिक पुरुषोको सदा करुणाबुद्धिसे सत्य वचन तबतक बोलना चाहिए जबतक सुननेके इच्छुक जनोंका अज्ञान दूर न हो, क्योंकि घोर अज्ञानरूपी विषसे पीड़ित जगत्के लिए वह सत्य वचन अद्वितीय उद्बोधक होता है ॥३५॥

विशेषार्थ—'सत्सु साधुवचनं सत्यम्', सन्त पुरुषोंमे प्रयुक्त सम्यक् वचनको सत्य कहते हैं ऐसी सत्य शब्दकी निरुक्ति है। तब प्रश्न होता है कि सन्त पुरुष कौन है? जो परम ब्रह्मस्वरूप आत्माकी ओर उन्मुख है वे सन्त हैं। जैसे वेदान्तियोंका परम ब्रह्म सचराचर जगत्को अपनेमे समाये हुए है वैसे ही आत्मा ज्ञानके द्वारा सब द्रव्योकी भूत, वर्तमान और

---

१ भ कु. च. ।
२ 'निर्विचारावतारासु चेत स्रोत प्रवृत्तिषु ।
आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा तत्स्याद्ध्यानमबीजकम्' ॥—सो. उपा , श्लो ६२३

अथ व्रतादित्रयविपयस्य सत्यस्य लक्षणविभागार्थमाह—

असत्यविरतौ सत्यं सत्स्वसत्स्वपि यन्मतम्।
वाक्समित्यां मितं तद्धि धर्मे सत्स्वेव बह्वपि ॥३६॥

३

यत्। बह्वपीति सामर्थ्याल्लब्धम् ॥३६॥

भावी सब पर्यायोंको अपनेमें समाये हुए है अर्थात् स्वभावसे सर्वज्ञ सर्वदर्शी है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा[1] है—'सभी द्रव्य त्रिकालवर्ती हैं। उनकी क्रमसे होनेवाली और जो हो चुकी हैं तथा आगे होगी, वे सभी विद्यमान और अविद्यमान पर्यायें वर्तमान पर्यायोंकी तरह ही, परस्परमें हिली-मिली होनेपर भी अपने-अपने निर्धारित विशेष लक्षणके साथ एक ही समयमें केवलज्ञानके द्वारा जानी जाती हैं।' ऐसे आत्मरूपकी ओर जो प्रयत्नशील होते हैं वे ही सन्त हैं और जो वचन उन्हें उस रूप होनेमें सहायक होते हैं वे सत्य वचन हैं। घोर अज्ञानमें पड़े हुए अज्ञानी जनोंको ऐसे सत्य वचन तबतक श्रवण करना चाहिए जबतक उनका अज्ञान दूर न हो ॥३५॥

आगममें सत्य महाव्रत, भाषा समिति और सत्यधर्म इस प्रकार सत्यके तीन रूप मिलते हैं, इनमें अन्तर बतलाते हैं—

असत्यविरति नामक महाव्रतमें ऊपर कहे गये सत्पुरुषोंमें और उनसे विपरीत असत्पुरुषोंमें भी बहुत बोलना भी सत्यमहाव्रत माना है। भाषा समितिमें सत् या असत् पुरुषोंमें परिमित वचन बोलना सत्य है। और सत्यधर्ममें सत्पुरुषोंमें ही बहुत बोलना भी सत्य है। अर्थात् सत् और असत्पुरुषोंमें बहुत बोलना भी सत्यव्रत है। सत् और असत् पुरुषोंमें परिमित बोलना समिति सत्य है। और सन्त पुरुषोंमें ही अधिक या कम बोलना धर्मसत्य है ॥३६॥

विशेषार्थ—पूज्यपाद स्वामीने सत्यधर्म और भाषा समितिके स्वरूपमें अन्तर इस प्रकार[2] कहा है—'सन्त अर्थात् प्रशंसनीय मनुष्योंमें साधु वचनको सत्य कहते हैं। शंका—तब तो सत्यधर्मका अन्तर्भाव भाषा समितिमें होता है। समाधान—नहीं, क्योंकि भाषा समितिके पालक मुनिको साधु और असाधु जनोंमें वचन व्यवहार करते हुए हित और मित बोलना चाहिए, अन्यथा रागवश अधिक बोलनेसे अनर्थदण्ड दोष लगता है, यह भाषा समिति है। और सत्यधर्ममें सन्त साधुजनोंमें अथवा उनके भक्तोंमें ज्ञान, चारित्र आदिका उपदेश देते हुए धर्मकी वृद्धिके लिए बहुत भी बोला जा सकता है ऐसी अनुज्ञा है' ॥३६॥

---

१ 'तक्कालिगेव सव्वे सदसद्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं' ॥—प्रवचनसार, ३७ गा.।

२ 'सत्सु प्रशस्तेषु जनेषु साधु वचनं सत्यमित्युच्यते। ननु चैतद् भाषासमितावन्तर्भवति ? नैष दोषः — समितौ वर्तमानो मुनिः साधुष्वसाधुषु च भाषाव्यवहारं कुर्वन् हितं मितञ्च ब्रूयात्, अन्यथा रागादनर्थदण्डदोषः स्यादिति वाक्समितिरित्यर्थः। इह पुनः सन्तः प्रव्रजितास्तद्भक्ता वा एतेषु साधु सत्यं ज्ञानचारित्रलक्षणादिषु बह्वपि कर्तव्यमित्यनुज्ञायते धर्मोपबृंहणार्थम्' ।—सर्वार्थसिद्धि ९।६।

अथ संयमलक्षणं धर्मं व्याचिख्यासुस्तद्भेदयोरुपेक्षापहृतसंयमयोर्मध्ये केचिदुत्तरं समितिषु वर्तमानाः पालयन्तीत्युपदिशति—

प्राणेन्द्रियपरीहाररूपेऽपहृतसंयमे ।
शक्यक्रियप्रियफले समिताः केऽपि जाग्रति ॥३७॥ ३

प्राणिपरीहारः—एकेन्द्रियादिजीवपीडावर्जनम् । इन्द्रियपरीहारः— स्पर्शनादीन्द्रियानिन्द्रियविषयेष्वनभिष्वङ्गः । तद्विषया यथा— ६

'पंच रस पंचवण्णा दो गधा अट्ठ फास सत्त सरा ।
मणसहिद अट्ठवीसा इन्दियभेया मुणेयव्वा ॥' [गो जीव., गा. ४७८]

फलं—प्रयोजनमुपेक्षा संयमलक्षणम् । जाग्रति—प्रमादपरिहारेण वर्तंते ॥३७॥ ९

अथ द्विविधस्याप्यपहृतसंयमस्योत्तममध्यमजघन्यभेदा (-दात्) त्रैविध्यमालम्बमानस्य भावनाया प्रयोजयति—

सुधीः समरसाप्तये विमुखयन् खमर्थान्मन-
स्तुदोऽथ दवयन् स्वयं तमपरेण वा प्राणितः । १२
तथा स्वमपसारयन्नुत नुदन् सुपिच्छेन तान्
स्वतस्तदुपमेन वाऽपहृतसंयमं भावयेत् ॥३८॥ १५

इस प्रकार सत्यधर्मका कथन समाप्त हुआ ।

अब संयम धर्मका कथन करना चाहते है। उसके दो भेद है—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। उनमें-से अपहृत संयमको समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले साधु पालते है, ऐसा उपदेश करते है—

त्रस और स्थावर जीवोंको कष्ट न पहुँचाना और स्पर्शन आदि इन्द्रियो तथा मनका अपने-अपने विषयोंमें प्रवृत्त न होना यह अपहृत संयम है। इस अपहृत संयमका पालन शक्य है उसे किया जा सकता है तथा उसका फल उपेक्षा संयम भी इष्ट है। इस तरह अपहृत संयमका पालन शक्य होनेसे तथा उसका फल इष्ट होनेसे आजकल समितियोंमें प्रवृत्ति करनेवाले मुनि प्रमाद त्यागकर अपहृत संयममे जागरूक रहते है। अर्थात् समितियोंका पालन करनेसे इन्द्रिय संयम और प्राणी संयमरूप अपहृत संयमका पालन होता है और उससे उपेक्षा सयमकी सिद्धि होती है ॥३७॥

दोनों ही प्रकारके अपहृत संयमके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीन-तीन भेद हैं। उनके अभ्यासकी प्रेरणा करते है—

विचारशील मुमुक्षुको उपेक्षा संयमकी प्राप्तिके लिए अपहृत संयमका अभ्यास करना चाहिए। रागद्वेषको उत्पन्न करके मनको क्षुब्ध करनेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियको विमुख करना उत्कृष्ट इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है। उक्त प्रकारके पदार्थको स्वयं दूर करके इन्द्रियके ग्रहणके अयोग्य करना मध्यम इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है और आचार्य आदिके द्वारा उक्त प्रकारके पदार्थको दूर कराकर उसे इन्द्रिय ग्रहणके अयोग्य करना जघन्य इन्द्रिय संयमरूप अपहृत संयम है। तथा स्वयं उपस्थित हुए प्राणियोंकी रक्षाकी भावनासे अपनेको

---

१. -यविषया भ. कु. च, गो. जी ।

समरसाप्तये—उपेक्षासयमलब्ध्यर्थम् । ख—स्पर्शनादीन्द्रियम् । अर्थात्—स्पर्शादिविषयात् । मनस्तुद.—रागद्वेषोद्भावनेन चित्तक्षोभकरान् । दवयन्—दूरीकुर्वन् । इन्द्रियग्रहणायोग्यं कुर्वन्नित्यर्थ. ।
३ अपरेण—गुर्वादिना । प्राणित:—प्राणिभ्य. । सुपिच्छेन—पञ्चगुणोपेतप्रतिलेखनेन । तदुक्तम्—

'रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालदा लहुत्तं च ।
जत्थेदे पंचगुणा त पडिलिहिण पसंसंति ॥' [मूलाचार, गा. ९१०]

६ स्वत.—आत्मशरीरत । तदुपमेन—मृदुवस्त्रादिना ॥३८॥

वहाँसे अलग कर लेना अर्थात् स्वयं उस स्थानसे हट जाना उत्कृष्ट प्राणिसंयमरूप अपहृत सयम है। अथवा पीछीसे उन प्राणियोंकी प्रतिलेखना करना मध्यमप्राणि संयमरूप अपहृत संयम है। अथवा पीछीके अभावमे कोमल वस्त्र आदिसे उन जीवोंकी प्रति लेखना करना जघन्य प्राणिसंयमरूप अपहृत संयम है ॥३८॥

विशेषार्थ—ईर्यासमिति आदिका पालन करनेवाला मुनि उसके पालनके लिए जो प्राणियों और इन्द्रियोका परिहार करता है उसे संयम कहते है। एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंको पीडा न देना प्राणिसंयम है और इन्द्रियोंके विषय शब्दादिमें रागादि न करना इन्द्रिय सयम है। अकलंक देवने लिखा है—संयमके दो प्रकार हैं—उपेक्षा संयम और अपहृत संयम। देश और कालके विधानको जाननेवाले, दूसरे प्राणियोको बाधा न पहुँचानेवाले तथा तीन गुप्तियोके धारक मुनिके राग-द्वेपसे अनासक्त होनेको उपेक्षा संयम कहते हैं। अपहृत संयमके तीन भेद है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। प्रासुक वसति और आहार मात्र जिनका साधन है तथा ज्ञान और चारित्र स्वाधीन नहीं है, परावलम्बी है, वे मुनि बाहरी जीवोके अचानक आ जानेपर यदि अपनेको वहाँसे हटाकर जीवरक्षा करते हैं अर्थात् उस जीवको किंचित् भी बाधा न पहुँचाकर स्वयं वहाँसे अलग हो जाते है तो यह उत्कृष्ट है। कोमल उपकरणसे उसे हटा देनेसे मध्यम है और यदि उसको हटानेके लिए साधु किसी दूसरे उपकरणकी इच्छा करता है तो जघन्य है। जैसे ये तीन भेद प्राणिसंयमके है, ऐसे ही तीन भेद इन्द्रिय संयमके भी जानना। राग-द्वेष उत्पन्न करानेवाले पदार्थोंसे इन्द्रियोको ही विमुख कर देना, उत्कृष्ट, उस पदार्थको ही स्वयं दूर कर देना मध्यम और किसी अन्यसे उस पदार्थको दूर करा देना जघन्य इन्द्रिय संयम है। श्वेताम्बर परम्परामे इसी संयमको सत्तरह भेदोमे विभाजित किया है—पृथिवीकायिक सयम, अप्कायिक संयम, तेजस्कायिक संयम, वायुकायिक संयम, वनस्पतिकायिक सयम, द्वीन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पचेन्द्रिय सयम, प्रेक्ष्य संयम, उपेक्ष्य संयम, अपहृत्य संयम, प्रमृज्य संयम, कायसंयम, वाक् संयम, मनःसंयम और उपकरण संयम। [तत्त्वार्थ. भाष्य ९।६]।

---

१. 'सयमो हि द्विविध —उपेक्षासयमोऽपहृतसंयमश्चेति । देशकालविधानज्ञस्य परानुपरोधेन उत्कृष्टकायस्य त्रिधागुप्तस्य रागद्वेषानभिष्वगलक्षण उपेक्षासयम । अपहृतसयमस्त्रिविध —उत्कृष्टो मध्यमो जघन्यश्चेति । तत्र प्रासुकवसत्याहारमात्रसाधनस्य स्वाधीनेतरज्ञानचरणकरणस्य बाह्यजन्तूपनिपाते आत्मान ततोऽपहृत्य जीवान् परिपालयत उत्कृष्ट , मृदुना प्रमृज्य जीवान् परिहरतो मध्यम:, उपकरणान्तरेच्छया जघन्य. ।'—तत्त्वार्थवार्तिक ९।६।१५ ।

अथास्वतन्त्रं वह्निर्मन इत्युररीकृत्य स्वस्वविषयापायप्राचण्ड्यप्रदर्शनपरैः स्पर्शनादीन्द्रियैरेकश सामर्थ्य-प्रत्यापादनाज्जगति स्वैरं त्वरमाणस्य मनसो निरोधं कर्तव्यतयोपदिशति—

स्वामिन् पृच्छ वनद्विपान्नियमितान्नाथाश्रुपिल्ला झषीः,
पश्याधीश विदन्त्यमी रविकराः प्राय प्रभोऽग्ने सखा।
किं दूरेऽधिपते क्व पक्कणभुवां दौःस्थित्यमित्येकशः,
प्रत्युप्तप्रभुशक्ति खैरिव जगद्धावन्निरुन्ध्यान्मनः ॥३९॥

नियमितान्—बद्धान्। अत्र हस्तिनीस्पर्शदोषो व्यङ्ग्य। एवमुत्तरत्रापि। यथाक्रम रसगन्धवर्णशब्दादिचिन्त्या। अश्रुपिल्ला—अश्रुभि' विलन्ननेत्रा.। अत्र वडिशरसास्वादनलपटपतिमरणदुःख व्यङ्ग्यम्। विदन्तीत्यादि। अत्र कमलकोशगन्धलुब्धभ्रमरमरणं व्यङ्ग्यम्। अग्ने सखा—वायु.। अत्र रूपालोकनोत्सुकपतङ्गमरण व्यङ्ग्यम्। पक्वणभुवा—शवराणाम्। अत्र गीतध्वनिलुब्धमृगवधो व्यङ्ग्य। एकश—एकैकेन। प्रत्युप्तप्रभुशक्ति—प्रतिरोपिता प्रतिविधेयसामर्थ्यम्। निरुन्ध्यात्—नियन्त्रयेत् मारयेद्वा।

स्वच्छन्द मन बाह्य विषयोकी ओर दौडता है यह मानकर ग्रन्थकार अपने-अपने विषयोंमें आसक्तिसे होनेवाले दु.खोंकी उग्रताका प्रदर्शन करनेवाली स्पर्शन आदि इन्द्रियोमे-से प्रत्येकके द्वारा अपनी शक्तिको जगत्‌मे रोकनेवाले स्वच्छन्द मनको रोकनेका उपदेश देते हैं—

सबसे प्रथम स्पर्शन इन्द्रिय कहती है—हे स्वामिन्! अपने मुँह अपनी तारीफ करना कुलीनोंको शोभा नहीं देता, अतः आप स्तम्भोंमे बँधे हुए जगली हाथियोसे पूछिए। रसना इन्द्रिय कहती है—हे नाथ! उस रोती हुई मछलीको देखें। घ्राणेन्द्रिय कहती है—हे मालिक! ये सूर्यकी किरणें प्रायः मेरी सामर्थ्यको जानती है। चक्षु इन्द्रिय कहती हैं—हे स्वामी! यह वायु कुछ दूर नहीं है इसीसे मेरी शक्ति जान सकते है। श्रोत्रेन्द्रिय कहती है—हे स्वामी! वे जो भील आदि हैं क्या कहीं आपने इन्हें कष्टसे जीवन विताते देखा है? इस प्रकार मानो इन्द्रियोंके द्वारा अपनी प्रभुशक्तिको प्रतिरोपित करके जगत्‌में दौडते हुए मनको रोकना चाहिए ॥३९॥

विशेषार्थ—प्रवचनसार गाथा ६४ की टीकामें आचार्य अमृतचन्द्रजीने 'इन्द्रियाँ स्वभावसे ही दु खरूप हैं' यह बतलाते हुए कहा है कि जिनकी ये अभागी इन्द्रियाँ जीवित है उनका दुःख औपाधिक नहीं है, स्वाभाविक है, क्योंकि उनकी विषयोंमें रति देखी जाती है। जैसे, हाथी बनावटी हथिनीके शरीरको स्पर्श करनेके लिए दौडता है और पकड लिया जाता है। इसी तरह बंसीमे लगे मांसके लोभसे मछली फँस जाती है। भ्रमर कमलका रस लेनेमें आसक्त होकर सूर्यके डूब जानेपर कमलमे ही बन्द हो जाता है। पतंगे दीपककी ओर दौड़कर जल मरते है। शिकारीकी गीतध्वनिको सुनकर हिरण मारे जाते हैं। इस तरह प्रत्येक इन्द्रिय मनकी प्रभुशक्तिको प्रतिरोपित करती है। इसी कथनको ग्रन्थकारने व्यंग्यके रूपमे बड़े सुन्दर ढंगसे उपस्थित किया है। इन्द्रियाँ अपने मुँह अपनी तारीफ नहीं करतीं क्योकि यह कुलीनोंका धर्म नहीं है। अत प्रत्येक इन्द्रिय अपनी सामर्थ्यको व्यंग्यके रूपमे प्रदर्शित करती है। स्पर्शन कहती है कि मेरी सामर्थ्य जानना हो तो स्तम्भसे बँधे जगली हाथीसे पूछो। अर्थात् जंगली हथिनीका आलिगन करनेकी परवशतासे ही वह बन्धनमे पड़ा है। रसना कहती है कि मेरी सामर्थ्य रोती हुई मछलीसे पूछो अर्थात् बंसीमे लगे मांसको खानेकी लोलुपताके कारण ही उसका मत्स्य पकड़ लिया गया है। घ्राणेन्द्रिय कहती है कि मेरी सामर्थ्य सूर्यकी किरणोंसे

'इन्द्रियाणां प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च मन. प्रभुः।
मन एव जयेत्तस्माज्जिते तस्मिन् जितेन्द्रिय ॥' [तत्त्वानु०, श्लो ७६] ॥३९॥

३ इतीन्द्रियसंयमसिद्धचर्थं मन. संयमयितुं मुमुक्षुरुपक्रमते—

चिद्दृग्धीर्मुदुपेक्षिताऽस्मि तदहो चित्तेह हृत्पङ्कजे,
स्फूर्जत्वं किमुपेक्षणीय इह मेऽभीक्ष्णं बहिर्वस्तुनि।
६ इष्टद्विष्टधियं विधाय करणद्वारैरभिस्फारयन्,
मां कुर्याः सुखदु.खदुर्मतिमयं दुष्टैर्न दूष्येत् किम् ॥४०॥

चित्—चेतति सवेदयते स्वरूपं पररूप चेति चित् स्वपरप्रकाशात्मकोऽयमहमस्मि प्रमाणादेशात्। ९ दृक्—पश्यत्यनुभवति स्वरूपमात्रमिति दृक् स्वात्मोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि शुद्धनिश्चयनयादेशात्। धीः—ध्यायत्यनन्यपरतयोपलभते परस्वरूपमिति धी. परस्वरूपोपलब्धिरूपोऽयमहमस्मि। तत एव मुत्—मोदतेऽन्तर्बहिर्विकल्पजालविलयादात्मनि विश्रान्तत्वादाह्लादते इति मुत् शुद्धस्वात्मानुभूतिमयात्यन्तसुखस्वभावोऽयमहमस्मि शुद्धनिश्चयनयादेशादेव। १२ उपेक्षिता—उपेक्षते स्वरूपे पररूपे क्वचिदपि न रज्यति न च द्वेष्टि इत्युपेक्षाशील: परमोदासीनज्ञानमयोऽयमहमस्मि च तत एव। तथा चोक्तम्—

पूछो क्योंकि सूर्यके अस्त हो जानेपर गन्धका लोभी भ्रमर कमलकोशमे बन्द होकर मर जाता है। चक्षु कहती है कि मेरी शक्तिकी साक्षी वायु है, क्योंकि सर्वत्र गतिवाली है। वह जानती है कि रूपके लोभी पतंगे किस तरह दीपकपर जल मरते है। श्रोत्रेन्द्रिय कहती है कि मेरी शक्तिको मृगोंका शिकार करनेवाले शिकारी जानते है, क्योंकि गीतकी ध्वनिके लोभी मृग उनके जालमें फँसकर मारे जाते है। इस तरह व्यंग्यके द्वारा इन्द्रियोने अपनी शक्तिका प्रदर्शन किया है। किन्तु इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति तो मनके अधीन है। अत. मनको जीतनेसे ही इन्द्रियोंको जीता जा सकता है। कहा भी है—इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति और निवृत्तिमे मन समर्थ है। इसलिए मनको ही जीतना चाहिए। मनके जीतनेपर जितेन्द्रिय होता है ॥३९॥

इसलिए मुमुक्षु इन्द्रिय संयमकी सिद्धिके लिए मनको संयमित करनेका अभ्यास करता है—

मैं चित् हूँ—प्रमाणकी अपेक्षा स्व और परका ज्ञाता हूँ। मै दृक् हूँ—अपने स्वरूप मात्रका अनुभवन करनेवाला होनेसे शुद्ध निश्चयनयसे स्वात्मोपलब्धि स्वरूप हूँ। मै धी हूँ—परकी ओर आसक्त न होकर परस्वरूपका ध्याता हूँ। इसीलिए अन्तरंग और बाह्य विकल्पजालोके विलीन होनेसे अपनी आत्मामें ही विश्रान्ति लाभ करनेसे मुत् हूँ अर्थात् शुद्ध निश्चयसे शुद्ध स्वात्मानुभूतिमय अत्यन्त सुखस्वभाव मै हूँ। तथा मै उपेक्षिता हूँ—किसी भी स्वरूप या पररूपमे रागद्वेषसे रहित हूँ अर्थात् परम औदासीन्य ज्ञानमय मैं हूँ। इसलिए हे मन! इस आगम प्रसिद्ध द्रव्यमनमें या हृदयकमलमे उस-उस विषयको ग्रहण करनेके लिए व्याकुल होकर इस उपेक्षणीय बाह्य वस्तुमे निरन्तर इष्ट और अनिष्ट बुद्धिको उत्पन्न करके इन्द्रियोके द्वारा उस-उस विषयके उपभोगमे लगाकर मुझे 'मै सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इस प्रकार मिथ्या ज्ञानरूप परिणत करनेमें क्या तुम समर्थ हो? अथवा ऐसा हो भी सकता है क्योंकि अदुष्ट वस्तु भी दुष्टोंके द्वारा दूषित कर दी जाती है ॥४०॥

'सद्द्रव्यमस्मि चिदहं ज्ञाता दृष्टा सदाप्युदासीनः।
स्वोपात्तदेहमात्रस्तत पृथग्गगनवदमूर्तः॥' [तत्त्वानु १५३ श्लो]

हृत्पङ्कजे—द्रव्यमनसि। यथेन्द्रराज —

'उवइट्ठं अट्ठदलं संकुइयं हियसरवरुप्पण्णं।
जो य रवितेयतविय विहस्सए झत्तिक दुट्ठं॥' [ ]

स्फूर्जत्—तत्तद्विषयग्रहणव्याकुल भवत्। इह—इन्द्रियै प्रतीयमाने। अभिस्फारयत्—आभिमुख्येन तत्तद्विषयोपभोगपरं कुर्वत्। कुर्या —अह गर्हे अन्याय्यमेतदिति सप्तम्या द्योत्यते। 'किंवृत्ते लिङ्-लृटौ' इति गर्हे लिङ्। दुर्मतिः—मिथ्याज्ञानम्। तथा चोक्तम्—'वासनामात्रमेवैतत्' इत्यादि॥४०॥

विशेषार्थ—मुमुक्षु मनको संयमित करनेके लिए अपने स्वाभाविक स्वरूपका विचार करता है—मै सत् हूँ, द्रव्य हूँ और द्रव्य होकर भी अचेतन नहीं चेतन हूँ। चेतन होनेसे ज्ञाता और द्रष्टा हूँ। ज्ञाता अर्थात् स्व और परको स्व और पररूपसे जाननेवाला हूँ और द्रष्टा अर्थात् स्वरूप मात्रका अनुभवन करनेवाला हूँ। इस तरह सबको जानते-देखते हुए भी सबसे उदासीन हूँ। न मैं किसीसे राग करता हूँ और न द्वेष करता हूँ। राग-द्वेष न तो मेरा स्वभाव है और न परवस्तुका स्वभाव है। यह तो मनका भ्रम है। यह मन ही बाह्य वस्तुओंमें इष्ट और अनिष्ट विकल्प पैदा करके आकुलता उत्पन्न करता है। कहा है[1]—'यह जगत् न तो स्वयं इष्ट है और न अनिष्ट है। यदि यह इष्ट या अनिष्ट होता तो सभीके लिए इष्ट या अनिष्ट होना चाहिए था, किन्तु जो वस्तु किसीको इष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट नहीं होती। और जो एकको अनिष्ट होती है वही दूसरेको इष्ट होती है। अतः जगत् न इष्ट है और न अनिष्ट है। किन्तु उपेक्षा करनेके योग्य है।' इसी तरह न मैं रागी हूँ और न द्वेषी, राग-द्वेष मेरा स्वभाव नहीं है। किन्तु उपेक्षा मेरा स्वभाव है। परन्तु यह मन जगत्मे इष्ट-अनिष्ट बुद्धि उत्पन्न करके उनके भोगके लिए व्याकुल होता है और इन्द्रियोंके द्वारा उन्हें भोगनेकी प्रेरणा देकर इष्टके भोगसे सुख और अनिष्टके भोगसे दुःखकी बुद्धि उत्पन्न कराता है। किन्तु यह सुख-दुःख तो कल्पना मात्र है। कहा[2] है—संसारी प्राणियोंका यह इन्द्रियजन्य सुख-दुःख वासना मात्र ही है। क्योंकि यह न तो जीवका उपकारक होता है और न अपकारक। परमार्थसे उपेक्षणीय शरीर आदिमे तत्त्वको न जाननेके कारण यह उपकारक होनेसे मुझे इष्ट है और यह उपकारक न होनेसे मुझे अनिष्ट है। इस प्रकारके मिथ्याज्ञानसे उत्पन्न हुए संस्कारको वासना कहते है। अतः उक्त सुख-दुःख वासना ही है स्वाभाविक नहीं है। तभी तो जैसे आपत्तिकालमे रोग कष्ट देते हैं वैसे ही ये सुखके उत्पादक माने जानेवाले भोग भी उद्वेग पैदा करते हैं।

अतः जब मैं चित् आदि स्वरूप हूँ तब यह मन जिसे हृदय पंकज कहा जाता है क्या मुझे 'मैं सुखी-दुःखी' इत्यादि विपरीत ज्ञानरूप करानेमें समर्थ है। किन्तु पंकज कहते हैं जो कीचड़से पैदा होता है। यह मन भी अंगोपाग नामक कर्मरूपी कीचडसे बना है अतः गन्दगीसे पैदा होनेसे गन्दा है। इस दुष्टकी संगतिसे मै अदुष्ट भी दुष्ट बन जाऊँ तो क्या

१ 'स्वयमिष्टं न च द्विष्टं किन्तूपेक्ष्यमिदं जगत्।
नाहमेष्टा न च द्वेष्टा किंतु स्वयमुपेक्षिता'॥—तत्त्वानु १५७ श्लो।

२ 'वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते भोगा रोगा इवापदि'॥—इष्टोप, ६ श्लो।

अथान्तरात्मानं परमाभिजातत्वाभिमानमुद्बोधयन्नुपालम्भगर्भां शिक्षां प्रयच्छन्नाह—

पुत्रो यद्यन्तरात्मन्नसि खलु परमब्रह्मणस्तत्किमक्षै-
३ र्लौल्याद्यद्वल्लतान्ताद्रसमलिभिरसृग्-रक्तपाभिर्व्रणाद्वा।
पायं पायं यथास्वं विषयमघमयैरेभिरुद्गीर्यमाणं
भुञ्जानो व्यात्तरागारतिमुखमिमकं हंस्यमा स्वं सवित्रा ॥४१॥

६ लतान्तात्—पुष्पात्। रक्तपाभिः—जलौकाभिः। इमकं—कुत्सितमिमं। सवित्रा—परमब्रह्मणा सह। अन्तरात्मनो ह्यात्मघातो बहिरात्मपरिणतिः, परमात्मघातश्च शुद्धस्वरूपप्रच्यावनपूर्वकं रागद्वेषापादनम्।

तथा चोक्तम्—

९ 'चित्ते बद्धे बद्धो मुक्के मुक्को य णत्थि संदेहो।
अप्पा विमलसहावो मइलिज्जइ मइलिए चित्ते ॥' [ ] ॥४१॥

अथ इन्द्रियद्वारैरनाद्यविद्यावासनावशादसकृदुद्भिद्यमानदुराशयस्य चित्तस्य विषयाभिष्वङ्गमुत्सारयन्
१२ परमपदप्रतिष्ठायोग्यताविधिमुपदिशति—

आश्चर्य है। अर्थात् पापकर्मके निमित्तसे द्रव्य मनमें विलास करनेवाला सकल विकल्पोंसे शून्य भी चेतन मनके द्वारा नाना विकल्प जालोंमें फँस जाता है। इसीलिए एक कविने मनकी दुष्टता बतलाते हुए कहा है—'मनको हृदय रूपी सरोवरमें उत्पन्न हुआ आठ पाँखुडी-का सकुचित कमल कहा है, जो सूर्यके तेजसे तप्त होनेपर तत्काल खिल उठता है। ऐसा यह दुष्ट है' ॥४०॥

आगे अन्तरात्माके परम कुलीनताके अभिमानको जाग्रत् करते हुए ग्रन्थकार उलाहनेके साथ शिक्षा देते है—

हे अन्तरात्मा—मनके दोष और आत्मस्वरूपके विचारमे चतुर चेतन ! यदि तू परम ब्रह्म परमात्माका पुत्र है तो जैसे भौंरा अति आसक्तिसे फूलोका रस पीकर उसे उगलता है या जैसे जोंक घावसे रक्त पीकर उसे उगलती है, उसी तरह पापमय इन इन्द्रियोंके द्वारा अति आसक्ति पूर्वक यथायोग्य भोग भोगकर छोड़े हुए, पापमय इन नीच विषयोंको राग-द्वेष-पूर्वक भोगते हुए अपने पिताके साथ अपना घात मत करो ॥४१॥

विशेषार्थ—जो उत्पन्न होकर अपने वंशको पवित्र बनाता है उसे पुत्र कहते हैं। यह पुत्र शब्दका निरुक्तिगम्य अर्थ है। अन्तरात्मा परमात्माका ही पुत्र है अर्थात् अन्तरात्मा और परमात्माकी जाति-कुल आदि एक ही है। अन्तरात्मा ही परमात्मा बनता है। अतः परमात्मा-का वंशज होकर अन्तरात्मा इन्द्रियोके चक्रमें पडकर अपनेको भूल गया है। वह इस तरह अपना भी घात करता है और परमात्माका भी घात करता है। अन्तरात्माका आत्मघात है बहिरात्मा बन जाना। भोगासक्त प्राणी शरीर और आत्मामे भेद नहीं करके शरीरको ही आत्मा मानता है। यही उसका घात है। और शुद्ध स्वरूपसे गिराकर रागी—द्वेषी मानना परमात्माका घात है। कहा है—'चित्तके बद्ध होनेपर आत्मा बँधता है और मुक्त होनेपर मुक्त होता है इसमे सन्देह नहीं है। क्योंकि आत्मा तो स्वभावसे निर्मल है, चित्तके मलिन होनेपर मलिन होता है। ऐसे निर्मल आत्मामें राग-द्वेषका आरोप करना ही उसका घात है ॥४१॥

अनादिकालसे लगी हुई अविद्याकी वासनाके वशसे चित्तमे इन्द्रियोके द्वारा बारम्बार दुराशाएँ उत्पन्न हुआ करती है। अतः चित्तकी विषयोकी प्रति आसक्तिको दूर करते हुए परमपदमे प्रतिष्ठित होनेकी योग्यताकी विधि बतलाते है—

तत्तद्गोचरभुक्तये निजमुखप्रेक्षीण्यमूनीन्द्रिया-
ण्यासेदु क्रियसेऽभिमानघन भोश्चेत. कयाऽविद्यया ।
पूर्या विश्वचरी कृतिन् किमिमकै रङ्कैस्तवाशा ततो ३
विश्वैश्वर्यचणे सजत्सवितरि स्वे यौवराज्यं भज ॥४२॥

निजमुखप्रेक्षीणि—मन प्रणिवानाभावे चक्षुरादीना स्वस्वविषयव्यापारानुपलम्भात् । आसेदु'—आसीदति तच्छील भवत्युपस्थातृ इत्यर्थ । विश्वचरी—सकलजगत्कवलनपरा । रङ्कै—प्रतिनियतार्थोपभोगवद्धदुर्वारनिर्वन्वै । विश्वैश्वर्यचणे—समस्तवस्तुविस्ताराविपत्येन प्रतीते । यथाह— ६

'तुभ्यं नम. परमचिन्मयविश्वकर्त्रे तुभ्य नमः परमचिन्मयविश्वभोक्त्रे ।
तुभ्यं नमः परमचिन्मयविश्वभर्त्रे, तुभ्य नम परमकारणकारणाय ॥' [ ] ९

सजत्—निर्व्याजभक्त्यानुरक्ततया तन्मयीभवत् । सवितरि—जनके । यौवराज्य—शुद्धस्वानुभूतिलक्षणं कुमारपदम् ॥४२॥

अथ विषयाणामास्वादनक्षणरामणीयकानन्तरात्यन्तकटुकास्वादत्वप्रतिपादनपूर्वकमाविर्भावानन्तरोद्भावितर्तृष्णापुनर्नवीभावं तिरोभावं भावयन् पृथग्जनाना तदर्थं स्वाभिमुख विपदाकर्षणमनुशोचति— १२

सुधागर्वं खर्वन्त्यभिमुखहृषीकप्रणयिनः,
क्षणं ये तेऽप्यूर्ध्वं विषमपवदन्त्यङ्ग विषया' । १५
त एवाविर्भूय प्रतिचितवनायाः खलु तिरो-
भवन्त्यन्यास्तेभ्योऽप्यहह किमु कर्षन्ति विपदः ॥४३॥

हे अहंकारके पुंज मन ! मैं तुमसे पूछता हूँ कि ये इन्द्रियाँ अपने-अपने प्रतिनियत विषयोंका अनुभव करनेमे स्वाधीन हैं किसी अन्यका मुख नहीं ताकतीं । किस अविद्याने तुम्हें इनका अनुगामी बना दिया है ? हे गुण-दोषोंके विचार और स्मरण आदिमे कुशल मन ! ये बेचारी इन्द्रियाँ तो सम्बद्ध वर्तमान प्रतिनियत अर्थको ही ग्रहण करनेमे समर्थ होनेसे अति दीन हैं और आपकी तृष्णा तो समस्त जगत्को अपना ग्रास बनाना चाहती है । क्या उसकी पूर्ति इन इन्द्रियोंसे हो सकती है ? इसलिए समस्त वस्तुओंके अधिपति रूपसे प्रसिद्ध अपने पिता परम ब्रह्ममे निश्छल भक्तिसे तन्मय होकर यौवराज्य पदको—शुद्ध स्वात्मानुभूतिकी योग्यतारूप कुमार पदको—अर्थात् एकत्व-वितर्क प्रवीचार नामक शुक्लध्यानको ध्याओ ॥४२॥

विशेषार्थ—यदि मनका उपयोग उस ओर नहीं होता तो इन्द्रियाँ अपने विषयमें प्रवृत्त नहीं होतीं । इसीलिए उक्त उलाहना दिया गया है कि उधरसे हटकर मन परमात्माके गुणानुरागमे अनुरक्त होकर शुद्ध स्वात्मानुभूतिकी योग्यता प्राप्त करके स्वयं परमात्मस्वरूपमे रमण कर सके इससे उसकी विश्वको जानने-देखनेकी चिर अभिलाषा पूर्ण हो सकेगी ॥४२॥

ये विषय भोगते समय तो सुन्दर लगते हैं किन्तु बादको अत्यन्त कटु प्रतीत होते हैं । तथा ये तृष्णाको बढाते हैं, जो विषय भोगमे आता है उससे अरुचि होने लगती है और नयेके प्रति चाह बढती है । फिर भी अज्ञानी जन विषयोंके चक्रमे फँसकर विपत्तियोंको बुलाते है । यही सब बतलाते हुए ग्रन्थकार अपना खेद प्रकट करते हैं—

हे मन ! जो विषय ग्रहण करनेको उत्सुक इन्द्रियोंके साथ परिचयमे आनेपर अमृतसे भी मीठे लगते हैं वे भी परमोत्तम विषय उसके बाद ही विषसे भी बुरे प्रतीत होते है । तथा

खर्वन्ति—खण्डयन्ति । प्रणयिन यथास्वं परिचयभाज' । विपयविपयिसन्निकर्पविशेपसूचिका श्रुतिर्यथा—

३ 'पुट्ठं सुणोदि सद्दमपुट्ठ पुण पस्सदे रूवं ।
गंधं रसं च फासं वद्ध पुट्ठ वियाणादि ॥' [सर्वार्थ. (१।१९) में उद्धृत]

उद्धर्वं—क्षणादनन्तरम् । प्रतिचितधनायाः—प्रतिर्वद्धितगृद्धय । तिरोभवन्ति—उपभोगयोग्यता-
६ पांरणत्या विनश्यन्ति । कर्पन्ति स्वाभिमुखमानयन्ति ॥४३॥

अथ विपयाणामिहामुत्र चात्यन्त चैतन्याभिभवनिवन्धनत्वमभिधत्ते—

किमपीदं विषयमयं विषमतिविषमं पुमानयं येन ।
९ **प्रसभमभिभूयमानो भवे भवे नैव चेतयते ॥४४॥**

वे ही सुन्दर प्रतीत होनेवाले विपय अपनी झलक दिखाकर छिप जाते हैं और विपयतृष्णा-को वढा जाते हैं। खेद है कि उन विपयोंके रहस्यको न जाननेवाले विपयान्ध पुरुप उन विपयोंसे ही क्यों विपत्तियोंको अपनी ओर वुलाते हैं ॥४३॥

विशेपार्थ—पूज्यपाद स्वामीने कहा है—भोग-उपभोग प्रारम्भमे शरीर, मन और इन्द्रियोंको क्लेश देते है। अन्न आदि भोग्य द्रव्य उत्पन्न करनेमें किसानोंको कितना कष्ट उठाना पड़ता है इसे सव जानते है। तो भोगनेपर तो सुख देते होंगे, सो भी नहीं, क्योंकि इन्द्रियोंके साथ सम्वन्ध होते ही तृष्णा पैदा होती है। कहा है—जैसे-जैसे संकल्पित भोग प्राप्त होते हैं वैसे-वैसे मनुष्योकी तृष्णा विश्वमे फैलती है।

यदि ऐसा है तो भोगोंको खूव भोगना चाहिए जिससे तृष्णा शान्त हो। किन्तु भोगनेके वाद विपयोको छोड़ना शक्य नहीं होता। कितना भी भोगनेपर मनको शान्ति नहीं मिलती। आचार्य वीरनन्दिने कहा है—तृण और काष्ठके ढेरसे अग्नि और सैकड़ों नदियोसे समुद्र भले ही तृप्त हो जाये किन्तु कामसुखसे पुरुषकी तृप्ति नहीं होती। कर्मकी यह वलवत्ता अचिन्त्य है। ऐसे कामभोगको कौन वुद्धिमान् सेवन करता है? शायद कहा जाये कि 'तत्त्वके ज्ञाता भी भोग भोगते सुने जाते है तव यह कहना कि कौन वुद्धिमान् विषयोंको भोगता है' कैसे मान्य हो सकता है। उक्त कथनका तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे यद्यपि तत्त्व-ज्ञानी भी भोगोंका सेवन करते हैं किन्तु हेय मानते हुए ही सेवन करते है। जव मोहका उदय मन्द हो जाता है तो ज्ञान भावना और वैराग्यसे इन्द्रियोको वशमे करके विरक्त हो जाते है ॥४३॥

आगे कहते हैं कि ये विषय इस लोक और परलोकमे चैतन्यशक्तिके अभिभवमे कारण है—

यह विपयरूपी विप कुछ अलौकिक ही रूपसे अत्यन्त कष्टदायक है क्योकि उससे

---

१ 'आरम्भे तापकान् प्राप्तावतृप्तिप्रतिपादकान् ।
अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम क सेवते सुधी ' ॥—इष्टोप., १७ श्लो. ।

२. 'अपि सकल्पिता कामा सभवन्ति यथा यथा ।
तथा तथा मनुष्याणा तृष्णा विश्व प्रसर्पति' ॥ [ ]

३ 'दहनस्तृणकाष्ठसचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशतै. ।
नतु कामसुखै पुमानहो वलवत्ता खलु कापि कर्मण ' ॥—चन्द्रप्रभचरित १।७२ ।

स्पष्टम् ॥४४॥

अथैवमिन्द्रियपरिहारलक्षणमपहृतसंयममुत्तमप्रकारेण भावनाविषयीकृत्येदानीं तमेव मध्यमजघन्यप्रकाराभ्यां भावयितुमुपक्रमते— ३

साम्यायाक्षजयं प्रतिश्रुतवतो मेऽमी तदर्थाः सुखं
लिप्सोर्दुःखविभीलुकस्य सुचिराभ्यस्ता रतिद्वेषयोः।
व्युत्थानाय खलु स्युरित्यखिलशस्तानुत्सृजेद् दूरत-
स्तद्विच्छेदननिर्दयानथ भजेत्साधून्परार्थोद्यतान् ॥४५॥ ६

प्रतिश्रुतवत —अङ्गीकृतवत.। व्युत्थानाय—झगित्युद्बोधाय ॥४५॥

अथ स्वयं विषयदूरीकरणलक्षणं मध्यममपहृतसंयमभेदं प्रत्युद्यमयति— ९

मोहाज्जगत्युपेक्षेऽपि छेत्तुमिष्टेतराशयम्।
तथाभ्यस्तार्थमुज्झित्वा तदन्यार्थं पदं व्रजेत् ॥४६॥

इष्टेतराशय—इष्टानिष्टवासनाम्। तथाभ्यस्तार्थं—इष्टानिष्टतया पुन. पुन सेवितविषयम्। पदं— १२
वसत्यादिकमसंयमस्थानं वा ॥४६॥

बलपूर्वक अभिभूत हुआ अर्थात् वैभाविक भावको प्राप्त हुआ यह स्वसंवेदन प्रत्यक्षसे स्पष्ट आत्मा जन्म-जन्मान्तरमे भी ज्ञान चेतनाको प्राप्त नहीं करता ॥४४॥

विशेषार्थ—लौकिक विषसे अभिभूत व्यक्ति तो उसी भवमे होशमें नहीं आता। किन्तु विषय रूपी विषसे अभिभूत चेतन अनन्त भवोंमें भी नहीं चेतता। यही इसकी अलौकिकता है। अत. ज्ञानचेतनारूपी अमृतको पीनेके इच्छुक जनोंको विषयसेवनसे विरत ही होना चाहिए ॥४४॥

इस प्रकार इन्द्रिय परिहाररूप अपहृत संयमको उत्तम रीतिसे भावनाका विषय बनाकर अब उसीको मध्यम और जघन्य प्रकारोंसे भावनाका विषय बनानेका उपक्रम करते हैं—

मैं दुःखोंसे विशेष रूपसे भयभीत हूँ और सुख चाहता हूँ। इसीलिए मैने साम्यभावरूप उपेक्षा संयमकी सिद्धिके लिए इन्द्रियोंको जीतनेकी प्रतिज्ञा की है। ये इन्द्रियोंके विषय अनादिकालसे मेरे सुपरिचित हैं। मैंने इन्हें बहुत भोगा है। ये तत्काल राग-द्वेषको उत्पन्न करते हैं। इसलिए इन समस्त विषयोंको दूरसे ही छोड़ देना चाहिए। यह मध्यम संयम भावना है। अथवा जो साधु मध्यम संयम भावनामे असमर्थ हैं, उसे परोपकारके लिए तत्पर और उन विषयोंको दूर करनेमे कठोर साधुओंकी सेवा करनी चाहिए। यह जघन्य इन्द्रिय-संयम भावना है ॥४५॥

विशेषार्थ—मध्यम प्रकारकी विषय निवृत्तिमे विषयोंको बाह्य रूपसे अपनेसे दूर कर दिया जाता है, उत्तम प्रकारकी तरह अन्तर्वृत्तिसे विषयोंका त्याग नहीं किया जाता। और जघन्यमे आचार्यादिके द्वारा विषयोंको दूर किया जाता है ॥४५॥

आगे स्वयं विषयको दूर करने रूप मध्यम अपहृत संयमका पालन करनेके लिए साधुओंको प्रेरित करते हैं—

यह समस्त चराचर जगत् वास्तवमें उपेक्षणीय ही है। फिर भी अज्ञानसे इसमे इष्ट और अनिष्टकी वासना होती है। इस वासनाको नष्ट करनेके लिए इष्ट और अनिष्ट रूपसे

अथ मनोविक्षेपकारणकरणगोचरापसरणपरं गुर्वादिकमभिनन्दति—

चित्तविक्षेपिणोऽक्षार्थान् विक्षिपन् द्रव्यभावतः ।
३ विश्वाराट् सोऽयमित्यार्यैर्बहुमन्येत शिष्टराट् ॥४७॥

विश्वाराट्—जगन्नाथ । 'विश्वस्य वसुराटो.' इति दीर्घ ॥४७॥

अथ उत्तममध्यमावमभेदात्त्रिप्रकारं प्राणिपरिहाररूपमपहृतसंयमं प्रपञ्चयन्नाह—

६ बाह्यं साधनमाश्रितो व्यसुवसत्यन्नादिमात्रं स्ववशाद्-
भूतज्ञानमुखस्तदभ्युपसृतान् जन्तूनयतिः पालयन् ।
स्वं व्यावर्त्य ततः सतां नमसितः स्यात् तानुपायेन तु
९ स्वान्मार्जन् मृदुना प्रियः प्रतिलिखन्नप्याद्दृतस्तादृशा ॥४८॥

व्यसु—प्रासुकम् । स्ववशाद्भूतज्ञानमुख.—स्वाधीनज्ञानचरणकरण. । तदभ्युपसृतान्—प्रासुकवसत्यादावुपनिपतितान् । व्यावर्त्य—तद्वस्तुत्यागेन वियोगोपघातादिचिन्तापरिहारेण वा प्रच्याव्य । तत.—
१२ तेभ्यो जन्तुभ्य सोऽयमुत्तमः । स्वात्—आत्मदेहत । मार्जन्—शोधयन् । प्रिय.—इष्ट । सतामित्येव ॥४८॥

अथापहृतसंयमस्फारीकरणाय शुद्ध्यष्टकमुपदिशति—

भिक्षेर्याशयनासनविनयव्युत्सर्गवाङ्मनस्तनुषु ।
१५ तन्वन्नष्टसु शुद्धिं यतिरपहृतसंयमं प्रथयेत् ॥४९॥

बारम्बार सेवन किये गये विषयोंको त्यागकर उनसे भिन्न अनभ्यस्त अर्थोंवाले स्थानको प्राप्त करना चाहिए ॥४६॥

मनको विक्षिप्त करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको दूर करनेमे तत्पर गुरु आदिका अभिनन्दन करते है—

राग-द्वेप आदिको उत्पन्न करके मनको व्याकुल करनेवाले इन्द्रिय विषयोंको द्रव्य और भावरूपसे त्याग करनेवाले शिष्टराट्—तत्त्वार्थके श्रवण और ग्रहणसे गुणोंको प्राप्त शिष्ट पुरुषोंके राजा, उत्तम पुरुषोंके द्वारा 'यह विश्वमे शोभायमान विश्वाराट् हैं' इस प्रकारसे बहुत माने जाते हैं ॥४७॥

विशेषार्थ—बाह्य विषयोंका त्याग द्रव्य त्याग है और अन्तर्वर्ती विषय सम्बन्धी विकल्पोंका त्याग भाव त्याग है। दोनों प्रकारसे त्याग करनेवाले विश्वपूज्य होते है ॥४७॥

आगे उत्तम, मध्यम, जघन्यके भेदसे तीन प्रकारके प्राणीपरिहाररूप अपहृत संयमका कथन करते हैं—

स्वाधीन ज्ञान चारित्रका पालक मुनि उसके बाह्य साधन मात्र प्रासुक वसति, प्रासुक अन्न आदिको ही स्वीकार करता है। उनमें यदि कोई जीव-जन्तु आ जाता है तो वहाँसे स्वयं हटकर जीवोंकी रक्षा करता है। वह यति साधुओंके द्वारा पूजित होता है। यह उत्कृष्ट प्राणिसंयम है। और उन जन्तुओंको कोमल पिच्छिकासे अपने शरीर आदिसे दूर करनेवाला साधु सज्जनोंका प्रिय होता है। यह मध्यम प्राणिसंयम है। तथा मृदु पीछीके अभावमे उसीके समान कोमल वस्त्र आदिसे जीवोंकी प्रतिलेखना करनेवाला साधु सज्जनोंको आदरणीय होता है। यह जघन्य प्राणिसंयम है ॥४८॥

अपहृत संयमको बढानेके लिए आठ शुद्धियोंका उपदेश करते है—

संयमके पालनके लिए तत्पर साधुको भिक्षा, ईर्या, शयन, आसन, विनय, व्युत्सर्ग,

भिक्षेत्यादि। भिक्षाशुद्धि. प्रागुक्ता, तत्परस्य मुनेरशन गोचाराक्ष-म्रक्षणोदराग्निप्रशमन-भ्रमराहार-श्वभ्रपूरणनामभेदात् पञ्चधा स्यात्। तत्र गोर्वलीवर्दस्येव चारोऽभ्यवहारो गोचार. प्रयोक्तृंततसौन्दर्यनिरीक्षण-विमुखतया यथालाभमनपेक्षितस्वादोचितसयोजनाविशेष चाभ्यवहरणात्। तथा अक्षस्य शकटीचक्राधिष्ठान-काष्ठस्य म्रक्षण स्नेहेन लेपनमक्षम्रक्षणम्। तदिवाशनमप्यक्षम्रक्षणमिति रूढम्। येन केनापि स्नेहेनेव निरवद्याहारेणायुपोऽक्षस्येवाभ्यङ्ग प्रतिविधाय गुणरत्नभारपूरिततनुशकट्या समाधीष्टदेशप्रापणनिमित्तत्वात् तथा भाण्डागारवदुदरे प्रज्वलितोऽग्नि[1] प्रशम्यते येन शुचिनाऽशुचिना वा जलेनेव सरसेनारसेन वाऽशनेन तदुदराग्नि-प्रशमनमिति प्रसिद्धम्। तथा भ्रमरस्येवाहारो भ्रमराहारो दातृजनपुष्पपीडानवतारात् परिभाव्यते। तथा श्वभ्रस्य गर्तस्य येन केनचित् कचारेणेव स्वादुनेतरणेवाहारेणोदरगर्तस्य पूरणात् श्वभ्रपूरणमित्याख्यायते। ईर्या-व्युत्सर्ग-वाक्शुद्धय समितिषु व्याख्याता। शयनासनविनयशुद्धी तु तप सु वक्ष्येते। मन शुद्धिस्तु भावशुद्धि कर्मक्षयोपशमजनिता मोक्षमार्गरुच्याहितप्रसादा रागाद्युपप्लवरहिता च स्यात्। सैव च सर्वशुद्धीनामुपरि स्फुरति

वचन, मन, काय इन आठोके विषयमें शुद्धिको विस्तारते हुए अपहृत सयमको बढाना चाहिए ॥४९॥

विशेषार्थ—भिक्षाशुद्धि, ईर्याशुद्धि, शयनासनशुद्धि, विनयशुद्धि व्युत्सर्गशुद्धि, वचन-शुद्धि, मनशुद्धि और कायशुद्धि ये आठ शुद्धियाँ हैं। इनमें-से भिक्षाशुद्धिका कथन पिण्ड-शुद्धिमे किया गया है। भिक्षाशुद्धिमे तत्पर मुनि जो भोजन करता है उसके पाँच नाम हैं—गोचार, अक्षम्रक्षण, उदराग्निप्रशमन, भ्रमराहार और श्वभ्रपूरण। गो अर्थात् बैलके समान जो चार अर्थात् भोजन उसे गोचार कहते है। क्योंकि मुनि भोजन देनेवाले दाताके सौन्दर्यपर दृष्टि न डालते हुए, जो कुछ वह देता है, उसे स्वाद उचित सम्मिश्रण आदिकी अपेक्षा न करते हुए खाता है। गाडीके पहियोंका आधार जो काष्ठ होता है उसे अक्ष कहते है। उसे तेलसे लिप्त करनेको अक्षम्रक्षण कहते हैं। उसके समान भोजनको अक्षम्रक्षण कहते है। क्योंकि जैसे व्यापारी जिस किसी भी तेलसे गाडीको औंधकर रत्नभाण्डसे भरी हुई गाडीको इष्ट देशमें ले जाता है उसी प्रकार मुनि निर्दोष आहारके द्वारा आयुको सिंचित करके गुणोंसे भरी हुई शरीररूपी गाडीको समाधिकी ओर ले जाता है। तथा, जैसे मालघरमे आग लगनेपर पवित्र या अपवित्र जलसे उस आगको बुझाते हैं, उसी प्रकार पेटमें भूख लगनेपर मुनि सरस या विरस आहारसे उसे शान्त करता है। इसीको उदराग्नि प्रशमन कहते हैं। तथा भ्रमरके समान आहारको भ्रमराहार कहते है। जैसे भौरा फूलोंको पीडा दिये बिना मधुपान करता है वैसे ही साधु दाताजनोंको पीडा दिये बिना आहार ग्रहण करता है। तथा जैसे गड्ढेको जिस किसी भी कचरेसे भरा जाता है उसी तरह पेटके गड्ढेको स्वादिष्ट या अस्वादिष्ट आहारसे भरनेको श्वभ्रपूरण कहते है। ईर्याशुद्धि, व्युत्सर्गशुद्धि और वचनशुद्धिका कथन समितियोंके कथनमे कर आये है। शयनासनशुद्धि और विनय-शुद्धिका कथन तपमे करेंगे। मनशुद्धि भावशुद्धिको कहते है। कर्मके क्षयोपशमसे वह उत्पन्न होती है। मोक्षमार्गमे रुचि होनेसे निर्मल होती है। रागादिके उपद्रवसे रहित होती है। यह मनशुद्धि या भावशुद्धि सब शुद्धियोमे प्रधान है क्योंकि आचारके विकासका मूल भावशुद्धि ही है। कहा है—सब शुद्धियोमे भावशुद्धि ही प्रशसनीय है। क्योंकि स्त्री

---

१ वतृजनसौ—भ कु च.।

२. 'सर्वासामेव शुद्धीना भावशुद्धि. प्रशस्यते।
अन्यथाऽऽलिङ्गयतेऽपत्यमन्यथाऽऽलिङ्गयते पति' ॥ [ ]

तदेकमूलत्वादाचारप्रकाशायो. (-शोनाया) । कायशुद्धिस्तु निरावरणाभरणा निरस्तसंस्कारा यथाजाता मलधारिणी निराकृताङ्गविकारा सर्वत्र प्रयतवृत्ति· प्रशमं मूर्तमिव प्रदर्शयन्तीव स्यात् । तस्या च सत्या न स्वतोऽन्यस्य नाप्यन्यत स्वस्य भयमुद्भवति । स एप शुद्ध्यष्टकप्रपञ्चः समित्यादिभ्योऽपोद्धृत्य सूत्रे स्वाख्यायते सयमस्यातिदुष्करतया परिपालने मुतरा वालाशक्तानगारवर्गस्य प्रयत्नप्रतिसंधानार्थमिति ॥४९॥

अथ उपेक्षासयमपरिणत लक्षयति—

तेऽमी मत्सुहृदः पुराणपुरुषा मत्कर्मक्लृप्तोदयैः
स्वै. स्वै कर्मभिरीरितास्तनुमिमां मन्नेतृकां मद्धिया ।
चञ्चम्यन्त इमं न मामिति तदावाधे त्रिगुप्त. परा-
क्लिष्टश्चोत्सृष्टवपुर्बुध· समतया तिष्ठत्युपेक्षायमी ॥५०॥

पुत्रका भी आलिंगन करती है और पतिका भी। किन्तु दोनोंके भावोंमें बड़ा अन्तर है। शरीरपर न कोई वस्त्र हो न आभूषण, न उसका संस्कार-स्नान, तेल मर्दन आदि किया गया हो, जन्मके समय जैसी स्थिति होती है वही नग्न रूप हो, मल लगा हो, किसी अंगमे कोई विकार न हो, सर्वत्र सावधानतापूर्वक प्रवृत्ति हो, जिसे देखनेसे ऐसा प्रतीत हो, मानो मूर्तिमान प्रशमगुण है। इसे ही कायशुद्धि कहते हैं। इसके होनेपर न तो अपनेको दूसरोंसे भय होता है और न दूसरोंको अपनेसे भय होता है। क्योंकि संयमका पालन अत्यन्त दुष्कर है अतः उसके पालनमें जो मुनि वालक हैं या वृद्ध हैं उनको प्रयत्नशील बनानेके लिए इन आठ शुद्धियोंका समिति आदिसे उद्धार करके आगममे विस्तारसे कथन किया गया है ॥४९॥

उपेक्षा संयमका स्वरूप कहते हैं—

शरीर और आत्माके भेदको जाननेवाला उपेक्षा संयमी उपद्रव करनेवाले व्याघ्र आदि जीवोंके द्वारा कष्ट दिये जानेपर भी उनको कोई कष्ट नहीं देता, और मन-वचन-कायके व्यापारका अच्छी रीतिसे निग्रह करके शरीरसे ममत्व हटाकर समभावसे स्थिर रहता हुआ विचारता है कि ये व्याघ्र आदि जीव भी परमागममे प्रसिद्ध परमात्मा हैं, मेरे मित्र हैं, मेरे उपघात नामकर्मका उदय है और इनके परघात नामकर्मका उदय है। उसीसे प्रेरित होकर ये इस शरीरको ही मुझे मानकर खा रहे हैं क्योंकि मैं इस शरीरका नेता हूँ, जैसे कहार काँवरका होता है। किन्तु स्वयं मुझे नहीं खा सकते ॥५०॥

विशेषार्थ—उपेक्षा संयमका मतलव ही इष्ट और अनिष्ट विषयोमे राग-द्वेष न करके समता भाव रखना है। अतः उपेक्षा संयमका अर्थ ही साम्यभाव है। यह साम्यभाव इतना उन्नत होता है कि व्याघ्रादिके द्वारा खाये जानेपर भी चलित नहीं होता। शेर भँभोड़-भँभोड़-कर खा रहा है और उपेक्षा संयमी शेरकी पर्यायमे वर्तमान जीवकी दशा और स्वरूपका विचार करता है। परमागममे कहा है कि सभी जीव द्रव्यरूपसे परमात्मा हैं। कहा है—इस सिद्ध पर्यायमे जो वैभव शोभित होता है बद्धदशामे भी यह सब वैभव पूरी तरहसे

१. भ कु च ।
२. प्रयत्न भ कु च ।
३ सूत्रेऽन्वाख्या—भ कु च ।
४. 'सिद्धत्वे यदिह विभाति वैभवं वो बद्धत्वेऽप्यखिलतया किलेदमासीत् ।
बद्धत्वे न खलु तथा विभातमित्थं बीजत्वे तरुगरिमात्र किं विभाति ॥' [ ]

अमी—व्याघ्रादिरूपा । मत्सुहृदः—मया सदृशा. अथवा अनादिससारे पित्रादिपर्यायेण ममोपकारका । यदाहु —

'सर्वे तातादिसबन्धा नासन् यस्याङ्गिनोऽङ्गिभि. ।
सर्वैरनेकधा सार्धं नासावङ्ग्यपि विद्यते ॥' [ ] ३

पुराणपुरुषा. । पराक्लिष्टा परेपामुपद्रावकजीवानामनुपघातेन । उत्सृष्टवपुः—ममत्वव्यावर्तनेन परित्यक्तशरीर । वुध —देशकालविधानज्ञ ॥५०॥ ६

अथ उपेक्षासयमसिद्धचङ्गे तपोरूपे धर्मेऽनुष्ठातॄनुत्साहयन्नाह—

उपेक्षासयमं मोक्षलक्ष्मीश्लेषविचक्षणम् ।
लभन्ते यमिनो येन तच्चरन्तु परं तपः ॥५१॥ ९

पर—उत्कृष्ट स्वाध्यायध्यानरूपमित्यर्थ ॥५१॥

था किन्तु वद्धदशामे वह वैसा शोभित नहीं था। क्या वीज पर्यायमे वृक्षकी गरिमा शोभित होती है? और भी कहा है—'सव्वे सुद्धा हु सुद्धणया'। शुद्धनयसे सभी जीव शुद्ध-बुद्ध हैं। अत. ये सिंह आदि भी मेरे मित्र हैं। जो स्वरूप मेरी आत्माका है वही इनकी आत्माका है। पर्याय दृष्टिसे देखनेपर भी ये मेरे पूर्व वन्धु हो सकते है क्योकि अनादि संसारमे कौन जीव किसका ,पिता-पुत्र आदि नही होता। कहा है—'जिस प्राणीके सव प्राणियोंके साथ सव पिता-पुत्र आदि अनेक सम्वन्ध नही रहे ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है'।

दूसरे, खानेवाला शेर मुझे तो खा ही नहीं सकता। मै तो टॉकीसे उकेरे हुएके समान ज्ञायक भावरूप स्वभाववाला हूँ। व्यवहारमें यदि यह खाता है तो खाये। वास्तवमें जो स्वात्म संवेदनमे लीन होता है उसे वाह्य दुःखका बोध नही होता। कहा है—जो योगी शरीर आदिसे हटाकर आत्माको आत्मामे ही स्थिर करता है और व्यवहार—प्रवृत्ति-निवृत्तिसे दूर रहता है, उसे स्वात्माके ध्यानसे वचनातीत आनन्द होता है। यह आनन्द निरन्तर प्रचुर कर्मरूपी ईंधनको जलाता है। तथा उस आनन्दमग्न योगीको परीषह उपसर्ग आदि वाह्य दु.खोंका वोध नहीं होता। इसीसे उसे कोई खेद नहीं होता। और भी कहा है—शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे आनन्दित योगी तपके द्वारा उदीर्ण किये गये घोर दुष्कर्मोंको भोगता हुआ भी खेदखिन्न नही होता ॥५०॥

इस तरह संयमका प्रकरण समाप्त होता है।

आगे उपेक्षा संयमकी सिद्धिके सहायक तपधर्ममे तपस्वियोंको उत्साहित करते है—

जिसके द्वारा साधुजन अनन्त ज्ञानादि चतुष्टयरूप मोक्षलक्ष्मीका आलिंगन करानेमे चतुर दूतके समान उपेक्षा संयमको प्राप्त करते है उस उत्कृष्ट तपको करना चाहिए ॥५१॥

---

१ आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारवहि स्थिते ।
जायते परमानन्द कश्चिद्योगेन योगिन ॥
आनन्दो निर्दहत्युद्ध कर्मेन्धनमनारतम् ।
न चासौ खिद्यते योगी वहिर्दु खेष्वचेतन ॥ —इष्टोपदे , ४७-४८ श्लोक ।

२ आत्मदेहान्तरज्ञान-जनिताह्लादनिर्वृत ।
तपसा दुष्कृत घोर भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥ —समाधित. ३४ श्लो ।

अथ त्यागात्मकं धर्ममवगमयति—

शक्त्या दोषैकमूलत्वान्निवृत्तिरुपधेः सदा ।
३ त्यागो ज्ञानादिदानं वा सेव्यः सर्वगुणाग्रणी ॥५२॥

शक्तेत्यादि । अयमत्राभिप्राय. । परिग्रहनिवृत्तिरनियतकाला यथास्वशक्तिः त्यागः । कायोत्सर्गः पुर्नियतकाल सर्वोत्सर्गरूप. । कर्मोदयवशादसन्निहितविषयगर्द्धोत्पत्तिनिषेध. शौचम् । त्याग. पुन. सन्निहिता-
६ पाय इति शौचादप्यस्य भेद. । सर्वगुणाग्रणी । उक्त च—

'अनेकाधेयदुष्पूर आशागर्तश्चिरादहो ।
चित्रं यत् क्षणमात्रेण त्यागेनैकेन पूर्यते ॥
९ कः पूरयति दुष्पूरमाशागर्तं दिने दिने ।
यत्रास्तमस्तमाधेयमाधारत्वाय कल्पते ॥' [ ] ॥५२॥

अथ ज्ञानदानमहिमानमखिलदानमाहात्म्यन्यग्भावेन पुरस्कुर्वन्नाह—

विशेषार्थ—उपेक्षा संयमके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती और उपेक्षा संयमकी साधना उत्कृष्ट तपके द्वारा ही सम्भव है। वह उत्कृष्ट तप है स्वाध्याय और ध्यान। कहा है—'स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास करना चाहिए और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करना चाहिए। तथा ध्यान और स्वाध्यायकी सम्प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है। अर्थात् परमात्मपदकी प्राप्तिके लिए स्वाध्याय और बहुत ध्यान उपयोगी हैं ॥५१॥

आगे त्यागधर्मका कथन करते हैं—

परिग्रह राग आदि दोषोंका प्रधान कारण है। इसलिए शक्तिके अनुसार उससे सदाके लिए जो निवृत्तिरूप परिणाम है उसे त्याग कहते हैं। अथवा ज्ञान आदिके दानको त्याग कहते हैं। वह सब गुणोंमें प्रधान है। साधुओंको उसका पालन करना चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—त्याग और शौचमें यह अन्तर है कि शक्तिके अनुसार अनियत काल तक परिग्रहकी निवृत्तिको त्याग कहते हैं। नियत काल तक सब कुछ त्यागनेको कायोत्सर्ग कहते हैं। और कर्मके उदयके वश जो अपने पासमें नहीं है उसमें होनेवाली लालसाको रोकना शौच है। अर्थात् जो हमें प्राप्त नहीं है उस विषयकी तृष्णाको रोकना शौच है। और जो हमारे पास है उसे छोड़ना त्याग है। इस तरह शौचसे त्याग भिन्न है। तृष्णाकी पूर्ति होना असम्भव है। कहा है—'आशारूपी गर्त दुष्पूर है उसे कोई भर नहीं सकता। प्रतिदिन उसमें जो कुछ भरा जाता है वह आधेय न होकर आधार हो जाता है।'

किन्तु उसे भरनेका एक ही उपाय है और वह है त्याग। कहा है—'खेद है कि आशा-रूपी गर्त चिरकालसे अनेक प्रकारके आधेयोंसे भी नहीं भरता। किन्तु आश्चर्य है कि एक त्यागसे वह क्षण मात्रमें भर जाता है' ॥५२॥

आगे सब दानोंके माहात्म्यसे ज्ञानदानकी महिमाकी विशिष्टता बतलाते हैं—

---

१ यत्र समस्तमा—भ. कु. च । चारित्रसारे उद्धृताविमौ श्लोकौ ।
२ 'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ।'—तत्त्वानु., ८१ श्लो. ।

दत्ताच्छर्म किलैति भिक्षुरभयादा तद्भवाद्भेषजा-
दा रोगान्तरसंभवादशनतश्चोत्कर्षतस्तद्दिनम् ।
ज्ञानात्त्वाशुभवन्मुदो भवमुदा तृप्तोऽमृते मोदते
तद्दातृंस्तिरयन् ग्रहानिव रविर्भातीतरान् ज्ञानदः ॥५३॥ ३

आतद्भवात्—वर्तमानजन्म यावत् । आशुभवन्मुद—सद्य. सजायमाना प्रीतिर्यस्मात् । भव-
मुदा—ससारसुखानाम् । अमृते—मोक्षे । तिरयन्—तिरस्कुर्वन् ॥५३॥ ६

अथाकिञ्चन्यलक्षणधर्मानुष्ठायिन परमाद्भुतफलप्रतिलम्भमभिधत्ते—

अकिंचनोऽहमित्यस्मिन् पथ्यक्षुण्णचरे चरन् ।
तददृष्टचरं ज्योति पश्यत्यानन्दनिर्भरम् ॥५४॥ ९

अकिंचन.—नास्ति किंचनोपात्तमपि शरीरादिक मम इत्यर्थ । उपात्तेष्वपि हि शरीरादिषु
सस्कारादित्यागात् ममेदमित्यभिसन्धिनिवृत्तिराकिंचन्यमिष्यते । अक्षुण्णचरे—पूर्वं कदाचिदप्यनवगाहिते ।
अदृष्टचरं—पूर्वं कदाचिदप्यनुपलब्धम् ॥५४॥ १२

आगममे ऐसा सुना जाता है कि दिये गये अभयदानसे भिक्षु अधिकसे अधिक उसी भवमे सुखी रहता है । औषधदानसे अधिक से अधिक जबतक अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता तबतक सुखी रहता है । भोजनदानसे अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है । किन्तु तत्काल आनन्दको देनेवाले ज्ञानदानसे सांसारिक सुखोंसे तृप्त होकर मोक्षमें सदा आनन्द करता है । अत. जैसे सूर्य, चन्द्र आदि ग्रहोको तिरस्कृत करता हुआ शोभता है उसी तरह ज्ञानदाता अभयदान आदि करनेवालोको तिरस्कृत करता हुआ सुशोभित होता है ॥५३॥

विशेषार्थ—चारो प्रकारके दानोमे ज्ञानदान सर्वश्रेष्ठ है । क्योंकि यदि कोई किसी भिक्षुको अभयदान देता है कि तुम किसीसे भी मत डरना, तो इससे वह भिक्षु केवल उसी भवमे निर्भय होकर रह सकता है । मरने पर तो अभयदान भी समाप्त हो जाता है । यदि कोई किसी रोगी भिक्षुको औषधि देकर नीरोग करता है तो उससे भी भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे दूसरा रोग नहीं होता । जैसे किसी भिक्षुको ज्वर आता है । ज्वरनाशक औषधके देनेसे ज्वर चला गया । तो वह भिक्षु तभी तक सुखी रहता है जब तक उसे अन्य रोग उत्पन्न नहीं होता । इसी प्रकार भिक्षुको भोजन देनेसे वह भिक्षु अधिक से अधिक उसी दिन सुखी रहता है । दूसरा दिन होते ही भूख सताने लगती है । किन्तु ज्ञानदानसे तत्काल चित्तमे शान्ति आती है और वह संसारके सुखोंसे उद्विग्न होकर शाश्वत आत्मिक सुखको प्राप्त करता है ॥५३॥

आगे कहते हैं कि आकिंचन्य धर्मके पालकको अद्भुत फलकी प्राप्ति होती है—

'मैं अकिंचन हूँ' इस पहले कभी भी न जाने हुए मार्गमे भावक—भावरूपसे प्रवृत्ति करनेवाला साधु आनन्दसे भरपूर और पहले कभी भी प्राप्त न हुई, टॉकीसे उकेरी हुईके समान ज्ञायकभाव-स्वभाव आत्मज्योतिका अनुभवन करता है ॥५४॥

विशेषार्थ—मेरा कुछ भी नही है इस प्रकारके भावको आकिंचन्य कहते है । शरीर वगैरह यद्यपि वर्तमान रहते है फिर भी उसमे ममत्वको त्यागकर 'यह मेरा है' इस प्रकारके अभिप्रायसे निवृत्त होना आकिंचन्य है । इस आकिंचन्य भावको भानेसे ही ज्ञायकभाव-स्वभाव आत्माका अनुभव होता है ॥५४॥

अथ ब्रह्मचर्यस्वरूप धर्मं निरूपयन्नाह—

चरणं ब्रह्मणि गुरावस्वातन्त्र्येण यन्मुदा ।
३ चरणं ब्रह्मणि परे तत्स्वातन्त्र्येण वर्णिन. ॥५५॥

वर्णिन —ब्रह्मचारिणः ॥५५॥

अथ क्षमादिधर्माणा गुप्त्यादिभ्योऽपोद्धारव्यवहारपुरस्सरमुत्तमविशेषण व्याचष्टे—

६ गुप्त्यादिपालनार्थं तत एवापोद्धृतैः प्रतिक्रमवत् ।
दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः क्षान्त्यादिभिरुत्तमैर्यतिर्जयति ॥५६॥

अपोद्धृतैः—पृथक्कृत्योक्तै । दृष्टफलनिर्व्यपेक्षैः—लाभादिनिरपेक्षत्वादुत्तमैरित्यर्थ ॥५६॥

९ अथ मुमुक्षूणामनुप्रेक्षाचिन्तनाधीनचेतसा वहुप्रत्यूहेऽपि मोक्षमार्गे कश्चित् प्रत्यवायो न स्यादित्युपदेश-पुरस्सर नित्य तच्चिन्तने तानुद्योगयन्नाह—

अव ब्रह्मचर्य धर्मका कथन करते है—

मैथुनसे निवृत्त ब्रह्मचारी जो स्वतन्त्रतापूर्वक परब्रह्ममें प्रवृत्ति करता है या गुरुके अधीन होकर आत्मामे प्रवृत्ति करता है उसे ब्रह्मचर्य कहते है ॥५५॥

विशेषार्थ—ब्रह्म शब्दका अर्थ है आत्मा या ज्ञान । उसमे प्रवृत्तिका नाम ब्रह्मचर्य है । लोकमे मैथुन सेवनसे निवृत्त होनेको ब्रह्मचर्य कहते है । मैथुन सेवी व्यक्ति आत्मामे प्रवृत्ति कर नहीं सकता । अतः जो चतुर्थ व्रत ब्रह्मचर्यकी प्रतिज्ञा लेकर व्यवहारसे आध्यात्मिक गुरुकी आज्ञानुसार और परमार्थसे स्वात्माधीन होकर प्रेमपूर्वक स्वात्मामे रमता है वही ब्रह्मचारी है । वह परम आत्मज्ञानका स्वच्छन्द होकर अनुभवन करता है ॥५५॥

इस प्रकार ब्रह्मचर्यका कथन समाप्त होता है ।

आगे क्षमा आदि धर्मोंको गुप्ति आदिसे पृथक् करके कहनेका कारण बतलाते हुए उत्तम विशेषणको स्पष्ट करते है—

गुप्ति, समिति और व्रतोंकी रक्षाके लिए प्रतिक्रमणकी तरह गुप्ति आदिसे पृथक् करके क्षमा आदिको कहा है । तथा प्रत्यक्ष फल लाभ आदिकी अपेक्षा न होनेसे उन्हें उत्तम कहा है । इन उत्तम क्षमा आदिके द्वारा शुद्धोपयोगी मुनि जयवन्त होता है ॥५६॥

विशेषार्थ—जैसे लगे हुए दोपोको दूर करनेके लिए प्रतिक्रमण कहा है, उसी तरह गुप्ति, समिति और व्रतोंमे दोष न लगे, इसलिए उत्तम क्षमा आदिका पृथक् कथन किया है । अन्यथा ये दस धर्म गुप्ति आदिसे ही समाविष्ट हो जाते है । तथा क्षमा, मार्दव आदि दसो धर्म उत्तम ही होते हैं । फिर भी उनके साथ उत्तम विशेषण इसलिए लगाया है कि किसी लौकिक फलकी अपेक्षासे पाले गये क्षमा आदि धर्म उत्तम नही होते । जैसे शत्रुको बलवान् जानकर क्षमाभाव धारण करना उत्तम क्षमा नही है । इसी तरह अन्य भी जानना । इस प्रकार उत्तम क्षमा आदि दस लक्षण धर्मका अधिकार समाप्त होता है । इन दस धर्मोंका विशेप कथन तत्त्वार्थसूत्र अ. ९ के व्याख्या ग्रन्थ सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक आदिमें किया है । रत्न-करण्ड श्रावकाचारकी भाषा टीकामें प सदासुखजीने विशेष विस्तारसे कथन किया है ॥५६॥

मोक्षके मार्गमे वहुत विघ्न है । फिर भी उसमें कोई विघ्न न आवे, इसलिए वारह भावनाओंके चिन्तनमे संलग्न मुमुक्षुओको नित्य उनके चिन्तनमे लगे रहनेकी प्रेरणा करते है—

बहुविघ्नेऽपि शिवाध्वनि यन्निघ्नधियश्चरन्त्यमन्दमुदः ।
ताः प्रयतैः संचिन्त्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः ॥५७॥

स्पष्टम् ॥५७॥

अथायुःकायेन्द्रियबलयौवनानां क्षणभङ्गुरत्वचिन्तनान्मोहोपमर्दमुपदिशति— ३

चुलुकजलवदायुः सिन्धुवेलावदङ्गं,
करणबलममित्रप्रेमवद्यौवनं च ।
स्फुटकुसुमवदेतत् प्रक्षयैकव्रतस्थं, ६
क्वचिदपि विमृशन्तः किं नु मुह्यन्ति सन्तः ॥५८॥

चुलुकजलवत्—प्रतिक्षणगलद्रूपत्वात् । सिन्धुवेलावत्—आरोहावरोहवत्त्वात् । अमित्रप्रेमवत्— ९
युक्तोपचारेऽपि व्यभिचारप्रकाशनात् । स्फुटकुसुमवत्—सद्योविकारित्वात् । एतत्—आयुरादिचतुष्टयम् ।
प्रक्षयैकव्रतस्थ—अवश्यभाविनिर्मूलप्रलयम् । क्वचिदपि—आयुरादीनां लक्ष्म्यादीनां च मध्ये एकस्मिन्नप्यर्थे ।
मुह्यन्ति—अनित्यताज्ञानहीना ममत्वाधीना वा भवन्ति ॥५८॥ १२

यद्यपि मोक्षके मार्गमे बहुत बाधाएँ हैं। फिर भी जिन अनुप्रेक्षाओंके चिन्तनमें व्यस्त मुमुक्षु अति आनन्दपूर्वक मोक्षमार्गमे विहार करते है, प्रयत्नशील मुमुक्षुओंको उन अनित्य आदि अनुप्रेक्षाओंका सतत चिन्तन करना चाहिए ॥५७॥

विशेषार्थ—स्थिर चित्तसे शरीर आदिके स्वरूपके चिन्तनको अनुप्रेक्षा कहते हैं। अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आस्रव, सवर, निर्जरा, लोक, बोधि-दुर्लभ और धर्म ये बारह अनुप्रेक्षा हैं। मुमुक्षुको इनका सदा चिन्तन करना चाहिए। इससे मोक्षके मार्गमें आनेवाले विघ्न दूर होते हैं। मनको शान्ति मिलती है और सासारिकतासे आसक्ति हटती है ॥५७॥

आगे उपदेश करते हैं कि आयु, शरीर, इन्द्रिय, बल और यौवनकी क्षणभंगुरताका विचार करनेसे मोहका मर्दन होता है—

आयु चुल्लूमें भरे जलके समान है, शरीर समुद्रके किनारेके तुल्य है, इन्द्रियोंकी अर्थ-ग्रहण शक्ति शत्रुके प्रेमके तुल्य है, यौवन तत्काल खिले हुए पुष्पके समान है। इस तरह ये चारों विनाशशील है। इनका विचार करनेवाले सन्त पुरुष क्या किसीमें भी मोह कर सकते हैं, अर्थात् नहीं कर सकते ॥५८॥

विशेषार्थ—जैसे चुल्लूमे भरा जल प्रतिक्षण चूता है, उसी तरह भवधारणमे निमित्त आयुकर्म भी प्रतिक्षण क्षीण होता रहता है। जैसे लवणसमुद्रका जल जहाँ तक ऊपर उठ सकता है उठता है फिर जहाँ तक नीचे जा सकता है जाता है, उसी तरह यह शरीर जब तक बढने योग्य होता है बढता है फिर क्रमश. क्षीण होता है। कहा है—'सोलह वर्ष तककी अवस्था बाल्यावस्था कही जाती है। उसमे धातु, इन्द्रिय और ओजकी वृद्धि होती है। ७० वर्षकी उम्रके बाद वृद्धि नहीं होती, किन्तु क्षय होता है।'[1] इन्द्रियोका बल पदार्थोंको ग्रहण करनेकी शक्ति है। वह शत्रुके प्रेमके समान है। जैसे उचित उपचार करनेपर भी शत्रुका स्नेह समय पाकर टूट जाता है वैसे ही योग्य आहार-विहार आदि करनेपर भी इन्द्रियोकी

---

१. 'वयस्त्वा षोडशाद्बाल्यं तत्र धात्विन्द्रियौजसाम् ।
वृद्धिरासप्ततेर्मध्यं तत्रावृद्धिः परं क्षयः' ॥

अथ सम्पदादीनामनित्यताचिन्तनार्थमाह—

छाया माध्याह्निकी श्रीः पथि पथिकजनैः संगमः संगमः स्वैः,
खार्था स्वप्नेक्षितार्थाः पितृसुतदयिताज्ञातयस्तोयभङ्गाः।
सन्ध्यारागोऽनुरागः प्रणयरससृजां ह्लादिनीदाम वैश्यं
भावाः सैन्यादयोऽन्येऽप्यनुविदधति तान्येव तद्ब्रह्म दुह्मः ॥५९॥

३

स्वैः—बन्धुभि । खार्थाः—इन्द्रियार्थाः । पितृसुत—माता च पिता च पितरौ, सुता च सुतश्च सुताविति ग्राह्यम् । तोयभङ्गा —जलतरङ्गा । ह्लादिनीदाम—विद्युन्माला । अन्ये—सौधोद्यानादय । अनुविदधति—अनुहरन्ते । तद्ब्रह्म—शाश्वतं ज्ञानम् । दुह्म —प्रपूरयामो वयमानन्दं वा स्रावयाम ॥५९॥

६

अर्थग्रहण शक्ति थोड़ा-सा भी व्यतिक्रम पाकर नष्ट हो जाती है। तथा यौवन खिले हुए फूलके समान है। जैसे खिला हुआ फूल कुछ समय तक सुन्दर दीखता है फिर मुरझा जाता है उसी तरह यौवन भी है। इस तरह इन चारोंका क्षय नियमसे होता है। इनके स्वरूपका सतत विचार करनेवाला कोई भी मुमुक्षु इनमें आसक्त नहीं हो सकता ॥५८॥

इस प्रकार आयु आदि अन्तरङ्ग पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करके संपत्ति आदि बाह्य पदार्थोंकी अनित्यताका चिन्तन करते हैं—

लक्ष्मी मध्याह्नकालकी छायाकी तरह चंचल है। बन्धुओंका संयोग मार्गमें मिलनेवाले पथिकजनोंके संयोगकी तरह अस्थायी है। इन्द्रियोंके विषय स्वप्नमें देखे हुए विषयोंकी तरह है। माता, पिता, पुत्री, पुत्र, प्रिया और कुटुम्बीजन जलकी लहरोंकी तरह हैं। मित्र आदि प्रियजनोंका अनुराग सन्ध्याके रागके समान है। आदर, सत्कार, ऐश्वर्य आदि बिजलीकी मालाकी तरह है। सेना, हाथी, घोड़े आदि अन्य पदार्थ भी उन्हींकी तरह अनित्य हैं। इसलिए हमें आत्मा और शरीरके भेदज्ञान रूप ब्रह्मको आनन्दसे पूरित करना चाहिए ॥५९॥

विशेषार्थ—जैसे मध्याह्नकी छाया क्षणमात्रतक रहकर लुप्त हो जाती है वैसे ही लक्ष्मी भी कुछ कालतक ठहरकर विलीन हो जाती है। तथा जैसे यहाँ-वहाँसे आकर मार्गमें बटोही किसी वृक्ष आदिके नीचे विश्राम करके अपने-अपने कार्यवश इधर-उधर चले जाते हैं वैसे ही बन्धुजन यहाँ-वहाँसे आकर कुछ समयतक एक स्थानपर ठहरकर चले जाते हैं। अथवा जैसे बटोही पूर्व आदि दिशाको जाते हुए मार्गमें पश्चिम आदि दिशासे आनेवाले बटोहियोंके साथ कुछ समयतक मिलकर बिछुड़ जाते हैं वैसे ही बन्धुजन भी मिलकर बिछुड़ जाते हैं। तथा जैसे स्वप्नावस्थामें देखे हुए पदार्थ तत्काल ही या जागनेपर कुछ भी अपना कार्य नहीं करते, उसी तरह स्त्री, चन्दनमाला आदि विषय भी भोगनेपर या भोगकर छोड़नेपर सन्ताप और तृष्णाकी शान्ति आदि कुछ भी नहीं करते। तथा जैसे जलमें लहरें उत्पन्न होकर शीघ्र ही विलीन हो जाती हैं उसी तरह पिता वगैरह भी कुछ कालतक ठहरकर चले जाते हैं। तथा जैसे सन्ध्याके समय कुछ कालतक लालिमा रहती है वैसे ही मित्र आदिकी प्रीति भी कुछ ही कालतक रहती है। इसी तरह सेना वगैरह भी बिजलीकी चमककी तरह देखते-देखते ही विलीन हो जाती है। इस तरह सभी प्रकारकी बाह्य वस्तुएँ क्षणिक हैं। अतः उनमें मन न लगाकर आत्मामें ही लगाना चाहिए। ऐसा विचार करते रहनेसे बाह्य संपत्तिमें आसक्ति नहीं होती, और जैसे पुष्पमालाको भोगकर छोड़ देनेपर दुःख नहीं होता वैसे ही संपत्ति तथा बन्धु-बान्धवोंका वियोग होनेपर भी दुःख नहीं होता। इस प्रकार अनित्यानुप्रेक्षाका स्वरूप जानना ॥५९॥

अथाशरणं प्रणिधत्ते—

तत्तत्कर्मग्लपितवपुषां लब्धवल्लिप्सितार्थं,
मन्वानानां प्रसभमसुवत्प्रोद्यतं भक्तुमाशाम्।
यद्वद्दार्यं त्रिजगति नृणां नैव केनापि दैवं,
तद्वन्मृत्युर्ग्रसनरसिकस्तद् वृथा त्राणदैन्यम् ॥६०॥

कर्म—कृष्यादि। प्रोद्यत—अभिमुखेनोद्युक्तम् ॥६०॥

अथ कालस्य चक्रीन्द्राणामप्यशक्यप्रतीकारत्वचिन्तनेन सर्वत्र बहिर्वस्तुनि निर्मोहतामालम्बयति—

सम्राजां पश्यतामप्यभिनयति न किं स्वं यमश्चण्डिमानं,
शक्राः सीदन्ति दीर्घे क्व न दयितवधूदीर्घनिद्रामनस्ये।
आःकालव्यालदंष्ट्रां प्रकटतरतपोविक्रमा योगिनोऽपि,
व्याक्रोप्टुं न क्रमन्ते तदिह बहिरहो यत् किमप्यस्तु किं मे ॥६१॥

अब अशरण अनुप्रेक्षाका विचार करते हैं—

कृषि आदि उन-उन कार्योंने जिनके शरीरको सत्त्वहीन बना डाला है, और जो इच्छित पदार्थको ऐसा मानते हैं मानो वह हमारे हाथमे ही है, ऐसे मनुष्योंकी आशाको प्राणोंकी तरह ही बलपूर्वक नष्ट करनेके लिए तत्पर दैव जैसे तीनो लोकोंमे किसीके भी द्वारा नहीं रोका जाता, उसी तरह प्राणोंको हरनेकी प्रेमी मृत्युको भी कोई नहीं रोक सकता। अतः शरणके लिए दीनता प्रकट करना व्यर्थ ही है ॥६०॥

विशेषार्थ—संसारमे मनुष्य भविष्यके लिए अनेक आशाएँ करता है और उनकी प्राप्तिके लिए अनेक देवी-देवताओंकी आराधना भी करता है और ऐसा मान बैठता है कि मेरी आशा पूर्ण होनेवाली है। किन्तु पूर्वकृत कर्मोंका उदय उसकी आशाओंपर पानी फेर देता है। कहा है—पहले किये हुए अशुभ कर्म[1] अपना समय आनेपर जब उदीरणाको प्राप्त होते हैं तो वे किसी चेतन इन्द्रादिके द्वारा और अचेतन मन्त्रादिके द्वारा या दोनोंके ही द्वारा रोके नहीं जा सकते। इसी तरह जब मृत्यु मनुष्यके प्राणोंको ग्रसनेके लिए तत्पर होती है तो उसे भी कोई नहीं रोक सकता। ऐसी स्थितिमें जब दैव और मृत्यु दोनों ही को रोकना शक्य नहीं है तब रक्षाके लिए दूसरोंके सामने गिड़गिडाना या अपनेको अशरण मानकर शोक आदि करना व्यर्थ ही है। साराश यह है कि विवेकीजनोंको ऐसे समयमे धैर्यका ही अवलम्बन लेना उचित है ॥६०॥

आगे कहते है कि चक्रवर्ती, इन्द्र, और योगीन्द्र भी कालकी गतिको टालनेमें असमर्थ हैं ऐसा विचारकर मुमुक्षु सर्वत्र बाह्य वस्तुओंमे मोह नहीं करता—

समस्त पृथ्वीके स्वामी चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भी क्या यमराज अपनी प्रचण्डताको व्यक्त नहीं करता? तथा क्या इन्द्र चिरकालसे चले आते हुए प्रिय पत्नीके मरणके दुःखसे दुःखी नहीं होते? अधिक क्या कहा जाये, जिनका तपका प्रभाव जगत्मे विख्यात है वे तपस्वी योगी भी कालरूपी सर्प या व्याघ्रकी दाढको नष्ट करनेमे समर्थ नहीं हैं। इसलिए इन बाह्य वस्तुओंमे जो कुछ भी होओ, उससे मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ता ॥६१॥

१. कर्माण्युदीर्यमाणानि स्वकीये समये सति।
प्रतिपेद्धुं न शक्यन्ते नक्षत्राणीव केनचित् ॥ [ ]

अभिनयति—अभिव्यनक्ति। चण्डिमान—हठात् प्राणापहरणलक्षणं क्रूरत्वम्। दीर्घनिद्रामनस्यं—मरणदुःखम्। व्याक्रोष्टु—प्रतिहन्तुम्। न क्रमन्ते—न शक्नुवन्ति। यत्किमपि—व्याधिमरणादिकम्।
३ किं मे—देहादेरत्यन्तभिन्नत्वात् मम नित्यानन्दात्मकस्य न किमपि स्यादित्यर्थः।

यथाह—

'न मे मृत्युः कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
६ नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले ॥' [इष्टोप., २९ श्लो.] ॥६१॥

अथ संसारमनुप्रेक्षितुमाह—

तच्चेद् दुःखं सुखं वा स्मरसि न बहुशो यन्निगोदाहमिन्द्र-
९ प्रादुर्भावान्तनीचोन्नत-विविधपदेष्वाभवाद्भुक्तमात्मन्।
तत्किं ते शाक्यवाक्यं हतक परिणतं येन नानन्तराति-
क्रान्ते भुक्तं क्षणेऽपि स्फुरति तदिह वा क्वास्ति मोहः सगर्हः ॥६२॥

१२ निगोदेत्यादीनि—निगोतजन्मपर्यन्तेषु नीचस्थानेषु ग्रैवेयकोद्भवावसानेषु चोच्चस्थानेषु। उक्तं च—

विशेषार्थ—चक्रवर्ती राजाओंके देखते हुए भी मृत्यु उनके पुत्रोंको अपने मुखका ग्रास बना लेती है। इन्द्रोंकी आयु सागरों प्रमाण होती है और उनकी इन्द्राणियोंकी आयु पल्योपम प्रमाण होती है। अतः जैसे समुद्रके जलमें लहरें उत्पन्न होकर नष्ट होती हैं वैसे ही इन्द्रकी सागरोपम प्रमाण आयुमें पल्योपम प्रमाण आयुवाली इन्द्राणियाँ उत्पन्न होकर मर जाती हैं। उनके मरणसे इन्द्रोंको दुःख होता ही है। इस प्रकार कालका प्रतीकार चक्रवर्ती और इन्द्र भी नहीं कर सकते। तब क्या तपस्वी कर सकते हैं! किन्तु जगत्-विख्यात तपस्वी भी कालकी गतिको रोकनेमें असमर्थ होते हैं। इसलिए तत्त्वज्ञ महर्षि विचारते हैं कि बाह्य वस्तु शरीरकी भले ही मृत्यु होती हो, किन्तु आत्मा तो शरीरसे अत्यन्त भिन्न है, नित्य और आनन्दमय है, उसका कुछ भी नहीं होता। कहा है—'मेरी मृत्यु नहीं होती, तब उससे भय क्यों? मुझे व्याधि नहीं होती, तब कष्ट क्यों? न मैं बालक हूँ, न वृद्ध हूँ और न जवान हूँ ये सब तो पुद्गलमें शरीरमें होते हैं।' और भी—जीव भिन्न द्रव्य है, यह तत्त्वका सार है। इससे भिन्न जो कुछ कहा जाता है वह इसीका विस्तार है। मुझसे शरीर वगैरह तत्त्व रूपसे भिन्न हैं और उनसे मैं भी तत्त्वरूपसे भिन्न हूँ—मैं जीव-तत्त्व हूँ और शरीर आदि अजीव-तत्त्व हैं। अतः न मैं इनका कुछ हूँ और न ये मेरे कुछ हैं।

ऐसा चिन्तन करनेसे 'मैं नित्य शरण रहित हूँ।' ऐसा जानकर यह जीव सांसारिक भावोंमें ममत्व नहीं करता, तथा सर्वज्ञके द्वारा कहे हुए मार्गमें अनुराग करता है ॥६१॥

इस प्रकार अशरण अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब संसार अनुप्रेक्षाको कहते हैं—

हे आत्मन्! अनादिकालसे निगोदसे लेकर नव ग्रैवेयकतकके अहमिन्द्र पद पर्यन्त नीच और ऊँचे विविध स्थानोंमें तुमने जो अनन्तवार सुख और दुःख भोगा, यदि तुम उसका स्मरण नहीं करते हो तो हे अभागे! क्या बुद्धके वचनोंके साथ तुम्हारी एकरूपता हो गयी है जो अनन्तर अतीत क्षणमें भी भोगे हुए सुख-दुःखका भी तुम्हें स्मरण नहीं होता। अथवा ऐसा होना उचित ही है क्योंकि मोहको किसी भी प्राणीके विषयमें ग्लानि नहीं है अर्थात् संसारके सभी प्राणी मोहसे ग्रस्त हैं' ॥६२॥

'समभवमहमिन्द्रोऽनन्तशोऽनन्तवारान्
पुनरपि च निगोतोऽनन्तशोऽन्तविवर्तं. ।
किमिह फलमभुक्त तद्यदद्यापि भोक्ष्ये ३
सकलफलविपत्ते कारण देव देया. ॥' [ ]

तत्—निरन्वयक्षणिकवादरूपम् । शाक्य.—बुद्ध । तत्—सुखं दु खं च । सगर्हः—जुगुप्सावान् । कमपि प्राणिन समानो न गूकायते इत्यर्थ ॥६२॥ ६

अथ संसारदुरवस्था सुतरा भावयन्नाह—

अनादौ संसारे विविधविपदातङ्कनिचिते
मुहु प्राप्तस्ता तां गतिमगतिकः किं किमवहम् । ९
अहो नाहं देहं कमय न मिथो जन्यजनका-
द्युपाधिं केनागां स्वयमपि हहा स्वं व्यजनयम् ॥६३॥

आतङ्क.—क्षोभावेश । तां ता—नरकादिलक्षणाम् । अगतिक —गति अपायनिवारणोपायस्त- १२
ज्ज्ञानं वा तद्रहित । किं किं—उत्सेहादिभेदेन नानाप्रकारम् । प्रायिकमेतत् । तेन सम्यक्त्वसहचारिपुण्योदय-

विशेपार्थ—यह जीव अनादिकालसे इस संसारमें भ्रमण करता है। इस भ्रमणका नाम ही ससार है। संसारसे भटकते हुए इस जीवने सबसे नीचा पद निगोद और सबसे ऊँचा पद ग्रैवेयकमे अनन्त वार जन्म लेकर सुख-दु.ख भोगा है। नव-ग्रैवेयकसे ऊपर सम्यग्दृष्टि जीव ही जन्म लेते हैं। इसलिए यह जीव वहाँ नहीं गया। निगोद और ग्रैवेयकके मध्यके नाना स्थानोंमे भी इसने अनन्त वार जन्म लिया है और सुख-दुःख भोगा है। किन्तु इसे उसका स्मरण नहीं होता। इसपर-से ग्रन्थकार उसे ताना देते हैं कि क्या तू बौद्ध धर्मावलम्बी बन गया है। क्योंकि बौद्ध धर्म वस्तुको निरन्वय क्षणिक मानता है। क्षणिक तो जैन दर्शन भी मानता है क्योकि पर्याय उत्पाद-विनाशशील हैं। किन्तु पर्यायोंके उत्पाद-विनाशशील होनेपर भी उनमे कथंचिद् ध्रौव्य भी रहता है। बौद्ध ऐसा नहीं मानता। इसीसे उसके मतमे अनन्तर अतीत क्षणमे अनुभूत सुख-दु खका स्मरण नहीं होता। क्योंकि जो सुख-दु.ख भोगता है वह तो उसी क्षणमे नष्ट हो जाता है। यह सब मोहकी ही महिमा है। उसीके कारण इस प्रकारके मत-मतान्तर प्रचलित हुए हैं। और उस मोहके चंगुलसे कोई बचा नहीं है ॥६२॥

आगे मुमुक्षु स्वयं संसारकी दुःखावस्थाका विचार करता है—

हे आत्मन्! इष्टवियोग और अनिष्टसंयोगके द्वारा होनेवाली विपत्तियोंके कष्टसे भरे हुए इस अनादि संसारमे उन कष्टोंको दूर करनेका उपाय न जानते हुए मैंने बार-बार उन-उन नरकादि गतियोंमे जन्म लेकर वर्ण-आकार आदिके भेदसे नाना प्रकारके किन-किन शरीरोंको धारण नहीं किया? अर्थात् धारण करने योग्य सभी शरीरोको धारण किया। इसी प्रकार किस जीवके साथ मैंने जन्य-जनक आदि उपाधियोको नहीं पाया। बडा कष्ट इस बातका है कि मैंने स्वयं ही अपनेको इस अवस्थामे पहुँचाया ॥६३॥

विशेपार्थ—मिथ्यात्वके उदयसे संसारमें भटकता हुआ जीव उन सभी पर्यायोंको धारण करता है जो सम्यक्त्वके सहचारी पुण्यके उदयसे प्राप्त नहीं होती। सभी जीवोंके साथ उसका किसी न किसी प्रकारका सम्बन्ध बनता रहता है। वह किसीका पिता, किसीका

१ न्तर्निवृत्त भ कु च मु.।

जन्यदेहानामप्रसङ्ग । अवहे—वहामि स्म । 'अहो' उद्बोधकं प्रति सबोधनमिदम् । जन्यजनकाद्युपाधि—उत्पाद्योत्पादक-पाल्यपालक-भोग्यभोजकादिविपरिणामम् । केन—जीवेन सह । अगां—गत । व्यजनयं—
३ विशेषेणोत्पादयामि ॥६३॥

अथैकत्वानुप्रेक्षाया भावनाविधिमाह—

किं प्राच्यः कश्चिदागादिह सह भवता येन साध्येत सध्र्यङ्-
६ प्रेत्येहत्योऽपि कोऽपि त्यज दुरभिमतिं संपदीवापदि स्वान् ।
सध्रीचो जीव जीवन्ननुभवसि परं त्वोपकर्तुं सहैति,
श्रेयोऽहश्चापकर्तुं भजसि तत इतस्तत्फलं त्वेककस्त्वम् ॥६४॥

पुत्र, किसीका पालक, किसीके द्वारा पाल्य आदि होता है। कहा भी है—जिस प्राणीका सभी प्राणियोके साथ सभी पिता-पुत्रादि विविध सम्बन्ध नही है ऐसा कोई प्राणी ही नहीं है।

किन्तु यह कथन भी सार्वत्रिक नही है क्योंकि नित्य निगोदको छोड़कर अन्यत्र ही ऐसा होना सम्भव है। कहा है—'ऐसे अनन्त जीव है जिन्होने त्रस पर्याय प्राप्त नहीं की। उनके भावपाप बड़े प्रचुर होते है जिससे वे निगोदवासको नही छोड़ते'। इस विषयमे मत-भेद भी है। गोमट्टसारके टीकाकारने उस मतभेदको स्पष्ट करते हुए कहा है कि निगोदको न छोड़नेमे कारण भावपापकी प्रचुरता है। अतः जबतक प्रचुरता रहती है तबतक निगोदको नहीं छोडते। उसमें कमी होनेपर नित्य निगोदसे निकलकर त्रस होकर मोक्ष भी चले जाते है। इस सब परिभ्रमणका कारण स्वयं जीव ही है दूसरा कोई नहीं है। अतः संसारकी दशा-का चिन्तन करनेवाला 'अहो' इस शब्दसे अपनेको ही उद्बोधित करते हुए अपनी प्रवृत्तिपर खेदखिन्न होता है। इस प्रकारकी भावना भानेसे जीव संसारके दुःखोंसे घबराकर संसार-को छोड़नेका ही प्रयत्न करता है। इस प्रकार संसार भावना समाप्त होती है ॥६३॥

अब एकत्वानुप्रेक्षाकी भावनाकी विधि कहते है—

हे जीव! क्या पूर्वभवका कोई पुत्रादि इस भवमें तेरे साथ आया है? जिससे यह अनुमान किया जा सके कि इस जन्मका भी कोई सम्बन्धी मरकर तेरे साथ जायेगा। अतः यह मेरे है इस मिथ्या अभिप्रायको छोड दे। तथा हे जीव! क्या तूने जीते हुए यह अनुभव किया है कि जिनको तू अपना मानता है वे सम्पत्तिकी तरह विपत्तिमे भी सहायक हुए हैं? किन्तु तेरा उपकार करनेके लिए पुण्यकर्म और अपकार करनेके लिए पापकर्म तेरे साथ जाते है। और इस लोक या परलोकमे उनका फल तू अकेला ही भोगता है ॥६४॥

विशेषार्थ—यदि परलोकसे कोई साथ आया होता तो उसे दृष्टान्त बनाकर परीक्षक जन यह सिद्ध कर सकते थे कि इस लोकसे भी कोई सम्बन्धी परलोकमे जीवके साथ जायेगा। किन्तु परलोकसे तो अकेला ही आया है। अत. चूँकि परलोकसे साथमे कोई नहीं आया अतः यहाँसे भी कोई साथ नहीं जायेगा। कहा[1] है—'जीव संसारमें अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही मरता है और अकेला ही नाना योनियोंमे भ्रमण करता है।'

---

१. 'एकाकी जायते जीवो म्रियते च तथाविध ।
ससार पर्यटत्येको नानायोनिसमाकुलम्' ॥ [ ]

प्राच्यः—पूर्वभवसवन्धी। कश्चित्—पुत्रादि'। इह—अस्मिन् भवे। साध्येत—व्यवस्थाप्येत। सध्र्यङ्—सहगामी। इहत्यः—इह भवसभवसवन्धी। दुरभिर्मात—ममायमिति मिथ्याभिनिवेशम्। सध्रीच.—सहायान्। अनुभवसि—काक्वा नानुभवसीत्यर्थ। त्वा—त्वाम्। तत्फल—सुखदु खरूपम् ॥६४॥ ३

अथात्मनस्तत्त्वतो न कश्चिदन्वयी स्यादित्यनुशास्ति—

यदि सुकृतममाहङ्कार-संस्कारमङ्गं,
पदमपि न सहैति प्रेत्य तत् किं परेऽर्था.। ६
व्यवहृतितिमिरेणैवार्पितो वा चकास्ति,
स्वयमपि मम भेदस्तत्त्वतोऽस्म्येक एव ॥६५॥

सुकृतः—जन्मप्रभृतिनिर्मित। ममाहंकारो—ममेदमिति ममकारो अहमिदमिति अहंकारश्च। ९ सस्कार.—दृढतमप्रतिपत्ति। परे—पृथग्भूता पृथक् प्रतीयमानाश्च। तिमिरं—नयनरोग.। चकास्ति—आत्मान दर्शयति। स्वयं—आत्मना आत्मनि वा। भेद.—ज्ञानसुखदु खादिपर्यायनानात्वम्। एक —पूर्वापरानुस्यूतैकचैतन्यरूपत्वात् ॥६५॥ १२

अथान्यत्वभावनाया फलातिशयप्रदर्शनेन प्रलोभयन्नाह—

दूसरे, मरनेकी वात तो दूर, जीवित अवस्थामें ही तेरे सगे-सम्बन्धी सुखमे ही साथ देते हैं, दुःख पडनेपर दूर हो जाते है। किन्तु तू जो पुण्य या पाप कर्म करता है वह परलोकमे तेरे साथ जाता है और तुझे सुख या दुःख देता है। तथा तू अकेला ही उनका फल भोगता है। पुण्य और पापका फल सुख तथा दुःख भोगनेमे दूसरा कोई साझीदार नहीं होता ॥६४॥

वास्तवमे कोई भी आत्माके साथ जानेवाला नही है यह कहते है—

इस शरीरमें जन्मकालसे ही ममकार और अहंकारका संस्कार वना हुआ है। यदि मरनेपर यह शरीर एक पग भी जीवके या मेरे साथ नहीं जाता, तो मुझसे साक्षात् भिन्न दिखाई देनेवाले स्त्री, स्वर्ण आदि अन्य पदार्थोंकी तो वात ही क्या है? अथवा व्यवहारनयरूपी नेत्र रोगके द्वारा आरोपित मेरा स्वयं भी भेद आत्माका दर्शन कराता है। निश्चयनयसे तो मै एक ही हूँ ॥६५॥

विशेपार्थ—जीवका सवसे घनिष्ठ सम्बन्ध अपने शरीरसे होता है। शरीर जीवके साथ ही जन्म लेता है और मरण पर्यन्त प्रत्येक दशामें जीवके साथ रहता है। अतः शरीरमे जीवका ममकार और अहंकार वड़ा मजवूत होता है। ममकार और अहंकारका स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो सदा ही अनात्मीय है, आत्माके नहीं है, तथा कर्मके उदयसे उत्पन्न हुए हैं उन अपने शरीर वगैरहमे 'ये मेरे है' इस प्रकारके अभिप्रायको ममकार कहते है। जैसे मेरा शरीर। और जो भाव कर्मकृत है, निश्चयनयसे आत्मासे भिन्न है उनमे आत्मत्वके अभिप्रायको अहंकार कहते है। जैसे, मै राजा हूँ।

फिर भी जव मरनेपर शरीर ही जीवके साथ नही जाता तव जो स्त्री, पुत्र, रुपया आदि साक्षात् भिन्न हैं उनके साथ जानेकी कल्पना ही व्यर्थ है। तथा आत्मामे होनेवाली ज्ञान, सुख-दु ख आदि पर्यायें ही मेरे अस्तित्वको वतलाती हैं। इन पर्यायोंके भेदसे आत्मामे भेदकी प्रतीति औपचारिक है। वास्तवमें तो आत्मा एक अखण्ड तत्त्व है। इस प्रकारका चिन्तन करनेसे इष्ट जनोमे राग और अनिष्ट जनोंमें द्वेप नहीं होता ॥६५॥

अव अन्यत्व भावनाका विशिष्ट फल वतलाकर उसके प्रति मुमुक्षुओंका लोभ उत्पन्न करते है—

नैरात्म्यं जगत इवार्य नैर्जगत्यं निश्चिन्वन्ननुभवसिद्धमात्मनोऽपि ।
मध्यस्थो यदि भवसि स्वयं विविक्तं स्वात्मानं तदनुभवन् भवादपैपि ॥६६॥

३ नैरात्म्यम्—अनहंकारास्पदत्वात् । नैर्जगत्य—पराकारशून्यत्वात् ।

उक्त च—

'परस्परपरावृत्ताः सर्वे भावा. कथचन ।
६ नैरात्म्य जगतो यद्वन्नैर्जगत्य तथात्मन' ॥' [तत्त्वानु १७५ ।]

मध्यस्थ'—रागद्वेपरहितोऽध्यात्मतत्त्वनिष्ठो वा । विविक्तं—देहादिभ्य. पृथग्भूत शुद्धमित्यर्थ. । अपैपि—प्रच्यवसे त्वम् ॥६६॥

९ अथान्यत्वभावनापरस्य ततोऽपुनरावृत्तिकामता कथयति—

हे आर्य ! जिस प्रकार जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है उसी तरह आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य—समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है । यह बात अनुभवसे—स्वसंवेदनसे सिद्ध है । अतः ऐसा निश्चय करके यदि तू रागद्वेपसे रहित होकर अध्यात्म तत्त्वमें निष्ठ होता है तो स्वयं शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभव करते हुए संसारसे मुक्त हो सकता है ॥६६॥

विशेषार्थ—संसारमें दो ही मुख्य तत्त्व हैं—जड़ और चेतन । जड़ कभी चेतन नहीं हो सकता और चेतन कभी जड़ नहीं हो सकता । अत. जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है । 'मैं' इस रूपसे अनुभवमें आनेवाले अन्तस्तत्त्वको आत्मा कहते हैं । और आत्मासे जो रहित है उसे निरात्म कहते हैं और निरात्मके भावको नैरात्म्य कहते हैं । यह विश्व 'मैं' इस बुद्धिका विपय नहीं है, एक आत्माके सिवाय समस्त परद्रव्य अनात्मस्वरूप हैं । इसी तरह आत्माका स्वरूप भी 'नैर्जगत्य' है । 'यह' इस रूपसे प्रतीयमान समस्त बाह्य वस्तु जगत् है । और जगत्से जो निष्क्रान्त है वह निर्जगत् है उसका भाव नैर्जगत्य है । अर्थात् आत्मा समस्त परद्रव्योंके ग्रहणसे रहित है । आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका परके आकारसे रहित रूपसे संवेदन होता है, उसे ही स्वसंवेदन कहते हैं । जो स्वसंवेदनसे सिद्ध है उसे अनुभवसिद्ध कहते हैं । कहा भी है—'सभी पदार्थ परस्परमें एक दूसरेसे भिन्न हैं । अतः जैसे जगत्का स्वरूप नैरात्म्य है वैसे ही आत्माका स्वरूप नैर्जगत्य है ।'

ऐसे वस्तुस्वरूपका विचार करके सामायिक चारित्रका आराधक मुमुक्षु यदि मध्यस्थ रहे, किसीसे राग और किसीसे द्वेप न करके आत्मनिष्ठ रहे और शरीरादिसे भिन्न आत्माका अनुभवन करे तो संसारसे मुक्त हो सकता है । अतः मोक्षमार्गमें अन्यत्व भावनाका स्थान महत्त्वपूर्ण है । इसलिए मुमुक्षुको उसका चिन्तन करना चाहिए । कहा है—'कर्मसे और कर्मके कार्य क्रोधादि भावोंसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्माको नित्य भाना चाहिए । उससे नित्य आनन्दमय मोक्षपदकी प्राप्ति होती है' ॥६६॥

आगे कहते हैं कि जो अन्यत्व भावनामें लीन रहता है वह अपुनर्जन्मकी अभिलाषा करता है—

---

१. 'कर्मभ्य कर्मकार्येभ्य पृथग्भूत चिदात्मकम् ।
आत्मान भावयेन्नित्यं नित्यानन्दपदप्रदम्' ॥ [ ]

बाह्याध्यात्मिकपुद्गलात्मकवपुर्युग्मं भृशं मिश्रणा-
दुद्येम्नः किट्टककालिकाद्वयमिवाभादप्यदोऽनन्यवत् ।
मत्तो लक्षणतोऽन्यदेव हि ततश्चान्योऽहमर्थादत-
स्तद्भेदानुभवात्सदा मुदमुपैम्यन्वेमि नो तत्पुनः ॥६७॥ ३

बाह्यं—रसादिधातुमयमौदारिकम्, आध्यात्मिक—ज्ञानावरणादिमय कार्मणम् । मिश्रणात्—कथंचिदे-
कत्वोपगमात् । आभादपि—आभासमानमपि । अनन्यवत्—दु शक्यविवेचनत्वादभिन्नमिव । तथा चोक्तम्— ६

'ववहारणओ भासइ जीवो देहो य हवइ खलु एक्को ।
ण उ णिच्छयस्स जीवो देहो य कयावि एकट्ठो ॥' [समय प्राभृत, गा २७]

लक्षणत.—अन्योन्यव्यतिकरे सति येनान्यत्व लक्ष्यते तल्लक्षणम् । तथेह देहस्य रूपादिमत्वमात्म- ९
नश्चोपयोग । जीवदेहावत्यन्त भिन्नौ भिन्नलक्षणलक्षितत्वात्, जलानलवत् । अन्यो हि—भिन्न एव ।
तद्भेदानुभवात्—वपुर्युग्मादन्यत्वेनात्मन स्वय सवेदनात् । उक्त च—

'वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासति । १२
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वय दृश्यत एव हि ॥' [तत्त्वानु०, १६८ श्लो.]

बाह्य रसादि धातुमय औदारिक शरीर और आध्यात्मिक ज्ञानावरणादिमय कार्मण शरीर, ये दोनो पुद्गलात्मक है, स्पर्श, रस, गन्ध और वर्णमय परमाणुओसे बने है । जैसे स्वर्ण बाह्य स्थूलमल और सूक्ष्म अन्तर्मलसे अत्यन्त मिला होनेसे एकरूप प्रतीत होता है । उसी तरह ये दोनो शरीर भी आत्मासे अत्यन्त मिले होनेसे अभिन्नकी तरह प्रतीत होते हैं । किन्तु लक्षणसे ये दोनों मुझसे भिन्न ही है और मैं भी वास्तवमे उनसे भिन्न हूँ । इसलिए दोनो शरीरोंसे आत्माको भिन्न अनुभव करनेसे मैं सदा आनन्दका अनुभव करता हूँ । और अव इन शरीरोंको मै पुनः धारण नहीं करूँगा ॥६७॥

विशेषार्थ—आत्माके साथ आभ्यन्तर कार्मण शरीर तो अनादि कालसे सम्बद्ध है किन्तु औदारिक आदि तीन शरीर अमुक-अमुक पर्यायोमें ही होते है । ये सभी शरीर पौद्गलिक है । पुद्गल परमाणुओसे बनते हैं । किन्तु आत्माके साथ इनका ऐसा मेल है कि उन्हें अलग करना कठिन है । अतः बुद्धिमान् तक दोनोको एक समझ बैठते हैं । फिर भी लक्षणसे जीव और शरीरके भेदको जाना जा सकता है । परस्परमें मिले हुए पदार्थ जिसके द्वारा पृथक्-पृथक् जाने जाते है उसे लक्षण कहते हैं । शरीरका लक्षण रूपादिमान है और आत्माका लक्षण उपयोग है । अत. आत्मा और शरीर अत्यन्त भिन्न है क्योंकि दोनोंका लक्षण भिन्न है, जैसे जल और आग भिन्न है । समयसारमे कहा है—व्यवहारनय कहता है कि जीव और शरीर एक है । किन्तु निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हो सकते । और भी कहा[1] है—'जो अतीत कालमे चेतता था, आगे चेतेगा, वर्तमानमे चेतता है वह मै चेतन द्रव्य हूँ । जो कुछ भी नहीं जानता, न पहले जानता था और न भविष्यमे जानेगा वह शरीरादि है, मैं नहीं हूँ ।'

---

१. 'यदचेतत्तथापूर्वं चेतिष्यति यदन्यदा ।
चेततीत्य यदत्राद्य तच्चिद्'द्रव्यं समस्म्यहम् ॥
यन्न चेतयते किंचिन्नाऽचेतयत किंचन ।
यच्चेतयिष्यते नैव तच्छरीरादि नास्म्यहम्' ॥—तत्त्वानु० १५६, १५५ श्लो.

मुदमुपैमि । उक्त च—

'आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य व्यवहारबहिस्थितेः ।
३ जायते परमानन्द कश्चिद्योगेन योगिनः ॥' [इष्टोपदेश, श्लो. ४७]

अन्वेमि नो—नानुवर्तेऽहम् । उक्त च—

'तथैव भावयेद्देहाद् व्यावर्त्यात्मानमात्मनि ।
६ यथा न पुनरात्मान देहे स्वप्नेऽपि योजयेत् ॥' [समाधित , श्लो. ८२] ॥६७॥

अथ देहस्याशुचित्वं भावयन्नात्मनस्तत्पक्षपातमपवदति—

और भी कहा[1] है—'अज्ञानी मनुष्यके शरीरमे स्थित आत्माको मनुष्य जानता है, तिर्यंचके शरीरमे स्थित आत्माको तिर्यंच जानता है, देवके शरीरमे स्थित आत्माको नारकी जानता है किन्तु परमार्थसे ऐसा नहीं है। आत्मा तो अनन्त ज्ञान और अनन्तवीर्यसे युक्त है, स्वसवेदनसे जाना जाता है और उसकी स्थिति अचल है।'

अत. आत्मा शरीरसे भिन्न है, शरीरके विना ही उसका अनुभव होता है। कहा[2] है—'शरीरका प्रतिभास न होने पर भी यह ज्ञानरूप चेतना स्वतन्त्रतापूर्वक प्रकाशमान होती है। यह स्वय ही देखी जाती है।'

इसका अनुभवन करनेसे परमानन्दकी अनुभूति होती है। कहा है—'जो योगी आत्माके अनुष्ठानमे तत्पर है और व्यवहारसे वहिर्भूत है उसे योगके द्वारा अनिर्वचनीय परमानन्दकी प्राप्ति होती है।'

इस तरह शरीर और आत्माको भिन्न अनुभव करनेसे पुनः आत्मा शरीरसे वद्ध नहीं होता है। कहा भी है—शरीरसे भिन्न करके आत्माको आत्मामे उसी प्रकार भाना चाहिए जिससे आत्माको स्वप्नमे भी पुन शरीरसे संयुक्त न होना पड़े। एकत्व अनुप्रेक्षासे अन्यत्व अनुप्रेक्षामें अन्तर यह है कि एकत्व अनुप्रेक्षामे 'मैं अकेला हूँ' इस प्रकार विधिरूपसे चिन्तन किया जाता है। और अन्यत्व अनुप्रेक्षामे 'शरीर आदि मुझसे भिन्न हैं, मेरे नहीं है' इस प्रकार निषेध रूपसे चिन्तन किया जाता है। ऐसा चिन्तन करनेसे शरीर आदिमे निरीह होकर सदा कल्याणमे ही तत्पर रहता है ॥६७॥

इस प्रकार अन्यत्व अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

आगे शरीरकी अपवित्रताका विचार करते हुए आत्माका शरीरके प्रति जो पक्षपात है उसकी निन्दा करते हैं—

---

१ 'नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।
तिर्यञ्च तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥
नारक नारकाङ्गस्थ न स्वय तत्त्वतस्तथा ।
अनन्तानन्तधीशक्ति स्वसवेद्योऽचलस्थिति' ॥—समाधित., ८-९ श्लो ।

२. 'वपुषोऽप्रतिभासेऽपि स्वातन्त्र्येण चकासति ।
चेतना ज्ञानरूपेयं स्वय दृश्यत एव हि' ॥ [ ]

कोऽपि प्रकृत्यशुचिनीह शुचेः प्रकृत्या,
भूयान्वसेरकपदे तव पक्षपात.।
यद्विश्रसा रुचिरमर्पितमर्पितं द्राग्, ३
व्यत्यस्यतोऽपि मुहुरुद्विजसेऽङ्ग नाङ्गात् ॥६८॥

वसेरकपदे—पथिकनिशावासस्थाने। तेन च साधर्म्यमङ्गस्य परद्रव्यत्वादल्पकालाधिवास्यत्वाच्च। विस्रसा रुचिर—निसर्गरम्य श्रीचन्दनानुलेपनादि। द्राग् व्यत्यस्यत:—सद्यो विपर्यास नयत'। ॥६८॥ ६

अथ देहस्य त्वगावरणमात्रेणैव गृध्राद्यनुपघातं प्रदर्श्य तस्यैव शुद्धस्वरूपदर्शननिष्ठात्माधिष्ठानतामात्रेण पवित्रताकरणात् सर्वजगद्विशुद्धयङ्गतासम्पादनायात्मानमुत्साहयति—

निर्मायास्थगयिष्यदङ्गमनया वेधा न भोश्चेत् त्वचा, ९
तत् क्रव्याद्भिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खण्डशः।
तत्संशुद्धनिजात्मदर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
स्वस्थित्यैकपवित्रमेतदखिलत्रैलोक्यतीर्थं कुरु॥६९॥ १२

अस्थगयिष्यत्—आच्छादयिष्यत्। अनया—बाह्यया। क्रव्याद्भि:—मासभक्षैर्गृद्धादिभि। दायादवत्—दायादैरिव, सक्रोधमिथ स्पर्द्धासरब्धत्वात् ॥६९॥

हे आत्मन्! यह शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है और पथिक जनोके रात-भर ठहरनेके लिए बने स्थानके समान पराया तथा थोड़े समयके लिए है। किन्तु तुम स्वभावसे ही पवित्र हो, फिर भी तुम्हारा शरीरके प्रति कोई महान् अलौकिक पक्षपात है, क्योंकि शरीरपर बार-बार लगाये गये स्वभावसे सुन्दर चन्दन आदिको यह शरीर तत्काल गन्दा कर देता है फिर भी तुम इससे विरक्त नहीं होते ॥६८॥

विशेपार्थ—शरीर स्वभावसे ही अपवित्र है क्योंकि यह रज और वीर्यसे बना है तथा रस, रुधिर आदि सप्त धातुमय है एवं मल-मूत्रका उत्पत्ति स्थान है। इसपर सुन्दरसे सुन्दर द्रव्य लगाये जानेपर भी यह उस द्रव्यको ही मलिन कर देता है। फिर भी यह आत्मा उसके मोहमें पड़ा हुआ है। कहा है—'इस शरीरपर जो भी सुन्दर वस्तु लगायी जाती है वही अपवित्र हो जाती है। हे जीव! इसकी छायासे ठगाये जाकर मलद्वारोंसे युक्त इस क्षणभंगुर शरीरका तू क्यो लालन करता है ?'[1] ॥६८॥

यह शरीर चामसे आच्छादित होनेसे ही गृद्ध आदिसे बचा हुआ है। फिर भी वह शरीर शुद्ध स्वरूपको देखनेवाले आत्माका निवासस्थान होनेसे पवित्रताका कारण है। अतः ग्रन्थकार समस्त जगत्‌की विशुद्धिके लिए आत्माको उत्साहित करते है—

हे आत्मन्! यदि विधाताने शरीरको बनाकर इस त्वचासे न ढक दिया होता तो मासभक्षी गृद्ध आदिके द्वारा यह उसी तरह टुकड़े-टुकड़े कर दिया गया होता, जैसे पिता वगैरहकी जायदादके भागीदार भाई वगैरह उस वस्तुको टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं जिसका बॅटवारा

---

१ 'आधीयते यदिह वस्तु गुणाय यान्त
काये तदेव मुहुरेत्यपवित्रभावम्।
छायाप्रतारितमतिर्मलरन्ध्रबन्ध
किं जीव लालयसि भङ्गुरमेतदङ्गम्'॥ [ ]

अथास्रवमनुप्रेक्ष्यमाणस्तद्दोषांश्चिन्तयन्नाह—

युक्ते चित्तप्रसत्त्या प्रविशति सुकृतं तद्भविन्यत्र योग-
द्वारेणाहृत्य बद्ध. कनकनिगडवद्येन शर्माभिमाने ।
मूर्छन् शोच्य. सतां स्यादतिचिरमयमेत्यात्तसंक्लेशभावे,
यत्वं हस्तेन लोहान्दुकवदसितच्छिन्नमर्मेव ताम्येत् ॥७०॥

योगद्वारेण—कायवाङ्मन कर्ममुखेन । एति—आगच्छति, आस्रवतीति यावत् । आत्तसंक्लेशभावे—अप्रशस्तरागद्वेषमोहपरिणते भविनि । अवसित —बद्ध । छिन्नमर्मा—

'विषम स्पन्दन यत्र पीडन रुक् च मर्म तत्' ॥ [ ] ॥७०॥

शक्य नहीं होता। इसलिए आत्माका वासस्थान होनेसे परम पवित्र इस शरीरको सम्यक् रूपसे शुद्ध निज आत्माके दर्शनकी विधिमे प्रधान बनाकर सकल जगत्‌की विशुद्धिका अंग बनाओ ॥६९॥

विशेषार्थ—यद्यपि शरीर परम अपवित्र है तथापि उसमें आत्माका वास है इसीलिए वह पवित्र है। अव उस शरीरमे रहते हुए उसके द्वारा वह सब सत्कार्य करना चाहिए जिससे अपनी शुद्ध आत्माका दर्शन हो। और शुद्ध आत्माके दर्शन होनेपर धीरे-धीरे परमात्मा बनकर अपने विहारसे, दिव्योपदेशसे इस जगत्‌को तीर्थरूप बना डालो। इस तरह यह स्वयं अपवित्र शरीर पवित्र आत्माके योगसे सकल जगत् को पवित्र बनानेमे समर्थ होता हैं। इस प्रकार विचार करनेसे विरक्त हुआ मुमुक्षु अशरीरी होनेका ही प्रयत्न करता है ॥६९॥

अब आस्रवका विचार करनेके लिए उसके दोषोंका विचार करते हैं—

जिस समय यह संसारी जीव प्रशस्त राग, दयाभाव आदि परिणामसे युक्त होता है। उस समय मन या वचन या कायकी क्रियाके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योगके द्वारा पुण्यकर्मके योग्य पुद्‌गलोंका प्रवेश होता है। उस विशिष्ट शक्ति परिणाम रूपसे अवस्थित पुण्यकर्मसे यह जीव वलपूर्वक बँध जाता है। जैसे कोई राजपुरुष सोनेकी वेडियोसे बाँधा जानेपर अपना बड़प्पन मानकर यदि सुखी होता है तो वस्तुस्थितिको समझनेवाले उसपर खेद ही प्रकट करते है, उसी तरह पुण्यकर्मसे बद्ध होनेपर 'मैं सुखी हूँ' इस प्रकारका अहंकार करके पल्योपम आदि लम्बे काल तक मोहमे पड़े व्यक्तिपर तत्त्वदर्शी जन खेद ही प्रकट करते हैं। और जिस समय यह जीव अप्रशस्त राग-द्वेष आदि रूप परिणामोसे युक्त होता है तो आत्म प्रदेश—परिस्पन्दरूप योगके द्वारापापकर्मके योग्य पुद्‌गलोंका प्रवेश होता है। विशिष्ट शक्ति परिणाम रूपसे अवस्थित उस पापकर्मसे चिरकाल तक बद्ध हुआ जीव उसी तरह कष्ट भोगता है जैसे कोई अपराधी लोहेकी साँकलसे बाँधे जानेपर मर्मस्थानके छिद जानेसे दुःखी होता है ॥७०॥

विशेषार्थ—मनोवर्गणा, वचनवर्गणा या कायवर्गणाके निमित्तसे होनेवाले आत्माके प्रदेशोंके हलनचलनको योग कहते हैं। इस योगके निमित्तसे ही जीवमे पौद्‌गलिक ज्ञानावरणादि कर्मोंका आस्रव अर्थात् आगमन होता है। जिस समय जीवके शुभ परिणाम होते हैं उस समय पुण्यकर्मोंमे स्थिति अनुभाग विशेष पडनेसे पुण्यकर्मका आस्रव कहा जाता है और जिस समय संक्लेश परिणाम होते हैं उस समय पापकर्ममे विशेष स्थिति अनुभाग

अथास्रव निरुन्धानस्यैव मुमुक्षो. क्षेम स्यादन्यथा दुरन्तसंसारपात इत्युपदेष्टुमाह—

विश्वातङ्कविमुक्तमुक्तिनिलयद्रङ्गाग्रिमाप्त्युन्मुख:,
सद्रत्नोच्चयपूर्णमुद्भटविपद्भीमे भवाम्भोनिधौ । ३
योगच्छिद्रपिधानमादधदुरूद्योगः स्वपोतं नये-
न्नो चेन्मङ्क्ष्यति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ ॥७१॥

द्रङ्गाग्रिम—प्रसिद्धाधिष्ठान समुद्रतटपत्तनादि । स्वपोत—आत्मान यानपात्रमिव भवार्णवोत्तारण- ६
प्रवणत्वात् ॥७१॥

अथ सवरगुणाश्चिन्तयति—

पड़नेसे पापकर्मका आस्रव कहा जाता है । अन्यथा केवल पुण्यकर्मका आस्रव नहीं होता क्योंकि घातिया कर्म पुण्यकर्मके साथ भी तबतक अवश्य बँधते हैं जबतक उनके बन्धका निरोध नहीं होता । पुण्यकर्मको सोनेकी साँकल और पापकर्मको लोहेकी साँकलकी उपमा दी गयी है । अज्ञानी जीव पुण्यकर्मके बन्धको अच्छा मानते हैं क्योकि उसके उदयमे सुख-सामग्रीकी प्राप्ति होती है । यह सुख मानना वैसा ही है जैसे कोई राजपुरुष सोनेकी साँकलसे बाँधा जानेपर सुखी होता है । वस्तुत. बन्धन तो बन्धन ही है जैसे लोहेकी सांकलसे बँधा मनुष्य परतन्त्र होता है वैसे ही सोनेकी साँकलसे बँधा मनुष्य भी परतन्त्र होता है । इसीसे तत्त्वज्ञानी पुण्य-पापमे भेद नहीं करते, दोनोंको ही बन्धन मानते है ॥७०॥

जो मुमुक्षु आस्रवको रोक देता है उसीका कल्याण होता है । आस्रवको न रोकनेपर दुरन्त संसारमे भ्रमण करना पडता है, ऐसा उपदेश देते है—

यह संसार समुद्रके समान न टारी जा सकनेवाली विपत्तियोंके कारण भयंकर है । इस संसारसमुद्रसे पार उतारनेमें समर्थ होनेसे अपना आत्मा जहाजके समान है । जैसे जहाजमे उत्तम रत्न आदि भरे होते हैं वैसे ही इस आत्मारूपी जहाजमें सम्यग्दर्शन आदि गुणोंका भण्डार भरा है । इसका सचालक महान् उद्योगी अप्रमत्त सयत मुनि है । उसे चाहिये कि योग रूपी छिद्रोंको बन्द करके इसे उस मुक्तिरूपी तटवर्ती नगरकी ओर ले जाये, जो जगत्‌के समस्त प्रकारके क्षोभोंसे रहित है । यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह आत्मारूपी जहाज उसमें तेजीसे प्रवेश करनेवाले कर्म रूपी जलके भारसे उसी संसार समुद्रमे डूब जायेगा ॥७१॥

विशेषार्थ—संसाररूपी समुद्रमें पड़े हुए इस आत्मारूपी जहाजमें योगरूपी छिद्रोंसे कर्मरूपी जल सदा आता रहता है । तत्त्वार्थ सूत्रके छठे अध्यायमे पाँच इन्द्रिय, चार कषाय, पाँच पाप और पचीस क्रियाओको साम्परायिक आस्रवका कारण कहा है । क्योकि ये सब अतीन्द्रियज्ञान स्वभाव तथा रागादि विकल्पोंसे शून्य चैतन्यके घातक है । अतः इनको रोके विना परमात्मपदरूपी उस तटवर्ती महान् नगर तक आत्मरूपी जहाज नही जा सकता । तत्त्वार्थवार्तिकमे अकलंक देवने भी कहा है कि समुद्रमे छेद सहित जहाजकी तरह यह जीव इन्द्रियादिके द्वारा होनेवाले आस्रवोंके कारण ससार समुद्रमे डूब जाता है । ऐसा चिन्तन करनेसे उत्तम क्षमादि रूप धर्मोंमे 'ये कल्याणकारी है' इस प्रकारकी बुद्धि स्थिर होती है । इस प्रकार आस्रव भावनाका कथन किया ॥७१॥

अब संवरके चिन्तनके लिए उसके गुणोंका विचार करते है—

कर्मप्रयोक्तृपरतन्त्रतयात्मरङ्गे
प्रव्यक्तभूरिरसभावभरं नटन्तीम्।
३ चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय
व्यासेधतः स्फुरति कोऽपि परो विवेक. ॥७२॥

कर्मप्रयोक्ता—ज्ञानावरणादिकर्मविपाको नाट्याचार्य । रङ्ग.—नर्तनस्थानम् । रस —विभावा-
६ दिभिरभिव्यक्त स्थायीभावो रत्यादिभाव देवादिविषया रति.। व्यभिचारी च व्यक्त'। नटन्ती—
अवस्यन्दमानाम् । जीवेन सह भेदविवक्षया चिच्छक्तेरेवमुच्यते। स एप आत्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षण कर्मा
स्रवकारणं योगो वोध्य । उक्त च—

९ 'पोग्गलविवाइदेहोदएण मणवयणकायजुत्तस्स।
जीवस्स जा हु सत्ती कम्मागमकारण जोगो॥' [गो. जी , गा २१५]

एतेन नर्तकीमुपमानमाक्षिपति। अग्रिमपुमर्थं—प्रधानपुरुषार्थो धर्मो मोक्षो वा। पक्षे, कामस्याग्रे
१२ भवत्वादर्थ । तस्यैव विजिगीपुणा यत्नतोऽर्जनीयत्वाद् विषयोपभोगस्य चेन्द्रियमन प्रसादनमात्रफलत्वेन
यथावसरमनुज्ञानात्। व्यासेधत.—निषेधत सत । परो विवेक —शुद्धोपयोगेऽवस्थान हिताहितविचारश्च।
उक्तं च—

१५ 'विहाय कल्पनाजालं स्वरूपे निश्चलं मनः।
यदाधत्ते तदैव स्यान्मुनेः परमसंवर' ॥' [ज्ञानार्णव २।१३८] ॥७२॥

अथ मिथ्यात्वाद्यास्रवप्रकारान् शुद्धसम्यक्त्वादिसवरप्रकारैर्निरुन्धतो मुख्यमशुभकर्मसंवरणमानुषगिक
१८ च सर्वसपत्प्राप्तियोग्यत्वफलमाह—

जैसे नर्तकी नृत्यके प्रयोक्ता नाट्याचार्यकी अधीनतामे रंगभूमिमें नाना प्रकारके रसो और भावोंको दर्शाती हुई नृत्य करती है, जो विजिगीषु कामके आगे होनेवाले पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए उस नृत्य करनेवाली नटीको रोक देते हैं उनमे कोई विशिष्ट हिताहित विचार प्रकट होता है, उसी तरह ज्ञानावरण आदि कर्मोंके विपाकके वशमे होकर आत्मारूपी रंगभूमिमें अनेक प्रकारके रसों और भावोंको व्यक्त करती हुई चित्‌शक्ति परिस्पन्द करती है। प्रधान पुरुषार्थ मोक्ष या धर्मकी प्राप्तिके लिए जो घटमान योगी मुनि उसे रोकते है उनके कोई अनिर्वचनीय उत्कृष्ट विवेक अर्थात् शुद्धोपयोगमें स्थिति प्रकट होती है ॥७२॥

विशेषार्थ—चेतनकी शक्तिको चित्‌शक्ति कहते हैं। जीवके साथ भेदविवक्षा करके उक्त प्रकारसे कथन किया है। अन्यथा चित्‌शक्ति तो जीवका परिणाम है वह तो द्रव्यके आश्रयसे रहती है। चित्‌शक्तिके चलनको ही आत्मप्रदेश परिस्पन्दरूप योग कहते है जो कर्मोंके आस्रवका कारण है। कहा है—पुद्‌गल विपाकी शरीर नामकर्मके उदयसे मन-वचन-कायसे युक्त जीवकी जो शक्ति कर्मोंके आनेमें कारण है उसे योग कहते है। चेतनकी इस शक्तिको रोककर शुद्धोपयोगमे स्थिर होनेसे ही परम संवर होता है। कहा है—कल्पना जालको दूर करके जब मन स्वरूपमे निश्चल होता है तभी ही मुनिके परम संवर होता है ॥७२॥

संवरके शुद्ध सम्यक्त्व आदि भेदोंके द्वारा जो आस्रवके मिथ्यात्व आदि भेदोको रोकते हैं उन्हें अशुभ कर्मोंके संवर रूप मुख्य फलकी और सम्पूर्ण सम्पत्तियोंको प्राप्त करनेकी योग्यता रूप आनुषंगिक फलकी प्राप्ति होती है, ऐसा कहते है—

मिथ्यात्वप्रमुखद्विषद्बलमवस्कन्दाय दृप्यद्बलं,
रोद्धुं शुद्धसुदर्शनादिसुभटान् युञ्जन् यथास्वं सुधीः।
दुष्कर्मप्रकृतीर्न दुर्गतिपरीवर्तैकपाकाः परं,
निःशेषाः प्रतिहन्ति हन्त कुरुते स्वं भोक्तुमुत्काः श्रियः ॥७३॥ ३

अवस्कन्दाय—लक्षणया शुद्धात्मस्वरूपोपघाताय अतर्कितोपस्थितप्रपाताय च। दुष्कर्मप्रकृतीः—असद्वेद्यादीन् दुराचारानीत्यादींश्च। दुर्गति—नरकादिगति निर्द(निर्ध)नत्वं च ॥७३॥ ६

अथ निर्जरानुप्रेक्षितुं तदनुग्रहं प्रकाशयन्नाह—

यः स्वस्याविश्य देशान् गुणविगुणतया भ्रश्यतः कर्मशत्रून्,
कालेनोपेक्षमाण. क्षयमवयवशः प्रापयंस्तप्तुकामान्। ९
धीरस्तैस्तैरुपायैः प्रसभमनुषजत्यात्मसंपद्यजस्रं,
तं वाहीकश्रियोऽङ्कं श्रितमपि रमयत्यान्तरश्रीः कटाक्षैः ॥७४॥

स्वस्य—स्वात्मनो नायकात्मनश्च। देशान्—चिदशान् विषयाश्च। गुणा.—सम्यक्त्वादय सन्धिविग्रहादयश्च। तेपा विगुणता पार्कया (?) प्रतिलोम्यं मिथ्यात्वादित्रयमुत्तरेषा च प्रयोगवैपरीत्यम्। अवयवश.—अशेन अशेन। तप्तुकामान्—स्वफलदानोन्मुखान् उपद्रोतुमिच्छूश्च। धीर'—योगीश्वर उदात्तनायकश्च। तैस्तै—अनशनादितपोभिर्घाटकादिभिश्च। आत्मसपदि—आत्मसवित्तौ विजिगीषुगुणसामग्र्या १२ १५

शुद्ध आत्मस्वरूपका घात करनेके लिए मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी शत्रुओंकी सेनाका हौसला बहुत बढ़ा हुआ है। उनको रोकनेके लिए जो विचारशील मुमुक्षु निरतिचार सम्यग्दर्शन आदि योद्धाओंको यथायोग्य नियुक्त करता है अर्थात् मिथ्यादर्शनको रोकनेके लिए सम्यग्दर्शनको, मिथ्याज्ञानको रोकनेके लिए सम्यग्ज्ञानको, अविरतिको रोकनेके लिए व्रतोंको, प्रमादको रोकनेके लिए उत्साहको, क्रोधके लिए क्षमाको, मानके लिए मार्दवको, मायाके लिए आर्जवको, लोभके लिए शौचको, राग-द्वेषके लिए समताको, मनोयोगके लिए मनोनिग्रहको, वचनयोगके लिए वचननिग्रहको, और काययोगके लिए कायनिग्रहको नियुक्त करता है, वह नारक, तिर्यंच, कुमानुष और कुदेव पर्यायोमे भ्रमण करानेवाली समस्त असाता वेदनीय आदि पापकर्म प्रकृतियोंके बन्धको ही नहीं रोकता, किन्तु प्रसन्नताके साथ कहना पड़ता है कि देवेन्द्र-नरेन्द्र आदिकी विभूतियोंको अपने भोगके लिए उत्कण्ठित करता है। अर्थात् न चाहते हुए भी उस भाग्यशालीके पास इन्द्र आदिकी सम्पदा स्वयं आती है ॥७३॥

इस प्रकार संवर अनुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब निर्जराका विचार करनेके लिए उसके अनुग्रहको प्रकट करते हैं—

जो कर्मरूपी शत्रु सम्यक्त्व आदि गुणोंके मिथ्यात्व आदि परिणामरूप होनेसे आत्माके कर्मोंसे मलिन हुए अंशोंमे विशिष्ट शक्तिरूप परिणामसे स्थित होकर समयसे स्वयं पककर छूट जाते है उनकी जो उपेक्षा करता है, और जो कर्मशत्रु अपना फल देनेके उन्मुख है उनका अनशन आदि उपायोंके द्वारा बलपूर्वक अंश-अंश करके क्षय करता है, तथा परीषह उपसर्ग आदिसे न घबराकर निरन्तर आत्मसंवेदनमे लीन रहता है, तपके अतिशयकी ऋद्धिरूप बाह्य लक्ष्मीकी गोदमे बैठे हुए भी उस धीर मुमुक्षुको अनन्तज्ञानादिरूप अभ्यन्तर लक्ष्मी कटाक्षोंके द्वारा रमण कराती है ॥७४॥

च । वाहीकश्रियं—बाह्यलक्ष्म्यास्तपोतिशयर्द्धे जनपदविभूतेश्च । आन्तरश्रो:—अनन्तज्ञानादिविभूति. दुर्गमध्यगतसंपच्च । कटाक्षै.—अनुरागोद्रेकानुभावै. ॥७४॥

३ अथानादिप्रवृत्तबन्धसहभाविनिर्जरानुशयानुस्मरणपुरस्सर संवरसहभाविनिर्जराप्रधानफलमात्मध्यान प्रतिजानीते—

भोजं भोजमुपात्तमुज्झति मयि भ्रान्तेऽल्पशोऽनल्पश.,
स्वीकुर्वत्यपि कर्म नूतनमित प्राक् को न कालो गतः ।
६ संप्रत्येष मनोऽनिशं प्रणिदधेऽध्यात्मं न विन्दन् बहि-
र्दु.खं येन निरास्रवः शमरसे मज्जन्भजे निर्जराम् ॥७५॥

९ भोज भोज—भुक्त्वा भुक्त्वा । भ्रान्ते—अनात्मीयातात्मभूतेष्वस्तिपु (?) ममाहमिति जायति सति । न विदन्—अचेतयमान. ॥७५॥

विशेषार्थ—कर्मबन्धका कारण है आत्माके सम्यक्त्व आदि गुणोका मिथ्यात्व आदि रूपसे परिणमन, और इस परिणमनका कारण है कर्मबन्ध । बँधनेवाले कर्म आत्माके मलिन हुए अंशोंके साथ विशिष्ट शक्तिरूप परिणामसे स्थित होकर जब उनका स्थितिकाल पूरा होता है तो स्वयं झड़ जाते हैं। किन्तु जो कर्म अपना फल देनेके अभिमुख होते हैं, उनको तपके द्वारा निर्जीर्ण कर दिया जाता है। इस प्रकार संवरपूर्वक निर्जरा करनेवाला तथा आत्म-सवित्तिमें लीन मुमुक्षु शीघ्र ही मुक्ति लक्ष्मीका वरण करता है ॥७४॥

निर्जराके दो प्रकार हैं—एक बन्धके साथ होनेवाली निर्जरा और दूसरी संवरपूर्वक निर्जरा। पहली निर्जरा तो अनादि कालसे होती आती है अतः उसका पश्चात्तापपूर्वक स्मरण करते हुए संवरके साथ होनेवाली निर्जरा जिसका प्रधान फल है, उस आत्मध्यानकी प्रतिज्ञा करते हैं—

अनादि मिथ्यात्वके संस्कारवश शरीरको ही आत्मा मानते हुए मैंने संचित कर्मोंको भोग-भोगकर छोड़ा तो कम परिमाणमे, और नवीन कर्मोंका बन्ध किया बहुत अधिक परिमाणमें। ऐसा करते हुए इस वर्तमान समयसे पहले कितना काल नहीं बीता। अब स्वसंवेदनसे प्रत्यक्ष मैं (आत्मा) मनको आत्मामें ही लगाऊँगा, जिससे परीषह उपसर्गसे होनेवाले दुःखोंसे बेखबर होकर, अशुभ कर्मोंका संवर करके, प्रशमसुखमे निमग्न होकर एकदेश कर्मक्षयरूप निर्जराको कर सकूँ ॥७५॥

विशेषार्थ—अनादिकालसे कर्मबन्धपूर्वक निर्जरा तो होती ही है। जिन कर्मोंकी स्थिति पूरी हो जाती है वे अपना फल देकर झड़ जाते हैं। किन्तु उसके साथ ही जितने कर्मोंकी निर्जरा होती है उनसे बहुत अधिक कर्मोंका नवीन बन्ध भी होता है। इससे ससार-का अन्त नहीं आता। संवरपूर्वक जो निर्जरा होती है वही निर्जरा वस्तुत. निर्जरा है। ऐसी निर्जरा तप आदिके द्वारा ही होती है। तप करते हुए परीषह आदि आनेपर भी दुःखकी अनुभूति नहीं होती किन्तु आनन्दकी ही अनुभूति होती है और वह आनन्द कर्मोंको नष्ट करता है। कहा है—जब योगी प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहारसे रहित होकर आत्माके अनुष्ठान-मे स्वरूपकी प्राप्तिमें लीन हो जाता है तब उसको परम समाधिरूप ध्यानसे किसी वचनातीत परमानन्दकी प्राप्ति होती है। यह आनन्द उस उग्र कर्मरूपी ईंधनको निरन्तर जलाता है। उस समय वह योगी बाह्य कारणोंसे होनेवाले कष्टोंके प्रति कुछ भी नहीं जानता। अत' वह उनसे खिन्न नहीं होती।

अथ लोकालोकस्वरूपं निरूप्य तद्भावनापरस्य स्वात्मोपलब्धियोग्यतामुपदिशति—

जीवाद्यर्थचितो दिवर्धमुरजाकारस्त्रिवातीवृतः,
स्कन्धः खेऽतिमहाननादिनिधनो लोकः सदास्ते स्वयम् । ३
नृन् मध्येऽत्र सुरान् यथायथमधः श्वाभ्रांस्तिरश्चोऽभितः,
कर्मोदर्चिरुपप्लुतानयियतः सिद्धचै मनो धावति ॥७६॥

जीवाद्यर्थचितः—जीवपुद्गलधर्माधर्मकालैर्व्याप्तः । दिवर्धमुरजाकारः—अधोन्यस्तमृदङ्गोर्ध्वं ६ मुखस्थापितोर्ध्वमृदङ्गसमसंस्थानः । इत्थं वा वेत्रासनमृदङ्गोरुझल्लरीसदृशाकृतिः । अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोगमिति त्रिधा । त्रिवातीवृतः—त्रयाणां वातानां घनोदधि-घनवात-तनुवातसंज्ञानां मरुतां समाहार-स्त्रिवाती । तया वृतो वृक्ष इव त्वक्त्रयेण वेष्टितः । स्कन्धः[1]—समुदायरूपः । ९

उक्तं च—

'समवाओ पंचण्हं समओ त्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं ।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिदो अलोगो खं ॥' [पञ्चास्ति. गा. ३] १२

खे—अलोकाकाशे न वराहदंष्ट्रादौ । अनादिनिधनः—सृष्टिसंहाररहितः ।

उक्तं च—

'लोओ अकिट्टिमो खलु अणाइणिहणो सहावणिव्वत्तो । १५
जीवाजीवेहिं फुडो सव्वागासवयवो णिच्चो ॥' [त्रिलो. सा. गा. ४]

इस तरह व्यवहारसे बाह्य होकर आत्मनिष्ठ होनेसे ही परमनिर्जरा होती है । परीषहों-को जीतनेपर ही यह कुशलमूला निर्जरा होती है । यह निर्जरा शुभानुबन्धा भी होती है और निरनुबन्धा भी होती है अर्थात् इसके साथ यदि बन्ध होता है तो शुभका बन्ध होता है या बन्ध बिलकुल ही नहीं होता । इस तरह निर्जराके गुण-दोषोंकी भावना करना निर्जरानुप्रेक्षा है । इसकी भावनासे चित्त निर्जराके लिए तत्पर होता है ॥७५॥

अब लोक और अलोकका स्वरूप बतलाकर लोकभावना भानेवालेके स्वात्माकी उपलब्धिकी योग्यता आती है, ऐसा उपदेश करते हैं—

यह लोक जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंसे व्याप्त है । आधे मृदंगको नीचे रखकर उसके मुखपर पूरा मृदंग खड़ा करके रखनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही उसका आकार है । घनोदधि, घनवात और तनुवात नामक तीन वातवलयों-से वेष्टित है । द्रव्योंका समुदाय रूप है, अत्यन्त महान है, अनादिनिधन है तथा स्वयं अलोकाकाशके मध्यमें सदासे स्थित है । इसके मध्यमें मनुष्य, यथायोग्य स्थानोंमें देव, नीचे नारकी और सर्वत्र तिर्यंच निवास करते हैं । कर्मरूपी अग्निमें सदा जलनेवाले इन जीवोंका ध्यान करनेसे साधुका मन सिद्धिके लिए दौड़ता है ॥७६॥

विशेषार्थ—अनन्त आकाशके मध्यमें लोक स्थित है । जिसमें जीवादि पदार्थ देखे जायें उसे लोक कहते हैं । वैसे आकाश द्रव्य सर्वव्यापी एक अखण्ड द्रव्य है । किन्तु उसके दो विभाग हो गये हैं । जितने आकाशमें जीव आदि पाँचों द्रव्य पाये जाते हैं उसे लोक कहते हैं और लोकके बाहरके अनन्त आकाशको अलोक कहते हैं । कहा है—जिनेन्द्रदेवने जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशके समवायको समय कहा है । वही लोक है । उससे

---

१ ङ्गार्ध—भ. कु. च ।

नृन् मध्ये—मनुष्यान् मानुषोत्तरापर्वतपर्यन्ते जम्बूद्वीप-लवणोद-धातकीखण्डद्वीप-कालोदसमुद्र-पुष्करवरद्वीपार्धरूपे मध्यदेशे। यथायथ—यथात्मीयस्थानम्। तत्र भवनवासिना मुखे योजनशतानि विंशति त्यक्त्वा खरभागे पङ्कबहुलभागे त्वसुराणा राक्षसाना च स्थानानि। व्यन्तराणामधस्ताच्चित्रावज्रावनीसंधे-रारभ्योपरिष्ठान्मेरु यावत्तिर्यक् च समन्तादास्पदानि। ज्योतिष्काणामतो भूमेर्नवत्यधिकसप्तशतयोजनान्याकाशे गत्वोर्ध्वं दशोत्तरशतयोजनावकाशे नभोदेशे तिर्यक् च घनोदधिवातवलय यावद् विमानाधिष्ठानानि विमानानि। वैमानिकाना पुनरूर्ध्वमृजुविन्द्रकादारभ्य सर्वार्थसिद्धि यावद् विमानपदानीति यथागमं विस्तरतश्चिन्त्यम्। अध —अब्बहुलभागात् प्रभृति। अभित.—त्रसनाड्या तथा बहिश्च। अधियत.—ध्यायत.। सिद्ध्यै—बहि सिद्धिक्षेत्राय लोकाग्राय, अध्यात्मं च स्वात्मोपलब्धये ॥७६॥

बाहरका अनन्त आकाश अलोक है। और भी कहा है—यह लोक अकृत्रिम है, इसे किसीने बनाया नही है। स्वभावसे ही बना है। अतएव अनादिनिधन है, न उसका आदि है और न अन्त है। सदासे है और सदा रहेगा। इसमे जीव और अजीव द्रव्य भरे हुए है। यह समस्त आकाशका ही एक भाग है। इसका आकार आधे मृदंगके मुखपर पूरा मृदंग खड़ा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा ही है। या वेत्रासनके ऊपर झाँझ और झाँझपर मृदंग खड़ा करनेसे जैसा आकार बनता है वैसा है। वेत्रासनके आकारवाले नीचेके भागको अधोलोक कहते है उसमें नारकी जीवोका निवास है। झाँझके आकारवाला मध्यलोक है। इसमे मनुष्यों-का निवास है। पूर्ण मृदगके आकार ऊर्ध्व लोक है इसमे देवोंका निवास है। यह लोक नीचेसे ऊपर तक चौदह राजु ऊँचा है। उत्तर-दक्षिणमे सर्वत्र इसकी मोटाई सात राजु है। पूरब पश्चिममे विस्तार लोकके नीचे सात राजू है। फिर दोनों ओरसे घटते हुए सात राजूकी ऊँचाईपर एक राजु विस्तार है। फिर दोनों ओरसे बढते हुए १०½ साढ़े दस राजूकी ऊँचाई-पर पॉच राजू विस्तार है। फिर दोनों ओरसे घटते हुए १४ राजुकी ऊँचाई पर विस्तार एक राजु है। इस समस्त लोकका घनफल तीन सौ तेतालीस राजू है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सात राजूसे एक राजू जोड़कर आधा करनेसे ४ राजू आते हैं। उसे ऊँचाई ७ राजूसे गुणा करनेपर अधोलोकका क्षेत्रफल २८ आता है। तथा मृदंगके आकार ऊर्ध्वलोक-का क्षेत्रफल इक्कीस राजू है जो इस प्रकार है—पॉच राजूमें एक राजू जोड़कर आधा करनेसे तीन राजू होते है। उसे ऊँचाई साढ़े तीन राजूसे गुणा करने पर साढ़े दस राजू होते हैं। यह आधे मृदगाकारका क्षेत्रफल है। इसे दूना करनेसे इक्कीस राजू होते है। अट्ठाईसमे इक्कीस जोड़नेसे उनचास होते है। यह सम्पूर्ण लोकका क्षेत्रफल है। इसे लोककी मोटाई सात राजूसे गुणा करनेपर ४९×७=३४३ तीन सौ तेतालीस राजू घनफल आता है। यह लोक तीन वातवलयोसे उसी तरह वेष्ठित है जैसे वृक्ष छालसे वेष्ठित होता है। इसीसे वातके साथ वलय शब्द लगा है। वलय गोलाकार चूड़ेको कहते हैं जो हाथमे पहननेपर हाथको सब ओरसे घेर लेता है। इसी तरह तीन प्रकारकी वायु लोकको सब ओरसे घेरे हुए है। उन्हीं-के आधार पर यह स्थिर है। इसे न शेषनाग उठाये हुए है और न यह सुअरकी दाढपर या गायके सींग पर टिका हुआ है। मध्यलोकके अन्तर्गत जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, धातकीखण्ड

१. तिमुपर्यधश्चैकैकसहस्र त्य—भ कु. च ।
२ भागे नागादिनवाना कुमाराणा प—भ कु च ।
३. ष्ठानानि। वैमा—भ कु च.।

अथ सम्यग्लोकस्थितिभावनयाऽधिगतसंवेगस्य मुक्त्यर्थसामर्थ्यसमुद्भव भावयति—

लोकस्थिति मनसि भावयतो यथावद्
दु.खार्तदर्शनविजृम्भितजन्मभीते. ।
सद्धर्मतत्फलविलोकनरञ्जितस्य
साधोः समुल्लसति कापि शिवाय शक्ति ॥७७॥ ३

स्थिति:—इत्थभावनियम. । सद्धर्मः—शुद्धात्मानुभूति । तत्फल—परमानन्द ॥७७॥ ६

अथ बोधिदुर्लभत्व प्रणिधत्ते—

जातोऽत्रैकेन दीर्घं घनतमसि परं स्वानभिज्ञोऽभिजानन्
जातु द्वाभ्यां कदाचित्त्रिभिरहमसकृज्जातुचित्खैश्चतुर्भिः । ९
श्रोत्रान्तै. कर्हिचिच्च क्वचिदपि मनसानेहसीदृङ्नरत्वं
प्राप्तो बोधिं कदायं तदलमिह यते रत्नवज्जन्मसिन्धौ ॥७८॥

द्वीप, कालोद समुद्र तथा अर्ध पुष्कर द्वीपमें मानुपोत्तर पर्यन्त मनुष्योंका निवास है। जिस पृथिवीपर हम निवास करते हैं उस रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग है। प्रथम खर भागमें नागकुमार आदि नौ प्रकारके भवनवासियोंका निवास है और पंक भागमे असुर कुमारोका, राक्षसोंका आवास है। शेष व्यन्तर नीचे चित्रा और वज्रा पृथिवीकी सन्धिसे लेकर ऊपर सुमेरु पर्यन्त निवास करते हैं। इस भूमिसे ७९० योजन आकाशमे जानेपर ऊपर एक सौ दस योजन आकाशप्रदेशमे तथा तिर्यक् घनोदधिवातवलय पर्यन्त ज्योतिपी देवोंके विमान हैं। और वैमानिक देवोंके विमान ऊपर ऋजु नामक इन्द्रक विमानसे लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त हैं। नीचे प्रथम पृथिवीके अव्बहुल भागसे लेकर सातवीं पृथिवी पर्यन्त नारकियोंका निवास है। ये सभी जीव कर्मकी आगमें सदा जला करते हैं। इनका चिन्तन करनेसे साधुका मन संसारसे उद्विग्न होकर बाह्यमे लोकके अग्रभागमें स्थित मुक्तिस्थानको और अभ्यन्तरमे स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धिको प्राप्त करनेके लिए लालायित हो उठता है ॥७६॥

आगे कहते है कि जिस साधुको लोक भावनाके चिन्तनसे संवेग भावकी प्राप्ति होती है उसमें मुक्तिको प्राप्त करनेकी शक्ति प्रकट होती है—

जो साधु अपने मनमे सम्यक् रूपसे लोककी स्थितिका बार-बार चिन्तन करता है, और दुःखोंसे पीड़ित लोगोंको देखनेसे जिसे संसारसे भय हो जाता है तथा जो शुद्धात्मानुभूति रूप समीचीन धर्म और उसका फल परमानन्द देखकर उसमे अनुरक्त होता है उस साधुमे मोक्षकी प्राप्तिके लिए कोई अलौकिक शक्ति प्रकट होती है ॥७७॥

इस प्रकार लोकानुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है।

अब बोधिदुर्लभ भावनाका कथन करते है—

आत्मज्ञानसे विमुख हुआ मै इस जगत्मे बार-बार दीर्घ काल तक केवल एक स्पर्शन इन्द्रियके द्वारा स्पर्श प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ मिथ्यात्वरूप गहन अन्धकारसे व्याप्त नित्यनिगोद आदिमे उत्पन्न हुआ। कभी दो इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श और रस प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ बारम्बार दोइन्द्रिय कृमि आदिमे दीर्घ काल तक जन्मा। कभी तीन इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस और गन्ध प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घ काल तक बार-बार चींटी आदिमे जन्मा। कभी चार इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श रस गन्ध और रूपवाले परद्रव्योंको जानता हुआ भौंरा आदिमे बार-बार दीर्घकाल तक जन्मा। कभी पाँच इन्द्रियोके द्वारा स्पर्श-रस

एकैन, खैरिति वचनपरिणामेन, खेन—इन्द्रियेण स्पर्शनेन इत्यर्थ । एवमुत्तरत्रापि नैयायिकसमयः[1] । दीर्घं—चिरकालम् । घनतमसि—निविडमोहे निगोदादिस्थाने जातोऽहमिति संवन्ध । पर—परद्रव्यं ३ स्पर्शप्रधानम् । स्वानभिज्ञो—आत्मज्ञानपराङ्मुख । अभिजानन्—आभिमुख्येन परिच्छिन्दत् । द्वाभ्या—स्पर्शनरसनाभ्याम् । पर—स्पर्शरसप्रधानम् । स्वानभिज्ञोऽभिजानन् कृम्यादिस्थाने दीर्घं जातोऽस्मीति सवन्धः । एव यथास्वमुत्तरत्रापि । त्रिभि —स्पर्शनरसनघ्राणै । चतुर्भि—स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुभि. । अपि मनसा—६ मन पष्ठै पञ्चभिरिन्द्रियैरित्यर्थ । अनेहसि—काले । ईदृक्—सुजात्यादिसंपन्नम् । लब्धं (आपं)—लब्धवानहम् । इह—वोधौ ॥७८॥

अथ दुर्लभवोधि (-वे) प्रमादात् क्षणमपि प्रच्युतायास्तत्क्षणवद्धकर्मविपविभ्रमक्लेशसक्लेशवेदनावशस्य ९ पुनर्दुर्लभतरत्व चिन्तयति—

दुष्प्रापं प्राप्य रत्नत्रयमखिलजगत्सारमुत्सारयेयं,
नोचेत् प्रज्ञापराधं क्षणमपि तदरं विप्रलब्धोऽक्षधूर्तै. ।
१२ तत्किंचित्कर्म कुर्या यदनुभवभवत्क्लेशसंक्लेशसंविद्
वोधेर्विन्देय वार्तामपि न पुनरनुप्राणनास्या. कुतस्त्याः ॥७९॥

गन्ध-रूप और शब्द प्रधान परद्रव्यको जानता हुआ दीर्घकाल तक वार-वार असंज्ञी पचेन्द्रियोंमे जन्मा । कभी मनके साथ पॉच इन्द्रियोंके द्वारा स्पर्श, रस, गन्ध, रूप, शब्द तथा श्रुतके विपयभूत परद्रव्यको जानता हुआ वार-वार दीर्घकाल संज्ञी पंचेन्द्रियोमे जन्मा । किन्तु इस प्रकारके जाति-कुल आदिसे सम्पन्न मनुष्यभवको पाकर मैंने कभी भी रत्नत्रयकी प्राप्तिरूप वोधिको नहीं पाया । इसलिए जैसे कोई समुद्रके मध्यमे अत्यन्त दुर्लभ रत्नको पाकर उसके लिए अत्यन्त प्रयत्नशील होता है वैसे ही ससारमे अत्यन्त दुर्लभ वोधिको पाकर मैं उसीके लिए प्रयत्नशील होता हूँ ॥७८॥

विशेपार्थ—सारांश यह है कि संसार-भ्रमणका एकमात्र कारण अपने स्वरूपको न जानना है । आत्मज्ञान ही सम्यग् वोधि है । नरभव पाकर भी उसका प्राप्त होना दुर्लभ है अतः उसीके लिए प्रयत्नशील होनेकी आवश्यकता है । वह प्राप्त होनेसे रत्नत्रयकी प्राप्ति सुनिश्चित है । किन्तु उसके अभावमे रत्नत्रय हो नहीं सकता ॥७८॥

यदि प्राप्त दुर्लभ वोधि प्रमादवश एक क्षणके लिए भी छूट जाये तो उसी क्षणमे वँधे हुए कर्मोंका उदय आनेपर कष्टोंकी वेदनासे पीड़ित मेरे लिए वोधिकी प्राप्ति दुर्लभसे दुर्लभतर हो जाती है, ऐसा विचार करते हैं—

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय समस्त लोकमें उत्तम है । यह वड़े कष्टसे प्राप्त होता है । इसे प्राप्त करके एक क्षणके लिए भी यदि मै अपने प्रमादपूर्ण आचरणको दूर न करूँ तो शीघ्र ही इन्द्रियरूपी धूर्तोंसे ठगा जाकर मै कुछ ऐसा दारुण कर्म करूँगा जिस कर्मके उदयसे होनेवाले क्लेश और सक्लेशको भोगनेवाले मेरे लिए वोधिकी वात भी दुर्लभ है फिर उसकी पुन. प्राप्तिकी तो वात ही क्या है ? ॥७९॥

विशेपार्थ—रत्नत्रयकी प्राप्ति वड़े ही सौभाग्यसे होती है । अत. उसे पाकर सतत सावधान रहनेकी जरूरत है । एक क्षणका भी प्रमाद उसे हमसे दूर कर सकता है । और प्रमादकी सम्भावना इसलिए है कि मनुष्य पुराने सस्कारोसे भ्रममे पड सकता है । कहा है—

---

१ -समन्वयश्चिन्त्य भ कु च ।

उत्सारयेयम्—दूरीकुर्यामहम् । प्रज्ञापराध—प्रमादाचरणम् । उक्तं च—

'ज्ञातमप्यात्मनस्तत्त्व विविक्त भावयन्नपि ।
पूर्वविभ्रमसस्काराद् भ्रान्ति भूयोऽपि गच्छति ॥' [समाधि तन्त्र ४५] ३

क्लेशा —अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा । सक्लेशा —सुखदु खोपभोगविकल्पा । विन्देय—लभेय अहम् । अनुप्राणना—पुनरुज्जीवनी । कुतस्त्या—कुतो भवा न कुतश्चित् प्राप्यत इत्यर्थ ॥७९॥

अथ केवलिप्रज्ञप्तत्रैलोक्यैकमङ्गललोकोत्तमस्य धर्मस्याविर्भावमाशसति— ६

लोकालोके रविरिव करैरुल्लसन् सत्क्षमाद्यैः
खद्योतानामिव घनतमोद्योतिनां यः प्रभावम् ।
दोषोच्छेदप्रथितमहिमा हन्ति धर्मान्तराणां ९
स व्याख्यातः परमविशदख्यातिभिः ख्यातु धर्मः ॥८०॥

आत्मतत्त्वको जानकर भी और शरीरादिसे भिन्न उसका पुनः-पुन. चिन्तन करके भी पहले मिथ्या सस्कारोसे पुन. भ्रममे पड जाता है । और यह क्षण-भरका प्रमाद इन्द्रियोंके चक्करमें डालकर मनुष्यको मार्गभ्रष्ट कर देता है । फलत. उस क्षणमें बँधे हुए कर्म जब उदयमें आते है तो मनुष्य क्लेश और संक्लेशसे पीडित हो उठता है । राग-द्वेषरूप भावोको क्लेश कहते हैं और सुख-दु खको भोगनेके विकल्पोंको संक्लेश कहते हैं । फिर तो मनुष्यके लिए बोधिकी प्राप्तिकी बात तो दूर उसका नाम भी सुनना नसीब नहीं होता । इस बोधिकी दुर्लभताका चित्रण करते हुए तत्त्वार्थवार्तिक ९।७।९ मे कहा है—एक निगोदिया जीवके शरीरमे सिद्ध राशिसे अनन्त गुणे जीवोका निवास है । इस तरह समस्त लोक स्थावरकायिक जीवोंसे भरा हुआ है । अतः त्रसपना, पचेन्द्रियपना, मनुष्यपर्याय, उत्तम देश, उत्तम कुल, इन्द्रिय सौष्ठव, आरोग्य और समीचीनधर्म ये उत्तरोत्तर बड़े कष्टसे मिलते है । इस तरह बड़े कष्टसे मिलनेवाले धर्मको पाकर भी विषयोंसे विरक्ति होना दुर्लभ है । विषयोसे विरक्ति होनेपर तपकी भावना, धर्मकी प्रभावना, समाधिपूर्वक मरण दुर्लभ है । इस सबके होनेपर ही बोधिकी प्राप्ति सफल है ऐसा चिन्तन करना बोधि दुर्लभ अनुप्रेक्षा है ॥७९॥

आगे केवलीके द्वारा कहे गये, तीनों लोकोमे अद्वितीय मंगलरूप तथा सब लोकमें उत्तम धर्मके प्रकट होनेकी आशा करते हैं—

अपनी किरणोंसे सूर्यके समान उत्तम क्षमा आदिके साथ भव्य जीवोंकी अन्तर्दृष्टिमें प्रकाशमान होता हुआ जो गाढ़े अन्धकारमे चमकनेवाले जुगुनुओंकी तरह गहन मिथ्यात्वमे चमकनेवाले अन्य धर्मोंके प्रभावको नष्ट करता है, रागादि दोषोका विनाश करनेके कारण जिसकी महिमा प्रसिद्ध है तथा जो समस्त विशेषोंको स्पष्ट प्रकाशन करनेवाले ज्ञानसे युक्त सर्वज्ञ देवके द्वारा व्यवहार और निश्चयसे कहा गया है वह वस्तुस्वभावरूप धर्म या चौदह मार्गणास्थानोंमें चौदह गुणस्थानोका विचाररूप धर्म प्रकट होवे ॥८०॥

विशेषार्थ—सच्चा धर्म वही है जो राग-द्वेषसे रहित पूर्णज्ञानी सर्वज्ञके द्वारा कहा गया है । क्योकि मनुष्य अज्ञानसे या राग-द्वेषसे असत्य बोलता है । जिसमे ये दोष नहीं है

---

१. जानन्नप्या—स. त ।
२. -वना भ कु च. ।

लोकालोके—भव्यजनान्तर्दृष्टौ चक्रवालगिरौ च । तमः—मिथ्यात्वमन्धकारश्च । धर्मान्तराणां—वेदाद्युक्तधर्माणाम् । स्वाख्यात—सम्यगुक्त । व्यवहारनिश्चयाभ्यां व्यवस्थापित इत्यर्थः । परमविशद-
३ ख्यातिभि.—उत्कृष्टाशेषविशेषस्फुटप्रकाशननिष्ठज्ञानैः सर्वज्ञैरित्यर्थः । ख्यातु—प्रकटीभवतु । धर्मः—चतुर्दशगुणस्थानानां गत्यादिषु चतुर्दशमार्गणास्थानेषु स्वतत्त्वविचारणालक्षणो वस्तुयाथात्म्यरूपो वा ॥८०॥

अथाहिंसैकलक्षणस्य धर्मस्याक्षयसुखफलत्वं सुदुर्लभत्वं समग्रशब्दब्रह्मप्राणत्वं च प्रकाशयन्नाह—

६ सुखमचलमहिंसालक्षणादेव धर्माद्
भवति विधिरशेषोऽप्यस्य शेषोऽनुकल्पः ।
इह भवगहनेऽसावेव दूरं दुरापः
९ प्रवचनवचनानां जीवितं चायमेव ॥८१॥

विधि —सत्यवचनादि । अनुकल्पः—अनुगत द्रव्यभावाभ्यामहिंसकत्वं कल्पयति समर्थयति । तदनुयायीत्यर्थ ॥८१॥

उसके असत्य बोलनेका कोई कारण नहीं है। वह धर्म निश्चय और व्यवहार रूपसे कहा जाता है, निश्चयसे वस्तुका जो स्वभाव है वही धर्म है। जैसे आत्माका चैतन्य स्वभाव ही उसका धर्म है। किन्तु संसार अवस्थामें वह चैतन्य-स्वभाव तिरोहित होकर गति इन्द्रिय आदि चौदह मार्गणाओमे चौदह गुणस्थानोंके द्वारा विभाजित होकर नाना रूप हो गया है। यद्यपि द्रव्य दृष्टिसे वह एक ही है। इसलिए चौदह मार्गणा-स्थानोंमे चौदह गुणस्थानोंके द्वारा जो उस स्वतत्त्वका विचार किया जाता है वह भी धर्म ही है। उसके बिना विविध अवस्थाओंमें जीवतत्त्वका परिज्ञान नहीं हो सकता। इसीसे भगवान् जिनेन्द्रदेवने जो धर्मोपदेश दिया है वह व्यवहार और निश्चयसे व्यवस्थापित है। इत्यादि रूपसे धर्मका चिन्तन करना धर्मानुप्रेक्षा है ॥८०॥

आगे कहते है कि धर्मका एकमात्र लक्षण अहिंसा है। इस अहिंसा धर्मका फल अविनाशी सुख है, किन्तु यह धर्म दुर्लभ है और समग्र परमागमका प्राण है—

धर्मका लक्षण अहिंसा है। अहिंसा धर्मसे ही अविनाशी सुखकी प्राप्ति होती है। बाकीकी सभी विधि इसीके समर्थनके लिए है। इस संसाररूपी घोर वनमें यह अहिंसारूप धर्म ही अत्यन्त दुर्लभ है। यही सिद्धान्तके वाक्योका प्राण है ॥८१॥

विशेषार्थ—जिनागममे कहा है—राग आदिका उत्पन्न न होना ही अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है। यह समस्त जिनागमका सार है। अहिंसाका यह स्वरूप बहुत ऊँचा है। लोकमे जो किसीके प्राण लेने या दुखानेको हिंसा और ऐसा न करनेको अहिंसा कहा जाता है वह तो उसका बहुत स्थूल रूप है। यथार्थमें तो जिन विकल्पोसे आत्माके स्वभावका घात होता है वे सभी विकल्प हिंसा है और उन विकल्पोंसे शून्य निर्विकल्प अवस्था अहिंसा है। उस अवस्थामें पहुँचनेपर ही सच्चा स्थायी आत्मिक सुख मिलता है। यद्यपि उस अहिंसा तक पहुँचना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जिनागमका सार यह अहिंसा ही है। आगममे अन्य जितने भी व्रतादि कहे है वे सब इस अहिंसाके ही पोषणके लिए कहे है। इसीसे जिस सत्य वचनसे दूसरेके प्राणोका घात होता हो, उस सत्य वचनको भी हिंसा कहा है। ऐसा विचार करनेसे सदा धर्मसे अनुराग बना रहता है। इस प्रकार धर्मानुप्रेक्षाका कथन समाप्त होता है ॥८१॥

अथानित्यताद्यनुप्रेक्षाणा या काचिदिष्टामनुध्याय निरुद्धेन्द्रियमनःप्रसरस्यात्मनात्मन्यात्मनः सवेदनात् कृतकृत्यतामापन्नस्य जीवन्मुक्तिपूर्विका परममुक्तिप्राप्तिमुपदिशति—

इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमाणोऽध्रुवादि- ३
ष्वद्धा यत्किंचिदन्त.करणकरणजिद्वेत्ति यः स्वं स्वयं स्वे ।
उच्चैरुच्चै'पदाशाधरभवविधुराम्भोधिपाराप्तिराज-
त्कार्तार्थ्यः पूतकीर्तिः प्रतपति स परै स्वैर्गुणैर्लोकमूर्ध्नि ॥८२॥ ६

द्विषेपु—द्वादशसु । अनुप्रेक्ष्यमाण'—भावयन् । अध्रुवादिपु—अनित्याशरणससारैकत्वान्यत्वाशुच्यास्रवसंवरनिर्जरालोकवोधिदुर्लभधर्मस्वाख्याततत्वेपु । उच्चैरुच्चै पदेषु—उन्नतोन्नतस्थानेपु नृपमहर्द्धिकदेवचक्रिसुरेन्द्राहमिन्द्रगणधरतीर्थकरत्वलक्षणेपु । आशा—प्राप्त्यभिलाप , ता धरति तया वा अधरो निन्द्य' ९ शुभाशुभकर्मनिवन्धनत्वात् । कीर्त्यार्थ्या (कार्तर्थ्या)—कृतकृत्यता ।

उक्त च—

'सर्वविवर्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति । १२
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक् पुरुषार्थसिद्धिमापन्नः ॥' [पुरुपार्थ, श्लो १३]

कीर्ति.—वाक्यश स्तुतिर्नाम वा । स्वैर्गुणै.—सम्यक्त्वादिभिरष्टभि सिद्धगुणै. ।

अथ— १५

'अदु खभावितं ज्ञान हीयते दु खसन्निधौ ।
तस्माद् यथावल दु खैरात्मानं भावयेन्मुनि ॥' [समाधित १०२] ॥८२॥

आगे कहते हैं कि इन अनित्यता आदि अनुप्रेक्षाओमें-से अपनेको प्रिय जिस किसी भी अनुप्रेक्षाका ध्यान करके जो साधु अपनी इन्द्रियो और मनके प्रसारको रोकता है तथा आत्माके द्वारा आत्मामें आत्माका अनुभवन करके कृतकृत्य अवस्थाको प्राप्त करता है उसको प्रथम जीवन्मुक्ति, पश्चात् परममुक्ति प्राप्त होती है—

परमागम ही जिसके नेत्र हैं ऐसा जो मुमुक्षु अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आस्रव, संवर, निर्जरा, लोक, वोधि दुर्लभ और धर्मस्वाख्यात तत्त्व इन वारह अनुप्रेक्षाओमें-से यथारुचि किसी भी अनुप्रेक्षाका तत्त्वत. चिन्तन करता हुआ मन और इन्द्रियोंको वशमें करके आत्माको आत्मामे आत्माके द्वारा जानता है वह पूतकीर्ति अर्थात् पवित्र वाणी दिव्यध्वनिका धारी होकर राजा महर्द्धिक देव, चक्रवर्ती, सुरेन्द्र, अहमिन्द्र, गणधर, तीर्थंकर आदि ऊँचे-ऊँचे पदोंकी प्राप्तिकी अभिलापाके कारण निन्दनीय संसारके दुःखसागरके पारको प्राप्त करके शोभमान कृतकृत्य होता है और लोकके मस्तकपर विराजमान होकर उत्कृष्ट आत्मिक गुणोंसे प्रदीप्त होता है ॥८२॥

विशेपार्थ—अनुप्रेक्षाओके चिन्तनसे मन एकाग्र होता है और इन्द्रियाँ वशमें होती हैं। मनके एकाग्र होनेसे स्व-सवेदनके द्वारा आत्माकी अनुभूति होती है। उसी आत्मानुभूतिके द्वारा जीवन्मुक्तदशा और अन्तमे परम मुक्ति प्राप्त होती है। उसी समय जीव कृतकृत्य कहलाता है। कहा है—जिस समय वह जीव समस्त विवर्तोंसे रहित निश्चल चैतन्यको प्राप्त करता है, सम्यक् पुरुपार्थ मोक्षकी प्राप्ति कर लेनेसे उस समय वह कृतकृत्य होता है। ऊपर ग्रन्थकारने संसारको दु खका समुद्र वतलाते हुए उसे इसलिए भी निन्द्य कहा है कि उसमें इन्द्र, अहमिन्द्र तथा तीर्थंकर आदि पदोकी अभिलापा लगी रहती है। ये पद शुभकर्मका वन्ध किये

इत्यभिप्रेत्य विशेषसंख्यागर्भं परीषहसामान्यलक्षणमाचक्षाणस्तज्जयाधिकारिणो निर्दिशति—

दुःखे भिक्षुरुपस्थिते शिवपथाद् भ्रश्यत्यदुःखश्रितात्
३ तत्तन्मार्गपरिग्रहेण दुरितं रोद्धुं मुमुक्षुर्नवम् ।
भोक्तुं च प्रतनं क्षुदादिवपुषो द्वाविंशतिं वेदनाः
स्वस्थो यत्सहते परीषहजयः साध्यः स धीरैः परम् ॥८३॥

६ तन्मार्गं—शिवपथप्राप्त्युपायः सद्ध्यानमिति यावत् । उक्तं च—

'परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी ।
जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाशु निर्जरा ॥' [इष्टोप. २४]

९ प्रतनं—पुराणम् । क्षुदादिवपुषः—क्षुत्पिपासादंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याक्रोशवधयाचनालाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाज्ञानदर्शनस्वभावाः । वेदनाः—वेद्यन्तेऽनुभूयन्तेऽसद्वेद्योदयादिकर्मोदयपरतन्त्रैः प्राणिभिरिति वेदना अन्तर्बहिर्द्रव्यपरिणामाः शारीरमानसप्रकृष्टपीडाहेतवः । स्वस्थः—
१२ स्वस्मिन् कर्मविविक्ते आत्मनि तिष्ठन् । सहते—संक्लेशं दैन्यं च विनाऽनुभवति । परीषहजयः । अस्य संयमतपोविशेषत्वादिहोपदेशः । उक्तं च—

'परिषोढव्या नित्यं दर्शनचारित्ररक्षणे नियताः ।
१५ संयमतपोविशेषास्तदेकदेशाः परीषहाख्याः स्युः ॥' [ ] ॥८३॥

बिना मिलते नहीं हैं और बन्ध तो दुःखका ही कारण होता है। अतः इन पदोंकी आशा न रखनेवाला ही उस सर्वोच्च मुक्ति पदको प्राप्त करनेमें समर्थ होता है ॥८२॥

आचार्य पूज्यपादने कहा है—दुःखोंका अनुभव किये बिना प्राप्त किया गया ज्ञान दुःख पड़नेपर नष्ट हो जाता है। इसलिए मुनिको शक्तिके अनुसार दुःखोंके साथ आत्माकी भावना करना चाहिए अर्थात् आत्मानुभवनके साथ दुःखोंको सहनेकी शक्ति भी होना चाहिए।

इसी अभिप्रायसे परीषहोंकी संख्याके साथ परीषह सामान्यका लक्षण कहते हुए ग्रन्थकार 'उसको जीतनेका अधिकारी कौन है' यह बतलाते हैं—

जिस साधुने सुखपूर्वक मोक्षमार्गकी साधना की है, दुःख उपस्थित होनेपर वह साधु मोक्षमार्गसे च्युत हो जाता है। इसलिए मोक्षका मार्ग स्वीकार करनेपर नवीन कर्मबन्धको रोकनेके लिए और पुराने कर्मोंकी निर्जराके लिए भूख-प्यास आदि बाईस वेदनाओंको आत्मस्थ साधु जो सहता है उसे परीषहजय कहते हैं। वह परीषहजय केवल धीर वीर पुरुषोंके द्वारा ही साध्य है कायर उसे नहीं सह सकते ॥८३॥

विशेषार्थ—साधुको मोक्षमार्गकी साधना करते समय अचानक जो कष्ट उपस्थित हो जाते हैं उन्हें परीषह कहते हैं। उनको जीतना अर्थात् उन कष्टोंसे खेदखिन्न न होकर शान्त भावसे उन्हें सहना परीषहजय है। उन्हें वही साधु सह सकता है जिसे कष्टोंको सहनेका अभ्यास है। जिन्हें अभ्यास नहीं है वे सहन न कर सकनेसे मार्गभ्रष्ट हो जाते हैं। इसीके लिए अनशन, कायक्लेश आदि तप बतलाये हैं। अतः परीषह भी संयम और तपका ही अंग है। इसीसे यहाँ उसका उपदेश किया जाता है। परीषहको जीतनेसे अन्य लाभ यह है कि नवीन कर्मोंका बन्ध रुकता है और पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है। कहा है—भूख आदिकी वेदनाका अनुभव न करनेसे तथा आत्मामें आत्माका उपयोग लगानेसे शुभ-अशुभ कर्मोंकी संवरपूर्वक शीघ्र निर्जरा होती है ॥८३॥

अथ वालव्युत्पत्त्यर्थं पुनस्तत्सामान्यलक्षण प्रपञ्चयति—

शारीरमानसोत्कृष्टबाधहेतून् क्षुदादिकान् ।
प्राहुरन्तर्बहिर्द्रव्य-परिणामान् परीषहान् ॥८४॥ ३

अन्तरित्यादि । क्षुदादयोऽन्तर्द्रव्यपरिणामा शीतोष्णादयो वहिर्द्रव्यपरिणामा इति यथासभवं योज्यम् ॥८४॥

अथ कालत्रयेऽपि कार्यारम्भस्य सर्वेषा सप्रत्यवायत्वाद् विघ्नोपनिपातेऽपि श्रेयोऽर्थिभि प्रारब्धश्रेयो- ६
मार्गान्नोपसर्तव्यमिति शिक्षार्थमाह—

स कोऽपि किल नेहाभून्नास्ति नो वा भविष्यति ।
यस्य कार्यमविघ्नं स्यान्न्यक्कार्यो हि विधेः पुमान् ॥८५॥ ९

किल—शास्त्रे लोके च श्रूयते । शास्त्रे यथा—'स किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा यस्य निष्प्रत्य-
वाय कार्यारम्भ ' इति ।

लोके यथा—श्रेयासि बहुविघ्नानीत्यादि । न्यक्कार्य.—अभिभवनीय । ततो विघ्ननिघ्नीभूय १२
प्रेक्षापूर्वकारिभि न जातु प्रारब्ध श्रेय साधनमुज्झितव्यम् । यद्वाह्या अप्याहु —

'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति ॥' १५
[नीतिशतक ७२] ॥८५॥

अल्प बुद्धिवालोंको समझानेके लिए परीषहका सामान्य लक्षण फिरसे कहते है—

अन्तर्द्रव्य जीवके और बहिर्द्रव्य पुद्गलके परिणाम भूख आदिको, जो शारीरिक और मानसिक उत्कृष्ट पीडाके कारण है, उन्हें आचार्य परीषह कहते है ॥८४॥

विशेषार्थ—परीषह जीवद्रव्य और पुद्गल द्रव्यके परिणाम है जो जीवकी शारीरिक और मानसिक पीड़ाके कारण है। जैसे भूख और प्यास जीवके परिणाम है और सर्दी-गर्मी पुद्गलके परिणाम है। इसी तरह अन्य परीषहोके सम्बन्धमे भी जान लेना चाहिए। ये जीवको दुःखदायक होते है। इन्हें ही परीषह कहते है ॥८४॥

आगे शिक्षा देते है कि सदा ही कार्य प्रारम्भ करनेपर सभीको विघ्न आते हैं। इसलिए विघ्न आनेपर भी कल्याणके इच्छुक मनुष्योको प्रारम्भ किये गये कल्याण-मार्गसे हटना नहीं चाहिए—

तीनों लोकोंमे ऐसा कोई भी न हुआ, न है और न होगा, जिसके कार्यमे विघ्न न आये हों और कार्य निर्विघ्न हुआ हो। क्योंकि दैव पुरुषका तिरस्कार किया ही करता है ॥८५॥

विशेषार्थ—शास्त्रमे और लोकमे भी ऐसा ही सुना जाता है। शास्त्रमे कहा[1] है—

इस लोकमे क्या कोई भी ऐसा मनुष्य हुआ, या है, या होगा जिसके कार्यके आरम्भ में विघ्न न आये हो।

लोकमे भी सुना जाता[2] है—

---

१. 'स किं कोऽपीहाभूदस्ति भविष्यति वा वन्धयस्याप्रत्यवाय कार्यारम्भ ।'
२ 'श्रेयासि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि ।'

अथ क्लेशायासाम्या विह्लीभवतो लोकद्वयेऽपि स्वार्थभ्रंश स्यादिति भीतिमुद्भावयन्नाह—

विप्लवप्रकृतिर्यः स्यात् क्लेशादायासतोऽथवा ।
३ सिद्धस्तस्यात्रिकध्वंसादेवामुत्रिकविप्लवः ॥८६॥

क्लेशात्—व्याध्यादिवाधात । आयासत.—प्रारब्धकर्मश्रमात् । सिद्धः—निश्चितो निष्पन्नो वा । आत्रिकध्वसात्—इह लोके प्राप्याभीष्टफलस्य कर्मारम्भस्य परलोकफलार्थस्य वा तस्य विनाशात् ॥८६॥

६ अथ भृश पौन पुन्येन वाप्युपसर्पद्भि परीपहोपसर्गेरविक्षिप्यमाणचित्तस्य निश्रेयसपदप्राप्तिमुपदिशति—

क्रियासमभिहारेणाप्यापतद्भिः परीषहैः ।
९ क्षोभ्यते नोपसर्गैर्वा योऽपवर्गं स गच्छति ॥८७॥

उपसर्गे —सुरनरतिर्यगचेतननिमित्तकैरसह्यपीडाविशेपै. ॥८७॥

अथ प्रागेवाभ्यस्तसमस्तपरीषहजयस्य महासत्त्वस्य क्रमक्षपितघात्यघातिकर्मणो लोकाग्रचूडामणित्व-

१२ मुद्गृणाति[1]—

वडे पुरुषोंके भी शुभकार्यमे वहुत विघ्न आते हैं। किन्तु विघ्नोंसे डरकर कार्यको नहीं छोड़ना चाहिए। किसीने कहा[2] है—

'नीच पुरुष तो विघ्नोंके भयसे कोई कार्य प्रारम्भ ही नहीं करते। मध्यम पुरुष कार्यको प्रारम्भ करके विघ्न आनेपर छोड़ वैठते हैं। किन्तु उत्तम पुरुष विघ्नोंसे वारम्वार सताये जानेपर भी प्रारम्भ किये हुए कार्यको नहीं छोडते।'

अत मोक्षके मार्गसे लगनेपर परीपहोंसे घवराकर उसे छोड़ना नहीं चाहिए ॥८५॥

जो साधु कष्टो और श्रमसे व्याकुल हो उठता है उसका यह लोक और परलोक दोनों ही नष्ट होते हैं, ऐसा कहते है—

जो मनुष्य व्याधि आदिकी वाधासे अथवा प्रारम्भ किये हुए कार्यके श्रमसे घवरा जाता है उसका इस लोक सम्वन्धी कार्यका विनाश होनेसे परलोक सम्वन्धी कार्यका विनाश तो सुनिश्चित ही है। अर्थात् इस लोकमे यदि कल्याण मार्गमे सफल होता तो परलोकमे भी अभीष्ट फलकी प्राप्ति होती। जव इसी लोकमे कुछ नहीं कर सका तो परलोकमे किसका फल भोगेगा ॥८६॥

जिस साधुका मन वारम्वार आनेवाले तीव्र परीषहो और उपसर्गोंसे भी विचलित नहीं होता उसे ही मोक्षकी प्राप्ति होनेका उपदेश देते है—

अधिक रूपमे और वार-वार आ पडनेवाले भूख-प्यास आदिकी परीपहोंसे तथा देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतन पदार्थके निमित्तसे होनेवाले उपसर्गोंसे जो साधु घवराता नहीं है वही मोक्षको जाता है ॥८७॥

आगे कहते हैं कि जिसने पहलेसे ही समस्त परीपहोंको जीतनेका अभ्यास किया है वह धीर-वीर पुरुष ही क्रमसे घाति और अघाति कर्मोंका क्षय करके लोकके अग्र भागमे विराजमान होता है—

---

१ -द्वृणा—भ कु च. ।

२ 'प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचै प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्या ।
विघ्नै पुन पुनरपि प्रतिहन्यमाना प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति' ॥—नीति शतक, ७२ श्लोक

सोढाशेषपरीषहोऽक्षतशिवोत्साहः सुदृग्वृत्तभाग्
मोहांशक्षपणोल्वणीकृतबलो निस्साम्परायं स्फुरन्।
शुक्लध्यानकुठारकृत्तबलवत्कर्मद्रुमूलोऽपरं
ना प्रस्फोटितपक्षरेणुखगवद्यात्युर्ध्वमस्त्वा रजः ॥८८॥

अक्षतशिवोत्साह —अप्रमत्तसंयत इत्यर्थ । तल्लक्षण यथा—

'णट्ठासेसपमाओ वयगुणसीलेहिं मंडिओ णाणी।
अणुवसमओ अखवओ झाणणिलीणो हु अप्पमत्तो ॥' [गो जी , गा ४६]

सुदृग्वृत्तभाक्—क्षपकश्रेण्यारोहणोन्मुख इत्यर्थ । मोहांशेत्यादि—अपूर्वकरणादिगुणस्थानवर्तीत्यर्थ । नि सापराय स्फुरन्—लोभाभावेन द्योतमान क्षीणमोह इत्यर्थ । शुक्लध्यान—एकत्ववितर्कवीचाराख्य- मत्र । बलवत्कर्माणि—ज्ञानदर्शनावरणान्तरायसज्ञानि । अपर—वेद्यायुर्नामगोत्ररूपमघातिकर्म । ना—द्रव्यतः पुमानेव । अस्त्वा—क्षिप्त्वा । रजोरेणुरिव—स्वरूपोपघातपरिहारेणैवोपश्लेपावस्थानात् ॥८८॥

जिसने सब परीषहोंको सहन करनेकी क्षमता प्राप्त की है, अर्थात् जो सब परीषहोसे अभिभूत नहीं होता, जिसका मोक्षके प्रति उत्साह प्रतिक्षण बढता हुआ है, जो क्षायिक सम्यक्त्व और सामायिक आदि चारित्रमे-से किसी एक चारित्रका आराधक है, चारित्र मोह के एकदेशका क्षय करनेसे जिसका बल बढ गया है, जो लोभका अभाव हो जानेसे प्रकाश- मान है, जिसने शुक्लध्यानरूपी कुठारसे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय जैसे बलवान् घातिकर्मरूपी वृक्षकी जड़को काट दिया है, ऐसा पुरुष ही वेदनीय, आयु, नाम, गोत्र नामक अघाति कर्मरूपी रजको दूर करके जिसने अपने पंखोंपर पडी हुई धूलको झाड दिया है उस पक्षीकी तरह ऊपर लोकके अग्रभागमें जाता है ॥८८॥

विशेषार्थ—पहले दो विशेषणोंसे यहाँ अप्रमत्त संयत नामक सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिका ग्रहण किया है। उसका लक्षण इस प्रकार है—'जिसके सब प्रमाद नष्ट हो गये हैं, जो व्रत, गुण और शीलसे शोभित है, ज्ञानी है. अभी न उपशमक है और न क्षपक है, मात्र ध्यान- में लीन है उसे अप्रमत्त संयत कहते हैं।'

सातवें गुणस्थानसे आगे उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि शुरू होती है। क्षपक श्रेणि- पर चढनेवाला ही मोक्ष जाता है। उसके क्षायिक सम्यक्त्व होता है और सामायिक या छेदोपस्थापना चारित्र होता है। अतः तीसरे विशेषणसे उस अप्रमत्त संयतको क्षपक श्रेणिपर चढनेके लिए उद्यत लेना चाहिए। चतुर्थ विशेषणसे अपूर्वकरण आदि गुणस्थानवर्ती लेना चाहिए क्योंकि अप्रमत्त संयत मुनि क्षपकश्रेणिपर चढते हुए क्रमशः आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानमे जाता है और फिर दसवेंके अन्तमें सूक्ष्म लोभ कषायका क्षय करके क्षीणमोह हो जाता है। अपूर्व करण आदि तीन गुणस्थानोमे पृथक्त्ववितर्कवीचार नामक पहला शुक्लध्यान होता है। बारहवें क्षीण मोह नामक गुणस्थानमें एकत्ववितर्कअवीचार नामक दूसरे शुक्लध्यानके द्वारा शेष तीन घातिकर्मोंका क्षय करके जीवन्मुक्त सयोगकेवली हो जाता है।

चौदहवे गुणस्थानमें व्युपरतक्रियानिवृत्ति शुक्लध्यानके द्वारा शेष अघाति कर्मोंको नष्ट करके मुक्त हो जाता है। यहाँ अघाति कर्मोंको रज अर्थात् धूल शब्दसे कहा है क्योंकि वे जीवके स्वरूपको न घातते हुए ही जीवसे सम्बद्ध रहते है ॥८८॥

अथ क्षुत्परीषहविजयविधानार्थमाह—

षट्कर्मीपरमादृतेरनशनाद्याप्तकृशिम्नोऽशन-
३ स्यालाभाच्चिरमप्यरं क्षुदनले भिक्षोर्दिधक्षत्यसून् ।
कारापञ्जरनारकेषु परवान् योऽभुक्षि तीव्राः क्षुध.
का तस्यात्मवतोऽद्य मे क्षुदियमित्युज्जीव्यमोजो मुहुः ॥८९॥

६ षट्कर्मी—षडावश्यकक्रिया । दिधिक्षति—दग्धु प्रवृत्त इत्यर्थ ।

यद्वैद्या —

'आहार पचति शिखी दोषानाहारवर्जितः पचति ।
९ दोपक्षये च धातून् पचति च धातुक्षये प्राणान् ॥' [ ]

कारा—वन्दिकुटी । मनुष्य प्रत्येपा । शेषौ तैर्यग्नैरयिकौ प्रति । परवान्—परायत्तः । अभुक्षि—अन्वभूवमहम् । आत्मवत —आत्मायत्तस्य । उज्ज्जीव्यं—उद्दीप्यम् । ओज.—उत्साहो धातुतेजो वा ॥८९॥

१२ अथ तृष्णापरीषहतिरस्कारार्थमाह—

पत्रीवानियतासनोदवसितः स्नानाद्यपासी यथा-
लब्धाशी क्षपणाध्वपित्तकृदवष्वाणज्वरोष्णादिजाम् ।
१५ तृष्णा निष्कुषिताम्बरीशदहनां देहेन्द्रियोन्माथिनी
सन्तोषोद्धकरीरपूरितवरध्यानाम्बुपानाज्जयेत् ॥९०॥

उदवसित—गृहम् । स्नानाद्यपासी—अभिषेकावगाहपरिषेकशिरोलेपाद्युपचारपरिहारी । यथा
१८ लब्धाशी—यथाप्राप्ताशनव्रत. । क्षपण—उपवास । अध्वा—म.र्गचलनम् । पित्तकृदवष्वापा —पित्त-कराहार कट्वम्ललवणादि । उष्ण —ग्रीष्म । आदिशब्दात् मरुदेशादि । निष्कुषिताम्बरीषदहनां—निर्जितभ्राष्टाग्निम् । उद्घकरीर.—माघमासिकाभिनवघट ॥९०॥

अब पहले विशेषणको स्पष्ट करनेकी भावनासे क्षुधापरीपहको जीतनेका कथन करते है—

छह आवश्यक कियाओमे परस आदर भाव रखनेवाले और अनशन आदि तपोंको करनेसे कृशताको प्राप्त मुनिको वहुत काल तक भी भोजनके न मिलनेसे भूखकी ज्वाला यदि प्राणोको जलाने लगे तो भिक्षुको वारम्वार इस प्रकारके विचारोसे अपने उत्साहको बढाना चाहिए कि मैने मनुष्य पर्यायमे जेलखानेमे, पक्षीपर्यायमे पींजरेमें और नारक पर्यायमें पराधीन होकर जो तीव्र भूखकी वेदना सही है आज स्वाधीन अवस्थामे उसके सामने यह भूखकी वेदना कुछ भी नहीं है ॥८९॥

प्यासकी परीपहका तिरस्कार करते है—

पक्षीके समान साधुजनोंका न कोई नियत स्थान है न निवास है, स्नान आदि भी वे नहीं करते । श्रावकोसे जैसा भोजन प्राप्त है खा लेते है । उन्हें उपवाससे, मार्गमे चलनेसे, कडुआ, खट्टा, नमकीन आदि पित्तवर्धक आहारसे, ज्वरसे या गर्मी आदिसे उत्पन्न हुई, भाडकी आगको भी जीतनेवाली और शरीर तथा इन्द्रियोको मथनेवाली प्यास सतावे तो सन्तोपरूपी माघ मासके नये घटमे भरे हुए उत्कृष्ट ध्यानरूपी जलके पानसे जीतना चाहिए ॥९०॥

अथ शीतपरीषहनिग्रहोपायमाह—

विष्वक्चारिमरुच्चतुष्पथमितो धृत्येकवासाः पत-
त्यन्वङ्गं निशि काष्ठदाहिनि हिमे भावास्तदुच्छेदिन. । ३
अध्यायन्नधियन्नधोगतिहिमान्यर्तीर्दुरन्तास्तपो-
वह्निस्तप्तनिजात्मगर्भगृहसंचारी मुनिर्मोदते ॥९१॥

अन्वङ्ग—अङ्गमङ्ग प्रति । तदुच्छेदिन:—पूर्वानुभूतान् शीतापनोदिनो गर्भगृहदीप्ताङ्गार-गन्ध-तैल-कुङ्कुमादीन् । अधोगतिहिमान्यर्ती —नरकमहाशीतदु.खानि । दुरन्ता:—चिरकालभावित्वात् । वह्नि —अग्नि ॥९१॥ ६

अथोष्णपरीषहपरिसहनमाह— ९

अनियतविहृतिर्वनं तदात्वज्वलदनलान्तमितः प्रवृद्धशोष· ।
तपतपनकरालिताध्वखिन्नः स्मृतनरकोष्णमहार्तिरुष्णसाट् स्यात् ॥९२॥

तदात्वज्वलदनलान्तं—प्रवेशक्षण एव दीप्यमानोऽग्नि·पर्यन्तेषु यस्य । शोषै —सौम्यधातुक्षयो मुखशोषश्च । तपतपन —ग्रीष्मादित्य । स्मृतेत्यादि—नरकेष्वत्युष्णशीते यथा— १२

'षष्ठसप्तमयो. शीत शीतोष्ण पञ्चमे स्मृतम् ।
चतुर्ष्वत्युष्णमाद्येषु नरकेष्विति भूगुणा ॥' [वरागच ५।२०] १५

इति चतसृषु भूषु पञ्चम्याश्च त्रिषु चतुर्भागेषूष्णनरकाणि ८२२५००० । शीतनरकाणि शेषाणि १७५००० । उष्णसाट्—उष्णं सहते· विच् क्विपि प्राग्दीर्घ स्यात् ॥९२॥

अथ दशमशकसहनमाह— १८

दंशादिदंशककृतां बाधामघजिघांसया ।
नि.क्षोभं सहतो दंशमशकोर्मीक्षमा मुनेः ॥९३॥

दशादि—आदिशब्दान्मशक-मक्षिका-पिशुक-पुत्तिका-मत्कुण-कीट-पिपीलिका वृश्चिकादयो ग्राह्या । 'काकेभ्यो रक्ष्यता सर्पि ' इत्यादिवत् । दशकप्राण्युपलक्षणार्थत्वात् दशमशकोभयग्रहणस्य ॥९३॥ २१

आगे शीतपरीषहको जीतनेका उपाय कहते हैं—

जहाँ चारों ओरसे हवा बहती है ऐसे चौराहेपर मुनि स्थित है, केवल सन्तोषरूपी वस्त्र धारण किये हुए है, रातका समय है, काष्ठको भी जला डालनेवाला हिम अंग-अंगपर गिर रहा है। फिर भी शीतको दूर करनेवाले पूर्वानुभूत अग्नि, गर्म वस्त्र आदिका स्मरण भी नहीं करते। चिरकाल तक नरकमें भोगी हुई शीतकी वेदनाका स्मरण करते है और तपरूपी अग्निसे तप्त अपने आत्मारूपी गृहमे निवास करते हुए आनन्दका अनुभव करते है ॥९१॥

उष्णपरीषहके सहनका कथन करते हैं—

अनियतविहारी और ग्रीष्मकालके सूर्यसे तपते हुए मार्गमे चलनेसे खिन्न साधु जैसे ही वनमे प्रवेश करते है वैसे ही वनमे आग लग जाती है, मुख सूख गया है। ऐसे साधु नरकोंमे उष्णताकी महावेदनाका स्मरण करते हुए उष्णपरीषहको सहते है ॥९२॥

दंशमशकपरीषहके सहनका कथन करते है—

डाँस, मच्छर, मक्खी, पिस्सू, खटमल, चींटी, बिच्छू आदि जितने डँसनेवाले क्षुद्र जन्तु है उनके काटनेकी पीडाको अशुभ कर्मके उदयको नष्ट करनेकी इच्छासे निश्चल चित्त होकर सहनेवाले मुनिके दंशमशकपरीषह सहन होता है ॥९३॥

अथ निर्जितनाग्न्यपरीषहमृषिं लक्षयति—

निर्ग्रन्थनिर्भूषणविश्वपूज्यनाग्न्यव्रतो दोषयितुं प्रवृत्ते ।
चित्तं निमित्ते प्रबलेऽपि यो न स्पृश्येत् दोषैर्जितनाग्न्यरुक् स. ॥९४॥

३

निर्ग्रन्थेत्यादि । उक्तं च—

'वत्थाजिणवक्केण य अहवा पत्ताइणा असंवरणे ।
णिब्भूसण णिग्गथं अच्चेलक्क जगदि पुज्ज ॥' [मूलाचार गा. ३०]

६

दोषयितु—विकृतिं नेतुम् । निमित्ते—वामदृष्टिशापाकर्णनकामिन्यालोकनादौ ॥९४॥

अथारतिपरीषहजयोपायमाह—

९

लोकापवादभयसद्व्रतरक्षणाक्ष-
रोधक्षुदादिभिरसह्यमुदीर्यमाणाम् ।
स्वात्मोन्मुखो धृतिविशेषहृतेन्द्रियार्थ-
तृष्ण श्रृणात्वरतिमाश्रितसंयमश्रीः ॥९५॥

१२

लोकेत्यादि । यद्बाह्या अप्याहु —

'सन्त सच्चरितोदयव्यसनिन. प्रादुर्भवद्यन्त्रणा.
सर्वत्रैव जनापवादचकिता जीवन्ति दुःखं सदा ।
अव्युतपन्नमतिः कृतेन न सता नैवासनाप्याकुलो
युक्तायुक्तविवेकशून्यहृदयो धन्यो जन प्राकृत. ॥' [ ]

१५

१८ अपि च—

'विपद्युच्चैः स्थेय पदमनुविधेयं च महतां,
प्रिया न्याय्या वृत्तिर्मलिनमसुभङ्गेऽप्यसुकरम् ।
असन्तो नाभ्यर्थ्या सुहृदपि न याच्यस्तनुधन[1],
सता केनोद्दिष्टं विषममसिधाराव्रतमिदम् ॥' [ ]

२१

श्रृणातु—हिनस्तु ॥९५॥

नाग्न्यपरीषहको सहनेवाले साधुका स्वरूप कहते हैं—

वस्त्रादिसे रहित, भूषण आदिसे रहित तथा विश्वपूज्य नाग्न्य व्रतको स्वीकार करनेवाला जो साधु चित्तको दूषित करनेके लिए प्रबल निमित्त कामिनी आदिका अवलोकन आदि उपस्थित होनेपर भी दोषोंसे लिप्त नहीं होता वह नाग्न्यपरीषहको जीतनेवाला है ॥९४॥

अरतिपरीषहजयको कहते हैं—

संयमरूपी सम्पदाको स्वीकार करनेवाले और विशिष्ट सन्तोषके द्वारा विषयोंकी अभिलाषाको दूर करनेवाले तथा आत्मस्वरूपकी ओर अभिमुख साधु लोकापवादका भय, सद्व्रतकी रक्षा, इन्द्रियोंका जय तथा भूख आदिकी वेदनासे उत्पन्न हुई दुःसह अरतिको दूर करे ॥९५॥

विशेषार्थ—संयम एक कठोर साधना है, उसमे पद-पदपर लोकापवादका भय रहता है, व्रतोंकी रक्षाका महान् उत्तरदायित्व तो रहता ही है सबसे कठिन है इन्द्रियोंको जीतना ।

---

१ दयादन्यो भ कु च ।

अथ स्त्रीपरीषहसहनमुपदिशति—

रागाद्युपप्लुतमतिं युवतीं विचित्रां-
श्चित्तं विकर्तुमनुकूलविकूलभावान् ।
संतन्वती रहसि कूर्मवदिन्द्रियाणि
संवृत्य लघ्वपवदेत गुरुक्तियुक्त्या ॥९६॥

३

रागाद्युपप्लुतमतिः—रागद्वेषयौवनदर्परूपमदविभ्रमोन्मादमद्यपानावेशाद्युपहतबुद्धिः । विकर्तुं— दूषयितुम् । अनुकूला.—लिङ्गहर्षणालिङ्गनजघनप्रकाशनभ्रूविभ्रमादय । विकूलाः—लिङ्गकदर्थनापहसनताड-नावघट्टनादय' । संतन्वन्ती—सातत्येन कुर्वन्ती । सवृत्य—अन्त प्रविश्य । अपवदेत्—निराकुर्यात् । गुरूक्तियुक्त्या—गुरुवचनप्रणिधानेन ॥९६॥

६

९

अथ चर्यापरीषहसहनमन्वाचष्टे—

बिभ्यद्भवाच्चिरमुपास्य गुरून्निरूढ-
ब्रह्मव्रतश्रुतशमस्तदनुज्ञयैक' ।
क्षोणीमटन् गुणरसादपि कण्टकादि-
कष्टे सहत्यनधियन् शिविकादि चर्याम् ॥९७॥

१२

निरूढाः—प्रकर्षं प्राप्ता. । एकः—असहाय' । अटन्—ग्रामे एकरात्र नगरे पञ्चरात्र प्रकर्षेणावस्था-तव्यमित्यास्थाय विहरन् । गुणरसान्—सवेगसयमादिगुणान् । रागान् (?) । कण्टकादि—आदिशब्देन परुपशर्करा-मृत्कण्टकादिपरिग्रहः । शिविकादि—पूर्वानुभूतयानवाहनादिगमनम् ॥९७॥

१५

ऊपरसे भूख-प्यासकी वेदना आदिसे साधुको संयमसे विराग पैदा होता है। किन्तु धीर-वीर संयमी साधु उसे रोकता है।

यहाँ कहा जा सकता है कि इस परीषहको अलगसे क्यों गिनाया, क्योंकि भूख-प्यास आदि सभी परीषह अरतिकी कारण है। इसका समाधान यह है कि कभी-कभी भूख-प्यासका कष्ट न होनेपर भी अशुभ कर्मके उदयसे संयमसे अरति होती है उसीको रोकनेके लिए इसका पृथक् कथन किया है ॥९५॥

आगे स्त्रीपरीषह सहनेका उपदेश देते हैं—

राग-द्वेष, यौवनका मद, रूपका घमण्ड, विलास, उन्माद या मद्यपानके प्रभावसे जिसकी बुद्धि नष्ट हो गयी है, ऐसी युवती स्त्री यदि एकान्तमे साधुके चित्तको विकारयुक्त करनेके लिए नाना प्रकारके अनुकूल और प्रतिकूल भावोको बराबर करती रहे अर्थात् कभी आलिंगन करे, अपने अंगोंका प्रदर्शन करे, हँसे, साधुके शरीरको पीडा दे, तो साधुको कछुएकी तरह अपनी इन्द्रियोंको संकुचित करके गुरुके द्वारा बतलायी गयी युक्तिसे शीघ्र ही उसका निराकरण करना चाहिए ॥९६॥

अब चर्या परीषहको सहनेका कथन करते है—

संसारसे भयभीत साधु चिरकाल तक गुरुओकी उपासना करके ब्रह्मचर्य व्रत, शास्त्र-ज्ञान और समताभावमें दृढ होकर दर्शन विशुद्धि आदि गुणोके अनुरागसे, गुरुकी आज्ञासे, पृथ्वीपर विहार करता है और पैरमे काँटा चुभने आदिका कष्ट होनेपर भी गृहस्थाश्रममें अनुभूत सवारी आदिका स्मरण भी नहीं करते हुए चर्यापरीषहको सहता है ॥९७॥

१. रसाद् भ कु. च ।

अथ निषद्यापरीषहं लक्षयति—

भीष्मश्मशानादिशिलातलादौ
विद्यादिनाऽजय्यगदाद्युदीर्णम् ।
शक्तोऽपि भङ्क्तुं स्थिरमङ्गिपीडां
त्यक्तुं निषद्यासहनः समास्ते ॥९८॥

३

६ श्मशानादि—प्रेतवनारण्य-शून्यायतन-गिरिगह्वरादि । विद्यादिना—विद्यामन्त्रौषधादिना । अजय्यं—उपसर्गं । समास्ते—समाधिना तिष्ठति न चलति ॥९८॥

अथ शय्यापरीषहक्षमामुपदिशति—

९ शय्यापरीषहसहोऽस्मृतहंसतूल-
प्रायोऽविषादमचलन्नियमान्मुहूर्तम् ।
आवश्यकादिविधिखेदनुदे गुहादौ
त्र्यस्त्रोपलादिशबले शववच्छयीत ॥९९॥

१२

हंसतूलप्राय—प्रायशब्देन दुकूलास्तरणादि । अविषाद—व्याघ्रादिसंकुलोऽयं प्रदेशोऽचिरादतो निर्गमनं श्रेय, कदा तु रात्रिर्विरमतीति विषादाभावेन । नियमात्—एकपार्श्वदण्डायतादिशयनप्रतिज्ञातो ।
१५ त्र्यस्त्रोपलादिशबले—त्रिकोणपाषाणशर्कराकर्परा‌द्याकीर्णे । शववत्—परिवर्तनरहितत्वात् मृतकेन तुल्यम् ॥९९॥

अथाक्रोशपरीषहजिष्णुं व्याचष्टे—

निषद्यापरीषहका स्वरूप कहते हैं—

भयंकर श्मशान, वन, शून्यघर और पहाड़की गुफा आदिमें पत्थरकी शिला आदिपर बैठकर ध्यान करते समय उत्पन्न हुई व्याधि या उपसर्ग आदिको विद्या मन्त्र आदिके द्वारा दूर करनेकी शक्ति होते हुए भी प्राणियोंको पीड़ासे बचानेके लिए स्थिर ही बैठा रहता है, उस मुनिको निषद्यापरीषहका सहन करनेवाला जानना ॥९८॥

शय्यापरीषहको सहन करनेका उपदेश देते हैं—

शय्यापरीषहको सहन करनेवाले साधुको छह आवश्यक कर्म और स्वाध्याय आदिके करनेसे उत्पन्न हुए थकानको दूर करनेके लिए, तिकोने पाषाण, कंकर-पत्थरसे व्याप्त गुफा वगैरहमें बिना किसी प्रकारके विषादके एक मुहूर्त तक मुरदेकी तरह सोना चाहिए। तथा एक करवटसे दण्डकी तरह सीधे सोने आदिके नियमोंसे विचलित नहीं होना चाहिए। और गृहस्थ अवस्थामें उपयुक्त कोमल रुईके गद्दे आदिका स्मरण नहीं करना चाहिए ॥९९॥

विशेषार्थ—साधुको रात्रिमें दिन-भर संयमकी आराधनासे हुई थकान दूर करनेके लिए भूमिपर एक करवटसे या सीधे पैर फैलाकर एक मुहूर्त तक निद्रा लेनेका विधान है। न तो वह करवट ले सकता है और न घुटने पेटमें देकर सुकड़कर सो सकता है। सोते हुए न तो वह गृहस्थावस्थामें उपयुक्त कोमल शय्या आदिका स्मरण करता है और न यही सोचता है कि यह रात कब बीतेगी, कैसे यहाँसे छुटकारा होगा आदि। इस प्रकार शास्त्रविहित शयनके कष्टको सहन करना शय्यापरीषहजय है ॥९९॥

आक्रोशपरीषहको जीतनेवालेका स्वरूप कहते हैं—

मिथ्यादृशश्चण्डदुरुक्तिकाण्डै प्रविध्यतोऽरूंषि मृधं निरोद्धुम् ।
क्षमोऽपि यः क्षाम्यति पापपाकं ध्यायन् स्वमाक्रोशसहिष्णुरेषः ॥१००॥

अरूंषि—मर्माणि । मृधं—शीघ्रम् ॥१००॥ ३

अथ वधक्षमणमाह—

नृशंसेऽरं क्वचित्स्वैरं कुतश्चिन्मारयत्यपि ।
शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिवित्त स्याद्वधमर्षणः ॥१०१॥ ६

नृशंसे—क्रूरकर्मकारिणि । अरं—शीघ्रम् । स्वैरं—स्वच्छन्दम् । द्रव्यं—अविनाशिरूपम् । वित्तः—प्रतीत । वित्त वा धनम् ॥१०१॥

अथ याचनापरीषहसहनाय साधुमुत्साहयति— ९

भृशं कृशः क्षुन्मुखसन्नवीर्य
शम्पेव दातॄन् प्रति भासितात्मा ।
ग्रास पुटीकृत्य करावयाञ्चा १२
व्रतोऽपि गृह्णन् सह याचनार्तिम् ॥१०२॥

क्षुन्मुखसन्नवीर्य.—क्षुदध्वपरिश्रमतपोरोगादिग्लपितनैसर्गिकशक्ति । शम्पेव—दुरुपलक्ष्यमूर्तित्वात् । भासितात्मा—दर्शितस्वरूप । सकृन्मूर्तिसन्दर्शनव्रतकाल इत्यर्थ । अयाञ्चाव्रत —प्राणात्ययेऽप्याहारवसति- १५ भैषजाना दीनाभिधानमुखवैवर्ण्यांगसज्ञादिभिरयाचनात् । सह—क्षमस्व त्वम् ॥१०२॥

अत्यन्त अनिष्ट दुर्वचनरूपी वाणोंके द्वारा मर्मको छेदनेवाले विरोधी मिथ्यादृष्टियोंको शीघ्र रोकनेमे समर्थ होते हुए भी जो अपने पापकर्मके उदयको विचारकर उन्हें क्षमा कर देता है वह मुनि आक्रोशपरीषहको सहनेवाला है ॥१००॥

आगे वधपरीषह सहनको कहते है—

किसी कारणसे कोई क्रूर कर्म करनेवाला चोर आदि स्वच्छन्दतापूर्वक शीघ्र मारता भी हो तो शुद्ध आत्मद्रव्यके परिज्ञानरूपी धनसे सम्पन्न साधुके वधपरीषह सहन है अर्थात् उस समय वह यह विचार करता है कि यह मारनेवाला मेरे इस दुःखदायी विनाशी शरीरका ही घात करता है मेरे ज्ञानादिक गुणोका तो घात नहीं करता। यह विचार करते हुए वह वधको सहता है ॥१०१॥

आगे साधुको याचनापरीषह सहनेके लिए उत्साहित करते हैं—

'प्राण जानेपर भी मैं आहार, वसति, औषध आदि दीन वचनोंके द्वारा या मुखकी म्लानताके द्वारा या किसी प्रकारके संकेत द्वारा नहीं मॉगूंगा' इस प्रकारके अयाचनाव्रती हे साधु! शरीरसे अत्यन्त कृश और भूख-प्यास, मार्गकी थकान, तप आदिके द्वारा शक्तिहीन हो जानेपर भी आहारके समय विजलीकी चमककी तरह दाताओको केवल अपना रूप दिखाकर गृहस्थके द्वारा दिये गये ग्रासको दोनों हाथोको पुटाकार करके ग्रहण करते हुए याचनापरीषहको सहन कर ॥१०२॥

विशेषार्थ—भूख-प्यास और तपसे शरीरके सूख जानेपर प्राण भले ही चले जाये किन्तु दीन वचनोसे, मुखकी म्लानतासे या हाथ आदिके सकेतसे आहार, औषधि आदि जो नहीं मॉगता और भिक्षाके समय भी बिजलीकी चमककी तरह गृहस्थोके घरके सामनेसे निकल जाता है वह साधु याचनापरीषहका जीतनेवाला कहा जाता है। किन्तु श्वेताम्बर

अथालाभपरीषहं दर्शयति—

निसङ्गो बहुदेशचार्यनिलवन्मौनो विकायप्रती-
३ कारोऽद्येदमिदं श्व इत्यविमृशन् ग्रामेऽस्तभिक्षः परे ।
बह्वोकः स्वपि बह्वहं मम परं लाभादलाभस्तपः
स्यादित्यात्तधृतिः पुरो. स्मरयति स्मार्तानलाभं सहन् ॥१०३॥

६ अविमृशन्—असकल्पयन् । परे—तद्दिनभिक्षाविषयीकृतादन्यत्र । बह्वोकस्सु—बहुषु गृहेषु । बह्वह—बहून्यपि दिनानि । पुरो.—आदिनाथस्य कर्मण्यत्र षष्ठी । स्मार्तान्—स्मृति. परमागमार्थोद्धारशास्त्रम्, ता विदन्ति अधीयते वा ये तान् ॥१०३॥

९ अथ रोगसहनमाह—

तपोमहिम्ना सहसा चिकित्सितुं
शक्तोऽपि रोगानतिदुस्सहानपि ।
१२ दुरन्तपापान्तविधित्सया सुधीः
स्वस्थोऽधिकुर्वीत सनत्कुमारवत् ॥१०४॥

तपोमहिम्ना—जल्लौषधिप्राप्त्याद्यनेकतपोविशेषर्द्धिलब्ध्या । अधिकुर्वीत—प्रसहेत् ॥१०४॥

परम्परामे याचनाका अर्थ है माँगना । क्योंकि साधुको वस्त्र, पात्र, अन्न और आश्रय, सब दूसरोसे ही प्राप्त करना होता है अतः साधुको अवश्य ही याचना करनी चाहिए । यही याचनापरीषहजय है अर्थात् माँगनेकी परीषहको सहना । और माँगनेपर भी न मिले तो असन्तुष्ट नही होना अलाभपरीषहजय है । (तत्त्वार्थ टी. सिद्ध ९-९) ॥१०२॥

अलाभपरीषहको बतलाते है—

वायुकी तरह निःसग और मौनपूर्वक बहुत-से देशोमें विचरण करनेवाला साधु अपने शरीरकी परवाह नहीं करता, 'इस घर आज भिक्षा लूँगा और इस घर कल प्रात. भिक्षा लूँगा' ऐसा संकल्प नहीं करता। एक ग्राममे भिक्षा न मिलनेपर दूसरे ग्राम जानेके लिए उत्सुक नहीं होता। 'बहुत दिनो तक बहुतसे घरोमे आहार मिलनेकी अपेक्षा न मिलना मेरे लिए उत्कृष्ट तप है' ऐसा विचारकर सन्तोष धारण करता है। अलाभपरीषहको सहन करनेवाला वह साधु परमागमसे उद्धृत शास्त्रोको पढनेवालोको भगवान् आदिनाथका स्मरण कराता है अर्थात् जैसे भगवान् आदिनाथने छह मास तक अलाभपरीषहको सहन किया था उसी तरह उक्त साधु भी सहन करता है ॥१०३॥

रोगपरीषहको कहते है—

शरीर और आत्माको भिन्न माननेवाला साधु एक साथ हुए अत्यन्त दुःसह रोगोका तपकी महिमासे प्राप्त ऋद्धियोके द्वारा तत्काल इलाज करनेमे समर्थ होनेपर भी सनत्कुमार चक्रवर्तीकी तरह निराकुल होकर दुःखदायी पापकर्मोंका विनाश करनेकी इच्छासे सहता है ॥१०४॥

विशेषार्थ—सनत्कुमार चक्रवर्ती कामदेव थे। उन्हें अपने रूपका बड़ा मद था। दो देवताओके द्वारा प्रबुद्ध होनेपर उन्होने जिनदीक्षा ले ली। किन्तु उनके शरीरमे कुष्ठ रोग हो गया। देवताओने पुनः परीक्षा लेनेके लिए वैद्यका रूप धारण किया। किन्तु सनत्कुमार मुनिराजने उनकी उपेक्षा की और कुष्टरोगको धीरतापूर्वक सहा। यही रोगपरीषह सहन है ॥१०४॥

अथ तृणस्पर्शसहनमाह—

तृणादिषु स्पर्शखरेषु शय्यां भजन्निषद्यामथ खेदशान्त्यै ।
संक्लिश्यते यो न तदर्तिजातखर्जुस्तृणस्पर्शतितिक्षुरेषः ॥१०५॥ ३

तृणादिषु—शुष्कतृणपत्रभूमिकटफलकशिलातलादिषु । खेदशान्त्यै—व्याधि-मार्गगमन-शीतोष्ण-जनितश्रमापनोदार्थम् । संक्लिश्यते—दुःख चिन्तयन्ति(-ति) ॥१०५॥

अथ मलपरीषहसहनमाह— ६

रोमास्पदस्वेदमलोत्थसिध्मप्रायार्त्यवज्ञातवपु कृपावान् ।
केशापनेतान्यमलाग्रहीता नैर्मल्यकामः क्षमते मलोर्मिम् ॥१०६॥

सिध्मप्राया—दुर्भित्तक-कच्छु-दद्रु-प्रमुखा । कृपावान्—बादरनिगोदप्रतिष्ठितजीवदयार्थमुद्वर्तन ९ जलजन्त्वादिरक्षार्थं च स्नानं त्यजन्निति भाव । केशापनेता—एतेन केशलुञ्चनेन तत्संस्काराकरणे च महाखेद सजायते इति तत्सहनमपि मलधारणेऽन्तर्भवतीत्युक्त स्यात् । अन्यमलाग्रहीता—परमलोपचयत्यागीत्यर्थ । नैर्मल्यकाम —कर्ममलपङ्कापनोदार्थी ॥१०६॥ १२

अथ सत्कारपुरस्कारपरीषहजयमाह—

तुष्येन्न यः स्वस्य परैः प्रशंसया श्रेष्ठेषु चाग्रे करणेन कर्मसु ।
आमन्त्रणेनाथ विमानितो न वा रुष्येत्स सत्कारपुरस्क्रियोर्मिजित् ॥१०७॥ १५

परै—उत्कृष्टपुरुषै । श्रेष्ठेषु—नन्दीश्वरादिपर्वयात्राद्यात्मकक्रियादिषु ॥१०७॥

तृणस्पर्शपरीषहके सहनको कहते हैं—

सूखे तृण, पत्ते, भूमि, चटाई, लकडीका तख्ता, पत्थरकी शिला आदि ऐसे स्थानोंपर जिनका स्पर्श कठोर या तीक्ष्ण हो, रोग या मार्गमें चलने आदिसे उत्पन्न हुई थकानको दूर करनेके लिए सोनेवाला या बैठनेवाला जो साधु शुष्क तृण आदिसे होनेवाली पीडाके कारण खाज उत्पन्न होनेपर भी दुःख नहीं मानता, वह साधु तृणस्पर्शपरीषहको सहनेवाला है ॥१०५॥

मलपरीषह सहनको कहते हैं—

रोमोंसे निकलनेवाले पसीनेके मैलसे उत्पन्न हुए दाद-खाज आदिकी पीडा होनेपर जो शरीरकी परवाह नहीं करता, जिसने बादर निगोद प्रतिष्ठित जीवोंपर दया करनेके भावसे उद्वर्तनका और जलकायिक जीवोंकी रक्षाके लिए स्नानका त्याग किया है, केशोंका लोंच करता है, अन्य मलको ग्रहण नहीं करता, किन्तु कर्मरूपी मलको ही दूर करना चाहता है वह साधु मलपरीषहको सहता है ॥१०६॥

विशेषार्थ—केशोंका लोंच करनेमें और उनका संस्कार न करनेपर महान् खेद होता है अत उसका सहना भी मलपरीषहमें आता है ॥१०६॥

सत्कार-पुरस्कारपरीषहजयको कहते हैं—

जो बड़े पुरुषोंके द्वारा अपनी प्रशंसा किये जानेसे और उत्तम कार्योंमें आगे किये जानेसे अथवा आमन्त्रणसे प्रसन्न नहीं होता और अवज्ञा करनेसे रुष्ट नहीं होता वह सत्कार पुरस्कार परीषहका जीतनेवाला होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ—चिरकालसे ब्रह्मचर्यका पालन करनेवाला, महातपस्वी, स्वसमय और परसमयका ज्ञाता, हितोपदेश और कथावार्तामें कुशल तथा अनेक बार अन्य वादियोंको जीतनेवाला भी जो साधु अपने मनमें ऐसा नहीं विचारता कि मुझे कोई प्रणाम नहीं करता, कोई

अथ प्रज्ञापरीषहमाह—

विद्याः समस्ता यदुपज्ञमस्ता. प्रवादिनो भूपसभेषु येन ।
३ प्रज्ञोर्मिजित् सोऽस्तु मदेन विप्रो गरुत्मता यद्वदखाद्यमानः ॥१०८॥

यदुपज्ञ—यस्य उपज्ञा प्रथमोपदेश । भूपसभेपु—बह्वपु राजसभासु । विप्र इत्यादि—गरुडेन स्वमातृ-वाक्यान्निपादखादनावसरे तत्सवलितो मुखान्तर्गतो ब्राह्मणो यथा । तथा च माघकाव्यम्—

६ 'सार्धं कथंचिदचिते पिचुमन्दपत्रैरास्यान्तरालगतमाम्रदल मदीय ।
दासेरक सपदि सवलित निपादैर्विप्र पुरा पतगराडिव निर्जगाम ॥' ॥१०८॥

अथाज्ञानपरीपहजयमाह—

९ पूर्वेऽसिधन् येन किलाशु तन्मे चिरं तपोऽभ्यस्तवतोऽपि बोधः ।
नाद्यापि बोभोत्यपि तूच्यकेऽहं गौरित्यतोऽज्ञानरुजोऽपसर्पेत् ॥१०९॥

असिधन्—सिद्धा । बोभोति—भृश भवति । उच्यके—कुत्सितमुच्ये कुत्स्ये (?) अह । गौ. बलीवर्दो
१२ लोकैरिति शेप ॥१०९॥

मेरी भक्ति नहीं करता, कोई मुझे आदरपूर्वक आसन नहीं देता, इससे तो विधर्मी ही उत्तम है जो अपने मूर्ख भी साधर्मीको सर्वज्ञके समान मानकर अपने धर्मकी प्रभावना करते हैं। प्राचीन कालमे व्यन्तर आदि देवता कठोर तप करनेवालोंकी सर्वप्रथम पूजा किया करते थे, यदि यह श्रुति मिथ्या नहीं है तो हमारे जैसे तपस्वियोंका भी ये साधर्मी क्यों अनादर करते हैं। जिनका चित्त इस प्रकारके विचारसे रहित होता है तथा जो मान और अपमानमे समभाव रखते है वे साधु सत्कार-पुरस्कारपरीपहके जेता होते है ॥१०७॥

आगे प्रज्ञापरीपहको कहते हैं—

जो अंग, पूर्व और प्रकीर्णकरूप समस्त विद्याओंका प्रथम उपदेष्टा है और जिसने अनेक राजसभाओंमे प्रवादियोको पराजित किया है फिर भी जो गरुड़के द्वारा न खाये जाने-वाले ब्राह्मणकी तरह मदसे लिप्त नहीं होता वह साधु प्रज्ञापरीपहको जीतनेवाला है ॥१०८॥

विशेपार्थ—हिन्दू पुराणोंमें कथा है कि गरुडने अपनी माताके कहनेसे निषादोको खाना शुरु किया तो साथमे कोई ब्राह्मण भी मुखमे चला गया, किन्तु गरुड़ने उसे नहीं खाया। इसी तरह मद सबको होता है किन्तु प्रज्ञापरीपहके जेता साधुको अपने ज्ञानका मद नहीं होता ॥१०८॥

अज्ञानपरीपहके जयको कहते हैं—

जिस तपके प्रभावसे पूर्वकालमे अनेक तपस्वी शीघ्र ही सिद्धिको प्राप्त हुए सुने जाते हैं उसी तपका चिरकालसे अभ्यास करते हुए भी मुझे आज तक भी ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ। उल्टे मुझे लोग 'बैल' कहते हैं। इस प्रकारके अज्ञानपरीपहसे साधुको दूर रहना चाहिए ॥१०९॥

विशेपार्थ—सारांश यह है कि जो साधु 'यह मूर्ख है, पशुके समान कुछ भी नहीं जानता' इत्यादि तिरस्कारपूर्ण वचनोको सहता है फिर भी निरन्तर अध्ययनमे लीन रहता है, मन, वचन, कायसे अशुभ चेष्टाएँ नहीं करता, महोपावास आदि करनेपर भी मेरे ज्ञानमे कोई अतिशय उत्पन्न नहीं हुआ, ऐसा मनमे नहीं विचारता। उस मुनिके अज्ञानपरीषहजय होता है ॥१०९॥

अदर्शनसहनमाह—

महोपवासादिजुषां मृषोद्याः, प्राक् प्रातिहार्यातिशया न हीक्षे।
किंचित्तथाचार्यपि तद्वृथैषा, निष्ठेत्यसन् सद्दृगदर्शनासट् ॥११०॥

३

मृषोद्याः—मिथ्या कथ्यते। प्राक्—पूर्वस्मिन् काले। ईक्षे—पश्याम्यहम्। असन्—अभवन्। सद्दृक्—दर्शनविशुद्धियुक्त। अदर्शनासट्—अदर्शनपरीषहस्य सहिता स्यादित्यर्थ ॥११०॥

अदर्शनपरीषहके सहनको कहते हैं—

पूर्वकालमे पक्ष-मास आदिका उपवास करनेवालोंको प्रातिहार्य आदि अतिशय होते थे यह कथन मिथ्या है, क्योंकि महोपवास आदि करनेपर भी मुझे तो कुछ होता नहीं दिखाई देता। अतः यह तपस्या आदि करना व्यर्थ है। इस प्रकारकी भावना जिसे नहीं होती वह सम्यग्दृष्टि अदर्शनपरीषहका सहन करनेवाला है ॥११०॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि जो साधु ऐसा विचार नहीं करता कि मैं दुष्कर तप करता हूँ, वैराग्य भावनामे तत्पर रहता हूँ, सकल तत्त्वोंको जानता हूँ, चिरकालसे व्रती हूँ फिर भी मुझे आज तक किसी ज्ञानातिशयकी प्राप्ति नही हुई। महोपवास आदि करनेवालोंके प्रातिहार्य विशेष प्रकट हुए ऐसा कहना कोरी बकवाद है। यह दीक्षा व्यर्थ है, व्रतोंका पालन निष्फल है, उस साधुके सम्यग्दर्शन विशुद्धिके होनेसे अदर्शनपरीषहका सहन होता है।

यहाँ परीषहोंके सम्बन्धमे विशेष प्रकाश डाला जाता है—ये सभी परीषह कर्मके उदयमे होती हैं। प्रज्ञा और अज्ञान परीषह ज्ञानावरणके उदयमें होती हैं। अदर्शन परीषह दर्शन मोहके उदयमे और अलाभ परीषह लाभान्तरायके उदयमे होती है। मान कषायके उदयमें नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह होती हैं। अरति मोहनीयके उदयमें अरतिपरीषह और वेद मोहनीयके उदयमें स्त्री परीषह होती है। वेदनीयके उदयमे क्षुधा, प्यास, शीत, उष्ण, दंशमशक, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श और मल परीषह होती हैं। एक जीवके एक समयमे एकसे लेकर उन्नीस परीषह तक होती है क्योंकि शीत और उष्णमें-से एक समयमे एक ही परीषह होती है तथा शय्या, चर्या और निषद्यामे-से एक ही परीषह होती है। प्रज्ञा और अज्ञान परीषह एक साथ हो सकती हैं क्योंकि श्रुतज्ञानकी अपेक्षा प्रज्ञाका प्रकर्ष होनेपर अवधिज्ञान आदिका अभाव होनेसे अज्ञान परीषह हो सकती है। अतः इन दोनोंके एक साथ होनेमे विरोध नहीं है।

मिथ्यादृष्टि, सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत सम्यग्दृष्टि, संयतासयत, प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत इन सात गुणस्थानोंमें सब परीषह होती हैं। अपूर्वकरणमें अदर्शन परीषहके विना इक्कीस परीषह होती हैं। अनिवृत्तिकरण गुणस्थानके सवेद भागमें अरति परीषहके विना वीस परीषह होती हैं। और अनिवृत्तिकरणके अवेद भागमें स्त्री परीषह न होनेसे उन्नीस होती हैं। उसी गुणस्थानमें मानकषायके उदयका क्षय होनेपर नाग्न्य, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार पुरस्कार परीषह नही होतीं। उनके न होनेसे अनिवृत्तिकरण, सूक्ष्म साम्पराय, उपशान्त कषाय और क्षीण कषाय इन चार गुणस्थानोंमें चौदह परीषह होती हैं। क्षीण कषायमे प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ परीषह नष्ट हो जाती हैं। सयोगकेवलीके घातिकर्म नष्ट हो जानेसे अनन्त चतुष्टय प्रकट हो जाते हैं अत अन्तराय कर्मका अभाव होनेसे निरन्तर शुभ पुद्गलोंका संचय होता रहता है। इसलिए वेदनीयकर्म विद्यमान होते हुए भी घातिकर्मोंकी सहायताका वल नष्ट हो जानेसे अपना कार्य करनेमे

अथैव द्वाविंशतिक्षुदादिपरीषहजय प्रकाश्य तदनुषङ्गप्राप्तमुपसर्गसहनमुदाहरणपुरस्सरं व्याहरन्नाह—

स्वध्यानाच्छिवपाण्डुपुत्रसुकुमालस्वामिविद्युच्चर-
३ प्रष्ठाः सोढविचिन्नृतिर्यगमरोत्थानोपसर्गाः क्रमात् ।
संसारं पुरुषोत्तमाः समहरंस्तत्तत्पदं प्रेप्सवो
लीनाः स्वात्मनि येन तेन जनितं धुन्वन्त्वजय्यं बुधाः ॥ ११॥

६ शिव'—शिवभूतिर्नाम मुनि' । पृष्ठा. । पृष्ठग्रहणात् चेतनकृतोपसर्गा एणिकापुत्रादय , मनुष्यकृतोपसर्गा गुरुदत्तगजकुमारादय., तिर्यक्कृतोपसर्गा सिद्धार्थसुकौशलादय. । देवकृतोपसर्गा श्रीदत्तसुवर्णभद्रादयो यथागममधिगन्तव्या । उत्थान—कारणम् । समहरन्—संहरन्ति स्म ॥१११॥

असमर्थ होता है। जैसे मन्त्र या औषधिके बलसे जिस विषकी मारण शक्ति नष्ट हो जाती है उसे खानेपर भी मरण नहीं होता। अथवा जैसे जिस वृक्षकी जड काट दी जाती है वह फूलता-फलता नहीं है। या जैसे, अनिवृत्तिकरण और सूक्ष्म साम्परायमें मैथुन और परिग्रह संज्ञा कार्यकारी नहीं है या जैसे केवलीमे एकाग्रचिन्तानिरोधके अभावमे भी कर्मोंकी निर्जरा होनेसे उपचारसे ध्यान माना जाता है, वैसे ही भूख, रोग, वध आदि वेदनाका सद्भावरूप परीषहके अभावमे वेदनीयकर्मके उदयमें आगत द्रव्यको सहनेरूप परीषहका सद्भाव होनेसे जिनभगवान्में ग्यारह परीषह उपचारसे मानी गयी है। किन्तु घाति कर्मोंके बलकी सहायतासे रहित वेदनीय कर्म फलदाता नहीं होता। इसलिए जिनभगवान्मे ग्यारह परीषह नहीं है। ऐसा होनेसे किसी अपेक्षा केवलीके परीषह होती हैं और किसी अपेक्षा नहीं होती इस तरह स्याद्वाद घटित होता है। शतकके प्रदेशबन्धमे वेदनीयके भागविशेषके कारणका कथन है[1]। अतः वेदनीय घातिकर्मोंके उदयके विना फलदायक नही होता, यह सिद्ध हुआ। मार्गणाओमे नरकगति और तिर्यंचगतिमे सब परीषह होती है। मनुष्यगतिमे गुणस्थानोकी तरह जानना। देवगतिमे घातिकर्मोंके उदयसे होनेवाली परीषहोके साथ वेदनीयसे उत्पन्न क्षुधा, प्यास और वध परीषहके साथ चौदह परीषह होती है। इन्द्रियमार्गणा और कायमार्गणामें सब परीषह होती है। योगमार्गणामे वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्रमें देवगतिके समान जानना। तिर्यंच और मनुष्योंकी अपेक्षा बाईस तथा शेष योगों और वेदादि मार्गणाओमे अपने-अपने गुणस्थानोके अनुसार जानना ॥११०॥

इस प्रकार बाईस परीषहोको जीतनेका कथन करके उनके सम्बन्धसे उदाहरणपूर्वक उपसर्ग सहनेका कथन करते है—

आत्मस्वरूपका ध्यान करनेसे शिवभूति मुनि, पाण्डव, सुकुमाल स्वामी और विद्युच्चर प्रमुख पुरुषश्रेष्ठोंने क्रमशः अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और देवकृत उपसर्गोका सहन करके संसारका नाश किया। इसलिए उस पदको प्राप्त करनेके इच्छुक विद्वान् स्वात्मामे लीन होकर अचेतन आदिमें-से किसीके भी द्वारा होनेवाले उपसर्गको सहन करें ॥१११॥

विशेषार्थ—किसी भी बाह्य निमित्तसे अचानक आ जानेवाली विपत्तिको उपसर्ग कहते है। वह चार प्रकारका होता है—अचेतनकृत, मनुष्यकृत, तिर्यंचकृत और देवकृत। इन उपसर्गोंको सहन करनेवालोंमें प्रमुख हुए है शिवभूति आदि। शिवभूति मुनिध्यानमे

---

१ 'जम्हा वेदणीयस्स सुखदुखोदय सणाणावरणादि उदयादि उपकारकारण तम्हा वेदणीय सेव पागडो सुहदुक्खोदय दिस्सदे।' इति

अथ प्रकृतमुपसंहरन् बाह्याभ्यन्तरतपश्चरणाय शिवपुरपान्थमुद्यमयितुमाह—

इति भवपथोन्माथस्थामप्रथिम्नि पृथूद्यमः,
शिवपुरपथे पौरस्त्यानुप्रयाणचणश्चरन् । ३
मुनिरनशनाद्यस्त्रैरुग्रैः क्षितेन्द्रियतस्कर-
प्रसृतिरमृतं विन्दत्वन्तस्तप.शिबिकां श्रितः ॥११२॥

भवेत्यादि—मिथ्यात्वादित्रयोच्छेदार्थशक्तिविस्तारे। पौरस्त्यानुप्रयाणचणः—पूर्वाचार्यानुगमनप्रतीत.। ६
अमृत.—मोक्षममृतपानसाहचर्यात् स्वर्गं वा । इति भद्रम् ।

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसञ्ज्ञाया
षष्ठोऽध्याय । ९

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाण सप्तत्यधिकानि चत्वारि शतानि । अङ्कत ४७० ॥

मग्न थे। बड़े जोरकी आँधी आयी। उससे पासमे लगा तृणपूलोंका बडा भारी ढेर मुनिपर आ पडा। 'शिवभूति आत्मध्यानसे च्युत नहीं हुए और मुक्त हुए। पाण्डव जब ध्यानमे मग्न थे तो उनके वैरी कौरवपक्षके मनुष्योंने लोहेकी साँकले तपाकर आभूषणोंकी तरह पहना दीं। पाण्डव भी मुक्त हुए। सुकुमाल स्वामीको गीदड़ोंने कई दिनों तक खाया किन्तु वे ध्यानसे विचलित नहीं हुए। विद्युच्चर चोर था। जम्बूस्वामीके त्यागसे प्रभावित होकर अपने पाँच सौ साथियोंके साथ मुनि हो गया था। जब वे सब मथुराके बाहर एक उद्यानमे ध्यान-मग्न थे तो देवोंने महान् उपसर्ग किया। सबका प्राणान्त हो गया किन्तु कोई ध्यानसे विचलित नहीं हुआ। इसी प्रकारके उपसर्गसहिष्णु अन्य भी हुए हैं। जैसे अचेतनकृत उपसर्ग सहनेवाले एणिका पुत्र वगैरह, मनुष्यकृत उपसर्ग सहनेवाले गुरुदत्त, गजकुमार वगैरह, तिर्यंचकृत उपसर्ग सहनेवाले सिद्धार्थ, सुकोशल वगैरह, और देवकृत उपसर्ग सहनेवाले श्रीदत्त, सुवर्णभद्र वगैरह। इनकी कथाएँ आगमसे जाननी चाहिए ॥१११॥

परीषह और उपसर्गसहनका उपसंहार करते हुए मुमुक्षुको बाह्य और आभ्यन्तर तपको पालनेके लिए उत्साहित करते हैं—

इस प्रकार मोक्षनगरके मार्गमे विहार करते हुए पूर्व आचार्योंका अनुगमन करनेसे अनुभवी और संसारके मार्ग मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्रको नष्ट करनेके लिए शक्तिके विस्तारमे महान् उत्साही मुनि, अनशन अवमौदर्य आदि तीक्ष्ण शस्त्रोंके द्वारा इन्द्रियरूपी चोरोंके प्रसारको रोककर और अभ्यन्तर तपरूपी पालकीपर चढकर अमृतको—मोक्ष या स्वर्गको प्राप्त करे ॥११२॥

इस प्रकार प आशाधर विरचित अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका तथा
ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुसारिणी भाषा टीकामें मार्गमहोद्योग वर्णन
नामक षष्ट अध्याय समाप्त हुआ।

सप्तम अध्याय

अथात सम्यक् तप आराधनामुपदेष्टुकामो मुक्तिप्रधानसाधनवैतृष्ण्यसिद्ध्यर्थं नित्यं तपोऽर्जयेदिति शिक्षयन्नाह—

३ ज्ञाततत्त्वोऽपि वैतृष्ण्यादृते नाप्नोति तत्पदम् ।
ततस्तत्सिद्धये धीरस्तपः तप्येत नित्यशः ॥१॥

वैतृष्ण्यात् ॥१॥

६ अथ तपसो निर्वचनमुखेन लक्षणमाह—

तपो मनोऽक्षकायाणां तपनात् सन्निरोधनात् ।
निरुच्यते दृगाद्याविर्भावायेच्छानिरोधनम् ॥२॥

९ निरुच्यते—निर्वचनगोचरीक्रियते ॥२॥

पुनर्भङ्ग्यन्तरेण तल्लक्षणमाह—

यद्वा मार्गाविरोधेन कर्मोच्छेदाय तप्यते ।
१२ अर्जयत्यक्षमनसोस्तत्तपो नियमक्रिया ॥३॥

यहाँसे ग्रन्थकार सम्यक् तप आराधनाका उपदेश करनेकी इच्छासे सर्वप्रथम यह शिक्षा देते हैं कि मुक्तिका प्रधान साधन वैतृष्ण्य है। अतः उसकी सिद्धिके लिए सदा तप करना चाहिए—

यत. हेय उपादेयरूप वस्तुस्वरूपको जानकर भी वैतृष्ण्यके बिना अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-के स्थानको प्राप्त नहीं होता। इसलिए उस वैतृष्ण्यकी सिद्धिके लिए परीषह उपसर्ग आदिसे न घबरानेवाले धीर पुरुपको नित्य तप करना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—जिसने हेय-उपादेयरूपसे वस्तुस्वरूपका निर्णय कर लिया है वह भी वैतृष्ण्यके बिना मुक्तिस्थानको प्राप्त नहीं कर सकता, फिर जिन्होंने तत्त्वको जाना ही नहीं है उनकी तो बात ही क्या है। जिसकी तृष्णा—चाह चली गयी है उसे वितृष्ण कहते हैं। अर्थात वीतराग, वीतद्वेष और क्षायिक यथाख्यात चारित्रसे सम्पन्न मुनि वितृष्ण होता है। वितृष्णके भावको अर्थात् वीतरागताको वैतृष्ण्य कहते हैं ॥१॥

व्युत्पत्तिपूर्वक तपका लक्षण कहते हैं—

मन, इन्द्रियाँ और शरीरके तपनेसे अर्थात् इनका सम्यक् रूपसे निवारण करनेसे सम्यग्दर्शन आदिको प्रकट करनेके लिए इच्छाके निरोधको तप कहते हैं ॥२॥

विशेपार्थ—तप शब्दकी निरुक्ति है मन, इन्द्रिय और कपायोंका तपना अर्थात् इनकी प्रवृत्तियोंको अच्छी तरहसे रोकना। इसीके लिए तप किया जाता है। और तपका लक्षण है इच्छाको रोकना और उस रोकनेका उद्देश्य है रत्नत्रयकी प्राप्ति ॥२॥

प्रकारान्तरसे तपका लक्षण कहते हैं—

अथवा रत्नत्रयरूप मार्गमें किसी प्रकारकी हानि न पहुँचाते हुए ज्ञानावरण आदिका या शुभ-अशुभ कर्मोंका निर्मूल विनाश करनेके लिए जो तपा जाता है अर्थात् इन्द्रिय और

नियमक्रिया—विहिताचरणनिषिद्धपरिवर्जनविधानम् ॥३॥

पुनरपि शास्त्रान्तरप्रसिद्ध तपोलक्षणमन्वाख्याय तद्भेदप्रभेदसूचनपुरस्सर तदनुष्ठानमुपदिशति—

संसारायतनान्निवृत्तिरमृतोपाये प्रवृत्तिश्च या ३
तद्वृत्तं मतमौपचारिकमिहोद्योगोपयोगौ पुनः।
निर्मायं चरतस्तपस्तदुभयं बाह्यं तथाभ्यन्तरं
षोढाऽत्राऽनशनादि बाह्यमितरत् षोढैव चेतुं चरेत् ॥४॥ ६

ससारायतनानुवन्धात् तत्कारणाच्च मिथ्यादर्शनादित्रयात्। उक्त च—

'स्युर्मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि समासत.।
वन्धस्य हेतवोऽन्यस्तु त्रयाणामेव विस्तर.॥' [तत्वानु., ८ श्लो] ९
'वन्धस्य कार्यं ससार. सर्वदु खप्रदोऽङ्गिनाम्।
द्रव्यक्षेत्रादिभेदेन स चानेकविध. स्मृत ॥' [तत्वानु , ७ श्लो.]

मनके नियमोंका अनुष्ठान है—करने योग्य आचरणको करनेका और न करने योग्य आचरणको न करनेका जो विधान है इसीका नाम तप है ॥३॥

विशेषार्थ—पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थसिद्धि टीकामें तपका अर्थ यही किया है कि जो कर्मोंके क्षयके लिए तपा जाये वह तप है। धूप आदिमें खड़े होकर तपस्या करनेका भी उद्देश्य कर्मोंकी निर्जरा ही है किन्तु उसके साथमे इन्द्रिय और मनका निरोध आवश्यक है। उसके विना वाह्य तप व्यर्थ है ॥३॥

फिर भी अन्य शास्त्रोंमें प्रसिद्ध तपका लक्षण कहकर उसके भेद-प्रभेदोकी सूचनाके साथ उसको पालनेका उपदेश देते हैं—

संसारके कारणसे निवृत्ति और मोक्षके उपायमे जो प्रवृत्ति है वह औपचारिक अर्थात् व्यावहारिक चारित्र है। तथा मायाचारको छोड़कर साधु इस औपचारिक चारित्रमे जो उद्योग करता है और उसमे अपना उपयोग लगाता है वह भगवती आराधना शास्त्रके उपदेशानुसार तप है। उस तपके दो भेद हैं—वाह्य और आभ्यन्तर। अनशन आदि छह वाह्य तप हैं और छह ही अभ्यन्तर तप है। अभ्यन्तर तपको वढानेके लिए ही वाह्य-तप करना चाहिए ॥४॥

विशेपार्थ—द्रव्यपरिवर्तन, क्षेत्रपरिवर्तन, कालपरिवर्तन, भवपरिवर्तन और भावपरिवर्तन रूप संसारका कारण वन्ध है। यहाँ वन्धसे मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र लेना चाहिए, क्योंकि ये ही वन्धके कारण है अतः कारणमे कार्यका उपचार करके वन्धके कारणोंको वन्ध कहा है। कहा है—'वन्धका कार्य ससार है, वह प्राणियोको सव दु'ख देता है। तथा वह द्रव्य क्षेत्र आदिके भेदसे अनेक प्रकारका है।'

संक्षेपमे वन्धके कारण मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र है। अन्य सव इन्हींका विस्तार है। भगवती आराधनामे तपका स्वरूप इस प्रकार कहा है— यह कर्तव्य है और

---

१ 'कायव्वमिणमकायव्व इदि णादूण होदि परिहारो।
त चेव हवदि णाण त चेव य होदि सम्मत्त ॥
चरणम्मि तम्मि जो उज्जमो य आउज्जणा य जा होदि।
सो चेव जिणेहि तओ भणिओ असढ चरतस्स' ॥—गा ९-१०।

अमृतोपाये—रत्नत्रये । औपचारिकं—व्यावहारिकम् । बाह्य—बाह्यजनप्रकटत्वात् । अभ्यन्तरं—अभ्यन्तरजनप्रधानत्वात् । अनशनादि—अनशनावमौदर्य-वृत्तिपरिसख्यान—रसपरित्याग-विविक्तशय्या-
३ सन-कायक्लेशलक्षणम् । इतरत्—प्रायश्चित्त-विनय-वैयावृत्य-स्वाध्याय-व्युत्सर्ग-ध्यानलक्षणम् । चेतुं—वर्धयितुम् ॥४॥

अथानशनादेस्तपस्तेपु[1] युक्तिमाह—

६ **देहाक्षतपनात्कर्मदहनादान्तरस्य च ।**
तपसो वृद्धिहेतुत्वात् स्यात्तपोऽनशनादिकम् ॥५॥

स्पष्टम् ॥५॥

९ अथानशनादितपसो बाह्यत्वे युक्तिमाह—

बाह्यं वल्भाद्यपेक्षत्वात्परप्रत्यक्षभावतः ।
परदर्शनिपाषण्डिगेहिकार्यत्वतश्च तत् ॥६॥

१२ बाह्य बाह्यद्रव्यापेक्षत्वात् बाह्याना प्रत्यक्षत्वात् बाह्यै. क्रियमाणत्वाच्च । एतदेव 'वल्भादि' इत्यादिना स्पष्टीकरोति स्म ॥६॥

यह अकर्तव्य है ऐसा जानकर अकर्तव्यका त्याग करना चारित्र है। वही ज्ञान है और वही सम्यग्दर्शन है। उस चारित्रमें जो उद्योग और उपयोग होता है, उसीको जिन भगवान्ने तप कहा है। अर्थात् चारित्रमें उद्योग करना और उसमे उपयोग लगाना ही तप है।'

इस तपके दो भेद है—बाह्य और अभ्यन्तर। बाह्य तपके छह भेद है—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यात, रसपरित्याग, विविक्त शय्यासन, कायक्लेश। तथा अभ्यन्तर तपके भी छह भेद हैं—प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। बाह्य तप अभ्यन्तर तपको बढानेके लिए ही किया जाता है।

कहा है—'हे भगवन्, आपने आध्यात्मिक तपको बढानेके लिए अत्यन्त कठोर बाह्य तप किया।'[2]

आगे अनशन आदि क्यों तप है इसमे युक्ति देते हैं—

अनशन आदि करनेसे शरीर और इन्द्रियोंका दमन होता है, अशुभ कर्म भस्म होते है और अन्तरंग तपमे वृद्धि होती है इसलिए अनशन आदि तप है ॥५॥

अनशन आदि बाह्य तप क्यों हैं इसमें युक्ति देते है—

अनशन आदि तपोंको तीन कारणोंसे बाह्य कहा जाता है—प्रथम, इनके करनेमे बाह्य द्रव्य भोजनादिकी अपेक्षा रहती है। जैसे भोजनको त्यागनेसे अनशन होता है, अल्प भोजन लेनेसे अवमौदर्य होता है। दूसरे, अपने पक्ष और परपक्षके लोग भी इन्हें देख सकते है कि अमुक साधुने भोजन नहीं किया या अल्पभोजन किया। और तीसरे, ये तप ऐसे हैं जिन्हें अन्य दार्शनिक, बौद्धादि तथा कापालिक आदि साधु और गृहस्थ भी करते हैं। इसलिए इन्हें बाह्य तप कहा है ॥६॥

---

१ पस्त्वे यु—भ. कु. च ।
२ 'बाह्य तप परमदुश्चरमाचरस्त्वमाध्यात्मिकस्य तपस. परिबृंहणार्थम् ।'—स्वयंभूस्तो. १७।३।

अथ बाह्यतपस फलमाह—

कर्माङ्गतेजोरागाशाहानिध्यानादिसंयमाः ।
दुःखक्षमासुखासङ्गब्रह्मोद्योताश्च तत्फलम् ॥७॥

कर्माङ्गतेजोहानि—कर्मणा ज्ञानावरणादीनामङ्गतेजसश्च देहदीप्तेर्हानिरपकर्षः । अथवा कर्माङ्गाणा हिंसादीना तेजसश्च शुक्रस्य हानिरिति ग्राह्यम् । ध्यानादि—आदिशब्दात् स्वाध्यायारोग्य-मार्गप्रभावना-कपाय-मदमथन-परप्रत्ययकरण-दयाद्युपकारतीर्थायतनस्थापनादयो ग्राह्या.। उक्तं च—

'विदितार्थशक्तिचरित कायेन्द्रियपापशोषकं परमम् ।
जातिजरामरणहर सुनाकमोक्षाश्र[1] (-यं सुतपः) ॥' [ ] ॥७॥

बाह्यैस्तपोभिः कायस्य कर्शनादक्षमर्दने ।
छिन्नबाहो भट इव विक्रामति कियन्मनः ॥८॥

(तपस्यता) भोजनादिक तथा प्रयोक्तव्यं यथा प्रमादो न विजृम्भत इति शिक्षार्थमाह—

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं तदस्य यस्येत् स्थितयेऽशनादिना ।
तथा यथाक्षाणि वशे स्युरुत्पथं न वानुधावन्त्यनुबद्धतृड्वशात् ॥९॥

अनशनादिना—भोजनशयनावस्थादिना । उत्पथ—निषिद्धाचरणम् । अनुबद्धतृड्वशात्—अनादि-सम्बद्धतृष्णापारतन्त्र्यात् । उक्त च—

'वशे यथा स्युरक्षाणि नोतधावन्त्यनूत्पथम् ।
तथा प्रयतितव्य स्याद्वृत्तिमाश्रित्य मध्यमाम् ॥' [ ] ॥९॥

बाह्य तपका फल कहते हैं—

अनशन आदि करनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंकी, शरीरके तेजकी, रागद्वेषकी और विषयोंकी आशाकी हानि होती है, उसमे कमी आती है, एकाग्रचिन्तानिरोध रूप शुभध्यान आदि और संयम होते हैं, दु खको सहनेकी शक्ति आती है, सुखमे आसक्ति नहीं होती, आगमकी प्रभावना होती है अथवा ब्रह्मचर्यमे निर्मलता आती है। ये सब बाह्य तपके फल हैं ॥७॥

विशेपार्थ—ध्यानादिमे आदि शब्दसे स्वाध्याय, आरोग्य, मार्ग प्रभावना, कपाय, मद आदिका घटना, दया, दूसरोंका विश्वास प्राप्त होना आदि लेना चाहिए। कहा है—'सम्यक् तपका प्रयोजन, शक्ति और आचरण सर्वत्र प्रसिद्ध है। यह तप शरीर इन्द्रिय और पापका परम शोपक है, जन्म, जरा और मरणको हरनेवाला है तथा स्वर्ग और मोक्षका आश्रय है।'

आगे कहते है कि बाह्य तप परम्परासे मनको जीतनेका कारण है—

जैसे घोडेके मर जानेपर शूरवीरका भी शौर्य मन्द पड़ जाता है वैसे ही बाह्य तपोके द्वारा शरीरके कृश होनेसे तथा इन्द्रियोके मानका मर्दन होनेपर मन कहाँ तक पराक्रम कर सकता है क्योकि इन्द्रियाँ मनके घोड़ेके समान हैं ॥८॥

आगे शिक्षा देते है कि तप करते हुए भोजन आदि इस प्रकार करना चाहिए जिससे प्रमाद बढने न पावे—

आगममे कहा है कि शरीर रत्नत्रयरूपी धर्मका मुख्य कारण है। इसलिए भोजन-पान आदिके द्वारा इस शरीरकी स्थितिके लिए इस प्रकारका प्रयत्न करना चाहिए जिससे इन्द्रियाँ वशमे रहें और अनादिकालसे सम्बद्ध तृष्णाके वशीभूत होकर कुमार्गकी ओर न जावे ॥९॥

---

१ अतोऽग्रे लिपिकारेणाष्टमो श्लोको दृष्टिदोषतो विस्मृत इति प्रतिभाति ।

अथेष्टमृष्टाद्याहारोपयोगे दोषमाह—

इष्टमृष्टोत्कटरसैराहारैरुद्भटीकृता. ।
यथेष्टमिन्द्रियभटा भ्रमयन्ति बहिर्मन: ॥१०॥

३

बहि'—वाह्यार्थेषु । उक्त च—

'न केवलमयं काय: कर्शनीयो मुमुक्षुभि ।
नाप्युत्कटरसै. पोष्यो मृष्टैरिष्टैश्च वल्भनै. ॥' [ ] ॥१०॥

६

अथानशन तप सभेद लक्षयति—

चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवासोऽथवाऽऽमृतेः ।
सकृद्भुक्तिश्च मुक्त्यर्थं तपोऽनशनमिष्यते ॥११॥

९

चतुर्थादीत्यादि—अहोरात्रमध्ये किल द्वे भक्तवेले । तत्रैकस्या भोजनमेकस्या च तत्याग । एक-भक्तं—धारणकदिने पारणकदिने चैकभक्तमिति द्वयोर्भक्तवेलयो भोजनत्यागो द्वयोश्चोपवासदिने तत्याग इति चतस्रसु भक्तवेलासु चतुर्विधाहारपरिहारश्चतुर्थ इति रूढ । एकोपवाम इत्यर्थ । एव षट्सु भक्तवेलासु भोजनत्याग षष्ठो वा(द्वौ) उपवासौ । अष्टासु अष्टमस्त्रय उपवासा. । दशसु दशमश्चत्वार उपवामा । द्वादशसु द्वादश पञ्चोपवासा । एव चतुर्थ आदिर्यस्य पष्ठाद्युपवासस्य चतुर्थादि. । अर्धवर्षं पण्मासा' । तद्विपयत्वादुप-वासोऽप्यर्धवर्षमुच्यते । अर्धवर्षं षण्मासोपवासोऽन्त पर्यन्तो यस्य सोऽर्धवर्षान्त । चतुर्थादिश्चासावर्धवर्षान्तश्च चतुर्थाद्यर्धवर्षान्त उपवास क्षपण सकृद्भुक्तिश्चैकभक्तम् । इत्येवमवधृतकालमनशन तप इष्यते । य पुनरामृते-र्मरण यावदुपवासस्तदनवधृतकालम् । इत्यनशन तपो द्विधाऽत्र सूत्रित प्रतिपत्तव्यम् । उक्त च ।

१२

१५

अपनेको रुचिकर स्वादिष्ट आहारके दोष कहते है—

इन इन्द्रियरूपी वीरोंको यदि इष्ट, मिष्ट और अत्यन्त स्वादिष्ट आहारसे अत्यधिक शक्तिशाली बना दिया जाता है तो ये मनको बाह्य पदार्थोंमे अपनी इच्छानुसार भ्रमण कराती हैं ॥१०॥

विशेषार्थ—उक्त समस्त कथनका सारांश यही है कि भोजनका और इन्द्रियोका खास सम्बन्ध है अत. साधुका भोजन इतना सात्त्विक होना चाहिए जिससे शरीररूपी गाडी तो चलती रहे किन्तु इन्द्रियाँ वलवान् न हो सके। अतः कहा है—'मध्यम मार्गको अपनाकर जिससे इन्द्रियाँ वशमे हो और कुमार्गकी ओर न जाये ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।' तथा—'मुमुक्षुओको न तो मात्र इस शरीरको सुखा डालना चाहिए और न मीठे रुचिकर और अति रसीले भोजनोंसे इसे पुष्ट ही करना चाहिए' ॥१०॥

आगे भेदसहित अनशन तपको कहते है—

मुक्ति अर्थात् कर्मक्षयके लिए चतुर्थ उपवाससे लेकर छह मासका उपवास करना, अथवा मरणपर्यन्त उपवास करना तथा एक वार भोजन करना अनशन नामक तप माना गया है ॥११॥

विशेपार्थ—दिन-भरमे भोजनकी दो वेलाएँ होती है। उनमे-से एकमें भोजन करना एक भक्त है। उपवाससे पहले दिनको धारणाका दिन कहते है और उपवास समाप्त होनेसे अगले दिनको पारणाका दिन कहते है। धारणा और पारणाके दिन एक बार भोजन करनेसे दो भोजन वेलाओंमे भोजनका त्याग करनेसे और उपवासके दिन दो वेला भोजनका त्याग करनेसे इस तरह चार भोजन वेलाओमे चार प्रकारके आहारके त्यागको चतुर्थ कहते है। अर्थात् एक उपवास। इसी तरह छह भोजन वेलाओंमे भोजनके त्यागको षष्ठ या दो

'अद्धानशनं सर्वानशन द्विविकल्पमनशनमिहोक्तम् ।
विहृतिभृतोद्धानशन सर्वानशनं तनुत्यागे ॥'
'एकोपवासमूल. षण्मासक्षपणपश्चिम. सर्वं ।
अद्धानशनविभाग स एष वाञ्छानुग चरत ॥' [ ]

चशब्दो मध्यमजघन्योपवाससमुच्चयार्थः । नञो निषेधे ईषदर्थे च विवक्षितत्वात्, तेनानशनस्य भाव ईषदनशन वाऽनशनमिति रूढम् । मुक्त्यर्थमिति कर्मक्षयार्थं इष्टफलमन्त्रसाधनाद्यनुद्दिश्येत्यर्थ । यच्च दण्डकाचारादिशास्त्रेषु संवत्सरातीतमप्यनशन श्रूयते तदप्यर्धं च वर्षं चेत्यर्धवर्षे इत्येकस्य वर्षशब्दस्य लोप कृत्वा व्याख्येयम् ॥११॥

अथोपवासस्य निरुक्तिपूर्वकं लक्षणमाह—

स्वार्थादुपेत्य शुद्धात्मन्यक्षाणां वसनाल्लयात् ।
उपवासोऽशनस्वाद्यखाद्यपेयविवर्जनम् ॥१२॥

स्वार्थात्—निजनिजविषयात् । उक्त च—
'उपेत्याक्षाणि सर्वाणि निवृत्तानि स्वकार्यतः ।
वसन्ति यत्र स प्राज्ञैरुपवासोऽभिधीयते ॥' [अमित श्रा., १२।११९]

उपवास कहते हैं। आठ वेलाओंमे भोजनके त्यागको अष्ट या तीन उपवास कहते है। दस वेलाओंमे भोजनके त्यागको दसम या चार उपवास कहते हैं। बारह वेलाओंमे भोजनके त्यागको द्वादश या पॉच उपवास कहते है। इस प्रकार चतुर्थसे लेकर षट्मासका उपवास अनशन तप है। इसे अवधृतकाल अनशन तप कहते है और मरणपर्यन्त भोजनके त्यागको अनवधृतकाल अनशन तप कहते हैं। इस तरह अनशन तपके दो भेद हैं। कहा है—'यहॉ अनशनके दो भेद कहे हैं—एक अद्धानशन और एक सर्वानशन। विहार करनेवाले साधु अद्धानशन करते हैं और शरीर त्यागनेवाले सर्वानशन करते है। अर्थात् कालकी मर्यादापूर्वक चार प्रकारके आहारका त्याग अद्धानशन है और मरणपर्यन्त त्याग सर्वानशन है। एक उपवास प्रथम अद्धानशन है और छह मासका उपवास अन्तिम अद्धानशन है। एक उपवाससे लेकर छह मासके उपवासपर्यन्त सब अद्धानशनके भेद है। यह इच्छानुसार किया जाता है।' न अशनको अनशन कहते हैं। यहॉ 'न' निषेधके अर्थमे भी है और थोड़ेके अर्थमे भी है। इसलिए अशनके न करनेको या अल्प भोजनको अनशन कहते है। यह अनशन तभी तप है जब कर्मक्षयके लिए किया जाये। मन्त्र साधन आदि लौकिक फलके उद्देशसे किया जानेवाला अनशन तप नहीं है। कुछ शास्त्रोंमें एक वर्षसे अधिकका भी अनशन सुना जाता है अत अर्धवर्षान्तका अर्थ 'अर्ध और वर्ष' ऐसा कर लेना चाहिए।

उपवासका निरुक्ति पूर्वक लक्षण कहते है—

अपने-अपने विषयोंसे हटकर इन्द्रियोंके राग-द्वेषसे रहित आत्मस्वरूपमे वसने अर्थात् लीन होनेसे अशन. स्वाद्य, खाद्य और पेय चारों प्रकारके आहारका विधिपूर्वक त्यागना उपवास है ॥१२॥

विशेषार्थ—उपवास शब्द उप और वास दो शब्दोंके मेलसे बना है। उसका अर्थ है आना अर्थात् इन्द्रियोका अपने-अपने विषयोंसे हटकर आना और वासका अर्थ है वसना,

---

१ 'शब्दादिग्रहण प्रतिनिवृत्तौत्सुक्यानि पञ्चापीन्द्रियाणि उपेत्य तस्मिन् वसन्तीत्युपवास, चतुर्विधाहारपरित्याग —सर्वार्थसि, ७।२१।

परे त्वेवमाहु —

'उपावृत्तस्य दोषेभ्यो यस्तु वासो गुणैः सह ।
३ उपवास स विज्ञेय सर्वभोगविवर्जितः' [ ] ॥१२॥

अथानशनादीना लक्षणमाह—

ओदनाद्यशनं स्वाद्यं ताम्बूलादि-जलादिकम् ।
६ पेयं खाद्यं त्वपूपाद्यं त्याज्यान्येतानि शक्तितः ॥१३॥

उक्तं च—

'मुद्गौदनाद्यमशनं क्षीरजलाद्य मत जिनैः पेयम् ।
९ ताम्बूलदाडिमाद्य स्वाद्यं खाद्यं त्वपूपाद्यम् ॥'

अपि च—

'प्राणानुग्राहि पान स्यादशन दमनं क्षुधः ।
१२ खाद्यते यत्नत खाद्य स्वाद्य स्वादोपलक्षितम् ॥' [ ] ॥१३॥

अथोपवासस्योत्तमादिभेदात् त्रिप्रकारस्यापि प्रचुरदुष्कृताशुनिर्जराङ्गत्वाद्यथाविधि-विधेयत्वमाह—

उपवासो वरो मध्यो जघन्यश्च त्रिधापि सः ।
१५ कार्यो विरक्तैर्विधिवद्बह्वागःक्षिप्रपाचनः ॥१४॥

आग —पापम् ॥१४॥

लीन होना अर्थात् आत्मामे लीन होना। इसीको उपवास कहते है। कहा है—'जिसमे सव इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोसे निवृत्त होकर वसती हैं उसे विद्वान् उपवास कहते हैं।'

उसका अर्थ जो चार प्रकारके आहारका त्याग लिया जाता है, उसका कारण यह है कि आहार न मिलनेसे सब इन्द्रियाँ म्लान हो जाती हैं। वास्तवमे तो इन्द्रियोंका उपवासी होना ही सच्चा उपवास है और इन्द्रियाँ तभी उपवासी कही जायेगी जव वे अपने विषयको ग्रहण न करे उधरसे उदासीन रहें। उसीके लिए चारों प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है।

अन्य धर्मोंमे उपवासकी निरुक्ति इस प्रकार की है—'दोषोंसे हटकर जो गुणोके साथ वसना है उसे उपवास जानना चाहिए। उपवासमे समस्त भोगोंका त्याग होता है' ॥१२॥

अशन आदिका लक्षण कहते है—

भात-दाल आदि अशन है। पान-सुपारी आदि स्वाद्य है। जल, दूध आदि पेय है। पूरी, लड्डू आदि खाद्य है। इनको शक्तिके अनुसार छोड़ना चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—अन्यत्र पान आदिका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'जो प्राणोंपर अनुग्रह करता है, उन्हें जीवन देता है वह पान या पेय है। जो भूखको मिटाता है वह अशन है। जो यत्नपूर्वक खाया जाता है वह खाद्य है और जो स्वादयुक्त होता है वह स्वाद्य है ॥१३॥'

उत्तम आदिके भेदसे तीन प्रकारका भी उपवास प्रचुर पापोकी शीघ्र निर्जरामे कारण है। अत उसको विधिपूर्वक पालनेका उपदेश देते हैं—

उत्तम, मध्यम और जघन्यके भेदसे तीनो भी प्रकारका उपवास प्राणीसंयम और इन्द्रियसयमके पालकोंको शास्त्रोक्त विधानके अनुसार करना चाहिए। क्योंकि वह शीघ्र ही वहुत-से पापोंकी निर्जराका कारण है ॥१४॥

अथोत्तमादिभेदाना लक्षणान्याह—

धारणे पारणे सैकभक्तो वर्यश्चतुर्विधः ।
साम्बुर्मध्योऽनेकभक्तः सोऽधर्मस्त्रिविधावुभौ ॥१५॥ ३

चतुर्विध.—चतुर्विधसञ्ज्ञक उपवास । साम्बुः—सपानीयः, धारणे पारणे सैकभक्त इत्येवम् । अनेकभक्त —धारणे पारणे चैकभक्तरहित साम्बुरित्येवम् । त्रिविधौ—त्रिविधसञ्ज्ञौ । उक्त च—

'चतुर्णा तत्र भुक्तीना त्यागे वर्यश्चतुर्विध. । ६
उपवासः सपानीयस्त्रिविधो मध्यमो मत. ॥'
'भुक्तिद्वयपरित्यागे त्रिविधो गदितोऽधम' ।
उपवासस्त्रिधाऽप्येषः शक्तित्रितयसूचक. ॥' [अमित. श्रा. १२।१२३-१२४] ॥१५॥ ९

अथाशक्तितो भोजनत्यागे दोषमाह—

यदाहारमयो जीवस्तदाहारविराधितः ।
नार्तरौद्रातुरो ज्ञाने रमते न च संयमे ॥१६॥ १२

आहारमयः—आहारेण कवललक्षणेन निर्वृत्त इव । द्रव्यप्राणप्रधानोऽत्र प्राणी । आहारविराधितः—भोजनं हठात्याजित ॥१६॥

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह— १५

उपवासके उत्तम आदि भेदोंका लक्षण कहते हैं—

धारणा और पारणाके दिन एक वार भोजनके साथ जो उपवास किया जाता है वह उत्तम है। उसका नाम चतुर्विध है। धारणा और पारणाके दिन एक वार भोजन करके जिस उपवासमे केवल जल लिया जाता है वह मध्यम है। तथा धारणा और पारणाके दिन दोनों वार भोजन करनेपर भी जिस उपवासमें केवल जल लिया जाता है वह अधम है। इन मध्यम और अधमका नाम त्रिविध है ॥१५॥

विशेपार्थ—भगवती आराधनामे (गा. २०९) अनशनके दो भेद किये हैं—अद्धानशन और सर्वानशन। संन्यास धारण करनेपर जो जीवनपर्यन्तके लिए अशनका त्याग किया जाता है वह सर्वानशन है और कुछ कालके लिए अशनके त्यागको अद्धानशन कहते हैं। आचार्य अमितगतिने इसके उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य भेद कहे हैं। यथा 'चारों प्रकारके आहारका त्याग चतुर्विध नामक उत्तम उपवास है। पानी सहित उपवास त्रिविध नामक मध्यम उपवास है। अर्थात् धारणा और पारणा के दिन एक बार भोजन करे और उपवासके दिन केवल एक बार जल लेवे यह मध्यम त्रिविध नामक उपवास है। तथा धारणा और पारणाके दिन अनेक बार भोजन करके भी उपवास के दिन भी केवल जल ले तो यह अधम त्रिविध उपवास है। यह तीनों ही प्रकारका उपवास उत्तम, मध्यम और अधम शक्तिका सूचक है। शक्तिके अनुसार उपवास करना चाहिए।' श्वेताम्बर परम्परामे भी अनशनके यावज्जीवक तथा चतुर्थ भक्त आदि भेद है ॥१५॥

विना शक्तिके भोजन त्यागनेमे दोप वतलाते है—

यत प्राणी आहारमय है अर्थात् मानो आहारसे ही वह बना है। इसलिए आहार छुडा देनेपर उसे आर्त और रौद्रध्यान सताते है। अत उसका मन न ज्ञानमे लगता है और न संयममे लगता है ॥१६॥

इसी वातको दूसरी तरहसे कहते हैं—

प्रसिद्धमन्नं वै प्राणा नृणां तत्त्याजितो हठात् ।
नरो न रमते ज्ञाने दुर्ध्यानार्तो न संयमे ॥१७॥

३ स्पष्टम् ॥१७॥

अथ दीर्घे सत्यायुषि नित्यनैमित्तिकाश्चोपवासान् यथाशक्ति विधाय तच्छेषमनेनैव नयेदिति शिक्षार्थमाह—

६ **तन्नित्यनैमित्तिकभुक्तिमुक्ति-**
विधीन् यथाशक्ति चरन् विलङ्घ्य ।
दीर्घं सुधीर्जीवितवर्त्म युक्त-
९ **स्तच्छेषमत्ये त्वशनोज्झयैव ॥१८॥**

नित्या—लुञ्चाद्याश्रया । नैमित्तिका—कनकावल्याद्याश्रया । एतेषां लक्षणं टीकाराधनायां बोध्यम् । युक्त —समाहित सन् । अशनोज्झया—अनशनेन भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीप्रायोपगमनमरणानामन्यतमेनेत्यर्थं । १२ ॥१८॥

अथानशनतपसि प्ररोचनामुत्पादयन्नाह—

प्राञ्च. केचिदिहाप्युपोष्य शरदं कैवल्यलक्ष्म्याऽरुचन्
१५ **षण्मासानशनान्तवश्यविधिना तां चक्रुरुत्कां परे ।**
इत्यालम्बितमध्यवृत्त्यनशनं सेव्यं सदार्यैस्तनुं
तप्तां शुद्धयति येन हेम शिखिना मूषामिवात्माऽऽवसन् ॥१९॥

१८ प्राञ्च —पूर्वपुरुषा । केचित्—बाहुबल्यादय । शरद—संवत्सरं यावत् । पुरे—पुरुदेवादय । शुद्धयति—द्रव्यभावकर्मभ्या किट्टकालिकाभ्या च मुच्यत इत्यर्थ ॥१९॥

मनुष्योंका प्राण अन्न ही है यह कहावत प्रसिद्ध है। जबरदस्ती उस अन्नको छुड़ा देनेपर खोटे ध्यानमें आसक्त मनुष्य न ज्ञानमें ही मन लगाता है और न संयममें मन लगाता है ॥१७॥

आगे यह शिक्षा देते हैं कि यदि आयु लम्बी हो तो यथाशक्ति नित्य-नैमित्तिक उपवास करके शेष आयुको उपवासपूर्वक ही बितावे—

यत सिद्धान्तमें अनशन तपके गुण उक्त रूपसे कहे हैं अतः बुद्धिमान् साधुको शक्तिके अनुसार भोजनको त्यागनेके जो नित्य और नैमित्तिक विधियाँ हैं उन्हें पालते हुए लम्बे जीवनके मार्गको बितावे। उसके शेष भागको भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण या प्रायोपगमन-मरणमें-से किसी एक अनशनके द्वारा ही बितावे ॥१८॥

विशेषार्थ—केशलोंच आदिके दिन मुनिको उपवास करनेका जो नियम है वह नित्य-विधि है। तथा कनकावली, सिंहनिष्क्रीडित आदि जो अनेक प्रकारके व्रत कहे हैं वे नैमित्तिक हैं। जिनसेनके हरिवंशपुराणके ३४वें अध्यायमें उनका स्वरूप कहा है ॥१८॥

अनशन तपमें विशिष्ट रुचि उत्पन्न कराते हैं—

इसी भरत क्षेत्रमें बाहुबली आदि कुछ पूर्वपुरुष एक वर्ष तक उपवास करके केवलज्ञान-रूप लक्ष्मीसे सुशोभित हुए। दूसरे भगवान् ऋषभदेव वगैरहने चतुर्थभक्त उपवाससे लेकर छह महीनेके उपवासरूप वशीकरण प्रयोगके द्वारा ही उस केवलज्ञानरूप लक्ष्मीको उत्कण्ठित कर लिया। इसलिए मुमुक्षुओंको सदा मध्यमवृत्तिका आलम्बन लेकर अनशन करना चाहिए

१. मनशनेनैव भ कु च.।

अथ स्वकारणचतुष्टयादुद्भवन्तीमाहारसंज्ञामाहारादिदर्शनादिप्रतिपक्षभावनया निगृह्णीयादित्यनुशास्ति—

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्यां रिक्तकोष्ठतयाऽसतः ।
वेद्यस्योदीरणाच्चान्नसंज्ञामभ्युद्यती जयेत् ॥२०॥ ३

भुक्त्यालोकोपयोगाभ्या—आहारदर्शनेन तदुपयोगेन च । आहारं प्रति मनःप्रणिधानेनेत्यर्थः । असतः—असातसंज्ञस्य ॥२०॥

अथानशनतपोभावनाया नियुङ्क्ते— ६

शुद्धस्वात्मरुचिस्तमीक्षितुमपक्षिप्याक्षवर्गं भजन्
निष्ठासौष्ठवमङ्गनिर्ममतया दुष्कर्मनिर्मूलनम् ।
श्रित्वाऽब्दानशनं श्रुतार्पितमनास्तिष्ठन् धृतिन्यक्कृत- ९
द्वन्द्वः कर्हि लभेय दोर्बलितुलामित्यस्त्वनाश्वांस्तपन् ॥२१॥

अपक्षिप्य—विषयेभ्यो व्यावृत्य । श्रित्वा—प्रतिज्ञाय । तिष्ठन्—ऊर्ध्व सन् । धृतिन्यक्कृतद्वन्द्व — धृति आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसक्तिर्वा । तया न्यक्कृतानि अभिभूतानि द्वन्द्वानि परीषहा येन । १२ कर्हि लभेय—कदा प्राप्नुयामहम् । दोर्बलितुला—बाहुबलिकक्षाम् । तच्चर्या आर्षे यथा—

'गुरोरनुमतोऽधीती दधदेकविहारताम् ।
प्रतिमायोगमावर्षमातस्थे किल संवृत. ॥' १५
'स शंसितव्रतोऽनाश्वान् वनवल्लीततान्तिकः ।
वल्मीकरन्ध्रनिःसर्पत् सर्पैरासीद् भयानकः ॥' [महापु ३६।१०६-१०७]

इत्यादि प्रबन्धेन । अनाश्वान्—अनशनव्रत. ॥२१॥ १८

जिससे तप्त हुए शरीरमे रहनेवाला आत्मा आगसे तपी हुई मूषामे रखे हुए स्वर्णके समान शुद्ध हो जाता है। अर्थात् जैसे स्वर्णकारकी मूषामें रखा हुआ स्वर्ण आगकी गर्मीसे शुद्ध हो जाता है वैसे ही शरीरमे स्थित आत्मा अनशन तपके प्रभावसे शुद्ध हो जाता है ॥१९॥

आगे चार कारणोंसे उत्पन्न होनेवाली आहारसंज्ञाका प्रतिपक्ष भावनासे निग्रह करनेका उपदेश देते है—

भोजनको देखनेसे, भोजनकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीय कर्मकी उदीरणा होनेसे उत्पन्न होनेवाली भोजनकी अभिलाषाको रोकना चाहिए ॥२०॥

विशेषार्थ—आगममें आहारसंज्ञाके ये ही चार कारण[1] कहे हैं—'आहारके देखनेसे, उसकी ओर मन लगानेसे, पेटके खाली होनेसे तथा असातावेदनीयकी उदीरणा होनेसे आहारकी अभिलाषा होती है' ॥२०॥

अनशन तपकी भावनामे साधुओंको नियुक्त करते है—

शुद्ध निज चिद्रूपमे श्रद्धालु होकर, उस शुद्ध निज आत्माका साक्षात्कार करनेके लिए, स्पर्शन आदि इन्द्रियोंको विषयोंसे हटाकर चारित्रका सुचारुतासे पालन करते हुए, शरीरसे ममत्वको त्यागकर, अशुभ कर्मोंकी निर्जरा करनेवाले एक वर्षके उपवासकी प्रतिज्ञा लेकर, श्रुतज्ञानमे मनको लगाकर, खडा होकर, आत्मस्वरूपकी धारणाके द्वारा परीषहोंको निरस्त

---

१. 'आहारदंसणेण य तस्सुवजोगेण ओमकोठाए ।
वेदस्सुदीरणाए आहारे जायदे सण्णा' ।—गो जीव १३५ ।

अथावमौदर्यलक्षण फलं चाह—

ग्रासोऽश्रावि सहस्रतन्दुलमितो द्वात्रिंशदेतेऽशनं
३ पुंसो वैश्रसिकं स्त्रियो विचतुरास्तद्धानिरौचित्यतः।
ग्रासं यावदथैकसिक्थमवमोदर्यं तपस्तच्चरे-
द्धर्मावश्यकयोगधातुसमतानिद्राजयाद्याप्तये ॥२२॥

६ अश्रावि—श्रावित शिष्टैस्तेभ्य श्रुतो वा। वैश्रसिकं—स्वाभाविकम्। विचतुराः—विगताश्चत्वारो येषा ते, अष्टाविंशतिर्ग्रासा इत्यर्थ। औचित्यत.—एकोत्तरश्रेण्या चतुर्थादिभागत्यागाद्वा। उक्त च—

'द्वात्रिंशा. कवला. पुंस आहारस्तृप्तये भवेत्।
९ अष्टाविंशतिरेवेष्टाः कवलाः किल योषित. ॥'
'तस्मादेकोत्तरश्रेण्या यावत्कवलमात्रकम्।
ऊनोदर तपो ह्येतद् भेदोऽपीदमिष्यते ॥' [ ]

१२ अवमौदर्यं—अतृप्तिभोजनम्। तपः—तपोहेतुत्वाद् यूनतापरिहाररूपत्वात्। योग.—आतपनादि' सुध्यानादिश्च। धातुसमता—वाताद्यवैषम्यम्। निद्राजयादि, आदिशब्देन इन्द्रियप्रद्वेषनिवृत्यादि.। उक्तं च—

'धर्मावश्यकयोगेषु ज्ञानादावुपकारकृत्।
१५ दर्पहारीन्द्रियाणा च ज्ञेयमूनोदरं तप ॥' [ ] ॥२२॥

करके मैं बाहुबलीके समान अवस्थाको कब प्राप्त करूँगा, ऐसी भावनावाला अनशन तपका पालक होता है ॥२१॥

विशेषार्थ—स्वामी जिनसेनने बाहुबलीकी चर्याके सम्बन्धमें कहा है—'गुरुकी आज्ञासे एकाकी विहार करते हुए बाहुबली एक वर्ष तक प्रतिमा योग धारण करके स्थिर हो गये। प्रशंसनीय व्रती अनशन तपधारी बाहुबली वनकी लताओंसे आच्छादित हो गये। बाँबीके छिद्रोंसे निकलनेवाले साँपो-से वे बड़े डरावने लगते थे' ॥२१॥

इस प्रकार अनशन तपका विस्तारसे कथन किया।

अब अवमौदर्य तपका लक्षण और फल कहते हैं—

शिष्ट पुरुषोसे सुना है कि एक हजार चावलका एक ग्रास होता है। पुरुषका स्वाभाविक भोजन ऐसे बत्तीस ग्रास है और स्त्रीका स्वाभाविक भोजन उससे चार ग्रास कम अर्थात् अट्ठाईस ग्रास है। उसमें-से यथायोग्य एक-दो-तीन आदि ग्रासोको घटाते हुए एक ग्रास तक अथवा एक चावल तक ग्रहण करना अवमौदर्य तप है। यह तप उत्तम, क्षमा आदि रूप धर्मकी, छह आवश्यकोंकी, आतापन आदि योगकी प्राप्तिके लिए, वायु आदिकी विषमताको दूर करनेके लिए, निद्राको जीतने आदिके लिए किया जाता है ॥२२॥

विशेषार्थ—अवमोदर्य तपका स्वरूप अन्यत्र भी इसी प्रकार कहा है—'बत्तीस ग्रास प्रमाण आहार पुरुषकी तृप्तिके लिए होता है और स्त्रीकी तृप्तिके लिए अट्ठाईस ग्रास प्रमाण आहार होता है। उससे एक-दो-तीन आदिके क्रमसे घटाते हुए एक ग्रास मात्र लेना ऊनोदर तप है। ग्रासके अनुसार उसके भी भेद माने गये है।'

कहीं-कहीं ग्रास का प्रमाण मुर्गी के अण्डेके बराबर भी कहा[1] है। यथा—'मुर्गीके

---

१ कुक्कुटाण्डसमग्रासा द्वात्रिंशद्भोजनं मतम्।
तदेकद्वित्रिभागोनमवमौदर्यमीर्यते ॥

अथ बह्वाशिनो दोषानाह—

बह्वाशी चरति क्षमादिदशकं दुष्यन्न नावश्यका-
न्यक्षूणान्यनुपालयत्यनुषजत्तन्द्रस्तमोऽभिद्रवन् । ३
ध्यानाद्यर्हति नो समानयति नाप्यातापनादीन्वपुः
शर्मासक्तमनास्तदर्थमनिशं तत्स्यान्मिताशी वशी ॥२३॥

तमोऽभिद्रवन्—मोहमभिगच्छन् । समानयति—प्रत्यानयति सम्पूर्णीकरोति वा ॥२३॥ ६

अथ मिताशनादिन्द्रियाणां प्रद्वेषाभावं वशवर्तित्वं च दर्शयति—

नाक्षाणि प्रद्विषन्त्यन्नप्रति क्षयभयान्न च ।
दर्पात् स्वैरं चरन्त्याज्ञामेवानूद्यन्ति भृत्यवत् ॥२४॥ ९

अन्नप्रति—अन्नस्य मात्रया स्तोकाहारेण इत्यर्थः । उपवासादिन्द्रियाणां क्षयभयं स्यात् । 'अन्नप्रति' इत्यत्र 'स्तोके प्रतिना' इत्यनेन अव्ययीभावः । आज्ञामेवानु—आज्ञयैव सह । उद्यन्ति—उत्थानं कुर्वन्ति ॥२४॥ १२

अथ मिताशिनो गुणविशेषमाह—

शमयत्युपवासोत्थवातपित्तप्रकोपजाः ।
रुजो मिताशी रोचिष्णु ब्रह्मवर्चसमश्नुते ॥२५॥ १५

रोचिष्णु—दीपनशीलम् । ब्रह्मवर्चस—परमात्मतेजः श्रुतज्ञानं वा ॥२५॥

अथ वृत्तिपरिसंख्यानतपसो लक्षणं तदाचरणफलं चोपदिशति—

अण्डे प्रमाण बत्तीस ग्रास भोजन माना है। उसमें एक या दो या तीन भाग कम करना अवमौदर्य है।

इसके लाभ बतलाते हुए कहा है—'यह ऊनोदर तप धर्म, आवश्यक, ध्यान और ज्ञानादिकी प्राप्तिमें उपकारी होता है तथा इन्द्रियोंके मदको दूर करता है' ॥२२॥

बहुत भोजन करनेके दोष कहते हैं—

बहुत अधिक भोजन करनेवाला साधु प्रमादी होकर उत्तम, क्षमादि रूप दस धर्मोंको नहीं पालता, न आवश्यकोंको निर्दोष और सम्पूर्ण रूपसे पालता है। उसे सदा तन्द्रा सताती है, इसलिए मोहसे अभिभूत होकर ध्यान, स्वाध्याय वगैरह भी नहीं करता। शारीरिक सुखमें मनके आसक्त होनेसे आतापनयोग, वर्षायोग आदिको भी पूरा नहीं करता। इसलिए धर्मादिकी पूर्तिके लिए मुनिको सदा मितभोजी होना चाहिए ॥२३॥

आगे कहते हैं कि परिमित भोजन करनेसे इन्द्रियाँ अनुकूल और वशमें रहती हैं—

अल्प आहारसे इन्द्रियाँ मानो उपवाससे इन्द्रियोंका क्षय न हो जाये, इस भयसे अनुकूल रहती हैं और मदके आवेशमें स्वच्छन्द नहीं होती है। किन्तु सेवककी तरह आज्ञानुसार ही चलती है ॥२४॥

मित भोजनके विशेष गुण कहते हैं—

उपवासके द्वारा वात-पित्त कुपित हो जानेसे उत्पन्न हुए रोग अल्पाहारसे शान्त हो जाते हैं। तथा परिमितभोजी प्रकाशस्वभाव परमात्म तेजको अथवा श्रुतज्ञानको प्राप्त करता है ॥२५॥

आगे वृत्तिपरिसंख्यान तपका लक्षण और उसका फल कहते हैं—

भिक्षागोचरचित्रदातृचरणामत्रान्नसद्मादिगात्
संकल्पाच्छ्रमणस्य वृत्तिपरिसंख्यान तपोऽङ्गस्थिति. ।
३ नैराश्याय तदाचरेन्निजरसासृग्मांससंशोषण-
द्वारेणेन्द्रियसंयमाय च परं निर्वेदमासेदिवान् ॥२६॥

भिक्षेत्यादि—भिक्षणाश्रितनानाविधदायकादि-विषयमभिसन्धिमाश्रित्य यतेराहारग्रहणं वृत्तिपरिसंख्यान-
६ मित्याख्यायते इत्यर्थ. । उक्त च—

'गोयरपमाणदायकभायणणाणाविहाण जं गहणं ।
तह एसणस्स गहण विविहस्स य वुत्तिपरिसंखा ॥' [मूलाचार, गा ३५५]

भिक्षासे सम्बद्ध दाता, चलना, पात्र, अन्न, गृह आदि विषयक अनेक प्रकारके संकल्पसे श्रमणका शरीरके लिए वृत्ति करना वृत्तिपरिसंख्यान नामक तप है। यह तप आशाकी निवृत्तिके लिए और अपने शरीरके रस, रुधिर और मासको सुखानेके द्वारा इन्द्रिय संयमके लिए संसार, शरीर और भोगोंसे परम वैराग्यको प्राप्त मुमुक्षुको करना चाहिए ॥२६॥

विशेषार्थ—साधु जब भोजनके लिए निकलता है तो भिक्षासे सम्बद्ध दाता आदिके सम्बन्धमें कुछ संकल्प कर लेता है। जैसे—ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि और वह भी वृद्ध या बालक या युवा हुआ, अथवा जूते पहने हो या मार्गमें खडा हो या हाथी पर चढा हो, या अन्य किसी प्रकारका दाता यदि आज मुझे पडगाहेगा तभी मैं ठहरूँगा अन्यथा नहीं। इसी प्रकारका संकल्प स्त्रीके विषयमे भी जानना। इस प्रकार दाताविषयक अनेक संकल्प होते हैं। तथा जिस गलीसे जाऊँगा उसी गलीसे पीछे लौटनेपर यदि भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा अन्यथा नहीं। इसी तरह सीधी गलीसे या गोमूत्रके आकारवाली टेढी-मेढी गलीसे, या चौकोर आकारवाली गलीसे जानेपर भिक्षा मिलेगी तो लूँगा। या अन्दर जानेसे लेकर बाहर निकलने तक यदि पतंगोंके भ्रमणके आकारमे या गोचरीके आकारमे भ्रमण करते हुए भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा। इस प्रकारके मार्ग विषयक अनेक संकल्प है। तथा यदि सुवर्णके या चाँदीके या मिट्टीके पात्रसे भिक्षा देगा तो स्वीकार करूँगा, अन्यथा नहीं। इस प्रकारके पात्रविषयक संकल्प है। तथा यदि पिण्डभूत आहार या बहुत पतला पेय, या जौकी लपसी, या मसूर, चना, जौ आदि धान्य, अथवा शाक, कुल्माप आदिसे मिला हुआ भात या शाकके मध्यमे रखा हुआ भात, या चारों ओर व्यंजनके मध्यमे रखा हुआ अन्न, या व्यंजनके मध्यमे पुष्पावलीके समान रखाहुआ सिक्थक, अथवा शाक आदि व्यंजन मिलेगा तो भिक्षा लूँगा, अन्यथा नहीं। या जिससे हाथ लिप्त हो जाये ऐसा कोई गाढा पेय या जो हाथको न लग सके ऐसा कोई खाद्य पेय, सिक्थक सहित पेय या सिक्थक रहित पेय मिलेगा तो आहार ग्रहण करूँगा, अन्यथा नहीं। ये अन्नविपयक संकल्प हैं। तथा अमुक घरोमे जाऊँगा या इतने घरोंमे जाऊँगा, इससे अधिकमे नहीं। यह घर विषयक संकल्प है। आदि शब्दसे मुहल्ला आदि लिये जाते हैं। यथा इसी मुहल्लेमे प्रवेश करनेपर भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा या एक ही मुहल्लेमे या दो ही मुहल्लेमे जाऊँगा। तथा अमुक घरके परिकर रूपसे लगी हुई भूमिमे जाकर भिक्षा मिली तो स्वीकार करूँगा। इसे कुछ निवसन कहते है। दूसरे कुछ ग्रन्थकार कहते है कि पाटक (मुहल्ला) की भूमिमे ही प्रवेश करूँगा घरोमे नहीं, इस प्रकारके संकल्पको पाटकनिवसन कहते हैं। अतः इन दोनोंको ही ग्रहण कर लेना चाहिए। तथा एक या दो ही भिक्षा ग्रहण करूँगा, यह भिक्षाविपयक संकल्प है। तथा एक दाताके

तद्यथा—ब्राह्मण. क्षत्रियादिर्वा सोऽपि वृद्धो [1]बाल्युवाद्यवस्थो वा [1]सोपानत्को मार्गस्थो हस्त्याद्यारूढोऽन्यथा वा यद्यद्य मा धरेत् तदानी तिष्ठामि, नान्यथा । एव स्त्रियामपि योज्यम् । एवविधो बहुविधो दातृविषय-संकल्प. । तथा यया वीथ्या गच्छामि पूर्वं तयैव प्रत्यागच्छन् यदि भिक्षा लभेय तदा गृह्णीया नान्यथा । एवं प्राञ्जल वीथ्यागच्छन् गोमूत्रिकाकारं वा चतुरस्राकार वा अभ्यन्तरमारम्य बहिर्नि सरणेन वा शलभमाला-भ्रमणाकार वा गोचर्याकारं वा भ्राम्यन् यद्यद्य भिक्षा लभेय तदा गृह्णीयाम्—इत्यादिरनेकविधश्चरणविषय । तथा यदि पिण्डभूतं द्रवबहुलतया पेय वा यवागू वा मसूरचणकयवादिधान्य वा शाककुल्मापादिससृष्ट वा समन्तादवस्थितशाकमध्यावस्थितौदनं वा परित स्थितव्यञ्जनमध्यस्थितान्न वा व्यञ्जनमध्ये पुष्पावलीवदवस्थितसिक्थक वा निष्पावाद्यमिश्रितान्न वा शाकव्यञ्जनादिक वा हस्तलेपकारि [-तदलेपकारि वा] वा निसिक्थ ससिक्थ वा पानक वाद्याभ्यवहरामि नान्यदित्यादिरन्नविषय । तथा एतेष्वेतावत्सु वा गृहेषु प्रविशामि नान्येषु बहुषु इति सद्म-विषय । आदिशब्दात्पाटकादयो गृह्यन्ते । तत्र इममेव पाटकं प्रविश्य लब्धा भिक्षा गृह्णामि नान्याम् । एकमेव पाटक द्वयमेव वेति । तथा अस्य गृहस्य परिकरतयाऽवस्थिता भूमिं प्रविश्य गृह्णामि इत्यभिग्रहो निवसन-मित्युच्यते इति केचिद् वदन्ति । अपरे पाटकस्य भूमिमेव प्रविशामि न पाटकगृहाणीति संकल्प पाटकनिवसन-मित्युच्यते इति कथयन्ति । तदुभयमपि च गृह्यते । तथा एका भिक्षा द्वे एव वा गृह्णामि नाधिकामिति भिक्षा-परिमाणम् । तथा एकेनैवादीयमानं द्वाभ्यामेवेति वा दातृक्रियापरिमाणम् । आनीतायामपि भिक्षायामियत एव ग्रासानियन्त्येव वा वस्तून्येतावन्तमेव कालमेतस्मिन्नेव काले गृह्णामीति वा परिमाण गृह्यत इति । तदुक्तं—

'गत्वा प्रत्यागतमृजुविधिश्च गोमूत्रिका तथा पेटा ।
शम्बूकावर्तविधि. पतङ्गवीथी च गोचर्या ॥
पाटकनिवसन-भिक्षापरिमाण-दातृदेयपरिमाणम् ।
पिण्डाशनपानाशनखिच्चयवागूर्जतपशीत. (-गूर्व्रतयति स) ॥
संसृष्टफलकपरिखा. पुष्पोपहृत च शुद्धकोपहृतम् ।
लेपकमलेपकं पानक च नि सिक्थिकं ससिक्थं च ॥
पात्रस्य दायकादेरवग्रहो बहुविधः स्वसामर्थ्यात् ।
इत्येवमनेकविधा विज्ञेया वृत्तिपरिसख्या ॥' [भ आ., गा २१८-२२१ का रूपान्तर] ॥२६॥

द्वारा या दो दाताओंके द्वारा दिया गया आहार ग्रहण करूँगा। यह दातृक्रियाका परिमाण है। लायी हुई भिक्षामे-से भी इतने ही ग्रास लूँगा या इतनी ही वस्तु लूँगा या इतने काल तक ही लूँगा या अमुक कालमे लूँगा इस प्रकारका भी परिमाण किया जाता है। श्वेताम्बर परम्परामे साधु पात्रमे भिक्षा ग्रहण करते है। अतः वृत्तिपरिसंख्यान तपमे वे नियम करते हैं कि एक बारमें या दो या तीन बारमें जितना देगा उतना ही लूँगा। हाथ से या करछुलसे उठाकर जो दिया जाता है उसे भिक्षा कहते हैं। उसकी भी गिनती गोचरीके लिए जाते हुए कर ली जाती है। इस तरह साधु अभिग्रहको करके भिक्षाके लिए भ्रमण करता है। यह अभिग्रह द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके भेदसे चार प्रकारका होता है। द्रव्यसे जैसे, सत्तू या कुल्मापमिश्रित अन्न या केवल भात या तक्र या आचाम्ल ग्रहण करूँगा। क्षेत्रसे जैसे, देहलीको दोनो जंघाओंके मध्यमें करके भिक्षा लूँगा। कालसे—जब सब भिक्षा लेकर लौट जायेंगे तब भिक्षा लूँगा। भावसे जैसे, यदि दाता हँसते हुए या रोते हुए देगा, या दाता साँकलसे बँधा होगा, तो भिक्षा ग्रहण करूँगा। इस प्रकार कोई एक द्रव्यादिका अभिग्रह करके शेपका त्याग करना वृत्तिपरिसंख्यान तप है। (तत्त्वार्थ टीका—सिद्धसेन गणि ९।१९) ॥२६॥

1 देखो, भग आरा , गा २१८-२२१ की विजयोदया टीका ।

अथ रसपरित्यागलक्षणार्थमाह—

त्यागः क्षीरदधीक्षुतैलहविषां षण्णां रसानां च यः
३ कार्त्स्न्येनावयवेन वा यदशनं सूपस्य शाकस्य च ।
आचाम्लं विकटौदनं यदशनं शुद्धौदनं सिक्थवद्
रूक्षं शीतलमप्यसौ रसपरित्यागस्तपोऽनेकधा ॥२७॥

६ इक्षुः—गुडखण्डमत्स्यण्डिकादि । हविः—घृतम् । अवयवेन—एकद्वित्र्यादिरसत्यागेन । अशनं—वर्जनम् । आचाम्लं—असंस्कृतसौवीरमिश्रम् । विकटौदनं—अतिपक्वमुष्णोदकमिश्रं वा । शुद्धौदनं—केवलभक्तम् । सिक्थवत्—सिक्थाल्पमल्पोदकमित्यर्थः । अपि—श्रेष्ठानामिष्टरूपरसगन्धस्पर्शोपेतानां पक्वान्न-
९ पानफलभक्ष्यौषधादीनां रूपबलवीर्यगृद्धिदर्पवर्धनानां स्वादूनामाहाराणां महारम्भप्रवृत्तिहेतूनामनाहरण-संग्रहणार्थम् ॥२७॥

अथ यः संविग्नः सर्वज्ञाज्ञादृढश्रद्धादरस्तपःसमाधिकामश्च सल्लेखनोपक्रमात् पूर्वमेव नवनीतादिलक्षणा-
१२ श्चतस्रो महाविकृतीर्यावज्जीवं त्यक्तवान् स एव रसपरित्यागं वपुःसल्लेखनाकामो विशेषेणाभ्यसितुमर्हतीत्युप-देशार्थं वृत्तद्वयमाह—

रसपरित्याग तपका लक्षण कहते हैं—

दूध, दही, इक्षु—गुड, खाँड, शर्करा आदि, तेल और घी इन छह रसोंका जो पूर्ण-रूपसे या इनमें-से एक-दो आदिका त्याग है उसे रसपरित्याग कहते हैं। मूँग आदिका और शाकका सर्वथा त्यागना या किसी दाल, शाक आदिके त्यागनेको भी रसपरित्याग कहते हैं। आचाम्लका, अति पके हुए और गरम जल मिले भातका, या केवल भातका, या अल्प जल-वाले भातका, या रूक्ष आहारका, या शीतल आहारका खाना भी रसपरित्याग है। श्लोकके 'अपि' शब्दसे श्रेष्ठ, इष्ट रूप, रस, गन्ध और स्पर्शसे युक्त उत्तम अन्न, पान, फल, औषध आदि तथा रूप, बल, वीर्य, तृष्णा और मदको बढ़ानेवाला तथा महान् आरम्भ और प्रवृत्तिके कारणभूत स्वादिष्ट आहारको ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस तरह रसपरित्याग अनेक प्रकारका होता है ॥२७॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा. २१५-२१७) में रसपरित्यागमें उक्त प्रकारसे त्याग बतलाया है। तत्त्वार्थवार्तिक आदि सभी प्राचीन ग्रन्थोंमें रसपरित्यागमें घी, दूध, दही, गुड-शक्कर और तेलके त्यागका मुख्य रूपसे निर्देश मिलता है क्योंकि इनकी गणना इन्द्रियमदकारक वृष्य पदार्थोंमें है। उमास्वातिके तत्त्वार्थाधिगम भाष्य (९-१९) में रस-परित्यागके अनेक भेद कहे हैं—जैसे मद्य, मांस, मधु और मक्खन इन विकारकारी रसोंका त्याग और विरस रूक्ष आदि आहारका ग्रहण। टीकाकार सिद्धसेन गणिने आदि पदसे दूध, दही, गुड, घी और तेलका ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि दोनों परम्पराओंमें 'रस' से इन पाँचोंका मुख्य रूपसे ग्रहण होता था। क्योंकि ये वृष्य हैं, इन्द्रियोंको उद्दीप्त करते हैं। पं. आशाधरजीने इनके साथ ही खट्टा, मीठा, तीता, कटुक, कसैला और लवण इन छह रसोंमें-से एक, दो या सबके त्यागको भी रसपरित्यागमें स्पष्ट कर दिया है। मिष्टरसके त्यागमें और इक्षुरसके त्यागमें अन्तर है। मिष्टरसका त्यागी मीठे फलोंका सेवन नहीं कर सकता किन्तु इक्षुरसका त्यागी कर सकता है ॥२७॥

जो संसारसे उद्विग्न है, सर्वज्ञके वचनोंमें दृढ़ आस्था रखता है, तप और समाधिका इच्छुक है, सल्लेखना प्रारम्भ करनेसे पहले ही मक्खन आदि चार महाविकृतियोंको जीवन

काङ्क्षाकृन्नवनीतमक्षमदसृण्मांसं प्रसङ्गप्रदं
मद्यं क्षौद्रमसंयमार्थमुदितं यच्चच्च चत्वार्यपि ।
सम्मूर्छालसवर्णजन्तुनिचितान्युच्चैर्मनोविक्रिया-
हेतुत्वादपि यन्महाविकृतयस्त्याज्यान्यतो धार्मिकैः ॥२८॥
इत्याज्ञां दृढमार्हती दधदघाद्भीतोऽत्यजत् तानि य-
श्चत्वार्येव तप.समाधिरसिकः प्रागेव जीवावधि ।
अभ्यस्येत्स विशेषतो रसपरित्यागं वपु. संलिखन्
स्याद्दूषीविषवद्धि तन्वपि विकृत्यङ्गं न शान्त्यै श्रितम् ॥२९॥

काक्षाकृत्—गृद्धिकरम् । अक्षमदसृट्—इन्द्रियदर्पकारि । प्रसङ्गप्रदं—पुन पुनस्तत्र वृत्तिरगम्यागमन वा प्रसङ्गस्त प्रकर्षेण ददाति । असयमार्थं—रसविपयकरागात्मक इन्द्रियासयम , रसजजन्तुपीडालक्षणश्च प्राणासयम । तन्निमित्तम् । समूर्छाला.—सन्मूर्छनप्रभवा' । सवर्णा —स्वस्य योनिद्रव्येण समानवर्णा । उच्चैर्मनोविक्रियाहेतुत्वात्—महाचेतोविकारकारणत्वात् । धार्मिकै'—धर्ममहिंसालक्षण चरद्भि ॥२८॥

दृढं—सर्वज्ञाज्ञालङ्घनादेव दुरन्तससारपातो ममाभूद् भविष्यति च तदेना जातुचिन्न लङ्घयेयमिति निर्वन्ध कृत्वेत्यर्थः । तप समाधिरसिक —तपस्येकाग्रता तप समाधी वा नितान्तमाकाङ्क्षन् । उक्त च—

'चत्तारि महाविगडीओ होंति णवणीदमज्जमसमहू ।
कंखा-पसंग-दप्पासजमकारीओ एदाओ ॥
आणाभिकखिणावज्जभीरुणा तवसमाधिकामेण ।
ताओ जावज्जीवं णिव्वुढाओ पुरा चेव ॥' [मूलाचार, गा. ३५३-३५४]

दूपीविपवत्—मन्दप्रभावविपमिव । उक्त च—

'जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषित वा ।
स्वभावतो वा न गुणैरुपेतं दूषीविषाख्यं विषमभ्युपैति ॥' [ ]

तन्वपि—अल्पमपि ॥२९॥

पर्यन्त छोड़ चुका है, वही शरीरको कृश करनेकी इच्छासे रसपरित्यागका विशेष रूपसे अभ्यास करनेका पात्र है, यह वात दो पद्योंसे कहते हैं—

नवनीत—मक्खन तृष्णाको बढाता है, मांस इन्द्रियोंमे मद पैदा करता है। मद्य जो एक वार पी लेता है वार-वार पीना चाहता है। साथ ही, अभोग्य नारीको भी भोगनेकी प्रेरणा करता है। शहद असंयमका कारण है। असंयम दो प्रकारका होता है—इन्द्रिय असंयम और प्राणी असंयम। रसविपयक अनुरागको इन्द्रिय असंयम कहते है और रसमें रहनेवाले जीवोंको पीड़ा होना प्राणी असंयम है। शहदके सेवनसे दोनों असंयम होते है। दूसरी वात यह है कि इन चारोंमें ही उसी रंगके सम्मूर्च्छन जीव भरे हैं। तीसरी वात यह है कि ये उच्च मनोविकारमे कारण है। इनके सेवनसे मन अत्यधिक विकारयुक्त होता है। इसीलिए इन्हें महाविकृति कहा है। अतः अहिंसा धर्मके पालकोको इन्हें त्यागना चाहिए। जिन भगवान्‌की इस आज्ञाको दृढ रूपसे धारण करता हुआ, पापसे भयभीत और तप तथा समाधिका अनुरागी जो मुमुक्षु पहले ही जीवनपर्यन्तके लिए उन चारोका ही त्याग कर चुका है, वह शरीरको कृश करनेके लिए रसपरित्यागका विशेष रूपसे अभ्यास करे, क्योंकि जिस विपका प्रभाव मन्द हो गया है उस विपकी तरह थोड़ा भी विकारके कारणको अपनानेसे कल्याण नहीं होता ॥२८-२९॥

अथ विविक्तशय्यासनस्य तपसो लक्षणं फलं चोपदिशति—

विजन्तुविहितवलाद्यविषये मनोविक्रिया
निमित्तरहिते रतिं ददति शून्यसद्मादिके ।
स्मृतं शयनमासनाद्यथ विविक्तशय्यासनं
तपोऽर्तिहतिवर्णिताश्रुतसमाधिसंसिद्धये ॥३०॥

विहितं—उद्गमादिदोषरहितम् । ते च पिण्डशुद्धयुक्ता यथास्वमत्र चिन्त्या. । अवलाद्यविषयः—स्त्रीपशु-नपुसक-गृहस्थ-क्षुद्रजीवानामगोचर । मनोविक्रियानिमित्तानि—अशुभसकल्पकरा. शब्दादयो । रतिं—मनसोऽन्यत्र गमनौत्सुक्यनिवृत्तिम् । सद्मादि—गृहगुहा-वृक्षमूलादि । आसनादि—उपवेशनोद्भाव-स्थानादि । अर्तिहति—आवाधात्यय । वर्णिता—ब्रह्मचर्यम् ॥३०॥

अथ विविक्तवसतिमध्युषितस्य साधोरसाधुलोकससर्गादिप्रभवदोषसंक्लेशाभाव भावयति—

असभ्यजनसंवासदर्शनोत्थैर्न मथ्यते ।
मोहानुरागविद्वेषैर्विविक्तवसतिं श्रित· ॥३१॥

विविक्तवसतिम् । तल्लक्षण यथा—

'यत्र न चेतोविकृति शब्दाद्येषु प्रजायतेऽर्थेषु ।
स्वाध्यायध्यानहतिर्न यत्र वसतिर्विविक्ता सा ॥'

अपि च—

"हिंसाकपायशब्दादिवारक ध्यानभावनापथ्यम् ।
निर्वेदहेतुबहुल शयनासनमिष्यते यतिभि. ॥"

तन्निवासगुणश्च—

'कलहो रोल झञ्झा व्यामोह. सकरो ममत्वं च ।
ध्यानाध्ययनविघातो नास्ति विविक्ते मुनेर्वसत ॥' [भ. आ , २३२ का रूपान्तर]

रोलः—शब्दवहुलता । झञ्झा—सक्लेश. । संकरः—असयतै सह मिश्रणम् । ध्यानं—एकस्मिन् प्रमेये निरुद्धा ज्ञानसतति' । अध्ययन—अनेकप्रमेयसचारी स्वाध्याय ॥३१॥

आगे विविक्तशय्यासन नामक तपका लक्षण और फल कहते हैं—

अनेक प्रकारकी वाधाओंको दूर करनेके लिए तथा ब्रह्मचर्य, शास्त्रचिन्ता और समाधिकी सम्यक् सिद्धिके लिए, ऐसे शून्य घर, गुफा आदिमे, जो जन्तुओंसे रहित प्रासुक हो, उद्गम आदि दोषोंसे रहित हो, स्त्री, पशु, नपुंसक, गृहस्थ और क्षुद्र जीवोंका जहाँ प्रवेश न हो, जहाँ मनमे विकार उत्पन्न करनेके निमित्त न हों, तथा जो मनको अन्यत्र जाने-से रोकता हो, ऐसे स्थानमे शयन करना, बैठना या खड़ा होना आदिको विविक्तशय्यासन तप कहा है ॥३०॥

आगे कहते है कि एकान्त स्थानमें रहनेवाले साधुके असाधु लोगोंके संसर्गसे होनेवाले दोष और संक्लेश नहीं होते—

एकान्त स्थानमे वास करनेवाला साधु असभ्य जनोंके सहवास और दर्शनसे उत्पन्न होनेवाले मोह, राग और द्वेपसे पीड़ित नहीं होता ॥३१॥

विशेषार्थ—विविक्तवसतिका लक्षण इस प्रकार कहा है—'जिस स्थानमे शब्द आदि विषयोंसे चित्तमे विकार पैदा नहीं होता, अर्थात् जहाँ विकारके साधन नहीं है और जहाँ स्वाध्याय और ध्यानमें वाधा नहीं आती वह विविक्तवसति है ।' ऐसे स्थानके गुण इस प्रकार

अथ कायक्लेशं तपो लक्षयित्वा तत्प्रतिनियुङ्क्ते—

ऊर्ध्वार्काद्ययनैः शवादिशयनैर्वीरासनाद्यासनैः
स्थानैरेकपदाग्रगामिभिरनिष्ठीवाग्रिमावग्रहैः । ३
योगैश्चातपनादिभिः प्रशमिना संतापनं यत्तनो
कायक्लेशमिदं तपोऽर्त्युपनतौ सद्ध्यानसिद्ध्यै भजेत् ॥३२॥

ऊर्ध्वार्काद्ययनै —शिरोगतादित्यादि—ग्रामान्तरगमनप्रत्यागमनै । शवादिशयनै —मृतकदण्डलगडैक- ६
पार्श्वादिशय्याभि. । वीरासनाद्यासनै —वीरासनमकरमुखासनोत्कुटिकासनादिभि । स्थानै —कायोत्सर्गे ।
एकपदाग्रगामिभि —एकपदमग्रगामि पुरस्सर येषा समपादप्रसारितभुजादीना तानि तैः । अनिष्ठीवाग्रि-
मावग्रहै.—अनिष्ठीवो निष्ठीवनाकरणमग्रिमो मुख्यो येषामकण्डूयनादीना तेऽनिष्ठीवाग्रिमास्ते च तेऽवग्रहाश्च ९
धर्मोपकारहेतवोऽभिप्रायास्तै । आतापनादिभिः—आतपनमातापन ग्रीष्मे गिरिशिखरेऽभिमूर्यमवस्थानम् ।
एव वर्षासु रुक्षमूलेपु शीतकाले चतुष्पथे सतापनम् । कायक्लेश—कायक्लेशाख्यम् । उक्त च—

'ठाणसयणासणेहिं य विविहेहिं य उग्गहेहिं बहुगेहिं । १२
अणुवीचीपरिताओ कायकिलेसो हवदि एसो ॥' [मूलाचार, गा. ३५६]

अपि च—

'अनुसूर्यं प्रतिसूर्यं तिर्यक्सूर्यं तथोर्ध्वं सूर्यं च । १५
उद्भ्रमकेनापि गतं प्रत्यागमन पुनर्गत्वा ॥
सा[1]धार सविचार ससन्निरोध तथा विसृष्टाङ्गम् ।
समपादमेकपाद गृद्ध्रस्थित्यायते. स्थानम् ॥ १८

हैं—ऐसे एकान्त स्थानमें रहनेसे साधुको कलह, हल्ला-गुल्ला, संक्लेश, व्यामोह, असंयमी जनोंके साथ मिलना-जुलना, ममत्वका सामना नहीं करना पड़ता और न ध्यान और स्वाध्यायमें बाधा आती है ॥३१॥

आगे कायक्लेशका लक्षण कहकर उसके करनेकी प्रेरणा करते है—

सूर्यके सिरपर या मुँहके सामने आदि रहते हुए अन्य ग्रामको जाना और वहाँसे लौटना, मृतकके समान या दण्डके समान आदि रूपमें शयन करना, वीरासन आदि आसन लगाना, एक पैर आगे करके या दोनों पैरोको बराबर करके खड़े रहना, न थूकना, न खुजाना आदि, धर्मोपकारक अवग्रह पालना, आतापन आदि योग करना इत्यादिके द्वारा तपस्वी साधु जो शरीरको कष्ट देता है उसे कायक्लेश तप कहते है। यह कायक्लेश दुःख आ पडनेपर समीचीन ध्यानकी सिद्धिके लिए करना चाहिए ॥३२॥

विशेषार्थ—अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योगके द्वारा शरीरको कष्ट देनेका नाम कायक्लेश तप है। इनके प्रभेदोका स्वरूप इस प्रकार कहा है—सूर्यकी ओर पीठ करके गमन करना, सूर्यको सम्मुख करके गमन करना, सूर्यको बायीं ओर या दाहिनी ओर करके गमन करना, सूर्यके सिरके ऊपर होते हुए गमन करना, सूर्यको पार्श्वमे करके गमन करना, भिक्षाके लिए एक गाँवसे दूसरे गाँव जाना और फिर लौटना, ये सब अयन अर्थात् गमनके प्रकार हैं जिनसे कायको कष्ट दिया जा सकता है। स्तम्भ आदिका सहारा लेकर खडे होना, एक देशसे दूसरे देशमे जाकर खड़े होना, निश्चल खड़े होना, कायोत्सर्ग सहित खड़े होना, दोनों पैर बराबर रखकर खड़े होना, एक पैरसे

१. साधार स—भ कु च. ।

समपर्यङ्कनिषद्योऽसमयुतगोदोहिकास्तथोत्कुटिका ।
मकरमुखहस्तिहस्तौ गोशय्या चार्धपर्यङ्क ॥
३ वीरासनदण्डाद्या यतोर्ध्वंशय्या च लगडशय्या च ।
उत्तानमवाक्शयन शवशय्या चैकपार्श्वशय्या च ॥
अभ्रावकाशशय्या निष्ठीवनवर्जनं न कण्डूया ।
६ तृणफलकशिलेलास्वापसेवनं केशलोचं वा ॥
स्वापवियोगो रात्रावस्नानमदन्तघर्षण चैव ।
कायक्लेशतपोद. शीतोष्णातापनाप्रभृति ॥' [भ. आ , गा २२२-२२७ का रूपान्तर]

९ साधारण (साधार) सावष्टम्भम् , स्तम्भादिकमाश्रित्येत्यर्थः । सविचार ससंक्रमम् । देशा (–देशान्तरं गत्वा)। ससन्निरोध निश्चलम् । विसृष्टाङ्ग सकायोत्सर्गम् । गृद्ध्रस्थित्या गृद्ध्रस्योर्ध्वगमनमिव वाहू प्रसार्य इत्यर्थ.। समयुत स्फिक्पिडसम करणेनासनम् । गोदूहिका गोदोहने आसनमिवासनम् । उत्कुटिका उर्ध्वं संकुचितमासनम् । १२ मकरमुख—मकरस्य मुखमिव पादौ कृत्वासनम् । हस्तिहस्त. हस्तिहस्तप्रसारणमिवैक पाद प्रसार्यासनम् । हस्तं प्रसार्य इत्यपरे । गोशय्या गवामासनमिव । वीरासन जङ्घे विप्रकृष्टदेशे कृत्वासनम् । लगडशय्या—सकुचितगात्रस्य शयनम् । अवाक् नीचमस्तकम् । अभ्रावकाशशय्या—वहिर्निरावरणदेशे शयनम् ॥३२॥

१५ अथैव षड्विध वहिरङ्ग तपो व्याख्याय तत्तावदेवाभ्यन्तर व्याकर्तुमिदमाह—

खड़े होना, जिस तरह गृद्ध ऊपरको जाता है उस तरह दोनो हाथ फैलाकर खड़े होना, ये स्थानके प्रकार हैं। उत्तम पर्यंकासनसे बैठना, कटिप्रदेशको सीधा रखकर बैठना, गोदूहिका (गो दूहते समय जैसा आसन होता है वैसा आसन), उत्कुटिकासन (दोनों पैरोंको मिलाकर भूमिको स्पर्श न करते हुए बैठना), मकरमुखासन (मगरके मुखकी तरह पैरोंको करके बैठना), हस्तिहस्तासन (हाथीकी सूँडके फैलावकी तरह एक पैरको फैलाकर बैठना, किन्हींके मतसे हाथको फैलाकर बैठना), गवासन, अर्धपर्यंकासन, वीरासन, (दोनों जघाओंको दूर रखकर बैठना), दण्डासन ये सब आसनके प्रकार हैं। ऊर्ध्वशय्या, लगडशय्या (शरीरको संकुचित करके सोना), उत्तान शयन, अवाक्शयन (नीचा मुख करके सोना), शवशय्या (मुर्दे की तरह सोना), एक करवटसे सोना, वाहर खुले स्थानमे सोना, ये शयनके प्रकार हैं। थूकना नहीं, खुजाना नहीं, तृण, लकडी, पत्थर और भूमिपर सोना, केशलोंच, रात्रिमे सोना ही नहीं, स्नान न करना, दन्तघर्षण न करना ये सब अवग्रहके प्रकार हैं। आतापन योग अर्थात् गर्मीमे पर्वतके शिखरपर सूर्यके सामने खड़े होकर ध्यान करना, इसी तरह वर्षाऋतुमे वृक्षके नीचे, शीतकालमे चौराहेपर ध्यान लगाना ये योगके प्रकार हैं। इनके करनेसे साधुको कष्टसहनका अभ्यास रहता है। उस अभ्यासके कारण यदि कभी कष्ट आ पडता है तो साधु ध्यानसे विचलित नही होता। यदि कष्टसहनका अभ्यास न हो तो ऐसे समय में साधु विचलित हो जाता है। इसीलिए कहा है—'सुखपूर्वक भावित ज्ञान दुःख आनेपर नष्ट हो जाता है। इसलिए मुनिको शक्तिके अनुसार कष्टपूर्वक आत्माकी भावना—आराधना करना चाहिए' ॥३२॥

इस प्रकार छह प्रकारके वहिरंग तपका व्याख्यान करके अव छह ही प्रकारके अन्तरंग तपका कथन करते है—

---

१. स्वावसे भ. कु च ।

बाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात् स्वसंवेद्यत्वतः परैः ।
अनभ्यासात्तप. प्रायश्चित्ताद्यभ्यन्तरं भवेत् ॥३३॥

वाह्यद्रव्यानपेक्षत्वात्—अन्त करणव्यापारप्रधानत्वात् । परै'—तैर्थिकान्तरै. ॥३३॥ ३

अथ प्रायश्चित्त लक्षयितुमाह—

यत्कृत्याकरणे वर्ज्याऽवर्जने च रजोऽर्जितम् ।
सोऽतिचारोऽत्र तच्छुद्धिः प्रायश्चित्तं दशात्म तत् ॥३४॥ ६

वर्ज्यावर्जने—वर्ज्यस्याकर्तव्यस्य हिंसादेरवर्जनेऽत्यागे आवर्जने वा अनुष्ठाने । तच्छुद्धि.—तस्य शुद्धि. । शुद्धयत्यनयेति शोधनम् । तस्य वा शुद्धिरनेनेति तच्छुद्धीति ग्राह्यम् । उक्त च—

'पायच्छित्त ति तओ जेण विसुज्झदि हु पुव्वकयपाव । ९
पायच्छित्तं पत्तोत्ति तेण वुत्त दसविह तु ॥' [मूलाचार, गा. ३६१]

'पायच्छित्त पत्तोत्ति' प्रायश्चित्तमपराध प्राप्त. सन् । परे त्वेवमाहु —

'अकुर्वन् विहितं कर्म निन्दित च समाचरन् । १२
प्रसजश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नर' ॥' [ ] ॥३४॥

अथ किमर्थं प्रायश्चित्तमनुष्ठीयत इति पृष्ठो श्लोकद्वयमाह—

प्रमाददोषविच्छेदममर्यादाविवर्जनम् । १५
भावप्रसादं नि.(नै)शल्यमनवस्थाव्यपोहनम् ॥३५॥
चतुर्द्धाराधनं दाढर्यं संयमस्यैवमादिकम् ।
सिसाधयिषताऽऽचर्यं प्रायश्चित्तं विपश्चिता ॥३६॥ १८

प्रायश्चित्त आदि अन्तरंग तप हैं क्योंकि इनमे बाह्य द्रव्यकी अपेक्षा न होकर अन्तःकरणका व्यापार मुख्य है । दूसरे, ये आत्माके द्वारा ही जाने जाते हैं, दूसरोंको इनका पता नहीं चलता । तीसरे, अन्य धर्मोमे इनका चलन नहीं है ॥३३॥

प्रायश्चित्त तपका लक्षण कहते हैं—

अवश्यकरणीय आवश्यक आदिके न करनेपर तथा त्यागने योग्य हिंसा आदिको न त्यागनेपर जो पाप लगता है उसे अतिचार कहते है । उस अतिचारकी शुद्धिको यहाँ प्रायश्चित्त कहते है । उसके दस भेद हैं ।

विशेषार्थ—कहा है—'जिसके द्वारा पूर्वकृत पापोंका शोधन होता है उसे प्रायश्चित्त नामक तप कहते हैं । उसके दस भेद है ।

प्रायश्चित्त का विधान अन्य धर्मोंमें भी पाया जाता है । कहा है—'जो मनुष्य शास्त्रविहित कर्मको नहीं करता या निन्दित कर्म करता है और इन्द्रियोंके विपयोमे आसक्त रहता है वह प्रायश्चित्तके योग्य है—उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए' ॥३४॥

प्रायश्चित्त क्यों किया जाता है, यह दो श्लोकोंसे वतलाते है—

चारित्रमे असावधानतासे लगे दोपोंको दूर करना, अमर्यादाका अर्थात् प्रतिज्ञात व्रतके उल्लघनका त्याग यानी व्रतकी मर्यादाका पालन, परिणामोकी निर्मलता, निःशल्यपना, उत्तरोत्तर अपराध करनेकी प्रवृत्तिको रोकना, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप इन चारोंका उद्योतन आदि, तथा संयमकी दृढता, इसी प्रकारके अन्य भी कार्योंको साधनेकी इच्छा करनेवाले दोपज्ञ साधुको प्रायश्चित्त तप करना चाहिए ॥३५-३६॥

अमर्यादा—प्रतिज्ञातलक्षण ([1]प्रतिज्ञातव्रतलङ्घनम्) । उक्त च—

'महातपस्तडागस्य सभृतस्य गुणाम्भसा ।
३ मर्यादापालिवन्धेऽल्[2]पामप्युपेक्षिष्ठ मा क्षतिम् ॥' [ ]

अनवस्था—उपर्युपर्यपरावकरणम् ॥३५–३६॥

अथ प्रायश्चित्तशब्दस्य निर्वचनार्थमाह—

६ प्रायो लोकस्तस्य चित्तं मनस्तच्छुद्धिकृत्क्रिया ।
प्राये तपसि वा चित्तं निश्चयस्तन्निरुच्यते ॥३७॥

यथाह—

९ 'प्राय इत्युच्यते लोकस्तस्य चित्त मनो भवेत् ।
एतच्छुद्धिकर कर्म प्रायश्चित्तं प्रचक्षते ॥'

यथा वा—

१२ 'प्रायो नाम तप प्रोक्त चित्त निश्चयसंयुतम् ।
तपो निश्चयसयोगात् प्रायश्चित्त निगद्यते ॥' [ ] ॥३७॥

विशेषार्थ—प्रमादसे चारित्रमे लगे दोषोंका यदि प्रायश्चित्त द्वारा शोधन न किया जाये तो फिर दोषोंकी वाढ रुक नहीं सकती। एक वार मर्यादा टूटनेसे यदि रोका न गया तो वह मर्यादा फिर रह नहीं सकती। इसलिए प्रायश्चित्त अत्यन्त आवश्यक है। कहा भी है—'यह महातप रूपी तालाव गुणरूपी जलसे भरा है। इसकी मर्यादारूपी तटवन्दीमें थोड़ी सी भी क्षति की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। थोडी-सी भी उपेक्षा करनेसे जैसे तालावका पानी वाहर निकलकर वाढ ला देता है वैसे ही उपेक्षा करनेसे महातपमे भी दोषोंकी वाढ आनेका भय है' ॥३५-३६॥

प्रायश्चित शब्दकी निरुक्ति करते हैं—

प्रायश्चित्त शब्द दो शब्दों के मेल से वना है। उसमे 'प्राय' का अर्थ है लोक और चित्तका अर्थ है मन। यहाँ लोकसे अपने वर्गके लोग लेना चाहिए। अर्थात् अपने साधर्मी वर्गके मनको प्रसन्न करनेवाला जो काम है वह प्रायश्चित्त है। 'प्राय' शब्द का अर्थ तप भी है और चित्तका अर्थ निश्चय। अर्थात् यथायोग्य उपवास आदि तपमे जो यह श्रद्धान है कि यह करणीय है उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यह प्रायश्चित्तका निरुक्तिगत अर्थ है ॥३७॥

विशेषार्थ—पूर्वशास्त्रोंमे प्रायश्चित्त शब्दकी दो निरुक्तियाँ पायी जाती हैं, उन दोनोंका संग्रह ग्रन्थकारने कर दिया है। आचार्य पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमे प्रायश्चित्त की कोई निरुक्ति नहीं दी। उमास्वाति के तत्त्वार्थ भाष्य में 'अपराधो वा प्रायस्तेन विशुद्धयति' आता है। अकलंकदेवने दो प्रकारसे व्युत्पत्ति दी है—'प्राय साधुलोकः। प्रायस्य यस्मिन् कर्मणि चित्त प्रायश्चित्तम्। अपराधो वा प्रायः, चित्तं शुद्धिः, प्रायस्य चित्तं प्रायश्चित्तं—अपराध-विशुद्धिरित्यर्थ.।—(त. वा ९।२०।१)' इसमे प्रायश्चित्तके दो अर्थ किये है—प्राय. अर्थात् साधुजन, उसका चित्त जिस काममे हो उसे प्रायश्चित्त कहते है। और प्राय. अर्थात् अपराधकी शुद्धि जिसके द्वारा हो उसे प्रायश्चित्त कहते हैं। यथार्थमे प्रायश्चित्तका यही अभिप्राय

---

१ भ. कु. च ।
२ -ल्पावप्युपेक्षिष्ट भ कु च.।

अथ प्रायश्चित्तस्यालोचन-प्रतिक्रमण-तदुभय-विवेक-व्युत्सर्ग-तपश्छेदमूल-परिहार-श्रद्धानलक्षणेषु दशसु भेदेषु मध्ये प्रथममालोचनाख्यं तद्भेदं निर्दिशति—

सालोचनाद्यस्तद्भेद. प्रश्रयाद्धर्मसूरये । ३
यद्दशाकम्पिताद्यूनं स्वप्रमादनिवेदनम् ॥३८॥

प्रश्रयात्—विनयात् । उक्तं च—

'मस्तकविन्यस्तकरः कृतिकर्म विधाय शुद्धचेतस्क । ६
आलोचयति सुविहितः सर्वान् दोषास्त्यजन् रहसि ॥' [ ] ॥३८॥

अथालोचनाया देशकालविधाननिर्णयार्थमाह—

प्राह्णेऽपराह्णे सद्देशे बालवत् साधुनाऽखिलम् । ९
स्वागस्त्रिराजवाद्वाच्यं सूरेः शोध्यं च तेन तत् ॥३९॥

सद्देशे—प्रशस्तस्थाने । यथाह—

'अर्हत्सिद्धसमुद्राब्जसर.क्षीरफलाकुलम् । १२
तोरणोद्यानसद्माहियक्षवेश्मवृहद्गृहम् ॥
सुप्रशस्त भवेत्स्थानमन्यदप्येवमादिकम् ।
सूरिरालोचना तत्र प्रतिच्छत्यस्य शुद्धये ॥' [ ] १५

लिया जाता है। पूज्यपादने यही अर्थ किया है। उत्तरकालमें प्रायश्चित्तकी जो व्युत्पत्ति प्रचलित हुई उसमे यह अर्थ लिया गया है जैसा कि ग्रन्थके उक्त श्लोकसे स्पष्ट है। टीकामे ग्रन्थकारने दो व्युत्पत्तियाँ उद्धृत की हैं 'प्रायः लोकको कहते हैं उसका चित्त मन होता है। मनको शुद्ध करनेवाले कर्मको प्रायश्चित्त कहते हैं। इसमें अकलंकदेवकी दोनों व्युत्पत्तियोंका आशय आ जाता है।' 'प्रायः तपको कहते हैं और चित्तका अर्थ है निश्चय अर्थात् तप करना चाहिए ऐसा श्रद्धान। निश्चयके संयोगसे तपको प्रायश्चित्त कहते हैं।' ॥३७॥

प्रायश्चित्तके दस भेद हैं—आलोचन, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग, तपच्छेद, मूल, परिहार और श्रद्धान। उनमे-से प्रथम आलोचन भेदको कहते हैं—

धर्माचार्यके सम्मुख विनयसे जो आकम्पित आदि दस दोषोसे रहित, अपने प्रमादका निवेदन किया जाता है वह प्रायश्चित्तका आलोचना नामक प्रथम भेद है ॥३८॥

विशेषार्थ—आलोचनाके सम्बन्धमे कहा है—दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर, कृतिकर्मको करके, शुद्धचित्त होकर सुविहित साधु समस्त दोषोंको त्यागकर एकान्तमे आलोचना करता है। एकान्तके सम्बन्धमे इतना विशेष वक्तव्य है कि पुरुष तो अपनी आलोचना एकान्तमे करता है उसमें गुरु और आलोचक दो ही रहते है। किन्तु स्त्रीको प्रकाशमे आलोचना करना चाहिए तथा गुरु और आलोचक स्त्रीके सिवाय तीसरा व्यक्ति भी होना ही चाहिए ॥३८॥

आगे आलोचनाके देश और कालके विधानका निर्णय करते हैं—

पूर्वाह्ण या अपराह्णके समय प्रशस्त स्थानमें धर्माचार्यके आगे बालककी तरह सरलतासे तीन बार स्मरण करके अपना समस्त अपराध या पाप साधुको कहना चाहिए ॥३९॥

१. प्रमाददोषपरिहार प्रायश्चित्तम् ।—सर्वार्थ ९।२० ।

सद्देश इत्युपलक्षणात् सुलग्नेऽपि। तदुक्तम्—

'आलोयणादिआ पुण होदि पसत्थे वि शुद्धभावस्स।
पुव्वण्हे अवरण्हे सोमतिहिरक्खवेलाए ॥' [भ. आरा., गा. ५५४]

३

वालवत्। उक्त च—

'जह वालो जपंतो कज्जमकज्ज च उज्जुय भणदि।
तह आलोचेदव्व माया मोसं च मुत्तूण ॥' [मूलाचार, गा. ५६]

६

त्रि—त्रीन् वारान्। स्मृत्वेत्यध्याहार.। उक्त च—

'इय उजुभावमुवगदो सव्वे दोसे सरित्तु तिक्खुत्तो।
लेस्साहि विसुज्झेतो उवेदि सल्ल समुद्धरिदुं ॥' [भग. आरा, गा ५५३]

९

शोध्यं—सुनिरूपितप्रायश्चित्तदानेन निराकार्यम् ॥३९॥

अथैकादशविराधितमार्गेणाकम्पितादिदशदोषवर्जां पदविभागिकामालोचना कृत्वा तपोऽनुष्ठेयमस्मर्यमाणवहुदोषेण छिन्नव्रतेन वा पुनरौघीमिति श्लोकपञ्चकेनाचष्टे—

१२

आकम्पितं गुरुच्छेदभयादावर्जनं गुरो.।
तपःशूरस्तवात्तत्र स्वाशक्त्याख्यानुमापितम् ॥४०॥
यद् दृष्टं दूषणस्यान्यदृष्टस्यैव प्रथा गुरोः।

१५

वादरं वादरस्यैव सूक्ष्मं सूक्ष्मस्य केवलम् ॥४१॥
छन्नं कीदृक्चिकित्से दृग्दोषे पृष्ट्वेति तद्विधि.।
शब्दाकुलं गुरोः स्वागः शब्दनं शब्दसंकुले ॥४२॥

१८

विशेषार्थ—यहाँ आलोचना कब करना चाहिए और कहाँ करना चाहिए इसका निर्देश किया है। प्रातःकाल या दोपहरके पश्चात् प्रशस्त स्थानमे गुरुके सामने वालककी तरह सरल भावसे आलोचना करना चाहिए। जैसे बालक अच्छी और बुरी सब बाते सरल भावसे कहता है उसी तरह साधुको माया और झूठको छोड़कर आलोचना करना चाहिए। इससे उसकी विशुद्धि होती है। भ आराधनामे (गा ५५४) ऐसा ही कहा है—'विशुद्ध परिणामवाले क्षपककी आलोचना आदि प्रशस्त क्षेत्रमे दिनके पूर्व भाग या उत्तर भागमें शुभ तिथि, शुभ नक्षत्र और शुभसमयमे होती है। अर्थात् आलोचनाके लिए परिणामोकी विशुद्धिके साथ क्षेत्रशुद्धि और कालशुद्धि भी आवश्यक है ॥३९॥

जिस साधुने रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गकी एकदेश विराधना की है उसे आकम्पित आदि दस दोषोसे रहित पदविभागिकी नामक आलोचना करके तपस्या करना चाहिए। और जिसे अपने बहुत-से दोषोंका स्मरण नही है, अथवा जिसने अपने व्रतको भग कर लिया है उसे औघी आलोचना करना चाहिए, यह बात पाँच श्लोकोसे कहते है—

महाप्रायश्चित्तके भयसे उपकरणदान आदिसे गुरुको अल्पप्रायश्चित्त देनेके लिए अपने अनुकूल करना आकम्पित नामक आलोचना दोष है। वे धन्य है जो वीर पुरुषोके करने योग्य उत्कृष्ट तपको करते है इस प्रकार तपस्वी वीरोका गुणगान करके तपके विषयमे गुरुके सामने अपनी अशक्ति प्रकट करना, इस तरह प्रार्थना करनेपर गुरु थोडा प्रायश्चित्त देकर मुझपर कृपा करेंगे इसलिए अनुमानसे जानकर अपना अपराध प्रकट करना अनुमापित दोष है। दूसरेके द्वारा देख लिये गये दोषको ही प्रकट करना और जो अपना दोष दूसरेने नही देखा उसे छिपाना यद्दृष्ट नामक दोष है। गुरुके सामने स्थूल दोषको ही प्रकट करना और

दोषो वहुजनं सूरिदत्तान्यक्षुण्णतत्कृतिः ।
वालाच्छेदग्रहोऽव्यक्तं समात्तत्सेवितं त्वसौ ॥४३॥
दशेत्युज्झन् मलान्मूलाप्राप्तः पदविभागिकाम् ।
प्रकृत्यालोचनां मूलप्राप्तश्चौघीं तपश्चरेत् ॥४४॥ [पञ्चकम्]

गुरुच्छेदभयात्—महाप्रायश्चित्तशंकात । आवर्जनं—उपकरणदानादिना आत्मनोऽल्पप्रायश्चित्त-दानार्थमनुकूलनम् ।

तप·शूरस्तवात्—धन्यास्ते ये वीरपुरुषाचरितमुत्कृष्ट तप कुर्वन्तीति व्यावर्णनात् । तत्र—तपसि । स्वाशक्त्याख्या—आत्मनोऽसामर्थ्यप्रकाशन गुरोरग्रे । अनुमापित—गुरु प्रार्थित स्वल्पप्रायश्चित्तदानेन ममानु (-ग्रह करीष्यतीत्यनुमानेन)। स्यैव (वादरस्यैव)—स्थूलस्यैव दूषणस्य प्रकाशन सूक्ष्मस्य तु आच्छादनमित्यर्थं ॥४१॥

छन्नमित्यादि—इदृशे दोषे सति कीदृश प्रायश्चित्त क्रियत इति स्वदोषोद्देशेन गुरु पृष्ट्वा तदुक्त प्रायश्चित्तं कुर्वत· छन्नं नामालोचनादोष· । शब्दसकुले—पक्षाद्यतीचारशुद्धिकालेषु वहुजनशब्दवहुले स्थाने ॥४२॥

सूरिरित्यादि—सूरिणा स्वगुरुणा दत्त प्रथम वितीर्णं पश्चादन्यै प्रायश्चित्तकुशलै क्षुण्ण चर्चितं तत्प्रायश्चित्तम् । तस्य कृति· अनुष्ठानम् । वालात्—ज्ञानेन संयमेन वा हीनात् । समात्—आत्मसदृशात् पार्श्वस्थात् प्रायश्चित्तग्रहणम् । तत्सेवित—तेन समेन प्रायश्चित्तदायिना पार्श्वस्थेन सेव्यमानत्वात् । असौ आलोचनादोष ॥४३॥

पदविभागिकां—विशेषालोचना, दीक्षाग्रहणात् प्रभृति यो यत्र यदा यथाऽपराध· कृतस्तस्य तत्र तदा तथा प्रकाशनात् । औघी—सामान्यालोचना । उक्तं च—

ओघेन पदविभागेन द्वेधालोचना समुद्दिष्टा ।
मूल प्राप्तस्यौघी पादविभागी ततोऽन्यस्य ॥

सूक्ष्म दोपको छिपाना वादर नामक दोप है। गुरुके आगे केवल सूक्ष्म दोपको ही प्रकट करना स्थूलको छिपाना सूक्ष्म नामक दोप है। ऐसा दोष होनेपर क्या प्रायश्चित्त होता है इस प्रकार अपने दोपके उद्देश्यसे गुरुको पूछकर उनके द्वारा कहा गया प्रायश्चित्त करनेसे छन्न नामक आलोचना दोष होता है क्योंकि उसने गुरुसे अपना दोष छिपाया। जब अन्य साधु पाक्षिक आदि दोपोंकी विशुद्धि करते हों और इस तरह बहुत हल्ला हो रहा हो उस समय गुरुके सामने अपने दोपोंका निवेदन करना शब्दाकुल नामक आलोचना दोप है। अपने गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको अन्य प्रायश्चित्त कुशल साधुओंसे चर्चा करके स्वीकार करना वहुजन नामक आलोचना दोप है। अपनेसे जो ज्ञान और संयममे हीन है उससे प्रायश्चित्त लेना अव्यक्त नामक दोप है। अपने ही समान दोषी पार्श्वस्थ मुनिसे प्रायश्चित्त लेना तत्सेवित नामक दोष है। इस प्रकार इन दस दोपोंको त्यागकर आलोचना करना चाहिए। जिनसे मूलव्रतका सर्वोच्छेद नहीं हुआ है एकदेश छेद हुआ है उन्हें पदविभागिकी आलोचना करना चाहिए और जिनसे मूलका छेद हुआ है उन्हें औघी आलोचना करनी चाहिए ॥४०-४४॥

विशेपार्थ—आलोचनाके दो भेद कहे हैं—पदविभाग और ओघ। इनको स्पष्ट करते हुए अन्यत्र कहा है—'ओघ और पदविभागके भेदसे आलोचनाके दो भेद कहे है। जिसने व्रतका पूरा छेद किया है वह औघी अर्थात् सामान्य आलोचना करता है और जिसने

स्मरणपथमनुसरन्ती प्रायो नागासि मे विपुण्यस्य।
सर्वं छेद समजनि ममेति वालोचयेदौघी ॥
३ प्रव्रज्यादिसमस्त क्रमेण यद्यत्र येन भावेन।
सेवितमालोचयत पादविभागी तथा तत्तत् ॥
भ. आ. गा. ५३३–३५ का रूपान्तर] ॥४४॥

६ अथालोचना विना महदपि तपो न सवरसहभाविनी निर्जरा करोति। कृतायामपि चालोचनाया विहितमनाचरन्न दोपविजयी स्यादत. सर्वदालोच्य गुरूक्त च तदुचितमाचर्यमिति शिक्षणार्थमाह—

सामौषधवन्महदपि न तपोऽनालोचनं गुणाय भवेत्।
९ मन्त्रवदालोचनमपि कृत्वा नो विजयते विधिमकुर्वन् ॥४५॥

सामौषधवत्—सामे दोषे प्रयुक्तमौपघ यथा। यथाहुः—
'य. पिबत्यौषध मोहात् सामे तीव्ररुजि ज्वरे।
१२ प्रसुप्त कृष्णसर्पं स कराग्रेण परामृशेत् ॥' [ ]
गुणाय—उपकाराय। मत्रवत्—पञ्चाङ्ग गुप्तभाषण यथा।
विधि —विहिताचरणम् ॥४५॥
१५ अथ सद्गुरुदत्तप्रायश्चित्तोचितचित्तस्य दीप्त्यतिशयं दृष्टान्तेनाचष्टे—

यथादोषं यथाम्नायं दत्तं सद्गुरुणा वहन्।
रहस्यमन्तर्भात्युच्चैः शुद्धादर्श इवाननम् ॥४६॥

१८ रहस्य—प्रायश्चित्तम् ॥४६॥

व्रतका एकदेश छेद किया है वह पदविभागी अर्थात् विशेष आलोचना करता है। मुझ पापीको प्राय. अपराधोका स्मरण नहीं रहा। अतः मेरा समस्त व्रत छिन्न हो गया ऐसा मानकर औघी आलोचना करना चाहिए। समस्त प्रव्रज्या आदिमे क्रमसे जहाँ जिस भावसे दोप लगा है उसकी आलोचना करनेवालेके पदविभागी आलोचना होती है' ॥४०–४४॥

आलोचनाके विना महान् भी तप संवरके साथ होनेवाली निर्जराको नहीं करता। और आलोचना करनेपर भी गुरु जो प्रायश्चित्त वतावे उसे न करनेवाला दोषोसे मुक्त नहीं होता। इसलिए सर्वदा आलोचना करना चाहिए और गुरु जो कहें वह करना चाहिए, यह शिक्षा देते है—

जैसे विना विचारे सामदोषसे युक्त तीव्र ज्वरमें दी गयी महान् भी औषध आरोग्य-कारक नहीं होती, उसी प्रकार आलोचनाके विना एक पक्षका उपवास आदि महान् तप भी उपकारके लिए अर्थात् संवरके साथ होनेवाली निर्जराके लिए नही होता। तथा जैसे राजा मन्त्रियोसे परामर्श करके भी उनके द्वारा दिये गये परामर्शको कार्यान्वित न करनेपर विजयी नहीं होता, उसी प्रकार आलोचना करके भी विहित आचरणको न करनेवाला साधु दोषोपर विजय प्राप्त नहीं कर सकता ॥४५॥

जिसका चित्त सद्गुरुके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तमें रमता है उसको अतिशय चमक प्राप्त होती है यह बात दृष्टान्त द्वारा कहते हैं—

सद्गुरुके द्वारा दोषके अनुरूप और आगमके अनुसार दिये गये प्रायश्चित्तको अपनेमे धारण करनेवाला तपस्वी वैसे ही अत्यन्त चमकता है जैसे निर्मल दर्पणमे मुख चमकता है ॥४६॥

अथ प्रतिक्रमणलक्षणमाह—

मिथ्या मे दुष्कृतमिति प्रायोऽपायैर्निराकृतिः ।
कृतस्य संवेगवता प्रतिक्रमणमागसः ॥४७॥ ३

उक्तं च—आस्थिताना योगाना धर्मकथादिव्याक्षेपहेतुसन्निधानेन विस्मरणे सति पुनरनुष्ठायकस्य सवेगनिर्वेदपरस्य गुरुविरहितस्याल्पापराधस्य पुनर्न करोमि मिथ्या मे दुष्कृतमित्येवमादिभिर्दोषान्निवर्तन प्रतिक्रमणमिति ॥४७॥ ६

अथ तदुभय लक्षयति—

[1]दुःस्वप्नादिकृतं दोषं निराकर्तुं क्रियेत यत् ।
आलोचनप्रतिक्रान्तिद्वयं तदुभयं तु तत् ॥४८॥ ९

स्पष्टम् । किं च, आलोचन प्रतिक्रमणपूर्वक गुरुणाऽभ्यनुज्ञात शिष्येणैव कर्तव्य तदुभयं गुरुणैवानुष्ठेयम् ॥४८॥

इस प्रकार आलोचना तपका कथन हुआ ।

अब प्रतिक्रमण को कहते हैं—

संसारसे भयभीत और भोगोंसे विरक्त साधुके द्वारा किये गये अपराधको 'मेरे दुष्कृत मिथ्या हो जायें, मेरे पाप शान्त हो' इस प्रकारके उपायोंके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं ॥४७॥

विशेषार्थ—धर्मकथा आदिमें लग जानेसे यदि प्रतिज्ञात ध्यान आदि करना भूल जाये और पुन करे तो संवेग और निर्वेदमे तत्पर अल्प अपराधी उस साधुका गुरुके अभावमे 'मैं ऐसी गलती पुनः नहीं करूँगा, मेरा दुष्कृत मिथ्या हो', इत्यादि उपायोंसे जो दोषका निवर्तन करना है वह प्रतिक्रमण है। किन्हींका ऐसा कहना है कि दोषोंका उच्चारण कर-करके 'मेरा यह दोष मिथ्या हो' इस प्रकारसे जो उस दोषका स्पष्ट प्रतीकार किया जाता है वह प्रतिक्रमण है। यह प्रतिक्रमण आचार्यकी अनुज्ञा प्राप्त करके शिष्यको ही करना चाहिए ॥४७॥

तदुभय प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते हैं—

खोटे स्वप्न, संक्लेश आदिसे होनेवाले दोषका निराकरण करनेके लिए जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं उसे तदुभय कहते हैं ॥४८॥

विशेषार्थ—आशय यह है कि किन्हीं दोषोंका शोधन तो आलोचना मात्रसे हो जाता है और कुछका प्रतिक्रमणसे । किन्तु कुछ महान् दोष ऐसे होते है जो आलोचना और प्रतिक्रमण दोनोंसे शुद्ध होते है जैसे दु स्वप्न होना या खोटा चिन्तन करना आदि । इस तदुभय प्रायश्चित्तके विषयमे एक शका होती है कि शास्त्रसे कहा है कि आलोचनाके बिना कोई भी प्रायश्चित्त कार्यकारी नहीं है । फिर कहा है कि कुछ दोष केवल प्रतिक्रमणसे ही शुद्ध होते हैं यह तो परस्पर विरुद्ध कथन हुआ । यदि कहा जाता है कि प्रतिक्रमणके पहले आलोचना

---

१ 'स्यात्तदुभयमालोचना प्रतिक्रमणद्वयम् । दु स्वप्नदुष्टचिन्तादिमहादोषसमाश्रयम् ॥
—आचारसार ६।४२ ।

'एतच्चोभयं प्रायश्चित्त सम्भ्रमभयातुरापत्सहमाऽनाभोगानात्मवशगतस्य दुष्टचिन्तितभाषणचेष्टावतश्च विहितम् ।—तत्त्वार्थ, टी सिद्ध गणि, ९।२२ ।

अथ विवेकलक्षणमाह—

संसक्तेऽन्नादिके दोषान्निवर्तयितुमप्रभोः ।
३ **यत्तद्विभजनं साधोः स विवेकः सतां मत' ॥४९॥**

ससक्ते—सवद्धे सम्मूर्छिते वा । अप्रभोः—असमर्थस्य । तद्विभजनं—संसक्तान्नपानोपकरणादेर्वियोजनम् ॥४९॥

६ अथ भङ्ग्यन्तरेण पुनर्विवेक लक्षयति—

विस्मृत्य ग्रहणेऽप्रासोर्ग्राहणे वाऽपरस्य वा ।
प्रत्याख्यातस्य संस्मृत्य विवेको वा विसर्जनम् ॥५०॥

९ अप्रासो.—सचित्तस्य । अपरस्य—प्रासुकस्य । उक्त च—

'शक्त्यनिगूहनेन प्रयत्नेन परिहरत कुतश्चित् कारणादप्रासुकग्रहणग्राहणयो प्रासुकस्यापि प्रत्याख्यातस्य विस्मरणात् प्रतिग्रहे च स्मृत्वा पुनस्तदुत्सर्जन विवेक इति [तत्त्वार्थवा०, पृ. ६२२] ॥५०॥

१२ अथ व्युत्सर्गस्वरूपमाह—

स व्युत्सर्गो मलोत्सर्गाद्यतीचारेऽवलम्ब्य सत् ।
ध्यानमन्तर्मुहूर्तादि कायोत्सर्गेण या स्थितिः ॥५१॥

१५ दु स्वप्न-दुश्चिन्तन-मलोत्सर्जन-मूत्रातिचार-नदीमहाटवीतरणादिभिरन्यैश्चाप्यतीचारे सति ध्यानमवलम्ब्य कायमुत्सृज्य अन्तर्मुहूर्तदिवस-पक्ष-मासादिकालावस्थान व्युत्सर्ग इत्युच्यत इति ॥५१॥

की जाती है तव तदुभय प्रायश्चित्तका कथन व्यर्थ होता है। इसका समाधान यह है कि सब प्रतिक्रमण आलोचनापूर्वक ही होते है। किन्तु अन्तर यह है कि प्रतिक्रमण गुरुकी आज्ञासे शिष्य ही करता है और तदुभय गुरुके द्वारा ही किया जाता है ॥४८॥

विवेक प्रायश्चित्तका लक्षण कहते है—

संसक्त अन्नादिकमे दोषोंको दूर करनेमें असमर्थ साधु जो संसक्त अन्नपानके उपकरणादिको अलग कर देता है उसे साधुओंने विवेक प्रायश्चित्त माना है ॥४९॥

पुनः अन्य प्रकारसे विवेकका लक्षण कहते हैं—

भूलसे अप्रासुक अर्थात् सचित्तका स्वय ग्रहण करने या किसीके द्वारा ग्रहण करानेपर उसके छोड देनेको विवेक प्रायश्चित्त कहते है। अथवा प्रासुक वस्तु भी यदि त्यागी हुई है और उसका ग्रहण हो जाये तो स्मरण आते ही उसको छोड़ देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

विशेषार्थ—यदि साधु भूलसे स्वयं अप्रासुक वस्तुको ग्रहण कर लेता है, या दूसरेके द्वारा ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही उसको त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है। इसी तरह यदि साधु त्यागी हुई प्रासुक वस्तुको भी भूलसे ग्रहण कर लेता है तो स्मरण आते ही त्याग देना विवेक प्रायश्चित्त है ॥५०॥

व्युत्सर्ग प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते है—

मलके त्यागने आदिमे अतीचार लगनेपर प्रशस्तध्यानका अवलम्बन लेकर अन्तर्मुहूर्त आदि काल पर्यन्त कायोत्सर्गपूर्वक अर्थात् शरीरसे ममत्व त्यागकर खड़े रहना व्युत्सर्ग प्रायश्चित्त है ॥५१॥

विशेषार्थ—अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक (पृ. ६२२) मे कहा है—दुःस्वप्न आनेपर, खोटे विचार होनेपर, मलत्यागमें दोष लगनेपर, नदी या महाटवी (भयानक जगल) को पार करनेपर या इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे दोष लगनेपर ध्यानका अवलम्बन लेकर तथा कायसे

अथ तप संज्ञं प्रायश्चित्तं दर्शयति—

कृतापराधः श्रमणः सत्त्वादिगुणभूषणः।
यत्करोत्युपवासादिविधिं तत्क्षालनं तपः ॥५२॥ ३

उपवासादि—आदिशब्दादेकस्थानाचाम्लनिर्विकृत्यादिपरिग्रह। क्षालन—प्रायश्चित्तम् ॥५२॥

अथालोचनादिप्रायश्चित्तविधेर्विषयमाह—

भय-त्वरा-शक्त्यबोध-विस्मृतिव्यसनादिजे। ६
महाव्रतातिचारेऽमुं षोढा शुद्धिविधिं चरेत् ॥५३॥

भयत्वरा—भीत्या पलायनम्। अमुं—आलोचनादिलक्षणम्। शुद्धिविधिं—शास्त्रोक्तप्रायश्चित्तम् ॥५३॥ ९

ममत्व त्यागकर अन्तर्मुहूर्त या एक दिन या एक पक्ष या मास आदि तक खड़े रहना व्युत्सर्ग तप है। किन्हींका कहना है कि नियत काल तक मन-वचन-कायको त्यागना व्युत्सर्ग है ॥५१॥

आगे तप प्रायश्चित्तको कहते हैं—

शास्त्रविहित आचरणमें दोष लगानेवाला किन्तु सत्त्व धैर्य आदि गुणोंसे भूषित श्रमण जो प्रायश्चित्त शास्त्रोक्त उपवास आदि करता है वह तप प्रायश्चित है ॥५२॥

आगे बतलाते हैं कि ये आलोचनादि प्रायश्चित्त किस अपराधमें किये जाते हैं—

डरकर भागना, असामर्थ्य, अज्ञान, विस्मरण, आतंक और रोग आदिके कारण महाव्रतोंमें अतीचार लगनेपर आलोचना, प्रतिक्रमण, तदुभय, विवेक, व्युत्सर्ग और तप ये छह शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—यहाँ कुछ दोषोंका प्रायश्चित्त शास्त्रानुसार लिखा जाता है—आचार्यसे पूछे विना आतापन आदि करनेपर, दूसरेके परोक्षमें उसके पुस्तक-पीछी आदि उपकरण ले लेनेपर, प्रमादसे आचार्य आदिका कहा न करनेपर, संघके स्वामीसे पूछे विना उसके कामसे कहीं जाकर लौट आनेपर, दूसरे संघसे पूछे विना अपने संघमें जानेपर, देश और कालके नियमसे यअवश्य कर्तव्य विशेष व्रतका धर्मकथा आदिके व्यासंगसे भूल जानेपर किन्तु पुनः उसको कर लेनेपर, इसी प्रकारके अन्य भी अपराधोंमें आलोचना मात्र ही प्रायश्चित्त है। छह इन्द्रियों और वचन आदिको लेकर खोटे परिणाम होनेपर, आचार्य आदिसे हाथ-पैर आदिका धक्का लग जानेपर, व्रत, समिति और गुप्तिका पालन कम होनेपर, चुगुली, कलह आदि करनेपर, वैयावृत्य स्वाध्याय आदिमें प्रमाद करनेपर, गोचरीके लिए जानेपर यदि लिंगमें विकार उत्पन्न हो जाये तथा संक्लेशके अन्य कारण उपस्थित होनेपर प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त हैं। यह प्रतिक्रमण दिन और रात्रिके अन्तमें और भोजन, गमन आदिमें किया जाता है यह प्रसिद्ध है। केशलोंच, नखोंका छेदन, स्वप्नमें इन्द्रिय सम्बन्धी अतिचार या रात्रिभोजन करनेपर तथा पाक्षिक, मासिक और वार्षिक दोष आदिमें आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों किये जाते हैं। मौन आदिके विना आलोचना करनेपर, पेटसे कीड़े निकलनेपर, हिम, डाँस, मच्छर आदि तथा महावायुसे संघर्षमें दोष लगनेपर, चिकनी भूमि, हरे तृण और कीचड़के ऊपरसे जानेपर, जंघा प्रमाण जलमें प्रवेश करनेपर, अन्यके निमित्तसे रखी वस्तुका अपने लिए उपयोग कर लेनेपर, नावसे नदी पार करनेपर, पुस्तक या प्रतिमाके गिरा देनेपर, पाँच स्थावर कायका घात होनेपर, विना देखे स्थानमें मल-मूत्रादि करनेपर, पाक्षिक आदि प्रतिक्रमण क्रियाके अन्तमें तथा व्याख्यान आदि करनेके अन्तमें कायोत्सर्ग करना ही

अथ छेद निर्दिशति—

चिरप्रव्रजितादृप्तशक्तशूरस्य सागसः ।
३　दिनपक्षादिना दीक्षाहापनं छेदमादिशेत् ॥५४॥

स्पष्टम् ॥५४॥

अथ मूललक्षणमाह—

६　मूलं पार्श्वस्थसंसक्तस्वच्छन्देष्ववसन्नके ।
कुशीले च पुनर्दीक्षादानं पर्यायवर्जनात् ॥५५॥

पार्श्वस्थ—यो वसतिषु प्रतिवद्ध उपकरणोपजीवी वा श्रमणाना पार्श्वे तिष्ठति । उक्त च—

९　'वसदीसु अ पडिवद्धो अहवा उवकरणकारओ भणिओ ।
पासत्थो समणाण पासत्थो णाम सो होई ॥' [ ]

संसक्त—यो वैद्यकमन्त्रज्योतिषोपजीवी राजादिसेवकश्च स्यात् । उक्तं च—

१२　'वेज्जेण व मंतेण व जोइसकुसलत्तणेण पडिवद्धो ।
रायादी सेवतो संसत्तो णाम सो होई ॥' [ ]

स्वच्छन्द.—यस्त्यक्तगुरुकुल एकाकित्वेन स्वच्छन्दविहारी जिनवचनदूषको मृगचारित्र इति यावत् ।
१५ उक्त च—

'आयरियकुलं मुच्चा विहरदि एगागिणो य जो समणो ।
जिणवयण णिंदंतो सच्छंदो होई मिगचारी ॥' [ ]

प्रायश्चित्त है। थूकने या पेशाव आदि करनेपर कायोत्सर्ग किया ही जाता है ॥५३॥

छेद प्रायश्चितको कहते हैं—

जो साधु चिरकालसे दीक्षित है, निर्मद है, समर्थ है और शूर है उससे यदि अपराध हो जाये तो दिन, पक्ष या मास आदिका विभाग करके दीक्षा छेद देनेको छेद प्रायश्चित्त कहते है। अर्थात् उसकी दीक्षाके समयमें कमी कर दी जाती है। जैसे पाँच वर्षके दीक्षितको चार वर्षका दीक्षित मानना ॥५४॥

मूल प्रायश्चित्तका लक्षण कहते हैं—

पार्श्वस्थ, संसक्त, स्वच्छन्द, अवसन्न और कुशील मुनियोंको अपरिमित अपराध होनेसे पूरी दीक्षा छेदकर पुनः दीक्षा देना मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

विशेषार्थ—इनका लक्षण इस प्रकार है—जो मुनियोकी वसतिकाओके समीपमे रहता है, उपकरणोंसे आजीविका करता है उसे श्रमणोके पासमे रहनेसे पासत्थ या पार्श्वस्थ कहते हैं। व्यवहारसूत्र (श्वे.) के प्रथम उद्देशमें इसे तीन नाम दिये है—पार्श्वस्थ, प्रास्वस्थ और पाशस्थ। दर्शन ज्ञान और चारित्रके पासमें रहता है किन्तु उसमें संलग्न नहीं होता इसलिए उसे पार्श्वस्थ[1] कहते है। और 'प्र' अर्थात् प्रकर्षसे ज्ञानादिमे निरुद्यमी होकर रहता है इसलिए प्रास्वस्थ[2] कहते हैं। तथा पाश बन्धनको कहते हैं। मिथ्यात्व आदि बन्धके कारण होनेसे पाश है। उनमें रहनेसे उसे पाशस्थ कहते है। भगवती आराधना (गा. १३००) मे कहा है कि

---

१ ज्ञानादीना पार्श्वे तिष्ठतीति पार्श्वस्थ इति व्युत्पत्ते । २. प्रकर्षेण समन्तात् ज्ञानादिषु निरुद्यमतया स्वस्थ. प्रास्वस्थ इति व्युत्पत्तेः ।

अवसन्नः यो जिनवचनानभिज्ञो मुक्तचारित्रभारो ज्ञानचरणभ्रष्ट. करणालसश्च स्यात् । उक्तं च—

'जिणवयणमयाणतो मुक्कधुरो णाणचरणपरिभट्ठो ।
करणालसो भवित्ता सेवदि ओसण्णसेवाओ ॥' [ ] ३

कुशील.—य. क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलै. परिहीण. सघस्यानयकारी च स्यात् । उक्त च—

'कोहादिकलुसिदप्पा वयगुणसीलेहि चावि परिहीणो ।
संघस्स अणयकारी कुसीलसमणोत्ति णायव्वो ॥' [ ] ६

पर्यायवर्जनात्—अपरिमितापराधत्वेन सर्वपर्यायमपहाय इत्यर्थ ॥५५॥

अथ परिहारस्य लक्षण विकल्पाश्चाह— ९

विधिवद्दूरात्त्यजनं परिहारो निजगणानुपस्थानम् ।
सपरगणोपस्थानं पारञ्चिकमित्ययं त्रिविधः ॥५६॥

निजगणानुपस्थानं—प्रमादादन्यमुनिसबन्धिनमृषि छात्रं गृहस्थ वा परपाषण्डिप्रतिबद्धचेतनाचेतनद्रव्य वा परस्त्रिय वा स्तेनयतो मुनीन् प्रहरतो वा अन्यदप्येवमादि विरुद्धाचरितमाचरतो नवदशपूर्व- १२

पार्श्वस्थ मुनि इन्द्रिय कषाय और पंचेन्द्रियोके विषयोंसे पराभूत होकर चारित्रको तृणके समान मानता है। ऐसे चारित्रभ्रष्ट मुनिको पार्श्वस्थ कहते हैं। जो मुनि उनके पास रहते हैं वे भी वैसे ही बन जाते हैं। जो साधु वैद्यक, मन्त्र और ज्योतिषसे आजीविका करता है तथा राजा आदिकी सेवा करता है वह संसक्त है।

व्यवहारसूत्र (उ. ३) मे कहा है कि संसक्त साधु नटकी तरह बहुरूपिया होता है। पार्श्वस्थोंमे मिलकर पार्श्वस्थ-जैसा हो जाता है, दूसरोंमें मिलकर उन-जैसा हो जाता है इसीसे उसे संसक्त नाम दिया है। जो गुरुकुलको छोड़कर एकाकी स्वच्छन्द विहार करता है उसे स्वच्छन्द या यथाच्छन्द कहते हैं। कहा है—'आचार्यकुलको छोडकर जो साधु एकाकी विहार करता है वह जिनवचनका दूषक मृगके समान आचरण करनेवाला स्वच्छन्द कहा जाता है।'

भगवती आराधना (गा. १३१०)मे कहा है जो मुनि साधुसंघको त्याग कर स्वच्छन्द विहार करता है और आगमविरुद्ध आचारोंकी कल्पना करता है वह स्वच्छन्द है। श्वेताम्बर परम्परामे इसका नाम यथाच्छन्द है। छन्द इच्छाको कहते हैं। जो आगमके विरुद्ध इच्छानुकूल प्रवृत्ति करता है वह साधु यथाच्छन्द है। जो जिनागमसे अनजान है, ज्ञान और आचरणसे भ्रष्ट है, आलसी है उस साधुको अवसन्न कहते है। व्यवहारभाष्यमें कहा है कि जो साधु आचरणमे प्रमादी होता है, गुरुकी आज्ञा नहीं मानता वह अवसन्न है। तथा जो साधु कषायसे कलुषित और व्रत, गुण और शीलसे रहित होता है तथा संघका आदेश नहीं मानता वह कुशील है। इन पाँच प्रकारके साधुओंको पुरानी दीक्षा देकर नयी दीक्षा दी जाती है यह मूल प्रायश्चित्त है ॥५५॥

परिहार प्रायश्चित्तका लक्षण और भेद कहते हैं—

शास्त्रोक्त विधानके अनुसार दिवस आदिके विभागसे अपराधी मुनिको संघसे दूर कर देना परिहार प्रायश्चित्त है। इसके तीन भेद है—निजगुणानुपस्थान, सपरगणोपस्थान और पारंचिक ॥५६॥

धरस्यादित्रिकसहननस्य जितपरीपहस्य दृढधर्मणो धीरस्य भवभीतस्यैतत् प्रायश्चित्तं स्यात् । तेन ऋष्याश्रमाद् द्वात्रिंशद्दण्डान्तरविहितविहारेण बालमुनीनपि वन्दमानेन प्रतिवन्दनाविरहितेन गुरुणा सहालोचयता शेषजनेषु
३ कृतमौनव्रतेन विधृतपराङ्मुखपिच्छेन जघन्यत पञ्च पञ्चोपवासा उत्कृष्टत षण्मासोपवासाः कर्तव्याः । उभयमप्याद्वादशवर्षादिति । दर्पात्पुनरनन्तरोक्तान् दोषानाचरतः परगणोपस्थापनं नाम प्रायश्चित्तं स्यात् । स सापराध स्वगणाचार्येण परगणाचार्यं प्रति प्रहेतव्य । सोऽप्याचार्यस्तस्यालोचनामाकर्ण्य प्रायश्चित्तमदत्वा
६ आचार्यान्तर प्रस्थापयति सप्तम यावत् । पश्चिमश्च प्रथमालोचिताचार्यं प्रति प्रस्थापयति । स एव पूर्वोक्तप्रायश्चित्तेनैनमाचारयति । एवं परिहारस्य प्रथमभेदोऽनुपस्थापनाख्यो द्विविध' । द्वितीयस्त्वयं पाराञ्चिकाख्य । स एष तीर्थंकरगणधरगणिप्रवचनसघाद्यासादनकारकस्य नरेन्द्रविरुद्धाचरितस्य राजानभिमतामात्यादीना
९ दत्तदीक्षस्य नृपकुलवनितासेवितस्यैवमादिभिरन्यैश्च दोषैर्धर्मदूषकस्य स्यात् । तद्यथा, चातुर्वर्ण्यश्रमणसंघः सभूय तमाहूय एष महापापी पातकी समयवाह्यो न वन्द्य इति घोषयित्वा दत्त्वाऽनुपस्थापन प्रायश्चित्तं देशान्निर्घाटयति । सोऽपि स्वधर्मविरहितक्षेत्रे गणिदत्त प्रायश्चित्तमाचरतीति ॥५६॥

विशेषार्थ—अपने संघसे निर्वासित करनेको निज गुणानुपस्थान कहते हैं । जो मुनि नौ या दस पूर्वका धारी है, जिसके आदिके तीन संहननोंमें-से कोई एक संहनन है, परीषहोंका जेता, दृढधर्मी, धीर और संसारसे भयभीत है फिर भी प्रमादवश अन्य मुनियोंसे सम्बद्ध ऋषि (?) अथवा छात्रको, अन्य धर्मावलम्बी साधुओंकी चेतन या अचेतन वस्तुओंको अथवा परस्त्रियोंको चुराता है, मुनियोंपर प्रहार करता है, अन्य भी इस प्रकारके विरुद्ध आचरण करनेवाले उस साधुको निजगुणानुपस्थान नामक प्रायश्चित्त होता है। इस प्रायश्चित्तके अनुसार वह दोषी मुनि मुनियोंके आश्रमसे बत्तीस दण्ड दूर रहकर विहार करता है, बाल मुनियोकी भी वन्दना करता है, उसे बदलेमें कोई वन्दना नहीं करता, केवल गुरुसे आलोचना करता है, शेष जनोंसे वार्तालाप नहीं करता, मौन रहता है, पीछी उलटी रखता है, जघन्यसे पाँच-पाँच उपवास और उत्कृष्टसे छह मासका उपवास उसे करना चाहिए। ये दोनो बारह वर्ष पर्यन्त करना चाहिए । जो मुनि दर्पसे उक्त दोष करता है उसे परगणोपस्थापन प्रायश्चित्त होता है। उस अपराधीको उसके संघके आचार्य दूसरे संघके आचार्यके पास भेज देते है। दूसरे संघके आचार्य भी उसकी आलोचना सुनकर प्रायश्चित्त नहीं देते और तीसरे आचार्यके पास भेज देते है । इस तरह वह सात आचार्योंके पास जाता है । पुनः उसे इसी प्रकार लौटाया जाता है अर्थात् सातवाँ आचार्य छठेके पास, छठा पाँचवेंके पास इस तरह वह प्रथम आचार्यके पास लौटता है । तब वह पहला आचार्य पूर्वोक्त प्रायश्चित्त उसे देता है । इस तरह परिहार प्रायश्चित्तके प्रथम भेद अनुपस्थापनाके दो भेद हैं । दूसरा भेद पारंचिक है । जो तीर्थंकर, गणधर, आचार्य, प्रवचन, सघ आदिकी आसादना करता है, या राजविरुद्ध आचरण करता है, राजाकी स्वीकृतिके बिना उसके मन्त्री आदिको दीक्षा देता है, या राजकुलकी नारीका सेवन करता है और इसी प्रकारके अन्य कार्योंसे धर्मको दूषण लगाता है उसको पारंचिक प्रायश्चित्त दिया जाता है । वह इस प्रकार है—चतुर्विध श्रमण संघ एकत्र होकर उसे बुलाता है । और कहता है यह पातकी महापापी है, जिनधर्म बाह्य है, इसकी वन्दना नहीं करना चाहिए । ऐसी घोषणा करके अनुपस्थान प्रायश्चित्त देकर देशसे निकाल देता है । वह भी अपने धर्मसे रहित क्षेत्रमे रहकर आचार्यके द्वारा दिये गये प्रायश्चित्तको करता है । अभिधान राजेन्द्रकोशमें पारंचिकका विस्तारसे वर्णन है । उसके दो भेद है—आशातना पारंचिक और प्रतिसेवना पारंचिक । तीर्थंकर, प्रवचन, श्रुत, आचार्य

अथ श्रद्धानाख्य प्रायश्चित्तविकल्पमाह—

गत्वा स्थितस्य मिथ्यात्वं यद्दीक्षाग्राहणं पुनः।
तच्छ्रद्धानमिति ख्यातमुपस्थापनमित्यपि ॥५७॥ ३

स्पष्टम् ॥५७॥

अथ प्रायश्चित्तविकल्पदशकस्य यथापराध प्रयोगविधिमाह—

सैषा दशतयी शुद्धिर्बलकालाद्यपेक्षया।
यथा दोषं प्रयोक्तव्या चिकित्सेव शिवार्थिभिः ॥५८॥ ६

शुद्धिः—प्रायश्चित्तम्। कालादि। आदिशब्दात् सत्त्वसहननादि। पक्षे दूष्यादि च। यथाह—

'दूष्य देश बल कालमनलं प्रकृति वय।
सत्त्व सात्म्यं तथाहारमवस्थाश्च पृथग्विधा.॥ ९
सूक्ष्मसूक्ष्मा. समीक्ष्यैका[1] दोषौषधिनिरूपणे।
यो वर्तते चिकित्सायां न स स्खलति जातुचित् ॥' [ ] १२

दोषः—अतिचारो वातादिश्च ॥५८॥

और गणधरकी आशातना करनेपर जो पारंचिक दिया जाता है वह आशातना पारंचिक है। वह पारचिक जघन्यसे छह मास और उत्कृष्ट बारह मास होता है। इतने कालतक अपराधी साधु गच्छसे बाहर रहता है। प्रतिसेवना पारंचिकवाला साधु जघन्यसे एक वर्ष और उत्कृष्ट बारह वर्ष गच्छसे बाहर रहता है। पारंचिक प्रायश्चित्त जिसे दिया जाता है वह नियमसे आचार्य ही होता है इसीलिए वह अन्य गणमें जाकर प्रायश्चित्त करता है। अपने गणमे रहकर करनेसे नये शिष्य साधु तुरन्त जान सकते हैं कि आचार्यने अपराध किया है। इसका उनपर बुरा प्रभाव पड सकता है। परगणमे जानेपर यह बात नही रहती। वहाँ जाकर उसे जिनकल्पिककी चर्या करनी होती है और एकाकी ध्यान और श्रुतचिन्तनमें बारह वर्ष बिताना होते हैं। परगणके आचार्य उसकी देख-रेख रखते हैं। वीरनन्दिकृत आचारसारमे भी (६।५४-६४) इसका विशेष वर्णन है ॥५६॥

श्रद्धान नामक प्रायश्चित्तका स्वरूप कहते है—

जिसने अपना धर्म छोड़कर मिथ्यात्वको अगीकार कर लिया है उसे पुनः दीक्षा देनेको श्रद्धान प्रायश्चित्त कहते है। इसको उपस्थापन भी कहते है ॥५७॥

विशेषार्थ—पुन दीक्षा देनेको उपस्थापना कहते है। तत्त्वार्थवार्तिकमें श्रद्धान नामक प्रायश्चित्त नहीं आता। चारित्रसार[2] तथा आचारसारमे[3] इसका कथन मिलता है ॥५७॥

दोषके अनुसार प्रायश्चित्तके इन दस भेदोंके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं—

जैसे आरोग्यके इच्छुक दोषके अनुसार बल, काल आदिकी अपेक्षासे चिकित्साका प्रयोग करते हैं। वैसे ही कल्याणके इच्छुकोंको बल, काल, संहनन आदिकी अपेक्षासे अपराधके अनुसार उक्त दस प्रकारके प्रायश्चित्तोंका प्रयोग करना चाहिए ॥५८॥

---

१. क्ष्यैपा भ. कु. च।
२ पृ ६४।
३. ६।६५।

अथैव दशधा प्रायश्चित्त व्यवहारात् व्याख्याय निश्चयात्तद्भेदपरिमाणनिर्णयार्थमाह—

व्यवहारनयादित्थं प्रायश्चित्तं दशात्मकम् ।
३ निश्चयात्तदसंख्येयलोकमात्रभिदिष्यते ॥५९॥

लोकः—प्रमाणविशेष. । उक्तं च—

'पल्लो सायर सूई पदरो य घणगुलो य जगसेढी ।
६ लोगपदरो य लोगो अट्ठ पमाणा मुणेयव्वा ॥' [मूलाचार, गा. ११६] ॥५९॥

अथ विनयाख्यतपोविशेपलक्षणार्थमाह—

स्यात् कषायहृषीकाणां विनीतेर्विनयोऽथवा ।
९ रत्नत्रये तद्वति च यथायोग्यमनुग्रहः ॥६०॥

विनीते[1]—विहिते प्रवर्तनात् सर्वथानिरोधाद्वा । तद्वति च–रत्नत्रययुक्ते पुंसि चकाराद् रत्नत्रयतद्भावकानुग्राहिणि नृपादौ च । अनुग्रहः—उपकार. ॥६०॥

१२ अथ विनयशब्दनिर्वचनपुरस्सरं तत्फलमुपदर्शयंस्तस्यावश्यकर्तव्यतामुपदिशति—

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेदोंका व्याख्यान करके निश्चयनयसे उसके भेद करते हैं—

इस प्रकार व्यवहारनयसे प्रायश्चित्तके दस भेद हैं। निश्चयनयसे उसके असंख्यात लोक प्रमाण भेद हैं ॥५९॥

विशेषार्थ—अलौकिक प्रमाणके भेदोंमें एक भेद लोक भी है। प्रमाणके आठ भेद हैं—पल्य, सागर, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगत् श्रेणी, जगत्प्रतर और लोक। निश्चयनय अर्थात् परमार्थसे प्रायश्चित्तके भेद असंख्यात लोक प्रमाण है। क्योंकि दोष प्रमादसे लगता है और आगममें व्यक्त और अव्यक्त प्रमादोंके असंख्यात लोक प्रमाण भेद कहे हैं। अत. उनसे होनेवाले अपराधोंकी विशुद्धिके भी उतने ही भेद होते हैं। अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकमें ९।२२ सूत्रके व्याख्यानके अन्तमें कहा है कि जीवके परिणामोंके भेद असंख्यात लोक प्रमाण होते हैं, अतः अपराध भी उतने ही होते है किन्तु जितने अपराधके भेद हैं उतने ही प्रायश्चित्तके भेद नहीं है। अतः यहाँ व्यवहारनयसे सामूहिक रूपसे प्रायश्चित्तका कथन किया है। 'चारित्रसार'में चामुण्डरायने भी अकलंक देवके ही शब्दोंको दोहराया है ॥५९॥

विनय नामक तपका लक्षण कहते हैं—

क्रोध आदि कषायों और स्पर्शन आदि इन्द्रियोंका सर्वथा निरोध करनेको या शास्त्रविहित कर्ममें प्रवृत्ति करनेको अथवा सम्यग्दर्शन आदि और उनसे सम्पन्न पुरुष तथा 'च' शब्दसे रत्नत्रयके साधकोंपर अनुग्रह करनेवाले राजाओंका यथायोग्य उपकार करनेको विनय कहते हैं ॥६०॥

विनय शब्दकी निरुक्तिपूर्वक उसका फल बतलाते हुए उसे अवश्य करनेका उपदेश देते है—

---

१. थाविरो—भ. कु. च. ।

यद्विनयत्यपनयति च कर्मासत्तं निराहुरिह विनयम् ।
शिक्षायाः फलमखिलक्षेमफलश्चेत्ययं कृत्यः ॥६१॥

अपनयति च—विशेषेण स्वर्गापवर्गौ नयतीति चशब्देन समुच्चीयते । इह—मोक्षप्रकरणे ॥६१॥ ३

अथ विनयस्य शिष्टाभीष्टगुणैकसाधनत्वमाह—

सारं सुमानुषत्वेऽर्हद्रूपसंपदिहार्हती ।
शिक्षास्यां विनयः सम्यगस्मिन् काम्याः सतां गुणाः ॥६२॥

सारं—उपादेयमिष्टफलमिति यावत् । स्वमानुषत्वे—आर्यत्वकुलीनत्वादिगुणोपेते मनुष्यत्वे ॥६२॥ ६

अथ विनयविहीनस्य शिक्षाया विफलत्वमाह—

शिक्षाहीनस्य नटवल्लिङ्गमात्मविडम्बनम् ।
अविनीतस्य शिक्षाऽपि खलमैत्रीव किंफला ॥६३॥ ९

किंफला—निष्फला अनिष्टफला च ॥६३॥

'विनय' शब्द 'वि' उपसर्गपूर्वक 'नी नयने' धातुसे बना है । तो 'विनयतीति विनयः' । विनयतिके दो अर्थ होते हैं—दूर करना और विशेष रूपसे प्राप्त कराना। जो अप्रशस्त कर्मोंको दूर करती है और विशेष रूपसे स्वर्ग और मोक्षको प्राप्त कराती है वह विनय है। यह विनय जिनवचनके ज्ञानको प्राप्त करनेका फल है और समस्त प्रकारके कल्याण इस नियमसे ही प्राप्त होते हैं। अतः इसे अवश्य करना चाहिए ॥६१॥

विशेषार्थ—भारतीय साहित्यमें 'विद्या ददाति विनयम्' विद्यासे विनय आती है, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है। जब विद्यासामान्यसे विनय आती है तो जिनवाणीके अभ्याससे तो विनय आना ही चाहिए, क्योंकि जिनवाणीमें सद्गुणोंका ही आख्यान है। तीर्थंकर प्रकृतिका बन्ध जिन सोलह कारणभावनाओंसे होता है उनमें एक विनयसम्पन्नता भी है। आज पाश्चात्य सभ्यताके प्रभावसे भारतमें विनयको दुर्गुण माना जाने लगा है और विनयीको खुशामदी। किन्तु विनय मतलबसे नहीं की जाती। गुणानुरागसे की जाती है। स्वार्थसे प्रेरित विनय विनय नहीं है ॥६१॥

आगे कहते हैं—इष्ट सद्गुणोंका एकमात्र साधन विनय है—

आर्यता, कुलीनता आदि गुणोंसे युक्त इस उत्तम मनुष्य पर्यायका सार अर्हद्रूप सम्पत्ति अर्थात् जिनरूप नग्नता आदिसे युक्त मुनिपद धारण करना है। और इस अर्हद्रूप सम्पदाका सार अर्हन्त भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित जिनवाणीकी शिक्षा प्राप्त करना है। इस आर्हती शिक्षाका सार सम्यक्विनय है। और इस विनयमें सत्पुरुषोंके द्वारा चाहने योग्य समाधि आदि गुण हैं। इस तरह विनय जैनी शिक्षाका सार और जैन गुणोंका मूल है ॥६२॥

आगे कहते हैं कि विनयहीनकी शिक्षा विफल है—

जैनी शिक्षासे हीन पुरुषका जिनलिंग धारण करना नटकी तरह आत्मविडम्बना मात्र है। जैसे कोई नट मुनिका रूप धारण कर ले तो वह हँसीका पात्र होता है वैसे ही जैन धर्मके ज्ञानसे रहित पुरुषका जिनरूप धारणा करना भी है। तथा विनयसे रहित मनुष्यकी शिक्षा भी दुर्जनकी मित्रताके समान निष्फल है या उसका फल बुरा ही होता है ॥६३॥

अथ विनयस्य तत्त्वार्थमतेन चातुर्विध्यमाचारादिशास्त्रमतेन च पञ्चविधत्वं स्यादित्युपदिशति—

दर्शनज्ञानचारित्रगोचरश्चौपचारिकः ।
३ चतुर्धा विनयोऽवाचि पञ्चमोऽपि तपोगतः ॥६४॥

औपचारिक.—उपचारे धार्मिकचित्तानुग्रहे भवस्तत्प्रयोजनो वा । विनयादित्वात्[1] स्वार्थिको वा वणु (?) । पञ्चमोऽपि । उक्तं च—

६ 'दसणणाणे विणओ चरित्त तव, ओवचारिओ विणओ ।
पचविधो खलु विणओ पचमगइणाइगो भणिओ ॥' [मूलाचार, गा. ३६७] ॥६४॥

अथ सम्यक्त्वविनय लक्षयन्नाह—

९ दर्शनविनयः शङ्काद्यसन्निधिः सोपगूहनादिविधिः ।
[2]भक्त्यर्चावर्णावर्णहृत्यनासादना जिनादिषु च ॥६५॥

शङ्काद्यसन्निधि —शङ्का-काङ्क्षादिमलाना दूरीकरण वर्जनमित्यर्थः । भक्तिः—अर्हदादीना गुणानु-
१२ राग. । अर्चा—द्रव्यभावपूजा । वर्ण —विदुषा परिषदि युक्तिबलाद्यशोजननम् । अवर्णहृतिः—माहात्म्यसमर्थ-
नेनासद्भूतदोषोद्भावनाशनम् । अनासादना—अवज्ञानिवर्तनमादरकरणमित्यर्थ. ॥६५॥

अथ दर्शनविनयदर्शनाचारयोर्विभागनिर्ज्ञानार्थमाह—

१५ दोषोच्छेदे गुणाधाने यत्नो हि विनयो दृशि ।
दृगाचारस्तु तत्त्वार्थरुचौ यत्नो मलात्यये ॥६६॥

मलात्यये—शङ्काद्यभावे सति । सम्यग्दर्शनादीना हि निर्मलीकरणे यत्नं विनयमाहु । तेष्वेव च
१८ निर्मलीकृतेषु यत्नमाचारमाचक्षते ॥६६॥

आगे विनयके तत्त्वार्थसूत्रके मतसे चार और आचार शास्त्रके मतसे पाँच भेद कहते हैं—

तत्त्वार्थशास्त्रके विचारकोंने दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और उपचार विनय, इस प्रकार चार भेद विनयके कहे हैं। और आचार आदि शास्त्रके विचारकोंने तपोविनय नामका एक पाँचवाँ भेद भी कहा है ॥६४॥

विशेषार्थ—तत्त्वार्थ सूत्रमे विनयके चार भेद कहे है और मूलाचारमें पाँच भेद कहे है ॥६४॥

दर्शनविनयको कहते है—

शंका, काक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टि प्रशंसा और अनायतन सेवा इन अतीचारोंको दूर करना दर्शनकी विनय है। उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना गुणोसे इसे युक्त करना भी दर्शनविनय है। तथा अर्हन्त सिद्ध आदिके गुणोसे अनुरागरूप भक्ति, उनकी द्रव्य और भावपूजा, विद्वानोंकी सभामें युक्तिके बलसे जिनशासनको यशस्वी बनाना, उसपर लगाये मिथ्या लांछनोको दूर करना, उसके प्रति अवज्ञाका भाव दूर कर आदर उत्पन्न करना ये सब भी सम्यग्दर्शनकी विनय है ॥६५॥

आगे दर्शनविनय और दर्शनाचारमे अन्तर बतलाते हैं—

सम्यग्दर्शनमे दोषोंको नष्ट करनेमे और गुणोको लानेमे जो प्रयत्न किया जाता है वह विनय है, और दोषोंके दूर होनेपर तत्त्वार्थश्रद्धानमें जो यत्न है वह दर्शनाचार है। अर्थात्

---

१. 'विनयादे' इत्यनेन स्वार्थिके ठणि सति ।—भ कु. च. ।
२. भ. आरा., गा. ७४४ ।

अथाष्टधा ज्ञानविनयं विधेयतयोपदिशति—

शुद्धव्यञ्जनवाच्यतद्द्वयतया गुर्वादिनामाख्यया
योग्यावग्रहधारणेन समये तद्भाजि भक्त्यापि च ।
यत्काले विहिते कृताञ्जलिपुटस्याव्यग्रबुद्धेः शुचेः
सच्छास्त्राध्ययनं स बोधविनयः साध्योऽष्टधापीष्टदः ॥६७॥

शुद्धेत्यादि—शब्दार्थतदुभयावैपरीत्येन । गुर्वादिनामाख्यया—उपाध्यायचिन्तापकाध्येतव्यनामधेयकथनेन । योग्यावग्रहधारणेन—यो यत्र सूत्रेऽध्येतव्ये तपोविशेष उक्तस्तदवलम्बनेन । समये—श्रुते । तद्भाजि—श्रुतधरे । विहिते—स्वाध्यायवेलालक्षणे । सच्छास्त्राध्ययन—उपलक्षणाद् गुणन व्याख्यानं शास्त्रदृष्टधाचरणं च ॥६७॥

अथ ज्ञानविनयज्ञानाचारयोर्विभागनिर्णयार्थमाह—

सम्यग्दर्शन आदिके निर्मल करनेमें जो यत्न है वह विनय है और उनके निर्मल होनेपर उन्हें विशेष रूपसे अपनाना आचार है ॥६६॥

आगे आठ प्रकारकी ज्ञानविनयको पालनेका उपदेश देते है—

शब्द, अर्थ और दोनों अर्थात् शब्दार्थकी शुद्धतापूर्वक, गुरु आदिका नाम न छिपाकर तथा जिस आगमका अध्ययन करना है उसके लिए जो विशेष तप बतलाया है उसे अपनाते हुए, आगममें तथा आगमके ज्ञाताओंमें भक्ति रखते हुए स्वाध्यायके लिए शास्त्रविहित कालमें, पीछी सहित दोनों हाथोंको जोड़कर, एकाग्रचित्तसे मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक, जो युक्तिपूर्ण परमागमका अध्ययन, चिन्तन, व्याख्यान आदि किया जाता है वह ज्ञानविनय है। उसके आठ भेद हैं जो अभ्युदय और मोक्षरूपी फलको देनेवाले हैं। मुमुक्षुको उसे अवश्य करना चाहिए ॥६७॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनकी तरह सम्यग्ज्ञानके भी आठ अंग है—व्यंजनशुद्धि, वाच्यशुद्धि, तदुभयशुद्धि, अनिह्नव, उपधान, कालशुद्धि, विनय और बहुमान। व्यंजन अर्थात् शास्त्रवचन शुद्ध होना चाहिए, पढते समय कोई अक्षर छूटना नहीं चाहिए, न अशुद्ध पढना चाहिए। वाच्य अर्थात् शास्त्रका अर्थ शुद्ध करना चाहिए। तदुभयमें वचन और उसका अर्थ दोनों समग्र और शुद्ध होने चाहिए। जिस गुरुसे अध्ययन किया हो, जिनके साथ ग्रन्थका चिन्तन किया हो तथा जिस ग्रन्थका अध्ययन और चिन्तन किया हो उन सबका नाम न छिपाना अनिह्नव है। आचारांग आदि द्वादशाग और उनसे सम्बद्ध अंग बाह्य ग्रन्थोंके अध्ययनकी जो विधि शास्त्रविहित है, जिसमे कुछ तप आदि करना होता है उसके साथ श्रुतका अध्ययन उपधान है। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे होते हैं जिनका स्वाध्याय कभी भी किया जाता है किन्तु परमागमके अध्ययनके लिए स्वाध्यायकाल नियत है। उस नियत समयपर ही स्वाध्याय करना कालशुद्धि है। मन-वचन-कायकी शुद्धि, दोनों हाथ जोड़ना आदि विनय है, जिनागममे और उसके धारकोंमे श्रद्धा भक्ति होना बहुमान है। इस तरह आठ अग सहित सम्यग्ज्ञानकी आराधना करनेसे स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥६७॥

आगे ज्ञानविनय और ज्ञानाचारमे क्या भेद है ? यह बतलाते हैं—

यत्नो हि कालशुद्ध्यादौ स्याज्ज्ञानविनयोऽत्र तु ।
सति यत्नस्तदाचारः पाठे तत्साधनेषु च ॥६८॥

३ अत्र—कालशुद्ध्यादौ सति । पाठे—श्रुताध्ययने । तत्साधनेषु—पुस्तकादिषु ॥६८॥

अथ चारित्रविनयं व्याचष्टे—

रुच्याऽरुच्यहृषीकगोचररतिद्वेषोज्झनेनोच्छलत्-
६ **क्रोधादिच्छिदयाऽसकृत्समितिषूद्योगेन गुप्त्यास्थया ।**
सामान्येतरभावनापरिचयेनापि व्रतान्युद्धरन्
धन्यः साधयते चरित्रविनयं श्रेयः श्रियः पारयम् ॥६९॥

९ रुच्याः—मनोज्ञाः । गुप्त्यास्थया—शुभमनोवाक्कायक्रियास्वादरेण । सामान्येतरभावना—सामान्येन माऽभूत् कोऽपीह दुःखीत्यादिना । विशेषेण च निगृह्णतो वाङ्मनसी इत्यादिना ग्रन्थेन प्रागुक्ता । पारयं—समर्थं पोषकं वा ॥६९॥

१२ अथ चारित्रविनयतदाचारयोर्विभागलक्षणार्थमाह—

समित्यादिषु यत्नो हि चारित्रविनयो मतः ।
तदाचारस्तु यस्तेषु सत्सु यत्नो व्रताश्रयः ॥७०॥

१५ स्पष्टम् ॥७०॥

कालशुद्धि, व्यंजनशुद्धि आदिके लिए जो प्रयत्न किया जाता है वह ज्ञानविनय है। और कालशुद्धि आदिके होनेपर जो श्रुतके अध्ययनमें और उसके साधक पुस्तक आदिमें यत्न किया जाता है वह ज्ञानाचार है। अर्थात् ज्ञानके आठ अंगोंकी पूर्तिके लिए प्रयत्न ज्ञानविनय है और उनकी पूर्ति होनेपर शास्त्राध्ययनके लिए प्रयत्न करना ज्ञानाचार है ॥६८॥

चारित्रविनयको कहते हैं—

इन्द्रियोंके रुचिकर विषयोंमें रागको और अरुचिकर विषयोंमें द्वेषको त्याग कर, उत्पन्न हुए क्रोध, मान, माया और लोभका छेदन करके, समितियोंमें बारम्बार उत्साह करके, शुभ मन-वचन-कायकी प्रवृत्तियोंमें आदर रखते हुए तथा व्रतोंकी सामान्य और विशेष भावनाओंके द्वारा अहिंसा आदि व्रतोंको निर्मल करता हुआ पुण्यात्मा साधु स्वर्ग और मोक्ष-लक्ष्मीकी पोषक चारित्र विनयको करता है ॥६९॥

विशेषार्थ—जिनसे चारित्रकी विराधना होती है या चारित्रको क्षति पहुँचती है उन सबको दूर करके चारित्रको निर्मल करना चारित्रकी विनय है। इन्द्रियोंके विषयोंको लेकर जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है उसीसे क्रोधादि कषाय उत्पन्न होती हैं। और ये सब चारित्रके घातक हैं। अतः सर्वप्रथम तो इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिपर अंकुश लगाना आवश्यक है। उसमें सफलता मिलनेपर क्रोधादि कषायोंको भी रोका जा सकता है। उनके साथ ही गुप्ति और समितियोंमें विशेष उद्योग करना चाहिए। और पहले जो प्रत्येक व्रतकी सामान्य और विशेष भावना बतलायी हैं उनका चिन्तन भी सतत रहना चाहिए। इस तरह ये सब प्रयत्न चारित्रकी निर्मलतामें कारण होनेसे चारित्रविनय कहा जाता है ॥६९॥

चारित्रविनय और चारित्राचारमें क्या भेद है? यह बतलाते हैं—

समिति आदिमें यत्नको चारित्रविनय कहते हैं। और समिति आदिके होनेपर जो महाव्रतोंमें यत्न किया जाता है वह चारित्राचार है ॥७०॥

अथ प्रत्यक्षपूज्यविषयस्यौपचारिक(विनयस्य) कायिकभेदं सप्तप्रकारं व्याकर्तुमाह—

अभ्युत्थानोचितवितरणोच्चासनाद्युज्झनानु-
व्रज्या पीठाद्युपनयविधिः कालभावाङ्गयोग्य । ३
कृत्याचार. प्रणतिरिति चाङ्गेन सप्तप्रकारः
कार्यः साक्षाद् गुरुषु विनयः सिद्धिकामैस्तुरीयः ॥७१॥

अभ्युत्थान—आदरेणासनादेरुत्थानम् । उचितवितरण—योग्यपुस्तकादिदानम् । उच्चासनादि— ६
उच्चस्थानगमनादि । अनुव्रज्या—प्रस्थितेन सह किंचिद् गमनम् । कालयोग्य —उष्णकालादिपु शीतादि-
क्रिया भावयोग्य. प्रेपणादिकरणम् । अङ्गयोग्य.—शरीरवलयोग्य मर्दनादि । उक्त च—

'पडिरूवकायसफासणदा पडिरूवकालकिरिया य । ९
पेसणकरण संथारकरण उवकरणपडिलिहण ॥' [मूलाचार, गा ३७५]

प्रणतिरिति—इति शब्दादेव प्रकारोऽन्योऽपि सन्मुखगमनादि । सप्रकार. । उक्त च—

'अह ओपचारिओ खलु विणओ तिविहो समासदो भणिओ । १२
सत्त चउव्विह दुविहो बोधव्वो आणुपुव्वीए ॥' [मूलाचार, गा. ३८१] ॥७१॥

अथ तद्वाचिकभेदमाह—

हितं मितं परिमितं वच. सूत्रानुवीचि च । १५
ब्रुवन् पूज्याश्चतुर्भेदं वाचिकं विनयं भजेत् ॥७२॥

हितं—धर्मसंयुक्तम् । मित—अल्पाक्षरवह्वर्थम् । परिमित—कारणसहितम् । सूत्रानुवीचि—

प्रत्यक्षमें वर्तमान पूज्य पुरुपोकी काय सम्वन्धी औपचारिक विनयके सात भेद कहते हैं—

पूज्य गुरुजनोंके साक्षात् उपस्थित होनेपर स्वात्मोपलब्धिरूप सिद्धिके इच्छुक साधुओंको शरीरसे सात प्रकारका औपचारिक विनय करना चाहिए—१. उनके आनेपर आदरपूर्वक अपने आसनसे उठना । २ उनके योग्य पुस्तक आदि देना । ३ उनके सामने ऊँचे आसनपर नहीं बैठना । ४ यदि वे जावे तो उनके साथ कुछ दूरी तक जाना । ५. उनके लिए आसन आदि लाना । ६ काल भाव और शरीरके योग्य कार्य करना अर्थात् गर्मीका समय हो तो शीतलता पहुँचानेका और शीतऋतु हो तो शीत दूर करनेका प्रयत्न करना । ७. प्रणाम करना । इसी प्रकारके अन्य भी कार्य कायिक उपचार विनय है ॥७१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमे कहा है—गुरु आदिके शरीरके अनुकूल मर्दन आदि करना; इसकी विधि यह है कि गुरुके समीपमे जाकर उनकी पीछीसे उनके शरीरको तीन वार पोंछकर आगन्तुक जीवोको वाधा न हो इस तरह आदर पूर्वक जितना गुरु सह सके उतना ही मर्दन करे, तथा वाल वृद्ध अवस्थाके अनुरूप वैयावृत्य करे, गुरुकी आज्ञासे कहीं जाना हो तो जाये, घास वगैरहका सँथरा विछावे ओर प्रात सायं गुरुके उपकरणोंका प्रतिलेखन करे । यह सब कायिक विनय है ॥७१॥

वाचिक औपचारिक विनयके भेद कहते हैं—

पूज्य पुरुपोकी चार प्रकारकी वाचिक विनय करना चाहिए—हित अर्थात् धर्मयुक्त वचन वोले, मित अर्थात् शब्द तो गिने चुने हो किन्तु महान् अर्थ भरा हो, परिमित अर्थात्

आगमविरुद्ध ([1]आगमार्थाविरुद्धम्)। चशब्दाद् भगव-([2]नित्यादिपूजापुरस्सरं वचनं वाणिज्याद्यवर्णकं वाक्य च) ॥७२॥

३ **निरुन्धन्नशुभं भावं कुर्वन् प्रियहिते मतिम्।**
आचार्यादेरवाप्नोति मानसं विनयं द्विधा ॥७३॥

(अशुभ. सम्यक्त्ववि-) राधनप्राणिवधादिकम्। प्रियहिते—प्रिये धर्मोपकारके, हिते च सम्यक्त्व-
६ ज्ञानादिके। आचार्यादे.—सूर्युपाध्यायस्थविरप्रवर्तकगणधरादे ॥७३॥

अथ परोक्षगुर्वादिगोचरमौपचारिकविनय त्रिविध प्रति प्रयुङ्क्ते—

वाङ्मनस्तनुभि' स्तोत्रस्मृत्यञ्जलिपुटादिकम्।
९ **परोक्षेष्वपि पूज्येषु विदध्याद्विनयं त्रिधा ॥७४॥**

अपि पूज्येषु—दीक्षागुरु-श्रुतगुरु-तपोधिकेषु। अपिशब्दात् तपोगुणवयः कनिष्ठेष्वार्येषु श्रावकेषु च यथार्हं विनयकरण लक्षयति। यथाहु —

१२ 'रादिणिए उणरादिणिए सु अ अज्जा सु चेव गिहिवग्गे।
विणओ जहारिहो सो कायव्वो अप्पमत्तेण ॥' [मूलाचार, गा. ३८४]

रादिणिए—राञ्यधिके दीक्षागुरौ श्रुतगुरौ तपोऽधिके चेत्यर्थ। उण रादिणिएसु ऊनरात्रेषु तपसा
१५ गुणैर्वयसा च कनिष्ठेषु साधुष्वित्यर्थ ॥७४॥

कारण होनेपर ही बोले, तथा आगमसे अविरुद्ध बोले। 'च'शब्दसे भगवान्‌की नित्य पूजा आदिसे सम्बद्ध वचन बोले और व्यापार आदिसे सम्बद्ध वचन न बोले ॥७२॥

मानसिक औपचारिक विनयके भेद कहते है—

आचार्य आदिके विषयमे अशुभ भावोंको रोकता हुआ तथा धर्मोपकारक कार्योंमें और सम्यग्ज्ञानादिक विषयमे मनको लगाता हुआ मुमुक्षु दो प्रकारकी विनयको प्राप्त होता है। अर्थात् मानसिक विनयके दो भेद है—अशुभ भावोंसे निवृत्ति और शुभ भावोंमे प्रवृत्ति ॥७३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमे कहा है—संक्षेपमें औपचारिक विनयके तीन भेद हैं—कायिक, वाचिक और मानसिक। कायिकके सात भेद है, वाचिकके चार भेद हैं और मानसिकके दो भेद हैं।[3] दशवैकालिक (अ. ९) मे भी वाचिकके चार तथा मानसिकके दो भेद कहे हैं किन्तु कायिकके आठ भेद कहे है ॥७३॥

आगे परोक्ष गुरु आदिके विषयमे तीन प्रकारकी औपचारिक विनय कहते है—

जो दीक्षागुरु, शास्त्रगुरु और तपस्वी पूज्य जन सामने उपस्थित नही है, उनके सम्बन्धमे वचन, मन और कायसे तीन प्रकारकी विनय करनी चाहिए। वचनसे उनका स्तवन आदि करना चाहिए, मनसे उनके गुणोका स्मरण-चिन्तन करना चाहिए और कायसे परोक्षमे भी उन्हें हाथ जोड़कर प्रणाम आदि करना चाहिए। 'अपि' शब्दसे तात्पर्य है कि जो अपनेसे तपमें, गुणमें और अवस्थामे छोटे है उन साधुओंमें तथा श्रावकोंमें भी यथायोग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

---

१. भ कु च।
२ भ कु च। 'भगव' इत्यतोऽग्रे लिपिकारप्रमादेनाग्रिमश्लोकस्य भाग समागत इति प्रतिभाति।
३ पडिरूवो खलु विणओ काइयजोए य वाय माणसिओ।
अट्ठ चउव्विह दुविहो परूवणा तस्सिया होई ॥

अथ तपोविनयमाह—

यथोक्तमावश्यकमावहन् सहन् परीषहानग्रगुणेषु चोत्सहन्।
भजंस्तपोवृद्धतपांस्यहेलयन् तपोलघूनेति तपोविनीतताम् ॥७५॥

आवश्यकं—अवशस्य कर्म व्याध्यादिपरवशेनापि क्रियत इति कृत्वा। अथवा अवशस्य रागादिभिरनायत्तीकृतस्य कर्म इति विगृह्य 'द्वन्द्वमनोज्ञादे' इत्यनेन वुञ्। अग्रगुणेषु—उत्तरगुणेष्वातपनादिषु संयमविशेषेषु वा उपरिमगुणस्थानेषु वा। तपोवृद्धा—तपांसि वृद्धानि अधिकानि येषां न पुनस्तपसा वृद्धा इति, अलुक्प्रसंगात्। अहेडयन्—अनवजानन्। स्वस्मात्तपसा हीनानपि यथास्वं संभावयन्नित्यर्थः ॥७५॥

अथ विनयभावनाया फलमाह—

ज्ञानलाभार्थमाचारविशुद्ध्यर्थं शिवार्थिभिः।
आराधनादिसंसिद्ध्यै कार्यं विनयभावनम् ॥७६॥

स्पष्टम् ॥७६॥

अथाराधनादीत्यत्रादिशब्दसंगृहीतमर्थजातं व्याकर्तुमाह—

द्वारं यः सुगतेर्गणेशगणयोर्यः कार्मणं यस्तपो-
वृत्तज्ञानऋजुत्वमार्दवयशःसौचित्यरत्नार्णवः।
यः संक्लेशदवाम्बुदः श्रुतगुरूद्योतैकदीपश्च यः
स क्षेप्यो विनयः परं जगदिनाज्ञापारवश्येन चेत् ॥७७॥

सुगतेः—मोक्षस्य। द्वारं सकलकर्मक्षयहेतुत्वात्। स्वर्गस्य वा प्रचुरपुण्यास्रवनिमित्तत्वात्। कार्मणं—वशीकरणम्। सौचित्यं—गुर्वाद्यनुग्रहेण वैमनस्यनिवृत्तिः। संक्लेशः—रागादि। श्रुतं—आचारोक्तक्रमज्ञत्वं

विशेषार्थ—मूलाचारमें भी कहा है—जो अपनेसे बड़े दीक्षा गुरु, शास्त्रगुरु और विशिष्ट तपस्वी हैं, तथा जो तपसे, गुणसे और अवस्थासे छोटे हैं, आर्यिकाएँ हैं, गृहस्थ हैं। उन सबमें भी साधुको प्रमाद छोड़कर यथा योग्य विनय करना चाहिए ॥७४॥

तपोविनयका स्वरूप कहते हैं—

रोग आदि हो जानेपर भी जिनको अवश्य करना होता है अथवा जो कर्म रागादिको दूर करके किये जाते हैं उन पूर्वोक्त आवश्यकोंको जो पालता है, परीषहोंको सहता है, आतापन आदि उत्तर गुणोंमें अथवा ऊपरके गुणस्थानोंमें जानेका जिसका उत्साह है, जो अपनेसे तपमें अधिक हैं उन तपोवृद्धोंका और अनशन आदि तपोंका सेवन करता है तथा जो अपनेसे तपमें हीन हैं उनकी भी अवज्ञा न करके यथायोग्य आदर करता है वह साधु तप विनयका पालक है ॥७५॥

आगे विनय भावनाका फल कहते हैं—

मोक्षके अभिलाषियोंको ज्ञानकी प्राप्तिके लिए, पाँच आचारोंको निर्मल करनेके लिए और सम्यग्दर्शन आदिको निर्मल करना आदि रूप आराधना आदिकी सम्यक् सिद्धिके लिए विनयको बराबर करना चाहिए ॥७६॥

ऊपरके श्लोकमें 'आराधनादि'में आये आदि शब्दसे गृहीत अर्थको कहते हैं—

जो सुगतिका द्वार है, संघके स्वामी और संघको वशमें करनेवाली है, तप, चारित्र, ज्ञान, सरलता, मार्दव, यश और सौचित्यरूपी रत्नोंका समुद्र है। संक्लेशरूपी दावाग्निके लिए मेघके तुल्य है, श्रुत और गुरुको प्रकाशित करनेके लिए उत्कृष्ट दीपकके समान है। ऐसी विनयको भी यदि आत्मद्वेषी इसलिए बुरी कहते हैं कि विनयी पुरुष तीनों लोकोंके नाथकी

कल्पज्ञत्वं च। क्षेप्यः—कुत्स्यो व्यपोह्यो वा। जगदित्यादि—विनये हि वर्तमानो विश्वनाथाज्ञापरायत्त स्यात् ॥७७॥

३ अथ निर्वचन (-लक्षित-) लक्षणे वैयावृत्ये तपसि मुमुक्षुं प्रयुङ्क्ते—

क्लेशसंक्लेशनाशायाचार्यादिदशकस्य यः।
व्यावृत्तस्तस्य यत्कर्म तद्वैयावृत्यमाचरेत् ॥७८॥

६ क्लेशः—कायपीडा। संक्लेशः—दुष्परिणामः। आचार्यादिदशकस्य—आचार्योपाध्यायतपस्वि-शैक्षग्लान-गण-कुल-संघ-साधु-मनोज्ञानाम्। आचरन्ति यस्माद् व्रतानीत्याचार्यः। मोक्षार्थं शास्त्रमुपेत्य यस्मादधीयत इति उपाध्यायः। महोपवासाद्यनुष्ठायी तपस्वी। शिक्षाशीलः शैक्षः। रुजा क्लिष्टशरीरो ग्लानः।

९ स्थविरसन्ततिः गणः। दीक्षकाचार्यशिष्यसंस्त्यायस्त्रीपुरुषसंतानरूपं कुलम्। चातुर्वर्ण्यश्रमणनिवहः संघः। चिरप्रव्रजितः साधुः। लोकसंमतो मनोज्ञः ॥७८॥

अथ वैयावृत्यफलमाह—

१२ **मुक्त्युद्युक्तगुणानुरक्तहृदयो यां कांचिदप्यापदं**
तेषां तत्पथघातिनीं स्ववदवस्यन्योऽङ्गवृत्याऽथवा।
योग्यद्रव्यनियोजनेन शमयत्युद्दघोपदेशेन वा
१५ **मिथ्यात्वादिविषं विकर्षति स खल्वार्हन्त्यमप्यर्हति ॥७९॥**

आज्ञाके पराधीन हो जाता है तो इसीसे सिद्ध है कि विनयको अवश्य करना चाहिए। अर्थात् त्रिलोकीनाथकी आज्ञाके अधीन होना ही विनयके महत्त्वको बतलाता है ॥७७॥

वैयावृत्य तपका निरुक्ति सिद्ध लक्षण बतलाते हुए ग्रन्थकार मुमुक्षुओंको उसके पालनके लिए प्रेरित करते हैं—

आचार्य, उपाध्याय, तपस्वी, शैक्ष, ग्लान, गण, कुल, संघ, साधु और मनोज्ञ इन दस प्रकारके मुनियोंके क्लेश अर्थात् शारीरिक पीड़ा और संक्लेश अर्थात् आर्त रौद्ररूप दुष्परिणामोंका नाश करनेके लिए प्रवृत्त साधु या श्रावक जो कर्म—मन, वचन और कायका व्यापार करता है वह वैयावृत्य है, उसे करना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—व्यावृत्तके भावको वैयावृत्य कहते हैं अर्थात् उक्त दस प्रकारके साधुओंके कायिक क्लेश और मानसिक संक्लेशको दूर करनेमें जो प्रवृत्त होता है, उसका कर्म वैयावृत्य कहाता है। जिनसे मुनि व्रत लेते हैं वे आचार्य होते हैं। जिन मुनियोंके पास जाकर साधु आत्मकल्याणके लिए अध्ययन करते हैं वे उपाध्याय कहलाते हैं। महोपवास आदि करनेवाले साधु तपस्वी कहलाते हैं। नये दीक्षित साधुओंको शैक्ष कहते हैं। जिनके शरीरमें रोग है उन्हें ग्लान कहते हैं। स्थविर साधुओंकी परम्पराको गण कहते हैं। दीक्षा देनेवाले आचार्यकी शिष्य परम्पराको कुल कहते हैं। चार प्रकारके मुनियोंके समूहको संघ कहते हैं। जिस साधुको दीक्षा लिये बहुत काल बीत गया है उसे साधु कहते हैं। और जो लोकमान्य साधु हो उसे मनोज्ञ कहते हैं। इन दस प्रकारके साधुओंका वैयावृत्य करना चाहिए ॥७८॥

वैयावृत्यका फल कहते हैं—

जिस साधु या श्रावकका हृदय मुक्तिके लिए तत्पर साधुओंके गुणोंमें आसक्त है और जो इसीलिए उन साधुओंपर मुक्तिमार्गको घात करनेवाली दैवी, मानुषी, तैरश्ची अथवा

तेषा—मुक्त्युद्युक्तानाम् । तत्पथघातिनी—मुक्तिमार्गोच्छेदिनी । अंगवृत्या—कायचेष्टया । अन्य-(योग्य) द्रव्यनियोजनेन—योग्यौपधान्नवसत्यादिप्रयोगेण । विकर्षति—दूरीकरोति ॥७९॥

अथ साधर्मिकविपदुपेक्षिणो दोषं प्रकाश्य वैयावृत्यस्य तपोहृदयत्व समर्थयते— ३

सधर्मापदि यः शेते स शेते सर्वसंपदि ।
वैयावृत्यं हि तपसो हृदयं ब्रुवते जिना ॥८०॥

हृदय—अन्तस्तत्त्वम् ॥८०॥ ६

भूयोऽपि तत्साध्यमाह—

समाध्याध्यानसानाथ्ये तथा निर्विचिकित्सता ।
सधर्मवत्सलत्वादि वैयावृत्येन साध्यते ॥८१॥ ९

साध्यते—जन्यते ज्ञाप्यते वा । उक्त च—

'गुणाढ्ये पाठके साधौ कृशे शैक्षे तपस्विनि ।
सपक्षे समनुज्ञाते संघे चैव कुले गणे ॥ १२
शय्यायामासने चोपगृहीते पठने तथा ।
आहारे चौषधे कायमलोज्झस्थापनादिषु ॥
मारीदुर्भिक्षचौराध्वव्यालराजनदीषु च । १५
वैयावृत्यं यतेरुक्तं सपरिग्रहरक्षणम् ॥
वालवृद्धाकुले गच्छे तथा गुर्वादिपञ्चके ।
वैयावृत्य जिनैरुक्तं कर्तव्य स्वशक्तित. ॥' [ ] १८

अचेतनकृत कोई विपत्ति आनेपर, उसे अपने ही ऊपर आयी हुई जानकर शारीरिक चेष्टासे अथवा संयमके अविरुद्ध औषधी, आहार, वसति आदिके द्वारा शान्त करता है, अथवा मिथ्या-दर्शन, मिथ्याज्ञान, अविरति, प्रमाद, कषाय और योगरूपी विषको प्रभावशाली शिक्षाके द्वारा दूर करता है वह महात्मा इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदोंकी तो गिनती ही क्या, निश्चयसे तीर्थंकर पदके भी योग्य होता है ॥७९॥

साधर्मियोंपर आयी विपत्तियोंकी उपेक्षा करनेवालेके दोष वतलाकर इस बातका समर्थन करते हैं कि वैयावृत्य तपका हृदय है—

जो साधर्मीपर आपत्ति आनेपर भी सोता रहता है—कुछ प्रतीकार नहीं करता, वह समस्त सम्पत्तिके विषयमें भी सोता है, अर्थात् उसे कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं होती। क्योंकि अर्हन्त देवने वैयावृत्यको वाह्य और अभ्यन्तर तपोंका हृदय कहा है अर्थात् शरीरमें जो स्थिति हृदयकी है वही स्थिति तपोंमें वैयावृत्यकी है ॥८०॥

पुन वैयावृत्यका फल वतलाते हैं—

वैयावृत्यसे एकाग्रचिन्ता निरोध रूप ध्यान, सनाथपना, ग्लानिका अभाव तथा साधर्मीवात्सल्य आदि साधे जाते हैं ॥८१॥

विशेषार्थ—किसी साधुपर ध्यान करते समय यदि कोई उपसर्ग या परीषह आ जाये तो उसे दूर करनेपर साधुका ध्यान निर्विघ्न होता है। इससे वह सनाथता अनुभव करता है कि उसकी भी कोई चिन्ता करनेवाला है। इसी तरह रोगी साधुकी सेवा करनेसे ग्लानि दूर होकर निर्विचिकित्सा अंगका पालन होता है। इन सवसे साधर्मिवात्सल्य तो वढता ही है।

गुणाढ्ये—गुणाधिके । कृशे—व्याध्याक्रान्ते । शय्याया—वसतौ । उपगृहीते—उपकारे आचार्या दिस्वीकृते वा । सपरिग्रहरक्षण—सगृहीतरक्षणोपेतम् । अथवा गुणाढ्यादीनामागताना संग्रहो रक्षा च
३ कर्तव्येत्यर्थ. । बाला —नवकप्रव्रजिता । वृद्धा.—तपोगुणवयोभिरधिका. । गच्छे सप्तपुरुषसन्ताने गुर्वादिगच्छके आचार्योपाध्यायप्रवर्तकस्थविरगणधरेषु ॥८१॥

अथ मुमुक्षो स्वाध्याये नित्याभ्यासविधिपूर्वक निरुक्तिमुखेन तदर्थमाह—

६ नित्यं स्वाध्यायमभ्यस्येत्कर्मनिर्मूलनोद्यतः ।
स हि स्वस्मै हितोऽध्यायः सम्यग्वाऽध्ययनं श्रुतेः ॥८२॥

हित —सवरनिर्जराहेतुत्वात् । सम्यगित्यादि—सुसम्यगाकेवलज्ञानोत्पत्तेः श्रुतस्याध्ययन स्वाध्याय-
९ इत्यन्वर्थाश्रयणात् ॥८२॥

वैयावृत्यके सम्बन्धमे कहा है—गुणोंमे अधिक उपाध्याय, साधु, दुर्वल या व्याधिसे ग्रस्त नवीन साधु, तपस्वी, और संघ कुल तथा गणकी वैयावृत्य करना चाहिये। उन्हें वसतिकामे स्थान देना चाहिए, वैठनेको आसन देना चाहिए, पठनमे सहायता करनी चाहिए तथा आहार, औषधमें, सहयोग करना चाहिए। मल निकल जाये तो उसे उठाना चाहिए। इसी तरह मारी, दुर्भिक्ष, चोर, मार्ग, सर्पादि तथा नदी आदिमे स्वीकृत साधु आदिकी रक्षाके लिए वैयावृत्य कहा है। अर्थात् जो मार्गगमनसे थका है, या चोरोंसे सताया गया है, नदीके कारण त्रस्त है, सिंह, व्याघ्र आदिसे पीड़ित हैं, भारी रोगसे ग्रस्त है, दुर्भिक्षसे पीड़ित है उन सवका संरक्षण करके उनकी सेवा करनी चाहिए। वाल और वृद्ध तपस्वियोंसे आकुल गच्छकी तथा आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, प्रवर्तक और गणधर इन पाचोंकी सर्व-शक्तिसे वैयावृत्य करना चाहिये। ऐसा जिनदेवने कहा है ॥८१॥

अव मुमुक्षुको नित्य विधिपूर्वक स्वाध्यायका अभ्यास करनेकी प्रेरणा करते हुए स्वाध्यायका निरुक्तिपूर्वक अर्थ कहते है—

ज्ञानावरणादि कर्मोंके अथवा मन वचन कायकी क्रियाके विनाशके लिए तत्पर मुमुक्षुको नित्य स्वाध्याय करना चाहिए। क्योंकि 'स्व' अर्थात् आत्माके लिए हितकारक परमागम-के 'अध्याय' अर्थात् अध्ययनको स्वाध्याय कहते है। अथवा 'सु' अर्थात् सम्यक् श्रुतके जव तक केवलज्ञान उत्पन्न हो तव तक अध्ययनको स्वाध्याय कहते है ॥८२॥

विशेषार्थ—स्वाध्याय शब्दकी दो निरुक्तियाँ है—स्व+अध्याय और सु+अध्याय। अध्यायका अर्थ अध्ययन है। स्व आत्माके लिए हितकर शास्त्रोंका अध्ययन स्वाध्याय है क्योकि समीचीन शास्त्रोंके स्वाध्यायसे कर्मोंका संवर और निर्जरा होती है। और 'सु' अर्थात् सम्यक् शास्त्रोंका अध्ययन स्वाध्याय हैं ॥८२॥

---

१. आइरियादिसु पचसु सवालवुड्ढाउलेसु गच्छेसु ।
वैयावच्च वुत्त कादव्व सव्वसत्तीए ॥
गुणाधिए उवज्झाए तवस्सि सिस्से य दुव्वले ।
साहुगणे कुले संघे समणुण्णे य चापदि ॥
सेज्जोगासणिसेज्जो तहोवहिपडिलेहणाहि उवग्गहिदे ।
आहारोसहवायण विकिंचिणं वदणादीहिं ॥—मूलाचार, ५।१९२-१९४

अथ सम्यक्शब्दार्थकथनपुरस्सर स्वाध्यायस्याद्य वाचनाख्य भेदमाह—

शब्दार्थशुद्धता द्रुतविलम्बिताद्यूनता च सम्यक्त्वम् ।
शुद्धग्रन्थार्थोभयदानं पात्रेऽस्य वाचना भेद ॥८३॥ ३

द्रुतेत्यादि—द्रुतमपरिभाव्य झटित्युच्चरितम् । विलम्बितमस्थाने विश्रम्य विश्रम्योच्चरितम् । आदि-शब्देनाक्षरपदच्युतादिदोषास्तद्हीनत्वम् । वाचना—वाचनाख्य ॥८३॥

अथ स्वाध्यायस्य प्रच्छनाख्यं द्वितीय भेद लक्षयति— ६

प्रच्छनं संशयोच्छित्त्यै निश्चितद्रढनाय वा ।
प्रश्नोऽधीतिप्रवृत्त्यर्थत्वादधीतिरसावपि ॥८४॥

सशयोच्छित्त्यै—ग्रन्थेऽर्थे तदुभये वा किमिदमित्थमन्यथा वेति सन्देहमुच्छेत्तुम् । निश्चितदृढनाय— ९
इदमित्थमेवेति निश्चितेऽर्थे बलमाधातुम् । अधीतीत्यादि—अध्ययनप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन प्रश्नोऽप्यध्ययनमित्युच्यते, इति न सामान्यलक्षणस्याव्याप्तिरिति भाव ॥८४॥

अथवा मुख्य एव प्रश्ने स्वाध्यायव्यपदेश इत्याह— १२

किमेतदेवं पाठ्यं किमेषोऽर्थोऽस्येति संशये ।
निश्चितं वा द्रढयितुं पृच्छन् पठति नो न वा ॥८५॥

एतद्—अक्षर पद वाक्यादि । निश्चित—पदमर्थं वा । पठति नो न—पठत्येवेत्यर्थ. ॥८५॥ १५

आगे 'सम्यक्' शब्दका अर्थ बतलाते हुए स्वाध्यायके प्रथम भेद वाचनाका स्वरूप कहते हैं—

शब्दकी शुद्धता, अर्थकी शुद्धता, बिना विचारे न तो जल्दी-जल्दी पढना और न अस्थानमे रुक-रुककर पढना, तथा 'आदि' शब्दसे पढ़ते हुए अक्षर या पद न छोड़ना ये सब सम्यक्त्व या समीचीनता है । और विनय आदि गुणोसे युक्त पात्रको शुद्ध ग्रन्थ, शुद्ध उसका अर्थ और शुद्ध ग्रन्थ तथा अर्थ प्रदान करना स्वाध्यायका भेद वाचना है ॥८३॥

स्वाध्यायके दूसरे भेद प्रच्छनाका स्वरूप कहते हैं—

ग्रन्थ, अर्थ और दोनोके विषयमें 'क्या यह ऐसा है या अन्यथा है' इस सन्देहको दूर करनेके लिए अथवा 'यह ऐसा ही है' इस प्रकारसे निश्चितको भी दृढ करनेके लिए प्रश्न करना पृच्छना है । इसपर यह शंका हो सकती है कि स्वाध्यायका लक्षण तो अध्ययन कहा है । यह लक्षण प्रश्नमे कैसे घटित होता है । प्रश्न तो अध्ययन नहीं है ? इसके समाधानके लिए कहते हैं । प्रश्न अध्ययनकी प्रवृत्तिमे निमित्त है । प्रश्नसे अध्ययनको बल मिलता है इसलिए वह भी स्वाध्याय है ॥८४॥

विशेषार्थ—बहुत-से लोग स्वाध्याय करते है किन्तु कोई शब्द या अर्थ या दोनों समझमे न आनेसे अटक जाते है । यदि कोई समझानेवाला न हुआ तो उनकी गाडी ही रुक जाती है और स्वाध्यायका आनन्द जाता रहता है । अत प्रश्न करना स्वाध्यायका मुख्य अग है । मगर उस प्रश्न करनेके दो ही उद्देश होने चाहिए, अपने सन्देहको दूर करना और अपने समझे हुएको दृढ करना । यदि वह केवल विवादके लिए या पाण्डित्य प्रदर्शनके लिए है तो वह स्वाध्यायका अंग नहीं है ॥८४॥

आगे कहते हैं कि प्रश्नका स्वाध्याय नाम औपचारिक नहीं है मुख्य है—

क्या इसे ऐसे पढना चाहिए ? क्या इस पदका यह अर्थ है ? इस प्रकारका संशय होनेपर या निश्चितको दृढ करनेके लिए पूछने वाला क्या पढता नहीं है ? पढता ही है ॥८५॥

अथानुप्रेक्षाख्यं तद्विकल्पं लक्षयति—

साऽनुप्रेक्षा यदभ्यासोऽधिगतार्थस्य चेतसा।
स्वाध्यायलक्ष्म पाठोऽन्तर्जल्पात्माऽत्रापि विद्यते ॥८६॥

३

विद्यते—अस्ति प्रतीयते वा। आचारटीकाकारस्तु 'प्रच्छन्नशास्त्रश्रवणमनुप्रेक्ष्य वाऽनित्यत्वाद्यनु-चिन्तनमिति व्याचष्टे ॥८६॥

६ अथाम्नाय धर्मोपदेश च तद्भेदमाह—

आम्नायो घोषशुद्धं यद् वृत्तस्य परिवर्तनम्।
धर्मोपदेशः स्याद्धर्मकथा संस्तुतिमङ्गला ॥८७॥

९ घोषशुद्धं—घोप उच्चारणं शुद्धो द्रुतविलम्बितादिदोपरहितो यत्र। वृत्तस्य—पठितस्य शास्त्रस्य। परिवर्तन—अनूद्यवचनम्। सस्तुति—देववन्दना। मङ्गलं—पञ्चनमस्काराशी. शान्त्यादिवचनादि। उक्त च—

१२ 'परियट्टणा य वायण पच्छणमणुपेहणा य धम्मकहा।
थुदिमगलसंजुत्तो पंचविहो होइ सज्झाओ ॥' [मूलाचार, गा. ३९३]

धर्मकथेति त्रिपष्टिशलाकापुरुपचरितानीत्याचारटीकायाम् ॥८७॥

१५ अथ धर्मकथायाश्चातुर्विध्यं दर्शयन्नाह—

विशेषार्थ—इस शब्द, पद या वाक्यको कैसे पढना चाहिये यह शब्दविपयक पृच्छा है और इस शब्द, पद या वाक्यका क्या अर्थ है, यह अर्थविषयक पृच्छा है। ग्रन्थकार कहते हैं जो ऐसा पूछता है क्या वह पढता नहीं है, पढता है तभी तो पूछता है। अतः प्रश्न करना मुख्य रूपसे स्वाध्याय है ॥८५॥

स्वाध्यायके भेद अनुप्रेक्षाका स्वरूप कहते है—

जाने हुए या निश्चित हुए अर्थका मनसे जो वार-वार चिन्तवन किया जाता है वह अनुप्रेक्षा है। इस अनुप्रेक्षामें भी स्वाध्यायका लक्षण अन्तर्जल्प रूप पाठ आता है ॥८६॥

विशेपार्थ—वाचना वगैरहमे वहिर्जल्प होता है और अनुप्रेक्षामें मन ही मनमे पढने या विचारनेसे अन्तर्जल्प होता है। अत स्वाध्यायका लक्षण उसमे भी पाया जाता है। मूलाचारकी टीकामे (५।१९६) अनित्यता आदिके वार-वार चिन्तवनको अनुप्रेक्षा कहा है और इस तरह उसे स्वाध्यायका भेद स्वीकार किया है ॥८६॥

आगे स्वाध्यायके आम्नाय और धर्मोपदेश नामक भेदोंका स्वरूप कहते हैं—

पढ़े हुए ग्रन्थके शुद्धतापूर्वक पुनः पुन. उच्चारणको आम्नाय कहते है। और देव-वन्दनाके साथ मंगल पाठपूर्वक धर्मका उपदेश करनेको धर्मकथा कहते है ॥८७॥

विशेपार्थ—पठित ग्रन्थको शुद्धता पूर्वक उच्चारण करते हुए कण्ठस्थ करना आम्नाय है। मूलाचारकी टीकामें तेरसठ शलाका पुरुपोके चरितको धर्मकथा कहा है अर्थात् उनकी चर्चा वार्ता धर्मकथा है ॥८७॥

आगे धर्मकथाके चार भेदोंका स्वरूप कहते हैं—

आक्षेपणीं स्वमतसंग्रहणी समेक्षी, विक्षेपणीं कुमतनिग्रहणीं यथार्हम्।
संवेजनीं प्रथयितुं सुकृतानुभावं, निर्वेदनी वदतु धर्मकथां विरक्त्यै ॥८८॥

समेक्षी—सर्वत्र तुल्यदर्शी उपेक्षाशील इत्यर्थ । सुकृतानुभावं—पुण्यफलमपदम् । विरक्त्यै— ३
भवभोगशरीरेषु वैराग्यं जनयितुम् ॥८८॥

अथ स्वाध्यायसाख्यान्यभिधातुमाह—

प्रज्ञोत्कर्षजुषः श्रुतस्थितिपुषश्चेतोऽक्षसंज्ञामुषः ६
संदेहच्छिदुराः कषायभिदुराः प्रोद्यत्तपोमेदुराः।
संवेगोल्लसिता. सदध्यवसिताः सर्वातिचारोज्झिताः
स्वाध्यायात् परवाद्यशङ्कितधियः स्युः शासनोद्भासिनः ॥८९॥ ९

धर्मकथाके चार भेद हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेजनी और निर्वेदनी। समदर्शी वक्ताको यथायोग्य अनेकान्त मतका संग्रह करनेवाली आक्षेपणी कथाको, एकान्तवादी मतोंका निग्रह करनेवाली विक्षेपणी कथाको, पुण्यका फल बतलानेके लिए सवेजनी कथाको और संसार शरीर और भोगोंमे वैराग्य उत्पन्न करानेके लिए निर्वेदनी कथाको कहना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—भगवती आराधना (गा-६५६-६५७) मे धर्मकथाके उक्त चार भेद कहे हैं। जिस कथामे ज्ञान और चारित्रका कथन किया जाता है कि मति आदि ज्ञानोंको यह स्वरूप है और सामायिक आदि चारित्रका यह स्वरूप है उसे आक्षेपणी कहते है। जिस कथामें स्वसमय और परसमयका कथन किया जाता है वह विक्षेपणी है। जैसे वस्तु सर्वथा नित्य है, या सर्वथा क्षणिक है, या सर्वथा एक ही है, या सर्वथा अनेक ही है, या सच सरस्वरूप ही है, या विज्ञानरूप ही है, या सर्वथा शून्य है इत्यादि। परसमयको पूर्वपक्षके रूपमे उपस्थित करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगमसे उसमे विरोध वतलाकर कथचित् नित्य, कथचित् अनित्य, कथंचित् एक, कथंचित् अनेक इत्यादि स्वरूपमयका निरूपण करना विक्षेपणी कथा है। ज्ञान, चारित्र और तपके अभ्याससे आत्मामे कैसी-कैसी शक्तियाँ प्रकट होती हैं इसका निरूपण करनेवाली कथा सवेजनी है। शरीर अपवित्र है क्योकि रस आदि सात धातुओंसे बना है, रज और वीर्य उसका बीज है, अशुचि आहारसे उसकी वृद्धि होती है और अशुचि स्थानसे वह निकलता है। और केवल अशुचि ही नहीं है असार भी है। तथा स्त्री, वस्त्र, गन्ध, माला-भोजन आदि भोग प्राप्त होनेपर भी तृप्ति नहीं होती। उनके न मिलनेपर या मिलनेके बाद नष्ट हो जानेपर महान् शोक होता है। देव और मनुष्य पर्याय भी दु:खबहुल है, सुख कम है। इस प्रकार शरीर और भोगोंसे विरक्त करनेवाली कथा निर्वेदनी है ॥८८॥

स्वाध्यायके लाभ बतलाते हैं—

स्वाध्यायसे मुमुक्षुकी तर्कणाशील बुद्धिका उत्कर्ष होता है, परमागमकी स्थितिका पोषण होता है अर्थात् परमागमकी परम्परा पुष्ट होती है। मन, इन्द्रियाँ और संज्ञा अर्थात् आहार, भय, मैथुन और परिग्रहकी अभिलाषाका निरोध होता है। सन्देह अर्थात् संशयका

---

१. आक्षेपिणी कथा कुर्यात् प्राज्ञ स्वमतसंग्रहे। विक्षेपिणी कथा तज्ज्ञ कुर्याद् दुर्मतनिग्रहे ॥
सवेदिनी कथा पुण्यफलसम्पत्प्रपञ्चने। निर्वेदिनी कथा कुर्याद् वैराग्यजननं प्रति ॥
—महापु. १।१३५-१३६।

संज्ञा:—आहाराद्यभिलाषाः । सदध्यवसिताः—प्रशस्ताध्यवसायाः । शासनोद्भासिनः—जिनमत-प्रभावकाः ॥८९॥

अथ स्तुतिलक्षणस्वाध्यायफलमाह—

शुद्धज्ञानघनार्हदद्भुतगुणग्रामग्रहव्यग्रधी-
स्तद्व्यक्त्युद्धुरनूतनोक्तिमधुरस्तोत्रस्फुटोद्गारगीः ।
मूर्तिं प्रश्रयनिर्मितामिव दधत्तात्किंचिदुन्मुद्रय-
त्यात्मस्थाम कृती यतोऽरिजयिनां प्राप्नोति रेखां धुरि ॥९०॥

छेदन होता है, क्रोधादि कषायोंका भेदन होता है। दिनोदिन तपमें वृद्धि होती है। संवेग भाव बढ़ता है। परिणाम प्रशस्त होते हैं। समस्त अतीचार दूर होते हैं. अन्यवादियोंका भय नहीं रहता, तथा जिनशासनकी प्रभावना करनेमें मुमुक्षु समर्थ होता है ॥८९॥

विशेषार्थ—समस्त जिनागम चार अनुयोगोंमें विभाजित है—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग। जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषोंका चरित वर्णित है तथा धार्मिक कथाएँ हैं वे सब ग्रन्थ प्रथमानुयोगमें आते हैं। ऐसे ग्रन्थोंका स्वाध्याय करनेसे पुरातन इतिवृत्तका ज्ञान होनेके साथ पुण्य और पापके फलका स्पष्ट बोध होता है। उससे स्वाध्याय करनेवालेका मन पापसे हटकर पुण्यकार्योंमें लगता है। साथ ही पुण्यमें आसक्तिका भी बुरा फल देखकर पापकी तरह पुण्यको भी हेय मानकर संसारसे विरक्त होकर आत्मसाधनामें लगता है। जो प्रथम स्वाध्यायमें प्रवृत्त होते हैं उनके लिए कथा प्रधान ग्रन्थ बहुत उपयोगी होते हैं, उनमें उनका मन लगता है इससे ही इसे प्रथम अनुयोग कहा है। करण परिणामको कहते हैं और करण गणितके सूत्रोंको भी कहते हैं। अतः जिन ग्रन्थोंमें लोकरचनाका, मध्यलोकमें होनेवाले कालके परिवर्तनका, चारों गतियोंका तथा जीवके परिणामोंके आधारपर स्थापित गुणस्थानों, मार्गणास्थानों आदिका कथन होता है उन्हें करणानुयोग कहते हैं। करणानुयोगके आधारपर ही विपाकविचय और संस्थानविचय नामक धर्मध्यान होते हैं। और गुणस्थानोंके बोधसे जीव अपने परिणामोंको सुधारनेका प्रयत्न करता है। जिन ग्रन्थोंमें श्रावक और मुनिके आचारका वर्णन होता है उन्हें चरणानुयोग कहते हैं। मोक्षकी प्राप्तिमें चारित्रका तो प्रमुख स्थान है अतः मुमुक्षुको चारित्र प्रतिपादक ग्रन्थोंका तो स्वाध्याय करना ही चाहिए। उसके बिना चारित्रकी रक्षा और वृद्धि सम्भव नहीं है। तथा जीवाजीवादि सात तत्त्वोंका, नव पदार्थोंका, षट् द्रव्योंका जिसमें वर्णन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। उसकी स्वाध्यायसे तत्त्वोंका सम्यग्ज्ञान होकर आत्मतत्त्वकी यथार्थ प्रतीति होती है। इसके साथ ही स्वाध्यायसे बुद्धि तीक्ष्ण होती है, इन्द्रिय-मन आदिको वशमें करनेका बल मिलता है। दर्शन शास्त्रका अध्ययन करनेसे किसी अन्य मतावलम्बीसे भय नहीं रहता। आजके युगमें स्वाध्यायसे बढ़कर दूसरा तप नहीं है। अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए ॥८९॥

आगे स्तुतिरूप स्वाध्यायका फल कहते हैं—

स्तुतिरूप स्वाध्यायमें प्रवृत्त मुमुक्षुकी मनोवृत्ति निर्मल ज्ञानघनस्वरूप अर्हन्त भगवान्के गुणोंके समूहमें आग्रही होनेके कारण आसक्त रहती है। उसकी वचनप्रवृत्ति भगवान्के गुणोंकी व्यक्तिसे भरे हुए और नयी-नयी उक्तियोंसे मधुर स्तोत्रोंके प्रकट उल्लासको लिये हुए होती है। तथा उसकी शरीरयष्टि ऐसी होती है मानो वह विनयसे ही बनी है। इस तरह

ग्रहः—अभिनिवेश । आत्मस्याम—स्ववीर्यम् । अरिजयिना—मोहजेतॄणाम् ॥९०॥

अथ पञ्चनमस्कारस्य परममङ्गलत्वमुपपाद्य तज्जपस्योत्कृष्टस्वाध्यायरूपता निरूपयति—

मलमखिलमुपास्त्या गालयत्यङ्गिनां य-
च्छिवफलमपि मङ्गं लाति यत्तत्पराध्यम् ।
परमपुरुषमन्त्रो मङ्गलं मङ्गलानां
श्रुतपठनतपस्यानुत्तरा तज्जपः स्यात् ॥९१॥ ३ ६

अखिल—उपात्तमपूर्वं च । उपास्त्यो—वाङ्मनसजपकरणलक्षणाराधनेन । मङ्ग—पुण्यम् । उक्त च—

'मलं पापमिति प्रोक्तमुपचारसमाश्रयात् ।
तद्धि गालयतीत्युक्तं मङ्गलं पण्डितैर्जनैः ॥' ९

तथा—

'मङ्गशब्दोऽयमुद्दिष्ट पुण्यार्थस्याभिधायकः ।
तल्लातीत्युच्यते सद्भिर्मङ्गलं मङ्गलार्थिभि. ॥' [ ] १२

वह ज्ञानी अपनी अनिर्वचनीय आत्मशक्तिको प्रकट करता है जिससे वह मोहको जीतनेवालोंकी अग्र पंक्तिको पाता है ॥९०॥

विशेपार्थ—भगवान् अर्हन्त देवके अनुपम गुणोंका स्तवन भी स्वाध्याय ही है । जो मन-वचन-कायको एकाग्र करके स्तवन करता है वह एक तरहसे अपनी आत्मशक्तिको ही प्रकट करता है । कारण यह है कि स्तवन करनेवालेका मन तो भगवान्‌के गुणोमे आसक्त रहता है क्योंकि वह जानता है कि शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप परमात्माके ये ही गुण हैं । उसके वचन स्तोत्र पाठमें संलग्न रहते हैं । जिसमे नयी-नयी बाते आती हैं । स्तोत्र पढते हुए पाठक विनम्रताकी मूर्ति होता है । इस तरह अपने मन-वचन-कायसे वह भगवान्‌का गुणानुवाद करते हुए उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा व्यक्त करके अपनेको तन्मय करता है । यह तन्मयता ही उसे मोहविजयी बनाती है क्योंकि शुद्धात्मा के गुणोंमे जो अनुराग होता है वह सांसारिक रागद्वेपका उन्मूलक होता है ॥९०॥

आगे पंचनमस्कार मन्त्रको परममंगल और उसके जपको उत्कृष्ट स्वाध्याय बतलाते है—

पैंतीस अक्षरोंके पंचनमस्कार मन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जप करने रूप उपासनासे प्राणियोंका पूर्वबद्ध तथा आगामी समस्त पाप नष्ट होता है तथा अभ्युदय और कल्याणको करनेवाले पुण्यको लाता है इसलिए यह मंगलोमे उत्कृष्ट मंगल है । तथा उसका जप उत्कृष्ट स्वाध्यायरूप तप है ॥९१॥

विशेपार्थ—मंगल शब्दकी निरुक्ति धवलाके प्रारम्भमें इस प्रकार की है—'मलं गालयति विनाशयति दहति हन्ति विशोधयति विध्वंसयतीति मङ्गलम् ॥' [पु. १, पृ ३२] जो मलका गालन करता है, विनाश करता है, जलाता है, घात करता है, शोधन करता है या विध्वंस करता है उसे मंगल कहते हैं । कहा है—उपचारसे पापको भी मल कहा है । उसका गालन करता है इसलिए पण्डितजन उसे मंगल कहते है ।

दूसरी व्युत्पत्तिके अनुसार मंग शब्दका अर्थ सुख है, उसे जो लावे वह मंगल है । कहा है—यह मग शब्द पुण्यरूप अर्थका कथन करता है, उसे लाता है इसलिए मंगलके

पराघ्यँ—प्रधानम् । यथाह—

'एसो पच णमोकारो' इत्यादि । परमपुरुषमन्त्रः—पञ्चत्रिंशदक्षरोऽपराजितमन्त्र. । मल गाल्यति

३ मङ्ग च लाति ददातीति मङ्गलशब्दस्य व्युत्पादनात् । श्रुतपठनतपरया—स्वाध्यायारम्यं तप. । अनुत्तरा—परमा । यथाह—

'स्वाध्याय. परमस्तावज्जपः पञ्चनमस्कृतेः ।

६ पठन वा जिनेन्द्रोक्तशास्त्रस्यैकाग्रचेतसा ॥' [तत्त्वानु. ८०] ॥९१॥

अथाशी शान्त्यादिवचनरूपस्यापि मङ्गलस्यार्हद्ध्याननिष्ठस्य श्रेयस्करत्वं कथयति—

अर्हद्ध्यानपरस्यार्हन् शं वो दिश्यात् सदास्तु वः ।

९ शान्तिरित्यादिरूपोऽपि स्वाध्यायः श्रेयसे मत. ॥९२॥

शान्तिः । तल्लक्षण यथा—

'सुखतद्धेतुसप्राप्तिर्दु.खतद्धेतुवारणम् ।

१२ तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक् शान्तिरिष्यते ॥' [ ]

इत्यादि जयवादादि ॥९२॥

इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं। पंचनमस्कार मन्त्रकी वाचनिक या मानसिक जपसे समस्त संचित पापका नाश होता है और आगामी पापका निरोध होता है तथा सासारिक ऐश्वर्य और मोक्षसुखकी भी प्राप्ति होती है इसीलिए इसे मंगलोंमे भी परम मंगल कहा है। आप्तपरीक्षाके प्रारम्भमे स्वामी विद्यानन्दने परमेष्ठीके गुणस्तवनको परम्परासे मंगल कहा है क्योकि परमेष्ठीके गुणोंके स्तवनसे आत्मविशुद्धि होती है। उससे धर्मविशेषकी उत्पत्ति और अधर्मका प्रध्वंस होता है। पंचनमस्कार मन्त्रमे पंचपरमेष्ठीको ही नमस्कार किया गया है। उस मन्त्रका जप करनेसे पापका विनाश होता है और पुण्यकी उत्पत्ति होती है। पापोंका नाश करनेके कारण ही इसे प्रधान मंगल कहा है। कहा है—यह पंचनमस्कार मन्त्र सब पापोका नाशक है और सब मंगलोमे प्रथम मंगल है।

इसके साथ नमस्कार मन्त्रका जाप करना स्वाध्याय भी है। कहा भी है—'पंचनमस्कार मन्त्रका जप अथवा एकाग्रचित्तसे जिनेन्द्र भगवान्‌के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रका पढना परम स्वाध्याय है' ॥९१॥

आगे कहते हैं कि अर्हन्तके ध्यानमे तत्पर मुमुक्षुका आशीर्वाद रूप और शान्ति आदि रूप मंगल वचन कल्याणकारी होता है—

जो साधु प्रधान रूपसे अर्हन्तके ध्यानमें तत्पर रहता है उसके 'अर्हन्त तुम्हारा कल्याण करे' या 'तुम्हें सदा शान्ति प्राप्त हो, इत्यादि रूप भी स्वाध्याय कल्याणकारी मानी गयी है ॥९२॥

विशेषार्थ—'भी' शब्द बतलाता है कि केवल वाचना आदि रूप स्वाध्याय ही कल्याणकारी नही है किन्तु जो साधु निरन्तर अर्हन्तके ध्यानमे लीन रहता है उसके आशीर्वाद रूप वचन, शान्तिपरक वचन और जयवादरूप वचन भी स्वाध्याय है। शान्तिका लक्षण इस प्रकार है—सुख और उसके कारणोंकी सम्यक् प्राप्ति तथा दु.ख और उसके कारणोंका निवारण तथा इसी तरह सुखके कारणोंके भी कारणोकी प्राप्ति और दुःखके कारणोके भी कारणोकी निवृत्तिको शान्ति कहते है। अर्थात् जिन वचनोंसे सुख और उसके कारण तथा कारणोके भी

अथ व्युत्सर्गं द्विभेदमुक्त्वा द्विधैव[1] तद्भावनामाह—

बाह्यो भक्तादिरुपधिः क्रोधादिश्चान्तरस्तयोः।
त्यागं व्युत्सर्गमस्वन्तं मितकालं च भावयेत् ॥९३॥ ३

बाह्य.—आत्मनाऽनुपात्तस्तेन सहैकत्वमनापन्न इत्यर्थ । भक्तादि.—आहारवसत्यादि । अस्वन्तं—प्राणान्तं यावज्जीवमित्यर्थ । मितकाल—मुहूर्तादिनियतसमयम् ॥९३॥

अथ व्युत्सर्गशब्दार्थं निरुक्त्या व्यनक्ति— ६

बाह्याभ्यन्तरदोषा ये विविधा बन्धहेतवः।
यस्तेषामुत्तमः सर्गः स व्युत्सर्गो निरुच्यते ॥९४॥

- व्युत्सर्ग विविधाना दोषाणामुत्तम. प्राणान्तिको लाभादिनिरपेक्षश्च सर्ग सर्जन त्यजनम् ॥९४॥ ९

कारण प्राप्त होते है तथा दुःख, उसके कारण और दुःखके कारणोंके भी कारण दूर होते है ऐसे शान्तिरूप वचन भी स्वाध्याय रूप हैं।

तथा जयवादरूप वचन इस प्रकारके होते है—'समस्त सर्वथा एकान्त नीतियोको जीतनेवाले, सत्य वचनोके स्वामी तथा शाश्वत् ज्ञानानन्दमय जिनेश्वर जयवन्त हों।'[1]

पूजनके प्रारम्भमें जो स्वस्तिपाठ पढा जाता है वह स्वस्तिवचन है। जैसे तीनों लोकोके गुरु जिनश्रेष्ठ कल्याणकारी हों इस तरहके वचनोको पढना भी स्वाध्याय है।[2] साराश यह है कि नमस्कार मन्त्रका जाप, स्तुतिपाठ आदि भी स्वाध्यायरूप है क्योकि पाठक मन लगाकर उनके द्वारा जिनदेवके गुणोंमे ही अनुरक्त होता है। जिन शास्त्रोमे तत्त्वविचार या आचार-विचार है उनका पठन-पाठन तथा उपदेश तो स्वाध्याय है ही। इस प्रकार स्वाध्यायका स्वरूप है ॥९२॥

आगे व्युत्सर्गके दो भेद कहकर दो प्रकारसे उनकी भावना कहते हैं—

व्युत्सर्गके दो भेद हैं—बाह्य और आन्तर। जिसका आत्माके साथ एकत्वरूप सम्बन्ध नहीं है ऐसे आहार, वसति आदिके त्यागको बाह्य व्युत्सर्ग कहते हैं। और आत्माके साथ एकरूप हुए क्रोधादिके त्यागको आन्तर व्युत्सर्ग कहते हैं। इस व्युत्सर्गकी भावना भी दो प्रकार है—एक जीवनपर्यन्त, दूसरे नियत काल तक। अर्थात् आहारादिका त्याग जीवनपर्यन्त भी किया जाता है और कुछ समयके लिए भी किया जाता है ॥९३॥

आगे निरुक्तिके द्वारा व्युत्सर्ग शब्दका अर्थ कहते हैं—

कर्मबन्धके कारण जो विविध बाह्य और अभ्यन्तर दोष हैं उनके उत्कृष्ट सर्गको—त्यागको व्युत्सर्ग कहते हैं ॥९४॥

विशेषार्थ—व्युत्सर्ग शब्द वि+उत्+सर्गके मेलसे बना है। 'वि' का अर्थ होता है विविध, उत्का उत्कृष्ट और सर्गका अर्थ है त्याग। कर्मबन्धके कारण बाह्य दोष हैं स्त्री-पुत्रादिका सम्बन्ध, और आन्तर कारण है ममत्व भाव आदि। इन विविध दोषोंको उत्तम त्याग अर्थात् जीवनपर्यन्तके लिए लाभ आदिकी अपेक्षासे रहित त्याग व्युत्सर्ग है। कहा[3]

---

१. 'जयन्ति निर्जिताशेष-सर्वथैकान्तनीतय ।
सत्यवाक्याधिपा शश्वद् विद्यानन्दा जिनेश्वरा ॥' [प्रमाणपरीक्षाका मगल श्लोक]

२ 'स्वस्ति त्रिलोकगुरवे जिनपुङ्गवाय'

३. अशेषमद्वैतमभोग्यभोग्य निवृत्तिवृत्त्यो. परमार्थकोट्याम् ।
अभोग्यभोग्यात्मविकल्पबुद्धया निवृत्तिमभ्यस्यतु मोक्षकाङ्क्षी ॥ [आत्मानुशा २३५ श्लो]

अथ व्युत्सर्गस्वामिनमुत्कर्षतो निर्दिशति—

देहाद् विविक्तमात्मानं पश्यन् गुप्तित्रयी श्रितः।
३ स्वाङ्गेऽपि निस्पृहो योगी व्युत्सर्गं भजते परम् ॥९५॥

योगी—सद्ध्याननिष्ठो यतिः ॥९५॥

अथ प्रकारान्तरेणान्तरङ्गोपधिव्युत्सर्गमाह—

६ कायत्यागश्चान्तरङ्गोपधिव्युत्सर्ग इष्यते।
स द्वेधा नियतानेहा सार्वकालिक इत्यपि ॥९६॥

नियतानेहा—परिमितकाल ॥९६॥

९ अथ परिमितकालस्य द्वौ भेदावाह—

तत्राप्याद्यः पुनर्द्वेधा नित्यो नैमित्तिकस्तथा।
आवश्यकादिको नित्यः पर्वकृत्यादिकः परः ॥९७॥

१२ आवश्यकादिकः—आदिशब्दात् मलोत्सर्गाद्याश्रयः। पर्वकृत्यादिकः—पार्वणक्रियानिषद्यापुरःसरः ॥९७॥

है—'यह समस्त संसार एकरूप है। किन्तु निवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत् अभोग्य ही प्रतीत होता है। और प्रवृत्तिका परम प्रकर्ष होनेपर समस्त जगत् भोग्य ही प्रतीत होता है। अतः यदि आप मोक्षके अभिलाषी हैं तो जगत्के सम्बन्धमें यह अभोग्य है और यह भोग्य है इस विकल्प बुद्धिकी निवृत्तिका अभ्यास करें ॥९४॥

उत्कृष्ट व्युत्सर्गके स्वामीको बतलाते हैं—

जो अपने आत्माको शरीरसे भिन्न अनुभव करता है, तीनों गुप्तियोंका पालन करता है और बाह्य अर्थकी तो बात ही क्या, अपने शरीरमें भी निस्पृह है वह सम्यक्ध्यानमें लीन योगी उत्कृष्ट व्युत्सर्गका धारक और पालक है ॥९५॥

अन्तरंग व्युत्सर्गका स्वरूप प्रकारान्तरसे कहते हैं—

पूर्व आचार्य कायके त्यागको भी अन्तरंग परिग्रहका त्याग मानते हैं। वह कायत्याग दो प्रकारका है—एक नियतकाल और दूसरा सार्वकालिक ॥९६॥

नियतकाल कायत्यागके दो भेद बतलाते हैं—

नियतकाल और सार्वकालिक कायत्यागमें से नियतकाल कायत्यागके दो भेद हैं—एक नित्य और दूसरा नैमित्तिक। आवश्यक करते समय या मलत्याग आदि करते समय जो कायत्याग है वह नित्य है। और अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्वोंमें क्रियाकर्म करते समय या बैठने आदिकी क्रियाके समय जो कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक है ॥९७॥

विशेषार्थ—कायत्यागका मतलब है शरीरसे ममत्वका त्याग। प्रतिदिन साधुको जो छह आवश्यक कर्म करने होते हैं उस कालमें साधु शरीरसे ममत्वका त्याग करता है, यह उसका नित्य कर्तव्य है। अतः यह नित्य कायत्याग है। और पर्व आदिमें जो धार्मिक कृत्य करते समय कायत्याग किया जाता है वह नैमित्तिक कायत्याग है ॥९७॥

---

१. 'व्युत्सर्जनं व्युत्सर्गस्त्यागः। स द्विविधः—बाह्योपधित्यागोऽभ्यन्तरोपधित्यागश्चेति। अनुपात्तं वास्तुधनधान्यादि बाह्योपधिः। क्रोधादिरात्मभावोऽभ्यन्तरोपधिः। कायत्यागश्च नियतकालो यावज्जीवं वाऽभ्यन्तरोपधित्याग इत्युच्यते।'—सर्वार्थसि., ९।२६।

अथ प्राणान्तिककायत्यागस्य त्रैविध्यमाह—

भक्तत्यागेङ्गिनीप्रायोपयानमरणैस्त्रिधा ।
यावज्जीवं तनुत्यागस्तत्राद्योऽर्हादिभावभाक् ॥९८॥ ३

इङ्गिनीमरणं—स्ववैयावृत्यसापेक्षपरवैयावृत्यनिरपेक्षम् । प्रायोपयानं—स्वपरवैयावृत्यनिरपेक्षम् । प्रायोपगमनमरणमित्यर्थ । अर्हादिभावा । तद्यथा—

'अरिहे लिंगे सिक्खा विणयसमाही य अणियदविहारे । ६
परिणामोवधिजहणा सिदी य तह भावणाओ य ॥
सल्लेहणा दिसा खामणा य अणुसिट्ठि परगणे चरिया ।
मग्गण सुट्ठिद उवसपया य परिछा य पडिलेहा ॥ ९
आपुच्छा य पडिच्छणमेगस्सालोयणा य गुणदोसा ।
सेज्जा सथारो वि य णिज्जवगपयासणा हाणी ॥
पच्चक्खाणं खामण खमण अणुसट्ठि सारणाकवचे । १२
समदाज्झाणे लेस्सा फलं विजहणा य णेयाइ ॥' [भ. आरा, गा ६७–७०]

अरिहे—अर्हं सविचारप्रत्याख्यानस्य योग्य । लिंगे—चिह्नम् । शिक्षा—श्रुताध्ययनम् । विणय—विनयो मर्यादा ज्ञानादिभावनाव्यवस्था हि ज्ञानादिविनयतया प्रागुक्ता । उपास्तिर्वा विनय । समाही— १५ समाधान शुभोपयोगे शुद्धोपयोगे वा मनस एकताकरणम् । अणियदविहारो—अनियतक्षेत्रावाम । परिणामो—स्वकार्यपर्यालोचनम् । उवधिजहणा—परिग्रहपरित्याग । सिदी—आरोहणम् । भावणा—अभ्यास । सल्लेहणा—कायस्य कपायाणा च सम्यक्कृशीकरणम् । दिसा—एलाचार्य । खामणा—पर- १८

प्राणोंके छूटने तक किये गये कायत्यागके तीन भेद कहते हैं—

जीवन पर्यन्त अर्थात् सार्वकालिक कायत्यागके तीन भेद हैं—भक्त प्रत्याख्यान मरण, इंगिनीमरण, प्रायोपगमन मरण। इन तीनोमे से प्रथम भक्त प्रत्याख्यानमरणमे अर्हत् लिंग आदि भाव हुआ करते हैं ॥९८॥

विशेषार्थ—जिसमे भोजनके त्यागकी प्रधानता होती है उसे भक्त प्रत्याख्यान मरण कहते है। जिसमें साधु अपनी सेवा स्वयं तो करता है किन्तु दूसरेसे सेवा नहीं कराता उस सन्यासमरणको इंगिनीमरण कहते हैं। इस सन्यास मरण करनेवाले साधु मौन रहते हैं। रोगादिककी पीडा होनेपर प्रतीकार नहीं करते। न भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि की ही वेदना का प्रतीकार करते हैं। [भगवती आरा, गा. २०६१ पर्यन्त]। प्रायोपगमन करनेवाले मुनि न तो स्वय ही अपनी सेवा करते है और न दूसरोंको ही करने देते है । भक्त प्रत्याख्यानमे स्वयं भी अपनी सेवा कर सकते है और दूसरोसे भी करा सकते हैं। किन्तु प्रायोपगमनमे नहीं। जिनका शरीर सूखकर हाडचाम मात्र रह जाता है वे ही मुनि प्रायोपगमन सन्यास धारण करते हैं, अत. मल, मूत्र आदिका त्याग न स्वयं करते है और न दूसरेसे कराते है। यदि कोई उन्हें सचित्त पृथ्वी जल आदिमे फेक दे तो आयु पूर्ण होने तक वहाँ ही निश्चल पड़े रहते है। यदि कोई उनका अभिषेक करे या पूजा करे तो उसे न रोकते है, न उसपर प्रसन्न होते है और न नाराज होते है। समस्त परिग्रहको त्यागकर चारों प्रकारके आहारके त्यागको 'प्राय' कहते हैं। जिस मरणमे प्रायका उपगमन अर्थात् स्वीकार हो उसे प्रायोपगमन कहते है। इसे पादोपगमन भी कहते हैं। क्योंकि इस संन्यासका इच्छुक मुनि संघसे निकलकर अपने पैरोंसे योग्य देशमे जाता है। इसको प्रायोपवेशन भी कहते हैं क्योंकि इसमे

क्षमापणा । अणुसिट्ठी—सूत्रानुसारेण शिक्षादानम् । परगणे चरिया—अन्यस्मिन् संघे गमनम् । मग्गणा—आत्मनो रत्नत्रयशुद्धि समाधिमरण च संपादयितुं समर्थस्य सूरेरन्वेषणम् । सुट्ठिदा—सुस्थित आचार्य. परोपकारकरणे स्वप्रयोजने च सम्यक्स्थितत्वात् । उपसपया—उपसपत् आचार्यस्यात्मसमर्पणम् । परिच्छा—
३ परीक्षा गणपरिचारिकादिगोचरा । पडिलेहणा—आराधनानिर्विघ्नसिद्धयर्थं देशराज्यादिकल्याणगवेषणम् । आपुच्छा—किमयमस्माभिरनुगृहीतव्यो न वेति सघ प्रति प्रश्न. । पडिच्छणमेगस्स—सघानुमतेनैकस्य क्षपकस्य स्वीकार । आलोयणा—गुरो. स्वदोपनिवेदनम् । गुणदोसा—गुणा दोपाश्च प्रत्यासत्तेरालोचनाया
६ एव । सेज्जा—शय्या वसतिरित्यर्थ. । सथारो—सस्तर । णिज्जवगा—निर्यापका. आराधकस्य समाधि-सहाया । पगासणा—चरमाहारप्रकटनम् । हाणी—क्रमेणाहारत्यागः । पच्चक्खाण—त्रिविधाहारत्याग ।

मुनि समस्त परिग्रहके त्यागपूर्वक चतुर्विध आहारके त्यागरूप प्रायके साथ प्रविष्ट होता है । महापुराणमें वज्रनाभि मुनिराजके समाधिमरणका चित्रण करते हुए कहा है—आयुके अन्त समयमें बुद्धिमान् वज्रनाभिने श्रीप्रभ नामके ऊँचे पर्वतपर प्रायोपवेशन संन्यास धारण करके शरीर और आहारको छोड़ दिया । यत. इस संन्यासमे तपस्वी साधु रत्नत्रय-रूपी शय्यापर बैठता है इसलिए इसको प्रायोपवेशन कहते है इस तरह यह नाम सार्थक है । इस संन्यासमे अधिकतर रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है इसलिए इसको प्रायोपगम भी कहते है । अथवा इस सन्यासमें पाप कर्म समूहका अधिकतर अपगम अर्थात् नाश होता है इसलिए इसे प्रायोपगम कहते हैं । इसके जानकार मुनिश्रेष्ठोंने इसके प्रायोपगमन नामकी निरुक्ति इस प्रकार भी की है कि प्राय. करके इस संन्यासमे मुनि नगर ग्राम आदिसे हटकर अटवीमें चले जाते है । इस तरह इसके नामकी निरुक्तियाँ है । इन तीनों मरणोंमें-से भक्त प्रत्याख्यान मरणकी कुछ विशेपताएँ इस प्रकार कही हैं—अर्हका अर्थ योग्य है । यह क्षपक सविचार प्रत्याख्यानके योग्य है या नहीं, यह पहला अधिकार है । लिंग चिह्नको कहते हैं अर्थात् सम्पूर्णपरिग्रहके त्यागपूर्वक मुनि जो नग्नता धारण करते है वह लिंग है । भक्त प्रत्याख्यानमे भी वही लिंग रहता है । उसीका विचार इसमे किया जाता है । शिक्षासे ज्ञानादि भावना या श्रुताभ्यास लेना चाहिए । पहले कहा है कि स्वाध्यायके समान तप नही है । अत लिंग ग्रहणके अनन्तर ज्ञानार्जन करना चाहिए और ज्ञानार्जनके साथ विनय होनी चाहिए । विनयके साथ समाधि-सम्यक् आराधना अर्थात् अशुभोपयोगसे निवृत्ति और शुभोपयोगमे मनको लगावे । इस प्रकार जो समाधि मरणके योग्य है, जिसने मुक्तिके उपायभूत लिंगको धारण किया है, शास्त्र स्वाध्यायमे तत्पर है, विनयी है और मनको वशमें रखता है उस मुनिको अनियत क्षेत्रमे निवास करना चाहिए । अनियत विहारके गुण भगवती आराधना

---

१. तत कालात्यये धीमान् श्रीप्रभाद्रौ समुन्नते ।
प्रायोपवेशन कृत्वा शरीराहारमत्यजत् ॥
रत्नत्रयमयी शय्यामधिशय्य तपोनिधि ।
प्रायेणोपविशत्यस्मिन्नित्यन्वर्थमाशिपत् ॥
प्रायेणोपगमो यस्मिन् रत्नत्रितयगोचर ।
प्रायेणापगमो यस्मिन् दुरितारि कदम्बकान् ॥
प्रायेणास्माज्जनस्थानादुपसृत्य गनोऽटवे ।
प्रायोपगमन तज्ज्ञै निरुक्त श्रमणोत्तमै ॥—म. पु, ११।९४-९७ ।

खामणं—आचार्यादीना क्षमाग्राहणम् । खमणं—स्वस्यान्यकृतापराधक्षमा । अणुसट्ठि—निर्यापकाचार्येणाराधकस्य शिक्षणम् । सारणा—दुःखाभिभवान्मोहमुपगतस्य चेतना प्रापणा । कवचे—धर्माद्युपदेशेन दुःखनिवारणम् । समदा—जीवितमरणादिषु रागद्वेषयोरकरणम् । झाणे—एकाग्रचिन्तानिरोधः । लेस्सा—कषायानुरञ्जिता योगप्रवृत्तिः । फल—आराधनासाध्यम् । विजहणा—आराधकशरीरत्यागः ॥९८॥ ३

अथात्रत्येदानीतनसाधुवृन्दारकानात्मनः प्रशममर्थयते—

गा. १४३ आदिमें बतलाये हैं । इसके बाद परिणाम है । अपने कार्यकी आलोचनाको परिणाम कहते हैं । मैंने स्वपरोपकारमें काल विताया अब आत्माके ही कल्याणमे मुझे लगना चाहिए इस प्रकारकी चित्तवृत्तिको परिणाम कहते हैं । इस प्रकार समाधिमरणका निर्णय करनेपर क्षपक एक पीछी, एक कमण्डलुके सिवाय शेष परिग्रहका त्याग करता है । उसके बाद श्रिति अधिकार आता है । श्रितिका मतलब है उत्तरोत्तर ज्ञानादिक गुणोंपर आरोहण करना । इसके बाद बुरी भावनाओंको छोडकर पाँच शुभभावनाओको भाता है । तब सम्यक् रूपसे काय और कषायको कृश करके सल्लेखना करता है । और अपने संघका भार योग्य शिष्यको सौंपता है । यह दिक् है । उसके बाद संघसे क्षमा-याचना करता है । फिर संघको आगमानुसार उसके कर्तव्यका उपदेश देता है । भगवती आराधनामे यह उपदेश विस्तारसे दर्शाया है । इसके पश्चात् क्षपक अपने संघसे आज्ञा लेकर समाधिके लिए परगणमें प्रवेश करते है क्योंकि स्वगणमे रहनेसे अनेक दोषोंकी सम्भावना रहती है । (गा. ४००) । इसके पश्चात् वह निर्यापकाचार्यकी खोजमे सैकड़ों योजन तक विहार करते है । यदि ऐसा करते हुए मरण हो जाता है तो उन्हें आराधक ही माना जाता है । इस प्रकार गुरुकी खोजमें आये क्षपकको देखकर परगणके मुनि उसके साथ क्या कैसा बरताव करते है उसका वर्णन आता है । इस सबको मार्गणा कहते हैं अर्थात् गुरुकी खोज । परोपकार करनेमें तत्पर सुस्थित आचार्यकी प्राप्ति, आचार्यको आत्मसमर्पण, आचार्य द्वारा क्षपककी परीक्षा, आराधनाके लिए उत्तम देश आदिकी खोज । तब आचार्य संघसे पूछते है कि हमे इस क्षपकपर अनुग्रह करना चाहिए या नहीं ? पुनः संघसे पूछकर आचार्य क्षपकको स्वीकार करते है, तब क्षपक आचार्यके सम्मुख अपने दोषोंकी आलोचना करता है । आलोचना गुण-दोष दोनोकी की जाती है । तब समाधिमरण साधनेके योग्य वसतिका, और उसमे आराधकके योग्य शय्या दी जाती हैं । तब आराधककी समाधिमे सहायक वर्गका चुनाव होता है, उसके बाद आराधकके सामने योग्य विचित्र आहार प्रकट किये जाते है कि उसकी किसी आहारमें आसक्ति न रहे । तब क्रमसे आहारका त्याग कराया जाता है । इस तरह वह आहारका त्याग करता है । तब आचार्य आदि क्षमा-प्रार्थना करते है और क्षपक भी अपने अपराधोकी क्षमा माँगता है । तब निर्यापकाचार्य आराधकको उपदेश करते हैं । यदि वह दुःखसे अभिभूत होकर मूर्च्छित हो जाता है तो उसे होशमे लाते है, और धर्मोपदेशके द्वारा दुःखका निवारण करते है । तब वह समता भाव धारण करके ध्यान करता है । लेश्याविशुद्धिके साथ आराधक शरीरको त्यागता है । इस तरह भक्त प्रत्याख्यान मरणका चालीस अधिकारोंके द्वारा कथन भगवती आराधना मे किया है ॥९८॥

वर्तमान क्षेत्र और कालवर्ती साधुश्रेष्ठोंसे अपनी आत्मामें प्रशमभावकी प्राप्ति की प्रार्थना करते हैं—

भक्तत्यागविधेः सिसाधयिषया येऽर्हाद्यवस्थाः क्रमा-
च्चत्वारिंशतमन्वहं निजबलादारोढुमुद्युञ्जते ।
३ **चेष्टाजल्पनचिन्तनच्युतचिदानन्दामृतस्रोतसि**
स्नान्तः सन्तु शमाय तेऽद्य-यमिनामत्राग्रगण्या मम ॥९९॥

क्रमात्—एतेन दीक्षाशिक्षागणपोषणमात्मसस्कार. सल्लेखना उत्तमार्थश्चेति षोढा कालक्रम लक्षयति ।
६ आरोढुं—प्रकर्षं प्रापयितुम् । उद्युञ्जन्ते—उत्सहन्ते ॥९९॥

अथ कान्दर्पादिसंक्लिष्टभावनापरिहारेणात्मसस्कारकाले तप श्रुतसत्त्वैकत्वधृतिभावनाप्रयुञ्जानस्य परीषहविजयमुपदिशति—

९ **कान्दर्पीप्रमुखाः कुदेवगतिदाः पञ्चापि दुर्भावना-**
स्त्यक्त्वा दान्तमनास्तपःश्रुतसदाभ्यासादबिभ्यद् भृशम् ।
भीष्मेभ्योऽपि समिद्धसाहसरसो भूयस्तरां भावय-
१२ **न्नेकत्वं न परीषहैर्धृतिसुधास्वादे रतस्तप्यते ॥१००॥**

कुदेवगतिदाः—भाण्डतौरिककाहारशौनिककुक्कुरप्रायदेवदुर्गतिप्रदा' । पञ्चापि । तथा चोक्तम्—

'कान्दर्पी कैल्विषी चैव भावना चाभियोगजा ।
१५ दानवी चापि सम्मोहा त्याज्या पञ्चतयी च सा ॥
कन्दर्पं कौत्कुच्य विहेडन हासनर्मणी विदधत् ।
परविस्मय च सतत कान्दर्पीं भावना भजते ॥
१८ केवलिधर्माचार्यश्रुतसाधूनामवर्णवादपर. ।
मायावी च तपस्वी कैल्विषकी भावनां कुरुते ॥
मन्त्राभियोगकौतुक-भूतक्रीडादिकर्मकुर्वाणः ।
२१ सातरसर्द्धिनिमित्तादभियोगा भावनां भजते ॥

जीवनपर्यन्त व्रतधारी संयमी जनोमे अग्रेसर जो साधु आज भी इस भरतक्षेत्रमे भक्त प्रत्याख्यानकी विधिको साधनेकी इच्छासे क्रमसे प्रतिदिन अपनी सामर्थ्यसे अर्हलिंग आदि चालीस अवस्थाओकी चरम सीमाको प्राप्त करनेके लिए उत्साह करते है और मन-वचन-कायकी चेष्टासे रहित ज्ञानानन्दमय अमृतके प्रवाहमें अवगाहन करके शुद्धिको प्राप्त करते है वे मेरे प्रशमके लिए होवे अर्थात् उनके प्रसादसे मुझे प्रशम भावकी प्राप्ति हो ॥९९॥

जो साधु आत्मसंस्कारके समय कान्दर्प आदि संक्लिष्ट भावनाओंको छोड़कर तप, श्रुत, एकत्व और धृति भावनाको अपनाता है वह परीषहोंको जीतता है ऐसा उपदेश करते है—

कुदेव आदि दुर्गतिको देनेवाली कान्दर्पी आदि पॉच दुर्भावनाओंको छोड़कर, तप और श्रुतकी नित्य भावनासे मनका दमन करके जिसका साहसिक भाव निरन्तर जाग्रत् रहता है, अतः जो भयानक वैताल आदिसे भी अत्यन्त निडर रहता है, और बारम्बार एकत्व भावना भाता हुआ धैर्यरूपी अमृतके आस्वादमें लीन रहता है वह तपस्वी भूख-प्यास आदि परीषहोंसे सन्तप्त नहीं होता ॥१००॥

विशेषार्थ—इन भावनाओंका स्वरूप यहाँ भगवती आराधनासे दिया जाता है अर्थात् संक्लेश भावना पाँच हैं—कन्दर्पभावना, किल्विष भावना, अभियोग्यभावना, असुरभावना, सम्मोहभावना। रागकी उत्कटतासे हास्यमिश्रित अशिष्ट वचन बोलना कन्दर्प है। रागकी

अनुबद्धरोगविग्रहससक्ततया निमित्तसंसेवी ।
निष्करुणो निरनुशयो दानवभावं मुनिर्वर्त्ते ॥
सन्मार्गप्रतिकूलो दुर्मार्गप्रकटने पटुप्रज्ञ । ३
मोहेन मोहयन्नपि सम्मोहां भावना श्रयति ॥
आभिश्च भावनाभिर्विराधको देवदुर्गति लभते ।
तस्या. प्रच्युतमात्रः ससारमहोदधि भ्रमति ॥' [ ] ६

तप इत्यादि । उक्तं च—

तपस. श्रुतस्य सत्त्वस्य भावनैकत्वभावना चैव ।
घृतिबलविभावनापि च सैषा श्रेष्ठाऽपि पञ्चविधा ॥ ९
दान्तानि (-दि) सुभावनया तपसस्तस्येन्द्रियाणि यान्ति वशम् ।
इन्द्रिययोग्यं च मनः समाधिहेतुं समाचरति ॥' [ ]

इन्द्रियोग्यमिति इन्द्रियवश्यता परिकर्म । १२

'श्रुतभावनया सिद्ध्यन्ति बोधचारित्रदर्शनतपासि ।
प्रकृता सन्धा तस्मात्सुखमव्यथितः समापयति ॥
रात्री दिवा च देवैर्विभीष्यमाणो भयानकै रूपै. । १५
साहसिकभावरसिको वहति धुर निर्भयः सकलाम् ॥

अतिशयतासे हँसते हुए दूसरोंको उद्देश्य करके अशिष्ट कायप्रयोग करना कौत्कुच्य है । इन दोनोंको पुन -पुन' करना चलशील है । नित्य हास्यकथा कहनेमें लगना, इन्द्रजाल आदिसे दूसरोंको आश्चर्यमें डालना, इस तरह रागके उद्रेकसे हासपूर्वक वचनयोग और काययोग आदि करना कन्दर्पी भावना है । श्रुतज्ञान, केवली, धर्माचार्य, साधुका अवर्णवाद करनेवाला मायावी किल्विष भावनाको करता है । द्रव्यलाभके लिए, मिष्ट आहारकी प्राप्तिके लिए या सुखके लिए किसीके शरीरमे भूतका प्रवेश कराना, वशीकरण मन्त्रका प्रयोग करना, कौतुक प्रदर्शन करना, वालक आदिकी रक्षाके लिए झाडना-फूँकना ये सब अभियोग्य भावना हैं । जिसका तप सतत क्रोध और कलहको लिये हुए होता है, जो प्राणियोके प्रति निर्दय है, दूसरोंको कष्ट देकर भी जिसे पश्चात्ताप नहीं होता वह आसुरी भावनाको करता है । जो कुमार्गका उपदेशक है, सन्मार्गमे दूषण लगाता है, रत्नत्रयरूप मार्गका विरोधी है, मोहमें पडा है वह सम्मोह भावनाका कर्ता है । इन भावनाओंसे देवोंमे जो कुदेव है उनमे उत्पन्न होता है और वहाँसे च्युत होकर अनन्त संसारमे भ्रमण करता है ।

संक्लेश रहित भावना भी पाँच है—तपभावना—तपका अभ्यास, श्रुतभावना—ज्ञानका अभ्यास, सत्त्वभावना अर्थात् भय नहीं करना, एकत्व भावना और घृतिबल भावना । तप भावनासे पाँचों इन्द्रियाँ दमित होकर वशमें होती है और उससे समाधिमे मन रमता है । किन्तु जो साधु इन्द्रियसुखमें आसक्त होता है वह घोर परीषहोसे डरकर आराधनाके समय विमुख हो जाता है । श्रुतभावनासे ज्ञान, दर्शन, तप और संयमसे युक्त होता है । मैं अपनेको ज्ञान, दर्शन, तप और संयममें प्रवृत्त करूँ इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके उसको सुखपूर्वक पूर्ण करता है । जिनवचनमें श्रद्धाभक्ति होनेसे भूख-प्यास आदिकी परीषह उसे मार्गसे च्युत नहीं करतीं । सत्त्वभावनासे देवोंके द्वारा पीडित किये जानेपर और भयभीत किये जानेपर भी वह निर्भय रहता है । जो डरता है वह मार्गसे च्युत हो जाता है

एकत्वभावरसिको न कामभोगे गणे शरीरे वा ।
सजति हि विरागयोगी स्पृशति सदानुत्तरं धर्मम् ॥
सकलपरीषहपृतनामागच्छन्ती सहोपसर्गौघैः ।
दुर्धरपथकरवेगा भयजननीमल्पसत्त्वानाम् ॥
धृतिनिबिडबद्धकक्षो विनिहन्ति निराकुलो मुनिः सहसा ।
धृतिभावनया शूर. संपूर्णमनोरथो भवति ॥' [ ] ॥१००॥

अथ भक्तप्रत्याख्यानस्य लक्षण सल्लेखनाया प्रभृत्युत्कर्षतो जघन्यतश्च कालमुपदिशति—

यस्मिन् समाधये स्वान्यवैयावृत्यमपेक्षते ।
तद्द्वादशाब्दानीषेऽन्तर्मुहूर्तं चाशनोज्झनम् ॥१०१॥

अब्दात्—सवत्सरात् । ईषे—इष्ट पूर्वमाचार्यैरिति शेष । अशनोज्झनं—भक्तप्रत्याख्यानमरणम् ॥१०१॥

अथ व्युत्सर्गतपस फलमाह—

नैःसङ्ग्यं जीविताशान्तो निर्भयं दोषविच्छिदा ।
स्याद् व्युत्सर्गाच्छिवोपायभावनापरतादि च ॥१०२॥

निर्भयं—भयाभाव ॥१०२॥

अथ दुर्ध्यानविधानपुरस्सरं सद्ध्यानविधानमभिधाय तेन विना केवलक्रिया निष्ठस्य मुक्त्यभाव भावयन्नाह—

अतः वह भयको अनर्थका मूल मानकर उसे भगाता है। जैसे युद्धोंका अभ्यासी वीर पुरुष युद्धसे नहीं डरता वैसे ही सत्त्वभावनाका अभ्यासी मुनि उपसर्गोंसे नहीं घबराता। 'मै एकाकी हूँ, न कोई मेरा है न मै किसीका हूँ' इस भावनाको एकत्वभावना कहते है। इसके अभ्याससे कामभोगमे, शिष्यादि वर्गमे और शरीर आदिमे आसक्ति नही होती। और विरक्त होकर उत्कृष्ट चारित्रको धारण करता है। पाँचवीं धृतिबल भावना है। कष्ट पड़नेपर भी धैर्यको न छोड़ना धृतिबल भावना है जो उसके अभ्याससे ही सम्भव है। इन पाँच शुद्ध भावनाओके अभ्याससे मुनिवर आत्मशुद्धि करके रत्नत्रयमे निरतिचार प्रवृत्ति करते है ॥१००॥

आगे भक्तप्रत्याख्यानका लक्षण और सल्लेखनासे लेकर उसका जघन्य और उत्कृष्ट काल कहते हैं—

समाधिके इच्छुक मुनि जिसमें समाधिके लिए अपना वैयावृत्य स्वयं भी करते है और दूसरोंसे भी करा सकते है उस भक्तप्रत्याख्यानका उत्कृष्ट काल बारह वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त पूर्वाचार्योंने माना है ॥१०१॥

आगे व्युत्सर्ग तपका फल कहते है—

व्युत्सर्ग तपसे परिग्रहोका त्याग हो जानेसे निर्ग्रन्थताकी सिद्धि होती है, जीवनकी आशाका अन्त होता है, निर्भयता आती है, रागादि दोष नष्ट होते हैं और रत्नत्रयके अभ्यासमे तत्परता आती है ॥१०२॥

आगे खोटे ध्यानोंका कथन करनेके साथ सम्यक् ध्यानोंका स्वरूप कहकर उसके बिना केवल क्रियाकाण्डमे लगे हुए साधुको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होती, ऐसा कथन करते है—

आर्तं रौद्रमिति द्वयं कुगतिदं त्यक्त्वा चतुर्धा पृथग्
धर्म्यं शुक्लमिति द्वयं सुगतिदं ध्यानं जुषस्वानिशम् ।
नो चेत् क्लेशनृशंसकीर्णजनुरावर्ते भवाब्धौ भ्रमन्
साधो सिद्धिवधूं विधास्यसि मुधोत्कण्ठामकुण्ठश्चिरम् ॥१०३॥

कुगतिदं—तिर्यग्नारककुदेवकुमानुषत्वप्रदम् । चतुर्धा—आज्ञापायविपाक(-संस्थान-)विचयविकल्पा-च्चतुर्विधं धर्म्यम् । पृथक्त्ववितर्कवीचारमेकत्ववितर्कवीचार सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति-व्युपरतक्रियानिर्वति चेति शुक्लमपि चतुर्विधम् । एवमार्तरौद्रयोरपि चातुर्विध्य प्रत्येकमागमादधिगन्तव्यम् । सुगतिद—सुदेवत्वसुमानुषत्व-मुक्तिप्रदम् । जुषस्व । नृशंसा –क्रूरकर्मकृतो मकरादिजलचरा । अकुण्ठ –श्रेयोऽर्थक्रियासूद्यत । तथा चोक्तम्–
'सपयत्थ तित्थयरमधिगदवुद्धिस्स सुत्तरोईस्स ।
दूरतर णिव्वाणं सजमतवसपजुत्तस्स ॥' [पञ्चास्ति , गा १७०] ॥१०३॥

चार प्रकारका आर्तध्यान और चार प्रकारका रौद्रध्यान, ये दोनों ही ध्यान कुगतिमे ले जानेवाले हैं इसलिए इन्हें छोड़, और चार प्रकारका धर्मध्यान और चार प्रकारका शुक्लध्यान ये दोनों सुगतिके दाता है अत सदा इनकी प्रीतिपूर्वक आराधना करो । यदि ऐसा नहीं करोगे तो हे साधु ! कल्याणकारी क्रियाओंमे तत्पर होते हुए क्लेशरूपी क्रूर जलचरोंसे भरे हुए जन्मरूपी भँवरोंसे व्याप्त संसारसमुद्रमे चिरकाल तक भ्रमण करते हुए उत्कण्ठित भी मुक्तिरूपी वधूकी उत्कण्ठाको विफल कर दोगे ॥१०३॥

विशेषार्थ—ध्यानके चार भेद है—आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान । इनमें-से प्रारम्भके दो ध्यान नारक, तिर्यंच, कुदेव और कुमनुष्योंमें उत्पन्न कराते है और शेष दो ध्यान सुदेव, सुमनुष्य और मुक्ति प्रदान करते हैं। प्रत्येक ध्यानके चार भेद है। अनिष्टका संयोग होनेपर उससे छुटकारा पानेके लिए जो रात-दिन चिन्तन किया जाता है वह अनिष्टसंयोगज नामक प्रथम आर्तध्यान है। इष्टका वियोग होनेपर उसकी पुन. प्राप्तिके लिए जो सतत चिन्तन किया जाता हे वह इष्टवियोगज नामक दूसरा आर्तध्यान है। कोई पीड़ा होनेपर उसको दूर करनेके लिए जो सतत चिन्तन होता है वह वेदना नामक तीसरा आर्तध्यान है। और आगामी भोगोकी प्राप्तिके लिए जो चिन्तन किया जाता है वह निदान नामक चतुर्थ आर्तध्यान है। इसी तरह हिंसा, झूठ, चोरी और परिग्रहके संरक्षणके चिन्तनमें जो आनन्दानुभूति होती है वह हिंसानन्दी, असत्यानन्दी, चौर्यानन्दी और परिग्रहानन्दी नामक चार रौद्रध्यान हैं। धर्मध्यानके भी चार भेद हैं, आज्ञा विचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान विचय। अच्छे उपदेष्टाके न होनेसे, अपनी बुद्धि मन्द होनेसे और पदार्थके सूक्ष्म होनेसे जब युक्ति और उदाहरणकी गति न हो तो ऐसी अवस्थामें सर्वज्ञ देवके द्वारा कहे गये आगमको प्रमाण मानकर गहन पदार्थका श्रद्धान करना कि यह ऐसा ही है आज्ञाविचय है। अथवा स्वयं तत्त्वोंका जानकार होते हुए भी दूसरोंको उन तत्त्वोंको समझानेके लिए युक्ति दृष्टान्त आदिका विचार करते रहना, जिससे दूसरोंको ठीक-ठीक समझाया जा सके आज्ञाविचय है, क्योंकि उसका उद्देश्य संसारमें जिनेन्द्र देवकी आज्ञाका प्रचार करना है। जो लोग मोक्षके अभिलाषी होते हुए भी कुमार्गमें पड़े हुए है उनका विचार करते रहना कि वे कैसे मिथ्यात्वसे छूटें, इसे अपायविचय कहते हैं। कर्मके फलका विचार करना विपाक विचय है। लोकके आकारका तथा उसकी दशाका विचार करना संस्थान विचय है। इसी तरह शुक्लध्यानके भी चार भेद हैं—पृथक्त्ववितर्क वीचार, एकत्व वितर्क

अथ तपस उद्योतनाराधनापञ्चक प्रपञ्चयंस्तत्फलमाह—

यस्त्यक्त्वा विषयाभिलाषमभितो हिंसामपास्यंस्तप-
स्यागूर्णो विशदे तदेकपरतां बिभ्रत्तदेवोद्गतिम् ।
नीत्वा तत्प्रणिधानजातपरमानन्दो विमुञ्चत्यसून्
स स्नात्वाऽमरमर्त्यशर्मलहरीष्वीर्ते परां निर्वृतिम् ॥१०४॥

अपास्यन्—उद्योतनोक्तिरियम् । आगूर्णः—उद्यत । उद्यवनोपदेशोऽयम् । बिभ्रत्—निर्वहणभणितिरियम् । नीत्वा—साधनाभिधानमिदम् । विमुञ्चति—विधिना त्यजति । निस्तरणनिरूपणेयम् । लहरी—परम्परेति भद्रम् ॥१०४॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया सप्तमोऽध्याय. ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पष्ठ्यधिकानि चत्वारिंशतानि अंकतः ४६० ।

अवीचार, सूक्ष्मक्रियाअपतिपाति और व्युपरत क्रिया निवर्ति। मुमुक्षुको आर्त और रौद्रको छोड़कर, धर्मध्यान और शुक्लध्यानका ही प्रीतिपूर्वक आलम्बन लेना चाहिए। इन्हींसे सुगतिकी प्राप्ति होती है । जो मुमुक्षु समीचीन ध्यान न करके शुभ कार्योंमे ही लगे रहते हैं, उनकी ओर उत्कण्ठा रखनेवाली भी मुक्तिरूपी वधू चिरकाल तक भी उन्हें प्राप्त नहीं होती, क्योंकि वह तो एक मात्र आत्मध्यानसे ही प्राप्त होती है ।

पंचास्तिकायमे कहा भी है—जो जीव वास्तवमे मोक्षके लिए उद्यत होते हुए तथा संयम और तपके अचिन्त्य भारको उठाते हुए भी परमवैराग्यकी भूमिका पर आरोहण करनेमे असमर्थ होता हुआ नौ पदार्थों और अरहन्त आदिमे रुचिरूप परसमय प्रवृत्तिको त्यागनेमे असमर्थ होता है उसे साक्षात् मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती ॥१०३॥

आगे तपके विपयमे उद्योतन आदि पाँच आराधनाओंका कथन करते हुए उसका फल कहते हैं—

इन्द्रियोंके विपयकी अभिलापा छोडकर तथा द्रव्यहिंसा और भावहिंसाका भी सर्वथा परित्याग करके जो साधु निर्मल तपमे उद्यत होकर उसीमे लीन होता हुआ उस तपकी चरम अवस्था ध्यानको प्राप्त होता है और उसी निर्मल तपमे लीन होनेसे उत्पन्न हुए परमानन्दमें रमण करता हुआ प्राणोंको छोड़ता है वह साधु स्वर्गलोक और मनुष्यलोकके सुखोंको भोगकर अर्थात् जीवन्मुक्तिको प्राप्त करके परम मुक्तिको प्राप्त करता है ॥१०४॥

विशेपार्थ—तपके विपयमे भी पाँच आराधनाएँ कही हैं—उद्योतन, उद्यवन, निर्वहण, साधन और निस्तरण। विपयोंकी अभिलापाको छोडकर हिंसाको त्यागना उद्योतनको वतलाता है । निर्मल तपमें उद्यत होना, यह उद्यवनका कथन है। उसीमे लीन होना, यह निर्वहणका सूचक है । उसको उन्नत करते हुए ध्यान तक पहुँचना, साधन है । उससे उत्पन्न हुए आनन्दमे मग्न होकर प्राणत्याग यह निस्तरणको कहता है ॥१०४॥

इसप्रकार आशाधर रचित धर्मामृतमें अनगार धर्मामृतकी भव्यकुमुद चन्द्रिका नामक संस्कृत टीका तथा ज्ञानदीपिका नामक पंजिकाकी अनुगामिनी हिन्दी टीकामें तपस्याराधनाविधान नामक सप्तम अध्याय पूर्ण हुआ ।

अष्टम अध्याय

अथ तपसो विनयभावेनोपक्षिप्तं षडावश्यकानुष्ठानमासूत्रयति—

अयमहमनुभूतिरितिस्ववित्तिविषजत्तथेतिमतिरुचिते।
स्वात्मनि निःशङ्कमवस्थातुमथावश्यकं चरेत् षोढा ॥१॥

अयं—स्वसंवेदनप्रत्यक्षेणालम्ब्यमान.। विषजन्ती—संगच्छमाना। मतिः—श्रद्धा। नि.शङ्कं—लक्षणया निश्चलं निश्चितसुखं वा। अथ मङ्गले अधिकारे वा ॥१॥

अब सातवें अध्यायमे (श्लो. ७५) तपके विनय रूपसे संकेतित छह आवश्यकोंके अनुष्ठानका कथन करते हैं—

जो स्वसंवेदन प्रत्यक्षका आधार है और 'मैं' इस उल्लेखसे जिसका अनुभव होता है कि 'यह मैं अनुभूति रूप हूँ' इस प्रकारका जो आत्मसंवेदन (स्वसंवेदन) है उसके साथ एकमेकरूपसे रिली-मिली 'तथा' इस प्रकारकी मति है। अर्थात् जिस शुद्ध ज्ञान घनरूपसे मेरा आत्मा अवस्थित है उसी रूपसे मैं उसका अनुभव करता हूँ। इस प्रकारकी मति अर्थात् श्रद्धाको 'तथा' इति मति जानना। उक्त प्रकारके स्वसंवेदनसे रिली-मिली इस श्रद्धासे युक्त आत्मामें निःशंक अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए। निःशक शब्दके दो अर्थ हैं—जहाँ 'नि' अर्थात् निश्चित 'शं' अर्थात् सुख है वह निःशंक है। अथवा शंकासे सन्देहसे जो रहित है वह नि.शंक है। लक्षणासे इसका अर्थ निश्चल होता है। अतः आत्म स्वरूपमें निश्चल अवस्थानके लिए साधुको छह आवश्यक करना चाहिए। 'अथ' शब्द मंगलवाची और अधिकारवाची है। यह बतलाया है कि यहाँसे आवश्यकका अधिकार है ॥१॥

विशेषार्थ—छह आवश्यक पालनेका एकमात्र उद्देश्य है आत्मामे निश्चल स्थिति। चारित्र मात्रका यही उद्देश्य है और चारित्रका लक्षण भी आत्मस्थिति ही है। किन्तु आत्मामे स्थिर होनेके लिए सर्वप्रथम उसकी अनुभूतिमूलक श्रद्धा तो होनी चाहिए। उसीको ऊपर कहा है। प्रत्येक व्यक्ति स्वयंको 'मैं' कहता है। इस मैं का आधार न शरीर है न इन्द्रियाँ हैं। मुर्देका शरीर और उसमें इन्द्रियोंके होते हुए भी वह मै नहीं कह सकता। अतः मैं का आधार वह वस्तु है जो मुर्देमे-से निकल गयी है। वही आत्मा है। स्वसंवेदन भी उसीको होता है। 'स्व'का अर्थात् अपना जो ज्ञान वह स्वसंवेदन है। तो इस स्वसंवेदन प्रत्यक्षका अवलम्बन आत्मा है। 'मैं' से हम उसीका अनुभवन करते है। इसके साथ ही इस आत्मसंवेदनके साथमें यह श्रद्धा भी एकमेक हुई रहती है कि आत्माका जैसा शुद्ध ज्ञान घनस्वरूप बतलाया है उसी प्रकारसे मैं अनुभव करता हूँ। इस तरह आत्माके द्वारा आत्मामे श्रद्धा और ज्ञानका ऐसा एकपना रहता है कि उसमे भेद करना शक्य नहीं होता। ऐसी श्रद्धा और ज्ञानसे सम्पन्न आत्मामें स्थिर होनेके लिए ही मुनि छह आवश्यक कर्म करता है ॥१॥

अथ मुमुक्षो षडावश्यककर्मनिर्माणसमर्थनार्थं चतुर्दशभि' पद्यै स्थलशुद्धि विधत्ते । तत्र तावदात्मदेहान्तरज्ञानेन वैराग्येण चाभिभूततत्सामर्थ्यो विषयोपभोगो न कर्मबन्धाय प्रभवतीति दृष्टान्तावष्टम्भेनाचष्टे—

३ **मन्त्रेणेव विषं मृत्य्वै मध्वरत्या मदाय वा ।**
न बन्धाय हृतं ज्ञप्त्या न विरक्त्यार्थसेवनम् ॥२॥

अरत्या—अप्रीत्या । मधु त्येव (?) वा इवार्थे । अर्थसेवनं—विषयोपभोग. ।

६ उक्त च—

'जह विसमुपभुजता विज्जापुरिसा दु ण मरणमुवेंति ।
पोग्गलकम्मस्सुदयं तह भुजदि णेव वज्झए णाणी ॥
९ जह मज्जं पिवमाणो अरईभावेण मज्जदि ण पुरिसो ।
दव्वुवभोगे अरदो णाणी वि ण वज्झदि तहेव ॥' [समय प्राभृत, गा १९५-१९६]

अपि च—

१२ 'धात्रीबालाऽसतीनाथ पद्मिनीदलवारिवत् ।
दग्धरज्जुवदाभासाद् भुञ्जन् राज्य न पापभाक् ॥' [ ]

मुमुक्षुओंके छह आवश्यक कर्मोके निर्माणके समर्थनके लिए चौदह पद्योंके द्वारा स्थलशुद्धि करते हुए, सर्वप्रथम दृष्टान्तके द्वारा यह बतलाते हैं कि शरीर और आत्माके भेदज्ञानसे तथा वैराग्यसे विषयोपभोगकी शक्ति दब जाती है अत. उससे कर्मबन्ध नहीं होता—

मन्त्रके द्वारा जिसकी मारनेकी शक्ति नष्ट कर दी गयी है वह विष मृत्युका कारण नहीं होता। अथवा जैसे मद्यविषयक अरुचिके साथ पिया गया मद्य मदकारक नहीं होता, उसी प्रकार शरीर और आत्माके भेदज्ञानके द्वारा अथवा वैराग्यके द्वारा विषयभोगकी कर्मबन्धनकी शक्तिके कुण्ठित हो जानेपर विषयभोग करनेपर भी कर्मबन्ध नहीं होता ॥२॥

विशेषार्थ—सम्यग्दृष्टिका वैषयिक सुखमे रागभाव नहीं होता। इसका कारण है सम्यग्दर्शन। यह सम्यग्दर्शन आत्माकी ऐसी परिणति हैं कि सम्यग्दृष्टिकी सामान्य मनुष्योंकी तरह क्रिया मात्रमे अभिलाषा नहीं होती। जैसे प्रत्येक प्राणीका अपने अनुभूत रोगमे उपेक्षाभाव होता है कोई भी उसे पसन्द नहीं करता। उसी तरह सम्यग्दृष्टिका सब प्रकारके भोगोंमे उपेक्षाभाव होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जब किसीको यह ज्ञान हो जाता है कि यह मेरा नहीं है, पर है या पराया है तब वह परवस्तुकी अभिलाषा नहीं करता। अभिलाषाके बिना भी पराधीनतावश यदि कोई अनुचित काम करना पड़ता है तो वह उस क्रियाका कर्ता नहीं होता। उसी तरह सम्यग्दृष्टि भी पूर्व संचित कर्मोके उदयसे प्राप्त हुए इन्द्रियभोगोंको भोगता हैं तो भी तत्सम्बन्धी रागभावका अभाव होनेसे वह उसका भोक्ता नहीं होता। किन्तु मिथ्यादृष्टि विषयोंका सेवन नहीं करते हुए भी रागभावके होनेसे विषयोंका सेवन करनेवाला ही कहा जाता है। जैसे कोई व्यापारी स्वय कार्य न करके नौकरके द्वारा व्यापार कराता है। इस तरह वह स्वयं कार्य न करते हुए भी उसका स्वामी होनेके कारण व्यापार सम्बन्धी हानि-लाभका जिम्मेदार होता है। किन्तु नौकर व्यापार करते हुए भी उसके हानि-लाभका मालिक नहीं होता। यही स्थिति मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टिकी है। मिथ्यादृष्टि मालिक है और सम्यग्दृष्टि नौकरके रूपमे कार्य करता है, हानिसे उसे खेद नहीं होता और लाभसे प्रसन्नता नहीं होती। यह स्वामित्वका अभाव भेदविज्ञान होनेपर ही होता है। तथा इस ज्ञानके साथ ही विषयोंकी ओरसे अरुचि हो जाती है उसे ही

तथा—

'वन्धो जन्मनि येन येन निविडं निष्पादितो वस्तुना
वाह्यार्थैकरतेः पुरा परिणतप्रज्ञात्मनः साम्प्रतम्।
तत्तत्तन्निधनाय साधनमभूद्वैराग्यकाष्ठास्पृशो
दुर्वोधं हि तदन्यदेव विदुषामप्राकृत कौशलम् ॥' [ ] ॥२॥

अथ ज्ञानिनो विषयोपभोग स्वरूपेण सन्नपि विशिष्टफलाभावान्नास्तीति दृष्टान्तेन दृढयति—

ज्ञो भुञ्जानोऽपि नो भुङ्क्ते विषयांस्तत्फलात्ययात्।
यथा परप्रकरणे नृत्यन्नपि न नृत्यति ॥३॥

ज्ञः—आत्मज्ञानोपयुक्त पुमान्। भुञ्जान —चेष्टामात्रेणानुभवन्। नो भुङ्क्ते—उपयोगवैमुख्यान्नानुभवति। तत्फलं—बुद्धिपूर्वकरागादिजनितकर्मवन्धोऽथाहमेव लोके श्लाघ्यतमो यस्येदृक् कल्याणप्रवृत्तिरित्याभिमानिकरसानुविद्धप्रीत्यनुवन्धश्च। परप्रकरणे—विवाहादिपर्वणि।

विरागभाव कहते हैं। ऊपर ग्रन्थकारने जो दो दृष्टान्त दिये है। वे ही दृष्टान्त आचार्य कुन्द-कुन्दने समयसारमे दिये है। कहा है—जैसे कोई वैद्य विष खाकर भी सफल विद्याके द्वारा विषकी मारण शक्ति नष्ट कर देनेसे मरता नहीं है, वैसे ही अज्ञानियोंके रागादिका सद्भाव होनेसे जो पुद्गल कर्मका उदय वन्धका कारण होता है, उसीको भोगता हुआ भी ज्ञानी ज्ञानकी अव्यर्थ शक्तिके द्वारा रागादि भावोंका अभाव होनेसे कर्मके उदयकी नवीन वन्ध कारक शक्तिको रोक देता है। इसलिए उसके नवीन कर्मवन्ध नहीं होता। तथा जैसे कोई पुरुष मदिराके प्रति तीव्र अरुचि होनेसे मदिरापान करके भी मतवाला नही होता, उसी तरह ज्ञानी भी रागादि भावोंका अभाव होनेसे सब द्रव्योंके भोगमे तीव्र विराग भावके कारण विषयोंको भोगता हुआ भी कर्मोंसे नहीं बँधता। यह शंका हो सकती है कि जब सम्यग्दृष्टि जीव विषयोंको भोगता है और जो उसे प्रिय होता है उसे वह चाहता भी है तब कैसे उसे विषयोकी अभिलाषा नहीं है? यह शंका उचित है इसका कारण है उसका अभी जघन्य पदमें रहना, और इस जघन्य पदका कारण है चारित्र मोहनीय कर्मका उदय। चारित्र मोहके उदयसे जीव इन्द्रियोंके विषयोंमें रत होता है और यदि वह न हो तो वह शुद्ध वीतराग होता है। किन्तु दर्शनमोहका उदय न होनेसे यद्यपि वह भोगोंकी इच्छा नही करता तथापि चारित्रमोहका उदय होनेसे भोगकी क्रिया जबरदस्ती होती है। परन्तु केवल क्रियाको देखकर उसकी विरागतामे सन्देह करना उचित नही है। क्योंकि जैसे न चाहते हुए भी ससारके जीवोंको गरीबी आदिका कष्ट भोगना पड़ता है, वैसे ही कर्मसे पीडित ज्ञानीको भी न चाहते हुए भी भोग भोगना पड़ता है। अतः सम्यग्दृष्टी जीव भोगोका सेवन करते हुए भी उनका सेवक नहीं है क्योंकि विना इच्छाके किया गया कर्म विरागीके रागका कारण नहीं होता। (पञ्चाध्यायी, उत्तरार्द्ध २५१ आदि श्लोक) ॥२॥

ज्ञानीका विषयोपभोग स्वरूपसे सत् होते हुए भी विशिष्ट फलका अभाव होनेसे नहीं है, यह दृष्टान्त द्वारा दृढ करते हैं—

जैसे दूसरेके विवाह आदि उत्सवमे बलात् नाचनेके लिए पकड लिया गया व्यक्ति नाचते हुए भी नहीं नाचता, वैसे ही ज्ञानी विषयोंको भोगता हुआ भी नहीं भोगता, क्योकि विषयोपभोगके फलसे वह रहित है ॥३॥

उक्तं च—

'सेवतो वि ण सेवइ असेवमाणो वि सेवओ को वि ।

३ पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणोत्ति सो होई ॥' [समयप्रा , गा. १९७] ॥३॥

अथ ज्ञान्यज्ञानिनो. कर्मबन्धं विशिनष्टि—

नाबुद्धिपूर्वा रागाद्या जघन्यज्ञानिनोऽपि हि ।

६ बन्धायालं तथा बुद्धिपूर्वा अज्ञानिनो यथा ॥४॥

तथा—तेन अवश्यभोक्तव्यसुखदुःखफलत्वलक्षणेन प्रकारेण । यथाह—

'[1]रागद्वेषकृताभ्या .... ताभ्यामेवेष्यते मोक्षः' ॥४॥

विशेषार्थ—विषय भोगका फल है बुद्धिपूर्वक रागादिसे होनेवाला कर्मबन्ध । परद्रव्यको भोगते हुए जीवके सुखरूप या दुःखरूप भाव नियमसे होते हैं । इस भावका वेदन करते समय मिथ्यादृष्टिके रागादिभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध अवश्य होता है । अतः कर्मके उदयको भोगते हुए जो पूर्वबद्ध कर्मोंकी निर्जरा होती है वह वस्तुतः निर्जरा नहीं है क्योंकि उस निर्जराके साथ नवीन कर्मबन्ध होता है । क्योंकि मिथ्यादृष्टि विषय सेवन करते हुए ऐसा अनुभव करता है कि आज मैं धन्य हूँ जो इस तरहके उत्कृष्ट भोगोंको भोग रहा हूँ । किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानीके पर द्रव्यको भोगते हुए भी रागादि भावोंका अभाव होनेसे नवीन कर्मबन्ध नहीं होता केवल निर्जरा ही होती है । कहा है—'कोई तो विषयोंको सेवन करता हुआ भी नहीं सेवन करता है । और कोई नहीं सेवन करता हुआ भी सेवक होता है । जैसे किसी पुरुषके किसी कार्यको करनेकी चेष्टा तो है अर्थात् स्वयं नहीं करते हुए भी किसीके करानेसे करता है वह इस कार्यका स्वामी नहीं होता । ऐसी ही ज्ञानीकी भी स्थिति होती है । यहाँ ज्ञानीसे आशय है आत्मज्ञानमे उपयुक्त व्यक्ति' ॥३॥

ज्ञानी और अज्ञानीके कर्मबन्धमें विशेषता बतलाते हैं—

जैसे अज्ञानीके बुद्धिपूर्वक रागादि भाव बन्धके कारण होते हैं उस तरह मध्यमज्ञानी और उत्कृष्ट ज्ञानीकी तो बात ही क्या, जघन्यज्ञानी अर्थात् हीन ज्ञानवाले ज्ञानीके भी अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव बन्धके कारण नहीं होते ॥४॥

विशेषार्थ—ज्ञानीके निचली दशामें अबुद्धिपूर्वक रागादि भाव होते हैं । पं. आशाधर जीने अबुद्धिका अर्थ किया है आत्मदृष्टि । अर्थात् आत्मदृष्टि पूर्वक होनेवाले भावको अबुद्धि पूर्वक भाव कहते हैं । समयसार गाथा १७२ की आत्म ख्यातिमें आचार्य अमृतचन्द्रजीने लिखा है—'जो निश्चयसे ज्ञानी है वह बुद्धिपूर्वक रागद्वेष मोहरूप आस्रव भावका अभाव होनेसे निरास्रव ही है । किन्तु इतना विशेष है कि वह ज्ञानी भी जबतक ज्ञानको सर्वोत्कृष्ट रूपसे देखने-जानने और आचरण करनेमें असमर्थ होता है और जघन्यरूपसे ही ज्ञान (आत्मा)को देखता है, जानता है, आचरण करता है तबतक उसके भी अनुमानसे अबुद्धिपूर्वक कर्ममल कलंकका सद्भाव ज्ञात होता है क्योंकि यदि ऐसा न होता तो उस ज्ञानीके ज्ञानका जघन्य भाव होना संभव नहीं था । अत उसके पौद्गलिक कर्मका बन्ध होता

---

१. रागद्वेषकृताभ्या जन्तोर्बन्धः प्रवृत्त्यवृत्तिभ्याम् ।
तत्त्वज्ञानकृताभ्या ताभ्यामेवेष्यते मोक्ष. ॥'—आत्मानुशा. १०८ श्लो.

है।' इसी बातको आचार्यने कलश द्वारा भी कहा है—अर्थात् आत्मा जब ज्ञानी होता है तब अपने बुद्धि पूर्वक समस्त रागको स्वयं ही सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालसे लेकर निरन्तर छोड़ता है। और अबुद्धिपूर्वक रागको जीतनेके लिए बारम्बार अपनी शुद्ध चैतन्यरूप शक्तिका स्वानुभव प्रत्यक्षरूपसे अनुभवन करता है। इसका आशय है कि ज्ञानी होते ही जब सब रागको हेय जाना तो बुद्धिपूर्वक रागका तो परित्याग कर दिया। रहा, अबुद्धिपूर्वक राग, उसके मेटनेका प्रयत्न करता है। इस कलशकी व्याख्या करते हुए पं. राजमल्लजीने लिखा है—'भावार्थ इस प्रकार है—मिथ्यात्व रागद्वेष रूप जो जीवके अशुद्ध चेतना रूप विभाव परिणाम, वे दो प्रकारके हैं—एक परिणाम बुद्धिपूर्वक है, एक परिणाम अबुद्धिपूर्वक है। बुद्धिपूर्वक कहनेपर जो परिणाम मनके द्वारा प्रवर्तते हैं, बाह्य विषयके आधारसे प्रवर्तते हैं। प्रवर्तते हुए वह जीव आप भी जानता है कि मेरा परिणाम इस रूप है। तथा अन्य जीव भी अनुमान करके जानते हैं जो इस जीवके ऐसे परिणाम हैं। ऐसा परिणाम बुद्धिपूर्वक कहा जाता है। सो ऐसे परिणामको सम्यग्दृष्टि जीव मेट सकता है क्योंकि ऐसा परिणाम जीवकी जानकारीमें है। अबुद्धिपूर्वक परिणाम कहनेपर पाँच इन्द्रिय और मनके व्यापारके विना ही मोहकर्मके उदयका निमित्त पाकर मोह रागद्वेषरूप अशुद्ध विभाव परिणामरूप आप स्वयं जीव द्रव्य असंख्यात प्रदेशोंमें परिणमता है सो ऐसा परिणमन जीवकी जानकारीमें नहीं है और जीवके सहाराका भी नहीं है। इसलिए जिस किसी प्रकार मेटा जाता नहीं है। अतएव ऐसे परिणामके मेटनेके लिए निरन्तरपने शुद्धस्वरूपको अनुभवता है। अतः सम्यग्दृष्टि जीव निरास्रव है।' आशय यह है कि बन्धके करनेवाले तो जीवके राग-द्वेष-मोहरूप भाव हैं। जब मिथ्यात्व आदिका उदय होता है तब जीवका राग-द्वेष-मोहरूप जैसा भाव होता है उसके अनुसार आगामी बन्ध होता है। और जब सम्यग्दृष्टि होता है तब यदि मिथ्यात्वकी सत्ताका ही नाश हो जाता है तो उसके साथ अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उस सम्बन्धी अविरति और योगभाव भी नष्ट हो जाते हैं और तब उस सम्बन्धी राग द्वेष-मोह भी जीवके नहीं होते। तथा मिथ्यात्व अनन्तानुबन्धीका आगामी बन्ध भी नहीं होता और यदि मिथ्यात्वका उपशम ही होता है तो वह सत्तामें रहता है। किन्तु सत्ताका द्रव्य उदयके विना बन्धका कारण नहीं है। और जो अविरत सम्यग्दृष्टि आदि गुणस्थानोंकी परिपाटीमें चारित्रमोहके उदयको लेकर बन्ध कहा है उसे यहाँ बन्धमें नहीं गिना है क्योंकि ज्ञानी-अज्ञानीका भेद है। जबतक कर्मके उदयमें कर्मका स्वामीपना रखकर परिणमन करता है तबतक ही कर्मका कर्ता कहा है। परके निमित्तसे परिणमन करे और उसका मात्र ज्ञाता-द्रष्टा रहे तब ज्ञानी ही है, कर्ता नहीं है। ऐसी अपेक्षासे सम्यग्दृष्टि होनेपर चारित्रमोहके उदयरूप परिणामके होते हुए भी ज्ञानी ही कहा है। जबतक मिथ्यात्व-का उदय है तबतक उस सम्बन्धी रागद्वेष-मोहरूप परिणाम होनेसे अज्ञानी कहा है। ऐसे ज्ञानी और अज्ञानीका भेद समझना चाहिए। इसीसे बन्ध और अबन्धका भेद स्पष्ट होता है। कहा भी है—'राग और द्वेपसे की गयी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे जीवके बन्ध होता है और तत्त्वज्ञानपूर्वक की गयी उसी प्रवृत्ति और निवृत्तिसे मोक्ष होता है ॥४॥'

---

१. 'सन्यस्यन्निजबुद्धिपूर्वमनिशं राग समग्र स्वय,
वारम्वारमबुद्धिपूर्वमपि तं जेतुं स्वशक्ति स्पृशन् ।'

अथानादिसंतत्या प्रवर्तमानमात्मनः प्रमादाचरणमनुशोचति—

मत्प्रच्युत्य परेहमित्यवगमादाजन्म रज्यन् द्विषन्
प्राङ्मिथ्यात्वमुखैश्चतुर्भिरपि तत्कर्माष्टधा बन्धयन् ।
मूर्तैर्मूर्तमहं तदुद्भवभवैर्भावैरसंचिन्मयै-
र्योजं योजमिहाद्य यावदसदं हा मां न जात्वासदम् ॥५॥

मत्—मत्तश्चिच्चमत्कारमात्रस्वभावादात्मनः । प्रच्युत्य—पराङ्मुखीभूय । प्राङ्मिथ्यात्वमुखैः—पूर्वोपात्तमिथ्यात्वासंयमकषाययोगैः । चतुर्भिः, प्रमादस्याविरतावन्तर्भावात् । आत्मा प्रमुच्यते । अत्र कर्तरि तृतीया । उक्तं च—

'सामण्णपच्चया खलु चदुरो भण्णंति बंधकत्तारो ।
मिच्छत्तं अविरमणं कसाय जोगा य बोद्धव्वा ॥' [समयप्रा. १०९ गा.]

अपि इत्यादि । प्रतिसमयमायुर्वर्जं ज्ञानावरणादिसप्तविधं कर्म कदाचिदष्टप्रकारमपीत्यर्थः । मूर्तैः—द्रव्यरूपत्वात् पौद्गलिकैः । भावैः—भावमिथ्यात्वरागादिभिः । असंचिन्मयैः—परार्थसंचेतनशून्यत्वेनाज्ञानमयैः । योजं योजं—परिणम्य परिणम्य । असदं—अवसादमगममहम् । आसदं—प्रापमहम् ॥५॥

अनादिकालसे जो आत्माका प्रमादजनित आचरण चला आता है उसपर खेद प्रकट करते हैं—

बड़ा खेद है कि चेतनाका चमत्कार मात्र स्वभाववाले अपने आत्मासे विमुख होकर और शरीरादिकमें 'यह मैं हूँ' ऐसा निश्चय करके अनादिकालसे इष्ट विषयोंसे राग और अनिष्ट विषयोंसे द्वेष करता आया हूँ। और इसीसे पूर्वबद्ध मिथ्यात्व असंयम कषाय और योगरूप चार पौद्गलिक भावोंके द्वारा आठ प्रकारके उन प्रसिद्ध ज्ञानावरणादि रूप पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध करता आया हूँ। तथा उन मूर्त कर्मोंके उदयसे उत्पन्न होनेवाले अज्ञानमय मिथ्यात्व रागादि भावरूप परिणमन कर-करके इस संसारमें आज तक कष्ट उठा रहा हूँ ॥५॥

विशेषार्थ—जीव अनादिकालसे अपनी भूलके कारण इस संसारमें दुःख उठाता है। अपने चैतन्य स्वभावको भूलकर शरीरादिको ही 'यह मैं हूँ' ऐसा मानता है। जो वस्तुएँ उसे रुचती हैं उनसे राग करता है जो नहीं रुचतीं उनसे द्वेष करता है। ये रागद्वेष ही नवीन कर्मबन्धमें निमित्त होते हैं। कहा है—आत्मा संसार अवस्थामें अपने चैतन्य स्वभावको छोड़े बिना ही अनादि बन्धनके द्वारा बद्ध होनेसे अनादि मोह-राग-द्वेषरूप अशुद्ध भावसे परिणमित होता है। वह जब जहाँ मोहरूप, रागरूप और द्वेषरूप अपने भावको करता है उसी समय वहाँ उसी भावको निमित्त बनाकर जीवके प्रदेशोंमें परस्पर अवगाह रूपसे प्रविष्ट हुए पुद्गल स्वभावसे ही कर्मपनेको प्राप्त होते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा रहता है वहाँ कर्मवर्गणाके योग्य पुद्गल पहलेसे ही रहते हैं और आत्माके मिथ्यात्व रागादिरूप परिणामोंको निमित्त बनाकर स्वयं ही कर्मरूपसे परिणमन करते हैं। उन्हें कोई जबरदस्ती नहीं परिणमाता। प्रश्न होता है कि जीवके जो राग-द्वेषरूप भाव होते हैं क्या वे स्वयं होते हैं

१ 'अत्ता कुणदि सभावं तत्थ गदा पोग्गला सभावेहिं ।
गच्छंति कम्मभावं अण्णोण्णागाहमवगाढा ॥' पञ्चास्तिकाय ६५ गा.

अथाभेदविज्ञानाभावाद् व्यवहारादेव परं प्रत्यात्मन: कर्तृत्वभोक्तृत्वे परमार्थतश्च ज्ञातृत्वमात्रमनुचिन्त्य भेदविज्ञानाच्छुद्धस्वात्मानुभूतये प्रयत्नं प्रतिजानीते—

स्वान्याप्रतियन् स्वलक्षणकलानैयत्यतोऽस्वेऽहमि-
त्यैक्याध्यासकृतेः परस्य पुरुषः कर्ता परार्थस्य च ।
भोक्ता नित्यमहंतयानुभवनाज्ज्ञातैव चार्थात्तयो-
स्तत्स्वान्यप्रविभागबोधबलतः शुद्धात्मसिद्ध्यै यते ॥६॥

या उनका निमित्त कारण है। इसके उत्तरमे कहा है—निश्चयसे अपने चैतन्य स्वरूप रागादि परिणामोंसे स्वयं ही परिणमन करते हुए आत्माके पौद्गलिक कर्म निमित्त मात्र होते हैं। अर्थात् रागादिका निमित्त पाकर आत्माके प्रदेशोंके साथ बँधे पौद्गलिक कर्मोंके निमित्तसे यह आत्मा अपनेको भूलकर अनेक प्रकारके विभावरूप परिणमन करता है और इन विभावभावोंके निमित्तसे पुद्गल कर्मोंमें ऐसी शक्ति होती है जिससे चेतन आत्मा विपरीत रूप परिणमन करता है। इस तरह द्रव्यकर्मसे भावकर्म और भावकर्मसे द्रव्यकर्म होते हैं। इसीका नाम संसार है। बन्धके कारण तत्त्वार्थ सूत्रमें पाँच कहे है—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग। किन्तु समयसारमे प्रमादका अन्तर्भाव अविरतिमे करनेसे चार ही कारण कहे हैं। मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग। ये चारों द्रव्य प्रत्यय और भावप्रत्ययके भेदसे दो-दो प्रकारके होते हैं। भावप्रत्यय अर्थात् चेतनाके विकार और द्रव्यप्रत्यय अर्थात् जड़ पुद्गलके विकार। पुद्गल कर्मका कर्ता निश्चयसे पुद्गल द्रव्य ही होता है उसीके भेद मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग हैं। जो पुद्गलके परिणाम हैं वे ज्ञानावरण आदि पुद्गलोंके आनेमे निमित्त हैं। तथा उनके भी निमित्त हैं राग-द्वेष-मोहरूप आत्म परिणाम। अतः आस्रवके निमित्तमे भी निमित्त होनेसे राग-द्वेष मोह ही बन्धके कारण है। सारांश यह है कि ज्ञानावरणादि कर्मोंके आनेका कारण तो मिथ्यात्व आदि कर्मके उदयरूप पुद्गलके परिणाम हैं और उन कर्मोंके आनेके निमित्तका भी निमित्त राग द्वेष मोह रूप परिणाम है जो चेतनके ही विकार है और जीवकी अज्ञान अवस्थामे होते है। इस प्रकार आत्मा ही आत्माको बाँधकर दुःख उठाता है ॥५॥

आगे कहते है कि भेदविज्ञान होनेसे पहले यह जीव अपनेको परका कर्ता और भोक्ता मानता है। किन्तु यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व व्यवहारसे ही है परमार्थसे आत्मा केवल ज्ञातामात्र है, ऐसा विचारकर भेदविज्ञानसे शुद्ध स्वात्माकी अनुभूतिके लिए प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करते है—

जीव और अजीवका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रतिनियत है। उसको न जानकर अर्थात् अपने-अपने सुनिश्चित स्वरूपके द्वारा जीव और अजीवको न जानकर, अजीवमे 'यह मै हूँ' इस प्रकारके एकत्वका आरोप करनेसे आत्मा परका कर्ता और कर्मादि फलका भोक्ता प्रतीत होता है। किन्तु परमार्थसे सर्वदा 'मै' इस प्रकारका ज्ञान होनेसे जीव कर्म और कर्मफलका ज्ञाता ही है। अतः जीव और अजीवके भेदज्ञानके बलसे मै निर्मल अपनी आत्माकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ ॥६॥

१. 'परिणममानस्य चितश्चिदात्मकैः स्वयमपि स्वकैर्भावैः ।
भवति हि निमित्तमात्रं पौद्गलिकं कर्म तस्यापि' ॥—पुरुषार्थ. १३।

स्वान्यौ—आत्मानात्मानौ । अप्रतियन्—प्रतीतिविषयावकुर्वन् । स्वेत्यादि—प्रतिनियतस्वरूपविशेषनियमात् । अस्वे—परस्मिन् शरीरादौ । परस्य—कर्मादि । परार्थस्य—कर्मादिफलस्य । अर्थात्—
३ परमार्थत. । यथाह—

'मात्कर्तारममी स्पृशन्तु पुरुष सास्या इवाप्यार्हताः,
कर्तार कलयन्तु तं किल सदा भेदाववोधादधः ।
६ ऊर्ध्वं तूद्धतवोधधामनियतं प्रत्यक्षमेनं स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्मभावमचल ज्ञातारमेकं परम् ॥' [समय., कलश, २०५]

स्वान्येत्यादि—अन्यच्छरीरमन्योऽहमित्यादिभेदज्ञानावष्टम्भात् ॥६॥

विशेषार्थ—जीव और अजीव दोनो ही अनादिकालसे एक क्षेत्रावगाह संयोगरूप मिले हुए हैं । और अनादिसे ही जीव और पुद्गलके संयोगसे अनेक विकार सहित अवस्थाएँ हो रही है । किन्तु यदि परमार्थसे देखा जाये तो न तो जीव अपने चैतन्य स्वभावको छोडता है और न पुद्गल अपने जडपने और मूर्तिकपनेको छोड़ता है । परन्तु जो परमार्थको नहीं जानते वे जीव और पुद्गलके संयोगसे होनेवाले भावोको ही जीव जानते है । जैसे मूर्तिक पौद्गलिक कर्मके सम्बन्धसे जीवको मूर्तिक कहा जाता है । यह कथन व्यवहारसे है निश्चयसे जीवमे रूप, रस, गन्ध आदि नहीं है ये तो पुद्गलके गुण हैं । इन गुणोंका पुद्गलके साथ ही तादात्म्य सम्बन्ध है, जीवके साथ नहीं । यदि जीवको भी रूपादि गुणवाला माना जाये तो वह भी पुद्गल कहलायेगा, जीव नहीं । साराश यह है कि प्रत्येक द्रव्यके अपने-अपने परिणाम भिन्न-भिन्न होते हैं । कोई भी द्रव्य अपने परिणामको छोड़कर अन्य द्रव्यके परिणामको नहीं अपनाता । प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणामका कर्ता होता है और वह परिणाम उसका कर्म है । अत. जीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म है । इसी तरह अजीव अपने परिणामोंका कर्ता है और उसके परिणाम उसके कर्म हैं । अतः जीव और अजीवमे कार्यकारणभाव नहीं है । और इसलिए जीव परद्रव्यका कर्ता नहीं है । फिर भी उसके कर्मबन्ध होता है यह अज्ञानकी ही महिमा है । किन्तु जैनमतमे साख्यमतकी तरह जीव सर्वथा अकर्ता नहीं है । सांख्यमतमे प्रकृतिको ही एकान्ततः कर्ता माना जाता है । उस तरह जैनमत नहीं मानता । समयसारकलशमे कहा है—अर्हत्के अनुयायी जैन भी आत्माको साख्य मतवालोकी तरह सर्वथा अकर्ता मत मानो । भेदज्ञान होनेसे पूर्व सदा कर्ता मानो । किन्तु भेदज्ञान होनेके पश्चात् उन्नत ज्ञानमन्दिरमे स्थिर इस आत्माको नियमसे कर्तापनेसे रहित अचल एक ज्ञाता ही स्वयं प्रत्यक्ष देखो ।

आशय यह है कि साख्यमत पुरुषको सर्वथा अकर्ता मानता है और जड प्रकृतिको कर्ता मानता है । ऐसा माननेसे पुरुषके ससारके अभावका प्रसंग आता है । और जड़ प्रकृतिको संसार सम्भव नहीं है क्योकि वह सुख-दु खका संवेदन नहीं कर सकती । यदि जैन भी ऐसा मानते है कि कर्म ही जीवको अज्ञानी करता है क्योंकि ज्ञानावरणके उदयके विना अज्ञान भाव नहीं होता, कर्म ही आत्माको ज्ञानी करता है, क्योंकि ज्ञानावरणके क्षयोपशमके विना ज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती । कर्म ही आत्माको सुलाता है क्योकि निद्रा नामक कर्मके उदय विना निद्राकी प्राप्ति नहीं होती । कर्म ही आत्माको जगाता है क्योकि निद्रा नामक कर्मके क्षयोपशमके विना जागना सम्भव नहीं है । कर्म ही आत्माको दु.खी और सुखी करता है क्योंकि असाता वेदनीय और साता वेदनीय कर्मके उदयके बिना दु ख-सुख नहीं होता ।

अथात्मनः सम्यग्दर्शनरूपतामनुसंधत्ते—

यदि टङ्कोत्कीर्णैकज्ञायकभावस्वभावमात्मानम् ।
रागादिभ्यः सम्यग्विविच्य पश्यामि सुदृगस्मि ॥७॥ ३

टङ्कोत्कीर्णं.—निश्चलसुव्यक्ताकारः । एक'—कर्तृत्वभोक्तृत्वरहित. । रागादिभ्य:—रागद्वेष-मोहक्रोधमानमायालोभकर्मनोकर्म-मनोवचनकायेन्द्रियेभ्य ॥७॥

अथ रागादिभ्य स्वात्मनो विभक्तत्वं समर्थयते— ६

ज्ञानं जानत्तया ज्ञानमेव रागो रजत्तया ।
राग एवास्ति न त्वन्यत्तच्चिद्रागोऽस्म्यचित् कथम् ॥८॥

कर्म ही आत्माको मिथ्यादृष्टि करता है क्योंकि मिथ्यात्व कर्मके उदयके विना मिथ्यात्वकी प्राप्ति नहीं होती। कर्म ही आत्माको असंयमी करता है क्योंकि चारित्रमोहके उदयके विना असंयम नहीं होता। इस प्रकार सभी बातें कर्म करता है और आत्मा एकान्तसे अकर्ता है। ऐसा माननेवाले जैन भी सांख्यकी तरह ही मिथ्यादृष्टि है। अत. जैनोंको साख्योंकी तरह आत्माको सर्वथा अकर्ता नहीं मानना चाहिए। किन्तु जहाँ तक स्व और परका भेदज्ञान न हो वहाँ तक तो आत्माको रागादिरूप भावकर्मोंका कर्ता मानो और भेदविज्ञान होनेके पश्चात् समस्त कर्तृत्व भावसे रहित एक ज्ञाता ही मानो। इस तरह एक ही आत्मामे विवक्षावश कर्ता-अकर्ता दोनों भाव सिद्ध होते हैं ॥६॥

आगे आत्माको सम्यग्दर्शन स्वरूपका अनुभव कराते हैं—

सम्यक् रूपसे राग, द्वेष, मोह, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, इन्द्रियसे भिन्न करके टाँकीसे उकेरे गयेके समान कर्तृत्व, भोक्तृत्वसे रहित एक ज्ञायक स्वभाव आत्माका यदि मैं अनुभव करता हूँ तो मैं सम्यग्दर्शन स्वरूप हूँ ॥७॥

विशेषार्थ—अपनी सभी स्वाभाविक और नैमित्तिक अवस्थाओंमें व्याप्त वह आत्मा शुद्धनयसे एक ज्ञायक मात्र है उसको रागादि भावोंसे मन, वचन, काय, और इन्द्रियोंसे भिन्न करके अर्थात् ये मैं नहीं हूँ न ये मेरे है मैं तो एक कर्तृत्व भोक्तृत्वसे रहित ज्ञाता मात्र हूँ ऐसा अनुभवन करना ही सम्यग्दर्शन है। इसमे सातों तत्त्वोंका श्रद्धान समाविष्ट है क्योंकि सात तत्त्वोंके श्रद्धानके विना स्व और परका सम्यक् श्रद्धान नहीं होता। जिसके सच्चा आपा परका श्रद्धान व आत्माका श्रद्धान होता है उसके सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता ही है और जिसके सच्चा सातों तत्त्वोंका श्रद्धान होता है उसके आपा परका और आत्माका श्रद्धान होता ही है। इसलिए आस्रवादिके साथ आपा परका व आत्माका श्रद्धान करना ही योग्य है। सातों तत्त्वार्थोंके श्रद्धानसे रागादि मिटानेके लिए परद्रव्योंको भिन्न माना है। तथा अपने आत्माको भाता है तभी प्रयोजनकी सिद्धि होती है। ऐसा करनेसे यदि उक्त प्रकारसे आत्मानुभूति होती है तो वह अपनेको सम्यग्दृष्टि मानता है। टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भाव रूप आत्माका अनुभवरूप सम्यग्दर्शन आत्मासे भिन्न पदार्थ नहीं है। आत्मा-का ही परिणाम है। अत जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा ही है, अन्य नहीं है ॥७॥

आगे रागादिसे अपने आत्माकी भिन्नताका समर्थन करते हैं—

ज्ञानका स्वभाव जानना है अत स्व और परका अवभासक स्वभाव वाला होनेसे ज्ञान ज्ञान ही है, ज्ञान रागरूप नहीं है। तथा इष्ट विषयमे प्रीति उत्पन्न करनेवाला होनेसे राग राग ही है ज्ञान रूप नहीं है। इसलिए स्व और परका अवभासक स्वभाव चित्स्वरूप

जानत्तया—स्वपरावभासकरूपतया । चित्—चिद्रूपोऽहं स्वपरावभासकज्ञानस्वभावत्वात् । अचित्—परस्वरूपसचेतनशून्यत्वादचेतन । कथम् । उपलक्षणमेतत् । तेन द्वेषादिभ्योऽप्येवमात्मा विवेच्य. ॥८॥

एतदेव स्पष्टयितु दिङ्मात्रमाह—

नान्तरं वाङ्मनोऽप्यस्मि किं पुनर्बाह्यमङ्गगीः ।
तत् कोऽङ्गसंगजेष्वैक्यभ्रमो मेऽङ्गाङ्गजाविषु ॥९॥

६ वाङ्मन—वाक् च मनश्चेति समाहार । गणकृतस्यानित्यत्वान्न समासान्त । अङ्गगीः—देहवाचम् ॥९॥

अथात्मनोऽष्टाङ्गदृष्टिरूपतामाचष्टे—

९ **यत्कस्मादपि नो बिभेति न किमप्याशंसति क्वाप्युप-**
क्रोशं नाश्रयते न मुह्यति निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा ।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते
१२ **माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदस्म्यष्टाङ्गसद्दर्शनम् ॥१०॥**

कस्मादपि—इहपरलोकादे । नि शङ्कितोक्तिरियम् । एवं क्रमेणोत्तरवाक्यैर्नि काङ्क्षितत्वादीनि सप्त ज्ञेयानि । आशंसति—काङ्क्षति । क्वापि—जुगुप्स्ये द्रव्ये भावे वा । उपक्रोशं—जुगुप्सा, विचिकित्सा-

---

मैं स्वसंविदित होनेपर भी परके स्वरूपको जाननेमें अशक्त होनेसे अचित् राग रूप कैसे हो सकता हूँ ॥८॥

विशेषार्थ—ज्ञान आत्माका स्वाभाविक गुण है । किन्तु राग, द्वेष आदि वैभाविक अवस्थाएँ हैं अत. न ज्ञान राग है और न राग ज्ञान है । ज्ञान तो स्वपर प्रकाशक है किन्तु रागका स्वसंवेदन तो होता है परन्तु उसमें परस्वरूपका वेदन नहीं होता अतः वह अचित् है और ज्ञान चिद्रूप है । जो स्थिति रागकी है वही द्वेष, मोह क्रोधादिकी है ॥८॥

इसीको और भी स्पष्ट करते हैं—

वचन और मन आन्तरिक हैं, वचन अन्तर्जल्प रूप है मन विकल्प है । जब मैं आन्तरिक वचन रूप और मन रूप नहीं हूँ तब बाह्य शरीर रूप और द्रव्य वचन रूप तो मै कैसे हो सकता हूँ । ऐसी स्थितिमें हे अंग ! केवल शरीरके संसर्ग मात्रसे उत्पन्न हुए पुत्रादिकमे एकत्वका भ्रम कैसे हो सकता है ॥९॥

विशेषार्थ—यहाँ मन, वचन, काय और स्त्री-पुत्रादिकसे भिन्नता बतलायी है । भाव वचन और भावमन तो आन्तरिक हैं जब उनसे ही आत्मा भिन्न है तब शरीर और द्रव्य वचनकी तो बात ही क्या है वे तो स्पष्ट ही पौद्गलिक हैं । और जब शरीरसे ही मैं भिन्न हूँ तो जो शरीरके सम्बन्ध मात्रसे पैदा हुए पुत्रादि हैं उनसे भिन्न होनेमे तो सन्देह है ही नहीं । इस तरह मैं इन सबसे भिन्न हूँ ॥९॥

आगे आत्माको अष्टाग सम्यग्दर्शन रूप बतलाते है—

जो किसीसे भी नहीं डरता, इस लोक और परलोकमें कुछ भी आकाक्षा नही करता, किसीसे भी ग्लानि नहीं करता, न किसी देवताभास आदिमे मुग्ध होता है, सदा अपनी शक्तियोंको पुष्ट करता है, रत्नत्रयरूप मार्गसे कभी विचलित नहीं होता, और परमार्थसे मोक्षके मार्ग निज आत्मस्वरूपका ही अवलोकन किया करता है तथा जो सदा आत्मीय अचिन्त्य शक्ति विशेषको प्रकाशित किया करता है वह अष्टाग सम्यग्दर्शन मैं ही हूँ ॥१०॥

मित्यर्थः । न मुह्यति 'क्वापि' इत्यनुवृत्त्या देवताभासादौ न विपर्येति । निजाः—कर्मसंवरणनिर्जरण-मोक्षणाभ्युदयप्रापणदुर्गतिनिवारणादिलक्षणाः ॥१०॥

अथ आत्मनो ज्ञानविषयरत्यादिपरिणतिं परामृशति—

सत्यान्यात्माशीरनुभाव्यानीयन्ति चैव यावदिदम् ।
ज्ञानं तदिहास्मि रतः संतुष्टः संततं तृप्तः ॥११॥

विशेषार्थ—सम्यग्दर्शनके आठ अंग होते हैं। जैसे आठ अंगोंसे सहित शरीर परिपूर्ण और कार्य करनेमे समर्थ होता है वैसे ही आठ अगोंसे सहित सम्यग्दर्शन पूर्ण माना जाता है। आचार्य समन्तभद्रने कहा है कि अंगहीन सम्यग्दर्शन संसारका छेद करनेमे समर्थ नहीं होता। इन आठो अंगोंका स्वरूप पहले कहा है उन्हींकी यहाँ सूचना की है। पहला अग है नि.शंकित। शंकाका अर्थ भय भी है। वे सात होते हैं—इस लोकका भय, परलोकका भय, अत्राणभय, अगुप्तिभय, मरणभय, वेदनाभय और आकस्मिक भय। सम्यग्दृष्टि इन सातों भयोंसे मुक्त होता है। क्योंकि वह जानता है कि इस आत्माका ज्ञान रूप शरीर किसीसे भी बाधित नहीं होता। वज्रपात होनेपर भी उसका विनाश नही होता। कहा है—निश्चल क्षायिक सम्यग्दृष्टि भयंकर रूपोंसे, हेतु और दृष्टान्तके सूचक वचनोसे कभी भी विचलित नहीं होता। तथा वह इस जन्ममें भोगादिकी और परलोकमें इन्द्रादि पदकी कामना नहीं करता, यह नि काक्षित अंग है। तथा सम्यग्दृष्टि वस्तुके धर्म, भूख-प्यास, शीत-उष्ण आदि भावोमे तथा विष्ठा आदि मलिन द्रव्योंसे घृणा भाव नहीं रखता। यह निर्विचिकित्सा अंग है। तथा सम्यग्दृष्टि सब पदार्थोंका यथार्थ स्वरूप जानता है इसलिए कुदेवों आदिके सम्बन्धमें भ्रममे नहीं पडता। यह अमूढदृष्टि अंग है। वह अपनी कर्मोंका संवरण करने रूप, निर्जीण करने रूप और मोक्षण करने रूप शक्तियोको तथा दुर्गतिके निवारणरूप और अभ्युदयको प्राप्त करानेवाली शक्तियोंको बढाता है, पुष्ट करता है यह उपबृंहण गुण है। सम्यग्दृष्टि निश्चयसे टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक भावरूप है इसलिए अपने रत्नत्रयरूप मार्गसे डिगते हुए आत्माको उसीमे स्थिर करता है। यह स्थितिकरण अंग है। तथा निश्चयदृष्टिसे अपना चिद्रूप ही मोक्षका मार्ग है, उसीमें वात्सल्य भाव रखनेसे वात्सल्य अंग है। अपनी आत्मिक शक्तिको प्रकट करके प्रभावना अंग पालता है। इस तरह आठ अंग युक्त होनेसे मैं अष्टाग सम्यग्दर्शन रूप हूँ ऐसा सम्यग्दृष्टि अवलोकन करता है। कहा है 'अधिक कहनेसे क्या, अतीत कालमे जो मनुष्यश्रेष्ठ मुक्त हुए और जो भव्य आगे सीझेंगे वह सब सम्यक्त्वका माहात्म्य जानो' ॥१०॥

आगे आत्माकी ज्ञानके विषयमे रति आदि रूप परिणतिको बतलाते हैं—

आत्मा, आशीः अर्थात् आगामी इष्ट अर्थकी अभिलाषा और अनुभवनीय पदार्थ ये तीनों ही सत्य है और ये उतने ही है जितना स्वयं प्रतीयमान ज्ञान है। इसलिए मैं ज्ञानमे सदा लीन हूँ, सदा सन्तुष्ट हूँ तथा तृप्त हूँ ॥११॥

१ 'रूपैर्भयङ्करैर्वाक्यैर्हेतुदृष्टान्तसूचिभि ।
जातु क्षायिकसम्यक्त्वो न क्षुभ्यति विनिश्चल' ॥—अमित. पं. स. १।२९३ ।

२. 'किं पलविएण बहुणा सिद्धा जे णरवरा गए काले ।
सिज्झहिंहि जे वि भविया त जाणह सम्ममाहप्प' ॥—बारस अणु ९० ।

इयन्ति चेव—एतावन्त्येव। तथाहि—एतावानेव सत्य आत्मा यावदिदं स्वयं संवेद्यमानं ज्ञानम्। एवमेतावत्येवमात्मा (–वं सत्या) आशीरितावदेव च सत्यमनुभवनीयमित्यपि योज्यम् ॥११॥

३ अथ (भेदं–)ज्ञानादेव बन्धोच्छेदे सति मोक्षलाभादनन्तं सुखं स्यादित्यनुशास्ति—

क्रोधाद्यास्रवविनिवृत्तिनान्तरीयकतदात्मभेदविदः।
सिध्यति बन्धनिरोधस्ततः शिवं शं ततोऽनन्तम् ॥१२॥

६ नान्तरीयकी—अविनाभूता। तदित्यादि। स च क्रोधाद्यास्रव आत्मा च तदात्मानौ, तयोर्भेदो विवेकस्तस्य विद् ज्ञानं तत.। उक्त च—

'भेदविज्ञानत. सिद्धाः सिद्धा ये किल केचन।
९ अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥' [सम. कल, श्लो १३१]

शं—सुखम् ॥१२॥

विशेषार्थ—आत्मामें अनन्त गुण है किन्तु उनमें-से एक ज्ञान ही ऐसा गुण है जो स्वपर-प्रकाशक है। उसीके द्वारा स्व और परका संवेदन होता है। जो कुछ जाना जाता है वह ज्ञानसे ही जाना जाता है। अत. परमार्थसे आत्मा ज्ञानस्वभाव है, ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है इसलिए ज्ञानको ही मोक्षका कारण कहा है। क्योंकि ज्ञानका अभाव होनेसे अज्ञानीके व्रतादि मोक्षके कारण नहीं होते। तथा आत्माका ज्ञानस्वरूप होना ही अनुभूति है। अत जितना स्वयं सवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आत्मा है, जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही आगामी इष्ट अर्थकी आकाक्षा है और जितना स्वयं संवेद्यमान ज्ञान है उतना ही सत्य अनुभवनीय है। अर्थात् आत्मा आदि तीनोंका स्रोत ज्ञान ही है, ज्ञानसे ही आत्मा आदिकी सत्यताका बोध होता है। इसलिए मैं ज्ञानमे ही सदा सन्तृप्त हूँ ऐसा ज्ञानी मानता है। ज्ञानके विना गति नहीं है ॥११॥

आगे कहते हैं कि भेदज्ञानसे ही कर्मबन्धका उच्छेद होनेपर मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्ति होनेसे अनन्त सुखका लाभ होता है—

क्रोध आदि आस्रवोंकी विशेषरूपसे निवृत्ति अर्थात् संवरके साथ अविनाभावी रूपसे जो उन क्रोधादि आस्रवोका और आत्माके भेदका ज्ञान होता है उसीसे कर्मोंके बन्धका निरोध होता है और बन्धका निरोध होनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है और मोक्षकी प्राप्तिसे अनन्त सुख होता है ॥१२॥

विशेषार्थ—जैसे आत्मा और ज्ञानका तादात्म्य सम्बन्ध होनेसे आत्मा नि शंक होकर ज्ञानमे प्रवृत्ति करता है। यह ज्ञानक्रिया आत्माकी स्वभावभूत है। अत. निषिद्ध नहीं है उसी तरह आत्मा और क्रोधादि आस्रवका तो संयोग सम्बन्ध होनेसे दोनों भिन्न हैं किन्तु अज्ञानके कारण यह जीव उस भेदको नहीं जानकर नि·शंक होकर क्रोधमें आत्मरूपसे प्रवृत्ति करता है। क्रोधमे प्रवृत्ति करते हुए जो क्रोधादि क्रिया है वह तो आत्मरूप नहीं है। किन्तु वह आत्मरूप मानता है अतः क्रोधरूप, रागरूप और मोहरूप परिणमन करता है। इसी प्रवृत्तिरूप परिणामको निमित्त करके स्वयं ही पुद्गल कर्मका संचय होता है और इस तरह जीव और पुद्गलका परस्पर अवगाहरूप बन्ध होता है। किन्तु वस्तु तो स्वभावमात्र है। 'स्व' का होना स्वभाव है। अत ज्ञानका होना आत्मा है और क्रोधादिका होना क्रोधादि है। अतः

१-२. भ कु च।

अथ प्रकृतमुपसंहरन् शुद्धात्मसंविल्लाभादव क्रियामूरीकरोति—

इतीह्यभेदविज्ञानवलाच्छुद्धात्मसंविदम् ।
साक्षात्कर्मोच्छिदं यावल्लभे तावद् भजे क्रियाम् ॥१३॥ ३

क्रियां—सम्यग्ज्ञानपूर्वकमावश्यकम् । सैपा न्यग्भावितज्ञानभावितज्ञानक्रियाप्रधाना मुमुक्षोरधस्तन-भूमिका परिकर्मतयोपदिष्टा । यथाह—

यावत्पाकमुपैति कर्मविरतिर्ज्ञानस्य सम्यङ् न सा, ६
कर्मज्ञानसमुच्चयोऽपि विहितस्तावन्न काचित् क्षति ।
किन्त्वत्रापि समुल्लसत्यवशतो यत्कर्मवन्धाय तन्
मोक्षाय स्थितमेकमेव परम ज्ञानं विमुक्त स्वतः ॥ [सम. कल , श्लो. ११०] ॥१३॥ ९

क्रोधका परिणमन ज्ञान नहीं है और ज्ञानका परिणमन क्रोध नहीं है। क्रोधादि होनेपर क्रोधादि हुए प्रतीत होते हैं और ज्ञानके होनेपर ज्ञान हुआ प्रतीत होता है। इस प्रकार ये दोनों एक वस्तु नहीं हैं। जव इस तरह दोनोंके भेदको जानता है तव एकत्वका अज्ञान मिट जाता है और अज्ञाननिमित्तिक पुद्गल कर्मका वन्ध भी रुक जाता है। इस तरह भेदज्ञानसे वन्धका निरोध होनेपर मोक्षसुखकी प्राप्ति होती है। कहा है—'जितने भी सिद्ध हुए है वे भेदज्ञानसे ही हुए हैं और जितने वँधे हैं वे सव भेदविज्ञानके अभावसे ही वँधे हैं।'

क्रोधादिमें आये आदि शब्दसे आत्माकी परतन्त्रतामे निमित्त राग-द्वेष-मोह, वादर-योग, सूक्ष्मयोग, अघातिकर्मोंका तीव्र तथा मन्द उदय और कालविशेषका ग्रहण किया है। इन सभीकी निवृत्ति होनेपर ही मोक्षकी प्राप्ति होती है ॥१२॥

आगे प्रकृत चर्चाका उपसंहार करते हुए कहते हैं कि साधु शुद्ध आत्मज्ञानकी प्राप्ति होने तक क्रियाओंको भी पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता है—

इस प्रकार आगममे प्रतिपादित भेदविज्ञानके वलसे साक्षात् घाति-अघाति कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्ध आत्माके ज्ञानको जव तक प्राप्त करता हूँ तवतक सम्यग्ज्ञानपूर्वक आवश्यक क्रियाओंको मैं पालूँगा अर्थात् शुद्ध सर्वविवर्तरहित आत्माकी सम्प्राप्ति जवतक नहीं होती तवतक साधु आवश्यक कर्मोंको करता है ॥१३॥

विशेषार्थ—आगे सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग इन छह आवश्यकोंका कथन करेंगे। यह छह आवश्यक तभी तक किये जाते हैं जवतक मुनिको शुद्ध आत्माकी संवित्तिका लाभ नहीं होता। इन षट्कर्मोंसे कर्मवन्धनका उच्छेद नहीं होता। कर्मवन्धनका उच्छेद तो शुद्धात्माके संवेदनसे होता है। जो मुमुक्षु नीचेकी भूमिकामे स्थित है और ज्ञान तथा क्रियाको भेदकी प्रधानतासे ग्रहण करता है उसके अभ्यासके लिए षट्कर्म कहे हैं। कहा है—'जवतक कर्मका उदय है और ज्ञानकी सम्यक् कर्मविरति नहीं है तवतक कर्म और ज्ञानका समुच्चय—इकट्ठापना भी कहा है उसमे कुछ हानि नहीं है। किन्तु इतना विशेष यहाँ जानना कि इस आत्मामे कर्मके उदयकी परवशतासे आत्माके वशके विना जो कर्मका उदय होता है वह तो वन्धके ही लिए है। किन्तु मोक्षके लिए तो परम ज्ञान ही है जो कर्मके करनेमें स्वामित्वरूप कर्तृत्वसे रहित है।' आशय यह है कि जवतक अशुद्ध परिणमन है तवतक जीवका विभावरूप परिणमन है। उस विभाव परिणमनका अन्तरंग निमित्त है जीवकी विभाव परिणमनरूप शक्ति, वहिरंग निमित्त मोहनीय कर्मका उदय। वह मोहनीय कर्म दो प्रकारका है—मिथ्यात्व मोहनीय और चारित्रमोहनीय।

ननु च मुमुक्षुश्च वन्धनिवन्धनक्रियापरश्चेति विप्रतिपिद्धमेतद् इत्यत्र समावत्ते—

सम्यगावश्यकविधे. फलं पुण्यास्रवोऽपि हि ।
प्रशस्ताध्यवसायोंहश्छित् किलेति मतः सताम् ॥१४॥

३ अंहश्छित्—पापापनेता । उक्तं च—

'प्रशस्ताध्यवसायेन सचितं कर्म नाश्यते ।
काष्ठं काष्ठान्तकेनेव दीप्यमानेन निश्चितम् ॥' [अमित. श्रा. ८।५] ॥१४॥

६

जीवका एक सम्यक्त्व गुण है जो विभावरूप होकर मिथ्यात्वरूप परिणमा है। एक चरित्र गुण है जो विभावरूप होकर कषायरूप परिणमा है। जीवके पहले मिथ्यात्व कर्मका उपशम या क्षय होता है उसके बाद चारित्रमोहका उपशम या क्षय होता है। निकट भव्यजीवके काललब्धि प्राप्त होनेपर मिथ्यात्व कर्मका उपशम होता है तब जीव सम्यक्त्व गुणरूप परिणमता है। यह परिणमन शुद्धता रूप है। वही जीव जबतक क्षपक श्रेणीपर चढ़ता है तबतक चारित्रमोहका उदय रहता है। उस उदयके रहते हुए जीव विषयकषायरूप परिणमता है वह परिणमन रागरूप होनेसे अशुद्ध रूप है। इस तरह एक जीवके एक ही समयमें शुद्धपना और अशुद्धपना रहता है। यद्यपि सम्यग्दृष्टि क्रियासे विरत होता है उसका कर्ता अपनेको नहीं मानता फिर भी चारित्रमोहके उदयमें बलात् क्रिया होती है। जितनी क्रिया है वह कर्मबन्धका कारण है और एकमात्र शुद्ध चैतन्य प्रकाश मोक्षका कारण है। अर्थात् सम्यग्दृष्टिके एक ही कालमें शुद्ध ज्ञान भी है और क्रिया भी है। क्रियारूप परिणामसे केवल बन्ध होता है। तथा उसी समय शुद्ध स्वरूपका ज्ञान भी है उस ज्ञानसे कर्मक्षय होता है। इस तरह एक जीवके नीचेकी भूमिकामें ज्ञान और क्रिया दोनों एक साथ रहती हैं इससे कोई विरोध नहीं है। अत. जबतक ज्ञानकी कर्मविरति परिपक्वताको प्राप्त नहीं होती तबतक ज्ञानी मुनि षट्कर्म करता है ॥१३॥

इसपर-से यह शका होती है कि मुमुक्षु होकर ऐसी क्रियाएँ क्यों करता है जो कर्मबन्धमें निमित्त पड़ती हैं? इसका समाधान करते हैं—

आगमसे ऐसा सुना जाता है कि प्रशस्त अध्यवसाय अर्थात् शुभपरिणाम पुण्यास्रवका कारण होनेपर भी पापकर्मके नाशक है। और वे शुभ परिणाम समीचीन आवश्यक विधिका फल हैं। अतः साधुओंको प्रशस्त अध्यवसाय मान्य है ॥१४॥

विशेषार्थ—आचार्य कुन्दकुन्दने प्रवचनसारमें लिखा है—विशिष्ट परिणामसे बन्ध होता है और रागद्वेष तथा मोहसे युक्त परिणामको विशिष्ट कहते हैं। जो परिणाम मोह और द्वेषसे युक्त होता है वह अशुभ है और जो परिणाम रागसे युक्त होता है वह शुभ भी होता है और अशुभ भी होता है।[1] तथा—अमृतचन्द्रजीने प्र २-८९ टीकामें लिखा है—परिणाम दो प्रकारके हैं—एक परद्रव्यमें प्रवृत्त और एक स्वद्रव्यमें प्रवृत्त। जो परिणाम परद्रव्यमें प्रवृत्त होता है उसे विशिष्ट परिणाम कहते हैं और स्वद्रव्यमें प्रवृत्त परिणाम परसे उपरक्त न होनेसे अविशिष्ट कहा जाता है। विशिष्ट परिणामके दो भेद हैं—शुभ और अशुभ।

---

१. 'सुह परिणामो पुण्ण असुहो पाव त्ति भणियमण्णेसु ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारण समये' ॥—प्रवचन. २।८९।

ननु मुमुक्षो' पापवन्धवत् पुण्यवन्धोऽपि कथमनुरोद्धव्य' स्यादिति वदन्त प्रत्याह—

मुमुक्षो. समयाकर्तु. पुण्यादभ्युदयो वरम् ।
न पापाद्दुर्गति' सह्यो वन्धोऽपि ह्यक्षयश्रिये ॥१५॥

समयाकर्तु:—काल यापयत । उदासीनज्ञानाकरणशीलस्य वा । वर—मनागिष्ट. । दुर्गति:—नरकादिगतिर्मिथ्याज्ञान दारिद्रय वा ।

३

पुण्य पौद्गलिक कर्मोंके बन्धमे निमित्त होनेसे शुभ परिणामको पुण्य कहते है और पाप-कर्मोके,वन्धमें कारण होनेसे अशुभ परिणामको पाप कहते हैं। और अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होनेसे एक रूप ही है। उसीसे दुःखोंका क्षय होकर मोक्षकी प्राप्ति होती है।

तत्त्वार्थ सूत्र (६।३)मे भी 'शुभः पुण्यस्य अशुभः पापस्य' लिखकर उक्त कथनका ही पोपण किया है। उसकी टीका सर्वार्थसिद्धि आदिमे भी यही कहा है। उसमे यह शंका की गयी है कि जो शुभ कर्मोंका कारण है वह शुभयोग है और जो अशुभ कर्मोंका कारण है वह अशुभ योग है। यदि ऐसा लक्षण किया जाये तो क्या हानि है? इसके समाधानमें कहा है—यदि ऐसा लक्षण किया जायेगा तो शुभयोगका ही अभाव हो जायेगा। क्योकि आगममे कहा है कि जीवके आयुकर्मके सिवाय शेप सात कर्मोंका आस्रव सदा होता है। अतः शुभ-योगसे भी ज्ञानावरण आदि पापकर्मोंका बन्ध होता है। उक्त कथन घाति कर्मोंकी अपेक्षासे नहीं है अघाति कर्मोंकी अपेक्षा है। अघाति कर्म पुण्य और पापके भेदसे दो प्रकार है। सो उनमे-से शुभयोगसे पुण्यकर्मका और अशुभसे पापकर्मका आस्रव होता है। शुभ परिणामसे होनेवाले योगको शुभ और अशुभ परिणामसे होनेवाले योगको अशुभ कहते हैं। इस तरह शुभ परिणामके द्वारा पुण्य प्रकृतियोंमे तीव्र अनुभागवन्ध और पाप प्रकृतियोमें मन्द अनु-भागवन्ध होता है। इसीसे शुभ परिणामको पुण्यास्रवका कारण और पापका नाशक कहा है। आ. अमितगतिने कहा है—'किन्हींका कहना है कि आवश्यक कर्म नहीं करना चाहिए क्योकि उनका करना निष्फल है। यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि आवश्यकका फल प्रशस्त अध्यव-साय है और प्रशस्त अध्यवसायसे संचित कर्म उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जैसे अग्निसे काष्ठ।' यह कथन आपेक्षिक है। आवश्यक करते समय यदि कर्ताकी वृत्ति केवल बाह्य क्रियाकी ओर ही उन्मुख है तो उस प्रशस्त अध्ययसायसे कर्मोंका विनाश सम्भव नहीं है। ऊपर कहा है कि दो तरहके परिणाम होते हैं स्वद्रव्यप्रवृत्त और परद्रव्यप्रवृत्त। परद्रव्य-प्रवृत्त परिणामके भेद ही अशुभ और शुभ परिणाम है। बाह्य क्रिया करते हुए भी कर्ताका जो परिणाम आत्मोन्मुख होता है वही परिणामांश संचित कर्मके विनाशमे हेतु होता है। उसके साहचर्यसे परद्रव्य प्रवृत्त शुभ परिणामको भी कर्मक्षयका कारण कह दिया जाता है। वस्तुत. वह पुण्यवन्धका ही कारण होता है॥१४॥

इसीसे यह शंका होती है कि पुण्यवन्ध भी तो वन्ध ही है। अतः जो मुमुक्षु है—वन्धसे छूटना चाहता है उससे पापवन्धकी तरह पुण्यवन्धका भी अनुरोध नहीं करना चाहिए। इसके समाधानमें कहते हैं—

वीतराग विज्ञानरूप परिणमन करनेमे असमर्थ मुमुक्षुके लिए पुण्यवन्धसे स्वर्ग आदिकी प्राप्ति उत्तम है, पापवन्ध करके दुर्गतिकी प्राप्ति उत्तम नहीं है। क्योंकि जो वन्ध अर्थात् पुण्यवन्ध शाश्वत लक्ष्मीकी ओर ले जाता है वह वन्ध होनेपर भी सहन करनेके योग्य है॥१५॥

यथाह—

'वरं व्रतै. पद दैव नाव्रतैर्वत नारकम् ।

३ छायातपस्थयोर्भेदः प्रतिपालयतोर्महान् ॥' [इष्टोप. श्लो. ३]

सह्य इत्यादि । अयमत्राभिप्राय —यथा निर्व्याजभक्तिभाजोऽनुजीविन स्वामिना कथमपि निगडिता. सन्त पुनस्तत. शाश्वती-श्रियमिच्छन्तस्तद्भक्तिमेवोपचिन्वन्ति । तथा मुमुक्षवोऽपि शुद्धस्वात्मानुभूतिमविन्दन्तो ६ जिनभक्तिभाविता सन्तस्तदुपदिष्टा क्रिया चरन्तस्तन्निबन्धन पुण्यबन्धमपवर्गलक्ष्मीसिद्धयङ्गध्यानसाधनसमर्थोत्तमसहननादिनिमित्तत्वादभ्युपगच्छन्ति ॥१५॥

अथैव कर्तव्यतया व्यवस्थापितस्यावश्यकस्य निर्वचनद्वारेणावतार्य लक्षणमुपलक्षयति—

९ **यद्व्याध्यादिवशेनापि क्रियतेऽक्षावशेन तत् ।**

आवश्यकमवश्यस्य कर्माहोरात्रिकं मुनेः ॥१६॥

विशेषार्थ—यद्यपि पापबन्धकी तरह ही बन्ध होनेसे पुण्यबन्ध भी उपादेय नहीं है तथापि जो मुमुक्षु अपनेको वीतरागविज्ञानतामे स्थापित करनेमे असमर्थ होता है वह पुण्यबन्धके कारणभूत कार्योंमे प्रवृत्ति करता है। जैसे निष्कपट भक्ति करनेवाले सेवक स्वामीके द्वारा किसी भी प्रकारसे बन्धनमें डाल दिये जानेपर भी उससे शाश्वत लक्ष्मीकी प्राप्तिकी इच्छा रखते हुए उसकी भक्ति ही करते है उसी प्रकार मुमुक्षु भी शुद्ध स्वात्मानुभूतिको न प्राप्त करनेपर जिनभक्तिमें तत्पर होते हुए जिन भगवान्‌के द्वारा कही गयी क्रियाओंको करते है और उससे होनेवाले पुण्यबन्धको इसलिए स्वीकार करते हैं कि पुण्यबन्धके निमित्तसे उत्तम संहनन आदि प्राप्त होते है जो मोक्षरूपी लक्ष्मीकी सिद्धिके कारण ध्यानकी साधनामें समर्थ होते हैं। अर्थात् सासारिक सुखकी चाहसे पुण्यबन्ध निकृष्ट है किन्तु मुक्ति सुखकी चाहसे हुआ पुण्यबन्ध निकृष्ट नहीं है। यद्यपि मोक्षमार्गमे लगनेपर भी अयाचित पुण्यबन्ध होता है क्योकि नीचेकी भूमिकामें स्थित मुमुक्षु सर्वदा स्वात्मोन्मुख नहीं रह सकता अत. वह अशुभोपयोगसे बचनेके लिए शुभोपयोग करता है और उससे पुण्यबन्ध होता है। इस पुण्यबन्धसे भी वह यही चाहता है कि उसे उत्तम कुल, उत्तम जाति, मनुष्य जन्म, श्रावक कुल आदि प्राप्त हो जिससे मैं मोक्षकी साधना कर सकूँ। अतः पुण्यबन्धके साथ यह भावना उत्तम है। इसीसे सम्यग्दृष्टिके पुण्यको परम्परासे मोक्षका कारण कहा है। किन्तु पुण्यबन्धसे मोक्ष नहीं होता, मोक्ष तो पुण्यबन्धके निरोधसे होता है। पुण्यकी उपादेयता केवल पापसे बचनेके लिए है। इष्टोपदेशमे कहा है—'व्रतोंका आचरण करके उसके द्वारा होनेवाले पुण्यबन्धसे मरकर स्वर्गमे देवपद पाना श्रेष्ठ है किन्तु व्रतोंको न अपनाकर हिंसा आदि कार्योंके द्वारा पापकर्म करके नरकमें नारकी होना उत्तम नहीं है। छायामे बैठकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवाले और धूपमे खड़े होकर दूसरेकी प्रतीक्षा करनेवाले मनुष्योंमे बडा भारी अन्तर है।' कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्षपाहुड (गा. २५) में भी ऐसा ही कहा है। अतः पुण्यबन्धके भयसे व्रतादिका पालन न करना उचित नही है ॥१५॥

इस प्रकार मुनिके लिए आवश्यक करना आवश्यक है यह स्थापित करके निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते है—

रोग आदिसे पीडित होनेपर भी इन्द्रियोके अधीन न होकर मुनिके द्वारा जो दिन-रात के कर्तव्य किये जाते है उन्हें आवश्यक कहते है। जो 'वश्य' अर्थात् इन्द्रियोके अधीन नहीं होता है उसे अवश्य कहते है। और अवश्यके कर्मको आवश्यक कहते है ॥१६॥

अवश्यस्य—व्याध्युपसर्गाद्यभिभूतस्य इन्द्रियानायत्तस्य वा ॥१६॥

अथावश्यकभेदोद्देशार्थमाह—

सामायिकं चतुर्विंशतिस्तवो वन्दना प्रतिक्रमणम् ।
प्रत्याख्यानं कायोत्सर्गश्चावश्यकस्य षड्भेदा. ॥१७॥ ३

स्पष्टम् ॥१७॥

अथ निक्षेपरहित शास्त्र व्याख्यायमान वक्तु श्रोतुश्चोत्पथोत्थानं कुर्यादिति नामादिषु षट्सु पृथक् ६ निक्षिप्ताना सामायिकादीना षण्णामप्यनुष्ठेयतामुपदिशति—

नामस्थापनयोर्द्रव्यक्षेत्रयोः कालभावयो' ।
पृथग्निक्षिप्य विधिवत्साध्या' सामायिकादयः ॥१८॥ ९

विधिवत्—आवश्यकनिर्युक्तिनिरूपितविधानेन ॥१८॥

विशेषार्थ—यहाँ 'आवश्यक 'शब्दकी निरुक्ति और लक्षण दोनो कहे है। वश्य उसे कहते हैं जो किसीके अधीन होता है और जो ऐसा नहीं होता उसे अवश्य कहते है और उसके कर्मको आवश्यक कहते है। आचार्य कुन्दकुन्दने भी कहा है—जो अन्यके वशमे नहीं है उसके कर्मको आवश्यक कहते हैं। जो मुनि अन्यके वशमें होता है वह अशुभ भावरूपसे वर्तन करता है उसका कर्म आवश्यक नहीं हो सकता। अर्थात् जो श्रमणाभास द्रव्यलिंगी राग आदि अशुभभाव रूपसे वर्तन करता है वह परद्रव्यके वशमें होता है। वह केवल भोजनके लिए द्रव्यलिंग ग्रहण करके आत्मकार्यसे विमुख हो, तपश्चरण आदिसे भी उदासीन होकर जिनमन्दिर और उसकी भूमि आदिका स्वामी बन बैठता है यह नियमसारकी टीका-में पद्मप्रभ मलधारि देवने लिखा है जो उनके समयके मठाधीश साधुओंकी ओर संकेत है। अत इन्द्रियोंके अधीन जो नहीं है ऐसा साधु जो जिनेन्द्रके द्वारा कथित आवश्यकोंका आचरण करता है उन्हें आवश्यक कहते हैं ॥१६॥

आवश्यकके भेद कहते हैं—

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, कायोत्सर्ग ये आवश्यकके छह भेद हैं ॥१७॥

निक्षेपके विना किया गया शास्त्रका व्याख्यान वक्ता और श्रोता दोनोंको ही उन्मार्गमें ले जाता है। अतः नाम आदि छह निक्षेपोमे पृथक्-पृथक् निक्षेप करके सामायिक आदि छह आवश्यकोंका व्याख्यान करनेका उपदेश करते हैं—

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमें पृथक्-पृथक् निक्षेप करके सामायिक आदि छह आवश्यकोंका आवश्यकनिर्युक्तिमे कही हुई विधिके अनुसार व्याख्यान करना चाहिए ॥१८॥

---

१ 'सामाइय चउतीसत्थव वंदणय पडिक्कमण ।
पच्चक्खाण च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥'—मूलाचार गा ५१६ ।

२ 'णामट्ठवणा दव्वे खेत्ते काले तहेव भावे य ।
सामाइयम्हि एसो णिक्खेओ छव्विहो णेओ ॥'—मूला. ५१८ गा. ।

३. 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म वावस्सय ति बोधव्वा ॥'—नियमसार १४२ गा ।
'जो ण हवदि अण्णवसो तस्स दु कम्म भणति आवास ।
कम्मविणासणजोगो णिव्वुदिमग्गो त्ति पिज्जुत्तो ॥'—नियमसार १४१ गा. ।

अथ सामायिकस्य निरुक्त्या लक्षणमालक्षयति—

रागाद्यबाधबोध स्यात् समायोऽस्मिन्निरुच्यते ।
भवं सामायिकं साम्यं नामादौ सत्यसत्यपि ॥१९॥

३

समाय इत्यादि । समो रागद्वेषाभ्यामबाध्यमानोऽयो बोध. समाय. । अस्मिन्—समाये उपयुक्त नोआगमभावसामायिकाख्ये भवं सामायिक तत्परिणतनोआगमभावसामायिकाख्यम् । निरुच्यते—अर्थानुगत कथ्यत इत्यर्थ । साम्यं—समस्य कर्म, शुद्धचिन्मात्रसवेतनम् । सति—प्रशस्ते । असति—अप्रशस्ते । तथाहि—नामसामायिक शुभाशुभनामानि श्रुत्वा रागद्वेषवर्जनम् । स्थापनासामायिक यथोक्तमानोन्मानादिगुणमनोहरास्वितरासु च स्थापनासु रागद्वेषनिषेध । द्रव्यसामायिक सुवर्णमृत्तिकादिद्रव्येषु रम्यारम्येषु समदर्शित्वम् । क्षेत्रसामायिकमारामकण्टकवनादिषु च शुभाशुभक्षेत्रेषु समभाव । कालसामायिक वसन्तग्रीष्मादिषु

६

९

विशेषार्थ—आगममे किसी भी वस्तुका व्याख्यान निक्षेपपूर्वक करनेका विधान है । उससे अप्रकृतका निराकरण होकर प्रकृतका निरूपण होता है । जैसे सामायिकके छह प्रकार होते हैं—नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक । इसी तरह चतुर्विंशतिस्तव आदिके भी छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह-छह प्रकार होते हैं । ये सब मिलकर छत्तीस प्रकार होते हैं । जहाँ जिसकी विवक्षा हो वहाँ उसका ग्रहण करना चाहिए ॥१८॥

सामायिकका निरुक्तिपूर्वक लक्षण कहते हैं—

राग द्वेषसे अबाध्यमान ज्ञानको समाय कहते हैं । उसमे होनेवाले साम्यभावको सामायिक कहते हैं । प्रशस्त और अप्रशस्त नाम स्थापना आदिमें राग द्वेष न करना साम्य है ॥१९॥

विशेषार्थ—सामायिक शब्द सम और अयके मेलसे निष्पन्न हुआ है । समका अर्थ होता है राग और द्वेषसे रहित । तथा अयका अर्थ होता है ज्ञान । अतः राग द्वेषसे रहित ज्ञान समाय है और उसमें जो हो वह सामायिक है । यह सामायिक शब्दका निरुक्ति परक अर्थ है । इसे साम्य भी कहते है । समके कर्मको साम्य कहते है । वह है शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन या अनुभवन । राग द्वेषके दूर हुए विना शुद्ध चिन्मात्रका संचेतन हो नही सकता । कहा है—जिसका मन रूपी जल राग द्वेष आदि लहरोसे रहित है वह आत्माके तत्त्वका अनुभवन करता है और जिसका मन राग द्वेषसे आकुल है वह आत्मतत्त्वका अनुभवन नहीं कर सकता । अच्छी या बुरी वस्तुओंके विषयमे राग द्वेष न करना साम्य है । जाति, द्रव्य, गुण, क्रियाकी अपेक्षा विना किसीका नाम सामायिक रखना नाम सामायिक निक्षेप है । अच्छे बुरे नामोंको सुनकर राग द्वेष न करना नाम सामायिक है । जो मनुष्य सामायिक आवश्यकसे संलग्न है उसके आकारवाली या उसके समान आकार न रखनेवाली किसी वस्तुमे उसकी स्थापना स्थापना सामायिक निक्षेप है । और वह स्थापना यदि समीचीन मे हो तो उससे राग नहीं करना और असुन्दर वस्तुमें हो तो उससे द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है । जो भविष्यमे सामायिक रूपसे परिणत होगा या हो चुका है उसे द्रव्य सामायिक निक्षेप कहते हैं । उसके दो भेद हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम

---

१ 'रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनोजलम् ।
स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्तत्त्वं नेतरो जन ॥'—समाधितं,, ३५ श्लो. ।

ऋतुषु दिनरात्रिसितासितपक्षादिषु च यथास्व चार्वचारुषु रागद्वेषानुद्भवः। भावसामायिक सर्वजीवेषु मैत्रीभावोऽशुभपरिणामवर्जनं वा। तथा 'अपि'शब्दस्यानुक्तसमुच्चयार्थत्वादयमप्यर्थो वक्तव्य.। जातिद्रव्यक्रियागुणनिरपेक्ष सज्ञाकरणं सामायिकशब्दमात्र नामसामायिकम्। सामायिकावश्यकपरिणतस्य तदाकारेऽतदाकारे वा ३ वस्तुनि गुणारोपण स्थापनासामायिकम्। द्रव्यसामायिक भविष्यत्परिणामाभिमुखमतीततत्परिणाम वा वस्तु द्रव्यं तस्य सामायिकम्। तच्च द्विविधमागमद्रव्यसामायिक नोआगमद्रव्यसामायिक चेति। सामायिकवर्णकप्राभृतज्ञायी जीवोऽनुपयुक्त आगमद्रव्यसामायिकम्। नोआगमद्रव्यसामायिक तु त्रिविध सामायिकवर्णक- ६ प्राभृतज्ञायकशरीर-भाविजीवतद्व्यतिरिक्तभेदेन। ज्ञातु. शरीर त्रिधा भूतवर्तमानभविष्यद्भेदात्। भूतमपि त्रिधा च्युत च्यावित त्यक्त चेति। पक्वफलमिवायुप क्षयेण पतित च्युतम्। कदलीघातेन पतित च्यावितम्। त्यक्तं पुनस्त्रिधा भक्तप्रत्याख्यानेङ्गिनीपादोपगमनमरणं। भक्तप्रत्याख्यानमपि त्रिधा उत्कृष्टमध्यमजघन्यभेदात्। ९ उत्कृष्टभक्तत्यागस्य प्रमाण द्वादशवर्षाणि। जघन्यस्यान्तर्मुहूर्तम्। तयोरन्तराल मध्यमस्य। भाविकाले सामायिकप्राभृतज्ञायिजीवो भाविनोआगमद्रव्यसामायिकम्। तद्व्यतिरिक्त द्विविध कर्मनोकर्मभेदेन। सामायिकपरिणतजीवेनार्जितनतीर्थंकरादिशुभप्रकृतिस्वरूपं नोआगमतद्व्यतिरिक्त द्रव्यसामायिकम्। नोकर्म- १२ तद्व्यतिरिक्त तु द्रव्यसामायिक तु त्रिविध सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्। सचित्तमुपाध्याय.। अचित्त पुस्तकम्। उभयस्वरूप मिश्रम्। क्षेत्रसामायिक सामायिकपरिणतजीवाधिष्ठितं स्थानमूर्जयन्तचम्पापुरादि। कालसामायिक यस्मिन् काले सामायिकस्वरूपेण परिणतो जीव स काल पूर्वाह्णापराह्णमध्याह्नादिभेदभिन्नः। भावसामायिक १५

द्रव्य सामायिक। जिस शास्त्रमे सामायिकका वर्णन है उस शास्त्रका ज्ञाता जब उसमे उपयुक्त नहीं होता तब उसे आगम द्रव्य सामायिक कहते है। नोआगम द्रव्य सामायिकके तीन भेद हैं—सामायिकका वर्णन करनेवाले शास्त्रके ज्ञाताका शरीर, भावि और तद्व्यतिरिक्त। ज्ञाताका शरीर भूत, वर्तमान और भविष्यके भेदसे तीन प्रकार है। भूत शरीरके भी तीन भेद हैं—च्युत, च्यावित और त्यक्त। पके हुए फलकी तरह आयुका क्षय होनेसे जो शरीर स्वयं छूट गया उसे च्युत कहते है। जो शरीर अकालमे मरणसे छूटा उसे च्यावित कहते है। त्यक्त शरीरके भक्त प्रत्याख्यानमरण, इंगिनीमरण, पादोपगमनमरणके भेदसे तीन भेद हैं। भक्त प्रत्याख्यानके भी तीन भेद है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। भोजनत्यागका उत्कृष्टकाल बारह वर्ष है, जघन्य अन्तर्मुहूर्त है और दोनोके बीचका काल मध्यम है। जो जीव भविष्यमे सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा वह भावि नोआगम द्रव्य सामायिक है। तद्व्यतिरिक्तके दो भेद है—कर्म और नोकर्म। सामायिक करते हुए जीवके द्वारा उपार्जित तीर्थंकर आदि शुभ प्रकृतियोको नोआगम द्रव्य कर्म तद्व्यतिरिक्त कहते है। नोकर्म तद्व्यतिरिक्त नामक द्रव्य सामायिक निक्षेपके तीन भेद हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र। उपाध्याय सचित्त है, पुस्तक अचित्त है और जो दोनो रूप हो वह मिश्र है। यह सब द्रव्य सामायिक निक्षेपके भेद हैं। सुवर्ण, मिट्टी आदि सुन्दर और असुन्दर द्रव्योमे राग-द्वेष न करना द्रव्य सामायिक है। सामायिक करते हुए जीवोसे युक्त स्थान चम्पापुर, गिरिनार आदि क्षेत्र सामायिक है। तथा उद्यान, कँटीला जगल आदि रमणीक और अरमणीक क्षेत्रोंमे राग-द्वेष न करना क्षेत्र सामायिक है। जिस कालमे सामायिक की जाती है वह काल सामायिक है। वह प्रात, मध्याह्न और शामके भेदसे तीन प्रकार है। तथा वसन्त, ग्रीष्म आदि ऋतुओंमे, दिन-रातमे, शुक्ल और कृष्णपक्ष आदिमे राग-द्वेष न करना कालसामायिक है। वर्तमान पर्यायसे युक्त द्रव्यको भाव कहते है। उसकी सामायिक भाव सामायिक निक्षेप है। उसके दो भेद है—आगम भाव सामायिक और नोआगम भाव सामायिक। सामायिक विषयक शास्त्रका जो

वर्तमानपर्यायोपलक्षितं द्रव्य भाव । तस्य सामायिकं (-भावसामायिक तच्च•) द्विविधमागमभावसामायिकं नोआगमभावसामायिक चेति । सामायिकवर्णकप्राभृतकज्ञायक उपयुक्तो जीव आगमभावसामायिकम् ।
३ नोआगमभावसामायिकं द्विविधमुपयुक्ततत्परिणतभेदात् । (सामायिकप्राभृतकेन विना सामायिकार्थेपूपयुक्तो जीव उपयुक्तनोआगमभाव-) सामायिकम् । रागद्वेषाद्यभावस्वरूपेण परिणतो जीवस्तत्परिणतनोआगमभाव-सामायिकम् । एष न्यायो यथास्वमुत्तरेष्वपि योज्य । अथैषा षण्णामपि मध्ये आगमभावसामायिकेन नोआगम-
६ भावसामायिकेन च प्रयोजनमिति ॥१९॥

निरुक्त्यन्तरेण पुनर्भावसामायिकं लक्षयन्नाह—

समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम् ।
९ **स्यात् समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा ॥२०॥**

समय.—अत्र समितिप्राशस्त्य एकीभावे च विवक्षित. । अय इति गमने । नियमादौ आदिशब्देन परीषहकषायेन्द्रियजयसंज्ञादुर्लेश्यादुर्ध्यानवर्जनादिपरिग्रहः । समं सामानमेकत्वेनेत्यर्थः । ठणा 'विनयादेष्ठण्'
१२ इत्यनेन विहितेन । उक्तं च—

'सम्मत्तणाणसंजमतवेहिं ज तं पसत्थसमगमणं ।
समयं तु त तु भणिद तमेव सामाइयं जाणे ॥' [मूलचार. गा ५१९] इत्यादि ॥२०॥

ज्ञाता उसमें उपयुक्त है वह आगम भाव सामायिक है। नोआगम भाव सामायिकके दो भेद हैं—उपयुक्त और तत्परिणत। सामायिक विषयक शास्त्रके विना सामायिकके अर्थमें उपयुक्त जीवको उपयुक्त नोआगम भाव सामायिक कहते हैं। तथा राग-द्वेषके अभाव रूपसे परिणत जीव तत्परिणत नोआगम भाव सामायिक है। तथा सब जीवोंमें मैत्रीभाव और अशुभ परिणामका त्याग भाव सामायिक है। यहाँ उक्त छह प्रकारकी सामायिकोंमें-से आगम भाव सामायिक और नोआगमभाव सामायिकसे प्रयोजन है ॥१९॥

आगे अन्य प्रकारसे निरुक्ति करके भाव सामायिकका लक्षण कहते हैं—

दर्शन, ज्ञान, तप, यम, नियम आदिके विषयमें प्रशस्त एकत्व रूपसे गमन करनेको समय कहते हैं। और समय ही सामायिक है इस प्रकार समय शब्दसे स्वार्थमें ठण् प्रत्यय होकर सामायिक शब्द बनता है ॥२०॥

विशेषार्थ—सम् और अयके मेलसे समय शब्द निष्पन्न होता है। सम् शब्दके दो अर्थ होते हैं—प्रशस्तता और एकत्व। तथा अयका अर्थ होता है गमन। 'आदि' शब्दसे परीषह, कषाय और इन्द्रियोंको जीतना, संज्ञा, खोटा ध्यान, अशुभ लेश्याओंका त्याग आदि लेना चाहिए। अतः दर्शन, ज्ञान, तप, यम, नियम, परीषहजय, कषायजय, इन्द्रियजय आदि-के विषयमें प्रशस्त एकत्वरूपसे परिणत होना अर्थात् राग-द्वेष आदि न करना समय है और समय ही सामायिक है इस तरह संस्कृत व्याकरणके अनुसार समय शब्दसे स्वार्थमें ठण् प्रत्यय करके और ठण्के स्थानमें इक् होकर सामायिक शब्द बनता है।

मूलाचारमें कहा है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, संयम और तपके साथ जो एकमेकपना है अर्थात् जीवका उन रूपसे परिणमन है उसे समय कहते हैं और समयको ही सामायिक जानो ॥२०॥

१-२. भ कु. च. ।

अथ पञ्चदशभिः श्लोकैः सामायिकाश्रयणविधिमभिधातुकामः प्रथमं तावन्नामसामायिकं भावयन्नाह—

शुभेऽशुभे वा केनापि प्रयुक्ते नाम्नि मोहतः।
स्वमवाग्लक्षणं पश्यन्न रतिं यामि नारतिम् ॥२१॥ ३

अवाग्लक्षण—लक्ष्यते इति लक्षणं लक्षणीयं विषय इति यावत्। वाचा लक्षणं वाग्लक्षणम्। न तथा, वाचामविषय इत्यर्थः।

यथाह— ६

'यज्जानन्नपि बुद्धिमानपि गुरुः शक्तो न वक्तुं गिरा
प्रोक्तं चेन्न तथापि चेतसि नृणां सम्माति चाकाशवत्।
यत्र स्वानुभवस्थितेऽपि विरला लक्ष्यं लभन्ते चिरात् ९
तन्मोक्षैकनिबन्धनं विजयते चित्तत्त्वमत्यद्भुतम् ॥' [पद्म पञ्च १०।१]

अथवा न वाक्शब्दो लक्षणं स्वरूपं यस्य सोऽवाग्लक्षणस्तम्, अशब्दात्मकमित्यर्थः। यथाह—अरसमरूवमित्यादि ॥२१॥ १२

अथ स्थापनासामायिकं भावयन्नाह—

यदियं स्मरयत्यर्चा न तदप्यस्मि किं पुनः।
इयं तदस्यां सुस्थेति धीरसुस्थेति वा न मे ॥२२॥ १५

आगे पन्द्रह श्लोकोंसे सामायिक करनेकी विधिको कहनेकी इच्छासे सर्वप्रथम नाम सामायिकको कहते हैं—

अज्ञानवश किसी मित्रके द्वारा प्रशस्त नाम लिये जानेपर मैं उससे राग नहीं करूँगा और शत्रुके द्वारा बुरा नामका प्रयोग किये जानेपर उससे द्वेष नहीं करूँगा क्योंकि मैं वचनके गोचर नहीं हूँ। यह नाम सामायिक है ॥२१॥

विशेषार्थ—प्रायः मनुष्य किसीके द्वारा अपना नाम आदरपूर्वक लिये जानेपर प्रसन्न होते हैं और निरादरपूर्वक लिये जानेपर नाराज होते हैं। ऐसा न करना नाम सामायिक है क्योंकि आत्मा तो शब्दका विषय नहीं है। पद्म. पञ्च मे कहा है—'जिस चेतन तत्त्वको जानता हुआ भी और बुद्धिमान् भी गुरु वाणीके द्वारा कहनेके लिए समर्थ नहीं है, तथा यदि कहा भी जाये तो भी जो आकाशके समान मनुष्योंके हृदयमे समाता नहीं है, तथा जिसके स्वानुभवमें स्थित होते हुए भी विरले ही मनुष्य दीर्घकालके पश्चात् लक्ष्य मोक्षको प्राप्त कर पाते हैं, वह मोक्षका एकमात्र कारण आश्चर्यजनक चेतन तत्त्व जयवन्त होवे।'

'अवाग्लक्षण'का दूसरा अर्थ यह भी होता है कि उसका लक्षण शब्द नहीं है अर्थात् अशब्दात्मक है। आचार्य कुन्दकुन्दने कहा भी है—जीव रस-रूप और गन्धसे रहित है, अव्यक्त है, चेतना गुणसे युक्त है, शब्दरूप नहीं है, किसी चिह्नसे उसका ग्रहण नहीं होता, तथा उसका आकार कहा नहीं जा सकता ॥२१॥

स्थापना सामायिककी भावना कहते हैं—

यह सामने विराजमान प्रतिमा मुझे जिस अर्हन्त स्वरूपका स्मरण कराती है मैं उस अर्हन्त स्वरूप भी नहीं हूँ तब इस प्रतिमास्वरूप तो मैं सर्वथा ही नहीं हूँ। इसलिये मेरी बुद्धि इस प्रतिमामे न तो सम्यक् रूपसे ठहरी ही हुई है और न उससे विपरीत ही है ॥२२॥

---

१ 'अरसमरूवमगंध अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाणमलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं'॥—समयसार, ४९ गा.

यत्—अर्हदादिस्वरूपम् । अर्चा—प्रतिमा । सुस्था—यथोक्तमानोन्मानादियुक्तत्वात् ॥२२॥

अथ द्रव्यसामायिकं भावयन्नाह—

३ **साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ ।**
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद्ग्रहः ॥२३॥

साम्यागमज्ञ —

६ 'जीवियमरणे लाहालाहे सजोयविप्पओए य ।
वधु अरि सुह दुहे वि य समदा सामाइय णाम ॥' [मूलाचार, गा २३]

इत्यादि सामायिकप्राभृतकस्य ज्ञाता जीवस्तदनुपयुक्त । तद्विपक्षौ—भाविजीव कर्मनोकर्मद्वयं च । ९ तत्राद्यो ज्ञास्यमानसाम्यागम । कर्म पुन साम्ययुक्तेनार्जित तीर्थकरादिकम् । नोकर्म तु साम्यागमोपाध्याय-स्तत्पुस्तकस्तद्युक्तोपाध्यायश्चेत्यादि । यादृशौ तादृशौ—शुभावशुभौ वेत्यर्थ । स्ता—भवताम् । स्वद्रव्यवत् । अन्वयमुखेन व्यतिरेकमुखेन वा दृष्टान्तोऽयम् । आरब्धयोगस्यैव हि स्वद्रव्यमात्रेऽभिनिवेशोऽस्यनुज्ञायते । निष्पन्न-१२ योगस्य तु तत्रापि तत्प्रतिषेधात् ।

तथा चोक्तम्—

'मुक्त इत्यपि न कार्यमञ्जसा कर्मजालकलितोऽहमित्यपि ।
१५ निर्विकल्पपदवीमुपाश्रयन् सयमी हि लभते पर पदम् ॥' [पद्म पञ्च १०।१८]

अपि च—

'यद्यदेव मनसि स्थित भवेत्तत्तदेव सहसा परित्यजेत् ।
१८ इत्युपाधिपरिहारपूर्णता सा यदा भवति तत्पदं तदा ॥' [पद्म पञ्च., १०।१६]

विशेषार्थ—अर्हन्तकी प्रतिमाके शास्त्रोक्त रूपको देखकर उससे राग नहीं करना और विपरीत रूपको देखकर द्वेष नहीं करना स्थापना सामायिक है। उसीकी भावना ऊपर कही है। सुन्दर आकार विशिष्ट प्रतिमाको देखकर दर्शकको अर्हन्तके स्वरूपका स्मरण होता है किन्तु दर्शक तो अभी अर्हन्तस्वरूप नहीं है, और प्रतिमास्वरूप तो वह है ही नहीं क्योंकि प्रतिमा तो जड है। इस तरह वह प्रतिमामे अपनी बुद्धिको न तो स्थिर ही करता है और न उससे हटाता ही है अर्थात् प्रतिमाको देखकर रागाविष्ट नहीं होता ॥२२॥

आगे द्रव्य सामायिककी भावना कहते है—

सामायिक विषयक शास्त्रका ज्ञाता किन्तु उसमे अनुपयुक्त जीव और उसका शरीर तथा उनके विपक्षी भावि जीव और कर्म-नोकर्म, ये जैसे अच्छे या बुरे हों, रहें, मुझे उनसे क्या, क्योंकि वे तो परद्रव्य है। स्वद्रव्यकी तरह परद्रव्यमें मेरा अभिनिवेश कैसे हो सकता है ? ॥२३॥

विशेषार्थ—ऊपर द्रव्य सामायिकके दो भेद कहे हैं—आगम द्रव्य सामायिक और नोआगम द्रव्य सामायिक। सामायिकविषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमे उपयुक्त नहीं है वह आगम द्रव्य सामायिक है। उसका शरीर नोआगम द्रव्य सामायिकका एक भेद है। इनके विपक्षी है नोआगम द्रव्य सामायिकके शेष भेद भाविजीव, जो आगे सामायिक-विषयक शास्त्रको जानेगा। तथा कर्म नोकर्म। सामायिकके द्वारा उपार्जित तीर्थकरत्व आदि कर्म है तथा सामायिक विषयक आगमको पढानेवाला उपाध्याय, पुस्तक आदि नोकर्म-तद्व्यतिरिक्त है। इनमे किसी प्रकारका अच्छा या बुरा अभिनिवेश न करना द्रव्य सामायिक है। क्योंकि ये सब परद्रव्य हैं। सामायिक करते हुए के परद्रव्यमे अभिनिवेश कैसा ? यहाँ

तथा—

'अन्तरङ्गबहिरङ्गयोगत. कार्यसिद्धिरखिलेति योगिना ।
आसितव्यमनिश प्रयत्नतः स्वं पर सदृशमेव पश्यता ॥' [पद्म. पञ्च १०।४४] ३

ग्रह'—शुभाशुभाभिनिवेश ॥२३॥

अथ क्षेत्रसामायिक भावयन्नाह—

राजधानीति न प्रीये नारण्यानीति चोद्विजे ।
देशो हि रम्योऽरम्यो वा नात्मारामस्य कोऽपि मे ॥२४॥ ६

प्रीये—रज्याम्यहम् । अरण्यानी—महारण्यम् । उद्विजे—उद्वेग याम्यहम् । आत्मारामस्य—आत्मैव आराम उद्यान रतिस्थानं यस्य, अन्यत्र गतिप्रतिबन्धकत्वात् । यथाह— ९

'यो यत्र निवसन्नास्ते स तत्र कुरुते रतिम् ।
यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥' [इष्टोप श्लो ४३]

तथा— १२

ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।
दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चल. ॥' [समा तन्त्र, श्लो. ७३]

अथवा आत्मनोऽप्यारामो निवृत्तिर्यस्येति ग्राह्यम् ॥२४॥ १५

जो 'स्वद्रव्यवत्' दृष्टान्त दिया है वह अन्वय रूपसे भी घटित होता है और व्यतिरेक रूपसे भी घटित होता है। जो योगका अभ्यासी होता है वह तो स्वद्रव्यमें अभिनिवेश रखता है किन्तु जो उसमे परिपक्व हो जाता है उसके लिए स्वद्रव्यमें अभिनिवेश भी त्याज्य है। पद्म. पञ्च. मे कहा है—वास्तवमें 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा विकल्प भी नहीं करना चाहिए और मैं कर्मोंके समूहसे वेष्टित हूँ ऐसा भी विकल्प नहीं करना चाहिए। क्योंकि संयमी निर्विकल्प पदवीको प्राप्त करके ही मोक्षको प्राप्त करता है। और भी कहा है—जो-जो विकल्प मनमे आकर ठहरता है उस-उसको तत्काल ही छोड देना चाहिए। इस प्रकार जब यह विकल्पोंके त्यागकी पूर्णता हो जाती है तब मोक्षपद भी प्राप्त हो जाता है। सब कर्मोंकी सिद्धि अन्तरंग और बहिरंग योगसे होती है। इसलिए योगीको निरन्तर प्रयत्नपूर्वक स्व और परको समदृष्टिसे देखना चाहिए ॥२३॥

क्षेत्र सामायिककी भावना कहते हैं—

यह राजधानी है, इसमे राजा रहता है ऐसा मानकर मैं राग नही करता और यह बडा भारी वन है ऐसा मानकर मै द्वेप नहीं करता। क्योंकि मेरा आत्मा ही मेरा उद्यान है अतः अन्य कोई देश न मेरे लिए रमणीक है और न अरमणीक ॥२४॥

विशेषार्थ—वास्तवमे प्रत्येक द्रव्यका क्षेत्र उसके अपने प्रदेश हैं, निश्चयसे उसीमे उस द्रव्यका निवास है। बाह्य क्षेत्र तो व्यावहारिक है, वह तो बदलता रहता है, उसके विनाशसे आत्माकी कुछ भी हानि नहीं होती। अतः उसीमे रति करना उचित है। पूज्यपाद स्वामीने कहा है—'जिन्हे आत्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं हुई उनका निवास गाँव और वनके भेदसे दो प्रकारका है। किन्तु जिन्हें आत्मस्वरूपके दर्शन हुए है उनका निवास रागादिसे रहित निश्चल आत्मा ही है।'

'जो जहाँ रहता है वह वहीं प्रीति करता है। और जो जहाँ प्रीति करता है वह वहांसे अन्यत्र नहीं जाता। अतः जिसका रतिस्थान आत्मा ही है वह बाह्य देशमे रति या अरति

[इतः पर त्रिंशत्सत्यकश्लोकपर्यन्त टीका नास्ति]

नामूर्तत्वाद्धिमाद्यात्मा कालः किं तर्हि पुद्गलः ।
३ तथोपचर्यते मूर्तस्तस्य स्पृश्यो न जात्वहम् ॥२५॥
सर्वे वैभाविका भावा मत्तोऽन्ये तेष्वतः कथम् ।
चिच्चमत्कारमात्रात्मा प्रीत्यप्रीती तनोम्यहम् ॥२६॥
६ जीविते मरणे लाभेऽलाभे योगे विपर्यये ।
बन्धावरौ सुखे दुःखे साम्यमेवाभ्युपैम्यहम् ॥२७॥

नहीं करता।' अथवा आराम शब्दका अर्थ निवृत्ति भी होता है। अतः आत्मासे भी जिसकी निवृत्ति है वह आत्माराम है ऐसा अर्थ भी लिया जाता है क्योंकि वास्तवमें स्वात्मामें भी रति रागरूप होनेसे मोक्षके लिए प्रतिबन्धक है अतः मुमुक्षु स्वात्मामें भी रति नहीं करता ॥२४॥

काल सामायिककी भावना कहते हैं—

कालद्रव्य हेमन्त, ग्रीष्म या वर्षाऋतुरूप नहीं है क्योंकि वह तो अमूर्तिक है उसमें रूप, रस, गन्ध और स्पर्श नहीं है। किन्तु लोग मूर्त पुद्गल द्रव्यमें कालका व्यवहार करते हैं। उस मूर्त पुद्गल द्रव्यका विषय मैं कभी भी नहीं हूँ ॥२५॥

विशेषार्थ—निश्चय कालद्रव्य तो अमूर्तिक है। अतः लोकमें जो शीतऋतु, ग्रीष्मऋतु, वर्षाऋतु आदिको काल कहा जाता है वह तो उपचरित व्यवहार काल है, जो ज्योतिषी देवोंके गमन आदिसे और पौद्गलिक परिवर्तनसे जाना जाता है। अतः पौद्गलिक है। पुद्गल द्रव्य रूप, रस, गन्ध, स्पर्शवाला होनेसे मूर्तिक है। अतः यह आत्मा उससे सम्बद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि शुद्ध निश्चयनयसे आत्मा चित्स्वरूप है। द्रव्यसंग्रहमें कहा है कि शुद्ध निश्चयनयसे सब जीव सिद्ध समान शुद्ध होते हैं। ऐसी स्थितिमें ऋतुओंमें रागद्वेष कैसे किया जा सकता है। वह तो पुद्गलोंका परिवर्तन है ॥२५॥

इस प्रकार क्रमसे नाम सामायिक, स्थापना सामायिक, द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक और काल सामायिकको कहकर भाव सामायिकको कहते हैं—

तत्त्वदृष्टिसे मेरा स्वरूप तो चेतनाका चमत्कार मात्र है। शेष सभी औदयिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव वैभाविक होनेसे मुझसे भिन्न है। अतः मैं उनमें कैसे रागद्वेष कर सकता हूँ ॥२६॥

विशेषार्थ—जीवके पाँच भावोंमें स्वाभाविक भाव केवल एक पारिणामिक है शेष चारों भाव औपाधिक हैं। उनमें औदयिक, औपशमिक और क्षायोपशमिक भाव तो कर्म जनित हैं। क्षायिक भाव केवलज्ञानादि रूप जीवका यद्यपि स्वभाव है फिर भी कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होनेसे उपचारसे कर्मजनित कहा जाता है। एक शुद्ध पारिणामिक ही साक्षात् कर्म निरपेक्ष है ॥२६॥

आगे नौ श्लोकोंसे भावसामायिकका ही विस्तारसे कथन करते हैं—

मैं जीवनमें, मरणमें, लाभमें, अलाभमें, संयोगमें, वियोगमें, बन्धुमें, शत्रुमें और सुखमें, दुःखमें साम्य भाव ही रखता हूँ ॥२७॥

विशेषार्थ—रागद्वेषके त्यागको साम्यभाव कहते हैं। अतः मैं जीवनमें राग और मरणमें द्वेषका त्याग करता हूँ। लाभमें राग और अलाभमें द्वेषका त्याग करता हूँ। इष्ट संयोगमें

कायकारान्दुकायाऽहं स्पृहयामि किमायुषे।
तद्दुःखक्षणविश्रामहेतोर्मृत्योर्बिभेमि किम् ॥२८॥
लाभे दैवयशःस्तम्भे कस्तोषः पुमघस्पदे। ३
को विषादस्त्वलाभे मे दैवलाघवकारणे ॥२९॥
योगो ममेष्टैः संकल्पात् सुखोऽनिष्टैर्वियोगवत्।
कष्टश्चेष्टैर्वियोगोऽन्यैर्योगवन्न तु वस्तुतः ॥३०॥ ६

वस्तुत अन्यै अनिष्टै· ॥३०॥

राग और इष्ट वियोगमे द्वेषका त्याग करता हूँ। उपकारक मित्रमें राग और अपकारक शत्रुमें द्वेपका त्याग करता हूँ। तथा सुखमें राग और दुःखमें द्वेषका त्याग करता हूँ ॥२७॥

आगे जीवनकी आशा और मरणके भयका निराकरण करते हैं—

भवधारणमें कारण आयुकर्म शरीररूपी जेलखानेमें रोके रखनेके लिए लोहेकी साँकल-के समान है, उसकी मै क्यों इच्छा करूँगा। और मृत्यु उस शरीररूपी जेलखानेके कष्टसे क्षण-भरके लिए विश्रामका कारण है। उससे मैं क्यों डरूँगा ॥२८॥

विशेषार्थ—आयुकर्मके विना जीवन नहीं रहता। अत. जीवनकी इच्छा प्रकारान्तरसे आयुकर्मकी ही इच्छा करना है। उसीके कारण यह जीव इस शरीररूपी जेलखानेमें वन्द रहता है। अत. कौन बुद्धिमान् ऐसे कर्मकी इच्छा करेगा। मृत्यु ही ऐसा मित्र है जो इस जेलखानेके कष्टसे कुछ क्षणोंके लिए छुटकारा दिलाती है क्योंकि जब जीव पूर्व शरीरको छोड़-कर नया शरीर धारण करनेके लिए विग्रह गतिसे गमन करता है तो एक मोडा लेनेपर एक समय तक, दो मोड़े लेनेपर दो समय तक और तीन मोड़े लेनेपर तीन समय तक औदारिक, वैक्रियिक और आहारक शरीरके न रहनेसे शरीररूपी जेलखानेसे मुक्ति रहती है। अतः मृत्यु-से डरनेका कोई कारण नहीं है ॥२८॥

लाभ और अलाभमे हर्ष और विषादका निषेध करते हैं—

जो लाभ दैवका कीर्तिस्तम्भ और पुरुषकी निन्दाका घर है उसके होनेपर हर्ष कैसा? और जिस अलाभके होनेपर दैवकी अर्थात् पूर्व संचित पापकर्मकी हानि होती है उसमे विपाद कैसा? ॥२९॥

विशेषार्थ—पूर्व जन्ममे संचित शुभ और अशुभ कर्मको दैव कहते है। पुण्यकर्मके उदयसे लाभ और पापकर्मके उदयसे अलाभ होता है। यदि किसी व्यक्तिको लाभ होता है तो लोग उसके पौरुपकी प्रशंसा न करके दैवकी ही प्रशंसा करते हैं। अतः लाभ पुरुपके प्रयत्नको गिरानेवाला और दैवकी महिमा बढानेवाला है अत. उससे सन्तुष्ट होना व्यर्थ है। इसके विपरीत पुरुषके प्रयत्न करनेपर भी यदि लाभ नहीं होता तो लोग यही कहते हैं कि वेचारेने मेहनत तो वड़ी की किन्तु पापकर्मका उदय होनेसे लाभ नहीं हुआ। इस तरह अलाभमे सारा दोप दैवके ही सिर पड़ता है तव अलाभसे खेद क्यो? कहा है—सव लोगोंमें चमत्कार करनेवाले, अपार साहसके धनी मनुष्यकी यदि इष्ट सिद्धि नहीं होती है तो यह दुर्दैवका ही अपयश है उस मनुष्यका नहीं ॥२९॥

आगे विचार करते हैं कि इष्ट पदार्थके संयोगको सुखका और वियोगको दुःखका

---

१. 'असमसाहससुव्यवसायिन. सकललोकचमत्कृतिकारिण.।
यदि भवन्ति न वाञ्छितसिद्धयो हतविधेरयशो न नरस्य तत्' ॥—शकुक कवि।

अथ बन्धुशत्रुविषयौ रागद्वेषौ निषेधयन्नाह—

ममकारग्रहावेशमूलमन्त्रेषु बन्धुषु ।
को ग्रहो विग्रहः को मे पापघातिष्वरातिषु ॥३१॥

ग्रह —राग । निग्रह—द्वेष । पापघातिषु—दुःखोत्पादनद्वारेण पापक्षपणहेतुषु ॥३१॥

अथैन्द्रियकसुखदुःखे प्रतिक्षिपन्नाह—

कृतं तृष्णानुषङ्गिण्या स्वसौख्यमृगतृष्णया ।
खिद्ये दुःखे न दुर्वारकर्मारिक्षययक्ष्मणि ॥३२॥

कृतं—पर्याप्तं विगिमामित्यर्थः । तृष्णा—वाञ्छा पिपासा वा । खिद्ये—दैन्य यामि । यक्ष्मा—क्षयव्याधि ॥३२॥

तथा अनिष्ट पदार्थके संयोगको दुःखका और उसके वियोगको सुखका कारण मानना केवल मनकी कल्पना है—

जिस प्रकार मुझे अनिष्ट वस्तुओंका वियोग सुखकर मालूम होता है उसी प्रकार इष्ट पदार्थोंकी प्राप्ति भी सुखकर मालूम होती है। तथा जिस प्रकार मुझे अनिष्ट संयोग दुःखदायक मालूम होता है उसी तरह इष्ट वियोग भी दुःखदायक मालूम होता है किन्तु यह सब कल्पना है वास्तविक नहीं। अर्थात् पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करके उन्हें सुख या दुःखकारक मानना कल्पना मात्र है। वास्तवमें न कोई पदार्थ इष्ट होता है और न अनिष्ट तथा न कोई परपदार्थ सुखदायक होता है और न कोई दुःखदायक ॥३०॥

आगे मित्रोंसे राग और शत्रुओंसे द्वेषका निषेध करते हैं—

ये बन्धु-बान्धव ममतारूपी भूतके प्रवेशके मूलमन्त्र हैं अतः इनमें कैसा राग? और शत्रु पापकर्मकी निर्जरा कराते हैं अतः इनसे मेरा कैसा द्वेष? ॥३१॥

विशेषार्थ—ये मेरे उपकारी हैं इस प्रकारकी बुद्धि एक प्रकारके ग्रहका आवेश है क्योंकि जैसे कोई मनुष्य शरीरमें किसी भूत आदिका प्रवेश होनेपर खोटी चेष्टाएँ करता है उसी प्रकार ममत्व बुद्धिके होनेपर भी करता है। इसका मूलमन्त्र हैं बन्धु-बान्धव, क्योंकि उन्हें अपना उपकारी मानकर ही उनमें ममत्व बुद्धि होती है। और उसीके कारण मनुष्य मोहपाशमें फँसकर क्या-क्या कुकर्म नहीं करता। ऐसे बन्धु-बान्धवोंमें कौन समझदार व्यक्ति राग करेगा जो उसके भावि दुःखके कारण बनते हैं। तथा शत्रु दुःख देते हैं और इस तरह पूर्व संचित पापकर्मकी निर्जरा कराते हैं। उनसे द्वेष कैसा, क्योंकि पापकर्मकी निर्जराके कारण होनेसे वे तो भला ही करते हैं। ऐसा विचार कर राग-द्वेष नहीं करता ॥३१॥

आगे इन्द्रिय जन्य सुख-दुःखका तिरस्कार करते हैं—

तृष्णाको बढ़ानेवाली इन्द्रिय सुख रूपी मृगतृष्णासे बहुत हो चुका, इसे धिक्कार है। तथा जिसको दूर करना अशक्य है उन कर्मरूपी शत्रुओंका क्षय करनेमें यक्ष्माके तुल्य दुःखसे मैं खिन्न नहीं होता ॥३२॥

विशेषार्थ—रेतीले प्रदेशमें मध्याह्नके समय सूर्यकी किरणोंसे जलका भ्रम होता है। प्यासे मृग जल समझकर उसके पास आते हैं किन्तु उनकी प्यास पानीकी आशासे और बढ़ जाती है, शान्त नहीं होती। उसी तरह इन्द्रिय जन्य सुखसे भोगकी तृष्णा बढ़ती ही है शान्त नहीं होती। ऐसे सुखको कौन समझदार चाहेगा। इसके विपरीत दुःखको सहन करनेसे पूर्व संचित कर्मकी निर्जरा होती है। जब कर्मका विपाक काल आता है वह पककर अपना

अथ प्रेक्षावता दुःसहसंसारदुःखानुभव एव रत्नत्रयानुबन्धाय स्यादित्युपदेशार्थमाह—

दवानलीयति न चेज्जन्मारामेऽत्र धीः सताम् ।
तर्हि रत्नत्रयं प्राप्तुं त्रातुं चेतुं यतेत कः ॥३३॥ ३

दवानलीयति—दवाग्नाविवाचरति । जन्मारामे—जन्मसंसार आराम इव, मूढात्मना प्रीतिनिमित्त-विषयबहुलत्वात् ॥३३॥

अथ साम्यस्य सकलसदाचारमूर्धाभिषिक्तत्वात् तस्यैव भावनायामात्मानमासञ्जयन्नाह— ६

सर्वसत्त्वेषु समता सर्वेष्वाचरणेषु यत् ।
परमाचरणं प्रोक्तमतस्तामेव भावये ॥३४॥

स्पष्टम् ॥३४॥ ९

अथैव भावसामायिकमवश्यसेव्यतया संप्रधार्य तदारूढमात्मानं स्थापयन्नाह—

[1]मैत्री मे सर्वभूतेषु वैरं मम न केनचित् ।
सर्वसावद्यविरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत् ॥३५॥ १२

सावद्या—हिंसादिपातकयुक्ता मनोवाक्कायव्यापारा । इति—शुभेऽशुभे वा केनापीत्यादिप्रबन्धोक्तेन प्रकारेण ॥३५॥

फल देता है तब उसको टालना अशक्य होता है। ऐसे दुर्वार कर्मरूपी शत्रुको नष्ट करनेके लिए दुःख यक्ष्मा रोगके समान है। अतः ऐसे दुःखसे खेदखिन्न कौन होगा ॥३२॥

बुद्धिमान् मनुष्योंके लिए संसारके दुःसह दुःखोंका अनुभव ही रत्नत्रयकी प्रीतिका कारण होता है ऐसा उपदेश देते हैं—

यदि बुद्धिमानोंकी बुद्धि इस संसाररूपी उद्यानमें वैसा ही आचरण न करती जैसा जंगलकी आगमे घिर जानेपर करती है तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको प्राप्त करनेका, उसकी रक्षा करनेका और उसको बढ़ानेका कौन प्रयत्न करता ? ॥३३॥

विशेषार्थ—संसारको उद्यानकी उपमा इसलिए दी है कि उसमे मूढ़ पुरुषोंकी प्रीतिके लिए अनेक विषय रहते है। किन्तु विवेकी ज्ञानी उससे उसी तरह बचनेके लिए प्रयत्नशील रहता है मानो वह वनमे लगी आगसे घिर गया हो ॥३३॥

साम्यभाव समस्त सदाचारका शिरोमणि है। अतः आत्माको उसीकी भावनामें लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

सब प्राणियोंमे अथवा सब द्रव्योंमें साम्यभाव रखना सब आचरणोंमें उत्कृष्ट आचरण कहा है। अतः उसीको बार-बार चित्तमें धारण करता हूँ ॥३४॥

इस प्रकार भावसामायिकको अवश्य करने योग्य निर्धारित करके उसमे आरूढ़ आत्माके भाव बतलाते है—

समस्त प्राणियोंमे मेरा मैत्रीभाव है, किसीसे भी मेरा वैर नहीं है। मैं समस्त सावद्य-से—हिंसा आदि पातकोंसे युक्त मन-वचन कायके व्यापारसे—निवृत्त हूँ। इस प्रकार मुमुक्षुको सामायिक करना चाहिए ॥३५॥

विशेषार्थ—सामायिकमें यही भाव रहना चाहिए। इसी भावका नाम भावसामायिक है ॥३५॥

---

१ 'खमामि सव्वजीवाण सव्वे जीवा खमतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूदेसु वैरं मज्झं ण केण वि ॥'—मूलाचार, ४३ गा. ।

अथानन्यसामान्यं सामायिकमाहात्म्यमादर्शयंस्तत्प्रति सुधयः प्रयतेरन्निति शिक्षार्थमाह—

एकत्वेन चरन्निजात्मनि मनोवाक्कायकर्मच्युतेः
३ कैश्चिद्विक्रियते न जातु यतिवद्यद्भागपि श्रावकः ।
येनार्हंच्छ्रुतलिङ्गवानुपरिमग्रैवेयकं नीयते-
ऽभव्योऽप्यद्भुतवैभवेऽत्र न सजेत् सामायिके क सुधीः ॥३६॥

६ एकत्वेनेत्यादि । आगमभावसामायिकाभ्यासपूर्वकं नोआगमभावसामायिकेन परिणममानस्य स्वविषयेभ्यो विनिवृत्ति (निवृत्य) कायवाङ्मन कर्मणामात्मना सह वर्तनादित्यर्थ । कैश्चित्—वाह्यैरभ्यन्तरैर्वा विकार-कारणैः । यतिवत्—हिंसादिषु सर्वेष्वनासक्तचित्तोऽभ्यन्तरप्रत्याख्यानसंयमघातिकर्मोदयजनितमन्दाविरति-
९ परिणामे सत्यपि महाव्रत इत्युपचर्यत इति कृत्वा यतिना तुल्य वर्तमान । यथाह—

'सामाइयम्हि दु कदे समणो इव सावओ हवदि जम्हा ।
एदेण कारणेण दु वहुसो सामाइयं कुज्जा ॥' [मूलाचार , गा. ५३१]

१२ येनेत्यादि । उक्त च चारित्रसारे—'एवं कृत्वाऽभव्यस्यापि निर्ग्रन्थलिङ्गधारिण एकादशाङ्गाध्यायिनो महाव्रतपरिपालनादसंयमभावस्यापि उपरिमग्रैवेयकविमानवासिता उपपन्ना भवतीति ॥३६॥

सामायिकका असाधारण माहात्म्य बतलाकर बुद्धिमानोंको उसके लिए प्रयत्न करनेकी शिक्षा देते हैं—

संयमी मुनिकी तो बात ही क्या, जिस सामायिकका पालक देश संयमी श्रावक भी मन-वचन-कायके व्यापारसे निवृत्त होकर अपनी आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्व भावसे रहित एक ज्ञायक भावसे प्रवृत्त होता हुआ मुनिकी तरह किन्हीं भी अभ्यन्तर या बाह्य विकारके कारणोंसे कभी भी विकारको प्राप्त नहीं होता। तथा जिस सामायिकके प्रभावसे एकादशांगका पाठी और द्रव्यनिर्ग्रन्थ जिनलिंगका धारी अभव्य भी आठ ग्रैवेयक विमानोंसे ऊपर और नौ अनुदिश विमानोंके नीचे स्थित ग्रैवेयकमें जन्म लेता है, उस आश्चर्यजनक प्रभावशाली सामायिकमें कौन विवेकी ज्ञानी अपनेको न लगाना चाहेगा ॥३६॥

विशेषार्थ—यहाँ देशविरत श्रावकको सर्वविरत मुनिके तुल्य कहा है क्योंकि श्रावकका चित्त भी हिंसा आदि सब पापोंमें अनासक्त रहता है तथा यद्यपि उसके संयमको घातनेवाली प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय रहता है किन्तु वह मन्द उदय होता है इसलिए उसके उपचारसे महाव्रत भी मान लिया जाता है । आचार्य समन्तभद्रने कहा है—प्रत्याख्यानावरण कषायका उदय मन्द होनेसे चारित्रमोहरूप परिणाम अतिमन्द हो जाते हैं कि उनका अस्तित्व जानना भी कठिन होता है । उसीसे महाव्रतकी कल्पना की जाती है । अतः सामायिक श्रावकके लिए भी आवश्यक है । वह पहले आगमभाव सामायिकका अभ्यास करता है अर्थात् सामायिक विषयक शास्त्रोंका अभ्यास करता है । फिर नोआगमभाव सामायिकमें लगता है अर्थात् सामायिक करता है । मूलाचारमें कहा भी है—'सामायिक करनेपर यत श्रावक मुनिके तुल्य होता है अतः बार-बार सामायिक करना चाहिए ।'

सामायिकके प्रभावसे ही जिनागमका पाठी और जिनलिंगका धारी अभव्य भी नवम ग्रैवेयक तक मरकर जाता है—चारित्रसार (पृ ११) में कहा है—'ऐसा होनेसे निर्ग्रन्थ

---

१. 'प्रत्याख्यानतनुत्वात् मन्दतराश्चरणमोहपरिणामा ।
सत्त्वेन दुरवधारा महाव्रताय प्रकल्प्यन्ते ॥'—रत्नकरण्ड श्रा ७१

अथैवं सामायिक व्याख्यायेदानी चतुर्विंशतिस्तवं नवभिः पद्यैर्व्याख्यातुकामः पूर्वं तल्लक्षणमाह—

कीर्तनमर्हत्केवलिजिनलोकोद्योतधर्मतीर्थकृताम् ।
भक्त्या वृषभादीनां यत्स चतुर्विंशतिस्तवः षोढा ॥३७॥ ३

कीर्तन—प्रशसनम् । अर्हन्तः—अरेर्जन्मनश्च हन्तृत्वात् पूजाद्यर्हत्वाच्च । उक्त च—

'अरिहति वंदणणमसाणि अरिहति पूयसक्कारं ।
अरिहति सिद्धिगमण अरिहता तेण उच्चति ॥' [मूलाचार, ५६२ गा] ६

केवलिन'—सर्वद्रव्यपर्यायसाक्षात्कारिण । जिना.—अनेकभवगहनव्यसनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जितवन्त. । लोकोद्योता.—नामादिनवप्रकारलोकस्य भावेनोद्योतका ज्ञातार इत्यर्थं । नवधा लोको यथा—

'नामट्ठवणं दव्वं खेत्त चिण्ह कसाय लोओ य । ९
भवलोग भावलोगो पज्जयलोगो य णायव्वो ॥' [मूलाचार, गा. ५४१]

अत्र यानि कान्यपि लोके शुभान्यशुभानि वा नामानि स नामलोकः । तथा यत् किंचिल्लोके कृत्रिमकृत्रिमं वाऽस्ति स स्थापनालोक. । तथा षड्द्रव्यप्रपञ्चो द्रव्यलोक । उक्त च— १२

'परिणामि जीव मुत्त सपदेस एय खेत्त किरिया य ।
णिच्चं कारण कत्ता सव्वगदिदरम्हि य पएसो ॥' [मूलाचार, गा. ५४५]

लिंगका धारी और ग्यारह अंगोका पाठी अभव्य भी भावसे असंयमी होते हुए भी महाव्रतोंका पालन करनेसे उपरिम ग्रैवेयकके विमानमे उत्पन्न होता है ॥३६॥

इस प्रकार सामायिकका कथन करके अव नौ पद्योंसे चतुर्विंशतिस्तवका कथन करते हुए पहले उसका लक्षण कहते है—

अर्हत्, केवली, जिन, लोकका उद्योत करनेवाले अर्थात् ज्ञाता तथा धर्मतीर्थके प्रवर्तक ऋषभदेव आदि तीर्थंकरोंका भक्तिपूर्वक स्तवन करनेको चतुर्विंशतिस्तव कहते हैं। उसके छह भेद हैं ॥३७॥

विशेपार्थ—अरिहन्त और अर्हन्त ये दोनों प्रकारान्तरसे एक ही अवस्थाके वाचक हैं। मोहनीय कर्म जीवका प्रवल शत्रु है क्योंकि समस्त दु खोंकी प्राप्तिमे निमित्त है। यद्यपि मोहनीय कर्मके नष्ट हो जानेपर भी कुछ काल तक शेप कर्मोंका सत्त्व रहता है किन्तु मोहनीयके नष्ट हो जानेपर शेप कर्म जन्ममरणरूपी संसारको उत्पन्न करनेमे असमर्थ हो जाते है। अतः उनका होना न होनेके वरावर है। इसलिए तथा आत्माके केवलज्ञान आदि समस्त आत्मगुणोंके प्रकट होनेमे प्रवल रोधक होनेसे मोहनीय कर्म अरि है उसे घातनेसे अरिहन्त कहलाते हैं। तथा सातिशय पूजाके योग्य होनेसे उन्हें अर्हन्त कहते हैं। कहा है—यतः वे नमस्कार और वन्दनाके योग्य हैं, पूजा और सत्कारके योग्य हैं, तथा मुक्तिमे जानेके योग्य हैं इसलिए उन्हें अर्हन्त कहते हैं। तथा सब द्रव्यों और सब पर्यायोका प्रत्यक्ष ज्ञाता—द्रष्टा होनेसे केवली कहे जाते हैं। अनेक भवोंके भयकर कष्टोंके कारण कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेसे जिन कहे जाते हैं। नाम आदिके भेदसे नौ प्रकारके लोकके भावसे उद्योतक अर्थात् ज्ञाता होते है। लोकके नौ प्रकार इस तरह कहे है—'नामलोक, स्थापनालोक, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, चिह्नलोक, कषायलोक, भवलोक, भावलोक और पर्यायलोक ये नौ भेद लोकके हैं।' लोकमे जो भी शुभ या अशुभ नाम है वह नामलोक है। लोकमे जो भी अकृत्रिम अर्थात् स्वतः स्थापित और कृत्रिम (स्थापित) है वह स्थापनालोक है। छह द्रव्योंका समूह द्रव्य लोक है। कहा है—परिणाम अन्यथाभाव (परिवर्तन) को कहते हैं। यहाँ व्यंजन पर्याय

परिणामोऽन्यथाभाव । स चात्र व्यञ्जनपर्याय । तद्वन्तौ जीवपुद्गलावेव तिर्यगादिगतिपु भ्रमणोपलम्भात्, लोष्ठादिभावेन परिणमनप्रतीतेश्च । शेषाणि चत्वारि धर्माधर्मादिद्रव्याण्यपरिणामीनि व्यञ्जनपर्याया-
३ भावात् । अर्थपर्यायापेक्षया पुन. षडपि परिणामीन्येव । जीवश्चेतनालक्षण आत्मैव ज्ञातृत्वदृष्टृत्वात् । पञ्चाऽन्येऽजीवा । मूर्तं पुद्गलद्रव्य रूपादिमत्त्वात् । पञ्चान्ये त्वमूर्ता । सप्रदेशा जीवादय पञ्च प्रदेशवत्त्वदर्शनात् । कालाणव परमाणुश्चाप्रदेशा प्रचयवत्त्वाभावात् । एकरूपाणि धर्माधर्माकाशानि सर्वदा प्रदेशविघटनाभावात् ।
६ संसारिजीवपुद्गलकालास्त्वनेकरूपा प्रदेशाना भेदोपलम्भात् । क्षेत्रमाकाशं सर्वेषामाधारत्वात् । पञ्चान्येऽक्षेत्राण्यवगाहनलक्षणाभावात् । क्रिया जीवपुद्गलयोर्गतिमत्त्वात् । अन्ये त्वक्रिया । नित्या धर्माधर्माकाशकाला व्यञ्जनपर्यायापेक्षया विनाशाभावात् । अन्यावनित्यौ । कारणानि जीववर्जानि पञ्च जीवं प्रति उपकारकत्वात् ।
९ जीवस्त्वकारणं स्वतन्त्रत्वात् । कर्ता जीव शुभाशुभफलभोक्तृत्वात् । पञ्चान्येऽकर्तारः । सर्वगतमाकाशम् । पञ्चान्ये त्वसर्वगता. । इतरेष्वप्यपरिणामित्वादिधर्मेषु जीवादीना प्रवेशो व्याख्यात एव । सप्रदेशमधस्तिर्यगूर्ध्व-लोकविभक्तमाकाशं क्षेत्रलोक । द्रव्यगुणपर्यायाणा संस्थानं[1] चिह्नलोक । क्रोधादय उदयमागताः कषायलोक. ।
१२ नारकादियोनिगता सत्त्वा भवलोकः । तीव्ररागद्वेषादयो भावलोक । द्रव्यगुणादिभेदाच्चतुर्धा पर्यायलोक. । उक्त च—

लेना चाहिए। ऐसे परिणामी जीव और पुद्गल ही हैं क्योंकि जीवका तिर्यंच आदि गतिमे भ्रमण पाया जाता है और पुद्गलका लोष्ठ आदि रूपसे परिणमन देखा जाता है। शेष चार धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य और कालद्रव्य अपरिणामी है क्योंकि उनमे व्यजन पर्याय नहीं होती। किन्तु अर्थ पर्यायकी अपेक्षा छहों द्रव्य परिणामी हैं। चेतना लक्षणवाला आत्मा ही जीव है। क्योकि वह ज्ञाता-द्रष्टा है। शेष पाँच द्रव्य अजीव है। मूर्त पुद्गल द्रव्य है क्योंकि उसमे रूप आदि पाये जाते हैं। शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक है। जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश सप्रदेशी हैं, क्योंकि उनमे बहुप्रदेशीपना है। कालाणु और परमाणु अप्रदेशी है। धर्म, अधर्म, आकाश एकरूप है क्योकि उनके प्रदेशोका कभी भी विघटन नहीं होता। संसारी जीव, पुद्गल और काल अनेकरूप हैं क्योकि उनके प्रदेशोमे भेद देखा जाता है। क्षेत्र आकाश है क्योकि सबका आधार है। शेष पाँच द्रव्य अक्षेत्र है क्योंकि उनमे अवगाहनरूप लक्षणका अभाव है। क्रिया जीव और पुद्गलमे है क्योंकि वे क्रियावान् है। शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल नित्य हैं क्योकि व्यजन पर्यायका अभाव होनेसे उसकी अपेक्षा उनका विनाश नहीं होता। शेष द्रव्य अनित्य है क्योंकि उनमे व्यंजन पर्याय होती है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश कारण है क्योंकि जीवका उपकार करते हैं। जीव कारण नही है क्योंकि वह स्वतन्त्र है। शुभ-अशुभ फलका भोक्ता होनेसे जीव कर्ता है। शेष द्रव्य शुभ-अशुभ फलका भोक्ता न होनेसे अकर्ता हैं। आकाश सर्वत्र पाया जाता है अत. सर्वगत है, शेष द्रव्य सर्वत्र न पाये जानेसे असर्वगत है। इस प्रकार परिणामी, अपरिणामी आदि रूपसे द्रव्यलोक होता है। अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकसे विभक्त सप्रदेशी आकाश क्षेत्रलोक है। द्रव्य गुण पर्यायोके संस्थानको चिह्नलोक कहते हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म द्रव्योका लोकाकार रूपसे संस्थान, आकाशका केवलज्ञानरूपसे संस्थान, लोकाकाशका घर, गुफा आदि रूपसे सस्थान, पुद्गल द्रव्यका लोकस्वरूपसे अथवा द्वीप, नदी, समुद्र, पर्वत, पृथिवी आदि रूपसे संस्थान तथा जीव द्रव्यका समचतुरस्र आदि रूपसे संस्थान द्रव्यसंस्थान है। गुणोका द्रव्याकार रूपसे

१ सस्थापनं भ. कु च. ।

'दव्वगुणखेत्तपज्जय भवाणुभावो य भावपरिणामो ।
जाण चउव्विहभेयं पज्जयलोग समासेण ॥' [मूलाचार, गा ५५१]

तत्र द्रव्यगुणा जीवस्य ज्ञानादय., पुद्गलस्य स्पर्शादयो धर्माधर्माकाशकालाना च गतिस्थित्यवगाह-हेतुत्ववर्तनादय । क्षेत्रपर्याया रत्नप्रभा-जम्बूद्वीपर्जुविमानादय. । भवानुभाव आयुषो जघन्यमध्यमोत्कृष्टविकल्प. । भावपरिणामोऽसंख्येयलोकप्रमाणशुभाशुभजीवभाव कर्मादानपरित्यागसमर्थ इति । धर्मतीर्थकृतः—धर्मस्य वस्तुयाथात्म्यस्योत्तमक्षमादेर्वा तीर्थं शास्त्रं कृतवन्त उपदिष्टवन्त' । चतुर्विंशतिस्तव'—अनेकतीर्थंकरदेवगुण-स्यावर्णन चतुर्विंशतिशब्दस्यानेकोपलक्षणत्वात् ॥३७॥ 3 6

अथ नामादिस्तवभेदो व्यवहारनिश्चयाभ्या विभजन्नाह—

स्युर्नामस्थापना-द्रव्य-क्षेत्र-कालाश्रयाः स्तवाः । 9
व्यवहारेण पञ्चार्यादिको भावस्तवोऽर्हताम् ॥३८॥

स्पष्टम् ॥३८॥

अथ नामस्तवस्वरूपमाह— 12

अष्टोत्तरसहस्रस्य नाम्नामन्वर्थमर्हताम् ।
वीरान्ताना निरुक्तं यत्सोऽत्र नामस्तवो मत ॥३९॥

नाम्ना—श्रीमदादिसंज्ञानाम् । तानि चार्षे पञ्चविंशतितमे पर्वणि— 15

'श्रीमान्स्वयभूर्वृषभ शभवः शम्भुरात्मभूः ।
स्वयप्रभ. प्रभुर्भोक्ता विश्वभूरपुनर्भवः ॥'

इत्यादिना 18

'शुभंयुः सुखसाद्भूत' पुण्यराशिरनामय. ।
धर्मपालो जगत्पालो धर्मसाम्राज्यनायक ॥' [महापु. २५।१००-२१७]

संस्थान गुणसंस्थान है। पर्यायोंका दीर्घ, ह्रस्व, गोल, नारक, तिर्यंच आदि रूपसे संस्थान पर्यायसंस्थान है। ये सब चिह्नलोक हैं। उदयप्राप्त क्रोधादि कषायलोक हैं। नारक आदि योनियोंमे वर्तमान जीव भवलोक है। तीव्र राग-द्वेष आदि भावलोक है।

पर्याय लोकके चार भेद हैं—जीवके ज्ञानादि, पुद्गलके स्पर्श आदि, धर्म, अधर्म, आकाश कालके गतिहेतुता, स्थितिहेतुता अवगाहहेतुता और वर्तना आदि ये द्रव्योंके गुण, रत्नप्रभा पृथिवी, जम्बूद्वीप, ऋजु विमान आदि क्षेत्र पर्याय, आयुके जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद, जीवके असंख्यात लोक प्रमाण शुभ अशुभ भाव, जो कर्मोंके ग्रहण और त्यागमे समर्थ होते हैं, ये संक्षेपमें पर्याय लोकके चार भेद हैं। इस प्रकार अर्हन्तोंका, केवलियोंका, जिनोंका, लोकके उद्योतकोंका, और धर्मतीर्थके कर्ता ऋषभ आदि चौबीस तीर्थंकरोका भक्ति-पूर्वक गुणकीर्तन करना चतुर्विंशतिस्तव है ॥३७॥

आगे व्यवहार और निश्चयसे स्तवके भेद कहते हैं—

चौबीस तीर्थंकरोंका स्तवन व्यवहारसे नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और कालके आश्रय-से पाँच प्रकारका है। और परमार्थसे एक भावस्तव है ॥३८॥

नाम स्तवका स्वरूप कहते हैं—

भगवान् ऋषभदेवसे लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरोका एक हजार आठ नामोंके द्वारा जो अर्थानुसारी निरुक्ति की जाती है उसे उक्त स्तवोंमे से नामस्तव कहते हैं ॥३९॥

इत्येतेन प्रबन्धेनोक्तानि प्रतिपत्तव्यानि । अन्वर्थं—अभिधेयानुगतम् । तद्यथा—श्री. अन्तरङ्गाऽनन्त-ज्ञानादिलक्षणा बहिरङ्गा च समवसरणाष्टमहाप्रातिहार्यादिस्वभावा लक्ष्मीरस्यातिशयेन हरिहराद्यसभवित्वे-
३ नास्तीति श्रीमान् । स्वय परोपदेशमन्तरेण मोक्षमार्गमवबुद्ध्यानुष्ठाय चानन्तचतुष्टयरूपतया भवतीति स्वयभू. । तथा, वृषेण धर्मेण भातीति वृषभ. । तथा, श—सुख भवत्यस्माद् भव्यानामिति शंभव. । एवमन्येपामपि यथाम्नायमन्वर्थता चिन्त्या । तथाहि—

६ 'ध्यानद्रुघणनिर्भिन्नघनघातिमहातरुः ।
अनन्तभवसतानजयादासीरनन्तजित् ॥
त्रैलोक्यनिर्जयावाप्तदुर्दर्पमतिदुर्जयम् ।
९ मृत्युराज विजित्यासीज्जिनमृत्युजयो भवान् ॥' [महापु., २५।६९-७०]

इत्यादि ।

व्यावहारिकत्व च नामस्तवस्य (-स्तुत्यस्य-)[2] परमात्मनो वाचामगोचरत्वात् ।

१२ तथा चोक्तमार्षे—

'गोचरोऽपि गिरामासा त्वमवाग्गोचरो मतः ।
स्तोतुस्तथाप्यसदिग्धं त्वत्तोऽभीष्टफलं भवेत् ॥' [महापु २५।२१९]

१५ तथा—

'सज्ञासज्ञद्वयावस्थाव्यतिरिक्तामलात्मने ।
नमस्ते वीतसज्ञाय नमः क्षायिकदृष्टये ॥' [महापु. २५।९५]

१८ वीरान्तानां—वृषभादिवर्धमानान्ताना तीर्थकराणा चतुर्विंशते. । सामान्यविवक्षया चायं नामस्तव-श्चतुर्विंशतिरपि तीर्थकृता श्रीमदादिसज्ञावाच्यत्वाविशेषात् । विशेषापेक्षया तु वृषभादिचतुर्विंशते । पृथङ्नाम्ना निर्वचनमुच्चारणं वा नामस्तव । यथा सर्वभक्तिभाक् 'थोस्सामि' इत्यादि स्तव । 'चउवीस तित्थयरे'
२१ इत्यादिर्वा । 'ऋषभोऽजितनामा च' इत्यादिर्वा ॥३९॥

विशेषार्थ—महापुराणके पच्चीसवे पर्वमे एक हजार आठ नामोंके द्वारा भगवान् ऋषभ देवकी जो स्तुति की गयी है वह नामस्तव है। यह स्तव अन्वर्थ है। जैसे भगवान्को श्रीमान् स्वयम्भू, वृषभ । सम्भव आदि कहा गया है। सो भगवान् तीर्थकर ऋषभदेवके अन्तरंग ज्ञानादि रूप और बहिरंग समवसरण अष्ट महा प्रतिहार्यादि रूप श्री अर्थात् लक्ष्मी होती है इसलिए उनका श्रीमान् नाम सार्थक है। तथा भगवान परके उपदेशके विना स्वय ही मोक्षमार्ग-को जानकर और उसका अनुष्ठान करके अनन्त चतुष्टय रूप होते है इसलिए उन्हें स्वयम्भू कहते है। वे वृष अर्थात् धर्मसे शोभित होते हैं इसलिए उन्हें वृषभ कहते हैं। उनसे भव्य जीवोको सुख होता है इसलिए सम्भव कहते हैं। इसी तरह सभी नाम सार्थक हैं।

इस प्रकारका नाम स्तव व्यावहारिक है क्योंकि स्तुतिके विषय परमात्मा तो वचनोके अगोचर है। जिनसेन स्वामीने कहा है—हे भगवन् ! इन नामोंके गोचर होते हुए भी आप वचनोके अगोचर माने गये है। फिर भी स्तवन करनेवाला आपसे इच्छित फल पा लेता है इसमे कोई सन्देह नहीं है। सामान्यकी विवक्षा होनेपर यह नामस्तव चौवीसों ही तीर्थंकरो-का है क्योकि सभी तीर्थंकर 'श्रीमान् आदि नामोंके द्वारा कहे जा सकते है। विशेषकी अपेक्षा चौवीसो तीर्थकरका भिन्न-भिन्न नामोसे स्तवन करना भी नामस्तव है ॥३९॥

१. अर्थमनुगतम् भ कु च.।
२. भ. कु. च ।

अथ स्थापनास्तवमाह—

कृत्रिमाकृत्रिमा वर्णप्रमाणायतनादिभिः ।
व्यावर्ण्यन्ते जिनेन्द्रार्चा यदसौ स्थापनास्तवः ॥४०॥ ३

आयतनं—चैत्यालय । आदिशब्देन संस्थानदीप्त्यादय· । जिनेन्द्रार्चा—जिनेन्द्राणा तीर्थकराणा चतुर्विंशतेरपरिमितानां वा अर्चाः प्रतिमा· । तत्र चतुर्विंशते कृत्रिमा (इतरेषा चाकृतिमा) इति योज्यम् । उक्त चाचारटीकायाम्—'चतुर्विंशतितीर्थकराणामपरिमितानां वा कृत्रिमाकृत्रिमस्थापनाना स्तवन चतुर्विंशति- ६ स्थापनास्तव इति अथवा अकृत्रिमा इत्युपचारादुभयत्रापि योज्यम् ॥४०॥

अथ द्रव्यस्तवमाह—

वपुर्लक्ष्मगुणोच्छ्रायजनकादिमुखेन या । ९
लोकोत्तमानां संकीर्तिश्चित्रो द्रव्यस्तवोऽस्ति सः ॥४१॥

लक्ष्माणि—श्रीवृक्षादिलक्षणानि वृषभादिलाञ्छनानि च । तत्राष्टोत्तरशत लक्षणानि व्यञ्जनानि च नवशतानि आर्षे पञ्चदशे पर्वणि । तानि 'श्रीवृक्षशंखाब्ज' इत्यादिना 'व्यञ्जनान्यपराण्यासन् शतानि नवसख्यया' १२ इत्यन्तेन प्रबन्धेनोक्तानि वेदितव्यानि । चिन्हानि यथा—

'गौर्गजोऽश्व. कपिः काकः सरोज स्वस्तिक· शशी ।
मकर· श्रीयुतो वृक्षो गण्डो महिपसूकरौ ॥' १५
'सेधा वज्रं मृगश्छागः पाठीन. कलशस्तथा ।
कच्छपश्चोत्पल शखो नागराजश्च केशरी ॥
इत्येतान्युक्तदेशेषु लाञ्छनानि प्रयोजयेत् ।' [ ] १८

स्थापना स्तवको कहते हैं—

चौवीस अथवा अपरिमित तर्थंकरोंकी कृत्रिम और अकृत्रिम प्रतिमाओंका जो रूप, ऊँचाई चैत्यालय आदिके द्वारा स्तवन किया जाता है उसे स्थापना स्तव कहते है। यहाँ इतना विशेष जानना कि चौवीस तीर्थंकरोंकी मूर्तियाँ तो कृत्रिम होती है किसीके द्वारा बनायी जाती हैं। शेष अकृत्रिम होती हैं ॥४०॥

द्रव्य स्तवको कहते हैं—

शरीर, चिह्न, गुण, ऊँचाई और माता पिता आदि की मुख्यता से जो लोकोत्तम तीर्थंकरोंका स्तवन किया जाता है वह आश्चर्यकारी अथवा अनेक प्रकारका द्रव्य स्तव है ॥४१॥

विशेषार्थ—शरीरके द्वारा स्तवनका उदाहरण इस प्रकार[1] है—नौ सौ व्यंजन और एक सौ आठ लक्षणोंके द्वारा शोभित और जगत्को आनन्द देनेवाला अर्हन्तोंका शरीर जयवन्त होओ। मैं उन जिनेन्द्रोंको नमस्कार करता हूँ जिनके मुक्त होनेपर शरीरके परमाणु बिजलीकी तरह स्वयं ही विशीर्ण हो जाते हैं।

---

१. 'सनवव्यञ्जनशतैरष्टाग्रशतलक्षणं ।
विचित्रं जगदानन्दि जयतादर्हतां वपु ॥
जिनेन्द्रान्नौमि तान्येषा शारीरा परमाणव ।
विद्युतामिव मुक्ताना स्वय मुञ्चन्ति सहतिम् ॥' [ ]

गुणाः—निःस्वेदत्वादयो वर्णादयश्च । वर्णमुखेन यथा—

'श्रीचन्द्रप्रभनाथपुष्पदशनौ कुन्दावदातच्छवी,
3 रक्ताम्भोजपलाशवर्णवपुषौ पद्मप्रभद्वादशौ ।
कृष्णौ सुव्रतयादवौ च हरितौ पार्श्वः सुपार्श्वश्च वै,
शेषा सन्तु सुवर्णवर्णवपुषो मे षोडशाऽघच्छिदे ॥' [ ]

6 उच्छ्राय.—उत्सेध.। तन्मुखेन यथा—

'नाभेयस्य शतानि पञ्चधनुषां मानं परं कीर्तितं
सद्भिस्तीर्थकराष्टकस्य निपुणैः पञ्चाशदून हि तत् ॥
9 पञ्चाना च दशोनकं भुवि भवेत् पञ्चोनकं चाष्टके
हस्ता स्युर्नव सप्त चान्त्यजिनयोर्येषां प्रभा नौमि तान् ॥' [ ]

जनकादि—जनकश्च जननी च जनकौ मातापितरौ। मातृद्वारेण यथा—

यहाँ शरीरपर पाये जाने वाले तिल, मसक आदि चिह्नोंको व्यंजन कहते हैं और शंख, कमल आदिको लक्षण कहते हैं। महापुराणके पन्द्रहवें सर्ग मे एक सौ आठ लक्षणोंको तथा नौ सौ व्यंजनोंको बताया है ॥४१॥

तीर्थंकरोंके चिह्न इस प्रकार कहे हैं[1]—बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, कमल, स्वस्तिक, चन्द्रमा, गेण्डा, भैंसा, शूकर, सेही, वज्र, मृग, बकरा, मत्स्य, कलश, कछुआ, नीलकमल, शंख, सर्प और सिंह ये क्रमसे चौवीस तीर्थंकरोंके चिह्न हैं। पसीना न आना आदि गुणके द्वारा स्तवन इस प्रकार होता है[2]—'कभी पसीना न आना, मल मूत्रका न होना समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन, अत्यन्त सुगन्ध, उत्कृष्ट सौन्दर्य, एक हजार आठ लक्षण और व्यंजन, अनन्तवीर्य, हित रूप प्रिय वचन, श्वेत वर्णका रक्त ये अर्हन्तके शरीरमें दश स्वाभाविक अतिशय होते हैं।'

वर्णके द्वारा स्तुतिका उदाहरण इस प्रकार है—श्रीचन्द्रप्रभनाथ और पुष्पदन्तके शरीरका वर्ण कुन्द पुष्पके समान श्वेत है। पद्मप्रभके शरीरका वर्ण लाल कमलके समान और वासुपूज्यका पलाशके समान लाल है। मुनि[3] सुव्रत नाथ और नेमिनाथके शरीरका रग काला है। पार्श्व और सुपार्श्वका शरीर हरितवर्ण है। शेष सोलह तीर्थंकरोंका शरीर सुवर्णके समान है। ये सभी तीर्थंकर मेरे पापोंका नाश करें।

---

१ तिलोयपण्णत्ति (४।६०४) में सुपार्श्वनाथका चिह्न नन्द्यावर्त, और शीतलनाथका चिह्न 'सोतीय' कहा है जिसका अर्थ स्वस्तिक किया गया है। तथा अरहनाथका चिह्न तगर कुसुम कहा है जिसका अर्थ मत्स्य किया है। श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्रने शीतलनाथका चिह्न श्रीवत्स, अनन्तनाथका चिह्न श्येन और अरहनाथका चिह्न नन्द्यावर्त कहा है। इस तरह चिह्नोंमें मतभेद है।

२ 'निःस्वेदत्वमनारत विमलता संस्थानमाद्य शुभम् ।
तद्वत्संहनन भृगं सुरभिता सौरूप्यमुच्चैः परम् ।
सौलक्षण्यमनन्तवीर्यमुदिति पथ्या प्रियाऽसृक् च यः ।
शुभ्र चातिशया दशेह सहजाऽ सन्त्वर्हदङ्गानुगा ॥ [ ]

३ तिलोयपण्णत्ति (४।५८८) में मुनिसुव्रत और नेमिनाथको नीलवर्ण कहा है। तथा हेमचन्द्रने मल्लि और पार्श्वको नीलवर्ण कहा है। हरितवर्ण किसी भी तीर्थंकरको नही कहा, सुपार्श्वको शेष सोलहमें लिया है।

'मात्रा तीर्थङ्कराणां परिचरणपरश्रीप्रभृत्योद्भवादि-
श्रीसंभेदाग्रदूता रजनिविरमणे स्वप्रभाजेक्षिता ये।
श्रीभोक्षेभारिमास्रक्शशिरविझपकुम्भाब्जषण्डाब्धिपीठ- ३
द्योयानाशीविपौको वसुचयशिखिनः सन्तु ते मङ्गल नः॥' [ ]

आदिशब्देन कान्त्यादिद्वारेण यथा—

'कान्त्यैव स्नपयन्ति ये दश दिशो धाम्ना निरुन्धन्ति ये ६
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णन्ति रूपेण ये।
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयो. साक्षात् क्षरन्तोऽमृतं
वन्द्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वरा' सूरय.॥' [समयसारकलश, २४ श्लो.] ९

तथा—

'येऽभ्यर्चिता मुकुटकुण्डलहाररत्नैः शक्रादिभिः सुरगणै' स्तुतपादपद्मा.।
ते मे जिना. प्रवरवंशजगत्प्रदीपास्तीर्थंकरा सततशान्तिकरा भवन्तु॥' १२

'जैनेन्द्राक्षौमिताऽन्येषां शारीरा. परमाणव ।
विद्युतामिव मुक्तानां स्वय मुञ्चति संहतिम्॥' [ ]

शरीरकी ऊँचाईको लेकर नमस्कार करनेका उदाहरण यथा—आदिनाथके शरीरकी ऊँचाई ५०० धनुष, अजितनाथकी ४५० धनुष, सम्भवनाथकी ४०० धनुष, अभिनन्दननाथकी ३५० धनुष, सुमतिनाथकी ३०० धनुष, पद्मप्रभकी २५० धनुष, सुपार्श्वनाथकी २०० धनुष, चन्द्रप्रभकी १५० धनुष, पुष्पदन्तकी १०० धनुष, शीतलनाथकी ९० धनुष, श्रेयासनाथकी ८० धनुष, वासुपूज्यकी ७० धनुष, विमलनाथकी ६० धनुष, अनन्तनाथकी ५० धनुष, धर्मनाथकी ४५ धनुष, शान्तिनाथकी ४० धनुष, कुन्थुनाथकी ३५ धनुष, अरहनाथकी ३० धनुष, मल्लिनाथकी २५ धनुष, मुनिसुव्रतनाथकी २० धनुष, नमिनाथकी १५ धनुष, नेमिनाथकी १० धनुष, पार्श्वनाथकी ९ हाथ और महावीर स्वामीकी ७ हाथ ऊँचाई है। मैं उन सबको नमस्कार करता हूँ।

माताके द्वारा स्तवनका उदाहरण—'क्षायिक सम्यग्दृष्टि और उत्कृष्ट बुद्धिशाली कुलकरोंका जो वंश हुआ उसमें, तथा आदि ब्रह्मा आदिनाथने कर्मभूमिके प्रारम्भमें जिन इक्ष्वाकु, कुरु, उग्रनाथ, हरिवंशकी स्थापना की थी, जो वंश गर्भाधान आदि विधिकी परम्परासे लोकपूज्य हैं, उनको जन्म देनेवाली आर्यभूमिके स्वामी जिनके जीवननाथ हैं तथा जिनका जन्म उत्तम कुलमे हुआ है वे जैनतीर्थंकरोकी माताएँ जयवन्त हों।'

माताके द्वारा देखे गये स्वप्नोके द्वारा किया गया स्तवन भी द्रव्यस्तवन है। जैसे—श्री आदि देवियोके द्वारा सेवित तीर्थंकरोंकी माताने रात्रिके पिछले पहरमें ऐरावत हाथी, बैल, सिंह, लक्ष्मी, माला, चन्द्रमा, सूर्य, मीन, कलश, कमलवन, समुद्र, सिंहासन, देव विमान, नागेन्द्रका भवन, रत्नराशि तथा निर्धूम वह्नि ये सोलह स्वप्न देखे, जो तीर्थंकरोंके जन्म आदि अतिशयोंके सूचक अग्रदूतके समान हैं, वे स्वप्न हमारे लिए मंगलकारक हों।

शरीरकी कान्ति आदिके द्वारा तीर्थंकरोंके स्तवनका उदाहरण—जो अपने शरीरकी कान्तिसे दस दिशाओंको स्नान कराते हैं, अपने तेजसे उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यके भी तेजको रोक देते हैं, अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हर लेते हैं, अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा भव्यजीवोके कानोंमे साक्षात् सुखरूप अमृतकी वर्षा करते हैं, वे एक हजार आठ लक्षणोंके धारी

लोकोत्तमाना—परभागप्राप्तप्रभुत्वभाक्त्वात्तीर्थकृताम् । यदाह—

'तित्थयराण पहुत्तं णेहो वलदेव-केसवाण च ।
३ दुक्खं च सवत्तीणं तिण्णि वि परभागपत्ताइं ॥' [ ] ॥४१॥

अथ क्षेत्रस्तवमाह—

क्षेत्रस्तवोऽर्हतां स स्यात्तत्स्वर्गावतरादिभिः ।
६ पूतस्य पूर्वनाद्रयादेर्यत्प्रदेशस्य वर्णनम् ॥४२॥

पुरित्यादि—पुरोऽयोध्यादयः । वनानि सिद्धार्थादीनि । अद्रय.—कैलासादय. । आदिशब्देन नद्यादि-परिग्रह ॥४२॥

९ अथ कालस्तवमाह—

कालस्तवस्तोर्थकृतां स ज्ञेयो यदनेहसः ।
तद्गर्भावतराद्युद्धक्रियादृप्तस्य कीर्तनम् ॥४३॥

१२ स्पष्टम् ॥४३॥

तीर्थंकर वन्दनीय हैं। तथा—इन्द्र आदि देवगणोंने जन्मकल्याणकके समय जिनको मुकुट, कुण्डल और रत्नहारसे भूषित किया तथा चरणकमलोंकी स्तुति की, उत्तम वंश तथा जगत्के लिए दीपकके तुल्य तीर्थंकर जिनेन्द्र मुझे सदा शान्तिदायक होवें।

दीक्षा वृक्षोंके द्वारा भगवान्की स्तुतिका उदाहरण—वट, सप्तच्छद, शाल, सरल, प्रियंगु, शिरीष, नागकेशर, साल, पाकर, श्रीवृक्ष, तेंदुआ, पाटला, जामुन, पीपल, कैत, नन्दीवृक्ष, नारंगवृक्ष, आम्र, अशोक, चम्पक, वकुल, वाशिक, धव, शाल ये चौवीस तीर्थंकरोंके दीक्षावृक्ष है। इन वृक्षोंके नीचे उन्होंने दीक्षा धारण की थी। 'लोकोत्तम' शब्दसे तीर्थंकर ही लिये जाते हैं क्योंकि उनकी प्रभुता सर्वोत्कृष्ट होती है। कहा है—तीर्थंकरोंका प्रभुत्व, वलदेव और नारायणका स्नेह और सपत्नीका दुःख ये तीनों सर्वोत्कृष्ट होते हैं। यह द्रव्यस्तवका स्वरूप है ॥४१॥

आगे क्षेत्रस्तवको कहते हैं—

तीर्थंकरोंके स्वर्गावतरण, जन्म, दीक्षा, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकोंसे पवित्र अयोध्या आदि नगर, सिद्धार्थ आदि वन और कैलास आदि पर्वत प्रदेशका जो स्तवन है वह क्षेत्र-स्तव है ॥४२॥

कालस्तवको कहते हैं—

तीर्थंकरोंके गर्भावतरण, जन्म, तप, ज्ञान और निर्वाणकल्याणकोंकी प्रशस्त क्रियाओंसे गर्वयुक्त हुए कालका वर्णन तीर्थंकरोंका कालस्तव है अर्थात् जिन समयोंमें कल्याणकी क्रियाएँ हुई उनका स्तवन कालस्तव है ॥४३॥

---

१. पद्मपुराण २०।३६-६०।
'न्यग्रोधो मदगन्धिसर्जमुशनश्यामे शिरीषोऽर्हता-
मेते ते किल नागसर्जजटिन श्रीतिन्दुक पाटल ।
जम्ब्वश्वत्थकपित्थ नन्दिकविटाम्रावञ्जुलश्चम्पको
जीयासुर्वकुलोऽत्र वाशिकधवौ शालश्च दीक्षाद्रुमा' ॥'—आशाधर प्रतिष्ठापाठ ।

अथ भावस्तवमाह—

वर्ण्यन्तेऽनन्यसामान्या यत्कैवल्यादयो गुणाः।
भावकैर्भावसर्वस्वदिशां भावस्तवोऽस्तु सः ॥४४॥ ३

भावसर्वस्वदिशा—जीवादिपदार्थाश्रितद्रव्यगुणपर्यायसपदुपदेशिनाम्। भावस्तवः। स स्वयकृतो यथा—

'विवर्तैः स्वैर्द्रव्य प्रतिसमयमुद्यद् व्ययदपि ६
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत्।
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिल
प्रमिन्वाना. स्पष्ट युगपदिह न. पान्तु जिनपाः ॥' [ ] ९

एप एव भगवता वास्तवस्तवः केवलज्ञानादिगुणाना तद्वता चाव्यतिरेकादैक्यसभवात्। यथाह—

'तं णिच्छए ण जुजइ ण सरीरगुणा हि हुंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणइ जो सो सच्चं केवली थुणइ ॥' [समयप्रा., गा २९] ॥४४॥ १२

भावस्तवको कहते हैं—

भावनामें लीन भव्योंके द्वारा जो केवलज्ञान आदि असाधारण गुणोका वर्णन किया जाता है वह जीवादि पदार्थोंके आश्रित द्रव्य-गुण-पर्यायरूप सम्पदाका उपदेश देनेवालोंका भावस्तव है ॥४४॥

विशेषार्थ—तीर्थंकर अपनी दिव्यध्वनिके द्वारा जीवादि पदार्थोंके स्वरूपका उपदेश करते समय द्रव्य-गुण-पर्यायका विवेचन करते हैं। वे जीवकी शुद्ध दशा और अशुद्ध दशाका विभेद करके शुद्ध जीवके स्वरूपका कथन करते हैं। शुद्ध जीवके असाधारण गुणोंका स्तवन भावस्तव है।

आशाधरजीने अपनी टीकामें इसका एक स्वरचित उदाहरण दिया है जिसका भाव है—'जैसे जलमे प्रतिसमय लहरें उठती हैं और विलीन होती है फिर भी जल स्वभावसे निश्चल ही रहता है उसी तरह द्रव्य भी प्रतिसमय अपनी पर्यायोंसे उत्पन्न होता और नष्ट होता हुआ भी स्वभावसे रंचमात्र भी विचलित नहीं होता सदा एकरूप ही रहता है। इस प्रकार कालके प्रभावसे होनेवाले समस्त उत्तरोत्तर नये-नयेपनेको एक साथ स्पष्ट रूपसे जाननेवाले जिनदेव हमारी रक्षा करे।'

वास्तवमें भावस्तव ही यथार्थ स्तव है क्योंकि केवलज्ञानादि गुणका शुद्धात्माके साथ अभेद है। क्षेत्र, काल, शरीर आदि तो सब बाह्य हैं।

आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—शरीरादिके स्तवनसे केवलीका स्तवन निश्चय दृष्टिसे ठीक नहीं है क्योंकि शरीरके गुण केवलीके गुण नहीं है अतः जो केवलीके गुणोका स्तवन करता है वही वास्तवमे केवलीका स्तवन करता है ॥४४॥

---

१. 'विवर्तै स्वैर्द्रव्य प्रतिसमयमुद्यद् व्ययदपि
स्वरूपादुल्लोलैर्जलमिव मनागप्यविचलत् ॥
अनेहोमाहात्म्याहितनवनवीभावमखिलं
प्रमिन्वाना. स्पष्ट युगपदिह न. पान्तु जिनपा ॥'—अनगा. धर्मा. टी.।

अथ व्यवहारनिश्चयस्तवयो फलविभागं प्रपूरयन्नुपयोगाय प्रेरयति—

लोकोत्तराभ्युदयशर्मफलां सृजन्त्या
३ पुण्यावलीं भगवतां व्यवहारनुत्या।
चित्तं प्रसाद्य सुधियः परमार्थनुत्या
स्तुत्ये नयन्तु लयमुत्तमबोधसिद्धयै ॥४५॥

६ स्तुत्ये—शुद्धचिद्रूपस्वरूपे ॥४५॥

अथ एकादशभि. पद्यैर्वन्दना व्याचिख्यासुरादितस्तावत्तल्लक्षणमाह—

वन्दना नतिनुत्याशीर्जयवादादिलक्षणा।
९ भावशुद्धया यस्य तस्य पूज्यस्य विनयक्रिया ॥४६॥

जयवादादि। आदिशब्देन नामनिर्वचनगुणानुध्यान-बहुवचनोच्चारणसकृचन्दनाद्यर्चनादि। प्रणति-र्वन्दनेति कश्चित्। उक्तं च—

१२ 'कर्मारण्यहुताशनां पराना परमेष्ठिनाम्।
प्रणतिर्वन्दनाऽवादि त्रिशुद्धा त्रिविधा बुधै. ॥' [अमित, श्रा. ८।३३]

यस्य तस्य—अर्हदादीना वृषभादीना चाऽन्यतमस्य। विनयक्रिया—विनयकर्म।

१५ उक्तं च—

'किदियम्मं चिदियम्म पूजाकम्मं च विणयकम्मं च।' [मूलाचार गा ५७६] ॥४६॥

आगे व्यवहारस्तव और निश्चयस्तवके फलमे भेद बतलाकर उसमे लगनेकी प्रेरणा करते हैं—

तीर्थंकरोंके ऊपर कहे गये नामस्तव आदि रूप व्यवहारस्तवनसे पुण्यकी परम्परा प्राप्त होती है जिसके फलस्वरूप अलौकिक सासारिक अभ्युदयका सुख प्राप्त होता है। उसके द्वारा चित्तको सन्तुष्ट करके बुद्धिमानोंको निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके लिए तीर्थंकरोंके निश्चयस्तवनके द्वारा शुद्ध चित्स्वरूपमें चित्तको लीन करना चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—ऊपर जो चतुर्विंशतिस्तवके भेद कहे हैं उनमें एक भाव स्तव ही परमार्थसे स्तव है क्योकि उसमे तीर्थंकरोंके आत्मिक गुणोंका स्तवन होता है। इस भावस्तवके द्वारा ही शुद्ध चिद्रूपमे चित्तको लीन किया जा सकता है। और शुद्ध चिद्रूपमे चित्तके लीन होनेसे ही निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्ति होती है। किन्तु द्रव्यस्तव, क्षेत्रस्तव, कालस्तव आदिसे पुण्यबन्ध होता है। वह पुण्यबन्ध भी तभी होता है जब लौकिक सुखकी कामनाको छोडकर स्तवन किया जाता है। लौकिक सुखकी कामनासे स्तवन करनेसे तो पुण्यबन्ध भी नहीं होता ॥४५॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे वन्दनाका स्वरूप कहनेकी इच्छा रखकर प्रथम ही वन्दनाका लक्षण कहते हैं—

अर्हन्त, सिद्ध आदि या चौबीस तीर्थंकरोंमे-से किसी भी पूजनीय आत्माका विशुद्ध परिणामोंसे नमस्कार, स्तुति, आशीर्वाद-जयवाद आदिरूप विनयकर्मको वन्दना कहते है ॥४६॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें वन्दनाके नामान्तर इस प्रकार कहे हैं 'किदियम्मं चिदियम्मं पूयाकम्मं च विणयकम्मं च।'—७।७९। अर्थात् जिस अक्षरसमूहसे या परिणामसे या क्रियासे आठों कर्मोंका कर्तन या छेदन होता है उसे कृतिकर्म कहते हैं अर्थात् पापके विनाशके उपायका नाम कृतिकर्म है। जिससे तीर्थंकर आदि पुण्यकर्मका संचय होता है उसे चिति-

अथ को विनय इत्याह—

हिताहिताप्तिलुप्त्यर्थं तदङ्गानां सदाञ्जसा।
यो माहात्म्योद्भवे यत्नः स मतो विनयः सताम् ॥४७॥ ३

तदङ्गाना—हितप्राप्त्यहितछेदनसाधनानाम्। अञ्जसा—निर्व्याजम्। माहात्म्योद्भवे—शक्ति-विशेषस्योत्पादे उल्लासे वा ॥४७॥

अथ विनयस्य पञ्चविधत्वमनुवर्ण्य मोक्षार्थस्य तस्य निर्जरार्थिनामवश्यकर्तव्यतामुपदिशति— ६

लोकानुवृत्तिकामार्थभयनिःश्रेयसाश्रयः।
विनयः पञ्चधावश्यकार्योऽन्त्यो निर्जरार्थिभिः ॥४८॥

लोकानुवृत्तिः—व्यवहारिजनानुकूलाचरणम्। उक्तं च— ९

'लोकानुवर्तनाहेतुस्तथा कामार्थहेतुकः।
विनयो भयहेतुश्च पञ्चमो मोक्षसाधनः ॥'
उत्थानमञ्जलिः पूजाऽतिथेरासनढौकनम्। १२
देवपूजा च लोकानुवृत्तिकृद् विनयो मतः ॥
भाषाच्छन्दानुवृत्ति च प्रदान देशकालयो.।
लोकानुवृत्तिरर्थाय विनयश्चाञ्जलिक्रिया ॥ १५

कर्म अर्थात् पुण्य सचयका कारण कहते हैं। जिससे अर्हत् आदिकी पूजा की जाती है उसे पूजाकर्म कहते हैं। जिससे कर्मोंका संक्रमण, उदय, उदीरणा आदि होकर निराकरण किया जाता है उसे विनयकर्म कहते हैं। ये सब वन्दनाके नामान्तर हैं। आ. अमितगतिने भी कहा है—कर्मरूपी जंगलको जलानेके लिए अग्निके समान पाँच परमेष्ठियोंका मन-वचन-कायकी शुद्धि पूर्वक नमस्कार करनेको विद्वान् वन्दना कहते हैं। मन-वचन-कायसे करनेसे उसके तीन भेद होते हैं ॥४६॥

आगे विनयका स्वरूप कहते हैं—

हितकी प्राप्ति और अहितका छेदन करनेके लिए, जो हितकी प्राप्ति और अहितके छेदन करनेके उपाय हैं उन उपायोंका सदा छल-कपटरहित भावसे माहात्म्य बढानेका प्रयत्न करना, उन उपायोंकी शक्तिको बढाना, इसे साधुजन विनय कहते हैं ॥४७॥

आगे विनयके पाँच भेद बताकर निर्जराके अभिलाषियोंको पाँचवे भेद मोक्षार्थ विनयको अवश्य पालनेका उपदेश देते हैं—

विनयके पाँच भेद कहते हैं—लोकानुवृत्तिहेतुक विनय, कामहेतुक विनय, अर्थहेतुक विनय, भयहेतुक विनय और मोक्षहेतुक विनय। व्यवहारीजनोंके अनुकूल आचरण करना लोकानुवृत्तिहेतुक विनय है। जिससे सब इन्द्रियाँ प्रसन्न हों उसे काम कहते हैं। जिस विनयका आश्रय काम है वह कामहेतुक विनय है। जिससे सब प्रयोजन सिद्ध होते हैं उसे अर्थ कहते हैं। अर्थमूलक विनय अर्थहेतुक विनय है। भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय है। और जिस विनयका आश्रय मोक्ष है अर्थात् मोक्षके लिए जो विनय की जाती है वह मोक्षहेतुक विनय है। जो मुमुक्षु कर्मोंकी निर्जरा करना चाहते हैं उन्हें मोक्षहेतुक विनय अवश्य करना चाहिए ॥४८॥

---

१. भयहे—भ. कु. च.।

कामतन्त्रे भये चैव ह्येवं विनय इष्यते ।
विनयः पञ्चमो यस्तु तस्यैपा स्यात्प्ररूपणा ॥' [ ]

अन्त्यः—मोक्षविनय । स च दर्शनादिभेदात् पञ्चधा प्राक् प्रपञ्चितः ॥४८॥

अथ नामादिनिक्षेपभेदात् पोढा वन्दना निर्दिशन्नाह—

नामोच्चारणमर्चाङ्गकल्याणावन्यनेहसाम् ।
गुणस्य च स्तवाश्चैकगुरोर्नामादिवन्दना ॥४९॥

अर्चा—प्रतिमा । कल्याणावन्यनेहसी—गर्भादिकल्याणाना भूमिः कालश्च ॥४९॥

अथावान्तरवन्द्यान् वन्दारुं च निर्दिशति—

सूरि-प्रवर्त्युपाध्याय-गणि-स्थविर-रात्निकान् ।
यथार्हं वन्दतेऽमान. संविग्नोऽनलसो यतिः ॥५०॥

विशेषार्थ—मूलाचारमे (७८३-८६) विनयके पाँच भेद बताकर उनका स्वरूप इस गर कहा है—किसीके आनेपर अपने आसनसे उठकर दोनों हाथ जोड़ना, अतिथिको सन देना, उसका सत्कार करना, मध्याह्नकालमे साधुके या अन्य किसी धार्मिकके आनेपर का बहुमान करना, अपने विभवके अनुसार देवपूजा करना ये सब लोकानुवृत्ति नामक नय है। अतिथिके मनके अनुकूल बोलना, उसके अनुकूल आचरण करना, देश-कालके ग्य दान देना यह सब भी लोकानुवृत्ति विनय है, लोगोको अपने अनुकूल करनेके लिए की ती है। इसी तरह अर्थके लिए जो विनय की जाती है वह अर्थहेतु विनय है। जैसे पैसेके ए धनीकी खुशामद करना। कामशास्त्रमे जो स्त्रीको अपने अनुकूल करनेके लिए विनय ही है वह कामहेतुक विनय है। किसी भयसे जो विनय की जाती है वह भयहेतुक विनय । और पहले जो दर्शन विनय आदि पाँच प्रकारकी विनय कही है वह मोक्षहेतुक नय है। मुमुक्षुको वह विनय अवश्य पालना चाहिए उसके विना कर्मोंकी निर्जरा नहीं सकती ॥४८॥

आगे नाम आदि निक्षेपके भेदसे छह प्रकारकी वन्दना कहते हैं—

वन्दनाके नामादि निक्षेपोकी अपेक्षा छह भेद हैं—नामवन्दना, स्थापनावन्दना, यवन्दना, कालवन्दना, क्षेत्रवन्दना और भाववन्दना। अर्हन्त आदिमे-से किसी भी एक त्य पुरुषका नाम उच्चारण अथवा स्तवन आदि नामवन्दना है। जिनप्रतिमाका स्तवन ापनावन्दना है। जिन भगवान्के शरीरका स्तवन द्रव्यवन्दना है। जिस भूमिमे कोई ल्याणक हुआ हो, उस भूमिका स्तवन क्षेत्रवन्दना है। जिस कालमे कोई कल्याणक हुआ । उस कालका स्तवन कालवन्दना है। और भगवान्के गुणोंका स्तवन भाववन्दना ॥४९॥

आगे अन्य वन्दनीय पुरुषोंको बतलाकर वन्दना करनेवाले साधुका स्वरूप तलाते हैं—

ससारसे भयभीत, निरालसी श्रमण आचार्य, प्रवर्तक, उपाध्याय, गणी, स्थविर तथा त्नत्रयके विशेष रूपसे आराधकोकी मानरहित होकर यथायोग्य वन्दना करता है ॥५०॥

विशेषार्थ—जो संघका पोषक, रक्षण और अनुग्रह तथा निग्रह करते है वे आचार्य कहे जाते हैं। जो आचार आदिमे प्रवृत्ति कराते है उन्हें प्रवर्तक कहते हैं। जिनके पास

सूरिः—सारणवारणकारो । प्रवर्ती—प्रवर्तकः । गणी—गणरक्षको राजसभाविदित[1] । स्थविरः—मर्यादाकारक । रात्निक —रत्नत्रयाधिक. । अमान.—अगर्वः ॥५०॥

अथ विधिवन्दनाया विप्रकर्षवशाद् विषयविभागार्थमाह— ३

गुरौ दूरे प्रवर्ताद्या वन्द्या दूरेषु तेष्वपि ।
संयतः संयतैर्वन्द्यो विधिना दीक्षया गुरुः ॥५१॥

गुरौ—आचार्ये । दूरे—देशाद्यन्तरिते । गुरु.—ज्येष्ठ. ॥५१॥ ६

अथ सागारेतरयत्योरवन्दनीयान्निर्दिशति—

श्रावकेणापि पितरौ गुरू राजाऽप्यसंयताः ।
कुलिङ्गिनः कुदेवाश्च न वन्द्याः सोऽपि संयतैः ॥५२॥ ९

श्रावकेणापि—यथोक्तानुष्ठाननिष्ठेन सागारेणापि किं पुनरनगारेणेत्यपि शब्दार्थ. । गुरू—दीक्षागुरुः शिक्षागुरुश्च । कुलिङ्गिनः—तापसादय पार्श्वस्थादयश्च । कुदेवा.—रुद्रादय शासनदेवतादयश्च । सोऽपि—शास्त्रोपदेशा[2]दिकारी श्रावकोऽपि ॥५२॥ १२

मुनिजन शास्त्राध्ययन करते हैं उन्हें उपाध्याय कहते हैं। गणके रक्षक साधुको गणी कहते हैं। मर्यादाके कारक साधुओंको स्थविर कहते हैं। इन सभीकी वन्दना साधुओंको करना चाहिए ॥५०॥

आगे आचार्य आदिके दूर रहनेपर वन्दनाके विषयविभागको बतलाते हैं—

यदि आचार्य देशान्तरमें हों तो मुनियोंको कर्मकाण्डमें कही गयी विधिके अनुसार प्रवर्तक आदिकी वन्दना करनी चाहिए। यदि वे भी दूर हों तो मुनियोंको जो अपनेसे दीक्षामे ज्येष्ठ मुनि हों, उनकी वन्दना करनी चाहिए ॥५१॥

देश संयमी श्रावकों और मुनियोंको जिनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए उनका निर्देश करते हैं—

मुनिकी तो बात ही क्या, यथोक्त अनुष्ठान करते हुए श्रावकको भी माता-पिता, शिक्षा-गुरु, दीक्षा-गुरु और राजा यदि असंयमी हों तो उनकी वन्दना नहीं करनी चाहिए। तथा तापस आदि और पार्श्वस्थ आदि कुलिंगियोंकी व रुद्र आदि और शासन देवता आदि कुदेवोंकी भी वन्दना नहीं करनी चाहिए। और श्रावक यदि शास्त्रोपदेशका अधिकारी भी हो तो भी उसकी वन्दना मुनिको नहीं करनी चाहिए ॥५२॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें श्रावकके लिए इनकी वन्दनाके निषेधका कथन नहीं है। उसमें केवल मुनिके द्वारा जो अवन्दनीय हैं उन्हींका निर्देश है। यथा[3]—टीकाकार आचार्य वसुनन्दीने उसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि होकर मोहवश असंयमी माता-पिता वा अन्य किसीकी स्तुति नहीं करनी चाहिए। भय या लोभसे राजाकी स्तुति न करे। ग्रह आदिकी पीडाके भयसे सूर्य, चन्द्र, नाग, यक्ष आदिको न पूजे। शास्त्र आदिके लोभसे अन्य धर्मियोंकी स्तुति न करे। आहार आदिके निमित्त श्रावककी स्तुति न करे। या श्रावक शास्त्र आदिका पण्डित हो तो भी उसकी वन्दना न करे। अपना गुरु भी यदि भ्रष्ट हो गया हो तो

---

१. -भादिवि—भ कु. च.।
२ देशाधिका—भ. कु. च.।
३. 'णो वदेज्ज अविरद मादा पिदु गुरु णरिदं अण्णतित्थं व्व ।
देशविरद देव वा विरदो पासत्थ पणग च ॥'—मूलाचार, ७।९५ ।

अथ संयतेऽपि वन्दनाविधिनियमार्थमाह—

वन्द्यो यतोऽप्यनुज्ञाप्य काले साध्वासितो न तु।
व्याक्षेपाहारनीहारप्रमादविमुखत्वयुक् ॥५३॥

अनुज्ञाप्य—भगवन् वन्देऽहमिति विज्ञापनया वन्दस्वेत्यनुज्ञा कारयित्वा इत्यर्थः। साध्वासित.—सम्यगुपविष्ट। उक्त च—

'आसने ह्यासनस्थ च शान्तचित्तमुपस्थितम्।
अनुज्ञाप्यैव मेधावी कृतिकर्म निवर्तयेत् ॥' [ ]

नेत्यादि। उक्त च—

'व्याक्षिप्त च पराचीन मा वन्दिष्ठा. प्रमादिनम्।
कुर्वन्तं सन्तमाहारं नीहार चापि संयतम् ॥' [ ] ॥५३॥

अथ काल इति व्याचष्टे—

वन्द्या दिनादौ गुर्वाद्या विधिवद्विहितक्रियैः।
मध्याह्ने स्तुतदेवैश्च सायं कृतप्रतिक्रमैः ॥५४॥

विहितक्रियै.—कृतप्राभातिकानुष्ठानै। स्तुतदेवैश्च, चशब्दोऽत्र नैमित्तिकक्रियानन्तरं विधिवन्दनासमुच्चयार्थ ॥५४॥

उसकी वन्दना न करे। अन्य भी कोई अपना उपकारी यदि असंयमी हो तो उसकी वन्दना न करे। तथा पार्श्वस्थ आदि पाँच भ्रष्ट मुनियोंकी वन्दना न करे। पं. आशाधरजीने मूलाचारके इस कथनको श्रावक पर लगाया है क्योंकि उन्होंने शायद सोचा होगा मुनि तो ऐसा करेगा नहीं। श्रावक ही कर सकता है ॥५२॥

आगे संयमियोंकी भी वन्दनाकी विधिके नियम बताते हैं—

संयमी साधुको संयमी साधुकी वन्दना भी वन्दनाके योग्य कालमें जब वन्दनीय साधु अच्छी तरह से बैठे हुए हों, उनकी अनुज्ञा लेकर, करना चाहिए। यदि वन्दनीय साधु किसी व्याकुलतामें हो, या भोजन करते हों, या मल-मूत्र त्याग करते हों, या असावधान हों या अपनी ओर उन्मुख न हों तो वन्दना नहीं करनी चाहिए ॥५३॥

विशेषार्थ—वन्दना उचित समय पर ही करनी चाहिए। साथ ही जिन साधुकी वन्दना करनी हो उनको सूचित करके कि भगवन्! मैं वन्दना करता हूँ, उनकी अनुज्ञा मिलने पर वन्दना करनी चाहिए। कहा है—जब वन्दनीय साधु एकान्त प्रदेशमें पर्यंक आदि आसनसे बैठे हों, उनका चित्त स्वस्थ हो तब वन्दना करनी चाहिए। तथा वन्दना करनेसे पहले उनसे निवेदन करना चाहिए कि मैं आपकी वन्दना करना चाहता हूँ। यदि वे कार्य व्यग्र हों, उनका ध्यान उस ओर न हो तो ऐसी अवस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए। कहा है—'जब उनका चित्त ध्यान आदिमें लगा हो, या वह उधरसे मुँह मोड़े हुए हों, प्रमादसे ग्रस्त हो, आहार करते हो या मलमूत्र त्यागते हों तो ऐसी अवस्थामें वन्दना नहीं करनी चाहिए'॥५३॥

आगे वन्दनाका काल कहते हैं—

प्रातःकालमें प्रातःकालीन अनुष्ठान करनेके पश्चात्, क्रियाकाण्डमें कहे हुए विधानके अनुसार, आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए। मध्याह्नमें देव वन्दनाके पश्चात् वन्दना करनी चाहिए। और सन्ध्याके समय प्रतिक्रमण करके वन्दना करनी चाहिए। 'च' शब्दसे प्रत्येक नैमित्तिक क्रियाके अनन्तर वन्दना करनी चाहिए ॥५४॥

अथाचार्यशिष्ययोः शेषयतीनां च वन्दनाप्रतिवन्दनयोर्विभागनिर्णयार्थमाह[1]—

सर्वत्रापि क्रियारम्भे वन्दनाप्रतिवन्दने ।
गुरुशिष्यस्य साधूनां तथा मार्गादिदर्शने ॥५५॥ ३

गुरुशिष्यस्य—गुरुश्च शिष्यश्चेति समाहारः । मार्गादि—आदिशब्दान्मलोत्सर्गोत्तरकालं कायोत्सर्गानन्तरदर्शनेऽपि ॥५५॥

अथ सामायिकादित्रयस्य व्यवहारानुसारेण प्रयोगविधिं दर्शयति— ६

सामायिकं णमो अरहंताणमिति प्रभृत्यथ स्तवनम् ।
थोसामीत्यादि जयति भगवानित्यादिवन्दनां युञ्ज्यात् ॥५६॥

जयति भगवानित्यादि । अत्रैक आदिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तेन अर्हत्सिद्धादिवन्दना गृह्यते ॥५६॥ ९

अथ प्रतिक्रमणस्य लक्षणविकल्पनिर्णयार्थमाह—

आगे आचार्य और शिष्यमें तथा शेष संयमियोमें वन्दना और प्रतिवन्दनाका निर्णय करते हैं—

सभी नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्मके प्रारम्भमें शिष्यको आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए और उसके उत्तरमें आचार्यको शिष्यकी वन्दना करनी चाहिए। इसके सिवाय मार्गमें अन्य यतियोंको देखनेपर परस्परमें वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिए। आदि शब्दसे मलत्यागके पश्चात् तथा कायोत्सर्गके पश्चात् यतियोंको देखनेपर परस्परमें वन्दना-प्रतिवन्दना करनी चाहिए ॥५५॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१०२) में कहा है कि आलोचना करते समय, छह आवश्यक करते समय, प्रश्न करते समय, पूजा करते समय, स्वाध्याय करते समय और क्रोध आदि अपराध होनेपर आचार्य आदिकी वन्दना करनी चाहिए ॥५५॥

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव और वन्दनाका वर्णन करनेके पश्चात् व्यवहारके अनुसार इन तीनोंकी प्रयोग विधि बतलाते है—

संयमी साधुओंको और देशसंयमी श्रावकोंको 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिक-दण्डकपूर्वक प्रथम सामायिक करना चाहिए। उसके पश्चात् 'थोस्सामि' इत्यादि स्तव-दण्डक पूर्वक चतुर्विंशतिस्तव करना चाहिए। उसके पश्चात् 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्तिपूर्वक वन्दना करनी चाहिए ॥५६॥

विशेषार्थ—दशभक्ति नामक शास्त्रके प्रारम्भमें सामायिक दण्डक दिया है। इसमें णमोकार मन्त्र चत्तारि मंगल आदि दण्डक देकर कृतिकर्म करनेकी प्रतिज्ञा आदि है। इस सबको भाव सहित पढकर सामायिक करना चाहिए। इसके पश्चात् 'थोस्सामि हं जिणवरे' इत्यादि स्तुति तीर्थंकरोंकी है इस दण्डकको पढकर चतुर्विंशतिस्तव करना चाहिए। चैत्य-भक्तिके प्रारम्भमें 'जयति भगवान्' इत्यादि चैत्यभक्ति है इसे पढकर वन्दना करनी चाहिए। यह इनकी विधि है। आदि शब्दसे अर्हन्त, सिद्ध आदिकी भी वन्दना की जाती है ॥५६॥

आगे चतुर्थ आवश्यक प्रतिक्रमणके भेद और लक्षण कहते हैं—

---

१. -योर्विपर्यवि—भ. कु. च. ।

अहर्निशापक्षचतुर्मासाब्देर्योत्तमार्थभूः ।
प्रतिक्रमस्त्रिधा ध्वंसो नामाद्यालम्बनागसः ॥५७॥

३ अहरित्यादि। अह , सवत्सर , ईर्यापथ । उत्तमार्थः निःशेषदोषालोचनपूर्वकाङ्गविसर्गसमर्थो यावज्जीव चतुर्विधाहारपरित्याग । अहरादिषु सप्तसु भवत्यहरादयो वा सप्त भुवो विषया यस्येत्याह्निकादिभेदात् सप्तविध इत्यर्थः । उक्त च—

६ 'ऐर्यापथिकरात्र्युत्थं प्रतिक्रमणमाह्निकम् ।
पाक्षिकं च चतुर्मासवर्षोत्थं चोत्तमार्थिकम् ॥' [ ]

तथालोचनापूर्वकत्वात्प्रतिक्रमणाया सापि तद्वत् सप्तधा स्यादित्यपि बोद्धव्यम् । उक्तं च—

९ 'आलोचणं दिवसियं राइय इरियावहं च बोद्धव्व ॥
पक्खय-चाउम्मासिय संवच्छरमुत्तमट्ठं च ॥' [मूलाचार, गा. ६१९]

त्रिधा—मनोवाक्कायै कृतकारितानुमतैश्च । अथवा निन्दनगर्हणालोचनैर्मनोवाक्कायैर्वा । ध्वंस.—आत्मनोऽपसारणमिति ग्राह्यम् ।

१२

नामस्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आलम्बनसे उत्पन्न हुए अपराधके अथवा संचित हुए पापके मन-वचन-काय, अथवा कृत, कारित, अनुमोदनाके द्वारा दूर करनेको प्रतिक्रमण कहते हैं। दिन, रात, पक्ष, चतुर्मास, वर्ष, ईर्यापथ और उत्तमार्थके भेदसे प्रतिक्रमणके सात भेद हैं ॥५७॥

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण कहते है लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिको। दोष लगनेके आलम्बन हैं नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव। अतः उनके शोधनको नामप्रतिक्रमण, स्थापनाप्रतिक्रमण, द्रव्यप्रतिक्रमण, क्षेत्रप्रतिक्रमण, कालप्रतिक्रमण और भावप्रतिक्रमण कहते है। कहा है—'प्रमादसे लगे हुए दोषोंसे अपनेको दूर करके गुणोंकी ओर प्रवृत्ति करना प्रतिक्रमण है। अथवा किये हुए दोषोंकी विशुद्धिको प्रतिक्रमण कहते है। यह दोषविशुद्धि निन्दा, आलोचना और गर्हणासे की जाती है। अर्थात् अपराधी व्यक्ति अपने किये गये दोषोके लिए अपनी निन्दा और गर्हा करता है, गुरुसे अपने दोषको कहता है। इस तरह अन्तरंगसे पश्चात्ताप करनेसे किये हुए दोषोंकी विशुद्धि होती है।' इसीसे सामायिक पाठमे कहा है—'जैसे वैद्य मन्त्रके गुणोंसे समस्त विषको नष्ट कर देता है वैसे ही मै विनिन्दा, आलोचना और गर्हाके द्वारा मन-वचन-काय और कपायके द्वारा किये गये पापको, जो सांसारिक दुःखोंका कारण है, नष्ट करता हूँ।' यह प्रतिक्रमण दिनमे, रातमें, पन्द्रह दिनमे, चार-चार मासमें तथा वर्ष आदिमे किया जाता है इससे उसके सात प्रकार हैं। दिनके समय नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावके आश्रयसे होनेवाले कृत कारित और अनुमत दोषका मन-वचन कायसे शोधन करना दैवसिक प्रतिक्रमण है। रात्रिके समयमे होनेवाले छह प्रकारके कृत-कारित और अनुमत दोषोका मन-वचन-कायसे शोधन करना रात्रिक प्रतिक्रमण है। छह कायके जीवोंके विषयमे लगे हुए दोषोंका विशोधन करना ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण है। पन्द्रह दिन-रातोंमे छह नामादिके आश्रयसे हुए कृत, कारित, अनुमत दोषका मन-वचन-कायसे शोधन करना पाक्षिक प्रतिक्रमण है। इसी प्रकार चार-चार मासमे हुए दोषोंका विशोधन चातुर्मासिक और एक वर्षमे हुए दोषोंका विशोधन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण है। समस्त दोषोकी आलोचना करके जीवनपर्यन्तके लिए चारो प्रकारके आहारका त्याग

'विनिन्दनालोचनगर्हणैरहं मनोवच'कायकषायनिर्मितम् ।
निहन्मि पापं भवदुःखकारणं भिषग्विषं मन्त्रगुणैरिवाखिलम् ॥'
[द्वात्रिंशतिका] ३

नामेत्यादि—नामस्थापनादिषट्काश्रितस्यापराधस्य पापस्य वेत्यर्थं । तदेतत् प्रतिक्रमणलक्षणम् । उक्त च—

'प्रमादप्राप्तदु खेभ्यः प्रत्यावृत्य गुणावृति । ६
स्यात्प्रतिक्रमणा यद्वा कृतदोषविशोधना ॥' [ ] ॥५७॥

अथैवमाचारशास्त्रमतेन सप्तविधं प्रतिक्रमणमभिधाय शास्त्रान्तरोक्ततद्भेदान्तराणामत्रैवान्तर्भावप्रकाशनार्थमाह— ९

सोऽन्त्ये गुरुत्वात् सर्वातीचारदीक्षाश्रयोऽपरे ।
निषिद्धिकेर्यालुञ्चाशदोषार्थश्च लघुत्वतः ॥५८॥

उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है। इसमें सब दोषोंके प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव हो जाता है। ये सभी प्रतिक्रमण साधुके लिए यथासमय करणीय होते हैं।

श्वेताम्बरीय स्थानांग सूत्र (स्था० ६ठा) मे छह प्रतिक्रमण कहे है—उच्चार, प्रश्रवण, इत्वर, यावत्कथिक, यत्किंचन मिथ्या और स्वापनान्तिक। मलत्याग करनेके बाद जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह उच्चार प्रतिक्रमण है। मूत्रत्याग करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है वह प्रश्रवण प्रतिक्रमण है। अल्पकालीन प्रतिक्रमणको इत्वर कहते है इसमे दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण आ जाते हैं। यावज्जीवनके लिए भोजनका त्याग यावत्कथिक प्रतिक्रमण है। नाक, कफ आदि त्यागनेमें जो दोष लगता है वह मिथ्या हो इस प्रकारके प्रतिक्रमणको यत्किंचित् मिथ्या प्रतिक्रमण कहते है। सोते समय हुए दोषोंके लिए या स्वप्नमे किये हिंसा आदि दोषोंको दूर करनेके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको स्वापनान्तिक कहते है। आवश्यक सूत्रमे दैवसिक, रात्रिक, इत्वर, यावत्कथिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक, वार्षिक और उत्तमार्थ भेद कहे है। उसकी टीकामे यह प्रश्न किया गया है कि जब प्रतिदिन किये जानेवाले प्रतिक्रमणसे ही दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है तब पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणोंकी क्या आवश्यकता है। इसके उत्तरमे घरका दृष्टान्त देते हुए कहा है कि जैसे घरकी सफाई प्रतिदिन की जाती है फिर भी पक्ष आदि बीतनेपर विशेष रूपसे सफाई की जाती है वैसे ही प्रतिक्रमणके सम्बन्धमे भी जानना चाहिए ॥५७॥

इस प्रकार आचारशास्त्रके मतसे सात प्रकारके प्रतिक्रमणको कहकर अन्य शास्त्रोमे कहे गये प्रतिक्रमणके भेदोंका इन्हींमे अन्तर्भाव दिखलाते है—

सर्वातिचार सम्बन्धी और दीक्षा सम्बन्धी प्रतिक्रमण अन्तके उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमे अन्तर्भूत होते हैं क्योकि उन प्रतिक्रमणोमे भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ बहुत हैं। तथा निषिद्धिका गमन, केशलोंच, गोचरी और दु स्वप्न आदि अतीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक आदि प्रतिक्रमणोंमे होता है, क्योकि इनमें भक्ति उच्छ्वास और दण्डकपाठ अल्प होते हैं ॥५८॥

---

१ 'पडिकमण देवसिअ राइअं च इत्तरिअमावकहिय च ।
पक्खिअ चाउम्मासिअ सवच्छरि उत्तमट्ठे अ' ॥—आवश्यक ४।२१ ।

स इत्यादि । स'—प्रतिक्रम । अन्त्ये—उत्तमार्थे । गुरुत्वात्—भक्त्युच्छ्वासदण्डकपाठबहुत्वात् । सर्वातिचारा —दीक्षाग्रहणात् प्रभृति संन्यासग्रहणं यावत् कृता दोषा.। दीक्षा—व्रतादानम् । सर्वातिचार-
३ प्रतिक्रमणा व्रतारोपणप्रतिक्रमणा चोत्तमार्थप्रतिक्रमणाया गुरुत्वादन्तर्भवत इत्यर्थ.। एतेन बृहत्प्रतिक्रमणाः सप्त स्युरित्युक्त स्यात् । ताश्च यथा—व्रतारोपणी पाक्षिकी कार्तिकान्तचातुर्मासी फाल्गुनान्तचातुर्मासी आषाढान्तसांवत्सरी सार्वातिचारी उत्तमार्थी चेति । सातिचारी[१] त्रिविधाहारव्युत्सर्जनी[२] ता यौतयो (?)
६ रेवान्तर्भवत । तथा पञ्चसवत्सरान्ते विधेया यौगान्ती प्रतिक्रमणा सावत्सरप्रतिक्रमणायामन्तर्भवति । उक्त च—

'व्रतादाने च पक्षान्ते कार्तिके फाल्गुने शुचौ ।
९ स्यात् प्रतिक्रमणा गुर्वी दोषे संन्यासने मृते ॥' [ ]

अपर इत्यादि । अपरे—अन्यत्र आह्निकादौ प्रतिक्रमणे । निषिद्धिकेर्या—निषेधिका(निषिद्धिका)-गमनम् । लुञ्चो—दीक्षाग्रहणोत्तरकालं द्वित्रिचतुर्मासविधेय हस्तेन केशोत्पाटनम् । आश —भोजनम् । दोष.—
१२ दुस्वप्नाद्यतीचार । निषिद्धकेर्या च लुञ्चश्चाशश्च दोषश्च । ते चत्वारोऽर्या निमित्तानि यस्य स तथोक्त । इदमत्र तात्पर्यं निषिद्धिकागमनप्रतिक्रमणा लुञ्चप्रतिक्रमणा चेत्यर्थ ॥५८॥

विशेषार्थ—दीक्षा लेनेके समयसे लेकर संन्यास ग्रहण करनेके समय तक जो दोष होते है उन सबकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको सर्वातीचार प्रतिक्रमण कहते हैं। व्रत ग्रहण करनेमे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए किये जानेवाले प्रतिक्रमणको व्रतारोपण प्रतिक्रमण कहते हैं। ये दोनों ही प्रतिक्रमण गुरु हैं, प्रतिक्रमणके लिए जो भक्ति आदि करनी होती है वह इनमे अधिक करनी होती है। अतः इन दोनोंका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमे होता है। अतः बृहत् प्रतिक्रमण सात होते हैं, यह निष्कर्ष निकलता है। वे इस प्रकार हैं—व्रतारोपण, पाक्षिक, कार्तिकान्त चातुर्मासिक, फाल्गुनान्त चातुर्मासिक, आषाढान्त वार्षिक, सर्वातीचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ। अतिचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव सर्वातीचार सम्बन्धी प्रतिक्रमणमें होता है। और जिसमे तीन प्रकारके आहारका त्याग किया जाता है उसका अन्तर्भाव उत्तमार्थ प्रतिक्रमणमे होता है। तथा पाँच वर्षके अन्तमें किये जानेवाले युगान्त प्रतिक्रमणका अन्तर्भाव वार्षिक प्रतिक्रमणमे होता है। इस तरह बृहत् प्रतिक्रमण सात है। कहा है—'व्रत ग्रहण करनेपर, पक्षके अन्तमे, कार्तिक मास, फाल्गुन मास और आषाढ मासके अन्तमे, दोष लगनेपर तथा समाधिपूर्वक मरणमे गुरु प्रतिक्रमण होता है' ॥५८॥

निषिद्धिकामे गमन करनेको निषिद्धिकागमन कहते है। दीक्षा ग्रहण करनेके बाद दो मास, तीन मास, या चार मास बीतनेपर जो हाथसे केश उखाड़े जाते हैं उसे लोंच कहते हैं। भोजनको अशन या गोचर कहते है। दु.स्वप्न आदि अतीचारको दोष कहते है। इन चारोको लेकर भी प्रतिक्रमण किया जाता है। अतः उन्हें निषिद्धिकागमन प्रतिक्रमण, लुंच प्रतिक्रमण, गोचार प्रतिक्रमण और अतीचार प्रतिक्रमण कहते हैं। ये चारो प्रतिक्रमण लघु होनेसे इनका अन्तर्भाव ईर्यापथ आदि प्रतिक्रमणोमे होता है। उनमेसे प्रथमका अन्तर्भाव ऐर्यापथिक प्रतिक्रमणमें और अन्तिमका अन्तर्भाव रात्रि प्रतिक्रमणमे तथा

---

१ -रो सार्वातिचार्यां त्रि—भ. कु च ।
२. नी चोत्तमार्थ्यां प्रतिक्रमणायामन्त—भ. कु च. ।

अथ प्रतिक्रान्तिक्रियाया कर्तृकर्मकरणाधिकरणकारकाणि लक्षयति—

स्यान्नामादिप्रतिक्रान्तिः परिणामनिवर्तनम् ।
दुर्नामस्थापनाभ्यां च सावद्यद्रव्यसेवनात् ॥५९॥ ३
क्षेत्रकालाश्रितादागाद्याश्रिताच्चातिचारत. ।
परिणामनिवृत्तिः स्यात् क्षेत्रादीनां प्रतिक्रमः ॥६०॥
स्यात् प्रतिक्रमकः साधुः प्रतिक्रम्य तु दुष्कृतम् । ६
येन यत्र च तच्छेदस्तत्प्रतिक्रमणं मतम् ॥६१॥

प्रतिक्रमक —प्रतिक्रमति प्रतिगच्छति द्रव्यादिविपयादतिचारान्निवर्तते दोपनिर्हरणे वा प्रवर्तत इति प्रतिक्रमक । पञ्चमहाव्रतादिश्रवणधारणदोपनिर्हरणतत्पर इत्यर्थ. । प्रतिक्रम्यं—परित्याज्यम् । दुष्कृत— ९ मिथ्यात्वाद्यतिचाररूपं पाप तन्निमित्तद्रव्यादिक वा । येन—मिथ्यादुष्कृताभिधानाभिव्यक्तपरिणामेनाक्षरकदम्बकेन वा । यत्र—यस्मिन् व्रतशुद्धिपूर्वकव्रतस्वरूपे[1] व्रतशुद्धिपरिणते वा जीवे । उक्तं च—

शेष दो का अन्तर्भाव दैवसिक प्रतिक्रमणमे होता है। इस तरह लघु प्रतिक्रमण[2] भी सात होते हैं। कहा है—केशलोंच, रात्रि, दिन, भोजन, निषिद्धिकागमन, मार्ग और दोषको लेकर सात लघु प्रतिक्रमण होते हैं। प्रतिक्रमणमें दोषोंके अनुसार भक्तिपाठ, कायोत्सर्ग आदि किया जाता है। जिन दोषोंकी विशुद्धिके लिए ये अधिक किये जाते हैं उनके प्रतिक्रमणको गुरु कहते हैं और जिनकी विशुद्धिके लिए ये कम किये जाते है उन्हें लघु कहते हैं ॥५८॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा नाम आदि छह प्रतिक्रमणोंको कहते हैं—

नाम प्रतिक्रमण, स्थापना प्रतिक्रमण, द्रव्य प्रतिक्रमण, क्षेत्र प्रतिक्रमण, काल प्रतिक्रमण और भाव प्रतिक्रमण ये छह प्रतिक्रमण हैं। जो नाम पापके कारण हैं उनके उच्चारण आदिसे परिणामोंकी निवृत्तिको नाम प्रतिक्रमण कहते हैं। सरागी देवोंकी स्थापनामूलक परिणामोंसे निवृतिको स्थापना प्रतिक्रमण कहते है। जो भोज्य आदि वस्तु हिंसा आदि पापसे युक्त है उसके सेवनसे परिणामोंकी निवृत्तिको द्रव्य प्रतिक्रमण कहते है। क्षेत्र सम्बन्धी दोषोसे परिणामोंकी निवृत्तिको क्षेत्र प्रतिक्रमण कहते हैं। काल सम्बन्धी दोषोंसे परिणामोकी निवृत्तिको काल प्रतिक्रमण कहते हैं। और राग-द्वेष-मोह सम्बन्धी परिणामोंकी निवृत्तिको भाव प्रतिक्रमण कहते हैं ॥५९-६०॥

आगे प्रतिक्रमणरूप क्रियाके कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण कारक बताते हैं—

पाँच महाव्रत आदिके श्रवण और धारणमें लगनेवाले दोषोंको दूर करनेमे तत्पर साधु प्रतिक्रमणका कर्ता होता है। मिथ्यात्व आदि दोषरूप पाप अथवा उसमे निमित्त द्रव्यादि, जो कि छोडने योग्य होते हैं वे प्रतिक्रमणरूप क्रियाके कर्म है। 'मेरे समस्त पाप मिथ्या होवें' इस प्रकारके शब्दोंसे प्रकट होनेवाले जिस परिणामसे अथवा प्रतिक्रमण पाठके जन अक्षरसमूहसे पापोका छेद होता है वे करण हैं। और जिस व्रतशुद्धि पूर्वकरूपमे अथवा व्रत शुद्धिरूप परिणत जीवमे दोषोंका छेद होता है वे प्रतिक्रमणके अधिकरण हैं ॥६१॥

---

१. -कत्वरूपे भ. क. च ।

२ 'लुञ्चे रात्रौ दिने भुक्ते निषेधिकागमने पथि ।
स्यात् प्रतिक्रमणा लघ्वी तथा दोषे तु सप्तमी ॥' [ ]

'जीवो दु पडिक्कमओ दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
पडिगच्छदि जेण जहिं तं तस्स भवे पडिक्कमणं ॥'
३ पडिकमिदव्वं दव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सयं तिविहं।
खेत्त च गिहादीयं कालो दिवसादिकालम्हि ॥
मिच्छत्तपडिक्कमणं तहेव असजमे पडिक्कमणं।
६ कसाएसु पडिक्कमण जोगेसु य अप्पसत्थेसु ॥ [मूलाचार, गा. ६१५-६१७] ॥६१॥

अथ प्रतिक्रमणप्रयोगमाह—

निन्दा-गर्हालोचनाभियुक्तो युक्तेन चेतसा।
पठेद्वा शृणुयाच्छुद्धयै कर्मघ्नान्नियमान् समान् ॥६२॥

९ निन्देत्यादि। कृतदोषस्यात्मसाक्षिक 'हा दुष्ट कृतमिति चेतसि भावनं निन्दा। तदेव गुरुसाक्षिक गर्हा। गुणदोषनिवेदनमालोचनम्। तेष्वभियुक्तोऽभ्युत्थित उद्यत इति यावत्। तैर्वा अभि समन्ताद् युक्त परिणत। भावप्रतिक्रमणसमाहित इत्यर्थ। तथा चोक्तम्—

१२ 'आलोयणणिंदणगरहणाहिं अब्भुट्ठिओ अकरणाए।
त भावपडिक्कमण सेसं पुण दव्वदो भणिद ॥' [मूलाचार, गा. ६२३]

विशेषार्थ—जो प्रतिक्रमण करता है वह कर्ता होता है। वह जिन दोषोका प्रतिक्रमण करता है वे दोष उसके कर्म होते हैं। जिन परिणामोंसे अथवा पाठादिसे दोषोंकी शुद्धि की जाती है वे परिणामादि उसके करण होते हैं और प्रतिक्रमणका आधार व्रतादि या व्रतधारी जीव अधिकरण होता है। इस तरह प्रतिक्रमणरूप क्रियाके ये कर्ता, कर्म, करण और अधिकरण होते हैं, इनके बिना क्रिया नहीं हो सकती। मूलाचारमे कहा है—आहार, पुस्तक, औषध, उपकरण आदि द्रव्यके विषयमे, शयन, आसन, स्थान गमन आदिके विषयभूत क्षेत्रके विषयमे, घड़ी, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, सन्ध्या, पर्व आदि कालके विषयमे, राग द्वेष आदि रूप भावके विषयमे, लगे दोषोको और उनके द्वारा आगत कर्मोंको नष्ट करनेमे तत्पर जीव प्रतिक्रमणका कर्ता होता है। जिस परिणामके द्वारा व्रत-विषयक अतीचारका शोधन करके पूर्वव्रतोंकी शुद्धि की जाती है उसे प्रतिक्रमण कहते है। सचित्त, अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्य, दिन, मुहूर्त, वर्षा आदि काल, घर नगर आदि क्षेत्र प्रतिक्रमणके योग्य हैं। अर्थात् जिस क्षेत्र काल और द्रव्यसे पापका आगमन होता है वह द्रव्य क्षेत्र काल त्यागने योग्य हैं। अथवा जिस कालमे प्रतिक्रमण कहा है उसी कालमें करना चाहिए। अर्थात् अप्रासुक द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव त्यागने योग्य है और उनके द्वारा लगे दोषोका शोधन करना चाहिए। मिथ्यात्व, असंयम, कषाय और अशुभयोग सम्बन्धी दोषोका शोधन करना भाव प्रतिक्रमण है ॥६१॥

आगे प्रतिक्रमणकी विधि कहते हैं—

निन्दा, गर्हा और आलोचनामें तत्पर साधुको सावधान चित्तसे सब कर्मोंका घात करनेवाले सब प्रतिक्रमण पाठोको दोषोंकी शुद्धिके लिए पढना चाहिए या आचार्य आदिसे सुनना चाहिए ॥६२॥

विशेषार्थ—अपनेसे जो दोष हुआ हो उसके लिए स्वयं ही अपने मनमे ऐसी भावना होना कि खेद है मुझसे ऐसा दोष हो गया' इसे निन्दा कहते हैं। यदि ऐसी भावना गुरु के सामने की जाये तो इसे गर्हा कहते है और गुरुसे दोष निवेदन करने को आलोचना कहते

युक्तेन समाहितेन तदर्थनिष्ठेनेत्यर्थः । पठेत्—उच्चरेत् । शुद्धयै—विपुलकर्मनिर्जरार्थम् । उक्तं च—

'भावयुक्तोऽर्थतन्निष्ठः सदा सूत्रं तु यः पठेत् ।
स महानिर्जरार्थाय कर्मणो वर्तते यतिः ॥' [ ] ३

नियमान्—प्रतिक्रमणदण्डकान् । समान्—सर्वान् । व्यवहाराविरोधेन पठेदिति सबन्धः । आवृत्या समान् कर्मघ्नानित्यपि योज्यम्, सर्वेषां कर्मणां हन्तृत्वोपदेशार्थम् । इदमत्र तात्पर्यं, यस्मादैदयुगीना दुष्षमा-कालानुभावाद् वक्रजडीभूता स्वयमपि कृतं व्रताद्यतिचारं न स्मरन्ति चलचित्तत्वाच्चासकृत्प्रायशोऽपराध्यन्ति तस्मादीर्यादिषु दोषो भवतु वा मा भवतु तैः सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सर्वप्रतिक्रमणदण्डकाः प्रयोक्तव्याः । तेषु यत्र क्वचिच्चित्तं स्थिरं भवति तेन सर्वोऽपि दोषो विशोध्येत । ते हि सर्वेऽपि कर्मघातसमर्थाः । तथा चोक्तम्—

'सप्रतिक्रमणो धर्मो जिनयोरादिमान्त्ययोः ।
अपराधे प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
यदोपजायते दोष आत्मन्यन्यतरत्र वा ।
तदैव स्यात् प्रतिक्रान्तिर्मध्यमानां जिनेशिनाम् ॥
ईर्यागोचरदुःस्वप्नप्रभृती वर्ततां न वा ।
पौरस्त्यपश्चिमाः सर्वे प्रतिक्रामन्ति निश्चितम् ॥
मध्यमा एकचित्ता यदमूढदृढबुद्धयः ।
आत्मनानुष्ठितं तस्माद् गर्हमाणाः सृजन्ति तम् ॥
पौरस्त्यपश्चिमा यस्मात्समोहाश्चलचेतसः ।
ततः सर्वप्रतिक्रान्तिरन्धोऽश्वोऽत्र निदर्शनम् ॥' [ ] ॥६२॥

हैं । इनसे युक्त साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होता है । मूलाचारमें कहा है—'आलोचना, निन्दा और गर्हामें तत्पर होकर पुनः दोष न लगानेको भावप्रतिक्रमण कहते हैं । उसके बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमण है । इस भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण सम्बन्धी पाठोंको मन लगाकर पढ़ना या सुनना चाहिए ।' इससे कर्मोंकी निर्जरा होती है । कहा है—'जो साधु भावप्रतिक्रमणसे युक्त होकर और उसके अर्थमें मन लगाकर सदा प्रतिक्रमण सूत्रको पढ़ता है वह कर्मोंकी महान् निर्जरा करता है ।'

तात्पर्य यह है कि इस युगके साधु पंचम कालके प्रभावसे वक्रजड होते हैं अर्थात् अज्ञानी होनेके साथ कुटिल भी होते हैं । इससे वे अपने ही द्वारा व्रतादिमें लगाये दोषोंको भूल जाते हैं उन्हें उनका स्मरण नहीं रहता । तथा चंचल चित्त होनेसे प्रायः बार-बार दोष लगाते हैं । इसलिए गमनादिमें दोष लगे या न लगे, उन्हें समस्त दोषोंकी विशुद्धिके लिए सभी प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढ़ना चाहिए । उनमें-से जिस किसीमें भी चित्त स्थिर होता है उससे सभी दोषोंकी विशुद्धि हो जाती है क्योंकि वे सभी प्रतिक्रमणदण्डक कर्मोंका घात करनेमें समर्थ हैं किन्तु उनमें चित्त स्थिर होना चाहिए । मूलाचारमें कहा भी है—प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और अन्तिम तीर्थंकर महावीरका धर्म प्रतिक्रमण सहित था । अपराध हुआ हो या न हुआ हो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए । किन्तु अजितनाथसे लेकर पार्श्वनाथ पर्यन्त मध्यम तीर्थंकरोंके धर्ममें अपराध होनेपर ही प्रतिक्रमण किया जाता था । जिस व्रतमें अपनेको या दूसरोंको दोष लगता था उसीका प्रतिक्रमण मध्यम तीर्थंकरोंके साधु करते थे ।

अथ प्रतिक्रमणादेरधस्तनभूमिकायामनुष्ठाने मुमुक्षोरुपकार. स्यादननुष्ठाने चापकारो भवेत्। उपरिमभूमिकायामनुष्ठाने अपकार एव भवेदित्युपदेशार्थमाह—

३ **प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहरणं धारणा निवृत्तिश्च।**
निन्दा गर्हा शुद्धिश्चामृतकुम्भोऽन्यथापि विषकुम्भः ॥६३॥

प्रतिक्रमण—दण्डकोच्चारणलक्षण द्रव्यरूपम्। प्रतिसरणं—गुणेषु प्रवृत्तिलक्षणा सारणा। परि-
६ हरण—दोषेभ्यो व्यावृत्तिलक्षणा हारणा। धारणा चित्तस्थिरीकरणम्। निवृत्ति.—अन्यत्र गतचित्तस्य पुनर्व्यावर्तनम्। शुद्धि प्रायश्चित्तादिनाऽऽत्मन. शोधनम्। अमृतकुम्भ·—प्रतिक्रमणाद्यष्टकमधस्तनभूमिकायाममृतकुम्भ इव चित्तप्रसादाह्लादविधानात्। अन्यथा—अप्रतिक्रमणादिप्रकारेण यतेर्वृत्तिविषकुम्भ पापानुवन्ध-
९ निबन्धत्वेन मोहसतापादिविधानात्। अपिशब्दादुपरितनभूमिकाया प्रतिक्रमणादिरपि विषकुम्भ पुण्यास्रवणकारणत्वन मन्दमतिमोहादिविधानात्। यदाहु —

'पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइमोहो।
१२ मइ मोहेण वि पाप तं पुण्णं अम्ह मा होउ ॥' [परमात्मप्र, २।६०]

किं च, प्रतिक्रमणमित्यत्र ककाररेफसयोगपरत्वेन प्रागिकारस्य गुरुत्वादार्याछन्दोभङ्गो न शङ्क्यः शिथिलोच्चारणस्य विवक्षितत्वात् यथेह—

१५ 'वित्तैर्येषा प्रतिपदमिय पूरिता भूतधात्री,
निर्जित्यैतद् भुवनवलय ये विभुत्व प्रपन्नाः।
तेऽप्येतस्मिन् गुरु[1] भवह्रदे बुद्वुदस्तम्बलीला
१८ धृत्वा धृत्वा सपदि विलय भूभुजः सप्रयाताः ॥' [ ]

यथा वा 'जिनवरप्रतिमान भावतोऽह नमामि' इत्यादि ॥६३॥

जबकि आदि और अन्तिम तीर्थंकरके साधु एक दोष लगनेपर सब प्रतिक्रमण दण्डकोको पढते है। ईर्या, गोचर, स्वप्न आदि सबमे अतीचार लगे या न लगे, भगवान् ऋषभनाथ और भगवान् महावीरके शिष्य नियमसे सभी प्रतिक्रमणदण्डकोंको पढते हैं। इसका कारण यह है कि मध्यम तीर्थंकरोंके शिष्य भूलते नहीं थे, स्थिरचित्त थे, प्रत्येक क्रिया समझ-बूझकर करते थे। अतः वे जो दोष करते थे, उस दोषकी गर्हा करनेसे शुद्ध हो जाते थे। किन्तु प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरके शिष्य चंचल चित्त थे, बार-बार समझानेपर भी नहीं समझते थे। इसलिए उन्हें सभी प्रतिक्रमणदण्डक करने होते है जिससे एकमे मन स्थिर न हो तो दूसरे या तीसरेमे हो सके ॥६२॥

आगे कहते हैं कि नीचेकी भूमिकामें प्रतिक्रमण आदि करनेपर मुमुक्षुका उपकार होता है, न करने पर अपकार होता है। किन्तु ऊपरकी भूमिकामे तो प्रतिक्रमण आदि करनेपर अपकार ही होता है—

प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहरण, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, शुद्धि ये आठ नीचेकी भूमिकामे अमृतके घटके समान है और नहीं करनेपर विषके घड़ेके समान है। किन्तु ऊपरकी भूमिकामे प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भके समान है ॥६३॥

विशेषार्थ—दण्डकोका पाठ द्रव्यरूप प्रतिक्रमण है। गुणोंमें प्रवृत्तिको प्रतिसरण या सारण कहते है। दोषोंसे निवृत्तिको परिहरण या हारण कहते हैं। चित्तके स्थिर करनेको धारणा कहते हैं। चित्तके अन्यत्र जाने पर उसे वहाँसे लौटाने को निवृत्ति कहते है। निन्दा

---

१. गुरुवचह्रदे भ. कु च।

अथ मुमुक्षो. सकलकर्मसंन्यासभावनाप्रमुखं सकलकर्मफलसन्यासभावनामभिनयति—

प्रतिक्रमणमालोच्यं प्रत्याख्यानं च कर्मणाम् ।
भूतसद्भाविनां कृत्वा तत्फलं व्युत्सृजेत् सुधीः ॥६४॥ ३

प्रतिक्रमणं—भूतकर्मणा पूर्वोपार्जितशुभाशुभकर्मविपाकभवेभ्यो भावेभ्यः स्वात्मानं विनिवर्त्यात्मना तत्कारणभूतप्राक्तनकर्मनिवर्तनम् । आलोचन—सत्कर्मणा वर्तमानशुभाशुभकर्मविपाकानामात्मनोऽत्यन्तभेदेनोपलम्भनम् । प्रत्याख्यानं—भाविकर्मणा शुभाशुभस्वपरिणामनिमित्तोत्तरकर्मनिरोधन कृत्वा । तथाहि—यदहमकार्षं ६ यदचीकरं यत्कुर्वन्तमप्यन्यं समन्वज्ञास मनसा च वाचा च कायेन च 'तन्मिथ्या मे दुष्कृत' इत्येव समस्तव्यस्तै. करणै- (-रेकोन्नपञ्चाशता-) क्रियापदैश्चावर्तनीयम् । यथाह—

और गर्हाका स्वरूप पहले कहा है । प्रायश्चित्त आदिके द्वारा आत्माके शोधनको शुद्धि कहते हैं । नीचेके गुणस्थानोंमे ये आठ अमृतकुम्भके तुल्य माने हैं क्योंकि इनके करनेसे दोषोका परिमार्जन होकर चित्त विशुद्ध होता है । यदि उस स्थितिमे इन्हें न किया जाये तो इनका न करना अर्थात् अप्रतिक्रमण आदि विषकुम्भ है क्योंकि दोषोंका परिमार्जन न होनेसे पापका बन्ध होता है । किन्तु अष्टम आदि गुणस्थानोंमे प्रतिक्रमण आदि भी विषकुम्भ माने जाते हैं क्योंकि शुभोपयोग रूप होनेसे ये पुण्यास्रवके कारण होते हैं और पुण्यबन्ध वैभवका कारण होनेसे मनुष्यकी मतिको विकृत करता है । परमात्मप्रकाशमे कहा है—'पुण्यसे वैभव मिलता है । वैभव पाकर मद होता है, मदसे बुद्धि मूढ हो जाती है । बुद्धिके मूढ होनेसे प्राणी पाप करने लगता है । ऐसा पुण्य हमे नहीं चाहिए ।'

अतः ऊपरकी भूमिकामे आत्मध्यानसे ही दोषोंका परिमार्जन हो जाता है ॥६३॥

आगे मुमुक्षुको समस्त कर्मोंके त्यागकी भावनापूर्वक समस्त कर्मफलके त्यागकी भावनाकी ओर प्रेरित करते हैं—

सम्यग्ज्ञानकी भावनामे लीन साधुको भूत, वर्तमान और भावि कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान करके उनके फलोंका भी त्याग करना चाहिए ॥६४॥

विशेषार्थ—पूर्वकृत दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण किया जाता है । वर्तमान दोषोंकी शुद्धिके लिए आलोचना की जाती है और आगामी कालमें लगनेवाले दोषोंसे बचनेके लिए प्रत्याख्यान किया जाता है । समयसारमें कहा है—'जो आत्मा पूर्वमे उपार्जित शुभ-अशुभ कर्मके उदयसे हुए भावोंसे अपनेको हटाता है अर्थात् तद्रूप नहीं होता वह उन भावोंके कारणभूत पूर्वकृत कर्मोंका प्रतिक्रमण करता है । आगामी कालमे जो शुभ और अशुभ कर्म जिस भावके होनेपर बँधते है, उस भावसे जो अपनेको निवृत्त करता है वह प्रत्याख्यान है । वर्तमानमें जो शुभ-अशुभ कर्म अपने अनेक प्रकारके विस्तार विशेषको लिये हुए उदयमे आया है उसको जो अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह आलोचना है । इस प्रकार यह आत्मा नित्य प्रतिक्रमण करता हुआ, नित्य प्रत्याख्यान करता हुआ और नित्य आलोचना करता हुआ, पूर्व उपार्जित कर्मके कार्य और आगामी कालमें बँधनेवाले कर्मोंके कारणभूत भावोसे अत्यन्त निवृत्त होता हुआ, तथा वर्तमान कर्मोदयको अपनेसे अत्यन्त भिन्न जानता हुआ अपने ज्ञानस्वभावमें निरन्तर चरण करनेसे स्वयं चारित्र होता है ।

---

१. भ कु. च ।

'कृतकारितानुमननैस्त्रिकालविषयं मनोवचःकायैः।
परिहृत्य कर्म सर्वं परम नैष्कर्म्यमवलम्बे ॥' [सम. कल. २२५ श्लो.]

३ अपि च—

'मोहाद्यदहमकार्षं समस्तमपि कर्म तत्प्रतिक्रम्य।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [सम कल. २२६ श्लो]

६ तथा, न करोमि न कारयामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुजानामि मनसा च वाचा च कायेन चेत्यादि

आशय यह है कि पहले लगे हुए दोषसे आत्माका निवर्तन करना प्रतिक्रमण है। आगामी दोषोसे बचनेका नाम प्रत्याख्यान है और वर्तमान दोषसे आत्माका पृथक् होना आलोचना है। व्यवहारमे इनके लिए प्रतिक्रमण दण्डक पाठ, बाह्य वस्तुओंका त्याग और गुरुसे दोषोंका निवेदन आदि किया जाता है जैसा पहले बतलाया है। किन्तु परमार्थसे जिन भावोंके कारण पहले दोष लगे, वर्तमानमे लगते है और आगामी कालमें लगेगे उन भावोंसे आत्माकी निवृत्ति ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और आलोचना है। अतः ऐसा आत्मा स्वयं ही प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान और आलोचना है। अर्थात् समस्त कर्म और कर्मफलका त्याग मुमुक्षुको करना चाहिए। इसका खुलासा इस प्रकार है—ज्ञानके सिवाय अन्य भावोमे ऐसा अनुभव करना कि 'यह मै हूँ' यह अज्ञान चेतना है। उसके दो भेद है—कर्म चेतना और कर्म-फल चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य भावोका कर्ता अपनेको मानना कर्म चेतना है और ज्ञानके सिवाय अन्य भावोका भोक्ता अपनेको मानना कर्मफल चेतना है। ये दोनो ही चेतना संसार-के बीज हैं। क्योंकि संसारके बीज है आठ प्रकारके कर्म और उन कर्मोंका बीज है अज्ञान चेतना। इसलिए मुमुक्षुको अज्ञान चेतनाके विनाशके लिए सकल कर्म संन्यास भावना और सकल कर्म फल संन्यास भावनाको भाकर स्वभावभूत ज्ञान चेतनाका ही अनुवर्तन करना चाहिए। सबसे प्रथम सकल कर्म संन्यास भावना भाना चाहिए—सकल कर्मोंके त्यागके कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन कायको लेकर ४९ भग होते हैं। यथा—जो मैंने अतीत कालमे कर्म किया, कराया, दूसरे करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे, काय-से, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, वचनसे, वह दुष्कृत मिथ्या हो। जो मैने किया, कराया, अन्य करते हुएका अनुमोदन किया मनसे, कायसे, वह मेरा दुष्कृत मिथ्या हो। इस प्रकार मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदनाके सात-सात संयोगी भंग होते हैं। दोनोंको परस्परमें मिलानेसे ४९ भंग होते हैं। समयसार कलशमे आचार्य अमृतचन्द्रने कहा है—'अतीत अनागत वर्तमान काल सम्बन्धी सभी कर्मोंको कृत, कारित, अनुमोदना और मन वचन कायसे छोड़कर मै उत्कृष्ट निष्कर्म अवस्थाका अवलम्बन करता हूँ। इस प्रकार ज्ञानी सब कर्मोंके त्यागकी प्रतिज्ञा करता है।' और भी—मैंने जो मोहके वशीभूत होकर कर्म किये है उन समस्त कर्मोंका प्रतिक्रमण करके मै निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामे आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ऐसा ज्ञानी अनुभव करता है। आशय यह है कि भूतकालमे किये गये कर्मको ४९ भग पूर्वक मिथ्या करनेवाला प्रतिक्रमण करके ज्ञानीके ज्ञान स्वरूप आत्मामे लीन होकर निरन्तर चैतन्य स्वरूप आत्माका अनुभव करनेकी यह विधि है। मिथ्या कहनेका मतलब यह है कि जैसे किसीने पहले धन कमाकर जमा किया था। उसने उसके प्रति ममत्व जब छोड़ दिया तब उसे भोगनेका उसका अभिप्राय नहीं रहा। अतः उसका भूतकालमे कमाया हुआ धन

पूर्ववत् । यथाह—

'मोहविलासविजृम्भितमिदमुदयत्कर्म सकलमालोच्य ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [सम. कल. २२७ श्लो] ३

तथा न करिष्यामि न कारयिष्यामि न कुर्वन्तमप्यन्य समनुज्ञास्यामि मनसा च वाचा च कायेन च इत्यादि पूर्ववत् । यथाह—

'प्रत्याख्याय भविष्यत्कर्म समस्त निरस्तसंमोह. ।
आत्मनि चैतन्यात्मनि निष्कर्मणि नित्यमात्मना वर्ते ॥' [स कल. २२८ श्लो.] ६

एव चेदमभ्यसनीयम्—

'समस्तमित्येवमपास्य कर्म त्रैकालिक शुद्धनयावलम्बो ।
विलीनमोहो रहितं विकारैश्चिन्मात्रमात्मानमथावलम्बे ॥ [सम कल. २२९ श्लो] ९

न कमानेके ही समान हुआ । इसी प्रकार जीवने पहले जो कर्मबन्ध किया था, जब उसे अहित रूप जानकर उसके प्रति ममत्व भाव छोड़ दिया और उसके फलमे लीन नहीं हुआ तब भूतकालमे बाँधा हुआ कर्म नहीं बाँधनेके समान मिथ्या हो गया । इस प्रकार प्रतिक्रमण हुआ । इसी प्रकार आलोचना होती है—

मैं वर्तमानमे कर्म न तो करता हूँ, न कराता हूँ, न अनुमोदना करता हूँ मनसे, वचनसे, कायसे । इस प्रकार प्रतिक्रमणके समान आलोचना भी ४९ भग पूर्वक की जाती है । अर्थात् मोहके विलाससे फैला हुआ जो यह उदयागत कर्म है, उस सबकी आलोचना करके मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामे आत्मासे ही निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

आशय यह है कि वर्तमानमें उदयमें आये कर्मके प्रति ज्ञानी विचार करता है कि मैंने पहले जो कर्म बाँधा था उसका यह कार्य है, मेरा नहीं । मैं उसका कर्ता नहीं हूँ । मैं तो शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्मा हूँ । उसकी प्रवृत्ति तो ज्ञान दर्शन रूप है । अतः मैं तो उदयागत कर्मका ज्ञाता द्रष्टा हूँ । इस प्रकार आलोचना करता है ।

इसी प्रकार प्रत्याख्यानका भी क्रम जानना । मैं भविष्यमे कर्म न तो करूँगा, न कराऊँगा, न अन्य करते हुएका अनुमोदन करूँगा मनसे, वचनसे, कायसे इत्यादि पूर्ववत् ४९ भंगोंसे आगामी कर्मका प्रत्याख्यान किया जाता है । कहा है—भविष्यके समस्त कर्मोंका प्रत्याख्यान करके, मोहसे रहित होता हुआ मैं निष्कर्म चैतन्य स्वरूप आत्मामे आत्मासे निरन्तर वर्त रहा हूँ ।

आशय यह है कि व्यवहार चारित्रमे जो दोष लगता है उसका प्रतिक्रमण, आलोचना और प्रत्याख्यान होता है । किन्तु निश्चय चारित्रमे शुद्धोपयोगसे विपरीत सर्वकर्म आत्माके दोषरूप हैं । अतः उन समस्त कर्म चेतना स्वरूप परिणामोंका तीन कालके कर्मोंका प्रतिक्रमण, आलोचना, प्रत्याख्यान करके ज्ञानी सर्वकर्म चेतनासे भिन्न अपने शुद्धोपयोग रूप आत्माके ज्ञान श्रद्धान द्वारा तथा उसमे स्थिर होनेका संकल्प करता है । कहा है—पूर्वोक्त प्रकारसे तीनो कालोके समस्त कर्मोंको दूर करके शुद्धनयका अवलम्बन करनेवाला और मिथ्यात्वरूपी मोहसे रहित मैं सर्व विकारोसे रहित चैतन्य मात्र आत्माका अवलम्बन करता हूँ ।

इस तरह कर्मसंन्यास करके कर्मफलके संन्यासकी भावना करता है—मै मति ज्ञाना-

तत्फलं—ज्ञानावरणादिकर्मफलम् । व्युत्सृजेत्—विविधमुत्कृष्ट त्यजेत् । तथाहि—नाहं मतिज्ञानावरणीयफल भुञ्जे चैतन्यमात्मानमेव सचेतये । एव नाह श्रुतज्ञानावरणीयफलमित्यादि समस्तकर्मप्रकृतिष्वा-
३ वर्तनीयम् । यथाह—

'विगलन्तु कर्मविषतरुफलानि मम भुक्तिमन्तरेणैव ।
संचेतयेऽहमचल चैतन्यात्मानमात्मानम् ॥' [सम कल., २३० श्लो]

६ अपि च—

'नि शेषकर्मफलसन्यसनात् ममैवं सर्वक्रियान्तरविहारनिवृत्तिवृत्तेः ।
चैतन्यलक्ष्म भजतो भृशमात्मतत्त्व कालावलीयमचलस्य वहत्वनन्ता ॥'
९ [सम क. २३१ श्लो.]

वरणीय कर्मके फलको नहीं भोगता, चैतन्यस्वरूप आत्माका ही सचेतन करता हूँ। इसी तरह मै श्रुतज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। मैं अवधि ज्ञानावरणीय कर्मका फल नहीं भोगता, चैतन्य स्वरूप आत्माका ही संचेतन करता हूँ। इसी प्रकार समस्त कर्मोंकी समस्त प्रकृतियोमे समझना चाहिए। कहा है—कर्मरूपी विपवृक्षके फल मेरे द्वारा विना भोगे ही खिर जावे, मैं चैतन्य स्वरूप आत्माका निश्चयरूपसे संचेतन करता हूँ। अर्थात् ज्ञानी कहता है कि जो कर्म उदयमें आता है उसके फलको मैं ज्ञाता द्रष्टा रूपसे मात्र देखता हूँ उसका भोक्ता नहीं होता। इसलिए मेरे द्वारा भोगे विना ही वे कर्म खिर जाये। मै अपने चैतन्य स्वरूप आत्मामें लीन होता हुआ उसका ज्ञाता द्रष्टा ही रहूँ। यहाँ इतना विशेष जान लेना-चाहिए कि अविरत, देशविरत और प्रमत्त संयत दशामे इस प्रकारका ज्ञान-श्रद्धान ही प्रधान है। जब जीव अप्रमत्त दशाको प्राप्त होकर श्रेणी चढता है तब यह अनुभव साक्षात् होता है। आशय यह है कि जब जीव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी होता है तब उसे यह ज्ञान-श्रद्धान तो होता ही है कि मैं शुद्धनयसे समस्त कर्म और कर्मके फलसे रहित हूँ। परन्तु पूर्व वद्ध कर्म उदय आनेपर उनसे होनेवाले भावोका कर्तृत्व छोड़कर त्रिकाल सम्बन्धी ४९, ४९ भंगोके द्वारा कर्म चेतनाके त्यागकी भावना करके एक चैतन्य स्वरूप आत्माको भोगना ही शेप रह जाता है। अविरत, देशविरत और प्रमत्त सयत जीवके ज्ञान श्रद्धानमे निरन्तर यह भावना तो है ही। जब वह अप्रमत्त दशाको प्राप्त करके एकाग्रचित्तसे ध्यान लगाकर—केवल चैतन्य मात्र अवस्थामे उपयोग लगाकर—शुद्धोपयोगरूप होता है तब श्रेणी चढकर केवलज्ञान प्राप्त करता है। उस समय उस भावनाका फल जो कर्मचेतनासे रहित साक्षात् ज्ञान चेतना रूप परिणमन है, वह होता है। पश्चात् आत्मा अनन्त कालतक ज्ञान चेतना ही रहता हुआ परमानन्दमें मग्न होता है। कहा है—समस्त कर्मोंके फलका त्याग करके ज्ञान चेतनाकी भावना करनेवाला ज्ञानी कहता है कि पूर्वोक्त प्रकारसे समस्त कर्मोंके फलका संन्यास करनेसे मैं चैतन्य लक्षणवाले आत्मतत्त्वको ही अतिशय रूपसे भोगता हूँ। इसके सिवाय अन्य उपयोगकी क्रिया तथा बाह्य क्रियामे प्रवृत्तिसे रहित अचल हूँ। सो मेरी यह अनन्त कालावलीतक आत्मतत्त्वके उपयोगमे ही प्रवृत्ति रहे, अन्यमे न जावे'। जो पुरुप पूर्वकालमें किये कर्मरूपी विषवृक्षके उदयरूप फलको स्वामी होकर नहीं भोगता और अपने आत्मस्वरूपमें ही तृप्त है वह पुरुष कर्मोंसे रहित स्वाधीन सुखमयी उस दशाको प्राप्त होता है जो वर्तमान कालमे रमणीय है और उत्तर

उक्तं च समयसारे—

'कम्मं जं पुव्वकय सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं ।
तत्तो णियत्तए अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं ॥ ३
कम्मं जं सुहमसुहं जम्हि य भावम्मि बज्झइ भविस्सं ।
तत्तो णियत्तए जो पच्चक्खाणं हवइ चेया ॥
जं सुहमसुहमुदीण्णं सपदि य अणेयवित्थरविसेस । ६
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयण चेया ॥
णिच्च पच्चक्खाण कुव्वइ णिच्च पडिक्कमइ जो य ।
णिच्च आलोचेयइ सो हु चरित्त हवइ चेया ॥' [गा. ३८३-३८६] ९

इय चात्र भावार्थसग्रहकारिका नित्यमध्येतव्या—

'ज्ञानस्य सचेतनयैव नित्य प्रकाशते ज्ञानमतीव शुद्धम् ।
अज्ञानसंचेतनया तु धावन् बोधस्य शुद्धि निरुणद्धि वन्ध ॥' १२

[स. कलश, श्लो. २२४] ॥६४॥

कालमे भी रमणीय है। ज्ञानीजन कर्म तथा कर्मके फलसे अत्यन्त विरत भावनाको निरन्तर भाकर, और समस्त अज्ञान चेतनाके विनाशको अच्छी तरहसे नचाकर, अपने निजरससे प्राप्त स्वभावरूप ज्ञान चेतनाको सानन्द पूर्ण करके नृत्य कराते हुए आगे प्रशमरसको सदा काल पीते रहें।

इसी अभिप्रायका संग्रह नीचे लिखे श्लोकोंमे है। अत. उनका नित्य चिन्तन करना चाहिए। उनमे कहा है—जो सातावेदनीय, शुभ आयु, शुभ नाम और उच्च गोत्र रूप पुण्य-कर्म, तथा ज्ञानावरणादि रूप पापकर्म समस्त या व्यस्त कारणोंसे जीवने योग और कषायके वशसे बाँधा है, उसका जो सदा प्रतिक्रमण करता है अर्थात् 'मेरा दुष्कृत मिथ्या हो' इत्यादि उपायोंसे उदयमे आनेसे पहले ही निराकरण कर देता है वह 'अहं' प्रत्ययसे संवेद्य चिन्मात्र आत्मा स्वय चारित्र है। अर्थात् अखण्ड ज्ञान स्वभाव रूप अपनेमे ही निरन्तर चरण करनेसे चारित्र है। तथा स्वयं चारित्ररूप होता हुआ अपने ज्ञान मात्रका संचेतन करनेसे स्वयं ही ज्ञान चेतना होता है। तथा जो पूर्वबद्ध शुभाशुभ कर्म वर्तमानमे उदयमे आ रहा है उसकी जो सदा आलोचना करता है अर्थात् अपनेसे अत्यन्त भिन्न अनुभव करता है वह चिन्मात्र आत्मा स्वयं चारित्र है। तथा जो शुभाशुभ कर्म भविष्यमे बँधनेवाला है उसका प्रत्याख्यान करनेवाला स्वयं चिन्मात्र आत्मा चारित्र है। उसीको स्पष्ट करते हैं—समस्त मन, वचन, कायसे या इनमे-से एक या दो से, कृत कारित अनुमत रूप शुभाशुभ कर्मको निष्फल करनेके लिए मैं नित्य प्रतिक्रमण करता हूँ। तथा उदयमे आते हुए पूर्वबद्ध कर्मको मैं अपनेसे अत्यन्त भिन्न नित्य अनुभव करता हूँ। तथा आगामीमे बँधनेवाले कर्मको नित्य रोकता हूँ।

---

१. सर्वथाऽऽत्त प्रतिक्रामन्नुद्यदालोचयन् सदा ।
प्रत्याख्यान् भावि सदसत्कर्मात्मावृत्तमस्ति चित् ॥
नैष्फल्याय क्षिपेत्त्रेधा कृतकारितसम्मतम् ।
कर्म स्वाच्चेतयेऽत्यन्तभिदोद्यद्रुन्ध उत्तरम् ॥
अहमेवाहमित्येव ज्ञान तच्छुद्धये भजे ।
शरीराद्यहमित्येवाज्ञान तच्छेत्तृ वर्जये ॥ [ ]

अथ पञ्चभि: पद्यै: प्रत्याख्यान व्याख्यातुकामो नामादिषड्विधनिक्षेपविभक्त तत्तावल्लक्षयन्नाह—

निरोद्धुमागो यन्मार्गच्छिदो निर्मोक्षुरुज्झति ।
३ नामादीन् षडपि त्रेधा तत्प्रत्याख्यानमामनेत् ॥६५॥

मार्गच्छिद:—रत्नत्रयविरोधिनः । तथा चोक्तम्—

'नामादीनामयोग्याना षण्णा त्रेधा विवर्जनम् ।
६ प्रत्याख्यान समाख्यातमागम्यागोनिषिद्धये ॥'

निर्मोक्ष —मोक्षार्थी । तत्—अयोग्यनामाद्युज्झनलक्षणम् । तथाहि—अयोग्यानि पापकारणानि नामानि न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि, नानुमन्तव्यानीति नामप्रत्याख्यान प्रत्याख्याननाममात्र वा । तथा पापबन्धहेतु-
९ भूता मिथ्यात्वादिप्रवर्तिका मिथ्यादेवतादिस्थापना पापकारणद्रव्यप्रतिरूपाणि च न कर्तव्यानि न कारयितव्यानि नानुमन्तव्यानीति स्थापनाप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानपरिणतप्रतिविम्ब वा सद्भावासद्भावरूप तत्स्यात् । पापार्थं सावद्य द्रव्य निरवद्यमपि च तपोऽर्थं त्यक्त न भोज्यं न भोजयितव्य नानुमन्तव्यमिति द्रव्यप्रत्याख्यानम् । अथवा
१२ प्रत्याख्यानप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यतिरिक्तं च तत्स्यात् । असयमादिहेतुभूतस्य क्षेत्रस्य त्यजन त्याजन त्यज्यमानस्यानुमोदन च क्षेत्रप्रत्याख्यानं प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवित प्रदेशो वा । असंय-मादिनिमित्तस्य कालस्य त्यजनादिक कालप्रत्याख्यान प्रत्याख्यानपरिणतेन सेवित कालो वा । मिथ्यात्वादीना

तथा ज्ञानकी शुद्धिके लिए 'मैं' शब्दसे वाच्य आत्मा ही मैं हूँ, शरीर आदि मैं नहीं हूँ, इस ज्ञानकी ही मैं आराधना करता हूँ । तथा ज्ञानकी शुद्धिको भ्रष्ट करनेवाला जो अज्ञान है कि 'शरीरादि पर द्रव्य मैं हूँ' इसे मैं छोड़ता हूँ । इत्यादि । इसका विस्तार अमृतचन्द्र रचित समयसार टीका (गाथा ३८३-३८९) में देखना चाहिए ॥६४॥

आगे पाँच पद्योंसे प्रत्याख्यानका कथन करते है । उसके छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं । प्रथम उसका लक्षण कहते हैं—

पापकर्मोंका निवारण करनेके लिए मुमुक्षु भव्य जो रत्नत्रयरूप मोक्षमार्गके विरोधी छहों अयोग्य नाम स्थापना आदिका मन, वचन, कायसे त्याग करता है उसे आचार्य प्रत्याख्यान कहते हैं ॥६५॥

विशेषार्थ—प्रत्याख्यानमे छह निक्षेप इस प्रकार होते हैं—नाम प्रत्याख्यान, स्थापना प्रत्याख्यान, द्रव्य प्रत्याख्यान, क्षेत्र प्रत्याख्यान, काल प्रत्याख्यान और भाव प्रत्याख्यान । अयोग्य अर्थात् पापके हेतु नामोको न करना चाहिए, न कराना चाहिए और न अनुमोदन करना चाहिए। यह नाम प्रत्याख्यान है। अथवा 'प्रत्याख्यान' इस नाममात्रको नाम प्रत्याख्यान कहते है। पापबन्धके कारणभूत और मिथ्यात्व आदिमे प्रवृत्ति करानेवाली स्थापनाको अयोग्य स्थापना कहते हैं। मिथ्या देवता आदि-के प्रतिबिम्ब, जो पापके कारण द्रव्य रूप हैं उन्हें न करना चाहिए, और न कराना चाहिये और न उनकी अनुमोदन करना चाहिये । यह स्थापना प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान की सद्भाव या असद्भाव रूप प्रतिबिम्ब स्थापना प्रत्याख्यान है। जो सावद्य द्रव्य पापबन्धका कारण है अथवा निर्दोष होने पर भी तपके लिये त्याग किया गया है उसे न स्वयं सेवन करना चाहिए, न अन्यसे सेवन कराना चाहिए और कोई सेवन करता हो तो उसकी अनुमोदना नहीं करनी चाहिए । यह द्रव्य प्रत्याख्यान है। अथवा जो मनुष्य प्रत्याख्यान विषयक आगमका ज्ञाता है किन्तु उसमे उपयुक्त नहीं है उसे आगम द्रव्य प्रत्याख्यान कहते हैं। प्रत्याख्यान विषयक ज्ञाताका शरीर, उसके कर्म नोकर्म तथा जो जीव भविष्यमे प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका ज्ञाता होगा,

मनोवाक्कायैस्त्यजनादिकं भावप्रत्याख्यानम् । अथवा प्रत्याख्यानप्राभृतज्ञायकस्तद् विज्ञानं जीवप्रदेशा वेति । किं च, 'भविष्यद्वर्तमानकालविषयातीचारनिर्हरणं प्रत्याख्यानम्' इत्याचारटीकाकारेण यत्प्रत्याख्यानलक्षणमाख्यायि तदपि निरोद्धुमाग इति सामान्यनिर्देशादिह संगृहीतमुन्नेयम् ॥६५॥ ३

एतदेव सगृह्णन्नाह—

तन्नाम स्थापनां तां तद्द्रव्यं क्षेत्रमञ्जसा ।
तं कालं तं च भावं न श्रयेन्न श्रेयसेऽस्ति यत् ॥६६॥ ६

अञ्जसा—परमार्थेन, भावेनेत्यर्थः । एतेनोपसर्गादिवशादयोग्यश्रयणेऽपि न प्रत्याख्यानहानिरिति बोधयति ॥६६॥

अथ योग्यनामादिसेविनः परम्परया रत्नत्रयाराधकत्वमवश्यतया प्रकाशयन्नाह— ९

यो योग्यनामाद्युपयोगपूतस्वान्तः पृथक् स्वान्तमुपैति मूर्तेः ।
सदाऽस्पृशन्नप्यपराधगन्धमाराधयत्येव स वर्त्म मुक्तेः ॥६७॥

उपयोग—सेवनम् । स्वान्त—आत्मस्वरूपम् । अपराधगन्ध—राध. संसिद्धि स्वात्मोपलब्धिरित्यर्थ. । अपगतो राधो अपराधः—परद्रव्यग्रह । तस्य गन्धमपि प्रमादलेशमपीत्यर्थ. ॥६७॥ १२

ये सब नोआगम द्रव्य प्रत्याख्यान हैं। असंयम आदिके कारणभूत क्षेत्रका स्वयं त्याग करना, दूसरेसे त्याग कराना तथा कोई अन्य त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना क्षेत्र प्रत्याख्यान है। अथवा जिस क्षेत्रपर प्रत्याख्यान किया गया हो वह क्षेत्र प्रत्याख्यान है। असंयम आदिमे निमित्त कालका स्वयं त्याग करना, दूसरेसे त्याग कराना और कोई अन्य उसका त्याग करता हो तो उसकी अनुमोदना करना काल प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान करनेवालेके द्वारा सेवित कालको काल प्रत्याख्यान कहते हैं। मन वचन कायसे मिथ्यात्व आदिका त्याग करना भाव प्रत्याख्यान है। अथवा प्रत्याख्यान विषयक शास्त्रका जो ज्ञाता उसमे उपयुक्त है उसे, उसके प्रत्याख्यान विषयक ज्ञानको और जीव प्रदेशोंको भाव प्रत्याख्यान कहते हैं। इस प्रकार प्रत्याख्यानके विषयमें छह प्रकारका निक्षेप होता है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने गाथा ७।१३५ की टीकामे उक्त छह निक्षेपोंका वर्णन करके अन्तमे भविष्यत् और वर्तमानकाल सम्बन्धी अतीचारोंके निरोधको प्रत्याख्यान कहा है। ऊपरके श्लोकमे 'निरोद्धुमाग' इस सामान्य कथनसे उसका भी संग्रह इस ग्रन्थके रचयिताने किया है ॥६५॥

उसीको संगृहीत करते हुए कहते हैं—

जो मोक्षके साधनमे उपयोगी नहीं है उस नामको, उस स्थापनाको, उस द्रव्यको, उस क्षेत्रको, उस कालको और उस भावको परमार्थसे सेवन नहीं करना चाहिए। 'परमार्थसे' कहनेसे यह ज्ञान कराया है कि उपसर्ग आदिके कारण अयोग्यका सेवन होनेपर भी प्रत्याख्यानमे हानि नहीं होती ॥६६॥

जो योग्य नाम आदिका सेवन करता है वह परम्परासे अवश्य ही रत्नत्रयका आराधक होता है, यह प्रकट करते हैं—

जो नामादि योग अर्थात् शुद्धोपयोगमे सहायक होते हैं उन्हें योग्य कहते हैं। जिस साधुने ऐसे योग्य नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भावके सेवनसे अपने मनको पवित्र किया है, और शरीरसे आत्माको भिन्न मानता है, सदा अपराधकी गन्धसे दूर रहनेवाला वह साधु मोक्षके मार्गका अवश्य ही आराधक होता है ॥६७॥

अथ द्रव्यप्रत्याख्यानविशेषं व्यवहारोपयोगितया प्रपञ्चयन् प्रत्याख्येयविशेषं प्रत्याख्यातारं च लक्षयति—

३ **सावद्येतरसच्चित्ताचित्तमिश्रोपधींस्त्यजेत् ।**
चतुर्धाहारमप्यादिमध्यान्तेष्वाज्ञयोत्सुकः ॥६८॥

त्यजेत् । प्रत्याख्यानोक्तिरियम् । उपध्याहारौ तु प्रत्याख्येयौ । अपि—अनुक्तसमुच्चये । तेन त्रिविधाहारादिरपि प्रत्याख्येयो विज्ञेय । आदौ—प्रत्याख्यानग्रहणकाले । मध्ये—मध्यकाले । अन्ते—समाप्तौ ।
६ आज्ञयोत्सुक.—अर्हदाज्ञागुरुनियोगयोरुपयुक्तो जिनमत श्रद्दधत् । गुरूक्तेन प्रत्याचक्षाण इत्यर्थ । उक्त च—

'आज्ञाज्ञापनयोर्दक्ष आदिमध्यावसानत' ।
९ साकारमनाकार च सुसन्तोषोऽनुपालयन् ॥
प्रत्याख्याता भवेदेषः प्रत्याख्यानं तु वर्जनम् ।
उपयोगि तथाहार. प्रत्याख्येयं तदुच्यते ॥' [ ] ॥६८॥

१२ अथ बहुविकल्पमुपवासादिप्रत्याख्यानं मुमुक्षो शक्त्यनतिक्रमेणावश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

विशेषार्थ—राधका अर्थ होता है संसिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि, अत. अपराधका अर्थ होता है परद्रव्यका ग्रहण, क्योंकि वह स्वात्मोपलब्धिका विरोधी है। उसकी गन्धको भी जो नहीं छूता अर्थात् जिसके प्रमादका लेश भी नही रहता। ऐसा साधु अवश्य ही मोक्षमार्गका आराधक होता है ॥६७॥

द्रव्य प्रत्याख्यान व्यवहारमें उपयोगी होता है अत' उसका विशेष कथन करते हुए प्रत्याख्येय—छोडने योग्य विषयोंके विशेषके साथ प्रत्याख्याताका स्वरूप कहते हैं—

अर्हन्त देवकी आज्ञा और गुरुके नियोगमे दत्तचित्त होकर अर्थात् जिनमतके श्रद्धान पूर्वक प्रत्याख्यान ग्रहण करते समय, उसके मध्यमें तथा उसकी समाप्ति होनेपर सावद्य और निरवद्य दोनों ही प्रकारकी सचेतन, अचेतन और सचेतन अचेतन परिग्रहोंका तथा चारों प्रकारके आहारका त्याग करना चाहिए ॥६८॥

विशेषार्थ—ऊपर श्लोकमे केवल 'आज्ञा' पद है उससे अर्हन्तदेवकी आज्ञा और गुरु का नियोग दोनों लेना चाहिए। जिसमे हिंसा आदि होते हैं उसे सावद्य और जिसमे हिंसा आदि नहीं होते उसे निरवद्य कहते हैं। यहाँ परिग्रह आदिका त्याग प्रत्याख्यान है और परिग्रह भोजन वगैरह प्रत्याख्येय—त्यागने योग्य द्रव्य है। कहा है—अर्हन्तकी आज्ञासे, गुरुके उपदेशसे और चारित्रकी श्रद्धासे जो दोषके स्वरूपको जानकर व्रतका ग्रहण करते समय उसके मध्यमे और उसकी समाप्ति पर सविकल्पक या निर्विकल्प चारित्रका पालन करता है वह दृढ धैर्यशील तो प्रत्याख्याता—प्रत्याख्यान करनेवाला होता है। और तपके लिए सावद्य या निरवद्य द्रव्यका त्याग या त्यागरूप परिणामका होना प्रत्याख्यान है। और सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त उपाधि, क्रोधादिरूप परिणाम और आहारादि प्रत्याख्येय है, इनका प्रत्याख्यान किया जाता है ॥६८॥

आगे उपदेश देते है कि मुमुक्षुको अपनी शक्तिके अनुसार अनेक प्रकारके उपवास आदि प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए—

---

१ 'आणाय जाणणा विय उवजुत्तो मूल मज्झणिद्देसे ।
आगारमणागार अणुपालेंतो दढधिदीओ ॥'—मूलाचार ७।१३७।

अनागतादिदशभिद् विनयादिचतुष्कयुक् ।
क्षपणं मोक्षुणा कार्यं यथाशक्ति यथागमम् ॥६९॥

अनागतादिदशभित्—अनागतादयो दश सख्या भिदो यस्य । ताश्च यथा— ३

'अनागतमतिक्रान्त कोटीयुतमखण्डितम् ।
साकारं च निराकार परिमाण तथेतरत् ॥
नवम वर्तनीयातं दशम स्यात् सहेतुकम् । ६
प्रत्याख्यानविकल्पोऽयमेव सूत्रे निरुच्यते ॥' [ ]

अनागत चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिक यत् त्रयोदश्यादिषु क्रियते । अतिक्रान्त चतुर्दश्यादिषु कर्तव्यमुपवासादिक यत् प्रतिपदादिषु क्रियते । कोटियुत स्वस्तने दिने स्वाध्यायवेलायामतिक्रान्ताया यदि ९ शक्तिर्भविष्यति तदोपवास करिष्यामि, नो चेन्न करिष्यामीत्यादि सकल्पसमन्वित यत् क्रियते । अखण्डित-मवश्यकर्तव्यपाक्षिकादिपूपवासकरणम् । साकार सर्वतोभद्रकनकावल्याद्युपवासविधिभेदसहितम् । निराकार स्वेच्छयोपवासादिकरणम् । परिमाण षष्ठाष्टमादिकालपरिच्छेदेनोपवासादिकरणम् । परिमाणविषयत्वात्तथोक्तम् । १२ इतरत् यावज्जीव चतुर्विधाहारादित्यागोऽपरिशेषमित्युच्यते । वर्तनीयातमध्वगत नाम अटवीनद्यादिनिष्क्रमण-द्वारेणोपवासादिकरणम् । सहेतुकमुपसर्गादिनिमित्तापेक्षमुपवासादिकरणम् । विनयादिचतुष्कयुक्—विनयादि-चतुष्टयविशुद्धम् । १५

यथाह—

'कृतिकर्मोपचारश्च विनयो मोक्षवर्त्मनि ।
पञ्चधा विनयाच्छुद्ध प्रत्याख्यानमिद भवेत् ॥ १८
गुरोर्वचोऽनुभाव्य चेच्छुद्ध स्वरपदादिना ।
प्रत्याख्यान तथा भूतमनुवादामल भवेत् ॥

मुमुक्षुको अपनी शक्तिके अनुसार और आगमके अनुसार अनागत आदिके भेदसे दस भेद रूप और विनय आदि चारसे युक्त क्षपण अवश्य करना चाहिए ॥६९॥

विशेषार्थ—जिससे शरीर और इन्द्रियोंको तथा अशुभ कर्मको कृश किया जाता है उसे क्षपण अर्थात् उपवासादि प्रत्याख्यान कहते हैं। साधुको यथाशक्ति और आगमोक्त विधिके अनुसार उपवास आदि अवश्य करना चाहिए। उसके दस प्रकार कहे हैं—चतुर्दशी आदिके दिन कर्तव्य उपवास आदिको त्रयोदशी आदिमें करना अनागत है। चतुर्दशी आदि में कर्तव्य उपवास आदिको प्रतिपदा आदिमें करना अतिक्रान्त है। कल स्वाध्यायका समय बीत जानेपर यदि शक्ति होगी तो उपवास आदि करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा, इस प्रकार के सकल्प पूर्वक किया गया प्रत्याख्यान कोटिसहित है। अवश्य कर्तव्य पाक्षिक आदि अवसरोंपर उपवास आदि अवश्य करना अखण्डित है। जो सर्वतोभद्र, कनकावली आदि उपवासविधि भेदपूर्वक कहे हैं उन्हें करना साकार या सभेद प्रत्याख्यान है। स्वेच्छासे कभी भी उपवास आदि करना अनाकार या निराकार प्रत्याख्यान है। षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादशम, पक्ष, अर्धपक्ष, मास आदि कालका परिमाण करके उपवास आदि करना परिमाण-गत प्रत्याख्यान है। जीवन पर्यन्तके लिए चार प्रकारके आहारादिका त्याग अपरिशेष प्रत्याख्यान है। मार्गमें अटवी, नदी आदि पार करनेपर किया गया उपवास आदि अध्वगत प्रत्याख्यान है। उपसर्ग आदि आनेपर किया गया उपवास सहेतुक प्रत्याख्यान है। ये दस प्रत्याख्यानके भेद हैं। तथा ये प्रत्याख्यान विनय आदिसे युक्त होने चाहिए। विनयके पाँच

श्रमातङ्कोपसर्गेषु दुर्भिक्षे काननेऽपि वा ।
प्रपालित न यद्भग्नमनुपालनयाऽमलम् ॥
३ रागद्वेषद्वयेनान्तर्यद् भवेन्नैव दूपितम् ।
विज्ञेय भावशुद्धं तत् प्रत्याख्यानं जिनागमे ॥' [ ]

क्षपणं—क्षप्यतेऽपकृष्यते देहेन्द्रियादिकमशुभकर्म वा अनेनेति क्षपणमिहोपवासादिप्रत्याख्यान-
६ माख्यायते ॥६९॥

अथ सप्तभि पद्यैः कायोत्सर्गं व्याचिख्यासुस्तल्लक्षणप्रयोक्तृहेतुविकल्पनिर्णयार्थमिदमादौ निर्दिशति—

मोक्षार्थी जितनिद्रक सुकरणः सूत्रार्थविद् वीर्यवान्
९ **शुद्धात्मा बलवान् प्रलम्बितभुजायुग्मो यदास्तेऽचलम् ।**
ऊर्ध्वज्ञुश्चतुरङ्गुलान्तरसमाग्राङ्घ्रिर्निषिद्धाभिधा-
द्याचारात्ययशोधनादिह तनूत्सर्गः स षोढा मतः ॥७०॥

१२ सुकरण.—शोभना क्रिया परिणामो वाऽस्य । शुद्धात्मा—असयतसम्यग्दृष्ट्यादिभव्य । उक्तं च—
'मोक्षार्थी जितनिद्रो हि सूत्रार्थज्ञ शुभक्रियः ।
बलवीर्ययुतः कायोत्सर्गी भावविशुद्धिभाक् ॥' [ ]

१५ अचल—निश्चलपादहस्ताधरभ्रूनेत्रादिसर्वाङ्गम् । ऊर्ध्वज्ञुः—ऊर्ध्वजानु । ऊर्ध्वं परलोक जानानश्च ।
उक्तं च—

प्रकार हैं—सिद्ध भक्ति, योगभक्ति, गुरुभक्ति पूर्वक कायोत्सर्ग करना कृतिकर्म विनय है। दोनों हस्तपुट संयुक्त करके मस्तकसे लगाना, पिच्छिकासे वक्षस्थलका भूपित होना इत्यादि उपचार विनय है। ज्ञानविनय, दर्शनविनय, चारित्रविनयका स्वरूप पहले कहा गया है। इन पॉच प्रकारकी विनयसे युक्त प्रत्याख्यान विनय शुद्ध होता है। गुरुने प्रत्याख्यानके अक्षरोंका पाठ जैसा किया हो, स्वर व्यंजन आदिसे शुद्ध वैसा ही उच्चारण करना अनुभाषण शुद्ध प्रत्याख्यान है। अचानक किसी रोगका आक्रमण होनेपर, उपसर्ग आनेपर, अत्यन्त श्रमसे थके होनेपर, दुर्भिक्ष होनेपर, विकट वन आदि भयानक प्रदेशमे पहुँचनेपर भी, इन सवमे भी प्रत्याख्यानका पालन करना और उसमे किंचित् भी त्रुटि न होने देना अनुपालन शुद्ध प्रत्याख्यान है। जो प्रत्याख्यान राग द्वेष रूप परिणामोसे दूषित नहीं है वह भाव विशुद्ध प्रत्याख्यान है। [मूलाचार ७।१४२-१४६] इस प्रकार प्रत्याख्यानका स्वरूप कहा ॥६९॥

आगे सात श्लोकोंके द्वारा कायोत्सर्गका व्याख्यान करनेके इच्छुक ग्रन्थकार प्रारम्भमें कायोत्सर्गका लक्षण, उसका करनेवाला, प्रयोजन और भेद कहते है—

मुक्तिका इच्छुक, निद्राको जीत लेनेवाला, शुभ क्रिया और परिणामोंसे युक्त, आगमके अर्थका ज्ञाता, वीर्यवान्, बलवान् असंयत सम्यग्दृष्टि आदि भव्य दोनो हाथोको नीचे लटकाकर, और दोनों चरणोंके मध्यमे चार अगुलका अन्तर देकर तथा उनके अग्रभागोको बिलकुल सम रूपमे रखते हुए निश्चल खड़ा होता है उसे इस आवश्यक प्रकरणमे कायोत्सर्ग कहते है। यह कायोत्सर्ग आगममे निषिद्ध नाम आदिके आचरणसे लगनेवाले दोषोकी विशुद्धिके लिए किया जाता है। तथा उसके छह भेद है ॥७०॥

विशेषार्थ—यहाँ कायोत्सर्ग करनेवालेका स्वरूप, कायोत्सर्गका लक्षण, प्रयोजन और भेद कहे हैं। कायोत्सर्ग करनेका पात्र शुद्धात्मा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती आदि भव्य जीव ही होता है। वह भी मुमुक्षु निद्राजयी, आगमका अभिप्राय जाननेवाला और अच्छे परिणामसे

'वोसरिदवाहुजुयलो चउरंगुलमंतरेण समपादो।
सव्वंगचलणरहिओ काउस्सग्गो विसुद्धो दु ॥' [मूलाचार गा. ६५०]

निषिद्धेत्यादि—खरपरुषादिनामसावद्यस्थापनाद्यनुष्ठानजातातिचारशुद्धिहेतो। उक्तं च— ३

'आगःशुद्धितपोवृद्धिकर्मनिर्जरणादयः।
कायोत्सर्गस्य विज्ञेया हेतवो व्रतवर्तिना ॥'

इह—आवश्यकप्रकरणे। तनूत्सर्गः—तनोः कायस्य तात्स्थ्यात्तनुममत्वस्योत्सर्गस्त्यागः। उक्तं च— ६

'ममत्वमेव कायस्थं तात्स्थ्यात् कायोऽभिधीयते।
तस्योत्सर्गस्तनूत्सर्गो जिनबिम्बाकृतेर्यतेः ॥' [ ]

स—मोक्षार्थित्वादिगुणस्य प्रलम्बितभुजायुग्माद्यवस्थानलक्षणः। षोढा—नामादिभेदेन षट्प्रकारः। ९
तथाहि—सावद्यनामकरणागतदोषविशुद्ध्यर्थं कायोत्सर्गो नामकायोत्सर्गः कायोत्सर्गनाममात्रं वा। पापस्थापनाद्वारागतदोषोच्छेदाय कायोत्सर्गः स्थापनाकायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतप्रतिबिम्बं वा। सावद्यद्रव्यसेवनद्वारेणानागतातीचारनिर्हरणाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञोऽनुपयुक्तस्तच्छरीरं भाविजीवस्तद्व्यतिरिक्तो वा द्रव्यकायोत्सर्गः। सावद्यक्षेत्रद्वारागतदोषध्वंसनाय कायोत्सर्गः कायोत्सर्गपरिणतसेवितक्षेत्रं वा १२

युक्त होना चाहिए। साथ ही उसमें नैसर्गिक शक्तिके साथ शारीरिक शक्ति भी होना चाहिए। ये सब कायोत्सर्ग करनेवालेके लिए आवश्यक है। वह दोनों हाथोंको नीचे लटकाकर इस प्रकार खड़ा होता है कि उसके दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रहे तथा दोनों पैर एक सीधमें हों, आगे पीछे नहीं। यह कायोत्सर्गकी मुद्रा है। इस मुद्रामें खड़े होकर शरीरके प्रति ममत्वके त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं। यह कायोत्सर्गका लक्षण है। यहाँ काय शब्दसे कायका ममत्व लेना चाहिए। उसके उत्सर्ग अर्थात् त्यागको ही कायोत्सर्ग कहते हैं। मूलाचारमें कहा है—'दोनों भुजाओंको नीचे लटकाकर, चार अंगुलके अन्तरसे दोनों पैरोंको एक सीधमें रखकर, हाथ-पैर, सिर-गरदन, आँख-भौं आदिको निश्चल रखना विशुद्ध कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्गकी इस मुद्रामें स्थित होकर जो शरीरके प्रति ममत्व भाव छोड़ा जाता है वह वस्तुतः कायोत्सर्ग है'। कहा है—'शरीरमें रहनेवाले ममत्वको ही काय कहा है क्योंकि वह मोह शरीरको लेकर होता है। जिनबिम्बके समान मुद्रा धारण करनेवाले साधुके उस ममत्व त्यागको कायोत्सर्ग कहते हैं।'

वह कायोत्सर्ग दोषोंकी विशुद्धि, तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जराके लिए किया जाता है, कहा है—

'व्रती पुरुषको कायोत्सर्गका प्रयोजन दोषोंकी विशुद्धि, तपकी वृद्धि और कर्मोंकी निर्जरा आदि जानना चाहिए।'

कायोत्सर्गके भी छह निक्षेपोंकी अपेक्षा छह भेद हैं—सावद्य नाम करनेसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह नामकायोत्सर्ग है। अथवा किसीका नाम कायोत्सर्ग रखना नामकायोत्सर्ग है। पापपूर्ण स्थापनासे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह स्थापनाकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग-परिणत प्रतिबिम्ब स्थापनाकायोत्सर्ग है। सावद्य द्रव्यके सेवनसे लगे अतीचारकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह द्रव्यकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करनेवाले शास्त्रका ज्ञाता जो उसमें उपयुक्त नहीं है वह आगम द्रव्यकायोत्सर्ग है। उस ज्ञाताका शरीर, तथा उसके कर्म, नोकर्म और भविष्यमें कायोत्सर्गका होनेवाला ज्ञाता जीव

क्षेत्रकायोत्सर्ग । सावद्यकालाचरणद्वारागतदोषपरिहाराय कायोत्सर्ग कायोत्सर्गपरिणतसहितकालो वा कालकायोत्सर्ग । मिथ्यात्वाद्यतीचारशोधनाय कायोत्सर्ग. कायोत्सर्गव्यावर्णनीयप्राभृतज्ञ उपयुक्तस्तज्ज्ञान
३ जीवप्रदेशा वा भावकायोत्सर्ग इति ॥७०॥

अथ कायोत्सर्गस्योत्तममध्यमजघन्यपरिणामनिरूपणार्थमाह—

कायोत्सर्गस्य मात्रान्तर्मुहूर्तोऽल्पा समोत्तमा ।
६ **शेषा गाथात्र्यंशचिन्तात्मोच्छ्वासैर्नैकधा मिता ॥७१॥**

अन्तर्मुहूर्तः—समयाधिकामावलिकामादि कृत्वा समयोनमुहूर्तं यावत्काल । अल्पा—जघन्या । समा—वर्षम् । गाथेत्यादि—गाथाया 'णमो अरहताण' इत्यादिकाया त्र्यशस्त्रिभागो द्वे द्वे एक च
९ नमस्कारपदं तच्चिन्ता आत्मा स्वरूप यस्यासौ गाथात्र्यशचिन्तात्मा स चासावुच्छ्वासश्च । तत्र 'णमो अरहताण णमो सिद्धाण' इति पदद्वयचिन्तनमेक उच्छ्वास । एव 'णमो आयरियाण णमो उवज्झायाण' इति चिन्तन द्वितीय । तथा 'णमो लोए सव्वसाहूण' इति चिन्तनं तृतीय । एव गाथायास्त्रिधा चिन्तने त्रय उच्छ्वासा ।
१२ नवधा चिन्तने सप्तविंशतिरित्यादिकल्पनया परिगणनीयम् । उक्त च—

'सप्तविंशतिरुच्छ्वासा ससारोन्मूलनक्षमा. ।
सन्ति पञ्चनमस्कारे नवधा चिन्तिते सति ॥' [अमित श्राव. ८।६९]

ये नोआगम द्रव्यकायोत्सर्ग हैं। सावद्य क्षेत्रके सेवनसे लगे हुए दोषोंकी विशुद्धिके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह क्षेत्रकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग करनेवाले महर्षियोंसे सेवित क्षेत्र क्षेत्रकायोत्सर्ग है। सावद्य कालमे आचरण करनेसे लगे हुए दोषोकी विशुद्धिके लिए किया गया कायोत्सर्ग कालकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्ग करने वालोंसे सहित कालको कालकायोत्सर्ग कहते है। मिथ्यात्व आदि सम्बन्धी अतिचारोंके शोधनके लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है वह भावकायोत्सर्ग है। अथवा कायोत्सर्गका वर्णन करनेवाले शास्त्रका जो ज्ञाता उस शास्त्रमे उपयुक्त है वह आगम भावकायोत्सर्ग है। उसका ज्ञान या उस जीवके प्रदेश नोआगम भावकायोत्सर्ग है। इस तरह छह भेद है ॥७०॥

आगे कायोत्सर्गके उत्तम, मध्यम और जघन्य परिमाणको कहते है—

कायोत्सर्गका जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट काल एक वर्ष प्रमाण है। शेष अर्थात् मध्यकालका प्रमाण गाथाके तीन अंशोके चिन्तनमें लगनेवाले उच्छ्वासोके भेदसे अनेक प्रकार है ॥७१॥

विशेषार्थ—एक समय अधिक आवलीसे लेकर एक समय कम मुहूर्तको अन्तर्मुहूर्त कहते है। यह कायोत्सर्गका जघन्य काल है और उत्कृष्ट काल एक वर्ष है जैसा बाहुबलीने किया था। मध्यमकाल अन्तर्मुहूर्त और वर्षके मध्यकालकी अपेक्षा दो मुहूर्त, एक पहर, एक दिन आदिके रूपमे अनेक प्रकार है। कहा है—कायोत्सर्गका उत्कृष्ट काल एक वर्ष और जघन्य काल अन्तर्मुहूर्त है। शेष कायोत्सर्ग शक्तिकी अपेक्षा अनेक स्थानोमे होते है। वह अनेक भेद इस प्रकार होते है—णमोकार मन्त्र गाथारूप होनेसे गाथासे णमोकार मन्त्र लेना चाहिए। उसके तीन अंश है—णमो अरिहंताण, णमो सिद्धाणं एक, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं दो और णमो लोए सव्वसाहूणं तीन। इनमे से प्रत्येकके चिन्तनमे एक उच्छ्वास

---

१ 'सवच्छरमुक्कस्स भिण्णमुहुत्त जहण्णय होदि ।
सेसा काओसग्गा होंति अणेगेसु ठाणेसु ॥'—मूलाचार ७।१५९

नैकधा—द्विमुहूर्तप्रहरदिवसाद्यपेक्षया कार्यकालद्रव्यक्षेत्रभावाद्यपेक्षया वा अनेकप्रकारा मध्यमा-वित्यर्थ । यदाह—

'अस्ति वर्षं समुत्कृष्टो जघन्योऽन्तर्मुहूर्ततं[1] ।
कायोत्सर्गं पुन शेषा अनेकस्थानमागता[2] ॥' ॥७१॥ 			३

अथ दैवसिकादिप्रतिक्रमणकायोत्सर्गेयूच्छ्वाससंख्याविशेषनिर्णयार्थमाह—

उच्छ्वासाः स्युस्तनूत्सर्गे नियमान्ते दिनादिषु ।
पञ्चस्वष्टशतार्धत्रिचतु.पञ्चशतप्रमाः ॥७२॥ 			६

नियमान्ते—वीरभक्तिकरणकाले । अष्टशत—अष्टाभिरधिक शतम् । अर्धं—चतु पञ्चाशत् । उक्त च— 			९

'आह्निकेऽष्टशत रात्रिभवेऽर्धं पाक्षिके तथा ।
नियमान्तेऽस्ति सस्तेयं[3]मुच्छ्वासाना शतत्रयम् ॥
चतु पञ्चशतान्याहुश्चतुर्मासाब्दसभवे ।
इत्युच्छ्वासास्तनूत्सर्गे पञ्चस्थानेषु निश्चिता ॥' [ ] ॥७२॥ 			१२

लगता है । अत. पूरे मन्त्रका एक बार चिन्तन तीन उच्छ्वासोंमें होता है । नौ बार चिन्तन करनेमें सत्ताईस उच्छ्वास होते हैं । आचार्य अमितगतिने कहा है—'नौ बार पंच नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करनेपर सत्ताईस उच्छ्वास संसारका उन्मूलन करनेमें समर्थ है ।' उच्छ्-वास अर्थात् प्राणवायुका लेना निकालना । उच्छ्वासका यह लक्षण कायोत्सर्गके उत्कृष्ट और जघन्य प्रमाणमें भी यथासम्भव लगा लेना चाहिए ॥७१॥

दैनिक आदि प्रतिक्रमण और कायोत्सर्गोंमें उच्छ्वासोंकी संख्याका निर्णय करते हैं—

दैवसिक आदि पाँच प्रतिक्रमणोंके अवसरपर वीरभक्ति करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उनमें क्रमशः एक सौ आठ, चउवन, तीन सौ, चार सौ, पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं । अर्थात् दिन सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ, रात्रि सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चउवन, पाक्षिकमें तीन सौ, चातुर्मासिकमें चार सौ और वार्षिकमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं ॥७२॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कहा है—दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें एक सौ आठ उच्छ्वास करने चाहिए । रात्रिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें चउवन उच्छ्वास करने चाहिए । पाक्षिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी कायोत्सर्गमें तीन सौ उच्छ्वास करने चाहिए । ये वीरभक्तिके अन्तमें प्रमादरहित होकर करना चाहिए । चातुर्मासिक प्रतिक्रमणमें चार सौ उच्छ्वास और वार्षिक प्रतिक्रमणमें पाँच सौ उच्छ्वास होते हैं । इस प्रकार पाँच स्थानोंमें

---

१. र्तंग भ. कु. च. ।
२ नगा मताः भ. कु च. ।
३ सस्थेय—भ कु च ।
४ 'अट्ठसद देवसिय कल्लद्ध पक्खियं च तिण्णि सया ।
उस्सासा कायव्वा णियमते अप्पमत्तेण ॥
चाउम्मासे चउरो सदाइ सवत्थरे य पचसदा ।
काओसग्गुस्सासा पचसु ठाणेसु णादव्वा ॥'—गा ७।१६०-१६१ ।

अथ प्रस्रावादिप्रतिक्रमणास्वर्हच्छायादिवन्दनाया स्वाध्यायादिषु च कायोत्सर्गोच्छ्वाससंख्याविशेष-निश्चयार्थमाह—

३ **मूत्रोच्चाराध्वभक्तार्हत्साधुशय्याभिवन्दने ।**
पञ्चाग्रा विंशतिस्ते स्युः स्वाध्यायादौ च सप्तयुक् ॥७३॥

उच्चार —पुरीपोत्सर्ग । अध्वा—ग्रामान्तरगमनम् । भक्त—गोचार । अर्हच्छय्या—जिनेन्द्र-
६ निर्वाण-समवसृति-केवलज्ञानोत्पत्ति-निष्क्रमण-जन्मभूमिस्थानानि । साधुशय्या.—श्रमणनिषिद्धिकास्थानानि ।

स्वाध्यायादौ—आदिशब्देन ग्रन्थादिप्रारम्भे प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्तौ वन्दनाया मनोविकारे च तत्क्षणोत्पन्ने । उक्त च—

९ 'ग्रामान्तरेऽन्नपानेऽर्हत्साधुशय्याभिवन्दने ।
प्रस्रावे च तथोच्चारे उच्छ्वासाः पञ्चविंशति ॥
स्वाध्यायोद्देशनिर्देशे प्रणिधानेऽथ वन्दने ।
१२ सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः कायोत्सर्गेऽभिसमताः ॥' [ ]

कायोत्सर्गोंके उच्छ्वास जानने चाहिए। इतने उच्छ्वासपर्यन्त कायोत्सर्ग किया जाता है। श्वेताम्बरीय आवश्यक भाष्यमे कहा है कि इन पाँचोमे कायोत्सर्गके उच्छ्वासोंका प्रमाण नियत है शेषमें अनियत हैं ॥७२॥

मूत्र त्याग आदि करके जो प्रतिक्रमण किया जाता है उस समय, अथवा अर्हत् शय्या आदिकी वन्दनाके समय और स्वाध्याय आदिमे किये जानेवाले कायोत्सर्गके उच्छ्वासोकी संख्या बतलाते हैं—

मूत्र और मलका त्याग करके, एक गाँवसे दूसरे गाँव पहुँचनेपर, भोजन करनेपर, अर्हत् शय्या और साधुशय्याकी वन्दना करते समय जो कायोत्सर्ग किये जाते हैं उसका प्रमाण पचीस उच्छ्वास है। स्वाध्याय आदिमें जो कायोत्सर्ग किया जाता है उसके उच्छ्वासोका प्रमाण सत्ताईस होता है ॥७३॥

विशेषार्थ—मूलाचारसे कहा है—खान पान सम्बन्धी प्रतिक्रमणके विषयमे जब साधु गोचरीसे लौटे तो उसे पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। एक गाँवसे दूसरे गाँव जानेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। अर्हत् शय्या अर्थात् जिनेन्द्रके निर्वाणकल्याणक, समवसरण, केवलज्ञानकी उत्पत्तिका स्थान, तपकल्याणक और जन्म भूमिके स्थानपर वन्दनाके लिए जानेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। साधुशय्या अर्थात् किसी साधुके समाधिस्थानपर जाकर लौटनेपर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। तथा मूत्रत्याग या मलत्याग करने पर पचीस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। किसी ग्रन्थको प्रारम्भ करते समय प्रारम्भ किये हुए

---

१ 'देसिअ राईअ-पक्खिअ चाउम्मासिय तहेव वरिसे अ ।
एएसु होंति निअया उस्सग्गा अनियया सेसा ॥'—२३४ ।

२. 'भत्ते पाणे गामंतरे य अरहतसयण सेज्जासु ।
उच्चारे पस्सवणे पणवीस होंति उस्सासा ॥
उद्देसे णिद्देसे सज्झाए वंदणे य पणिधाणे ।
सत्तावीसुस्सासा काओसग्गह्मि कादव्वा ॥'—मूला. ७।१६३-१६४ ।

उद्देशो ग्रन्थादिप्रारम्भ॰। निर्देश प्रारब्धग्रन्थादिसमाप्ति.। प्रणिधान मनोविकारोऽशुभपरिणामस्तत्क्षणोत्पन्न इत्यर्थ । यत्तु—

'जन्तुघातानृतादत्तमैथुनेषु परिग्रहे । ३
अष्टोत्तरशतोच्छ्वासा कायोत्सर्गा प्रकीर्तिता ॥' [ ]

इति सूत्रे वचस्तच्चशब्देन समुच्चीयते ॥७३॥

अथ व्रतारोपण्यादिप्रतिक्रमणासूच्छ्वाससख्यानिर्देशार्थमाह— ६

या व्रतारोपणी सार्वातिचारिक्यातिचारिकी ।
औत्तमार्थी प्रतिक्रान्तिः सोच्छ्वासैराह्निकी समा ॥७४॥

आह्निकी समा । वीरभवितकालेऽष्टोत्तरशतोच्छ्वासकायोत्सर्गे इत्यर्थ ॥७४॥ ९

अथाहोरात्रस्वाध्यायादि-विषयकायोत्सर्गसख्यासग्रहार्थमाह—

स्वाध्याये द्वादशेष्टा षड्वन्दनेऽष्टौ प्रतिक्रमे ।
कायोत्सर्गा योगभक्तौ द्वौ चाहोरात्रगोचरा. ॥७५॥ १२

अहोरात्रगोचरा.। सर्वे मिलिता अष्टाविंशति । एते च विभागेनोत्तरत्र व्यवहरिष्यन्ते ॥७५॥

अथ कायोत्सर्गे ध्यानविशेषमुपसर्गपरीषहसहनं च नियमयन् कर्मनिर्जरणातिशय फलत्वेनोपदिशति—

ग्रन्थकी समाप्ति होनेपर, सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। इसी तरह स्वाध्याय और वन्दनामें भी सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। मनमे विकार उत्पन्न होनेपर तत्क्षण सत्ताईस उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए। प्राणि-वध सम्बन्धी, असत्यालाप सम्बन्धी, चोरीसम्बन्धी, मैथुनसम्बन्धी और परिग्रहसम्बन्धी दोष लगनेपर १०८ उच्छ्वास प्रमाण कायोत्सर्ग करना चाहिए।

मूलाचारके इस कथनका ग्रहण ग्रन्थकारने च शब्दसे किया है ॥७३॥

आगे व्रतारोपण आदि सम्बन्धी प्रतिक्रमणोंमें उच्छ्वासकी संख्या बतलाते है—

व्रतारोपण सम्बन्धी, सर्वातिचार सम्बन्धी, अतिचार सम्बन्धी और उत्तमार्थ सम्बन्धी प्रतिक्रमणोमें उच्छ्वासोंकी संख्या दैवसिक प्रतिक्रमण सम्बन्धी उच्छ्वासोंके समान १०८ होती है ॥७४॥

विशेषार्थ—पहले श्लोक ५८ में प्रतिक्रमणके सात भेद कहे है। इनका स्वरूप वहाँ बतलाया है। उन्हींके उच्छ्वासोका प्रमाण यहाँ दैवसिक प्रतिक्रमणकी तरह १०८ कहा है ॥७४॥

आगे दिन-रातमे स्वाध्याय आदि सम्बन्धी कायोत्सर्गोंकी संख्याको बतलाते है—

स्वाध्यायमे बारह, वन्दनामे छह, प्रतिक्रमणमे आठ और योगभक्तिमे दो, इस तरह दिन-रातमे अट्ठाईस कायोत्सर्ग आचार्योंने माने है ॥७५॥

विशेषार्थ—इनका विभाग ग्रन्थकार आगे करेंगे ॥७५॥

आगे कर्मोंकी सातिशय निर्जरा रूप फलके लिए कायोत्सर्गमे ध्यान विशेषका तथा उपसर्ग और परीषहोको सहनेका उपदेश करते हैं—

---

१. 'पाणिवह मुसावाए अदत्त मेहुण परिग्गहे चेय ।
अट्ठसद उस्सासा काओसग्गम्हि कादव्वा ॥'—मूलाचार ७।१६२

व्युत्सृज्य दोषान् निःशेषान् सद्ध्यानी स्यात्तनूत्सृतौ ।
सहेताऽप्युपसर्गोर्मीन् कर्मैवं भिद्यते तराम् ॥७६॥

दोषान्—ईर्यापथाद्यतीचारान् कायोत्सर्गमलान् वा । सद्ध्यानी—धर्म्यं शुक्लं वा ध्यानमाश्रित । एतेनालस्याद्यभाव उक्त स्यात् ।

उक्त च—

'कायोत्सर्गस्थितो धीमान् मलमीर्यापथाश्रयम् ।
नि शेप तत्समानीय धर्म्यं शुक्लं च चिन्तयेत् ॥' [ ]

भिद्यतेतराम् । स्तवाद्यपेक्षया प्रकर्षोऽत्र । उक्त च—

'उपसर्गस्तनूत्सर्गं श्रितस्य यदि जायते ।
देवमानवतिर्यग्भ्यस्तदा सह्यो मुमुक्षुणा ॥
साधोस्त सहमानस्य निष्कम्पीभूतचेतसः ।
पतन्ति कर्मजालानि शिथिलीभूय सर्वंत ॥
यथाङ्गानि विभिद्यन्ते कायोत्सर्गविधानतः ।
कर्माण्यपि तथा सद्य. सचितानि तनूभृताम् ॥
यमिनां कुर्वता भक्त्या तनूत्सर्गमदूषणम् ।
कर्म निर्जीर्यते सद्यो भवकोटि-भ्रमार्जितम् ॥' [ ] ॥७६॥

अथ नित्यनैमित्तिककर्मकाण्डनिष्ठस्य योगिन परम्परया नि.श्रेयसप्रतिलम्यमभिधत्ते—

नित्येनेत्थमथेतरेण दुरितं निर्मूलयन् कर्मणा
योऽभ्यासेन विपाचयत्यमलयन् ज्ञानं त्रिगुप्तिश्रितः ।
स प्रोद्बुद्धनिसर्गशुद्धपरमानन्दानुविद्धस्फुरद्-
विश्वाकारसमग्रबोधशुभगं कैवल्यमास्तिघ्नुते ॥७७॥

समस्त ईर्यापथादिक अतिचारो अथवा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोपोंको पूर्ण रीतिसे त्यागकर कायोत्सर्गसे स्थित मुमुक्षुको प्रशस्त धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही करना चाहिए । और उपसर्ग तथा परीपहोंको सहना चाहिए । ऐसा करनेसे ज्ञानावरणादि कर्म स्वयं ही विगलित हो जाते है ॥७६॥

विशेपार्थ—यदि कायोत्सर्ग करते समय देवकृत, मनुष्यकृत या तिर्यंचकृत कोई उपसर्ग आ जाये तो उसे सहना चाहिए और ऐसे समयमे भी धर्मध्यान या शुक्लध्यान ही ध्याना चाहिए । जो साधु परीपह और उपसर्गसे विचलित न होकर उसे धीरता पूर्वक सहन करता है उसका कर्मबन्धन शिथिल होकर छूट जाता है । जो साधु भक्तिपूर्वक निर्दोष कायोत्सर्ग करते हैं उनके पूर्वभवोंसे अर्जित कर्म शीघ्र ही निर्जीर्ण हो जाते है अत कायोत्सर्ग सावधानीसे करना चाहिए ॥७६॥

आगे कहते है कि नित्य और नैमित्तिक क्रियाकाण्डमे निष्ठ योगी परम्परासे मोक्ष लाभ करता हैं—

ऊपर कहे अनुसार नित्य नैमित्तिक क्रियाओके द्वारा पापका मूलसे निरसन करते हुए तीनो गुप्तियोके आश्रयसे अर्थात् मन वचन और कायके व्यापारको सम्यक् रूपसे निगृहीत करके जो अभ्यासके द्वारा ज्ञानको निर्मल बनाते हुए परिपक्व करता है वह योगी प्रोद्बुद्ध अर्थात् अपुनर्जन्मरूप लक्षणके द्वारा अभिव्यक्त, स्वभावसे ही निर्मल, और परम आनन्दसे

इतरेण—नैमित्तिकेन । अभ्यासेन । कर्तरि तृतीया ॥७७॥

अथ षडावश्यकशेष सगृह्णन् कृतिकर्मसेवाया श्रेयोर्थिनं व्यापारयति—

योग्यकालासनस्थानमुद्रावर्तशिरोनति ।
विनयेन यथाजातः कृतिकर्मामलं भजेत् ॥७८॥ ३

योग्याः—समाधये प्रभवन्त्यः । यथाविहिता इत्यर्थ । तथैवोत्तरप्रबन्धेनानुपूर्वशो व्याख्यास्यन्ते । यथाजात—वाह्याभ्यन्तरपरिग्रहचिन्ताव्यावृत्तः । सयमग्रहणक्षणे निर्ग्रन्थत्वेन पुनरुत्पादात् । कृतिकर्म— ६ कृते पापकर्मछेदनस्य कर्म अनुष्ठानम् ॥७८॥

अनुविद्ध तथा जिसमे समस्त लोकालोकके आकार प्रतिविम्बित हैं ऐसे समग्र द्रव्यपर्यायोंसे निवद्ध ज्ञानसे रमणीय कैवल्यको—निर्वाणको प्राप्त करता है ॥७७॥

विशेषार्थ—जवतक साधु अभ्यास दशामें रहता है तवतक दोषोंकी विशुद्धिके लिए उसे नित्य और नैमित्तिक कर्म करने होते हैं। किन्तु ये कर्म कर्मके लिए नहीं किये जाते, अकर्मा होनेके लिए किये जाते हैं। इसीलिए इन नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको करते हुए मन, वचन और कायके समग्र व्यवहारको निगृहीत करके मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्तिका अवलम्बन लेना होता है। यदि ऐसा न हो तो कोरे क्रियाकाण्डसे पापका निरसन नहीं हो सकता। क्रियाकाण्डके समयमें भी साधुके कर्मचेतनाकी प्रधानता नहीं होती ज्ञानचेतनाकी ही प्रधानता होती है उसीसे पापका क्षय होता है। ज्यों-ज्यों ज्ञानचेतनाकी प्रधानता होती जाती है त्यों-त्यों ज्ञानावरणादि कर्मोंका क्षय होकर ज्ञानमें निर्मलता आती जाती है। उसीसे केवलज्ञानकी प्राप्ति होकर निर्वाणकी प्राप्ति होती है। निर्वाण दशामे समग्र द्रव्यपर्यायोंको जाननेवाला केवलज्ञान अनन्त सुखके साथ रिला-मिला हुआ रहता है उससे मुक्तावस्थामें परम प्रशान्तिरूप प्रमोदभाव रहता है। इसके साथ ही मुक्त आत्माको जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा मिल जाता है। अत मोक्षका लक्षण पुनर्जन्मका न होना भी है। अतः योगीको साधक दशामे नित्य-नैमित्तिक कृत्य अवश्य विधेय है। अन्य दर्शनोंमें भी ऐसा ही कहा है ॥७७॥

इस प्रकार आवश्यक प्रकरण समाप्त होता है।

आगे षडावश्यकसे अवशिष्ट कृतिकर्मका संग्रह करते हुए अपने कल्याणके इच्छुक मुमुक्षुओंको कृतिकर्मका सेवन करनेकी प्रेरणा करते हैं—

यथाजात अर्थात् संयम ग्रहण करते समय वाह्य और आभ्यन्तर परिग्रहकी चिन्तासे मुक्त निर्ग्रन्थ रूपको धारण करनेवाले साधुको समाधिके लिए उपयोगी काल, आसन, स्थान, मुद्रा, आवर्त और शिरोनति-नमस्कारसे युक्त वत्तीस दोष रहित कृतिकर्मको विनयपूर्वक करना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ—कृति अर्थात् पापकर्मके छेदनके, कर्म अर्थात् अनुष्ठानको कृतिकर्म कहते है। यह कृतिकर्म वत्तीस दोष टालकर करना चाहिए। तथा योग्य काल, आसन आदि उसके अंग हैं। आगे इनका कथन करेंगे ॥७८॥

---

१ 'नित्यनैमित्तकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम् ।
ज्ञान च विमलीकुर्वन्नभ्यासेन तु पाचयेत् ॥
अभ्यासात् पक्वविज्ञान कैवल्यं लभते नरः ।'—प्रशस्तपादभाष्य—व्योमवती टीका, पृ. २० ।

अथ नित्यदेववन्दनाया त्रैकाल्यपरिमाणमाह—

तिस्रोऽह्नोऽन्त्या निशश्चाद्या नाड्यो व्यत्यासिताश्च ताः ।
मध्याह्नस्य च षट्कालास्त्रयोऽमी नित्यवन्दने ॥७९॥

निश —रात्रे । व्यत्यासिताः—दिवसस्य प्रथमास्तिस्रो घटिका रात्रेश्च पश्चिमास्तिस्र इति । पूर्वाह्लदेववन्दनायामुत्कर्षेण घटिकाषट्ककाल. । एवं मध्याह्नदेववन्दनाया मध्यदिनघटिकाषट्कम् । अपराह्णदेववन्दनाया च दिवसस्यान्त्यास्तिस्रो घटिका रात्रेश्चाद्यास्तिस्र इति घटिकाषट्कमुत्कर्षत. काल. कल्पनीय । उक्तं च—

'मुहूर्तत्रितयं कालः सन्ध्याना त्रितये बुधै. ।
कृतिकर्मविधिर्नित्य परो नैमित्तिको मतः ॥' [ ] ॥७९॥

अथ कृतिकर्मणि योग्यासनावसायार्थमाह—

वन्दनासिद्धये यत्र येन चास्ते तदुद्यतः ।
तद्योग्यमासनं देशः पीठं पद्मासनाद्यपि ॥८०॥

यत्र—देशे पीठे च । येन—पद्मासनादिना । उक्तं च—

'आस्यते स्थीयते यत्र येन वा वन्दनोद्यतै. ।
तदासनं विबोद्धव्य देशपद्मासनादिकम् ॥' [अमि श्रा. ८।३८] ॥८०॥

सर्व प्रथम नित्य देववन्दनाके सम्बन्धमें तीनों कालोंका परिमाण कहते है—

नित्यवन्दनाके तीन काल हैं—पूर्वाह्न, अपराह्न और मध्याह्न। इनका परिमाण इस प्रकार है— दिनके आदिकी तीन घड़ी और रात्रिके अन्तकी तीन घड़ी, इस तरह छह घड़ी पूर्वाह्नवन्दनाका काल है। दिनके अन्तकी तीन घड़ी और रात्रिके आदिकी तीन घड़ी, इस तरह छह घड़ी अपराह्नवन्दनाका काल है तथा मध्याह्नकी छह घडी मध्याह्नवन्दनाका काल है ॥७९॥

विशेषार्थ—यह वन्दनाका उत्कृष्ट काल है। एक घड़ीमें चौबीस मिनिट होते हैं अत. छह घड़ीमे एक घण्टा चवालीस मिनिट होते है। तीनों सन्ध्याकालोमे दिन और रातकी सन्धिके समय ७२-७२ मिनिट दोनोके लेकर देववन्दना करनी चाहिए। अर्थात् प्रात.कालके समय जब रात्रि तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। और सायंकालके समय जब दिन तीन घड़ी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। इसी तरह मध्याह्नमें जब पूर्वाह्नका काल तीन घडी शेष हो तब देववन्दना प्रारम्भ करनी चाहिए। कहा है—'तीनों सन्ध्याओंमे नित्य कृतिकर्म विधिका उत्कृष्ट काल तीन-तीन मुहूर्त माना है' ॥७९॥

आगे कृतिकर्ममे योग्य आसनका निर्णय करते हैं—

वन्दनाके लिए उद्यत साधु वन्दनाकी सिद्धिके लिए जिस देश और पीठपर बैठता है उसके योग्य आसनको देश और पीठ कहते हैं। तथा वह साधु जिस आसनसे बैठता है उस पद्मासन आदिको भी आसन कहते हैं ॥८०॥

विशेषार्थ—आसनसे यहाँ बैठनेका देश तथा उसमे बैठनेके लिए रखा गया आसन तो लिया ही गया है साथ ही वन्दना करनेवाला अपने पैरोंको जिस तरह करके बैठता है उस पद्मासन आदिको भी लिया गया है। कहा है—'वन्दनाके लिए तत्पर साधु जहाँ बैठता है और जिस रीतिसे बैठता है उस देश और पद्मासन आदिको आसन जानना चाहिए' ॥८०॥

अथ वन्दनायोग्य प्रदेशमुपदिशति—

विविक्त. प्रासुकस्त्यक्तः संक्लेशक्लेशकारणैः ।
पुण्यो रम्यः सतां सेव्यः श्रेयो देशः समाधिचित् ॥८१॥ ३

संक्लेशाः—रागद्वेषाद्या । क्लेशाः—परीषहोपसर्गा । पुण्यः—सिद्धक्षेत्रादिरूप । रम्यः—चित्तनिर्वृत्तिकरः । सतां—मुमुक्षूणाम् । समाधिचित्—प्रशस्तध्यानवर्धक । उक्त च—

'ससक्त. प्रचुरच्छिद्रस्तृणपांश्वादिदूषित । ६
विक्षोभको हृपीकाणा रूपगन्धरसादिभि. ॥
परीषहकरो दशशीतवातातपादिभिः ।
असवद्धजनालापः सावद्यारम्भगर्हित ॥ ९
आर्द्रीभूतो मनोऽनिष्ट समाधाननिपूदकः ।
योऽशिष्टजनसंचार प्रदेश तं विवर्जयेत् ॥
विविक्त प्रासुक सेव्य समाधानविवर्धक. । १२
देवर्जुदृष्टिसपातवर्जितो देवदक्षिण ॥
जनसंचारनिर्मुक्तो ग्राह्यो देशो निराकुल' ।
नासन्नो नातिदूरस्थ सर्वोपद्रववर्जित ॥' [अमि श्रा. ८।३९-४२] ॥८१॥ १५

अथ कृतिकर्मयोग्य पीठमाचष्टे—

आगे वन्दनाके योग्य देशको कहते हैं—

वन्दनाके लिए उद्यत साधुको वन्दनाकी सिद्धिके लिए ऐसे प्रदेशको अपनाना चाहिए जो शुद्ध होनेके साथ अवाछनीय व्यक्तियोंसे रहित हो, निर्जन्तुक हो, संक्लेशके कारण राग-द्वेष आदिसे तथा कष्टके कारण परीषह-उपसर्ग आदिसे रहित हो, सिद्धक्षेत्र आदि पुण्यभूमि हो, चित्तको शान्तिकारक हो, मुमुक्षुओंके द्वारा सेवनीय हो और प्रशस्त ध्यानको वढाने-वाला हो ॥८१॥

विशेषार्थ—अमितगति श्रावकाचार (८।३९-४३) में वन्दनाके योग्य देशका वर्णन कुछ विस्तारसे किया है। लिखा है—'जहाँ स्त्री-पुरुषोंकी भीड़ हो, साँप आदिके विलोंकी वहुतायत हो, घास-फूस-धूल आदि से दूषित हो, रूप-रस-गन्ध आदि के द्वारा इन्द्रियोंको क्षोभ करनेवाला हो, डाँस-मच्छर-शीत, वायु-घाम आदिसे परीषहकारक हो, जहाँ मनुष्योंका असम्बद्ध वार्तालाप चलता हो, जो पापयुक्त आरम्भसे निन्दनीय हो, गीला हो, मनके लिए अनिष्ट हो, चित्तकी शान्तिको नष्ट करनेवाला हो, जहाँ असभ्य जनोंका आवागमन हो ऐसे प्रदेशमे वन्दना नहीं करनी चाहिए। जो स्थान एकान्त हो, प्रासुक हो, सेवन योग्य हो, समाधानको वढानेवाला हो, जहाँ जिनविम्ब आदिकी सीधी दृष्टि नहीं पड़ती हो, उसके दक्षिण ओर हो, मनुष्यों के आवागमन से रहित हो, न अतिनिकट हो और न अतिदूर हो, समस्त प्रकारके उपद्रवोंसे रहित हो, ऐसा निराकुल देश अपनाने योग्य है' ॥८१॥

आगे कृतिकर्मके योग्य पीठ वतलाते हैं—

विजन्त्वशब्दमच्छिद्रं सुखस्पर्शमकीलकम् ।
स्थेयस्तार्णाद्यधिष्ठेयं पीठ विनयवर्धनम् ॥८२॥

३ स्थेय —निश्चलम् । तार्णादि—तृणकाष्ठशिलादिमयम् ॥८२॥

अथ वन्दनायोग्य पद्मासनादित्रय लक्षयति—

पद्मासनं श्रितौ पादौ जङ्घाभ्यामुत्तराधरे ।
६ **ते पर्यङ्कासनं न्यस्तावूर्वो वीरासनं क्रमौ ॥८३॥**

श्रितौ—सश्लिष्टौ । उत्तराधरे—उत्तराधर्येण स्थापिते । ते—जङ्घे । ऊर्वो.—सक्थ्नोरुपरि ।

९ उक्त च—

'त्रिविध पद्मपर्यङ्कवीरासनस्वभावकम् ।
आसन यत्नत कार्यं विदधानेन वन्दनाम् ॥
तत्र पद्मासन पादौ जङ्घाभ्या श्रयतो यतेः ।
१२ तयोरुपर्यधोभागे पर्यङ्कासनमिष्यते ॥
ऊर्वोरुपरि कुर्वाण. पादन्यास विधानतः ।
वीरासन यतिर्धत्ते दुष्करं दीनदेहिनः ॥' [ ]

वन्दनाकी सिद्धिके लिए तत्पर साधुको तृण, काष्ठ या पाषाणसे बना ऐसा आसन लेना चाहिए जिसमे खटमल आदि जन्तु न हो, न उसपर बैठनेसे चरमर आदि शब्द हो, छिद्र रहित हो, स्पर्श सुखकर हो, कील-काँटा न गड़ता हो, स्थिर हो—हिलता-डुलता न हो तथा विनयको बढानेवाला हो अर्थात् न बहुत ऊँचा हो और न ऊपरको उठा हुआ हो ॥८२॥

आगे वन्दनाके योग्य तीन आसनोका स्वरूप कहते है—

जिसमे दोनों पैर जघासे मिल जाये उसे पद्मासन कहते हैं। और दोनो जंघाओंको ऊपर-नीचे रखनेपर पर्यंकासन होता है। तथा दोनों जंघाओंसे ऊपर दोनों पैरोके रखनेपर वीरासन होता है ॥८३॥

विशेषार्थ—भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने महापुराणमें[2] पर्यंकासन और कायोत्सर्गको सुखासन कहा है और इनसे भिन्न आसनोंको विषमासन कहा है। साथ ही यह भी कहा है कि ध्यान करनेवाले मुनिके इन दोनो आसनोंकी प्रधानता रहती है। और उन दोनोंमे भी पर्यंकासन अधिक सुखकर माना जाता है। किन्तु उन्होने पर्यंकासनका स्वरूप नहीं बतलाया।

सोमदेव सूरिने आसनोंका स्वरूप इस प्रकार कहा है[3]—जिसमे दोनो पैर दोनों घुटनोंसे नीचे दोनों जघाओंपर रहते है वह पद्मासन है। जिसमें दोनों पैर दोनो घुटनोसे

१. 'स्थेयोऽछिद्र सुखस्पर्शं विशब्दमप्यजन्तुकम् । तृणकाष्ठादिक गाह्य विनयस्योपवृंहकम् ॥'—अमि श्रा ८।४४

२ 'वैमनस्ये च कि ध्यायेत् तस्मादिष्ट सुखासनम् ।
कायोत्सर्गश्च पर्यङ्कस्ततोऽन्यद्विषमासनम् ॥
तदवस्थाद्वयस्यैव प्राधान्य ध्यायतो यते. ।
प्रायस्तत्रापि पल्यङ्कमामनन्ति सुखासनम् ॥'—महापु. २१।७१-७२ ।

३ 'सन्यस्ताभ्यामधोऽङ्घ्रिभ्यामुर्वोरुपरि युक्तित ।
भवेच्च समगुल्फाभ्या पद्मवीरसुखासनम् ॥'—उपासकाध्ययन ७३२ श्लोक ।

अन्ये त्वाहु.—

'जङ्घाया जङ्घयाश्लिष्टे मध्यभागे प्रकीर्तितम् ।
पद्मासन सुखाधायि सुसाधं सकलैर्जनै ॥ ३
वुधैरुपर्यधोभागे जङ्घयोरुभयोरपि ।
समस्तयोः कृते ज्ञेयं पर्यङ्कासनमासनम् ॥
ऊर्वोरुपरि निक्षेपे पादयोर्विहिते सति । ६
वीरासनं चिर कर्तुं शक्यं धीरैर्न कातरै. ॥' [अमि. श्रा. ८।४५-४७]

अपि च—

'जङ्घाया मध्यभागे तु संश्लेषो यत्र जङ्घया । ९
पद्मासनमिति प्रोक्त तदासनविचक्षणै ॥' [योगशास्त्र ४।१२९]
'स्याज्जङ्घयोरधोभागे पादोपरि कृते सति ।
पर्यङ्को नाभिगोत्तानदक्षिणोत्तरपाणिक ॥ १२
वामोऽङ्घ्रिदक्षिणोरूर्ध्वं वामोरुपरि दक्षिणः ।
क्रियते यत्र तद्वीरोचितं वीरासनं हितम् ॥' [योगशास्त्र ४।१२५-१२६] ॥८३॥

ऊपर रहते हैं वह वीरासन है। और जिसमे दोनो पैरोंकी गाँठ बरावरमे रहती हैं वह सुखासन है।

आचार्य अमितगतिने कहा है—समभागसे जंघासे जघाका गाढ सम्बन्ध पद्मासन है। यह सुखकारक होनेसे सब लोगोंके द्वारा सरलतासे किया जा सकता है। समस्त दोनो जंघाओंको ऊपर-नीचे रखनेपर पर्यंकासन होता है। दोनो पैरोको दोनों ऊरुपर रखनेपर वीरासन होता है। इसे वीर पुरुष ही चिरकाल तक कर सकते है, कायर नहीं कर सकते। आचार्य हेमचन्द्र (श्वे.) ने कहा है—दोनों जंघाओंके नीचेके भागको दोनों पैरोंके ऊपर रखनेपर तथा दोनों हाथोंको नाभिके पास ऊपरको करके वाये हाथपर दाहिना हाथ रखना पर्यंकासन है। जिसमे वायाँ पैर दक्षिण ऊरुके ऊपर और दाहिना पैर वाये ऊरुके ऊपर रखा जाता है उसे वीरासन कहते हैं। यह वीरोंके योग्य है। और जिसमे जंघाका दूसरी जघाके साथ मध्य भागमे गाढ सम्वन्ध होता है, उसे पद्मासन कहते हैं।

प. आशाधरजीने उक्त मतोंको अपनी टीकामे 'अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं' ऐसा लिखकर उद्धृत किया है। और अपने लक्षणोंके समर्थनमें कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं।

पं. आशाधरजीने इन्हीं तीनो लक्षणोंको एक श्लोकमे निवद्ध किया है। इनमे वीरासनके लक्षणमे तो मतभेद नहीं है। सभीने दोनों पैरोंको दोनों घुटनोसे ऊपर जो ऊरु है उसपर रखकर वैठनेको वीरासन कहा है। शेप दोनो आसनोके लक्षणोंमें मतभेद प्रतीत होता है। सोमदेवने पर्यंकासनको ही सुखासन कहा है ऐसा प्रतीत होता है। अमितगति पद्मासनको सुखसाध्य वतलाते हैं। उन्होंने उसका जो लक्षण किया है वह है भी सुखसाध्य। दोनो जघाओंको मिलाकर वैठना सरल है। कठिनता तो पैरोंको जंघाओंके ऊपर रखनेमे होती है। हेमचन्द्र भी पद्मासनका यही लक्षण करते हैं। आजकल जो जिनमूर्तियाँ देखी जाती हैं उनके आसनको पर्यंकासन कहा जाता है। उनके दोनों चरण दोनो जंघाओंके ऊपर स्थित होते हैं। किन्तु यह आसन सुखासन नहीं है। दोनों जाँघोंको परस्परमे संश्लिष्ट करके वैठना

अथ वन्दनाया स्थानविशेषनिर्णयार्थमाह—

स्थीयते येन तत्स्थानं वन्दनायां द्विधा मतम् ।
३ **उद्भीभावो निषद्या च तत्प्रयोज्यं यथाबलम् ॥८४॥**

निषद्या—उपवेशनम् । उक्तं च—

'स्थीयते येन तत्स्थानं द्विप्रकारमुदाहृतम् ।
६ वन्दना क्रियते यस्मादुद्भीभूयोपविश्य वा ॥' [ ] ॥८४॥

अथ कृतिकर्मयोग्य मुद्राचतुष्टयं व्याचिख्यासुर्जिनमुद्रायोगमुद्रयोर्लक्षणमुन्मुद्रयति—

मुद्राश्चतस्रो व्युत्सर्गस्थितिर्जैनीह यौगिकी ।
९ **न्यस्तं पद्मासनाद्यङ्के पाण्योरुत्तानयोर्द्वयम् ॥८५॥**

व्युत्सर्गस्थितिर्जैनी । प्रलम्बितभुजेत्यादिना प्रागुक्ता जिनमुद्रा ।

उक्त च—

१२ 'जिनमुद्रान्तर कृत्वा पादयोश्चतुरङ्गुलम् ।
ऊर्ध्वजानोरवस्थानं प्रलम्बितभुजद्वयम् ॥' [अमि. श्रा ८।५३]

यौगिकी—योगमुद्रा । उक्त च—

१५ 'जिना. पद्मासनादीनामङ्कमध्ये निवेशनम् ।
उत्तानकरयुग्मस्य योगमुद्रा बभाषिरे ॥' [अमि. श्रा. ८।५५] ॥८५॥

अथ वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिमुद्रा च निर्दिशति—

१८ **स्थितस्याध्युदरं न्यस्य कूर्परौ मुकुलीकृतौ ।**
करौ स्याद् वन्दनामुद्रा मुक्ताशुक्तिर्युताङ्गुली ॥८६॥

स्थितस्य—उद्भस्य । अध्युदरं—उदरस्योपरि । युताङ्गुली । मुकुलीकृतौ करावेव संलग्नाङ्गुलिकौ
२१ स्थितस्य पूर्ववत् मुक्ताशुक्तिर्नाम मुद्रा । उक्त च—

सरल होता है । या बायें पैरके ऊपर दायाँ पैर रखकर बैठना सुखासन है जैसा सोमदेवने कहा है ॥८३॥

आगे वन्दनाके स्थान-विशेषका निर्णय करते हैं—

वन्दना करनेवाला जिस रूपसे स्थिर रहता है उसे स्थान कहते हैं। वे स्थान दो माने गये हैं । एक खड़े होना, दूसरा बैठना । वन्दना करनेवालेको उनमे-से अपनी शक्तिके अनुसार कोई एक स्थानका उपयोग करना चाहिए ॥८४॥

कृतिकर्मके योग्य चार मुद्राएँ होती हैं । उनमे-से जिनमुद्रा और योगमुद्राका लक्षण कहते हैं—

मुद्रा चार होती है । उनमे-से कायोत्सर्गसे खड़े होना जिनमुद्रा है । तथा पद्मासन या पर्यंकासन या वीरासनसे बैठकर गोदमे दोनों हथेलियोको ऊपरकी ओर करके स्थापित करना योगमुद्रा है ॥८५॥

विशेषार्थ—कृतिकर्मके योग्य मुद्राओंमे-से यहाँ दो मुद्राओका स्वरूप कहा है। अमितगति आचार्यने भी कहा है—दोनों पैरोंके मध्यमे चार अगुलका अन्तर रखकर तथा दोनों हाथोंको नीचेकी ओर लटकाकर खड़े होना जिनमुद्रा है ॥८५॥

आगे वन्दनामुद्रा और मुक्ताशक्तिमुद्राका स्वरूप कहते हैं—

खड़े होकर दोनो कोहनियोंको पेटके ऊपर रखकर तथा दोनों हाथोको मुकुलित करना

'मुकुलीकृतमाधाय जठरोपरि कूर्परम् ।
स्थितस्य वन्दनामुद्रा करद्वन्द्व निवेदितम् ॥' [अमि. श्रा. ८।५४]

तथा— ३

'मुक्ता शुक्तिर्मता मुद्रा जठरोपरि कूर्परम् ।
ऊर्ध्वजानो. करद्वन्द्वं संलग्नागुलि सूरिभि. ॥' [अमि श्रा ८।५६] ॥८६॥

अथ मुद्राणा यथाविषय प्रयोगनिर्णयार्थमाह— ६

स्वमुद्रा वन्दने मुक्ताशुक्तिः सामायिकस्तवे ।
योगमुद्रास्यया स्थित्या जिनमुद्रा तनूज्झने ॥८७॥

स्वमुद्रा—वन्दनामुद्रा प्रयोक्तव्येत्युपस्कार । सामायिकस्तवे—सामायिकं च णमो अरहंताणमित्यादि दण्डक', स्तवश्च थोस्सामीत्यादि दण्डक । (सामायिकं च स्तवश्च) सामायिकस्तवस्तस्मिन् । आस्यया—उपवेशनेन । तनूज्झने—क्रियमाणे । स्थित्या—उद्भीभावेन । ॥८७॥ ९

अथावर्तस्वरूपनिरूपणार्थमाह— १२

शुभयोगपरावर्तानावर्तान् द्वादशाहुराद्यन्ते ।
साम्यस्य हि स्तवस्य च मनोङ्गगीःसंयतं परावर्त्यम् ॥८८॥

शुभयोगपरावर्तान्—शुभा हिंसादिरहितत्वात् प्रशस्ता योगा मनोवाक्कायव्यापारास्तेषा परावर्ता पूर्वावस्थात्यागेनावस्थान्तरप्रापणानि । आद्यन्ते—आरम्भे समाप्तौ च । साम्यस्य—णमो अरहताणमित्यादि सामायिकदण्डकस्य । स्तवस्य—थोस्सामीत्यादिदण्डकस्य । मनोङ्गगी —चित्तकायवाचम् । सयतं—निरुद्धपापव्यापारम् । मनोङ्गगी'संयतमिति वा समस्तम् । तत्र मनोङ्गगिरा सयत संयमनमिति विग्रह । परावर्त्यं—अवस्थान्तर नेतव्यं वन्दनोद्यतैरिति शेष । तद्यथा—सामायिकस्यादौ क्रियाविज्ञापन विकल्पत्यागेन तदुच्चारण प्रति मनस प्रणिधानं संयतमन परावर्तनमुच्यते । तथा भूमिस्पर्शलक्षणावनतिक्रियावन्दनामुद्रात्यागेन पुनरुत्थितस्य मुक्ताशुक्तिमुद्राङ्कितहस्तद्वयपरिभ्रमणत्रय सयतकायपरावर्तनमाख्यायते । १५ १८ २१

वन्दनामुद्रा है। तथा इसी स्थितिमे दोनों हाथोंकी अँगुलियोंको परस्परमें मिलाना मुक्ताशुक्तिमुद्रा है ॥८६॥

आगे इन चार मुद्राओंमे-से कब किस मुद्राका प्रयोग करना चाहिए, यह बताते हैं—

आवश्यक करनेवालेको वन्दना करते समय वन्दनामुद्राका प्रयोग करना चाहिए। 'णमो अरहंताण' इत्यादि सामायिक दण्डक तथा 'थोस्सामि' इत्यादि चतुर्विंशतिस्तवके समय मुक्ताशुक्तिमुद्राका प्रयोग करना चाहिए। इसी प्रकार बैठकर कायोत्सर्ग करते समय योगमुद्रा और खड़े होकर कायोत्सर्ग करते समय जिनमुद्राको धारण करना चाहिए ॥८७॥

विशेषार्थ—आवश्यक करते समय मुद्राका प्रयोग करना आवश्यक है। हिन्दू पुराणोंमें तो मुद्राके अनेक भेद कहे हैं और लिखा है कि जो दैविक कर्म विना मुद्राके किया जाता है वह निष्फल होता है (देखो—शब्दकल्पद्रुममे 'मुद्रा' शब्द) ॥८७॥

आगे आवर्तका स्वरूप कहते है—

शुभयोगके परावर्तनको आवर्त कहते हैं। वे आवर्त बारह होते हैं। क्योंकि वन्दना करनेवालोंको सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमे मन, वचन और कायको पापाचारसे रोककर शुभ आचारमें लगाना चाहिए ॥८८॥

विशेषार्थ—मन, वचन और कायके व्यापारको योग कहते हैं। हिंसा आदिसे रहित होनेसे प्रशस्त योगको शुभयोग कहते है। उनके परावर्तको अर्थात् पूर्व अवस्थाको त्यागकर

'चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि' इत्याद्युच्चारणविरामेण 'णमो अरहंताणं' इत्याद्युच्चारणं संयतवाक्परावर्तनमभिधीयते। एवं सामायिकदण्डकस्य [illegible] द्रष्टव्यम्। तथैव च स्तवदण्डकस्याद्यन्तयोश्च पृथक् तत्त्रयमवसेयम्। इति समुदितानि चत्वारि त्रयाणि द्वादशावर्ता एकस्मिन् कायोत्सर्गे भवन्ति। एतच्च भगवद्वसुनन्दिसैद्धान्तदेवपादैराचारटीकायां 'दुओ णदं जहाजादं' इत्यादिसूत्रे व्याख्यातं द्रष्टव्यम्।

तथैव चान्वाख्यातं क्रियाकाण्डेऽपि—

'द्वे नते साम्यनुत्यादौ भ्रमास्त्रिस्त्रियोगगाः।
त्रिस्त्रिर्भ्रमे प्रणामश्च साम्ये स्तवे मुखान्तयोः॥'

एतदेव चामितगतिरप्यन्वाख्यात्—

'कथिता द्वादशावर्ता वपुर्वचनचेतसाम्।
स्तवसामायिकाद्यन्तपरावर्तनलक्षणाः॥' [अमि. श्रा. ८।६५]

इदं चाचारटीकाव्याख्यानमवधार्यम्—

'चतसृषु दिक्षु चत्वारः प्रणामा एकस्मिन् भ्रमणे। एवं त्रिषु भ्रमणेषु द्वादश भवन्तीति॥'
[मूलाचार गा. ६०१ टीका] ॥८८॥

अथ वृद्धव्यवहारानुरोधार्थं हस्तपरावर्तनलक्षणान्यावर्तानुपदिशति—

अवस्थान्तर धारण करनेको आवर्त कहते हैं, वे बारह होते हैं। क्योंकि सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमें किये जाते हैं। अतः २ × ३ × २ = १२ होते हैं। अथवा मनोवाग्गात्र और संयतको समस्त करना चाहिए। उसका अर्थ होगा—मन, शरीर और वाणीका संयमन। अर्थात् सामायिकके प्रारम्भ और समाप्तिमें मन, वचन, कायका संयमन करना चाहिए। स्तवके प्रारम्भ और समाप्तिमें मन, वचन, कायका संयमन करना चाहिए। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामायिक दण्डकके आदिमें विकल्पोंको त्यागकर उसके उच्चारणके प्रति मन लगाना संयतमनपरावर्तन है। तथा भूमिका स्पर्श करते हुए वन्दनामुद्रापूर्वक जो नमनक्रिया की जाती है उसे त्यागकर पुनः खड़ा होकर दोनों हाथोंको मुक्ताशुक्तिमुद्रामें स्थापित करके तीन बार घुमानेको संयतकायपरावर्तन कहते हैं। 'चैत्यभक्तिकायोत्सर्गं करोमि' इत्यादि उच्चारण करके 'णमो अरहंताणं' इत्यादि उच्चारण करना संयतवाक्परावर्तन है। इस प्रकार सामायिक दण्डकके प्रारम्भमें शुभयोग परावर्तन रूप तीन आवर्त होते हैं। इसी प्रकार सामायिक दण्डकके अन्तमें भी यथायोग्य तीन आवर्त करना चाहिए। तथा इसी प्रकार चतुर्विंशतिस्तव दण्डकके आदि और अन्तमें भी तीन-तीन आवर्त करना चाहिए। इस प्रकार मिलकर ४ × ३ = १२ आवर्त एक कायोत्सर्गमें होते हैं। यह सब कथन आचार्य वसुनन्दि सैद्धान्तिकने मूलाचारकी गाथा 'दुओणदं जधा जादं' (७।१०४) की टीकामें लिखा है। संस्कृत क्रियाकाण्डमें भी ऐसा ही कहा है—अर्थात् सामायिक और चतुर्विंशतिस्तवके आदि और अन्तमें दो नमस्कार मन-वचन-काय सम्बन्धी तीन-तीन आवर्त और चारों दिशाओंमें-से प्रत्येक दिशामें तीन-तीन आवर्तके पीछे एक प्रणाम होता है। आचार्य अमितगतिने भी ऐसा ही कहा है—अर्थात् स्तव और सामायिकके आदि और अन्तमें मन-वचन-कायके परावर्तन रूप बारह आवर्त कहे हैं ॥८८॥

इस प्रकार आवर्तका अर्थ तीनों योगोंका परावर्तन होता है। किन्तु वृद्धजनोंके व्यवहारमें इसे हाथोंका परावर्तन भी कहते हैं। इसलिए यहाँ उसका भी कथन करते हैं—

त्रिः संपुटीकृतौ हस्तौ भ्रमयित्वा पठेत् पुनः ।
साम्यं पठित्वा भ्रमयेत्तौ स्तवेऽप्येतत्तदाचरेत् ॥८९॥

पठेत्—साम्यमुच्चारयेदिति सवन्ध । भ्रमयेत्—पुनस्त्रीन् वारानावर्तयेदिति सवन्ध. । उक्त च चारित्रसारे—व्युत्सर्गतपोवर्णनप्रस्तावे—'क्रिया कुर्वाणो वीर्योपगूहनमकृत्वा शक्त्यनुरूपत स्थितेन असक्त सन् पर्यङ्कासनेन वा त्रिकरणशुद्धचा सपुटीकृतकर क्रियाविज्ञापनपूर्वक सामायिकदण्डकमुच्चारयन् तदावर्तत्रय यथाजातशिरोनमनमेकं भवति । अनेन प्रकारेण सामायिकदण्डकसमासावपि प्रवर्त्य यथोक्तकाल जिनगुणानुस्मरणसहित कायव्युत्सर्गं कृत्वा द्वितीयदण्डकस्यादावन्ते च तथैव प्रवर्तताम् । एवमेकस्य कायोत्सर्गस्य द्वादशावर्ताश्चत्वारि शिरोवनमनानि भवन्ति' इत्यादि ॥८९॥

अथ शिरोलक्षणमाह—

प्रत्यावर्तत्रयं भक्त्या नन्नमत् क्रियते शिरः ।
यत्पाणिकुड्मलाङ्कं तत् क्रियायां स्याच्चतुःशिरः ॥९०॥

नन्नमत्—भृश पुन पुनर्वा नमत् । प्रणमदिति वा पाठ. । क्रियाया—चैत्यभक्त्यादिकायोत्सर्गविषये । चतु —चतुरो वारान् । सामायिकदण्डकस्य आदावन्ते च तथा स्तवदण्डकस्य चावर्तत्रयप्रयोगोत्तरकाल शिरोवनमनविधानात् । अथवा चतुर्णां शिरसा समाहारश्चतु शिर इति व्याख्येयम् ॥९०॥

अथ चैत्यभक्त्यादिपु प्रकारान्तरेणाप्यावर्तशिरसा सभवोपदेशार्थमाह—

आवश्यक करनेवाले साधुको 'णमो अरहंताणं' इत्यादि सामायिकदण्डकका उच्चारण करनेसे पहले दोनों हाथोंको मुकुलित करके तीन वार घुमाना चाहिए। फिर सामायिक पाठ पढना चाहिए। पढ चुकनेपर पुनः उसी तरह दोनों हाथोंको मुकुलित करके तीन वार घुमाना चाहिए। स्तवदण्डकके आदि और अन्तमें भी ऐसा ही करना चाहिए ॥८९॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमे व्युत्सर्ग तपके वर्णनमे लिखा है—कृतिकर्म करते हुए अपनी शक्तिको न छिपाकर शक्तिके अनुसार खड़े होकर या अशक्त होनेपर पर्यंकासनसे बैठकर मन-वचन-कायको शुद्ध करके, दोनो हाथोंको मुकुलित करे। फिर क्रियाविज्ञापनपूर्वक सामायिक दण्डकका उच्चारण करते हुए तीन आवर्त और एक बार सिरका नमन करे। इसी प्रकार सामायिक दण्डककी समाप्ति होनेपर करे तथा यथोक्त काल तक जिनभगवान्‌के गुणोंका स्मरण करते हुए कायोत्सर्गको करके स्तवदण्डकके आदि और अन्तमे भी ऐसा ही करे। इस प्रकार एक कायोत्सर्गके वारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं। अथवा एक प्रदक्षिणा करनेपर प्रत्येक दिशामे तीन आवर्त और एक नमस्कार इस तरह चारो दिशाओमे वारह आवर्त और चार शिरोनमन होते हैं। यदि इससे अधिक हो जाये तो कोई दोष नहीं है ॥८९॥

आगे शिरोनतिका स्वरूप कहते है—

चैत्यभक्ति आदि कायोत्सर्गके विपयमे तीन-तीन आवर्तके पश्चात् दोनों हाथोको मुकुलित करके मस्तकसे लगानेपर जो चार वार भक्तिपूर्वक नमस्कार किया जाता है उसे शिरोनति कहते हैं। क्योंकि सामायिकदण्डकके आदि और अन्तमे तथा स्तवदण्डकके आदि और अन्तमे तीन आवर्तके पश्चात् सिरको नमन करनेका विधान है ॥९०॥

चैत्यभक्ति आदिमे आवर्त और शिरोनति दूसरी तरहसे भी होते है। उसीको आगे वतलाते है—

प्रतिभ्रामरि वार्चादिस्तुतौ दिश्येकशश्चरेत् ।
त्रीनावर्तान् शिरश्चैकं तदाधिक्यं न दुष्यति ॥९१॥

३ प्रतिभ्रामरि—एकैकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे । अर्चादिस्तुतौ—चैत्यादिभक्तौ । दिश्येकशः—एकैकस्या पूर्वादिदिशि । शिर —करमुकुलाङ्कितशिर करणम् । उक्तं च—

'चतुर्दिक्षु विहारस्य परावर्तास्त्रियोगगा ।
६ प्रतिभ्रामरि विज्ञेया आवर्ता द्वादशापि च ॥' [ ]

तदाधिक्य—आवर्तांना शिरसा चोक्तप्रमाणादधिकीकरणं प्रदक्षिणात्रये तत्सभवात् । उक्तं च चारित्रमारे—एकस्मिन् प्रदक्षिणीकरणे चैत्यादीनामभिमुखीभूतस्यावर्तत्रयैकावनमने कृते चतसृष्वपि दिक्षु द्वादशा-
९ वर्ताश्चतस्र शिरोवनतयो भवन्ति । आवर्तनाना शिर प्रणतीनामुक्तप्रमाणादाधिक्यमपि न दोषायेति ॥९१॥

अथोक्तस्यैव समर्थनार्थमाह—

दीयते चैत्यनिर्वाणयोगिनन्दीश्वरेषु हि ।
१२ **वन्द्यमानेष्वधीयानैस्तत्तद्भक्ति प्रदक्षिणा ॥९२॥**

स्पष्टम् ॥९२॥

अथ स्वमतेन परमतेन च नतिनिर्णयार्थमाह—

अथवा चैत्यआदि भक्तिमे प्रत्येक प्रदक्षिणामे एक-एक दिशामे तीन आवर्त और दोनों हाथोंको मुकुलित करके मस्तकसे लगाना इस प्रकार एक शिर करना चाहिए। इस तरह करनेसे आवर्त और शिरोनतिका आधिक्य दोषकारक नहीं होता ॥९१॥

विशेषार्थ—ऊपर दो प्रकार बतलाये हैं। एक प्रकार है सामायिक और स्तवके आदि और अन्तमे तीन आवर्त और एक शिरोनति करना। इस तरहसे बारह आवर्त और चार शिरोनति होते हैं। दूसरा इस प्रकार है चारो दिशाओंमे-से प्रत्येक दिशामे प्रदक्षिणाके क्रम-से तीन आवर्त और एक शिरोनति। इस तरह एक प्रदक्षिणामे बारह आवर्त और चार शिरोनति होती हैं। किन्तु इस तरह तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तों और शिरोनतिकी संख्या बढ जाती है। किन्तु इसमे कोई दोष नहीं है। चारित्रसारमे ऐसा लिखा है जो हम पहले लिख आये हैं ॥९१॥

आगे इसीका समर्थन करते है—

क्योंकि चैत्यवन्दना, निर्वाणवन्दना, योगिवन्दना, और नन्दीश्वर वन्दना करते समय उन-उन भक्तियोंको पढते हुए साधुगण प्रदक्षिणा दिया करते हैं ॥९२॥

विशेषार्थ—चैत्यवन्दना करते समय चैत्यभक्ति, निर्वाणवन्दना करते समय निर्वाणभक्ति, योगिवन्दना करते समय योगिभक्ति और नन्दीश्वर वन्दना करते समय नन्दीश्वर भक्ति साधुगण पढते हैं। और पढते हुए प्रदक्षिणा करते हैं जिससे चारो दिशाओंमे स्थित चैत्य आदिकी वन्दना हो सके। अत प्रत्येक दिशामे तीन आवर्त और एक नमस्कार करते हैं। तीन प्रदक्षिणा करनेपर आवर्तों और नमस्कारकी संख्या तिगुनी हो जाती है जो दोष नहीं है ॥९२॥

आगे ग्रन्थकार अपने और दूसरे आचार्योंके मतसे शिरोनतिका निर्णय करते हैं—

द्वे साम्यस्य स्तुतेश्चादौ शरीरनमनान्नती ।
वन्दनाद्यन्तयोः कैश्चिन्निविश्य नमनान्मते ॥९३॥

शरीरनमनात्—पञ्चाङ्गप्रणमनात् भूमिस्पर्शादित्यर्थ । कैश्चित्—स्वामिसमन्तभद्रादिभि । मते द्वे नती इष्टे। यथाहुस्तत्रभवन्त श्रीमत्प्रभेन्दुदेवपादा रत्नकरण्डकटीकाया चतुरावर्तस्त्रितय इत्यादिसूत्रे 'द्विनिपद्य' इत्यस्य व्याख्याने देववन्दना कुर्वता हि प्रारम्भे समासो चोपविश्य प्रणाम कर्तव्य इति ॥९३॥

सामायिक दण्डक और चतुर्विंशतिस्तवके आदिमें पंचाग नमस्कारपूर्वक दो नमस्कार करना चाहिए। किन्तु स्वामी समन्तभद्र आदिने वन्दनाके आदि और अन्तमे बैठकर नमस्कार करनेसे दो नति मानी हैं ॥९३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमे कहा है—एक कृतिकर्ममें दो नति, यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर और तीन शुद्धियाँ होती हैं। इन सबका स्पष्टीकरण पहले किया गया है। श्वेताम्बर आगममें भी दो नति, एक यथाजात, बारह आवर्त, चार शिर, तीन गुप्तिके अतिरिक्त दो प्रवेश और एक निष्क्रमण इस तरह सब २५ आवश्यक कृतिकर्ममे बतलाये हैं। यह गुरु-वन्दनाके क्रममे बतलाये गये हैं। षट्खण्डागमके वर्गणा खण्डमे भी क्रियाकर्मके नामसे आता है—'तमादाहीणं पदाहिणं तिक्खुत्तं तियोणदं चदुसिरं बारसावत्तं तं सव्वं किरियाकम्मं णाम"—पु. १३, पृ ८८। धवलामे जो इसकी व्याख्या दी है उसका आवश्यक अनुवाद दिया जाता है—आत्माधीन होना, प्रदक्षिणा करना, तीन बार अवनति, चार शिर, बारह आवर्त ये सब क्रियाकर्म हैं।

आत्माधीन होना आदिके भेदसे क्रियाकर्म छह प्रकारका है। उनमें-से क्रियाकर्म करते समय आत्माधीन होना पराधीन न होना आत्माधीन है। वन्दना करते समय गुरु, जिन, जिनालयकी प्रदक्षिणा करके नमस्कार करना प्रदक्षिणा है। प्रदक्षिणा और नमस्कार आदिका तीन बार करना त्रिकृत्वा है। अथवा एक ही दिनमे जिन, गुरु और ऋषियोंकी वन्दना तीन बार की जाती है इसलिए त्रिकृत्वा कहा है। 'ओणद'का अर्थ अवनमन या भूमिमे बैठना है। यह तीन बार किया जाता है इसलिए तीन बार अवनमन कहा है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—शुद्धमन होकर, पैर धोकर, और जिनेन्द्रके दर्शनसे उत्पन्न हुए हर्षसे पुलकित वदन होकर जो जिनदेवके आगे बैठना यह प्रथम अवनमन है। जो उठकर जिनेन्द्र आदिकी विनति करके बैठना यह दूसरा अवनमन है। फिर उठकर सामायिक दण्डकके द्वारा आत्मशुद्धिपूर्वक कषायसहित शरीरका त्याग करके, जिनेन्द्रदेवके अनन्त गुणोका ध्यान करके, चौबीस तीर्थंकरोकी वन्दना करके, फिर जिन-जिनालय और गुरुओंकी स्तुति करके भूमिमे बैठना यह तीसरा अवनमन है। इस प्रकार एक-एक क्रियाकर्ममे तीन ही अवनमन होते हैं। सब क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—सामायिकके आदिमे जिनेन्द्रदेवको सिर नमाना एक सिर है। उसीके अन्तमे सिर नवाना दूसरा सिर है। थ्थोस्सामिदण्डकके आदिमे सिर नवाना तीसरा सिर है। उसीके अन्तमे सिर नवाना

---

१ 'दुओ णद जहाजाद बारसावत्तमेव य।
चदुस्सिर तिसुद्ध च किदियम्म पउजदे ॥'—७।१०४।

२. 'दुओ णय जहाजाय किइकम्म बारसावय।
चउस्सिर तिगुत्त च दुपवेस एगनिक्खमण ॥'—बृहत्कल्पसूत्र ३।४४७०।

अथ प्रणामभेदनिर्णयार्थं श्लोकद्वयमाह—

योगैः प्रणामस्त्रेधाऽर्हज्ज्ञानादेः कीर्तनात्त्रिभिः ।
३ कं करौ ककरं जानुकरं ककरजानु च ॥९४॥
नम्रमेकद्वित्रिचतुःपञ्चाङ्गः कायिकः क्रमात् ।
प्रणामः[1] पञ्चधावाचि यथास्थानं क्रियते सः ॥९५॥

६ क—मस्तकम् । नम्रमेकाङ्ग इत्यादि । योश्च (?) ककर—कं च करौ चेति द्वन्द्व ॥९४॥ स ।
उक्त च—

'मनसा वचसा तन्वा कुरुते कीर्तनं मुनि. ।
९ ज्ञानादीना जिनेन्द्रस्य प्रणामस्त्रिविधो मत. ॥ [ ]
एकाङ्गो नमने मूर्ध्नो द्वयङ्ग' स्यात् करयोरपि ।
त्र्यङ्ग करशिरोनामे प्रणाम कथितो जिनै ॥ [ ]

चौथा सिर है। इस प्रकार एक क्रियाकर्म चतुःशिर होता है। अथवा सभी क्रियाकर्म चतु शिर अर्थात् चतुःप्रधान होता है क्योकि अरहन्त, सिद्ध, साधु और धर्मको प्रधान करके सव क्रियाकर्मोंकी प्रवृत्ति देखी जाती है। सामायिक और त्थोस्मामि दण्डकके आदि और अन्तमे मन-वचन-कायकी विशुद्धि परावर्तनके चार वारह होते है। इसलिए एक क्रियाकर्मको वारह आवर्तवाला कहा है। इस सवका नाम क्रियाकर्म है। स्वामी समन्तभद्रने उक्त कथनोको ही दृष्टिमे रखकर सामायिक प्रतिमाका स्वरूप कहा है—उसमें भी बारह आवर्त, चतु.-शिर, यथाजात, त्रिशुद्धपद तो समान है। धवलामे तिक्खुत्तोका एक अर्थ दिनमें तीन बार किया है। यहाँ भी 'त्रिसन्ध्यमभिवन्दी' कहा है। केवल 'द्विनिषिद्यः'[2] पद ऐसा है जो उक्त दोनों सूत्रोंमें नहीं है। रत्नकरण्डके टीकाकार प्रभाचन्द्रने उसका अर्थ किया है—दो निषद्या—उपवेशन है जिसमे, अर्थात् देववन्दना करनेवालेको प्रारम्भमे और अन्तमे वैठकर प्रणाम करना चाहिए। इसीका मतभेदके रूपमे उल्लेख ग्रन्थकार आशाधरजीने ऊपर किया है। पट्खण्डागमसूत्रमे भी इस दृष्टिसे भिन्न मत है। उससे 'तियोणदं' अर्थात् तीनवार अवनमन कहा है। अवनमनका अर्थ है भूमिस्पर्श। निषद्याका भी अभिप्राय उसीसे है। इस तरह क्रियाकर्मकी विधिमे मामूली-सा मतभेद है ॥९३॥

आगे दो श्लोकोके द्वारा प्रणामके भेद कहते हैं—

मन, वचन और कायकी अपेक्षा प्रणामके तीन भेद है, क्योकि अर्हन्त सिद्ध आदिके ज्ञानादि गुणोंका कीर्तन मन वचन काय तीनोंके द्वारा किया जाता है। उनमे-से शारीरिक प्रणामके पॉच प्रकार है—मस्तकका नम्र होना एकांग प्रणाम है। दोनों हाथोका नम्र होना दोअंग प्रणाम है। दोनो हाथोका मस्तकके साथ नम्र होना तीन अंगी प्रणाम है। दोनो हाथो

---

१ 'एकद्वित्रिचतु पञ्चदेहांशप्रतेर्मत । प्रणाम पञ्चधा देवै पादानतनरामरै ।
एकाङ्ग शिरसो नामे सद्वयङ्ग. करयोर्द्वयो । त्रयाणा मूर्द्धहस्ताना सत्र्यङ्गो नमने मतः ॥
चतुर्णां करजानूना नमने चतुरङ्गक । करमस्तकजानूना पञ्चाङ्ग पञ्चक्ष (?) नते ॥'
—अमित. श्रा. ८।६२-६४।

२ 'चतुरावर्तत्रितयश्चतु प्रणाम स्थितो यथाजात ।
सामयिको द्विनिषिद्यस्त्रियोगशुद्धस्त्रिसध्यमभिवन्दी ॥—रत्नकरण्डश्रा., १३९ श्लो.।

करजानुविनामेऽसौ चतुरङ्गो मनीषिभिः ।
करजानुशिरोनामे पञ्चाङ्गः परिकीर्त्यते ॥
प्रणामः कायिको ज्ञात्वा पञ्चधेति मुमुक्षुभिः । ३
विधातव्यो यथास्थान जिनसिद्धादिवन्दने ॥' [ ] ॥९५॥

अथ क्रियाप्रयोगविधिं नियमयन्नाह—

कालुष्यं येन जातं तं क्षमयित्वैव सर्वत. । ६
सङ्गाच्च चिन्तां व्यावर्त्य क्रिया कार्या फलार्थिना ॥९६॥

कालुष्य—क्रोधाद्यावेशवशाच्चित्तस्य क्षोभ. । येनेति करणे सहार्थे वा तृतीया । यथाह—

'येन केनापि संपन्नं कालुष्य दैवयोगत । ९
क्षमयित्वैव त त्रेधा कर्तव्यावश्यकक्रिया ॥' [ ] ॥९६॥

अथ अमलमिति विशेषण व्याचष्टे—

दोषैर्द्वात्रिंशता स्वस्य यद्व्युत्सर्गस्य चोज्झितम् । १२
त्रियोगशुद्धं क्रमवन्निर्मलं चितिकर्म तत् ॥९७॥

स्वस्य देववन्दनात्मनो । दोषै.—अनादृतादिभि । व्युत्सर्गस्य—कायोत्सर्गस्य । दोषै —घोटकादिभि. । क्रमवत्—प्रशस्तक्रमम् । क्रमविशुद्धमित्यर्थः । चितिकर्म—चितेस्तीर्थकरत्वादिपुण्यार्जनस्य कर्म १५ क्रिया जिनादिवन्दनेत्यर्थ ॥ उक्त च—

'दुओणद जहाजादं वारसावत्तमेव य ।
चदुस्सिरं तिसुद्ध च किदियम्म पउज्जदे ॥ १८
तिविहं तियरणसुद्ध मयरहिय दुविहट्ठाण पुणरुत्त ।
विणएण कमविसुद्धं किदियम्म होदि कायव्व ॥' [मूलाचार गा ६०१-२]

और दोनो घुटनोका नम्र होना चार अगी प्रणाम है । दोनों हाथोंको मस्तकसे लगाकर दोनो घुटनोंके साथ नम्र होना पंचागी प्रणाम है । अर्थात् शरीरके एक अंग मस्तक, दो अंग दोनों हाथ, तीन अंग दोनों हाथ और मस्तक, चार अग दोनो हाथ और दोनो घुटने तथा पॉच अंग दोनों हाथ मस्तकसे लगाकर दोनो घुटनोंको भूमिसे लगाना ये एकाग, दो अंग, तीन अंग, चार अंग और पंचाग प्रणाम है । यह शारीरिक प्रणाम कृतिकर्म करनेवाले यथास्थान करते है ॥९४-९५॥

आगे कृतिकर्मके प्रयोगकी विधि वताते है—

कर्मोंकी निर्जरारूप फल और तीर्थंकरत्व आदि पुण्यका उपार्जन करनेके इच्छुक मुमुक्षुको जिसके साथ क्रोध आदिके आवेगसे चित्तको क्षोभ उत्पन्न हुआ हो उससे क्षमा कराकर तथा समस्त परिग्रहसे मनको हटाकर कृतिकर्म करना चाहिए ॥९६॥

पहले इसी अध्यायके ७८वे श्लोकमे कृतिकर्मको अमल कहा है उस अमल विशेषणको स्पष्ट करते हैं—

जो अपने वत्तीस दोषोसे और कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोसे रहित हो, मन-वचन-कायकी शुद्धिको लिये हो, क्रमसे विशुद्ध हो, उसे पूर्वाचार्य निर्मल चितिकर्म कहते हैं ॥९७॥

विशेषार्थ—जिन आदिकी वन्दनासे पुण्यकर्मका अर्जन होता है इसलिए उसे चितिकर्म भी कहते हैं । जो चितिकर्म अपने वत्तीस दोषोसे तथा कायोत्सर्ग सम्बन्धी दोषोंसे रहित होता है, मन-वचन-कायकी शुद्धिपूर्वक होता है और जिसमे क्रमभग नहीं होता,

'किदियम्म पि कुणतो ण होदि किदियम्मणिज्जराभागी ।
बत्तीसाणण्णदरं साहुट्ठाणं विराहंतो ॥' [मूलाचार गा ६०८] ॥९७॥

३ अथ चतुर्दशभि श्लोकैर्द्वात्रिंशद् वन्दनादोषाल्लक्षयति—

अनादृतमतात्पर्यं वन्दनाया मदोद्धृतिः ।
स्तब्धमत्यासन्नभाव प्रविष्टं परमेष्ठिनाम् ॥९८॥
६ हस्ताभ्यां जानुनोः स्वस्य सस्पर्शः परिपीडितम् ।
दोलायितं चलन् कायो दोलावत् प्रत्ययोऽथवा ॥९९॥
भालेऽङ्कुशवदङ्गुष्ठविन्यासोऽङ्कुशितं मतम् ।
९ निषेदुषः कच्छपवद्रिङ्खा कच्छपरिङ्गितम् ॥१००॥
मत्स्योद्वर्तं स्थितिर्मत्स्योद्वर्तवत् त्वेकपार्श्वतः ।
मनोदुष्टं खेदकृतिर्गुर्वाद्युपरि चेतसि ॥१०१॥
१२ वेदिबद्धं स्तनोत्पीडो दोर्भ्यां वा जानुबन्धनम् ।
भयं क्रिया सप्तभयाद्विभ्यता बिभ्यतो गुरो. ॥१०२॥
भक्तो गणो मे भावीति वन्दारोर्ऋद्धिगौरवम् ।
१५ गौरवं स्वस्य महिमन्याहारादावथ स्पृहा ॥१०३॥

अनादृत—मल इति मध्यदीपकेन दोष इत्यन्तदीपकेन वा योज्यम् ॥९८॥ दोलावत्—दोलायामिव दोलारूढस्येव वा । प्रत्यय । चलन्—इत्येव चलन्ती प्रतीति सशय इत्यर्थ ॥९९॥ रिङ्खा—रिङ्खणम् । १८ कच्छपरिङ्गित—कूर्मवच्चेष्टितम् ॥१००॥ मत्स्योद्वर्तवत् । एकपार्श्वत. स्थिति.—कटिभागोद्वर्तनेनावस्थानम् ॥१०१॥ वेदिबद्धं—वेदिकाबद्ध नाम दोष । स्तनोत्पीड.—स्तनयो प्रपीडनम् । जानुबन्धन—

जिसके पश्चात् जो क्रिया करनी चाहिए वही क्रिया की जाती है वह कृतिकर्म निर्दोष माना गया है। मूलाचारमे कहा है—ग्रन्थ, अर्थ और दोनोके भेदसे अथवा दो नति, बारह आवर्त और चार शिरके भेदसे, अथवा कृत-कारित अनुमोदनाके भेदसे अथवा प्रतिक्रमण, स्वाध्याय और वन्दनाके भेदसे अथवा पचनमस्कार, ध्यान और चतुर्विंशतिस्तवके भेदसे कृति कर्मके तीन भेद है। मन-वचन-कायकी विशुद्धिसे युक्त अथवा दो नति बारह आवर्त और चतु.शिर क्रियासे विशुद्ध, जाति आदिके मदसे रहित, पर्यंक और कायोत्सर्ग रूपमे पुनरुक्त—जिसमे बार-बार वही क्रिया की जाती है, और जो क्रमसे विशुद्ध है ऐसे कृतिकर्मको विनयपूर्वक करना चाहिए। किन्तु यदि साधु बत्तीस दोषोमे-से किसी भी एक दोषसे विराधना करता है तो वह साधु कृतिकर्म करते हुए भी कृतिकर्मसे होनेवाली निर्जराका अधिकारी नहीं होता ॥९७॥

आगे चौदह श्लोकोके द्वारा बत्तीस दोषोको कहते है—

समस्त आदर भावसे रहित वन्दना करना अनादृत नामक प्रथम दोष है। जाति आदिके भेदसे आठ प्रकारके मदसे युक्त होना स्तब्ध नामक दूसरा दोष है। अर्हन्त आदि परमेष्ठियोंके अतिनिकट होना प्रविष्ट नामका तीसरा दोष है ॥९८॥

अपने हाथोंसे घुटनोंका संस्पर्श करना परिपीडित नामक चतुर्थ दोष है। झूलनेकी तरह शरीरको आगे-पीछे करते हुए वन्दना करना दोलायित नामक पाँचवाँ दोष है। अथवा जिसकी स्तुति करता हो उसमें, स्तुतिमे अथवा उसके फलमे सन्देह होना दोलायित दोष है ॥९९॥

योगपट्टरूपेण । सप्तभयात्—मरणादिभयसप्तकाद् हेतो । विभ्यत कर्म विभ्यद्दोष इत्यर्थं ॥१०२॥ गण·—चातुर्वर्ण्यश्रमणसघ । भावी—भविष्यति । वन्दारोः—वन्दना माधुत्वेन कुर्वत । गौरव शेपगौरवमित्यर्थ. ॥१०३॥

स्याद् वन्दने चोरिकया गुर्वादेः स्तेनितं मलः ।
प्रतिनीतं गुरोराज्ञाखण्डनं प्रतिकूल्यतः ॥१०४॥ ३
प्रदुष्टं वन्दमानस्य द्विष्टेऽकृत्वा क्षमां त्रिधा ।
तर्जितं तर्जनान्येषां स्वेन स्वस्याथ सूरिभिः ॥१०५॥ ६
शब्दो जल्पक्रियाऽन्येषामुपहासादि हेलितम् ।
त्रिवलितं कटिग्रीवा हृद्भङ्गो भ्रुकुटिर्नवा ॥१०६॥ ९
करामर्शोऽथ जान्वन्तः क्षेपः शीर्षस्य कुञ्चितम् ।
दृष्टं पश्यन् दिशः स्तौति पश्यत्स्वन्येषु सुष्ठु वा ॥१०७॥

अपने मस्तकपर अकुंशकी तरह अँगूठा रखकर वन्दना करना अंकुशित नामका छठा दोप है। वन्दना करते समय वैठे-वैठे कछुएकी तरह सरकना, कटिभागको इधर-उधर करना कच्छपरिंगित नामका सातवाँ दोप है ॥१००॥

जैसे मछली एक पार्श्वसे उछलती है उसी तरह कटिभागको उचकाकर वन्दना करना मत्स्योद्वर्त नामक आठवाँ दोप है। गुरु आदिके ऊपर चित्तमे आक्षेप करना मनोदुष्ट नामक नौवाँ दोप है ॥१०१॥

वेदीके आकारमे दोनों हाथोंसे वाये और दायें स्तनप्रदेशोंको दवाते हुए वन्दना करना या दोनों हाथोसे दोनो घुटनोंको बाँधते हुए वन्दना करना वेदिकावद्ध नामक दसवाँ दोप है। सात प्रकारके भयोंसे डरकर वन्दना करना भय नामक ग्यारहवाँ दोप है। आचार्यके भयसे कृतिकर्म करना वारहवाँ विभ्यत्ता नामक दोप है ॥१०२॥

चार प्रकारके मुनियोंका संघ मेरा भक्त वन जायेगा यह भावना रखकर वन्दना करनेवाले साधुके ऋद्धिगौरव नामक बारहवाँ दोप होता है। अपने माहात्म्यकी इच्छासे या आहार आदिकी इच्छासे वन्दना करना गौरव नामक चौदहवाँ दोप होता है ॥१०३॥

गुरु आदिकी चोरीसे छिपकर वन्दना करनेपर स्तेनित नामक पन्द्रहवाँ दोप होता है। प्रतिकूल वृत्ति रखकर गुरुकी आज्ञा न मानना प्रतिनीत नामक सोलहवाँ दोप है ॥१०४॥

लडाई-झगड़ेके द्वारा यदि किसीके साथ द्वेषभाव उत्पन्न हुआ हो तो मन, वचन, कायसे उससे क्षमा न माँगकर या उसे क्षमा न करके वन्दना करनेपर प्रदुष्ट नामक सतरहवाँ दोष है। अपनी तर्जनी अंगुलि हिला-हिलाकर शिष्य आदिको भयभीत करना अथवा आचार्य आदिके द्वारा अपनी तर्जना होना तर्जित नामक अठारहवाँ दोप है ॥१०५॥

वार्तालाप करते हुए वन्दना करना शब्द नामक उन्नीसवाँ दोप है। दूसरोंका उपहासादि करना या आचार्य आदिका वचनसे तिरस्कार करके वन्दना करना हेलित नामक वीसवाँ दोप है। मस्तकमे त्रिवली डालकर वन्दना करना इक्कीसवाँ त्रिवलित दोप है ॥१०६॥

विशेषार्थ—मूलाचार ७।१०८ की सस्कृत टीकामे शब्ददोपके स्थानमे पाठान्तर मानकर शाठ्य दोप भी गिनाया है। शठतासे अथवा प्रपंचसे वन्दना करना शाठ्य दोप है ॥१०६॥

कुंचित हाथोंसे सिरकास्पर्श करते हुए वन्दना करना अथवा दोनो घुटनोंके वीचमे

अदृष्टं गुरुदृग्मार्गत्यागो वाऽप्रतिलेखनम् ।
विष्टिः संघस्येयमिति धीः संघकरमोचनम् ॥१०८॥
३ उपध्याप्त्या क्रियालब्धमनालब्धं तदाशया ।
हीनं न्यूनाधिकं चूला चिरेणोत्तरचूलिका ॥१०९॥
मूको मुखान्तर्वन्दारोर्हुङ्काराद्यथ कुर्वतः ।
६ [1]दुर्दरो ध्वनिनान्येषां स्वेनच्छादयतो ध्वनीन् ॥११०॥
द्वात्रिंशो वन्दने गीत्या दोषः सुललिताह्वयः ।
इति दोषोज्झिता कार्या वन्दना निर्जरार्थिना ॥१११॥

९ द्विष्ठे—कलहादिना द्वेषविषयीकृते । अकृत्वा क्षमा—स्वय क्षन्तव्यमकृत्वा तमक्षमयित्वा वा । कृतापराधस्य मनसि क्षमामनुत्पाद्येत्यर्थ । तर्जना—प्रदेशनीपरावर्तनेन भयोत्पादनम् । सूरिभि.—आचार्यादिभि ॥१०५॥ जल्पक्रिया—वार्तादिकथनम् । उपहासादि । आदि शब्देनोद्घट्टनादि । भङ्ग —मोटनम् । १२ भ्रकुटि —ललाटे वलित्रयकरणम् ॥१०६॥ करामर्श—हस्ताभ्या परामर्श. । पश्यन् । यदित्यध्याहार्यम् । पश्यत्सु । अपश्यत्सु न स्तौमीति भाव । सुष्ठु वा । परेषु पश्यत्सु सोत्साह वन्दत इत्यर्थ. ॥१०७॥ विष्टि.—

सिर करके संकुचित होकर वन्दना करना बाईसवाँ कुंचित दोष है। दिशाकी ओर देखते हुए वन्दना करना दृष्टदोष है अथवा आचार्य आदिके देखते रहनेपर तो वन्दना ठीक करना अन्यथा दिशाकी ओर ताकना तेईसवाँ दृष्टदोष है ॥१०७॥

गुरुकी आँखोंसे ओझल होकर वन्दना करना अथवा प्रतिलेखना न करके वन्दना करना अदृष्ट दोष है। यह संघकी बडी जबरदस्ती है कि हठसे क्रिया करायी जाती है ऐसा भाव रखकर वन्दना करना पचीसवाँ संघकरमोचन नामक दोष है ॥१०८॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१०९) की संस्कृत टीकामें संघको कर चुकाना मानकर वन्दना करनेको संघकर मोचन दोष कहा है। अमितगति श्रावकाचार (८।८३) मे भी 'करदानं गणेर्मत्वा'से यही लक्षण किया गया है ॥१०८॥

उपकरण आदिके लाभ होनेसे आवश्यक क्रियाका करना आलब्ध नामक छब्बीसवाँ दोष है। उपकरण आदिकी इच्छासे आवश्यक क्रिया करना अनालब्ध नामका सत्ताईसवाँ दोष है। ग्रन्थ अर्थ और कालके प्रमाणके अनुसार वन्दना न करना हीन नामक अठाईसवाँ दोष है। वन्दनाको तो थोड़े ही समयमे करना और उसकी चूलिकारूप आलोचना आदिमे बहुत समय लगाना उत्तरचूलिका नामक उनतीसवाँ दोष है ॥१०९॥

वन्दना करनेवाला मूककी तरह यदि मुखके ही भीतर पाठ करता है, जो किसीको सुनाई नहीं देता अथवा जो वन्दना करते हुए हुंकार या अंगुलि आदिसे संकेत करता है उसके मूक नामक तीसवाँ दोष होता है। अपनी आवाजसे दूसरोके शब्दोंको दबाकर जो जोरसे वन्दना करता है उसके दर्दुर नामक इकतीसवाँ दोष होता है ॥११०॥

वन्दना करते समय पाठको गाकर पंचमस्वरसे पढना सुललित नामक बत्तीसवाँ दोष है। निर्जराके अभिलाषीको इस प्रकारके दोषोसे रहित वन्दना करनी चाहिए। अथवा यहाँ 'इति' शब्द प्रकारवाची है। अतः क्रियाकाण्ड आदिमे कहे गये इस प्रकारके अन्य वन्दना-दोष भी त्यागने चाहिए। जैसे शिरको नीचा करके या ऊँचा करके वन्दना करना, मस्तकके

१. 'दर्दुरो' इति सम्यक् प्रतिभाति । तथा च 'मूगं च दद्दुर चापि' इति मूलाचारे ७।११०।

हठात् कर्मविधापनम् ॥१०८॥ उपध्याप्त्या—उपकरणादिलाभेन। हीनं मात्राहीनत्वात्। चूला चिरेण—वन्दना स्तोककालेन कृत्वा तच्चूलिकाभूतस्यालोचनादेर्महता कालेन करणम् ॥१०९॥ मूक'—मूकाख्यो दोषः ॥११०॥ गीत्या—पञ्चमादिस्वरेण। इति प्रकारार्थोऽयम्। तेनैव प्रकाराः क्रियाकाण्डाद्युक्ताः। शिरोनामोन्नाममूर्ध्वोपरिकरभ्रमणगुर्वदिरग्रतो भूत्वा पाठोच्चारणादयोऽपि त्याज्या. ॥१११॥ ३

अथैकादशभि. श्लोकै' कायोत्सर्गदोषान् द्वात्रिंशतं व्याचष्टे—

कायोत्सर्गमलोऽस्त्येकमुत्क्षिप्याङ्घ्रिं वराश्ववत्। ६
तिष्ठतोऽश्वो मरुद्धूतलतावच्चलतो लता ॥११२॥
स्तम्भः स्तम्भाद्यवष्टभ्य पट्टकः पट्टकादिकम्।
आरुह्य मालो मालादि मूर्ध्नालम्ब्योपरि स्थितिः ॥११३॥ ९
शृङ्खलाबद्धवत् पादौ कृत्वा शृङ्खलितं स्थितिः।
गुह्यं कराभ्यामावृत्य शबरीवच्छवर्यपि ॥११४॥
लम्बितं नमनं मूर्ध्नस्तस्योत्तरितमुन्नमः। १२
उन्नमय्य स्थितिर्वक्षः स्तनदावत्स्तनोन्नतिः ॥११५॥

ऊपर दोनों हाथोंको घुमाना, गुरुसे आगे होकर पाठका उच्चारण करना आदि। ऐसे सभी दोष त्यागने योग्य हैं ॥१११॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें अन्तिम दोषका नाम चुलुलित है। संस्कृत टीकाकारने इसका संस्कृतरूप चुरुलित किया है और लिखा है—एक प्रदेशमें स्थित होकर हाथोंको मुकुलित करके तथा घुमाकर जो सबकी वन्दना करता है अथवा जो पंचम आदि स्वरसे वन्दना करता है उसके चुरुलित दोष होता है ॥१११॥

आगे ग्यारह श्लोकोंसे कायोत्सर्गके बत्तीस दोष कहते हैं—

जैसे उत्तम घोड़ा एक पैरसे पृथ्वीको न छूता हुआ खड़ा होता है उस तरह एक पैर ऊपरको उठाकर खड़े होना कायोत्सर्गका घोटक नामक प्रथम दोष है। तथा जो वायुसे कम्पित लताकी तरह अंगोंको चलाता हुआ कायोत्सर्ग करता है उसके लता नामक दूसरा दोष होता है ॥११२॥

स्तम्भ, दीवार आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्गसे खड़े होना स्तम्भ नामका तीसरा दोष है। पटा और चटाई आदिपर खड़े होकर कायोत्सर्ग करना पट्टक नामक चतुर्थ दोष है। सिरके ऊपर माला, रस्सी आदिका सहारा लेकर कायोत्सर्ग करना माला नामक पाँचवाँ दोष है ॥११३॥

पैरोंको साँकलसे बँधे हुए-की तरह करके कायोत्सर्गसे खड़े होना शृंखलित नामक छठा दोष है। भीलनीकी तरह दोनों हाथोंसे गुह्य प्रदेशको ढाँककर कायोत्सर्ग करना शबरी नामक सातवाँ दोष है ॥११४॥

विशेषार्थ—मूलाचार (७।१७१) की संस्कृत टीकामें भीलनीकी तरह दोनों जंघाओंसे जघन भागको दबाकर कायोत्सर्ग करनेको शबरी दोष कहा है। किन्तु अमितगतिश्रावकाचारमें दोनों हाथोंसे जघन भागको ढाँकते हुए खड़े होनेको शबरी दोष कहा है।—यथा 'कराभ्यां जघनाच्छाद. किरातयुवतेरिव'—८।९० ॥११४॥

सिरको नीचा करके कायोत्सर्ग करना लम्बित नामक आठवाँ दोष है। सिरको ऊपर

वायसो वायसस्येव तिर्यगीक्षा खलीनितम् ।
खलीनार्ताश्ववद्दन्तघृष्टचोर्ध्वाधश्चलच्छिरः ॥११६॥
३ ग्रीवां प्रसार्यावस्थानं युगार्तगववद्युगः ।
मुष्टिं कपित्थवद् बद्ध्वा कपित्थः शीर्षकम्पनम् ॥११७॥
शिरःप्रकम्पितं संज्ञा मुखनासाविकारतः ।
६ मूकवन्मूकिताख्यः स्यादङ्गुलीगणनाङ्गुली ॥११८॥
भ्रूक्षेपो भ्रूविकारः स्याद् घूर्णनं मदिरार्तवत् ।
उन्मत्त ऊर्ध्वं नयनं शिरोधेर्बहुधाप्यधः ॥११९॥
९ निष्ठीवनं वपुस्पर्शो न्यूनत्वं दिगवेक्षणम् ।
मायाप्रायास्थितिश्चित्रा वयोपेक्षाविवर्जनम् ॥१२०॥

उठाकर कायोत्सर्ग करना उत्तरित नामक नौवाँ दोष है। शिशुको स्तन पिलानेवाली स्त्रीकी तरह छातीको ऊपर उठाकर कायोत्सर्ग करना स्तनोन्नति नामक दसवाँ दोष है ॥११५॥

विशेषार्थ—मूलाचारकी (७।१७१) संस्कृत टीकामें कायोत्सर्ग करते हुए अपने स्तनोंपर दृष्टि रखना स्तनदृष्टि नामक दोष कहा है। किन्तु अमितगति श्रावकाचारमें (८।९१) ऊपरकी तरह ही कहा है ॥११५॥

कायोत्सर्गमें स्थित होकर कौएकी तरह तिरछे देखना वायस नामक ग्यारहवाँ दोष है। तथा लगामसे पीड़ित घोड़ेकी तरह दाँत कटकटाते हुए सिरको ऊपर-नीचे करना खलीनित नामक बारहवाँ दोष है ॥११६॥

विशेषार्थ—वायस कौएको कहते हैं और खलीन लगामको कहते हैं।

जुएसे पीडित बैलकी तरह गरदनको लम्बी करके कायोत्सर्गसे स्थित होना युग नामक तेरहवाँ दोष है। कैथकी तरह मुठ्ठी करके कायोत्सर्गसे खड़े होना कपित्थ नामक चौदहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर सिर हिलाना शिरप्रकम्पित नामक पन्द्रहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर गूँगेकी तरह मुख, नाकको विकृत करना मूक नामक सोलहवाँ दोष है। कायोत्सर्गसे स्थित होकर अँगुलीपर गणना करना अँगुली नामक सतरहवाँ दोष है ॥११७-११८॥

कायोत्सर्गसे स्थिर होकर भ्रुकुटियोको नचाना भ्रूक्षेप नामक अठारहवाँ दोष है। शराबीकी तरह घूमते हुए कायोत्सर्ग करना घूर्णन नामक उन्नीसवाँ दोष है। गरदनको अनेक प्रकारसे ऊँचा उठाना ऊर्ध्वनयन नामक बीसवाँ दोष है। गरदनको अनेक प्रकारसे नमाना अधोनयन नामक इक्कीसवाँ दोष है ॥११९॥

कायोत्सर्गसे स्थित होकर थूकना, खखारना आदि निष्ठीवन नामक बाईसवाँ दोष है। शरीरका स्पर्श करना वपुस्पर्श नामक तेईसवाँ दोष है। प्रमाणसे कम करना न्यूनता नामक चौबीसवाँ दोष है। दिशाओंकी ओर ताकना दिगवेक्षण नामक पचीसवाँ दोष है। मायाचारको लिये हुए विचित्र रूपसे कायोत्सर्ग करना जिसे देखकर आश्चर्य हो यह छब्बीसवाँ दोष है। वृद्धावस्थाके कारण कायोत्सर्ग छोड़ देना सत्ताईसवाँ दोष है ॥१२०॥

व्याक्षेपासक्तचित्तत्वं कालापेक्षाव्यतिक्रमः ।
लोभाकुलत्वं मूढत्वं पापकर्मैकसर्गता ॥१२१॥
योज्येति यत्नाद् द्वात्रिंशद्दोषमुक्ता तनूत्सृतिः । ३
सा हि मुक्त्यङ्गसद्ध्यानशुद्धयै शुद्धैव संमता ॥१२२॥

घोटकास्य । चलत.—कम्पमानस्य ॥११२॥ स्तम्भादि । आदिशब्देन कुड्यादि ॥११३॥ शवरी । दोपनामेदम् ॥११४॥ उन्नम.—उन्नमनम् । इन्नन्तादल् । स्तनदावत्—शिशो स्तनदायिन्या स्त्रिया यथा ६ ॥११५॥ दन्तघृष्ट्या—दन्तकटकटायनेन सह ॥११६॥ युगार्तगववत्—स्कन्धारूढयुगस्य वलीवर्दस्य यथा ॥११७॥ अङ्गुली । दोपनामेदम् ॥११८॥ अध्रग्धः—अधस्तादपि ग्रीवाया नयनम् । एतौ ग्रीवोर्ध्वनयनं ग्रीवाधोनयन चेति द्वौ दोषौ ॥११९॥ निष्ठीवनमित्यादि । अत्र उत्तरत्र च संज्ञा एव लक्षणानि स्पष्टत्वात् ९ ॥१२०॥ मूढत्वं—कृत्याकृत्याविवेचकत्वम् । एकसर्ग.—उत्कृष्टोत्साह ॥१२१॥ शुद्धैव । उक्त च—

'सदोपा न फलं दत्ते निर्दोषायास्तनूत्सृते. ।
किं कूटं कुरुते कार्यं स्वर्णं सत्यस्य जातुचित् ॥' [ ] ॥१२२॥ १२

अथोत्थितोत्थितादिभेदभिन्नायाश्चतुर्विधायास्तनूत्सृतेरिष्टानिष्टफलत्व लक्षयति—

सा च द्वयीष्टा सद्ध्यानादुत्थितस्योत्थितोत्थिता ।
उपविष्टोत्थिता चोपविष्टस्यान्यान्यथा द्वयी ॥१२३॥ १५

चित्तका इधर-उधर होना अट्ठाईसवाँ दोष है। समयकी अपेक्षासे कायोत्सर्गके विविध अंगोंमे कमी करना उनतीसवाँ दोष है। कायोत्सर्ग करते समय लोभवश आकुल होना तीसवाँ दोष है। कृत्य-अकृत्यका विचार न करना मूढता नामक इकतीसवाँ दोष है। पापके कार्योंमे उत्कृष्ट उत्साह होना वत्तीसवाँ दोष है ॥१२१॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें कायोत्सर्गके दोषोंकी संख्या कण्ठोक्त नहीं वतलायी है। दसों दिशाओंके अवलोकनको दस दोषोंमे लेनेसे संख्या यद्यपि पूरी हो जाती है। अमितगति श्रावकाचार (८।८८-९८) मे उनकी संख्या वत्तीस गिनायी है। अन्तके कुछ दोष ग्रन्थकारने श्रावकाचारके अनुसार कहे हैं। मूलाचारमे तो उनके सम्बन्धमें कहा है—धीर पुरुष दु.खो-के विनाशके लिए कपटरहित, विशेषसहित, अपनी शक्ति और अवस्थाके अनुरूप कायोत्सर्ग करते हैं ॥१२१॥

इस प्रकार मुमुक्षुको प्रयत्नपूर्वक वत्तीस दोषोंसे रहित कायोत्सर्ग करना चाहिए। क्योंकि मुक्तिके कारण धर्मध्यान और शुक्लध्यानकी सिद्धिके लिए शुद्ध कायोत्सर्ग ही आचार्योंको मान्य है ॥१२२॥

कायोत्सर्गके उत्थितोत्थित आदि चार भेद है, उनके इष्ट और अनिष्ट फलको वतलाते हैं—

धर्मध्यान और शुक्लध्यानको लेकर कायोत्सर्गके दो भेद आचार्योंको मान्य हैं। खड़े होकर ध्यान करनेवालेके कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते हैं और बैठकर ध्यान करने-वालेके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं। इसके विपरीत आर्त-रौद्रध्यानको लेकर

१. 'णिवकूड सविसेस वलाणुरूव वयाणुरूव च ।
काओसग्ग धीरा करति दुक्खक्खयट्ठाए ॥'—(७-१७४)

उत्थितस्य—उद्धीभूतस्य। अन्येत्यादि। उपविष्टस्योत्थितस्य चार्तरौद्रचिन्तनलक्षणाद्दुर्ध्यानादुपविष्टोपविष्टा च उत्थितोपविष्टा च द्वयी तनूत्सृतिरनिष्टानिष्टफलत्वादित्यर्थः। उक्तं च—

३ 'त्यागो देहममत्वस्य तनूत्सृतिरुदाहृता।
उपविष्टोपविष्टादिविभेदेन चतुर्विधा ॥
आर्तरौद्रद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
६ उपविष्टोपविष्टाख्या कथ्यते सा तनूत्सृति. ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुपविष्टेन चिन्त्यते।
उपविष्टोत्थिता सन्तस्ता वदन्ति तनूत्सृतिम् ॥
९ आर्तरौद्रद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते।
तामुत्थितोपविष्टाख्या निगदन्ति महाधिय ॥
धर्म्यशुक्लद्वय यस्यामुत्थितेन विधीयते।
१२ उत्थितोत्थितनामान ता भाषन्ते विपश्चित ॥' [अमि. श्रा. ८।५७–६१] ॥१२३॥

अथ कायममत्वापरित्यागिनोऽनशनव्रतस्यापि मुमुक्षो स्वेष्टसिद्धिप्रतिबन्धं दर्शयति—

कायोत्सर्ग करनेवाला यदि बैठकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उपविष्टोपविष्ट और खड़े होकर दुर्ध्यान करता है तो उसे उत्थितोपविष्ट कहते हैं ॥१२३॥

विशेषार्थ—यहाँ शुभ और अशुभ ध्यानको लेकर कायोत्सर्गके चार भेद किये हैं—उत्थितोत्थित, उपविष्टोत्थित, उत्थितोपविष्ट और उपविष्टोपविष्ट। इन चारोंका स्वरूप मूलाचारमें इस प्रकार कहा है—'जो खड़े होकर धर्मध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसके इस कायोत्सर्गको उत्थितोत्थित कहते है। उत्थितका अर्थ है खडा हुआ। ऐसा सम्यग्ध्यानी बाह्य रूपसे तो खड़ा ही है अन्तरंग रूपसे भी खडा है अत. उत्थितोत्थित है। जो खड़े होकर आर्त और रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उत्थितोपविष्ट कहते है क्योंकि यद्यपि वह बाह्य रूपसे खड़ा है किन्तु अन्तरंगसे तो बैठा हुआ ही है। जो बैठकर धर्मध्यान या शुक्लध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोत्थित कहते हैं क्योंकि यद्यपि वह बाह्य रूपसे बैठा है किन्तु अन्तरगसे खड़ा ही है। जो बैठकर आर्त-रौद्रध्यानको ध्याता है उसके कायोत्सर्गको उपविष्टोपविष्ट कहते हैं क्योकि वह अन्तरंग और बाह्य दोनों हीसे बैठा है' ॥१२३॥

आगे कहते है कि शरीरसे ममत्व त्यागे बिना उपवास करनेपर भी इष्टसिद्धि नहीं होती—

---

१. 'धम्मं सुक्क च दुवे ज्झायदि झाणाणि जो ठिदो सतो।
एसो काओसग्गो इह उट्ठिदउट्ठिदो णाम ॥
अट्टं रुद्द च दुवे झायदि झाणाणि जो ठिदो सतो।
एसो काओसग्गो उट्ठिदणिविट्ठिदो णाम ॥
धम्मं सुक्कं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो उवट्ठिद उट्ठिदो णाम ॥
अट्ट रुद्दं च दुवे झायदि झाणाणि जो णिसण्णो दु।
एसो काओसग्गो णिसण्णिदणिसण्णिदो णाम ॥'—मूलाचार–७।१७७-१८०।

जीवद्देहममत्वस्य जीवत्याशाप्यनाशुषः
जीवदाशस्य सद्ध्यानवैधुर्यात्तत्पदं कुतः ॥१२४॥

अप्यनाशुषः—अनशनव्रतस्यापि ॥१२४॥ ३

अथातीचारविशुद्धयें क्रियाविशेषसिद्धयें वा यथोक्तकालं कायोत्सर्गं कृत्वा परतोऽपि शक्त्या तत्करणे न दोषः स्यात् । किं तर्हि । गुण एव भवेदित्युपदेशार्थमाह—

हृत्वाऽपि दोषं कृत्वाऽपि कृत्यं तिष्ठेद् तनूत्सृतौ । ६
कर्मनिर्जरणाद्यर्थं तपोवृद्ध्यै च शक्तितः ॥१२५॥

स्पष्टम् ॥१२५॥

अथ त्रियोगशुद्धे कृतिकर्मण्यधिकारिणं लक्षयति— ९

यत्र स्वान्तमुपास्य रूपरसिकं पूतं च योग्यासना—
ध्रप्रयुक्तगुरुक्रमं वपुरनुज्येष्ठोद्धपाठं वचः ।
तत् कर्तुं कृतिकर्म सज्जतु जिनोपास्त्योत्सुकस्तात्त्विक १२
कर्मज्ञानसमुच्चयव्यवसितः सर्वंसहो निःस्पृहः ॥१२६॥

उपास्याः—आराध्या सिद्धादयः । पूतम् । एतेन त्रयमपि विशेष्टव्यम् । गुरुक्रमः—दीक्षा ज्येष्ठानां पुराक्रिया कुर्वतामानुपूर्व्यम् । योग्यासनादिभिरप्रयुक्तोऽनिराकृतोऽसौ येन तत्तथोक्तम् । अनुज्येष्ठोद्धपाठ— १५ ज्येष्ठानुक्रमेण प्रशस्तोच्चारणम् । उत्सुकः—सोत्कण्ठाभिलाषः । उक्तं च—

जिसका शरीरके प्रति ममत्वभाव वर्तमान है अतएव जिसकी इहलोक सम्बन्धी आशाएँ भी जीवित हैं, वह यदि अनशन व्रत भी करे तो उसे मोक्ष पद कैसे मिल सकता है क्योंकि उसके धर्मध्यान और शुक्लध्यानका अभाव है ॥१२४॥

विशेषार्थ—सच्चा मुमुक्षु वही है जो संसार शरीर और भोगोंसे विरक्त होता है। घर-बार छोड़कर साधु बन जानेपर भी यदि शरीरके प्रति आसक्ति है तो उसकी सांसारिक अभिलाषाएँ मिटी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें उसका अनशन केवल कायक्लेश है। ऐसे व्यक्तिके धर्मध्यान सम्भव नहीं है तब उसे मोक्षकी प्राप्ति कैसे हो सकती है? ॥१२४॥

आगे कहते हैं कि दोषोंकी विशुद्धिके लिए और क्रिया विशेषकी सिद्धिके लिए कायोत्सर्गका जितना काल कहा है उतने काल तक कायोत्सर्ग करनेके बाद भी यदि कायोत्सर्ग करता है तो उसमें कोई दोष नहीं है, बल्कि लाभ ही है—

दोषोंको दूर करनेके लिए और आवश्यक कृत्यके लिए कायोत्सर्ग करनेके बाद भी कर्मोंकी निर्जरा तथा संवरके लिए और तपकी वृद्धिके लिए शक्तिके अनुसार कायोत्सर्ग करना चाहिए ॥१२५॥

आगे मन-वचन-कायसे शुद्ध कृतिकर्मके अधिकारीका लक्षण कहते हैं—

जिस कृतिकर्ममें मन आराधनीय सिद्ध आदिके स्वरूपमें अतिशय अनुरागी होनेके साथ विशुद्ध भावोंसे युक्त होता है, शरीर बाह्य शुद्धिके साथ गुरुजनोंके द्वाराकी जानेवाली पुरःक्रियाके क्रमका उल्लंघन न करके अपने योग्य आसन स्थान आदिको लिये हुए होता है, तथा वचन वर्ण पद आदिकी शुद्धिको लिये हुए होनेके साथ ज्येष्ठ जनोंके अनुक्रमसे प्रशस्त उच्चारणसे युक्त होता है, उस कृतिकर्मको करनेके लिए वही समर्थ होता है जो अर्हन्तकी उपासनाके लिए उत्सुक हो, परमार्थको समझता हो, शास्त्रोक्त क्रिया और आत्मज्ञान दोनोंमें

'स व्याधेरिव कल्पत्वे विदृष्टेरिव लोचने ।
जायते यस्य संतोषो जिनवक्त्रविलोकने ॥
३ परीषहसहः शान्तो जिनसूत्रविशारदः ।
सम्यग्दृष्टिरनाविष्टो गुरुभक्तः प्रियंवदः ॥
आवश्यकमिदं धीरः सर्वकर्मनिसूदनम् ।
६ सम्यक् कर्तुमसौ योग्यो नापरस्यास्ति योग्यता ॥' [अमि. श्रा ८।१९-२१]॥१२६॥

अथ मन्दमतिसुखप्रतिपत्तये क्रमवदिति विशेषणं विवृण्वन्नाह—

प्रेप्सुः सिद्धिपथं समाधिमुपविश्यावेद्य पूज्यं क्रिया-
९ मानम्यादिलयभ्रमत्रयशिरोनामं पठित्वा स्थितः ।
साम्यं त्यक्ततनुर्जिनान् समदृशः स्मृत्वावनम्य स्तवं
युक्त्वा साम्यवदुक्तभक्तिरुपविश्यालोचयेत् सर्वतः ॥१२७॥

उत्साहयुक्त हो, परीषह, उपसर्ग आदिको सह सकता हो तथा जिसे सांसारिक विषयोंकी अभिलाषा न हो ॥१२६॥

विशेषार्थ—कृतिकर्म करनेके योग्य कौन होता है उसमें क्या विशेषताएँ होनी चाहिए इसको यहाँ स्पष्ट किया है। उसका मन, वचन, काय पवित्र होना चाहिए। मनकी पवित्रताके लिए परिणामोंका विशुद्ध होना आवश्यक है। यदि मनमें भोगाकांक्षा है या अन्य सांसारिक कठिनाईयोंको दूर करनेका अभिप्राय है तो मन विशुद्ध नहीं हो सकता। उसके लिए निष्काम भावनासे अर्हन्त सिद्ध आदि उपासनीय पवित्र आत्माओंके स्वरूपमें मनका अत्यन्त अनुरागी होना चाहिए। यह अनुराग तभी होता है जब सांसारिक विषयोंके प्रति विरक्ति होती है। वचनकी शुद्धिके लिए जो पाठ पढ़ा जाये वह शुद्ध पढ़ा जाना चाहिए, उसमें अक्षर, पद आदिका उच्चारण शुद्ध हो, गुरुजनोंके साथ पढ़ना हो तो अपना बड़प्पन प्रकट करनेकी भावना नहीं होनी चाहिए। उनकी ज्येष्ठताको रखते हुए ही धीर-गम्भीर रूपमें पढ़ना चाहिए। शरीरकी शुद्धिके लिए बाह्य शुद्धि तो आवश्यक है ही, साथ ही अपनेसे आयुमें, ज्ञानमें, आचारमें जो ज्येष्ठ हैं उनको उच्चस्थान देते हुए ही अपने योग्य आसनपर बैठना चाहिए। साधुसंघमें सब साधु मिलकर कृतिकर्म करते हैं उसीको दृष्टिमें रखकर यह कथन है। इन तीन शुद्धियोंके सिवाय कृतिकर्मका अधिकारी वही होता है जिसकी दृष्टि कृतिकर्मके केवल बाह्य रूपपर ही नहीं होती किन्तु जो बाह्य क्रियाके साथ आत्मज्ञानकी ओर भी संलग्न होकर दोनोंका ही संग्रही होता है। इसीलिए उसे तात्त्विक होना चाहिए, तत्त्वको जानने-वाला-समझनेवाला होना चाहिए क्योंकि उसके बिना कोरे क्रियाकाण्डसे कोई लाभ नहीं है। जो ऐसा होता है वह निस्पृही तो होता ही है। तथा कृतिकर्मके अधिकारीको कृतिकर्म करते हुए कोई उपसर्ग-परीषह आदि आ जावे तो उसे सहन करनेकी क्षमता होनी चाहिए। कष्टसे विचलित होनेपर कृतिकर्म पूरा नहीं हो सकता। जिस-किसी तरह आकुल चित्तसे पूरा भी किया तो व्यर्थ ही कहा जायेगा ॥१२६॥

आगे मन्दबुद्धि जनोंको सरलतासे ज्ञान करानेके लिए कृतिकर्मकी क्रमविधि बतलाते हैं—

जो साधु या श्रावक मोक्षके उपायभूत रत्नत्रयकी एकाग्रतारूप समाधिको प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें इस प्रकार कृतिकर्म करना चाहिए। सर्वप्रथम बैठकर पूज्य गुरु आदिसे

आवेद्य—चैत्यभक्तिकायोत्सर्गंकरोम्यहमित्यादिरूपेण सप्रश्रय विज्ञाप्य। आनम्य स्थित—शरीरावनतिं कृत्वा पुनरुद्धीभूत सन्नित्यर्थ। आदित्यादि—आरम्भे समाप्तौ चावर्तत्रयानन्तरप्रयुक्तमेकं शिरोनमन यत्रेत्यर्थ। उक्तभक्ति.—पठितवन्दनाकल्प.। आलोचयेत्—'इच्छामि भंते चेइयभत्ति काउस्सग्गो कओ तस्सालोचेउ' इत्यादि प्रसिद्धनिगदमुच्चारयस्तदर्थं मनसा विचिन्तयेत्। सर्वत:—सर्वासु भक्तिषु। ॥१२७॥ ३

अथ सम्यक् षडावश्यकानुष्ठातुश्चिह्ननिर्णयार्थमाह— ६

श्रृण्वन् हृष्यति तत्कथां घनरवं केकीव मूकैडतां
तद्गर्हेऽङ्गति तत्र यस्यति रसे वादीव नास्कन्दति।
क्रोधादीन् जिनवन्न वैद्यपतिवद् व्यत्येति कालक्रमं ९
निन्द्यं जातु कुलीनवन्न कुरुते कर्ता षडावश्यकम् ॥१२८॥

तत्कथा—षडावश्यकवार्ताम्। मूकैडता—मौनं बधिरत्वं च। अङ्गति—गच्छति। तद्गर्हे—स्वयं न गर्हते षडावश्यकं नाप्यन्येन गर्ह्यमाण श्रृणोतीत्यर्थ। यस्यति—प्रयतते। वादी—धातुवादी। १२ जिनवत्—क्षीणकषायो यथा। कर्ता—साधुत्वेन कुर्वाण। उक्तं च—

'तत्कथाश्रवणानन्दो निन्दाश्रवणवर्जनम्।
अलुब्धत्वमनालस्यं निन्द्यकर्मव्यपोहनम् ॥ १५
कालक्रमाव्युदासित्वमुपशान्तत्वमार्जवम्।
विज्ञेयानीति चिह्नानि षडावश्यककारिण ॥' [ ] ॥१२८॥

सविनय नमस्कारपूर्वक निवेदन करना चाहिए कि मैं चैत्यभक्ति कायोत्सर्गको करता हूँ। फिर खड़े होकर आदि और अन्तमे तीन-तीन आवर्त और एक नमस्कारपूर्वक सामायिक दण्डकको पढ़े। अर्थात् सामायिक दण्डक प्रारम्भ करनेसे पहले तीन आवर्त पूर्वक एक नमस्कार करे और दण्डक समाप्त होनेपर भी तीन आवर्तपूर्वक एक नमस्कार करे। फिर कायोत्सर्गपूर्वक पंचपरमेष्ठीका स्मरण करे। फिर सामायिक दण्डककी तरह ही अर्थात् आदि-अन्तमे तीन-तीन आवर्त और एक नमस्कारपूर्वक 'थोस्सामि' इत्यादि स्तवदण्डकको पढकर वन्दना पाठ करे। फिर बैठकर 'इच्छामि भते चेइयभत्तिकाउस्सग्गो कओ तस्स आलोचेअं' इत्यादि पढकर आलोचना करे ॥१२७॥

सम्यक् रीतिसे छह आवश्यकोंको करनेवालेके चिह्नोंको बतलाते हैं—

जैसे मयूर मेघके शब्दको सुनकर नाचने लगता है वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी छह आवश्यकोंकी चर्चा-वार्ता सुनकर आनन्दित होता है। यदि कोई उनकी निन्दा करता है तो गूँगा-बहरा हो जाता है अर्थात् न तो वह स्वयं छह आवश्यकोकी निन्दा करता है और यदि दूसरा कोई करता है तो उसे सुनता भी नहीं है। तथा जसे धातुवादी पारेमें यत्नशील रहता है वैसे ही वह छह आवश्यकोमे सावधान रहता है। तथा जैसे क्षीण कषाय, क्रोध आदि नहीं करता वैसे ही वह भी क्रोध आदि नहीं करता। तथा जैसे वैद्य रोगी और निरोगीके प्रति वैद्यक शास्त्रमे कहे गये काल और क्रमका उल्लंघन नहीं करता वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी शास्त्रोक्त काल और विधिका उल्लंघन नहीं करता। तथा जैसे कुलीन पुरुष कभी भी निन्दनीय कार्य नहीं करता वैसे ही छह आवश्यकोंका पालक भी लोक और आगमके विरुद्ध कार्य नहीं करता ॥१२८॥

अथ संपूर्णेतरषडावश्यकसम्यग्विधाने पुरुषस्य नि:श्रेयसाभ्युदयप्राप्ति फलतयोपदिशति—

समाहितमना मौनी विधायावश्यकानि ना ।
संपूर्णानि शिवं याति सावशेषाणि वै दिवम् ॥१२९॥

३

ना—द्रव्यत पुमानेव । सावशेषाणि—कतिपयानि हीनानि च अशक्त्यपेक्षयैतत् । यद्वृद्धा.—

'ज सक्कइ तं कीरइ जं च ण सक्कइ त च सद्दहण ।
सद्दहमाणो जीवो पावइ अजरामरट्ठाण ॥' [ ]

६

वै—नियमेन । उक्त च—

'सर्वैरावश्यकैर्युक्तो सिद्धो भवति निश्चितम् ।
सावशेषैस्तु सयुक्तो नियमात् स्वर्गगो भवेत् ॥' [ ] ॥१२९॥

९

अथ षडावश्यकक्रिया इव सामान्या अपि क्रिया नित्य साधुना कार्या इत्युपदिशति—

आवश्यकानि षट् पञ्च परमेष्ठिनमस्क्रियाः ।
निःसही चासही साधोः क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश ॥१३०॥

१२

स्पष्टम् ॥१३०॥

अथ भावतो अर्हदादिनमस्कारपञ्चकस्य फलमाह—

योऽर्हत्सिद्धाचार्याध्यापकसाधून् नमस्करोत्यर्थात् ।
प्रयतमति खलु सोऽखिलदुःखविमोक्षं प्रयात्यचिरात् ॥१३१॥

१५

स्पष्टम् ॥१३१॥

अथ निसह्यसहीप्रयोगविधिमाह—

१८

वसत्यादौ विशेत् तत्स्थं भूतादि निसहीगिरा ।
आपृच्छ्य तस्मान्निर्गच्छेत्तं चापृच्छ्यासहीगिरा ॥१३२॥

आपृच्छ्य—संवाद्य । उक्तं च—

२१

'वसत्यादिस्थभूतादिमापृच्छ्य निसहीगिरा ।
वसत्यादौ विशेत्तस्मान्निर्गच्छेत् सोऽसहीगिरा ॥' [ ] ॥१३२॥

आगे सम्पूर्ण छह आवश्यकोंका सम्यक् पालन करनेवालेको मोक्षकी और एकदेश पालन करनेवालेको अभ्युदयकी प्राप्तिरूप फल बतलाते हैं—

एकाग्रचित्त और मौनपूर्वक सामायिक आदि सम्पूर्ण आवश्यकोंका सम्यक् रीतिसे पालन करनेवाला पुरुष मोक्ष जाता है और अशक्त होनेके कारण कुछ ही आवश्यकोंका सम्यक् रीतिसे पालन करनेवाला महर्धिक कल्पवासी देव होता है ॥१२९॥

आगे कहते है कि साधुको छह आवश्यक क्रियाओंकी तरह सामान्य क्रिया भी नित्य करनी चाहिए—

छह आवश्यक, पाँच परमेष्ठियोंको नमस्कार रूप पाँच, एक नि सही और एक आसही ये तेरह क्रियाएँ साधुको करनी चाहिए ॥१३०॥

भावपूर्वक अर्हन्त आदि पाँचको नमस्कार करनेका फल बतलाते हैं—

जो प्रयत्नशील साधु या श्रावक अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधुको भावपूर्वक नमस्कार करता है वह शीघ्र ही चार गति सम्बन्धी सब दुःखोसे छूट जाता है ॥१३१॥

आगे निःसही और असहीके प्रयोगकी विधि बतलाते हैं—

मठ, चैत्यालय आदिमे रहनेवाले भूत, यक्ष आदिको निःसही शब्दके द्वारा पूछकर

अथ परमार्थतो निसह्यसह्यौ लक्षयति—

आत्मन्यात्मासितो येन त्यक्त्वा वाऽऽशास्य भावतः ।
निसह्यसह्यौ स्तोऽन्यस्य तदुच्चारणमात्रकम् ॥१३३॥ ३

आसितः—स्थापित. । सितो वा वद्ध । अन्यस्य—वहिरात्मन । आशावतश्च । उक्तं च—

'स्वात्मन्यात्मा सितो येन निषिद्धो वा कषायतः ।
निसही भावतस्तस्य शव्दोऽन्यस्य हि केवल ॥ ६
आशा यस्त्यक्तवान् साधुरसही तस्य भावत. ।
त्यक्ताशा येन नो तस्य शव्दोच्चारो हि केवल. ॥' [ ]

अथवा— ९

'निपिद्धचित्तो यस्तस्य भावतोऽस्ति निपिद्धिका ।
अनिपिद्धस्य तु प्राय: शव्दतोऽस्ति निषिद्धिका ॥
आशया विप्रमुक्तस्य भावतोस्त्यासिका मता । १२
आशया त्ववियुक्तस्य शव्द एवास्ति केवलम् ॥' [ ] ॥१३३॥

अथ प्रकृतमुपसंहरन्नित्यनैमित्तिककृतिकर्मप्रयोगं नियमयन्नाह— १५

इत्यावश्यकनिर्युक्ता उपयुक्तो यथाश्रुतम् ।
प्रयुञ्जीत नियोगेन नित्यनैमित्तिकक्रियाः ॥१३४॥

आवश्यकनिर्युक्तौ—आवश्यकाना निरवशेषोपाये । यथाश्रुत—कृतिकर्मशास्त्रस्य गुरुपर्वक्रमायातोपदेशस्य चानतिक्रमेण । नियोगेन—नियमेन । नित्येत्यादि—नित्यक्रियाश्च नैमित्तिकक्रियाश्चेति विगृह्य प्रथमक्रियाशव्दस्य गतार्थत्वादप्रयोग । इति भद्रम् ॥१३४॥ १८

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसञ्ज्ञायामष्टमोऽध्याय ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाण पञ्चसप्तत्यधिकानि पट्शतानि । अंकत ६७५ । २१

प्रवेश करना चाहिए और 'आसही' शब्दके द्वारा उससे पूछकर ही वहाँसे बाहर जाना चाहिए ॥१३२॥

आगे परमार्थ दृष्टिसे निसही और आसहीका अर्थ बतलाते हैं—

जिस साधुने अपने आत्माको अपने आत्मामें ही स्थापित किया है उसके निश्चयनयसे निसही है। तथा जिसने इस लोक आदिकी अभिलाषाओंको त्याग दिया है उसके निश्चयनयसे आसही है। किन्तु जो वहिरात्मा है और जिन्हें इस लोक आदि सम्बन्धी आशाओंने घेरा हुआ है उनका निसही और आसही कहना तो शब्दका उच्चारण मात्र करना है ॥१३३॥

अन्तमें प्रकृत विपयका उपसंहार करते हुए साधुओंको नित्य और नैमित्तिक कृतिकर्मको करनेकी प्रेरणा करते हैं—

उक्त प्रकारसे आवश्यकोंके सम्पूर्ण उपायोंमें सावधान साधुको कृतिकर्मका कथन करनेवाले शास्त्र तथा गुरुपरम्परासे प्राप्त उपदेशके अनुसार नियमसे नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंको करना चाहिए ॥१३४॥

इस प्रकार आशाधर विरचित स्वोपज्ञ धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मामृतकी भव्यकुमुदचन्द्रिका-टीका तथा ज्ञानदीपिका पंजिका अनुसारिणी हिन्दी टीकामें आवश्यक-निर्युक्त नामक अष्टम अध्याय समाप्त हुआ।

नवम अध्याय

अथ चतुश्चत्वारिंशता पद्यैर्नित्यक्रियाप्रयोगविधौ मुनिमुद्यमयन्नाह—

शुद्धस्वात्मोपलम्भाग्रसाधनाय समाधये।
३ परिकर्म मुनिः कुर्यात् स्वाध्यायादिकमन्वहम् ॥१॥

परिकर्म—योग्यतोत्पादनाय प्राग्विधेयमनुष्ठानम् ॥१॥

अथ स्वाध्यायप्रतिष्ठापननिष्ठापनयोर्विधिमुपदिशति—

६ स्वाध्यायं लघुभक्त्यात्तं श्रुतसूर्योरहर्निशे।
पूर्वेऽपरेऽपि चाराध्य श्रुतस्यैव क्षमापयेत् ॥२॥

लघुभक्त्या—लघ्वी अञ्चलिकामात्रपाठरूपा भक्तिर्वन्दना। सा च श्रुतस्य यथा—'अर्हद्वक्त्रप्रसूतम्'
९ इत्यादिका। एवमाचार्यादीनामपि यथाव्यवहारमसाववसेया। आत्त—गृहीत प्रतिष्ठापितमित्यर्थ। अहर्निशे—दिने रात्रौ च। पूर्वेऽपरेऽपि—पूर्वाह्लेऽपराह्ले पूर्वरात्रेऽपररात्रे चेत्यर्थ। एतेन गोसर्गिकापराह्णिकप्रादोषिकवैरात्रिकाश्चत्वार स्वाध्याया इत्युक्त स्यात्। यथाह—

१२ 'एकः प्रादोषिको रात्रौ द्वौ च गोसर्गिकस्तथा।
स्वाध्याया. साधुभि सोर्द्धैः कर्तव्या सन्त्यतन्द्रितैः।' [ ]

आगे चवालीस श्लोकोंके द्वारा मुनियोंको नित्य क्रियाके पालनकी विधिमे उत्साहित करते हैं—

निर्मल निज चिद्रूपकी प्राप्तिका प्रधान कारण समाधि है। उस समाधिके लिए योग्यता प्राप्त करनेको मुनिको प्रतिदिन स्वाध्याय आदि करना चाहिए ॥१॥

विशेषार्थ—संसारका परित्याग करके मुनिपद धारण करनेका एकमात्र उद्देश शुद्ध स्वात्माकी उपलब्धि है उसे ही मोक्ष कहते है। कहा भी है—'सिद्धिः स्वात्मोपलब्धि.'। किन्तु उस निर्मल चिद्रूपकी प्राप्तिका प्रधान कारण है समाधि। समाधि कहते हैं आत्मस्वरूपमे अपनी चित्तवृत्तिका निरोध। उसे योग और ध्यान भी कहते है। सब ओरसे मनको हटाकर स्वरूपमे लगाये विना सच्चा ध्यान सम्भव नहीं है और उसके विना स्वरूपकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। किन्तु वैसा ध्यान अभ्याससे ही सम्भव है। उस प्रकारका ध्यान करनेकी योग्यता लानेके लिए पहले कुछ आवश्यक कार्य करने होते है। उन्हींको कहते है ॥१॥

सबसे प्रथम स्वाध्यायके प्रारम्भ और समापनकी विधि कहते है—

स्वाध्यायका प्रारम्भ दिन और रात्रिके पूर्वभाग और अपरभागमें लघु श्रुत भक्ति और लघु आचार्य भक्तिका पाठ करके करना चाहिए। और विधिपूर्वक करके लघु श्रुत भक्तिपूर्वक समाप्त करना चाहिए ॥२॥

---

१. -भि सर्वे क—भ कु च.।

प्रदोष. प्रत्यासन्नकाल: । प्रदोषोऽपराह्णस्तत्र भव. प्रादोषिक अपराह्णिक इत्यर्थ. । आराध्य—विधिवद् विधाय । क्षमापयेत्—लघ्व्या श्रुतभक्त्या निष्ठापयेदित्यर्थ ॥२॥

अथ स्वाध्यायाना ग्रहण-क्षमापण-कालेयत्तानिरूपणार्थमाह— ३

ग्राह्यः प्रगे द्विघटिकादूर्ध्वं स प्राक्ततश्च मध्याह्ने ।
क्षम्योऽपराह्णपूर्वापररात्रेष्वपि दिगेषैव ॥३॥

ग्राह्य —प्रतिष्ठाप्य । प्रगे—प्रभाते । द्विघटिकात्—द्वयोर्घटिकयो समाहारो द्विघटिक तस्मात् । ६
प्राक् तत —घटिकाद्वयात् पूर्वं, घटिकाद्वयोने मध्याह्ने सम्पन्ने सतीत्यर्थ. । अपराह्णेत्यादि—अपराह्णे घटिकाद्वयाधिकमध्याह्नादूर्ध्वं प्रतिष्ठाप्यो घटिकाद्वयशेषे दिनान्ते निष्ठाप्य । तथा घटिकाधिके प्रदोषे ग्राह्यो घटिकाद्वयहीनेऽर्धरात्रे निष्ठाप्य । तथा घटिकाद्वयाधिकेऽर्धरात्रे ग्राह्यो द्विघटिकावशेषे निशान्ते क्षम्य इत्यर्थ ॥३॥ ९

अथ स्वाध्याय लक्षयित्वा विधिवत्तद्विधानस्य फलमाह—

सूत्रं गणधराद्युक्तं श्रुतं तद्वाचनादय ।
स्वाध्याय स कृत. काले मुक्त्यै द्रव्यादिशुद्धितः ॥४॥ १२

सूत्रमित्यादि । उक्त च—

'सुत्त गणहरकथिदं तहेव पत्तेयबुद्धकथिद च ।
सुदकेवलिणा कथिदं अभिन्नदसपुव्विकथिद च ॥ १५
तं पढिदुमसज्झाए ण य कप्पदि विरदि इत्थिवग्गस्स ।
एत्तो अण्णो गथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥
आराधणणिज्जुत्ती मरणविभत्ती असग्गहत्थुदीओ ।
पच्चक्खाणावासय धम्मकहाओ य एरिसओ ॥' [मूलाचार गा. २७७–२७९] १८

विशेषार्थ—आगममे स्वाध्यायके चार समय माने हैं—पूर्वाह्ण, अपराह्ण, पूर्व रात्रि और अपररात्रि । इन चार कालोमें साधुको आलस्य त्यागकर स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्यायके प्रारम्भमे लघु श्रुत भक्ति और लघु आचार्य भक्ति करना चाहिए। और समाप्ति-पर लघु श्रुतभक्ति पढना चाहिए ॥२॥

आगे स्वाध्यायके प्रारम्भ और समाप्तिके कालका प्रमाण बताते है—

प्रातःकाल सूर्योदयसे दो घडी दिन चढनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए अर्थात् तीसरी घड़ी शुरू होनेपर स्वाध्याय शुरू करना चाहिए और मध्याह्नमे दो घडी काल शेष रहनेपर समाप्त कर देना चाहिए। यही उपदेश अपराह्ण, पूर्वरात्रि और अपररात्रिके भी सम्बन्धमे जानना। अर्थात् अपराह्णमे मध्याह्नसे दो घडी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और दिनकी समाप्तिमे दो घड़ी काल शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए। पूर्वरात्रिमे दिनकी समाप्तिसे दो घडी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और अर्धरात्रिमे दो घडी काल शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए। अपररात्रिमें आधी रातसे दो घडी काल बीतनेपर स्वाध्याय प्रारम्भ करना चाहिए और रात्रि बीतनेमें दो घडी शेष रहनेपर समाप्त करना चाहिए ॥३॥

स्वाध्यायका लक्षण और विधिपूर्वक उसके करनेका फल कहते हैं—

गणधर आदिके द्वारा रचित शास्त्रको सूत्र कहते है। उसकी वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेशको स्वाध्याय कहते है। योग्य कालमे द्रव्य आदिकी शुद्धिपूर्वक की गयी स्वाध्याय कर्मक्षयपूर्वक मोक्षके लिए होती है ॥४॥

द्रव्यादिशुद्धितः—द्रव्यादिशुद्धया ह्यधीतं शास्त्रं कर्मक्षयाय स्यादन्यथा कर्मबन्धायेति भावः। अत्रायमागमः—

३ 'दिसिदाह उक्कपडणं विज्जुव उक्काऽसणिंदधणुयं च।
दुग्गंध सज्झदुद्दिण चंदग्गहा सूरराहु जुद्धं च ॥
कलहादिधूमकेदू धरणीकंप च अब्भगज्जं च।
६ इच्चेयमाइ वहुगा सज्झाए वज्जिदा दोसा ॥
रुधिरादिपूयमसं दव्वे खेत्ते सदहत्थपरिमाणं।
कोधादि संकिलेसा भावविसोही पढणकाले ॥' [मूलाचार गा २७४–२७६]

९ दव्वे—आत्मशरीरे परशरीरे च। सदहत्थपरिमाणे—चतसृषु दिक्षु हस्तशतचतुष्टयमात्रेण रुधिरादीनि वर्ज्यानीत्यर्थः ॥४॥

विशेषार्थ—मूलाचारमें स्वाध्यायके कालादिका वर्णन इस प्रकार किया है—किसी उत्पातसे जब दिशाएँ आगके समान लालिमाको लिये हुए हों, आकाशसे उल्कापात हुआ हो, बिजली चमकती हो, वज्रपात हो, ओले गिरते हों, इन्द्रधनुष उगा हो, दुर्गन्ध फैली हो, सन्ध्या हो, दुर्दिन—वर्षा होती हो, चन्द्रग्रहण या सूर्यग्रहण हो, कलह होता हो, भूचाल हो, मेघ गरजते हों, इत्यादि बहुत-से दोषोंमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। इस तरह कालशुद्धि होनेपर जो शास्त्र स्वाध्यायके योग्य हैं वे इस प्रकार हैं—सर्वज्ञके मुखसे अर्थ ग्रहण करके गौतम आदि गणधरोंके द्वारा रचित द्वादशांगको, प्रत्येक बुद्ध श्रुतकेवली तथा अभिन्न दस पूर्वियोंके द्वारा रचितको सूत्र कहते हैं। संयमी स्त्री-पुरुषोंको अर्थात् मुनि और आर्यिकाओंको अस्वाध्यायकालमें नहीं पढना चाहिए। इन सूत्र ग्रन्थोंके सिवाय जो अन्य आचार्यरचित ग्रन्थ हैं उन्हें अस्वाध्यायकालमें भी पढ सकते हैं। जैसे भगवती आराधना, जिसमें चारों आराधनाओंका वर्णन है, सतरह प्रकारके मरणका कथन करनेवाले ग्रन्थ, संग्रहरूप पंचसंग्रह आदि ग्रन्थ, स्तुतिरूप देवागम आदि स्तोत्र, आहार आदिका या सावद्य द्रव्योंके त्यागका कथन करनेवाले ग्रन्थ, सामायिक आदि छह आवश्यकोंके प्रतिपादक ग्रन्थ, धर्मकथावाले पुराण चरित आदि ग्रन्थ, या कार्तिकेयानुप्रेक्षा-जैसे ग्रन्थोंको अस्वाध्यायकालमें भी पढ सकते हैं। श्वेताम्बरीय आगम, व्यवहारसूत्र, स्थानांग आदिमें भी स्वाध्याय और अस्वाध्यायके ये ही नियम विस्तारसे बतलाये हैं जिन्हें अभिधान राजेन्द्रके सज्झाय और असज्झाय शब्दोंमें देखा जा सकता है। यथा—'णो कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउहिं संझाहिं सज्झायं करेत्तए तं जहा—पढमाए, पच्छिमाए, मज्झण्हे अड्ढरत्ते। कप्पइ णिग्गंथाण वा णिग्गंथीण वा चउक्कालं सज्झायं करेत्तए—पुव्वण्हे अवरण्हे पओसे पच्चूसे।—स्था. ४ ठ. २ उ। अर्थात् निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियोंको चारों सन्ध्याओंमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए—प्रथम, अन्तिम, मध्याह्न और अर्धरात्रि। तथा निर्ग्रन्थों और निर्ग्रन्थियोंको चार कालमें स्वाध्याय करना चाहिए—पूर्वाह्न, अपराह्न, प्रदोष और प्रत्यूष (प्रभात)।

इसी तरह स्थानांग १० में वे दस अवस्थाएँ बतलायी हैं जिनमें स्वाध्याय नहीं करना चाहिए। जैसे चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, उल्कापात, मेघगर्जन, बिजलीकी चमक आदिके समय। स्तुति, धर्मकथा आदिको सन्ध्याकालमें भी पढ सकते हैं। उत्तराध्ययन (२६।१२) में कहा है कि दिनके चार भाग करके प्रथममें स्वाध्याय, दूसरेमें ध्यान, तीसरेमें भिक्षाचर्या और

अथ विनयाधीतश्रुतस्य माहात्म्यमाह—

श्रुतं विनयतोऽधीतं प्रमादादपि विस्मृतम् ।
प्रेत्योपतिष्ठतेऽनूनमावहत्यपि केवलम् ॥५॥

प्रेत्य—भवान्तरे । उक्त च—

'विणएण सुदमधीदं जदि वि पमादेण होदि विस्सरिदं ।
तमुवट्ठादि परभवे केवलणाणं च आवहदि ॥' [मूलाचार गा. २८६] ॥५॥

अथ तत्त्वावबोधादिसाधन विज्ञान जिनशासन एवास्तीत्युपदिशति—

तत्त्वबोधमनोरोधश्रेयोरागात्मशुद्धयः ।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥६॥

श्रेयोराग.—श्रेयसि चारित्रेऽनुराग' । आत्मशुद्धि.—आत्मनो जीवस्य शुद्धिः—रागाद्युच्छित्तिः परिच्छित्तिश्च । तथा चावाचि—

'जेण तच्चं विवुज्झेज्ज जेण चित्त णिरुज्झदि ।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज त णाण जिणसासणे ॥
जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मित्ति पभावेज्ज त णाण जिणसासणे ॥' [मूलाचार गा. २६७-६८]

चौथेमे स्वाध्याय करे । इसी तरह रात्रिके चार भाग करके प्रथममें स्वाध्याय, दूसरेमे ध्यान, तीसरेमें शयन और चौथेमे स्वाध्याय करना चाहिए ॥४॥

विनयपूर्वक श्रुतके अध्ययन करनेका माहात्म्य वताते है—

विनयपूर्वक पढा हुआ श्रुत यदि प्रमादवश विस्मृत भी हो जाता है तो भी जन्मान्तरमे पूराका पूरा उपस्थित हो जाता है और केवलज्ञानको उत्पन्न करता है ॥५॥

विशेपार्थ—श्रुतका विनयपूर्वक अध्ययन व्यर्थ नहीं जाता। यदि वह भूल भी जाये तो उसका संस्कार जन्मान्तरमे भी रहता है। और श्रुतज्ञानकी भावना ही केवलज्ञानके रूपमे प्रकट होती है। उसके विना केवलज्ञान सम्भव नहीं है ॥५॥

आगे कहते हैं कि तत्त्वबोध आदिका साधन विज्ञान जिनशासनमे ही हैं—

जिसके द्वारा तत्त्वका वोध, मनका रोध, कल्याणकारी चारित्रमें अनुराग, आत्मशुद्धि और मैत्रीभावनाका प्रकाश होता है वह ज्ञान जिनशासनमे ही है ॥६॥

विशेपार्थ—तत्त्व तीन प्रकारका होता है—हेय, उपादेय और उपेक्षणीय। हेयका—छोडने योग्यका हेय रूपसे, उपादेयका—ग्रहण करने योग्यका उपादेय रूपसे और उपेक्षा करने योग्यका उपेक्षणीय रूपसे होनेवाले वोधको तत्त्वबोध या तत्त्वज्ञान कहते है। मन जिस समय ज्यों ही विपयोंकी ओर जावे उसी समय उसे उधर जानेसे रोकनेको या उस विपयका ही त्याग कर देनेको मनोरोध कहते है। कहा भी है—

'यद्यदैव मनसि स्थितं भवेत् तत्तदैव सहसा परित्यजेत् ।' अर्थात् जैसे ही जो विपय मनमे घुले उसे तत्काल छोड़ दे। ज्ञानके वाद जीवका कल्याणकारी है ज्ञानको आचरणके रूपमे उतारना। उसे ही चारित्र कहते हैं। उस कल्याणकारी चारित्रमे अनुरागको अर्थात् तन्मय हो जानेको श्रेयोराग कहते हैं। जिसमे 'मैं' इस प्रकारका अनुपचरित प्रत्यय होता है वही आत्मा है। उस आत्मासे रागादिको दूर करना आत्मशुद्धि है। मित्रके भावको मैत्री कहते है अर्थात् दूसरोंको किसी भी प्रकारका दुःख न हो ऐसी भावना मैत्री है। उस मैत्रीका

अत्र पूर्वसूत्रेण सम्यक्त्वसहचारि ज्ञानमुत्तरसूत्रेण च चारित्रसहचारिज्ञानं सूत्रकारेणोपवर्णितमव-सेयम् ॥६॥

३ अथ साधोरपररात्रे स्वाध्यायप्रतिष्ठापननिष्ठापने प्रतिक्रमणविधानं रात्रियोगनिष्ठापनं च यथाक्रम-मवश्यकर्तव्यतयोपदिशति—

क्लमं नियम्य क्षणयोगनिद्रया
लातं निशीथे घटिकाद्वयाधिके ।
६ स्वाध्यायमत्यस्य निशाद्विनाडिका-
शेषे प्रतिक्रम्य च योगमुत्सृजेत् ॥७॥

९ क्लम—शरीरग्लानिम् । नियम्य—निवर्त्य । क्षणयोगनिद्रया—योगः शुद्धचिद्रूपे यथाशक्ति चिन्तानिरोध । योगो निद्रेव इन्द्रियात्ममनोमरुत्सूक्ष्मावस्थारूपत्वात् । योगश्चासौ निद्रा च योगनिद्रा । क्षणोऽत्र कालाल्पत्वम् । तच्चोत्कर्षतो घटिकाचतुष्टयमस्वाध्याययोग्यम् । क्षणभाविनी योगनिद्रा क्षणयोगनिद्रा तया ।

१२ यदाहु.—

'यमनियमनितान्त. शान्तबाह्यान्तरात्मा
परिणमितसमाधिः सर्वसत्त्वानुकम्पी ।
१५ विहितहितमिताशी. क्लेशजाल समूल
दहति निहितनिद्रो निश्चिताध्यात्मसार. ॥' [आत्मानु., श्लो २२५]

बुद्धिमानोंके चित्तमे महत्त्व प्रकट करना मैत्रीयांत है। ये सब सम्यग्ज्ञानके फल हैं। ऐसा सम्यग्ज्ञान जिनशासनमे ही मिलता है। जिन अर्थात् वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तात्मक मतमे उसीको विज्ञान कहते हैं जिसकी परिणति उक्त पाँच रूपमें होती है। मूलाचारमे कहा है—'जिससे तत्त्वका—वस्तुकी यथार्थताका जानना होता है, जिससे मनका व्यापार रोका जाता है अर्थात् मनको अपने वशमे किया जाता है और जिससे आत्माको वीतराग बनाया जाता है वही ज्ञान जिनशासनमे प्रमाण है। जिसके द्वारा जीव राग, काम, क्रोध आदिसे विमुख होता है, जिससे अपने कल्याणमे लगता है और जिससे मैत्री भावसे प्रभावित होता है वही ज्ञान जिनशासनमे प्रमाण है ॥६॥

आगे कहते हैं कि साधुको रात्रिके पिछले भागमे स्वाध्यायकी स्थापना, फिर समाप्ति, फिर प्रतिक्रमण और अन्तमे रात्रियोगका निष्ठापन ये कार्य क्रमानुसार अवश्य करना चाहिए—

थोड़े समयकी योगनिद्रासे शारीरिक थकानको दूर करके अर्धरात्रिके बाद दो घड़ी बीतनेपर प्रारम्भ की गयी स्वाध्यायको जब रात्रिके बीतनेमे दो घड़ी बाकी हो तो समाप्त करके प्रतिक्रमण करे, और उसके बाद रात्रियोगको पूर्ण कर दे ॥७॥

विशेषार्थ—साधु प्रतिदिन रात्रिमें रात्रियोगको धारण करते हैं। और प्रात. होनेपर उसे समाप्त कर देते हैं। पं० आशाधरजीने अपनी टीकामे योगका अर्थ शुद्धोपयोग किया है। अर्थात् रात्रिमे उपयोगकी शुद्धताके लिए साधु रात्रियोग धारण करते हैं। उस रात्रियोगमे वे अधिकसे अधिक चार घड़ी सोते हैं जो स्वाध्यायके योग्य नहीं हैं। अर्थात् अर्धरात्रि होने-से पहलेकी दो घड़ी और अर्धरात्रि होनेके बादकी दो घड़ी इन चार घटिकाओंमे साधु निद्रा लेकर अपनी थकान दूर करते हैं। उनकी इस निद्राको योगनिद्रा कहा है। योग कहते हैं शुद्ध चिद्रूपमे यथाशक्ति चिन्ताके निरोधको। निद्रा भी योगके तुल्य है क्योंकि निद्रामे

अपि च—

'स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्ता ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत् ।
ध्यानस्वाध्यायसपत्त्या परमात्मा प्रकाशते ॥' [तत्त्वानु , श्लो] ३

एतदेव च स्वयमप्यन्वाख्य सिद्धचक्रमहाकाव्ये, यथा—

'परमसमयसाराभ्याससानन्दसर्पत्
सहजमहसि साय स्वे स्वय स्वं विदित्वा । ६
पुनरुदयदविद्यावैभवा. प्राणचार-
स्फुरदरुणविभूता योगिनो य स्तुवन्ति ॥'

लातं—गृहीतम् । निशीथे—अर्धरात्रे ॥७॥ ९

अथ परमागमव्याख्यानाद्युपयोगस्य लोकोत्तर माहात्म्यमुपवर्णयति—

खेद-संज्वर-संमोह-विक्षेपाः केन चेतसः ।
क्षिप्येरन् मङ्क्षु जैनी चेन्नोपयुज्येत गी. सुधा ॥८॥ १२

संज्वर —संताप । बाह्या अप्याहुः—

'क्लान्तमपोज्झति खेद तप्त निर्वाति बुध्यते मूढम् ।
स्थिरतामेति व्याकुलमुपयुक्तसुभाषित चेत ॥' [ ] ॥८॥ १५

अथ प्रतिक्रमणमाहात्म्यमनुसंधत्ते—

इन्द्रिय, आत्मा, मन और श्वास सूक्ष्म अवस्था रूप हो जाते है। निद्राका यही लक्षण कहा है—'इन्द्रियात्ममनोमरुता सूक्ष्मावस्था स्वापः'। शयनसे उठते ही साधु स्वाध्यायमे लग जाते है और जब दो घडी रात बाकी रहती हैं तो स्वाध्याय समाप्त करके किये दोषोंकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण करते हैं। उसके बाद रात्रियोग समाप्त करते है। आचार्य गुणभद्रने इसका वर्णन करते हुए लिखा है—जो यम और नियममे तत्पर रहते हैं, जिनकी आत्मा बाह्य विषयोसे निवृत्त हो चुकी है, जो निश्चल ध्यानमे निमग्न रहते है, सब प्राणियोंके प्रति दयालु हैं, आगममे विहित हित और मित भोजन करते है, अतएव जिन्होंने निद्राको दूर भगा दिया है, और जिन्होंने अध्यात्मके सार शुद्ध आत्मस्वरूपका अनुभव किया है, ऐसे मुनि कष्ट समूहको जडमूल सहित नष्ट कर देते हैं—

पूज्य रामसेनजीने भी कहा है—मुनिको स्वाध्यायसे ध्यानका अभ्यास करना चाहिए और ध्यानसे स्वाध्यायको चरितार्थ करना चाहिए। ध्यान और स्वाध्यायकी प्राप्तिसे परमात्मा प्रकाशित होता है अर्थात् स्वाध्याय और ध्यान ये दोनो परस्परमें एक दूसरेके सहायक हैं और इन दोनोंके सहयोगसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ॥७॥

आगे परमागमके व्याख्यान आदिमे उपयोग लगानेका अलौकिक माहात्म्य कहते हैं—

यदि जिन भगवान्‌की वाणीरूपी अमृतका पान तत्काल न किया जाये तो चित्तका खेद, सन्ताप, अज्ञान और व्याकुलता कैसे दूर हो सकते हैं? अर्थात् इनके दूर करनेका सफल उपाय शास्त्रस्वाध्याय ही है ॥८॥

आगे प्रतिक्रमणका माहात्म्य बतलाते हैं—

---

१ विजृम्भा यो—भ कु च ।

दुर्निवार-प्रमादारि-प्रयुक्ता दोषवाहिनी।
प्रतिक्रमणदिव्यास्त्रप्रयोगादाशु नश्यति ॥९॥

उक्तं च—

३ 'जीवे प्रमादजनिता. प्रचुरा: प्रदोषा यस्मात् प्रतिक्रमणत. प्रलय प्रयान्ति।
तस्मात्तदर्थममल मुनिबोधनार्थं वक्ष्ये विचित्रभवकर्मविशोधनार्थम् ॥' [ ] ॥९॥

अथ प्रमादस्य महिमानमुदाहरणद्वारेण स्पष्टयति—

६ **त्र्यहादवैयाकरणः किलैकाहादकार्मुकी।**
क्षणादयोगी भवति स्वभ्यासोऽपि प्रमादतः ॥१०॥

किल—लोके ह्येव श्रूयते। अकार्मुकी—अधानुष्क ॥१०॥

९ अथ प्रतिक्रमणाया रात्रियोग-प्रतिष्ठापन-निष्ठापनयोश्च प्रयोगविधिमभिधत्ते—

भक्त्या सिद्ध-प्रतिक्रान्तिवीरद्विद्वादशार्हताम्।
प्रतिक्रामेन्मलं योगं योगिभक्त्या भजेत् त्यजेत् ॥११॥

१२ द्विद्वादशार्हत —चतुर्विंशतितीर्थंकरा.। योगं—अद्य रात्रावत्र वसत्या स्यातव्यमिति नियमविशेषम्। भजेत्—प्रतिष्ठापयेत्। त्यजेत्—निष्ठापयेत्।

उक्त च—

१५

दुर्निवार प्रमादरूपी शत्रुसे प्रेरित अतीचारोंकी सेना प्रतिक्रमणरूपी दिव्य अस्त्रके प्रयोगसे शीघ्र नष्ट हो जाती है ॥९॥

विशेषार्थ—अच्छे कार्योंमे उत्साह न होनेको प्रमाद कहते हैं। यह प्रमाद शत्रुके समान है क्योंकि जीवके स्वार्थ उसके कल्याणके घातक है। जब यह प्रमाद दुर्निवार हो जाता है, उसे दूर करना शक्य नहीं रहता तब इसीकी प्रेरणासे व्रतादिमें दोषोंकी बाढ आ जाती है—अतीचारोंकी सेना एकत्र हो जाती है। उसका संहार जिनदेवके द्वारा अर्पित प्रतिक्रमण रूपी अस्त्रसे ही हो सकता है। प्रतिक्रमण कहते ही हैं—लगे हुए दोषोंके दूर करनेको। कहा है—'क्योंकि जीवमें प्रमादसे उत्पन्न हुए बहुतसे उत्कृष्ट दोष प्रतिक्रमणसे नष्ट हो जाते है। इसलिए मुनियोके बोधके लिए और नाना प्रकारके सांसारिक कर्मोंकी शुद्धिके लिए प्रतिक्रमण कहा है ॥९॥

आगे उदाहरणके द्वारा प्रमादकी महिमा बतलाते है—

लोकमे ऐसी कहावत है कि प्रमाद करनेसे व्याकरणशास्त्रमे अच्छा अभ्यास करनेवाला भी वैयाकरण तीन दिनमे अवैयाकरण हो जाता है अर्थात् केवल तीन दिन व्याकरणका अभ्यास न करे तो सब भूल जाता है। एक दिनके अभ्यास न करनेसे धनुष चलानेमे निपुण धनुर्धारी नहीं रहता, और योगका अच्छा अभ्यासी योगी यदि प्रमाद करे तो एक ही क्षणमे योगीसे अयोगी हो जाता है ॥१०॥

(आगे प्रतिक्रमण और रात्रियोगके स्थापन और समाप्तिकी विधि बतलाते है—

✓सिद्धभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, वीरभक्ति और चौबीस तीर्थंकरभक्तिके द्वारा अतीचारकी विशुद्धि करनी चाहिए। और 'मैं आज रात्रिमे इस वसतिकामें ठहरूँगा' इस रात्रियोगको योगिभक्तिपूर्वक ही स्थापित करना चाहिए और योगिभक्तिपूर्वक ही समाप्त करना चाहिए ॥११॥

'सिद्धनिषेधिकावीर-जिनभक्तिप्रतिक्रमे ।
योगिभक्ति. पुन. कार्या योगग्रहणमोक्षयोः ॥' [ ] ॥११॥

अथ साधून् प्राभातिकदेववन्दना प्रति प्रोत्साहयन्नाह— 3

योगिध्यानैकगम्यः परमविशददृग्विश्वरूपः स तच्च
स्वान्तस्थेम्नैव साध्यं तदमलमतयस्तत्पथध्यानबीजम् ।
चित्तस्थैर्यं विधातुं तदनवधिगुणग्रामगाढानुरागं 6
तत्पूजाकर्म कर्मच्छिदुरमिति यथासूत्रमासूत्रयन्तु ॥१२॥

स.—परमागमप्रसिद्ध' । तद्यथा—
'केवलणाणदिवायरकिरणकलावप्पणासियण्णाणो । 9
णवकेवललद्धुग्गम मुजणियपरमप्पववएसो ॥
असहायणाणदसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो त्ति सजोगिजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥' [गो. जी , गा. ६३–६४] 12

विशेषार्थ—प्रतिक्रमण सिद्धभक्ति आदि चार भक्तिपाठ पूर्वक किया जाता है और रात्रियोगधारण करते समय योगिभक्ति की जाती है। और समाप्ति भी योगिभक्तिपूर्वक की जाती है ॥११॥

आगे साधुओंको प्रात कालीन देववन्दनाके लिए उत्साहित करते हैं—

'जिसके अत्यन्त स्पष्ट केवलज्ञानमें लोक और अलोकके पदार्थ प्रतिबिम्बित होते है, वह परमात्मा योगियोंके एकमात्र ध्यानके द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। और योगियोंका वह ध्यान चित्तकी स्थिरता के द्वारा ही साधा जा सकता है। इसलिए निर्मल बुद्धिवाले साधुजन परमात्मपदकी प्राप्तिके उपायभूत धर्मध्यान और शुक्लध्यानके बीजरूप चित्तकी स्थिरताको करनेके लिए जिनेन्द्रके अनन्त गुणोंके समूहमें दृढ भक्तिको लिये हुए आगमके अनुसार उस पूजा कर्मको इसलिए कर क्योंकि वह मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोधक होनेसे ज्ञानावरण आदि कर्मोंका भी एकदेशसे छेदक होता है।'

विशेषार्थ—जिनेन्द्र भगवान्की वन्दनाको या विनयको ही पूजा कहते हैं। साधुगण भावपूजा ही करते हैं। भावपूजाका लक्षण इस[1] प्रकार है—'समस्त आत्माओमे पाये जानेवाले विशुद्ध जैन गुणोंका जिनेन्द्रदेवके गुणोंको अत्यन्त श्रद्धा और भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेको भावपूजा कहते हैं' ॥१२॥

इस भावपूजाके द्वारा परमात्माके गुणोका भक्तिपूर्वक चिन्तन करनेसे मन-वचन-कायकी क्रियाका निरोध होनेके साथ चित्त स्थिर होता है और चित्तके स्थिर होनेसे ही साधु उस धर्मध्यान और शुक्लध्यानको करनेमे समर्थ होता है जिस एकत्ववितर्क अवीचार शुक्लध्यानके द्वारा परमात्माका ध्यान करते हुए स्वयं परमात्मा बन जाता है। उस परमात्माका स्वरूप इस प्रकार कहा है—'केवलज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंके समूहसे जिनका अज्ञानभाव पूरी तरह नष्ट हो गया है, और नौ केवललब्धियोके प्रकट होनेसे जिन्हें 'परमात्मा' नाम प्राप्त हो गया है। उनका ज्ञान और दर्शन आत्माके सिवाय इन्द्रिय आदि किसी भी अन्यकी

---

१. 'व्यापकाना विशुद्धाना जैनानामनुरागत. ।
गुणाना यदनुध्यान भावपूजेयमुच्यते ॥' [ ]

तच्च—योगिध्यानम् । स्वान्तस्थेम्ना—मन स्थैर्येण । यथाह—

'ध्यानस्य च पुनर्मुख्यो हेतुरेतच्चतुष्टयम् ।
३ गुरूपदेशः श्रद्धान सदाभ्यासः स्थिरं मनः ॥' [तत्वानु. श्लो. २१८]

अपि च—

'यद्विद्रमानं भुवनान्तराले धर्तुं न शक्य मनुजामरेन्द्रैः ।
६ तन्मानस यो विदधाति वश्य ध्यान स धीरो विदधाति वश्यम् ॥' [ ]

तत्पथ—परमात्मप्राप्त्युपायभूतम् । तत्पूजाकर्म—जिनेन्द्रवन्दनाम् । कर्मछिदुर—कर्मणा ज्ञानावरणादीना मनोवाक्कायक्रियाणा वा छिदुर छेदनशीलमेकदेशेन तदपनेतृत्वात् । आसूत्रयन्तु रचयन्तु ॥१२॥

९ अथ त्रैकालिकदेववन्दनाया प्रयोगविधिमाह—

त्रिसंध्यं वन्दने युञ्ज्याच्चैत्यपञ्चगुरुस्तुती ।
प्रियभक्तिं बृहद्भक्तिष्वन्ते दोषविशुद्धये ॥१३॥

१२ त्रिसन्ध्यमित्यादि । यत्पुनर्वृद्धपरम्परा व्यवहारोपलम्भात् सिद्धचैत्यपञ्चगुरुशान्तिभक्तिभिर्यथावसर भगवन्तं वन्दमाना सुविहिताचारा अपि दृश्यन्ते तत्केवलं भक्तिपिशाचीदुर्ललितमिव मन्यामहे सूत्रातिवर्तनात् । सूत्रे हि पूजाभिषेकमङ्गल एव तच्चतुष्टयमिष्टम् । तथा चोक्तम्—

१५ 'चैत्यपञ्चगुरुस्तुत्या नित्या सन्ध्यासु वन्दना ।
सिद्धभक्त्यादिशान्त्यन्ता पूजाभिषेकमङ्गले ॥' [ ]

सहायतासे रहित है इसलिए वे केवली कहे जाते हैं और योगसे युक्त होनेसे सयोगी कहे जाते हैं । इस तरह अनादिनिधन आगममे उन्हें सयोगिजिन कहा है ।'

साधुगण इन्हीं परमात्माके अनन्त ज्ञानादि गुणोंकी भक्तिपूर्वक प्रात.काल वन्दना करते है । इस वन्दनाके द्वारा वे अपने मन-वचन-कायको स्थिर करके अपने चित्तको ध्यानके योग्य बनाते है और फिर ध्यानके द्वारा स्वयं परमात्मा वन जाते है । अत. साधुओंको भी नित्य देववन्दना—भावपूजा अवश्य करनी चाहिए । द्रव्यपूजामें आरम्भ होता है वह उनके लिए निषिद्ध है । उनका तो मुख्य कार्य स्वाध्याय और ध्यान ही है । स्वाध्यायसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है और ज्ञानकी स्थिरताका ही नाम ध्यान[1] है । तथा ध्यानकी स्थिरताको ही समाधि कहते है । यही समाधि साधुकी साधनाका लक्ष्य होती है । इसी समाधिसे उसे वह सब प्राप्त हो सकता है जो वह प्राप्त करना चाहता है ॥१२॥

त्रैकालिक देव वन्दनाकी विधि कहते हैं—

देववन्दना करते हुए साधुको तीनो सन्ध्याओमें चैत्यवन्दना और पंचगुरुवन्दना करनी चाहिए । और वन्दनासम्बन्धी दोषोकी या रागादि दोषोकी विशुद्धिके लिए वन्दनाके अन्तमें बृहत् भक्तियोमें से समाधिभक्ति करनी चाहिए ॥१३॥

विशेषार्थ—प. आशाधरजीने अपनी टीकामें लिखा है कि आचारशास्त्रके अनुसार आचारका पालन करनेवाला सुविहिताचारी मुनि भी वृद्धपरम्पराके व्यवहारमे पाया जानेसे (भगवान्की वन्दना करते समय सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक वन्दना करते हुए देखे जाते है) इसे हम भक्तिरूपी पिशाचीका दुर्विलास ही मानते हैं

---

१. 'ज्ञानमेव स्थिरीभूत ध्यानमित्युच्यते बुधैः ।'
'ध्यानमेव स्थिरीभूत समाधिरिति कथ्यते ।' [ ]

अपि च—

जिणदेववंदणाए चेदियभत्तीय पंचगुरुभत्ती ।

तथा— ३

अहिसेयवंदणा सिद्धचेदिय पंचगुरु संति भत्तीहिं ।

प्रियभक्ति—समाधि भक्ति । दोषाः—वन्दनातिचारा रागादयो वा ।

उक्तं च— ६

ऊनाधिक्यविशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका. ॥१३॥

अथ कृतिकर्मणः षड्विधत्वमाचष्टे—

स्वाधीनता परीतिस्त्रयी निषद्या त्रिवारमावर्ताः । ९

द्वादश चत्वारि शिरास्येवं कृतिकर्म षोढेष्टम् ॥१४॥

परीतिस्त्रयी—प्रदक्षिणास्तिस्र इत्यर्थ । त्रयी निषद्या—आवृत्त्या त्रीण्युपवेशनानि क्रियाविज्ञापन-चैत्यभक्तिपञ्चगुरुभक्त्यनन्तरालोचनाविषयाणि । त्रिवार—चैत्यपञ्चगुरुसमाधिभक्तिषु त्रि कायोत्सर्गविधानात् । १२ शिरासि—मूर्धविनतयो वन्दना प्रधानभूता वा अर्हत्सिद्धसाधुधर्मा' । उक्त च सिद्धान्तसूत्रे—

'आदाहिण पदाहिण तिक्खुत्तं तिऊणद चदुस्सिर ।

बारसावत्त चेदि ॥' [षड्खण्डा. पु. १३, पृ ८८] ॥१४॥ १५

क्योंकि इससे आगमकी मर्यादाका अतिक्रमण होता है। आगममे पूजा और अभिषेकमंगलके समय ही ये चारों भक्तियाँ कही हैं—'जो तीनों सन्ध्याओंमे नित्य देववन्दना की जाती है वह चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्तिपूर्वक की जाती है। किन्तु पूजा और अभिषेकमंगलमे सिद्धभक्तिसे लेकर शान्तिभक्ति पर्यन्त चार भक्तियाँ की जाती हैं।' और भी कहा है—'जिनदेवकी वन्दनामें चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति की जाती है। तथा अभिषेक वन्दना, सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक होती है।'

इससे प्रकट होता है कि पं. आशाधरजीके समयमे शास्त्रानुकूल आचारका पालन करनेवाले ऐसे भी मुनि थे जो देववन्दनामे चार भक्तियाँ करते थे। इसे पं आशाधरजीने भक्तिरूपी पिशाचीका दुर्विलास कहा है। आजके कुछ मुनियोंमे तो ये दुर्विलास और भी बढ गया है, वे प्रतिदिन पंचामृताभिषेक कराते हैं। ऊपर जो पूजा अभिषेकमे चार भक्ति कही हैं वे श्रावकोंकी दृष्टिसे कही है। श्रावकोका कृतिकर्म मुनियोंसे सर्वथा भिन्न नहीं था। चारित्रसारमे कहा है—ऊपर जो क्रिया कही है उन्हें यथायोग्य जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट श्रावकोंको और मुनियोंको करनी चाहिए। शास्त्रविहित कृतिकर्म त्यागियोमे भी विस्मृत हो चुका है। पूजाके अन्तमें विसर्जनके नामसे जो शान्तिपाठ पढा जाता है यह शान्ति-भक्ति ही है ॥१३॥

कृतिकर्मके छह भेद कहते हैं—

पूर्वाचार्योंने छह प्रकारका कृतिकर्म माना है—स्वाधीनता, परीति—प्रदक्षिणा तीन, तीन निषद्या, बारह आवर्त, और चार शिरोनति ॥१४॥

विशेषार्थ—वन्दना करनेवाला स्वाधीन होना चाहिए। वन्दनामे तीन प्रदक्षिणा तथा तीन निषद्या अर्थात् बैठना तीन बार होता है। क्रिया विज्ञापनके अनन्तर, चैत्यभक्तिके

---

१ 'एवमुक्ता. क्रिया यथायोग्य जघन्यमध्यमोत्तमश्रावके सयतैश्च करणीया ।'

अथ जिनचैत्यवन्दनाया प्रचुरपुण्यास्रवणपूर्वपुण्योदयस्फारीकरणप्राक्तनपापविपाकापकर्षणापूर्वपातकसंवरणलक्षणा फलचतुष्टयी प्रतिपाद्य सर्वदा तत्र निसन्ध्य मुमुक्षुवर्गमुद्यमयन्नाह—

३ दृष्ट्वार्हत्प्रतिमां तदाकृतिमरं स्मृत्वा स्मरंस्तद्गुणान्
रागोच्छेदपुरःसरानतिरसात् पुण्यं चिनोत्युच्चकैः ।
तत्पाकं प्रथयत्यघं कृशयते पाकाद् रुणद्ध्याश्रवत्
६ तच्चैत्यान्यखिलानि कल्मषमुषां नित्यं त्रिशुद्ध्या स्तुयात् ॥१५॥

तदाकृति—अर्हन्मूर्तिम् । तल्लक्षण यथा—

'शुद्धस्फटिकसंकाश तेजोमूर्तिमय वपु. ।
९ जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम् ॥' [ ]

अर—झटिति । अर्हत्प्रतिमादर्शनान्तरमेव । स्मरन्नित्यादि । उक्तं च—

'वपुरेव तवाचष्टे भगवन् वीतरागताम् ।
१२ न हि कोटरसंस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वल. ॥' [ ]

अघमित्यादि—पापपाकमल्पीकरोतीत्यर्थ । रुणद्ध्यास्रवत्—पाप संवृणोतीत्यर्थ. । कल्मषमुषा—घातिचतुष्टयलक्षण स्वपापमपहृतवताम् वन्दारुभव्यजनाना वा दुष्कृतमपहरताम् ॥१५॥

अनन्तर और पंच गुरु भक्तिके अनन्तर आलोचना करते समय बैठना होता है। क्योंकि चैत्यभक्ति पंचगुरुभक्ति और समाधिभक्तिमे तीन कायोत्सर्ग किये जाते हैं। तथा एक कृतिकर्ममे बारह आवर्त और चार शिरोनति होती है। इनके सम्बन्धमें पहले लिख आये हैं॥१४॥

आगे जिनचैत्यवन्दनाके चार फल बतलाकर उसमें सर्वदा तीनो सन्ध्याओंको प्रवृत्त होनेका मुमुक्षु वर्गसे आग्रह करते है—

अर्हन्तकी प्रतिमाको देखकर तत्काल अर्हन्तकी शरीराकृतिका स्मरण होता है। उसके साथ ही भक्तिके उद्रेकसे अर्हन्त भगवान्‌के वीतरागता, सर्वज्ञता, हितोपदेशिता आदि गुणोंका स्मरण होता है। उनके स्मरणसे सातावेदनीय आदि पुण्य प्रकृतियोंका बहुतायतसे बन्ध होता है, जो पुण्य प्रकृतियाँ उदयमे आनेवाली है उनसे अनुभागकी वृद्धि होती है, बँधे हुए पापकर्मोंमें स्थिति अनुभागकी हानि होती है। नवीन पापबन्ध रुकता है। अतः जिन्होंने अपने चार घातिकर्म रूपी पापको दूर कर दिया है और जो वन्दना करनेवाले भव्य जीवोके भी पापको दूर करते है उन-उन अर्हन्तोंकी कृत्रिम अकृत्रिम प्रतिमाओकी मन, वचन, कायकी शुद्धिपूर्वक नित्यवन्दना करनी चाहिए॥१५॥

विशेषार्थ—जो चार घातिकर्मोंको नष्ट करके अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्त सुख और अनन्तवीर्य रूप अनन्त चतुष्टयसे सहित होते हैं उन्हे अर्हन्त कहते है। अर्हन्तकी प्रतिमाको देखते ही सबसे प्रथम साक्षात् अर्हन्तके शरीरका और फिर उनके आत्मिक गुणोका स्मरण आता है और दर्शकका मन आनन्दसे गद्‌गद और शरीर रोमाचित होता है। उसके मनकी ऐसी गुणानुराग दशा होनेसे चार कार्य उसकी अन्तरात्मामे होते हैं—प्रथम उसके सातिशय पुण्यका बन्ध होता है, उदयसे आनेवाले पापके फलमें कमी होती है और पुण्यमे वृद्धि होती है, तथा नवीन पापकर्मोंका आस्रव नही होता। ऐसा होनेसे ही वन्दना करनेवालेके कष्टोंमे कमी होती है, सासारिक सुखमे वृद्धि होती है, उसके मनोरथ पूर्ण होते है। इसे ही अज्ञानी कहते है कि भगवान्‌ने हमे यह दिया। किन्तु यदि वन्दना करनेवाला भावपूर्वक वन्दना नहीं करता तो उक्त चारों कार्य न होनेसे उसके मनोरथ सफल नहीं होते।

अथ स्वाधीनतेत्यस्यार्थं व्यतिरेकमुखेन समर्थयते—

नित्यं नारकवद्दीनः पराधीनस्तदेव न।
क्रमते लौकिकेऽप्यर्थे किमङ्गास्मिन्नलौकिके ॥१६॥ ३

नित्यमित्यादि। उक्तं च—'को नरकः परवशता।' इति। क्रमते—अप्रतिहतं प्रवर्तते उत्सहते वा। लौकिके—लोकविदिते स्नानभोजनादौ।

यल्लोके— ६

'परार्थानुष्ठाने श्लथयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान् ९
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥' [ ]

अङ्ग—पुनः। अस्मिन्—प्रकृते सर्वज्ञाराधने ॥१६॥

अथ चतुर्दशभिः पद्यैर्देववन्दनादिक्रियाणां प्रयोगानुपूर्वीमुपदेष्टुकामः प्रथमं तावद् व्युत्सर्गान्तक्रम- १२
प्रकाशनाय पञ्चश्लोकीमाचष्टे—

श्रुतदृष्ट्यात्मनि स्तुत्यं पश्यन् गत्वा जिनालयम्।
कृतद्रव्यादिशुद्धिस्तं प्रविश्य निसही गिरा ॥१७॥ १५

श्रुतदृष्ट्या—परमागमचक्षुषा। आत्मनि—विश्वरूपे स्वचिद्रूपे। स्तुत्य—भावरूपमर्हदादि ॥१७॥

चैत्यालोकोद्यदानन्दगलद्बाष्पस्त्रिरानतः।
परीत्य दर्शनस्तोत्रं वन्दनामुद्रया पठन् ॥१८॥ १८

तब अज्ञानी भगवान्‌को दोष देता है, अपनेको नहीं देखता। भगवान् तो वीतरागी हैं। वे न किसीको कुछ देते हैं न लेते हैं। न वे स्तुतिसे प्रसन्न होते हैं और न निन्दासे नाराज। स्वामी समन्तभद्रने कहा है—'हे नाथ![1] आप वीतराग हैं अतः आपको अपनी पूजासे प्रयोजन नहीं है। और वीतद्वेष हैं इसलिए निन्दासे प्रयोजन नहीं है। फिर भी आपके पवित्र गुणोंका स्मरण हमारे चित्तको पापकी कालिमासे बचावे इसी लिए आपकी वन्दना करते हैं ॥१५॥

कृतिकर्मके प्रथम अंग स्वाधीनताका व्यतिरेक मुखसे समर्थन करते हैं—

पराधीन मनुष्य नारकीके समान सदा दीन रहता है। इसलिए वह लौकिक खान-पान आदि कार्योंको करनेमें भी बे-रोक प्रवृत्त नहीं होता, तब सर्वज्ञकी आराधना जैसे अलौकिक कार्योंकी तो बात ही क्या है? ॥१६॥

आगे ग्रन्थकार चौदह श्लोकोंके द्वारा देववन्दना आदि क्रियाओंको करनेका क्रम बतलाना चाहते हैं। अतः पहले पाँच श्लोकोंके द्वारा व्युत्सर्ग पर्यन्त क्रियाओंका क्रम बतलाते हैं—

आगमरूपी चक्षुसे अपने आत्मामें भावरूप अर्हन्त आदिका दर्शन करते हुए जिनालयको जावे। वहाँ जाकर द्रव्य क्षेत्र काल भावकी शुद्धिपूर्वक निःसही शब्दका उच्चारण करते हुए प्रवेश करे। जिनबिम्बके दर्शनसे उत्पन्न हुए आनन्दसे हर्षके आँसू बहाते हुए

---

१. 'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्तवैरे।
तथापि ते पुण्यगुणस्मृतिर्नः पुनातु चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः ॥'—स्वयंभू स्तोत्र, ५७ श्लो.

कृत्वेर्यापथसंशुद्धिमालोच्यानम्रकाङ्घ्रिदोः ।
नत्वाऽऽश्रित्य गुरोः कृत्यं पर्यङ्कस्थोऽग्रमङ्गलम् ॥१९॥
३ उक्त्वाऽऽत्तसाम्यो विज्ञाप्य क्रियामुत्थाय विग्रहम् ।
प्रह्वीकृत्य त्रिभ्रमैकशिरोविनतिपूर्वकम् ॥२०॥

दर्शनस्तोत्र—दर्शने भगवदवलोकनविषये दर्शनाय वा सम्यक्त्वाय दर्शनवद्वा सामान्यविषयत्वात् ।
६ स्तोत्र—स्तवन 'दृष्टं जिनेन्द्रभवन' इत्यादि सामान्यस्तवनजातम् ॥१८॥ ईर्यापथसंशुद्धि—ऐर्यापथिक-दोषविशुद्धिम् । 'पडिक्कमामि' इत्यादिदण्डकेन कृत्वा । आलोच्य—'इच्छामि' इत्यादिदण्डकेन निन्दागर्हा-रूपामालोचना कृत्वा । आनम्रकाङ्घ्रिदोः—समन्तात् साधुत्वेन नमन्मस्तकपादहस्तम् क्रियाविशेषणं चैतत् ।
९ आश्रित्य गुरोः कृत्यम्—गुरोर्धर्माचार्यस्य तद्दूरे देवस्याप्यग्रे देववन्दना प्रतिक्रमणादिकं वा कृत्यमाश्रित्य 'नमोऽस्तु देववन्दना करिष्यामि' इत्यादिरूपेणाङ्गीकृत्य । अग्रमङ्गल—मुख्यमङ्गल जिनेन्द्रगुणस्तोत्र 'सिद्धं सम्पूर्णभव्यार्थम्' इत्यादिरूपम् ॥१९॥ आत्तसाम्यः—'खम्मामि सव्व जीवाण' इत्यादिसूत्रोच्चारणेन प्रतिपन्न-
१२ सामायिकः ॥२०॥

मुक्ताशुक्त्यङ्कितकरः पठित्वा साम्यदण्डकम् ।
कृत्वावर्तत्रयशिरोनती भूयस्तनुं त्यजेत् ॥२१॥

१५ भूयः—पुनः, साम्यदण्डकपाठान्तेऽपीत्यर्थः ॥२१॥

अथ श्लोकद्वयेन व्युत्सर्गध्यानविधिमुपदिशति—

जिनेन्द्रमुद्रया गाथा ध्यायेत् प्रीतिविकस्वरे ।
१८ हृत्पङ्कजे प्रवेश्यान्तर्निरुध्य मनसाऽनिलम् ॥२२॥
पृथग् द्विद्व्येकगाथांशचिन्तान्ते रेचयेच्छनैः ।
नवकृत्वः प्रयोक्तैवं दहत्यंहः सुधीर्महत् ॥२३॥

तीन बार नमस्कार करे और तीन प्रदक्षिणा करे। फिर वन्दना मुद्रा पूर्वक जिनदर्शन सम्बन्धी कोई स्तोत्र पढ़े। फिर 'पडिक्कमामि' मैं प्रतिक्रमण करता हूँ इत्यादि दण्डकको पढकर ईर्यापथ शुद्धि करे अर्थात् मार्गमें चलनेसे जो जीवोंकी विराधना हुई है उसकी शुद्धि करे, फिर 'इच्छामि' इत्यादि दण्डकके द्वारा निन्दा गर्हारूप आलोचना करे। फिर मस्तक, दोनों हाथ, दोनो पैर इन पाँच अंगोंको नम्र करके गुरुको नमस्कार करके उनके आगे अपने कृत्यको स्वीकार करे कि भगवन्! मैं देववन्दना करता हूँ या प्रतिक्रमण करता हूँ। यदि गुरु दूर हों तो जिनदेवके आगे उक्त कार्य स्वीकार करना चाहिए। फिर पर्यंकासनसे बैठकर जिनेन्द्रके गुणोका स्तवन पढकर 'खम्भामि सव्व जीवाणं' मैं सब जीवोको क्षमा करता हूँ इत्यादि पढकर साम्यभाव धारण करना चाहिए। फिर वन्दना क्रियाका ज्ञापन करके खड़े होकर शरीरको नम्र करके दोनों हाथोंकी मुक्ताशुक्ति मुद्रा बनाकर तीन आवर्त और एक नमस्कार पूर्वक सामायिक दण्डक पढना चाहिए। सामायिक दण्डकके पाठ समाप्ति पर पुनः तीन आवर्त और एक नमस्कार (दोनों हाथ मुद्रापूर्वक मस्तकसे लगाकर) करना चाहिए। इसके बाद शरीरसे ममत्व त्याग रूप कायोत्सर्ग करना चाहिए॥१७-२१॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा कायोत्सर्गमें ध्यानकी विधि बतलाते हैं—

कायोत्सर्गमें आनन्दसे विकसनशील हृदयरूपी कमलमें मनके साथ प्राणवायुका प्रवेश कराकर और उसे वहाँ रोककर जिनमुद्राके द्वारा 'णमोअरहंताणं' इत्यादि गाथाका ध्यान करे। तथा गाथाके दो-दो और एक अंशका अलग-अलग चिन्तन करके अन्तमें

मनसा। सहार्थे करणे वा तृतीया ॥२२॥ द्वीत्यादि—गाथाया द्वावंशौ 'णमो अरहंताण णमोसिद्धाण-मि'ति। पुनर्द्वौ 'णमो आयरियाणं, णमो उवज्झायाणं' इति। एकस्त्वंशो 'णमो लोए सव्वसाहूण' इति। यथाह—

'शनैः शनैः मनोऽजस्रं वितन्द्रः सह वायुना।
प्रविश्य हृदयाम्भोजे कर्णिकाया नियन्त्रयेत् ॥
विकल्पा न प्रसूयन्ते विषयाशा निवर्तते।
अन्त स्फुरति विज्ञानं तत्र चित्ते स्थिरीकृते ॥' [ज्ञानार्णव २६।५०-५१]
'स्थिरीभवन्ति चेतांसि प्राणायामावलम्बिनाम्।
जगद्वृत्तं च निःशेषं प्रत्यक्षमिव जायते ॥' [ज्ञानार्णव २६।५४]
'स्मरगरलमनोविजय समस्तरोगक्षयं वपुः स्थैर्यम्।
पवनप्रचारचतुरः करोति योगी न सन्देहः ॥' [ ]

अपि च—

'दोपक्खभुआ दिट्ठी अंतमुही सिवसरूव संलीणा।
मणपवणक्खविहूणा सहजावत्था स णायव्वा ॥
जत्थ गया सा दिट्ठी तत्थ मणं तत्थ संठिय पवण।
मणवयणुभेए सुन्न तहि च ज फुरइ त ब्रह्म ॥ [ ] ॥२३॥

वायुको धीरे-धीरे बाहर निकाले। इस प्रकार अन्तर्दृष्टि संयमी नौ बार प्राणायाम करके बड़े-से-बड़े पापको भस्म कर देता है ॥२२-२३॥

विशेषार्थ—ध्यानकी सिद्धि और चित्तकी स्थिरताके लिए प्राणायाम प्रशंसनीय है। उसके तीन भेद हैं—पूरक, कुम्भक और रेचक। तालुके छिद्रसे बारह अंगुल तक श्वास द्वारा वायुको खींचकर शरीरके भीतर पूरण करनेको पूरक कहते हैं। उस पूरक पवनको नाभि-कमलमें स्थिर करके घड़ेकी तरह भरनेको कुम्भक कहते हैं। और उस रोकी हुई वायुको धीरे-धीरे बड़े यत्नसे बाहर निकालनेको रेचक कहते हैं। पूरा णमोकार मन्त्र एक गाथा रूप है। उसके तीन अंश करके कायोत्सर्गके समय चिन्तन करना चाहिए। 'णमो अरहंताणं णमो सिद्धाणं' के साथ प्राणवायुको अन्दर लेजाकर उसका चिन्तन करे और चिन्तनके अन्तमें वायु धीरे-धीरे बाहर निकाले। फिर 'णमो आइरियाणं' 'णमो उवज्झायाणं' के साथ प्राणवायुको अन्दर लेजाकर हृदय कमलमें इनका चिन्तन करे और चिन्तनके अन्तमें धीरे-धीरे वायु बाहर निकाले। फिर 'णमो लोए सव्व साहूणं' के साथ प्राण वायु अन्दर ले जावे और चिन्तनके अन्तमें धीरे-धीरे बाहर निकाले। इस विधिसे २७ स्वासोच्छ्वासोंमें नौ बार नमस्कार मन्त्रका चिन्तन करनेसे पापका विध्वंस होता है। कहा भी है—'निरालसी ध्याताको धीरे-धीरे वायुके साथ मनको निरन्तर हृदय रूपी कमलकी कर्णिकामें प्रवेश कराकर रोकना चाहिए। वहाँ चित्त स्थिर होनेपर संकल्प-विकल्प उत्पन्न नहीं होते, विषयोंकी आशा दूर होती है और अन्तरंगमें ज्ञानका स्फुरण होता है। जो प्राणायाम करते हैं उनके चित्त स्थिर हो जाते हैं और समस्त जगत्का वृत्तान्त प्रत्यक्ष जैसा दीखता है। जो योगी वायुके सचारमें चतुर होता है अर्थात् प्राणायाममें निपुण होता है वह कामरूपी विष पर

१. –णलए भ. कु. च.।

अथाशक्तान् प्रत्युपांशु वाचनिकं पञ्चनमस्कारजपमनुज्ञाय तस्य मानसिकस्य च पुण्यप्रसूतावन्तरमभिधत्ते—

३ **वाचाऽप्युपांशु व्युत्सर्गे कार्यो जप्यः स वाचिकः ।**
पुण्यं शतगुणं चैत्तः सहस्रगुणमावहेत् ॥२४॥

वाचापि—अपिशब्दोऽसक्तान् प्रत्यनुज्ञां द्योतयति । उपांशु—यथाऽन्यो न शृणोति, स्वसमक्षमेवेत्यर्थः । ६ जप्यः—मर्वेनसामपध्वंसी पञ्चनमस्कारजप इत्यर्थः । शतगुणं—दण्डकोच्चारणादेः सकाशात् । यथाह—

'वचसा वा मनसा वा कार्यो जप्यः समाहितस्वान्तैः ।
शतगुणमाद्ये पुण्यं सहस्रगुणितं द्वितीये तु ॥' [सोम. उपा., ६०२ श्लो.]

९ पुनरप्याह—

'विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः ।
उपांशु स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः ॥' [मनुस्मृति २।८५] ॥२४॥

१२ अथ पञ्चनमस्कारमाहात्म्यं श्रद्धानोद्दीपनार्थमनुवदति—

अपराजितमन्त्रो वै सर्वविघ्नविनाशनः ।
मङ्गलेषु च सर्वेषु प्रथमं मङ्गलं मतः ॥२५॥

१५ स्पष्टम् ॥२५॥

मनके द्वारा विजय प्राप्त करता है, उसके समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं, और शरीर स्थिर हो जाता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥२२-२३॥

जो उक्त प्रकारसे पंचनमस्कारमन्त्रका ध्यान करनेमें असमर्थ हैं उन्हें वाचनिक जप करनेकी अनुज्ञा देते हुए दोनोंसे होने वाले पुण्यबन्धमें अन्तर बताते हैं—

जो साधु उक्त प्राणायाम करनेमें असमर्थ हैं उन्हें कायोत्सर्गमें दूसरा न सुन सके इस प्रकार वचनके द्वारा भी पंच नमस्कारमन्त्रका जप करना चाहिए। किन्तु दण्डक आदिके पाठसे जितने पुण्यका संचय होता है उसकी अपेक्षा यद्यपि वाचिक जापसे सौगुणा पुण्य होता है तथापि मानसिक जप करनेसे हजार गुणा पुण्य होता है ॥२४॥

विशेषार्थ—आचार्य सोमदेवने भी वाचनिक जपसे मानसिक जपका कई गुणा अधिक फल कहा है। यथा—'स्थिरचित्तवालोंको वचनसे या मनसे जप करना चाहिए। किन्तु पहलेमें सौगुणा पुण्य होता है तो दूसरेसे हजार गुणा पुण्य होता है।'

मनुमहाराजका भी यही मत है। यथा—'विधियज्ञसे जपयज्ञ दसगुना विशिष्ट होता है। किन्तु जपयज्ञ भी यदि वचनसे किया जाये तो सौगुना और मनसे किया जाये तो हजार गुना विशिष्ट माना गया है ॥२४॥

आगे मुमुक्षुजनोंके श्रद्धानको बढ़ानेके लिए पंचनमस्कार मन्त्रका माहात्म्य बतलाते हैं—

यह पंचनमस्कार मन्त्र स्पष्ट ही सब विघ्नोंको नष्ट करनेवाला है और सब मंगलोंमें मुख्य मंगल माना है ॥२५॥

विशेषार्थ—मंगल शब्दके दो अर्थ होते हैं—'म' मलको जो गालन करता है—दूर करता है उसे मंगल कहते हैं। और मंग अर्थात् सुख और उसके कारण पुण्यको जो लाता है उसे मंगल कहते हैं। ये दोनों अर्थ पंचनमस्कार मन्त्रमें घटित होते हैं। उससे पापका

अथैकैकस्यापि परमेष्ठिनो विनयकर्मणि लोकोत्तरं महिमानमावेदयति—

नेष्टं विहन्तुं शुभभावभग्नरसप्रकर्षः प्रभुरन्तराय.।
तत्कामचारेण गुणानुरागान्नुत्यादिरिष्टार्थकृदर्हदादेः ॥२६॥

रसविपाक. ॥२६॥

विनाश भी होता है और पुण्यका संचय भी होता है। कहा है—यह पंचनमस्कार सब पापोंको नाश करनेवाला है और सब मंगलोंमें मुख्य मंगल है।

श्वेताम्बरीय लघु नवकार फलमे इसे जैन शासनका सार और चौदह पूर्वोका उद्धार कहा है—जो जिनशासनका सार है और चौदह पूर्वोका उद्धार रूप है ऐसा नवकार मन्त्र जिसके मनमे है संसार उसका क्या कर सकता है? और भी उसीमे कहा है—यह काल अनादि है, जीव अनादि है, जिनधर्म अनादि है। तभीसे वे सब इस नमस्कार मन्त्रको पढते हैं। जो कोई भी कर्म फलसे मुक्त होकर मोक्षको गये, जाते हैं और जायेंगे, वे सब नमस्कार मन्त्रके प्रभावसे ही जानने चाहिए ॥२५॥

आगे एक-एक परमेष्ठीकी भी विनय करनेका अलौकिक माहात्म्य बतलाते है—

अन्तराय कर्मकी इष्टको घातनेकी शक्ति जब शुभ परिणामोंके द्वारा नष्ट कर दी जाती है तो वह वांछित वस्तुकी प्राप्तिमें विघ्न डालनेमे असमर्थ हो जाता है। इसलिए गुणोंमे अनुरागवश कर्ता अपनी इच्छानुसार अर्हन्त, सिद्ध आदिका जो स्तवन, नमस्कार आदि करता है उससे इच्छित प्रयोजनकी सिद्धि होती है ॥२६॥

विशेषार्थ—जब अर्हन्त आदि स्तुतिसे प्रसन्न नहीं होते और निन्दासे नाराज नहीं होते तब उनके स्तवन आदि करनेसे मनुष्योंके इच्छित कार्य कैसे पूरे हो जाते हैं यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। उसीके समाधानके लिए कहते हैं कि मनुष्यके प्रयत्न करने-पर भी जो उसके मनोवांछित कार्य पूर्ण नहीं होते इसमें उस मनुष्यके द्वारा पूर्वमे बाँधे गये अन्तराय कर्मका तीव्र अनुभागबन्ध रुकावट डालता है। पंचपरमेष्ठीमें-से किसीके भी गुणोमें श्रद्धा करके जो कर्ता स्तवनादि करता है उससे होनेवाले शुभ परिणामोंसे पूर्वबद्ध अन्तराय कर्मके तीव्र अनुभागमे मन्दता आती है। उसके कारण अन्तराय कर्मकी शक्ति क्षीण होनेसे कर्ताका मनोरथ पूर्ण हो जाता है। नासमझ समझ लेते है कि भगवान्‌ने हमारा मनोरथ पूर्ण किया। यदि कर्ताका अन्तराय कर्म तीव्र हो और कर्ता विशुद्ध भावोसे आराधना न करे तो कार्यमें सफलता नहीं मिलती। नासमझ इसका दोष भगवान्‌को देते हैं और अपने परिणामोंको नहीं देखते। ग्रन्थकार कहते हैं कि अर्हन्त आदिका स्तवन, पूजन आदि उनके गुणोंमे अनुरागवश ही किया जाना चाहिए। तभी कार्यमे सफलता मिलती है। केवल अपने मतलबसे स्तवन आदि करनेसे सच्चा लाभ नहीं होता ॥२६॥

---

१ 'जिणसासणस्स सारो चउदस पुव्वाण जो समुद्धारो।
जस्स मणे नवकारो ससारो तस्स किं कुणइ ? ॥'

२ 'एसो अणाइ कालो अणाइ जीवो अणाइ जिणधम्मो।
तइया वि ते पढंता एसुच्चिय जिणणमुक्कार ॥
जे केई गया मोक्खं गच्छंति य के वि कम्मफलमुक्का।
ते सव्वे वि य जाणसु जिणणवकारप्पभावेण ॥'—लघुनवकारफल १६-१७ गा.।

अथ कायोत्सर्गानन्तरं कृत्य श्लोकद्वयेनाह—

प्रोच्य प्राग्वत्ततः साम्यस्वामिनां स्तोत्रदण्डकम् ।
वन्दनामुद्रया स्तुत्वा चैत्यानि त्रिप्रदक्षिणम् ॥२७॥
आलोच्य पूर्ववत्पञ्चगुरून् नुत्वा स्थितस्तथा ।
समाधिभक्त्याऽस्तमलः स्वस्य ध्यायेद् यथाबलम् ॥२८॥

प्राग्वत्—विग्रहमित्याद्युक्तविधिना । साम्यस्वामिना—सामायिकप्रयोक्तृणा चतुर्विंशतितीर्थकराणाम् ॥२७॥

आलोच्य—'इच्छामि भंते चेइयभत्तिकाउसग्गो कओ' इत्यादिना पूर्ववत् । आनम्रकाङ्घ्रिदोरित्यर्थ. । ऊर्ध्व' चैत्यभक्तिवदत्र प्रदक्षिणानभ्युपगमात् । तथा—तेन विज्ञाप्यक्रियामित्यादि प्रबन्धोक्तेन प्रकारेण । स्वस्य ध्यायेत्—आत्मध्यान विदध्यादित्यर्थ ॥२८॥

अथात्मध्यानमन्तरेण केनचिन्मोक्षो न स्यादित्युपदिशति—

नात्मध्यानाद्विना किंचित्मुमुक्षो. कर्मंहीष्टकृत् ।
कित्वस्त्रपरिकर्मेव स्यात् कुण्ठस्याततायिनी ॥२९॥

इष्टकृत्—मोक्षसाधकम् । आततायिनि—हन्तुमुद्यते शत्रौ ।

इस प्रकार कायोत्सर्ग तककी क्रियाओंको बताकर उसके पश्चात्के कार्यको दो श्लोकोसे कहते है—

चैत्यभक्ति और कायोत्सर्ग करनेपर पहले शरीरको नम्र करके आदि जो विधि कही है उसीके अनुसार सामायिकके प्रयोक्ता चौबीस तीर्थंकरोकी भक्तिमे तन्मय होकर 'थोस्सामि' इत्यादि स्तोत्रदण्डकको पढकर तीन प्रदक्षिणापूर्वक वन्दना-मुद्रासे जिनप्रतिमाका स्तवन करे। फिर पहलेकी तरह पंचाग नमस्कार करके खड़े होकर 'इच्छामि भंते पंचगुरुभत्तिकाओसग्गो कओ तस्स आलोचेउ' हे भगवन्, मैंने पंचगुरुभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग किया, मै उसकी आलोचना करना चाहता हूँ, इत्यादि बोलकर आलोचना करे। फिर क्रियाकी विज्ञापना आदि करके वन्दनामुद्रापूर्वक पंचपरमेष्ठीको नमस्कार करके समाधि भक्तिके द्वारा वन्दना सम्बन्धी अतीचारोको दूर करे। फिर यथाशक्ति आत्मध्यान करे ॥२७-२८॥

आगे कहते हैं कि आत्मध्यानके विना किसीको भी मोक्ष नहीं होता—

आत्मध्यानके बिना मोक्षके इच्छुक साधुकी कोई भी क्रिया मोक्षकी साधक नहीं हो सकती। फिर भी मुमुक्षु जो आत्मध्यानको छोड़कर अन्य क्रियाएँ करता है वह उसी तरह है जैसे मारनेके लिए तत्पर शत्रुके विषयमे आलसी मनुष्य शास्त्राभ्यास करता है ॥२९॥

विशेषार्थ—मोक्षका साधक तो आत्मध्यान ही है। ऐसी स्थितिमें यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब आत्मध्यान ही मोक्षका साधक है तो मुमुक्षुको आत्मध्यान ही करना चाहिए वन्दना भक्ति आदि क्रियाओकी क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि आत्मध्यानसे पहले मुमुक्षुको उसके अभ्यासके लिए चित्तको एकाग्र करनेके लिए बाह्य क्रियाएँ करनी होती है। साधु और गृहस्थके लिए षट् कर्म आवश्यक बतलाये हैं वह इसी दृष्टिसे आवश्यक बतलाये है। वे साधुको निरुद्यमी या आलसी नहीं होने देते। आज ऐसे भी मुमुक्षु है जो क्रियाकाण्ड व्यर्थ समझकर न तो आत्मसाधना ही करते है न क्रियाकर्म ही करते है। और ऐसे भी मुमुक्षु साधु है जो आत्माकी बात भी नहीं करते और श्रावकोचित क्रियाकाण्डमे ही फँसे रहते हैं। ये दोनो ही प्रकारके मुमुक्षु परमार्थसे मुमुक्षु नहीं हैं। अमृत

उक्तं च—

'मग्ना. कर्मनयावलम्बनपरा ज्ञानं न जानन्ति यत्
मग्ना ज्ञाननयैषिणोऽपि यदतिस्वच्छन्दमन्दोद्यमा. ।
विश्वस्योपरि ते तरन्ति सतत ज्ञानं भवन्त. स्वयं
ये कुर्वन्ति न कर्म जातु न वशं यान्ति प्रमादस्य च ॥' ३

—[समय. कलश १११, श्लो] ॥२९॥ ६

अथ समाधिमहिम्नोऽशक्यस्तवनत्वमभिधत्ते—

यः सूते परमानन्दं भूर्भुवः स्वर्भुजामपि ।
काम्यं समाधिः कस्तस्य क्षमो माहात्म्यवर्णने ॥३०॥ ९

भूर्भुव. स्वर्भुजा—अधोमध्योर्ध्वलोकयतीनाम् ॥३०॥

अथ प्राभातिकदेववन्दनानन्तरकरणीयामाचार्यादिवन्दनामुपदिशति—

लघ्व्या सिद्धगणिस्तुत्या गणी वन्द्यो गवासनात् । १२
सैद्धान्तोऽन्त श्रुतस्तुत्या तथान्यस्तन्नुतिं विना ॥३१॥

गवासनात्—गवासने उपविश्य । सैद्धान्तः—सिद्धान्तविद् गणी । अन्त श्रुतस्तुत्या—अन्तर्मध्ये कृता श्रुतस्तुतिर्यस्या सिद्धगणिस्तुते लध्वीभि· सिद्धश्रुताचार्यभक्तिभिस्तिसृभिरित्यर्थं । तथेत्यादिआचार्या- १५

चन्द्राचार्यने कहा है—जो कर्मनयके अवलम्बनमे तत्पर हैं, उसके पक्षपाती है वे भी डूबते हैं। जो ज्ञानको तो जानते नहीं और ज्ञानके पक्षपाती है, क्रियाकाण्डको छोड स्वच्छन्द हो स्वरूपके विषयमें आलसी हैं वे भी डूबते हैं। किन्तु जो स्वयं निरन्तर ज्ञानरूप हुए कर्मको तो नहीं करते और प्रमादके भी वश नहीं होते, वे सब लोकके ऊपर तैरते है।

जो ज्ञानस्वरूप आत्माको तो जानते भी नहीं और व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्ररूप क्रियाकाण्डके आडम्बरको ही मोक्षका कारण जान उसीमे लगे रहते है उन्हें कर्मनयावलम्वी कहते हैं वे संसार-समुद्रमे डूबते हैं। तथा जो आत्माके यथार्थ स्वरूपको तो जानते नहीं और उसके पक्षपातवश व्यवहार दर्शन, ज्ञान, चारित्रको निरर्थक जानकर छोड बैठते है ऐसे ज्ञाननयके पक्षपाती भी डूबते हैं, क्योंकि वे बाह्य क्रियाको छोडकर स्वेच्छाचारी हो जाते हैं और स्वरूपके विषयमे आलसी रहते हैं। किन्तु जो पक्षपातका अभिप्राय छोडकर निरन्तर ज्ञानरूपमे प्रवृति करते हैं, कर्मकाण्ड नहीं करते, किन्तु जबतक ज्ञानरूप आत्मामे रमना शक्य नहीं होता तबतक अशुभ कर्मको छोड स्वरूपके साधनरूप शुभ क्रियामे प्रवृत्ति करते हैं, वे कर्मोंका नाश करके संसारसे मुक्त हो लोकके शिखरपर विराजमान होते है ॥२९॥

आगे कहते हैं कि समाधिकी महिमा कहना अशक्य है—

जो समाधि अधोलोक, मध्यलोक और स्वर्गलोकके स्वामियोके लिए भी चाहने योग्य परम आनन्दको देती है, उस समाधिका माहात्म्य वर्णन करनेमे कौन समर्थ है? अर्थात् कोई भी समर्थ नहीं है ॥३०॥

आगे प्रात कालीन देववन्दनाके पश्चात् आचार्य आदिकी वन्दना करनेका उपदेश देते हैं—

साधुको गवासनसे बैठकर लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्तिसे आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तके ज्ञाता हों तो लघुसिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति

दन्यो यतिराचार्यभक्ति विना लघुसिद्धभक्त्या वन्द्य । स एव च सैद्धान्तो लघुसिद्धश्रुतभक्तिभ्या वन्द्य इत्यर्थः । उक्तं च—

३　　'सिद्धभक्त्या वृहत्साधुर्वन्द्यते लघुसाधुना ।
लघ्व्या सिद्धश्रुतस्तुत्या सैद्धान्तः प्रप्रणम्यते ॥
सिद्धाचार्यलघुस्तुत्या वन्द्यते साधुभिर्गणी ।
६　　सिद्धश्रुतगणिस्तुत्या लघ्व्या सिद्धान्तविद्गणी ॥' [　　　] ॥३१॥

अथ धर्माचार्यपर्युपास्ति माहात्म्य स्तुवन्नाह—

यत्पादच्छायमुच्छिद्य सद्यो जन्मपथक्लमम् ।
९　　**वर्वष्टि निर्वृतिसुधां सूरिः सेव्यो न केन सः ॥३२॥**

वर्वष्टि—भृश पुन पुनर्वा वर्षति । निर्वृति —कृतकृत्यतासन्तोष ॥३२॥

अथ ज्येष्ठयतिवन्दनानुभाव भावयति—

१२　　**येऽनन्यसामान्यगुणाः प्रीणन्ति जगदञ्जसा ।**
तान्महन्महतः साधूनिहामुत्र महीयते ॥३३॥

महन्—पूजयन् । महत.—दीक्षाज्येष्ठानिन्द्रादिपूज्यान्वा । महीयते—पूज्यो भवति ॥३३॥

१५　　अथ प्राभातिककृत्योत्तरकरणीयमाह—

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम् ।
नाडीद्वयोनमध्याह्नं यावत् स्वाध्यायमावहेत् ॥३४॥

१८　　स्पष्टम् ॥३४॥

अथ निष्ठापितस्वाध्यायस्य मुने प्रतिपन्नोपवासस्यास्वाध्यायकाले करणीयमुपदिशति—

और आचार्यभक्तिसे उनकी वन्दना करनी चाहिए। तथा आचार्यसे अन्य साधुओकी वन्दना आचार्य भक्तिके विना सिद्ध भक्तिसे करनी चाहिए। किन्तु यदि साधु सिद्धान्तके वेत्ता हो तो सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक उनकी वन्दना करनी चाहिए ॥३१॥

आगे धर्माचार्यकी उपासनाके माहात्म्यकी प्रशंसा करते हैं—

जिनके चरणोंका आश्रय तत्काल ही संसारमार्गकी थकानको दूर करके निर्वृतिरूपी अमृतकी वारम्वार वर्षा करता है, उन आचार्यकी सेवा कौन नहीं करेगा अर्थात् सभी मुमुक्षुओके द्वारा वे सेवनीय हैं ॥३२॥

अपनेसे ज्येष्ठ साधुओंकी वन्दनाके माहात्म्यको वताते हैं—

दूसरोंसे असाधारण गुणोंसे युक्त जो साधु परमार्थसे जगत्को सन्तृप्त करते हैं उन दीक्षामे ज्येष्ठ अथवा इन्द्रादिके द्वारा पूज्य साधुओकी पूजा करनेवाला इस लोक और परलोकमे पूज्य होता है ॥३३॥

आगे प्रात कालीन कृत्यके वादकी क्रिया वताते हैं—

उक्त प्रकारसे प्रभातसे दो घड़ी पर्यन्त देववन्दना आदि करके, दो घड़ी कम मध्याह्नकाल तक यथाशक्ति स्वाध्याय करना चाहिए ॥३४॥

स्वाध्याय कर चुकनेपर यदि मुनिका उपवास हो तो उस अस्वाध्यायकालमे मुनिको क्या करना चाहिए, यह वताते हैं—

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा ।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदुपोषितः ॥३५॥

स्पष्टम् ॥३५॥ ३

अथाप्रतिपन्नोपवासस्य भिक्षोर्मध्याह्नकृत्यमाह—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम् ।
न वा निष्ठाप्य विधिवद् भुक्त्वा भूयः प्रतिष्ठयेत् ॥३६॥ ६

प्राणयात्राचिकीर्षाया—भोजनकरणेच्छाया जातायाम् । निष्ठाप्य—पूर्वदिने प्रतिपन्नं क्षमयित्वा । प्रतिष्ठयेत्—प्रत्याख्यानमुपोषितं वा यथासामर्थ्यमात्मनि स्थापयेत् ॥३६॥

अथ प्रत्याख्यानादिनिष्ठापनप्रतिष्ठापयोस्तत्प्रतिष्ठापनानन्तरमाचार्यवन्दनायाश्च प्रयोगविधिमाह— ९

हेयं लघ्व्या सिद्धभक्त्याशनादौ
प्रत्याख्यानाद्याशु चादेयमन्ते ।
सूरौ तादृग् योगिभक्त्यग्रया तद् १२
ग्राह्यं वन्द्यः सूरिभक्त्या स लघ्व्या ॥३७॥

आदेयं—लघ्व्या सिद्धभक्त्या प्रतिष्ठाप्यम् । आचार्यासन्निधावदिम् । अन्ते—प्रक्रमाद् भोजनस्यैव । सूरौ—आचार्यसमीपे । तादृग्योगिभक्त्यग्रया—लघुयोगिभक्त्यधिकया लघ्व्या सिद्धभक्त्या । उक्तं च— १५

'सिद्धभक्त्योपवासश्च प्रत्याख्यानं च मुच्यते ।
लघ्व्यैव भोजनस्यादौ भोजनान्ते च गृह्यते ॥
सिद्धयोगिलघुभक्त्या प्रत्याख्यानादि गृह्यते । १८
लघ्व्या तु सूरिभक्त्यैव सूरिर्वन्द्योऽथ साधुना ॥' [ ] ॥३७॥

उपवास करनेवाले साधुको पूर्वाह्णकालकी स्वाध्याय समाप्त होनेपर अस्वाध्यायके समयमे देव और गुरुकी वन्दना करके या तो ध्यान करना चाहिए, या चार आराधनाओका अथवा अन्य किसी शास्त्रका अभ्यास करना चाहिए, या पंचनमस्कार मन्त्रका जप करना चाहिए ॥३५॥

उपवास न करनेवाले साधुको मध्याह्नकालमे क्या करना चाहिए, यह बताते हैं—

यदि भोजन करनेकी इच्छा हो तो पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था उसकी विधिपूर्वक क्षमापणा करके शास्त्रोक्त विधानके अनुसार भोजन करे। और भोजन करनेके पश्चात् पुन अपनी शक्तिके अनुसार प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करे ॥३६॥

आगे प्रत्याख्यान आदिकी समाप्ति और पुनः प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेकी तथा प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके अनन्तर आचार्यवन्दना करनेकी विधि कहते हैं—

पहले दिन जो प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण किया था, भोजनके प्रारम्भमे लघु सिद्ध-भक्तिपूर्वक उसकी निष्ठापना या समाप्ति करके ही साधुको भोजन करना चाहिए और भोजनके समाप्त होते ही लघु सिद्धभक्तिपूर्वक पुन. प्रत्याख्यान या उपवास ग्रहण करना चाहिए। किन्तु यदि आचार्य पासमे न हों तभी साधुको स्वयं प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करना चाहिए। आचार्यके होनेपर उनके सम्मुख लघु आचार्य भक्तिके द्वारा वन्दना करके फिर लघु सिद्ध भक्ति और लघु योगि भक्ति बोलकर प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करना चाहिए ॥३७॥

अथ सद्य प्रत्याख्यानाग्रहणे दोषमल्पकालमपि तद्ग्रहणे च गुणं दर्शयति—

प्रत्याख्यानं विना दैवात् क्षीणायुः स्याद् विराधकः।
तदल्पकालमप्यल्पमप्यर्थपृथु चण्डवत् ॥३८॥

३

अर्थपृथु—फलेन वहु भवति। चण्डवत्—चण्डनाम्नो मातङ्गस्य। चर्मवरत्रानिर्मातु क्षण मासमात्र-निवृत्तस्य यथा। उक्तं च—

'चण्डोऽवन्तिषु मातङ्गः किल मासनिवृत्तितः।

६

अप्यल्पकालभाविन्या. प्रपेदे यक्षमुख्यताम् ॥' [सोम. उपा., ३१३ श्लो] ॥३८॥

अथ प्रत्याख्यानादिग्रहणानन्तरकरणीय दैवसिकप्रतिक्रमणादिविधिमाह—

९

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके।
मध्याह्ने प्राह्णवद्वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद् भजेत् ॥३९॥

भोजनके अनन्तर तत्काल ही प्रत्याख्यान ग्रहण न करनेपर दोष और थोड़ी देरके लिए भी उसके ग्रहण करनेमे लाभ वतलाते हैं—

प्रत्याख्यानके विना पूर्वमे वद्ध आयुकर्मके वश यदि आयु क्षीण हो जाये अर्थात् मरण हो जाये तो वह साधु रत्नत्रयका आराधक नहीं रहता। तथा थोड़े भी समयके लिए थोड़ा भी प्रत्याख्यान चण्ड नामक चाण्डालकी तरह बहुत फलदायक होता है ॥३८॥

विशेषार्थ—विना त्यागके सेवन न करनेमें और त्यागपूर्वक सेवन न करनेमे आकाश-पातालका अन्तर है। यद्यपि साधुके मूलगुणोंमें ही एक बार भोजन निर्धारित है। फिर भी साधु प्रतिदिन भोजन करनेके अनन्तर तत्काल दूसरे दिन तकके लिए चारो प्रकारके आहारका त्याग कर देते है। इससे दो लाभ हैं—एक तो त्याग कर देनेसे मन भोजनकी ओर नहीं जाता, वह वँध जाता है। दूसरे यदि कदाचित् साधुका मरण हो जाये तो सद्गति होती है अन्यथा साधु रत्नत्रयका आराधक नहीं माना जाता। अतः थोड़ी देरके लिए थोडा-सा भी त्याग फलदायक होता है। जैसे उज्जैनीमे चण्ड नामक चाण्डाल था। वह चमड़ेकी रस्सी वाटता था और एक ओर शराव रख लेता था दूसरी ओर मांस। जब रस्सी वाटते हुए शरावके पास आता तो शराव पीता और मांसके पास पहुँचता तो मास खाता। एक दिन आकाशमार्गसे मुनि पधारे। उस दिन उसकी शरावमें आकाशसे विषैले जन्तुके गिरनेसे शराव जहरीली हो गयी थी। चण्डने मुनिराजसे व्रत ग्रहण करना चाहा तो महाराजने उससे कहा कि जितनी देर तुम माससे शरावके पास और शरावसे मांसके पास जाते हो उतनी देरके लिए शराव और मासका त्याग कर दो। उसने ऐसा ही किया और रस्सी वटते हुए जव वह मांसके पास पहुँचा तो उसने मांस खाया और जबतक पुनः लौटकर मासके पास न आवे तवतकके लिए मासका त्याग कर दिया। जैसे ही वह शरावके पास पहुँचा और उसने जहरीली शराव पी उसका मरण हो गया और वह मरकर यक्षोंका मुखिया हुआ। कहा है—'अवन्ति देशमे चण्ड नामक चाण्डाल वहुत थोड़ी देरके लिए मास-का त्याग करनेसे मरकर यक्षोंका प्रधान हुआ' ॥३८॥

प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके पश्चात् करने योग्य भोजन सम्वन्धी प्रतिक्रमण आदि की विधि कहते हैं—

प्रत्याख्यान आदि ग्रहण करनेके अनन्तर भोजनमे लगे दोषोंका प्रतिक्रमण करना

प्राह्णवत्—पूर्वाह्णे यथा ॥३९॥

अथ स्वाध्यायनिष्ठापनानन्तरकरणीयं दैवसिकप्रतिक्रमणादिविधिमाह—

नाडीद्वयावशेषेऽह्नि तं निष्ठाप्य प्रतिक्रमम् । ३

कृत्वाह्निकं गृहीत्वा च योगं वन्द्यो यतैर्गणी ॥४०॥

स्पष्टम् ॥४०॥

अथाचार्यवन्दनानन्तरविधेयं देववन्दनादिविधिमाह— ६

स्तुत्वा देवमथारभ्य प्रदोषे सद्विनाडिके ।

मुञ्चेन्निशीथे स्वाध्यायं प्रागेव घटिकाद्वयात् ॥४१॥

स्पष्टम् ॥४१॥ ९

अथ रात्रौ निष्ठापितस्वाध्यायस्य निद्राजयोपायमाह—

ज्ञानाद्याराधनानन्दसान्द्र: संसारभीरुक. ।

शोचमानोऽर्जितं चैनो जयेन्निद्रां जिताशनः ॥४२॥ १२

शोचमान.—ताच्छील्येन शोचन् । जिताशन —आहारेणाग्लपित. । दन्त्यसकारको वा पाठ । तत्र पर्यङ्काद्यासनेनासंजातखेद इत्यर्थ ।

उक्त च— १५

'ज्ञानाद्याराधने प्रीति भयं ससारदु खतः ।

पापे पूर्वार्जिते शोक निद्रा जेतु सदा कुरु ॥' [ ] ॥४२॥

चाहिए। उसके बाद दो घडी मध्याह्न वीतनेपर पूर्वाह्नकी तरह विधिपूर्वक स्वाध्याय करना चाहिए ॥३९॥

मध्याह्नकालकी स्वध्यायके अनन्तर दिन सम्बन्धी प्रतिक्रमण आदिकी विधि बताते हैं—

संयमियोको जब दिनमे दो घड़ी काल बाकी रहे तब स्वाध्यायको समाप्त करके दिन सम्बन्धी दोषोकी विशुद्धिके लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए। उसके बाद रात्रियोग ग्रहण करके आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए ॥४०॥

आगे आचार्यवन्दनाके अनन्तर करने योग्य देववन्दना आदिकी विधि बताते हैं—

आचार्यवन्दनाके अनन्तर देववन्दना करके रात्रिका प्रारभ हुए दो घडी वीतनेपर स्वाध्यायका आरम्भ करे और आधी रातमे दो घड़ी शेष रहनेके पूर्व ही स्वाध्यायको समाप्त कर दे ॥४१॥

रात्रिमें स्वाध्याय समाप्त करके निद्राको जीतनेके उपाय बताते है—

ज्ञान आदिकी आराधनासे उत्पन्न हुए आनन्द रससे परिपूर्ण, संसारसे भीरु, पूर्व संचित पापका शोक करनेवाला और अशन अर्थात् भोजनको जीतनेवाला या आसनको जीतनेवाला ही निद्राको जीत सकता है ॥४२॥

विशेषार्थ—निद्राको जीतनेके चार उपाय हैं—ज्ञानाराधना, दर्शनाराधना, चारित्राराधना और तप आराधनाके करनेसे जो प्रगाढ आनन्द होता है उस आनन्दमे निमग्न साधु निद्राको जीत सकता है। संसारसे भय भी निद्राको जीतनेमे सहायक होता है। पूर्वसचित पापकर्मका शोक करनेसे भी निद्राको भगाया जा सकता है। चौथा कारण है

अथ स्वाध्यायकरणेऽशक्तस्य च देववन्दनाकरणे विधानमाह—

सप्रतिलेखनमुकुलितवत्सोत्सङ्गितकरः सपर्यङ्कः ।
३ कुर्यादेकाग्रमनाः स्वाध्यायं वन्दनां पुनरशक्त्या ॥४३॥

वत्सोत्सङ्गितौ—वक्षोमध्यस्थापितौ । सपर्यङ्कः उपलक्षणाद् वीरासनादियुक्तोऽपि । उक्तं च—

'पलियकणिसेज्जगदो पडिलेहिय अजलीकदपणामो ।
६ सुत्तत्थजोगजुत्तो पढिदव्वो आदसत्तीए ॥' [मूलाचार गा. २८१]

अशक्त्या—उद्भो यदि वन्दितु न शक्नुयादित्यर्थं ॥४३॥

अथ प्रतिक्रमणे योगग्रहणे तन्मोक्षणे च कालविशेषो व्यवहारादेव पूर्वोक्त. प्रतिपत्तव्य. । धर्मकार्या-
९ दिव्यासङ्गेन ततोऽन्यदापि तद्विधाने दोपाभावादित्युपदेशार्थमाह—

अल्प और सात्त्विक भोजन, क्योंकि भरपेट पौष्टिक भोजन करनेसे नींद अधिक सताती है । श्लोकमे 'जिताशन' पाठ है तालव्य 'श' के स्थानमे दन्ती स करनेसे अर्थ होता है पर्यंक आदि आसनसे बैठनेसे खेद न होना । अर्थात् रात्रिमे आसन लगाकर बैठनेसे निद्राको जीता जा सकता है । थककर लेटने पर तो निद्रा आये विना नही रह सकती । कहा भी है—'हे मुनि ! तू निद्राको जीतनेके लिए ज्ञानादिकी आराधनामे प्रीति, संसारके दु खसे भय और पूर्व संचित पापकर्मोंका शोक सदा किया कर ॥४२॥

जो स्वाध्याय करनेमें असमर्थ है उनके लिए देववन्दनाका विधान करते हैं—

पीछी सहित दोनो हाथोंको अंजली बद्ध करके और छातीके मध्यमें स्थापित करके पर्यंकासन या वीरासन आदिसे एकाग्रमन होकर स्वाध्याय करना चाहिए । यदि स्वाध्याय करनेमें असमर्थ हो तो उसी प्रकारसे वन्दना करनी चाहिए ॥४३॥

विशेषार्थ—मूलाचारमे स्वाध्यायकी विधि इस प्रकार कही है—'पर्यंक या वीर आसनसे बैठकर चक्षुसे पुस्तकका, पीछीसे भूमिका और शुद्ध जलसे हाथ-पैरका सम्मार्जन करके दोनों हाथोको मुकुलित करके प्रणाम करे । और सूत्र तथा अर्थके योगसे युक्त अपनी शक्तिसे स्वाध्याय करे । इस प्रकार साधुको स्वाध्याय करना आवश्यक है, क्योंकि स्वाध्याय भी दूसरी समाधि है । कहा है—मनको ज्ञानके अधीन, अपने शरीरको विनयसे युक्त, वचनको पाठके अधीन और इन्द्रियोको नियन्त्रित करके, जिन वचनोमे उपयोग लगाकर स्वाध्याय करनेवाला आत्मा कर्मोंका क्षय करता है, इस प्रकार यह स्वाध्याय दूसरी समाधि है । किन्तु जो मुनि स्वाध्याय करनेमे असमर्थ होता है वह उसी विधिसे देववन्दना करता है । यद्यपि देववन्दना खड़े होकर की जाती है किन्तु अशक्त होनेसे बैठकर कर सकता है ॥४३॥

प्रतिक्रमणके द्वारा योगके ग्रहण और त्यागमे पहले कहा हुआ काल विशेष व्यवहारके अनुसार ही जानना । किन्तु धर्मकथा आदिमे लग जानेसे यदि उस कालमे योगधारण और प्रतिक्रमण न करके अन्यकालमे करता है तो उससे कोई दोप नही है, यह कहते हैं—

---

१. 'मनो वोधाधीन विनयविनियुक्तं निजवपु-
र्वच पाठायत्त करणगणमाधाय नियतम् ।
दधान स्वाध्याय कृतपरिणतिर्जैनवचने,
करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिदम्' ॥ [ ]

योगप्रतिक्रमविधिः प्रागुक्तो व्यावहारिकः ।
कालक्रमनियामोऽत्र न स्वाध्यायादिवद्यतः ॥४४॥

स्वाध्यायादिवत्—स्वाध्याये देववन्दनाया भक्तप्रत्याख्याने च ॥४४॥ ३

अथोत्तरप्रवन्धेन नैमित्तिकक्रिया व्याकर्तुकाम प्रथम तावच्चतुर्दशीक्रियाप्रयोगविधिं मतद्वयेनाह—

त्रिसमयवन्दने भक्तिद्वयमध्ये श्रुतनुतिं चतुर्दश्याम् ।
प्राहुस्तद्भक्तित्रयमुखान्तयोः केऽपि सिद्धशान्तिनुती ॥४५॥ ६

त्रिसमयेत्यादि—एतेन नित्यत्रिकालदेववन्दनायुक्तैव चतुर्दशी क्रिया कर्तव्येति लक्षयति । प्राहु.—प्राकृतक्रियाकाण्डचारित्रमतानुसारिण. सूरय प्रणिगदन्ति । यथाह क्रियाकाण्डे—

'जिनदेववन्दणाए चेदियभत्ती य पचगुरुभत्ती । ९
चउदसिय त मज्झे सुदभत्ती होइ कायव्वा ॥' [ ]

चारित्रसारेऽप्याह—'देवतास्तवनक्रियाया चैत्यभक्ति पञ्चगुरुभक्ति च कुर्यात् । चतुर्दशीदिने तयोर्मध्ये श्रुतभक्तिर्भवति ।' इति । १२

केऽपि—संस्कृतक्रियाकाण्डमतानुसारिण । तत्पाठो यथा—

'सिद्धे चैत्ये श्रुते भक्तिस्तथा पञ्चगुरुश्रुति' ।
शान्तिभक्तिस्तथा कार्या चतुर्दश्यामिति क्रिया ॥' [ ] ॥४५॥ १५

पहले जो रात्रियोग और प्रतिक्रमणकी विधि कही है वह व्यवहार रूप है । क्योंकि स्वाध्याय आदिकी तरह योग और प्रतिक्रमण विधिमे कालक्रमका नियम नहीं है । अर्थात् जैसे स्वाध्याय, देववन्दना और भक्त प्रत्याख्यानमें कालक्रमका नियम है कि अमुक समयमें ही होना चाहिए वैसा नियम रात्रियोग और प्रतिक्रमणमे नहीं है । समय टालकर भी किये जा सकते हैं ॥४४॥

इस प्रकार नित्य क्रियाके प्रयोगका विधान जानना ।

आगे नैमित्तिक क्रियाका वर्णन करते हुए प्रथम ही चतुर्दशीके दिन करने योग्य क्रिया की विधि कहते है—

प्राकृत क्रियाकाण्ड और चारित्रसार नामक ग्रन्थोंके मतानुसार प्रातःकाल, मध्याह्न और सायंकालके समय देववन्दनाके अवसरपर जो नित्य चैत्यभक्ति और पंचगुरु भक्ति की जाती है, चतुर्दशीके दिन उन दोनों भक्तियोके मध्यमे श्रुतभक्ति भी करनी चाहिए । किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डके मतानुसार चतुर्दशीके दिन उन तीनो भक्तियोंके आदि और अन्तमे क्रमसे सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥४५॥

विशेषार्थ—चतुर्दशीके दिन किये जानेवाले नैमित्तिक अनुष्ठानमे मतभेद है । प्राकृत क्रियाकाण्डमे कहा है—'जिनदेवकी वन्दनामें प्रतिदिन चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति की जाती है । किन्तु चतुर्दशीके दिन इन दोनों भक्तियोके मध्यमे श्रुतभक्ति करनी चाहिए ।'

इसी तरह चारित्रसारमे कहा है—'देववन्दनामे चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए किन्तु चतुर्दशीके दिन उन दोनो भक्तियोंके मध्यमे श्रुतभक्ति भी करनी चाहिए ।'

इस तरह प्राकृत क्रियाकाण्ड और चारित्रसारका मत एक है ।

किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डमें कहा है—'चतुर्दशीमे क्रमसे सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, श्रुतभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए' ॥४५॥

अथ कार्यवशाच्चतुर्दशीक्रियाव्यतिक्रमे प्रतिविधानमाह—

चतुर्दशीक्रिया धर्मव्यासङ्गादिवशान्न चेत् ।
३ **कर्तुं पार्येत पक्षान्ते तर्हि कार्याष्टमीक्रिया ॥४६॥**

व्यासङ्गादि—आदिशब्देन क्षपकनिर्यापणादि । पक्षान्ते—अमावस्यापौर्णमास्ययोः । उक्तं च चारित्रसारे—

६ 'चतुर्दशीदिने धर्मव्यासङ्गादिना क्रिया कर्तुं न लभ्येत चेत् पाक्षिकेऽष्टम्याः क्रिया कर्तव्येति ।'

क्रियाकाण्डेऽपि—

'जदि पुण धम्मव्वासंगा ण कया होज्ज चउद्दसी किरिया ।
९ तो पुण्णिमाइदिवसे कायव्वा पक्खिया किरिया ॥' ॥४६॥

अथाष्टम्याः पक्षान्तस्य च क्रियाविधिं चारित्रभक्त्यनन्तरभाविनं सर्वत्रालोचनाविधिं चोपदिशति—

स्यात् सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्त्याष्टमीक्रिया ।
१२ **पक्षान्ते साऽश्रुता वृत्तं स्तुत्वालोच्यं यथायथम् ॥४७॥**

अश्रुता—श्रुतवर्ज्या । उक्तं च चारित्रसारे—'अष्टम्यां सिद्धश्रुतचारित्रशान्तिभक्तयः । पाक्षिके सिद्धचारित्रशान्तिभक्तयः ।' इति ।

१५ यत्पुनः संस्कृतक्रियाकाण्डे—

'सिद्धश्रुतसुचारित्रचैत्यपञ्चगुरुस्तुतिः ।
शान्तिभक्तिश्च षष्ठीयं क्रिया स्यादष्टमीतिथौ ॥
१८ सिद्धचारित्रचैत्येषु भक्तिः पञ्चगुरुष्वपि ।
शान्तिभक्तिश्च पक्षान्ते जिने तीर्थे च जन्मनि ॥' [ ] इति ।

श्रूयते, तन्नित्यदेववन्दनायुक्तयोरेतयोर्विधानमुक्तमिति वृद्धसंप्रदायः ॥४७॥

यदि कार्यवश चतुर्दशीको उक्त क्रिया करनेमें भूल हो जाये तो उसका उपाय बतलाते हैं—

किसी धार्मिक कार्यमें फँस जानेके कारण यदि साधु चतुर्दशीकी क्रिया न कर सके तो उसे अमावस्या और पूर्णमासीको अष्टमी क्रिया करनी चाहिए ॥४६॥

विशेषार्थ—इस विषयमें चारित्रसार और प्राकृत क्रियाकाण्डमें भी ऐसी ही व्यवस्था है। यथा—यदि चतुर्दशीके दिन धर्मकार्यमें फँस जाने आदिके कारण क्रिया न कर सके तो पक्षान्तमें अष्टमीकी क्रिया करनी चाहिए ॥४६॥

आगे अष्टमी और पक्षान्तकी क्रियाविधिको तथा चारित्रभक्तिके अनन्तर होनेवाली आलोचना विधिको कहते हैं—

सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्तिके साथ अष्टमी क्रिया की जाती है। पाक्षिकी क्रिया इनमें-से श्रुतभक्तिके बिना बाकी तीन भक्तियोंसे की जाती है। तथा साधुओंको चारित्रभक्ति करके यथायोग्य आलोचना करनी चाहिए ॥४७॥

विशेषार्थ—चारित्रसार (पृ. ७१) में भी ऐसा ही कहा है कि अष्टमीमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति की जाती है और पाक्षिकमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति की जाती है। किन्तु संस्कृत क्रियाकाण्डमें कहा है—'अष्टमीको सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और छठी शान्तिभक्ति करनी चाहिए। और पक्षान्त अर्थात् अमावस्या और पूर्णमासीको तथा तीर्थंकरके जन्मकल्याणक-

अथ सिद्धप्रतिमाया तीर्थंकरजन्मन्यपूर्वजिनचैत्ये च क्रियोपदेशार्थमाह—

सिद्धभक्त्यैकया सिद्धप्रतिमायां क्रिया मता।
तीर्थकृज्जन्मनि जिनप्रतिमायां च पाक्षिकी ॥४८॥ ३

स्पष्टम् ॥४८॥

अथापूर्वचैत्यवन्दनानित्यदेववन्दनाभ्यामष्टम्यादिक्रियासु योगे चिकीर्षिते चैत्यपञ्चगुरुभक्त्योः प्रयोगस्थानमाह— ६

दर्शनपूजात्रिसमयवन्दनयोगोऽष्टमीक्रियादिषु चेत्।
प्राक् तर्हि शान्तिभक्ते प्रयोजयेच्चैत्यपञ्चगुरुभक्ती ॥४९॥

दर्शनपूजा—अपूर्वचैत्यवन्दना। उक्तं च चारित्रसारे—'अष्टम्यादिक्रियासु दर्शनपूजात्रिकालदेववन्दनायोगे शान्तिभक्तितः प्राक् चैत्यभक्तिं पञ्चगुरुभक्तिं च कुर्यात् इति ॥४९॥ ९

अथैकत्र स्थानेऽनेकापूर्वचैत्यदर्शने क्रियाप्रयोगविषये पुनस्तद्दर्शने तदपूर्वत्वकालेयत्ता चोपदिशति—

दृष्ट्वा सर्वाण्यपूर्वाणि चैत्यान्येकत्र कल्पयेत्। १२
क्रियां तेषां तु षष्ठेऽनुश्रूयते मास्यपूर्वता ॥५०॥

एकत्र—एकस्मिन्नभिरुचिते जिनचैत्यविषये। अनुश्रूयते—व्यवहर्तृजनपारपर्येणाकर्ण्यते ॥५०॥

के दिन सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए।

इसके सम्बन्धमें ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने अपनी संस्कृत टीकामें लिखा है कि संस्कृत क्रियाकाण्डका यह विधान नित्य देववन्दनाके साथ अष्टमी-चतुर्दशीकी क्रियाको करनेवालोंके लिए है ऐसा वृद्ध सम्प्रदाय है ॥४७॥

आगे सिद्ध प्रतिमा, तीर्थंकर भगवान्‌का जन्मकल्याणक और अपूर्व जिनप्रतिमाके विषयमें करने योग्य क्रिया कहते हैं—

सिद्ध प्रतिमाकी वन्दनामें एक सिद्धभक्ति ही करनी चाहिए। और तीर्थंकरके जन्मकल्याणकमे तथा अपूर्व जिनप्रतिमामें पाक्षिकी क्रिया अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥४८॥

अपूर्व चैत्यवन्दना और नित्यदेववन्दनाको यदि अष्टमी आदि क्रियामे मिलाना इष्ट हो तो चैत्यभक्ति और पचगुरुभक्ति कब करनी चाहिए, यह बतलाते हैं—

यदि अष्टमी आदि क्रियाओंके साथ अपूर्व चैत्यवन्दना और त्रैकालिक नित्यदेववन्दना करनेका योग उपस्थित हो तो शान्तिभक्तिसे पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए ॥४९॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमे ऐसा ही विधान है। यथा—'अष्टमी आदि क्रियाओंके साथ अपूर्व चैत्यवन्दना और त्रिकालदेववन्दनाका योग होनेपर शान्तिभक्तिसे पहले चैत्यभक्ति और पंचगुरुभक्ति करनी चाहिए।' ॥४९॥

एक ही स्थानपर अनेक अपूर्व प्रतिमाओंका दर्शन होनेपर क्रिया प्रयोगकी विधि तथा कितने कालके बाद उन्हीं प्रतिमाओंका दर्शन होनेपर उन्हे अपूर्व माना जाये यह बतलाते हैं—

यदि एक ही स्थानपर अनेक अपूर्व प्रतिमाओंका दर्शन हो तो उन सब प्रतिमाओंका दर्शन करके उनमें-से जिसकी ओर मन विशेष रूपसे आकृष्ट हो उसीको लक्ष्य करके पहले

अथ क्रियाविषयतिथिनिर्णयार्थमाह—

त्रिमुहूर्तेऽपि यत्रार्क उदेत्यस्तमयत्यथ ।
३ स तिथि सकलो ज्ञेयः प्रायो धर्म्येषु कर्मसु ॥५१॥

प्राय.—देशकालादिवशादन्यथापि । बहुधा व्यवहर्तॄणा प्रयोगदर्शनादेतदुच्यते ॥५१॥

अथ प्रतिक्रमणाप्रयोगविधिं श्लोकपञ्चकेनाचष्टे—

६ पाक्षिक्यादि-प्रतिक्रान्तौ वन्देरन् विधिवद् गुरुम् ।
सिद्धवृत्तस्तुती कुर्याद् गुर्वी चालोचनां गणी ॥५२॥
देवस्याग्रे परे सूरेः सिद्धयोगिस्तुती लघू ।
९ सवृत्तालोचने कृत्वा प्रायश्चित्तमुपेत्य च ॥५३॥

पाक्षिक्यादिप्रतिक्रान्तौ—पाक्षिक्या चातुर्मासिक्या सांवत्सरिक्या च प्रतिक्रमणाया क्रियमाणायाम् । विधिवद्—लघ्व्या सिद्धेत्यादिपूर्वोक्तविधिना । गणि उणादाविद तोयं (?) गुर्वी 'इच्छामि भंते अट्ठमियहि १२ आलोचेउमित्यादि । दण्डकस्कन्धसाध्या सैषा सूरे शिष्याणा च साधारणी क्रिया ॥५२॥ देवस्याग्रे गणीकृत्वेति

कहे अनुसार क्रिया करनी चाहिए। तथा व्यवहारी जनोकी परम्परासे सुना जाता है कि उन प्रतिमाओकी अपूर्वता छठे मासमे होती है अर्थात् इतने कालके बाद उनका दर्शन करनेपर वे प्रतिमा अपूर्व मानी जाती है ॥५०॥

आगे क्रियाओके विपयमे तिथिका निर्णय करते हैं—

जिस दिन तीन मुहूर्त भी सूर्यका उदय अथवा अस्त हो वह सम्पूर्ण तिथि प्राय. करके धार्मिक कार्योंमे मान्य होती है ॥५१॥

विशेषार्थ—सिंहनन्दिके व्रततिथिनिर्णयमें कहा है कि जैनोंके यहाँ उदयकालमें छह घड़ी प्रमाण तिथिका मान व्रतके लिए मान्य है। छह घडी तीन मुहूर्त प्रमाण होती है। यहाँ 'प्राय' पद दिया है। ग्रन्थकार पं आशाधरजीने अपनी टीकामे लिखा है कि देशकालके कारण इससे अन्यथा भी व्यवहार हो सकता है। बहुधा व्यवहारी जनोंका ऐसा ही व्यवहार देखा जाता है इसलिए ऐसा कहा है। सिंहनन्दिने भी अपने ग्रन्थमे किन्हीं पद्मदेवके ऐसे ही कथनपर-से यही शंका की है और उसका समाधान भी यही किया है। यथा—यहाँ कोई शका करता है कि पद्मदेवने तिथिका मान छह घड़ी बतलाते हुए कहा है कि प्रायः धर्मकृत्योंमे इसीको ग्रहण करना चाहिए। यहाँ 'प्रायः' शब्दका क्या अर्थ है ? उत्तर देते हैं कि देश-काल आदिके भेदसे तिथिमान ग्रहण करना चाहिए। इसके लिए 'प्रायः' कहा है ॥५१॥

आगे प्रतिक्रमणके प्रयोगकी विधि पाँच श्लोकोसे कहते हैं—

पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमण करनेपर शिष्यों और सधर्माओंको पहले बतलायी हुई विधिके अनुसार आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। इसके अनन्तर अपने शिष्यों और सधर्माओंके साथ आचार्यको गुरुसिद्धभक्ति और गुरुचारित्रभक्ति करनी चाहिए। तथा अर्हन्तदेवके सम्मुख बड़ी आलोचना करनी चाहिए। उसके बाद आचार्यके आगे शिष्यों और सधर्माओको लघुसिद्धभक्ति, लघु योगिभक्ति, चारित्रभक्ति

---

१. 'अत्र संशय करोति पद्मदेवैं 'प्रायो धर्मेषु कर्मसु' इत्यत्र प्राय इत्यव्ययं कथितम् । तस्य कोऽर्थः ? उच्यते देशकालादिभेदात् तिथिमान ग्राह्यम् ।'—[व्रततिथिनिर्णय, पृ १८२]

संवन्धः। सूरे'—आचार्यस्याग्रे कृत्वेति संवन्ध.।' सवृत्तालोचने—इच्छामि भते चरित्तायारो इत्यादि दण्डकपञ्चकसाम्यया चारित्रालोचनया युड्क्ते ॥५३॥

वन्दित्वाचार्यमाचार्यभक्त्या लघ्व्या ससूरयः। ३
प्रतिक्रान्तिस्तुतिं कुर्युः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ॥५४॥
अथ वीरस्तुतिं शान्तिचतुर्विंशतिकीर्तनाम्।
सवृत्तालोचनां गुर्वीं सगुर्वालोचनां यताः ॥५५॥ ६
मध्यां सूरिनुतिं तां च लघ्वीं कुर्युः परे पुनः।
प्रतिक्रमा बृहन्मध्यसूरिभक्तिद्वयोज्झिताः ॥५६॥

वन्दित्वा, शिष्या आचार्यस्तु देवमेव वयीकृत्याचार्यवन्दनामिति शेष । प्रतिक्रामन्—प्रतिक्रमणदण्ड- ९ कान् पठेत् ॥५४॥ शान्तीत्यादि—शान्तिकीर्तना विधेयरक्षामित्यादिकम्। चतुर्विंशतिकीर्तनं—'चउवीस तित्थयरे' इत्यादिकम्। सवृत्तालोचना—लघ्व्या चारित्रालोचनया सहिताम्। गुर्वीं—सिद्धस्तुत्यादिकाम्। चारित्रालोचनासहितवृहदाचार्यभक्तिमित्यर्थ । सगुर्वालोचना—देसकुलजाइ इत्यादिका वृहदालोचनासहित- १२ मध्याचार्यभक्तिमित्यर्थ ॥५५॥ ता लघ्वी 'प्राज्ञ. प्राप्त' इत्यादिका क्षुल्लकाचार्यभक्तिरित्यर्थ'। परव्रता- रोपणादिविपयाश्चत्वार । उक्त च—

'सिद्धचारित्रभक्ति. स्याद् वृहदालोचना ततः। १५
देवस्य गणिनो वाग्रे सिद्धयोगिस्तुती लघू ॥
चारित्रालोचना कार्या प्रायश्चित्तं ततस्तथा।
सूरिभक्त्यास्ततो लघ्व्या गणिन वन्दते यतिः ॥ १८

और आलोचना करके तथा प्रायश्चित्त लेकर लघु आचार्यभक्तिके द्वारा आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। फिर आचार्य सहित शिष्य और सधर्मा मुनि प्रतिक्रमणभक्ति करे। फिर आचार्य प्रतिक्रमण दण्डकका पाठ करे। फिर साधुओंको वीरभक्ति करनी चाहिए। फिर आचार्यके साथ शान्तिभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति करनी चाहिए। फिर चारित्रकी आलोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए। उसके वाद बृहत् आलोचनाके साथ मध्य आचार्यभक्ति तथा लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। अन्य प्रतिक्रमणोमे बृहद् आचार्यभक्ति और मध्य आचार्यभक्ति नहीं की जाती ॥५२-५६॥

विशेषार्थ—यहाँ पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणके समय की जानेवाली विधिका वर्णन है। ये प्रतिक्रमण आचार्य, शिष्य तथा अन्य साधु सम्मिलित रूपसे करते हैं। सबसे प्रथम आचार्यकी वन्दना की जाती है। आचार्य-वन्दनाकी विधि पहले वतला आये हैं कि आचार्यकी वन्दना लघुसिद्धभक्ति और लघु आचार्यभक्ति पढकर गवासनसे करनी चाहिए। यदि आचार्य सिद्धान्तविद् हो तो सिद्ध श्रुत और आचार्यभक्तिके द्वारा उसकी वन्दना करनी चाहिए। इन तीनों भक्तियोको पढते समय प्रत्येक भक्तिके प्रारम्भमे अलग-अलग तीन वाक्य वोले जाते हैं। सिद्ध भक्तिके प्रारम्भमे 'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनसिद्ध-भक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' 'नमस्कार हो, मैं प्रतिष्ठापन सिद्धभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करता हूँ' यह वाक्य बोला जाता है, तव सिद्धभक्ति की जाती है। इसी प्रकार श्रुतभक्तिके प्रारम्भमे 'नमोऽस्तु प्रतिष्ठापनश्रुतभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' वाक्य और आचार्य भक्तिके प्रारम्भमे 'निष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह वाक्य वोला जाता है। इसके पश्चात् अपने शिष्यों और सधर्माओंके साथ आचार्य इष्टदेवको नमस्कार करके

स्यात्प्रतिक्रमणा भक्तिः प्रतिक्रामेत्ततो गणी ।
वीरस्तुतिर्जिनस्तुत्या सह शान्तियुतिर्गता ॥
वृत्तालोचनया सार्द्धं गुर्वी सूरिनुतिस्ततः ।
गुर्व्यालोचनया सार्द्धं मध्याचार्यस्तुतिस्तथा ॥

'समता सर्वभूतेषु' इत्यादि पढ़कर 'सिद्धानुद्धूतकर्म' इत्यादि बड़ी सिद्धभक्ति और 'येनेन्द्रान्' इत्यादि बड़ी चारित्रभक्ति करते हैं। तथा अर्हन्त भगवान्के सम्मुख 'इच्छामि भंते ! पक्खियम्मि आलोचेउं' से लेकर 'जिणगुणसंपत्ति होउ मज्झं' पर्यन्त गुरुकी आलोचना करते हैं। यह आचार्य, शिष्य तथा सधर्माओंकी क्रिया समान है। किन्तु इतना अन्तर है। (यहाँ सिद्धभक्तिके प्रारम्भमें यह वाक्य बोलना होता है—'सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेतं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' अर्थात् मैं सब दोषोंकी विशुद्धिके लिए इस पाक्षिक प्रतिक्रमण क्रियामें पूर्वाचार्योंके अनुसार समस्त कर्मोंके क्षयके लिए भावपूजा, वन्दना-स्तुतिके साथ सिद्धभक्ति कायोत्सर्ग करता हूँ। इसी तरह चारित्रभक्तिके पहले यह वाक्य बोलना चाहिए—'सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं....आलोचनाचारित्रभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' किन्तु आचार्य 'णमो अरहंताणं' इत्यादि नमस्कार मन्त्रके पाँचों पदोंको पढ़कर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि पढ़कर फिर 'तवसिद्धे' इत्यादि गाथाको अंचलिका सहित पढ़कर, पूर्वोक्त विधि करते हैं। फिर 'प्रावृट्काले' इत्यादि योगिभक्तिको अंचलिका सहित पढ़कर 'इच्छामि भंते चारित्ताचारो तेरसविहो' इत्यादि पाँच दण्डकोंको पढ़कर तथा 'वदसमिदिंदिय' इत्यादिसे लेकर 'छेदोवट्ठावणं होदु मज्झं' तक तीन बार पढ़कर देवके आगे अपने दोषोंकी आलोचना करते हैं। तथा दोषके अनुसार प्रायश्चित्त लेकर 'पंच महाव्रतम्' इत्यादि पाठको तीन बार पढ़कर योग्य शिष्य आदिसे अपने प्रायश्चित्तको कहकर देवके प्रति गुरुभक्ति करते हैं। यहाँ भी 'नमोऽस्तु सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं सिद्धभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' तथा 'नमोऽस्तु सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं आलोचनायोगिभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' तथा 'नमोऽस्तु निष्ठापनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' ये तीनों वाक्य क्रमसे उच्चारण किये जाते हैं। इसके बाद जब आचार्य प्रायश्चित्त कर लें तो उनके आगे शिष्य और सधर्मा साधु लघुसिद्धभक्ति, लघुयोगिभक्ति, चारित्रभक्ति तथा आलोचना करके अपने-अपने दोषोंके अनुसार प्रायश्चित्त लें फिर 'श्रुतजलधि' इत्यादि लघुआचार्यभक्तिके द्वारा आचार्यकी वन्दना करें। फिर आचार्य, शिष्य, सधर्मा सब मिलकर प्रतिक्रमण भक्ति करें। अर्थात् 'सर्वातिचारविशुद्ध्यर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियायां पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दनास्तवसमेत प्रतिक्रमणभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह बोलकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढ़कर कायोत्सर्ग करना चाहिए। लघुसिद्धभक्ति आदि तो साधुओंकी भी आचार्यके समान जानना। किन्तु आचार्यकी वन्दना होनेके बाद आचार्यको 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़कर और

१. यह सामायिक दण्डक है।
२. यह चतुर्विंशतिस्तव है। ये सब दण्डक और भक्तियाँ पं. पन्नालालजी सोनीके द्वारा संगृहीत क्रियाकलापमें है।

लघ्वी सूरिनुतिश्चेति पाक्षिकादौ प्रतिक्रमे।
ऊनाधिका विशुद्धयर्थं सर्वत्र प्रियभक्तिका॥
वृत्तालोचनया सार्धं गुर्व्यालोचनया क्रमात्।
सूरिद्वयस्तुतिं मुक्त्वा शेषा. प्रतिक्रमाः क्रमात्॥'

गणधरवलयको पढकर प्रतिक्रमण दण्डकोंको पढना चाहिए। शिष्य और सधर्माको तबतक कायोत्सर्गमें रहकर प्रतिक्रमण दण्डकोंको सुनना चाहिए।

इसके पश्चात् साधुओंको 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढकर आचार्यके साथ 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़कर वीरस्तुति करनी चाहिए। अर्थात्—'सर्वातिचार-विशुद्धयर्थं पाक्षिकप्रतिक्रमणक्रियाया पूर्वाचार्यानुक्रमेण सकलकर्मक्षयार्थं भावपूजावन्दना-स्तवसमेतं निष्ठितकरणवीरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्।' यह पढकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढकर कायोत्सर्गमें कहे हुए उच्छ्वासोंको करके फिर 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढ़े। फिर 'चन्द्रप्रभं चन्द्रमरीचिगौरं' इत्यादि स्वयम्भूको पढकर 'यः सर्वाणि चराचराणि' इत्यादि वीरभक्तिको अंचलिकाके साथ पढकर 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढ़ना चाहिए। इसके पश्चात् आचार्यसहित सब संयमियोंको—'सर्वातिचारविशुद्धयर्थं शान्तिचतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह कहकर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढकर कायोत्सर्ग करके 'थोस्सामि' इत्यादि दण्डकको पढकर शान्तिनाथकी 'विधाय रक्षां' इत्यादि स्तुति तथा 'चउवीसं तित्थयरे' इत्यादि चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति करके अंचलिका सहित 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढना चाहिए। उसके बाद 'सर्वा-तिचारविशुद्धयर्थं चारित्रालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह पढकर 'इच्छामि भन्ते चारित्ताचारो तेरहविहो परिहारविदो' इत्यादि दण्डकके द्वारा साध्य लघु चारित्रा-लोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए।

इसके बाद 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढकर 'सर्वातिचारविशुद्धयर्थं बृहदा-लोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह पढकर फिर 'णमो अरहंताणं' इत्यादि दण्डकको पढकर 'इच्छामि भन्ते पक्खियम्हि आलोचेउं पण्णारसाणं दिवसाणं' इत्यादि बृहत् आलोचनासे सहित 'देसकुलजाइसुद्धा' इत्यादि मध्य बृहदाचार्य भक्ति करनी चाहिए।

इसके बाद आचार्यसहित साधुओंको 'वदसमिदिंदियरोधो' इत्यादि पढकर 'सर्वा-तीचारविशुद्धयर्थं क्षुल्लकालोचनाचार्यभक्तिकायोत्सर्गं करोम्यहम्' यह उच्चारण करके पूर्ववत् दण्डक आदि पढकर 'प्राज्ञः प्राप्तसमस्तशास्त्रहृदयः' से लेकर 'मोक्षमार्गोपदेशकाः' पर्यन्त लघुआचार्य भक्ति करनी चाहिए। इसके बाद सब अतीचारोंकी विशुद्धिके लिए सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमणभक्ति, निष्ठितकरण, वीरभक्ति, शान्तिभक्ति, चतु-र्विंशतितीर्थंकरभक्ति, चारित्रभक्ति, आलोचना सहित आचार्यभक्ति, बृहद् आलोचना सहित आचार्यभक्ति, क्षुल्लक आलोचना सहित आचार्यभक्ति करके उनमें हीनता, अधिकता आदि दोषोंकी विशुद्धिके लिए समाधिभक्तिपूर्वक कायोत्सर्ग करना चाहिए। और पूर्ववत् दण्डक आदि पढकर 'शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः' इत्यादि प्रार्थना करनी चाहिए। अन्य ग्रन्थोंमें भी ऐसा ही विधान है। यथा—

'पाक्षिक आदि प्रतिक्रमणमें अरहन्त देव अथवा आचार्यके सम्मुख सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और बृहद् आलोचनाके बाद लघुसिद्धभक्ति और लघुयोगिभक्ति की जाती

चारित्रसारेऽप्युक्तम्—पाक्षिक-चातुर्मासिक-सांवत्सरिकप्रतिक्रमणे सिद्धचारित्रप्रतिक्रमणनिष्ठितकरण-चतुर्विंशतितीर्थंकरभक्तिचारित्रालोचनागुरुभक्तयो बृहदालोचनागुरुभक्तिर्लघ्वीयस्याचार्यभक्तिश्च करणीया ३ इति ॥५६॥

अथ यतीनां श्रावकाणां च श्रुतपञ्चमीक्रियाप्रयोगविधिं श्लोकद्वयेनाह—

बृहत्या श्रुतपञ्चम्यां भक्त्या सिद्धश्रुतार्थया।
६ श्रुतस्कन्धं प्रतिष्ठाप्य गृहीत्वा वाचनां बृहन् ॥५७॥
क्षम्यो गृहीत्वा स्वाध्यायः कृत्या शान्तिनुतिस्ततः।
यमिनां गृहिणां सिद्धश्रुतशान्तिस्तवाः पुनः ॥५८॥

९ श्रुतपञ्चम्या—ज्येष्ठशुक्लपञ्चम्याम्। वाचना—श्रुतावतारोपदेशम् ॥५७॥ क्षम्यः—बृहच्छ्रुतभक्त्या निष्ठाप्य इत्यर्थः। गृहीत्वा—बृहच्छ्रुताचार्यभक्तिभ्यां प्रतिष्ठाप्य इत्यर्थः। एतच्च बृहन्निति विशेषणाल्लभ्यते। गृहिणा—स्वाध्यायाग्राहिणां श्रावकाणाम्। उक्तं च चारित्रसारे—पञ्चम्यां सिद्धश्रुतभक्तिपूर्विका

है। फिर चारित्रालोचनापूर्वक प्रायश्चित्त ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद साधुओंको लघु-आचार्यभक्तिपूर्वक आचार्यकी वन्दना करनी चाहिए। फिर आचार्य सहित सब साधुओंको प्रतिक्रमणभक्ति करनी चाहिए। तब आचार्य प्रतिक्रमण करते हैं। उसके बाद वीरभक्ति और चतुर्विंशति तीर्थंकर भक्तिके साथ शान्तिभक्ति करनी चाहिए। फिर चारित्रालोचनाके साथ बृहत् आचार्यभक्ति करनी चाहिए। फिर बृहत् आलोचनाके साथ मध्य आचार्यभक्ति करनी चाहिए। फिर लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए। अन्तमें हीनता और अधिकता दोषकी विशुद्धिके लिए समाधिभक्ति करनी चाहिए'। चारित्रसारमें भी कहा है—'पाक्षिक, चातुर्मासिक और वार्षिक प्रतिक्रमणमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, प्रतिक्रमण, निष्ठितकरण, चतुर्विंशति तीर्थंकरभक्ति, चारित्रालोचना, आचार्यभक्ति, बृहत् आलोचना, बृहत् आचार्यभक्ति और लघु आचार्यभक्ति करनी चाहिए।'

ग्रन्थकार पं. आशाधरजीने अपनी संस्कृत टीकामें अन्तमें लिखा है, यहाँ तो हमने दिशामात्र बतलायी है। किन्तु साधुओंको प्रौढ आचार्यके पाससे विस्तारसे सब जान-देखकर करना चाहिए। साधुओंके अभाव या उनकी विरलताके कारण प्रतिक्रमणकी विधिका ज्ञान हीन होता गया ऐसा लगता है। आजके साधु तो साधु, आचार्योंमें भी प्रतिक्रमणकी विधिका ज्ञान अत्यल्प है। अस्तु, व्रतारोपण आदि विषयक प्रतिक्रमणोंमें गुरुआचार्यभक्ति और मध्यआचार्यभक्ति नहीं की जाती। कहा है—'शेष प्रतिक्रमणोंमें चारित्रालोचना, बृहत् आलोचना और दोनों आचार्यभक्तियोंको छोड़कर शेष विधि क्रमसे होती है ॥५२-५६॥

आगे मुनियों और श्रावकोंके लिए श्रुत पंचमीके दिनकी क्रियाका विधान कहते हैं—

साधुओंको ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीके दिन बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् श्रुतभक्तिपूर्वक श्रुतस्कन्धकी स्थापना करके वाचना अर्थात् श्रुतके अवतारका उपदेश ग्रहण करना चाहिए। उसके बाद श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति करके स्वाध्याय ग्रहण करना चाहिए और श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करना चाहिए। समाप्तिपर शान्तिभक्ति करनी चाहिए। किन्तु जिन्हें स्वाध्यायको ग्रहण करनेका अधिकार नहीं है उन श्रावकोंको सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥५७-५८॥

विशेषार्थ—ज्येष्ठ शुक्ला पंचमीको श्रुतपंचमी कहते हैं क्योंकि उस दिन आचार्य भूतबलीने षट्खण्डागमकी रचना करके उसे पुस्तकारूढ करके उसकी पूजा की थी। तभीसे

वाचना गृहीत्वा तदनु स्वाध्याय गृह्णतः श्रुतभक्तिमाचार्यभक्ति च कृत्वा गृहीतस्वाध्याय' कृतश्रुतभक्तय. स्वाध्यायं निष्ठाप्य समाप्तौ शान्तिभक्ति कुर्युरिति ॥५८॥

अथ सिद्धान्तादिवाचनाक्रियातिदेशार्थं तदर्थाधिकारविषयकायोत्सर्गोपदेशार्थं च श्लोकद्वयमाह—

कल्प्यः क्रमोऽयं सिद्धान्ताचारवाचनयोरपि ।
एकैकार्थाधिकारान्ते व्युत्सर्गास्तन्मुखान्तयोः ॥५९॥
सिद्धश्रुतगणिस्तोत्रं व्युत्सर्गाश्चातिभक्तये ।
द्वितीयादिदिने षट् षट् प्रदेया वाचनावनौ ॥६०॥

कल्प्य इत्यादि । सिद्धान्तवाचना वृद्धव्यवहारादाचारवाचना वा सिद्धश्रुतभक्तिभ्या प्रतिष्ठाप्य वृहत्स्वाध्याय च श्रुताचार्यभक्तिभ्या प्रतिपद्य तद्वाचना दीयते । ततश्च स्वाध्यायं श्रुतभक्त्या निष्ठाप्य शान्ति-भक्त्या क्रिया निष्ठापयेदिति भाव । एकैकेत्यादि । उक्तं च चारित्रसारे—'सिद्धान्तस्यार्थाधिकाराणा समाप्तौ एकैक कायोत्सर्गं कुर्यादिति । तन्मुखान्तयो —एकैकस्यार्थाधिकारस्यारम्भे समाप्तौ च निमित्तभूते । उत्तरेण सवन्धोऽस्य कर्तव्य ॥५९॥

अतिभक्तये—सिद्धान्ताद्यर्थाधिकाराणा तु बहुमान्यत्वादेतदुक्तम् । द्वितीयादिदिने तत्क्रियैव कार्येति भाव. ॥६०॥

अथ संन्यासक्रियाप्रयोगविधिं श्लोकद्वयेनाह—

वह दिन श्रुतपंचमीके नामसे प्रसिद्ध है। उस दिन साधु श्रुतस्कन्धकी स्थापना करके स्वाध्याय ग्रहण करते हैं। मगर गृहस्थको द्वादशांगरूप सूत्रका स्वाध्याय करनेका अधिकार नहीं है इसलिए वह केवल भक्ति करता है। द्वादशांगरूप श्रुत तो नष्ट हो चुका है। पट्खण्डागम, कसायपाहुड और महाबन्ध सिद्धान्त ग्रन्थ तो आचार्यप्रणीत ग्रन्थ है इनका स्वाध्याय श्रावक भी कर सकते है। उसीकी विधि ऊपर कही है। चारित्रसारमे भी कहा है कि श्रुत पंचमीके दिन सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक वाचनाको ग्रहण करके उसके वाद स्वाध्यायको ग्रहण करते समय श्रुतभक्ति और आचार्यभक्ति पूर्वक स्वाध्यायको ग्रहण करे। और श्रुतभक्तिपूर्वक स्वाध्यायको समाप्त करके अन्तसे शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥५७-५८॥

सिद्धान्त आदिकी वाचना सम्बन्धी क्रियाकी विशेष विधि बतानेके लिए और उसके अर्थाधिकारोंके सम्बन्धमे कायोत्सर्गका विधान करनेके लिए दो श्लोक कहते हैं—

ऊपर श्रुतपंचमीके दिन जो विधि बतलायी है वही विधि सिद्धान्त वाचना और आचारवाचनामे भी करनी चाहिए। अर्थात् सिद्धान्तवाचना और वृद्ध साधुओंके अनुसार आचारवाचनाको सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक स्थापित करके और श्रुतभक्ति तथा आचार्यभक्तिपूर्वक वृहत् स्वाध्यायको स्वीकारके उसकी वाचना दी जाती है। उसके बाद श्रुतभक्तिपूर्वक 'स्वाध्यायको समाप्त करके शान्तिभक्तिपूर्वक उस क्रियाको पूर्ण किया जाता हैं। तथा सिद्धान्तके प्रत्येक अर्थाधिकारके अन्तमे कायोत्सर्ग करना चाहिए। तथा प्रत्येक अर्थाधिकारके अन्तमे और आदिमे सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करनी चाहिए। वाचनाके दूसरे-तीसरे आदि दिनोंमें वाचनाके स्थानपर छह-छह कायोत्सर्ग करना चाहिए। सिद्धान्त आदिके अर्थाधिकारोके अत्यन्त आदरणीय होनेसे उनके प्रति अति भक्ति प्रदर्शित करनेके लिए उक्त क्रिया की जाती है ॥५९-६०॥

आगे संन्यासपूर्वक मरणकी विधि दो श्लोकोंसे कहते है—

संन्यासस्य क्रियादौ सा शान्तिभक्त्या विना सह ।
अन्तेऽन्यदा बृहद्भक्त्या स्वाध्यायस्थापनोज्झने ॥६१॥
३ **योगेऽपि शेयं तत्रात्तस्वाध्यायैः प्रतिचारकैः ।**
स्वाध्यायाग्राहिणां प्राग्वत् तदाद्यन्तदिने क्रिया ॥६२॥

आदौ—सन्यासस्यारम्भे । सा—श्रुतपञ्चम्युक्ता । केवलमत्र सिद्धश्रुतभक्तिभ्या श्रुतस्कन्धवत् सन्यास.
६ प्रतिष्ठाप्य । अन्ते—क्षपकेऽतीते सन्यासो निष्ठाप्य इति भावः । अन्यदा—आद्यन्तदिनाभ्यामन्येषु दिनेषु ।
वृहदित्यादौ कर्तव्य इत्युपस्कार ॥६१॥

योगेऽपि—रात्रियोगे वर्षायोगेऽपि वा अन्यत्र गृहीतेऽपि सति । शेय—शयितव्यम् । तत्र—सन्यास-
९ वसतौ । प्रतिचारकै —क्षपकशुश्रूषकै । प्राग्वत्—श्रुतपञ्चमीवत् । तदित्यादिसन्यासस्यारम्भदिने समाप्तिदिने
च सिद्धश्रुतशान्तिभक्तिभिर्गृहस्थै. क्रिया कार्येति भाव ॥६२॥

अथ अष्टाह्निकक्रियानिर्णयार्थमाह—

१२ **कुर्वन्तु सिद्धनन्दीश्वरगुरुशान्तिस्तवैः क्रियामष्टौ ।**
शुच्यूर्जतपस्यसिताष्टम्यादिदिनानि मध्याह्ने ॥६३॥

कुर्वन्तु—अत्र वहुत्वनिर्देश संभूय सघेनैव क्रिया कार्येति ज्ञापनार्थ । शुचि.—आपाढः । ऊर्जः—
१५ कार्तिक । तपस्यः—फाल्गुन ॥६३॥

अथाभिषेकवन्दनाक्रिया मङ्गलगोचरक्रिया च लक्षयति—

संन्यासके आदिमें शान्तिभक्तिके विना शेष सब क्रिया श्रुतपंचमीकी तरह करनी चाहिए। अर्थात् श्रुतस्कन्धकी तरह केवल सिद्धभक्ति और श्रुतभक्तिपूर्वक संन्यासमरणकी स्थापना करनी चाहिए। तथा संन्यासके अन्तमें वही क्रिया शान्तिभक्तिके साथ करनी चाहिए। अर्थात् समाधिमरण करनेवालेका स्वर्गवास हो जानेपर संन्यासकी समाप्ति शान्तिभक्ति सहित उक्त क्रियाके साथ की जाती है। तथा संन्यासके प्रथम और अन्तिम दिनको छोड़कर शेष दिनोमे स्वाध्यायकी स्थापना बृहत् श्रुतभक्ति और बृहत् आचार्यभक्ति करके की जाती है और उसकी समाप्ति बृहत् श्रुतभक्ति पूर्वक की जाती है। तथा जो समाधिमरण करनेवाले क्षपककी सेवा करनेवाले साधु है और जिन्होंने वहाँ प्रथम दिन स्वाध्यायकी स्थापना की है उन्हें उसी वसतिकामें सोना चाहिए जिसमें संन्यास लिया गया है। यदि उन्होंने रात्रियोग और वर्षायोग अन्यत्र भी लिया हो तो भी उन्हे वहीं सोना चाहिए। किन्तु जो गृहस्थ परिचारक स्वाध्याय ग्रहण नहीं कर सकते है उन्हें सन्यासके प्रथम और अन्तिम दिन श्रुतपंचमीकी तरह सिद्धभक्ति श्रुतभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक ही क्रिया करनी चाहिए ॥६१-६२॥

आगे अष्टाह्निका पर्वकी क्रिया कहते है—

आषाढ, कार्तिक और फाल्गुनमासके शुक्ल पक्षकी अष्टमीसे लेकर पौर्णमासी पर्यन्त प्रतिदिन मध्याह्नमे प्रातःकालके स्वाध्यायको ग्रहण करनेके बाद सिद्धभक्ति, नन्दीश्वर चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्तिके साथ आचार्य आदि सबको मिलकर क्रिया करनी चाहिए ॥६३॥

आगे अभिषेकवन्दना क्रिया और मंगलगोचर क्रियाको कहते हैं—

सा नन्दीश्वरपदकृतचैत्या त्वभिषेकवन्दनास्ति तथा।
मङ्गलगोचरमध्याह्नवन्दना योगयोजनोज्झनयोः ॥६४॥

सा—नन्दीश्वरक्रिया। अभिषेकवन्दना—जिनस्नपनदिवसे वन्दना। ३
उक्तं च—

'अहिसेयवंदणा सिद्धचेदि पंचगुरुसंतिभत्तीहिं।
कीरइ मंगलगोयर मज्झण्हियवंदणा होइ ॥' [ ] ॥६४॥ ६

अथ मंगलगोचरबृहत्प्रत्याख्यानविधिमाह—

लात्वा बृहत्सिद्धयोगिस्तुत्या मङ्गलगोचरे।
प्रत्याख्यानं बृहत्सूरिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जताम् ॥६५॥ ९

प्रयुञ्जताम्। अत्र बहुवचननिर्देशः सर्वैर्मिलित्वा कार्योऽयं विधिरिति बोधयति ॥६५॥

अथ वर्षायोगग्रहणमोक्षणविध्युपदेशार्थं श्लोकद्वयमाह—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती। १२
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्तिभक्तिं च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥ १५

पूर्वरात्रे—प्रथमप्रहरोद्देशे। परीत्या—प्रदक्षिणया। अल्पा—लघ्वी। अर्थाच्चतस्रः। तद्यथा—यावन्ति जिनचैत्यानीत्यादिश्लोकं पठित्वा वृषभाजितस्वयंभूस्तवमुच्चार्य चैत्यभक्तिं चूलिकां पठेदिति पूर्वदिक्चैत्यालयवन्दना। एवं दक्षिणादिदिक्षु त्रयेऽपि, नवरमुत्तरोत्तरौ द्वौ द्वौ स्वयंभूस्तवौ प्रयोक्तव्यौ। गुरुस्तुतिं— १८
पञ्चगुरुभक्तिम् ॥६६॥ पश्चाद्रात्रौ—पश्चिमयामोद्देशे ॥६७॥

ऊपर जो नन्दीश्वर क्रिया कही है वही क्रिया जिस दिन जिन भगवान्‌का महाभिषेक हो, उस दिन करना चाहिए। अन्तर केवल इतना है कि नन्दीश्वर चैत्यभक्तिके स्थानमें केवल चैत्यभक्ति की जाती है। तथा वर्षायोगके ग्रहण और त्यागके समय भी यह अभिषेक वन्दना ही मंगलगोचर मध्याह्नवन्दना होती है ॥६४॥

आगे मंगलगोचर बृहत् प्रत्याख्यानकी विधि कहते हैं—

मंगलगोचर क्रियामें बृहत् सिद्धभक्ति और बृहत् योगिभक्ति करके भक्त प्रत्याख्यानको ग्रहण करना चाहिए और फिर बृहत् आचार्यभक्ति और बृहत् शान्तिभक्ति करनी चाहिए। यह क्रिया आचार्यादि सबको मिलकर करनी चाहिए। इसीसे 'प्रयुञ्जताम्' इस बहुवचनका प्रयोग किया है ॥६५॥

आगे वर्षायोगके ग्रहण और त्यागकी विधि कहते हैं—

भक्त प्रत्याख्यान ग्रहण करनेके पश्चात् आषाढ शुक्ला चतुर्दशीकी रात्रिके प्रथम पहरमें पूर्व आदि चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा क्रमसे लघु चैत्यभक्ति चार बार पढकर सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, पंचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करते हुए आचार्य आदि साधुओंको वर्षायोग ग्रहण करना चाहिए। और कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके पिछले पहरमें इसी विधिसे वर्षायोगको छोड़ना चाहिए ॥६६-६७॥

विशेषार्थ—चारों दिशाओंमें प्रदक्षिणा क्रमसे चैत्यभक्ति करनेकी विधि इस प्रकार है। पूर्वदिशाको मुख करके 'यावन्ति जिनचैत्यानि' इत्यादि श्लोक पढकर ऋषभदेव और अजितनाथकी स्वयंभू स्तुति पढ़कर अंचलिका सहित चैत्यभक्ति पढना चाहिये। ऐसा करने-

अथ तच्छेपविधिं श्लोकद्वयेनाह—

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत् ।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लङ्घयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपञ्चमीम् ।
यावन्न गच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥

वास. कर्तव्य इति शेष. । अन्यदा—हेमन्तादिऋतुषु । शुचौ—आषाढे । मार्गे—मार्गशीर्षमासे ॥६८॥ नभो—श्रावण । तद्याने—योगक्षेत्रगमने । न गच्छेत्—स्थानान्तरे न विहरेत् । तच्छेदे—योगातिक्रमे । कथचित्—दुर्निवारोपसर्गादिना । छेदं—प्रायश्चित्तम् ॥६९॥

अथ वीरनिर्वाणक्रियानिर्णयार्थमाह—

योगान्तेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः ।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवन्दना ॥७०॥

योगान्ते—वर्षायोगनिष्ठापने कृते सति । अत.—एतत् क्रियानन्तरम् ॥७०॥

से पूर्व दिशाके चैत्मालयोकी वन्दना हो जाती है। फिर दक्षिण दिशामे संभव और अभिनन्दन जिनकी स्तुतियाँ पढकर अचलिका सहित चैत्यभक्ति पढना चाहिये। इसी तरह पश्चिम दिशा-मे सुमतिजिन और पद्मप्रभजिन तथा उत्तर दिशामे सुपार्श्व और चन्द्रप्रभ भगवान्‌के स्तवन पढना चाहिये। इस प्रकार अपने स्थान पर स्थित रहकर ही चारों दिशामे भाव वन्दना करना चाहिये। उन-उन दिशाओंकी ओर उठने की आवश्यकता नहीं है ॥६६-६७॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा शेष विधि कहते हैं—

वर्षा योगके सिवाय अन्य हेमन्त आदि ऋतुओंमे श्रमणोंको एक स्थान नगर आदिमे एक मास तक ही निवास करना चाहिए। तथा मुनि संघको आषाढमे वर्षायोगके स्थानको चले जाना चाहिए। और मार्गशीर्ष महीना बीतने पर वर्षायोगके स्थानको छोड़ देना चाहिए। कितना ही प्रयोजन होनेपर भी वर्षायोगके स्थानमें श्रावण कृष्णा चतुर्थी तक अवश्य पहुँचना चाहिए। इस तिथिको नहीं लाँघना चाहिए। तथा कितना ही प्रयोजन होनेपर भी कार्तिक शुक्ला पंचमी तक वर्षायोगके स्थानसे अन्य स्थानको नहीं जाना चाहिए। यदि किसी दुर्निवार उपसर्ग आदिके कारण वर्षायोगके उक्त प्रयोगमें अतिक्रम करना पड़े तो साधु संघको प्रायश्चित्त लेना चाहिए ॥६८-६९॥

विशेषार्थ—श्वे दशाश्रुत स्कन्ध निर्युक्तिमे कहा है कि वर्षावास आषाढकी पूर्णिमासे प्रारम्भ होकर मार्गशीर्ष मासकी दसमी तिथिको पूर्ण होता है। यदि इसके बाद भी वर्षा होती हो या मार्गमे अत्यधिक कीचड हो तो साधु इस कालके बाद भी उसी स्थान पर ठहर सकते हैं ॥६८-६९॥

वीरभगवान्‌के निर्वाणकल्याणकके दिन की जानेवाली क्रियाको बताते हैं—

कार्तिक कृष्णा चतुर्दशीकी रात्रिके अन्तिम पहरमे वर्षायोगका निष्ठापन करनेके बाद सूर्यका उदय होनेपर भगवान् महावीर स्वामीकी निर्वाण क्रियामे सिद्धभक्ति, निर्वाणभक्ति, पचगुरुभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। उसके पश्चात् नित्यवन्दना करना चाहिए ॥७०॥

अथ कल्याणकपञ्चकक्रियानिश्चयार्थमाह—

साद्यन्तसिद्धशान्तिस्तुतिजिनगर्भजनुषोः स्तुयाद् वृत्तम् ।
निष्क्रमणे योग्यन्तं विदि श्रुताद्यपि शिवे शिवान्तमपि ॥७१॥ ३

साद्यन्तेत्यादि—क्रियाविशेषणमिदम् । जिनगर्भजनुषो'—तीर्थकृता गर्भावतरणे जन्मनि च । पुनर्जन्मकल्याणक्रियाप्रतिपादनं पञ्चानामप्येकत्र सप्रत्ययार्थम् । योग्यन्त—सिद्धचारित्रयोगिशान्तिभक्तय. कार्या इत्यर्थ । विदि ज्ञानकल्याणे । श्रुताद्यपि—सिद्धश्रुतचारित्रयोगिनिर्वाणशान्तिभक्तय कार्या इत्यर्थ. ॥७१॥ ६

अथ पञ्चत्वप्राप्तऋष्यादीना काये निषेधिकाया च क्रियाविशेषनिर्णयमार्यायुग्मेन विधत्ते—

वपुषि ऋषे. स्तौतु ऋषीन् निषेधिकाया च सिद्धशान्त्यन्तः । ९
सिद्धान्तिनः श्रुतादीन् वृत्तादीनुत्तरव्रतिनः ॥७२॥
द्वियुजः श्रुतवृत्तादीन् गणिनोऽन्तगुरून् श्रुतादिकानपि तान् ।
समयविदोऽपि यमादींस्तनुक्लिशो द्वयमुखानपि द्वियुज ॥७३॥ १२

ऋषे—सामान्यसाधोरर्थान्मृतस्य । ऋषीन्—योगिन. । सिद्धशान्त्यन्त.—सिद्धभक्तिशान्तिभक्त्योर्मध्ये योगिभक्तिं कुर्यादित्यर्थ. । सिद्धान्तिन. श्रुतादीन् । अत्रोत्तरत्र च वपुषीत्याद्यनुवर्तनीयम् । ततोऽयमर्थ । कथ सैद्धान्तस्य ऋषे काये निषेधिकाया च सिद्धशान्त्योर्मध्ये श्रुतमृषीश्च स्तुयात् । सिद्धश्रुतयोगिशान्तिभक्ती. कुर्यादित्यर्थ' । वृत्तादीन्—सिद्धचारित्रयोगिशान्तिभक्तीर्विदध्यादित्यर्थ ॥७२॥ द्वियुज.—सिद्धान्तोत्तरव्रतभाज. । श्रुतवृत्तादीन्—सिद्धश्रुतचारित्रयोगिशान्तिभक्ती प्रयुञ्जीतेत्यर्थ. । अन्तगणीन् अन्तगणिनाऽऽचार्यस्तुत्यतया तान् । अन्तगणीन् ऋषीन् । सिद्धश्रुतयोग्याचार्यशान्तिभक्ती. कुर्यादित्यर्थः । समयविद.—सिद्धान्तज्ञस्याचार्यस्य च ऋषेः । अपि यमादीन्—चारित्रादीनपि अन्तगणिऋषीन् स्तुयात् । सिद्धचारित्रयोग्याचार्यशान्तिभक्तीरावहेदित्यर्थ । तनुक्लिश.—कायक्लेशिन आचार्यस्य च ऋषे. । द्वयमुखानपि सिद्धश्रुतचारित्रयोग्याचार्यशान्तिभक्ती रचयेदित्यर्थ । द्वियुज.—सैद्धान्तस्य कायक्लेशिनश्चाचार्यस्य ऋषे । उक्त च— १५ १८ २१

'काये निषेधिकायां च मुने सिद्धर्षिशान्तिभि. ।
उत्तरव्रतिन सिद्धवृत्तर्षिशान्तिभि. क्रिया ॥ २४

पंचकल्याणकके दिनोंमें की जाने योग्य क्रिया बतलाते हैं—

तीर्थंकरोके गर्भकल्याणक और जन्मकल्याणकके समय श्रमणों और श्रावकोको सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक क्रिया करनी चाहिए। तपकल्याणकमें सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। ज्ञानकल्याणकमें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। तथा निर्वाण कल्याणकमें और निर्वाण क्षेत्रकी वन्दनामें सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, निर्वाणभक्ति और शान्तिभक्ति करनी चाहिए। इन भक्तियोंके साथ उस उस कल्याणक सम्बन्धी क्रिया करनी चाहिए ॥७१॥

मरणको प्राप्त ऋषि आदिके शरीर तथा निषेधिका (समाधिस्थान) के विषयमें की जानेवाली क्रियाओंको दो पद्योंसे कहते हैं—

सामान्य साधुका मरण होनेपर उसके शरीर तथा समाधिभूमिकी वन्दना सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्तिको क्रमसे पढकर की जाती है। यदि सिद्धान्तवेत्ता सामान्य

---

१. योगिशा—भ कु. च ।

सैद्धान्तस्य मुनेः सिद्धश्रुतर्षिशान्तिभक्तिभिः ।
उत्तरव्रतिनः सिद्धश्रुतवृत्तर्षिशान्तिभिः ॥
३ सूरेर्निषेधिकाकाये सिद्धर्षिसूरिशान्तिभिः ।
शरीरक्लेशिन. सिद्धवृत्तर्षिगणिशान्तिभिः ॥
सैद्धान्ताचार्यस्य सिद्धश्रुतर्षिसूरिशान्तय. ।
६ अन्ययोगे सिद्धश्रुतवृत्तर्षिगणिशान्तयः ॥' ॥७३॥

अथ स्थिरचलजिनविम्बप्रतिष्ठाया. क्रियाविधिं तच्चतुर्थस्नपनक्रियाविशेषं चोपदिशति—

स्यात्सिद्धशान्तिभक्तिः स्थिरचलजिनविम्बयोः प्रतिष्ठायाम् ।
९ **अभिषेकवन्दना चलतुर्यस्नाने तु पाक्षिकी त्वपरे ॥७४॥**

अभिषेकवन्दना—सिद्धचैत्यपञ्चगुरुशान्तिभक्तिलक्षणा । पाक्षिकी—सिद्धचारित्रभक्ती वृहदालोचना शान्तिभक्तिश्चेत्येषा । स्वाध्यायाग्राहिणा पुनर्गृहिणा सैवालोचनारहिता । अपरे—अन्यस्मिन् स्थिरजिनप्रतिमा-
१२ चतुर्थस्नान इत्यर्थ. । उक्त च—

'चलाचलप्रतिष्ठाया सिद्धशान्तिस्तुतिर्भवेत् ।
वन्दना चाभिषेकस्य तुर्यस्नाने मता पुन ॥
१५ सिद्धवृत्तनुतिं कुर्याद् वृहदालोचना तथा ।
शान्तिभक्तिं जिनेन्द्रस्य प्रतिष्ठाया स्थिरस्य तु ॥' ॥७४॥

साधुका मरण हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर की जाती है। यदि उत्तर व्रतोको धारण करनेवाले साधुका मरण हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, चारित्र-भक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर की जाती है। यदि मरनेवाला साधु सिद्धान्त-वेत्ता होनेके साथ उत्तर गुणोंका भी पालक हो तो उसके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर की जाती है। यदि आचार्यका मरण हो जाये तो उनके शरीरकी और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर करनी चाहिए। यदि सिद्धान्तवेत्ता आचार्यका मरण हो तो उनके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर करनी चाहिए। किन्तु ऐसे ऋषिका मरण हो जो आचार्य होनेके साथ कायक्लेश तपके धारी हों तो उनके शरीर और निषद्या भूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्य-भक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक करनी चाहिए। यदि मरणको प्राप्त ऋषि आचार्य होनेके साथ सिद्धान्तवेत्ता और कायक्लेशतपके धारक हो तो उनके शरीर और निषद्याभूमिकी वन्दना क्रमसे सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्रभक्ति, योगिभक्ति, आचार्यभक्ति और शान्तिभक्ति पूर्वक करनी चाहिए ॥७२-७३॥

स्थिर जिनविम्ब और चल जिनविम्बकी प्रतिष्ठाके समयकी विधि तथा चल जिन-विम्बके चतुर्थ दिन किये जानेवाले अभिषेकके समयकी क्रियाविधि कहते हैं—

स्थिर प्रतिमाकी प्रतिष्ठा या चल जिनविम्बकी प्रतिष्ठामे सिद्धभक्ति और शान्तिभक्ति पढकर वन्दना करनी चाहिए। किन्तु चल जिनविम्बकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिन अभिषेकके समय अभिषेक वन्दना की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चैत्यभक्ति, पंचगुरुभक्ति और

अथाचार्यपदप्रतिष्ठापनक्रियाविधिमाह—

सिद्धाचार्यस्तुती कृत्वा सुलग्ने गुर्वनुज्ञया ।
लात्वाचार्यपदं शान्ति स्तुयात्साधुः स्फुरद्गुणः ॥७५॥ ३

आचार्यपदम् । अद्य प्रभृति भवता रहस्यशास्त्राध्ययनदीक्षादानादिकमाचार्यकार्यमाचर्यमिति गणसमक्ष भाषमाणेन गुरुणा समर्प्यमाणपिच्छग्रहणलक्षणम् । उक्तं च चारित्रसारे—'गुरूणामनुज्ञाया विज्ञानवैराग्य-सपन्नो विनीतो धर्मशील स्थिरश्च भूत्वाऽऽचार्यपदव्या योग्यः साधुर्गुरुसमक्षे सिद्धाचार्यभक्ति कृत्वाऽऽचार्य- ६ पदवी गृहीत्वा शान्तिभक्ति कुर्यादिति ॥७५॥

अथाचार्यस्य षट्त्रिंशत गुणान् दिशति—

अष्टावाचारवत्त्वाद्यास्तपांसि द्वादशस्थिते । ९
कल्पा दशाऽऽवश्यकानि षट् षट् त्रिंशद्गुणा गणेः ॥७६॥

शान्तिभक्ति पूर्वक वन्दना की जाती है । किन्तु स्थिर जिन प्रतिमाकी प्रतिष्ठाके चतुर्थ दिन होनेवाले अभिषेकके समय पाक्षिकी क्रिया की जाती है अर्थात् सिद्धभक्ति, चारित्रभक्ति, बृहत् आलोचना और शान्तिभक्ति की जाती है । और स्वाध्यायको ग्रहण न करनेवाले श्रावक बृहत् आलोचनाको छोड़कर शेषभक्ति पढकर क्रिया करते है ॥७४॥

आगे आचार्यपद पर प्रतिष्ठित करनेकी विधि कहते हैं—

जिसके छत्तीस गुण संघके चित्तमें चमत्कार पैदा करते हैं उस साधुको गुरुकी अनुमतिसे शुभ मुहूर्तमें सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति करके आचार्यपद ग्रहण करना चाहिए तव शान्तिभक्ति करनी चाहिए ॥७५॥

विशेषार्थ—चारित्रसारमें भी कहा है कि गुरुकी आज्ञा होनेपर ज्ञान और वैराग्यसे सम्पन्न, विनयी, धर्मशील और स्थिरमति जो साधु आचार्यपदके योग्य होता है वह गुरुके सन्मुख सिद्धभक्ति और आचार्यभक्ति पूर्वक आचार्य पदवीको ग्रहण करता है, तव शान्ति-भक्ति करता है । आचार्यपद प्रदानसे आशय यह है कि गुरु संघके समक्ष यह कहकर कि आजसे आप प्रायश्चित्तशास्त्रके अध्ययन, दीक्षादान आदि आचार्यकार्यको करे, पिच्छिका समर्पित करते हैं । उसका ग्रहण ही आचार्यपदका ग्रहण है ॥७५॥

आगे आचार्यके छत्तीस गुणोंको कहते हैं—

आचारवत्त्व आदि आठ, वारह तप, दस स्थितिकल्प और छह आवश्यक ये छत्तीस गुण आचार्यके होते हैं ॥७६॥

विशेषार्थ—दोनो ही जैन परम्पराओंमें आचार्यके छत्तीस गुण कहे हैं किन्तु संख्यामें एकरूपता होते हुए भी भेदोमे एकरूपता नहीं है । श्वेताम्वर परम्पराके अनुसार—पाँच इन्द्रियोंको जो वशमे करता है, नौ बाडसे विशुद्ध ब्रह्मचर्यका पालता है, पाँच महाव्रतोंसे युक्त होता है, पाँच आचारोंको पालनमे समर्थ है, पाँच समिति और तीन गुप्तिका पालक है,

---

१ 'पचिंदिय सवरणो तह नवविहवह्मचेर गुत्तिधरो ।
पच महव्वयजुत्तो पंचविहाचारपालणसमत्थो ॥
पचसमिइ तिगुत्तो इह अट्ठारस गुणेंहि सजुत्तो ।
चउव्विहकसायमुक्को छत्तीस गुणो गुरु मज्झ ॥

स्थिते:—निष्ठासौष्ठवस्य । कल्पा.—विशेषा ॥७६॥

चार प्रकारकी कपायोसे मुक्त है इस तरह छत्तीस गुणोंसे युक्त गुरु होता है। ये ५+९+५+५+५+३+४=३६ गुण होते है। दिगम्बर परम्परामें भी एकरूपता नहीं है। विभिन्न ग्रन्थकारोंने विभिन्न प्रकारसे छत्तीस गुण गिनाये है—आचारवत्त्व आदि आठ गुण, दस स्थितिकल्प, वारह तप,छ आवश्यक ८+१०+१२+६=३६ ये छत्तीस गुण होते हैं। पं. आशाधरजीने इसीके अनुसार ऊपर छत्तीस गुण गिनाये हैं। किन्तु भगवती आराधनाकी अपनी टीकामे पं. आशाधरजीने उक्त गाथाके सम्बन्धमें लिखा है—भ. आ के अनुसार छत्तीस[2] गुण इस प्रकार है—आठ ज्ञानाचार, आठ दर्शनाचार, वारह प्रकारका तप, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ ये भगवती आराधनाकी संस्कृत टीकाके अनुसार छत्तीस गुण है। प्राकृत टीकामें अट्ठाईस मूल गुण और आचारवत्त्व आदि आठ ये छत्तीस गुण है। अथवा दस आलोचनाके गुण, दस प्रायश्चित्तके गुण, दस स्थितिकल्प और छह जीतगुण ये छत्तीस गुण हैं। ऐसी स्थितिमे भगवती आराधनामे सुनी गयी यह गाथा प्रक्षिप्त ही प्रतीत होती है।' भगवती आराधना पर विजयोदया टीकाके रचयिता अपराजित सूरिने इस गाथा पर टीका नहीं की है। अत यह गाथा किसीने छत्तीस गुण गिनानेके लिए उद्धृत की है और वह मूलमे सम्मिलित हो गयी है। इसमें जो दस स्थितिकल्पो और छह जीतगुणोंको आचार्यके गुणोमें गिनाया है वह विचारणीय प्रतीत होता है।

वोधपाहुडकी गाथा २ की संस्कृत[3] टीकामे आचार्यके छत्तीस गुण इस प्रकार कहे हैं—आचारवान्, श्रुताधारी, प्रायश्चित्तदाता, गुण दोपका प्रवक्ता किन्तु दोपको प्रकट न करने वाला, अपरिस्रावी, साधुओंको सन्तोप देनेवाले निर्यापक, दिगम्बर वेपी, अनुद्दिष्ट भोजी अशय्यासनी, अराजभुक्, क्रियायुक्त, व्रतवान्, ज्येष्ठसद्गुणी, प्रतिक्रमण करनेवाला, षट्मासयोगी द्विनिपद्यावाला, वारहतप, छह आवश्यक, ये छत्तीस गुण आचार्यके हैं। इस तरह आचार्यके छत्तीस गुणोंमे विविध मत मिलते हैं ॥७६॥

---

१. 'आयारवमादीया अट्ठगुणा दसविधो य ठिदिकप्पो।
वारस तव छावासय छत्तीसगुणा मुणेयव्वा ॥'—भ. आ गा. ५२६।

२. 'षट्त्रिंशद्गुणा यथा—अष्टौ ज्ञानाचारा, अष्टौ दर्शनाचाराश्च, तपो द्वादशविध पञ्चसमितयस्तिस्रो गुप्तयश्चेति संस्कृतटीकायाम्। प्राकृतटीकाया तु अष्टाविंशति मूलगुणा आचारवत्त्वादयश्चाष्टौ इति षट्त्रिंशत्। यदि वा दस आलोचना गुणा, दश प्रायश्चित्तगुणा, दश स्थितिकल्पा, षड् जीतगुणाश्चेति षट्त्रिंशत्। एव सति सूत्रेऽनुश्रूयमाणेयं गाथा प्रक्षिप्तेव लक्ष्यते।'

३. 'आचारश्रुताधार प्रायश्चित्तासनादिद।
आयापायकथी दोपाभापकोऽस्रावकोऽपि च ॥
सन्तोपकारी साधूना निर्यापक इमेऽष्ट च।
दिगम्वरवेष्यनुद्दिष्टभोजी शय्यासनीति च ॥
अराजभुक् क्रियायुक्तो व्रतवान् ज्येष्ठसद्गुण।
प्रतिक्रमी च षण्मासयोगी तद्द्विनिपद्यक ॥
द्विषट् तपास्तथा षट्चावश्यकानि गुणा गुरो।

अथाचारवत्त्वादिस्वरूपोद्देशार्थमाह—

आचारी सूरिराधारी व्यवहारी प्रकारकः ।
आयापायविगुत्पीडोऽपरिस्रावी सुखावहः ॥७७॥ ३

अथाचारपदादिलक्षणनिर्णयार्थं श्लोकद्वयमाह—

पञ्चाचारकृदाचारी स्यादाधारी श्रुतोद्धुरः ।
व्यवहारपटुस्तद्वान् परिचारी प्रकारकः ॥७८॥ ६
गुणदोषप्रवक्ताऽऽयापायदिग् दोषवामकः ।
उत्पीलको रहोऽभेत्ताऽस्रावी निर्वापकोऽष्टमः ॥७९॥

पञ्चाचारकृत्—पञ्चानां ज्ञानाद्याचाराणामाचरिता आचारयिता उपदेष्टा च । उक्तं च— ९

'आचारं पञ्चविधं चरति च चारयति यो निरतिचारम् ।
उपदिशति सदाचारं भवति स आचारवान् सूरिः ॥' [ ]

श्रुतोद्धुरः—अनन्यसामान्यश्रुतज्ञानसंपन्नः । उक्तं च— १२

'नवदशचतुर्दशानां पूर्वाणां वेदिता मतिसमुद्रः ।
कल्पव्यवहारधरः स भवत्याधारवान्नाम ॥' [ ]

आगे आचारवत्त्व आदि आठ गुणोंका निर्देश करते हैं—

आचार्य आचारी, आधारी, व्यवहारी, प्रकारक, आय और अपायदर्शी, उत्पीडक, अपरिस्रावी और सुखकारी होता है ॥७७॥

आगे दो श्लोकोंके द्वारा इन आचारी आदिका स्वरूप कहते हैं—

जो पाँच ज्ञानादि आचारोंका स्वयं आचरण करता है दूसरोंसे आचरण कराता है और उनका उपदेश देता है उसे आचारी या आचारवान् कहते हैं। जो असाधारण श्रुतज्ञानसे सम्पन्न हो उसे आधारी कहते हैं। जो व्यवहारपटु हो, अर्थात् प्रायश्चित्तका ज्ञाता हो, जिसने बहुत बार प्रायश्चित्त देते हुए देखा हो और स्वयं भी उसका प्रयोग किया हो, उसे व्यवहारी कहते हैं। जो क्षपककी सेवा करता है उसे प्रकारक कहते हैं। जो आलोचनाके लिए उद्यत क्षपकके गुणों और दोषोंका प्रकाशक हो उसे आयापायदिक् कहते हैं। जो व्रत आदिके गूढ अतिचारोंको बाहर निकालनेमें समर्थ है उसे उत्पीलक कहते हैं। जो एकान्तमें प्रकाशित दोषको प्रकट नहीं करता उसे अपरिस्रावी कहते हैं। जो भूख-प्यास आदिके दुःखोंको शान्त करता हो उसे सुखकारी कहते हैं। इन आठ गुणोंसे युक्त आचार्य होता है ॥७८-७९॥

विशेषार्थ—आचार्य शब्द आचारसे ही बना है। और आचार हैं पाँच—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार। जो इन पाँच आचारोंका स्वयं पालन करता है, दूसरोंसे पालन कराता है और उनका उपदेश देता है उसे आचार्य कहते हैं। भगवती आराधना और मूलाचारका वही आशय है जो ऊपर कहा है। दूसरा गुण है आधारवत्त्व। उसका आगमिक स्वरूप इस प्रकार कहा है—जो चौदह पूर्व या दस पूर्व या

१ चोद्दस-दस-णवपुव्वी महामदी सायरोव्व गंभीरो ।
कप्पववहारधारी होदि हु आधारवं णाम ॥—भ. आरा., ४२८ गा ।

व्यवहारपटुः—प्रायश्चित्तस्य ज्ञाता बहुशो दीयमानस्य द्रष्टा तत्प्रयोक्ता च। तद्वान् व्यवहारवान्। उक्तं च—

३ 'पञ्चविधं व्यवहारं यो मनुते तत्त्वतः सविस्तारम्।
कृतकारितोपलब्धप्रायश्चित्तस्तृतीयस्तु॥' [ ]
'आगमश्च श्रुत वाज्ञाधारणाजीत एव च।
६ व्यवहारा भवन्त्येते निर्णयस्तत्र सूत्रतः॥' [ ]

आगम एकादशाङ्गोक्तं प्रायश्चित्त तदेव चतुर्दशपूर्वोक्त श्रुतम्। उत्तमार्थोद्यत् आचार्यो जङ्घाबलपरिहीण. स्थानान्तरस्थित सुस्थिताचार्यसमीपे स्वतुल्यं ज्येष्ठशिष्यं प्रेष्यं तन्मुखेन तस्याग्रे स्वदोषानालोच्य तन्निर्दिष्ट ९ प्रायश्चित्त यच्चरन्ति तदाज्ञेति व्यपदिश्यते। स एवासहाय. सन् सजातदोषस्तत्रैव स्थित पूर्वावधारित-प्रायश्चित्तं यत्करोति सा धारणा नाम। द्वासप्ततिपुरुषजातस्वरूपमपेक्ष्य यदुक्त प्रायश्चित्त तज्जीत इत्युच्यते। सप्रत्याचार्या येन व्यवहरन्ति स प्रकार। परिचारी—क्षपकशुश्रूषाकारी॥७८॥ गुणेत्यादि। उक्त च—

नौ पूर्वका ज्ञाता हो, महाबुद्धिशाली हो, सागरकी तरह गम्भीर हो, कल्प व्यवहारका ज्ञाता हो उसे आधारवान् कहते हैं, इस तरह आचार्यको शास्त्र समुद्रका पारगामी होना चाहिए। तीसरे प्रायश्चित्तके प्रयोगमें कुशल अनुभवी होना चाहिए। प्रायश्चित्तको ही व्यवहार कहते हैं। उसके पाँच भेद हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। कहा है—'जो पाँच प्रकारके व्यवहार या प्रायश्चित्तको यथार्थ रूपमें विस्तारसे जानता है, जिसने बहुतसे आचार्योंको प्रायश्चित्त देते देखा है और स्वयं भी प्रायश्चित्त दिया है उसे व्यवहारी कहते हैं। व्यवहारके पाँच भेद हैं—आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत। इनका विस्तारसे कथन सूत्रोंमें है।[1] इसकी टीकामें अपराजित सूरिने लिखा है कि 'प्रायश्चित्तका कथन सबके सामने नहीं किया जाता। इसीलिए यहाँ उनका कथन नहीं किया है,'। अपने इस कथनके समर्थनमें उन्होंने एक गाथा भी उद्धृत की है—जिसमें कहा है 'सभी श्रद्धालु पुरुषोंको जिन वचन सुनना चाहिए। किन्तु छेद सूत्र अर्थात् प्रायश्चित्त शास्त्रका अर्थ सबके लिए जानने योग्य नहीं है।'[2] श्वेताम्बरीय सूत्रोंमें व्यवहारके इन पाँच प्रकारोका कथन है।[3] व्यवहार सूत्रमें विस्तारसे कथन है। मुमुक्षुकी प्रवृत्ति-निवृत्तिको व्यवहार कहते हैं। आगमसे केवलज्ञान, मनःपर्यय, अवधि, चौदह पूर्व, दस पूर्व और नौ पूर्व लिये जाते हैं। शेषको श्रुत कहते हैं। यद्यपि नव आदि पूर्व भी श्रुत हैं, किन्तु वे केवलज्ञानकी तरह अतीन्द्रिय पदार्थोंके विषयमे विशिष्ट ज्ञान कराते हैं इसलिए उन्हें आगमसे लिया है। किन्तु पं. आशाधरजीने अपनी टीकामें ग्यारह अगोंमें प्रतिपादित प्रायश्चित्तको आगम और चौदह

---

१. पचविहं ववहारं जो जाणइ तच्चदो सवित्थारं।
बहुसो य दिट्ठ कयपट्ठवणो ववहारव होइ॥
आगम सुद आणा धारणा य जीदेहिं होंति ववहारा।
एदेसिं सवित्थारा परूवणा सुत्तणिद्दिट्ठा॥—भ. आरा. ४४८-४९ गा।

२. सव्वेण वि जिणवयण सोदव्व सड्ढिदेण पुरिसेण।
छेदसुदस्स हु अत्थो ण होदि सव्वेण णादव्वो॥

३. 'पचविहे ववहारे पण्णत्ते, त जहा-आगमे, सुए।
आणा, धारणा, जीए।'—स्थानाग ५।२।४२१ सू.।

'गुणदोपाणा प्रथक क्षपकस्य विशेषमालुलोचयिपोः ।
अनृजोरालोचयितो दोषविशेष प्रकागयति ॥' [ ]

दोषवामक —व्रताद्यतीचारस्यान्तर्गूढस्य स वहिर्निष्क्रामक । उक्त च— ३

'ओजस्वी तेजस्वी वाग्मी च प्रथितकीर्तिराचार्यः ।
हरिरिव विक्रमसारो भवति समुत्पीलको नाम ॥' [ ]

रहोऽभेत्ता—गोप्यदोपस्य रहस्यालोचितस्याप्रकाशक । उक्त च— ६

'आलोचिता कलङ्का यस्या य. पीततोयसंछाया.[1] ।
न परिश्रवन्ति कथमपि स भवत्यपरिश्रव सूरिः ॥'

निर्वापक.—क्षुदादिदु खोपशमक. । यथाह— ९

'गम्भीरस्निग्वमघुरामतिहृद्यां श्रव सुखाम् ।
निर्वापक कथा कुर्यात् स्मृत्यानयनकारणम् ॥' [ ] ॥७९॥

पूर्वोंमे प्रतिपादित प्रायश्चित्तको श्रुत कहा है। कोई आचार्य समाधि लेना चाहते हैं किन्तु पैरोंमे चलनेकी शक्ति नहीं है, वे देशान्तरमें स्थित किसी प्रायश्चितवेदी अन्य आचार्यके पास अपने तुल्य ज्येष्ठ शिष्यको भेजकर और उसके मुखसे अपने दोषोंकी आलोचना कराकर उनके द्वारा निर्दिष्ट प्रायश्चित्तको यदि स्वीकार करते हैं तो आज्ञा है। वही अशक्त आचार्य दोष लगनेपर वहीं रहते हुए पूर्वमें अवधारित प्रायश्चित यदि करते हैं वह धारणा है। बहत्तर पुरुषोंके स्वरूपको देखकर जो प्रायश्चित्त कहा जाता है वह जीत है। श्वे. टीकाकारोंके अनुसार द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और व्यक्तिके दोपके अनुसार संहनन, सहनशीलता आदिमें कमी देखते हुए जो प्रायश्चित्त दिया जाय वह जीत है। इन पाँचों प्रकारके प्रायश्चित्तमें-से यदि आगम विद्यमान है तो आगमके अनुसार ही प्रायश्चित्त देना चाहिए। आगम न हो तो श्रुतके अनुसार प्रायश्चित्त देना चाहिए। इस तरह क्रमिक ही प्रायश्चित्त देनेका विधान है। आचार्यको इस व्यवहारका ज्ञाता होना चाहिए। तथा आचार्यको समाधि लेने वालेकी सेवामें तत्पर होना चाहिए। जब वह वाहर जाये या वाहरसे अन्दर आये तो उसको हस्तावलम्ब देना चाहिए, उसकी वसतिका, संथरा, उपकरणकी सफाई करनी चाहिए। मलत्यागमे उसके लिए भक्तपानकी व्यवस्थामें सावधान रहना चाहिए। ये सब कार्य बड़े आदर-भक्तिसे करना चाहिए (भग. आ. ४५५-५७)। क्षपकको आचार्यके सामने अपने दोषोंकी आलोचना करनी चाहिए। किन्तु क्षपक अपने दोषोंको कहते हुए सकुचाता है। उसे भय है कि मेरे दोष प्रकट होनेपर सब मेरा निरादर करेंगे या मेरी निन्दा करेंगे। ऐसे समयमे आयापायविद् आचार्य बडी कुशलतासे समझा-बुझाकर उसके गुण-दोषोंको प्रकट कराते है। (भग. आ. ४५९-४७३ गा)। कोई-कोई क्षपक आलोचनाके गुण-दोषोंको जानते हुए भी अपने दोषोंको प्रकट करनेके लिए तैयार नहीं होता। तब उत्पीलक गुणके धारी आचार्य समझा-बुझाकर जबरन दोषोंको वाहर निकालते हैं। जैसे, माता बच्चेकी हितकारिणी होती है वह बच्चेके रोनेपर भी उसका मुख खोलकर दवा पिलाती है वैसे ही आचार्य भी दोषोंको निकालते हैं— (भ. आ. ४७४-४८५ गा.)। जैसे तपा लोहा चारों ओरसे पानीको सोख लेता है वह पानीको वाहर नहीं निकालता। उसी तरह जो आचार्य क्षपकके दोषोंको सुनकर पचा जाते हैं, किसी

---

1 सस्थाया मु. भ. कु. च.।

अथ स्थितिकल्पदशकं गीतिद्वयेन निर्दिशति—

आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोज्झाः ।
३ कृतिकर्मव्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठं पृथुकीर्तिः क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥८०-८१॥

६ आचेलक्यं—वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्र वा । तच्च सयमशुद्धीन्द्रियजय-कपायाभावध्यान-स्वाध्यायनिर्विघ्नता-निर्ग्रन्थत्व-वीतरागद्वेषता - शरीरानादर-स्ववशत्व-चेतोविशुद्धि-प्राकटच-निर्भयत्व-सर्वत्रविश्रब्धत्व-प्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जनविभूषामूर्छा-लाघवतीर्थकराचरितत्वानिगूढ-वलवीर्यताद्यपरिमित-गुणग्रामोप-
९ लम्भात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । एतच्च श्रीविजयाचार्य-विरचित-मूलाराधनाटीकाया सूत्रे विस्तरत. समर्थितं द्रष्टव्यमिह न प्रपञ्च्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमधिजगे—

१२ 'म्लाने क्षालनत कुतः कृतजलाद्यारम्भत संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यत प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोध. समुत्पद्यते
१५ तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवता वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥' [पद्म. पञ्च , १।४१]

दूसरेसे नहीं कहते वे अपरिस्रावी कहलाते है । यदि आचार्य स्वयं अपने साधुओके दोषोंको प्रकट कर उन्हें दूषित करेंगे तो लोक उनकी निन्दा ही करेंगे (गा. ४९५ पर्यंत)। यदि क्षपककी परिचर्यामें त्रुटि हो तो उसको कष्ट होता है, वह क्रुद्ध भी होता है किन्तु निर्वापक गुणके धारी आचार्य मृदुवाणी-सुन्दर हितोपदेशसे उसे प्रसन्न ही रखनेकी चेष्टा करते है (गा ४९६-५२०) इस प्रकार ये आठ गुण आचार्यके होते हैं ॥७८-७९॥

आगे दो पद्योंसे दस स्थितिकल्पोंको कहते हैं—

१ आचेलक्य अर्थात् वस्त्र आदि परिग्रहका अभाव या नग्नता। २ श्रमणोंके उद्देशसे वनाये गये भोजन आदिका त्याग । ३ वसतिको बनानेवाले या उसकी मरम्मत आदि करानेवाले या वहाँके व्यवस्थापकको शय्याधर कहते है । उसके भोजन आदिको ग्रहण न करना । ४ राजाके घरका भोजन ग्रहण न करना । ५ छह आवश्यकोंका पालन । ६ व्रतोंके आरोपणकी योग्यता । ७ ज्येष्ठता । ८ प्रतिक्रमण । ९ एक मास तक ही एक नगरमे वास । १० वर्षाके चार महीनोंमे एक ही स्थान पर वास । ये दस स्थितिकल्प हैं ॥८०-८१॥

विशेषार्थ—आचार्यके छत्तीस गुणोमे दस स्थितिकल्प बतलाये है उन्हींका यह कथन है । भगवती आराधनामे आचार्यके आचारवत्त्व गुणका प्रकारान्तरसे कथन करते हुए इन दस कल्पोका कथन किया है । कहा[1] है जो दस स्थितिकल्पोंमे स्थित है वह आचार्य आचारवत्त्व गुणका धारक है और आठ प्रवचन माताओमे संलग्न है ।

श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमे इन स्थितिकल्पोंका बहुत विस्तारसे वर्णन मिलता है । उनमे इनका आचार्यके आचारवत्त्वसे सम्बन्ध नहीं है । ये तो सर्वसाधारण हैं, शास्त्रोक्त साधु समाचारको कल्प कहते है और उसमे स्थितिको कल्पस्थिति कहते हैं । ये

---

१ 'दसाविहठिदि कप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारव खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥'—भ आ., ४२० गा. ।

तथैव श्रीसोमदेवपण्डितैरप्यवादि—

'विकारे विदुषा दोषो नाविकारानुवर्तने ।
तन्नग्नत्वे निसर्गोत्थे को नाम द्वेषकल्मषः ।। ३
नैष्किञ्चन्यमहिंसा च कुतः संयमिना भवेत् ।
ते सङ्गाय यदीहन्ते वल्कलाजिनवाससाम् ।।' [सोम. उपा., श्लो. १३१–१३२]

औद्देशिकपिण्डोज्झा—श्रमणमुद्दिश्य कृतस्य भक्तादेर्वर्जनम् । शय्याधरपिण्डोज्झा—वसते ६
कारक संस्कारकोऽत्रास्वेति सम्पादकश्चेति त्रय शय्यावरशब्देनोच्यन्ते । तेपामय तत आगतो वा शय्यावर[1]-

---

कल्पस्थिति दस है । इनमेसे चार कल्प तो स्थित हैं और छह अस्थित हैं । १ शय्यातर पिण्डका त्याग, २ व्रत, ३ ज्येष्ठ और कृतिकर्म ये चार अवस्थित हैं । सभी तीर्थंकरोके समयके सभी साधु इन चारोका पालन अवश्य करते है । शेष छह कल्प अस्थित है । अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरोंको छोड़कर शेष बाईस तीर्थंकरोके साधु तथा विदेहके साधु इन्हें पालते भी हैं और नहीं भी पालते । इस तरह श्वेताम्बर परम्परामे इन दस कल्पोका सम्बन्ध आचार्यके आचारवत्त्वके साथ नहीं है ये तो सभी साधुओंके लिये करणीय हैं ।

अब प्रत्येक कल्पका स्वरूप कहते हैं—अचेलकके भावको आचेलक्य कहते हैं । चेल कहते है वस्त्रको, वस्त्रादि परिग्रहका अभाव या नग्नताका नाम आचेलक्य है । प्रत्येक साधुको नग्न ही रहना चाहिए । भगवती आराधना, गा. ४२१ की संस्कृत टीकामे अपराजित सूरिने इसका समर्थन किया है और श्वेताम्बरीय शास्त्रोके आधारसे ही उनकी मान्यताका विरोध दिखलाया है । क्योंकि श्वेताम्बर परम्पराके भाष्यकारो और टीकाकारोंने अचेलका अर्थ अल्प चेल या अल्पमूल्यका चेल किया है । और इस तरहसे नग्नताको समाप्त ही कर दिया है । किन्तु अचेलतामे अनेक गुण हैं । वस्त्रमे पसीनेसे जन्तु पैदा हो जाते हैं और उसके धोनेसे उनकी मृत्यु हो जाती है । अतः वस्त्रके त्यागसे संयममे शुद्धि होती है । शरीरमें उत्पन्न होनेवाले विकारको रोकनेके प्रयत्नसे इन्द्रियजयका अभ्यास होता है । चोरों आदिका भय न होनेसे कषाय घटती है । वस्त्र रखनेसे उसके फट जानेपर नया वस्त्र माँगना होता है या उसे सीनेके लिए सुई माँगनी होती है और इससे स्वाध्याय और ध्यानमे बाधा आती है । वस्त्र आदि परिग्रहका मूल अन्तरग परिग्रह है । वस्त्र त्याग देनेसे अभ्यन्तर परिग्रहका भी त्याग होता है । तथा अच्छे और बुरे वस्त्रोंके त्यागसे राग-द्वेष भी नहीं होते । वस्त्रके अभावमे हवा, धूप, शीत आदिके सहन करनेसे शरीरमे आदरभाव नहीं रहता । देशान्तरमे जानेके लिए किसी सहायककी अपेक्षा न रहनेसे स्वावलम्बन आता है । लँगोटी आदि न रखनेसे चित्तकी विशुद्धि प्रकट होती है । चोरोके मार-पीट करनेका भय न रहनेसे निर्भयता आती है । पासमें हरण करने लायक कुछ भी न रहनेसे विश्वसनीयता आती है । कहा भी है—'वस्त्रके मलिन होनेपर उसके धोनेके लिए पानी आदिका आरम्भ

---

१ र पिण्ड उपलक्षणाद्भक्तो—भ कु च. ।

२. 'सिज्जायरपिंडे या चाउज्जामे य पुरिसजेट्ठे य ।
कितिकम्मस्स य करणे चत्तारि अवट्ठिया कप्पा ।।
आचेलक्कुदेसिय सपडिक्कमणे य रायपिंडे य ।
मास पज्जोसवणा छप्पेतऽणवट्ठिता कप्पा ।।—वृहत्कल्पसूत्र, गा. ६३६१-६२ ।

अथ स्थितिकल्पदशकं गीतिद्वयेन निर्दिशति—

आचेलक्यौद्देशिकशय्याधरराजकीयपिण्डोज्झाः ।
३ कृतिकर्मव्रतारोपणयोग्यत्वं ज्येष्ठता प्रतिक्रमणम् ॥
मासैकवासिता स्थितिकल्पो योगश्च वार्षिको दशमः ।
तन्निष्ठं पृथुकीर्ति क्षपकं निर्यापको विशोधयति ॥८०-८१॥

६ आचेलक्य—वस्त्रादिपरिग्रहाभावो नग्नत्वमात्रं वा । तच्च संयमशुद्धीन्द्रियजय-कषायाभावध्यान-स्वाध्यायनिर्विघ्नता-निर्ग्रन्थत्व-वीतरागद्वेषता - शरीरानादर-स्ववशत्व-चेतोविशुद्धि-प्राकट्य-निर्भयत्व-सर्वत्रविश्वस्तत्व-प्रक्षालनोद्वेष्टनादिपरिकर्मवर्जनविभूषामूर्छा-लाघवतीर्थकराचरितत्वानिगूढ-वलवीर्यताद्यपरिमित-गुणग्रामोप - ९ लम्भात् स्थितिकल्पत्वेनोपदिष्टम् । एतच्च श्रीविजयाचार्य-विरचित-मूलाराधनाटीकायां सूत्रे विस्तरतः समर्थितं द्रष्टव्यमिह न प्रपञ्च्यते ग्रन्थगौरवभयात् । अत एव श्रीपद्मनन्दिपादैरपि सचेलतादूषणं दिङ्मात्रमिदमविजगे—

१२ 'म्लाने क्षालनतः कुतः कृतजलाद्यारम्भतः संयमो
नष्टे व्याकुलचित्तताथ महतामप्यन्यतः प्रार्थनम् ।
कौपीनेऽपि हृते परैश्च झगिति क्रोधः समुत्पद्यते
१५ तन्नित्यं शुचिरागहृच्छमवतां वस्त्रं ककुम्मण्डलम् ॥' [पद्म. पञ्च., १।४१]

दूसरेसे नहीं कहते वे अपरिस्रावी कहलाते हैं। यदि आचार्य स्वयं अपने साधुओंके दोषोंको प्रकट कर उन्हें दूषित करेंगे तो लोक उनकी निन्दा ही करेंगे (गा. ४९५ पर्यंत)। यदि क्षपककी परिचर्यामें त्रुटि हो तो उसको कष्ट होता है, वह क्रुद्ध भी होता है किन्तु निर्वापक गुणके धारी आचार्य मृदुवाणी सुन्दर हितोपदेशसे उसे प्रसन्न ही रखनेकी चेष्टा करते हैं (गा. ४९६-५२०) इस प्रकार ये आठ गुण आचार्यके होते हैं ॥७८-७९॥

आगे दो पद्योंसे दस स्थितिकल्पोंको कहते हैं—

१ आचेलक्य अर्थात् वस्त्र आदि परिग्रहका अभाव या नग्नता। २ श्रमणोंके उद्देशसे बनाये गये भोजन आदिका त्याग। ३ वसतिको बनानेवाले या उसकी मरम्मत आदि करानेवाले या वहाँके व्यवस्थापकको शय्याधर कहते हैं। उसके भोजन आदिको ग्रहण न करना। ४ राजाके घरका भोजन ग्रहण न करना। ५ छह आवश्यकोंका पालन। ६ व्रतोंके आरोपणकी योग्यता। ७ ज्येष्ठता। ८ प्रतिक्रमण। ९ एक मास तक ही एक नगरमें वास। १० वर्षाके चार महीनोंमें एक ही स्थान पर वास। ये दस स्थितिकल्प हैं ॥८०-८१॥

विशेषार्थ—आचार्यके छत्तीस गुणोंमें दस स्थितिकल्प बतलाये हैं उन्हींका यह कथन है। भगवती आराधनामें आचार्यके आचारवत्त्व गुणका प्रकारान्तरसे कथन करते हुए इन दस कल्पोंका कथन किया है। कहा[1] है जो दस स्थितिकल्पोंमें स्थित है वह आचार्य आचारवत्त्व गुणका धारक है और आठ प्रवचन माताओंमें संलग्न है।

श्वेताम्बर परम्पराके आगमिक साहित्यमें इन स्थितिकल्पोंका बहुत विस्तारसे वर्णन मिलता है। उनमें इनका आचार्यके आचारवत्त्वसे सम्बन्ध नहीं है। ये तो सर्वसाधारण हैं, शास्त्रोक्त साधु समाचारको कल्प कहते हैं और उसमें स्थितिको कल्पस्थिति कहते हैं। ये

१. 'दसविहठिदि कप्पे वा हवेज्ज जो सुट्ठिदो सयायरिओ ।
आयारवं खु एसो पवयणमादासु आउत्तो ॥'—भ. आ., ४२० गा. ।

स्त्रीभिर्मैथुनसंज्ञया वाध्यमानाभि पुत्रार्थिनीभिर्वा वलात्तस्य स्वगृहे प्रवेशनमुपभोगार्थम्। विप्रकीर्णरत्नसुवर्णादिकस्यान्यै स्वय चोरितस्य सयत आयात इति तत्र तच्चोरिकाव्यारोपणम्। राजाऽस्य विश्वस्तो राज्यं नाशयिष्यतीति क्रुद्धैरमात्यादिभिर्वधवन्धादिक च स्यात्। तथाऽऽहाराविशुद्धि क्षीरादिविकृतिसेवाऽनर्घ्यरत्नादेर्लोभाच्चोरणं वरस्त्रीदर्शनाद् रागोद्रेको लोकोत्तरविभूतिदर्शनाच्च तन्निदानकरण सभवेत्। एतद्दोपाभावेऽन्यत्रभोजनासंभवे च श्रुतविच्छेदपरिहारार्थं राजपिण्डोऽपि न प्रतिपिध्यते। कृतिकर्म—पडावश्यकानुष्ठानं गुरुणा विनयकरण वा। व्रतारोपणयोग्यत्वम्-अचेलताया स्थित-औद्देशिकादि-पिण्डत्यागोद्यतो गुरुभक्तिमान् विनीतश्च व्रतारोपणयोग्य स्यात्। उक्तं च—

'आचेलक्के य ठिदो उद्देसादीय परिहरदि दोसे।
गुरुभत्तिम विणीदो होदि वदाण स अरिहो दु॥' [ ]

ग्रहण किया है। उसके भोजनादिको राजपिण्ड कहते है। उसके तीन भेद हैं—आहार, अनाहार और उपधि। खाद्य आदिके भेदसे आहारके चार प्रकार है। चटाई, पट्टा वगैरह अनाहार है, पीछी वगैरह उपधि है। इनके ग्रहण करनेमें अनेक दोप है—प्रथम राजभवनमें मन्त्री, श्रेष्ठी, कार्यवाहक आदि वरावर आते-जाते रहते है, भिक्षाके लिए राजभवनमे प्रविष्ट भिक्षुको उनके आने-जानेसे रुकावट हो सकती है। उनके कारण साधुको रुकना पड सकता है। हाथी, घोड़ोंके आने-जानेसे भूमि शोधकर नहीं चल सकता। नंगे साधुको देखकर और उसे अमगल मानकर कोई बुरा व्यवहार कर सकता है, कोई उसे चोर भी समझ सकता है। क्योंकि राजकुलसे यदि कोई चोरी हो जाये तो लोग साधुको उसकी चोरी लगा सकते हैं। कामवेदनासे पीडित स्त्रियाँ वलात् साधुको उपभोगके लिए रोक सकती हैं। राजासे प्राप्त सुस्वादु भोजनके लोभसे साधु अनेपणीय भोजन भी ग्रहण कर सकता है। इत्यादि अनेक दोप हैं। किन्तु जहाँ इस प्रकारके दोपोंकी सम्भावना न हो और अन्यत्र भोजन सम्भव न हो तो राजपिण्ड भी ग्राह्य हो सकता है। पाचवाँ स्थितिकल्प है कृतिकर्म। छह आवश्यकोंका पालनक गुरुजनोंकी विनय कृतिकर्म है। वृहत्कल्पभाष्य (गा ६३९८–६४००) मे कहा है कि चिरकालसे भी दीक्षित साध्वीको एक दिनके भी दीक्षित साधुकी विनय करना चाहिए। क्योंकि सभी तीर्थंकरोंके धर्ममे पुरुपकी ही ज्येष्ठता है, धर्मके प्रणेता तीर्थंकर गणधर आदि पुरुप ही होते हैं। वे ही धर्मकी रक्षा करनेमे भी समर्थ है जो अचेल है, अपने उद्देश्यसे वनाये गये भोजनादिका तथा राजपिण्डका त्यागी है, गुरुभक्त और विनीत है वही व्रतारोपणके योग्य होता है। यह छठा स्थितिकल्प है।

वृहत्कल्प भाष्य (गा ६४०२–७) में कहा है कि प्रथम तीर्थंकर और अन्तिम तीर्थंकरके धर्ममें तो पाँच यम (महाव्रत) थे किन्तु शेप वाईस तीर्थंकरोका धर्म चतुर्याम था। उसमे मैथुन त्यागको परिग्रह त्यागमे ही ले लिया था। इसका कारण वताते हुए कहा है कि भगवान् ऋषभदेवके समयके साधु ऋजुजड थे। इसलिए यदि परिग्रहव्रतमे ही अन्तर्भाव करके मैथुन व्रतका साक्षात् उपदेश न दिया जाता तो वे जड होनेसे यह नही समझ सकते थे कि हमे मैथुन भी छोडना चाहिए। जव पृथक् स्पष्ट रूपसे मैथुनका निपेध किया गया तो उन्होंने सरलतासे उसका त्याग कर दिया। भगवान् महावीरके समयके साधु

१ 'सव्वाहि संजतीहि कितिकम्म सजताण कायव्व।
पुरिसुत्तरितो धम्मो सव्वजिणाण पि तित्थम्मि'॥—वृ. कल्पभाष्य., ६३९९ गा.।

ज्येष्ठता—मातापितृगृहस्थोपाध्यायार्यिकादिभ्यो महत्त्वमनुष्ठानेन वा श्रेष्ठत्वम् ॥८०॥ मासैकवासिता—त्रिंशदहोरात्रमेकत्र ग्रामादौ वसति तद्भवस्तद्व्रते । एकत्र हि चिरावस्थाने उद्गमादिदोषपरि-
३ हाराक्षमत्वं क्षेत्रप्रतिबद्धता शातगुरुत्वालसता सौकुमार्यभावना ज्ञातभिक्षाग्राहिता च दोषा स्युरिति मूलाराधना-टीकायाम् । तट्टिप्पणके तु योगग्रहणादौ योगावसाने च तस्मिन् स्थाने मासमात्र तिष्ठतीति मास नाम नवम स्थितिकल्पो व्याख्यात । उक्त च—

६ 'पडिबंधो लहुयत्तं ण जणुवयारो ण देसविण्णाणं ।
णाणादीण अवुद्धी दोसा अविहारपक्खम्मि ॥' [ ]

योगश्चेत्यादि—वर्षाकालस्य चतुर्पु मासेपु एकत्रैवावस्थानम् । स्थावरजंगमजीवाकुला हि तदा
९ क्षितिरिति तदा भ्रमणे हि महानसयम । वृष्ट्या शीतवातपातेन चात्मविराधना । पतेद्वा वाप्यादिपु, स्थाणु-कण्टकादिभिर्वा प्रच्छन्नैर्जलेन कर्दमेन वा बाध्यते । इति विंशत्यधिकदिवसशतमेकत्रावस्थानमित्ययमुत्सर्ग ।

वक्रजड हैं। अतः मैथुनका साक्षात् निषेध न करने पर यह जानते हुए भी कि परिग्रहमें मैथुन भी आता है, वक्र होनेसे पराई स्त्रीका सेवन कर लेते और पूछने पर कह देते कि यह हमारी परिग्रह नहीं है। इसलिए भगवान् ऋषभ और महावीरने पंचयाम धर्मकी स्थापना की, किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोके साधु ऋजु प्राज्ञ थे। अतः परिग्रहका निषेध कर देनेपर प्राज्ञ (बुद्धिमान् विद्वान्) होनेसे उपदेश मात्रसे ही समस्त हेय उपादेयको समझ लेते थे। अतः उन्होंने विचार किया कि विना ग्रहण किये स्त्रीको नहीं भोगा जा सकता अत. मैथुनका सेवन भी त्याज्य है। इस प्रकार मैथुनको परिग्रहमें अन्तर्भूत करके चतुर्याम धर्मका उपदेश मध्यके बाईस तीर्थंकरोने दिया। सातवाँ कल्प है पुरुषकी ज्येष्ठता। माता, पिता, गृहस्थ, उपाध्याय आदिसे महाव्रती ज्येष्ठ होता है या आचार्य सबसे ज्येष्ठ होते हैं आठवाँ स्थितिकल्प है प्रतिक्रमण। दोप लगनेपर उसका शोधन करना प्रतिक्रमण है। इसका पहले कथन कर आये हैं। जैसे प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर तथा शेष बाईस तीर्थंकरोके समयके साधुओको लक्ष्यमे रखकर श्वेताम्बरीय साहित्यमे पंचयाम और चतुर्याम धर्मका भेद कहा है, वैसा ही भेद प्रतिक्रमणको लेकर भी है और मूलाचारमे भी उसका कथन उसी आधार पर किया गया है। लिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिनका धर्म सप्रतिक्रमण है अर्थात् दोप लगे या न लगे, प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। किन्तु मध्यके बाईस तीर्थंकरोंके समयके साधु दोप लगनेपर ही प्रतिक्रमण करते थे क्योकि वे ऋजुप्राज्ञ थे—सरल और बुद्धिमान् थे। परन्तु प्रथमजिनके साधु ऋजुजड और अन्तिम जिनके साधु वक्रजड हैं। तथा—बृहत्कल्प भाष्य (गाथा ६४२५) मे भी यही कहा है[2]—इसकी टीकामे लिखा है कि प्रथम और अन्तिम जिनके तीर्थमे सप्रतिक्रमण धर्म है—दोनों समय नियमसे छह आवश्यक करने होते हैं। क्योकि उनके साधु प्रमाद बहुल होनेसे शठ होते हैं। किन्तु मध्यम जिनोके तीर्थमे उस प्रकारका अपराध होने पर ही प्रतिक्रमणका विधान है क्योकि उनके साधु प्रमादी नहीं हैं, शठ नहीं है। अस्तु।

१ 'सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स ।
अवराहे पडिकमण मज्झिमयाण जिणवराण' ॥—मूलाचार ७।१२९।

२ 'सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्स इ पच्छिमस्सय जिणस्स ।
मज्झिमयाण जिणाण कारणजाए पडिक्कमण ॥'—[ ]

कारणापेक्षया हीनमधिकं वाऽवस्थानम्। संयतानामापाढशुद्धदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिक-पौर्णमास्यास्त्रिशद्दिवसावस्थानम्। वृष्टिबहुलता श्रुतग्रहण शक्त्यभाव वैयावृत्यकरण प्रयोजनमुद्दिश्यावस्थान-मेकत्रेत्युत्कृष्ट काल। मार्या दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छन्निमित्ते समुपस्थिते देशान्तर याति। अवस्थाने ३ सति रत्नत्रयविराधना भविष्यतीति पौर्णमास्यामापाढ्यामतिक्रान्ताया प्रतिपदादिषु दिनेषु याति यावच्चत्वारो दिवसा। एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एप दशम. स्थितिकल्प इत्याराधनाटीकायाम्। तट्टिपणके तु द्वाभ्या द्वाभ्या मासाभ्या निपिद्धिका द्रष्टव्येति पाद्यो नाम दशम' स्थितिकल्प व्याख्यात। उक्तं च— ६

छह ऋतुओमें एक स्थान पर एक ही मास रहना अन्य समयमें विहार करना यह नौवॉ स्थितिकल्प है। पं आशाधरजीने दसवे कल्पका नाम वार्षिक योग कहा है। वर्षाकालके चार मासोंमे एक ही स्थानपर रहना दसवॉं स्थिति कल्प है क्योंकि वर्षा ऋतुमें पृथ्वी स्थावर और जंगम जीवोंसे भरी होती है। उस समय भ्रमण करनेमे महान् असंयम होता है। इसके साथ ही वर्षासे तथा शीत झंझावातसे अपनी भी विराधना होती है। जलाशय वगैरहमें गिरनेका भय रहता है। पानीमे छिपे ठूँठ कॉटे वगैरहसे भी तथा कीचड़से भी वाधा होती है। इस समयमें एक सौ बीस दिन तक एक स्थानपर रहना चाहिए यह उत्सर्ग है। विशेष कारण होनेपर अधिक और कम दिन भी ठहर सकते हैं। अर्थात् जिन मुनियोने आपाढ शुक्ला दसमीसे चतुर्मास किया है वे कार्तिककी पूर्णमासीके वाद तीस दिन तक आगे भी उसी स्थानपर ठहर सकते है। ठहरनेके कारण हैं वर्षाकी अधिकता, शास्त्राभ्यास, शक्तिका अभाव या किसीकी वैयावृत्य करना। यह ठहरनेका उत्कृष्ट काल है। यदि दुर्भिक्ष पड जाये, महामारी फैल जाये, गॉव या प्रदेशमें किसी कारणसे उथल-पुथल हो जाये तो मुनि देशान्तरमें जा सकते हैं। क्योंकि ऐसी स्थितिमे वहॉ ठहरनेसे रत्नत्रयकी विराधना होगी। इस प्रकार आपाढकी पूर्णमासी वीतनेपर प्रतिपदा आदिके दिन जा सकते हैं।

पं. आशाधरजीने दस कल्पोकी व्याख्या अपनी संस्कृत टीकामें भगवती आराधनाकी अपराजित सूरि कृत टीकाके अनुसार ही की है। किन्तु वर्षावासमे हीन दिनोंके प्रमाणमे दोनोंमें अन्तर है। दोनो लिखते हैं कि आपाढी पूर्णिमा वीतनेपर प्रतिपदादिको जा सकते हैं किन्तु आशाधरजी चार दीन हीन करते है यथा—'पौर्णमास्यामापाढ्यामतिक्रान्ताया प्रतिपदादिपु दिनेपु याति यावच्चत्वारो दिवसाः। एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य।' और अपराजित सूरि वीस दिन कम करते है। यथा—'यावच्च त्यक्ता विंशतिदिवसा एतदपेक्ष्य-हीनता कालस्य।' श्वेताम्बर परम्परामे भी वर्षायोगका उत्कृष्ट काल आपाढ पूर्णिमासे लेकर कार्तिक पर्यन्त चार मास कहा है। और जघन्य काल भाद्र शुक्ला पंचमीसे कार्तिक पूर्णिमा पर्यन्त सत्तर दिनरात कहा है। इसके सिवाय इस दसवे स्थितिकल्पके नाममें भी अन्तर हैं। दस कल्पोंके नामोको वतलानेवाली गाथा दोनों सम्प्रदायोंमे भिन्न नहीं है। उसका अन्तिम चरण है 'मासं पज्जोसवणकप्पो,' श्वेताम्बर परम्पराके अनुसार दसवे कल्पका नाम 'पज्जोसवण' है। इसका संस्कृत रूप होता है 'पर्युषणा कल्प'। अर्थात् साधु जो वर्षायोग करते हैं वह पर्युषणा कल्प है। दिगम्बर परम्परामे इसीसे भाद्रमासके अन्तिम दस दिनोके पर्वको पर्युषण पर्व भी कहा जाता है। किन्तु भगवती आराधना और मूलाचारमें पज्जो और सवणको अलग-अलग मानकर अर्थ किया गया है। भगवती आराधनाके टीकाकार

---

१ 'चाउम्मासुक्कोसे सत्तरिराइदिया जहण्णेण।'—वृ कल्पसूत्र भाष्य-६४३६ गा।

'आचेलक्यौद्देशिकशय्यागृहराजपिण्डकृतिकर्म।
ज्येष्ठव्रतप्रतिक्रममासं पाद्यं श्रमणकल्पः ॥
एतेषु दशसु नित्यं समाहितो नित्यवाच्यताभीरुः ।
क्षपकस्य विशुद्धिमसौ यथोक्तचर्यां समुद्दिशति ॥' [　　　] ॥८१॥

अथ प्रतिमायोगस्थितस्य मुनेः क्रियाविधिमाह—

लघीयसोऽपि प्रतिमायोगिनो योगिनः क्रियाम् ।
कुर्युः सर्वेऽपि सिद्धर्षिशान्तिभक्तिभिरादरात् ॥८२॥

अपराजित सूरिने तो लिखा है—'पज्जो समण कप्पो नाम दशमः,' वर्षाकालस्य चतुर्षु मासेसु एकत्रैवावस्थानं भ्रमणत्यागः। इनके अर्थमें भेद नहीं है। किन्तु इससे आगेके ग्रन्थकारोंने दसवे कल्पका नाम केवल 'पज्जो' ही समझ लिया। पं. आशाधरजीने अपनी मूलाराधनामे 'पज्जो'का ही अर्थ वर्षाकालके चार मासोंमे एक जगह रहना किया है। किन्तु यह पूरा अर्थ 'पज्जोसवण'से निष्पन्न होता है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'वस्'से प्राकृतका पज्जोसवण शब्द बना है। मूलाचारके टीकाकार वसुनन्दि आचार्यने 'मासं पज्जो'का विचित्र ही अर्थ किया है—'मासो योगग्रहणात् प्राङ्मासमात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षाकाले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यम्।' अर्थात् 'वर्षायोग ग्रहण करनेसे पहले एक मास ठहरना चाहिए। उसके बाद वर्षाकाल आनेपर योग ग्रहण करना चाहिए। तथा योगको समाप्त करके एक मास ठहरना चाहिए।'

ऐसा क्यो करना चाहिए यह बतलाते हुए वह लिखते हैं—लोगोंकी स्थिति जाननेके लिए और अहिंसा आदि व्रतोंके पालनेके लिए वर्षायोगसे पहले एक मास ठहरना चाहिए और वर्षायोग बीतनेपर भी एक मास और ठहरना चाहिए जिससे श्रावक लोगोको मुनि वियोगका दुःख न हो। आगे अथवा देकर दूसरा अर्थ करते हैं कि प्रत्येक ऋतुमे एक-एक मास मात्र ठहरना चाहिए और एक मास विहार करना चाहिए। यह मास नामक श्रमण कल्प है। इसके बाद अथवा करके तीसरा अर्थ करते है—अथवा वर्षाकालमे योग ग्रहण करना और चार-चार मासमे नन्दीश्वर करना यह मास श्रमणकल्प है।

इस तरह वसुनन्दिजीने दसवे कल्पका जो अर्थ है उसे नवम कल्पका ही अर्थ मान लिया है। अब दसवेका अर्थ करते हैं—'पज्जो—पर्या पर्युपासनं निपद्यकायाः पञ्चकल्याण-स्थानानां च सेवनं पर्युत्युच्यते, श्रमणस्य श्रामणस्य वा कल्पो विकल्पः श्रमणकल्पः।' अर्थात् 'पज्जो' का संस्कृत रूप होता है 'पर्या'। उसका अर्थ है अच्छी तरह उपासना करना अर्थात् निपद्याओका और पंचकल्याण स्थानोंका सेवन करना। यह पज्जो नामक श्रमणोंका कल्प है। इस तरह 'पज्जोसवणकप्पो' मे-से पज्जोको अलग करके और 'सवण'को श्रमण मानकर दसवे कल्पके नामका विपर्यास हो गया है।

पं. आशाधरजी तो वसुनन्दिके पश्चात् हुए है किन्तु उन्होने मासकल्पका अर्थ आगमानुकूल ही किया है। तथा दसवे कल्पका नाम योग अर्थात् वर्षायोग रख दिया है। इस तरह वसुनन्दी आचार्यकी तरह उनके अभिप्रायमें अन्तर नहीं है ॥८०-८१॥

आगे प्रतिमायोगसे स्थित मुनिकी क्रियाविधि कहते हैं—

दिन-भर सूर्यकी तरफ मुख करके कायोत्सर्गसे स्थित रहनेको प्रतिमायोग कहते है। प्रतिमायोग धारण करनेवाला साधु यदि दीक्षामे लघु हो, तब भी सभी अन्य साधुओंको

प्रतिमायोगिनः—दिनं यावदभिसूर्यं कायोत्सर्गावस्थायिन. । सर्वेऽपि—श्रमणा. । उक्त च—

'प्रतिमायोगिनः साधो' सिद्धानागारशान्तिभिः ।
विधीयते क्रियाकाण्ड सर्वसंघै. सुभक्तितः ॥' ॥८२॥ ३

अथ दीक्षाग्रहणलुञ्चनक्रियाविधिमाह—

सिद्धयोगिबृहद्भक्तिपूर्वकं लिङ्गमर्प्यताम् ।
लुञ्चाख्यानाग्न्यपिच्छात्म क्षम्यतां सिद्धभक्तितः ॥८३॥ ६

अर्प्यतां—आरोप्यताम् । आख्या—नामकरणम् । क्षम्यता—लिङ्गार्पणविधान समाप्यताम् ॥८३॥

अथ दीक्षादानोत्तरकर्तव्य पद्ययुगलेनाह—

व्रतसमितीन्द्रियरोधाः पञ्च पृथक् क्षितिशयो रदाघर्षः । ९
स्थितिसकृदशने लुञ्चावश्यकषट्के विचेलताऽस्नानम् ॥
इत्यष्टाविंशति मूलगुणान् निक्षिप्य दीक्षिते ।
संक्षेपेण सशीलादीन् गणी कुर्यात् प्रतिक्रमम् ॥८४-८५॥ १२

पञ्च पृथक्—पञ्च पञ्चेत्यर्थ । रदाघर्ष —अदन्तधावनम् ।

स्थितिसकृदशने—उद्भोजित्वमेकभक्तं चेत्यर्थ. । अस्नान—जलावगाहनोद्वर्तनाद्यभाव. ॥८४॥

आदरके साथ सिद्धभक्ति, योगिभक्ति और शान्तिभक्तिपूर्वक उनकी क्रियाविधि करनी चाहिए ॥८२॥

आगे दीक्षाग्रहण और केशलोंचकी क्रियाविधि कहते हैं—

केशलोंच, नामकरण, नग्नता और पीछी ये ही जिनलिंगके रूप है । अर्थात् मुनिदीक्षा धारण करते समय केशलोच करना होता है, वस्त्रका सर्वथा त्याग करना होता है, नवीन नाम रखा जाता है तथा पीछी-कमण्डलु लिया जाता है । ये सव जिनलिग है । ये लिंग बृहत् सिद्ध भक्ति और बृहत् योगिभक्तिपूर्वक देना चाहिए और सिद्धभक्तिके साथ लिगदानके इस विधानको समाप्त करना चाहिये ॥८३॥

दीक्षादानके वादकी क्रिया दो गाथाओंसे कहते हैं—

पॉच महाव्रत, पॉच समिति, पॉचो इन्द्रियोंको वशमें करना, पृथ्वीपर सोना, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन करना तथा दिनमे एक ही वार भोजन करना, केशलोंच, छह आवश्यक, वस्त्र मात्रका त्याग और स्नान न करना ये अट्ठाईस मूलगुण हैं । तथा चौरासी लाखगुण और अठारह हजार शील है । दीक्षा देनेवाले आचार्यको दीक्षित साधुमे संक्षेपसे इन उत्तरगुणों और शीलोके साथ अट्ठाईस मूलगुणोंकी स्थापना करनेके वाद प्रतिक्रमण करना चाहिए ॥८४-८५॥

विशेपार्थ—साधु जीवन वड़ा पवित्र जीवन होता है । उसके इस मानदण्डको वनाये रखनेके लिए साधु जीवनमें प्रवेश करनेवालोंसे कुछ वैशिष्ट्यकी अपेक्षा की जाती है । इसलिए कुछ व्यक्तियोंको साधु वननेके अधिकारसे वचित रखा गया है—वाल, वृद्ध, नपुंसक, रोगी, अंगहीन, डरपोक, वुद्धिहीन, डाकू, राजशत्रु, पागल, अन्ध, दास, धूर्त, मूढ, कर्जदार, भागा हुआ, गर्भिणी, प्रसूता । वौद्ध महावग्गमे भी सैनिक, रोगी, चोर, जेल तोडकर भागनेवाला, डाकू, कर्जदार, दास और तपे लोहेसे दागे हुए व्यक्तिको संघसे सम्मिलित करनेका अनधिकारी कहा है। प्रवचनसारके चारित्राधिकारमें कहा है कि यदि दुःखसे छूटना चाहते हो तो मुनिधर्मको स्वीकार करो। जो मुनिधर्म स्वीकार करना चाहता है

प्रतिक्रम—व्रतारोपणप्रतिक्रमणम् । तस्मिन्नेव दिने सूरि' कुर्यात् । सुलग्नाद्यभावे कतिपयदिवसव्यवधानेऽपि ॥८५॥

३ अथान्यद्यतनलोचकालक्रियानुष्ठाननिर्णयार्थमाह—

लोचो द्वित्रिचतुर्मासैर्वरो मध्योऽधमः क्रमात् ।
लघुप्राग्भक्तिभिः कार्यः सोपवासप्रतिक्रमः ॥८६॥

६ लघुप्राग्भक्तिभिः—लघुसिद्धयोगिभक्तिभ्यां प्रतिष्ठाप्य लघुसिद्धभक्त्या निष्ठाप्य' इत्यर्थः । उक्तं च—

'लोचो द्वित्रिचतुर्मासि' सोपवासप्रतिक्रमः ।
९ लघुसिद्धर्षिभक्त्यान्यः क्षम्यते सिद्धभक्तितः ॥' [ ] ॥८६॥

अथादिमान्तिमतीर्थकरावेव व्रतादिभेदेन सामायिकमुपदिशत स्म नाजितादयो द्वाविंशतिरिति सहेतुकं व्याचष्टे—

१२ **दुःशोधमृजुजडैरिति पुरुरिव वीरोऽदिशद्व्रतादिभिदा ।**
दुष्पालं वक्रजडैरिति साम्यं नापरे सुपटु शिष्याः ॥८७॥

उसे सबसे प्रथम परिवारसे पूछना चाहिए और जब माता-पिता, पत्नी-पुत्र आदि मुक्त कर दें तो किसी गुणसम्पन्न विशिष्ट कुलरूप और वयसे युक्त आचार्यके पास जाकर प्रार्थना करे। उनकी अनुज्ञा मिलनेपर वह विधिपूर्वक दीक्षा लेकर नग्न दिगम्बर हो जाता है। वह अन्तरंग और बाह्यलिंग धारण करके गुरुको नमस्कार करके उनसे सर्वसावद्य योगके त्यागरूप एक महाव्रतको जानकर अट्ठाईस मूलगुणपूर्वक सामायिक संयमको धारण करके श्रमण बन जाता है। श्वे. ज्ञाताधर्मकथा नामक अंगमें दीक्षाविधिका विस्तारसे वर्णन मिलता है ॥८४-८५॥

मुनिदीक्षाके समय तो केशलोंच किया ही जाता है। उसके बाद केशलोचका काल और क्रियाविधि कहते हैं—

केशलोचके तीन प्रकार हैं—उत्कृष्ट, मध्यम और अधम। जो दो माहके बाद किया जाता है वह उत्कृष्ट है। तीन मासके बाद किया जाये तो मध्यम और चार मासके बाद किया जाये तो अधम है। यह अवश्य करना चाहिए। इसका प्रारम्भ लघु सिद्धभक्ति और लघु योगिभक्ति पूर्वक होता है और समाप्तिपर लघु सिद्धभक्ति की जाती है। तथा उस दिन उपवास और केशलोंच सम्बन्धी क्रियाका प्रतिक्रमण भी करना चाहिए ॥८६॥

विशेषार्थ—श्वेताम्बर साहित्यमें भी लोंचके सम्बन्धमें ऐसा ही विधान पाया जाता है ॥८६॥

आगे कहते हैं कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने ही व्रतादिके भेदसे सामायिकका उपदेश दिया, अजितनाथ आदि बाईस तीर्थंकरोंने नहीं तथा उसका कारण भी कहते हैं—

भगवान् आदिनाथके शिष्य ऋजुजड थे अर्थात् सरल होनेपर भी अज्ञानी थे अतः वे भेद किये बिना साम्यभावरूप सामायिक चारित्रको नहीं समझ सकते थे। इसलिए भगवान् आदिनाथने भेदरूप सामायिक संयमका उपदेश दिया। भगवान् महावीरके शिष्य वक्रजड थे, अज्ञानी होनेके साथ हृदयके सरल नहीं थे अतः भगवान् महावीरने भी भगवान् आदिनाथकी तरह ही भेद सहित सामायिक चारित्रका उपदेश किया। किन्तु मध्यके बाईस

पुरुरिव—आदिनाथो यथा। सुपटुशिष्याः—ऋजुवक्रजडत्वाभावात् सुष्ठु पटवो शिष्या येषाम् ॥८७॥

अथ जिनमुद्रायोग्यतास्थापनामुपदिशति— ३

सुदेशकुलजात्यङ्गे ब्राह्मणे क्षत्रिये विशि ।
निष्कलङ्के क्षमे स्थाप्या जिनमुद्रार्चिता सताम् ॥८८॥

निष्कलङ्के—ब्रह्महत्याद्यपवादरहिते। क्षमे—बालत्ववृद्धत्वादिरहिते। उक्तं च— ३

'ब्राह्मणे क्षत्रिये वैश्ये सुदेशकुलजातिजे ।
अर्हंत. स्थाप्यते लिङ्गं न निन्द्यबालकादिषु ॥
पतितादेर्न सा देया जैनीमुद्रा बुधार्चिता । ९
रत्नमाला सता योग्या मण्डले न विधीयते ॥

तीर्थंकरोंके शिष्य सरल होनेके साथ बुद्धिमान् थे। सामायिक कहनेसे समझ जाते थे। अत. बाईस तीर्थंकरोंने व्रतादिके भेदपूर्वक सामायिकका कथन नहीं किया ॥८७॥

विशेषार्थ—असलमें सर्व सावद्य योगके प्रत्याख्यानरूप एक महाव्रतके ही भेद अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह हैं और उसीके परिकर पाँच समिति आदि शेष मूलगुण हैं। इस तरह ये निर्विकल्प सामायिक संयमके ही भेद हैं। जब कोई मुनिदीक्षा लेता है तो निर्विकल्प सामायिक संयम ही पर आरूढ होता है। किन्तु अभ्यास न होनेसे जब उससे च्युत होता है तब वह भेदरूप व्रतोंको धारण करता है और वह छेदोपस्थापक कहलाता है। इस छेदोपस्थापना चारित्रका उपदेश केवल प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरने ही दिया क्योंकि प्रथम तीर्थंकरके साधु अज्ञानी होनेसे और अन्तिम तीर्थंकरके साधु अज्ञानी होनेके साथ कुटिल होनेसे निर्विकल्प सामायिक संयममें स्थिर नहीं रह पाते थे तब उन्हें व्रतोंको छेदकर दिया जाता है। कहा है—बाईस तीर्थंकर केवल सामायिक संयमका ही उपदेश करते हैं किन्तु भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर छेदोपस्थापनाका भी कथन करते हैं ॥८७॥

जिनलिंग धारण करनेकी योग्यता बतलाते हैं—

जिनमुद्रा इन्द्रादिके द्वारा पूज्य है। अत धर्माचार्योंको प्रशस्त देश, प्रशस्त वंश और प्रशस्त जातिमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको, जो निष्कलंक है, ब्रह्महत्या आदिका अपराधी नहीं है तथा उसे पालन करनेमें समर्थ है अर्थात् बाल और वृद्ध नहीं है उसे ही जिनमुद्रा प्रदान करना चाहिए। वही साधु पदके योग्य है ॥८८॥

विशेषार्थ—जिनमुद्राके योग्य तीन ही वर्ण माने गये है—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। आचार्य सोमदेवने भी ऐसा ही कहा है—आचार्य जिनसेनने कहा है—जिसका कुल और

---

१. ब्राह्मणहत्याद्यपराधरहिते भ कु. च ।

२ 'बावीस तित्थयरा सामायिय संजम उवदिसंति ।
छेदुवठावणियं पुण भयव उसहो य वीरो य' ॥—मूलाचार ७।३६

३ 'विशुद्धकुलगोत्रस्य सद्वृत्तस्य वपुष्मत ।
दीक्षायोग्यत्वमाम्नात सुमुखस्य सुमेधस.' ॥—महापु ३९।१५८

न कोमलाय बालाय दीयते व्रतमर्चितम् ।
न हि योग्ये महोक्षस्य भारे वत्सो नियोज्यते ॥' [ ]

न च मुमुक्षूणा दीक्षादानादिक विरुध्यते । सरागचरिताना तद्विधानात् ।

यदाह—

गोत्र विशुद्ध है, चारित्र उत्तम है, मुख सुन्दर है और बुद्धि सन्मार्गकी ओर है ऐसा पुरुष ही दीक्षा ग्रहणके योग्य है ।

पिताकी अन्वय शुद्धिको कुल और माताकी अन्वय शुद्धिको जाति कहते हैं । अर्थात् जिसका मातृकुल और पितृकुल शुद्ध है वही ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य दीक्षाका पात्र माना गया है । केवल जन्मसे ब्राह्मण आदि होनेसे ही दीक्षाका पात्र नही होता । कहा है—जाति, गोत्र आदि कर्म शुक्लध्यानके कारण है । जिनमे वे होते हैं वे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य कहे जाते हैं । शेष सब शूद्र है' कुल और जातिके साथ सुदेशमे जन्मको भी जिनदीक्षाके योग्य बतलाया है । जैनसिद्धान्तमे भरतक्षेत्रको दो भागोंमें विभक्त किया है—कर्मभूमि और अकर्मभूमि । जिनमुद्राका धारण कर्मभूमिमे ही होता है अकर्मभूमिमें नही, क्योंकि वहाँ धर्म-कर्मकी प्रवृत्तिका अभाव है । किन्तु अकर्मभूमिज मनुष्यके संयम माना है । यह कैसे सम्भव है ? इस चर्चाको जयधवलासे दिया जाता है—उसमे कहा है—'कम्मभूमियस्स' ऐसा कहनेसे पन्द्रह कर्मभूमियोंके मध्यके खण्डोमें उत्पन्न हुए मनुष्यका ग्रहण करना चाहिए । भरत, ऐरावत और विदेह क्षेत्रोंमे विनीत नामवाले मध्य खण्डको छोड़कर शेष पाँच खण्डोमें रहनेवाला मनुष्य यहाँ अकर्मभूमिया कहा गया है क्योकि इन खण्डोंमें धर्म-कर्मकी प्रवृत्ति असम्भव होनेसे अकर्मभूमिपना बनता है । शंका—यदि ऐसा है तो वहाँ संयमका ग्रहण कैसे सम्भव है ? समाधान—ऐसी शंका करना ठीक नहीं है । क्योकि दिग्विजय करनेमें प्रवृत्त चक्रवर्तीकी सेनाके साथ जो म्लेच्छ राजा मध्यम खण्डमें आ जाते हैं और वहाँ चक्रवर्ती आदिके साथ जिनका वैवाहिक सम्बन्ध हो जाता है उनके संयम ग्रहण करनेमें कोई विरोध नहीं है । अथवा उनकी जो कन्याएँ चक्रवर्ती आदिके साथ विवाही जाती है उनके गर्भसे उत्पन्न बालक यहाँ मातृपक्षकी अपेक्षा अकर्मभूमियाँ कहे गये है । इसलिए कोई विरोध नहीं है क्योकि इस प्रकारके मनुष्योके दीक्षा योग्य होनेमे कोई निषेध नहीं है ।

इस तरह म्लेच्छ कन्याओंसे उत्पन्न कर्मभूमिज पुरुषोंको भी दीक्षाके योग्य माना गया है । किन्तु उनका कुल आदि शुद्ध होना चाहिए । कहा भी है—उत्तम देश, कुल और

१. जाति-गोत्रादि-कर्माणि शुक्लध्यानस्य हेतव ।
येषु ते स्युस्त्रयो वर्णा. शेषा शूद्रा प्रकीर्तिता ॥—महापु ७४।४९३

२. 'कम्मभूमियस्से ति वुत्ते पण्णरस कम्मभूमीसु मज्झिम-खड समुप्पण्णस्स गहणं कायव्वं । को अकम्मभूमिओ णाम ? भरहेरावयविदेहेसु विणीद-सण्णिद-मज्झिमखड मोत्तूण सेसपचखडनिवासी मणुओ एत्थाकम्मभूमिओ त्ति विवक्खिओ, तेसु धम्मकम्म पवुत्तीए असभवेण तब्भावोववत्तीदो । जइ एव कुदो तत्थ सजमग्गहण संभवोत्ति णासकणिज्ज, दिसाविजयपयट्ट-चक्कवट्टि खधावारेण सह मज्झिम खडमागयाण मिलेच्छरायाण तत्थ चक्कवट्टिआदीहि सहजादवेवाहियसवधाणं सजमपडिवत्तीए विरोहाभावादो । अथवा तत्कन्यकाना चक्रवर्त्यादिपरिणीताना गर्भेषूत्पन्नमातृपक्षापेक्षया स्वयमकर्मभूमिजा इतीह विवक्षिता । ततो न किंचिद् विप्रतिषिद्ध, तथाजातीयकाना दीक्षार्हत्वे प्रतिषेधाभावात् ।'

'दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं।
चरिया हि सरायाण जिणिंदपूजोवएसो य ॥' [प्रवचनसार ३।४८] ॥८८॥

अथ महाव्रतविहीनस्य केवलेनैव लिङ्गेन दोषविशुद्धिर्न स्यादिति दृष्टान्तेन स्पष्टयति— ३

महाव्रतादृते दोषो न जीवस्य विशोध्यते।
लिङ्गेन तोयादूषेण वसनस्य यथा मलः ॥८९॥

स्पष्टम् ॥८९॥ ६

अथ लिङ्गयुक्तस्य व्रत कषायविशुद्धये स्यादिति निदर्शनेन दृढयति—

मृद्यन्त्रकेण तुष इव दलिते लिङ्गग्रहेण गार्हस्थ्ये।
मुशलेन कणे कुण्डक इव नरि शोध्यो व्रतेन हि कषायः ॥९०॥ ९

कणे—कलमादिधान्यशे। कुण्डकः—अन्तर्वेष्टनमल.। शोध्य —शोधयितु शक्य ॥९०॥

जातिमे जन्मे हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यको जिनलिंग धारण कराया जाता है, निन्दनीय पुरुषों और बालकोंको नहीं। विद्वानोंसे पूजनीय जिनमुद्रा पतित जनोंको नही देना चाहिए। सत्पुरुषोंके योग्य रत्नमालाको कुत्तेके गलेमें नही पहनाया जाता। पूजनीय जिनलिंग कोमल-मति बालकको नहीं दिया जाता। उत्तम बैलके योग्य भारको वहन करनेमें बछड़ेको नहीं लगाया जाता। शायद कोई कहे कि मुमुक्षुओंको दीक्षा देना आदि कार्य विरुद्ध पड़ता है क्योंकि जो मुमुक्षु हैं उन्हें इन बातोसे क्या प्रयोजन। उसे तो मात्र आत्महितमें ही लगना चाहिए। किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो मुमुक्षु मुनिपद धारण करके भी कषायका लेश जीवित होनेसे शुद्धोपयोगकी भूमिकापर आरोहण करनेमे असमर्थ होते है वे शुद्धोपयोग-की भूमिकाके पासमे निवास करनेवाले शुभोपयोगी भी मुनि होते हैं क्योंकि शुभोपयोग-का धर्मके साथ एकार्थ समवाय है। अतः शुभोपयोगियोंके भी धर्मका सद्भाव होता है। शुभोपयोगी मुनि दीक्षा दान आदि करते हैं। कहा है—दूसरोंपर अनुग्रह करनेकी इच्छापूर्वक सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानके उपदेशमे प्रवृत्ति, शिष्योके संग्रहमे प्रवृत्ति, उनके पोषणमें प्रवृत्ति और जिनेन्द्रकी पूजाका उपदेश ये शुभोपयोगी श्रमणोंकी चर्या हैं। किन्तु शुभोपयोगी श्रमण जो भी प्रवृत्ति करता है वह सर्वथा संयमके अविरोधपूर्वक ही करता है क्योंकि प्रवृत्ति संयमके लिए ही की जाती है ॥८८॥

आगे कहते हैं कि जो महाव्रतोंका आचरण नहीं करता उसके दोषोंकी विशुद्धि केवल जिनलिंग धारणसे नहीं होती—

जैसे, जलके विना केवल खारी मिट्टीसे वस्त्रका मैल दूर नहीं होता, उसी प्रकार महाव्रतका पालन किये विना केवल बाह्य लिंगसे अर्थात् नग्न रहने, केशलोंच करने आदिसे जीवके रागादि दोष दूर नहीं होते ॥८९॥

किन्तु जैसे केवल बाह्य चिह्न धारण करनेसे दोषोंकी विशुद्धि नहीं होती, वैसे ही बाह्य लिंगके विना केवल महाव्रतसे भी दोषोंकी विशुद्धि नहीं होती। किन्तु लिंगसे युक्त व्रतसे ही दोषोंकी विशुद्धि होती है, यह आगे दृष्टान्त द्वारा कहते है—

जैसे मिट्टीसे बने यन्त्र-विशेषसे जब धानके ऊपरका छिलका दूर कर दिया जाता है तब उसके भीतरकी पतली झिल्लीको मूसलसे छड़कर दूर किया जाता है। उसी तरह व्रतको

---

१. 'दसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसण तेसिं।
चरिया हि सरागाण जिणिदपूजोवदेसो य ॥'—प्रवचनसार, २४८ गा.।

अथ भूमिशयनविधानमाह—

अनुत्तानोऽनवाङ् स्वप्याद् भूदेशेऽसंस्तृते स्वयम् ।
३ स्वमात्रे संस्तृतेऽल्पं वा तृणादिशयनेऽपि वा ॥९१॥

अनवाङ्—अनधोमुखः अन्यथा स्वप्नदर्शनरेतश्च्यवनादिदोषाम्नायात् । स्वप्यात्—दण्डवद् धनुर्वद्वा एकपार्श्वेन शयीतेत्यर्थ । अल्प—गृहस्थादियोग्य प्रच्छादनरहित इत्यर्थ. । तृणादि—आदिशब्देन काष्ठ ६ शिलादिशयने । तत्रापि भूमिप्रदेशवदसंस्तृतेऽल्पसस्तृते वा ।

उक्त च—

'फासुयभूमिपदेसे अप्पमसथारिदम्हि पच्छण्णे ।
९ दंडधणुव्व सेज्जं खिदिसयण एयपासेण ॥' [मूलाचार गा. ३२] ॥९१॥

अथ स्थितिभोजनविधिकालावाह—

तिस्रोऽपास्याद्यन्तनाडीर्मध्येऽन्ह्याद्यात् स्थितः सकृत् ।
१२ मुहूर्तमेकं द्वौ त्रीन्वा स्वहस्तेनानपाश्रयः ॥९२॥

अनपाश्रय.—भित्तिस्तम्भाद्यवष्टम्भरहित । उक्तं च—

'उदयत्थमणे काले णालीतियवज्जियम्हि मज्झम्हि ।
१५ एकम्हि दुय तिए वा मुहुत्तकालेयभत्त तु ॥

प्रकट करनेवाले वाह्य चिह्नोंको स्वीकार करनेसे जब गार्हस्थ्य अवस्थाको दूर कर दिया जाता है तव व्रतोंको धारण करनेसे कषायको दूर किया जाता है । अर्थात् गृहस्थ अवस्थामें ही रहते हुए महाव्रतका धारण नहीं हो सकता । अत बाह्य लिंग पूर्वक व्रत धारणसे ही आत्माकी विशुद्धि हो सकती है ॥९०॥

आगे भूमिपर सोनेकी विधि कहते हैं—

साधुको तृण आदिके आच्छादनसे रहित भूमिप्रदेशमे अथवा अपने द्वारा मामूली-सी आच्छादित भूमिमे, जिसका परिमाण अपने शरीरके बराबर हो, अथवा तृण आदिकी शय्यापर, न ऊपरको मुख करके और न नीचेको मुख करके सोना चाहिए ॥९१॥

विशेषार्थ—साधुके अट्ठाईस मूल गुणोंमे एक भूमिशयन मूल गुण है उसीका स्वरूप यहाँ वतलाया है । भूमि तृण आदिसे ढकी हुई न हो, या शयन करनेवालेने स्वयं अपने हाथसे भूमिपर मामूली-सी घास आदि डाल ली हो और वह भी अपने शरीर प्रमाण भूमिमे ही या तृण, काठ और पत्थरकी वनी शय्यापर साधुको सोना चाहिए । किन्तु न तो ऊपरको मुख करके सीधा सोना चाहिए और न नीचेको मुख करके एकदम पेटके वल सोना चाहिए, क्योंकि इस तरह सोनेसे स्वप्नदर्शन तथा वीर्यपात आदि दोषोकी सम्भावना रहती है । अत. एक करवटसे या तो दण्डकी तरह सीधा या धनुषकी तरह टेढा सोना चाहिए । मूलाचार (गाथा ३२) मे भी ऐसा ही विधान है । उसे करवट नहीं बदलना चाहिए ॥९१॥

खड़े होकर भोजन करनेकी विधि और कालका प्रमाण कहते हैं—

दिनके आदि और अन्तकी तीन-तीन घड़ी काल छोड़कर, दिनके मध्यमे खड़े होकर और भींत, स्तम्भ आदिका सहारा न लेकर एक वार एक, दो या तीन मुहूर्त तक अपने हाथसे भोजन करना चाहिए ॥९२॥

विशेषार्थ—साधुके अट्ठाईस मूलगुणोमे एक मूलगुण स्थिति भोजन है और एक मूल गुण एक भक्त है । यहाँ इन दोनोंका स्वरूप मिलाकर कहा है । किन्तु मूलाचारमे दोनोका

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइविवज्जणेण समपायं।
पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम ॥' [मूलाचार गा. ३५, ३४]

अत्रेय टीकोक्ता विशेषव्याख्या लिख्यते—'समपादाञ्जलिपुटाभ्या न सर्वं एकभक्तकालस्त्रिमुहूर्तमात्रोऽपि विशिष्यते किन्तु भोजनं मुनेर्विशिष्यते। तेन त्रिमुहूर्तकालमध्ये यदा यदा भुङ्क्ते तदा तदा समपाद कृत्वाञ्जलिपुटेन भुञ्जीत। यदि पुनर्भोजनक्रियाया प्रारब्धाया समपादौ न विशिष्यते अञ्जलिपुटं च न विशिष्यते हस्तप्रक्षालने कृतेऽपि तदानी जानूपरिव्यतिक्रमो योऽयमन्तराय. पठितः स न स्यात्। नाभेरधो निर्गमन योऽन्तराय' सोऽपि न स्यात्। अतो ज्ञायते त्रिमुहूर्तमध्ये एकत्र भोजनक्रिया प्रारम्य केनचित् कारणान्तरेण हस्तौ प्रक्षाल्य मौनेनान्यत्र गच्छेद् भोजनाय यदि पुन. सोऽन्तरायो भुञ्जानस्यैकत्र भवतीति मन्यते जानूव्यतिक्रमविशेषणमनर्थक स्यात्। एवं विशेषणमुपादीयेत। समपादयोर्मनागपि चलितयोरन्तराय स्यात्। नाभेरधो निर्गमन दूरत एव न सम्भवतीति। अन्तरायपरिहारार्थमनर्थकं ग्रहणं स्यात्। तथा पादेन किञ्चिद्ग्रहणमित्येवमादीन्यन्तरायस्यापकानि सूत्राणि अनर्थकानि स्यु'। तथाञ्जलिपुटं यदि न भिद्यते करेण किंचिद् ग्रहणमन्तरायस्य विशेषणमनर्थक स्यात्। गृह्णातु वा मा वा अञ्जलिपुटभेदेनान्तराय स्यादित्येवमुच्यते। तथा जान्वधःपरामर्श सोऽप्यन्तरायस्य विशेषण न स्यात्। एवमन्येऽप्यन्तराया. न स्युरिति ॥९२॥

स्वरूप दो गाथाओंसे पृथक्-पृथक् कहा है। और टीकाकारने अपनी टीकामें विस्तारसे प्रकाश डाला है वह यहाँ लिखा जाता है। पहले स्थिति भोजनका स्वरूप कहा है—जिस भूमि-प्रदेशपर आहार लेनेवाला खड़ा हो, जिस भूमि-प्रदेशपर आहार देनेवाला खड़ा हो और उन दोनोंके बीचका जो भूमि-प्रदेश है जिसपर जूठन गिरती है ये तीनों भूमि-प्रदेश जीव हिंसा आदिसे रहित होने चाहिए। ऐसे परिशुद्ध भूमि-प्रदेशपर भीत आदिका सहारा न लेते हुए दोनों पैरोंके मध्यमें चार अंगुलका अन्तर रखते हुए खड़े होकर अपने हाथोंकी अंजलि बनाकर जो भोजन किया जाता है उसे स्थिति भोजन नामक व्रत कहते हैं। एक भोजनका काल तीन मुहूर्त है। किन्तु साधु तीन मुहूर्त तक समपाद होकर अंजलिपुटके साथ खड़ा नहीं रहता। इसका सम्बन्ध भोजनके साथ है। अतः तीन मुहूर्त कालमें जब साधु भोजन करता है तब दोनो पैरोंको बराबर रखकर अंजलिपुटसे भोजन करता है। यदि समपाद और अंजुलिपुट भोजनके विशेषण न हों तो भोजनकी क्रिया प्रारम्भ होनेपर हाथ धो लेनेपर जो जानुपरिव्यतिक्रम और नाभिअधोनिर्गमन नामक अन्तराय कहा है वे नहीं हो सकते। इससे ज्ञात होता है कि तीन मुहूर्तके भीतर एक जगह भोजनकी क्रिया प्रारम्भ करनेपर हाथ धोनेपर किसी कारणवश भोजनके लिए मुनि मौनपूर्वक अन्यत्र जाता है तभी उक्त दोनों अन्तराय हो सकते हैं। यदि यह अन्तराय एक ही स्थानपर भोजन करते हुए होता है ऐसा मानते हो तो जानूपरिव्यतिक्रम—अर्थात् घुटने प्रमाण ऊँची किसी वस्तुको लांघकर जाना—विशेषण व्यर्थ होता है। तब ऐसा कहना चाहिए था यदि दोनों समपाद किंचित् भी चलित हो जायें तो भोजनमें अन्तराय होता है। इसी तरह नाभिसे नीचे होकर निकलना अन्तराय भी भोजन करते समय सम्भव नहीं है। अत. उसका भी ग्रहण व्यर्थ होता है। तथा 'पैरसे कुछ ग्रहण करना' यह अन्तराय भी नहीं बनता। तथा यदि भोजनके समय अंजुलिपुट नहीं छूटता तो 'हाथसे कुछ ग्रहण करना' यह अन्तराय नही बनता। ऐसी स्थितिमें तो हाथसे कुछ ग्रहण करे या न करे, अंजुलिपुटके छूटनेसे अन्तराय होता है इतना ही कहना चाहिए था। इसी तरह 'जानुसे नीचे छूना' यह अन्तराय भी नहीं बनता इसी तरह अन्य भी अन्तराय नहीं बनते। सिद्धभक्ति करनेसे पहले यदि इस प्रकारके

अथ किमर्थं स्थितिभोजनमनुष्ठीयत इत्याह—

यावत्करौ पुटीकृत्य भोक्तुमुद्भः क्षमेऽद्म्यहम् ।
तावन्नैवान्यथेत्यागूसंयमार्थं स्थिताशनम् ॥९३॥ ३

पुटीकृत्य—भाजनीकृत्य सयोज्य वा। क्षमे—शक्नोम्यहम्। अद्मि—भुञ्जे। आगूसंयमार्थं—एवंविधप्रतिज्ञार्थमिन्द्रियप्राणसयमार्थं च। उक्त चाचारटीकायाम्—'यावद् हस्तपादौ मम सवहतस्तावदाहारग्रहणं योग्य नान्यथेति ज्ञापनार्थं स्थितस्य हस्ताभ्या भोजनम्। उपविष्ट सन् भाजनेनान्यहस्तेन वा न भुञ्जेऽहमिति प्रतिज्ञार्थं च। अन्यच्च स्वकरतल शुद्ध भवति। अन्तराये सति वह्वोविसर्जन च न भवति। अन्यथा पात्री सर्वाहारपूर्णां त्यजेत्। तत्र च दोपः स्यात्। इन्द्रियसयमप्राणिसंयमपरिपालनार्थं च स्थितस्य भोजनमुक्तमिति।'—मूलाचार टी. गा ४४।

६ ९

एतदेव चान्यैरप्यन्वाख्यायि—

'यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढता पाण्योश्च सयोजने,
भुञ्जे तावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यते.।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोऽन्त्यविधिषु प्रोल्लासिना सम्मते-
र्न ह्येतेन दिवि स्थितिर्न नरके सपद्यते तद्विना ॥' [पद्म पञ्च १।४३] ॥९३॥ १२

अन्तराय होते हैं तो उन्हें अन्तराय नहीं माना जाता। यदि वैसा माना जावे तो साधुको भोजन ही करना दुर्लभ हो जाये। किन्तु ऐसा नही है, क्योकि जवतक साधु सिद्धभक्ति नहीं करता तबतक बैठकर और पुनः खड़ा होकर भोजन कर सकता है, मांस आदि देख लेनेपर तथा रोदन आदिका शब्द सुनकर भी भोजन कर सकता है अर्थात् ऐसी घटनाएँ यदि सिद्धभक्ति करनेसे पहले होती हैं तो उन्हें अन्तराय नहीं माना गया। दूसरे मूलगुण एकभक्तके सम्बन्धमे ग्रन्थकार आगे स्वयं विशेष कथन करेंगे ॥९२॥

आगे खड़े होकर भोजन करनेका क्या कारण है, यह वतलाते हैं—

दोनो हाथोंको मिलाकर तथा खड़े होकर भोजन करनेमे जवतक मै समर्थ हूँ तबतक भोजन करूँगा, अन्यथा नहीं करूँगा, इस प्रकारकी प्रतिज्ञाके निर्वाहके लिए तथा इन्द्रिय-संयम और प्राणिसंयमके लिए मुनि खड़े होकर भोजन करते है ॥९३॥

विशेषार्थ—मूलाचार (गा ३४) की टीकामे कहा है—जवतक मेरे हाथ-पैर समर्थ हैं तवतक मै आहार ग्रहण करनेके योग्य हूँ अन्यथा नहीं, यह वतलानेके लिए खड़े होकर हाथमे भोजन करना कहा है। तथा मै बैठकर पात्रमें या दूसरेके हाथसे भोजन नहीं करूँगा, इस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए भी उक्त प्रकारसे भोजन कहा है। दूसरे अपनी हथेली शुद्ध होती है। यदि भोजनमे अन्तराय हो जाये तो बहुत जूठन छोडना नहीं होता। भोजन पात्रमे करनेपर यदि अन्तराय आ जाये तो भरी थाली भी छोड़नी पड़ सकती है। और इसमें बहुत दोप है। इसके साथ ही इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयमका पालन करनेके लिए भी खड़े होकर भोजन करना कहा है। बैठकर आरामसे भोजन करनेपर अधिक भोजन भी हो सकता है। और ऐसी अवस्थामे अन्नका मद इन्द्रियोंको सशक्त बना सकता है। पद्म. पच. मे कहा है—'जबतक मुझमे खड़े होकर भोजन करने तथा दोनो हाथोको जोडकर रखनेकी दृढता है तबतक मैं भोजन करूँगा, अन्यथा आहारको छोड़ दूँगा। यह मुनिकी प्रतिज्ञा होती है। क्योंकि मुनिका चित्त अपने शरीरमे भी निस्पृह होता है और

अथ स्थितिभोजनविधिमाह—

प्रक्षाल्य करौ मौनेनान्यत्रार्थाद् व्रजेद्यदैवाद्यात् ।
चतुरङ्गुलान्तरसमक्रमः सहाञ्जलिपुटस्तदेव भवेत् ॥९४॥ ३

अर्थात्—कीटिकाविमर्पणादिनिमित्तमाश्रित्य ॥९४॥

अथैकभक्तैकस्थानयोर्भेदनिर्णयार्थमाह—

शुद्धे पादोत्सृष्टपातपरिवेषकभूत्रये ।
भोक्तु. परेऽप्येकभक्तं स्यात्त्वेकस्थानमेकतः ॥९५॥ ६

शुद्धे—जीववधादिविरहिते । परेऽपि—यत्रादौ भोजनक्रिया प्रारब्धा ततोऽन्यत्रापि ॥९५॥

अथैकभक्तान्मूलगुणादेकस्थानस्योत्तरगुणत्वेनाप्यन्तरमाह— ९

अकृत्वा पादविक्षेपं भुञ्जानस्योत्तरो गुणः ।
एकस्थानं मुनेरेकभक्तं त्वनियतास्पदम् ॥९६॥

समाधिपूर्वक मरणमे वह आनन्दका अनुभव करता है। इस विधिके द्वारा मरण करके वह स्वर्ग जाता है और इसके विरुद्ध आचरणसे नरकमें जाना होता है' ॥९३॥

खड़े होकर भोजन करनेकी विशेष विधि कहते है—

हाथ धोकर यदि भोजनके स्थानपर चींटी आदि चलते-फिरते दिखाई दे, या इसी प्रकारका कोई अन्य निमित्त उपस्थित हो तो साधुको मौनपूर्वक दूसरे स्थानपर चले जाना चाहिए। तथा जिस समय भोजन करे उसी समय दोनों पैरोके मध्यमें चार अगुलका अन्तर रखकर तथा हाथोंकी अंजलि बनाकर खड़े होवे। अर्थात् ये दोनो विशेपण केवल भोजनके समयके लिए है। जितने समय तक साधु भोजन करे उतने समय तक ही उन्हें इस विधिसे खड़े रहना चाहिए ॥९४॥

आगे एकभक्त और एकस्थानमें भेद बतलाते है—

जहाँ मुनि अपने दोनों पैर रखकर खडा होता है, जिस भूमिमें आहार देनेवाला खड़ा होता है तथा उन दोनोके मध्यकी जिस भूमिमें जूठन गिरती है ये तीनों भूमि-प्रदेश शुद्ध होने चाहिए, वहाँ किन्हीं जीव-जन्तुओंका विचरण नही होना चाहिए जिससे उनका घात हो। ऐसे स्थानपर हाथ धोकर खड़े होनेपर यदि साधु देखता है कि ये भूमियाँ शुद्ध नहीं हैं तो वहाँसे दूसरे शुद्ध स्थानपर जाकर उक्त विधिसे भोजन करता है। ऐसे भोजनको एकभक्त कहते हैं। किन्तु यदि उसे दूसरे स्थानपर जाना नहीं पड़ता और प्रथम स्थान ही शुद्ध मिलता है तो उस भोजनको एकस्थान कहते है ॥९५॥

विशेपार्थ—एकस्थान और एकभक्तमें पादसंचार करने न करनेसे भेद है। एक स्थानमें तीन मुहूर्त कालके भीतर पादसंचार न करके भोजन करना एकस्थान है और तीन मुहूर्त कालमे एक क्षेत्रके अवधारणसे रहित होकर भोजन एकभक्त है। यदि दोनोको एक माना जायेगा तो मूलगुण और उत्तरगुणमें भेद नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा नहीं है, ऐसा होने-पर प्रायश्चित्त शास्त्रसे विरोध आता है। प्रायश्चित्त शास्त्रमे एकस्थानको उत्तरगुण और एकभक्तको मूलगुण कहा है ॥९५॥

आगे ग्रन्थकार स्वयं इसी बातको कहते है—

एक स्थानसे दूसरे स्थानपर न जाकर एक ही स्थानपर भोजन न करनेवाले मुनिका एकस्थान उत्तरगुण है। और जहाँ भोजनका स्थान अनियत होता है, निमित्तवश एक

स्पष्टम् ॥९६॥

अथ लुञ्चस्य लक्षणं फलं चोपदिशति—

३ नैसङ्ग्याऽयाचनाऽहिंसादुःखाभ्यासाय नाग्न्यवत् ।
हस्तेनोत्पाटनं श्मश्रुमूर्धजानां यतेर्मतम् ॥९७॥

उक्तं च—

६ 'काकिण्या अपि संग्रहो न विहितः क्षौरं यया कार्यते,
चित्तक्षेपकृदस्त्रमात्रमपि वा तत्सिद्धये नाश्रितम् ।
हिंसाहेतुरहो जटाद्यपि तथा यूकाभिरप्रार्थनै-
९ र्वैराग्यादिविवर्धनाय यतिभिः केशेषु लोचः कृतः ॥' [पद्म. पञ्च. १।४२] ॥९७॥

अथास्नानसमर्थनार्थमाह—

न ब्रह्मचारिणामर्थो विशेषादात्मदर्शिनाम् ।
१२ जलशुद्धयाथवा यावद्दोषं सापि मतार्हतैः ॥९८॥

उक्तं च श्रीसोमदेवपण्डितैः —

'ब्रह्मचर्योपपन्नानामध्यात्माचारचेतसाम् ।
१५ मुनीनामस्नानमप्राप्तं दोषे त्वस्य विधिर्मतः ॥

स्थानसे दूसरे स्थानपर जाकर भी मुनि भोजन कर सकते हैं वह एकभक्त मुनिका मूलगुण है ॥९६॥

आगे केशलोंचका लक्षण और फल कहते हैं—

नग्नताकी तरह निःसंगता, अयाचना, अहिंसा और दुःख सहनके अभ्यासके लिए मुनिका अपने सिर और दाढ़ीके बालोंको अपने हाथसे उखाड़ना केशलोंच माना है ॥९७॥

विशेषार्थ—जिस तरह नग्नताके चार प्रयोजन हैं उसी तरह अपने हाथोंसे अपने सिर और दाढ़ीके बालोंको उखाड़नेके भी चार प्रयोजन हैं। पहला प्रयोजन है नैस्संग्य। साधु सर्वथा अपरिग्रही होता है उसके पास एक कौडी भी नहीं होती तब वह दूसरेसे क्षौर कर्म कैसे करावे। दूसरेसे करानेपर उसे देनेके लिए यदि किसीसे पैसा माँगता है तो दीनता व्यक्त होती है। यदि जटा बढाता है तो उसमें जूँ पैदा होनेसे अहिंसाका पालन सम्भव नहीं है। और सबसे आवश्यक बात यह है कि इससे साधुको कष्ट सहनका अभ्यास होता है और सुखशील व्यक्ति इस मार्गसे दूर रहते है। कहा भी है—'मुनिजन अपने पास कौडी मात्रका भी संग्रह नहीं करते जिससे क्षौर कर्म कराया जा सके। उसके लिए वे अपने पास उस्तरा, कैंची आदि अस्त्र भी नहीं रखते, क्योंकि उनसे चित्तमें क्षोभ पैदा होता है। वे जटाओंको भी धारण नहीं कर सकते क्योंकि जटाओंमें जूँ पड़नेसे उनकी हिंसा अनिवार्य है। इसीलिए किसीसे न माँगनेका व्रत लेनेवाले साधु वैराग्य आदि वढानेके लिए केशोंका लोंच करते हैं' ॥९७॥

आगे अस्नान नामक मूलगुणका समर्थन करते हैं—

जो ब्रह्मचर्य व्रतके पालक हैं उन्हें जलके द्वारा शुद्धि करनेसे क्या प्रयोजन, क्योंकि अशुद्धिका कारण ही नहीं है। फिर जो ब्रह्मचारी होनेके साथ विशेष रूपसे आत्मदर्शी हैं उन्हें तो जलशुद्धिसे कोई प्रयोजन ही नहीं है। अथवा दोषके अनुसार जैन लोग जलशुद्धि भी करते हैं ॥९८॥

सगे कापालिकात्रेयीचण्डालशबरादिभिः ।
आप्लुत्य दण्डवत् स्नायाज्जपेन्मन्त्रमुपोषितः ॥
एकान्तर त्रिरात्रं वा कृत्वा स्नात्वा चतुर्थके । ३
दिने शुद्ध्यन्त्यसंदेहमृतौ व्रतगताः स्त्रियाः ॥' [सो. उपा. १२६–१२८ श्लो.]

अपि च—

'रागद्वेपमदोन्मत्ताः स्त्रीणां ये वशवर्तिनः । ६
न ते कालेन शुद्ध्यन्ति स्नातास्तीर्थशतैरपि ॥' ॥९८॥

अथोक्तक्रियाणा यथावदनुष्ठाने फलमाह—

नित्या नैमित्तिकीश्चेत्यवितथकृतिकर्माङ्गबाह्यश्रुतोक्ता, ९
भक्त्या युङ्क्ते क्रिया यो यतिरथ परमः श्रावकोऽन्योऽथ शक्त्या ।
स श्रेय.पवित्रमाग्रत्रिदशनरसुखः साधुयोगोज्झिताङ्गो
भव्यः प्रक्षीणकर्मा व्रजति कतिपयैर्जन्मभिर्जन्मपारम् ॥९९॥ १२

अन्य.—(श्रावक) मध्यमो जघन्यो वा । श्रेय पवित्रमा—पुण्यपाकेन निर्वृत्तम् । अग्रं—प्रधानोऽर्थ. । योगः—समाधिः । कतिपयै.—द्वित्रै. सप्ताष्टैर्वा । उक्तं च—

'आराहिऊण केई चउव्विहाराहणाए जं सार । १५
उव्वरियसेसपुण्णा सव्वट्ठणिवासिणो होंति ॥

विशेषार्थ—स्नान शारीरिक शुद्धिके लिए किया जाता है। गृहस्थाश्रममें शारीरिक अशुद्धिके कारण रहते है किन्तु गृहत्यागी, वनवासी, ब्रह्मचारी साधुकी आत्मा इतनी निर्मल होती है कि उनकी शारीरिक अशुद्धिका प्रसंग ही नहीं आता। रहा शरीरकी मलिनता। उस ओर ध्यान देना और उसको दूर करना विलासिताके चिह्न हैं। आत्मदर्शी साधुका लक्ष उस ओर जाता ही नहीं। फिर भी यदि कोई शारीरिक अशुद्धि कभी होती है तो जलसे शुद्धि करते भी हैं। कहा है—'ब्रह्मचर्यसे युक्त और आत्मिक आचारमे लीन मुनियोके लिए स्नानकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, यदि कोई दोष लग जाता है तो उसका विधान है। यदि मुनि वाममार्गी कापालिकोंसे, रजस्वला स्त्रीसे, चाण्डाल और म्लेच्छ वगैरहसे छू जाये तो उन्हें स्नान करके, उपवासपूर्वक कायोत्सर्गके द्वारा मन्त्रका जप करना चाहिए। व्रती स्त्रियाँ ऋतुकालमें एकाशन अथवा तीन दिनका उपवास करके चौथे दिन स्नान करके निःसन्देह शुद्ध हो जाती हैं। किन्तु जो राग-द्वेपके मदसे उन्मत्त है और स्त्रियोके वशमे रहते हैं वे सैकडो तीर्थोंमें स्नान करनेपर भी कभी शुद्ध नहीं होते' ॥९८॥

आगे उक्त क्रियाओंके शास्त्रानुसार पालन करनेका फल कहते हैं—

जो मुनि अथवा उत्कृष्ट या मध्यम या जघन्य श्रावक सच्चे कृतिकर्म नामक अंगबाह्य श्रुतमे कही हुई इन नित्य और नैमित्तिक क्रियाओंको अपनी शक्तिके अनुसार भक्तिपूर्वक करता है वह भव्य जीव पुण्य कर्मके विपाकसे इन्द्र और चक्रवर्तीके सुखोंको भोगकर और सम्यक् समाधिपूर्वक शरीर छोडकर दो-तीन या सात-आठ भवोंमे ज्ञानावरण आदि आठ कर्मोंको सर्वथा नष्ट करके संसारके पार अर्थात् मुक्तिको प्राप्त करता है ॥९९॥

विशेषार्थ—मुमुक्षुको चाहे वह मुनि हो या उत्कृष्ट, मध्यम अथवा जघन्य श्रावक हो, उसे आत्मिक धर्म साधनाके साथ नित्य-नैमित्तिक क्रियाओंको भी करना चाहिए। ये

जेसिं होज्ज जहण्णा चउव्विहाराहणा हु खवयाणं ।
सत्तट्ठभवे गतु ते वि य पावंति णिव्वाणं ॥'

[आराधनासार गा. १०८–१०९] ॥९९॥

३

अथोक्तलक्षणस्य यतिधर्मस्य जिनागमोद्धृतत्वेनाविसंवादित्वाच्छ्रद्धानगोचरीकृतस्य शश्वदनुष्ठानेऽभ्युदयनिश्रेयसफलसंपादकत्वमाह—

६ इदं सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं
सदा य उपयुञ्जते श्रमणधर्मसारामृतम् ।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमाः शिवाशाधरैः
९ समाधिविधुतांहसः कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते ॥१००॥

उपासितक्रमयमाः—आराधितचरणयुगला. । अथवा उपासित.—सेवितः क्रम आनुपूर्वी यमश्च सयमो येषा । शिवाशाधरै.—मुमुक्षुभि ।

इति भद्रम् ॥१००॥

इत्याशाधरदृब्धाया धर्मामृतपञ्जिकाया ज्ञानदीपिकापरसंज्ञाया
नवमोऽध्याय ।

अत्राध्याये ग्रन्थप्रमाणं पञ्चचत्वारिंशदधिकानि चत्वारि शतानि ।

अकत. ४४५ ।

नवाध्यायमेता श्रमणवृषसर्वस्वविषया
निबन्धप्रव्यक्तामनवरतमालोचयति यः ।
स सद्वृत्तोदर्चि क खित क लिक ज्ञो क्षयसुख
मयत्यक्षार्थाशाधरपरमदूर शिवपदम् ॥

इत्याशाधरदृब्धाया स्वोपज्ञधर्मामृतपञ्जिकाया प्रथमो यतिस्कन्ध'
समाप्त ।

क्रियाएँ कृतिकर्म नामक अंग-बाह्य श्रुतमे वर्णित है वहींसे उनका वर्णन इस शास्त्रमे भी किया गया है। नित्य-नैमित्तिक क्रियाएँ मुनि सर्वदेशसे नियमित रूपसे करते हैं और श्रावक अपने पदके अनुसार करता है। मुनियोके इस शास्त्रमे जो क्रियाएँ कही गयी है वे सब केवल मुनियोके लिए ही कही गयीं ऐसा मानकर श्रावकोको उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योकि श्रावक दशामें अभ्यास करनेसे ही तो मुनिपद धारण करनेपर उनका पालन किया जा सकता है ॥९९॥

आगे कहते है कि इस ग्रन्थमे जो मुनिधर्मका वर्णन किया है वह जिनागमसे लेकर ही किया है इसलिए उसमे कोई विवाद आदि नहीं है वह प्रमाण है। इसलिए उसपर पूर्ण श्रद्धा रखकर सदा पालन करनेसे अभ्युदय और मोक्षकी प्राप्ति होती है—

जिनागमरूपी समुद्रसे निकाले गये इस मुनिधर्मके साररूप अमृतका जो निर्मल सम्यग्दृष्टि सदा सेवन करते हैं, मोक्षकी आशा रखनेवाले श्रमण और इन्द्रादि उनके चरण युगलो[illegible] करते हैं। अथवा क्रमपूर्वक सयमकी आराधना करनेवाले वे निमल

सं पडितं ग्रन्थप्रमाणमष्टचत्वारिंशच्छतानि । अकत. ४८०० ।

सम्यग्दृष्टि धर्म और शुक्लध्यानके द्वारा शुभाशुभ कर्मोंको नष्ट करके दो-तीन या सात-आठ भवोंमें मोक्ष स्थानको गमन करते है ॥१००॥

इस प्रकार आशाधर रचित धर्मामृतके अन्तर्गत अनगारधर्मकी भव्यकुमुदचन्द्रिका टीका
तथा ज्ञानदीपिका पंजिकाकी अनुसारिणी हिन्दी टीकामें नित्यनैमित्तिक
क्रिया विधान नामक नवम अध्याय समाप्त हुआ ॥

श्लोकानुक्रमणिका

ह

□

अनगारधर्मामृत-पञ्जिका तथा टिप्पणमें उद्धृत-वाक्योंकी अनुक्रमणिका

[वाक्योके आगे दिये गये अंक पृष्ठाक हैं तथा ग्रन्थ-निर्देशमें दिये गये अंक गाथाङ्क या श्लोकाङ्क हैं]

य

र

श

ष

स

पारिभाषिक शब्द-सूची

